



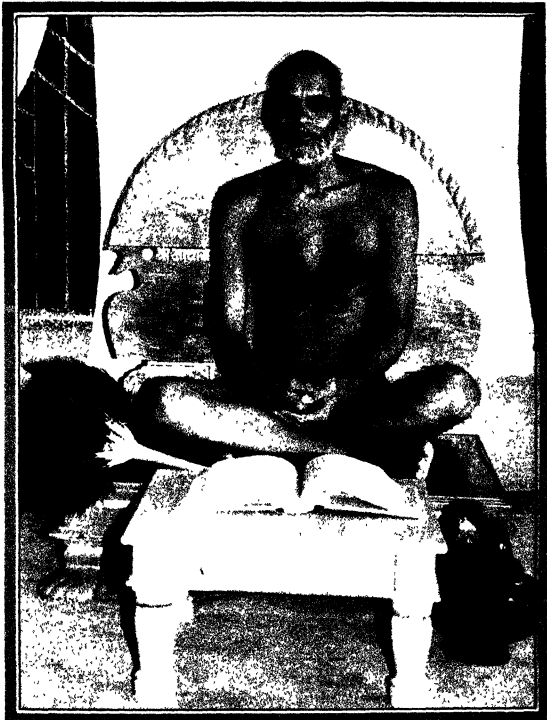
श्री १०८ शान्तीमागर महाराज

चारंग्यचक्रवर्ती ढिगचर जनाचार्य - (७) श्री शान्तीमागर महाराज



परम पुज्य

१०८ श्री आदिशागर मुनिमहाराज
(जन्मभूमि-शेडबाल, शिक्षण भाग)



श्री २०० श्रिनगर महाराज

जीवराज जैन ग्रंथमाला द्वारा अधिकार प्राप्त

आचार्यश्री शिवार्य विरचित

भगवती आराधना

आचार्यश्री अपराजित द्वरि रचित विजयोदया टीका
तथा तदनुसारी हिन्दी टीका सहित

हिरालाल खुशालचंद जैन
ग्रंथमाला, मांडवे

पुष्प १ ले

सम्पादक एवं अनुवादक
सिद्धान्ताचार्य श्री पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

— प्रकाशक —

बाल ब. श्री हिरालाल खुशालचंद दोशी, फलटण
(बाखरीकर)

वीर संवत् २५१६) मूल्य-रु. १००/- (ई० सन् १९९०)

BY GIAN CHAND JAIN - 16 JARYA GANJ

श्रीमान बालब्रह्मचारी हिरालालजी खुशालचंदजी दोशी (फलटण)

अल्प-परिचय

मानव जन्म पूर्वसंचित कर्मों का फल है, इसे पाना, समझना एवं सार्थक कर जीव का उद्धार करना आसान बात नहीं है। बहुत विरले ऐसे होते हैं जो इसे समझते हैं। ऐसे विरले भव्य जीवों में बालब्रह्मचारी श्री, हिरालालजी दोशी एक हैं। दिगंबर जैन धर्ममें चार अघाति कर्मोंका (आयु, गोत्र, नाम, वेदनीय) नाश (निर्जरा) जबतक पूर्ण नहीं होता तबतक अरिहंत भगवान की उत्कृष्ट अवस्था हो तो भी वह संसारी अवस्था ही होती है। अनादि संबंधोकी यह संसारी अवस्था समाप्त कर एकमेव दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य, स्वरूप अनंत चतुष्टय की प्राप्ति का अर्थ ही मुक्त अवस्था है; अथवा जीव के ज्ञानरूपस्वभाव प्राप्ति के लिए शुभ भावनाओंसे या शुभ परिणामोंसे अशुभका परिहार किया जाता है और परंपरासे शुद्ध की प्राप्ति के लिए जो अनेक आराधना बताई गयी है, उसमें प्रमुख ज्ञान आराधना है। ऐसा ज्ञान सभी के लिए आवश्यक है। ऐसा आगम शास्त्रका ज्ञान उपलब्ध कराना यह एक परम पवित्र एवं परम उपकारक कार्य है। शास्त्र ज्ञानकी महिमा अपरंपार है, जिससे स्वयं के अनंत कर्मोंकी निर्जरा होती है, शुभोपयोगसे अशुभका संवर होता है, परंतु 'परस्परपद्मो जीवानाम्' इस सूत्र के अनुसार अगर जीव अपना कार्य करे तो अपने साथ अन्यो को भी उबार सकता है, ऐसी स्वाभाविक परंतु उदात्त परमउपकारी शुभभावना मनमें धारण कर अपनी उम्र के ६१ वें वर्ष निमित्त श्रीमान धर्मश्रद्धादू, समाजप्रेमी, दानवीर, बालब्रह्मचारी श्री. हिरालालजी खुशालचंदजी दोशी (फलटण) ने जयधवला का १६ वां भाग प्रकाशित करनेके लिए शास्त्रज्ञान रूपसे सबको उपलब्ध करा दिया। इसलिए वे साधुवाद के पात्र हैं।

श्री. ब्र. हिरालालजी का जन्म दिगंबर जैन मूलसंघ, सरस्वति गच्छ, बालात्कारगण, कुंदकुंदाचार्याच्य, आम्नाय, विसाहुमड ज्ञाति, मंत्रेश्वर गोत्र में वाखरी (फलटण) में दिनांक २३-८-१९२८ को हुआ। श्रीमान सेठ रामचंद रेवाजी दोशी का घराना प्रसिद्ध है, उनके पिता श्री खुशालचंदजी तथा माता माणिकबाई अत्यंत धार्मिक और श्रावक की नित्य षट्क्रियाओंमें तत्पर सावध थे।

देवपूजा, गुल्पास्ती, स्वाध्याय, संयम तपः।

दानांचेति गृहस्थानां षट्कर्मानि दिने दिने।।

उनके एक बंधु फुलचंद तथा दो बहनें सी सोनुबाई कांतिलाल गांधी (लासुर्ण) एवं सी मधुराबाई रतनचंद दोशी (मांडवे) हैं। घरमें बचपनसे धार्मिक संस्कार दृढ़ हुए। बिना दर्शन के बच्चोंको पानी भी नहीं दिया जाता था।

श्री हिरालालजी सातवीं एवं अंग्रेजी तिसरी कक्षा तक पढ़े। जैन पाठशालामें धार्मिक शिक्षा भी ग्रहण की। इ.स. १९४४ (वीरसं. २४७०) में वाखरी में प.पू. १०८ नेमीसागरजी महाराजका शुभागमन हुआ। उनके उपदेशसे प्रभावित होकर श्री हिरालालजीने अष्टमुलगुण, सप्तव्यसन त्याग का नियम लिया। आगे १९५० में, धर्मसागरजी की प्रेरणासे अजैन पानी के त्यागकी प्रतिज्ञा ली। आगे जब यात्रापर निकले तब श्री क्षेत्र सोनागिरीपर श्री १०८ मुनी श्रुतसागरजीने रात्रीभोजन त्याग तथा दस कंदमूल त्याग का नियम दिलाया। इसप्रकार क्रमसे वे चारित्र्यशुद्धीके मार्गपर बढ़ते रहे उनके पुण्योदयसे उन्हें बारबार मुनिराज के उपदेश एवं सालिन्ध्य मिलता गया।

प.पू. श्री १०८ आचार्य शांतिसागरजी, श्री १०८ मुनि नेमिसागरजी, श्री १०८ मुनिधर्मसागरजी तथा अन्य त्यागियोंके सतसंगतिके कारण उनके मनपर संसार की असारताका दृढ़ परिणाम हुआ। विवाहही

सब दुःखोंकी जब है यह सोचकर उन्होंने विवाह न करनेका निश्चय किया। उनके सभी रिश्तेदार तथा मातापिताओंने इस निश्चयसे परावृत्त करनेका भरसक प्रयास किया; परंतु हिरालालजी दृढ़ रहे, किसीकी नहीं सुनी, अचल रहे, सन १९५२ में फलटन में श्री १०८ आ. शांतिसागर महाराजसे ५ वर्षके लिए ब्रह्मचर्य व्रत लिया। आगे १९५७ में फलटन में श्री १०८ मुनिराज विमलसागरजीसे मिती सावन शु. १० को आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत लिया, बादमें जन्ही संघके साथ श्री सम्मदशिखरजीकी वंदना की, उस समय बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान इ. सभी तीर्थक्षेत्रोंकी वंदना की, यात्रा पुरा होनेको ५॥ माह लगे।

इ.स. १९५८ में अनासिग (अक्रेला) में श्री १०८ मुनी सिमंधर सागरजी और श्री १०८ मुनि सुबाहुसागरजीका चातुर्मास था तब आश्विन शु. १० को दुसरी व्रत प्रतिमा (१२ व्रत) धारण किये। आगे जब १९६५ में अपने मातापिता और सौ. श्रीमती माणिकचंद गांधी के साथ श्री सम्मद शिखरजी की तथा बिहार, मध्यप्रदेश के तीर्थोंकी २॥ माहमें वंदनाकी। उसके बाद दि. १६/६/१९६६ को (मिती जेष्ठ वद्य १३) गुरुवारको माताजीका स्वर्गवास हुआ। तथा १९८४ में दि. २४/६/१९८४ को पिताजीका स्वर्गवास हुआ। मिती जेष्ठ वद्य १० रविवार को स्वर्गवास हुआ।

शास्त्रमें कहा है कि—

देवपूजा दया दानं तीर्थयात्रा जपस्तपः।

शास्त्रं परोपकारत्वं मर्त्यं जन्मफलाष्टकं॥

ऐसे सुंदर शब्दोंमें मानव जन्ममें किये जानेवाले कर्तव्योंका स्पष्टवर्णन है। मानवजन्मकी सफलता उपरोक्त बताये गये फलाष्टकसे निसंशय होती है, अतः हरएकको देवपूजा, दयादान, जप, तप, तीर्थयात्रा, शास्त्रअध्ययन इ. बातें अवश्य करनी चाहिए। इन्हीं बातोंको आधारभूत मानकर उन्होंने अपना जीवनक्रम चलाया।

उनकेद्वारा दी गयी दानराशियाँ:—

- १) श्री आचार्य शांतिसागर अनाथाश्रम (शेडबाळ) को १००१ रु. पूज्य माताजीके स्मरणार्थ— बच्चोंको मिठाई भोजन सालमें १ बार)
- २) श्री १००८ सहस्त्रकोट मंदीर (फलटन) में माताजीके स्मरणार्थ ५००१ रुपये देकर सन १९६९ में संगमरवर की फर्श बिछवायी।
- ३) श्री. आ. शांतिसागर दिगंबर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक ग्रंथ समिती फलटनको अष्टपाहुड ग्रंथ प्रकाशनके लिए ५००१ रुपये (सन १९७० में)
- ४) हस्तिनापूर जंबूद्वीपको १००१ रु. (१९७३ में)
- ५) श्री दिगंबर जैन आहारजीक्षेत्रमें १ कमरा (१००१ रु.) (१९८० में)
- ६) सन्मती नर्सिंगहोम (माडा) को १००१ रु. (१९८२ में)
- ७) 'प्रदीप मुलाचार' ग्रंथ प्रकाशन मारोठ (राजस्थान) को १५३० रु. (१९८५ में)
- ८) श्री दि. जैन मंदीर बांबोडे (सांगली) के मंदीर मंडप के लिए १००१ रु. (१९८५ में)
- ९) श्री पार्वनाथ दिगंबर जैन मंदीर कुपवाड (सांगली) को १००१ रु. (१९८५ में)
- १०) धर्ममंगल पाशिकको (जळगांव) १२,००० रु. (१९८६ में)
- ११) श्री महाद्यवल दि. जैन मुनि निवास हसुरको फर्श के लिए ११,१०१ रु. (१९८६ में)
- १२) माडा अकालग्रस्त निधीको १५०० रु. (१९८६ में)
- १३) गोरक्षक जीवदया मंडळ करमाळा १००१ रु. (१९८७ में)
- १४) श्री १००८ महावीर दिगंबर जैन अतिशय क्षेत्र तेर (उस्मानाबाद) को यात्रा अध्यक्षके रूपमें ६५०१ रु. कमरा बनाने के लिए (१९८७ में)

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॐ नमः सिद्धेभ्यः

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः

कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमोनमः ॥ १ ॥

अविरलशब्दधनीधप्रक्षालितसकलभूतलमलकलङ्का ।

मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥२ ॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजनशलाकया ।

चक्षुह्न्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ३ ॥

श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्य गुरवे नमः, सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनःप्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री..... नामधेयं, अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवाः, तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः, प्रतिगणधरदेवाः, तेषां वचोऽनुसारमासाद्य श्री आचार्येण विरचितं, ग्रन्थमिदं मंगलं भूयात् ।

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गीतमो गणी ।

मंगलं कुन्वकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥४॥

सर्वमंगलमाहुर्गर्ह्यं, सर्वकल्याणकारकम् ।

प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥५॥

श्रोतारः सावधान तथा शृण्वन्तु.

अथ पीर्वाङ्गिक स्वाध्याय प्रतिष्ठापन क्रियाया पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मखयार्थं भावपूजाबन्द-
नास्तवसमेत श्रीश्रुतभक्तिकार्योत्सर्गं करोम्यहम् । 'अहंद्रक्त्रप्रसूत' इत्यादि लघुश्रुतभक्ति वद्रे ।

अथ पीर्वाङ्गिकस्वाध्यायप्रतिष्ठापनक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण श्री-आचार्यभक्ति-
कार्योत्सर्गं करोम्यहम् । 'श्रुतजलधिपारगेभ्यः' इत्यादि लघु आचार्य भक्ति बोलकर स्वाध्याय की प्रारम्भ
करना ।

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

(शास्त्रस्वाध्याय समाप्त होनेपर अन्य मंगल इस प्रकार वद्रे ।)

नमस्तस्यै सरस्वत्यै, विमलज्ञानमूर्तये ।

विचित्र लोकयात्रेयं, यत्प्रसादात्प्रवर्तते ॥१॥

नमो वृषभसेनादि-गीतमान्तगणेशिने ।

मूलोत्तरगुणाढ्याय, सर्वस्मै मुनये नमः ॥ २ ॥

गुरुभवत्या वयं साध्वंढीपद्वितयवर्तिनः ।

वन्दामहे त्रिसंख्योननवकौटिमुनीश्वरान् ॥ ३ ॥

अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानांजन-शलाकया ।

चक्षुह्न्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ४ ॥

गुरुवः पान्तु वो नित्यं, ज्ञान-दर्शननायकाः ।

चारित्रार्णवगंभीरा, मोक्षमार्गोपदेशकाः ॥ ५ ॥

मोक्षमार्गस्थ नेतारं, ज्ञेसारं, कर्म-भू-भूताम् ।

ज्ञातारं विद्वत्तत्त्वानां, बन्धे तद्गुणनम्बधये ॥६॥

अथ पीवाण्डिकस्वाध्यायनिष्ठापनक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण श्रीश्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम् ।
'अर्हद्वक्त्रप्रसतं' इत्यादि भक्ति कहे ।

(इसके बाद परमात्माकी भावना कीजिए ।)

मैं हि सिद्धपरमात्मा, मैं हि आत्मराम ।

म हि ज्ञाता ज्ञेय को, चेतन मेरो नाम ॥१॥

मोही बान्धत कर्मको, निर्मोही छुट जाय ।

ताते गाढ प्रयत्नसे, निर्ममता उपजाय ॥२॥

काहे को भटकत फिरे, सिद्ध होनेके काज ।

राग द्वेषको त्याग दे, भँध्या सुगम इलाज ॥३॥

राग द्वेषके त्याग बिन, परमात्म पब नाही ।

कोटिकोटि जपतप करो, सबही अकारण जाहि ॥४॥

लाख बातकी बात यह क्रीटि ग्रंथका सार ।

जो मुख चाहे भ्रात तो, आत्म अनुभव धार ॥५॥

(इसके बाद खड़े होकर शास्त्र भक्ति कहे ।)

(शिखरीणी छन्द :-)

अकेला ही हूँ मैं करम सब आये सिमितके ।

लिया हूँ मैं तेरा शरण अब माता सटकिके ॥

भ्रमावत हूँ मोको करम दुख देता जनमका ।

करो भक्ति तोरी हरो दुख माता भ्रमनका ॥१॥

दुखी हुआ भारी भ्रमत फिरता हूँ जगतमें ।

सहा जाता नाही अकल चकराई भ्रमनमें ॥

करो क्या मा मेरी चलत बश नाही मितनका ।

करो भक्ति तोरी हरो दुख माता भ्रमनका ॥२॥

सुनो माता मोरो अरज करता हूँ दरदमें ।

दुखी जानो मोको डर पकड आयो शरनमें ॥

कृपा ऐसी कीजे दरद मिट जावे मरनका ।

करो भक्ती तोरी हरो दुख माता भ्रमनका ॥३॥



ॐ अथ शास्त्र-स्वाध्याय क्रम ॐ

१- स्वाध्याय के लिए उत्तम काल चार समय माना गया है। उसमें दिनमें दो बार और रातमें दो बार किया जाता है। गोसर्गिक, अपरान्हिक, प्रादोषिक, एवं वैरात्रिक इस प्रकार के जाने जाते हैं।

(१) गोसर्गकाल:- सूर्योदय के बाद २ घटिका (४८ मिनिट के बाद) अर्थात् सुबह ९-४८ से ११-१२ बजे तक (यहाँ सुबह ६ बजे सूर्योदय का समय गृहित है।)

(२) अपरान्हकाल:- दोपहर १२-४८ मि. से ५-१२ मि. तक का समय अपरान्हिक समझना चाहिए।

(३) प्रादोषकाल:- सूर्यास्त के बाद अर्थात् ६-४८ मि. से रात ११-१२ मि. तक प्रादोषिक काल समझना चाहिए। (यहाँ सूर्यास्त ६ बजे स्याम का गृहित है)।

(४) वैरात्रिकाल:- मध्यरात्रा के बाद अर्थात् १२-४८ मि. से ५-१२ मि (मुँह अंधेरे) तक का समय वैरात्रिक काल समझना चाहिए।

इन चारों समयों में से किसी भी कालमें स्वाध्याय करना हो तो आश्व मंगलाचरण पूर्वक लघु श्रुतभक्ति और लघु आचार्यभक्ति कहकर शास्त्र स्वाध्याय के लिए प्रारंभ करना चाहिए। स्वाध्यायका निश्चित समय समाप्त होनेपर अतम अक्षयमंगलाचरणपूर्वक लघु श्रुतभक्ति कहकर स्वाध्याय समाप्त करना चाहिए।

शास्त्रस्वाध्यायके प्रारंभमें-

[शास्त्र हाथ में लेकर सबको 'सावधान' कहते हुए सूचना देकर शास्त्र पढ़ने के लिए रखे गये सिंहासनतक आकर खड़े हो जाना चाहिए। सब मिलकर खड़े होकर 'बीरहिमाचल' इत्यादि शास्त्रस्तुती करें।]

बीरहिमाचलते निकसों, गुरुगौतमके मुख कुण्ड डरी है ।

मोहमहाचल भेद चली, जगकी जडतातप दूर करि है ॥

ज्ञानपयोनिधिमांही रली, बहुभंगतरंगनिसों उछरी है ।

ता शुचि शारद गगनबी प्रति, में अञ्जालकर शीश धरी है ॥ १ ॥

या जगमन्दिरमें अनिबार, अज्ञान अन्धेर छयो अति भारी ।

श्री जिनकी धनि दीपशिखासभ, जो नहीं होत प्रकाशन-हारी ॥

ता किस भांति पदारथ पान्ति, कहां लहते रहते अविचारो ।

या विधि सन्त कहें धनि है, धनि है जिनबन बडे उपकारी ॥ २ ॥

इसके बाद हाथ में लिया शास्त्र सिंहासनपर रखकर बक्ता और श्रोता सब अपने अपने स्थानको विनयपूर्वक ग्रहण करें। और स्वाध्याय के प्रारंभ में मंगलाचरण (आदिमगल) कहे।

पिलाबं जो मोको सुबुद्धि कर प्याला अमृतका ।
 मिटाबं जो मेरा सरब दुख सारा फिरनका ॥
 परो पाबां तेरे हरो दुख सारा फिरनका ।
 करो भवती तोरी हरो दुखमाता भ्रमनका ॥४॥

(संख्या छन्द :-)

मिथ्या मत नाशवेको ज्ञानके प्रकाशवेको ।
 आपा-पर भासवेको भानुसी बखानी हूँ ॥
 छोहो द्रव्य जानवेको बन्धविधी भानवेको ।
 स्व-पर पिछानवेको परम प्रमानो हूँ ॥५॥

अनुभौ बतायवेको जीवके जतायवेको ।
 काहूँ न सतायवेको भव्य उर आनी हूँ ॥
 जहाँ तहाँ तारवेको पारके उतारवेको ।
 सुख बिसतारवेको यही जिनवानी हूँ ॥६॥

(दोहा)

जा बानीके ज्ञानतँ सुखँ लोकालोक ।
 सो बानी मस्तक चढो सदा देत हूँ धोक ॥७॥

देव भजो अरहंत नित गुरु सेवो निर्ग्रथ ।
 बयाधर्म पालो सदा यही मुक्तिका पंथ ॥८॥

धरम करत संसार सुख, धरम करत निर्वाण ।
 धर्मपंथ साधन विना, नर तिर्यंच समान ॥९॥

हूँ जिनवानी भारती तोहि जपों दिन रैन ।
 जो तेरा शरना गहूँ सो पाबं सुख-चैन ॥१०॥

यह जिनवाणीकी श्रुती अल्पबुद्धिपरमान ।
 पनालाल विनती करं दे माता मोहि ज्ञान ॥११॥

॥ इति स्वाध्यायक्रमः ॥

प्रकाशक :- श्रीमान् ब. हिरालाल गुप्तलालचंद दोशी, फउटण इन्हाने स्त्र. स्वाध्यायरत प. पू. १०८ श्री आदिसागर मुनि
 महाराज (शेडबाळ) इनके १४ वें पुण्यतिथी (श्री बीर निर्वाण सन २५१७ वैश्व कृद्ध २, सोमवार
 ना १८-३-१९९१) निमित्त प्रसिद्ध किया है ।



- १५) श्री विसाहुमड दि. जैन मंदिर करमाळा के दिवानखाना और शिखरको रंग देने के लिए पिताजी स्व. कुशालचंद रामचंद दोशी फलटन के स्मरणार्थ ५००१ रु. दिया (१९८७ मे)
- १६) श्री महावीर ज्ञानोपासना समिती (कांरंजा) प्रवचनसार और नियमसार प्रकाशन के लिए ३०,००० रु. खर्च करके प्रकाशित किया (१९८८ मे)
- १७) छमरिया (आसीघाट) मध्यप्रदेश यहा के नवीन जिनमंदिर को रु. १००१ देगगी दियी। (१९८९ मे)
- १८) श्री कुंदकुंद-कहान दि. जैन तीर्थक्षेत्र ट्रस्ट मुंबई प्रवचनसार प्रकाशन के लिए ५००१ रु. (तारीख २७/१/१९८९)

श्री. प.पू. आदिसागरजी महाराज की प्रेरणासे 'श्री जिनवाणी प्रकाशन साहित्य' की ओरसे निम्नलिखित प्रकाशन करवाये।

- १) प्रायश्चित - समुच्चय चुलिकासहित (मराठी)
- २) श्री. प.पूज्य आ. शातिसागरजी महाराजांवी काही संस्मरणे (मराठी)
- ३) श्री. दि. जैन मुनिसंघ और सदोष आहारदान पर विचार (हिंदी)
- ४) वर्तमान मुनिसंघ और उत्कृष्ट निकृष्ट आहारपर विचार (हिंदी)
- ५) मौकालिक देवबंदना अथवा सामायिक विधी (मराठी)
- ६) ८४ आसादना दोष चार्ट (मराठी)
- ७) अथशास्त्र - स्वाध्यायक्रम चार्ट (मराठी)
- ८) पाण्यामध्ये जीव चार्ट (मराठी)
- ९) भक्ष्याभक्ष्य-दर्पण-चार्ट (मराठी)
- १०) व्यंतराच्या आराधनेपासून नुकसान (मराठी)
- ११) आईचा मुलीला उपदेश (मराठी)
- १२) आत्मचिंतन चार्ट (मराठी)

इत्यादि ग्रंथ तथ चार्ट प्रकाशनमे उन्होने हजारो रु. खर्च किये है। तथा वे मुफ्त बंटि है।

इ.स. १९५९ मे वारासिवनी मे श्री १०८ मुनिराज आदिसागरजी महाराज (शेडबाळ) का प्रथम दर्शन हुआ। बादमे वे सांगली, कोल्हापूर विहार हुआ। तब उनका चातुर्मास फलटनमे करवाया। बादमे बारामती, अकलूज, म्हसवड करमाळा आदि स्थानोपर भी चातुर्मास हुअे। उनके सतसंगतिका लाभ पाकर हिरालालजी धन्य हुअे और उनके उपदेशसे जिनवाणी की सेवामे उर्वरित आयु लगा दी।

उन्होने आजतक ७ बार शिखरजी, तथा ३ बार गिरनारजी, ४ बार श्रवणबेळगोळा और भारतके सभी तीर्थक्षेत्रोकी तथा अतिशयक्षेत्रोकी और सिद्धक्षेत्रोकी बंदनाएँ कीं। सभी जगह यथाशक्ती दान किया है। जहाँ जहाँ त्यागीगण होते हैं वहाँ जाकर श्री हिरालालजी हमेशा दर्शन उपदेश आहार लाभ लेते है; आहार देते है, तत्त्वचर्चा करते है, पूजा, रथयात्रा, प्रतिष्ठउत्सव तथा विधी विधानोमे वे हमेशा हिस्सा लेते है। इन्होने अनेक व्रत वैकल्प्य किए और आदर्श रखा। 'देहस्य सारं व्रत धारयंच' इस उक्ती के अनुसार निम्न व्रत वैकल्प्य किए:- (१) रविवार व्रत (२) अष्टान्हिक व्रत (३) दशलक्षणिक व्रत (४) षोडशकारण व्रत (५) पंचमेरु व्रत (६) पुष्पांजली व्रत (७) रत्नत्रय व्रत (८) कवलचांद्रायण व्रत (९) भक्तामरके ४८ उपवास (१०) सहस्त्रनामके ११ उपवास (११) तत्त्वार्थक १० उपवास (१२) जिनगुणसंपत्ति व्रत (१३) नजफलके ९ उपवास (१४) कर्मदहन व्रत के १५६ उपवास (१५) अनंतव्रत इ. प्रकारके व्रत उन्होने किये है तथा कई प्रकारके वे हमेशा व्रत उपवास रखते है।



ब. हिरालाल खुशालचंद दोशी (फलटण)

संस्थापक- हिरालाल खुशालचंद जैन ग्रंथमाला
मांडवे (नातेपुते)

जन्म- इ. सन १९२८ वाखरी (फलटण)

★ कई संस्थाओंमें अपनी सेवाएँ उन्होंने अर्पण की है। ★

१. ट्रस्टी श्री. दि. जैन विद्यालय पंच महाजन फलटण
२. चौकसी माणिकचंद लाभचंद बंबई, तथा दि. जैन पंचमहाजन पाठशाला फलटणके सदस्य है।
३. श्री. आ. शांतिसागर जिनवाणी जीर्णोद्धार प्रकाशन समिती के सदस्य

प्रसिद्धी पराडःमुख, अत्यंत सरल, निष्कपट, परीक्षाप्रधानी, शांतिपरिणामी मृदु व्यक्तित्वके धनी श्री. ब्र. हिरालालजी दोशी जिनागम के परमभक्त है। जहाँ भी सम्यक्त्व की हानी होती है वहाँ वे निर्भयतासे उसका खंडन करते हैं। उनके विचारोंमें निर्भयता और सत्यका आग्रह होता है। अत्यंत नमेतुले शब्दोंमें संसर्ध वे विकृतियों का खंडन करते हैं। निरंतर स्वाध्याय पठन पाठनसे माँ सरस्वती उनके कंठमें वास करती है। परंतु इस संसारमें कुछ स्वार्थी तत्व भी होते हैं। अज्ञानी अंधभक्त भी होते हैं। स्पष्टवक्ता श्री. ब्र. हिरालालजीको इन्हीं स्वार्थी तत्वोंने एक बार खूब मार पीटकर बेहोश कर बोरीमें बाँधकर मरा समझकर जंगलमें फेंक दिया था। परंतु पुण्योदय के प्रभावसे वे बादमें होशमें आये। जंगलके कुछ लोगोंने ढूँढढूँढकर उन्हें छुड़ाया और उनकी शुश्रुषा की। घरपर रोनाघोना मातम छा गया था। वे तंदुरुस्त होकर घर लौटे फिरभी उनकी साधनामें कभी कोई कमी नहीं आयी। आजतक वे बराबर अपने नियमसे जीवन बीता रहे हैं। उधके ढलते दिनोंके परिणामस्वरूप शरीर साथ नहीं देता परंतु यात्राएँ, मुनिराजदर्शन, स्वाध्याय इ. सभी क्रियाएँ नियमित रूपसे चलती हैं। दानशूरता उनका भूषण है। ऐसा जीवन धन्य है।

‘भगवती आराधनाका’ प्रकाशन करके मुनी और श्रावकोको स्वाध्यायके लिए उपलब्ध कराकर जिनवाणीकी अपूर्वसेवा की है। ऐसे दानवीरने अपना मनुज जन्म सफल किया है। ऐसे दानवीर धर्मबंधु ब्र. हिरालाल दोशी के लंबे उम्रकी एवं उत्तम स्वास्थ्यकी कामना करती हैं।

भवदीया

प्रा.सौ. लीलावती कांतिलाल जैन (जळगांव)

- प्रतिस्थान : १) जिवराज जैन ग्रंथमाला ७३४, फलटण गल्ली, सोलापुर
 २) श्री हिरालाल खुशलचंद दोशी मु.पो मांडवे ४१३ १११ ता. माळशिरस जि. सोलापुर.

इस ग्रंथका प्रिंटिंग और बाईंडिंग का काम
 श्री श्रोगिक कुमार शहाने (मोडनिबकर) परिश्रमसे,
 योग्यदर और अल्पमुदत में करके दिया है।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
सिद्धोंको नमस्कार पूर्वक आराधनाका का कथन करनेकी प्रतिज्ञा	१	चारित्र ज्ञान और दर्शन एक ही हैं	२९
शास्त्रके आदिमें नमस्कार करनेका प्रयोजन	२	चारित्रमें उद्योग और उपयोग ही तप है	२९
सिद्ध शब्दके चार अर्थ	४	चारित्रकी प्रधानताको लेकर समाधान	३२
आराधनाकी उपयोगिता	६	दुःख दूर करना ज्ञानका फल	३४
आराधनाका स्वरूप	७	अन्य व्याख्याओंकी समीक्षा	३४
उद्योतन, उद्यवन आदिका स्वरूप	८	निर्वाणका सार अब्याबाध सुख	३५
संक्षेपसे दो आराधना कही हैं	१०	समस्त प्रवचनका सार आराधना	३५
संक्षेपके तीन भेद	११	आराधनाकी महत्ताका कारण	३६
दर्शनकी आराधना करनेपर ज्ञानकी आराधना नियमसे होती है ज्ञानकी आराधना करनेपर दर्शनकी आराधना भजनीय है	११	अन्त समय विराधना करनेपर संसारकी दीर्घता	३७
उक्त विषयमें अन्य व्याख्याकारोंके मतकी समीक्षा	१२	अन्य व्याख्याकारकी समीक्षा	३७
मिथ्यादृष्टि ज्ञानका आराधक नहीं नयका स्वरूप तथा निरपेक्षनयके निरासके लिए शुद्ध विशेषण	१३	समिति, गुप्ति, दर्शन और ज्ञानके अतिचार आराधना ही सारभूत है	३८
सयमका अर्थ चारित्र	१७	यदि मरते समयकी आराधना सारभूत है तो अन्य समयमें आराधना क्यों करना, इसका समाधान	३९
संयमकी आराधना करनेपर तपकी आराधना नियमसे, तपकी आराधनामे चारित्रकी आराधना भजनीय	१७	उदाहरण द्वारा समर्थन	४०
अन्य व्याख्याकारोंकी समीक्षा	१७	योग शब्दके अनेक अर्थ	४१
बाह्यतपके विना भी निर्वाणगमन असंयमी सम्यग्दृष्टीका भी तप व्यर्थ	१९	मिथ्यात्व आदिको जीतकर ही श्रामण्य भावनावाला आराधना करनेमें समर्थ	४२
अन्य व्याख्याकारोंकी समीक्षा	१९	मिथ्यात्वके भेदोंका स्वरूप और उनको जीतनेका उपाय	४६-४७
चारित्रकी आराधनामें सबकी आराधना अन्य व्याख्याकारोंकी समीक्षा	२०	मरणके सतरह भेद	४९
चारित्रआराधनाके साथ ज्ञान और दर्शनकी आराधनाका अविनाभाव	२१	सम्यग्दृष्टि और संयतासंयतका बाल-पण्डितमरण	५६
	२२	सशल्यमरणके दो भेद	५६
	२३	निदानके तीन भेद	५६
	२४	बसट्टमरणके चार भेद	५७
	२५	कषायवश आर्तमरणके चार भेद	५८
	२७		

विषय-सूची

विषय	पृ०	विषय	पृ०
इन सतरह मरणोंमेंसे यहाँ पाँच मरणोंका ही कथन करनेकी प्रतिज्ञा	६०	अहंस्त सिद्ध, चैत्य, श्रुत, धर्म, साधु और प्रवचनका अवर्णवाद	९२
शीघ्रकषाय और अयोग केवलीका पण्डित पण्डितमरण	६१	दर्शनका आराधक अल्पसंसारी	९३
अन्य व्याख्याकारोंकी समीक्षा	६२	सम्यक्त्वकी आराधना जघन्य मध्यम	९४
पण्डितमरणके तीन भेद-पादोगमन, भक्तप्रतिज्ञा, इगिनी	६४	उत्कृष्ट केवली, जघन्य अविरत सम्यग्दृष्टी	९५
पाशोपगमनमरण आदिकी व्युत्पत्ति	६४	सराग सम्यक्त्व वीतरागसम्यक्त्व	९५
अविरत सम्यग्दृष्टीका बालमरण	६५	प्रशस्तराग अप्रशस्तराग	९६
मिथ्यादृष्टिका बाल-बालमरण	६५	जघन्य सम्यक्त्व आराधनाका माहात्म्य	९६
दर्शन आराधनाका कथन	६६	मिथ्यादृष्टि किसीका भी आराधक नहीं	९७
सम्यग्दर्शनके भेदोंका स्वरूप	६७	मिथ्यादर्शनका स्वरूप और भेद	९८
सम्यग्दृष्टी गृहनियोगसे असत्का भी श्रद्धान करता है	६८	मिथ्यात्वसे दूषित अहिंसादि गुण भी निष्फल	९९
सूत्रसे दिल्लीनेपर भी यदि वह असत् श्रद्धान नहीं छोड़ता तो मिथ्यादृष्टि है	६९	मिथ्यात्वकी चारित्र और तप भी व्यर्थ	१०१
किसके रचित सूत्र प्रमाण है ?	६९	अप्रब्यके अनन्तभव	१०२
प्रत्येक बुद्ध-अभिन्न दसपूर्वीका स्वरूप	७०	प्रथम भक्तप्रत्याख्यानमरणका कथन	१०३
सूत्रोंका अविपरीत अर्थ कौन कर सकता है ?	७१	भक्तप्रत्याख्यानके दो भेद	१०४
जो षट्द्रव्योंका और तत्वोंका श्रद्धानी है वह सम्यग्दृष्टी है	७२	यहाँ सबिचार भक्तप्रत्याख्यानका कथन चालीस सूत्रों द्वारा	१०४
जो सूत्रनिर्दिष्ट एक भी अधरका श्रद्धान नहीं करता है वह मिथ्यादृष्टि	७६	चार गाथाओंसे चालीस सूत्र कहते हैं	१०५
मिथ्यादृष्टीका स्वरूप	७७	असाध्यव्याधिमे या सयमकी चातक वृद्धावस्थामें या उपसर्गमें	१०८
मिथ्यात्वका फल अनन्तमरण	७७	चारित्रके नाशक गन्धुओंके होनेपर या दुर्मिषामें या घोर जंगलमें फँस जानेपर	११०
अतः निर्ग्रन्थ प्रवचनकी श्रद्धा ही कार्यकारी	७८	चक्षु और श्रोत्रके दुर्बल हो जानेपर	१११
सम्यक्त्वके अतिचार	७९	पंरोंमें चलनेकी शक्ति न होनेपर भक्त-प्रत्याख्यान करना योग्य है । उक्त भयोंके न होनेपर भी जो मुनि मरना चाहता है वह मुनिधर्मसे विरक्त है	११२
सम्यग्दर्शनके चार गुण	८१	भक्तप्रत्याख्यानका इच्छुक निर्ग्रन्थ लिग-धारण करता है ।	११३
दर्शन विनय	८३	जिसके पुरुषचिन्हमे दोष हो वह भी उस सम्यग्दृष्टिप्रान्य लिगधारण करे	११४
अरहन्त, सिद्ध, चैत्य आदिका स्वरूप	८३	औरसर्विक लिग (वेध) का स्वरूप	११४
भक्तपूजा तथा वर्णजनन	८७		
सिद्ध, चैत्य, श्रुत, तथा धर्मका माहात्म्य	९४		
साधु, आचार्य, आदिका माहात्म्य	९४		

भगवती आराधना

विषय	पृ०	विषय	पृ०
अन्तिम समयमें स्त्री भी औत्सर्गिक लिंग धारण करे	११५	प्रत्याख्यानका कथन	१५८
लिंग (वेष) धारण करनेके गुण	११६	गृहस्थोंके विरतिरूप परिणामोंके भेद	१६०
अचेलता (अस्त्रत्याग) के गुण	११९	कायोत्सर्गका निरूपण	१६१
अचेलताका माहात्म्य	१२१	कायोत्सर्गके चार भेद	१६२
अपवादालिगके धारीकी शुद्धिका क्रम	१२१	कायोत्सर्गके दोष	१६३
केसलोच न करनेमें दोष	१२२	उपचार विनयका निरूपण	१६४
केसलोचके गुण	१२३	प्रत्यक्षकायिक विनय	१६५
धारीसे ममत्वका त्याग	१२६	वाचिक विनय	१६७
स्नान तेलमर्दन, दन्तमज्जन आदिका त्याग	१२७	मानसिक विनय	१६८
पीछीसे प्रतिलेखनाका प्रयोजन	१२९	गुरुके सिवाय भार्यिका और गृहस्थोंकी भी विनय करना चाहिये	१६९
पीछीके गुण	१३०	विनयके अभावमें दोष	१७७
रातदिन जिनबचन पढना चाहिये	१३१	विनय मोक्षका द्वार	१७०
जिनबचन पढ़नेके लाभ	१३२	विनयके अन्य गुण	१७१
आत्महितका परिज्ञान	१३३	समाधिके कथनमें समाहित चित्तका स्वरूप	१७३
आत्महितका ज्ञान न होनेके दोष	१३५	मनकी चंचलता	१७४
आत्महितके ज्ञानका उपयोग	१३५	मनको रोकना दुष्कर	१७६
स्वाध्यायके लाभ	१३६	जो मनको रोकता है उसीके समता	१७७
जिन बचनकी शिक्षा तप है	१३६	पृच्छना और अनुप्रेक्षा स्वाध्याय कैसे है ?	१७८
स्वाध्यायके समान तप नहीं	१४०	मनको विचारोंसे रोकना श्रामण्य है	१७९
क्योंकि स्वाध्यायकी भावनासे सब गुप्तियाँ आविष्ट होती हैं	१४१	विचारका अर्थ है हिंसादिरूप परिणति	१८१
ज्ञान सम्पादनके लिये विनय करना चाहिये	१४२	अनियत स्थानमें निवासके गुण	१८१
ज्ञान विनयके भेद	१४३	तीर्थंकरोंके कल्याणकोंके स्थानोंके देखनेसे दर्शन विशुद्धि	१८५
दर्शन विनय	१४६	अनियतवाससे परीषह सहनेका अभ्यास	१९१
चारित्र्य विनय	१४७	ज्ञानी आचार्योंका लाभ	१९२
इन्द्रिय प्रणिधान, कषाय प्रणिधानं गुप्ति और समितियोंका स्वरूप	१४८	सामाचारीमें कुशलता	१९३
बाह्य तपोका निरूपण	१५१	अनियत विहारीका स्वरूप	१९६
छह आवश्यकोंका निरूपण	१५३	अनियत विहारके पश्चात् विचार कि मैं अपना कल्याण कैसे करूँ ?	१९७
सामायिकके भेदोंका कथन	१५३	अथालन्दविधिका स्वरूप	१९७
बन्धनाका कथन	१५४	अथालन्द संयमोका आचार	१९८
प्रतिक्रमणका कथन	१५५	गच्छ प्रतिबद्ध आलन्दककी विधि	२०१
सामायिक और प्रतिक्रमणमें अन्तर	१५६		

विषय-सूची

विषय	पृ०	विषय	पृ०
परिहार संयमकी विधि	२०१	आहारका प्रमाण	२३७
खिनकल्पकी विधि	२०५	अवमोदर्य तप	२३८
भक्त प्रत्यास्थान करनेका निर्णय	२०७	रस परित्याग तप	"
संयमके साधनमात्र परिग्रहके सिवाय शेष		वृत्ति परित्यस्त्यान तप	२४०
परिग्रहका त्याग	२१०	कायक्लेश तप	२४२
पाँच प्रकारकी बुद्धि	२१२	स्थानयोगका कथन	२४३
पाँच प्रकारका विवेक	२१४	आसनयोगका कथन	"
परिग्रह त्यागका क्रम	२१६	विविक्त शय्यासन ता	२४४
द्रव्यश्रिति और भावश्रितिका स्वरूप	२१७	उद्गम दोष	२४५
भावश्रिति शुभपरिणामकी रक्षाके उपाय		उत्पादन दोष	२४६
तथा	२१९	एषणा दोष	२४७
प्रवृत्तिका क्रम		विविक्त वसति कौन	२४८
श्रितिके अनन्तर संघका त्याग	२२०	विविक्तवसतिमें दोषोंका अभाव	२४९
पाँच प्रकारकी सक्लिष्टभावना	२२१	निर्जराके इच्छुक यतिके द्वारा करने	
कन्दर्प भावनाका कथन	२२२	योग्य तप	२५०
किल्बिषभावनाका कथन	"	प्रकारान्तरसे सल्लेखनाके उपाय	२५७
अभियोग्य भावनाका कथन	२२३	उनमें आचार्य उत्कृष्ट	२५८
आसुरी भावनाका कथन	"	आचार्यका स्वरूप	२५९
संमोहभावनाका कथन	२२४	भक्तप्रत्यास्थानका काल बारह वर्ष	"
इन भावनाओंका फल	२२५	बारह वर्षोंमें क्या करना चाहिये	"
छठी तपभावना ग्राह्य	"	शरीर सल्लेखनाका क्रम कहकर अभ्यन्तर	
तपोभावना ही समाधिका उपाय	२२६	सल्लेखनाका क्रम	२६०
तपोभावनासे रहितके दोष	२२७	अभ्यन्तर शुद्धिके अभावमें दोष	२६१
श्रुत भावनाका माहात्म्य	२२८	परिणाम विशुद्धिका नाम कषाय सल्लेखना	२६१
ज्ञानभावनाके होने पर ही तप-सयम		चारों कषायोंको कृश करनेका उपाय	२६२
होते हैं	२२९	रागद्वेषकी शान्तिके उपाय	२६३
सत्त्वभावनाके गुण	२३०	कषायरूप अग्निकी शान्तिके उपाय	२६४
एकत्व भावनाके गुण तथा स्वरूप	२३३	सल्लेखनाके पश्चात्का कर्तव्य	२६५
बृत्तिबल भावना	२३५	यदि आचार्य सल्लेखना धारण करें तो	
सल्लेखनाके दो भेद	२३६	अपना संघ योग्य शिष्यको सौंप	
बाह्य सल्लेखनाके उपाय	२३६	कर सबसे क्षमा ग्रहण करें	२६६
बाह्यतप	"	तत्पश्चात् शिक्षा दें कि	२६९
अनशन तपके भेद	२३६	गणधर (आचार्य) कैसा होता है	२७१
अज्ञानस्थानके भेद	२३७	ऐसा करनेवाला भ्रष्टमुनि होता है	२७३
		राजा विहीन क्षेत्र त्याग्य है	"

भगवती आराधना

विषय	पृ०	विषय	पृ०
नये आचार्यको शिक्षा देनेके बाद संघको शिक्षा देते हैं	२७४	रास्तेमें मरण होनेपर भी वह आराधक है	३१३
बहुत सोना नहीं, हास्य क्रोडा नहीं करना, आलस्य त्याग भ्रमणधर्ममें लगना	२७७	सोचमें जाते हुए क्षपकके गुण क्षपकको आता देख दूसरे गणके	३१४
तपस्या में उद्योग करना	२७८	साधुओंकी सामाचारिका क्रम	३१५
बालवृद्ध मुनियोंकी वैयावृत्य करना	२८०	प्रथम वे उसकी परीक्षा करते हैं	३१५
वैयावृत्य न करनेवालोंकी निन्दा	२८१	तीन दिनके पश्चात् गुरु अपलाते हैं	३१७
वैयावृत्यके गुण	"	बिना परीक्षाके अपनातेका निषेध	"
वैयावृत्यसे अर्हन्त आदिमें भक्ति व्यक्त होती है	२८५	निर्यापक आचार्य कैसा होना चाहिये	३१८
वैयावृत्यका एक गुण पात्रलाभ	२८६	आचार्यके आचार्यवत्त्व गुणका कथन	३१९
आचार्य वैयावृत्यका माहात्म्य	२८८	दस कल्पोंका कथन	३२०
वैयावृत्य करनेवाला जिनाज्ञाका पालक है	२८९	टीकाकारके द्वारा अचलकताका विस्तारसे सप्रमाण समर्थन	३२१-३२७
आर्याका संसर्ग करनेका निषेध	२९१	उद्दिष्ट त्याग दूसरा कल्प	३२७
स्त्रीवर्गका विश्वास न करनेवाला ही ब्रह्मचारी	२९२	शय्याघरका भोजन ग्रहण न करना	"
पाषाणस्थ आदि कुमुनियोंसे दूर रहो	२९३	राजपिण्डका त्याग चतुर्थ कल्प	३२८
उनके संसर्गसे स्वर्ग भी वैसे बन जाओगे	२९४	कृतिकर्म नामक पाँचवा कल्प	३२९
दुर्जनोंकी गोष्ठीमें दोष	२९६	जीवोंके भेद-प्रभेदोंको जानने वालोंको ही व्रत देना, छठा कल्प	३३०
सुजनके संसर्गमें गुण	२९६	प्रथम और अन्तिम तीर्थकरके तीर्थमें रात्रिभोजन त्याग नामक छठा महाव्रत	३३०
हितकारी कटुक वचन भी सुनने योग्य है	३००		
आत्म प्रशंसा से बचो	३०२	पुरुषकी ज्येष्ठता सातवाँ कल्प	३३१
अपनी प्रशंसा न करनेमें गुण	३०२	प्रतिक्रमण आठवाँ स्थिति कल्प	"
आचरणसे गुणोंको प्रकट करनेका महत्त्व	३०३	प्रतिक्रमणके भेद	३३२
परनिन्दामें दोष	३०४	छह ऋतुओंमें एक-एक मास ही एक समयमें रहना नवम कल्प	३३२
गुरुका उपदेश सुनकर संघ आनन्दाश्रु गिराता है	३०४	वर्षाकालके चार मासोंमें एकत्र निवास, दसवाँ स्थिति कल्प	३३३
गुरुके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता है	३०५		
आचार्य सल्लेखनाके लिए दूसरे गणमें क्यों जाते हैं ?	३०७	इन दस कल्पोंसे युक्त आचार्य ग्राह्य	३३५
अपने गणमें रहनेमें दोष	३०८	निर्यापकाचार्यके आचारवान होनेसे क्षपकका लाभ	३३५
समाधिके लिए निर्यापककी सौज	३११	आचार्यवानका आश्रय न लेनेमें दोष	३३५
सौजन्यके लिए जाते हुए—		दूसरे आधारवत्त्व गुणका व्याख्यान	३३६
क्षपककी चर्चाका क्रम	३१२		

विषय-सूची

विषय	पृ०	विषय	पृ०
जो ज्ञानी नहीं, उसका आश्रय लेनेमें दोष	३३७	ऐसा गुणयुक्त आचार्य नियर्पक होता है	३७९
ज्ञानी आचार्यके लाभ	३३९	ऐसा आचार्य खोजकर ही क्षपक उसके	
ब्रह्म संसारका स्वरूप	३४१	पास सल्लेखनाके लिये जाता है	३८०
क्षेत्र संसारका स्वरूप	३४२	उबसंपा नामक समाचारका क्रम	३८१
काल संसारका स्वरूप	३४२	क्षपककी परीक्षा	३८३
भ्रम संसारका स्वरूप	३४२	परीक्षा न करनेमें दोष	३८४
भाव संसारका स्वरूप	३४३	परीक्षा के पश्चात् परिचर्या करनेवाले	
मनुष्य पर्यायकी दुर्लभता	३४३	यतियोसे पृछना	३८५
देशकी दुर्लभता	३४४	एक आचार्य एक समयमें एक ही क्षपकको	
सुकुलकी दुर्लभता	३४४	सल्लेखनाका भार चेतें हैं	३८६
नीरोगताकी दुर्लभता	३४५	फिर क्षपकको शिक्षा देते हैं	३८७
साधु समागमकी दुर्लभता	३४८	आचार्यके छत्तीस गुण	३८८
श्रद्धान और समयकी दुर्लभता	३४९	गुरुसे दोषोको निवेदन करके प्रायश्चित्त	
आचार्यके व्यवहारवत्त्व गुणका कथन	३५५	लेना आवश्यक कर्तव्य	६८९
पाँच प्रकारका व्यवहार	,,	निरवशेष आलोचना	३९१
प्रायश्चित्त दानका क्रम	३५६	आलोचनाके दो प्रकार	३९२
प्रायश्चित्त शास्त्रको जाने बिना प्रायश्चित्त		सामान्य आलोचनाका स्वरूप	,,
देनेसे दोष	३५८	विशेष आलोचना	३९३
आचार्यके प्रकुर्वित्व गुणका कथन	३५९	श्लोकके तीन भेद	,,
आचार्यका आय अपाय विदशित्व गुण	३६०	भावशल्य दूर न करनेमें दोष	३९४
.. के अवपीडकत्व गुणका कथन	३६५	शल्यसहित मरणमें दोष	३९५
अवपीडक आचार्यका स्वरूप	३६८	शल्यको निकालनेमें गुण	,,
क्षपकको पीडित किये बिना दोषोंको		आलोचनासे पूर्व कायोत्सर्ग	३९७
निकालना सम्व नही	३६९	ऐसा करनेका कारण	३९८
आचार्यके अपरिश्रावी गुणका कथन	३७०	अप्रशस्त स्थानोंमें आलोचना नहीं करनी	
सम्यग्दर्शनके अतीचार	३७०	चाहिये	४००
अनशन आदि तपोंके अतिचार	३७१	आलोचना करनेके योग्य स्थान	४०१
अभ्रावकाशके अतिचार	३७१	पूर्व दिशाकी ओर मुख क्यों ?	४०२
प्रायश्चित्तके अतिचार	३७२	आलोचनाकी विधि	४०३
क्षपकके दोष दूसरोसे कहनेवाले आचार्यके		आलोचनाके गुण-दोष	,,
दोष	३७३	आकम्पित दोष	४०३
आचार्यको कषाय रहित होना चाहिये	३७६	दूसरा अनुमानित दोष	४०७
ऐसा आचार्य ही क्षपकका चित्त शान्त		दृष्ट दोष	४०८
करता है	३७७	बाहर दोष	४०९

भगवती आराधना

विषय	पृ०	विषय	पृ०
सूक्ष्म दोष	"	अपकके कानमें शिला	४५९
प्रच्छन्न दोष	४११	मिथ्यात्वको त्यागो सम्यक्त्वको भजो	४६४
सम्बन्धित दोष	४१२	जिनभक्तिका माहात्म्य	४६८
बहुजन दोष	४१४	नमस्कार मन्त्रकी आराधना	४७२
अव्यक्त दोष	४१५	भावनमस्कारके बिना रत्नत्रय भी व्यर्थ	४७३
तत्सैवी दोष	४१६	ग्वालैका उदाहरण	४७४
आलोचनाकी विधि	४१७	ज्ञानोपयोगकी महत्ता	४७४
क्यों हुए दोषोका विवरण	४१८	यममूर्तिका उदाहरण	४७८
आलोचनाके पश्चात् गुरु तीन बार पूछते हैं—	४२५	दृढसूर्प चोरका उदाहरण	४७९
तीनों बार एक ही रूपसे कहे तो सरल आलोचना	४२६	अहिंसाव्रतका पालन करो	४८०
उसीको प्रायश्चित्त दिया जाता है	४२७	मनुष्य जन्मकी दुर्भलता	४८१
दोषके अनुसार प्रायश्चित्त	४२९	अहिंसा व्रतकी महत्ता	४८५
सल्लेखनाके अयोग्य वसतिका	४३१	हिंसाके दोष	४८७
योग्यवसतिका	४३३	संसारके सब दुःख हिंसाके फल	४८८
संस्तरका स्वरूप	४३४	हिंसाका लक्षण	४८९
पृथ्वीमय संस्तर	"	हिंसा सम्बन्धी क्रियाओंके भेद	४९१
शिलामय संस्तर	४३५	अधिकरणके भेद	४९२
तृणमय संस्तर	४३६	जीवाधिकरणके भेद	४९३
निर्यापकोका कथन	४३७	मरम्भ आदिका लक्षण	४९४
अड़तालीस निर्यापक	४३८	अजीवाधिकरणके चार भेद	४९५
निर्यापकोंका कार्य	"	निक्षेपके चार भेद	४९५
वे निरन्तर हितकारी कथा कहते हैं	४४०	अहिंसाकी रक्षाके उपाय	४९६
चार प्रकारकी कथाएँ	"	अहिंसाव्रतमें चञ्चालका उदाहरण	४९८
बिसेपणी कथा नहीं करना चाहिये	"	असत्य वचनके चार भेद	४९९
अड़तालीस यतियोंके कार्यका विभाजन	४४४	गर्हित और सावद्वयवचनका स्वरूप	५००
कमसे कम दो निर्यापक होते हैं	४४६	सत्यवचनका स्वरूप और गुण	५०३
एक निर्यापकमें दोष	"	सत्यवचनका माहात्म्य	५०४
निर्यापकके द्वारा आहारका प्रकाशन	४५१	असत्यवचन अहिंसादिका विनाशक	५०५
पानकके भेद	४५४	विना दी हुई तृणमात्र वस्तु भी अप्राह्य	५०८
जीवनपर्यन्तके लिये आहारका त्याग	४५५	पद्मव्यहरणके दोष	५०९
सबसे क्षमायाचना	"	माता भी चोरका विश्वास नहीं करती	५१०
निर्यापकगण रात दिन सेवामें तत्पर	४५८	परलोकमें भी चोरकी दुर्गति	५१२
		श्रीभूति पुरोहितका उदाहरण	५१२
		ब्रह्मचर्यका स्वरूप	५१३

विषय-सूची

विषय	पृ०	विषय	पृ०
अन्नहृदके दस भेद	५१४	लोभी पिष्याक गन्धका उदाहरण	५७८
वैराग्यके उपाय	५१५	पटङ्गन नामक वणिकका उदाहरण	५७९
कामजन्य दोष	५१५	सचित्त परिग्रहके दोष	५८३
कामके दस वेग	५१८	महाव्रत संज्ञाकी सार्थकता	५९१
कामातुर गौरसंवीपका उदाहरण	५२२	उन महाव्रतोंकी रक्षाके लिये रात्रि भोजन	
परस्त्रीगमनके दोष	५२५	त्याग	५९२
ब्रह्मचारी इन दोषोंसे मुक्त	५२८	मनोगुप्ति और वचनगुप्ति	५९५
स्त्रियोंके निमित्तसे ही महाभारत		कायगुप्ति	५९७
रामायण आदिके युद्ध हुए	५२९	ईर्ष्या समिति	५९९
दुराचारिणी स्त्रियोंके उदाहरण	५३०	भाषा समिति	६०१
स्त्रियोंके दोषोंके साथ ही पतिव्रता		सत्यवचनके भेद	६००
स्त्रियोंकी प्रशंसा	५४१	अनुग्रह्य वचनके नौ भेद	६०२
गर्भमें शरीरके निर्माणका क्रम	५४३	एषणा समिति	६०४
शरीरमें सिरा बगैरहका प्रमाण	५४८	आदान निक्षेपण समिति	"
शरीरकी अशुचिता दूर नहीं हो सकती	५५२	प्रतिष्ठापन समिति	६०५
शरीरमें कुछ भी सार नहीं	५५३	अहिंसा व्रतकी पाँच भावना	६०७
शरीरकी अनित्यता	"	एषणा समितिका विस्तृत स्वरूप	६०८
वृद्ध सेवाका कथन	५५९	सत्यव्रतकी भावना	६१०
केवल अवस्थासे वृद्धता नहीं	"	अचौर्यव्रतकी भावना	"
केवल अवस्थासे वृद्धोंका संसर्ग भी उत्तम	"	ब्रह्मचर्य व्रतकी भावना	६११
तीन कारणोंसे काम सेवनकी भावना	५६१	परिग्रह त्याग व्रतकी भावना	"
स्त्रीके संसर्गसे होनेवाले दोष	५६३	भावनाओंका महत्त्व	५१२
रुद्र, पाराशर, सात्यकि आदिका उदाहरण	५६६	नि शल्यके ही महाव्रत होते हैं	"
स्त्री व्याघ्रके ममान है	५६९	निदानके तीन भेद	६१३
अन्तरग और बहिरग परिग्रहका त्याग	५७०	प्रशास्त निदानका स्वरूप	६१४
आगममें परिग्रह त्यागका उपदेश है	५७२	अप्रशास्त निदानका स्वरूप	"
केवल वस्त्र त्यागका ही नहीं है	"	भोग निदानका कथन	६१५
आचेलन्यका अर्थ सर्व परिग्रह त्याग है	५७३	कुलाभिमानको दूर करनेका उपाय	६१८
तालपलंबका उदाहरण	"	भोग निदानके दोष	६२४
परिग्रहके सद्भावमें अहिंसादि व्रत नहीं	५७४	भोग निदान वालेके मुनिपदकी निन्दा	६२५
परिग्रहके ग्रहणसे अशुभभाव	५७५	भोगजन्य सुखकी निन्दा	६२७
सहोदर भाईयोंका उदाहरण	५७६	भोग शत्रु है	६३४
साधुपर सन्देश करनेवाले श्रावकका		निदानमें दोष, अनिदानमें गुण	६३८
उदाहरण	५७७	मायाशल्य दोषमें पुष्पदन्ता आर्यिकाका	
		उदाहरण	६३९

भगवती आराधना

विषय	पृ०	विषय	पृ०
अवसन्न साधुका स्वरूप	६४	आहारमें गृद्धि होनेपर सम्बोधन	७३९
पार्श्वन्ध साधुका स्वरूप	,,	मैत्री आदि भावनाओंका उपदेश	७४९
कुशील मुनिका स्वरूप	६४३	धर्मध्यानका स्वरूप	७५२
यथाछन्द मुनिका स्वरूप	६४५	चिन्ता निरोधका नया अर्थ	७५३
संसक्त मुनिका स्वरूप	६४६	मार्त और रौद्रध्यानके भेद	७५५
इन्द्रिय और कषायोंको निन्दा	६४८	ध्यानकी सामग्री	७५६
गृहवासके दोष	६४९	धर्मध्यानके चार भेदोंका स्वरूप	७५८
तिर्यंच गतिमें दुःख	६५१	बारह अनुप्रेक्षा	७६१
इन्द्रिय विषय आसन्नितमें राजा मन्त्रमित्र आदिके उदाहरण	६६०	अध्रुव भावनाका वर्णन	७६२
क्रोधके दोष	६६१	अशरण भावनाका वर्णन	७६७
मानके दोष	६६४	एकत्व भावनाका वर्णन	७७४
मायाके दोष	६६६	अन्यत्व भावनाका वर्णन	७७९
लोभके दोष	६६७	ससार भावनाका वर्णन	७८५
मृगध्वज तथा कार्तवीर्यका उदाहरण	६६९	भव संसारका स्वरूप	७८८
इन्द्रियत्रयका उपाय	६७४	द्रव्य परिवर्तनका स्वरूप	७८९
क्रोधजयका उपाय	६७५	क्षेत्र संसारका स्वरूप	७९०
मानजयका उपाय	६७८	काल परिवर्तनका स्वरूप	७९१
मायाजयका उपाय	६७९	भाव संसारका स्वरूप	७९३
लोभजयका उपाय	६८०	वसन्त तिलका और घनदेवका उदाहरण	७९८
निद्राजयका उपाय	६८१	देवगतिमें व्ययनका दुःख	८००
आलस्यके दोष	६८५	अशुभत्व अनुप्रेक्षाका कथन	८०६
तपके गुण	६८६	आलवानुप्रेक्षाका कथन	८०९
आचार्यके उपदेशसे क्षपक प्रसन्न होकर वन्दना करता है	६९१	मिथ्यात्व असयम आदि आलस्य	८१०
क्षपकको वेदना होने पर स्वयं या वैद्यसे चिकित्सा कराते हैं	६९५	राग द्वेषका माहात्म्य	८११
क्षपक विचलित हो तो उसका उपाय	६९७	योग शब्दका अर्थ	८१३
सुन्दर मिष्ट शब्दोंसे सम्बोधन	६९९	अनुकम्पा पुण्यालस्यका द्वार	८१४
सुकुमाल, सुकौशल, गजकुमार सनत्कुमार आदिकी कथा सुनाते हैं	७०६	अनुकम्पाके तीन भेद	"
नरकगतिकी वेदनाका वर्णन	७११	शुद्ध प्रयोगके दो भेद	८१६
तिर्यंच गतिकी वेदनाका वर्णन	७१८	यत्निका शुद्ध प्रयोग	"
मनुष्य गति और देवगतिके कष्ट	७२५	ग्रहस्थका शुद्ध प्रयोग	८१७
		मिथ्यात्वका संवर, कषायका सवर, और इन्द्रियसंवर	८१८
		प्रमादका सवर	८१९
		गुप्ति सवरका कारण	८२२

विषय-सूची

विषय	पृ०	विषय	पृ०
निर्जरानुप्रेक्षा	८२३	सम्यक्त्वको नष्ट करके मरनेवाले	
सविपाक निर्जरा सबके होती है	८२४	भवनत्रिकदेव	८५९
तपसे अविपाक निर्जरा	८२५	क्षपककी मरणोत्तर क्रिया (विजहणा)	८६०
संवरके बिना तप कार्यकारी नहीं	८२६	निर्बीधिकाका लक्षण	८६१
धर्मानुप्रेक्षा	८२७	" का स्थान आदि	"
बोधि दुर्लभ अनुप्रेक्षा	८२९	मृतकका बन्धन आदि	८६३
ध्यानके अनेक आलम्बन	८३४	आयिकाकी मरणोत्तर विधि	"
शुक्लध्यानके चार भेद	८३४	शक्के साथ पीछी रखनेका उद्देश	८६५
पूयक्त्व बितर्क शुक्ल ध्यान	८३५	अमुक नक्षत्रमें मरणका फल	८६६
एकत्व बितर्क शुक्लध्यान	८३८	मृतकके साथ पुतलेका विधान	८६७
तीसरा शुक्लध्यान	८३८	मरण पर उपवास आदि	८६८
चतुर्थ शुक्लध्यान	८३९	मृतकके शक्की स्थितिका फलाफल	"
ध्यानकी महिमाका स्तवन	८४०	आराधक क्षपककी स्तुति	८६९
क्षपककी लेश्याविशुद्धि	८४३	निर्यापककी प्रशंसा	८७०
परिणामविशुद्धिसे लेश्याविशुद्धि	८४५	क्षपकको देखने जाने जानेवालोंकी प्रशंसा	
अभ्यन्तर शुद्धि होने पर बाह्य शुद्धि अवश्य		क्षपक तीर्थस्वरूप है	"
होती है	८४६	अविचार भक्त प्रत्याख्यानका स्वरूप	
शुक्ल लेश्याके उत्कृष्ट अंगसे मरण करने		और भेद	८७१
वाला उत्कृष्ट आराधक	८४६	निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान	८७२
लेश्याके आश्रयसे आराधनाके भेद	८४७	अनिहार "	८७३
उत्कृष्ट आराधनासे मुक्ति	८५०	निरुद्धतर समाधिकी विधि	"
मध्यम आराधनासे अनुत्तरवासी देव	"	अनादि मिथ्यादृष्टिको मोक्षकी प्राप्ति	८७५
जघन्य आराधनावाले सौधर्मादि देव होने	८५१	इगिणीमरणकी विधि	८७६
हैं		प्रायोगमनकी विधि	८८३
आराधनासे भ्रष्ट होने बालेका पतन	८५२	दोनो प्रकारके मरणोंमें अन्तर	८८३
अवसन्न मुनिका आचरण	८५३	उक्त मरण करनेवालोंके उदाहरण	८८६
पाश्वस्थ मुनिका आचरण	८५४	वाल पण्डित मरण	८८७
कुशील मुनिके अनेक भेद तथा उनका		बारह प्रकारका गृहीधर्म	"
आचरण	८५५	पण्डित पण्डित मरणका स्वरूप	८८९
संसक्त मुनिका आचरण	८५६	ध्यानकी बाह्य सामग्री	"
क्षपकोके मरते समय सन्मार्गसे च्युत होनेके		क्षायिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति	"
कारण	८५७	तदनन्तर क्षपक श्रेणि पर आरोहण	८९०
कन्दर्प भावनासे मरनेवाले कन्दर्पदेव	८५९	अपूर्वकरण अनिर्वाक्यकरण	"
अभियोग्य भावनासे मरनेवाले अभियोग्य	 कारणमें प्रकृतियोंका क्षय	८९१
आस्तिके देव	"		

भगवती आराधना

विषय	पृ०	विषय	
सूक्तसाम्पराय और क्षीणकषाय	८९२	सिद्ध क्षेत्रका स्वरूप	"
केवलज्ञानका स्वरूप	८९३	लोकके अन्नभागसे ऊपर गमन न करनेका	"
केवलज्ञानीका बिहार	८९४	कारण	९००
समुदायका विधान	"	सिद्ध जीवोंका स्वरूप	९०१
समुदायका कार्य	८९५	सिद्धजीवोंमें सुख आदि	९०३
समुदायका समय	८९६	उत्कृष्ट आराधनाका फल	९०६
केवलीके योगनिरोधका क्रम	"	मध्यम आराधनाका फल	"
अयोगकेवली अवस्था	८९७	अधम्य आराधनाका फल	"
मुक्त जीवकी ऊर्ध्वगति	८९९	ग्रन्थकार द्वारा आत्मपरिचय आदि	९०७



भगवती आराधना

अपराजितसूरकृता विजयोदया टीका सहिता

दर्शनज्ञानचारित्र्यतपसामाराधनायाः स्वरूप, विकल्पं, तदुपाय, साधकान्, सहायान्, फल च प्रति-
पादयितुमुद्यतस्यास्य शास्त्रस्यादौ मङ्गल स्वम्य श्रोतृणा च प्रारम्भकार्येऽन्युत्तराकृतौ क्षमं शुभपरिणाम
विदधता तदुपायभूतेयमरवि गाथा—

सिद्धे जयप्पसिद्धे चउच्चिहाराहणाफलं पत्ते ।

वंदिता अरहंते वोच्छं आराहणं कमसो ॥ १ ॥

सिद्धे जयप्पसिद्धे इत्यादिका । अत्रान्धे कथयन्ति—“निवृत्तविषयरागस्य निराकृतसकलपरिग्रहस्य
क्षीणानुपस्मायकस्याराधनाविधानावबोधनार्थमिदं शास्त्रं” तस्याविघ्नप्रसिद्धिर्धर्मिदं मङ्गलस्य कारिका गायेति ।
अभयतमम्यर्द्धमयतामयतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतादयोऽप्याराधका एव । तत्किमुच्यते निवृत्तविषयरागस्य
निराकृतमकलपरिग्रहमेति । न ह्यसयतमम्यर्द्धे संयतासंयतस्य वा निवृत्तविषयरागता, सकलम्यपरित्यागो
वास्ति । क्षीणानुप इति चानुपपन्न । अक्षीणानुप्योऽप्याराधकता दर्शयिष्यति सूत्रं ‘अणुलोमा वा सत्त्वं चारित्त-
विधास्यत् हवे अस्त’ इति ।

शास्त्रान्तरे पञ्चाना गरुणा नमस्क्रिया प्राग्भ्यते । तत्र चार्हतामेवोपादानमायी । इह तु पुनर्दयोरेव

इस शास्त्रमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य और सम्यक् तपकी आराधनाका स्व-
रूप, भेद, उसके उपाय, साधक, सहायक और फलका कथन किया जायगा । अतः अपने
और उसको सुनने वालोंके प्रारम्भ कार्यमे आने वाले विघ्नको दूर करनेमें समर्थ मङ्गलस्वरूप
शुभ परिणामको करते हुए आचार्यने उसके उपायभूत ‘सिद्धे जयप्पसिद्धे’ इत्यादि गाथा रची है ।

इसके सम्बन्धमे अन्य टीकाकार कहते है कि विषयोमें रागसे निवृत्त और समस्त परिग्रहके
त्यागी जिस साधककी आयु समाप्त होनेवाली है, उसको आराधनाके विधानका सम्यक् बोध
करानेके लिये यह शास्त्र रचा है तथा उसकी निर्विघ्न प्रसिद्धिके लिये यह मंगलकारक गाथा है ।

(इसपर हमारा कहना है कि) असयत सम्यग्दृष्टि, संयत्संयत, प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसंयत
आदि भी आराधक ही है । तब यह क्ये कहते है कि विषयोके रागसे निवृत्त, समस्त परिग्रहके
त्यागी सम्यक्के लिये यह ग्रन्थ रचा है । असंयत सम्यग्दृष्टि और सयत्संयत न तो विषयानुराग-
से निवृत्त होते है और न समस्तपरिग्रहके त्यागी ही होते है । तथा ‘जिनकी आयु समाप्त होने-
वाली है’ यह कथन भी यथार्थ नहीं है क्योंकि आगे ‘अणुलोमा वा सत्त्वं’ इत्यादि गाथासूत्रके
द्वारा ग्रन्थकार जिनकी आयु समाप्त होनेवाली अभी नहीं है उनका भी आराधकता दिखलायेंगे ।

शब्द—अन्य शास्त्रोंके प्रारम्भमे पाँचो गुरुओंको नमस्कार किया गया है और उनमे

नमस्कारो विपर्ययश्च । तर्हि कृतं वैधर्म्यमिति ? अनौच्यते—अन्यथाप्रवृत्ताविति कारणं । इह द्विप्रकाराः सिद्धसाधकमेवेव जीवकाः । अर्हतां सिद्धानां चाप्ताराधनाफलत्वात्, आचार्यादीनां त्रयाणां साधकानामनुग्रहात्वेवं धारणं प्रत्युत्पन्न इति सिद्धानां मङ्गलत्वेनोपादानं युक्तं, नेतरेषामभिव्यक्तिमागत्वात्सोपासितं भाष्यपरिहारदी केर्थाच्चित् । तावत्सङ्कटाविन कल्पेते । तत्र चाद्यस्य निवेद्यतेऽयुक्तता । किमर्थं नमस्कारः क्रियते शास्त्रादियु ? अविघ्नप्रसिद्धये । कथं निहृष्टं विघ्नमसौ ? स हि वक्तुः श्रोतुर्वा भवेत् ? उभयस्यापि निबन्धनमन्तरायः, 'विघ्नकरकर्मन्तरायस्य' [स. सू.] इति वक्ष्यताम् । पञ्चप्रकारोऽसौ दानलाभशोभोपशोभवीर्याणां विघ्नकारणमेवेन, तत्र वक्तुर्दानान्तरायस्सम्पाद्यति प्रत्युहं, त्रिविधस्य हि दानस्य प्रतिबाधको दानान्तरायः । ज्ञानलाभं विहृष्टं श्रोतुर्लाभान्तरायस्तदासौ विघ्नः कथं तस्मिन्सति न भवेत् सत्यपि नमस्कारे, यथा बीजसलिलमसुम्बराधनं-रस्मिकरसंघाताधीनजन्मा बीजाद्यङ्कुरः स्वहेतुसामन्या भवत्यन्यूनाया सन्निहितेऽपि सालतथाकावी तथेहापि । अर्थेवं इवे अन्तरायोऽनुभवप्रकृतिः । स च शुभपरिणामोन्मूलकितारसप्रकर्षः स्वकार्यं निष्पादयितुं नालमिति । यद्येवं शुभपरिणामसामस्यानोपयोगस्तथा सति सिद्धादियुगानुरागः सर्व एवोपयोगी 'विघ्नतिर-

प्रारम्भमें अरहन्तांको ही ग्रहण किया है । किन्तु यहाँ सिद्ध और अरहन्त दो का ही ग्रहण किया है और वह भी विपरीत क्रमसे किया है अर्थात् सिद्धोंका ग्रहण प्रथम और अरहन्तांका पश्चात् किया है । इस प्रकारकी विपरीतताका क्या कारण है ?

इसका कोई इस प्रकार उत्तर देते हैं—अन्य प्रकारसे प्रवृत्ति करनेका कारण है । यहाँ सिद्ध और साधकके भेदसे जीवके दो प्रकार हैं । अरहन्त और सिद्ध तो आराधनाका फल प्राप्त कर चुके हैं अतः आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीन साधकोंके अनुग्रहके लिये यह शास्त्र रचा गया है, इसलिये सिद्धोंका मंगल रूपसे ग्रहण युक्त है, आचार्य आदिका नहीं, क्योंकि उन्हींके लिये यह ग्रन्थ रचा गया है । ऐसा कोई आचार्य भाष्य और उसका परिहार करते हैं । किन्तु वे दीर्घों ही असंगत जैसे प्रतीत होते हैं । उनमेंसे प्रथमकी अयुक्तताके सम्बन्धमें निवेदन करते हैं—

शास्त्रादिमें नमस्कार क्यों किया जाता है ? निविघ्नताकी प्रसिद्धिके लिये । वह विघ्नोंको कैसे दूर करता है ? विघ्न वक्ता या श्रोताको होता है । दोनोंका भी कारण अन्तराय कर्म है । तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है—'विघ्न करनेसे अन्तराय कर्मका आश्रय होता है ।' दान, लाभ, उपभोग और वीर्यके विघ्न करनेमें कारण होनेके भेदसे अन्तरायके पाँच भेद हैं । उनमेंसे दानान्तराय वक्ताके दानमें विघ्न करता है क्योंकि दानान्तराय तीन प्रकारके दानमें बाधक होता है । लाभान्तराय श्रोताके ज्ञान लाभमें रुकावट डालता है, क्योंकि जब विघ्न अन्तराय कर्मके अधीन है तो उसके होते हुए विघ्न क्यों नहीं होगा, भले ही नमस्कार किया गया हो । जैसे धान्य आदिके अङ्कुरकी उत्पत्ति बीज, जल, पृथ्वी और सूर्यकी किरणोंके समूहके अधीन है । अतः अपनी कारण सामग्रीके परिपूर्ण होनेपर उसकी उत्पत्ति साल, तमाल आदिके रहते हुए भी अवश्य होती है । उसी तरह यहाँ भी जानना ।

यदि आप कहें कि अन्तराय अशुभ कर्म है, शुभ परिणामके द्वारा उसकी अनुप्राप्त शक्ति क्षीण कर दिये जानेपर वह अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता, तब तो यहाँ शुभपरिणाम मात्र उपयोगी हुआ । और ऐसा होनेपर विघ्नोंको दूर करनेकी इच्छा करने वालेको सिद्ध आदिके गर्णोंमें अनुराग आदि सब उपयोगी हुए । तब विचारशील पुरुषके द्वारा अपनाया गया क्रम

विषकीर्षस्तत्र कस्मात् प्रेक्षापूर्वकारिणः क्रमाश्रयणमन्यायम् ? उपेक्षात्मकान्हेतुत्वमाननिबन्धनमुपायाना-
मुपायत्वं, तत्रैव यथास्ति तस्य तस्योपायता । तेन सर्वं एवाहंवाविधोचरा गुणानुरागास्त्युत्तरवारवाक्यक्रिया
अनादृतक्रमा भवति वाञ्छितफलप्रसाधना एकीकरणा बहुबोधि । इमानामुपूर्वीमन्तरेणैवा सिद्धिः साध्यत्वा-
न्याय न विद्यत इति यत्र तत्राधीयते उपायक्रमः । यथा घटं सिंसाभयिवतो मूयवर्नविष्यकरणात्तरोपजावयः ।
युवपदनेकमचनप्रवृत्तिसंभविष्येकस्य वक्तुरिति नाम्परीयकतया क्रमाश्रयणं तत्र च कामचारः । तथाहि,
'सिद्धं सिद्धद्वारं शास्त्रमनोवगुह्युह्यवाचनिति'—(सन्धति ११) । शासनगुणानुस्मरणमेव केवलं । अविस्तीर्ण-
कृत्स्वपि बीरस्वामिनः एव प्रथमं नमस्क्रिया—

'एत सुरपुरमपुसिद्धविदं बोधवाविकाममलं । वचनानि बह्वहमं तित्वं वन्मरस करारं ॥

तेनैव पुत्र तित्वचरे ससन्धतिद्वे विपुत्रसन्धये । सन्धये च वाचवसन्धरितसत्त्ववीरियवारे ॥ इति

—अथ० सा० १।१-२ ।

कविकेकप्रघट्टेन,

'इंसत्तर्षविद्वानं सिद्धमन्त्रहिरमचुरचित्तवत्कवाचनिति' । —पञ्जास्ति० । १ ।

कवचिञ्जीवगुण एवानाश्रिताहंवादिस्वामिविसेषो निरूपितः "कवचो मञ्जुकमुक्कित्" इति ।

अन्याय्य कैसे है ? उपेय अर्थान् कार्यके आत्म लाभमें हेतु होना मात्र उपाय अर्थात् कारणोंके
उपायपनेका निबन्धन है । अर्थात् कारणोंमें कारणपना इमीसे होता है कि उनसे कार्य उत्पन्न होना
है । वह जहाँ-जहाँ है वहाँ-वहाँ कारणपना है । अतः अहंन्त आदि विषयक सभी गुणानुराग और उस
पूर्वक वचन और कायकी क्रिया, विना क्रमके भी इच्छित फलकी साधक होती है चाहे वह एक-
एक रूप हो या बहुत हो । किन्तु जहाँ कार्यकी सिद्धि क्रमको अपनाने विना नहीं होती वहाँ
उपायोंका क्रम अपनाना होता है । जैसे जो घड़ा बनाना चाहता है । वह पहले मिट्टीको मलता है,
फिर उसका पिण्ड बनाता है, फिर उसे चाक पर रखता है आदि । इस क्रमके विना घड़ा नहीं
बन सकता । इसलिए यहाँ क्रम आवश्यक है । किन्तु सर्वत्र क्रम आवश्यक नहीं है ।

तथा एक वक्ता एक साथ अनेक वचन व्यवहार नहीं कर सकता, इसलिए नमस्कार करने-
में क्रमका आश्रय लेना होता है । किन्तु उसमें यह अपेक्षित नहीं है कि पहले किसे नमस्कार करना ।
नमस्कार करनेवाला अपनी अपनी इच्छानुसार नमस्कार करता है । जैसे सन्धतिसूत्रके प्रारम्भमें
'सिद्धं सिद्धद्वारं' आदिसे केवल जिनशासनके गुणोंका ही स्मरण किया है । कहीं पर तीर्थकरोंमें
से भी बीर स्वामीको ही प्रथम नमस्कार किया है । जैसे प्रवचनसारके प्रारम्भमें कहा है—'यह
में सुरेन्द्रों, असुरेन्द्रों और नरेन्द्रोंसे वन्दित तथा धाति कर्ममलको दो डालनेवाले और धर्मके
कर्ता वर्धमान तीर्थकरको नमस्कार करता हूँ । तथा विशुद्ध सत्तावाले शेष तीर्थकरोंको, समस्त
सिद्धोंके साथ ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारसे युक्त श्रमणोंको
नमस्कार करता हूँ ।'

कहीं एक साथ सब जिनोंको नमस्कार किया है । जैसे पञ्चास्तिकायके प्रारम्भमें कहा
है—'सौ इन्द्रोंके हाग वन्दित और तीनो लोकोंका हित करनेवाले मिष्ट और स्पष्ट वचन बोलने-
वाले, अनन्तगुणशाली भवजैता जिनोंको नमस्कार हो ।'

कहीं अहंन्त आदि स्वामीविशेषका आश्रय न लेकर जीवके गुणका ही कथन किया है
जैसे वक्तावैकल्यसूत्रके प्रारम्भमें 'धर्म उत्कृष्ट मंगल है' आदि कहा है ।

एवं सति वैचित्र्ये का विपर्ययाच्छा ? यच्छोकं साधकानुग्रहाधिकारे सिद्धात्मनामेव मङ्गलत्वेनाधिकारो युक्त इति । इत्थं पर्यमयोज्योऽयं धृतसाधकार्यमूल (?) यद्येवं सकलस्य धृतस्य सामाजिकवैशेषिक-किन्नुसारगन्तव्यादी मङ्गलं कुर्वीतुर्वचनैः 'कस्मै अरहंताणमिवादिना क्वं यच्छक्यं नमस्कारः कृतः ? तेन सूत्रविरोधिनी व्याख्या अनेनापि च सूत्रेण विरुध्यते, 'वंदिता अरहते' इति अर्हतामुपादानात् । तेऽपि सिद्धा इति चेत् पृथगुपादानानर्थक्य । अवेकदेशसिद्धास्त इति पृथगुपात्ताः आचार्याद्येऽपि किन्तोपात्तास्तोषामयेक-वेकसिद्धतास्ति । एकदेशसिद्धताया अर्हतामन्याराधकत्वे सत्युपादानं स्वक्याख्याविरोधमाधत्त इति ॥ 'सिद्धे' सिद्धाम् "अन्यसिद्धे" जगति प्रसिद्धान् 'बहुविधाराधनाफलं' बहुविधाराधनाफलं 'कस्मै' प्राप्तान्, वंदिता बन्दिता 'अरहते' 'शोचते' वक्ष्यामि 'आराधयं' आराधयं 'कस्मै' क्रमशः ॥'

सिद्धशब्दस्य चत्वारोऽर्थाः नामस्थापनाद्रव्यभावा इति । तत्र नामसिद्धः साध्यिक सम्यक्त्व, ज्ञानं, दर्शनं, वीर्यं, सूक्ष्मता, अतिशयवतीभवगाहना, सकलबाधारहितता चानपेक्ष्य सिद्धशब्दप्रवृत्तेर्निमित्त कस्मिंश्चित्प्रवृत्तः सिद्धशब्दः ।

ननु स्वरूपनिष्पत्ति सिद्धशब्दस्य प्रवृत्तेर्निमित्त न सम्यक्त्वादय इति चेत् सत्य, व्यावर्णित्यादिभिन्नु-
नात्मरूपनिष्पत्तिनिमित्त एव्यत एव । पूर्वभावप्रकल्पितन्यायेनया चरमशरीरानुग्रहिणे य आत्मा क्षीरानु-

इस प्रकारकी विविधताके होते हुए विपरीतता की—अर्हन्तासि पहले सिद्धोंको क्यों नमस्कार किया—इस प्रकारकी आशाच्छा कैसी ?

तथा यह जो कहा है कि साधकोंके अनुग्रहके लिए रचे गये इस ग्रन्थमें मंगल रूपसे सिद्धों-का ही अधिकार उचित है । इस विषयमें यह प्रश्न है कि ये साधक क्या धृत के हैं ? यदि ऐसा है तो सामाजिकसे लेकर लोकविन्दुसार पर्यन्त सकल धृतके आदिमें मंगल करनेवाले गणधर देवने 'शमो अरहंताणं' इत्यादि रूपसे पाँचोंको नमस्कार क्यों किया ? इसलिए आपकी व्याख्या सूत्र विरोधिनी है । तथा इसी गाथासूत्रसे भी विरुद्ध है; क्योंकि इसी गाथामें 'वंदिता अरहते' कहकर अर्हन्तोंका भी ग्रहण किया है । यदि कहोगे कि वे भी सिद्ध हैं तो उनका पृथक् ग्रहण व्यर्थ है । यदि कहोगे कि वे एकदेश सिद्ध हैं इसलिए उनका पृथक् ग्रहण किया है तो आचार्य आदिका ग्रहण क्यों नहीं किया; क्योंकि वे भी एकदेश सिद्ध हैं । एकदेश सिद्ध होने पर अर्हन्तोंका भी आरा-
धक रूपसे ग्रहण अपनी ही व्याख्याके विरुद्ध जाता है । अस्तु,

गा०—'जगत्तमं प्रसिद्धं और चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त सिद्धों और अर्हन्तोंको नमस्कार करके क्रमसे आराधनाको कहेंगा ॥१॥'

टीका—सिद्ध शब्दके चार अर्थ हैं—नाम सिद्ध, स्थापना सिद्ध, द्रव्य सिद्ध और भावसिद्ध ।

साध्यिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, वीर्य, सूक्ष्मता, अतिशयवती अवगाहना और सकलबाधारहितता अर्थात् अव्याबाधत्व, ये गुण सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तिमें निर्मित हैं अर्थात् जिनमें ये गुण होते हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं । इन गुणोंकी अपेक्षा न करके किसीमें प्रवृत्त सिद्ध शब्द नाम सिद्ध है ।

शंका—सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त उसके स्वरूपकी निष्पत्ति है, सम्यक्त्व आदि गुण नहीं ?

समाधान—आपका कथन यथार्थ है, पूर्व शरीरके आकारसे किञ्चित् कम जो आत्म रूप कहा है सिद्ध का, उसकी निष्पत्तिके निमित्तको हम स्वीकार करते हैं । पूर्व भाव प्रकल्पन नयकी

प्रविष्टोदकमिव संस्थानवसामुपगतः, शरीरापायेऽपि समात्मानं चरमशरीरात् किञ्चिन्मूलात्मप्रवेशसममस्थानं बुद्ध्यात्परोक्षं तदेवेवमिति स्थापिता मूर्तिः स्थापनासिद्धः । सिद्धस्वरूपप्रकाशनपरिज्ञानपरिचितिसामर्थ्याभ्यासित आत्मा ज्ञानमद्रव्यसिद्धः । नोवागमद्रव्यसिद्धत्वेना ज्ञायकशरीरभावितात्तद्व्यतिरिक्तमेवात् । ज्ञायकशरीरसिद्धः सिद्धप्राभूतः शरीरं भूतं जगत् भावि वा । भविष्यसिद्धत्वपर्यायो जीवो भाविसिद्धः । तद्व्यतिरिक्तसम-संमधि, कर्मनोकर्मणो, सिद्धत्वस्य कारणत्वाभावात् । सिद्धप्राभूतगतवित्तस्वरूपसिद्धज्ञानमागमभावसिद्धः । क्षायिकज्ञानदर्शनोपयुक्तः परिप्राप्त्याभ्यावाद्यस्वरूपस्तिवच्छिष्टपक्षिणरस्यो नोवागमभावसिद्धः । स इह गृह्यते ।

ननु सामान्यसद्व्यान्तरेण प्रकरण विशेषण बाऽभिमतार्थवृत्तित्वा दुरवयमा ? अत एव विशेषणमुपासं चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्नानिति । सम्यक्त्वं केवलज्ञानवर्धनं सकलकर्मविनिर्मुक्तोति चतुर्विधं, चतुर्विधत्वा आराधनाया, फलं साध्यं तत्प्राप्तिरात्मनः सम्यग्दर्शनादिरूपेण समवस्थानम् । ततोऽयमर्थः—‘फलं पत्ते’ इत्यस्य क्षायिकसम्यक्त्वं केवलज्ञानवर्धननिरवशेषकर्मविनिर्मुक्तारूपेणवस्थितानिति । जगति आत्मनभ्यधीर्बलीके समीचीनभूतज्ञानलोकने प्रसिद्धान् प्रतीतान् विदितान् । ‘अरहते’ इत्यत्र च शब्दमन्तराणां सपुण्यवार्था मतिः । ‘पृथिव्यपतेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति’ इत्याचोत्सवैर् यथा । निहृतमोहनीयतयास्तज्ञान-

अपेक्षा अन्तिम शरीरमें प्रविष्ट हुवा जो आत्मा दूधमें मिले पानीकी तरह आकारवत्ताकी प्राप्त हुवा, शरीरके नष्ट ही जानेपर भी उस आत्माको अन्तिम शरीरसे किञ्चित् न्यून आकार वाला बुद्धिमें स्थापित करके ‘यह वही है’ इस प्रकारसे स्थापित मूर्तिको स्थापना सिद्ध कहते हैं ।

सिद्धों के स्वरूपको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानकी परिणतिकी सामर्थ्यसे युक्त आत्मा आधम-द्रव्यसिद्ध है । नोवागम-द्रव्यसिद्धके तीन भेद हैं—ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त । सिद्ध विषयक शास्त्रके ज्ञाताके भूत, भावि और वर्तमान शरीरको ज्ञायक शरीर सिद्ध कहते हैं । भविष्य-में सिद्ध पर्यायको प्राप्त करनेवाले जीवको भाविसिद्ध कहते हैं । इसमें तद्व्यतिरिक्त भेद सम्भव नहीं है क्योंकि कर्म और नोकर्म सिद्धत्वके कारण नहीं होते ।

सिद्ध प्राभूतमें कहे गये सिद्ध स्वरूपके ज्ञानमें उपयुक्त आत्मा आधम भावसिद्ध है । क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शनमें उपयुक्त तथा अव्याभ्याघ स्वरूपको प्राप्त और तद्व्यतिरिक्त शिखर पर विराजमान सिद्ध परमेष्ठी नो आगमभावसिद्ध है । यहाँ उसीका ग्रहण किया है ।

शब्दा—प्रकरण अथवा विशेषणके बिना सामान्यसे अभिमत अर्थका ज्ञेय होना कठिन है अतः यहाँ सिद्धसे नो आगम भवसिद्धका ग्रहण कैसे संभव है ?

समाधान—इसीलिये आचार्योंने ‘चतुर्विध आराधनाके फलको प्राप्त’ यह विशेषण दिया है । सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और समस्त कर्मोंसे सर्वथा मुक्तता ये चार, चार प्रकारकी आराधनाके फल हैं । आत्माका सम्यग्दर्शन आदि रूपसे सम्यक् अवस्थान ही उनको प्राप्ति है । अतः ‘फलं पत्ते’ का अर्थ है—जो क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और समस्त कर्मोंसे विनिर्मुक्तता रूपसे स्थित है उन सिद्धोंको । ‘जगत्’ अर्थात् निकट भव्य जीवरूपी लोकमें, जिनको आत्म समीचीन श्रुतज्ञान है, उनमें जो प्रसिद्ध हे जाने माने हैं ।

अरहते’ यहाँ यद्यपि ‘च’ शब्द नहीं है फिर भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान होता है । जैसे ‘पृथिव्यपतेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि’ इस सूत्रमें ‘च’ शब्द नहीं होने पर भी पृथिवी, जल, तेज, वायु, अन्नपद्म, काल, दिशा, आत्मा और मन ये द्रव्य हैं इस प्रकारकी समुच्चयका ज्ञान होता है उसी प्रकार अन्तर्ज्ञान ।

दर्शनावरणार्थ अतिव्यक्तिपूर्वकाभाज इत्यवयवार्थेन 'अरहति' इत्यनेनोक्तः । अनुगतार्थत्वादर्हिति संज्ञायाः अर्थी सर्वनामशब्दोऽस्तीकृतशब्दार्थसंज्ञाभावमुपयाति । अथवा 'अगम्यतद्धि' इति अर्हतां विशेषणं, यतः पञ्चमहाकल्याणकल्याणेषु विष्णुपदवैभाषिणः महात्मानः, नैवमितरे सिद्धाः । सर्वस्वैव हि वस्तुतः कर्षितस्वतीतत्वे तति अप्रतीतस्य कल्याणवैभाष्यात् प्रसिद्धग्रहणमुपासप्रकर्षमिति कथ्यते । अथाऽधिककल्याण कन्या वैशेति । तेनायमर्थो जयति प्रसिद्धतमामिति । अर्हतामेव च प्रतीततरत्त्वमुक्तेन क्रमेण ।

अनविद्यतप्रयोजनः श्रोता न यत्ते अवयवोऽयमेव वा । परोपकारसंपादनाय चेदं प्रस्तुयते मया ततः प्रयोजनं प्रकटयामीत्याह 'बोच्छं आरहति' मिति । एतेनाराधनास्वरूपावयवमनं प्रयोजनं शास्त्रध्वजाऽनुवर्ताव्यतीत्यावेदितम् ।

नत्वारं 'नास्वरूपावयवमनं तु पुस्वार्थः । पुस्वार्थो हि प्रयोजनं, पुस्वार्थमेव सुखं दुःखनिवृत्तिर्वा, न चानयोरन्यतरताज्य । अयमस्याभिप्रायः, यो येनार्थेनार्थी स तत्प्राप्तये तवीयोपायमधिगन्तुमुपादेयं वा यत्ते येन प्रयुक्तः क्रियायां प्रवर्तते तत्प्रयोजनं, ज्ञानेन प्रयुज्यते अथवादिक्रियायामुपयोगिवस्तुपरिज्ञानं प्रयोजनं भवतु; आराधना तु कथमुपयोगिनी ? सकलसुखरूपकेवलज्ञानपरप्राप्त्यावाधतां अनयतीत्युपयोगिनी । तथा चोक्तं— 'वस्तुविचारधनाफलं प्राप्ताविति' । 'ततोऽयमर्थः, अनन्त ज्ञानाधिकलभिताराधनाऽनुवर्तार्थमिदं शास्त्रना-

मोहनीय कर्मके नष्ट हो जानेसे तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरणके बल जानेसे जो अतिशय युक्त पूजाके भाजन हैं, यह अर्थ 'अरहते' पदसे अर्हता कहा गया है; क्योंकि 'अर्हन्' यह नाम सार्थक है । जैसे सर्वनाम शब्द स्वीकार किये गये शब्दार्थोके संज्ञानेको अपनानेसे सार्थक हैं ।

अथवा 'अगत प्रसिद्ध' यह पद अर्हन्तांका विशेषण है; क्योंकि ये महात्मा पाँच महाकल्याणक स्थानोंमें तीनों लोकोंके द्वारा जैसे प्रख्यात होते हैं वैसे अन्य सिद्ध नहीं होते । सभी वस्तु किसी न किसी रूपमें प्रतीत होती हैं, सर्वथा अप्रतीत कोई नहीं है । अतः यहाँ 'प्रसिद्ध' पदका ग्रहण प्रकर्षताका परिचायक है । जैसे 'रूपवानको कन्या देना' । यहाँ रूपवान् शब्द विशिष्ट रूपका बोधक है । अतः 'अगत में सबसे' अधिक प्रसिद्ध यह अर्थ यहाँ लेना । और उक्त प्रकारसे अर्हन्त ही सबसे अधिक या सिद्धोंसे अधिक प्रसिद्ध हैं ।

प्रयोजनको जाने बिना श्रोता श्रवण या अध्ययनमें प्रयत्न नहीं करता । और मैं (शंभुकार) परोपकार करनेके लिये यह शब्द बनाता हूँ, अतः प्रयोजन प्रकट करता हूँ—'बोच्छं आराहणं' इससे यह प्रयोजन सूचित किया है कि शास्त्रश्रवणसे आराधनाके स्वरूपका ज्ञान होता है ।

शंका—आराधनाके स्वरूपको जानना तो पुस्वार्थ नहीं है; क्योंकि पुस्वार्थ प्रयोजन है और पुस्वार्थ है सुख अथवा दुःखनिवृत्ति । आराधनाके स्वरूपको जानना न तो सुख है और न दुःख निवृत्ति है । हमारे इस कथनका अभिप्राय यह है कि जो जिस अर्थका इच्छुक होता है वह उसकी प्राप्तिके लिये उसके उपाय या उपादेयको जाननेका प्रयत्न करता है । जिसके द्वारा प्रेरित होकर, मनुष्य क्रियामें लगता है वह प्रयोजन है । ज्ञानके द्वारा श्रवण वादि क्रियामें लगता है अतः उपयोगी वस्तुका ज्ञान प्रयोजन हो सकता है परन्तु आराधना कैसे उपयोगी है ?

समाधान—समस्त सुख रूप केवलज्ञान और परम अव्यावाधताको उत्पन्न करनेसे आराधना उपयोगी है । कहा है 'चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्ति ।'

अतः अभिप्राय यह है कि अनन्त ज्ञानादि रूप फलकी प्राप्तिमें निमित्त आराधनाके स्वरूप-

रम्यत् इति साम्यनारायणस्वरूपज्ञानं साधनमिदं शास्त्रमिति साम्यसाधनरूपसंबन्धोऽपि शास्त्रप्रयोजनबोधरत एव साधनात्मकम्यते । अभिधेयभूतास्तु चतस्र आराधनाः । साहायिनं शास्त्रं प्रयोजनादिप्रयत्नमन्वितत्वात् व्याकरणविधिविति । एवमनया भङ्गत् प्रबोधनविधयं च सूचितं 'कमसो' क्रमेण पूर्वशास्त्रनिश्चितेन । एतेन स्वन्वीचीकावचितमिच्छितं भवति । अतस्तन्मनुत्तारितया प्रमाणमिदमिदयाख्यातं भवति । 'पुण्यसुताम्' इति सत्यवचोवाचितं मन्वते ॥१॥

क आराधना कथ्य वा ? न ह्याराध्यापरिः ज्ञेनात्मभूताराधना शक्या प्रतिपत्तुं इत्यारेकायामाह—

उज्जोषणमुज्जवर्णं निष्कृष्टं साहजं च निष्छरणं ।

दंसज्जणावचरिततवाणमाराहणा

मणिया ॥ २ ॥

उज्जोषणमुज्जवर्णमित्यादिकं । 'उज्जोषणं' उद्योतनं शङ्काविनिर्मुक्तं सम्यक्त्वााराधना श्रुतनिरूपिते वस्तुनि किमित्थं भवेन्न भवेदिति सम्पुजातायाः शङ्कायाः संशयप्रतिसंज्ञिताया अपाकृतिः । कथं ? हेतुबलेन आत्मवचनेन वा सम्पुजाताया इत्यभेदेदमिति निश्चित्य । यदि यस्य विरोधि यत्रोपजातं तत्र नेतर-यात्पदं ब्रह्माति, यथा शीतस्पर्शेनाह्लाते शिशिरकरे उष्णता । विरोधि च निष्कृष्टज्ञानं । मंशीतेविरोधना च नियोगतस्तद्भावे तत्रेतरस्य तदा अभवत् । ब्रह्मणः कांसादीनां स्वरूपं तन्निरासकं च प्रस्तावे । अनिश्चयो

का ज्ञान करानेके लिये इस शास्त्रको प्रारम्भ करते हैं । आराधनाके स्वरूपका ज्ञान साध्य है और उसका साधन यह शास्त्र है । इस प्रकार शास्त्र और प्रयोजनमें साध्य साधनरूप सम्बन्ध है यह भी इसी वाक्यसे ज्ञात होता है । इस शास्त्रका अभिधेयभूत अर्थात् जो इसके द्वारा कहा गया है वह है चार आराधना । अतः प्रयोजन, सम्बन्ध और अभिधेयसे युक्त होनेसे यह शास्त्र उसी तरह उपादेय है जैसे व्याकरणशास्त्र उपादेय है ।

इस प्रकार इस गाथासे मंगल प्रयोजन, सम्बन्ध और अभिधेयको सूचित किया है ।

'कमसो' का अर्थ है क्रमसे अर्थात् पूर्व शास्त्रोंमें जैसा कहा है वैसा ही कहेंगा । इससे यह सूचित किया है कि यह ग्रन्थकारकी अपनी बुद्धिकी उपज नहीं है किन्तु आप्त पुरुषोंके वचनोंके अनुसार होनेसे प्रमाण है । 'कमसो' के साथ 'पुण्य सुताम्' पूर्व शास्त्रोंके इस वाक्यांशका अध्याहार करनेसे उक्त अर्थ निकलता है ॥१॥

आराध्यको जाने बिना उसकी आत्मभूत आराधनाको जानना शक्य नहीं है । अतः आराधना किसे कहते हैं और वह किसके होती है इस शंकाके समाधानके लिये आचार्य कहते हैं—

गाथा—सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं, सम्यक्चाग्रि और सम्यक्त्वके उद्योतन, उद्यवन, निर्वहन, साधन और (निष्छरणं) निस्तरणको (आराहणा) आराधना कहा है ॥२॥

टीका—'उज्जोषण' का अर्थ है उद्योतन अर्थात् शंका आदि दोषोंको दूर करना । यह सम्यक्त्व आराधना है । शास्त्रमें कहीं गई वस्तुके विषयमें 'क्या ऐसा है अथवा नहीं है' इसप्रकार से उत्पन्न हुई शंकाको, जिसका दूरा नाम सशय है, दूर करना सम्यक्त्वााराधना है । युक्ति के बलसे अथवा आप्त वचनके द्वारा यह इसी प्रकार है ऐसा निश्चय करके उत्पन्न हुई शंकाको दूर करना सम्यक्त्वका उद्योतन है । जिसका विरोधी जहाँ होता है वहाँ वह टहर नहीं सकता । जैसे शीत स्वस्ति ब्रह्मणः चन्द्रमां उष्णता नहीं टहरती । निश्चयात्मक ज्ञान संशयका विरोधी है अतः इन दोनोंमें नियमसे विरोध है; क्योंकि एकके रहते हुए वहाँ उस समय दूसरा नहीं रहता ।

वैपरीत्यं वा ज्ञानस्य मर्कं, निश्चयेनानिश्चयव्युदासः । यथावत्तया वैपरीत्यस्य निरासो ज्ञानस्योद्योतनं । भावना-
विरोधो मर्कं चारित्रस्य, साधु भावनासु वृत्तिस्त्रोतनं चारित्रस्य । तपसोऽर्थयमपरिणामः कलकलतम स्थितस्त
स्वाभावकृतिः संवधभावनाया तपस उद्योतनम् । उत्कृष्ट यवनं उद्यवनं ।

ननु मिश्रणं युप्रकृतेरर्थं, मिश्रणं च तपोनस्त । तथा हि गुह्यमिमा धना इति कथिते गुह्येन संयुक्ता
इति प्रतीयते । संयोजक विभिन्नयोरर्थयोरप्रातयोः प्रतिनिर्णयं च दर्शनाद्ययोरेषान्द्वयभूता आत्मन्तरेणपरिकल-
रूपाभावात् । तत्कथं दर्शनादिनिरासो नो मिश्रणमिति ? उच्यते-विशेषवाच्योऽपि सामान्येभ्यश्चकम्यस्य वर्तते,
यथा काकेभ्यो रक्ष्यतां सपिरित्यत्रोपघातकसामान्यभेदायः काकशब्दस्य प्रतीतस्तद्वत्संबन्धसामान्यमत्र यवन-
शब्दादिभेदं । असकृद्दर्शनादिपरिणतिरद्यवनं ।

निराकुलं वहनं चारणं निर्बहणं, परिषहाद्युपनिपातेऽप्याकुलतामन्तरेण दर्शनादिपरिणती वृत्तिः । उप-
योमान्तरेणान्ताहितानां दर्शनादिपरिणामानां निष्पादनं साधनम् । भवान्तरप्रापणं दर्शनादीनां निस्तरणम् ।
एवमारधनाशब्दस्यानेकार्थंरसितायां यथावत्सरं तत्कृतत्र व्याख्या कार्या ।

आगे हम कांक्षा आदिका स्वरूप और उनके निरासका क्रम कहेंगे । अनिश्चय अथवा
विपरीतता ज्ञानका मूल वा दोष है । निश्चयके द्वारा अनिश्चयका परिहार होता है । और यथा-
र्थतासे विपरीतताका निरास होता है । यह ज्ञानका उद्योतन है अर्थात् ज्ञानका निश्चयात्मक और
विपरीततारहित होना ही ज्ञानका उद्योतन है ।

भावनाका न करना चारित्रका मूल है । अतः उन भावनाओंमें लगना चारित्रका उद्यो-
तन है । असंयमरूप परिणाम तपका कर्क है । संयमकी भावनाके द्वारा उसको दूर करना तप-
का उद्योतन है ।

उत्कृष्ट यवनको उद्यवन कहते हैं ।

शंका—'यु' धातुका अर्थ मिश्रण है । संयोगपनेको मिश्रण कहते हैं । जैसे 'गुह्यसे मिश्रित
धान' कहने पर गुह्यसे संयुक्त धानकी प्रतीति होती है । दो विभिन्न पदार्थ जो एक दूसरेसे अलग
हैं उनके मिलनेको संयोग कहते हैं । किन्तु दर्शन आदि तो आत्मासे भिन्न पदार्थ नहीं हैं क्योंकि
दर्शन आदिसे रहित आत्माका अभाव है । तब दर्शन आदिके साथ आत्माका मिश्रण कैसे
संभव है ?

सामान्यज्ञान—जिस शब्दका जो विशेष अर्थ होता है वह भी उपलक्षणसे सामान्य रूप लिया
जाता है । जैसे 'कौआंसे धी को बचाओ' यहाँ काक शब्दका अर्थ उपघातक सामान्य ही है अर्थात्
जो धी को बचाव करने में सक्षम है उन सबसे धी को बचाओ । इसी तरह यहाँ 'यवन' शब्दका
अर्थ सामान्यज्ञान है, कोई विशेष सम्बन्ध नहीं । अतः बार बार आत्माका दर्शन आदि रूप परि-
णत होना उचित है । निराकुलतापूर्वक 'वहन' अर्थात् धारण करनेको 'निर्बहण' कहते हैं । परि-
षह आदि आने पर भी आकुलताके बिना सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणतिमें सम्बन्ध हुआ निर्बहण
है । अन्य कार्योंमें उपयोग लगनेसे तिरोहित हुए सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणामोंको पुनः उद्यवन
कहना उचित है । और सम्यग्दर्शन आदिको दूसरे अर्थमें भी-साधु से-साधु निरस्त कहते हैं ।

इस प्रकार आराधना शब्दके अनेक अर्थ होने-पर शब्दका अर्थ-व्याख्या करना
चाहिये *

भावान्धे व्याख्याने—निस्तरणशब्दः सामर्थ्यवाची स प्रत्येकं सम्बन्धते उद्योतनविधिः उद्योतनादीनां-
 तद्वर्धनादिविशिष्टदुर्गिरपि यथासंभवेन संबन्धः । उद्योतनं मरणकाले प्रायवस्थाया उत्कृष्टेन निर्मलीकरणं अभिन्नेन
 वर्धनाराधनेत्यादिना क्रमेण । स एवं पूर्वमुद्योतः किञ्च ज्ञानादीनां निर्मलीकरणमिष्टमिष्टं वा । इष्टं
 वैद्यवैद्ये किमिति सम्बन्धते निर्मलीकरणं ? उत्कृष्टेन यवनमपि सर्वव्यापिष्यते । अनाकुलं बहुमपि साधारणं
 किमुच्यते अतमुत्तिसमितीनां निश्चयेनानाकुलं बहुमिति ? न च निस्तरणशब्दात्सामर्थ्यं प्रतीयते । उद्योतन
 सामर्थ्यमित्यादिषु न च कश्चिदर्थः, अभिन्नेनेति कथमयमर्थो लभ्यते उज्ज्वलव्यापिशब्देरनुपातो । मरणकालवच
 कः ? मनुष्यवचपर्यायविनाशसमयो मरणकालसमयेन यदुच्यते, न तत्र भावोत्कर्षः, आरणास्तिकसमुद्वाते
 परिणाममाणात् । अत्र भावनाकाले मरणकालसमयेनोच्यते सोऽनुपातोऽङ्कुरवच कथमिष्टं लभ्यते । भावना-
 कालगतव्यापारकथनायेवं शास्त्रं प्रस्तुतमिति लभ्यत इति चेत्, न तथाऽङ्कुरितत्वात् । 'दसणणाचरिततवाण-
 मुज्जवणनाराहणा भणिया' 'दसणणाचरिततवाणुज्जवणनाराधणा' इति, इति प्रत्येकमभिसंबन्धोऽत्र कार्यः ।
 अन्यथा असमासेन निर्बंधं कुर्यात् ॥२॥

यहाँ अन्य व्याख्याकार कहते हैं—निस्तरण शब्द सामर्थ्यवाचक है । अतः उद्योतन आदि-
 भेदे प्रत्येकके साथ उसका सम्बन्ध होता है । और उद्योतन आदिका दर्शन आदि चारोंके साथ
 क्रमसे सम्बन्ध होता है । जैसे मरणकालमें पूर्वकी अवस्थाका उत्कृष्ट रूपसे निर्मल करना
 सम्यग्दर्शनका उद्योतन है अर्थात् विविधतापूर्वक सम्यग्दर्शनकी आराधना उद्योतन है, इस प्रकार-
 क्रमसे करना चाहिये ।

उत्तरे पूछना चाहिए कि क्या यहाँ ज्ञानादिका निर्मल करना इष्ट है या अनिष्ट ? यदि
 इष्ट है तो निर्मल करनेका सम्बन्ध अकेले दर्शनके साथ ही क्यों जोड़ा जाता है ? उत्कृष्ट रूपसे
 यवन भी सभी दर्शन आदिका इष्ट है । निराकुलतापूर्वक धारण करना भी सामान्य है । तब आप
 प्रेत, गुप्ति और समितिके निश्चयपूर्वक निराकुल धारणाकी बात क्यों कहते हैं ? तथा निस्तरण
 शब्दसे सामर्थ्यकी प्रतीति भी नहीं होती । उसे उद्योतन आदिके साथ जोड़ने पर उद्योतन सामर्थ्य,
 उद्यमः सामर्थ्य इत्यादिसे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता । तथा उद्योतन आदिसे तो विविधता अर्थ
 नहीं निकलता । तब यह अर्थ आप कैसे लेते हैं ? तथा मरणकालसे आपका क्या अभिप्राय है ?
 यदि मरणकाल समयसे मनुष्य पर्यायके विनाशका समय लेते हैं तो उस समय तो भावनाकी
 उत्कृष्टता सम्भव नहीं है क्योंकि आरणास्तिक समुद्वातमें परिणामोंमें मन्दता होती है । यदि
 यहाँ मरणकाल शब्दसे भावना काल लेते हों तो उसका तो यहाँ ग्रहण नहीं है । तब जिसका
 प्रकरण नहीं है उसे कैसे लिया जा सकता है ?

शंका—भावना कालमें होनेवाले व्यापारका कथन करनेके लिए यह शास्त्र रचा जाता है ?

समाधान—नहीं, ऐसा ग्रन्थकारने नहीं कहा है । ग्रन्थकारने तो दसणणाचरिततवाणं
 उज्जवणं नाराहणा भणिया—दर्शन ज्ञान चारित्र और तपके उद्योतनकी आराधना कहा है ।
 'उज्जवणं नाराहणा भणिया'—दर्शन ज्ञान चारित्र और तपके उद्योतनकी आराधना कहा है अतः
 प्रत्येकके साथ सम्बन्ध यहाँ करना चाहिए । यदि ग्रन्थकारको ऐसा इष्ट न होता तो वे 'दसण'
 इत्यादिका निर्बंध समासपूर्वक न करते ।

आशय—सम्यग्दर्शन आदिके उद्योतनको चार प्रकार की आराधना कहा है । सम्यग्दर्शन
 आदिके निर्मल करनेको उद्योतन कहते हैं । उत्कृष्ट यवन अर्थात् मिश्रणको—बार बार दर्शनवि-

किं चतुर्विंशत्यारण्येत्याद्युक्त्यानाह—

दुविधा पुत्र विनयवचने भविष्या आराधना समासेन ।

सम्प्रत्यग्नि य पश्या विधिवा य ह्ये परित्तिभि ॥ ३ ॥

पुत्रिह्यं पुत्र विनयवचने 'समासेन दुविधा आराधना भविष्या' इति पदसंयोगः । आचरणनेह्यवया-
धिक्याः । ज्ञानदर्शनाचरणव्यवस्थासर्वज्ञः सर्ववर्धनः । मोहुराज्यमाहीतराद्यहं वाः । सर्वज्ञानो सर्ववर्धितो वीर-
राज्येभ्योर्धो बभूव विनयवचनं । एतेन अज्ञानवचनकारणमाभावात् प्रामाण्यमन्यत्प्रामाण्यत्वम् । यस्तुरभ्रानाहाप-
होभ्यामा वा प्रकृतं वचः अन्वयापरिचोक्त्याप्राप्त्याप्यन्यत्कथयति । तत्र य 'समासेन' संबोधेन 'दुविधा' द्विप्रकारा
'भविष्या' कथिता 'आराधना' आराधना । का प्रथमा आराधना का द्वितीयेत्यत्र आह—'सम्प्रत्यग्नि य पश्या'
अज्ञानविषया प्रथमा आराधना । 'विधिवा' य द्वितीया य 'ह्ये' भवेत् 'परित्तिभि' चारित्र्यविषया आराधना ।
वर्धनचारिष्याराधनायोः प्रथमद्वितीयाभ्यन्तरेणः उत्पत्त्येकया गुणत्वानापेक्षया चेति । केचिच्च वर्धनपरिभा-
गेत्यस्तुराकारके द्वि चारित्र्यपरिभागे उत्पद्यत इति प्राचम्यं वर्धनाराधनायाः । असंयतसम्पत्तिगुणत्वानं पूर्व

रूप परिणमन करनेको उच्चमन कहते हैं । परीवह आदि ज्ञाने पर भी निराकुलतापूर्वक रहन अर्थात्
धारण करनेको निर्बहन कहते हैं । अन्ध तरफ उपयोग लमनेमे दर्शन आदिसे मनके हटने पर पुनः
उनमें उपयोग लाना साधन है । अर्थात् नित्य या नैमित्तिक कार्य करते समय सम्यग्दर्शन आदि-
में व्यवधान आ जाये तो पुनः उपायपूर्वक उसे करना साधन है । दूसरे भवमें भी सम्पद्दर्शनादि-
को सब से जाना अथवा उस भव में अरजपर्यन्त धारण करना निस्तरण है । तत्पार्थ अज्ञानको
सम्पद्दर्शन कहते हैं । स्व और परके निर्बन्धको सम्पद्ज्ञान कहते हैं । पापका बन्ध करानेवाली
क्रियाओंके त्यागको चारित्र्य कहते हैं और इन्द्रिय तथा मनके नियमनको तप कहते हैं ॥२॥

क्या आराधना चार ही प्रकारकी होती है ऐसी भाष्यकृदमें आचार्य कहते हैं—

शा०—जिनागममें संक्षेपसे आराधना दो प्रकारकी कही है । अज्ञान विषयक प्रथम आरा-
धना है । और दूसरी चारित्र्यविषयक आराधना है ॥ ३ ॥

टी०—जिनवचनमें संक्षेपसे दो प्रकारकी आराधना कही है । ज्ञानाचरण, दर्शनाचरण
और मोहको जीतनेसे जिन होते हैं तथा ज्ञानाचरण और वर्धनाचरणको जीतनेसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी
होते हैं । मोहको जीतनेसे वीतरागी और वीतद्वेषी होते हैं । सर्वज्ञ सर्वदर्शी और वीतराग तथा
वीतद्वेषी महापुरुषोंका बचन जिनवचन कहलाता है । इससे असत्य बोझनेके कारणोंका अभाव
होनेसे आत्मके प्रामाण्यको स्थापित किया है । वक्ताके अज्ञानसे अथवा रागद्वेषसे कहा गया बचन
अवधारका बोध करानेसे अग्रमाम होता है ।

उस जिनवचनमें 'समासेन' अर्थात् संक्षेपसे 'आराधना' अर्थात् आराधना, 'दुविधा' अर्थात्
दो भेदरूप, 'भविष्या' अर्थात् कही है । पहली आराधना कीन है और दूसरी कीन है ? इसके उत्तर
में कहते हैं—'सम्प्रत्यग्नि य पश्या' अर्थात् अज्ञानविषयक प्रथम आराधना है और 'विधिवा ह्ये
चारित्तिभि' चारित्र्य विषयक दूसरी आराधना है ।

उत्पत्तिकी अनेका और गुणत्वानकी अनेका 'वर्धनाराधना'को प्रथम तथा चारिष्याराधना-
को द्वितीय कहा है ऐसा कोई कहते हैं । उनका कहना है कि सम्पद्दर्शनकर चारिष्याराधनी उत्पत्ति

प्रवृत्तसंयत्ताधिकं तु परमिति । अज्ञानविरक्तिपरिणामयोर्गुणवत्त्वसित प्रावृत्तः, अज्ञानवतो वा वसंतस्य पश्चाद्विरक्तिरवभासते । तत्किमुच्यते 'उत्पत्त्यपेक्षयेति । असंयतसम्यग्बुद्धीनां कुतः क्रमोऽयं तत्पेक्षया प्रथमद्वितीय-व्यपदेशवृत्तिः स्यात् । उत्पत्त्यपेक्षया तथोक्त एव नियमः । अथाप्येव बचनवैचर्यावधिभेदा 'असंयतसम्यग्बुद्धि-संयतसम्यग्बुद्धयस्तसंबन्धा' इति वचनात् । तदेव बचनं किमर्थं क्रममाश्रित्य प्रवृत्तमुत गान्धरीयकतया ? न तावदसित परिणामानां नियोगभावी क्रमः । यदि स्यात्तु यौगपद्यं कदाचित्स्यात् । इत्युक्ते च सम्यग्बुद्धि-संयतसंबन्धा इति वैक्या । अथ नामेकं बचनमेकः प्रयोक्तुं क्षम्यत इति वक्तुरिच्छामुविधायां क्रमः सूत्रविषयाद्भूतं प्राच्यन्व्यं द्वितीयता चेति बाध्यं न गुणस्थानापेक्षयेति । किं चोपचातदर्शनान्द्विपरिणामस्यात्मनस्तद्व्युत्पत्तिसंय-वृत्तिराराधना साऽत्र प्रस्तुता । तत्र च प्राच्यन्व्यं द्वितीयता वा, तत्किमुच्यते उत्पत्त्यपेक्षया गुणस्थानापेक्षया चेति ।

अथ गुणस्थानोद्घातसम्यग्बुद्धेर् अर्थवन्ति—अस्मिन् शब्देन किममेव निरवयववृत्तिर्विद्वानाराधनेति, उदात्तोऽपि विषयः संबन्धीति ? अस्वीत्याहेति तदनुक्तम् 'दंशनपानचारितसत्पानाराधना भवियां' इत्यती-

होनेके उत्तरकालमें चारित्ररूप परिणाम उत्पन्न होता है इसलिये दर्शनाराधना प्रथम है । असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पहले होता है प्रमत्तसंयत आदि बादमें होते हैं ।

किन्तु अज्ञानरूप और विरतिरूप परिणाम एक साथ भी प्रकट होते हैं । अथवा सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न असंयतके पीछेसे भी चारित्र उत्पन्न होता है, तब उत्पत्तिकी अपेक्षा प्रथम और द्वितीय हैं ऐसा कैसे कहते हैं ? असंयत सम्यग्दृष्टियोंका क्रम कैसे संबन्ध है जिससे उसकी अपेक्षा प्रथम और द्वितीय व्यवहार हो सके । उत्पत्तिकी अपेक्षासे उनके सम्बन्धमें नियम कहा ही है ।

पूर्वपक्ष—आगममें बचनके पौर्वापर्यकी अपेक्षासे दर्शनाराधनाको प्रथम और चारित्र-ाराधनाको द्वितीय कहा है, क्योंकि आगममें 'असंयतसम्यग्दृष्टी, संयत्तासंयत, प्रमत्तसंयत' ऐसा बचन क्रम है ।

उत्तर—वही बचन किसलिये क्रमका आश्रय लेकर प्रवृत्त हुआ है ? क्या यह क्रम परस्परमें अविनाभावी होनेसे रखा गया है ? परिणामोंके क्रमसे ही होनेका तो कोई नियम नहीं है । यदि होता तो एक साथ अज्ञान और चारित्र भी नहीं होते । किन्तु सम्यग्दृष्टि और संयत्तासंयत एक कालमें होते देखे जाते हैं ।

पूर्वपक्ष—एक व्यक्ति एक साथ अनेक बचनोंका प्रयोग नहीं कर सकता इसलिये क्रम वक्त-की इच्छाका अनुसरण करता है ।

उत्तर—तब प्रथम और द्वितीयपनेको सूत्रकी विवक्षाकृत कहना चाहिये अर्थात् सूत्रमें जिसकी प्रथम विवक्षा है वह प्रथम है और जिसकी विवक्षा बादमें है वह द्वितीय है । गुणस्थानकी अपेक्षा नहीं कहना चाहिये ।

दूसरे, जिस आत्मानमें दर्शनान्द्वि परिणाम उत्पन्न हो गये हैं उमका दर्शन आदिके विषयमें विशेष अतिशय उत्पन्न करनेका नाम आराधना है । वही आराधना यहाँ प्रस्तुत है । उसके विषयमें उत्पत्तिकी अपेक्षा या गुणस्थानका अपेक्षा प्रथमपना और द्वितीयपना कैसे आप कहते हैं ?

अन्व कुछ व्याख्याकार इस गाथासूत्रका उपोद्घात इस प्रकार कहते हैं—इस शास्त्रमें क्या यही निश्चय है कि आराधना चार ही प्रकार की है अथवा कोई दूसरा भी विकल्प संभव है ? यदि कहते हो 'है' तो ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि गाथामें दर्शन ज्ञान चारित्र और तप आरा-

काकाविधानक्रियास्य प्रतीयते मास्य शास्त्रस्य व्यापार इति । यद्यस्य व्यापारः शास्त्रस्य वक्तुमिष्टः स्यात् 'अण्वदि' इति द्रुवात् । 'जिनवचने भगिन्या दुविहा आराधना' इति वचनात् । संक्षेपनिरूपणापि 'उत्सवैवेति-
नेह संक्षेपवाच्यम् । वस्तु बहुकल्प्यते दुरवगमं मन्वद्विनामिति । तदनुग्रहया स्वल्पस्योपन्यासः । स संक्षेपसि-
प्रकारः—वचनसंक्षेपेऽर्थासंक्षेपस्तदुभयसंक्षेपश्चेति । 'वचनबहुत्वस्वार्थनिरूपयो न ज्ञायते अज्ञानमार्गित वचनं
संक्षिप्यते । अर्थस्तु सप्रपञ्च एव । अनुबोध्यकारादीनां बहुमानुपन्यासमकृत्वा विद्मानोपन्यासः प्रस्तुतस्वार्थ-
संक्षेपः । वचनानि तु बहुवि । तस्योभयसंक्षेपः पाञ्चाल्यः । द्विविधाराधनेति वचनसंक्षेपो नार्थासंक्षेपः ।
ज्ञानव्यापाराना उपसङ्ग विद्यमानापि न वचनेनोच्यते । 'परमुत्सवैवावबोधयितुं शक्यत इति ।

दंसजमाराहतेषु भाष्यमाराहिर्यं हवे धियमा ।

जायं आराहतेषु दंसजं होइ भयजिउजं ॥ ४ ॥

'दंसजमाराहतेषु' वर्णनाराधनायां कथितायां ज्ञानाराधनापि शक्यते प्रलियत्तुम्, अन्वयान्वयनबोधनायां

धना 'भगिता' 'कही है' इस प्रकार अतीत काल सम्बन्धी क्रियाका प्रयोग किया गया है । इससे प्रतीत होता है कि इस शास्त्रका उसमें व्यापार नहीं है । यदि उनको कथन करनेमें इस शास्त्रका व्यापार इष्ट होता तो 'अण्वदि' ऐसा लिखते । किन्तु वे कहते हैं 'जिनवचने भगिन्या दुविहा आराधना ।' जिनवचनमें दो प्रकारकी आराधना कही है । उसीमें संक्षेप भी कथन किया है इसलिये यहाँ संक्षेप भी नहीं कहना चाहिये ।

इसका समाधान यह है कि बहुत विस्तारसे कथन मन्वद्विषयोंके लिये दुरवगम होता है । वे उसे समझनेमें असमर्थ होते हैं । उनके कल्याणके लिये संक्षेप कथन किया जाता है । उस संक्षेपके तीन प्रकार हैं—वचन संक्षेप, अर्थ संक्षेप और उभय संक्षेप । वचनका विस्तार होने पर अद्विज अर्थका निश्चय नहीं कर सकते । इसलिये वचनका संक्षेप किया जाता है । अर्थका तो विस्तार रहता ही है । बहुतसे अनुयोगद्वारा आदिका उपन्यास न करके केवल दिशामात्रका बतलाना प्रस्तुत विषयका अर्थ संक्षेप है । वचन तो बहुत है । उन दोनोंका अर्थात् वचन और अर्थका संक्षेप उभय संक्षेप है । 'दुविहा आराधना' यह वचन संक्षेप है, अर्थ संक्षेप नहीं है । ज्ञानकी आराधना और तपकी आराधनाके विद्यमान होते हुए भी उन्हे वचनसे नहीं कहा । उन्हे परमुत्सवै ही अर्थात् दर्शन और चारित्र्याराधनाके द्वारा ही जाना जा सकता है ।

भाष्यार्थ—पहले विस्तारमें रुचि रखने वाले शिष्योंको दृष्टिमें रखकर चार प्रकारकी आराधना कही । पीछे संक्षेप रुचि शिष्योंकी अपेक्षा उसे दो प्रकारका कहा, क्योंकि दर्शनका ज्ञानके साथ तथा चारित्र्यका तपके साथ अविनाभाव होनेसे दर्शनाराधनामें ज्ञानाराधनाका और चारित्र्याराधनामें तप आराधनाका अन्तर्भाव होता है । तथा सम्यग्दर्शन आराधनाके होने पर ही ज्ञानाराधनापूर्वक चारित्र्याराधना होती है ॥ ३ ॥

गा०—दर्शनकी आराधना करने वालेके द्वारा नियमसे ज्ञानकी आराधना होती है । किन्तु ज्ञानकी आराधना करने वालेके द्वारा दर्शनकी आराधना अजनीय है, होती भी है, नहीं भी होती ॥ ४ ॥

टी०—'दंसजमाराहतेषु' अर्थात् दर्शन आराधनाका कथन करने पर ज्ञान आराधनाको भी

साराबाह्यतमभाजननाथप्रतिपत्तिवत् । ननु चान्तरेणाधारनामवर्गं न संभवतीति भवत्यननिहितेऽपि भाजन-
नाथे प्रतिपत्तिरिह कथम् ? इहाप्यविनायावाचित्वाचष्टे. 'दंसणमारारंतेण' ।

अत्रादरे संख्यभारम्भविकि शब्दात्तः । यदि द्विविधा आराधना 'चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्ताः सिद्धाः'
इति प्रतिज्ञा हीयते इत्योरलंघनात् इति चेत् नास्मिन्नपि विकल्पे तयोरेपि संप्रहार्थम् । कथं 'दंसणमारारंतेण'
इति प्रतिज्ञा हीयते इति । अथ प्रतिज्ञा शब्देन किमुच्यते ? साध्यानिर्देशः प्रतिज्ञेति तावन्न वृहीद्यम् । चतुर्वि-
धाराधनाफलप्राप्तत्वस्येह साध्यता नास्ति । सिद्धमेव हि चतुर्विधाराधनाफलप्राप्तत्वमनुष्ठत इति । अथानुपपत्तिः
प्रतिज्ञा सा किन्नोपपद्यते ? सन्ति चतस्रः आराधनास्तरासां च फलं ते प्राप्तवन्तस्ततः तस्यभ्युपगम्ये कथमभ्यु-
पगम्यानुपपत्तिः ? चतुर्विधेरभ्युपगमन्तः द्विविधेति कथं न विशदयामि पूर्वपरव्याहिरितिरिति चोच्यते । तथा यवचोद-
मेव चोद्यते समासेन द्विविधेति वचनात्, प्रपञ्चनिरूपणायाम् चतुर्विधा तस्को विरोधः ? तेन विरोधपरिहाराय
चागतयेयं गाथा ।

'दंसण' अर्थान् रुचि., 'आराधतेण' आराधयता, 'चाण' सम्यक्ज्ञान, 'आराधितं' आराधितं 'हवे'
भवेत् 'गियमा' निश्चयमेव । यस्य हि यद्विषया अद्धा तस्य कथंचिदप्यज्ञाने न सा भवति । न हि निविणया रुचि
आनाना शक्य है । जैसे आग लानेकी प्रेरणा करने पर उसको लानेके लिए सकोरा आदि किसी
एक पात्र मात्रका बोध हो जाता है ।

शङ्का—बिना किसी आधारके आगका लाना संभव नहीं है इसलिये पात्रमात्रका कथन न
करने पर उसका बोध हो जाता है । किन्तु यहाँ यह कैसे संभव है ?

समाधान—यहाँ भी अविनाभाव होनेसे 'दसनमाराहनेण' इत्यादि कहा है ।

यहाँ अन्य व्याख्याकार गाथाके सम्बन्धका आःम्भ इस प्रकार करते हैं—यदि आराधनाके
भेद दो हैं तो 'चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त सिद्ध है' यह प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं होती; क्योंकि
इसमे शेष दोका संग्रह नहीं किया है । किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ यह बत-
लाते हैं कि उन दोमें भी शेष दोका संग्रह होता है । उसीके लिये 'दंसणमारारंतेण' आदि कहा है ।

तथा आप कहते हैं कि प्रतिज्ञाकी हानि होती है । यहाँ प्रतिज्ञा शब्दसे आप क्या कहते हैं ?
साध्यके निर्देशको प्रतिज्ञा कहते हैं । उसका तो यहाँ ग्रहण नहीं किया है; क्योंकि 'चार प्रकारकी
आराधनाके फलको प्राप्त' यह यहाँ साध्य नहीं है । चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त होना
तो सिद्ध है, साध्य नहीं है । उसीका यहाँ अनुवाद मात्र किया है । यदि प्रतिज्ञाका अर्थ स्वीकृति है
तो वह यहाँ क्यों नहीं उत्पन्न होती ? चार आराधनाएँ हैं और उनका फल सिद्धाने प्राप्त किया है
ऐसा स्वीकार करने पर स्वीकृतिकी अनुपपत्ति कैसे हुई ।

शंका—पङ्कले कहा आराधनाके चार भेद हैं अब कहते हैं दो भेद हैं । तो यह पूर्वपर
विशद कैसे नहीं है ?

समाधान—आप व्यर्थ ही तर्कमें कुतर्क लगाते है । ग्रन्थकार कहते हैं कि संक्षेपसे आरा-
धनाके दो भेद हैं और विस्तारसे कहने पर चार भेद हैं इसमें विरोध कैसा ? अतः विरोध दूर
करनेके लिये ही यह गाथा आनी है । अस्तु

'दंसण' अर्थान् अर्थान् रुचिकी 'आराधतेण' आराधना करनेसे 'पाण' अर्थान् सम्यक्ज्ञान
'आराधितं' आराधित, 'हवे' होता है । 'गियमा' निश्चयसे । जिसकी जिस विषयमें अद्धा होती है
उसका उस विषयमें अज्ञान होने पर किसी भी तरह वह अद्धा नहीं होती । रुचि विषयके बिना

अवसते । बुद्धिपरिच्छेदवस्तुविषया अद्वैतविनाशः श्रद्धाया ज्ञानेन ।

अथवती व्याख्या—आत्मनो विषयाकारपरिणामनृत्तिर्ज्ञानं तदावरणक्षयोपशमनितं, भूम्यावरणोपशमने शान्तजननम् । तद्वगतविशुद्धिः प्रसन्नता अविरोधः श्रद्धा । श्रुतिगिरूपितार्थविषया सत्यभाषना दर्शनं । तद्दर्शनमोहोपशमक्षयोपशममितिसं शोभा अयंप्रकाशार्थं जलप्रसादवत् । तस्मिन्पाराध्यमाने ज्ञानसिद्धिरवस्थ-
भाषिणी निराश्रयधर्मस्य केवंचिद्धपभावादिति ।

तर्धेन परीक्ष्यते, विषयाकारपरिचयित्वात्मनो यदि^१ स्याद्दूरस्थकल्पस्यार्थाभावात्कदा स्यात्तथा च—
'अरसमन्वयधर्मसं सम्बन्धं चैवचानुचनसर्ग'—[सत्य० ४९]

इत्यनेन विरोधः । विरुद्धवच नीलपीठाविपरिधामो नैकव युज्यते । एकदा आकाशयसंबेदनप्रसंगवच—
वाह्यवैकं नीलादिविज्ञानगतमपरम् । विज्ञानगतविशुद्धिः प्रसन्नता अविरोधः अद्वैति वाञ्छामीचीनं गवितम्
चैतन्यस्य धर्मः श्रद्धानं ननु ज्ञानं, ज्ञानधर्मस्ये क्षायोपशमिज्ञानविनाशे कथमवस्थितिरंधानस्य । न हि धर्मिणि
विनष्टे धर्मस्यावस्थितिः । चैतन्यमविनाशि तदाश्रयं तथिति चेत् ज्ञानस्य धर्मता नश्यति । किं च यो यस्य
धर्मः स तस्य स्वरूपम् । न चान्यस्य धर्मिनो रूपं धर्म्यंरसस्य प्रथयति । न हि बलाकायाः शुक्लता कुन्ध-
कुसुमस्य कदाचन । एवं मतेः प्रसन्नता श्रुतादेर्न स्यात्, श्रुतादेर्वा प्रसन्नता मतेरिष्यते । एवं ज्ञानमेवै

नहीं होती । बुद्धिके द्वारा ग्रहण की गई वस्तुमें श्रद्धा होती है अतः श्रद्धाका ज्ञानके साथ अविनाश-
भाव है ।

इस गाथाको लेकर एक अन्य व्याख्या इस प्रकार है—आत्माके विषयाकार परिणमनको ज्ञान कहते हैं । वह ज्ञान ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है । जैसे भूमिरूप आवरणको हटा देने पर पृथ्वीसे पानीका जन्म होता है । उस ज्ञानमें जो निर्मलता होती है उसे प्रसन्नता या स्वच्छता कहते हैं । और उसमें अमिरुचिको श्रद्धा कहते हैं । शास्त्रमें निरूपित अर्थके विषयमें सत्य-
भाषना श्रद्धा है । वही दर्शन है । वह दर्शनमोहके उपशम या क्षयोपशमसे होता है । जैसे पानीमें मिश्रित कीचड़के अभावमें जल निर्मल होता है । उस दर्शनकी आराधना करने पर ज्ञानकी सिद्धि अवश्य होती है क्योंकि जिस धर्मका कोई आश्रय नहीं है उसकी सिद्धि एकाकी नहीं होती ।

अब इस व्याख्याकी परीक्षा करते हैं—

यदि आत्मा विषयाकार रूप परिणमन करता है तो विषयकी तरह आत्मा रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादिभय हो जायेगा । और ऐसा होने पर जो आत्माको अरस, अरूप, अवन्ध, अव्यक्त, अशब्द और चेतना गुणवाला कहा है उसके साथ विरोध आता है । तथा नील पीठा आदि रूप परिणाम परस्परमें विरुद्ध होनेसे एक जगह नहीं रह सकते । तथा एक ही कार्ममें दो आकारोंको जाननेका प्रसंग आता है एक बाह्य नीलादि और दूसरा ज्ञानगत आकार । तथा ज्ञानमें जो विशुद्धि या प्रसन्नता है उसे अमिरुचि या श्रद्धा कहना भी समीचीन नहीं है । श्रद्धान चैतन्यका धर्म है, ज्ञानका नहीं । यदि उसे ज्ञानका धर्म माना जायगा तो क्षायोपशमिक ज्ञानके नष्ट होने पर दर्शन कैसे रह सकेगा । धर्मिके नष्ट होने पर धर्म नहीं रहता । यदि कहोगे कि चैतन्य अविनाशी है अतः दर्शनका वही आश्रय है तो वह ज्ञानका धर्म नहीं हो सकता । तथा जो जिसका धर्म होता है वह उसका स्वरूप होता है एक धर्मका स्वरूप दूसरे धर्मका नहीं हो सकता । बगुलोंकी पंक्ति-
का धर्म शुक्लता कभी भी कुन्धके फूलोंका धर्म नहीं हो सकती । इसी तरह मतिज्ञानकी निर्मलता

या न वा ? यदि नास्ति भवत्पर्यवकाशिकाकारिणा आगमैर्न विरोधः । अथ वदितुं भेदःपरिणामः परिणामान्तरस्व स्वरूपं न अवशिष्टं । परिणामकं तस्य परिणामित्वस्वरूपा न्याय्या । यौ भिन्नप्रतिबन्धकासायजन्वी, न तावद्योऽप्यस्य धर्मधर्मिणी यथा अवधिकेवले भिन्नप्रतिबन्धकासायजन्व्ये, तथा न ज्ञानदर्शने ।

ज्ञानाराधना चारिचाराधनेति द्वैविध्यं कस्मान्नोपन्यस्तं इत्यथ चोद्धे प्रतिबिधानामाह—**आत्मन्यद-
र्शनेन संसर्गं ह्येह भवतिच्छब्दं ।** ज्ञानशब्दः सामान्यवाची संशये, विपर्ययि, समीचीने च वृत्तः । संशयज्ञानं, विपर्ययज्ञानं सन्त्यज्ञानमिति प्रयोगदर्शनात् । तेन ज्ञाने परिणत आत्मा नियमितस्वरूपश्रद्धाने विपरिणमत एवेति न नियोगोऽस्ति, मिथ्याज्ञानपरिणतस्य तत्त्वश्रद्धाया अभावात् । ततो ज्ञानस्य दर्शनविनाभावित्व-
स्याभावात् न ज्ञानगणनोक्त्या दर्शनाराधनावगतुं शक्येति न तथा मत्संपादिविधानमायमे प्रकृतमिति भावार्थः । 'भाव' ज्ञान । आराधनेत्येव आराधयता । संसर्गं दर्शनं । 'ह्येह' अदिति । 'भवतिच्छब्दं' भजनीय विकल्प्यम् । अथ दर्शनशब्देन दर्शनविषयमाराधनमभ्यस्यते । तत्तात्पर्यमर्थं दर्शनाराधना भाव्येति भजनीयतया अविनाभावित्वा-
याव सूचितं । सम्यग्ज्ञाने आराधिते भवत्याराधिता, मिथ्याज्ञानाराधनाया निति भजनीयता । अथवा ज्ञानाराधना चारिचाराधनेति च अभ्यस्यते संक्षेप्यम् ।

और अव्याबाध कहे है उसके साथ उक्त व्याख्याका विरोध जाता है । क्योंकि एक गुणका अर्थ गुणरूपमे उपन्यास नहीं किया जा सकता ।

तथा क्षायिक और क्षायोगशमिकमे भेद है या नहीं ? यदि नहीं है तो पाँच भावोंका निरूपण करनेवाले आगमसे विरोध आता है । यदि भेद है तो एक परिणाम दूसरे परिणामका स्वरूप नहीं होता, इसलिए परिणामोंके समूहको परिणामीका स्वरूप मानना न्याय है ।

तब जो भिन्न प्रतिबन्धकोके अभावमे उत्पन्न होते हैं वे परस्परमें एक दूसरेके धर्म-धर्मों नहीं हो सकते । जैसे अवधिज्ञान और केवलज्ञान, अवधिज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण रूप भिन्न प्रतिबन्धकोके अभावमें उत्पन्न होनेसे परस्परमें धर्म-धर्मों नहीं है उसी तरह ज्ञान और दर्शन भी परस्परमें धर्म-धर्मों नहीं हैं ।

शंका—ज्ञानाराधना और चारिचाराधना इस प्रकारसे दो आराधना क्यों नहीं कही ?

समाधान—इसका उत्तर देते हैं—'णागमाराधतेण संसर्गं ह्येह भवतिच्छब्दं ।' यहाँ ज्ञान शब्द सामान्यवाची है क्योंकि संशय, विपर्यय और समीचीनमे रहता है । संशयज्ञान, विपरीतज्ञान, सम्यग्ज्ञान ऐसा प्रयोग देखा जाता है । इसलिए ज्ञानरूप परिणमन करनेवाला आत्मा नियमसे तत्त्व श्रद्धान रूपसे परिणमन करता ही है ऐसा नियम नहीं है; क्योंकि जो आत्मा मिथ्याज्ञान रूपमे परिणमन करता है उसके तत्त्व श्रद्धाका अभाव होता है, इसलिए ज्ञान दर्शनका अविनाभावी नहीं है । अतः ज्ञानाराधनाके कहेनेसे दर्शनाराधनाका ग्रहण शक्य नहीं है । इसलिए आगममें उस प्रकारमे संशय + धन नहीं किया है । अतः ज्ञानकी आराधनासे दर्शनकी आराधना भजनीय है । यहाँ दर्शन शब्दमे दर्शन विषयक आराधनाका कहा है । अतः यह अर्थ हुआ कि दर्शन आराधना भजनीय है । इत्यमे ज्ञानाराधनाके साथ दर्शनाराधनाके अविनाभावके अभावको सूचित किया है । अर्थात् सम्यग्ज्ञानकी आराधना करने पर तो दर्शनकी आराधना होती है, किन्तु मिथ्याज्ञानकी आराधना करने पर दर्शनकी आराधना नहीं होती है । अथवा ज्ञानाराधना और चारिचाराधना इस प्रकारसे भी संक्षेप किया जा सकता है ।

भावार्थ—दर्शन श्रद्धानको कहते हैं । श्रद्धान अज्ञात वस्तुमें नहीं होता । अतः श्रद्धाका

भुं च ज्ञानमभ्यन्तर्याणि यद्यं न वर्तते, यतो मिथ्यादृष्टिरपि ज्ञानस्याराधको भवति । अतोऽविनाभावो
भाव इत्यत आह—

शुद्धनया पुन जायं मिच्छादिदृष्टस् वैति अण्जाणं ।

तम्हा मिच्छादिदृष्टी जाणस्साराहओ जेव ॥ ५ ॥

शुद्धनयाः पुन । अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनोज्ययतमधर्मपरिच्छेदस्तदविनाभाविधर्मबलप्रभूतो नयः ।
तथा चोक्तम् इति । “उपपत्तिबलाधर्मपरिच्छेदो नयः” इति । शुद्धो नयो येषां ते शुद्धनयाः । निरपेक्षनयनिरा-
साय शुद्धविशेषणम् । नित्यमेव सर्वथा क्षणिकमेवेति ये परिच्छेदास्ते विपर्ययरूपास्तथाविधस्य प्रतिपक्षधर्मान-
पेक्षस्य वस्तुनि रूपम्याभावान् । सापेक्षं रूपं निराकाञ्जतात्त्वेण दर्शयतः प्रत्ययस्य अतस्मिन्स्त्विति ज्ञानं भ्रान्त-
मिति भ्रान्तता । तदोपरहितता शुद्धता । तथा हि—इतत्करवेन अनित्यतामेव वस्तुनः प्रत्येति ज्ञानं न तत्स-

ज्ञानके साथ अविनाभाव है । अतः गाथा सूत्रमें ठीक ही कहा है कि तत्त्व श्रद्धानकी आराधना
करने पर सम्यग्ज्ञानकी आराधना अवश्य होती है । इस पर प्रश्न होता है कि ज्ञानाराधना और
चारित्र्याराधना ऐसे दो भेद क्यों नहीं रले ? इसके उत्तरमें कहा है कि सम्यग्ज्ञानकी आराधना
करने पर सम्यग्दर्शनकी आराधना होनी है किन्तु मिथ्याज्ञानकी आराधनामें सम्यक्त्वकी आराधना
नहीं होती । इस प्रकार ज्ञान और दर्शनमें अविनाभाव न होने से ज्ञानाराधनामें दर्शनाराधना
भाज्य है । इस पर पुनः प्रश्न होता है कि जब ‘सम्यग्ज्ञानकी आराधना’ कहने पर सम्यक्त्वकी
आराधनाका बोध हो सकता है तो वैसा क्यों नहीं कहा ? इसका उत्तर है कि ज्ञानके सम्यक्
व्यपदेशमें सम्यक्त्व मुख्य हेतु है । सम्यक्त्वके बिना ज्ञान सम्यक् नहीं कहलाता । अतः सम्यग्ज्ञान-
का प्राधान्य नहीं है ॥४॥

‘ज्ञानके बिना भी सम्यग्दर्शन होता है क्योंकि मिथ्यादृष्टि भी ज्ञानका आराधक होता है ।
अतः ज्ञानके साथ सम्यग्दर्शनका अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है । इस आशंकाका उत्तर देते हैं—

गा०—किन्तु शुद्धनय दृष्टि वाले ज्ञानी जन मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको अज्ञान कहते हैं, इसलिए
मिथ्यादृष्टि ज्ञानका आराधक नहीं ही होता ॥५॥

टी०—अनन्त धर्मात्मक वस्तुके किसी एक धर्मके जाननेको नय कहते हैं । यह नय उस
धर्मके साथ ही रहनेवाले अन्य धर्मोंके बलसे उत्पन्न होता है । अर्थात् नय जिस धर्मको जानता है
उस धर्मके साथ जो अनन्त धर्म उस वस्तुमें रहते हैं उनका निषेध नहीं करता । किन्तु उनको
गौण करके एक धर्मकी मुख्यतासे वस्तुको जाननेका नाम नय है । कहा भी है—युक्तिके बलसे
वस्तुके जाननेको नय कहते हैं । शुद्ध नय जिनका है वे शुद्धनय होते हैं । यहाँ निरपेक्ष नयके निरास-
के लिए ‘शुद्ध’ विशेषण लगाया है । वस्तु सर्वथा नित्य ही है अथवा सर्वथा क्षणिक ही है इस
प्रकारके जो ज्ञान है वे विपरीत रूप है क्योंकि इस प्रकारके प्रतिपक्षी धर्मोंसे निरपेक्ष रूपका वस्तुमें
अभाव है । वस्तुका स्वरूप सापेक्ष है उसे जो निरपेक्ष रूपसे दिखलाने वाला ज्ञान है, वह भ्रान्त
है । क्योंकि जो जिस रूप नहीं है उसे उस रूप दिखलाता है वह ज्ञान भ्रान्त होता है । और जो
उस दोषसे रहित है वह शुद्ध है । इसका सुलासा इस प्रकार है—वस्तुकी उत्पत्तिको देखकर
मिथ्याज्ञान वस्तुको सर्वथा अनित्य ही मानता है । किन्तु वह सर्वथा अनित्य नहीं है । समस्त

संज्ञा अत्यन्तित्वं, निम्नानिवातनकप्रत्ययत्वम् । यदि हि नित्यत्वेन स्वात् निम्नानामानुष्यत्वेऽनुसंधानेना-
 'युक्ता तत्त्वान्यवधौ नित्यं तत्रत्येव च न भवतीति बुद्धप्रतिपत्त्यः ॥ शुद्धा नया येषां प्रतिपत्तुषां ते बुद्धयथाः ।
 'युक्तं पुनः । अर्थं ज्ञानमित्यवधौ परत्य । 'मिच्छादिद्विषयं' मिथ्यापुष्टेः । 'यैति' युवते । 'अन्वयार्थ'
 अज्ञानं इति । न ज्ञानशब्दः सामान्यवाची । किन्तु यथाचंप्रतिपत्तिरेव ज्ञानशब्दाभिप्रेयेति । ज्ञानते मन्वते अर्थः
 परिच्छिद्यते येन तज्ज्ञानम् । वत्त्वन्मयुतं च 'रूपमावसंनता यार्थः परिच्छिद्यते तस्मान्न मिथ्याज्ञानं ज्ञानशब्द-
 स्वार्थः, तत्रज्ञानमित्येव ब्राह्मम् ॥ ननु च—

'यदि इदित्ये च काये ज्ञाने वेदे कस्य चरते च ।

संज्ञानस्यैतत्ता भविष्य सम्प्रत्ययि आहारे ॥" —[प्रा० वं० सं० १।५७]

इत्यत्र ज्ञानशब्दः सामान्यवाची सत्यं, ज्ञातिज्ञानिति व्युत्पत्ती ता निष्पन्ना सामान्यशब्द इति ॥
 'सन्तु' तस्मात् । 'मिच्छादिद्विषयं' तत्त्वप्रधानरहितं 'वाच्यस्सारथको च होषिति' पदचट्टा । ज्ञानं वारा-
 ययीत्यर्थः ॥

यदुक्तं अज्ञाने दर्शनाभाव इति किं तत्रज्ञानं कस्य भवतीति ? तत्र इवं सूत्रं इति । तदतिपेक्षं । किं
 तत्रज्ञानमित्यस्य प्रत्ययस्य प्रतिपत्तयं न सूत्रेऽस्ति । मिथ्याज्ञानकलाचंप्रतिपादनपरिमिथ्यादृष्टिसम्बन्धित्वात्त्वयैव

वस्तु समूह निर्यानिर्यात्वक है—कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है । यदि वस्तु सर्वथा नित्य
 होती तो उसको करनेके अनुरूप कारणोंका अभाव होता । अतः वस्तु नित्य भी है और अनित्य
 भी है ।

जिन ज्ञाताओंके नय शुद्ध होते हैं वे शुद्धनय वाले होते हैं । ऐसे शुद्धनय वाले मिथ्यादृष्टिके
 ज्ञानको अज्ञान कहते हैं । यहाँ ज्ञान शब्द सामान्य ज्ञानका वाचक नहीं है किन्तु ज्ञान शब्दका
 अर्थ यथाचं ज्ञान ही है । जिसके द्वारा वस्तु जानी जाती है वह ज्ञान है । जो वस्तुमें नहीं पाये
 जानेवाले रूपको दर्शाता है वह वस्तुको नहीं जानता । अतः ज्ञान शब्दका अर्थ मिथ्याज्ञान नहीं
 है । मिथ्याज्ञान अज्ञान ही है ऐसा स्वीकार करना चाहिए ।

शंका—'यद् इदित्ये च काये' इत्यादि गाथाके द्वारा चौदह मार्गणा बतलाई है । उनमें भी
 ज्ञान शब्द आता है जो ज्ञान सामान्यका वाचक है ?

समाधान—आपका कहना सत्य है । 'ज्ञातिज्ञानं' जानना ज्ञान है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार
 वहाँ ज्ञान शब्दसे ज्ञान सामान्यका ग्रहण किया है ।

'तन्हा' इस कारणसे 'मिच्छादिद्वि' जो तत्त्व श्रद्धानसं रहित है वह, पाणस्सारथको न
 होदि' ज्ञानका वाराधक नहीं होता । इस प्रकार पदोंका सम्बन्ध होता है ।

इस गाथाकी अन्य टीकाकार इस प्रकार व्याख्या करते हैं—पूरुषमें जो अज्ञान अवस्थामें
 सम्मन्दर्शनकी वाराधनाका अभाव कहा है वह अज्ञान क्या है और किसका होता है, इसका बत-
 लानेके लिए यह गाथा सूत्र है । किन्तु उनका यह कथन अयुक्त है । 'वह अज्ञान क्या है' इस
 प्रश्नका कोई उत्तर इस गाथामें नहीं है । उनका यह भी कथन है कि मिथ्याज्ञानका उल्लेख कहते
 हुए जो मिथ्यादृष्टिसे सम्बद्ध ज्ञानको अज्ञान कहा है उसमें उक्त दोषों प्रकृतोंका उत्तर आता है ।

चित्तव्याकुलतापराधको विधिकशयनासनम् । स्वकृतापराधग्रहणस्यजनं आलोचना । स्वकृतादशुभयोगात्वति-
निवृत्तिः प्रतिक्रमणं । तदुत्पन्नबोद्धनं उभयं । येन यत्र वा अशुभोपयोगोऽभूत्तत्रिारक्रिया, ततोऽज्यमनं विवेकः ।
देहे भयत्वनिरासः कायोत्सर्गः । तपोऽज्ञानादिकं यथा भवति चारित्रं तपोकमेव । असयमकुण्ठ्यार्चमेव प्रव्रज्या-
हृत्पनं छेदः । मूकं पुनश्चारित्रादानम् । ज्ञानदर्शनचारित्रतपसामतीचारा अनुभक्तियाः । तासामपोहनं विनयः ।
चारित्रस्य कारभानुमननं वैयाकृत्यं ॥

एवं स्वाध्यायो ध्यानं च अविरतिप्रमादकषायत्यजनरूपतया । इत्थ चारित्राराधनयोकतया प्रवृत्तेषु
सषया तपस आराधना । अज्ञानादिकं यदि नाम त्यक्तं न नियोगतोऽविरतिः प्रत्याख्याता भवति । कृताज्ञान-
रगया अपि हि दूषयते असंयता इत्येतच्चचेतसि कृत्वाह—आराधनेति 'आराधतेषु' आराधयता । 'सर्व' तपः ।
'चारित्रं' चारित्रं सकलविरतियोगः । 'होषि' भवति । 'भवन्विज्ज' भजनोयम् । तपस्मुद्यतः करोति वा न
वा असयमपरिहारं इति यावत् । अचान्धेषां व्याख्या—चारित्राराधनाया तपस आराधनायाः सिद्धिरवश्यंभा-
विनीत्युक्तं तत्कथं ? तदिव संयममाराधतेष्वेत्यादि एवं सूत्रोपांशतः कृतः स नोपपद्यते । चारित्राराधनायां
तपस आराधनया सिद्धिर्भवतीति नोक्तं क्वचित्सूत्रकारेण तत्किमुच्येत उक्तमिति ? 'विद्विषाय हवे चरित्सिंहि'
इति कचनेनोक्तमिति चेन्न असंयमार्थत्वात् । शब्देन हि यत्प्रतीयते तदुक्तमिति युक्तं वक्तुम् । अपि च भवतु

कहते हैं । चित्तको व्याकुलताके दूर करनेको विविक शयनासन तप कहते हैं । अपने द्वारा किया
गये अपराधको छिपानेका त्याग करना आलोचना है । अपने द्वारा किये गये अशुभ मन वचन
कायके व्यापारका प्रतीकार करना प्रतिक्रमण है । इन दोनोंको ही करना उभय है । जिसके द्वारा
अथवा जिस स्थान पर अशुभ उपयोग हुआ हो उनसे अलग होना विवेक है । शरीरमें भयत्वनिरास
त्याग कायोत्सर्ग है । अनज्ञानादि तप जिस प्रकार चारित्र है ऊपर कहा ही है ।

असंयमके प्रति ग्लानि प्रकट करनेके लिये दीक्षाके कालको कम कर देना छंद प्रायश्चित्त
है । और पुनः चारित्र ग्रहण करना मूल प्रायश्चित्त है । ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपके अती-
चारोंको अशुभ क्रिया कहते हैं उनका त्याग अर्थात् ज्ञानादिमें दोष न लगाना विनय है । चारित्रके
कारणोंमें अनुमति देना वैयाकृत्य है । इसी प्रकार स्वाध्याय और ध्यान भी चारित्र है क्योंकि ये
सब अविरति, प्रमाद और कषायके त्यागरूप हैं ।

इस प्रकार चारित्राराधनाके कथनसे तप आराधनाको जाना जा सकता है । यदि भोजन
आदिका त्याग किया तो अविरतिका त्याग नियमसे नहीं किया । 'भोजनका त्याग करने वाले
भी असंयमी देखे जाते हैं' यह बात चित्तमें रसकर आचार्य कहते हैं—

तपकी आराधना करने वालेके द्वारा, सकलविरतितसे सम्बन्धरूप चारित्र, 'भयनिज्ज' भज-
नीय है । अर्थात् तपमें जो संलग्न है वह असंयमका त्याग करता भी है और नहीं भी करता ।

अन्य टीकाकार इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—चारित्रकी आराधनामें तपकी आरा-
धनाकी सिद्धि अवश्य होती है ऐसा जो कहा वह कैसे ? उसीके समाधानके लिये 'संजममाराधतेषु'
इत्यादि कहा है । ऐसा वे इस गाथाकी उत्पानिकामें कहते हैं । उनका कथन ठीक नहीं है—
क्योंकि चारित्रकी आराधना करनेपर तप आराधनाकी सिद्धि होती है ऐसा सम्बन्धकारने कहीं भी
नहीं कहा । तब कैसे कहते हैं कि सम्बन्धकारने ऐसा कहा है ? यदि कहोगे कि—

'विद्विषाय हवे चरित्सिम्' इस कथनके द्वारा कहा है ? तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि

लेखकों यह लक्ष्योपेत किसिमि युगव्यपन्यस्यते ? तत्कवामिति वा युक्तं सूत्रे चारित्र्यसिद्धावितरसिद्धिक्रमस्यानुप-
न्यासात् ॥ प्रतिज्ञाभाषाप्रतिप्रथो न प्रसिपद्यते इति युक्तिप्रयोग्यं स कथं युज्यते व्याख्यान्तरसूचितं प्रति-
विधाने । अथ व्याख्यातं 'विद्योद्योक्तके चारित्र्ये सर्वथा प्रयत्नं संयमः । स च बाह्यतपः संस्कारिताभ्यन्तर-
तपसा विना न संभवति । तपुकुटात्पकत्वात्संयमस्वरूपस्येति' लक्ष्यकथनं । न हि प्रयत्नं संयमव्यवस्थार्यः ।
कवचित्पि संयमसद्व्यवस्था तत्रप्रयुक्तत्वात् । प्रयोगानुसृतिसमाधिवन्मो हि अन्वयः । 'विद्यया य ह्ये चरितं हि'
इति सूत्रे चारित्र्यशब्देन सामान्यवाचिना सकलचारित्र्यमिति किमर्थं विशेषोच्यते ? सर्वस्य हि सामायिकदेवचा-
रित्रस्वाराधना चारित्र्याराधना भवति । यथाहि—'पण्डितवृद्धिद्वयं क्रीणकृपाया नरसि केवलीक्ये', इत्यन्ये यथा-
क्यज्ञाचारित्र्याराधनामपि कथयति । बाह्यतपःसंस्कारिताभ्यन्तरतपसा इति वा असंबद्ध । अन्तरेणापि बाह्य-
तपोऽनुष्ठानं अंतर्मुख्यमानेचाचिपतरत्ननयार्थां प्राह्याराधयन्सूत्रीनां युक्त्येव च भगवतः सिध्दान्तां निबन्धनक-
थनानि प्रतीतयेव ॥

इन शब्दोंका यह अर्थ नहीं है । शब्दके द्वारा जिसकी प्रतीति हो, उसे उनका कथन कहना युक्त
है । तथा, यदि उन्होंने ऐसा कहा है तो पुनः उसीका उपन्यास वह क्यों करते और वह कैसे युक्त
हो सकता है ? क्योंकि भाषामें चारित्र्यकी सिद्धिमें अन्यकी सिद्धिके क्रमका कथन नहीं है । 'प्रतिज्ञा-
मात्रसे विवादग्रस्त व्यक्ति नहीं समझता' इस प्रकारका युक्तिप्रश्न अन्य व्याख्याओंके द्वारा सूचित
प्रतिविधानमें कैसे युक्त ही सकता है ?

एक अन्य व्याख्यामें कहा है—'तेरह प्रकारके चारित्र्यमें सर्वथा प्रयत्नशील होनेका नाम
संयम है । वह संयम बाह्यतपके द्वारा संस्कार किये गये अभ्यन्तर तपके विना नहीं होता अर्थात्
बाह्य और अभ्यन्तर तपके होनेपर ही संयम होता है; क्योंकि संयमका स्वरूप तपके द्वारा
उपकृत होता है' किन्तु उक्त कथन बटित नहीं होता; क्योंकि संयम शब्दका अर्थ प्रयत्नशील होना
नहीं है । किसी ग्रन्थमें संयम शब्दका प्रयोग इस अर्थमें नहीं हुआ है । शब्दका अर्थ उसके बारंबार
प्रयोगसे जाना जाता है ।

'विद्यया य ह्ये चरितं हि' इस गाथा सूत्रमें आगत चारित्र्य शब्द सामान्य चारित्र्यका
वाचक है, उसका सकल चारित्र्य रूप विशेष अर्थ आप कैसे कहते हैं ? समस्त सामायिक आदि
चारित्र्यकी आराधना चारित्र्याराधना है । आगे कहेंगे कि क्रीणकृपाय और केवलीके पण्डित पण्डित
मरण होता है । अतः यथाख्यातचारित्र्याराधना भी उसमें आती है । तथा बाह्य तपके द्वारा
संस्कारित अभ्यन्तर तपसे' इत्यादि कथन भी असंबद्ध है क्योंकि बाह्य तपके अनुष्ठानके विना भी
अन्तर्मुख्यमात्रमें रत्नत्रयको प्राप्त करके, भगवान् ऋषभदेवके शिष्य भद्रदणराज वगेरहका निर्वाण
गमन आगममें प्रसिद्ध ही है ।

भाषार्थ—संयम शब्दमें 'सं' का अर्थ है समन्त अर्थात् मन वचन कायके द्वारा पापको
हाने वाली क्रियाओंका 'यमन'—त्याग संयम है । अतः संयमका अर्थ चारित्र्य है । वह बाह्य अन-
सन आदि और अभ्यन्तर प्रायश्चित्तादिके भेदसे बारह प्रकारका है । उस तपकी आराधना
चारित्र्याराधनामें आती है क्योंकि उसमें भी अचिरसि, प्रमाद और कषायका त्याग होता है । किन्तु
तप आराधनामें चारित्र्याराधना नहीं आती; क्योंकि तपस्वी असंयमका त्यागी होता भी है और
नहीं भी होता । भोजनादिका त्याग करने वाले भी कोई-कोई असंयमी देखे जाते हैं । इस ग्रन्थ पर
अन्य भी टीकाएँ हैं । उन्हींके मतका निराकरण ऊपर टीकाकार अपराजित सूत्रने किया है ।

ननु तत्कल्प्याद्यन्निर्बंरागुणैरेव निर्बंरागुणवच्छन्ति सन्ति कर्मणि यथा निःशेषाभ्यवृत्तयाम् अस्ति तत्रा
स्वस्वस्वरूपं निर्बंरागुणवृत्तयाम् ततो निर्बंरागस्य कारणं निर्बंराग, तस्मात्सर्व संसारकं तपस्ततो युक्तं वर्धनाराधना
तप आराधना चेति द्विविधा आराधनेति यत्तु इत्यारेकायां, तपो निर्बंरा मुक्तेरनुगुणा करोति सति चारित्र्यं
संवरकारिणि मन्थयेति प्रवर्धयति 'सम्मादिदृष्टस्व वि' इत्यादिना—

सम्मादिदृष्टस्व वि अबिरदस्व ण तवो महागुणो होदि ।

होदि हु इत्थिणहाणं चुंदच्चुदकम्म तं तस्स ॥७॥

'सम्मादिदृष्टस्ववि' तत्त्वार्थप्रदानवर्तमानि । 'अबिरदस्व' असंयतस्य । 'न तवो' तपः । 'महागुणो'
गुणशब्दोऽनेकार्थवृत्तिः । रूपाद्यो गुणशब्देनोच्यन्ते कर्त्तव्यत्वात्—'अविरतनाभ्यवृत्तौ चारिणाम्पामि, पुणक्त्वं,
संयोगविभागे, परत्वापरत्वमुद्धवः, सुखदुःखोच्छाद्वेषप्रयत्नाद्यः किञ्चाव्युत्पन्नसत्त्वविकारं प्रव'—इत्यस्मिन्नुभे
नृहीता ॥ 'गुणभूता बन्धनत्र नन्दरे' इति । अत्राप्रधानवाचीयस्य गुणस्य आभाविति विशेषेण वर्तते । 'गुणोऽनेन
कृत' इत्यत्र उपकारार्थं वृत्तिः । इह उपकारे वर्तमानो गृह्यते । महागुणः उपकारोऽप्येति महागुणं । 'होदि'
भवति । क्रिया चैव हि भाष्यते विवेच्यते वा इति बचनान् । 'न' तु भवनक्रियया संबध्यते, तपो न भवति
महोपकारमिति । एतदुक्तं भवति कर्मणिमूलं कर्तुं मस्यर्थं तपः सम्यग्दृष्टेरप्यसंयतस्य । पुनरितरस्य अर्थात्

उन्होंने जो बाह्य तपके बिना मुक्ति प्राप्ति का निर्देश किया है उसका अभिप्राय इतना ही है कि
जिन दीक्षा धारण करनेके पश्चात् ही अन्तर्मुहूर्तमें क्षपक श्रेणि पर आरोहण करके मुक्त हुए ।
अतः उन्हें अनशन आदि बाह्य तप नहीं करना पड़ा । अभ्यन्तर तप तो रहा ही ॥ ६ ॥

निर्बंरा तपके अधीन है । जब क्रमसे निर्बंराको प्राप्त होते होते सब कर्म चले जाते हैं तब
'स्व' में स्थिति रूप निर्वाणकी प्राप्ति होती है । अतः निर्वाणका कारण निर्बंरा ही है और निर्बंरा-
का सम्पादक है तप । इसलिये दर्शनाराधना और तप आराधना ये दो आराधना कहना युक्त है ।
इस आशंकाके उत्तरमें आचार्य 'संवरको करने वाले चारित्र्यके होने पर ही तप मुक्तके अनुकूल
निर्बंरा करता है, अन्यथा नहीं' ऐसा कथन करते हैं—

शा०—सम्यग्दृष्टी भी जो अबिरत है अर्थात् अबिरत सम्यग्दृष्टीका तप महान् उपकारी
नहीं होता । उसका वह तप हाथीके स्नानकी और मयनचर्मपालिका मथानीकी रस्सीकी तरह
होता है ॥ ७ ॥

टी०—तत्त्वार्थ प्रदानवान् भी, असंयमीका तप महागुणवाला नहीं होता ।

गुण शब्दके अनेक अर्थ हैं । कही गुण शब्दसे रूपादि कहे जाते हैं जैसे वैशेषिक दर्शनके
सूत्रमें गुण शब्दसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व,
अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, आदि लिये गये हैं । 'हम इस नगरमें गुणभूत हैं'
इस वाक्यमें गुणशब्दका अर्थ गीण या अप्रधान है । 'इनने गुण किया' इस वाक्यमें 'गुण' का अर्थ
उपकार है । यहाँ भी गुणशब्दका अर्थ उपकार है । अतः महान् है 'गुण' अर्थात् उपकार इसका ।
बाबायें 'होदि' क्रिया है उसका अर्थ 'होता है' । उसके साथ 'ण' का सम्बन्ध लभाना चाहिये ।
तब अर्थ होता है—तप महान् उपकारी नहीं है । पूरे वाक्यका अभिप्राय है—असंयमी सम्यग्दृष्टी-
का भी तप कर्मको बढ़से मष्ट करनेमें असमर्थ है । फिर जो सम्यग्दृष्टी नहीं है, उनके संवरके

१. एवं संश्लेष-व, दण्ड सं-दु०, ये तु बुद्धिच्छकम्प इति पठन्ति—गुणार० ।

अशुद्धि कर्मणा सह वृत्ति, तत्रासती शुद्धिः कथमादस्यते कर्माशापयममात्रतः ? शुद्धिर्वा या मुक्तिः सा कस्य न विद्यते ? फलं दत्त्वा प्रयास्यात्मनः कर्मपुद्गलस्कन्धाः । यन्बोक्तं यदा तु कालभेदेन वैधर्म्यजातं कथ्यते बंधन-
घातनयोरेकसमयत्वात् इति ततो द्वितीयो दृष्टान्तः । रज्जुबैष्टननिर्गमनयोरेककालत्वादिति तदप्यसार । न हि चंद्रमुखी कन्या इत्यत्र एवमाशंका संभवति, सदा संपूर्णमानं वामलोचनायाः निशानायस्य कदाचिदेव पूर्णता ततोऽनुमानमिति साधारणधर्ममात्रावलम्बन एवोपमानोपमेय भावः, वैधर्म्यं तूपमानोपमेययोरस्ति अथवा उप-
मानमिदं उपमेयमिति श्रेयो निरास्पदः । अपि च उपमेयस्यातिशयं प्रदर्शयितुमेवोपमानं प्रवृत्तम् ॥ न ह्येकस्योप-
मानस्यानुकृतावृष्टे तद्वदुपादीयते (?) इति युक्तम् ।

संक्षेपस्य प्रकारान्तराख्यानायाह—

अहवा चारिचाराहणाए आराहियं ह्वइ सव्वं ॥
आराहणाए सेसस्स चारिचाराहणा भज्जा ॥ ८ ॥

और कर्मोंके साथ रहनेको अशुद्धि कहते हैं । जब वहाँ शुद्धि नहीं है तो कैसे उसे दिखलाते हैं ? और कुछ कर्मोंके चले जाने मात्रसे यदि शुद्धि या मुक्ति मानते हो तो ऐसी शुद्धि किस जीवमें नहीं है क्योंकि कर्मपुद्गलस्कन्ध प्रत्येक आत्माको फल देकर जाते रहते हैं । और भी कहा है कि जब कालभेदसे वैधर्म्यकी आशंका की जाती है चूंकि बन्धन और निर्जराका एक ही काल है तब दूसरा दृष्टान्त दिया है; क्योंकि रस्सीके लिपटने और छूटनेका एक ही काल है, यह कथन भी निस्सार है । 'चंद्रमुखी कन्या' इस दृष्टान्तमें इस प्रकारकी आशंका सम्भव नहीं है कि कन्याका मुख तो सदा सम्पूर्ण रहता है और चन्द्रमा तो पूर्णमासे ही दिन पूर्ण होता है । उपमान उपमेय भाव दोनोंमें पाये जानेवाले साधारण धर्मोंको ही लेकर किया जाता है, दोनोंमें वैधर्म्य तो होता ही है । यदि न होता तो उनमें यह उपमान और यह उपमेय ऐसा भेद ही न होता । तथा उपमेयकी विशेषता दिखलानेके लिए ही उपमान होता है । अकेले उपमानके लिये उपमेय नहीं होता ॥७॥

भाषार्थ—मिथ्यादृष्टिकी तो बात ही क्या, तत्त्वोंका श्रद्धानी सम्यग्दृष्टी भी यदि अद्विष्ट है, हिंसादि विषयोंमें प्रवृत्त रहता है, उसका तप करना महान् उपकारक नहीं है । अर्थात् वह कर्मोंको सर्वथा नष्ट नहीं कर सकता । जो संयमसे होना होता है उसके संवरके अभावमें प्रति-
समय नये-नये कर्मोंका बन्ध होता रहता है । अतः उसकी मुक्ति नहीं हो सकती । यह कथन चारित्रिकी प्रधानता दिखलानेके लिये है । जैसे तपके प्राधान्यकी विवक्षामें कहा है—तपसे ही मुक्ति होती है अतः तप करना चाहिए । असंयमीका तप हाथीके स्नानकी तरह होता है । जैसे हाथी स्नान करके शरीरके भींग जानेसे अपनी मूंड द्वारा अपने ऊपर डाली गई बहुत-सी धूल ग्रहण कर लेता है । उसी तरह असंयमी तपके द्वारा कुछ कर्मोंकी निर्जरा करके भोजनादिकी लम्पटतावश बहुत अधिक कर्मबन्ध करता है । दूसरा दृष्टान्त है मन्थनचर्मपातिका । हस्तिस्नान दृष्टान्तके द्वारा तो यह बतलाया है कि जितनी निर्जरा करता है उससे बहुत अधिक कर्मबन्ध करता है और दूसरे दृष्टान्तसे बतलाया है कि बन्धके साथ-साथ होनेवाली निर्जरासे मुक्ति नहीं हो सकती ॥ ७ ॥

संक्षेपसे आराधनाके अन्य प्रकार कहते हैं—

१. वृष्टिरित-म० ।

अज्ञेयैः । एकद्वयावित्तस्येयासत्कर्मयान्तत्वेन हि जैनी निरूपणा ॥ चरन्ति वापि तेन हितप्रार्थि
 अहितप्रकारणं वेति चारित्रं, चर्यते सेष्यते सञ्जमैरिति वा चारित्रं सामयिकार्थिकं, तत्पाराधनायां तत्परि-
 षत्तां सत्तां आराधितं निष्प्रायितं । 'बुद्ध' भवति । 'सर्व' सर्वं ज्ञानं दर्शनं तपश्च, प्रकारकात्स्वमेव सर्वसञ्जोञ्ज
 प्रवृत्तः । यथा सर्वभोजनं मुक्ते इति श्रीहिंसास्योद्योगप्रकारकात्स्वमेव भुजिक्रियायाः कर्मत्वेन प्रतीयते । एवमिहापि
 मुख्यपापप्रकाराणां ज्ञानादीनां सामस्त्यमाख्यायते । चारित्राराधनैकैवेत्यनेन गाथाञ्जेन कथितम् । अश्रेयसा-
 शंका—कस्मादेकत्वनिरूपणाराधनायाश्चारित्रमुल्लेखेन क्रियते नाम्यमुल्लेखेत्यत आह—'आराधनाए' आराध-
 नायां । 'सैतस्त' शेषस्य । ज्ञानदर्शनतपसां अन्यतमस्य । चारित्पाराधना । 'अज्ञाना' भाज्या विकल्प्या । कर्म ?
 असंयतसम्बन्धुष्टिर्मवति ज्ञानदर्शनयोराधनाको नेतरयोः । मिथ्यादृष्टित्वनशनराधुष्टोऽपि न चारित्रमाराध-
 यति । कश्चित्पुनः ज्ञानादीनि च चारित्रमपि तंपावयतीति नाविनाभाविता इतराराधनायां चारित्राराधनाया
 इति न तन्मुल्लेखत्वरूपमेति भावः ॥ तन्नु क्षायिकवोतरागसम्बन्धकाराधनायां, क्षायिकज्ञानाराधनायां च
 इतरेशानप्याराधना निबोधतः सम्बन्धि ठरिक्तमुच्यते शेषाराधनायां चारित्राराधना भाज्येति ? क्षायोपसम्बन्ध-

मा०—अथवा चारित्रकी आराधनायें ज्ञान, दर्शन, तप सब आराधित होता है । ज्ञान दर्शन
 और तपमेंसे किसीकी भी आराधनायें चारित्रकी आराधना भाज्य होती है ॥ ८ ॥

टी०—जैनधर्ममें वस्तुके कथन करनेके एक, दो, संख्यात, असंख्यात और अनन्तरूप है ।
 जिसके द्वारा जीव हितकी प्राप्ति और अहितका निवारण करते हैं उसे चारित्र कहते हैं । अथवा
 सञ्जनोंके द्वारा जो 'चर्यते' सेवन किया जाता है वह सामायिक आदिरूप चारित्र है । उसकी
 आराधना करनेपर अर्थात् उस रूप परिणतिके होनेपर सब-ज्ञान दर्शन और तप आराधित—
 निष्प्रायित होता है । यहाँ 'सर्व' शब्द समस्त प्रकारोंमें प्रयुक्त हुआ है । जैसे 'सब ओदनको खाता
 है', यहाँ ओदन अर्थात् भात या चावलके ग्रीहि, शालि आदि जितने प्रकार हैं वे सब खानेरूप
 क्रियाके कर्मरूपसे प्रतीत होते हैं । अर्थात् सब प्रकारके चावलोंका भात खाता है यह 'सब ओदन'
 से अभिप्राय है । इसी प्रकार यहाँ भी 'सर्व' शब्दसे मुक्तिके उपयोगके जो प्रकार ज्ञानादि है उन
 सबका ग्रहण इष्ट है । इस तरह 'एक चारित्राराधना ही है' यह इस भाषी गाथासे कहा है ।
 यहाँ यह शंका होती है कि चारित्रकी मुख्यतासे ही आराधनाका एक प्रकार क्यों कहा है अर्थात्
 आराधनाके एक प्रकारमें चारित्रको ही क्यों लिया है ?

इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—शेष अर्थात् ज्ञान दर्शन और तपमेंसे किसी एककी
 आराधना करनेपर चारित्रकी आराधना भाज्य है; क्योंकि असंयत सम्यग्दृष्टि ज्ञान और दर्शनका
 ही आराधक होता है, चारित्र और तपका नहीं । और मिथ्यादृष्टि तो अनशन आदिमें तत्पर
 रहते हुए भी चारित्रकी की आराधना नहीं करता । कोई ज्ञानादिकी आराधना करता है और कोई
 चारित्रकी भी आराधना करता है । इस प्रकार अन्य आराधनाओंके साथ चारित्रकी आराधनाका
 अविनाभाव नहीं है अर्थात् चारित्राराधनाके बिना भी अन्य आराधना होती है । इसलिए उनकी
 मुख्यतासे आराधनाका एक प्रकार नहीं कहा है । यह उक्त कथनका भाव है ।

अन्तः—क्षायिक वोतराग सम्बन्धकी आराधनायें और क्षायिकज्ञानकी आराधनायें अन्य
 चारित्रादिकी भी आराधना नियमसे होती है सब कैसे कहते हैं कि शेष आराधनाओंमें चारित्रा-
 राधना भाज्य है ?

ज्ञानदर्शनोपसर्गोत्पत्तं इति शेषम् ।

अन्तर्भावो व्याख्या "चारित्र्याराधनाए इत्यत्र चारित्र्यशब्देन सम्प्रारिजमुपासत् । तच्च सर्वदर्शनान्तर-
ज्ञाननिरूपितक्रमाग्रचरनेन प्रयत्नमुत्पन्नं तस्मिन्पाराधन्याने शेषसिद्धिर्भवत्येव । कथं ? सम्प्रानकार्यं चारित्र्यं
उक्त्यान् च दर्शनाद्विषं (?) कार्यं हि कारणाधिनाभाषित्वं प्रयुक्तं इति ।" सामुपपन्ना । प्रतिज्ञात्मात्रेण हि
सूत्रनिरूपकत्वार्थं, एतत्साधनाय सूत्रद्वयमुत्तरं यत्र हि सूत्रकारो न निर्दिष्टं भवति । आत्मनः प्रतिज्ञातस्य तत्र
व्याख्यासुरस्यरो निर्दिष्टान्त्वाने । यत्र तु स एव भवति तत्र तत्रेण व्याख्यातुमनन्तस्यमिति व्याख्याक्रमः शास्त्रेणु ।
न चोक्तमैव प्रतिविधानमसूत्रितम् स्वयमेवोक्तैः । 'कल्पवृत्तिकावकाशव्ययति भाषुच हीवि परिहृरौ' इत्यत्र
निरूपयिष्यति यतः सूत्रकारः । किं च उत्तरसूत्रानुष्ठानमस्यां व्याख्यायां चारित्र्याराधनामुख्येनैकापाराधनेति
प्रतिपिपासयिषितम् । तच्च सप्रतिविधानं प्रतिपासयितुं कोऽप्यस्य उत्तरभाषायाः । इतराराधनामन्तर्भावचारित्र्या-
दचारित्र्याराधनायां निरूपकायां चारित्र्यस्वरूपाख्यानाय उत्तरभाषायातेति कथमनन्तर इति चेत् यद्येवं दर्शन-
ाराधनायां ज्ञानाराधनामन्तर्भाव्यं प्रवर्तमानायां दर्शनस्वरूपं किं नोच्यते सूत्रकारेण ? स्वच्छेति शेषं व्याख्यानु-

उत्तर—उक्त कथन क्षायोपसामिकज्ञान और क्षायोपसामिक सम्यक्त्वकी अपेक्षा किया है
ऐसा जानना ।

इस गाथापर अन्य टीकाकारोंकी व्याख्या इस प्रकार है—'चारित्र्याराधनाए' यहाँ चारित्र्य
शब्दसे सम्यक्चारित्र्य लिया है । वह सम्यक्चारित्र्य शास्त्रमें कहे गये सम्यग्दर्शनसे विशिष्ट
सम्यग्ज्ञानके क्रमसे व्युत्पन्न होते हुए अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञानके साथ सावधानतापूर्वक
प्रवृत्तिरूप होता है । उसकी आराधना करनेपर शेष आराधनाओंकी सिद्धि होती ही है क्योंकि
सम्यग्ज्ञानका कार्य चारित्र्य है और सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है । कार्य कारणका अविना-
यावी होता है—कारणके बिना कार्य नहीं होता ।

किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं है । इस गाथामें तो गाथाकारने केवल प्रतिज्ञामात्र की है
कि चारित्र्याराधनामें सब आराधना आती है । इसकी सिद्धिके लिए आगे दो गाथाएँ हैं जिनमें
ग्रन्थकारने उसका कारण कहा है कि क्यों चारित्र्याराधनामें अन्य आराधना समाविष्ट होती है ।
वहाँ व्याख्याताको उसका कारण बतलानेका अवसर है । शास्त्रोंमें व्याख्याका यही क्रम है कि
ग्रन्थकारने स्वयं जहाँ जो कहा है वहाँ वही व्याख्याकारको कहना चाहिये । इस गाथामें तो उसने
ऐसा नहीं कहा । व्याख्याकार स्वयं ही कल्पना करता है । गाथासूत्रकार तो आगे 'कादव्यमिण-
मकादव्य' इत्यादि द्वारा कहेंगे ।

तथा 'चारित्र्याराधनाकी मुख्यतासे एक ही आराधना है' इस व्याख्यामें आगेके गाथासूत्रका
कथन करना इष्ट है । यदि वह कथन यहीं कर दिया जाता है तो आगेकी गाथाके कथनका
अवसर नहीं रहता ।

शङ्का—अन्य आराधनाओंका अपनेमें अन्तर्भाव करनेवाली चारित्र्याराधनाका निरूपक
करनेपर चारित्र्यका स्वरूप बतलानेके लिये आगेकी गाथा आई है ? तब आप कैसे कहते हैं कि
आगेकी गाथाके कथनका अवसर नहीं रहता ?

उत्तर—यदि ऐसा है तो दर्शनाराधना अपनेमें ज्ञानाराधनाको अन्तर्भूत करनेके प्रवृत्त हुई
है अतः गाथाकारने सम्यग्दर्शनका भी स्वरूप क्यों नहीं कहा ? वह भी कहना चाहिए था । यदि

शान्तिं शास्त्रकाराणां श्यानावपेक्ष्य यमुत्तर ।

कथं चारित्र्याराधनायां कथितायां ह्यरासां प्रतिपत्तिरविनाभावत् तावज्ज्ञानदर्शनाप्राप्तयोरुत्तमवि-
द्व्युत्तरत्वाभावाः पूर्वार्द्धेन कथयति—

कायव्यभिजमकायव्यवसि आरुण होइ परिहारो ।

तं येव हवइ ज्ञानं तं येव य होइ सम्मत्तं ॥ ९ ॥

‘कायव्यं’ कर्तव्यं । ‘हवइ’ इव । ‘अकायव्यवसि’ अकर्तव्यमिति । ‘आरुण’ ज्ञात्वा । ‘हवइ’ भवति ।
‘परिहारो’ परिचर्जनं चारित्र्यमिति शेषः । कर्तव्याकर्तव्यपरिज्ञानं पूर्वं तदुत्तरकालं अकर्तुं परिहरणं यत्तच्च
चारित्र्यमिति सूचार्थः । ननु परिहार इत्यत्र परिहारो वर्जनार्थः । तथा हि—परिहरति सर्पमित्यत्र सर्पं वर्ज-
यतीति गम्यते । तथाच यद्वर्जनीयं तत्परिज्ञानमेव वर्जनमुपयुज्यते । तत् एवं कर्तव्यं—अकायव्यवसि’ आरुण
हवइ परिहारो इति, कायव्यमित्येतरिकमर्थमुपपद्यते ? कर्तव्यपरिज्ञानं करणे एवोपयुज्यते इति ॥ अत्र प्रति-
विधीयते—कायव्यमिति आरुण हवइ परिहारो इति पदघटनेका, अकायव्यवसि च आरुण हवइ परिहारो
इत्यपरा ॥ तथाच्चायां पदघटनायां परिसम्बन्धः समंताद्भाववृत्तिः । यथा परिधावतीत्यत्र हि समंताद्भावतीति
गम्यते । हरति तृपादानवचनः । तथाहि प्रयोगः—कपिलिकां हरति—कपिलिकामुपादत्त इति यावत् । मनसा,
वचसा, कायेन कर्तव्यस्य संबन्धेत्वेत्वेत्वादानं गुणितसमितिवर्गानुप्रेक्षापरीचयहृद्ययानां उपादानं चारित्र्यमिति

कहोमे कि यह उनकी इच्छा है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि न्यायका अनुसरण करने-
वाले शास्त्रकारोंकी इच्छा न्यायसे रहित नहीं होती ॥ ८ ॥

चारित्र्याराधनाके कहनेपर अन्य आराधनाओंका ज्ञान कैसे सम्भव है ? इस प्रश्नका
समाधान है कि चारित्र्याराधनाके साथ ज्ञान और दर्शनका अविनाभाव है अतः उसमें उनका
अन्तर्भाव होता है । यही बात आगेकी गाथाके पूर्वार्द्धसे कहते हैं—

या०—यह कर्तव्य है और यह अकर्तव्य है इस प्रकार जानकर त्याग होता है । वही
वैतन्यज्ञान है और वही सम्यक्त्व है ॥ ९ ॥

टी०—पहले कर्तव्य और अकर्तव्यका परिज्ञान होता है । उसके पश्चात् अकर्तव्यका त्याग
किया जाता है । यही चारित्र्य है । यह गाथासूत्रका अर्थ है ।

शंका—‘परिहारो’ में परिहार शब्दका अर्थ त्याग है । इसका खुलासा इस प्रकार है—
‘सर्पका परिहार करता है’ ऐसा कहनेपर ‘सर्पको त्यागता है’ यही अर्थ ज्ञात होता है । अतः जो
त्यागने योग्य है उसीका जानना योग्य है । ऐसी स्थितिमें ऐसा कहना चाहिए कि ‘अकर्तव्यको
जानकर उसका परिहार होता है ।’ तब कर्तव्यको जाननेको क्यों कहा ? कर्तव्यका परिज्ञान तो
करनेके लिए होता है छोड़नेके लिए नहीं होता ?

उत्तर—गाथामें ‘कायव्यमिति आरुण हवइ परिहारो’ यह एक पद सम्बन्ध है । और
‘अकायव्यमिति आरुण हवइ परिहारो’ यह दूसरा पद सम्बन्ध है । उनमेंसे प्रथम पद सम्बन्धमें
‘परि’ शब्दका अर्थ अच्छी तरह या पूर्णरूपसे होता है । जैसे ‘परिधावति’ का अर्थ अच्छी तरहसे,
या पूर्णरूपसे ढीठता है । ‘हरति’ का अर्थ ग्रहण करना है । जैसे ‘कपिलिकां हरति’ का अर्थ
कपिलिकाको ग्रहण करता है । अतः इस वाक्यका अर्थ होता है—मनसे, वचनसे, कायसे, संबन्धके

वाच्यार्थः । आत्मवर्षवहेतुयो वे परिधामस्ते न कर्तव्याः, न निर्बल्वस्तेषां परिहृत्त्वं परिवर्जनं चारिचरितं सर्ववर्गीयम् । परिहृत्त्वं एव परिज्ञानमंशरेषां च परिहृत्तरो कृत्यते । यथा छत्रमुक्ताभ्यासितं श्रेष्ठं परिहृत्तं कश्चित् तेषां अथस्वान्तप्रतिपक्षवागोऽपि मार्चान्तरगावी एव भ्रमात्वापि परिहृत्त्वं परिहृत्तेषु विनाभावितेति शेषव्यभिचारः दूरे—सामान्यशब्दा अपि विशेषप्रवृत्तयो कृत्यते । तथा हि—गोसब्दो गोत्वसामान्यान्वीकर-
णेन प्रवृत्तो गौर्न ह्येतस्या, गौस्तथा न स्पष्टस्या इत्यावाच्यत्वविशेषव्यभिचयेयी—करोति । महति शोभंयके गोपालकमतीतमेत्य कश्चित्प्रवृत्ति गौर्बुद्ध्या भवति । अथ वाक्ये गोशब्दस्तद्विभेदां काकावीं स्वविसम्पत्तीं वा प्रत्यायति । एवमत्र परिहृत्त्वशब्दः परिवर्जनसामान्यकोचरोऽपि नियतानेकपरिहृत्त्वविषये परिहृत्त्वे प्रयुक्तः । न च नियोच्यमान्येकपरिहृत्त्वविषयपरिहृत्त्वं असङ्ख्यवृत्तिपरिज्ञानं विना युज्यते । इति सिध्यादर्शनं, असं-
यमाः, कषाया, अद्युमान्ययोगाः प्रत्येकमनेकविकल्प्याः सततं परिहृत्तगीयाः । तत्कथं परिहृत्त्वमत्रः । ननु ज्ञान-
चारित्रयोरविनाभावित्वाद्योत्या 'नावुष होवि परिहृत्तरो' इत्यनेन न भ्रजानाविनाभावितेत्वाद्योक्त्यामाह—
'तं शेष हृषद्' इत्यादि । तं शेष तदेव शैतन्यं । 'हृषद्' भवति, 'भाव' ज्ञानं । 'तं शेष च' तदेव च 'हृषद्' भवति, 'सम्पत्' तत्कथं ज्ञानं चेति शैतन्यव्यभिचारितरेकात् ज्ञानदर्शनयोरैकता स्याता । एतो ज्ञान-

हेतु कर्तव्यको ग्रहण करना, मुक्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषह जयको अंगीकार करना चारित्र्य है । आत्मव और वन्द्यके हेतु जो परिज्ञान हैं वे नहीं करने चाहिए । अतः उनका परिहृत्त्व अर्थात् त्याग चारित्र्य है । इस प्रकार सम्बन्ध छानना चाहिये । जो पदार्थ त्यागने योग्य होता है, उसे जाने बिना भी उसका त्याग देखा जाता है जैसे कोई क्षत्रुओंसे युक्त स्थानको छोड़ता है । यद्यपि वह उस स्थान में उनके आवासको नहीं जानता, फिर भी दूसरे मार्गसे चला जाता है । इस प्रकार त्यागने योग्यको नहीं जानते हुए भी त्यागना चाहिए ।

शङ्का—तब तो 'त्याग्य पदार्थको जानकर छोड़ना चाहिये' इस प्रकारका अविनाभाव नहीं रहा ?

समाधान—आचार्यका अभिप्राय यह है कि सामान्य शब्दोंकी भी प्रवृत्ति विशेषमें देखी जाती है । जैसे 'गौ' शब्द गौसामान्यको लेकर प्रवृत्त होता है जैसे गौका वच नहीं करना चाहिए । गौको छूना चाहिए । किन्तु अन्यत्र यही सामान्यवाची गौ शब्द विशेष गौके अर्थमें प्रवृत्त होता देखा जाता है । जैसे—किसी बड़े गोमण्डलमें बैठे हुए ग्वालके पास जाकर कोई पूछता है—आपने गौ देखी है क्या ? इस वाक्यमें गौ शब्द उस व्यक्तिको इष्ट काली गाय या अमुक प्रकारकी गायका बोध कराता है । इसी तरह परिहृत्त्व शब्द यद्यपि त्याग सामान्यका वाचक है तथापि यहाँ उसका प्रयोग निश्चित अनेक त्यागने योग्य विषयोंके त्यागमें हुआ है । और नियमसे त्यागने योग्य अनेक विषयोंका त्याग बार-बार जाने बिना सम्भव नहीं है । इस प्रकार सिध्यादर्शन, असंयम, कषाया, अद्युमयोग और इनमेंसे प्रत्येकके अनेक भेद निरन्तर त्यागने योग्य हैं । जो अनजान है वह कैसे उनका त्याग कर सकता है ?

शङ्का—'जानकर परिहृत्त्व होता है' इस वचनसे ज्ञान और चारित्र्यकी अविनाभावित्वा प्रकट होती है, श्रद्धानकी अविनाभावित्वा प्रकट नहीं होती ?

इस भाषाशुद्धका आचार्य उत्तर देते हैं—वही चैतन्य ज्ञानरूप है और वही चैतन्य सम्यक्स्वरूप है । अतः चैतन्यरूप प्रत्यक्ष अमिश्र होनेसे ज्ञान और दर्शनकी एकता बतलाई है । अतः

१. एवमन्वयापि परिहृत्त्वात् परि—आ० । २. नेन शब्दा—ब० ब० ५० ।

विनाभावविद्या कथनेन अज्ञानत्वव्यति कथितेव भवति । चारित्र्येव ज्ञानवशमे इति कल्पनायां 'ननुष्व ह्यहं परिहृयते' इति पूर्वं ज्ञानं पश्चात्परिहृयार इति अथ शेषोपन्यासः^१ सूत्रकारस्य अचटमानः^२ स्यात् । तं चेनेति ननुसकलितनिर्देशात् न स्यात् । 'सो वैव ह्यहं जायं' इति वक्तव्यं भवति परिहृयतव्यस्य पुस्तित्वत्वात् । अथवा कर्तव्यकर्तव्यपरिज्ञाने सत्कर्मत्वानां मिथ्यादर्शनं, ज्ञानं, असंयमः, कषायः, योग इत्यमीषां परिहृयारिणमित्येतस्मिन्कर्मं परिगृहीते 'तं वैव परिहृयतसामान्यं चारित्र्यं, ज्ञानं दर्शनं इत्येकमेवेति । चारित्र्याराधनाभावमेव शेषवाशिनोऽभिनतस्याराधनाप्रकारस्यान्तर्ज्ञानस्य चारित्र्याराधनैकेवेति सूचार्थः ॥

चारित्र्याराधनायामंतर्भावो ज्ञानवर्धनाराधनयोरेव निवक्षितो न तपस आराधनाया इत्यत आह—

चरचमि तमि जो उज्जमो आउंजना य जो होई ।

सो वैव जिनेहिं तवो भजिदो असदं चरंतस ॥१०॥

'चरचमि' चारित्र्ये । 'तमि' एतस्मिन् अकर्तव्यपरिहृयने । 'जो य उज्जमो' उद्योगः । 'आउंजना य' उपयोगश्च । 'जिनेहिं तवो होषिति भजिदो' इति पदचटणा । चरमोद्योगोपयोगावेव तयो भवतीति जिनेः कृतकचारिपराजयैकमिति यावत् । कृतसुखपरिहारो हि चारित्र्ये प्रयतते न सुखासकषितस्तत्तत्त्वं बाह्याणि

चारित्र्यकी ज्ञानके साथ अविनाभावविद्या अतलानेसे अज्ञानकी भी अविनाभावविद्या कही गई समझना । यदि चारित्र्यको ही ज्ञान और दर्शनरूप माना जाता है तो 'ज्ञानकर परिहृयार होता है' इस कथनमें जो पहले ज्ञानका और पश्चात् परिहृयारका भेदरूपसे उपन्यास ग्रन्थकारने किया है वह नहीं बन सकेगा । तथा 'तं वैव' इस पदमें जो ननुसक लिङ्गका निर्देश किया है वह भी नहीं बनेगा, किन्तु 'सो वैव ह्यहं जायं' ऐसा प्रयोग करना होगा क्योंकि 'परिहृयार' शब्द पुल्लिङ्ग है और वही चारित्र्य है ।

अथवा कर्तव्य और अकर्तव्यका परिज्ञान होने पर अकर्तव्य जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, कषाय और योग हैं उनका परिहृयार चारित्र्य है, ऐसा अर्थ लेने पर 'तं वैव' अर्थात् परिहृयार-सामान्य ही चारित्र्य, ज्ञान और दर्शन है इस प्रकार एक ही है । इस प्रकार चारित्र्याराधनामें ही भेदवादियोंको इष्ट आराधनाके प्रकारोंका अन्तर्भाव होनेसे चारित्र्याराधना एक ही है यह इस गाथासूत्रका अर्थ है ॥

भाषार्थ—चारित्र्यके दो प्रकार हैं—कर्तव्यको स्वीकार करना और अकर्तव्यको त्यागना । ज्ञान और दर्शन पूर्वक हितकी प्राप्ति तथा अहितके परिहृयाररूपसे परिणत चैतन्य ही ज्ञान और दर्शनरूप है । अतः चारित्र्यका ज्ञान और दर्शनके साथ अविनाभाव होनेसे चारित्र्यमें दोनोंका अन्तर्भाव होता है ॥ ९ ॥

चारित्र्याराधनामें ज्ञानाराधना और दर्शनाराधनाका ही अन्तर्भाव कहा है, तप आराधनाका नहीं कहा । अतः कहते हैं—

गा०—उस अकर्तव्यके त्यागरूप चारित्र्यमें जो उद्योग है और उपयोग होता है, उन उद्योग और उपयोगको ही छल कपट त्यागकर करने वालेका जिनेन्द्रदेवने तप कहा है ॥ १० ॥

टी०—उस अकर्तव्यके परिहृयाररूप चारित्र्यमें जो उद्योग और उपयोग है जिनेदेवने उसे तप कहा है । अर्थात् चारित्र्यमें उद्योग और उपयोग ही तप है, ऐसा कर्मरूपी शत्रुओंको पराजित करने

सर्वाति चारित्रप्रार्थनं प्रति परिकरतामुपवाप्स्यतीति । तथा च वक्ष्यति 'बाह्यरसधेयं ह्येहि नृ सु शब्दा सुहृत्सिन्धवा चरिष्यन्ता' इति । तथा स्वाध्यायश्रुतभावना पंचविधा तत्र वर्तमानश्चारित्रे परिचयो भवति । तथा च वक्ष्यति 'सुखभावचाक्ष्ण्यं चार्थं ईदृशकलकलं च चरिष्यन्ति' इति । परिचय एव उपयोगः । 'कुटातिचारमुपुचापुःखरं वचनमालोक्यतेति' अकर्तव्यपरिहृरणोपयोगः कथं न चारित्रं ? कुटातिचारस्य मतेस्तदतिचारपरपदमुक्त्वा योग्यमेव हा कुष्टं कुष्टं चित्तितमनुवर्तं वेति परिचयः प्रतिक्रमणम् । उभयं चरनोपयोगः । एवमतिचारनिमित्त-द्रव्यक्षेत्रादिकाम्यनसा अपनसितस्तत्र अनाद्युतिविवेकः । इति उपयोगता विवेकस्य सुस्थयचशरीरमत्वनिवृत्तिर्व-नेवं शरीरं न भवति नाहमस्येति भावना सा च परिग्रहपरित्यागोपयोग एवेति चारित्रम् । तपसोऽज्ञानादेश्च-चारित्रपरिकरतोक्तम् । सातिचारं चारित्रमचारित्रमेवेति बुद्ध्या निश्चित्वात्मनो, न्यूनतापावनं, क्रियात्मन्पुत्वा-नभन्वनादिकासु असयमपरिहारेण वृत्तेष्वचारित्रपरिकरः । पुनः प्रवृत्त्यादानमपि चारित्रोपयोग एवेति । विनयस्तु पंच प्रकारः ज्ञानदर्शनविनययोर्ज्ञानदर्शनपरिकरतया तदुपयोगरूपतया च ज्ञानवर्धनाभ्यामभेदात्तद्वेव चारित्रा-राधनांतर्भावः ।

इन्द्रियविषयस्य रागद्वेषयोः कषायार्था च परित्यागः, अबोम्यबाधकायक्रियायास्त्यागः, ईर्ष्याविषु निर-वद्या च वृत्तिश्चारित्रोपयोग एवेति चारित्रे विनयस्यास्तर्भावः । तपोऽधिके तपसि च भक्तिः, अनासाधना च

वाले जिनदेवने कहुा है । जो सुखको त्यागता है वही चारित्रमें प्रयत्नशील होता है, जिसका चित्त सुखमें आसक्त है वह चारित्र धारण नहीं कर सकता । अतः बाह्य तप चारित्रको प्रारम्भ करनेमें सहायक होते हैं । आगे कहेंगे—'बाह्य तपसे समस्त सुखशीलता छूट जाती है' । तथा स्वाध्यायके पाँच भेद पाँच श्रुत भावनारूप हैं । जो उसमें प्रवृत्ति करता है वह चारित्रमें प्रवृत्ति करता है । आगे कहेंगे—'श्रुतभावनासे ज्ञान, दर्शन, तप और संयमरूप परिणत होता है ।' परिचयका ही नाम उपयोग है । किन्से हुए दोषोंके प्रति ग्लानि पूर्वक बो वचन होता है वह आलोचना है । तब अकर्तव्यके त्यागमें जो उपयोग होता है वह चारित्र क्यों नहीं है । जिस साधुने अपने व्रतोंमें दोष लगाया है उसका उन दोषोंसे विमुक्त होकर, हाँ, मैंने बुरा किया, या बुरा विचारा या उसमें अनु-मति दी, इस प्रकारके परिणामोंको प्रतिक्रमण कहते हैं । आलोचना और प्रतिक्रमणको उभय कहते हैं । अतिचारमें निमित्त द्रव्य, क्षेत्र आदिका मनसे हटाना, उनमें अनादर भावका होना विवेक प्रायश्चित्त है । इस प्रकार विवेकको उपयोगिता है । जिसको छोड़ना कठिन है उस शरीर-से ममत्व न करना 'यह शरीर मेरा नहीं है, न मैं इसका हूँ' इस प्रकारकी भावना व्युत्सर्ग है वह भी परिग्रहके त्यागरूप उपयोग ही है अतः चारित्र है ।

अनशन आदि तप चारित्रके परिकर हैं—उसके सहायक हैं, यह पहले कहा ही है सबोष चारित्र अचारित्र ही है ऐसा बुद्धिके द्वारा निश्चित करके आत्मामें पूर्णताका लाना, लड़े होना, वन्दना आदि क्रियाओंमें असंयमका परिहार करते हुए प्रवृत्त होना, ये सब भी चारित्रका परिकर है । दोष लगाने पर पुनः दोसा ग्रहण करना भी चारित्रमें उपयोग ही है । विनयके पाँच भेद हैं । उनमेंसे ज्ञानविनय और दर्शनविनय ज्ञान और दर्शनके परिकर होनेसे तथा ज्ञान और दर्शनमें उपयोगरूप होनेसे ज्ञान और दर्शनसे अभिन्न हैं अतः ज्ञान और दर्शनकी तरह उनका अन्तर्भाव चारित्राराधनामें होता है ।

इन्द्रियोंके विषयोंमें राग द्वेषका तथा कषायोंका त्याग, अनुचित वचन और कायकी क्रिया-का त्याग, तथा ईर्ष्या समिति आदिमें निर्दोष प्रवृत्ति चारित्रोपयोगरूप होनेसे चारित्रविनयका

परीक्षा प्रयोगिनः, सं किंवा सुखपरीक्षायात् तप्तः परिकरता ज्या परिकरं हि तपश्चारित्रस्य परिकरः । उपयोगो वा नाम्ना वविरस्ति (?) मन्वते । 'अस्यै चरत्स्य' शाब्दमन्तरेण वर्तमानस्य भवेत्तथा च शत्रुविधा, द्विविधा, एकविधा, वा आराधना स्यात् कस्मान्न निरूप्यते ।

पुरुषो हि प्रेक्षापूर्वकारो प्रयोजनत्वस्य चेष्टः सति प्रयोजने तत्साधनाय प्रयतते नाम्ब्या, तत्कर्मिय-
नाराधना व्याख्या प्रयोगिका' अथवास्वेत्यात्मकार्या, निर्वाणसुखस्याव्यावाभालकस्य पुरुषार्थस्योपायत्वप्रदक्षिण
आराधनाव्याख्या तपविनामपयोगिनी इत्येतत्प्रतिपादनायोत्तरप्रबंधः । अथवा व्याख्यातविकल्पा या आराधना
तस्यां चेष्टा कर्तव्येतैवाव्याख्यानायोत्तरसूत्राणि, तथा श्रौतसंहारः 'काव्यत्वाच्च तत्सर्वं आत्महितमर्थेति
वेदा' इति ॥

अन्वेष्य व्याख्यते ज्ञानदर्शनचारित्र्येषु किं प्रधानमिति बोधे चारित्रप्राधान्यस्थापनायोत्तरसूत्रमिति
तपयुक्तम्—

प्राणस्त दंसणस्त य सारो चरणं हवे जहासादं ।

चरणस्त तस्त सारो जिव्याजमशुचरं भजियं ॥११॥

'प्राणस्त दंसणस्त य सारो चरणं जहासादं' इत्युक्ते ज्ञानदर्शनाभ्यां प्रधानं चारित्रं इति प्रतीतिरनु-

अन्तर्भाव चारित्र्यं होता है । विशिष्ट तपस्वियोंमें और तपमें भक्ति तथा दूसरोंकी आसादना न
करना तपविनय है । उसके बिना सम्यक् तप नहीं हो सकता । अतः तपविनय तपका परिकर है ।
और अपने परिकरके साथ तप चारित्रका परिकर है । उसके बिना गति नहीं है । जो कपट त्याग
कर ऐसा करता है उसीके यह तप होता है । इस प्रकार आराधनाके चार, दो और एक भेद हैं ।

आचार्य—चारित्र्य वही धारण करता है जो सुखको त्याग देता है । चारित्र्यमें उद्धम करना
बाह्य तप है । इस तरह बाह्य तप चारित्रका परिकर है उसकी सहायक सामग्री है । और चारित्र्य-
रूप परिणाम अन्तरंग तप है । अन्तरंग तपके भेद प्रायश्चित्त आदि पाप प्रवृत्तियोंको दूर करते हैं
अतः तप चारित्र्यसे भिन्न नहीं है ॥११॥

पुरुष सोच-विचारकर काम करता है । उसकी चेष्टा प्रयोजनके अधीन होती है । प्रयोजन
होने पर उसकी सिद्धिके लिये वह प्रयत्न करता है । प्रयोजन न होने पर नहीं करता । तब यह
आराधनाका व्याख्यान कैसे उसका प्रयोजक है ? ऐसी आशंका होने पर आचार्य कहते हैं आधा-
रहित मोक्ष सुख पुरुषार्थ है वह पुरुषका प्रयोजन है । जो मोक्ष सुखके अभिलाषी हैं उनको उसका
उपाय बतलानेके लिये आराधनाका कथन उपयोगी है । यह बतलानेके लिए आगेका कथन करते
हैं । अथवा जिस आराधनाके भेदोंका कथन किया है उसमें चेष्टा करना चाहिये यह कहनेके लिये
आगेका कथन है । इसीलिये ग्रन्थकारने उपसंहारमें कहा है कि आत्महितके अन्वेषकको उसके
लिये चेष्टा करना चाहिये—

शा०—ज्ञानका और दर्शनका सार यथाख्यात चारित्र्य होता है । उस यथाख्यात चारित्र्यका
सार सर्वोत्कृष्ट निर्वाण कहा है ॥ ११ ॥

टी०—अन्य व्याख्याकार कहते हैं कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र्यमें कौन प्रधान है ऐसा

पत्ते: । यथायामपि कर्मपायनिमित्ततास्ति वा न वा ? यदि मात्सीत्युच्यते सूत्रविरोधः 'सम्बन्धज्ञानव्यतिरिक्तानि मोक्षकारणैः' इति सूत्रमवस्थितम् । अथोपायतास्ति ? परार्थतया गुणत्वं यथायामिति वा प्रधानता चारित्रस्य ? ज्ञानदर्शने चारित्र्यात् चारित्रं तु न तदर्थमिति न युक्तं वस्तुं ज्ञानदर्शनयोः साध्यत्वात्तदुपायतया चारित्रस्य चारित्रं तदर्थमिति तस्य किमित्यप्रधानता न भवति ? न हि चारित्र्यवर्तयेत् क्षायिकं ज्ञानं, क्षायिकं बीतरागसम्यक्त्वं चोपजायते । तस्मात्सूत्रात् एव उत्तरप्रबंधम् । इत्ं सूत्रं यथाख्यातचारित्र्यस्वरूपं तत्कथं च वक्तुं आयातम् । णापत्स्य दंसपत्स्य य सारो' सारशब्दोऽसातिशयितगुणवचनः । तथा प्रयोगः—

“षडर्थेषु य विद्यन्तिव्यवच्छेदेन सुखमेव महिषसारमिन् ।

शोतं शीतस्य शक्तो वेष्टुः कश्चमिन् कि अर्थम् ॥” []

प्रथममेव साधुजनेन विचलितमात्सर्येण गृहीतेऽतिशयितगुणे काव्ये दोषं मुक्त्वा शकः किमप्यदृष्टुमिति इति गाथायः ॥

ज्ञानदर्शनयोरतिशयितरूपं कि तन्मोहनीयजन्यकलंकरहितं, 'चरमं' चारित्रं । 'हवेत् । 'ब्रह्माचार्यं' यथाख्यातं । तथा श्लोकः—

“चारितं जसु धम्मो धम्मो ओ सो सम्मोसि णिहिद्वो ॥

मोहवज्जोह्विद्धुणो परिणामो अण्यथो य सवो ॥” [प्र० सा० १७] इति ॥

“मोहो द्विविधो दर्शनमोहश्चचारित्रमोहश्च । तत्र दर्शनमोहजन्यं अथज्ञानं शंकाकाशावि-

प्रश्न करने पर चारित्रकी प्रधानता बतलानेके लिये यह गाथासूत्र कहा है । किन्तु यह अयुक्त है क्योंकि 'ज्ञान और दर्शनका सार यथाख्यात चारित्र है' ऐसा कहने पर 'चारित्र ज्ञान और दर्शनसे प्रधान है' ऐसी प्रतीति नहीं होती । प्रश्न होता है कि ये तीनों कर्मोंके बिनाशमें निमित्त है या नहीं ? यदि कहते हो नहीं हैं तो सूत्रमें विरोध आता है क्योंकि 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है' ऐसा सूत्र है । यदि तीनों मोक्षके उपाय हैं तो परार्थ-परके लिये होनेसे तीनों गौण हो जाते हैं तब चारित्रको प्रधानता कैसे ? यदि कहोगे कि ज्ञान और दर्शन चारित्रके लिये हैं चारित्र ज्ञानदर्शनके लिये नहीं है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि साध्य ज्ञान और दर्शन हैं । उनकी सिद्धिका उपाय चारित्र है । अतः चारित्र ज्ञान दर्शनके लिये है तब वह अप्रधान क्यों नहीं हुआ ? चारित्रके बिना न तो क्षायिक ज्ञान होता है और न क्षायिक बीतराग सम्यक्त्व उत्पन्न होता है । इसलिये जो पूर्वमें उत्तरगाथाके क्रमके सम्बन्धमें कहा है वही युक्त है । यह गाथासूत्र यथाख्यात चारित्रका स्वरूप और उसका फल कहनेके लिये आया है ।

'णापत्स्य दंसपत्स्य य सारो' यहाँ सार शब्द सतिशय गुणका वाचक है । इस अर्थमें उसका प्रयोग देखा जाता है । किसी कविने कहा है—प्रथम ही मात्सर्य भावसे रहित साधुजनोंके द्वारा काव्यका सार ग्रहण कर लिये जाने पर दोषके सिवाय दुर्जन और क्या ग्रहण करें । यहाँ 'सार' शब्दका प्रयोग सातिशय गुणके अर्थमें ही किया गया है ।

प्रश्न होता है कि ज्ञान और दर्शनका सातिशय रूप क्या है ? तो वह है मोहनीयसे उत्पन्न होने वाले कलंकसे रहित यथाख्यात चारित्र । कहा है—

'निश्चयसे चारित्र धर्म है और धर्म समभावको कहा है । तथा मोह और क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम सम है । मोहके दो भेद हैं—, तन्मोह और चारित्रमोह । उनमेंसे दर्शनमोहसे

किंसाध्यवृष्टिप्रशंसासंस्तवस्वरूपं । चारित्रमोहजन्म्वी रागद्वेषी तदनुश्रित्यं ज्ञानं दर्शनं च यथाख्यातचारित्र-
मित्युच्यते" इति सूत्रार्थः । 'चरमस्त' चारित्रस्य, 'तस्त' तस्य, यथाख्यातास्यस्य, 'सारी' अतिशयितं कर्म
साध्यसाधनलक्षणसंबन्धिनिष्ठा षष्ठीत्वं तेन साध्यफलं कर्म, सारशब्दस्यु तस्यातिसयमाचष्टे । ततोऽप्यमर्थो
भातः यथाख्यातचारित्रस्य फलमतिशयवित्तमिति । किं तत् 'निष्कार्यं' निर्वाणं विनाशः । तथा प्रबोध्यः—निर्वाणः
प्रवीणो नष्ट इति यावत् । विनाशसामान्यमुपादाय वर्तमानोऽपि निर्वाणशब्दस्य चरणशब्दस्य निवृत्तिकर्मशासन-
सामर्थ्यानिश्चायिनः प्रयोवात्मकविनाशलोचरो भवति । स च कर्मणा विनाशो द्विप्रकारः, कतिपयप्रलयः सकल-
प्रलयश्च । तत्र द्वितीयपरिग्रहमाचष्टे—'अणुत्तरमिति' न विद्यतेऽप्यनुत्तरमधिकं अस्मादित्यनुत्तरं । 'मणिवं'
उच्यते 'वचनम्' इति शेषः ।

अथवा ज्ञानश्रद्धानयोः फलं दुःखहेतुक्रियापरिहारः । यत्र^१ च फलं तत्र सन्निहितो हेतुस्तद्व्यचारित्राराध-
नायां ह्यतरान्तर्भाव^२ इत्यायातमिदं सूत्रं 'चाणस्त ईसन्नस्त य सारो चरमं हवे जयास्तार्व' इति ॥ पापक्रिया
दुःखहेतु तत्परिहारश्च असति ज्ञाने श्रद्धाने वा न संभवति, क्वचिन्मनसो रजनं अतीतिवां पापक्रियाभिनव-
कर्मसंबन्धं चिरंतननिरासं च विवधाति चरममदो युक्तमुच्यते 'चरमस्त तस्त सारो निष्कार्यमणुत्तर' इति ।

अश्रद्धान उत्पन्न होता है । आत्मा, मोक्ष आदिके अस्तित्वमें शङ्काका होना, विषयभोगोंकी इच्छा,
धर्मात्माको देखकर ग्लानि, मिथ्यादृष्टीकी मनसे प्रशंसा और वचनसे स्तुति करना, ये सब उस
अश्रद्धानके रूप हैं । चारित्रमोहसे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं । उनसे रहित ज्ञान और दर्शनको यथा-
ख्यात चारित्र कहते हैं । यह गाथासूत्रका अर्थ है ।

उस यथाख्यात नामक चारित्रका सार अर्थात् सातिशय फल । यहाँ यह षष्ठी विभक्ति
साध्य-साधनरूप सम्बन्धके निमित्तको लेकर है । उससे साध्यफलका बोध होता है । और 'सार'
शब्द उसके अतिशयको कहता है । अतः यह अर्थ हुआ कि यथाख्यात चारित्रका सातिशयफल
निर्वाण है । निर्वाणका अर्थ विनाश है । कहा जाता है दीपकका निर्वाण हो गया अर्थात् दीपक
नष्ट हो गया । इस तरह यद्यपि निर्वाण शब्दका अर्थ विनाशमात्र है तथापि उत्पन्न हुए कर्मोंको
नष्ट करनेकी शक्तिवाले चारित्र शब्दका प्रयोग होनेसे कर्मोंका विनाश अर्थ लिया जाता है ।
कर्मोंका विनाश दो प्रकारका है—कुछ कर्मोंका विनाश और सब कर्मोंका विनाश । यहाँ दूसरेका
ग्रहण किया है क्योंकि 'अणुत्तर' शब्दका प्रयोग किया है । जिससे अधिक कोई नहीं है उसे अनुत्तर
कहते हैं । 'मणिवं' अर्थात् आगममें कहा है ।

अथवा श्रद्धान और ज्ञानका फल दुःखकी कारण क्रियाओंका त्याग है । यहाँ जो फल है
त्याग उसमें उसके हेतु ज्ञान और दर्शन समाविष्ट हैं । अतः चारित्राराधनामें अन्य आराधनाओंका
अन्तर्भाव होनेसे 'ज्ञान और दर्शनका सार यथाख्यातचारित्र है' यह गाथा सूत्र आया है ।

पापकर्म दुःखके कारण हैं । उनका त्याग ज्ञान और श्रद्धानके विना सम्भव नहीं है ।
किसीमें मनका अनुरक्त होना और किसीसे द्वेष करना पापक्रिया है । चारित्र नवीन कर्मोंके आने-
को रोकता है और पुराने कर्मोंका विनाश करता है । अतः उचित ही कहा है कि उस चारित्रका
सार सर्वोत्कृष्ट निर्वाण है ॥११॥

आचार्य—रागद्वेषसे रहित ज्ञान और दर्शनको ही आगममें यथाख्यात चारित्र कहा है ।
उसका सार निर्वाण अर्थात् समस्त कर्मोंका विनाश है । निर्वाणसे उत्कृष्ट अन्य नहीं है ॥११॥

अज्ञानं दुःखहेतुनिराकरणफलमित्यस्यान्वयप्रसाधनाय दृष्टान्तमाह—

चक्षुस्तस्य दंसजस्तस्य च सारो सत्यादिदोषपरिहरणं ।

चक्षुः होइ निरर्थकं ददृष्टुं बिले पर्वतस्त ॥१२॥

‘चक्षुस्तस्य दंसजस्तस्य च सारो’ इति । ‘चक्षुस्तस्य’ चक्षुः । इन्द्रियमित्यहं चक्षुःसिद्धिं गृहीतं निर्बुद्धिचक्रणं च सज्जन्यत्वाद् रूपमोचरं विज्ञानं दर्शनं तस्य संबन्धितयोष्यते । ततोऽनर्थो भावते—चक्षुर्जन्मायाः प्रतीतेः सारो फलं किं ‘सत्यादिदोषपरिहरणं’ संपर्कटावीनां स्पर्शनादिक्रियायाः दुःखबाधिम्याः परिहारः सर्पादिभिः संपाद्यत्वात् स्पर्शनमज्ञायाधिकः क्रियाविशेषः सर्पादिदोष इत्युच्यते, तस्य परिहरणं परिचर्जनं ततोऽयं वाच्यार्थः—अज्ञानं तद्दुःखनिराकरणफलं यथा चक्षुर्जन्यसर्पादिमोचरज्ञानं सर्पादिस्पर्शनमज्ञायादिपरिहरणफलमिति । चक्षुर्ज्ञानमिह चक्षुश्च्यते चक्षुःप्रसृतं ज्ञानं । ‘होइ’ भवति । ‘निरर्थकं’ निरर्थकं । ‘ददृष्टुं’ दृष्ट्वा ज्ञाना विलासिकमगतः स्थितं, बिलग्रहणमुपलक्षणं उपचातकारिणाम् । ‘पर्वतस्त’ पर्वतः पुत्रस्य च ।

आचरणा व्याख्या—ज्ञानादर्शनाच्चात्मोपकारिनिष्पिष्टफलवाचिचारिणं इत्युक्तं । ननु ज्ञानमिच्छामिष्टमार्गोपबन्धि तद् युक्तं ज्ञानस्योपकारित्वमभिधातु इति चेन्न ज्ञानमात्रेणैष्टार्थसिद्धिः, यतो ज्ञानं प्रवृत्तिहीनं वसत्यम् । अत्र वस्तुनि दृष्टान्तदर्शनेन निगमयति—‘चक्षुस्तस्य दंसजस्तस्य च, इति । ज्ञानदर्शनाभ्यामपि चारिकत्वात्सोपकारिता कस्मिन्पूत्रे नियदिता येनोक्तमित्युच्यते । अतीतज्ञान इति नैतन्मिथ्या वाच्यस्तस्य दंसजस्तस्य च सारो चरन् ह्ये अज्ञानाद्यर्थः । इत्यतो वाच्यार्थिकं ज्ञानदर्शनाभ्यां चारिकमेवोपकारीत्यर्थं प्रत्ययो

दुःखके कारणोंको दूर करना ज्ञानका फल है इस अन्वयकी सिद्धिके लिए दृष्टान्त कहते हैं—
या०—चक्षुसे देखनेका सार सर्प आदि दोषोंसे दूर रहना है । देखकर भी आगे वर्तमान साँपके बिलमें गिरनेवाले मनुष्यकी आँस व्यर्थ है ॥१२॥

टी०—यहाँ ‘चक्षु’ से निर्बुद्धि और उपकरणरूप इन्द्रियमयका ग्रहण किया है । उससे उत्पन्न और रूपको जाननेवाले ज्ञानको यहाँ दर्शन कहा है । उससे यह अर्थ होता है—चक्षुसे होनेवाले ज्ञानका फल सर्प, कृष्क आदिकी दुःख देनेवाली क्रिया—काटना या पेरमें लमना आदिसे बचना है । गाथामें सर्पादिदोषसे बचना है । सो सर्प आदिके द्वारा किये जानेवाले स्पर्शन, काटना आदि क्रिया विशेषको सर्पादिदोष कहा जाता है । उसका परिहार फल है । तब वाच्यका अर्थ यह हुआ—जो ज्ञान है उसका फल दुःखका निराकरण है । जैसे चक्षुसे होनेवाले सर्पादिके ज्ञानका फल सर्पादिके स्पर्शसे उनके काटने आदिसे बचना है । यहाँ चक्षुसे चक्षुर्ज्ञान अर्थात् चक्षुसे होनेवाला ज्ञान लेना चाहिए । आगे स्थित साँपके बिल आदिको देखकर भी, जानकर भी, उसमें गिरनेवाले मनुष्यका, चक्षुर्ज्ञान, निरर्थक है ।

इस गाथाकी अन्य व्याख्याकार इस प्रकार व्याख्या करते हैं—ज्ञान और दर्शनसे चारित्र आत्माका विशेष उपकारी और विशिष्ट फलदायी है ऐसा कहा है । यदि कोई कहता है कि ज्ञान इष्ट और अनिष्टमार्गका दर्शक है अतः उसको उपकारी कहना युक्त है । सो उसका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञानमात्रसे इष्टकी सिद्धि नहीं होती, आचरणहीन ज्ञान ‘व ह्यु’ के समान है । यहाँ दृष्टान्तके द्वारा उसका समर्थन करते हैं ‘चक्षुस्तस्य दंसजस्तस्य’ इत्यादि ?

इन व्याख्याकारोंसे हम पूछते हैं कि ज्ञान और दर्शनसे भी चारित्र आत्माका विशेष उपकारी है यह किस गाथासूत्रमें कहा है ? यतः आप कहते हैं—‘कहा है’ । यदि कहोने कि पिछले

वाक्ये ? एवमिति उक्तमुभयविषयबाधरहितपुण्यते, न चेत्कथमुक्तमित्युच्यते । किञ्च तस्य सूत्रस्य वा पाठमिका कृता ज्ञानदर्शनचारित्र्येवु कि प्रथममित्यत्र प्रश्ने, प्रधानस्य निरूपणार्थं सूत्रमित्यत्र वा विरुध्यते ।

‘वरजस्त तस्त सारो जिज्ञानमनुत्तरं भणियं’ इत्युक्तं चारित्र्यस्य समतारूपस्य फलमशेषकर्मापाय इत्युक्तं । कर्मापायो हि कर्षं पुन्यार्थः दुःखनिवृत्तिः सुखं चाभिमतं फलमित्यारेकायां प्रधानपुन्यार्थस्य अक्षिप्त-वाचाभ्यनयनरूपस्य सुखस्य निबंधमतयोपयोगितामात्राच्छे सफलकर्मापायस्य—

जिज्ञानस्त य सारो अब्याबाहं सुहं अणोवमियं ॥

कायव्या हु तददृष्टं आदहिदगवेसिणा चेष्टा ॥१३॥

‘जिज्ञानस्त य सारो’ इति । निरवशेषकर्मापायस्य सारं फलं । अब्याबाहं कर्मजन्यसकलदुःसापायः कारणाभावे कार्यस्य अनुत्पत्तेः । ‘अणोवमियं’ उपमातोतं । ‘कायव्या’ कर्तव्या । ‘चेष्टा’ चेष्टा । ‘तददृष्टं’ अब्याबाधतुल्यार्थम् । ‘आदहिदगवेसिणा’ आत्महितं मृगयता । न च चेष्टा कार्या ? आराधनाया मुत्पादनतिचार-ज्ञानदर्शनचारित्र्यपरिष्कारिण्यां । कस्मात् ?

जम्हा चरित्तसारो भणिया आराहणा पवयणम्मि ।

सम्बस्त पवयणस्त य सारो आराहणा तम्हा ॥१४॥

‘जम्हा’ यस्मात् ‘चरित्तसारो’ चारित्र्यस्य ज्ञाने दर्शने पापक्रियानिवृत्तौ च प्रयत्नस्य, चरणं प्रवृत्तिः

गाथासूत्रमें कहा है तो यह मिथ्या कथन है ‘ज्ञान और दर्शनका सार यथाख्यात चारित्र्य है’ इस वाक्यसे ‘ज्ञान और दर्शनसे चारित्र्य विशेष उपकारी है’ ऐसा बोध होता है क्या ? यदि कहोगे ‘होता है’ तो आपका आचरण अनुभव विरुद्ध है-अतः वह उपेक्षणीय है । यदि कहोगे ‘नहीं होता’ तो आपने ऐसा क्यों कहा ?

दूसरे, उस गाथासूत्रकी जो उत्थानिका है उसमें ‘ज्ञान दर्शन चारित्र्यमें कौन प्रधान है’ ऐसा प्रश्न करनेपर प्रधानका कथन करनेके लिए गाथासूत्र कहते हैं ‘ऐसा कहा है, उससे भी विरोध जाता है ॥१२॥

‘वरजस्त तस्त सारो’ इत्यादिमें समतारूप चारित्र्यका फल समस्त कर्मोंका विनाश कहा है । किन्तु कर्मोंका विनाश पुन्यार्थ कैसे है ? दुःखकी निवृत्ति और सुखको फल कहा है ऐसी आशाका होनेपर अन्यकार प्रधान पुन्यार्थ जो बाधरहित सुख है, उसका कारण होनेसे समस्त-कर्मोंके विनाशकी उपयोगिता बतलाते हैं—

श्ल०—निर्वाणका सार बाधरहित उपमारहित सुख है । अतः आत्महितके श्लोकीको उस अब्याबाध सुखकी प्राप्तिके लिए चेष्टा करना चाहिए ॥१३॥

श्ल०—समस्तकर्मोंके विनाशका फल कर्मजन्य समस्त दुःखोंसे रहित, उपमारहित सुख है । अतः आत्महितके श्लोकीको, उस बाधरहित सुखके लिये, चेष्टा करना चाहिए । अर्थात् चिरचित्तार ज्ञानदर्शनचारित्र्यकी परिष्काररूप आराधनाको अपनाना चाहिए ॥१३॥

श्ल०—क्योंकि प्रवचनमें चारित्र्यका फल आराधना कहा है । इसलिए समस्त प्रवचनका सार आराधना ही है ॥१४॥

श्ल०—ज्ञानमें, दर्शनमें, और पापकर्मसे निवृत्तिमें जो प्रयत्नशील है उसकी परिष्कारको

परिचितरिहू चारित्रसम्बन्धे नूहीता, ततोऽन्यथो लब्धः 'सारः' फलमिति । 'बहिर्वा' कविता । 'आराधना' आराधना मूर्तो अनतिचाररत्नमवता । 'कव्यकर्मिन्' प्रोच्येत कृष्टेष्टव्याभाविष्टेन बीबाधयः परार्थो अनेनास्मिन्वेति प्रवचनं जिनागमस्तस्मिन् । अतिशयवता आराधनाया प्रकर्मताया उपसंहारस्तु सारोऽन्येन लब्धस्त इत्यादिना । 'लब्धस्त' ममस्तस्य । 'कव्यकर्मिन्' जिनागमस्तस्य । 'सारो' अतिशयः । 'आराधना' आराधना व्याप्यनिरुप्या । 'लब्धस्त' लब्धस्त । च शब्द एवकारार्थः । स आराधनासम्बन्धपरतो द्रष्टव्यः आराधनं च सार इति ।

अन्वय व्याख्या—यदिमुक्तं क्वं एतच्चारित्रमात्रावुत विशिष्टाज्जायते इत्याह—अन्वया चरितसारा इति । कि पाठनिकार्थो गाथायां संवादमुपवाति न चेतीत्यत्र भोतारः प्रमाणं ॥१४॥

कस्मात् ? अतिशयवत्साराधनागमैऽभिहिता कस्मात्—

सुधिरमधि भिरदिचारं विहरिता जाणदंसजचरिणे ॥

मरणे विराधयिचा अणतसंसारिजो दिट्ठो ॥१५॥

'सुधिरं' अतिभिरकालमपि । 'भिरविचारं' अतिचारमंतरेण । 'विहरिता' विहृत्य । क्व ? 'जाणदंसजचरिते' ज्ञाने श्रद्धाने समताया च । 'मरणे' मरणपर्यन्तविनाशकाके । विराधयिता रत्नत्रयपरिणामाधिक्याय मित्यावकानिज्ञानेऽन्यमे परिणतो मूला । 'अणतसंसारिजो' अनंतमरणपर्यन्तपरिवर्तने उच्यते । 'दिट्ठो' दृष्टः । देशोर्न पूर्वकोटीकाकं अनतिचाररत्नत्रयप्रवृत्तानामपि मरणकाके ततः प्रवृत्तानां मुख्यमार्थं संसारे धिरपरिभ्रमककनम्यानेन वर्धनं वर्धयति सूत्रकारः ॥१५॥

यही चारित्रसम्बन्धसे ग्रहण किया है । तब यह अर्थ प्राप्त होता है कि चारित्रिका फल, प्रवचनमें—जिसके द्वारा अबचा जिसमें जीवाधिपदार्थ प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे अविच्छेद कहे जाते हैं वह प्रवचन अर्थात् जिनागम है उसमें, आराधनाको कहा है । गाथाके उत्तरार्धद्वारा प्रकरण प्राप्त आराधनाकी अतिशयवताका उपसंहार करते हैं—इस कारण से समस्त जिनागमका सार आराधना है । गाथामें जो 'य' च शब्द है वह एवकार (ही) के अर्थमें है और उसे आराधना शब्दके आगे रूमाना चाहिए अर्थात् जिनागमका सार आराधना ही है ।

अन्वय इस गाथाकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—यह जो फल कहा है वह चारित्र सामान्यसे प्राप्त होता है या विशिष्टचारित्रसे प्राप्त होता है । इसके उत्तरमें आचार्यने 'अन्वया चरितसारा' आदि गाथा कही है । हमारा प्रश्न है कि इस आयकी उत्पानिकाके अर्थका गाथाके साथ मेल खाता है क्या ? इस विषयमें श्रोतागण ही प्रमाण हैं । हम अधिक क्या कहें ॥१४॥

आगममें आराधनाकी अतिशयवत्ता क्यों कही है इसका समाधान करते हैं—

गा०—ज्ञान श्रद्धान और चारित्रमें बहुत कालतक भी अतिचार बिना बिहार करके मरणकालमें विराधना करके अनन्तभव धारण करनेवाला देखा गया है ॥१५॥

टी०—ज्ञानमें, दर्शनमें और समतारूप चारित्रमें सुदीर्घकालतक अतिचार रहित बिहार करके भी अर्थात् ज्ञानदर्शनचारित्रका निर्दोष पालन करके भी अब उस पर्यायके विनाशका समय आवे अर्थात् मरते समय यदि रत्नत्रयरूप परिणामोंको नष्ट करके मित्यावर्शन, अज्ञान और असंयमरूप परिणामोंको अपनावे तो उसका संसार अनन्त होता है । अर्थात् कर्मभूमिमें मनुष्यपर्यायकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटी होती है । आठ वर्षकी अवस्थाके पश्चात् संयम धारण करके कुछ कम एक पूर्वकोटिकालतक उसका निरतिचार पालन किया । किन्तु मरणकाल आनेपर

अनुपगतमिष्यात्वस्य अविचलितचारित्रस्यापि परीषद्परिभ्रमणानुगतसंश्लेषस्य महती संवृत्तिरिति
शरीरवर्तनस्य संश्लेषः परित्याग्यः इति निगद्यति सूत्रकारः 'समिद्धिबु ब' इत्यादिना—

समिद्धिबु य गुणीसु य इंस्यभाषे य भिरदिचारानं ।

आसादणबहुक्षणं उक्कस्तं अंतरं होई ॥ १६ ॥

कथं व्याख्यासे—“उपतस्यानंतसंसारस्य प्रमाणप्रतिपादनाय आयाता गाथा अनंतस्यानंतविकल्पत्वात्
अनंतविशेषः प्रतिपादनीयः” इति । अस्यां व्याख्यायां उक्कस्तं अंतरं होईत्येतावन्नुपगम्यते । इतरस्य वचन-
संबन्धस्य अनर्थाकत्वं प्रसज्यत इति । समिद्धिबु य सम्यक्कामादिषु अर्थानं सन्धितिः, सम्यक्भूतज्ञाननिरूपितकथनेषु
वचनानिषु वृत्तिः सन्धितिः । साव्यवयवेषु आत्मनो बोधनं युक्तिः । वस्तुयाथात्म्यश्रद्धानं दर्शनं । अपेक्षामिष्या-
त्वककङ्कस्त्यात्मनो वस्तुतत्त्वपरिज्ञानं मत्वादिषाद्योपशमिकं ज्ञानं । ध्यायिके सति ज्ञाने आसादनाया असंभवः ।
मोहव्यवस्थासंश्लेषस्य, मोहस्य च केवलज्ञानोत्पत्तेः प्रागेव विनष्टत्वात् । तथा बोधतं—‘मोहस्यव्यवस्थावर्तन-
वरत्नान्तरव्यवस्थाव्यवस्था केवलम्’ [त० सू० १०।१] इति । वीतरागसम्यक्त्वं चेह न मृदीतम् । मोहप्रलय-

उत्पत्तेः व्युत्त हो गया तो संसारमें चिरकालतक भ्रमण करना पड़ता है । इस चिरकाल परिभ्रमणके
महानेसे सूत्रकार उसकी मुक्तिका अभाव बतलाते हैं ॥१५॥

जो मिष्यात्वभावको प्राप्त नहीं हुआ है जिसका चारित्र भी निश्चल है फिर भी यदि वह
परीषद्देखे धरकार संश्लेषभावको प्राप्त होता है तो उसका संसार सुदीर्घ है, ऐसा भय दिखलाकर
ग्रन्थकार संश्लेषको त्यागनेका उपदेश देते हैं—

शा०—समितियोंमें और गुप्तियोंमें और दर्शन और ज्ञानमें जो अतिचार रहित प्रवृत्ति करते
हैं । किन्तु मरणकाल आने पर परीषद्देखे भयसे समिति आदिमें बारम्बार दोष लगाते हुए संश्लेष
परिष्कार करते हैं उनका अर्धपुद्गल परावर्तन काल प्रमाण उत्कृष्ट अन्तर होता है । अर्थात् मरते
समय रत्नत्रयसे व्युत्त होकर पुनः उतना काल बीतने पर रत्नत्रय प्राप्त करते हैं ॥१६॥

टीका—अथ व्याख्याकार कहते हैं कि ‘ऊपर जो अनन्त संसार कहा है उसका प्रमाण
बतलानेके लिए यह गाथा आई है । क्योंकि अनन्तके अनन्त भेद होते हैं अतः अनन्तविशेषका
वचन करना आवश्यक था । इस व्याख्यामें ‘उत्कृष्ट अन्तर होता है’ गाथा के इस अन्तिम शब्द-
की उपयुक्तता तो होती है, किन्तु शेष वचन रचना निरर्थक पड़ जाती है । अस्तु ।

सम्यक् अयनको समिति कहते हैं । सम्यक् अर्थात् श्रुतज्ञानमें कहे गये क्रमके अनुसार
चलने आदिमें प्रवृत्ति करना समिति है । साव्य योगेसे अर्थात् सवोध मन वचन कायकी प्रवृत्तिसे
आत्माका बोधन अर्थात् रक्षण करना गुप्ति है । वस्तुका जैसा स्वरूप है वैसा ही श्रद्धान सम्यग्दर्शन
है । मिष्यात्वस्वरूप कलकसे रहित आत्माके वस्तुतत्त्वके परिज्ञानको मति आदिरूप क्षायोपशमिक
ज्ञान कहते हैं । यहाँ क्षायोपशमिक ज्ञानको ही लेनेका हेतु यह है कि ध्यायिकज्ञानके होते उसमें
दोष लगाना असंभव है । क्योंकि संश्लेष मोहके उदयसे होता है और मोहकर्म केवलज्ञानके
उत्पन्न होनेसे पहले ही नष्ट हो जाता है । कहा भी है—‘मोहके क्षयसे तदनन्तर ज्ञानावरण,
दर्शनावरण और अन्तरायके क्षयसे केवलज्ञान होता है ।’

यहाँ दर्शनसे वीतराग सम्यक्त्वका ग्रहण नहीं किया गया है क्योंकि मोहका नाश हुए बिना
वीतरागता नहीं होती ।

अन्तरेण वीतराजता नास्तीति । ईशानिन्तेरतिचारः मन्त्राकोचमन्त्रं, पदविन्यासदेशस्य सम्मननाकोचमन्त्रं, जन्मवृत्तित्तिचारिकम् । इयं वचनं मयं नक्षिणं कुर्वन् न वेति अनाकोच्य भाषणं, अज्ञात्वा वा । अत एवोचते 'अपुष्टो द्रु वा भास्वित्वा भास्वित्वा च संतरे' इति । अपुष्टश्रुतमंतया मुनिः अपुष्ट इत्युच्यते । भाषासमितिक्रमानामिदो मीनं वृद्धीयात् इत्यर्थः । एवमादिको भाषासमित्यतिचारः । उद्धमविदो मूहीतं भोजनमनुमन्त्रं वचसा, कायेन वा प्रसंसा, दैः सहवासः, क्रियासु प्रवर्तनं वा एषभासमित्यतीचारः । आदातस्यस्य, स्वास्यस्य, वा अनाकोचनं, किम्व च संतरेः संतरे वा संतरे वेति द्रुः प्रमाच्यं वा आदाननिकोचसमित्यतिचारः । अन्नमनुस्यचोचनं, मलसंपातदेशानिक्यनादि, पवनसंनिवेशविनकरादिवृत्कमेण वृत्तस्य प्रतिष्ठापनासमित्यतिचारः । अन्नमादित्यतिचरता कायक्रियामिभूतिः कायमुत्तरतिचारः । एकपादादित्वांनं वा अनसंचरणदेशे, अनुभ्रम्याना-विनिमित्तस्य वा निवचरता । आप्तानासप्रतिक्रियामिभूततया वा तवाराधनाप्राप्त इमावत्त्वां । सचित्तभ्रमी संतरेसु संतरेतः अक्षेणु म्हाति वा वाते हरितैः; रोषाद्वा वपाद्वा दूर्णी अवत्त्वां निवचरता स्थितिः कावोत्सर्गः कायवृत्तिरिच्छस्मिन्पक्षे शरीरममतावा अपरित्वाः कायोत्सर्गवोचो वा कायमुत्तरतिचारः । रामादिसहिता स्वाभ्यावे वृत्तिर्मनोमुत्तरतिचारः । 'संकाशाधिधिक्मिन्सात्त्वबुद्धिप्रसंसासंस्तवाः सम्बन्धसंगतीचाराः । इत्यनेनकालमावबुद्धिसंतरेण श्रुतस्य पठनं श्रुतातिचारः । अक्षरपदादीनां न्यूनताकरणं, जतिवृद्धिकरणं, विप-

मन्त्र प्रकाशमें चरना, पैर रखनेके स्थानको अच्छी तरह न देखना, गमन करते समय चित्तका उपयोग अन्यत्र होना, ये ईर्मासमितिके अतीचार हैं । यह वचन मुझे कहना युक्त है अथवा नहीं, ऐसा विचार किये बिना बोलना, या बिना जाने बोलना । इसीसे कहा है—'बोलने-वालेके बीचमें बिना समझे नहीं बोलना चाहिये ।' ऐसे मुनिको जिसने शास्त्रकी बातको पुष्ट करते नहीं सुना है अपुष्ट कहा है । अपुष्ट मुनिको बीचमें नहीं बोलना चाहिये । भाषा-समितिके क्रमसे जो अनवान है उसे मीन ले लेना चाहिये । इत्यादि भाषा समितिके अतीचार हैं । उद्धम आदि दोष होने पर भी भोजन ले लेना, वचन से उसको अनुमति देना, कायसे उसकी प्रसंसा करना, ऐसे मुनियोंके साथ रहना, या क्रियाओंमें उनके साथ प्रवृत्ति करना, एषभासमितिके अतीचार हैं । जो वस्तु ग्रहण करने योग्य या रखने योग्य है, उसे ग्रहण करते या स्थापित करते समय 'वहाँ अन्तु हैं या नहीं' ऐसा नहीं देखना या पिच्छिकासे सावधानता पूर्वक प्रमाचन न करना आदाननिकोचन समितिके अतीचार हैं । शरीर और भूमिका शोधन न करना, मलत्याग करनेके स्थानको न देखना आदि प्रतिष्ठापना समितिके अतीचार हैं । चित्तके असावधान रहते हुए शारीरिक क्रियाका रोकना कायगुप्तिका अतीचार है । जहाँ अनुष्य जाते जाते हैं वहाँ एक पैर आधिते सड़े होना, अक्षुभ ध्यानमें लीन होकर निवचल होना, मिथ्या देवताओंकी मूर्तिके सम्मुख ऐसे सड़े होना मानों उनकी आराधनामें लगे हैं, सचित्त भूमिमें जहाँ चारों ओर हरित वनस्पति फैली है, श्लोच या घनपक्षे मीनपूर्वक निवचल सड़े होना कायगुप्तिके अतीचार हैं ।

जो कावोत्सर्गको कायगुप्ति मानते हैं उनके पक्षमें शरीरसे ममत्वको न छोड़ना अथवा जो कावोत्सर्गके दोष कहे हैं वे कायगुप्तिके अतीचार हैं । स्वाभ्यायमें रागादिसहित प्रवृत्ति मनोगुप्तिका अतीचार है । शक्या, कांसा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टियोंकी प्रसंसा, संस्तव ये सम्म्यग्दर्शनके अती-चार हैं । श्रव्य, श्रेय, काल और भावकी क्षुद्रिके बिना श्रुतका पढ़ना श्रुतका अतीचार है । अक्षर

टीकाजीवार्थपरिणामाधिपरीतावैरिपणा वंधार्थयोर्वैपरीत्यं वनी ज्ञानातिचाराः । उपातिचारविगमो निरति-
चारका चारिचारीनाम् ।

अरचकाके रत्नत्रयपरिणामाभावे दोष उक्तः । इधामीनापचमाफलातिशयव्यापनायाह—

द्विद्वय अणादिमिच्छादिद्वी अन्धा ख्येण सिद्धा य ॥
आराहया चरिचस्त तेण अत्ताहणा सारो ॥ १७ ॥

द्विद्वय इत्यादि । 'द्विद्वय' वृत्ता उपलब्धाः । 'अणादिमिच्छादिद्वी' अनादिमिच्छाद्वयः । महणा-
धवा द्यज्जुनास्तस्मिन्नेव भवे त्रसतानापन्नाः अत एवानादिमिच्छाद्वयः प्रथमजिनपादमूले श्रुतधर्मसाराः
धर्मोपनिषदरत्नत्रयाः । 'अन्धा' धस्तात्साधेन क्षणग्रहणं कालस्याल्पत्वोपलक्षणाधर्मम्, अन्यथा क्षणस्याल्पकालतया
कर्मोच्चात्मस्य कर्तुमशक्यत्वात्, सकलकर्मोच्चात्तन्मुरस्तरं सिद्धत्वमेव न स्यात् । 'सिद्ध य' सिद्धाव्य परिप्राप्तयोष-
क्षानादित्थमात्राः, चख्येन निरस्तद्रव्यभावकर्मसंहृतयश्च, वृत्ता आराधनासंपादकाः । चरिचस्त चारिचस्त ।
चारिचग्रहणं रत्नत्रयोपलक्षणं । एतेन चारिचाराधनां स्तीति इत्येच्छाचक्षणां निरस्तं । चारिचाराधनास्तवनस्य
भाव प्रस्तावः । आधुरते रत्नत्रयपरिचितिरिदु प्रभ्यंता स्तोतु, किमुच्यते चारिचाराधनां स्तीतीति ।

पद आदिको कम करना या उनको बढ़ाना, आगेको पीछे और पीछेको पाठको आगे करके पौर्वापर्य
रचनामें विपरीतता करना, विपरीत अर्थ करना, ग्रन्थ और अर्थमें विपरीतता करना, ये ज्ञानके
अतोचार हैं । चारित्र आदिमें कहे अतिचारोंको न लगाना निरतिचाराता है ।

विश्लेषार्थ—पं० आशाधरने अपने मूलाराधना दर्पणमें लिखा है कि जयनन्द इस गाथाको
पूर्वकी गाथाकी संवादगाथा मानते हैं ॥१६॥

अरते समय रत्नत्रयरूप परिणामोंका अभाव होनेमें दोष कहा । अब आराधनाके फलका
अतिशय कहते हैं—

शा०—क्योंकि रत्नत्रयके आराधक अनादिमिच्छादृष्टि क्षणमात्रमें अर्थात् अल्पकालमें द्रव्य-
कर्म भावकर्मसे रहित सिद्ध देखे गये हैं । इसलिये आराधना सार है ॥१७॥

टीका—अहण आदि राजपुत्रोंने उसी भवमें त्रसपर्याय प्राप्त की थी । अतएव वे अनादि-
मिच्छादृष्टि थे । उन्होंने भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमें धर्मका सार सुनकर रत्नत्रय धारण किया
था और क्षणमात्रमें सिद्धत्व पद प्राप्त किया था । यहाँ 'क्षण' शब्दका ग्रहण कालकी अल्पताके
उपलक्षणके लिये किया है । अन्यथा 'क्षण' बहुत छोटा काल है उतने कालमें समस्त कर्मोंका
नाश करना अशक्य है और तब समस्त कर्मोंके विनाशपूर्वक होनेवाला सिद्धत्व ही प्राप्त नहीं हो
सकता । जिन्होंने समस्त ज्ञानादिस्वभावको प्राप्त कर लिया है और 'व' शब्दसे द्रव्यकर्म और
भावकर्मोंके समूहको नष्ट कर दिया है उन्हें सिद्ध कहते हैं । यहाँ चारित्रका ग्रहण रत्नत्रयका
उपलक्षण है ।

अतः जो 'चारिचाराधनाका स्तवन करते हैं' ऐसा ब्याख्यान करते हैं उसका निरास कर
दिया है । यह प्रकरण चारिचाराधनाके स्तवनका नहीं है । यहाँ तो आमुके अन्त समयमें रत्नत्रय-
रूप परिणतिका स्तवन है । तब चारिचाराधनाके स्तवनकी बात क्यों करते हैं ।

आचार्य—अनादिकास्ते मिश्यात्वका उदय होनेसे नित्यनिगोपपर्यायिमें रहकर भद्र-विषड्डन
आदि ९२३ अस्तबक्रवर्तीके पुत्र हुए और उन्होंने भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमें धर्म सुनकर

'सम्पन्न प्रवचनस्त य सारो आराहणा सन्धा' इति यदुच्यते, यस्मिन्नेव काले मरणं तस्मिन्नेव काले रत्नत्रयपरिणतेन भाग्यं हित्वापिना अन्यथा किमिति चारित्रं तपसि स प्रयासः क्रियते इति शिष्यार्थकाम्युपस्थिति सूत्रकारः—

जदि पवयणत्स मारो मरणे आराहणा हवदि विद्वत् ।

किंदाहं सेसकाले जदि जददि तवे चरिचे य ॥ १८ ॥

अवि पवचनस्त इत्यादिना । 'पवचनस्त' प्रवचनस्य । 'सारो' अतिशय इति । 'मरणे' आयुर्दते । 'आराहणा' आराधना रत्नत्रयपरिणतिः । 'अवि विद्वत्' इति पदसंबन्धः । यद्युपलब्धा । 'हवदि' भवेत् । 'किंदाहं' किमिदानीं । 'सेसकाले' मरणकालादन्यः कालः शेषकालस्तत्र 'अवि' प्रयतनं क्रियते । न च 'सर्वे' तपसि, 'चरिचे' सामायिकादिके सावधकियापरिहारात्मके । यथाभ्यात् ज्ञानदर्शनयोश्च । एतदुक्तं भवति—
ग्रहणकालादिषु भावितरत्नत्रयस्यापि मरणे तदभावे यदि सिद्धिः, अकृतभावनस्यापि मृती रत्नत्रयसाम्निष्यात्सा सिद्धिर्यदि भवति मरणकाले सा महती ससृष्टिमाचहति । अन्यथा आशयार्थं विराधनायां मृतिकाले रत्नत्रयोपवर्ती संसारोच्छिन्तिर्भवत्येव । ततो मरणकाले प्रयत्नः कार्य इत्यस्मादिष्यन्त्यस्त । इतरकालवृत्तं तु रत्नत्रय संवरनिर्बन्धयोर्धातिकर्मणां च क्षयनिमित्तं इतीष्यत एव । तथा चोक्तं—'सम्यग्दृष्टिवाचकविरतांतंतिष्वोच्छेदार्थंमोहक्षयकोपसन्नकोपसांतमोहक्षयकक्षीणमोहजिनाः क्रमसोप्रांस्वेवमुच्यन्तिर्नराः' [त०सू० १।४५] इति ।

रत्नत्रय धारण किया और अल्पकालमें ही सिद्धपद प्राप्त किया । इससे सिद्ध होता है कि आयुके अन्तमें आराधना सर्वोत्कृष्ट है ॥१७॥

यदि 'समस्त प्रवचनका सार आराधना है' तो जिस कालमें मरण हो उसी कालमें अपना हित चाहनेवालेको रत्नत्रय धारण करना चाहिए, अन्यकालमें चारित्र और तपमें प्रयास क्यों किया जाये ? शिष्यकी इस शंकाको गाथासूत्रकार उपस्थित करते हैं—

वा०—प्रवचनका अतिशय आयुके अन्तमें आराधना यदि देखी जाती है । तो क्यों इस समय मरणकालसे अन्यकालमें यत्ति तप चारित्र और ज्ञानदर्शनमें यत्न करता है ? ॥१८॥

टीका—गाथामें जाये 'च' शब्दसे ज्ञान और दर्शन लेना चाहिए । कहनेका भाष्य यह है कि मरणकालसे भिन्नकालमें अर्थात् दीक्षा ग्रहण, शिक्षाकाल आदिमें रत्नत्रयका पालन करनेपर भी यदि मरणकालमें उसका पालन न किया जाये तो मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती, और अन्यकालमें रत्नत्रयकी भावना न करके भी मरते समय रत्नत्रय धारण करनेसे बहु मुक्ति यदि प्राप्त होती है सब तो मरणकालमें होनेवाला रत्नत्रय ही मोक्षका कारण हुआ । अतः शेषकालमें उसका प्रयास करना निष्फल हुआ ।

इसका उत्तर देते हैं—मरण समय जो रत्नत्रयकी विराधना है वह संसारको बहुत दीर्घ करती है । किन्तु अन्यकालमें विराधना होनेपर भी मरते समय रत्नत्रय धारण करनेपर संसारका उच्छेद होता ही है । अतः मरणकालमें प्रयत्न करना चाहिए यह हमने कहा है । अन्य कालोंमें धारण किया गया रत्नत्रय संवर, निर्बन्ध और वास्तिकर्मोंका क्षय करनेमें निमित्त होता है इसलिये उसे हम स्वीकार करते ही हैं । तत्पार्ष्ण्यमं कहा है—सम्यग्दृष्टि, वाचक, मुनि अनन्तानुबन्धी-कषायका विसंगोचन करनेवाला, दर्शनमोहका क्षय करनेवाला, उपशम श्रेणीवाला, उपशान्तमोह, क्षणकषेणिकाळा, क्षीणमोह और जिन इनके क्रमसे असंख्यातगुनी असंख्यातगुनी निर्बन्ध होती है ।

एतेषामर्थकारणगुणनिर्णयः सम्यग्दर्शनाविगुणनिमित्तात्मकजनकलता । आधिक्यं सम्यक्त्वं ज्ञानं चारित्र्यं च यत्साध्यं
सर्वशिक्षणव्याप्त्यत् इव इतरफलमूत्तमापि भावयन्मा ।

तत्रैव 'बोधं' बोधते इति शेषसिद्धत्वात् सूत्रिणोपानुसारिणापि परिहृतुं शक्यते इत्याचष्टे—

आराधनाय कञ्चै परियम्भं सञ्चदा वि कायम्भं ।

परियम्भनाविदस्स इ सुहसज्जाराहणा होइ ॥ १९ ॥

आराधनाय कञ्चै इति । आराधनाकम्बः सम्यग्दर्शनाविपरिणामसंसिद्धिनाशितकालभेदां प्रतिपादयितुं
उक्तोऽपि मरणे विधाविता इत्यत्र मरणकालविशेषस्य प्रस्तुतत्वात् प्रकरणानुरोधेन तद्विषयायामेवाऽराधनायां
बुद्धये । ततोऽर्थमर्थः—भूतिकालमोचररत्नत्रयसिद्धयर्थं 'परियम्भं' परिकर्म परिकरः । 'सञ्चदा' सर्वस्मिन्मपि
क्रान्ति—ब्रह्मणकालः, शिक्षाकालः, प्रतिषेधनाकालः सल्लेखनाकालश्चैह सर्वशब्देन गृह्यते । 'करियम्भं' अवश्य-
करणीयं । कुतोऽर्थं निमोघ इत्याशङ्क्याह—'परिकर्मनाविदस्स' 'बु' परिकरेण भावितस्त्वैव 'बु' शब्दोऽ-
प्यारण्यार्थः । 'सुहसज्जारा' होइ' सुशेन क्लेशमत्तरेण साध्या भवति । का 'आराधना' आराधना मृतिगोचरा ।

येन हि यत्साध्यं तेन पूर्वं तस्य परिकरोऽनुष्ठेय इत्यनुं अर्थं दृष्टान्तबलेन साधयितुमुत्तरद्वयम् । तथा च
भवति 'बुद्ध्यात्सिद्धानुभवोपिवाप्ये साध्यं प्रतिषिद्धयेत्' [स्वयंभू० स्तो० ५४] इति ।—

उह रायकुलपञ्चो जोगं चिन्धमवि कुण्ड परियम्भं ।

तो जिदकरणो जुद्धे कम्मसमत्थो मविस्सदि हि ॥ २० ॥

तो चब इनके सम्यग्दर्शन आदि गुणोंके निमित्तसे असंख्यात गुणी निर्जरा होती है तो वे निष्कल
कैसे हैं ? जो साध्य है क्षायिक सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र्य वह सब, अन्यकालमें की गई रत्नत्रय
भावनासे प्राप्त होता ही है ॥१८॥

उक्त गाथामें उठाये गये तर्कोंको मनमें रखकर आचार्य तर्कके अनुसार भी उसका परिहार
हो सकता है यह कहते हैं—

गा०—आराधनाके कार्यके लिये परिकर्म सभी कालमें करना चाहिये; क्योंकि परिकर्म
करने वालेके ही आराधना सुखपूर्वक साध्य होती है ॥१९॥

टी०—यद्यपि आराधना सब कालभेदका माध्यय न लेकर सम्यग्दर्शन आदि परिणामोंकी
सम्यक् सिद्धिको कहता है तथापि १५ वीं गाथामें 'मरणे विराधविता' ऐसा कहनेसे मरणकाल
विशेषके प्रस्तुत होनेसे प्रकरणके अनुरोधसे मरणकाल सम्बन्धी आराधनाके अर्थमें यहाँ लिया गया
है । सब यह अर्थ होता है—मरते समयके रत्नत्रयकी सिद्धिके लिये सर्वदा, ब्रह्मणकाल, शिक्षाकाल,
प्रतिषेधनाकाल और सल्लेखना काल इन सब कालोंमें परिकर्म अर्थात् सम्यक्त्वादि अनुष्ठान
करना चाहिये; क्योंकि जो अन्यकालोंमें भी रत्नत्रयके परिकरका पालन करता है उसीके मरते
समयकी आराधना सुखपूर्वक होती है ॥१९॥

जो व्यक्ति जिस कायको सिद्ध करना चाहता है उसे पहले उसकी साधन सामग्रीका आधी-
न्य चरना चाहिये, इस बातको दृष्टान्तके बलसे साधन करनेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं ।
क्योंकि सन्नतभद्र स्वामीने कहा है कि बादी और प्रौर प्रतिवादीमें विवाद हो तो दृष्टान्तकी
सिद्धि होने पर साध्यकी सिद्धि होती है—

'बहु' दया । 'राजकुलमनुष्यो' राजपुत्रः । 'जोष्यं' योग्यं । प्रहरणक्रियायाः 'परिकर्म' परिकरं । 'निष्कर्ममि' समरकात्मत्वात् प्रतिविद्यमानम् । 'कुण्ठि' करोति । 'तो' ततः पश्चात् । 'चित्तकरणे' क्रियते रूपादिबोधराः चित्तस्य परिचितं करणानि इन्द्रियान्मुच्यन्ते कथितकरणसम्बन्धेन । कुण्ठयन् क्रियानिष्पत्ती वधविसर्जितं साधकं तत्करणाविति साधकतन्मात्रमुच्यते । क्वचित्तु क्रियासामान्यवचनः यथा 'कुङ्कुम् करणे' इति । अथ क्रियावाची गृहीतः । चित्तशब्दस्य स्वबन्धीकरणवृत्तिस्तथा चित्तभार्यः स्वबन्धीकृतभार्य इति गम्यते । तेषामर्थः स्वबन्धीकृतक्रियः सन् 'बुद्धे' बुद्धे समरे 'कम्मसत्त्वो' कर्मसमर्थः । कर्मशब्दो श्लेषार्थः । मिथ्यावर्तनाविरति-प्रमादकषायेऽन्यप्रतिबंधावित्थानव्याप्तितानि क्रियन्ते इति कर्माणि ज्ञानावरणादीनि । कर्तुः क्रियया व्यापकत्वेन विवक्षितमपि कर्म, यथा 'कर्माणि विवक्षयेति' । तथा क्रियावचनोऽपि अस्ति, किं कर्म करोति ? का क्रियामित्यर्थः । इह क्रियावाची गृहीतः । सा चाथ क्रियाशब्दवचनप्रहरणताडनादिका तस्यां 'सक्यो कथिस्तथि' समर्थो भविष्यामीति । यो यत्साधयितुं बांछति स तत्परिकर्माणि प्राक् प्रयत्नते, यथा रिपून्निहन्तुमगो हनन-कर्मोपायं अस्त्रसिद्धां करोति इत्येतावानर्थो वक्षितोऽग्रेया वाच्यः ।

इदानीं हेतोः पक्षधर्मबोधनायाह—

इयसामर्थं साधु वि कुण्ठि निष्कर्ममि जोगपरियम्भं ।

तो जिदकरणे मरणे ज्ञानसमत्त्वो भविस्सहदि ॥ २१ ॥

भा०—जैसे राजपुत्र योग्य शस्त्र प्रहारका अग्न्यास युद्धकाकसे पहले प्रतिदिन भी करता है । पश्चात् शस्त्र प्रहार रूप क्रियाको अपने अधीन करके युद्ध करनेमें समर्थ होता है ॥२०॥

टी०—जिनके द्वारा रूपादि विषयक ज्ञान किया जाता है उन्हें करण कहते हैं । इस प्रकार कहीं 'करण' शब्दसे इन्द्रियां कही जाती हैं । अन्यत्र क्रियाकी निष्पत्तिमें जो सर्वाधिक साधक होता है उसे करण कहते हैं । साधकतमको करण कहा है । कहीं पर करण शब्द क्रिया सामान्यका वाचक है जैसे 'कुङ्कुम् करणे' । यहाँ करण शब्द क्रियावाची ग्रहण किया है । और चित्त शब्दका अर्थ अपने वशमें करना है । जैसे 'चित्तभार्य' शब्दसे भार्याको अपने वशमें करने वाले पुरुषका बोध होता है । अतः 'चित्तकरण' का अर्थ क्रियाको अपने वशमें करने वाला होता है ।

इसी तरह 'कम्मसमत्त्वो' में कर्म शब्दके अनेक अर्थ हैं । मिथ्यादर्शन, अचिरति, प्रमाद, कषायके द्वारा ज्ञानको रोकने आदिकी शक्तिले बुद्ध जो किये जाते हैं उन ज्ञानावरण आदिको कर्म कहते हैं । तथा कर्ताकी क्रियाके द्वारा व्यापक होने रूपसे जो विवक्षित होता है उसे भी कर्म कहते हैं । जैसे 'कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है' । कर्म शब्द क्रियावाचक भी है । जैसे क्या कर्म करते हो अर्थात् क्या क्रिया करते हो । यहाँ कर्म शब्द क्रियावाची लिया है । यहाँ मारना, प्रहार करना आदि क्रिया की गई है ।

जो जिसको साधन करना चाहता है वह पहले उसके परिकर्ममें लगता है जैसे जो क्षत्रियों को मारना चाहता है वह मारनेके उपाय अस्त्र सिद्धांमें लगता है । इतना अर्थ इस गाथासे वक्ष्यता है ॥२०॥

अब उक्त हृष्टान्तकी योजना प्रकृत चर्चामें करते हैं—

भा०—इसी प्रकार साधु भी ध्यानका परिकर्म जो (सामर्थ्य) आश्रय है उसे नित्य भी

१. भविस्सति-५० ।

इयं सामग्यामिदि । 'इयं' एव । 'सामग्यं' समनस्व भावो सामग्यं समता इत्यभिप्रेयता निश्चित-
नमस्तुः । अस्तौऽन्वयविधानात्सत्यो इति भाष्यशब्देन इत्यस्यस्यस्य वृत्तौ 'निमित्तभूतो गुण उच्यते । तथा
चोक्तम्—'नव्यं गुणस्य भाष्यशब्देन अन्वयिभेदात्सत्यमिवापि स्वसत्कामिति', तस्योऽपि समण इत्यस्य शब्दस्य जीवे
प्रवृत्तौ किं निमित्तं गुणः समता, नव जीविते, मरणं, कामेऽकामे, सुखे, दुःखे, बन्धु, रिपौ च । एतेषु रागः
कथमित्येव चिद्वेदेष्ववशात्समानता, तदुभयकारणं जीवित्वावित्स्वरूपपरिज्ञानं समचित्तता । अर्थाभावात्प्राज्ञहितेन
जीवित्वावित्स्वरूपानां ज्ञानानां समता । जीवितं नाम प्राणधारणं तद्यामुत्पत्तं न ममेच्छया वर्तते, सत्यामपि
सत्यां प्राणानामनवस्थानात् । सर्वं हि अवचित्कति प्राणानामनपत्तं न च तेऽपि तिष्ठते । मरणं नाम इन्द्रियादि-
प्राणैर्मो विगम आत्मनः । तथा चोक्तम्—'मूढं प्राणव्यवहारे' [] इति । त्यागो हि वियोग आत्मनः सकाशात्-
प्राणानां पृथग्भावः । स चादुःसंज्ञितानां पुद्गलानां अखेपगकतात् । अत्र इन्द्रियद्वारा उपचातककारादिद्वय-
कलाशाद्भार्येन्द्रियस्य चोपयोगस्य विनाशः तदा 'मरणोच्यते' । तदुच्यते च कर्त्तव्यमवः । वीर्यन्तरामोद्यया-
त्पिचिपवकप्राणहानिः । मुख्यं नासिकायाश्च विधानात् इच्छ्याविनावरोधात् उच्छ्वासात्प्रियासहानिः ।
अपिमतस्य कामो लाघातरामस्योपसमात् । अकामरस्तदुच्यते । सुखं नाम प्रीतिः सद्बोधयात् अमित्वित्त-
विचयसाग्निध्यात् । दुःखं तु बाधात्मकमसद्बोधयद्भूतम् । बन्धवो नाम न नियताः केचन सन्ति । संसृतो

करता है, कि इसके पश्चात् मनको बशमें करके मैं मरते समय ध्यानमें समर्थ होऊँगा ॥२१॥

टी०—समणके भावको सामग्य कहते हैं ऐसी निरुक्ति विशेषज्ञोंने की है । 'सामग्य'का अर्थ
समता है । इव्य शब्दमें प्रवृत्तिका निमित्त जो गुण होता है उसे भाव शब्दसे कहते हैं । कहा भी
है—जिस गुणके होनेसे इव्यमें शब्दका निवेश होता है उसके वाचक शब्दसे त्व और तल प्रत्यय
होते हैं । यहाँ भी समण शब्दकी जीवमे प्रवृत्तिका गुण समता है अर्थात् समता गुणके कारण ही
जीवको समण कहा जाता है । जीवनमें मरणमें, लाभमें अलाभमें, सुख और दुःखमें, बन्धुमें और
शत्रुमें समान भावको समता कहते हैं । और इनमें किसीसे राग और किसीसे द्वेष करना असमा-
नता है । और राग-द्वेषका न करना तथा जीवन आदिके स्वरूपको जानना समचित्तता है । जीवन
आदि विषयोंके ज्ञान यथार्थप्राप्ति होनेसे समतारूप है ।

प्राणधारणको जीवन कहते हैं । वह आयुके अधीन है मेरी इच्छाके अधीन नहीं है । मेरी
इच्छाके होने पर भी प्राण नहीं ठहरते । सर्व जगत चाहता है कि हमारे प्राण बने रहें । किन्तु वे
नहीं रहते । आत्माके इन्द्रिय आदि प्राणोंके चले जानेको मरण कहते हैं । कहा भी है—'मूढं धातु
प्राणत्यागके अर्थमें है । त्याग वियोगको कहते हैं । आत्मासे प्राणोंका पृथक् होना वियोग है । वह
आयुक्रमं सम्बन्धी पुद्गलोंके पूर्णरूपसे समाप्त होनेसे होता है । उपचातक बाण आदिके लगनेसे
इव्येन्द्रियोंका विनाश होता है और उपयोगरूप भावेन्द्रियका विनाश ज्ञानावरणके उदयसे होता
है । उसीके उदयसे लब्धिरूप भावेन्द्रियका विनाश होता है । वीर्यन्तराय कर्मके उदयसे मनोबल,
बचनबल और कायबल रूप प्राणोंकी हानि होती है । सुख और नाकको बन्द करनेसे या जुहाम-
से उनकी रुकावट होनेसे श्वासीच्छ्वास प्राणकी हानि होती है । लाभान्तरायके अयोपयामसे इष्ट
वस्तुका लाभ होता है और उसके उदयसे लाभ नहीं होता । सुख प्रीतिको कहते हैं वह सातावेद-
नीयके उदयसे इष्ट वस्तुकी प्राप्तिसे होता है । दुःख बाधारूप होता है उसमें असाता वेदनीयका

परिग्रहणतः उपकारमेवा हि ते । अथि त एव अथवा कृशापकारा इति किंकारवः ? अरयोमि क्वाचिदु-
पकारात्पुत्रहृत् इति किं न अथवः ? अथि च स्नेहस्य सर्वाश्रयमनुकूल्य हेतुं तथा सम्पारमतिबंधकारितया च ते
एव ब्रह्मकर्मणः । किं च पुत्रोपकारेण संकलते सकलं सुखं सुखहेतुस्तुताभिर्भवं च । विपुष्यस्य न ते किंचिदपि
क्षुः क्षयाः । न च कुर्वन्ति । तथा हि—मातरं त्यजति पुत्रः सा च सुतं । तथाऽजात्यसहोचोचने न कश्चिदपि-
पिबन्धनकारं करोति । बाह्यं हि सधर्मो नाभ्यंतरकर्मणि अस्ति पीडागुणवचयति । इत्येवंमृता सर्वं स-
चित्ताता सामन्तं । 'साधु चि' साधुरपि । 'कुर्वन्ति' करोति । 'विषयवचि' मित्यपि सर्वदापि । 'योगपरिकर्मणं
योगसम्बन्धोऽकार्थः । 'योगनिमित्तं ब्रह्मण' इत्यस्मिन्प्रवेष्टपरित्यजं विविधवर्णनासहायमापद्यते । कश्चित्संबन्धना-
वचनः 'अस्यामेव योग' इति । कश्चित्प्रधानवचनः यथा 'योगस्थित' इति । इहायं परिमृहीतः । ततो ध्यान्-
परिकरं करोतीति वाच्यम् । रामद्वेषामिध्यात्वासिक्थितं कर्मवाचात्मनस्त्वधि प्रतिनिवृत्तविषयांतरसंचारं ज्ञानं
ध्यानमित्युच्यते । कश्चित्समानमानोऽज्जिवित्तवस्तुत्तद्भाववचनं च्यात्तु ज्ञान इति भावः । 'सौ' तस्यः क्वा-
चित्कारणो' इत्यत्र करणसब्धः अंतःकरणे मनसि वर्तते । ततोऽन्यर्थः स्ववशीकृतचित्तोऽहं नरये अथर्वविद्याया
वेद्यायां । 'ज्ञानसत्त्वयो' ध्यानस्वीकारादिनिमित्तोऽप्येव । ध्यानसम्बन्धोऽत्र प्रकृतसध्यामविषये ब्राह्मो नाऽनु-
योगीरकतिर्बन्धातिनिर्बर्तनप्रवचनयोः । योऽपि परिकर्मणि सत्वात्मनः प्रयुक्तत्वात् अत्यलसाध्याता वर्णव्युत्पत्तीनिर्बर्तने
'सत्त्वयो' शक्तः 'मनिसत्तंति' वचिध्यामीति ॥

उदय हेतु है । बन्धु कोई नियत नहीं है । संसारमें भ्रमण करते हुए जीवका जो उपकार करते हैं
वे बन्धु कहे जाते हैं । यदि वे ही कभी अपकार करते हैं तो शत्रु हो जाते हैं । शत्रु भी कभी-कभी
उपकार करते हैं तो वे बन्धु क्यों नहीं हैं ? तथा स्नेह समस्त असंयमका मूल हेतु और सम्पारमें
स्कायट डालने वाला है । अतः जिन्हें हम बन्धु मानते हैं वे ही महाशत्रु हैं । तथा पुण्यकर्मके उदय-
से ही सर्व सुख और सुखकारक वस्तुओंकी प्राप्ति होती है । जो पुण्यहीन है उसकी सुखके साधन
भी कुछ नहीं कर सकते । माता पुत्रको त्याग देती है और पुत्र माताको त्याग देता है । तथा
असाता वेदनीयके उदयके अभावमें कोई किंचित् भी अपकार नहीं कर सकता । अस्मन्तर कर्मके
अभावमें बाह्य शत्रु पीडा नहीं पहुँचाते । इस प्रकारसे सर्वत्र समचित्ताको सामन्त कहते हैं ।
'योगपरिकर्म'में योग शब्दके अनेक अर्थ हैं । 'योगनिमित्तं ब्रह्मणः' यहाँ मनोवर्णना, बचनवर्णना
और कायवर्णनाके निमित्तसे होने वाले आत्माके प्रवेक्षोके हसनचलनको योग कहा है । कहीं योग
शब्दका अर्थ सम्बन्धमात्र है । जैसे 'इसका इसके साथ योग है ।' कहीं योगका अर्थ ध्यान है । जैसे
'योगस्थित' में योगका अर्थ ध्यान है । यहाँ योगका अर्थ ध्यान किया है । राम-द्वेष और मिध्यात्व
से अछूते, वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ब्रह्मण करने वाले और अन्य विषयोंमें संचार न करने वाले
ज्ञानको ध्यान कहते हैं । इसका अतिप्राम्य यह है कि जिसने समानताकी भावना नहीं भायी है
और न वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जाना है वह ध्यान नहीं कर सकता । 'जितकरणो' में करण शब्द
अन्तःकरण मनके अर्थमें है । अतः यह अर्थ हुआ कि 'मरते समय मेरा चित्त मेरे वचनमें है' । 'ज्ञान-
समत्त्वो' में ध्यान शब्दका अर्थ एक ही विषयमें चिन्ताका निरोध करना है । यहाँ ध्यानसे प्रकृत
ध्यान ब्रह्मण करना, नरक भ्रति और तिर्यक्भ्रतियमें के जाने वाले अशुभ ध्यान नहीं लेना । योगके
परिकर्ममें तो आत्मा सदा लया रहता है अतः उसके किये प्रयत्न नहीं करना पड़ता । यहाँ योगसे
शुभध्यान किया गया है । अतः उसका परिकर्म—अध्यास करना होता है जिससे मरते समय में

कृष्णरिक्तो राजपुत्रो भ्रमणाधिकानु क्रियानु उपनयनीयकः क्रियां प्रहरणादिको संपाद्य यथाफलं प्राप्नोति इति युक्ततरयाचयाचष्टे जीवनाभावित इत्यनया—

जीवनाभाविकरणो सञ्चु जेदूच कुडरंगमिह ।

अह सो कुमारमण्णो रञ्जवढाय वल्ल हरदि ॥२२॥

जीवनाभाविकरणो परिकर्मना असङ्कल्पवृत्तिसम्बन्धनताङ्गप्रहरणादिक्रियाः । आभावित इत्यत्राह नृशार्ये प्रयुक्तः । तथा च प्रयोगः—आभूमितं भूषं भूयेन परिभूमिमित्त्वर्थः । 'सञ्चु' सञ्चुन् । 'जेदूच' जित्वा । 'कुडरंगमिह' युद्धार्थं संस्कृतो देशो युद्धरंगमित्युच्यते एव । 'अह' अथा । 'सो' सः भावितत्वात् । 'कुमारमण्णो' प्राणिनां कालकृतोऽवस्थाविषयो द्वितीयः कुमारत्वं नाम । सद्योगाद्वाक्यनः कुमारः स एव मल्लः । 'रञ्जवढाय' राज्यभवनं । 'अह' वलात्कारेण । 'हरदि' हरति वृद्धति ॥२२॥

दाष्टीन्तिके भोजयितुं उत्तरयाचा—

तह भाविदसामण्णो मिच्छादी रिचू विजेदूच ।

आराहणापढाय हरह सुसंवारंगमिह ॥२३॥

'सह भाविदसामण्णो' इति । 'सह' तथैव राजपुत्रवदेव । 'भाविदसामण्णो' भावितसमानभावः । पुण्यमिति लेखः । 'मिच्छातादी' मिष्यात्वात्संयमकषायसुखयोः इत्येतान् । 'रिचू' रिचुन् । 'विजेदूच' भूषं जित्वा । विद्याब्धौ भूषार्थे प्रयुक्तः । यथा विबुद्धो मल्लः भूषं वृद्ध इति यावत् । अथवा 'विजेदूच' नानाप्रकारं जित्वा यथा विचित्रमिति नानावित्रमिति यावत् । एकाग्रतमिष्यात्वं, संशयमिष्यात्वं, विपर्ययमिष्यात्वं

धर्म और शुक्ल ध्यान करनेमे समर्थ हो सकूँ ॥२१॥

जैसे अभ्यास किया हुआ राजपुत्र लक्ष्यको वेधने आदिकी क्रियामें कुशलता प्राप्त करके शस्त्रप्रहार आदिके द्वारा राज्य लाभ करता है' यह भागेकी गाथासि कहते हैं—

भा०—जैसे अभ्यासके द्वारा बार-बार लक्ष्यवेध शस्त्रप्रहार आदि क्रियामें दक्ष वह योद्धा राजपुत्र युद्धभूमिमें शत्रुको जीतकर राज्यके ध्वजको बलपूर्वक हरता है ॥२२॥

टी०—'जीवनाभाविकरणो' में आभावित शब्दमें जो 'अ' है उसका अर्थ बार-बार या बहुत अधिक है । जैसे 'आभूमितं' का अर्थ घुँसे अच्छी तरह भरा हुआ है । जो स्थान युद्धके लिए तैयार किया गया हो उसे युद्धरंग कहते हैं । प्राणियोंकी कालकृत जो दूसरी अवस्था विशेष होती है उसे कुमार अवस्था कहते हैं । उस अवस्थाके सम्बन्धसे यहाँ राजपुत्रको कुमार कहा है । अर्थात् जैसे युद्धमें दक्ष राजपुत्र शत्रुको जीतकर बलपूर्वक उसकी राज्यपताका हर लेता है वैसे ही भागे दस दृष्टान्तको दाष्टीन्तिकमें लगानेके लिए उत्तरयाचा कहते हैं—

भा०—उस राजपुत्रकी ही तरह पूर्वमें समानभावका अभ्यासी साधु मिष्यात्व आदि शत्रुओंको पूरी तरहसे जीतकर शोभनीय संस्तररूपी रंगभूमिमें आराधनारूपी पताकाको ग्रहण करता है ॥२३॥

टी०—मिष्यात्व आदिमें आदि शब्दसे मिष्यात्व असंयम, कषाय और अज्ञानभोग लेना । 'विजेदूच' में 'वि' शब्दका अर्थ बहुत या पूरी तरह है । जैसे 'विबुद्धो मल्लः' का अर्थ बहुत अधिक बड़ा हुआ योद्धा है । अथवा 'विजेदूच' का अर्थ 'नानाप्रकारसे जीतकर' होता है । जैसे विचित्रका अर्थ नानावित्र होता है ।

इत्यनेकमा मिथ्यात्वपरिणामाः स्थिताः । तर्ककान्तमिथ्यात्वं नाम वस्तुनो जीवादेरित्यत्यनेव स्वभावो न चानित्यत्वाविकम् । असत्पुनरप्या सतो निरोधे वा अनित्यता भवति । न चासत् उत्पत्तिर्यदि स्वात्नजनकमुद्यु-
धिकं किन्नोपजायते ? असत्त्वाविरोधे सत्पुनराद्येर्घटादेश्च घटादिकं उपजायते न विद्यत्कुद्युमाविकं इत्यत्र न
निवामकं हेतुं पश्यामः । न च सद्भिन्नवति, विनाशो ह्यसत्त्वं, आत्मात्मावो हि परस्परपरिहृारत्वि'लक्षणो
नैकता वास' । न भावोऽभावो भवति, इत्यनमसत्त्वे उत्पादनरोधवोरभावानित्यतैवावतिष्ठते इति इत्येकं
मिथ्यात्वं । इत्यत्र अथ उच्यते—न नित्यतैव वस्तुनो रूपं, अनित्यताया अपि प्रमाणसमधिगम्यत्वात् । रागद्वे-
मिथ्यात्वसंशयविपर्ययावीनां आत्मनि सतां पश्चादनुभवप्रतिष्ठापितमसत्त्वमनुभवोपनोत' चासत्त्वं प्रायानुष्ठाना-
मित्यनित्यता । पुद्गलद्रव्यस्थापि मेधादेर्वर्णान्धवाभावः आन्नफलादीनां रूपरसगंधाद्यध्याभावश्च प्रत्यक्षयाज्ञोऽ-
द्यक्यापान्द्वैव । तथानुमानप्राप्तश्च—यत्सत्त्वसर्वं नित्यानित्यात्मकं यथा घटस्तथा च जीवाविकं सविति कारणानां
प्रतिनियतजननस्वभावकार्यत्वात् । घटादेर्जनकानि सन्ति इत्युत्पत्तिः न सारविभागादे । न च भावाभावयो-
विरोधः एकस्मिन्वस्तुन्येकदा प्रवृत्तेः रूपरसादीनामिव । अपररूपेणासत्त्वं सति विद्यते न वा । यद्यत्सि न
विरोधः, न चेत्येवात्मकता । न ह्यभावो नाम भावादन्यः । अपि तु भावस्वैव रूपान्तरम् । ततोऽप्युक्तो

एकान्तमिथ्यात्व, संशयमिथ्यात्व, विपर्ययमिथ्यात्व, इत्यादि मिथ्यात्वपरिणाम अनेक प्रकार हैं । जीवादिबस्तुका स्वभाव नित्यता ही है, अनित्यता नहीं है इसे एकान्तमिथ्यात्व कहते हैं । असत्की उत्पत्ति नहीं होती । यदि होती है तो आकाशका फूल क्यों नहीं उत्पन्न होता ? जब आकाशका फूल और घट दोनों ही असत् हैं तो घटादि तो पैदा होते हैं और आकाशका फूल पैदा नहीं होता, इसमें कोई नियामक हेतु हम नहीं देखते । तथा सत्का विनाश नहीं होता । विनाश कहते है असत्त्वको । किन्तु भाव और अभाव दोनों भिन्न है, दोनोंके लक्षण भिन्न हैं । वे कभी एक नहीं हो सकते । भाव-अभाव नहीं होता । इस प्रकार असत्त्वमें उत्पाद और विनाशका अभाव होनेसे नित्यता ही ठहरती है । यह एक मिथ्यात्व है । अब इसको जीतनेका कल्पन करते हैं ।

वस्तुका रूप केवल नित्यता ही नहीं है, अनित्यताका भी प्रमाणसे बोध होता है । राग, द्वेष, मिथ्यात्व, संशय, विपर्यय आदि आत्मामें पहले सत् प्रतीत होते हैं । पीछे अनुभवके द्वारा उनका असत्त्व प्रतिष्ठापित होता है । तथा पहले उनका आत्मामें अनुभव होता है और पीछे अनुभवसे ही उनका असत्त्व ज्ञात होता है । इसलिए ये अनित्य है । पुद्गलद्रव्य मेघ आदिका रूप भी बदलता देखा जाता है । आन्नफल आदिमें रूप, रस, गन्ध आदिका बदलना प्रत्यक्ष देखा जाता है । उसका लोप करना अगम्य है । तथा अनुमान प्रमाणसे भी उसका ग्रहण होता है, जो इस प्रकार है—जो सत् है वह सब नित्यानित्यात्मक है, जैसे घट । उसी तरह जीवादि भी सत् होनेसे नित्यानित्यात्मक है । कारणोंका स्वभाव प्रतिनियत कार्योंको ही उत्पन्न करना है । घटादिके उत्पन्न करनेवाले कारण हैं इसलिए उनकी उत्पत्ति होती है । गधेके सींग जैसे असम्भव कार्योंको उत्पन्न करनेवाले कारण नहीं हैं इसलिए उनकी उत्पत्ति नहीं होती । तथा भाव और अभावमें कोई विरोध नहीं है, रूप रस आदिकी तरह एक वस्तुमें दोनो एककालमें रहते हैं । जो वस्तु सत् है वह अपनेसे भिन्न वस्तुकी अपेक्षा असत् है या नहीं ? यदि है तो भाव अभावमें विरोध नहीं रहा । और यदि कहोगे कि नहीं है तो वह वस्तु सर्वात्मक ही जायेगी; क्योंकि उसमें किसी

नित्यवैकल्यात्वात् इति । एवं नु तथा तत्त्वमद्वा परावृत्तये नित्यमेवेति मिथ्यात्वम् । (तथा अणिकमेव सर्वं कथं कार्यकारि, यद्वस्तु सर्वथा सामर्थ्यविरहीदभावलक्षणं) कार्यकारिता न न नित्यस्य । कथं तद्वि नित्यं स्वसं प्राप्तं क्षीयं वा कुर्वानुत्पन्नमेव वा ? न तावत्क्रमेण कार्यत्वकामस्य कारणस्वभावसामिन्ध्यात्मानपराधीनत्वात् । सर्वं कार्यवानुत्पत्तिहेतुतां सामर्थ्यात्वात् प्रथा सामिन्ध्यात्वात् कुतः कार्यतां क्रमः । समर्थहेतुभावेऽप्यत्रानेव न तास्य कथं स्यात् । यथा सर्वमिदं विदुः यद्यदीजेऽनुपचायमानस्य शार्प्यकुरस्य न यद्यदीजकार्यता । युगात्करोति कैः द्वितीयोऽथो अर्णोऽकिञ्चित्करता स्थान्म न तथा वृष्यते । इत्थं नित्यवस्तुलक्षणस्य कार्यकारित्वस्याभावात्, अनित्ये सङ्क्रामात् अणिकमेवेत्यप्यवसायो मिथ्यात्वमेव । तस्य जय उप्यते—सत्थं सर्वथा नित्ये वस्तुलक्षणे नास्त्युक्तया नीत्या नित्याऽनित्यात्मके तु संभविनी कार्यकारिता । एकान्तेन अणिकतैव वस्तुनो यदि कथं कार्यकारिता नास्ति । एकस्य वस्तुन एकमेव कथं नापरमिति प्रतिज्ञानात् । एवमन्यत्रापि योष्यै एकान्तमिथ्यात्वत्वचः । संशयमिथ्यात्वैकवस्तुस्वरूपान्वयवधारणात्मकं तस्य जयः कथंचिन्मित्यानित्यात्मकाः सर्वे भावा इति ज्ञानमया । विपर्ययमिथ्यात्वं हिंसाया दुर्भतिवसितन्याः स्वर्णविद्येहेतुतावसितिज्ञानम्, अहिंसायाश्च प्रत्ययापहेतु-

वस्तुका अभाव नहीं है । अभाव भावसे भिन्न नहीं है । किन्तु भावका ही रूपान्तर अभाव है । अतः एकान्तनित्यवाद अयुक्त है । इस प्रकारकी तत्त्वभ्रष्टासे 'नित्य ही है' यह मिथ्यात्व हट जाता है ।

तथा सब क्षणिक भी कैसे कार्यकारी है ? वस्तुमें सब सामर्थ्यका अभाव तो अभावका लक्षण है इसपर बौद्ध कहता है—

नित्यपदार्थ कार्यकारी नहीं है । वह नित्यपदार्थ अपना कार्य क्रमसे करता है अथवा एकसाथ करता है ? क्रमसे तो कार्य कर नहीं सकता क्योंकि कार्यकी उत्पत्ति कारण स्वभावमात्रके अधीन है । जब नित्यपदार्थमें सब कार्योंको उत्पन्न करनेकी शक्तियाँ सदा वर्तमान हैं तब कार्य क्रमसे कैसे हो सकते हैं ? समर्थकारणके रहते हुए भी यदि कार्य नहीं होता तो उसे उस कारणका कार्य नहीं माना जा सकता । जैसे जी बीजके रहते हुए भी उससे धानका अंकुर नहीं उगता । अतः धानका अंकुर जीबीजका कार्य नहीं होता । यदि कहोगे कि नित्य एकसाथ सब कार्योंको उत्पन्न करता है तो दूसरे आदि अर्णोंमें वह नित्यपदार्थ अकिञ्चित्कर हो जायेगा; क्योंकि सब कार्य पहले क्षणमें ही उत्पन्न हो जानेसे दूसरे क्षणमें उसे करनेके लिए कोई कार्य शेष नहीं रहेगा । किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता । इस प्रकार नित्यवस्तुमें वस्तुका लक्षण कार्यकारीपना नहीं बनता । अतः अनित्यमें कार्यकारीपना होनेसे सब क्षणिक ही हैं । जैन कहते हैं—इस प्रकार निश्चय करना भी मिथ्यात्व ही है । अब उस मिथ्यात्वको जीतनेका उपाय कहते हैं—

यह सत्य है कि उक्तनीतिके अनुसार सर्वथा नित्यवस्तुमें कार्यकारिता नहीं है किन्तु नित्यानित्यात्मकवस्तुमें कार्यकारिता है । यदि वस्तुका स्वरूप सर्वथा अणिकता है तो उसमें कार्यकारीपना नहीं है । क्योंकि आपने एकवस्तुका एक ही रूप माना है दूसरा नहीं माना । इसी प्रकार अन्यत्र भी एकान्तमिथ्यात्वको जीतनेकी योजना करनी चाहिए ।

वस्तुके स्वरूपका कुछ भी निश्चय न करना संशयमिथ्यात्व है । सब पदार्थ कथंचित् नित्यानित्यात्मक हैं इस भावनासे उसको जीतना चाहिए । दुर्भतिमें से जानेवाली हिंसाको

तेषु एतस्य अक्षः । परोक्षस्योपायोपेयभावस्य अप्रत्यक्षत्वात् । अनुमानस्य च प्रत्यक्षपृष्ठभाविनस्तत्रावृत्तेः । आगमः सर्वज्ञेन निरस्तारागद्वेषेण प्रणीतः उपेयोपायतत्त्वस्य स्थापक आश्रयणीयः । कपिलादीनामसर्वज्ञत्वान्न तत्प्रतीत आश्रयमोऽवृष्टप्रतिपत्तावुपायः । तत्सर्वज्ञता दृष्टेष्टप्रमाणविरुद्धवचनतया रम्यापुण्यवत् । नित्यस्तु न शब्दो विद्यते । यदि स्यात्सर्वज्ञस्य नित्यतया पृथक्बोधानुपलब्धतस्तीति प्रामाण्यं भवेत् ततो जिनागमेन हिंसाना दुःखहेतुत्वप्रतः, तैर्विपर्ययमिध्यात्वप्रसिद्धिः, तस्य जय अविपरीतज्ञानेन । 'आराधनात्पञ्च' आराधनापताका । 'हरवि' मूक्यति । 'सुखचाररंगम्बि' शोभनामंस्तररंगे उद्गमादिवे, बोधानुपहृता शोभनता ॥

चिरमभावितरत्नत्रयाणामतर्मुहूर्तकालभावमाना सिद्धिरित्यते तत्किं चिरभावनवैत्यस्योत्तरमाशब्दे—

पुण्यमभाविद्जोगो आराधेज्ज मरणे यदि वि कोई ।

सुखणुगदिदृष्टो सो तं सु पमाणं ण सम्बत्थ ॥२४॥

'पुण्यं' पूर्व मरणकालात् । 'अभावितजोगो' अभावितपरिकरः । 'आराधेज्ज' आराधयेत् । किं मरणं रत्नत्रयानुगतमवपर्यायप्रलयं । 'अवि वि' यद्यपि । 'कोई' कश्चित् । 'सुखणुगदिदृष्टो' स्थाणुदृष्टान्तः । 'सो' सः । 'तं' तु त्वेव । अह्नुत्, परिकरस्य कस्यचिद्वत्त्वव्यसमापन्न । 'सम्बत्थ' सर्वत्र । 'ण यमाणं न पमाणं । अविश्यामन्न वाच्यम् ॥२४॥

एवं पीठिका समाप्ता ॥

स्वर्गादिका हेतु मानना और अहिंसाको दुर्गंतिका कारण मानना विपर्ययमिध्यात्व है । इसकी अथका उपाय कहते हैं—

उपायपना और उपेयपना परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं है । प्रत्यक्षके पीछे होनेवाला अनुमान भी उन्हें नहीं जान सकता । रागद्वेषसे रहित सर्वज्ञके द्वारा कहा गया आगम ही उपाय और उपेयभावको बतलाता है उसीका आश्रय लेना चाहिए । कपिल आदि सर्वज्ञ नहीं थे । अतः उनके द्वारा कहा गया आगम अदृष्टको जाननेका उपाय नहीं है । कपिलादिके वचन सबकुपर घूमते आदमीकी तरह प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे विरुद्ध है अतः वे सर्वज्ञ नहीं हैं । तथा यह कहना कि वेद नित्य है ठीक नहीं है क्योंकि शब्द नित्य नहीं होता । यदि शब्द नित्य हो तो सभी शब्दोंके नित्य होनेसे पुरुषोंके दोष उसमें नहीं प्रवेश कर सकते अतः सभी शब्द प्रमाण मानने होंगे । अतः जिनागमसे प्रसिद्ध है कि हिंसा दुःखका कारण है अतः उसे सुखका कारण मानना विपर्ययमिध्यात्व है । अविपरीत सच्चे ज्ञानसे उसको जीता जाता है ॥२३॥

यहाँ कोई शक्य करता है कि जिन्होंने चिरकाल तक रत्नत्रयकी भावना नहीं भायी है, केवल अन्तर्मुहूर्तकालतक ही रत्नत्रयकी आराधना की है, उनकी भी मुक्ति मानी जाती है तब आप चिरकाल भावनाकी बात कैसे करते हैं, इसका उत्तर देते हैं—

श्री०—मरण समयसे पहले ध्यानके परिकरका अभ्यास न करनेवाला यद्यपि कोई मरते समय आराधना करे तो वह स्थाणुदृष्टान्मात्र है । सर्वत्र (पमाणं ण) प्रमाण नहीं है ॥२४॥

टी०—जैसे यदि किसीको किसी दूँठमेंसे अज्ञानक धनका लाभ हो जायें तो उसे सर्वत्र प्रमाण नहीं माना जाता । उसी तरह यदि किसीने मरनेसे पूर्व रत्नत्रयका अभ्यास नहीं किया और कदाचित् मरते समय किया और उसे सिद्धि प्राप्त हो गई तो उसे सर्वत्र प्रमाणके रूपमें स्वीकार नहीं किया जा सकता ॥२४॥

इस प्रकार पीठिका समाप्त हुई ॥

मरणानि सत्तरसं देसिदाणि तित्त्वंकरेहिं जिणवयणे ॥
तस्य वि य पंच इह संगहेण मरणानि वोच्छामि ॥२५॥

मरणान्येकप्रकारानि इति शास्त्रान्तरे निश्चिदानि । तेष्विह निरूप्यामीमानीति निरूपयितु इवमुत्तरं सुखं मरणाधीति । मरणं विगमो विनाशः विपरिणाम इत्येकोऽर्थः । तच्छ मरणं जीवितपूर्वम् । जीवितं स्थितिरविनाशोऽवस्थितिरिति यावत् । स्थितिपूर्वको विनाशः । यदवस्थितं तन्न विनश्यति यथा ब्रह्म्यासुतः । तथा च स्थितिरहितं वस्तु अणिकवादिनिरूप्यं जीवितं जन्मपुरीषं अनुत्पन्नस्य स्थित्यभावात् । तत उत्पत्तिविगमो प्रीष्यं च सर्वेषां रूपाणि । अस्या च प्रक्रियायां मरणं नामोत्पन्नपर्यायविनाशः । देवत्वं, तिर्यकत्वं, नारकत्वं, मनुष्यत्वं, इत्यमीषां पर्यायाणां प्रपञ्चं इह मरणसम्बन्धव्यः । अथवा प्राणपरित्यागो मरणं । तथा चाण्डालादिभ्यश्च प्राणत्यागे इति । एवमेव प्राणग्रहणं जन्म, प्राणानां धारणं जीवितं । प्राणा द्विविधा इष्यप्राणा भावप्राणाश्च । तत्र इष्यप्राणा इन्द्रियाणि, बलं, उच्छ्वास, आयुरित्येताणि पुद्गलद्रव्याणि । भावप्राणा ज्ञानवर्धनचारित्र्याणि । एतत्प्राणवैश्या सिद्धानां जीवितं । तत्रायुर्द्विभेदं अद्यायुर्भवायुरिति च । भवधारणं भवायुर्भवः शरीरं तच्छ भ्रियते आत्मना आयुष्कोदयेन । ततो भवधारणमायुष्कार्यं कर्म तदेव भवायुरित्युच्यते । तथा बोद्धव्यं—

देहो भवोति बुद्धानि चारिणश्च जाड्येण च भवो सो ।

तो बुद्धानि भवधारणमाजकम्भं भवाजति ॥ []

गा०—जिनागममें तीर्थक्षूरोंने मरण सत्तरहं कहे हैं । उन सत्तरहं प्रकारके मरणोंमेंसे भी यहाँ (संगहेण) सक्षेपसे पाँच मरणोंको कहूँगा ॥२५॥

ही०—मरण अनेक प्रकारके हैं ऐसा अन्य शास्त्रोंमें कहा है । उनमेंसे यहाँ इन मरणोंको कहना है यह बतलानेके लिए यह गाथासूत्र आया है । मरण, विगम, विनाश, विपरिणाम इन सब शब्दोंका अर्थ एक है । वह मरण जीवनपूर्वक होता है । जीवन, स्थिति, अविनाश, अवस्थिति ये सब एकार्थक हैं । स्थितिपूर्वक विनाश होता है । जिसकी स्थिति नहीं है उसका विनाश नहीं है जैसे बौद्धका पुत्र नहीं होता तो उसका विनाश भी नहीं होता । अणिकवादी बौद्धोंने जिस वस्तुको कहा है उसकी स्थिति नहीं है अर्थात् वह वस्तु ही नहीं है । जीवन जन्मपूर्वक होता है । जो उत्पन्न नहीं हुआ उसकी स्थिति नहीं है । इसीलिए प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति, विनाश और प्रीष्यरूपको लिए हुए है । इस प्रक्रियाके अनुसार उत्पन्न हुई पर्यायके विनाशका नाम मरण है । देवपना, तिर्यकपना, नारकपना और मनुष्यपना इन पर्यायोंका विनाश यहाँ मरणशब्दसे लिया है । अथवा प्राण छोड़नेका नाम मरण है । कहा भी है—‘मूढघातु’ प्राणत्यागके अर्थमें है । इसी तरह प्राणग्रहणको जन्म कहते हैं । प्राणोंको धारण करना जीवन है । प्राणोंके दो भेद हैं—द्रव्यप्राण और भावप्राण । इन्द्रिय पाँच, तीन बल, उच्छ्वास और आयु ये पुद्गलद्रव्य द्रव्यप्राण हैं । ज्ञान, वर्धन, चारित्र्य ये भावप्राण हैं । इन भावप्राणोंकी अपेक्षा सिद्धांमें जीवन होता है । उन प्राणोंमें आयुप्राणके दो भेद हैं—अद्यायु और भवायु । भवधारणको भवायु कहते हैं । भव शरीरको कहते हैं । आयुक्रमके उदयसे आत्मा भवधारण करता है । अतः आयुक्रम भवधारणरूप है उसे ही भवायु कहते हैं । कहा भी है—शरीरको भव कहते हैं । वह भव आयुक्रमके द्वारा धारण किया

इति आयुर्वेदेनैव जीवो जामले जन्मति च आयुष एवोवपेन । अग्यास्यायुष उदये त्रितं मृतिर्नृपैति पूर्वस्य चायुष्कस्य विनाशे ।

तथा चोक्तम्—

आत्मवशेष जीवो जायति जीवति च आत्मवस्तुवशे ।

अग्यात्मोवशे वा मरति च पुन्यात्मवशे वा ॥' इति ॥ []

अज्ञातशब्देन काल उच्यते, आत्मवशब्देन इत्यस्य स्थितिः । तेन इत्याणां स्थितिकालः अज्ञायुरित्युच्यते । 'इत्याद्यपिज्ञया इत्याणामनाद्यनिघनं भवत्यज्ञायुः । पर्यायाद्यपिज्ञया चतुर्विधं भवत्यनाद्यनिघनं, साध्यनिघनं सन्निघनमनादि, सादिसनिघनमिति । चैतन्यरूपादिमत्त्वगतिस्थितिहेतुतादिसामान्यापेक्षया अनाद्यनिघना स्थितिः । केवलज्ञानाधिकाना साद्यनिघनता । भव्यत्वस्य अनादिसनिघनता । सादिसनिघनता कौपादीनाम् । अथवा इत्य-क्षेपकालभावानाद्यिष्य चतुर्विधा भवति स्थितिः । एतस्याज्ञायुषो वशेन भवधारणायुषो निरूपणा प्रवति । आयुः-संज्ञिताना कर्मणां पुद्गलद्रव्यतया आयु-स्थितेन इत्यस्थिते रत्यगताम्यथात्वं । अथवा अनुभूयमानायुःसंज्ञकपुद्गल-गमनं मरणं । तानि मरणानि 'सत्तरस' 'स्यत्तस' । 'वैसिवाग्नि' 'कचित्तानि' । 'सित्त्वंकरेहि' तीर्थकरैः । 'विष-वधने' जिनानां वधने । ननु तीर्थकरैस्तानि इत्यनेनैव गत किं जिनवचनग्रहणेन ? नैव दोष जिनशब्देन मणधरा जाता है । इसलिए भवधारणमें कारण आयुर्कर्मको भवायु कहते हैं ।

इस प्रकार आयुके वशसे ही जीव जन्म लेता है और आयुके उदयसे ही जीवित रहता है । पूर्व आयुका विनाश और आगेकी अन्य आयुका उदय होनेपर मरण होता है ।

कहा है—आयुके वशसे जीव जन्म लेता है । आयुके उदयमें जीवित रहता है । अन्य आयुका उदय होनेपर अथवा पूर्वआयुका नाश होनेपर मरता है ।

अज्ञातशब्दे काल कहा जाता है और आयुशब्दसे इत्युकी स्थिति । अतः इत्युके स्थिति-कालको अज्ञायु कहते हैं । इत्याधिकनयकी अपेक्षा इत्युकी अज्ञायु अनादिनिघन है । और पर्यायाधिककी अपेक्षा चार प्रकार की है—अनादिनिघन, सादिनिघन, अनादिसान्त और सादि-सान्त । चैतन्य, रूपादिमत्ता, गतिहेतुता, स्थितिहेतुता आदि सामान्यकी अपेक्षा इत्युकी स्थिति अनादि निघन है अर्थात् जीवादिद्वयुका अपना-अपना स्वभाव सदासे है और सदा रहेगा अतः वे सब इस दृष्टिसे अनादिअनन्त हैं । केवलज्ञान आदिकी अज्ञायु सादिनिघन है क्योंकि वह प्रकट होकर नष्ट नहीं होता । भव्यत्वकी अज्ञायु अनादिसनिघन (सान्त) है क्योंकि भव्यत्व भाव यद्यपि अनादि होता है किन्तु मुक्त होनेपर नष्ट हो जाता है । कोप आदि सादि सनिघन हैं !

अथवा इत्य, क्षेत्र, काल और भावके आश्रयसे स्थिति चार प्रकारकी होती है । इस अज्ञायुके द्वारा भवधारणरूप आयुका कथन होता है । जिन कर्मोंकी आयुसंज्ञा होती है वे कर्म-पुद्गलद्रव्यरूप होनेसे आयुस्थिति इत्युस्थितिसे अत्यन्त भिन्न नहीं है । अथवा जो आयु संज्ञावाले पुद्गल उदयमें आ रहे हैं उनके गल जानेको मरण कहते हैं । वे मरण जिनवचनमें तीर्थंकरोंने सतरहू कहे हैं ।

सञ्ज्ञा—तीर्थंकरोंने कहे हैं इतना ही कहना पर्याप्त है, जिनवचनके कहनेकी क्या आवश्यकता है ?

उच्यते । अन्तरेण चशब्दं समुच्चयार्थवतिः । तत्रार्थं संबन्धः—जिनवचने च किं? तदन्तरमरणम् । एतेन तीर्थ-
कृतौ मणवराश्व मरणविकल्पानुपादितवन्तः । तदुभयवचनसिद्धं प्रमाणमधिकशुद्धीयमित्येतावच्छेदः । आबीचि-
मरणं १. तद्भवमरणं ३. अवधिमरणं ४. आदिर्भसायं ५. बालमरणं ६. पंडितमरणं ७. आसन्नमरणं ८.
बालपंडितं ९. ससल्लमरणं १०. बलायमरणं ११. वसट्टमरणं १२. विष्णोपसमरणं १३. गिद्धपुट्टमरणं १४.
मत्तपचचक्षणां १५. पाउवगममरणं १६. इंगिणीमरणं १७. केवलमरणं चेति । एतेषां स्वरूपता वचापमं
संक्षेपतो निरूप्यते ॥

बीचिशब्दस्तरंगानिधायी इह तु बीचिरिव बीचिरिति आयुष उदये वर्तते । यथा समुद्रादी बीचयो
नैरन्तर्येणोद्भवच्छन्ति एवं क्रमेण आयुष्काश्वं कर्म अनुसमयमुदेति इति तदुदय आबीचिश्चन्द्रेण भव्यते । आयुषः
अनुभवमं बीचिरं, तच्च प्रतिसमयं बीचितमगम्य मरणं । अतो मरणमपि अत्र आबीचि, उदयावन्तरसमये
मरणमपि वर्तते इति । तत्पुनराबीचिकामरणं अनादिसनिधनं भव्यानाम् । ननु च सिद्धाणामेव मरणं विच्छिन्न-
मुपायानि नेतरां तेषु च न भव्याः । भविष्यत्सिद्धत्वपर्याया हि भव्याः । सिद्धास्तस्वसिद्धत्वपर्यायास्ततः
किमुच्यते भव्याणामनादिसनिधनवति । 'भविष्यात्त्वपर्यायिभं मरणं आबीचिभं लज्जवचं च' इति वदेवापिगण-
भव्यत्वपर्यायं इत्थं तदेवेदमिति कृत्वा भव्यानामित्युक्तं इति नियतम् । अत्रभव्यानां पुनश्चयं प्रति सामान्या-

समाधानम्—इसमें कोई दोष नहीं है । यहाँ जिनशब्दसे गणघर कहे गये हैं । 'च' शब्दके
विना भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान होता है । अतः ऐसा सम्बन्ध लेना और जिनवचनमें सतरह
मरण कहे हैं । इससे यह बोध होता है कि तीर्थक्षुरों और गणघरोंने मरणके भेद कहे हैं । अतः
उन दोनोंके बचनोंसे सिद्ध होनेसे प्रमाण है उसमें किसी प्रकार शङ्का नहीं करना चाहिए । वे
हैं—१. आबीचिमरण, २. तद्भवमरण, ३. अवधिमरण, ४. आदि अन्तमरण, ५. बालमरण,
६. पंडितमरण, ७. आसन्नमरण, ८. बालपंडितमरण, ९. ससल्लमरण, १०. बलायमरण, ११.
वसट्टमरण, १२. विष्णोपसमरण, १३. गिद्धपुट्टमरण, १४. भक्तप्रत्याख्यानमरण, १५. प्रायोपगमन
मरण, १६. इंगिणीमरण और १७. केवलीमरण । उनका स्वरूप आगमके अनुसार संक्षेपसे कहते
हैं—बीचिशब्द तरंगको कहता है । किन्तु यहाँ 'बीचिके समान ऐसा अर्थ करनेसे बीचिका अर्थ-
आयुका उदय है । जैसे समुद्र वगैरहमें तरंगे निरन्तर उठा करती हैं उसी प्रकार क्रमसे आयु-
नामक कर्म प्रतिसमय उदयमें आता है इसलिए उसके उदयको आबीचि शब्दसे कहा है । आयुके
अनुभवनको जीवन कहते हैं । वह प्रतिसमय होता है । उसका भंग मरण है । अतः जीवनकी तरह
मरण भी आबीचि ही क्योंकि आयुका उदय प्रतिसमय होता है अतः प्रत्येक अनन्तर समयमें
मरण भी होता है । उसी प्रति समय होनेवाले मरणको आबीचिमरण कहते हैं । वह भव्यबीचिके
अनादिसान्त है ।

शङ्का—सिद्धोंके ही मरणका अन्त होता है, दूसरोंके नहीं । किन्तु सिद्ध भव्य नहीं हैं ।
जिनकी भविष्यमें सिद्धपर्याय होनेवाली हैं उन्हें भव्य कहते हैं । सिद्ध तो सिद्धपर्याय प्राप्तकर चुके
हैं । तब कैसे कहते हैं कि भव्यबीचिको मरण अनादिसान्त है ?

समाधानम्—ऐसा कहा है कि भव्योंका आबीचिमरण अनादि और सान्त है । अतः जो
इत्थं भव्यत्वपर्यायको प्राप्त था वही यह है ऐसा मानकर भव्योंके अनादिसान्त मरण कहा है
ऐसा निश्चित है । अत्रभव्यबीचिके सामान्य अपेक्षासे आयुका उदय बराबर रहता है अतः उनका
आबीचिमरण अनादिनिधन है । किन्तु भवकी अपेक्षा और क्षेत्रादिकी अपेक्षा सादि है । चार

प्रेमाशास्त्रीयिकमनादिविवनं । भवावेक्या लोभाद्येक्या च साविकं । चतुर्नायुष्काणा मये द्वयोर्बन्धु सत्क-
र्मता स्वार्थं एकमेवायुच उदयः । द्वयोः प्रकृत्योः सत्कर्मता सह भवति । उच्यते—तिर्यङ्मनुष्यायुष्कयोः सर्वैरा-
युष्कैः सह सत्कर्मता देवमारकायुष्कयोस्तिर्यङ्मानवायुष्कान्मां सत्कर्मता । यद्यत्तु नामैषां सत्कर्मव्यवस्था । द्वयो-
रायुष्कप्रकृत्योः किं सद्युनपशुदयः ? अथोच्यते—अनुपुन्यमानप्रकृतिस्वित्तीनामायुष इतरस्यायुषो निवेगो वदस्ततो
न युनपवायुषः प्रकृत्योस्त्वयः । किं च यस्मादेकस्य जीवस्य द्वयोर्बन्धयोर्बन्धोर्वा न संभवः । अयं गति च प्रयोष्य
अपेक्ष्य आयुच उदयो नाम्बधा ततो नायुचद्वयोस्त्वयः । एवमेकस्यायुष्कर्मणः एकैव प्रकृतिस्त्वैकेक्यात्मनस्त-
स्यादेकैकायुष्कप्रकृतिगलनरूपामेव मृतिमुपैति । तदैतत्प्रकृतिमरणं कालमेवेन एकस्यापि चतुर्विधं भवति तथा
जीविकमेव । एवं प्रकृत्याजीविकमरणं व्याख्यातम् । द्वितीयं स्वित्वाजीविकमरणं ।

भवधारणकारणत्वपरिणतानां पुद्गलानां स्नेहाद्यात्मप्रवेशेभ्यस्त्वित्तिरित्युच्यते । आत्मनः कषायपरि-
णामः सहकारी पुद्गलानां स्निग्धतायाः परिणामिकारणं तु तत्रैव पुद्गलद्रव्यं । सा चैषा स्वित्तिरेकाधिको-
त्तरा दोषो न भवति स्निग्धत्वापरोपमानां यावन्तः समयास्तावद्भेदा उत्कर्षस्थितिः । अंतर्मुहूर्तमभा वरा । तस्या
जीव्य इव क्रमेणत्वस्थितायाः विनाशाद्यात्मनो भवति स्वित्वाजीविकमरणं ।

आयुक्रमोमेसे यद्यपि एकजीवके दो ही आयुक्रमोंकी सत्ता रहती है (एकं जिसे भोगता है और
दूसरी जिसे परभवके लिए बाँधा है) । तथापि उदय एक ही आयुका होता है । दो प्रकृतिबाँ
सत्तामें एकसाथ रह सकती है । बही कहते हैं—तिर्यङ्मायु और मनुष्यायु सब आयुओंके साथ
सत्तामें रहती है अर्थात् देवामु और नरकायु दूसरी देवामु और नरकायुके साथ सत्तामें नहीं
रहती; क्योंकि देव मरकर देव या नारकी नहीं हो सकता और न नारकी मरकर नारकी या
देव होता है ।

झुंझा—आयुक्रमोंकी यह सत्कर्मव्यवस्था रही, किन्तु दो आयुक्रमोंका एकसाथ उदय
क्यों नहीं होता ?

समाधान—आयुक्रमोंकी जिस प्रकृतिकी स्थिति अनुभवमें आ रही है और जिस आयुकी
स्थितिका उदय हो रहा है उसकी स्थिति जहाँ समाप्त होती है उससे ऊपर दूसरी आयुके निष्क
रहते हैं । अतः जबतक पहली आयुकी स्थिति समाप्त नहीं होती तबतक दूसरी उदयमें आ नहीं
सकती । इसलिए एकसाथ आयुकी दो प्रकृतियोंका उदय नहीं होता । तथा एक जीवके एकसाथ
दो भव या दो गति सम्भव नहीं है । और भव तथा गतिको लेकर उसके अनुसार आयुका उदय
होता है, अन्यथा नहीं होता, इसलिए भी दो आयुका उदय एकजीवके नहीं होता । इस प्रकार
एक आयुक्रमोंकी एक ही प्रकृति एकजीवके उदयमें आती है अतः एक-एक आयुक्रमोंके गलनरूप
ही मरण होता है । यह प्रकृतिमरण कालमेदसे एक भी जीवके चार प्रकारका होता है । वह
आजीविकमरण ही है । इस प्रकार प्रकृति आजीविकमरणका व्याख्यान किया ।

दूसरा स्थिति आजीविकमरण है । भवधारणमें कारणरूपसे परिणत हुए पुद्गलोंके स्नेह-
वशा आत्माके प्रदेशोंमें उदरनेको स्थिति कहते हैं । आत्माका कषायरूप परिणाम पुद्गलोंकी
स्निग्धताका सहकारी होता है । परिणामी कारण तो स्वयं पुद्गलद्रव्य ही है । यह स्थिति एक
समयसे लेकर एक-एक समय बढ़ते-बढ़ते कुछ कम तेरीस सागरोंके जितने समय है उतने जेह-
वालों होती है । यह उत्कृष्ट स्थिति है । जन्मस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है । तर्पणके
समान क्रमसे अवस्थित उंस स्थितिके विनाशसे आत्माके स्थिति आजीविकमरण होता है ।

प्रधान्तराप्रतिप्रसङ्गरीयानुपूर्वव्यवस्थामनं तद्व्यवहारम् । तत्प्रत्ययस्यः प्राप्तं बीजैवेति तात्पर्यं तेन तद्व्यवहारम् न दुर्लभम् ।

अनुभवआबीचमरणमनुष्णते—कर्मपुद्गलानां रसः अनुभव इत्युष्णते, स च परमाणुनु बोद्धा बुद्धिहानिक्रमेण वीचय इव क्रमेणानुष्णते प्रकृत्यानुभवआबीचमरणम् ।

आयुसंज्ञितानां पुद्गलानां प्रवेशा जघन्यनियेकाधारस्य एकाधिकबुद्धिक्रमेणानुष्णतेवीचय इव तेषां मूलम् प्रवेशआबीचमरणम् ।

अवधिभरणम् नाम कथ्यते—यो आयुर्धं भरणम् सांप्रतमुपैति तावन्मेव यदि भरणम् भविष्यति तववधिभरणम् । तादृशविधं देशावधिभरणम् सर्वावधिभरणम् इति ।

तत्र सर्वावधिभरणम् नाम वद्यानुपूर्वप्राप्तमुपैति सांप्रतं प्रकृतित्पित्तानुभवप्रवेशीस्तथानुपूर्वमेवामुः प्रकृत्याविविधित्वं पुनर्भाति उच्यति च यदि तत्सर्वावधिभरणम् ।

यत्सांप्रतमुपैत्यानुपूर्वप्राप्तं तथानुत्पन्नमेव यन्भाति वेद्यतो यदि तद्देशावधिभरणम् । एतदुक्तं भवति वेद्यतः सर्वतो वा सायुष्येनावधिभरणेन विद्येति भरणमवधिभरणमिति । सांप्रतेन भरणेनासायुष्यभाति यदि भरणमावधिभरणम् उच्यते, आविद्यत्वेन सांप्रतं प्राथमिकं भरणमुच्यते तस्य अतो विनाशभावो यत्किन्नुत्तरमरणे तदेतदावधिभरणम् भविषीत्यते । प्रकृतित्पित्तानुभवप्रवेशीयानुत्पत्तिः सांप्रतमुपैति मृति तथानुत्पत्ता यदि सर्वतो वेद्यतो वा नोपैति तदावधिभरणम् ।

बालभरणमुष्णते—बालस्य भरणं बालभरणम्, स च बालः पञ्चप्रकारः जघन्यकालः व्यवहारबालः,

भवान्तर प्राप्तिपूर्वकं उसके अनन्तर पूर्ववर्ती भवका विनाश तद्व्यवहारण है । वह तो इस बीजने अनन्तवार प्राप्त किया है । अतः तद्व्यवहारण दुर्लभ नहीं है ।

अनुभव आबीचमरण कहते हैं—कर्मपुद्गलोंके रसको अनुभव कहते हैं । वह अनुभव परमाणुओंमें छह प्रकारकी बुद्धि हानिके रूपसे तरंगोंकी तरह क्रमसे अवस्थित है । उसका विनाश अनुभव आबीचमरण है । आयुसंज्ञावाले पुद्गलोंके प्रदेश जघन्य नियेकसे लेकर एक आदि बुद्धिके क्रमसे तरंगोंकी तरह अवस्थित है उनके गलनेको प्रदेश आबीचकामरण कहते हैं ।

अवधिभरणको कहते हैं—जो वर्तमानमें जैसा भरण प्राप्त करता है यदि वैसा ही भरण होगा तो उसे अवधिभरण कहते हैं । उसके दो नेव हैं—देशावधिभरण और सर्वावधिभरण । वर्तमानमें जो आयु जैसे प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रवेशोंको लेकर उदयमें आ रही है वैसी ही प्रकृति आदिको लिए हुए यदि पुनः आयुबन्ध करता है और उसी प्रकार भविष्यमें उसका उदय होता है तो उसे सर्वावधिभरण कहते हैं । और वर्तमानमें जैसा आयुका उदय होता है वैसा ही यदि एक देश बन्ध करता है वह देशावधिभरण है । इसका अभिप्राय यह है एक देशसे अथवा सर्वदेशसे सर्वादाको लिए हुए साध्यसे विशिष्ट भरणको अवधिभरण कहते हैं । वर्तमानभरणसे यदि आवधिभरण असम्भान होता है तो उसे आद्यन्तभरण कहते हैं । यहाँ आवि सन्धसे वर्तमानका प्राथमिकभरण कहा जाता है । उसका अन्त अर्थात् विनाश जिस उत्तरभरणमें होता है उसे आद्यन्तभरण कहते हैं । वर्तमानमें जिस प्रकारके प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश द्वारा भरणको प्राप्त होता है यदि एकदेश या सर्वदेशसे उस प्रकारके भरणको प्राप्त नहीं होता तो वह आद्यन्तभरण है ।

बालभरणको कहते हैं—बालके भरणको बालभरण कहते हैं । वह बाल पांच प्रकारका

ज्ञानबालः, दर्शनबालः, चारित्रबाल इति । अव्यक्तः शिशुः वर्णार्थकालकावधि यो न वेति न च तदाचरण-
द्वयवर्धपरिः सोऽव्यक्तबालः । लोकनेदसमयव्यवहाररूपो न वेति शिशुवर्षी व्यवहारबालः । मिथ्यामूर्च्छः
'अर्थवैतत्यव्यवहाररहितः' दर्शनबालः । वस्तुवाचात्म्यब्राह्मणमनुया ज्ञानबालः । अचारिणः प्रायशुतवचारिण-
बालः । एतेषां बालानां मरणं बालमरणं । एतानि च अतीते काले अनन्तानि । अनन्ताद्य मृतिमिमां प्रपद्यते ।
इह दर्शनबालो बहूतः नेतरे बालाः कथं ? अस्मात्सम्यग्मूर्च्छेरितरबालस्ये सत्यपि दर्शनपंडिततायाः सद्वाचा-
त्पंडितमरणमेवेत्यते ।

दर्शनबालस्य पुनः संक्षेपतो द्विविधं मरणं । इच्छया प्रवृत्तमनिच्छयेति च । तयोराद्यमग्निना धुनेन,
क्षत्रेण, विषेण, उक्केन, मस्तप्रपातेन, उच्छ्वासनिरोधेन, अतिशीतोष्णपातेन, रज्ज्वा, क्षुधा, तृषा, जिह्वोत्पाट-
नेन, विरुद्धाहारलेचनया च बाला मृतिं ङ्कन्ते, कुतश्चिन्मिसाज्जीवितपरित्यागेपिच। काके अकाके वा अभ्य-
वसानादिना यस्मिन् जिजीविषोः तद्द्वितीयम् । एतैर्बालमरणैर्दुर्गतिवामिनो भ्रियन्ते विषयव्यासक्तशुद्धवः
अज्ञानपटलावर्जिताः, ऋद्धिरससासुगुक्ताः । बहुतीव्रपापकर्मिणश्चाराण्येतामि बालमरणानि जातिज्वरमरणव्य-
सनापादनक्षयाणि ॥

पंडितमरणमुच्यते—व्यवहारपंडितः, सम्यक्त्वपंडितः, ज्ञानपंडितप्रारिप्रपंडितः इति त्वत्वारो विकल्पाः ।
लोकनेदसमयव्यवहारनिपुणो व्यवहारपंडितः अथवाज्ञेकशास्त्रज्ञः सुबुधाविद्विगुणसमन्वितः व्यवहारपंडितः,

है—अव्यक्तबाल, व्यवहारबाल, ज्ञानबाल, दर्शनबाल, चारित्रबाल । अव्यक्त छोटे बच्चेको कहते
हैं । जो धर्म, अर्थ और कामको नहीं जानता और न जिसका शरीर ही उनका आचरण करनेमें
समर्थ है वह अव्यक्तबाल है । जो लोक, वेद और समय सम्बन्धी व्यवहारोंको नहीं जानता अथवा
इन विषयोंमें शिशु समान है वह व्यवहारबाल है । अर्थ और तत्त्वके श्रद्धानसे रहित सब मिथ्या-
दृष्टि दर्शनबाल हैं । वस्तुको यथार्थरूपसे ग्रहण करनेवाले ज्ञानसे जो हीन हैं वे ज्ञानबाल हैं ।
जो चारित्रपालन किये बिना जीते है वे चारित्रबाल हैं । इन बालोंके मरणको बालमरण कहते
हैं । अतीतकालमें ये बालमरण अनन्त हो चुके हैं । अनन्तजीव इस मरणको प्राप्त होते हैं ।
यहाँ इनमेसे दर्शनबालका ग्रहण किया है, अन्य बालोंका नहीं; क्योंकि सम्यग्दृष्टि में इतर बालपना
रहते हुए भी दर्शनपंडितपना रहता है इसलिए उसके पंडितमरण ही स्वीकार किया है ।

संक्षेपसे दर्शनबालका मरण दो प्रकार का है एक इच्छापूर्वक, दूसरा अनिच्छापूर्वक । आगसे,
धुएँसे, शस्त्रसे, विषसे, जलसे, पर्वतसे गिरनेसे, श्वासेके रुकनेसे, अति शीत या अति गर्मी पड़नेसे,
रस्तीसे, भूखसे, प्याससे, जीभ उखाड़नेसे और प्रकृति विरुद्ध आहारके सेवनसे बालपुत्र्य मरणको
प्राप्त होते हैं यह इच्छापूर्वक मरण हैं अर्थात् ऐसे उपाय स्वयं करके वे मरते हैं ।

किसी निमित्त वस जीवनेको त्यागनेकी इच्छा होने पर भी अन्तरंगमें जीनेकी इच्छा रहते
हुए काल या अकालमें अध्यवसान आदिसे जो मरण होता है वह अनिच्छापूर्वक दर्शनबाल मरण
है । जो दुर्गतिमें जानेवाले हैं, विषयोंमें अतिआसक्त हैं, अज्ञान पटलसे आच्छादित हैं, ऋद्धि,
रस और सुखके लालची हैं वे इन बालमरणोंमें मरण करते है । ये बालमरण बहुत तीव्र पाप-
कर्मोंके आस्रवके द्वार है, जन्म, जरा, मरणके दुःखोंको लानेवाले हैं ।

पंडितमरणको कहते है—इसके चार भेद हैं, व्यवहार पंडित, सम्यक्त्व पंडित, ज्ञान-
पंडित और चारित्र पंडित । जो लोक, वेद और समयके व्यवहारमें निपुण है वह व्यवहारपंडित

आत्मिकत्व कायीप्राप्तिकेनीप्राप्तिकेन वा सम्यग्दर्शनेन परिणतः दर्शनपंडितः । मत्वादिपंचप्रकारसम्यक्त्वानिषु परिणतः ज्ञानपंडितः । सामयिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धसूक्ष्मसांप्रदाययथाव्याप्ताचारित्र्येषु कस्मिंश्चित्प्रवृत्तत्वादिपरिणतः । इह पुनर्ज्ञानदर्शनचारित्र्यपंडितायां अधिकारः । व्यवहारपंडितस्य मिथ्यादृष्टेः बालमरणं क्लेशो भवति सम्यग्दृष्टेस्तदेव दर्शनपंडितमरणं भवति । तत्दर्शनपंडितमरणं नरके, भयनेषु, विनाशेषु, स्वीतिच्छेदेषु, बालमर्तरिषु, द्वीपसमुद्रेषु च । ज्ञानपंडितमरणानि च तेष्वेव । मनुष्यलोके एव केवलमनःपर्ययज्ञानपंडितमरणं भवति ।

ओसण्णमरणमुच्यते—निर्वाणमार्गप्रस्थितात्संबतसायाची हीनः प्रभूयतः सोऽभिधीयते ओसण्ण इति । तस्य वरुणं ओसण्णमरणमिति । ओसण्णइहमेव पाशर्वस्थाः, स्वच्छन्दाः, कुशीलाः संसक्तत्वात् न गृह्णन्ते । तथा चोत्तम् ॥

पारस्यो सच्छन्दी कुशील संसक्त होंति ओसण्णा ॥

अं सिद्धिपच्छिद्वान्यो ओहीणा सायु सत्पाद्यो ॥—[]

के पुनस्ते ? श्रद्धात्रियाः, रतेष्व्वासकाः, दुःखभीरवः सदा दुःखकातराः, कषायेषु परिणताः, सजाब-
क्षणाः, पापबुद्ध्याम्बासकारिणः, नबोवक्षविषातु क्रियास्वल्गताः, सदा सनिलदृष्टेस्तः, भक्तो उपकरणे च प्रति-
बद्धाः, निमित्तमनीषधयोपोपजीविनः गृहस्वर्भयानुत्पकराः, गुणहीना गुणितेषु समितिषु चानुद्धताः मंदसंज्ञेना
दशप्रकारे वर्ने अकृतबुद्धयः शबलचारिणाः ओसन्ना इत्युच्यन्ते । एवंभूताः संतो भूत्वा वराका भवसहस्रं नु

है । अथवा जो अनेक शास्त्रोंका ज्ञाता है, सेवा आदि बौद्धिक गुणोंसे युक्त है वह व्यवहारपण्डित है । आर्थिक, साधोपधामिक अथवा औपधामिक सम्यग्दर्शनसे जो युक्त है वह दर्शनपण्डित है । जो मति आदि पाँच प्रकारके सम्यग्ज्ञान रूपसे परिणत है वह ज्ञानपण्डित है । जो सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्प्रदाय और यथाव्याप्त चारित्र्यमेंसे किसी एक चारित्र्यका पालक है वह चारित्र्यपण्डित है । यहाँ ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य पण्डितोंका अधिकार है । व्यवहार-
पण्डित मिथ्यादृष्टि का तो बालमरण होता है और सम्यग्दृष्टिका मरण दर्शनपण्डित मरण है । वह दर्शनपण्डित मरण नरकमें खनवासी देवोंमें, वैमानिक देवोंमें, ज्योतिष्क देवोंमें, व्यन्तर देवोंमें और द्वीप समुद्रोंमें होता है । ज्ञानपण्डित मरण भी इन्हींमें होता है । किन्तु केवलज्ञान और मनः पर्यायज्ञान पण्डितमरण मनुष्य लोकमें ही होता है ।

ओसण्णमरणको कहते हैं—निर्वाण मार्गपर प्रस्थान करनेवाले संयमियोंके संघसे जो हीन हो गया है उसे निकाल दिया गया है वह ओसण्ण कहलाता है । उसके मरणको ओसण्णमरण कहते हैं । ओसण्णके ग्रहणसे पाशर्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील और संसक्तोंका ग्रहण होता है । कहा भी है—पाशर्वस्थ, स्वच्छन्द कुशील और संसक्त ये ओसण्ण होते हैं क्योंकि ये मोक्षके लिए प्रस्थान करनेवाले साधुसंघसे बाहर होते हैं ।

श्रद्धायुक्ति प्रेमी, रसोंमें आसक्त, दुःखसे भीत, सदा दुःखसे कातर, कषायोंमें संलग्न, आहारादिसंज्ञाके अधीन, पापबर्धक शास्त्रोंके अभ्यासी, तेरह प्रकारकी क्रियाओंमें आलसी, सदा संकलेशयुक्त चित्तवाले, भोजन और उपकरणोंसे प्रतिबद्ध, निमित्तशास्त्र, मंत्र, औषध आदिसे आजीविका करनेवाले, गृहस्वर्भय वैद्यावृत्त्य करनेवाले, गुणोंसे हीन, गुणियों और समितिबोधोंमें उदासीन, सर्वत्र भावमें मन्त्र, दस प्रकारके धर्ममें मनको न लगानेवाले तथा सदोष चारित्र्यवाले बुनियातोंको अवसन्न कहते हैं । इस प्रकारसे रहते हुए ये बेचारे मरकर हजारों भवोंमें भ्रमण करते

भवति । दुःखानि नृपत्या नृपत्या पार्ष्वस्थे स्नेहं क्षुचिरे विह्वल्यन्ते आत्मनः क्षुधिं कृत्वा यदि नृशिशुर्वीक्ष्य प्रसस्तमेव मरणं भवति ।

सम्यग्दृष्टेः संयतासंयतस्य बालपण्डितमरणं यतोऽस्युभवस्यो वासः पंडितस्य । स्मृक्कृतात्प्रातिपादाभेदविरलनककथं चारित्र्यमस्ति दर्शनं च तत्तत्वारित्र्यपण्डितो दर्शनपंडितस्य^१ । कुतश्चिदस्युक्तमावर्तयमावन्विनुत इति चारित्र्यवासः । तस्य बालपण्डितमरणं यर्मनेषु यर्वातकेषु तिर्यक्षु मनुष्येषु भवति । दर्शनपण्डितमरणं तु तेषु देवमारकेषु च ।

सत्यमरणं त्रिविधं यतो त्रिविधं सत्यं द्रव्यसत्यं भावसत्यमिति । मिथ्यादर्शनमायाविद्यानसत्यानां कारणं कर्म द्रव्यसत्यं । द्रव्यसत्येन सद्य मरणं पंचाणां स्वावराणां भवति असंज्ञिनां ज्ञानानां च । यद्दु द्रव्यसत्यं सर्वत्रास्ति तत्किमुच्यते स्वावराणामिति । भावसत्यविनिर्मुक्तं द्रव्यसत्यमपेक्षते । एतदुक्तं—सत्यसत्याचारिणां दर्शनसत्यास्यास्तस्य दर्शनस्य च स्वावरेषु अभावात् ज्ञेयेषु च विकर्षणेषु । इत्येव स्वावरावते काले इति मनसः प्राधिधानं निदानं न च तदवसंज्ञिष्यति । मार्गस्य रूपं, मार्गनाशनं, उन्मार्गप्रकल्पं, मार्गस्थानां भेदकरणं च मिथ्यादर्शनसत्यानि ।

तत्र निदानं त्रिविधं प्रकृतमप्रकृतं भोगकृतं चैति । परिपूर्णं संबन्धनाराधयितुकामस्य ज्ञानांतरे पुण्यदाविप्रार्थना प्रकृतं निदानं, मानकवायप्रेरितस्य कुलरूपाधिप्रार्थननमानतत्रयविवर्धं अप्रकृतं निदानं । अथवा

है । किन्तु दुःख उठते-उठते पार्ष्वस्थरूपमें चिरकाल तक विहार करके अन्तमें आत्माकी क्षुधि करके यदि मरते है जो प्रसस्तमरण ही होता है ।

सम्यग्दृष्टि संयतासंयतके मरणको बालपण्डित मरण कहते हैं क्योंकि यह बाल और पण्डित दोनों ही होता है । इसके स्कूल हिंसा आदिसे विरतिरूप चारित्र्य और दर्शन दोनों होते हैं अतः यह चारित्र्यपण्डित भी है और दर्शनपण्डित भी है । किन्तु कुछ सूक्ष्म असंयमसे निवृत्त नहीं होता, इसलिए चारित्र्यमें बाल है ।

यह बालपण्डित मरण गर्भव और पर्याप्तिक तिर्यग्भों तथा मनुष्योंमें होता है । दर्शनपण्डित मरण तो इनमें भी होता है और देव तथा नारकियोंमें भी होता है ।

सशाल्य मरणके दो भेद हैं क्योंकि शाल्यके दो भेद हैं—द्रव्यशाल्य और भावशाल्य । मिथ्यादर्शन, माया और निदान इन शाल्योंका कारण जो कर्म है उस कर्मको द्रव्यशाल्य कहते हैं । द्रव्यशाल्यके साथ मरण पाँचों स्वावरों, असंज्ञियों और ज्ञानोंका होता है ।

शंका—द्रव्यशाल्य तो सर्वत्र है तब स्वावरोंके क्यों कहा ?

समाधान—यहाँ भावशाल्यसे रहित द्रव्यशाल्यकी अपेक्षा है । यह कहा है कि सम्यग्दर्शनके अतिचारोंका कारण दर्शनशाल्य है और सम्यग्दर्शन स्वावरोंमें तथा विकलेन्द्रिय ज्ञानोंमें नहीं होता ।

बागामीकालमें यही होना चाहिए इस प्रकारके मनके उपयोगको निदान कहते हैं । असंज्ञियोंमें इस प्रकारका निदान नहीं होता । मोक्षमार्गको दोष छानना, मार्गका नाश करना, मिथ्यामार्गका कथन करना, या मोक्षमार्गका कथन न करना, और जो मोक्षमार्गी हैं उनमें भेद डालना ये मिथ्यादर्शनशाल्य हैं । उनमेंसे निदानके तीन भेद हैं—प्रकृत, अप्रकृत और भोगकृत । परिपूर्ण संबन्धी आराधना करनेकी इच्छासे परभवमें पुण्यत्व आदि प्राप्तिकी प्रार्थना प्रकृत

१ तथा । तत्तत्वारित्र्यपण्डितो दर्शनपण्डितस्य कुत-आ० ।

श्रीमोनिष्ठस्य स्वस्वपुत्रप्रार्थना वक्षिष्णुमेवीश्वरेणोन्मुखे । इह परम च भोगा अपि इत्थंभूता अस्माद् व्रतशीला-
विकारं भवतिरिति मनःप्रणिधानं भोगनिधानं । असंयतसम्यग्दृष्टेः संयतासंयतस्य वा निदानशक्त्यं भवति । पाद्व-
स्वविकल्पैश्च चिरं विहृत्य पश्चात्तपि आलोचनार्थं तरेण श्री मरणमुपैति तन्मायाशक्त्यं मरणं तस्य भवति । एतच्च
संयते, संयतासंयते, अविरतसम्यग्दृष्ट्यापि भवति ।

बलायमरणमुच्यते—विनयवैयानुत्पादावकृतावरः, प्रशस्तयोगोद्बहुनालसः, प्रमादधानात्तेषु, समितिषु,
गुणेषु च स्ववीर्यनिग्रहकमरः, धर्माचाराणां निग्रहा युगित इव ध्यामनमस्कारादेः पलायते अनुपयुक्तत्वा, एतस्य
मरणं बलायमरणं । सम्यक्त्वपण्डिते, ज्ञानपण्डिते अरणपण्डिते च बलायमरणमपि संभवति । ओसण्णमरणं
सप्तस्वनरणं च यदाभिहितं तत्र नियमेन बलायमरणम् । तद्व्यतिरिक्तमपि बलाः मरणं भवति । निःशक्त्यः संविग्नो
भूत्वा चिरं रत्नत्रयप्रभुस्य संस्तरप्रपतस्य क्षुभोपयोगाल्पलायमानस्य भावस्य क्षुभस्यानवस्थात्वात् ।

वसट्टमरणं नाम—आर्तं रौद्रे च प्रवर्तमानस्य मरणं । तत्पुनश्चतुर्विधं—इन्द्रियवसट्टमरणं, वेदनाव-
सट्टमरणं, कसायवसट्टमरणं, नोकसायवसट्टमरणं इति । इन्द्रियवसट्टमरणं यत् तत्पश्चिधं इन्द्रियविधयापेक्षया ।
सुर्नरीतिर्यभिन्नजीवैश्च इतेषु तद्विस्तृतचनक्षुधिरशब्देषु मनोभेषु रक्तोऽमनोऽवु द्विष्टो मृतिमेति । यथा चतुः-
प्रकारे आहारे रक्तस्य द्विष्टस्य वा मरणं, पूर्वोक्ताणां सुरलरावीनां गंधे द्विष्टस्य रक्तस्य वा मरणं, तेषामेव

निदान है । मानकवायसे प्रेरित होकर आयामी भवमें उन्मत्कूल, सुन्दररूप आदिकी प्रार्थना
अप्रशस्त निदान है । अथवा क्रोधके आवेसमें आकर अपने शत्रुके बधकी प्रार्थना, जैसे बधिष्ठने
उग्रसेनके बिनासकी प्रार्थना की थी, अप्रशस्त निदान है । इस व्रतशील आदिके प्रभावसे इस
भवमें और परभवमें इस प्रकारके भोग युक्त प्राप्त हों, इस प्रकार मनके संकल्पको भोगनिदान
कहते हैं । असंयत सम्यग्दृष्टी अथवा संयतासंयतके निदानशक्त्य होता है । चिरकालतक पाद्वस्य
आदि साधुके रूपमें विहार करनेके पश्चात् भी जो आलोचना किये बिना मर जाता है उसका
वह मायाशक्त्य मरण होता है । ऐसा मरण संयत, संयतासंयत और अविरत सम्यग्दृष्टिमें होता है ।

बलायमरणको कहते हैं—जो विनय वैयानुत्स्य आदिमें आदरभाव नहीं रखता, प्रशस्त
भोगके धारणमें आलसी है, प्रमादी है, व्रतोंमें, समितियोंमें और गुणियोंमें अपनी शक्तिको छिपाता
है, धर्मके चिन्तनमें निद्राके बशीभूत जैसा रहता है, उपयोग न लगनेसे ध्यान नमस्कार आदिसे
दूर भागता है, उसका मरण बलायमरण है । दर्शनपण्डित, ज्ञानपण्डित और चारित्र्यपण्डितके
बलायमरण भी सम्भव है । ओसण्णमरण और सशक्त्यमरणमें नियमसे बलायमरण होता है ।
उनके अतिरिक्त भी बलायमरण होता है । जो शस्त्ररहित विरक्त होकर चिरकालतक रत्नत्रयका
पावन करता है किन्तु मरते समय संस्तरपर ब्राह्मण होकर क्षुभोपयोगसे दूर भागता है, उसके
क्षुभभावके स्थिर न रहनेसे बलायमरण होता है ।

वसट्टमरण कहते हैं—आर्त और रौद्रध्यानपूर्वक मरणको वसट्टमरण कहते हैं । उसके चार
नैव हैं—इन्द्रियवसट्टमरण, वेदनावसट्टमरण, कसायवसट्टमरण, और नोकसायवसट्टमरण । इन्द्रिय-
वसट्टमरण इन्द्रियोंके विषयोंकी अपेक्षा पाँच प्रकारका है । देवों, मनुष्यों, पशु-पक्षियों और
क्षीरप्रायिके द्वारा किये गये तप्त, विसृष्ट, वन, और क्षुधिर शब्दोंमें, मनोऽव शब्दोंमें राग और
अमनोऽव शब्दोंमें द्वेष करते हुए मरण होता है । यह श्रोत्रेन्द्रियवसट्टमरण है । चार प्रकारके

रूपे संभवाने वा रसगत्य द्रिष्टस्य वा धरत्वं, तेषामेव रूपत्वं रागवतो द्वेषवतो वा धरत्वं, इति इन्द्रियनिम्निय-
वशात्तमरणाधिकारः ।

वेदान्तसदृशमरणं द्विवेधं समासतः सातवेदनावशात्तमरणात् असातवेदनावशात्तमरणमिति । शारीरं मानसे
वा दुःखे उपयुक्तस्य मरणं दुःखवशात्तमरणमुच्यते । यो दुःखेन मोहमुपागतस्तस्य मरणमिति यावत् । तथा
शारीरं मानसे वा दुःखे उपयुक्तस्य मरणं सातवशात्तमरणं ।

कषायवैशाल्यायवशात्तमरणं कर्तुमिच्छं भवति । अनुबंधरूपो य आत्मनि परत्र उभयत्र वा मारणवशो
भवति । तस्य क्रोधवशात्तमरणं भवति । मानवशात्तमरणवष्टद्विधं भवति कुलेन, रूपेण, बलेन, धृतेन, ऐश्वर्येण,
कायेन, प्रख्याता, तपसा वा आत्मामनुत्कर्षयतो मरणवशेष्य विख्याते विशाके उन्मते कुले समुत्पन्नोद्भूमिति
मन्यमानस्य मृतिः कुलमानवशात्तमरणम् । निरुत्पन्नपंचेंद्रियसमग्रमानस्तो जस्वी प्रत्यक्षबीजः सकलजवतापैतः-
सम्भवकरस्य इति भाववतो मृतिः रूपवशात्तमरणं । वृक्षापर्वताधुत्पाटनशयोऽङ्गं बोधवानहं, मित्राणां च बलं
मनास्ति इति वकामिनामोद्भूताम्भानवशात्तमरणं । बहुपरिवारो बहुशासनोऽहं इति ऐश्वर्यमानोन्मत्तस्य मरणं
मानवशात्तमरणं । लोकवेदसमवाप्तिसिद्धान्तशास्त्राणि चिन्तितानि इति श्रुतमानोन्मत्तस्य मरणं श्रुतमानवशात्तमरण-
मुच्यते । तीक्ष्णा मम बुद्धिः सर्वत्राप्रतिहृता इति प्रज्ञानस्य मरणं प्रज्ञावशात्तमरणमुच्यते । व्यापारे क्रियमाणे

आहारमें राग या द्वेष करते हुए मरण रसनेन्द्रियवसदृशमरण है । पूर्वोक्तवैश्वानुष्य आदिकी गन्धमें
रागद्वेष करते हुए मरण प्राणैन्द्रियवसदृशमरण है । उन्हींके रूप आकार आदिमें रागद्वेष करने-
वालेका मरण चक्षुःन्द्रियवसदृशमरण है । उन्हींके स्पर्शमें रागद्वेष करनेवालेका मरण स्पर्शनेन्द्रिय-
वसदृशमरण है । इस प्रकार इन्द्रिय और मनके वशसे होनेवाले आर्तध्यानपूर्वक मरणके श्रेष्ठ हैं ।

वेदान्तसदृशमरणके संक्षेपसे दो भेद हैं—सातवेदनावशात्तमरण और असातवेदनावशात्त-
मरण । शारीरिक अथवा मानसिक दुःखमें उपयोग रहते हुए होनेवाले मरणको दुःखवशात्तमरण
कहते हैं । अर्थात् जो दुःखसे मोहको प्राप्त हुआ उसका मरण दुःखवशात्तमरण है । तथा शारीरिक
अथवा मानसिक सुखमें उपयोग रहते हुए होनेवाला मरण सातवशात्त मरण है ।

कषायके श्रेष्ठसे कषायवशात्तमरणके चार भेद होते हैं । अपनेमें, दूसरेमें अथवा दोनोंमें
मारनेके लिए उत्पन्न हुआ क्रोध मरणका कारण होता है । वह क्रोधवशात्तमरण है । मानवशा-
त्तमरणके आठ भेद हैं—कुल, रूप, बल, शास्त्र, ऐश्वर्य, काय, बुद्धि अथवा तपसे अपनेको
बड़ा मानते हुए मरण होनेकी अपेक्षा ये आठ भेद होते हैं । मैं अति प्रसिद्ध विद्याल उच्चकुलमें
उत्पन्न हुआ हूँ ऐसा मानते हुए होनेवाले मरणको कुलमानवशात्तमरण कहते हैं । मेरा शारीर
सशक्त पाँच इन्द्रियोंसे पूर्ण है, तेजस्वी और नवयौवनसे सम्पन्न है, मेरा रूप सम्स्त जनताके
चित्तको मर्दान करता है, ऐसी भावना होते हुए जो मरण होता है वह रूपवशात्तमरण है ।
मैं वृक्ष पर्वत आदिको उच्छाड़नेमें समर्थ हूँ, लड़नेमें समर्थ हूँ, मेरे साथ मित्रोंका बल है, इस प्रकार
बलके अभिमानको धारण करते हुए होनेवाला मरण बलमानवशात्तमरण है । मैं बहुत परिवार
वाला हूँ मेरा शासन बहुतोंपर है इस प्रकार ऐश्वर्यके मानसे उन्मत्तका मरण ऐश्वर्यमान वशात्त-
मरण है । मैंने लोक, वेद, समय और सिद्धान्त सम्बन्धी शास्त्रोंको पढ़ा है इस प्रकार शास्त्रके
मानसे उन्मत्तका मरण श्रुतमानवशात्तमरण है । मेरी बुद्धि तीक्ष्ण है, सब विषयोंमें उसकी

जिन स्वर्ग का जो भावते इति कामनामं भावयती मरणं कामवशात्तमरणम् । तयो मदानुष्ठीयते जन्मो मत्सन्-
 धनचरणैर् नास्ति इति संकल्पयतस्ततोभाक्कवशात्तमरणं भवति । माया पंचविकल्पा निष्कृतिः, उपधिः, साति-
 प्रयोगः, प्रणिधिः प्रतिक्रमनिधि । अतिसंचामक्रुद्यतता धने कार्ये वा कृताधिकलाभस्य बंधना निष्कृतिः उच्यते ।
 उद्युत्तामं प्रच्छन्नं धर्मव्याजेन स्तेन्यादिदोषैर् प्रवृत्तिकर्तव्यमिहा माया । जर्मेणु चित्तबाधः स्वहस्तनिहितद्रव्या-
 पहरणं, कृषणं, प्रशंसा वा सातिप्रयोगः । प्रतिस्पर्धव्यनालकरणानि, उगातिरिक्तमानः संयोजनया इव्यविनाशन-
 निधिः प्रणिधिमाया । आलोचनं कुर्वतो दोषविनिमूहनं प्रतिक्रममाया । एवंविधं मायावशात्तमरणं । उपकरणेणु,
 मत्सन्धनमोर्मेणु, शरीरे, विनाशस्थानेणु च इच्छां मूच्छां च गृह्णती मरणं लोभवशात्तमरणं । हास्यरत्यरतिशोक-
 मयजुगुप्सास्त्रीपुंसकवेदे मूढमतेमरणं नोकषायवशात्तमरणं । नोकषायवशात्तमरणमपगतो जायते मनुजतिर्य-
 थ्योनिषु, असुरेषु, कंभर्षेणु, किल्बिधिकेषु च । मिथ्याकृष्टेरेखदेव बालमरणं भवति । दर्शनपण्डितोऽपि अचिरत-
 सन्ध्यामृष्टिः संयतासंयतोऽपि वशात्तमरणमनुपति तस्य उदात्तपण्डित भवति दर्शनपण्डित वा ।

अप्रतिविद्धे मननुभाते च इ मरणे 'मिथ्यावत्' शिष्टपुद्गलितिसंज्ञिते कृते प्रवर्तते । दुर्मिसे, कांतारे,
 दुस्तरे, पूर्वसन्धुमवे, दुष्टनृपमवे, स्तेनमवे, सियंपुपसवे एकाकिनः सोढुवचषवे ब्रह्मवतनाशाधिचारिनकृषण च

बेदोक गति है इस प्रकार प्रज्ञाके मदसे मरणको प्रज्ञामानवशात् आर्तमरण कहते हैं । व्यापार
 करनेपर मूझे सर्वत्र काम होता है इस प्रकार लाभका मान करते हुए होनेवाले मरणको लाभ-
 मानवशात्तमरण कहते हैं । मैं तप करता हूँ, तपश्चरणमें मेरे समान दूसरा नहीं है । ऐसा संकल्प
 करते हुए होनेवाले मरणको तपमानवशात्तमरण कहते हैं ।

मायाके पाँच श्रेय हैं—निष्कृति, उपधि, सातिप्रयोग, प्रणधि और प्रतिक्रमण । दूसरोंकी
 गुप्त बातोंकी खोजमें कुसलता, तथा धन अथवा किसी कार्यकी अभिलाषावालेको उगना निष्कृति
 है । समीचीन भावको छिपाकर धर्मके बहानेसे चोरी आदि दोषोंमें प्रवृत्तिको उपधिनामक माया
 कहते हैं । अर्थ (धन) के विषयमें झगडा करना, अपने हाथमें रखे इव्यको हर लेना, प्रयोजनके
 अनुसार दोष लगाना या प्रशंसा करना सातिप्रयोग माया है । असली वस्तुमें उसके समान नकली
 वस्तु मिलाना, कमती बढ़ती तोलना, मिलावटके द्वारा इव्यका विनाश करना ये प्रणिधिमाया
 है । आलोचना करते समय दोषोंको छिपाना प्रतिक्रमण माया है । इस प्रकारके मायाचारपूर्वक
 होनेवाले मरणको मायावशात्तमरण कहते हैं । उपकरणोंमें, खनपानके क्षेत्रोंमें, शरीरमें, विनाश
 स्थानोंमें इच्छा और मत्स्य रहते हुए होनेवाले मरणको लोभवशात्तमरण कहते हैं । हास्य, रति,
 अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद और पुरुषवेदको लेकर जिसकी बुद्धि मूढ हो
 गई है उसका मरण नोकषायवशात्तमरण है । नोकषायवशात्तमरणसे भरा हुआ प्राणी मनुष्य
 योगिनि, सियंजवोनि, तथा असुर, कन्दर्प और किल्बिजजातिके देवोंमें उत्पन्न होता है । मिथ्यादृष्टि-
 के होनेवाला यही मरण बालमरण होता है । दर्शनपण्डित, अचिरतसम्प्रादृष्टि और संयतासंयतके
 भी वशात्तमरण होता है उनका बहु मरण बालपण्डितमरण अथवा दर्शनपण्डितमरण होता है ।

मिथ्यावत् और शिष्टपुद्गल नामके दो मरण ऐसे हैं जिनका निषेध भी नहीं है अनुभा भी
 नहीं है । दुर्मिसेमें, भवानक बंगलमें, पूर्वसन्धुका भय होनेपर, या दुष्ट राजाका भय होनेपर,
 चोरका भय होनेपर, सियंजकृत उपसर्ग होनेपर जिसे अकेले सहन करना अशक्य है, या ब्रह्मचर्य-

जाते संविन्मः पापबीहः कर्मणामुचयमुपस्थितं शाल्वा तं सोढुमशक्तः तन्निस्तारणस्यासत्सुपाये सावधकरणाभीहः
 विराधनमरणबीह्व्य एतस्मिन् कारणे जाते कालेऽनुधिमन् किं भवेत्कुशलमिति गणयतो यत्सुपसर्वभ्रमत्रासितः
 संयमात्सुप्यामि ततः संयमभ्रष्टो दर्शनादपि न वेदनामसंकिलष्टः सोढुं उत्सहेत ततो रत्नत्रयाराधनाभ्युत्तिर्-
 भेति निर्विचलनातिनिमयिद्वचनवर्शनविशुद्धः, धृतिमान्, ज्ञानसहायोऽनिवानः, अर्हन्तिके, आलोचनामासाद्य
 कृतशुद्धिः, शुक्लेश्य प्राणायाननिरोधं करोति यत्तद्विध्याणसं मरणमुच्यते ! शस्त्रग्रहणेन यद्भवति तद्विषयपुद्ग-
 लित्पुण्यते । मरणविकल्पमभ्रप्रदर्शनमिदं सर्वत्र कर्तव्यतयोपविश्यते । प्रायोपयपनमिगिणीमरण भक्तप्रत्या-
 ख्यानं इत्येतान्येतेषामानि पूर्वपुरुषैः प्रवर्तितानि । एवं विद्वन्मात्रेण पूर्वांगमानुसारि सत्सदक्षमरणव्याख्यान-
 मत्रोपक्रान्तम् ।

एतेषु सप्तदशसु पंच मरणानि इह संक्षेपतो निरूपयिष्यामीति प्रतिज्ञानेन कृता । कानि तानि पंच
 मरणानि इत्यामंकाया नामनिर्देशार्थं गाथा पंडितपंडितमरणमित्यादिका—

पंडिदपंडिदमरणं पंडिदयं बालपंडिदं च ॥

बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च ॥ २६ ॥

ननु भवपर्यायप्रलयो मरणमिति यदि गृह्यते तस्य को भेदो भवपर्यायस्य अनेकत्वात् मरण तद्विनाशः
 कथं न भिद्यते इति । मनुष्ये पंचप्रकारतानुपपन्ना अनतत्वान् एकजीवगतस्यापि भवपर्यायस्य नानाजीवापेक्षया

व्रतका विनाश आदि दूषण चारित्र्यमे होनेपर ससारसे विरक्त और पापसे डरनेवाला साधु कर्मोका
 उदय उपस्थित जानकर उसे सहनेमें असमर्थ होनेसे उससे निकलनेका उपाय न होनेपर पापकर्म
 करनेसे डरता हुआ, साथ ही विराधनापूर्वक मरणसे डरता हुआ विचारता है इस कालमें इस
 प्रकारके कारण उपस्थित होनेपर कैसे कुशल रह सकती है, यदि उपसर्गके भयसे डरकर संयमसे
 भ्रष्ट होता हूँ तो संयमसे भी भ्रष्ट और दर्शनसे भी भ्रष्ट होता हूँ । और ज्ञाना संकलेशके वेदना-
 को सहन कर नहीं सकता । तब मैं रत्नत्रयके आराधनसे छिग जाऊंगा, ऐसी निर्विचल मति
 करके सम्यक्त्व और चारित्र्यमें विशुद्ध, धैर्यशाली, ज्ञानसे सहायता लेनेवाला वह साधु किसी
 निदानके विना अर्हन्तिके पासमें आलोचना प्रायश्चित्त लेकर शुभलक्ष्यापूर्वक इवासोच्छ्वासका
 निरोध करता है । उसे बिप्यणास मरण कहते हैं । और शस्त्रग्रहणसे होनेवाले मरणको गिद्धपुद्ग
 कहते हैं ।

मरणके भेदोका यह प्रदर्शन सर्वत्र कर्तव्यरूपसे किया जाता है । किन्तु प्रायोपयमन, इगिणी-
 मरण और भक्तप्रत्याख्यान ये तीन ही मरण उत्तम हैं, पूर्व पुरुषोंने इनका पालन किया है । इस
 प्रकार संक्षेपसे पूर्व आगमके अनुसार सत्तरह मरणोंका व्याख्यान यहाँ किया ॥२५॥

इन सत्तरहमें से पाँच मरणोंको यहाँ संक्षेपसे कहेंगा ऐसी प्रतिज्ञा ऊपर की है । वे मरण
 कौन हैं ऐसी शंका करने पर उनका नाम निर्देश करनेके लिए गाथा कहते हैं—

गाथा—पण्डितपण्डितमरण, पण्डितमरण, बाल पण्डितमरण, चौथा बालमरण और पाँचवा
 बाल बालमरण, ये पाँच मरण हैं ।

टीका—शंका—यदि भवपर्यायके विनाशको मरण कहते हो तो उसका भेद कैसा ? भव-
 पर्याय तो अनेक हैं और उनका विनाश मरण है तब मरणके भेद उतने क्यों नहीं होंगे । अतः
 मनुष्यमें मरणके पाँच प्रकार ठीक नहीं है । एक जीव की भी भवपर्याय अनन्त होती हैं तब नाना-

कीम्वहारः पंचत्वस्य । प्राणिनः प्राणेश्वो विद्योयो मरणं इति चेतवैकविधमेव सामान्यतः । प्राणमेवापेक्षयति वैद्व्याप्रकारतापद्यते । उदयप्राप्तकर्मपुद्गलपकर्म मरणं इति यदि वृक्षते प्रतिष्ठमयं कलनाम्न पंचता । गुणमेवापेक्षाया जीवात्पंचथा व्यवस्थान्वाय श्रुत्संबोधेन पंचविधं मरणमुच्यते ।

अज्ञाना अज्ञान्यार—प्रशस्ततमं, प्रशस्ततरं, ईश्वरप्रशस्तं, अविशिष्टं, अविशिष्टतरं इति पंडितपंडित-मरणादीनि केचिद् । व्याचक्षते । पंडितशब्दः प्रशस्तमित्यस्मिन्नर्थे एव प्रयुज्यते दृष्टो धेनेनं व्याख्यायते ? किं च आगयांतराननुगतं चेदं व्याख्यानं ।

कव्यहारे सम्मते नाथे चरथे व पंडितस्त तदा ।

पंडितमरणं सपिदं क्युपिचं तद्व्यवति हि ॥ []

इति यथा चतुःप्रकाराः पंडिता उपर्णिताः । तेषां मध्ये अतिशयितं पांडित्यं यस्य ज्ञानवर्धनचारि-श्रेयु स पंडितपंडित इत्युच्यते । एतत्पांडित्यप्रकर्षरहितं पांडित्यं यस्य स पंडित इत्युच्यते । व्याख्यातं वाच्यं पांडित्यं च यस्य स भवति बालपंडितः तस्य मरणं बालपंडितमरणं । यस्मिन्न संभवति पांडित्यं चतुष्पांमप्येकं अती बालः । सर्वतो न्यूनो बालबालः तस्य मरणं बालबालमरणं ।

अथ के पंडितपंडिता येषां मरणं पंडितपंडितमिति भव्यते इत्यारकायामाह—

पंडितपंडितमरणे खीणकसाया मरति केवलिनो ।

विरदाविरदा जीवा मरति तदियेण मरणेण ॥२७॥

जीवोंकी अपेक्षा पाँच भेद कैसे संभव हैं ? यदि कहोगे कि प्राणीका प्राणोंसे वियोग मरण है तो वह सामान्यसे एक ही प्रकार का है । प्राणभेदकी अपेक्षा लेना हो तो दस भेद हो सकते हैं ? यदि उदय प्राप्त कर्म पुद्गलकोके गलनेका नाम मरण है तो कर्म पुद्गलकोका गलन तो प्रति समय होता है अतः पाँच भेद नहीं बनते ?

समाधान—गुणभेदकी अपेक्षा जीवोंके पाँच भेद करके उनके सम्बन्धसे मरणके पाँच भेद कहे हैं ।

अन्य व्याख्याकार पण्डितपण्डितमरण आदि पाँच मरणोंको प्रशस्ततम, प्रशस्ततर, ईश्वर प्रशस्त, अविशिष्ट और अविशिष्टतर कहते हैं । हम उनसे पूछते हैं कि पण्डित शब्दका प्रशस्त अर्थमें प्रयोग कहाँ देखा है जिससे आप ऐसी व्याख्या करते हैं । तथा यह व्याख्यान अन्य आगमोंके अनुकूल नहीं है ।

आगममें कहा है—व्यवहारमें, सम्यक्त्वमें, ज्ञानमें और चारित्र्यमें पण्डितके मरणको पण्डित-मरण कहते हैं अतः उसके चार भेद हैं । इस प्रकार चार प्रकारके पण्डित कहे हैं । उनके मध्यमें जिसका पाण्डित्य ज्ञान, वर्धन और चारित्र्यमें अतिशयशाली है उसे पण्डितपण्डित कहते हैं । उसके पाण्डित्यके प्रकर्षसे रहित जिसका पाण्डित्य होता है उसे पण्डित कहते हैं । पूर्वमें व्याख्यात बालपन और पाण्डित्य जिसमें होते हैं वह बालपण्डित है । उसका मरण बालपण्डितमरण है । और जिसमें चारों प्रकारके पाण्डित्यमें से एक भी पाण्डित्य नहीं है वह बाल है और जो सबसे हीन है वह बालबाल मरण है ॥२६॥

वे पण्डितपण्डित कीन हैं जिनका मरण पण्डितपण्डित कहा जाता है ? ऐसी सझा होनेपर आचार्य कहते हैं—

पण्डितपरमेश्वरं क्षीणकषायां वरति केवलिनो । सामान्यमूर्तेर्विशेषमूर्तिं कर्मतया निदिष्टा पण्डित-
पण्डितमरणमिति । यथा गोपोधं पुष्टः इति । 'क्षीणकषायां', कषण्टि ह्रिसण्टि आत्मानमिति कषायाः ।
अथवा कषायशब्देन वनस्पतीनां त्वक्पत्रमूलफलरस उच्यते । स यथा वस्त्रादीनां वर्णमन्वया संपादयति एवं
क्षीणकषायां क्षमाभाष्यार्जवसंतोषाक्यगुणान्बिनास्पान्मया व्यवस्थापयतीति क्रोधमानमायालोभाः कषाया इति
नम्यन्ते । ते क्षीणाः कषाया येषां ते क्षीणकषायाः । द्रव्यकर्मणा कषायवैवर्णियाणां विनाशात्समूला अपि भाव-
कषायाः प्रलयमुपगता इति क्षीणकषाया इति भव्यन्ते । केवलमसहायं ज्ञानं इन्द्रियाणि मनःप्रकाशादिकं चा-
नपेक्ष्य युगपद्वेषेद्रव्यपर्यायभासनसमर्थं सद्यत् प्रवर्तते तच्छेषामस्ति ते केवलिनः । यद्यपि केवलज्ञानवस्तु-
सामान्ये न प्रवर्तते केवलशब्दस्तथापि सयोगकेवलिनो मरणस्यासंभवादयोगकेवलिनो ग्रहण । अत्रान्ये क्षीण-
कषायाः श्रुतकेवलिनश्चेति व्याकथते । तेषां तद्व्याख्यानमसंभवं श्रुतसम्भवतरेण केवलशब्दस्य क्वचिदप्यागमे
समस्तश्रुतलक्ष्यस्य प्रयोगावर्धनात् । प्रसिद्धसम्भवादिभयो यदि स्यात् यथा कषण्टिदन्वोर्भां व्याख्येयः
स्यात् । संभवति प्रतीतेर्भां कथं तत्परिस्थानः । अपि च पाण्डित्यप्रकर्षः क्षायिकज्ञानवर्धनचारित्र्यापेक्षस्तत्र सन्नि-
हितो न श्रुतकेवलिनः । विरताविरता बीजाः स्थूलकृतात्प्राणतिपातादेव्यनिवृत्ताः इति विरताः सूक्ष्माप्य-
व्यावृत्तविरताः । विरता यदि कथमविरता अविरताश्चेत्कथं विरताः इति विरोधाशङ्का न कार्या । विरत-

शा०—पण्डितपण्डितमरणसे क्षीण कषाय और अयोगकेवली मरते हैं । विरताविरत जीव
तीसरे मरणसे मरते हैं ॥२७॥

टी०—'पण्डितपण्डितमरण मरते हैं' यहाँ पण्डितपण्डित नामक विशेष मरणको 'मरते हैं'
इस सामान्य मरणके कर्मरूपसे कहा है । जैसे बेलके समान पुष्टको सामान्य पुष्ट शब्दसे कहा
है । जो 'कषण्टि' अर्थात् आत्माका घात करती है उन्हें कषाय कहते हैं । कषाय शब्दसे वन-
स्पतियोंके छाल, पत्र, अड़ और फलका रस कहा जाता है । यह रस जैसे वस्त्रादिके रंगको
बदल देता है इसी प्रकार जीवके क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोष नामक गुणोंको नष्ट करके
अन्वया कर देते हैं इसलिए क्रोध, मान, माया, लोभको कषाय कहते हैं । वे कषाय जिनकी क्षीण
हो गई हैं—नष्ट हो गई हैं वे क्षीणकषाय होते हैं । कषाय वेदनीय नामक द्रव्यकर्मोंका विनाश
होनेसे उनका निमित्त पाकर होने वाली भावकषाय जिनकी नष्ट हो गई है वे क्षीणकषाय कहे
जाते हैं । केवल अर्थात् असहाय ज्ञान, जो इन्द्रियाँ, मन, प्रकाश आदि की अपेक्षा न करके
एक साथ समस्त द्रव्य-पर्यायोंको जाननेमें समर्थ है वह केवलज्ञान है । वह जिनके हैं वे केवली
होते हैं । यद्यपि केवली शब्द केवलज्ञान रूप वस्तुसामान्यमें प्रवृत्त नहीं होता, तथापि सयोग-
केवलीका मरण असम्भव होनेसे अयोगकेवलीका ग्रहण होता है । दूसरे व्याख्याकार 'क्षीणकषाय
और श्रुतकेवली' ऐसा व्याख्यान करते हैं । उनका वह व्याख्यान ठीक नहीं है । श्रुत शब्दके
बिना केवली शब्दका प्रयोग किसी भी आगममें समस्त श्रुतधारीके लिए नहीं देखा गया । यदि
शब्दका प्रसिद्ध अर्थ असम्भव ही हो तो जिस किसी तरह अन्य अर्थ किया जा सकता है । जब
सम्भव अर्थ प्रतीतिसिद्ध है तो उसे कैसे छोड़ा जा सकता है ? दूसरे, पाण्डित्यका प्रकर्ष वहाँ
क्षायिकज्ञान, क्षायिकवर्धन और क्षायिक चारित्रिकी अपेक्षा लिया गया है, वह श्रुतकेवलीमें नहीं है ।

जो स्थूल हिंसा आदिसे निवृत्त होनेसे विरत और सूक्ष्म हिंसा आदिसे अनिवृत्त होनेसे
अविरत होते हैं वे जीव विरताविरत होते हैं । यदि वे विरत हैं तो अविरत कैसे हैं और अविरत

तुषीयस्य स्वामित्वं कस्मात्प्रवर्धयते क्रमोत्सर्जनने प्रयोजनं वाच्यम् ? इति चेदुच्यते—उत्कृष्टवचन्यपंडितत्वकम्ब-
द्वृत्तिपंडितत्वमित्येतदाख्यातुं उभयावधिप्रवर्धनं क्रियते । अथवा पंडितमरणे बहुवचन्यमस्तीति तस्मान्वाधिकं
व्यवस्थाय अल्पवचन्यतया बालपंडितमेव प्राग् व्याचष्टे ।

कतिविधं पंडितमरणं किं स्वामिकं वा इत्यारेकायां इयं गाथा पायोपगमनमरणं इत्यादि—

पायोपगमनमरणं भक्तपङ्कजा य इंगिणी चैव ।

तिविहं पंडितमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स ॥२८॥

पादाभ्यामुपगमनं डोकनं तेन प्रवर्तितं मरणं पादोपगमनमरणं । इतरमरणयोरपि पादाभ्यामुपगम-
मस्तीति त्रैविध्यानुपपत्तिरिति चेन्न मरणविशेषे चक्षमाणलक्षणे रुदिरूपेणायं प्रवर्तते, रुदौ च क्रिया उपा-
धीयमाना शब्दव्युत्पत्त्यर्थः । यथा गच्छतीति गौरिति शब्दव्युत्पत्तौ क्रियमाणायामपि गमनक्रियाकर्तृतास्तीति

स्वामी कयों कहा ? क्रमका उल्लंघन करनेका प्रयोजन क्या है यह कहना चाहिए ?

समाधान—उत्कृष्ट और अचन्य पंडितत्वके मध्यमें रहनेवाला पण्डितत्व है यह कहनेके
लिए दोनों अवधियोंको बतलाया है । अथवा पण्डितमरणके सम्बन्धमें बहुत कहना है इसलिए
उसे अलग रखकर थोड़ा कथन होनेके कारण बालपण्डितमरण को ही पहले कहा है ॥२७॥

पण्डितमरणके कितने मेद हैं और वह किसके होता है, यह कहते हैं—

गाथा—पादोपगमन मरण भक्तप्रतिज्ञा और इंगिणीमरण इस प्रकार पण्डितमरण तीन
प्रकार का है । वह शास्त्रमें कहे अनुसार आचरण करनेवाले साधु के होता है ॥२८॥

टी०—पाद अर्थात् पैरो से, उपगमन पूर्वक होनेवालेको पादोपगमन मरण कहते हैं ।

शंका—शेष दोनों मरणोंमें भी पैरोंसे उपगमन होता है अतः तीन मेद नहीं बनते ?

समाधान—यह पादोपगमन रुदिरूपसे मरण विशेषमें प्रवृत्त होता है, इसका लक्षण आगे
कहेगे । रुद शब्दोंमें ग्रहण की गई क्रिया शब्दकी व्युत्पत्तिके लिए ही होती है । जैसे, जो चलती
है वह गौ है । इस प्रकार गौ शब्दकी व्युत्पत्ति करने पर भी यद्यपि यह व्युत्पत्ति गमन क्रियाको

सं० टि०—सब प्रतियोंमें इसके पश्चात् एक नीचे लिखी गाथा आती है उसका नम्बर भी २८ है ।
हमने गाथा २७ की जो उत्थानिका दी है वह भी इस २८ नम्बरकी उत्थानिका है । तथा ऊपर टीकामें
विरताविरत परिणामसे जीव इन्द्रका ज्ञान हो जाता है आदि जो शङ्का प्रारम्भ होती है वहाँसे टीकाका भाग
इस गाथा २८ की टीकाके रूपमें दिया है । गाथा इस प्रकार है—

पण्डितपण्डितमरणं च पण्डितं बालपण्डितं चैव ।

एषाधि तिष्ठन् मरणाधि जिष्वा मिष्णं पसंसति ॥

अर्थ—पण्डित पण्डित मरण, पण्डित मरण और बाल पण्डित मरण इन तीन मरणोंकी जिनमेव सदा
प्रशंसा करते हैं ॥

इस गाथाके साथ न तो उत्थानिकाका कोई सम्बन्ध है और न टीकाका कोई सम्बन्ध है । अतः यह
गाथा प्रसिद्ध है । सं० आवाधारने गाथा २६ की अपनी टीकामें लिखा जो है—‘तथा चाम्यस्याधानीय दूमे
पठन्ति’ अर्थात् अन्यमसे लेकर पढ़ते हैं इसके पश्चात् ही उन्होंने उक्त गाथा दी है । इसलिये हमने इसे दूक-
में नहीं रखा ।

गोशब्देन न महिष्यादयो भ्रम्यंते । अथवा पाउगगमणमरणं इति पाठः । भवांतरणप्रायोग्यं संहनन संस्थानं च इह प्रायोग्यशब्देनोच्यते । अस्य गमनं प्राप्तिः, तेन कारणभूतेन यन्निर्बन्धं मरणं तदुच्यते पाउगगमणमरणमिति । भ्रम्यते सेव्यते इति भक्तं, तस्य पद्मणा त्यागो भक्तपद्मणा । इतरयोरपि भक्तप्रत्याख्यानसम्बन्धि रुडिवशामरणविशेषे एव शब्दोऽयं प्रवर्तते । इंगिणीशब्देन इगितमात्मनो भ्रम्यते स्वामिप्रायानुसारेण स्थित्वा प्रवर्त्यमानं मरणं इंगिणीमरणं । शिथिहं त्रिविधं निप्रकारं । पंडितमरणं कस्य तद्भवति ? 'साधुस्त' साधोः 'अधुस्तचारस्त' यथा येन प्रकारेण उक्तं श्रुते तथा चरितुं शीलं यस्व साधोस्तस्येति यावत् । सदाचारः सर्वं एव जनः संयतोऽस्यतश्च लोके साधुशब्दवाच्यः, इति सयतपरिग्रहार्थं यथोक्तचारित्वविशेषणं कृतम् ।

इतरयोर्बालमरणबालबालयोरित्यनयोः स्वामित्वसूचनार्थगाथा—

अविरदसम्मादिद्वी मरंति बालमरणे चउत्वम्भि ।-

मिच्छादिद्वी य पुणो पंचमए बालबालम्भि ॥२९॥

अविरदसम्मादिद्वी इति प्रसिद्धार्थत्वान्न व्याख्येयं । अथावसरे इदं बोधमाशंक्यते । शोण्डं आराधनं कन्तो इति प्रतिज्ञातं । सा च द्विप्रकारा दर्शनाराधना चारित्र्याराधना वेति । तद्वशाख्यानमकृत्वा मरणविकल्पा-

लेकर है किन्तु गौ शब्दसे भैंस आदि नहीं कहे जा सकते । अथवा 'पाउगगमणमरणं' पाठ है । यहाँ प्रायोग्य शब्दसे संसारका अन्त करनेके योग्य संहनन और संस्थान कहे जाते हैं । उसके गमन अर्थात् प्राप्तिको प्रायोग्यगमन कहते हैं । उसके कारण होनेवाले मरणको प्रायोग्यगमन मरण कहते हैं । 'भ्रम्यते' अर्थात् जो सेवन किया जाय वह भक्त है । उसकी 'पद्मणा' अर्थात् त्याग भक्तपद्मणा है । भोजनका त्याग शेष दोनों मरणोंमें भी सम्भव है । फिर भी रुडिवश भक्तपद्मणा शब्द मरण विशेषका ही बोधक होता है । इंगिणी शब्दसे आत्माका इंगित अर्थात् संकेत कहा जाता है । अपने अभिप्रायके अनुसार रहकर होनेवाला मरण इंगिणीमरण है । इस तरह पण्डितमरण तीन प्रकार का है । पण्डितमरण किसके होता है ? श्रुतमें जिस प्रकारसे कहा है उसी प्रकारसे आचरणशील साधुके होता है । सभी सदाचार वाले मनुष्य, वे संयमी हो या असंयमी, लोकमें साधु शब्दसे कहे जाते हैं । इसलिये संयमीका ग्रहण करनेके लिए 'यथोक्तचारी' विशेषण दिया है ॥२८॥

विशेषार्थ—अपने पैरोंसे चलकर अर्थात् संघसे निकल कर योग्य देशमें आश्रय लेना पादोपगमन है । इसमें न स्वयं अपनी सेवा करता है और न दूसरेसे कराता है । भक्त प्रतिज्ञामरणमें स्वयं भी अपनी वैद्यावृत्य करता है और दूसरेसे भी कराता है । इंगिणीमरणमें अपनी वैद्यावृत्य स्वयं ही करता है दूसरेसे नहीं कराता । पादोपगमनको प्रायोपगमन भी कहते हैं और प्रायोपवेशन भी कहते हैं । 'प्राय' का अर्थ संन्यास है ॥

अब शेष बालमरण और बालबालमरणके स्वामियोंको कहते हैं—

गाथा—अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ बालमरणमें मरते हैं । मिथ्यादृष्टि पाँचवें बालबालमरणमें मरते हैं ॥२९॥

टी०—इस गाथाका अर्थ प्रसिद्ध होनेसे इसकी व्याख्या नहीं करते ।

शंका—यहाँ यह शंका करते हैं । ग्रन्थकारने 'क्रमसे आराधना को कहूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा की है । वह आराधना दो प्रकार की है—दर्शनाराधना और चारित्र्याराधना । उनका व्याख्यान

सम्पत्त्वानिगम्य कस्यानिर्गच्छन्ते । प्रस्तुतपरित्यागप्रस्तुताभिधानं च न क्षमते विद्वांसः । अत्रोच्यते—न अ-
प्रस्तुतं अक्षरं प्रीतिर्भवति । आराधनामुपसर्गस्त्येवैह शास्त्रेऽभिधेयत्वेनेष्टत्वात् । आराधनावाच्य आरा-
धकसंस्मरणेवासंभवत् । स्वामी च निर्बलश्च एवेति सूत्रेऽभिप्रायः ॥

अत एव प्रस्तुता प्राचमिकीं दर्शनाराधनां वाचते—

तत्त्वोचसमियसमभं स्रह्यं स्रहोचसमियं वा ।

आराहंस्स हवे सम्मत्ताराहणा पठया ॥३०॥

सत्त्वोचसमियसमत्तमित्यादिना । अथवा अंतरसूत्रनिश्चितं बालमरणव्याख्यानां प्रस्तुतां प्राचमिकीं
सम्पत्त्वाराराधनां पुरस्कृत्य प्रवर्तते इत्यत आह—तत्त्वोचसमियसमत्तं । अथवा सम्यग्दर्शनविशेषस्य कस्यचित्त्वेव
आराधना उत सर्वस्वेत्याशंका । कुतः संदेहः ? आचार्यमतमेवेन पदानामर्थद्विधिव्याप्त्यासामान्यं पदानामभिधेयं ।
'पञ्चान्मुद्यत्सामान्यनिवासप्रतीत्युत्पत्तये' हि मामित्यतः पञ्चान्मुद्यत्तां कृष्णां शबकामिति वा प्रतीतिः, शंकां
कुंभं इति वा जायते । यच्च पदोपलब्धिकार्यभूतायां बुद्धौ न प्रतिभाति तत्त्वसं सम्बन्धाभिधेयतां गंतुमुत्सहते ।
अप्रतीयमानस्याप्यर्थत्वे अपयवेत्याचार्यो नाम्य इतीयं व्यवस्था न स्यात् । तेन सामान्यमेवार्थ इति । अन्ये तु
मन्यते त्यागोपादानोपेक्षास्या हि लोकव्यवहृतिस्तत्र पुष्पांसं प्रवर्तयितुं शक्या प्रयुज्यन्ते । दुःखसाधनं यत्पत्थ-
न करके मरणके भेद और उनके स्वामियोंका कथन क्यों किया गया ? विद्वान् गण प्रस्तुतके
परित्याग और अप्रस्तुतके कथनको सहन नहीं करते ?

सत्त्वोचसमिय—भीषणं जो मरणका कथन किया है वह अप्रस्तुत नहीं है । आराधना पूर्वक
होनेवाले मरणका ही इस शास्त्रमें कथन करना इष्ट है । वही इसका अभिधेय—प्रतिपाद्य विषय है ।
और आराधकके बिना आराधना होना असम्भव है । अतः स्वामीका भी कथन करना ही चाहिए ।
वह आचार्यका अभिप्राय है ॥२९॥

इसीलिए प्रस्तुत प्रथम दर्शनाराधना को कहते हैं—

गाथा—उन सम्यक्त्वोंमें औपशमिक सम्यक्त्व, धार्मिक सम्यक्त्व अथवा क्षायोपशमिक
सम्यक्त्वकी आराधना करने वालेके प्रथम सम्यग्दर्शन आराधना होती है ॥३०॥

टी०—अथवा इसके पूर्वकी गायामें कहा बालमरणका व्याख्यान प्रस्तुत प्रथम सम्यक्त्वा-
राधनाको लेकर ही किया है अतः यहाँ उसका कथन करते हैं ।

शंका—यहाँ शंका होती है कि किसी सम्यग्दर्शन विशेषकी आराधना होती है या सबकी
होती है ? इस सम्बन्धका कारण यह है । आचार्योंके मतमेवसे पदोंका अर्थ दो प्रकारका माना
जाता है । एक मत है पदोंका अभिधेय सामान्य है क्योंकि पदसे सामान्य अर्थका बोध होता है ।
'गौ' इस पदसे सफेद, काली या चित्तकवरी गौ की अथवा खण्डी या मुण्डी गौ की प्रतीति नहीं
होती और पदकी उपलब्धिकी कार्यभूत बुद्धिमें जिसका प्रतिभास नहीं होता उसे शब्दका वाच्य
कैसे माना जा सकता है । शब्द सुनकर जिस अर्थकी प्रतीति नहीं होती उसे भी यदि उसका अर्थ
माना जाता है तो इस पदका यही अर्थ है, अन्य नहीं, यह व्यवस्था नहीं बनेगी । इसलिए सामान्य
ही पदका अर्थ है ।

अन्य आचार्य मानते हैं कि लोक व्यवहार, त्याग, ग्रहण और उपेक्षा रूप है । उस व्यवहार-
में पुरुषोंको प्रवृत्त करनेके लिए शब्दोंका प्रयोग किया जाता है । जो दुःखका साधन होता है

ज्येते । सुखसाधनमुपासीमते । अनुभवस्यासंपादकमुपेक्ष्यते । विशिष्टमेव च वस्तु सुखादीनां संपादकं ।
 तथाहि—स्त्रीवस्त्रसंभोगान्यादिकं वृत्तिव्ययमेवापादुं उत्सह्यते । दुःखसाधनं चार्वन्विकटवत्त्वेन फलकाविकं
 परिच्छिद्दीर्घमित् । तेन कल्पेनापि सर्वविना तथाभूतत्वेन वस्तु प्रतिपाद्यमित्यभ्युपगम्यम् । अतो विशेषः
 पदानामर्थः इति । साहचर्यानामवैकविशेषवर्थात्प्रां पदानामेकपदप्रयोगाच्च वि नाम विशेषो न प्रतीयते नैतावता
 विशेषस्वाविशेषयत्ताह्वयिः पदांरसमयचाने विशेषप्रतीतेरनुभवच्छिदत्वात् इति वीजानामुभयं पदावः पदा-
 नानुभवश्च प्रतीत्युत्पत्तः । तथाहि—न ह्यस्याः प्राणिनः प्राणिसामान्यं परिहृयतेनेन प्रतीकते । देवदत्तमान-
 येत्युक्ते पुरुषविशेषमनवच्छलित । एतो न ज्ञायते 'समत मि य' इत्येव सामान्यं सम्यक्त्वं नृहीतं उच्यते विशेषे
 इति तेन तत्संबेद्धनिवृत्तिः कियते । 'सत्त्वं' तेषु सम्यक्त्वेषु । 'अव्यक्तमित्यसम्मतं' अनन्तानुभवविशेषमानप्राया-
 लोमानां सम्यक्त्वमित्यात्वसम्यग्निमित्यात्वानां च सत्तानामपसमानानुपपत्तां तत्त्वश्रद्धानं औपशमिकं सम्यक्त्वं ।
 तासांचैव सत्प्रकृतीनां क्षयाद्युपजातवस्तुयात्वात्म्यमोचरा श्रद्धा क्षाधिकं दर्शनं । तासानेव कदाचित्तुपसमात्
 अन्वयार्थां च क्षयाद्युपजातं श्रद्धानं क्षायोपशमिकं । वा शब्दः प्रत्येकं संबध्यते । औपशमिकं वेत्यादिना क्रमेण ।
 'अविरतसत्त्वं' आराधयतः । 'हृषं' भवेत् । 'सम्मतसरक्ष्ण' सम्यक्त्वात्प्रापना । 'षष्ठा' प्रथमा । 'अविर-
 तसम्माविद्धी मरति बालमरणे' इत्युत्पत्तं । तथाविरतप्रहृणं सम्म्यग्दृष्टिविशेषचत्वमेवोपात्तं । प्रतीतेन हि

उसको त्याग दिया जाता है । सुखके साधनको ग्रहण किया जाता है । जो न दुःखका साधन
 होता है, न सुख का, उसकी उपेक्षा की जाती है । तथा विशिष्ट वस्तु ही सुखादिका साधक होती
 है । जैसे स्त्री, वस्त्र, मध, माता आदि जो उत्तम होती है उसे ही ग्रहण करनेके लिए उत्साहित
 होते हैं । दुःखके साधन कष्टक आदि अपने निकटवर्ती भी हों तो उन्हें छोड़ देते हैं अतः शब्दके
 द्वारा भी सुखादिके अर्थी पुरुषोंको विशिष्ट वस्तु ही प्रतिपाद्य है ऐसा स्वीकार करना चाहिए ।
 अतः पदोंका अर्थ विशेष है । समानाकार अनेक विशेषोंमें रहनेवाले पदोंका एक पदके प्रयोगसे
 यदि विशेषका अर्थ प्रतीत नहीं होता तो इससे विशेषके शब्दार्थ होनेको कोई हानि नहीं पहुँचती,
 क्योंकि उसके साथ अन्य पदका सम्बन्ध होनेपर विशेषकी प्रतीति अनुभवसे सिद्ध है ।

समाधान—जैनेके मतमें पदोंका अर्थ सामान्य भी है और विशेष भी है । दोनों की ही
 प्रतीति होती है । वही दिखलाते हैं—

'प्रणियोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिए' ऐसा कहनेपर प्राणी सामान्य अर्थात् प्राणिमात्रकी
 हिंसा नहीं करनी चाहिए यही प्रतीति होती है । और 'देवदत्तको लामो' ऐसा कहनेपर पुरुष
 विशेषका बोध होता है । इस तरह पदका अर्थ दोनों होनेसे यह ज्ञात नहीं होता कि 'सम्मतस्य'
 पदसे सामान्य सम्यक्त्व ग्रहण किया है या विशेष सम्यक्त्व ग्रहण किया है ? इसलिए सन्देहकी
 निवृत्तिके लिए औपशमिक आदि सम्यक्त्व कहा है ।

अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व इन
 सात प्रकृतियोंके उपशमसे उत्पन्न हुआ तत्त्वश्रद्धान औपशमिक सम्यक्त्व है । उन्हीं सात प्रकृतियों-
 के क्षयसे उत्पन्न हुई श्रद्धा, जो वस्तुओंके यथार्थस्वरूपको विषय करती है, क्षाधिक सम्यग्दर्शन
 है । उन्हींमेंसे किन्हींके उपशम और अन्य प्रकृतियोंके क्षयसे उत्पन्न श्रद्धान क्षायोपशमिक तर्कन
 है । 'वा' शब्द प्रत्येकके साथ लगता है । 'अविरतसम्यग्दृष्टी बालमरणसे मरता है' ऐसा जो
 पहले कहा है उसमें 'अविरत' पदका ग्रहण सम्यग्दृष्टीके विशेषणके रूपमें किया है । जे प्रतीत

विशेष्येण भाष्यम् । तथाचाभाणि—प्रतीतपदार्थबोधिविशेषणविशेष्यभावः इति ।

उत्साम्नात्कृष्णोर्जिभिवः सम्यग्दृष्टिसम्बन्धेति प्रकृत्योत्तरमाह—

सम्मादिदृष्टी जीवो उवद्दृढं पवचनं तु सद्दृह ॥

सद्दृह असम्भावं जयाणमाणो गुरुभियोगा ॥३१॥

सम्मादिदृष्टी जीवो इत्यनया । अर्थं पवचनया । 'उवद्दृढं पवचनं तु सद्दृहिव यो जीवो सौ सम्मा-दिदृष्टी' इति । उवद्दृढं उपविष्टं कथितं । ननु उपपूर्वो विशिष्टाकारणक्रियः । तथा हि प्रयोगः—उपविष्टा वर्णा उच्चारिताः वर्णा इति । सत्यम्, समुच्चारणक्रियस्तत्रैव वर्तते भाष्यत्र इत्यत्र न निबन्धनं किञ्चित् । यथा नां बोधि इत्यादिषु सास्नादिनाति दृष्टप्रयोगोऽपि बोधोऽपि बोधादिषु अपि वर्तते एवमित्यापीति किं न गृह्यते ? उपविष्टमपि न वेति इत्यादौ कथितमिति प्रतीतिरपचायते सा कथमपास्यते । प्रायोप्यनुत्तिसमधिगम्यो हि शब्दार्थः । प्रोच्यन्ते जीवाद्यः पदावर्णां अनेनास्मिन्निति वा प्रवचनं जिनागमः । प्रकर्षाश्लोकः दृष्टेहप्रमाणा-विरोधिता वस्तुयाचात्मानुसारिता च । प्रवचनवाच्योऽर्थः साहचर्यात्प्रवचनमिति संभ्रूयते । तु सन्धः एव-कारार्थः । स च क्रियापदात्परतो प्रवच्य । व्याख्यातं जेनागमार्थं यः अह्वात्येव न तु अह्वाति (?) इत्ययो-गव्यवच्छेदः । स जीवः सम्मादिदृष्टी सम्यग्दृष्टिसम्बन्धाच्च इति प्रतीतपदार्थकथनमावसितं । 'सद्दृहिव' शब्दानं

होता है वह विशेष्य होता है । कहा भी है—प्रतीत पदार्थोंमें विशेषण विशेष्यभाव होता है ॥३०॥

सम्यग्दृष्टी शब्दका वाच्य किस प्रकारका जीव होता है ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

शा—उपविष्ट अर्थात् कथित जिनागममें श्रद्धान करता ही है जो जीव वह सम्यग्दृष्टी है । किन्तु नहीं जानने हुए गुरुके नियोगसे असत्य भी अर्थका श्रद्धान करता है ॥३१॥

टी—शंका—उपपूर्वक दिशि धातुका अर्थ उच्चारण करना है । जैसे 'उपविष्टवर्ण' का अर्थ उच्चारित वर्ण है । आपने उपविष्टका अर्थ कथित कैसे किया है ?

समाधान—आपका कथन सत्य है किन्तु समुच्चारण क्रिया अर्थ वाली धातु उसी अर्थमें है, अन्य अर्थमें नहीं है इसमें हम कोई निबन्धन नहीं देखते । जैसे 'गी दुहुता है' इत्यादि वाक्योंमें गी शब्दका प्रयोग गलकम्बलवाले पशुके अर्थमें देखा जाता है । फिर भी गौ शब्द वाणी आदि अर्थोंमें भी देखा जाता है । इसी प्रकार यहाँ भी क्यों नहीं स्वीकार करते । 'उपविष्टको भी नहीं जानता' इत्यादिमें 'कथित' अर्थकी प्रतीति होती है उसे कैसे छोड़ा जा सकता है ? शब्दका अर्थ उसके प्रयोगसे जाना जाता है ।

जिसके द्वारा अथवा जिसमें जीवादि पदार्थ कहे हैं वह प्रवचन है उसका अर्थ जिनागम है । प्रवचनमें, 'प्र' का अर्थ प्रकृष्ट है । प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे अविच्छेद और वस्तुके यथार्थ स्वरूपका अनुसारी होना वचनकी प्रकृष्टता है यह पहले कहा है । साहचर्यसे प्रवचनके द्वारा कहे गये अर्थको भी प्रवचन कहते हैं । 'तु' शब्दका अर्थ 'ही' है । उसे क्रियापद के आगे रखना चाहिये । अहः जो व्याख्यात जेनागम के अर्थका श्रद्धान करता ही है वह जीव सम्यग्दृष्टी शब्दके द्वारा कहा जाता है, इस प्रकार दिखलाया है । गुह अर्थात् व्याख्याताके नियोगसे इसका यह अर्थ है

१ तथाभाविप्र—आ० मु० ।

करोति । 'अस्मान्वाचमर्षि' असत्यमन्वर्ष । 'अवाचमन्वो' अनपपञ्चन् । किं ? विपरीतमनेनोपचिष्टमिति ।
पुरोर्वास्यापुरस्यामन्वर्ष इति कथनाच्चिद्युज्यते प्रतिपत्त्या बोधा अनेन वचनेन इति नियोगः कथनं । सर्वज्ञ-
प्रतीतस्वाचमन्वर्षः आचार्यपरंपरया अविपरीतः श्रुत्वाऽन्युत्पन्नानेन सूरिणा उपचिष्टो मनेति सर्वज्ञाज्ञाया
रुचिरस्वात्सीति । आज्ञारुचितया सम्यक्चिष्टिर्भवत्येति भावः ।

किमेव विपरीतं प्रतिपन्नमनोऽपि सर्वदा सम्यक्चिष्टिरेव ? नेत्याह—

सुखादो तं सत्त्वं दरसिञ्जंतं जदा न सहृदि ॥

सो वैव हृवइ मिच्छादिदृष्टी जीवो तदो वहुदि ॥३२॥

सुखादो इति । 'सुखादो' सुखात् । 'तं' वात्मना विपरीतं वृहीतमर्थं । 'सत्त्वं' सम्यक् अविपरीतरू-
पेण । 'दरसिञ्जंतं' दर्शयामं प्रकल्पयामं अन्वयेन आचार्येण । 'जदा' यथा यस्मिन्काले । 'न सहृदि' न सह-
पाति । 'सो वैव' स एव सम्यक्चिष्टितोयःकः । 'मिच्छादिदृष्टी हृवइ' मिथ्यादृष्टिर्भवति । आप्तज्ञानाभ्यान-
वैकल्यात् अर्थावात्म्याभ्यानाप्य । 'तदो' ततः । 'वहुदि' प्रभृति आरभ्य । असंविद्यसूत्रांतररचितार्था-
भ्यानाचारम्येति भावः ।

'सुखादो तं सत्त्वं दरसिञ्जंतं' इत्युक्तं केन रचितानि सुत्रानि प्रमाणभूतानीत्यत आह—

सुप्तं गणधरगधिदं तद्देव पथेयमुद्धकहियं च ॥

सुद्धकेमलिषा कहियं अभिषणदसपुण्ड्रिगधिदं च ॥३३॥

ऐसा कहनेसे ओता इस वचनके द्वारा नियुक्त किया जाता है इस लिये उसे नियोग कहा है, मुझे
विपरीत कथन किया है यह न जानते हुए असत्य भी अर्थका श्रद्धान करता है । सर्वज्ञके द्वारा प्रतीत
आशयका अर्थ आचार्य परम्परासे जो ठीक-ठीक सुना और अवधारित किया है वही आचार्यने
मुझे कहा है इस प्रकार सर्वज्ञकी आज्ञामें उसकी रुचि है और आज्ञामें रुचि होनेसे वह सम्यग्दृष्टी
ही है यह उक्त कथनका भाव है ॥३१॥

क्या वह इस प्रकार विपरीत श्रद्धा करते हुए भी सर्वदा सम्यग्दृष्टि ही रहता है ? इसका
उत्तर देते हैं कि नहीं—

भा०—सूत्रसे प्रथम गुरुके उपदेशसे विपरीत रूपसे ग्रहण किये अर्थको सम्यक् अविपरीत
रूपसे अन्य आचार्यके द्वारा दिखलाने पर जब श्रद्धा नहीं करता । वही सम्यग्दृष्टी उस समय से
मिथ्यादृष्टि होता है ॥३२॥

टी०—प्रथम गुरुके निर्देशसे विपरीत अर्थका श्रद्धान करने वाले उस सम्यग्दृष्टीको जब
कोई दूसरे आचार्य गणधर आदिके द्वारा रचे गये आशय प्रमाणका आश्रय लेकर यथार्थ अर्थ
बतलावें और वह उसपर श्रद्धा न करके अपने विपरीत अर्थको ठीक समझे तो सन्देह रहित अन्य
शास्त्रोंमें दिखलाये गये अर्थपर श्रद्धान न करनेके समयसे लेकर वह मिथ्यादृष्टी होता है क्योंकि
वह आप्तकी आज्ञाका श्रद्धान नहीं करता तथा वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी उसे श्रद्धा नहीं है ॥३२॥

ऊपर 'सूत्रसे सम्यक् दिखलाने पर' ऐसा कहा है तो किसके द्वारा रचित सूत्र प्रमाण होते
हैं यह कहते हैं—

भा०—जो गणधरके द्वारा रचा हुआ हो, प्रत्येक मुद्धके द्वारा कहा हुआ हो, या श्रुतकेवली
के द्वारा कहा हुआ हो या अभिन्न दसपूर्विके द्वारा रचा गया हो वह सूत्र है ॥३३॥

सुप्तं गणधरचरित्रं इति । सुप्तं सुप्तं । गणधरश्चैव द्वावसानया उच्यन्ते । ताम्भारयन्ति इति गणधराः ।
दुर्गोत्तिष्ठतिषठा हि तीन रत्नत्रययोर्वैभवं धार्यन्ते ते सप्तविधद्विगुणताः । उक्तं च—

बुद्धितत्त्वविदुष्यन्तोत्थिरत्नत्वं च अन्वधीर्षं ॥

सप्तविध इन्द्रियता गणधरदेवा यन्ते तेति ॥ []

इति । टी. 'गणधरं' इति च संसृजं । केवलिनित्यदिष्टं अर्थं ते हि प्रकल्पितं । तथाभ्यवाचि—अर्थं
कल्पति अन्वधा अर्थं गणधरि गणधरा तेति । 'तद्देव' तर्क्य । 'पत्तेशुद्धयधिवं' च प्रत्येकबुद्धयधिवं च । श्रुतज्ञाना-
वरणकसोपशमात् परोपदेशमन्तरेणाविषयज्ञानातिशयाः प्रत्येकबुद्ध्याः । 'बुद्धकेवलिनः' समस्तश्रुतधारिणा कथितं
वेति । अग्निप्रवृत्तपुष्पिकविधं च । दशपूर्वाभ्यधीयमानस्य विद्यानुप्रवाहस्थाः क्षुल्लकविद्या महाविद्याश्च अंगुष्ठ-
प्रसेनाद्याः प्रज्ञाप्यादश्व तीरागत्य रूपं प्रवर्ष्यं, सामर्थ्यं स्वकर्माभाष्यं पुरः स्थित्वा आशाष्यत्वा किमस्मादिभः
कर्तव्यमिति सिध्यति । उद्धवः श्रुत्वा न भवतीनिरस्माक साध्यमस्तीति ये वदन्ति अचलितचित्तस्ते अविश्व-
वधपूर्णिगः । एतेषामव्यक्तमेव प्रपितं सूत्रं प्रमाणं । प्रमाणेन केवलेशुतेन वा गृहीतमर्थं अरक्तद्विष्टाः संतो
यदुपरिचितं तत्सद्वचसां प्रामाण्यं इति भावः । प्रमाणपरिदृष्टार्थगोचरं अरक्तद्विष्टवस्तुप्रभवं बन्धः प्रमाणं ।
यथा पितुररक्तद्विष्टस्य स्वप्रत्यक्षगोचरं बन्धः वदोऽर्थं रक्त इति । तथा च गणधरारदीनां बन्धः प्रमाणं परि-
दृष्टार्थगोचरं अरक्तद्विष्टवस्तुप्रभवम् ।

टी०—गण सम्बन्धे बारह्मण कहे जाते हैं । जो उन्हे धारण करते हैं वे गणधर हैं । अर्थात्
दुर्गंतिके मार्ग पर चलते हुए गणोंको रत्नत्रयके उपदेश द्वारा धारण करते हैं उन्हे सम्यग्दर्शनादिमें
स्थापित करते हैं । वे गणधर सात प्रकारकी श्रद्धियोंको प्राप्त होते हैं । कहा है—बुद्धिश्रद्धि,
तपश्रद्धि, विक्रियाश्रद्धि, औषधिश्रद्धि, रसश्रद्धि, बलश्रद्धि, और अक्षीणश्रद्धि इन सात प्रकारकी
श्रद्धियोंको प्राप्त गणधरदेव होते हैं । उन्हें नमस्कार हो ॥

वे गणधर केवलियोंके द्वारा उपदिष्ट अर्थको ग्रन्थरूप गूँथते हैं । कहा है—अरहन्त अर्थको
कहते हैं और उनके गणधर उसे ग्रन्थका रूप देते हैं । श्रुतज्ञानावरणके अयोपशमसे परोपदेशके
विना जो ज्ञानातिशयको प्राप्त होते हैं वे प्रत्येकबुद्ध हैं । जो समस्त श्रुतके धारी होते हैं वे श्रुतकेवली
हैं । दश पूर्वोंका अध्ययन करते हुए वसवें पूर्व विद्यानुवादमें स्थित अंगुष्ठ प्रसेना आदि क्षुल्लक
विद्याएँ और प्रकल्पित आदि महाविद्याएँ आकर अपना रूप दिखाकर और अपनी शक्ति कहकर
सामने खड़ी होकर निवेदन करती हैं कि हमारे योग्य कार्य बतायें । उनके वचन सुनकर जो कहते
हैं कि हमें आपसे कोई काम नहीं है, वे अचल चित्त वाले अभिन्न दसपूर्वी होते हैं । इनमेंसे किसी
भी एकके द्वारा रचा गया सूत्र प्रमाण है । केवल ज्ञानरूप अथवा श्रुतज्ञानरूप प्रमाणसे द्वारा गृहीत
अर्थको रागद्वेषसे रहित होकर कहते हैं इस लिये इनके वचन प्रमाण हैं । जो वचन प्रमाणके
द्वारा देखे गये अर्थको कहते हैं और रागद्वेषसे रहित बकासे उत्पन्न होते हैं वे प्रमाण हैं । जैसे
रागद्वेषसे रहित पिताके द्वारा स्वयं प्रत्यक्षसे जानकर कहे गये वचन 'यह बड़ा लाल है' प्रमाण
है । उसी तरह गणधर आदिके वचन प्रमाण हैं क्योंकि अच्छी तरहसे देखे गये अर्थको कहते हैं
और रागद्वेषसे रहित बकासे उत्पन्न हुए हैं ॥३३॥

१. अर्थ भासइ अन्धा सुप्तं गणधरि गणधरा निरुधं ।—आव० नि० १२ ।

२. रत्न इति भा० भु० ।

अनुत्पन्नायां अन्वयतमेन प्रतीतं सूत्रं प्रमाणं तदर्थकत्वं तु की विपरीतं करोति की वाविपरीत-
निवृत्तौ कदाचिदविपरीतार्थकत्वनकारित्वे लक्षणमाहोत्तराचक्षवा—

विहिद्वेषो संविन्नो अच्युतदेशे च संकमिन्नो ह ।

सो वै च मंदधम्मो अच्युतदेशमि मञ्जविन्नो ॥३४॥

'विहिद्वेषो संविन्नो' गृहीत आत्मसात्कृतोऽवधारितोऽर्थः सूत्रस्य वेन सः गृहीतार्थः अच्युतसूत्रार्थं इति अत्रयत् । 'संविन्नो' संसारत्वात् इत्यभावस्यात् परिवर्तनात् अच्युतवचनः । विपरीतवेषेण रमात्कीपाहा अर्थसत्कारणं संसारपरिभ्रमनं मन मिथ्यादृष्टेः सत्तो अविष्यतीति चः समयः । 'अच्युतदेशे' अर्थस्त्वानिषेवस्य सूत्रानुसंधेदे । 'म संकमिन्नो' नैवात्संनयः । तु सञ्च एवकारार्थः । 'सो वै च' स एव च गृहीतार्थः । 'मंदधम्मो' धर्मशब्दाच्चारिणवाची 'चारित्रं कस्य धम्मो कम्मो वो सो लभोति विहिद्वेषो' [प्रथम-० १।७] इति वचनात् । ततो मंदचारित्र इत्यर्थः । 'अच्युतदेशमि' सूत्रार्थव्याख्याने ? 'अविष्यन्तो' भाष्यः । यदि सूत्रानुसारि अनुच्युतवचनं वा सहासात्कारणं साहाय्यमन्वया नेति यावत् ।

किमविषयसंप्रपञ्चवचनार्थो भूत्वा अद्वानवान्यः स एव च सम्मन्वुष्टिः, स एव सम्मत्काराचक-
हत्पारेकानामाह अन्वोऽन्वस्तीति—

धम्माधम्माणासाधि योग्गला कालद्वय जीवे य ।

आचाए सहन्तो समचाराह्वो मणिदो ॥३५॥

इनमेंसे किसी एकके द्वारा रचा गया सूत्र प्रमाण रहो । किन्तु उसके अर्थका कथन कौन विपरीत करता है और कौन अविपरीत करता है ? ऐसी शक्या होनेपर अविपरीत अर्थका कथन करने वालेका लक्षण आगेकी गाथासे कहते हैं—

शा०—जिसने सूत्रके अर्थको ग्रहण किया है, संसारसे भयभीत है वह सूत्रोंके उपदेशमें शक्या करनेके योग्य नहीं ही है । वही गृहीतार्थ मंद चरित्र वाला हो तो सूत्रके व्याख्यानमें भाष्य है ॥३४॥

टी०—जिसने सूत्रका अर्थ अच्छी तरह ग्रहण करके उसे अपने मनमें अवधारित किया है और इत्य भाव परिवर्तन रूप संसारसे डरता है, राग या द्वेषसे विपरीत उपदेश करने पर मुझे मिथ्यादृष्टी होकर अनन्तकाल संसारका परिभ्रमण करना होगा इस प्रकारका जिसे भय है वह तो सूत्रोंके अर्थका उपदेश करनेमें शक्या करने योग्य बिल्कुल नहीं है । गाथामें आये हुए लु शब्दका अर्थ 'ही' है । किन्तु वही गृहीतार्थ यदि मन्दधर्मी है, यहाँ धर्मशब्द चरित्रका वाचक है क्योंकि कहा है—चारित्र ही धर्म है और जो धर्म है उसे सम कहा है । अतः मन्द धर्मका अर्थ मन्द चारित्र लेना चाहिये । तो उसका व्याख्यान यदि सूत्रके अनुसार अथवा युक्तिके अनुकूल हो तब तो ग्रहण करने योग्य है अन्यथा नहीं है ॥३४॥

क्या जो विस्तार पूर्वक सूत्रके अर्थको जानकर अद्वान करता है वही सम्मगृह्णी है, वही सम्मत्त्वका आराधक है ? ऐसी शक्या करनेपर आचार्य कहते हैं कि अन्य भी सम्मगृह्णी होता है—

शा०—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, कालद्रव्य और जीवद्रव्यको आज्ञासे अद्वान करने वाला सम्मत्त्वका आराधक होता है ॥३५॥

'अन्त्यात्मजान्तासात्चित्'— जीवपुद्गलयोः स्वास्थ्यताकाशादेशाद्देशान्तरं प्रति गतिः परिसंभवपर्यायः परप्रयोगतः स्वभावतो वा विद्यते । अन्येषां निष्क्रियतेति न गतिरस्ति । अनयोर्गतिपर्यायस्य बाह्यं गतिहेतुत्व-संज्ञितं गुणं धारयतीति धर्मः । तं न धारयतीत्यधर्मः । यद्यपि जीवादिष्वपि अस्ति गतिहेतुतायाः साधारणं तथापि न तत्र धर्मशब्दस्य वृत्तिः । प्रतिनियतविषया रूढयः इत्युक्तमेव । अथवा स्थितेस्वासीनहेतुत्वावधर्मः । न च जीवादीनां स्थितेस्वासीनहेतुत्वमस्ति । तावेतादुभावपि असंख्यातप्रवेशो एकतामेवोद्ब्रूहन्ती सूक्ष्मो निःक्रियो क्पाधिरहितौ । आकाशं अनंतप्रदेशाभ्यासितं सर्वेषां अवकाशदानसामर्थ्यपितं । पुद्गलस्तु रूपरसगंधस्पर्शवतः अनुस्कंधरूपनेवाद्द्विविधाः । कालो निश्चयेतरविकल्पः । जीवा उपयोगात्मकाः । एतानर्थात् । 'आत्मात्' बाह्या आप्ताना । सावधारणं वेदं । आज्ञासर्वं यद् द्रव्याणि सन्तीति श्रद्धातम्यं भवतीति आप्तवचनवकैमेव श्रद्धां तत्र करोति न निक्षेपनयादिमुलेन, प्रवृत्तयाधिगत्या सोऽपि सम्यक्त्वव्यापकः ।

जीवद्रव्यविषयं नियोगतं श्रद्धानं कर्तव्यं इत्येतदाख्यानामोत्तरगाथा—

संसारसमावण्णा य छविहा सिद्धिमस्सिदा जीवा ।

जीवणिकाया एदे सद्दिदव्वा हु आणाए ॥३६॥

'संसारं' चतुर्गतिपरिभ्रमणं । 'समावण्णा' मग्रासां शोभनाशोभनशरीरग्रहणमोचनाम्बुचताः, स्वबोध-प्रयत्नीतपुण्यपापोदयजनितसुखदुःखानुभवनिरता । नसस्यावरकर्मोदयापादितप्रसत्यावरभावा, विचित्रमति-

टी०— जीव और पुद्गलमें अपने रहनेके आकाशसे अन्य देशमें गमन हलन चलन रूप पर्यायिके द्वारा परके प्रयोगसे अथवा स्वभावेसे होता है । अतः गतिमान ये दो ही द्रव्य हैं । क्रिया रहित होनेसे अन्य द्रव्योंमें गति नहीं है । इन दोनों द्रव्योंकी गतिपर्यायका बाह्य गति हेतुत्व नामक गुण जो धारण करता है वह धर्म है । और जो उस गुणको धारण नहीं करता वह अधर्म है । यद्यपि जीवादिमें भी गतिहेतुताका साधारण धर्म रहता है तथापि उनमें धर्म शब्दकी प्रवृत्ति नहीं है, उन्हें धर्मके नामसे नहीं कहते, क्योंकि रूढ़ि शब्द प्रतिनियत विषयोंमें रहते हैं यह पहले कहा ही है । अथवा जो स्थितिका उदासीन हेतु है वह अधर्मद्रव्य है । जीवादि द्रव्य स्थितिके उदासीन हेतु नहीं हैं । ये दोनों धर्म और अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशी है, एक एक हैं, सूक्ष्म और निष्क्रिय हैं तथा इसमें रूप रस आदि गुण नहीं रहते । आकाश द्रव्य अनन्त प्रदेश वाला है और सब द्रव्योंको अवकाश देनेकी शक्तिसे युक्त है । पुद्गल तो रूप रस गन्ध और स्पर्श गुण वाले हैं । उनके अणु और स्कन्धके भेदसे दो भेद हैं । कालके निश्चयकाल और व्यवहारकाल भेद हैं । जीव उपयोगगुण वाले हैं । इन द्रव्योंका जो आप्तकी आज्ञासे ही श्रद्धान करता है कि छह द्रव्य हैं, निक्षेप नय आदिके द्वारा जानकर श्रद्धान नहीं करता, वह भी सम्यक्त्वका आराधक होता है ॥३५॥

जीव द्रव्य विषयक श्रद्धान नियमसे करना चाहिये, यह कहनेके लिए आगेकी गाथा—

गा०—संसार अवस्थाको प्राप्त छह प्रकारके और सिद्धिके प्राप्त जीव होते हैं । ये जीव-निकाय आप्त की आज्ञाके बलसे श्रद्धान करनेके योग्य हैं ही ॥३६॥

टी०—चतुर्गतिमें परिभ्रमणको संसार कहते हैं । उसे जो प्राप्त हैं वे संसारी हैं । संसारी जीव अच्छा बुरा शरीर ग्रहण करने और त्यागनेमें रुने रहते हैं । अपने मन बचन काय योगके द्वारा बाँधे गये पुण्य पाप कर्मके उदयसे होने वाले सुख दुःख को भोगनेमें लीन रहते हैं । वसनाम

ज्ञानावर्णोपवेन तस्योपशानविशेषेण च एकेन्द्रियाः, विकलेन्द्रियाः, समचेन्द्रियाः पर्याप्तपर्याप्तिकर्मोदयनिर्बन्धित-
वद्विषयवर्तमानवस्तुवितरे च, पृथिव्याविद्यारिरीरभारोद्बह्वनपराः, आयुरभ्यप्रकृतित्वनमृंखलावगाढबन्धनपराधीन-
वृत्तयः । नवविकल्पोनिस्तन्मात्रोपपाततमुष्वासत्तद्बुद्धयः । जराशक्तिनीपीतस्वरक्तः, मृत्युदुर्बलकूरावशि-
संपातचक्रितचेतसः संसारिवः 'कृष्ण्वा' वदप्रकाराः पृथिव्याविद्यारिरीरसंबन्धतः । 'सिद्धि' सम्यक्त्वकेवलज्ञान-
दर्शनवीर्याव्यावाच्यपरमसूक्ष्मत्वावाहनावित्स्वरूपनिष्पत्तिम् । 'अस्तिव' भाषिताः । 'जीवन्' जीवाः । मनु
जीव प्राणधारणे इति वचनात् जीवति-प्राणान्धारयति इति जीवः । प्राणवर्चेन्द्रियादयः कर्मनिर्बन्ध्याः पुद्गल-
स्त्वंधधारणभूतेषु कर्मस्वसत्सु न विद्यन्ते । ततः कथं सिद्धानां जीवतेति ? नैव दोषः, द्विषाः प्राणाः इत्यप्राणा
भावप्राणादचेति । इत्यप्राणा इन्द्रियादयः कर्महेतुकाः । भावप्राणास्तु ज्ञानवर्धनादयः । न ते कर्मनिमित्तकाः ।
कर्माभावे प्रसूतेः । तेन भावप्राणधारणात् जीवता न्याया सिद्धानां । अथवा यदेव कृतप्राणधारणं वस्तु तदेवैव-
मिति प्रत्यभिज्ञोपदर्शितमेकत्वमाश्रित्य जीवन्वपवेशः सिद्धानाम् । अथवा जीवसम्बन्धेतानावति रुद्धिद्वयः ।
रुद्धी च क्रिया व्युत्पत्त्यर्थेव तदसंभवेऽपि तदुपलक्षणगृहीतं सामान्यमाश्रित्य वर्तत एव । यथा गच्छतीति
गौरिति व्युत्पादितोऽपि शोषोऽस्तत्यामपि गती स्वरता नीनिषण्णेत्यत्र वर्तते । गमनेनाद्युपेणोपलक्षितस्य
गोत्वस्य सद्भावात् । एवं प्राणधारणोपलक्षितचेतन्याभवाज्जीवशब्दस्य सिद्धेवु वृत्तिः । 'जीवनिष्कम्बा' जीव-

कर्मके उदयसे त्रस और स्थावर नाम कर्मके उदयसे स्थावर भावको प्राप्त होते हैं । अनेक प्रकारके
मतिज्ञानावरणके उदयसे और उसके क्षयोपशमके विशेषसे एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय
होते हैं । पर्याप्ति नाम कर्मके उदयसे बनी छह पर्याप्तियोंसे यथायोग्य युक्त होते हैं और अपर्याप्ति
नाम कर्मके उदयसे अपर्याप्त होते हैं । पृथिवी आदि कायके शरीरके भारको धारण करने वाले
होते हैं । आयुनामक कर्मकी मजबूत सांकलसे कसकर बन्धनके कारण पराधीन होते हैं । नी
प्रकारकी यौनिके आश्रयसे उत्पन्न हुए शरीरोंमें उनकी अति आसक्ति होती है । उनके रूप और
रक्तको जरा रूपी चुड़ैल पी जाती है । मृत्युरूपी कूर वज्रपातसे, जिसे टालना अशक्य है उनके
चित्त भयभीत रहते हैं । ये संसारी जीव पृथिवीकाय आदिके भेदसे छह प्रकारके हैं ।

सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, वीर्य, अव्यावाच्यत्व, परमसूक्ष्मत्व, अवगाहना आदि
स्वरूपकी प्राप्तिको सिद्धि कहते हैं । उसे प्राप्त सिद्ध जीव हैं ।

शंका—जीव शब्द प्राणधारणके अर्थमें है ऐसा वचन है । 'जीवति' अर्थात् प्राणोंको
धारण करता है वह जीव है । और प्राण इन्द्रिय आदि कर्मजन्य हैं । सिद्धोंके पुद्गलस्त्वन्ध रूप
कर्म नहीं हैं तब सिद्धोंमें जीवपना कैसे है ?

समाधान—यह दोष नहीं है क्योंकि प्राणोंके दो भेद हैं—द्रव्य प्राण और भाव प्राण ।
द्रव्य प्राण इन्द्रिय आदि कर्मके उदयसे होते हैं । किन्तु भाव प्राण ज्ञानदर्शन आदि कर्मके निमित्तसे
नहीं होते, कर्मोंके अभावमें प्रकट होते हैं । अतः भाव प्राण धारण करनेसे सिद्धोंमें जीवपना
न्याय्य है । अथवा जिसने पहले प्राणोंको धारण किया था वही यह है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञानके
द्वारा एकत्वको लेकर सिद्धोंको जीव कहा जाता है । अथवा जीव शब्द चेतनानवानके अर्थमें रुद्ध
है । और रुद्धिमें क्रिया केवल व्युत्पत्तिके लिये होती है । अतः उसके न होनेपर भी उसके उप-
लक्षणसे गृहीत सामान्यका आश्रय लेकर उस शब्दकी प्रवृत्ति होती है । जैसे जो चले वह गौ है
इस प्रकारसे व्युत्पत्ति करनेपर भी गौ शब्द नहीं चलनेपर भी गौके अर्थमें व्यवहृत होता है जैसे
वेदी हुई गौ । गमन तो अद्य व है फिर भी उसमें गोपना वर्तमान है । इसी तरह प्राणधारणसे

समूहाः । 'सहस्रिद्व्या' सु श्रद्धातव्याः एव । 'आषाण' आत्मानामाज्ञावलात् ।

जीवाश्रद्धाने मुक्तिंसारविषयपरिप्राप्तिस्त्यागार्थप्रयासानुपपत्तिरिति भावः । यदि नाम धर्मादिद्रव्या-परिज्ञानात् परिज्ञानसहकारिश्रद्धानोत्पन्नं तथापि नासौ सिध्यादृष्टिदर्शनमोहोदयस्य अश्रद्धानपरिणामस्या-ज्ञानविषयस्याभावात् । न हि श्रद्धानस्यानुत्पत्तिरश्रद्धानं इति गृहीत । श्रद्धानादन्यवश्रद्धानं इदमित्थमिति श्रुतनिरूपितेश्चिः ।

श्रद्धातव्यं प्रकारांतरेणापि निर्देष्टु उत्तरगाथा—पूर्वं सर्वद्रव्यविषयश्रद्धानमुक्तं, पश्चादतिशयप्रति-पायनार्थं जीवद्रव्यविषया श्रद्धा निरूपिता अनंतरगाथया । इदं तु आत्मवादयोऽपि श्रद्धातव्या इति सूच्यते—

आसवसंवरणिज्जरबंधो मुक्तो य पुण्यपावं च ॥ .

तह एव जिणाणाए सहस्रिद्व्या अपरिसेसा ॥३७॥

'आसवसंवरणिज्जर' । आसवत्यनेनेत्यास्रव । आस्रवत्यागच्छति जायते कर्मत्वपर्यायः पुद्गलानां येन कारणभूतेनात्मपरिणामेन स परिणाम आस्रव । ननु कर्मपुद्गलानां नास्रवतः आगमनमस्ति यमाकाश-प्रवेशमाश्रित आत्मा तत्रैवावस्थिता पुद्गला जनतप्रदेशिन कर्मपर्याय भजन्ते 'एयस्मिन्नोगाढं' मिति वचनात् । तत् किमुच्यते आगच्छतीति ? न दोषः । आगच्छन्ति दौकन्ते ज्ञानावरणादिपर्यायमित्येव ग्रहीतव्यं । उपलक्षित चैतन्यके आश्रयसे सिद्धौमें जीव शब्दका व्यवहार होता है ।

आप्तकी आज्ञाके बलसे जीवके इन समूहोंका श्रद्धान करना चाहिये, क्योंकि जीवका श्रद्धान न होनेपर मुक्तिकी प्राप्ति और संसारके विषयोंके त्यागके लिये प्रयास नहीं हो सकेगा । यदि धर्मादि द्रव्योंका ज्ञान न होनेसे ज्ञानके साथ रहनेवाला श्रद्धान नहीं उत्पन्न हुआ । तो भी वह सिध्यादृष्टि नहीं है क्योंकि दर्शन मोहके उदयसे होनेवाला श्रद्धानरूप परिणाम, जिसका विषय अज्ञान है, उसका अभाव है । अश्रद्धानका अर्थ श्रद्धानका न होना नहीं लिया है किन्तु श्रद्धानसे जो अन्य है वह अश्रद्धान है अर्थात् श्रुतमें कहे हुए तत्त्वमें अस्ति अश्रद्धान है ॥३६॥

प्रकारान्तरसे श्रद्धा करने योग्यका कथन करनेके लिए आगेकी गाथा है । पहले सब द्रव्योंके श्रद्धान करनेकी कहा । पीछे अतिशय प्रतिपादन करनेके लिये जीव द्रव्य विषयक श्रद्धानका कथन इसके पूर्ववर्ती गाथाके द्वारा किया । इस गाथायामे आस्रव आदिकी भी श्रद्धा करना चाहिये, यह सूचित करते हैं—

शा०—आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष और पुण्य, पाप ये सब मातों पदार्थ उसी प्रकार जिनदेवकी आज्ञासे श्रद्धान करने चाहिये ॥३७॥

टी०—जिसके द्वारा आना होता है वह आस्रव है । जिस कारणभूत आत्मपरिणामसे पुद्गलोंका कर्म पर्यायरूपसे आगमन होता है वह परिणाम आस्रव है ।

शांका—कर्म पुद्गलोंका आगमन अन्य देशसे नहीं होता । जिस आकाश प्रदेशमें आत्मा ठहरा होता है वहीं पर स्थित अनन्तप्रदेशी पुद्गल कर्मपर्याय रूप होते हैं, क्योंकि आगममें 'एकश्रेत्रावगाढ' कहा है । तब आप कैसे कहते हैं कि आते हैं ?

समाधान—इसमें दोष नहीं है, आगमनका अर्थ ज्ञानावरणादि पर्याय रूपको प्राप्त होना

न देशान्तरपरिस्वदं ब्रह्मागमनं विवक्षितं । तेन तत्प्रदोषनिर्लुब्धमात्सर्गान्तरायासादनोपघातादयः जीवपरिणामाः कर्मस्वपरिणतेः पुद्गलानां साधकतमतया विवक्षिताः आस्रवशब्देनोच्यन्ते । अथवा आस्रवण कर्मतापरिणतिः पुद्गलानां आस्रव इत्युच्यते । संक्रियते संरुध्यते मिथ्यादर्शनादिः परिणामो येन परिणामासरेण सम्यग्दर्शनाधिना, गुण्याधिना वा स संवरः । निर्जयति निरस्यते यया, निर्जरणं वा निर्जरा । आत्मप्रदेशस्थं कर्म निरस्यते यया परिश्रय्या सा निर्जरा । निर्जरणं पृथग्भवनं विश्लेषणं वा कर्मणा निर्जरा । मोक्ष्यतेऽस्यते येन मोक्षण-मात्रं वा मोक्षः । निरवशेषाणि कर्माणि येन परिणामेन क्षायिकज्ञानदर्शनयथाख्यातचारित्रसञ्ज्ञितेन अस्यते स मोक्षः । विश्लेषो वा समस्तानां कर्मणा । बध्यते अस्वतंत्रीक्रियन्ते कार्मणद्रव्याणि येन परिणामेन आत्मनः स बन्धः । अथवा बध्यते परबधतामापद्यते आत्मा येन स्थितिपरिणतेन कर्मणा तत्कर्म बन्धः । पुण्यं नाम अभि-मतस्य प्रापकं । पापं नाम अनभिमतस्य प्रापकं । इह बंधशब्देन जीवपरिणाम एव गृहीतः न कर्म एव, पृथक् पुण्यपापग्रहणात् । ननुक्तेन परिणामेन जीवपुद्गलयोरेवातर्भाव आस्रवादीनां जीवपुद्गलत्वश्रद्धानस्य पूर्व-मुपगम्यस्तत्वात् किमर्थमिदं सूत्रमिति नैष दोषः । विनेयास्यवैचिष्याद्देशनाभेद आगमवाक्येषु । ततः श्रद्धा तत्र सर्वत्र कार्यति चोदित भवति । अश्रद्धानं न मनागपि कार्यम् ।

लेना चाहिये । यहाँ आगमनसे देशान्तरसे चलकर आना विवक्षित नहीं है । अतः आस्रव शब्दसे प्रदोष, निर्लुब्ध, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन, उपघात आदि जीव परिणामोंको पुद्गलको कर्मरूप परिणमनमें साधकतम रूपसे विवक्षित किया है । अथवा 'आस्रवण' अर्थात् पुद्गलोंको कर्मरूप परिणतिको आस्रव कहा है ।

जिस सम्यग्दर्शनादि या गुप्ति आदि रूप अन्य परिणामसे मिथ्यादर्शन आदि परिणाम 'संक्रियते' रोका जाता है वह संवर है । जिसके द्वारा 'निर्जयति' निरसन किया जाता है अथवा निर्जरणको निर्जरा कहते हैं । जिस परिणतसे आत्माके प्रदेशोंमें स्थित कर्म हटाये जाते हैं वह निर्जरा है । कर्मोंके 'निर्जरण' अर्थात् पृथक् होनेको अथवा विश्लेषणको निर्जरा कहते है । जिसके द्वारा 'मोक्ष्यते' अर्थात् छूटते हैं अथवा मोक्षण मात्रको मोक्ष कहते हैं । क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन और यथाख्यात चारित्र नामक जिस परिणामसे समस्त कर्म छूटते है वह मोक्ष है । अथवा समस्त कर्मोंका आत्मासे अलग हो जाना मोक्ष है । आत्माके जिस परिणामसे कार्मणद्रव्य 'रुध्यन्ते' परतंत्र किया जाता है वह बन्ध है, अथवा जिस स्थिति रूप परिणत हुए कर्मके द्वारा आत्मा 'बध्यते' अर्थात् पराधीनताको प्राप्त होता है वह कर्म बन्ध है । इष्टको प्राप्त करानेवालेको पुण्य कहते हैं और अनिष्टको प्राप्त करानेवालेको पाप कहते हैं । यहाँ बन्ध शब्दसे जीवके परिणामका ही ग्रहण किया है, कर्मका नहीं, क्योंकि पुण्य पापका पृथक् ग्रहण किया है ।

शंका—उक्त परिणामसे तो आस्रव आदिका अन्तर्भाव जीव और पुद्गलमें ही होता है । तथा जीव और पुद्गलके श्रद्धानका पहले कथन किया ही है तब इस गाथा सूत्रके कहनेकी क्या आवश्यकता थी ?

समाधान—यह दोष ठीक नहीं है । आगमके वचनोंमें शिष्योंके अभिप्राय नाना होनेसे उपदेशमें भेद होता है । अतः इन सबमें श्रद्धा करना चाहिये यह प्रेरणा की गई है, किञ्चित् भो अश्रद्धान नहीं होना चाहिये ॥३७॥

दृष्टेर्मरणं बालबालमरणं तत्किमुच्यते बालमरणातीति । बालत्व नाम सामान्यं बालबालैर्न विद्यते इति बालमरणानीत्युक्तं ।

कीदृशी तर्हि मतिः कार्या संसारभीरुणा—

जिगम्यं^१ पञ्चयणं इणमेव अनुत्तरं सुपरिसुद्धं ॥
इणमेव मोक्षस्त्रमगोचि मदी कायञ्चिवया तम्हा ॥४२॥

जिगम्यं पञ्चयणं । ग्रन्थति रचयन्ति दीर्घीकुर्वन्ति संसारमिति ग्रथा । मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान, असंयम, कषाया, अशुभयोगत्रय चेत्यमी परिणामाः । मिथ्यादर्शनान्निष्कान्तं कि सम्यग्दर्शन । मिथ्याज्ञानान्निष्कान्तं सम्यग्ज्ञानम् । असंयमात्कषायेभ्योऽशुभयोगत्रयाच्च निष्कान्तं सुचारित्र । तेन रत्नत्रयमिह निर्गम्यशब्देन भ्रम्यते । 'पञ्चयणं' प्रवचनस्येद अभिधेयं । 'इणमेव' इदमेव, 'अनुत्तरं' न विद्यते उत्तरं उल्लङ्घ्यमादिति अनुत्तरम् । 'सुपरिसुद्धं' सुष्टु परिशुद्ध । 'इणमेव' इदमेव । 'मोक्षस्त्रमगोचि' कर्मणा निरवशेषापायस्योपाय इति । 'मदी' इति । 'कायञ्चिवया' कर्तव्या । 'तम्हा' तस्मात् । यस्मादेवंभूतायामसत्या मत्या दुःखमरण-प्राप्तिरतीतकाल इव भविष्यत्यपि काले भविष्यतीति ॥४२॥

शङ्कल—मिथ्यादृष्टि का मरण बालबालमरण है । तब यहाँ बालमरण क्यों कहा है ?

समाधान—बालपना सामान्य है वह बाल-बालमे भी रहता है इसलिये 'बालमरण' ऐसा कहा है ।

विशेषार्थ—प० आशाधर जी ने अपनी टीकामे लिखा है कि कुछ 'सुविहिद' ऐसा पठते हैं और उसका व्याख्यान वे 'हेतुचारित्र' ऐसा करते हैं । अर्थात् 'सुविहिद' को प्रवचनका विशेषण न करके सम्बोधनके रूपमे लेते हैं ॥४२॥

तब ससारसे डरने वालेको कैसी मति करनी चाहिये, यह कहते हैं—

गा०—इसलिये रत्नत्रयरूप जो प्रवचनका अभिधेय है यही मवोत्कृष्ट और पूर्णरूपसे निर्दोष है । यही मोक्षका मार्ग है ऐसी मति करनी चाहिये ॥४२॥

टी०—जो संसारको 'ग्रन्थति' रचते हैं उसे दीर्घ करते है उन्हें ग्रन्थ कहते है । ये ग्रन्थ है मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, असंयम, कषाय और तीन अशुभ योगरूप परिणाम । मिथ्यादर्शनके हटनेसे सम्यग्दर्शन होता है । मिथ्याज्ञानके हटनेसे सम्यग् ज्ञान होता है । असंयम, कषाय और तीन अशुभयोगोके हटनेसे सम्यक्चारित्र होता है । अतः यहाँ निर्गम्य शब्दसे रत्नत्रय कहा है । और 'पञ्चयण' का अर्थ प्रवचनमे कहा गया विषय है । जो प्रवचनमे कहा रत्नत्रय है वही अनुत्तर है अर्थात् उससे उल्लङ्घ्य कोई नहीं है और वही पूर्ण शुद्ध है, वही मोक्षमार्ग अर्थात् समस्त बुराइयों का उपाय है । ऐसी मति करना चाहिये, क्योंकि इस प्रकारकी मतिके न होनेपर दुःखदायक मरणोंकी प्राप्ति अतीतकालकी तरह भविष्यकालमें भी होगी ॥४२॥

१. अन्ये तु निःसम प्रवचनमिति प्राधान्येन व्याचक्षते—सूकारा० ।

तच्च सम्यक्त्वं निरतिचारं 'गुणोपलब्धितं' भावनीयं इत्येतथाचष्टे उत्तरप्रबंधेन । तत्रातिचारनिवृत्त-
नान्योत्तराया—

सम्मत्तादीचारा संका कंक्षा तद्देव विदिगिछा ॥

परदिदृष्टीण पसंसा अनायदणसेवणा चैव ॥ ४३ ॥

'सम्मत्तादीचारा' श्रद्धान्त्य दोषाः । 'संका' शंका, संशयप्रत्ययः । किंत्विदित्यनवधारणात्मकः । स च निश्चयप्रत्ययाभयं बंधनं मलिनयति । ननु सति सम्यक्त्वे त्वतिचारो युज्यते । संशयश्च मिथ्यात्वमावहति । तथाहि मिथ्यात्वभेदेषु संशयोऽपि गणितः । 'संसद्भवमिच्छाहिं' अन्मिच्छाहिं' च तं तिच्चि' इति । सत्यपि संशये सम्यग्दर्शनमस्त्येवेति अतिचारता युक्ता । कथं ? श्रुतज्ञानावरणशयोपशमविशेषाभावात्, उपदेष्टुरभावात्, तस्य वा वचननिपुणता नास्ति तन्निर्णयकारिश्रुतवचनानुपलब्धेः, काललब्धेरभावाद्वा यदि नाम निर्णयो नोप-
जायते । तथापि तु इह यथा सर्वविधा उपलब्ध तथैवेति श्रद्धाभंगमिति भावयतः । कथं सम्यक्त्वहानिः ? एवंभूत-
श्रद्धारहितस्य को वेति किमत्र तत्त्वमिति अदृष्टेषु कपिलावियु सर्वज्ञतैव दुरवधारा, अयमेव सर्वविघ्नोत्तर इति आगमशरणाया को वस्तुयाथात्म्यानुसारी को वा नेति संशय एवेति । यत्तत्त्वाश्रद्धानं संशयप्रत्ययोपनीतत्वात्-

अनिचाररहित और गुणोंसे उज्ज्वल वह सम्यक्त्व भावनीय है यह आगे कहते हैं । उसके अतिचारोंका कथन आगेकी गाथासे करते हैं—

गा०—शङ्का, आसक्ति, उसी तरह विचिकित्सा या ग्लानि अतत्त्वदृष्टिजन्योंकी प्रशंसा और अनायतनोंकी सेवा, ये सम्यक्त्वके अतिचार हैं ॥४३॥

टी०—शङ्का आदि सम्यक्त्वके अतीचार अर्थात् श्रद्धानके दोष हैं । शंका संशयज्ञानको कहते है जो 'यह क्या है' इस प्रकार अनवधारणरूप होता है । वह निश्चयात्मकज्ञानके आश्रयसे होनेवाले सम्यग्दर्शनको मलिन करता है ।

शङ्का—सम्यक्त्व होनेपर उसमें अतिचार लगना उचित है । किन्तु संशय तो मिथ्यात्वरूप है । मिथ्यात्वके भेदोमे संशयको भी गिना है । कहा है—संशयित, अभिमुहीत और अनभिगृहीत तीन प्रकारका मिथ्यात्व है ।

समाधान—संशयके होनेपर भी सम्यग्दर्शन रहता है अतः उसका अतिचारपना उचित है । श्रुतज्ञानावरणका शयोपशम विशेष न होनेसे, उपदेष्टाके अभावसे अथवा उससे वचनोंकी निपुणता न होनेसे, या निर्णयकारी शास्त्रवचनके प्राप्त न होनेसे अथवा काललब्धिके अभावसे यदि किसी विषयका निर्णय नहीं होता, तथापि जैसा इसे सर्वज्ञ भगवान्ने देखा है वैसा ही मैं श्रद्धान करता हूँ' ऐसी भावना करनेवालेके सम्यक्त्वका अभाव कैसे हो सकता है ? जिसके इस प्रकारकी श्रद्धा नहीं है, तथा कौन जानता है तत्त्व क्या है, कपिल आदिको जब देखा नहीं तो उनकी सर्वज्ञताका निर्णय कैसे हो सकता है, यही सर्वज्ञ है, दूसरा नहीं है इसमे आगमका आश्रय लेनेपर कौन आगम यथायं वस्तुको कहता है, कौन नहीं कहता इस प्रकारका संशय ही होता है । इस प्रकारके संशयपूर्वक जो तत्त्वका अश्रद्धान है वह संशयज्ञानके द्वारा उत्पन्न होनेके कारण

१ गुणोपोद्धत अ० । गुणोपोद्धत अ० । २. वचनमावात् वा का—आ० ।—लब्धेः अभावाद्वाका-
म० ।

संज्ञकमिध्यात्वमित्युच्यते । अभ्रद्धानरूपतय लक्षण मिध्यात्वस्य । यथा वक्ष्यति 'तं मिध्यात्वं अथकहल्लं सञ्जायते ह्रीति अन्धात्' इति । अन्यथा मिध्याज्ञानस्य मिध्यादर्शनस्य च भेदो न भवेत्, भेदस्य स्फुटो वाच्यता-सरे 'मिध्यात्वात्मिध्यात्वंसञ्जायते' इति कथितं । किं च छद्मस्थानां रज्जुरगतस्वाप्नुस्वाधिपु किमिदं रज्जुवरयः स्थापुः पुरुषो वा किमित्यनेकः संशयप्रत्ययो जायते इति^१ ते न सम्मगृह्यतः स्तुः ।

कांक्षा वाद्वर्षं आसक्तिः, सा च दर्शनस्य मूलं । यद्येवं आहारे कांक्षा, स्त्रीवस्त्राभ्यामात्मकाराधिपु वाग्द्वयसम्भ्रमगृह्येति विरताविरतस्य वा भवति । यथा प्रमत्तसंयसस्य परीषहाकुलस्य अथयपानाधिपु कांक्षा संभ-वतीति सातिचारवर्धनता स्यात् । तथा भयाना मुक्तिपुलकासा अस्त्येव । इत्युच्यते न काशामात्रमतीचारः किपु वर्धनाद्वलाहानाद्देवपूजायास्तपसश्च जातेन पुष्येन ममेदं कुलं, रूपं, वित्तं, स्त्री-पुत्राधिकं, शत्रुमर्हं, स्त्रीत्वं, पुंसत्वं वा सातिशयं स्यादिति कांक्षा इह गृहीता एषा अतिचारो वर्धनस्य ।

'विचिकित्सा जुगुप्सा' मिध्यात्वासयमाधिपु जुगुप्सायाः प्रवृत्तिरतिचारः स्यादिति चेत् इहापि नियत-विषया जुगुप्सेति मतातिचारत्वेन । रत्नत्रयाणामन्यतमे तद्वति वा कोपादिनिमित्ता जुगुप्सा इह गृहीता । तत-स्तस्य दर्शनं, ज्ञानं, चरणं वाञ्छोभनमिति । यस्य हि वच इवं भद्रं इति श्रद्धानं स तस्य जुगुप्सा करोति । ततो रत्नत्रयमाहात्म्याश्चिर्मुच्यतेऽतिचारः ।

संशय मिध्यात्व कहलाता है । मिध्यात्वका लक्षण अभ्रद्धानरूपता ही है । आगे कहेंगे—'तत्स्वार्थ-का जो अभ्रद्धान है वही मिध्यात्व है' । यदि ऐसा न हो तो मिध्याज्ञान और मिध्यादर्शनमें भेद ही न हो । किन्तु अन्यत्र वचनमें स्पष्ट भेद कहा है । यथा—'मिध्याज्ञान, मिध्यादर्शन और मिध्याचारित्रसे विरत होता है ।' तथा छद्मस्थ जीवोंको रस्सी, सर्प, और स्थापु पुरुष आदिमें, यह रस्सी है या साँप, अथवा स्थापु है या पुरुष, इस प्रकार अनेक संशयज्ञान होते हैं । तब वे सम्मगृह्ये नहीं हो सकेंगे ?

कांक्षा गृद्धि या आसक्तिको कहते हैं । वह भी सम्मगृह्येनका मल है ।

शंका—यदि ऐसा है तो असंयतसम्मगृह्ये अथवा विरताविरत श्रावकको आहारकी या स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला अलंकार आदिकी कांक्षा होती है । तथा परीषहसे व्याकुल प्रमत्तसंयत मुनिके खान-पान आदिकी कांक्षा होती है वह भी सम्मगृह्येनका अतीचार कहलायेगी । तथा भय जीवोंको मुक्ति सुखकी कांक्षा रहती ही है ?

समाधान—कांक्षामात्र अतीचार नहीं है । किन्तु सम्मगृह्येनसे, व्रतधारणसे, देवपूजासे और तपसे उत्पन्न हुए पुष्यसे भुझे अमुक कुल, रूप, धन, स्त्री-पुत्रादि, शत्रु विनाश, अथवा सातिशय स्त्रीपना, पुरुषपना प्राप्त हो इस प्रकारकी कांक्षा यहाँ ग्रहण की है । वह सम्मगृह्येनका अतीचार है ।

विचिकित्सा जुगुप्साको कहते हैं ।

शंका—तब तो मिध्यात्व असंयम आदिमें जुगुप्सा करना भी अतीचार हो जायेगा ।

समाधान—यहाँ भी नियत विषयमें जुगुप्साको अतिचाररूपसे माना है । रत्नत्रयमें किसी एकमें अथवा रत्नत्रयके धारीमें कोप आदिके निमित्तसे होनेवाली जुगुप्साका यहाँ ग्रहण किया है । जिसका जिसमें यह श्रद्धान है कि यह श्रेष्ठ है वह उसकी जुगुप्सा करता है । अतः रत्नत्रयके महत्त्वमें अरुचिका दोषा अतिचार होता है ।

१ तितेस्य-आ० मु० ।

'परिदृष्टीय कर्मका' परब्रह्मोऽकार्यवाची । कर्मिण् व्यवस्थावाची । नापरो ज्ञानः पाटलिपुत्रसि-
त्वाधी । तत्रा कर्मिकत्वात् परे आचार्या अन्ये इत्यर्थः । तथा दृष्टार्थे, परं धाम नतः इत्यनिति वाच्यम् । इह
तु अन्यवाची । दृष्टिः अज्ञा र्थिः । परा अस्या दृष्टिः अज्ञा येषां ते परदृष्टयः । तत्त्वदृष्टयपेक्षया अतस्त्व-
दृष्टिरन्ना तेषां प्रशंसा स्तुतिः ।

'अन्यत्वानसेवा शैव'—अनायतनं वर्द्धनिषं मिथ्यात्वं, मिथ्यावृष्टयः, मिथ्याज्ञानं, उद्दण्डा, मिथ्या-
चारिणं मिथ्याचारित्र्यवन्तः इति । तत्र मिथ्यात्वमथद्धानं तस्तेषां मिथ्यावृष्टिरेवासी मातिचारता । मिथ्या-
वृष्टीनां तु सेवा अङ्गमननं तेषां । मिथ्याज्ञानसेवा नाम निरपेक्षानयदर्शनोपदेश इत्येव तत्त्वमिति अज्ञानमुत्पाद-
यामि ओत्पथामिति क्रियमानो मिथ्याज्ञानिभिः सः संवासः तत्र अनुरागो वा तदनुवृत्तिर्वा तस्तेषां । मिथ्या-
चारिणं नाम मिथ्याज्ञानिनामाचरणं तदनुवृत्तिर्ब्रह्मकोशाख्येक्षया तेषु वा सांप्रत्याधिकं । एतेषां सम्यक्त्वाति-
चारणां वर्जनम् ॥४३॥

गुणान्वर्धनविशुद्धिकारिणो निरुपपत्ति उपगृह्यमित्यनया—

उपगृह्यणद्विदिकरणं वच्छल्लपमाचरणा गुणा भण्डा ॥
सम्यक्त्विसोधीय उपगृह्यकारया चउरो ॥४४॥

उपगृह्यं नाम बर्द्धनं । गृह् बृद्धि वृद्धानिति वचनात् । वाच्यगुणाधी चोपसर्गः उप इति । स्पष्टे-

'परिदृष्टीय' में पर शब्दके अनेक अर्थ हैं । कहीं पर शब्द व्यवस्थाका वाची होता है । जैसे पाटलिपुत्रसे अपर गाँव नहीं है । कहीं परका अर्थ अन्य है । जैसे पर आचार्य अर्थात् अन्य आचार्य । कहीं परका अर्थ इष्ट है । जैसे परं धामको गया अर्थात् इष्ट धामको गया । यहाँ पर शब्द अन्यवाची है । दृष्टिका अर्थ अज्ञा या र्थि है । जिनकी दृष्टि अर्थात् अज्ञा पर अर्थात् अन्य है वे परदृष्टि हैं । अर्थात् तत्त्वदृष्टिकी अपेक्षा अतस्त्वदृष्टि अन्य है । उनकी प्रशंसा-स्तुति सम्यग्-दर्शनका अतीचार है ।

अनायतनके छह भेद हैं—मिथ्यात्व, मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञान, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्र्य और मिथ्याचारित्र्यके धारक । उनमेंसे मिथ्यात्व तो अशुद्धान ही है । उसकी सेवा करनेपर तो यह मिथ्यादृष्टि ही हुआ । अतः मिथ्यात्व सेवा अतीचार नहीं है । मिथ्यादृष्टियोंकी सेवाका अर्थ है उन्हें बहुत मानना । मिथ्याज्ञानकी सेवाका मतलब है निरपेक्ष नयोंका उपदेश देना या 'यही तत्त्व है' इस प्रकारका अज्ञान श्रोताओंको उत्पन्न कराऊँ, इस रूपमें मिथ्याज्ञानियोंके साथ संवास करना, उनसे अनुराग होना अथवा उनकी अनुकूलता । मिथ्याज्ञानियोंके आचरणको मिथ्याचारित्र्य कहते हैं । ब्रह्मलोभ आदिकी अपेक्षासे उनका अनुवर्तन अथवा उनकी संगति । इन सम्यक्त्वके अतिचारोंको छोड़ना चाहिए ॥४३॥

सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करनेवाले गुणोंको कहते हैं—

माया—उपगृह्यण, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना ये चार गुण सम्यक्त्वकी विशुद्धिकी वृद्धि करनेवाले कहे हैं ॥४४॥

टी०—उपगृह्यण अर्थात् उपगृह्यण नाम बढ़ाने का है । क्योंकि 'गृह् और बृद्धि घातुका अर्थ वृद्धि है' ऐसा कहा है । घातुके अर्थ के ही अनुकूल 'उप' उपसर्ग है । स्पष्ट और अशुद्ध

नाशान्मैत्र्येण ओन्नमनःश्रीतिवायिना वस्तुयाचात्म्यप्रकाशनप्रवर्णेन धर्मोपदेशेन परस्य तत्त्वब्रह्मानुभवार्थं तदुप-
बृंहणं । सर्वजनविस्मयकारिणी शतमखप्रमूखशीर्षाणसमितिविरचितोपपत्तितद्वृथी पूर्वा सपाद्य दुर्धरतपो-
योगानुष्ठानेन वा आत्मनि श्रद्धा स्थिरीकरणम् ।

जीवादीनि द्रव्याणि तत्सामान्यविशेषरूपाध्यासितानि उत्पादव्ययद्रोव्यात्मकानि प्रतिसमयमिति जिबैः
सम्यग्भाणि एवमेव नाम्यथा अहमेव जिनाना मतः । न हि जिना वीतरागा विचिताखिलमेवतया याथातथ्या-
रूपापरिगताः विपरीतमुपविशतीति भावनया स्थिरीकरण, अस्थिरस्य रत्नत्रये स्थिरतापादनं । मिथ्यात्वाभि-
मुखस्य सम्यग्दृष्टेरस्थिरस्य मिथ्यात्वं मूलमेव तदनुभवत कर्मादानं, मिथ्यादर्शनाभिरतिप्रमादं कषायो हि बन्ध-
हेतवः । तद्वन्धहेतुक चानतससारपरिभ्रमण चतुरधीतियोगिणशतसहस्रेषु । सहस्रानं तु विचिष्यगतनासकट-
भयप्रदायन्योर्नरकतियग्गतितवित्मन्धोर्बजागंलभूत शतमखमनुष्यलोकयोः (मूलात्म्यरूपभोगादिसपत्नपादनचतुर-
क्रमेण निर्वाणमपि प्रवच्छति । ततो दुःखजलवाहिनी मिथ्यादृष्टिकुल्यामुल्लंघय, प्रतिपद्यस्व जैनी दृष्टिमिति
तत्र स्थिरताकरणम् । तथा सम्यग्ज्ञानभावनया च प्रमादिनबलस दृष्ट्वा एवमसौ बन्धकः ज्ञान हित्वाहित-
प्रकाशनपटु, तदहरेण हितमजानतः कथं तत्र वृत्तिरहितपरिहारो वा । हित्वाहितप्राप्तिपरिहारो विना न मुखा-
धिगमदुःखविकलेषु । तदर्थमेव चार्थं प्राज्ञो जन विलस्यति । तत पचविचस्वाध्यायत्याग मा कृषाः इति
ज्ञाने स्थिरीकरण । अथवा अनधिगतसूत्रार्थनिश्चयस्य तत्र निश्चयसुपादन असकृद्भ्रावनात्मन स्थिरीकरण ।

(शिष्टजनीचित) कानो और मनको प्रसन्नता देनेवाले तथा वस्तुका यथार्थस्वरूप प्रकाशन करनेमें
समर्थ धर्मोपदेशके द्वारा दूसरेके श्रद्धानको बढ़ाना उपबृंहण है । अथवा सर्व जनोको आश्चर्य
पेदा करनेवाली, इन्द्रादि प्रमूख देवगणोके द्वारा की जानेवाली पूजाके समान पूजा रचाकर अथवा
दुर्धर तप और ध्यानका अनुष्ठान करके आत्मामें श्रद्धाको स्थिर करना उपबृंहण है ।

जीवादि द्रव्य अपने सामान्य और विशेष रूपोंसे युक्त होकर प्रतिसमय उत्पाद व्यय द्रोव्या-
त्मक हैं ऐसा जिनदेवने सत्य ही कहा है । ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है । जिनदेवके मतका मैं श्रद्धान
करता हूँ । वीतराग, समस्त पदार्थोंके यथार्थ रूपको जाननेवाले दयालु जिन्देव विपरीत उपदेश
नहीं देने' इस प्रकारकी भावनासे रत्नत्रयमें अस्थिरको स्थिर करना स्थितिकरण है । मिथ्यात्वके
अभिमुख सम्यग्दृष्टिकी अस्थिरताका मूल मिथ्यात्व ही है । मिथ्यात्वका अनुभवन करनेवालेके
कर्माका ग्रहण होता है क्योंकि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय बन्धके कारण हैं । और
उस बन्धके कारण चौरासी लाख योनियोंमें अनन्तकाल तक संसार भ्रमण करना होता है । किन्तु
सम्यग्दर्शन विचित्र कष्ट, संकट और भय देनेवाली नरक गति और तिर्यञ्च गतिके लिए बन्धमयी
अर्गला है, इन्द्र लोक और मनुष्य लोकमें पूर्ण मान्य भोगादि सम्पदाको प्राप्त करानेमें चतुर है,
क्रमसे मोक्ष भी प्राप्त कराता है । इसलिए दुःख रूपी जल जिसमें बहता है उस मिथ्यादृष्टि रूपी
नदीको पार करके जैनी दृष्टि प्राप्त करो । इस प्रकार उसमें स्थिर करना स्थितिकरण है । तथा
सम्यग्ज्ञानकी भावनामें प्रमादी आलसोंको देखकर उससे ऐसा कहना चाहिए—ज्ञान हित और
अहितको प्रकाशित करनेमें चतुर होता है । उसके बिना जो हितको नहीं जानना वह कैसे हितमें
प्रवृत्ति और अहितका परिहार कर सकेगा और हितकी प्राप्ति तथा अहितके त्यागके बिना मुखकी
प्राप्ति और दुःखसे छुटकारा नहीं हो सकता । उसीके लिए तो यह बुद्धिमान मनुष्य कष्ट उठाता
है । अतः पाँच प्रकारको स्वाध्यायका त्याग मत करो । इस प्रकार ज्ञानमें स्थिरीकरण है । अथवा

चारित्र्यात् प्रथममनं कृष्ट्वा हिंसाविषादवर्त्तकानामा प्रवर्त्तयामा इदं दुःखमाप्नो वृत्त्यन्ते, तथा परं ह्यनुमुषतः स्वयं तेषां ह्यन्ते प्राक्तनमित्रैर्बन्धुभिर्वीर्यैर्वैरैः । परञ्चाशुमा यतिमुपैति । दुःखवाम्यसद्वैशं च व्रज्जाति । अलीकं दुःखमिदं बन्धुजनस्वापि चिद्विध्योऽविस्वात्मनः भवति किं पुनरन्वयम् । अत्रिभ्यो कोत्याटयति क्रुद्धा बलिनः । परञ्च च क्रुत्वा यास्यति इत्येवमाद्यसंयमवसरोच प्रख्याप्य नीरोगतां, दीर्घजीवनं, सौख्यं, प्रियवचनाविकं गुणमुपदिश्य अहिंसाविभ्रतापरणफलं चारित्र्ये स्थिरीकरणम् । असयतदोषं सयमगुणं वा पुनः पुनः स्मृत्वात्मनः स्थिरीकरणम् ।

धर्मस्थेषु मातरि भ्रातरि बानुरागो वात्सल्य, रत्नव्यादरो वात्मनः । प्रभावना माहात्म्यप्रकाशनं रत्नत्रयस्य तद्वदां वा ॥४४॥

दर्शनविनयप्रतिपादनायं गाथाद्वयमुत्तरम्—

अरहंतसिद्धयेद्य सुदे य धम्मे य साधुवर्गो य ।

आययिद्य उवज्जाए सुपवयणे दंसणे चावि ॥ ४५ ॥

'अरहंत इत्यादि' । अरिहन्ताज्जोहन्ताइहस्याभावावतिशयपुनःअहंत्वात्पापिगताहृदयधवेसा नोआगम-
भावावर्हन्त इह गृहीताः । न नामाहंन्, निमित्ताभावेऽपि पुण्यकाराग्निमुक्ताहृदयधवेसाः । अर्हता प्रतिबिंबानि
सूत्रके अर्थका निश्चय जिसे नदी है उसे निश्चय कराना । तथा बारम्बार भावना करना आत्मा-
का स्थिरीकरण है ।

चारित्र्ये गिरते हुए को देखकर कहना—जो हिंसा आदि पाप कार्योंमें लगते हैं वे इसी जन्ममें दुःख भोगते देखे जाते हैं । जो दूसरेको मारनेके लिए तैयार होता है वह स्वयं अथवा उसी दूसरेके द्वारा मारा जाता है । अथवा उसके मित्रों और बन्धुओंके द्वारा पूर्व बन्धुके उदीर्घ होनेसे मारा जाता है । मरकर दुर्गतिमें जाता है । दुःखदायी असातावेदनीय कर्मको वांधता है । असत्य बोलने वाला इसी लोकमें बन्धुजनोंके द्वारा द्वेषका भाजन होता है तथा उसका वे विश्वास नहीं करते । फिर दूसरों की तो बात ही क्या है ? बलवान् पुरुष क्रुद्ध होकर झूठ बोलने वालेकी जिह्वा उखाड़ देते हैं । मरकर वह परलोकमें गुंगा होता है । इस प्रकारसे असयमके दोष कहकर और नीरोगता, दीर्घ जीवन, सौन्दर्य, प्रियवचन आदि सयमके गुणोंका उपदेश देकर चारित्र्यमें स्थिर करना अहिंसा आदि व्रतोंके आचरणका फल है । अथवा असयमके दोष और सयमके गुण त्रार-
वार स्मरण करके अपनेको चारित्र्यमें स्थिर करना स्थितीकरण है ।

धर्ममाआंभे माता-पता वा भार्ग्वे अनुराग करना वात्सल्य है । अथवा अपने रत्नत्रयम आदरभाव रखना वात्सल्य है । रत्नत्रयका अथवा रत्नत्रयके धारकोका माहात्म्य प्रकट करना प्रभावना है ॥४४॥

दर्शन विनयका कथन करनेके लिए आगे दो गाथा कहते हैं—

शा०—अरहन्त, सिद्ध और प्रतिबिम्बोमें श्रुतमं और धर्ममें और साधुवर्गमें आचार्यमें उपाध्यायमें और सुप्रबचनमें दर्शनमें भी ॥४५॥

टी०—'अरि' अर्थात् मांहीनीयकर्मका नाश कर देनेसे, 'रज' अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शना-
वरणकर्मको नष्ट कर देनेसे, 'गृहस्य' अर्थात् अन्तर्गायकमका अभाव कर देनेसे, और सात्त्विय
पूजाके योग्य होनेसे अर्हत् कहे जानेवाले नो आगमभावरूप अर्हन्तोंका यहाँ ग्रहण किया है ।

शोभनित्यमित्यसंबंधावर्हद्रूपवेषवर्तिन पूजातिशयाहंस्वैरपि अरिहूनाविद्युनासंभवाग्नेह नुहन्ते । आगमद्रव्याहंस्व-
हृत्स्वरूपव्यावर्धनपरब्राह्मणतोऽनुपयुक्तस्तदर्थेऽन्यत्र व्याभूतः । ज्ञायकशरीराहंस्वनाम तत्प्राभृतसत्य निकाशबोधर
शरीरं । बलिष्ण्णात्परम अरिहूनात्प्रयो भविष्यति युथाः स आम्बहृन् । तीर्थकरनामकर्म तद्व्यतिरिक्तद्रव्याहृन् ।
वर्हद्रवावर्धनपरप्राभृतप्रत्ययोऽग्निर्भासो बोध आगमभावाहृन् । एतेषु अरिहूनाविद्युनागमभावात् नेहाहंस्व-
ज्येन ब्रह्मन् ।

एवं नामसिद्धः अलम्बसकलात्मस्वरूपे सिद्धशब्दः । मय्य वा निमित्तनिरपेक्षा सिद्धसंज्ञा । स्थापनासिद्धा
इति तत्प्रतिबिम्बानि उच्यन्ते । ननु सशरीरस्यात्मनः प्रतिबिम्बं युज्यते, असरीराया तु शुद्धात्मनां सिद्धानां कथं
प्रतिबिम्बसंभवः ? पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया शरीरमनुगतो य आत्मा सयोगकेवलीतरो वा न शरीराग्निर्भवतु'
उच्यते । बिम्बे हि शरीरात्संसारिता न स्यात् । अशरीरः ससारी वेति विरुद्धमेतत् । ततः शरीरसंस्था-
वर्षिष्वात्प्रापि संस्थानवानेव संस्थानवतोऽप्यतिरिक्तत्वाच्छरीरस्यात्मवत् । स एव चायं प्रतिपन्नसम्बन्धत्वात्पट-
गुण इति स्थापनासम्भवः । आगमद्रव्यसिद्धः सिद्धप्राभृतज्ञः सिद्धशब्देनोच्यते अनुपयुक्तः । सिद्धप्राभृतज्ञस्य

नामसे जो अर्हन्त हैं उनका यहाँ ग्रहण नहीं है । अर्हन्त संज्ञाके जो निमित्त कहे हैं उनके अभाषमें
भी जबरबस्तीसे जो अर्हन्त नाम रख दिया जाता है उसे नाम अर्हन्त कहते हैं । अर्हन्तोके प्रतिबिम्ब
'वे अर्हन्त यहाँ हैं । इस प्रकारकी स्थापनाके सम्बन्धसे अर्हन्त कहे जाते हैं और वे सात्तिसय
पूजाके योग्य भी हैं फिर भी उनमें मोहनीय कर्मका विनाश आवि गुण न होनेसे यहाँ उनका
ग्रहण नहीं किया है । अर्हन्तके स्वरूपका वर्णन करनेवाले शास्त्रका ज्ञाता, जो उसमें उपयोग
नहीं लगा रहा किसी अन्य कार्यमें लगा है वह आगम द्रव्यअर्हन्त है । उस अर्हन्तविषयक शास्त्रके
ज्ञाताका जो भूत वर्तमान और भावि शरीर है वह ज्ञायक शरीर अर्हन्त है । जिस आत्मामें
अरिहूना आदि गुण भविष्यमें होंगे वह भाविअर्हन्त है । तीर्थङ्करनामकर्म तद्व्यतिरिक्त द्रव्य-
अर्हन्त है । अर्हन्तके वर्णनमें तत्पर शास्त्रका जो ज्ञान है—अर्थात् अर्हन्तविषयक जो ज्ञान है वह
आगमभाव अर्हन्त है । इन सबमें अरिहूना आदि गुणोका अभाव होनेसे यहाँ अर्हन्त शब्दसे उनका
ग्रहण नहीं किया है ।

इसी प्रकार जिसने सम्पूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त नहीं किया उसमें सिद्ध शब्दका व्यवहार-
नाम सिद्ध है । अथवा सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तिमें निमित्त आठ कर्मके विनाशकी अपेक्षा न करके
जिसका नाम सिद्ध रखा गया है वह नामासिद्ध है । सिद्धोंके प्रतिबिम्बोंको स्थापनासिद्ध कहते हैं ।

शंका—शरीरसहित आत्माका प्रतिबिम्ब तो युक्त है । शरीर रहित शुद्ध आत्माओंका
प्रतिबिम्ब कैसे सम्भव है ?

समाधान—पूर्वभाव प्रज्ञापननयकी अपेक्षा जो आत्मा शरीरमें था, वह सयोगकेवली हो
या अन्य हो, उसे शरीरसे अलग नहीं किया जा सकता । यदि उसे शरीरसे पृथक् ही सर्वथा कर
दिया जाये तो उसका ससारोपना नहीं बनता; क्योंकि शरीरसे रहित हूँ और संसारी हो यह
तो परस्पर विरुद्ध है । अतः शरीरके आकारकी तरह चेतन आत्मा भी आकारवान ही है क्योंकि
वह आकारवानसे अभिन्न है, जैसे शरीरमें रहनेवाला आत्मा । वही यह सम्यक्त्व आवि आठ-
गुणोंसे सहित है इस प्रकार सिद्धकी स्थापना सम्भव है । जो सिद्ध विषयक शास्त्रका ज्ञाता उसमें
उपयुक्त नहीं है और उसे सिद्ध शब्दोंसे कहा जाता है तो वह आगमद्रव्य सिद्ध है । सिद्धविषयक

धारीरं ज्ञायकधारीरं । भविष्यत्सिद्धत्वपर्ययो भाविसिद्धः । व्यवतिरिक्तसिद्धो न संभवति । सिद्धत्वं न कर्मकारणम् इति सकलकर्मापान्नेयुक्त सिद्धता । पुत्रवत्प्रत्यक्ष्य तदुपकारिणोऽर्थाभ्यान्मोर्मासिद्धताभावः । सिद्धप्रानुत्तानुवादि-
सिद्धज्ञानपरिणत भावमभावादिद्धः । निरस्तभावप्रत्यक्ष्यकर्मवत्सकलकृतः परिप्राप्तसकलधायिकभावः नो जागमभावा-
दिद्धः । स इह गृहीतो न इतरे सकलत्वस्वरूपप्राप्यभावात् ।

‘वैश्वि’ चैत्यं प्रतिविम्बं इति यावत् । कस्य ? प्रत्यासत्तेः श्रुत्योरेवाहृत्सिद्धयोः प्रतिविम्बग्रहणं । अथवा
मध्यग्रहोपः पूर्वोत्तरयोश्चत्वापनापरिग्रहार्थस्तेन साध्यादित्वापनापि गृह्यते ।

श्रुतज्ञानावरणक्षयोपक्षमाज्ज्ञातं वस्तुयाथात्म्यवाहि शब्दानामुगतं श्रुतं अंगपूर्वप्रकीर्णकमेवमिन्नं, तीर्थकर
श्रुतकेवत्यादिनिवारणितो वचनसंदर्भो वा, कियञ्कारभूतं वा ।

धर्मशब्देन चारित्रं समीचीनमुच्यते । ज्ञानवर्धनाभ्यामनुगतं सामायिकविधि पंचविकल्पम् । दुर्गतिप्रस्थित
वीचधारणात्, शुभे स्थाने वा यथाति इति धर्मशब्देनोच्यते । अथवा

‘अंती गृह्य जन्मव च लाघव तव संज्ञयो ऽहिकल्पवत् ।

तद् गृहीतं जन्मवैरं सत्त्वं ज्ञानो व इत चन्ना ॥ —[मुलाधार ८।६२]

इति सूत्रांतरनिदिष्टधर्मपरिग्रहः । क्रोधनिमित्तसाम्निध्येऽपि काकुष्याभावः क्षमा स्नेहकार्याद्यनपेक्षः ।
जात्याद्यभिमानाभावो मान शोषाद्येकस्य दृष्टकार्यानिपाधयो मार्दवम् । आहृष्टान्तद्वयसूत्रवदक्रावताभावः आर्जव-

शास्त्रके ज्ञाताओंका धारीर ज्ञायकधारीर है । भविष्यमें जिसे सिद्धपर्याय प्राप्त होगी वह भाविसिद्ध है । तद्व्यतिरिक्त सिद्ध सम्भव नहीं है क्योंकि सिद्धत्वपर्यायिका कारण कर्म नहीं है । सिद्धता तो समस्त कर्मके बिनाशसे प्राप्त होती है । उस सिद्धत्वपर्यायिका उपकारी पुद्गलब्रह्म नहीं है इसलिए नोकर्मसिद्ध भी नहीं हैं । सिद्ध विषयक शास्त्रके अनुसार सिद्धोंके ज्ञानरूप जो परिणत है वह आगम भाव सिद्ध है । जिसने भावकर्म और ब्रह्मकर्ममलरूप कलंकको नष्ट करके सकलधायिक-
भावोंको प्राप्त कर लिया है वह नो आगम भावसिद्ध है । उसीका यहाँ ग्रहण किया है अन्यका नहीं; क्योंकि उन्होंने पूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त नहीं किया है ।

चैत्य प्रतिविम्बको कहते हैं । चैत्य शब्द अर्हन्त और सिद्धके समीप है अतः सिद्ध और अर्हन्तके ही प्रतिविम्ब ग्रहण करना । अथवा उससे पूर्वकी और उत्तरकी स्थापनाका ग्रहण करनेके लिए चैत्य शब्दको मध्यमें रखा है । उससे साधु आदिकी स्थापनाका भी ग्रहण होता है ।

श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपक्षमसे उत्पन्न हुआ तथा वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेवाला शब्दान सहित ज्ञान श्रुत है । उसके भेद ग्यारह अंग, चौदह पूर्व और अंगबाह्य हैं । अथवा तीर्थकर और श्रुतकेबली आदिके द्वारा रचा गया वचन सन्दर्भ श्रुत है । अथवा जो लिपि रूप अक्षरश्रुत है वह श्रुत है । धर्म शब्दसे समीचीन चारित्र कहा जाता है । ज्ञान और सम्यग्दर्शनसे अनुगत वह चारित्र सामायिक आदिके भेदसे पाँच प्रकार का है । दुर्गतिमें पड़े हुए जीवको धारण करनेसे अथवा शुभ स्थानमें धरनेसे उसे धर्म शब्दसे कहते हैं अथवा धर्म शब्दसे शास्त्रमें कहे गये क्षमा, मार्दव, आर्जव, लाघव, तप, संयम, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य, सत्य, त्याग ये दस धर्म ग्रहण किये हैं । क्रोधके निमित्तोंके रहते हुए भी कलुषताके अभावको क्षमा कहते हैं ! यह क्षमा किसी स्नेह सम्बन्धी कार्य आदिकी अपेक्षाके बिना होती है । मानकी बुराइयोंकी अपेक्षा न करके तथा लौकिक

मित्युच्यते । ब्रह्मेषु सर्वेषु भावमूलो व्यवसोपनिपातः सकल इति ततः परित्यागो लाघव । अक्षनादि र्गत्यागान्-
तिष्ठा क्रिया अक्षयवृत्तिरूपकता द्वावशाविधा तपः । इन्द्रियविषयरागद्वेषाभ्यां निवृत्तिरिन्द्रियसंयमः । षड्बीज-
निकाशवाचाऽकरणाक्षरः प्राणिसंयमः । अकिंचनया सकलप्रयत्यागः । ब्रह्मचर्यं नमविषयब्रह्मपालनम् । सा
साधुनां हितसौख्यं सत्यम् । सयतप्राप्त्योव्याहारविदामं त्यागः । एते षडधर्माः ।

साध्यन्ति रत्नत्रयमिति साधवस्तेषां वर्गं समूहम् । तस्मिन्वस्तुयाथात्म्यप्राप्तिज्ञाने परिणतिज्ञानाचारः ।
तत्त्वब्रह्मज्ञानपरिणामो दर्शनाचारः । पापक्रियानिवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचारः । अनक्षनादिक्रियामु वृत्तिस्तप
क्षत्राचारः । स्वक्षनत्यनिगूहनरूपा वृत्तिज्ञानादौ वीर्याचारः । एतेषु पंचस्वाचारेषु ये तन्ते पराश्च प्रदत्तंयत् ते
आचार्याः । रत्नत्रयेषु उच्यता जिनागमार्थं सम्यगुपविसंति ये ते उपाध्यायाः उपेत्य विनयेन डॉकिरवा अचीयते
क्षुत्तवस्मादित्युपाध्यायः ।

‘षडधर्मो’ प्रवचने । ननु श्रुतशब्दं प्रवचनवाची तत पुनस्ततता ? रत्नत्रय प्रवचनशब्देनाच्यते । तथा
कोस्तम्—‘आत्मब्रह्मचारित्तयेषां षडधर्ममिति’ । अथवा श्रुतज्ञान श्रुतमित्युक्त पूर्वमिह तु प्रोच्यते जीवादेय-
पदार्था इति शब्दश्रुतमुच्यते । ‘ब्रह्मणे’ सम्यग्दर्शने च ॥ ४५ ॥

कार्योक्तिं प्रयोजनके विना जाति आदिका अभिमान नहीं होना माद्व है । एक ऐसे भागेकी तरह
जिसके दोनों छोर स्त्रीचे हुए है, कुटिलताके अभावको आजंब कहते है । ब्रह्मोमे ‘यह मेरा है’
यह भाव समस्त विपत्तियोंके आनेका मूल है अतः उसका त्याग लाघव है । लौकिकफलकी अपेक्षा
न करके भोजन आदिके त्यागरूप क्रियाका नाम तप है उसके बारह भेद है । इन्द्रियोंके विषयोंमे
रागद्वेष न करना इन्द्रियसंयम है । छह कायके जीवोंको वाधा न पहुचाना दूसरा प्राणिसंयम है ।
समस्त परिग्रहका त्याग अकिञ्चन्य धर्म है । नौ प्रकारसे ब्रह्मका पालन ब्रह्मचर्य है । सज्जन
साधु पुरुषोंके हितकारी भाषणको सत्य कहते हैं । सयमियोंके योग्य आहार आदि देना त्याग है ।
ये दस धर्म हैं ।

जो रत्नत्रयका साधन करते हैं वे साधु हैं । उनके समूहको साधुवर्ग कहते हैं । वस्तुकिं
यथार्थस्वरूपको ग्रहण करनेवाले ज्ञानमे लगना ज्ञानाचार है । तत्त्वश्रद्धानरूप परिणाम दर्शना-
चार है । पाप कार्योंसे निवृत्तिरूप परिणति चाग्निाचार है । अनक्षन आदि क्रियाओंमें लगना
तप आचार है । ज्ञानादिमें अपनी शक्तिको न छिपाकर प्रवृत्ति करना वीर्याचार है । इन पांच
आचारोंमें जो स्वयं प्रवृत्त होते हैं और दूसरोंको प्रवृत्त करते हैं वे आचार्य हैं । जो रत्नत्रयमे
तत्पर हैं और जिनागमके अर्थका सम्यक् उपदेश करते हैं वे उपाध्याय हैं । विनय पूर्वक जाकर
जिनसे श्रुतका अध्ययन किया जाता है वे उपाध्याय हैं । पवयणका अर्थ प्रवचन है ।

अक्षर—श्रुत शब्दका अर्थ भी प्रवचन है । वह आ चुका है । फिर प्रवचन कहनेसे पुनरु-
च्यता दोष होता है ।

समाधान—प्रवचन शब्दसे रत्नत्रयको कहते हैं । कहा है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य ये
प्रवचन हैं । अथवा पूर्वमें श्रुतसे श्रुतज्ञान कहा है । यहाँ प्रवचन शब्दसे शब्दरूप श्रुत कहा है ।
जिनके द्वारा जीवादि पदार्थ ‘प्रोच्यन्ते’ प्रकर्षरूपसे कहे जाते हैं वह प्रवचन है इस व्युत्पत्तिके
अनुसार प्रवचनका अर्थ शब्दरूप श्रुत होता है । दर्शनसे सम्यग्दर्शन जानना ॥४५॥

भस्मी पूजा वर्णज्वज्जर्णं च पासनामवर्णवादस्त ॥

आसादणपरिहारो दंसणविणजो समासेण ॥४६॥

क भस्मी पूजा ? अर्हदाविगुणानुरागो भक्तिः । पूजा द्विप्रकारा द्रव्यपूजा भावपूजा चेति । गन्धपुष्प-
द्वयसंघादिवानं अर्हदाद्युदित्य द्रव्यपूजा अन्मुत्थानप्रदक्षिणीकरणप्रथमनादिका कायक्रिया च, भावा गुणसस्त्वचं
च । भावपूजा मनसा तद्गुणानुस्मरण ।

'वर्णज्वज्जर्णं' वर्णशब्दः क्वचिद्रूपवाची शुक्लवर्णमानय शुक्लरूपमिति । अक्षरवाची क्वचिद्वया 'सिद्धी-
वर्णसमाप्तायः' इति । क्वचित् ब्राह्मणादी यथाचैव वर्णानामधिकार इति । क्वचिद्व्यसि वर्णार्थी इवाति । तथा
इहोत्पन्नतराथो गृहीतः । तेन अर्हदादीनां यथाजननं विदुषा परिषदि । अन्वेषामविषयवेदिना दृष्टेऽटविषय-
वचनताप्रदर्शनेन निर्वेद्य तत्संवादावचनतया महत्ताप्रख्यापन भगवता वर्णजननम् ।

चैतन्यमात्रसमवस्थानरूपे निर्वाणे नापूर्वातिशयप्राप्तिरस्ति । यन्मन्तरेण सर्वात्मसु चैतन्यस्य सदा
स्थितः । विशेषरूपरहितत्वादसम्बन्धतन्मं अपुष्पवत् । प्रकृतेरचेतनाया मुक्तिरनुपयोगिनी । किं तथा बद्धया
मुक्त्या वा कलमात्मन ? अनया दिशा कापिलमते सिद्धता दुरुत्पादा । बुद्धचादिविशेषगुणरहितता सिद्धता-
प्रत्येया । आत्मनोऽचेतनता क' मचेतनोऽस्मिन्नयति । विशेषरूपशून्य वा कथमात्मनः सत्ता ? नैव चासात्वात्मा

शा०—भक्ति, पूजा, वर्णजनन और अवर्णवादका नाश करना तथा आसादनाका दूर करना
संक्षेपसे दर्शन बिनस है ॥४६॥

टी०—भक्ति और पूजा किसे कहते हैं ? अर्हन्त आदिके गुणोंमें अनुराग भक्ति है । पूजाके
दो प्रकार हैं—द्रव्यपूजा और भावपूजा । अर्हन्त आदिका उद्देश करके गन्ध, पुष्प, धूप, अक्षत
आदि अर्पित करना द्रव्यपूजा है । तथा उनके आदरमें सहे होना, प्रदक्षिणा करना, प्रणाम आदि
करना रूप शारीरिक क्रिया और वचनसे गुणोंका स्तवन भी द्रव्यपूजा है । मनसे उनके गुणोंका
स्मरण भाव पूजा है ।

'वर्णजनन' में वर्णशब्द कही तो, रूपका वाचक है जैसे 'शुक्लवर्ण लामो' यहाँ उसका अर्थ
शुक्लरूप है । कही 'वर्ण' अक्षरका वाचक है । जैसे 'सिद्धो वर्णसमाप्तायः' यहाँ वर्णका अर्थ
अक्षर है । कहीं वर्णशब्द ब्राह्मण आदिका वाचक है । जैसे 'यहाँ वर्णोंका ही अधिकार है । यहाँ
वर्णसे ब्राह्मण आदि लिये गये है । कहीपर वर्णका अर्थ यश है । जैसे वर्णार्थी दान करता है ।
यहाँ वर्णका अर्थ यश है । यहाँ भी वर्णसे यश अर्थ लिया है । अतः विद्वानोंकी सभामे अर्हन्त
आदिका यश फैलाना, दूसरे असर्वज्ञोंकी प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे विरुद्धता दिखलाकर
उनके वचनोंके सवादि होनेसे महत्ताका ख्यापन करना अर्हन्तोंका वर्णजनन है ।

चैतन्यमात्रमें स्थितिरूप निर्वाणको माननेपर अपूर्व अतिशयकी प्राप्ति नहीं होती । विना
प्रयत्नके ही सभी आत्माओंमें चैतन्य सदा रहता है । तथा विशेषरूपसे रहित चैतन्य आकाशके
फूलके समान असत् होता है । अचेतन प्रकृतिकी मुक्ति मानना व्यर्थ है । उसके बँधने या मुक्त
होनेसे आत्माओंका क्या ? इस प्रकार सांख्यके मतमें सिद्धता नहीं बनती ।

वैशेषिक आदि दूसरे दार्शनिक सिद्ध अवस्थामें बुद्धि आदि विशेष गुणोंका अभाव मानते
हैं । इस तरह कौन सचेतन आत्माको अचेतन बनाना पसन्द करेगा । तथा विशेष धर्मसे शून्य

परामुपमत्तः शुद्धधाविपुत्ररहितस्वाङ्गस्ववत् । रागादिक्लेशवासनारहितं चित्तमेव मुक्तिसन्धेनोच्यते इत्यपानि चित्तमन्वेषसाधारणरूपं । यत्कं चिद्रूपं नेतरिति तस्य स्वभावोऽनिरूप्यः । असाधारणस्वरूपशून्यं यत्तत्त्वज्ञाना—नकस्तामरसं । असाधारणरूपशून्यं च विवक्षितान्वितादस्थितिः । एवं मत्तान्तरे निरूपितानां सिद्धा-
वासनभट्टमानत्वाद्वाकारिसकलकर्मलेपनिर्वहणसमुपजाताचलत्वात्प्रत्यक्षमवस्थिताः कर्मतन्त्रानात्प्रकेन सुखेन संतुष्टाः सिद्धा इति तन्माहात्म्यकवर्णनं सिद्धानां वर्णजननम् ।

यथा शीतरागद्वेषाद्विबलोकचूलाग्रमययोर्हृदावयो भव्यानां शुभोपयोगकारणतामुपयान्ति तद्वदेतामपि एषीयानि प्रतिबिम्बानि । बाह्यद्रव्यालंबनो हि शुभोऽशुभो वा परिणामो जायते । यथात्मनि मनोज्ञानोज्ञ-
विषयसान्निभ्याद्वायद्वेषो यथा स्वपुत्रसदृशं सुदर्शनं पुत्रस्मृतेरालंबनं । एवमर्हृदाविपुत्राङ्गस्मरणनिबन्धनं प्रति-
बिम्बम् । तदामुस्मरणं अनिनवाशुभप्रकृतेः संवरणे, प्रत्यक्षशुभकर्मदाने, मूहीतशुभप्रकृत्यनुभवस्फारीकरणे, पूर्वोपात्ताशुभप्रकृतिपटलरसापहासे च क्षममिति सकलानिमित्तपुरुषार्थसिद्धिहेतुतया उपासनीयानीति चैत्यमहृता-
प्रकाशनं चैत्यवर्णजननमिति ।

केवलज्ञानवशेषबीबादिद्विभ्याधात्मात्म्यप्रकाशनपटु, कर्मवर्णनिर्मुक्तनोद्यतशुभध्यानवर्धनमलयपामानं स्व-
परसमुद्गरणनिरतविनयेयजनताचित्तप्रार्थनीय, प्रतिबद्धाशुभाशुभं, अग्रमत्ततायाः संपादक सकलविकलप्रत्यक्षज्ञान-

आत्माकी सत्ता कैसे रहेगी । तथा दूसरोंके द्वारा माना गया आत्मा बुद्धि आदि गुणोंसे रहित होनेसे अस्मके समान है ।

बौद्धमतमें रागादि क्लेशवासनासे रहित चित्त ही मुक्ति शब्दसे कहा जाता है । उनके मतमें भी चित्त अत्यन्त असाधारणरूपको लिये हुए हैं । यदि चिद्रूप एक ही है अन्य नहीं है तो उसका स्वरूप निरूपण करनेके योग्य नहीं है । जो असाधारण स्वरूपसे शून्य होता है वह असत् होता है जैसे आकाशका कमल । और विवक्षित चित्तसे अन्य चित्त असाधारण स्वरूपसे शून्य है । इस प्रकार अन्य मतोंमें कहे गये सिद्धोंका स्वरूप नहीं बनता । अतः बाधा वेदा करनेवाले समस्त कर्मरूपी लेपको जला डालनेसे उत्पन्न हुए निश्चल स्वास्थ्यसे युक्त और अनन्तज्ञानरूप सुखसे सन्तुप्त सिद्ध होते हैं । इस प्रकार उनके माहात्म्यको कहना सिद्धोंका वर्णजनन है ।

जैसे राग-द्वेषसे रहित और तीनों लोकोंके चूडामणि अर्हन्त आदि भव्यजीवोंके शुभोप-
योगमें निमित्त होते हैं, उन्हींकी तरह उनके ये प्रतिबिम्ब यां शुभोपयोगमें निमित्त होते हैं । क्योंकि बाह्य द्रव्यका आलम्बन लेकर शुभ अथवा अशुभ परिणाम होते हैं । जैसे मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयोंकी समीपतासे आत्मामें राग-द्वेष होते हैं । या जैसे अपने पुत्रके समान ध्ययितका दर्शन पुत्रकी स्मृतिका आलम्बन होता है । इसी तरह प्रतिबिम्ब अर्हन्त आदिके शुभोंके स्मरणमें निमित्त होता है । यह गुणस्मरण नवीन अशुभ प्रकृतिके आश्रयको रोकनेमें, नवीन शुभकर्मके बन्धमें, बन्धे हुए शुभकर्मके अनुभागको बढ़ानेमें और पूर्वबद्ध अशुभ प्रकृति समूहके अनुभागको कम करनेमें समर्थ होता है । इस तरह समस्त इष्ट पुरुषार्थकी सिद्धिमें कारण होनेसे प्रतिबिम्बोंकी उपासना करना चाहिए । इस रूपसे प्रतिबिम्बकी महत्ताका प्रकाशन चैत्यवर्ण जनन है । श्रुतज्ञान कैवलज्ञानकी तरह समस्त जीवादि द्रव्योंके यथार्थस्वरूपको प्रकाशित करनेमें दक्ष होता है, कर्मरूपी धामको मूलसे नष्ट करनेमें उद्यत शुभध्यानरूपी धन्दनके लिए मलयपर्वतके समान है । अपना और दूसरोंका उद्धार करनेमें लगे हुए शिष्यजनोंके द्वारा अन्तःकरणसे प्रार्थनीय है

बीजं, सर्वोपरणयोः समीचीनयोः प्रवर्तकं इति निरूपया श्रुतवर्णजननम् ।

दुःखात् मातुः, सुखं दत्तुः, निवीनां रत्नानां चाधिपत्ये स्थापयितुं, स्वचक्रविक्रमानमितसकलभूपालके-
चरमवद्वन्द्वनरुच्यक्रांशुचक्रांशुनाम्नायोः पातयितुं, सुरविकासिनीचेतःसंभोहावहं, तदीयचिःसुठत्पाठीनकोपन-
रायनविषयवर्धनीं, हृषीकेशरवयोर्द्विभ्रमसादरोमांचरुचक्रमाचरितुमुद्यतां, रूपशोभामन्दित्रां संवाद्ययितुमिति-
शक्तितानिमाद्यिगुणप्रसाधनां, सामानिकविसुरसहस्रानुयानोपनीतमहतां, सततप्रत्यङ्गयुवताकिगितां सुमगतालता-
रोहणशिल्पिन्, अनेकसमुद्रविन्दुगणनामगितायुःस्थितिं, मेरुकुसुरसरित्कुशाचलायिषोचरस्वेच्छाविहारकपुरां,
सुरांगनापुत्रुलनितम्बविद्याधरकठिनमिषिद—समुन्मत्कुचतटकीडालोकनस्पृशं नाविक्रियोपयोथामितप्रोतिविस्मितं,
सततसततामखेदेन क्षटिति घटयितुं, विरूपताजननीजराडाकिनीनामयोचरा शोकवृकानुल्लसितां, विपद्वादान-
कींक्षणाभिरनुपप्लुतां, रोषोरवैरवष्टभ्यां, यममहिषसुरासंभितां, भीतिवराहसमितिभिरमुल्लिखितां, संक्लेश-
क्षतधरत्रैरभ्यासितां, प्रियवियोगचञ्चुडरीकैरसेवितां, अनर्घ्यसुखरत्नप्रभवमूर्ध्नि निवृत्तिं प्रापयितुं समर्थां
जिनप्रणीतो धर्म इति धर्मस्वरूपकथनं धर्मवर्णनजननम् ॥

अर्थात् वे श्रुतज्ञानके लिए प्रयत्नशील रहते हैं। अशुभ आश्रवको रोकता है। अप्रमादपना लाता है, सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्षरूप ज्ञानका बीज है अर्थात् श्रुतज्ञानसे ही अन्यज्ञान पैदा होते हैं, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें प्रवृत्त करानेवाला है। इस प्रकार कथन करना श्रुतज्ञानका वर्णजनन है।

धर्म दुःखसे रक्षा करता है, सुख देता है, नवनिधि और चौदह रत्नोंका स्वामी बनाता है, अपने चक्ररत्नके पराक्रमसे समस्त राजाओं, विद्याधरोंको विनम्र करने वाले तथा देवगणोंको भी बाँधने वाले चक्रवर्तियोंको चरणोंमें गिराता है, धर्मके प्रभावसे बिना किसी सेवके तत्काल इन्द्रपदवी प्राप्त होती है जो इन्द्रपदवी देवांगनाओंके चित्तको संमोहित करती है, उनके चंचल मीनके तुल्य लोचनोंमें अनुरागको बढ़ाती है, हृषिकेशसे प्रकट हुए सधन रोमांचरूपी कन्वुकको उत्पन्न करनेमें तत्पर होती है, रूपकी शोभा बढ़ानेके लिये सातिशय अणिमा आदि ऋद्धियोंका सम्पादन करती है, सामानिक आदि हजारों देवता अनुगमन करके उसका महत्त्व स्थापन करते हैं, निरन्तर नवीन तारुण्य उसका आलिंगन करता है, सौभाग्यरूपी बेलके चढ़नेके लिये बहु लकड़ीके तुल्य है, उसकी आयुकी स्थिति अनेक समुद्रोंके जल विन्दुओंके द्वारा गिनी जाती है अर्थात् अनेक सागर प्रमाण आयु होती है, वह इन्द्रपद सुमेरु, देवकुरु, उत्तरकुरु, नदी, कुलाचल आदिमें स्वेच्छापूर्यक विहार करनेमें प्रवीण होता है और देवांगनाओंके स्थूल नितम्ब, बोष्ठ, कठिन उन्नत कुचोंके साथ क्रीड़ा, आलोकन, स्पर्शन आदि क्रियाके द्वारा अपरिमित प्रीतिको उत्पन्न कराता है। ऐसा इन्द्रपद धर्मके प्रभावसे प्राप्त होता है। तथा जिनदेवके द्वारा कहा गया धर्म मोक्षको भी प्राप्त करनेमें समर्थ है। जो मोक्ष शरीरको विरूप करने वाली जरारूपी ङाकिनियोंके लिये अत्यन्त दूर है। अर्थात् वहाँ बुढ़ापा नहीं है, शोकरूपी मेड़िये वहाँ नहीं पहुँच सकते, विपत्तिरूपी बनकी बागकी शिखा वहाँ नहीं है, रोग रूपी सर्प वहाँ नहीं डसते, यमराजका भैंसा अपने सुरोंसे उसे खँडित नहीं करता, भयरूपी सूकरोंका समूह वहाँ नहीं पहुँचता, सेकड़ों संक्लेशरूपी शरभ वहाँ नहीं रहते, प्रियजनोंका विद्योगरूपी प्रचण्ड आघात नहीं है और जो मोक्ष अमूल्य सुख रूपी रत्नोंका उत्पत्ति स्थान है वह धर्मसे प्राप्त होता है इस प्रकार धर्मके स्वरूपका कथन धर्मका वर्णजनन है।

उत्प्रेतितप्रियवचनमुत्तरदुर्गेदबन्धुसमितिर्मुखाः, दुस्तरतरसंसारार्थीपरिभ्रमणचक्रितसवेच-
 न्नुचवाः, अनित्यताभावनानाह्वितचेतस्तया निरस्तशरीरद्रविषाविनोचराः, दुःखसंहृतिरसंपतरक्षाजनन्यापरत्वं
 चिन्मन्दीसाहर्षनावावात् तमेव शरणमित्युपपत्ताः, ज्ञानरत्नप्रवीपप्रभाप्रकरनिर्मूलितमुचमभवन्नास्तर्त्तनासा-
 ष्यन्प्रसंगंउचयः, कर्मणायादाने, तत्कलानुभवने, तन्निर्मूलने च बययेकका एवेति कृतमित्यिचिचयः असाधारण-
 कैतव्याधिकलानोपीतनेवापेजयाज्ये वयमितरद्रव्यकलापावित्यप्यताभावनायाभासकः, सुखदुःखयोरकृतावर-
 ङ्गेवाः, खसहं खोदयकर्ममित्यसत्त्वेन ममादृतिमनभिमत्तं चापेक्षते इति उपकारापकारयोरुद्देश्ये प्रणेता, आत्मनः
 बुधाबुधकर्मणो निर्माण्ये । मन्त्रेव स्वातंभ्यासतुपंचितत्वात्, अनुग्रहनिग्रहयोः परे वराकाः किं कुर्वन्तीति
 यत्वा स्वजनपरजनविवेकनिरस्तुकाः, समंतादुपसर्गमहोररीरवार्यवीर्यरवच्छा अत्यविचलवृत्तयः, क्षुत्ति-
 पासाविपीरषहमहारातिसरभससंपातेऽयदीनासकिल्लभेतोवृत्तयः, त्रिगुणित्गुणित्मुपाशिताः, जनसनाधितपीराज्य-
 पालकोद्युक्तमयः, कृतामूनवतकवचाः, गृहीतखोल्लेटाः उद्वीर्णभ्यानातितितिवित्तमंभलापाः, कर्मारिपुतनासाव-
 नोभताः साधव इति साधुमाहात्यप्रकाशनं साधुवर्गवर्णजननं ।

मुक्ताहारपयोधरनिष्कारबासराधीश्वरकल्पमहीच्छाद्य इव प्रत्युपकारानपेक्षानुग्रहव्यापुताः, निर्वाणपु-

प्रियवचन बोलनेमें बाचाल बन्धुजन कठिनतासे टूटने वाली सांकलके समान है किन्तु
 साधुगण इस सांकलको तोड़ डालते हैं, उनका हृदय अत्यन्त दुस्तर संसाररूपी भ्रवरमें चिरकाल
 तक भ्रमण करनेसे भयभीत रहता है, चित्तके अनित्य भावनाके भ्रानेमें लगे रहनेसे शरीर धन-
 सम्पत्ति आदिमें उनका आदरभाव नहीं होता, जिन भगवान्के द्वारा कहे गये धर्मके सिवाय अन्य
 किसीके दुःखोंके समूहसे रक्षा करनेमें समर्थ न होनेसे वे उसी धर्मकी शरणमें रहते हैं, ज्ञानरूपी
 रत्नमयी दीपककी प्रभाके समूहसे उन साधुओंने लोक रूपी भवनमें रहने वाले अज्ञान रूपी अन्ध-
 कारकी परम्पराको नष्ट कर दिया है, उनका यह निश्चय है कि कर्मोंके बाँधनेमें, उनका फल
 भोगनेमें और उन्हें नष्ट करनेमें हम अकेले ही हैं, चैतन्य आदि असाधारण लक्षणके वेदसे हम
 अन्य सब द्रव्योंके समूहसे भिन्न हैं इस प्रकार वे अन्यत्व भावनामें आसक्त रहते हैं । न सुखमें
 आदरभाव रखते हैं और न दुःखसे द्वेष करते हैं । सगता और असाता वेदनीय कर्मके उदयके
 निमित्तसे भेरा आदर या निरादर होता है, अतः अपने उपकार और अपकारका कर्ता मैं ही हूँ,
 अपने क्षुभ अक्षुभ कर्मोंके निर्माणमें मैं स्वतन्त्र हूँ—उसीके द्वारा भेरा अनुग्रह या निग्रह होता है,
 दूसरे बेचारे इसमें क्या करते हैं ? ऐसा मानकर वे स्वजन और परजनमें भेद बुद्धि करनेमें उदा-
 सीन होते हैं । चहुँओरसे शक्तिशाली उपसर्गरूपी भयानक सर्पसिंघरे होनेपर भी वे अविचल रहते
 हैं । भूल प्यास आदि परीषह रूपी महान् शत्रुओंका अचानक आक्रमण होनेपर भी उनकी चित्त-
 वृत्ति दीनता और संकलेशसे रहित होती है । तीन गुणित् रूपी गुणित्का आश्रय लेते हैं, अनज्ञान आदि
 तप रूपी राज्यका पालन करनेमें उनकी बुद्धि लगी रहती है, पूर्णव्रत रूपी कवच धारण करते हैं ।
 शील रूपी श्लेठमें बसते हैं, ध्यानरूपी अत्यन्त तीक्ष्ण तलवार रखते हैं, उसके द्वारा कर्मरूपी शत्रुओं-
 की सेनाको वधमें करनेके लिये तत्पर रहते हैं । इस प्रकार साधुओंके माहात्यकी प्रकट करना
 साधुवर्गका वर्णजनन है ।

आचार्य मोतीका हार, मेघ, चंद्रमा, सूर्य और कल्पवृक्ष आदिकी तरह प्रत्युपकारकी

परिप्राप्यकामे मार्गे निर्मले स्थिताः, परानपि विनताम्बिमेयान्प्रवर्तयन्तः बायतातिवचकज्ञानपुबुलदर्शनपकम-
लेखनाः, कुलीना, विनता, विभवा, विमाना, विरागा, विद्याया, विमोहा, वचसि तपसि महसि वाऽद्वितीया^१
इति भाषणं सूरिवर्णजननम् ।

अपिचतयुतार्थवाधासध्यासवाच्य^२वाचकानुरूपव्याख्यानाः, निरस्तनिद्रावर्तीप्रमाणाः, सुचरिताः,
सुशीलाः, सुमेवसः, इत्याध्यापकवर्णजननम् ।

रत्नत्रयाकामावर्तकालं अममनादिनिघनोऽपि भव्यजीवराशिर्न निर्वाणपुरयुपैति तस्मान्ने च सकलाः
संपदः सुकमाः इति मार्गवर्णजननम् ।

मिथ्यात्वपटलविघाटनपटीयसी, ज्ञाननैर्मल्यकारिणी, अशुभगतिसमनप्रतिबंधविधाविनी, मिथ्यादर्शन-
विरोधिनीति निघनं समीचीनदृष्टेर्वर्णजननम् ।

सर्वज्ञतावीतरागते नार्ति विद्यते राधादित्रिविधया च अनुगताः समस्ता एव प्राणभूतः इत्यादि-
हृतामवर्णवादः ।

स्त्रीवस्त्रबंधमाख्यालंकारादिविरहितानां सिद्धानां सुखं न किञ्चिदतीन्द्रियाणां तेषां समधिगतौ च
निबंधनमस्ति किञ्चिदिति सिद्धावर्णवादः ।

स्वकल्पनाभिरयमहोन्नेष सिद्धादिः इत्यचेतनस्य व्यवस्थापनायामपि दारिकाणां कृत्रिमपुत्रकव्यबहूतिरिव

अपेक्षा न करके कल्याणमें लगे रहते हैं, मोक्षपुरीको प्राप्त करानेमें समर्थ निर्मल मार्गमें स्थित
होते हैं, दूसरे भी विनम्र शिष्योंको मोक्ष मार्गमें लगाते हैं, विस्तृत और अतिघबल ज्ञान और
महान् दर्शनरूपी उनके नेत्र होते हैं । वे कुलीन, विनीत, निर्भय, मानरहित, रागरहित, शक्यरहित,
मोहरहित होते हैं । वचनमें और तप तथा तेजमें अद्वितीय होते हैं इस प्रकार कहना आचार्यका
वर्णजनन है ।

उपाध्याय श्रुतके अर्थके ज्ञाता होनेसे वाच्य और वाचकके अनुरूप अर्थात् जिस शब्दका
जो अर्थ है वही यथार्थ रूपसे व्याख्यान करते हैं । निद्रा, आलस्य और प्रमादसे दूर रहते हैं, वे
अच्छे चरित, अच्छे शील और उत्तम मेघासे सम्पन्न होते हैं, ऐसा कहना उपाध्यायका वर्णजनन
है । रत्नत्रयकी प्राप्ति न होनेसे यह अनादि निघन भी भव्य जीवराशि अनन्तकालसे मोक्षपुरीको
नहीं जा पाती । उसके प्राप्त होनेपर सम्पूर्ण सम्पदाएँ सुलभ है इस प्रकार मोक्षमार्गकी प्रशंसा
करना मार्ग वर्णजनन है ।

सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व पटलको उखाड फेकनेमें समर्थ है, ज्ञानको निर्मल करता है, अशुभ
गतिमें मगनको रोकता है, मिथ्यादर्शनका विरोधी है ऐसा कथन समीचीन दृष्टिका वर्णजनन है ।
अर्हन्त भगवान्में सर्वज्ञता और वीतरागता नहीं होती, सभी प्राणी रागादि और अज्ञानसे युक्त
होते हैं इत्यादि कहना अर्हन्तोंका अवर्णवाद है अर्थात् यह मिथ्यादोष लगाना है ।

स्त्री, वस्त्र, शब्द, माला अलंकार आदिसे रहित सिद्धोंको कुछ भी सुख नहीं है । वं तो
अतीन्द्रिय हैं उनको जाननेका कोई साधन नहीं है, ऐसा कहना सिद्धोंका अवर्णवाद है । अपनी
कल्पनासे यही अर्हन्त है और ये सिद्ध आदि हैं इस प्रकार अचेतन पदार्थमें अर्हन्त आदिकी
स्थापना करने पर भी जैसे बालिकाएँ खेलमें गुठ्ठा गुठ्ठी आदिमें पुत्रादिका काल्पनिक व्यवहार

न मुख्यवस्तुपसेवनीद्भव फलमुपलभ्यते । न प्रतिबिबादिस्वा अर्हदाद्यम. तद्गुणवैकल्यात्न प्रतिबिबात्माकर्ह-
बादिस्वमिति चैत्यावर्णवादः ।

पुरुषकृतत्वाद्वाचिमादिवाच्यवदयथार्थता नावीन्द्रिय वस्तु पुंसो ज्ञानगोचरं, अज्ञातं चोपदिशतो बधः
कथं सत्यं ? तदुद्गतं च ज्ञानं कथं समीचीनमिति श्रुतावर्णवादः ।

दुर्गतिप्रतिबंधं स्वर्गाधिकं च फल विषयं धर्म इति कथमदुष्टं श्रद्धीयते ? न हि सन्नित्कारणत्वस्य
कार्यस्यानुद्मनीयं त्रिंशत् यथाकुरस्य । सुखप्रदायी चेद्धर्मः. स्वनिष्पत्त्यन्तरं सुखमात्मनः किं न करोति इति धर्मा-
वर्णवादः ।

अहिंसादिव्रतपालनोद्यता साधवः, सूरयोऽभ्यापकाश्चेत्यन्ते । अहिंसाव्रतमेवैषा न युज्यते बद्धजोबनि-
कायाकुले लोके वर्तमानाः कथमहिंसका स्युः ? केशोल्लुचनादिभिः पीडयतां च कथं नात्मबधः ? अदृष्टमात्मनो
विषयं, धर्म, पाप, तत्फलं च गदता कथं सत्यव्रतम् ? इति साध्ववर्णवादः । एवमितरयोरपि ।

विच्छदाना एकत्र धर्मागानसंभवात् विच्छदाभिमतधर्माधिकरणैकवस्तुज्ञापनं न सम्यक् । त्रुदभिस्त्वैर्न
समीचीनता विपर्ययज्ञानानुगतत्वान्भृगतृष्णोदकशब्देन, मिथ्याज्ञानानुगतत्वान्चरणमपि न सम्यक् । उरगप्रत्यय-
बलाद्गजुपरिहार इवेति प्रवचनावर्णवादः ।

करती है उस तरह मुख्य अर्हन्त आदिकी सेवासे होने वाला फल प्राप्त नहीं होता । तथा प्रतिबिब
आदिमे स्थापित अर्हन्त नहीं है क्योंकि उनमें उनके गुण नहीं है इसलिये प्रतिबिन्ब आदि अर्हन्त
आदि नहीं है ऐसा कहना चैत्यका अवर्णवाद है ।

अर्हन्तके द्वारा कहा गया श्रुत पुरुषके द्वारा कहा होनेसे 'दस अनार' जैसे वचनोंकी तरह
यथार्थ नहीं है । अतीन्द्रिय वस्तु पुरुषके ज्ञानका विषय नहीं हो सकती । और बिना जाने उपदेश
देने वालेके वचन कैसे सत्य हो सकते हैं । तथा उनसे होने वाला ज्ञान कैसे सच्चा हो सकता है
इस प्रकार कहना श्रुतका अवर्णवाद है ।

धर्म दुर्गतिको रोकता है और स्वर्गादि फल देता है, बिना देखे इसपर कैसे श्रद्धा की जा
सकती है । जिस कार्यके कारण वर्तमान हों वह कैसे उत्पन्न नहीं होगा जैसे अंकुर । यदि धर्म
सुखदाता है तो अपनी उत्पत्तिके पश्चात् ही आत्माको सुख क्यों नहीं करता । ऐसा कथन धर्मका
अवर्णवाद है ।

अहिंसा आदि व्रतोंका पालन करनेमें जो तत्पर हैं उन्हें साधु, आचार्य और उपाध्याय
कहते हैं । किन्तु अहिंसा व्रत ही इनके नहीं है । जो छह प्रकारके जीवोंसे भरे संसारमें रहता है
वह अहिंसक कैसे हो सकता है ? तथा केशलोच आदिसं जो आत्माको पीड़ा पहुँचाते हैं वे आत्म-
घातके दोषी क्यों नहीं हैं ? जिन्हें देखा नहीं है ऐसे आत्माके विषय धर्म, पाप, उनका फल कहने-
वालोंके सत्यव्रत कैसे हैं, ऐसा कहना साधुका अवर्णवाद है । इसी प्रकार आचार्य और उपाध्याय-
का भी अवर्णवाद जानना ।

एक वस्तुमें परस्परमें विच्छद धर्म असम्भव है । अतः परस्परमें विच्छद धर्मोंका आधार
एक वस्तुको कहना सम्यक् नहीं है । जो इसमें अभिरुचि रखता है वह सम्यग्दृष्टी नहीं है क्योंकि
उसका ज्ञान विपरीत है जैसे मरीचिकामें जलकी श्रद्धा करनेवालेकी श्रद्धा विपरीत है । तथा
मिथ्याज्ञानका अनुसारी होनेसे उसका चारित्र्य भी सम्यक् नहीं है । जैसे सर्प जानकर रस्तीको
हटाना सम्यक् नहीं है । इस प्रकारका कथन प्रवचनका अवर्णवाद है ।

एतेषामवर्णवादात्मानसंभवप्रदर्शनं । पुरुषत्वाद्रध्यापुरुषवत् सर्वज्ञो वीतरागो वा न भवत्यहंत् इति साधनमनुपपन्नं । असर्वज्ञतामवीतरागतां चास्तरेण पुरुषता नोपपद्यते इत्यन्यथानुपपत्तेरभावात् । जैमिन्यादयो न सकलमेवार्थज्ञा पुरुषत्वावविकाकलयत् इति शक्यं वस्तुम् । सर्वज्ञतावीतरागतासिद्धिश्चान्यत्र निरूपितेति नेह प्रत्यक्षते । दुःखप्रतिकारायैषु वस्तुषु यद्वासां सुखसाधनव्यवहारः शरीरायासमात्रत्वान्न कामिनीसमागमसुखं । वैकल्प्याद्यनैवस्वादिभिर्न कृत्यं सिद्धानां । अशरीराणां सकलदुःखापयुक्तं सुखं अविकलमनंतज्ञानात्मकं तेष्ववस्थितं । श्रुतं निबन्धन तद्यथिनमे । शुभोपयोगनिमित्तसाहृद्वादीनामिव प्रतिबिंबानामिति न बुद्धयो-
रपेक्षितव्या ॥४६॥

एवं दंशणभाराहंतो मरणे असंजदो यदि वि कोवि ॥

सुबिमुद्धतिव्वलेस्सो परिचसंसारिओ द्रोई ॥४७॥

एवमित्यनया गात्रया असंयतसम्यक्दृष्टेः सम्यक्त्वमात्राद्यतः फलमाचष्टे एवमिति पूर्वोक्तमरामर्शः । निबन्धमेव मोक्षमार्गं प्रकृष्ट इति ।

‘सहृद्वा’ वतियया रोचय कासंतया पचयवस्त ।

सकलस जेन एदे सम्भत्ताराहवा हूँति ॥’

अर्थात्: साकारिकमपाकुर्वन्ति उपबृंहणादिभिः सम्यक्त्वस्य शुद्धिं वर्धयन्समीचीनं दर्शनविनयं

इन अवर्णवादीको असम्भव दिखलाते हैं—

पुरुष होनेसे राह चलते पुरुषकी तरह अहंन्त सर्वज्ञ वीतराग नहीं हैं । यहाँ पुरुष हेतु ठीक नहीं है क्योंकि असर्वज्ञता और अवीतरागताके बिना पुरुष नहीं होता ऐसी अन्यथानुपपत्ति नहीं है । इस तरहसे यह भी कहा जा सकता है कि जैमिनि आदि समस्त वेदायुक्तके ज्ञाता नहीं हैं, पुरुष होनेसे, जैसे भेड़ चरानेवाला व्यक्ति । सर्वज्ञता और वीतरागताकी सिद्धि अन्य ग्रन्थोंमें कहीं है इसलिए यहाँ उसका विस्तार नहीं करते ।

जो वस्तु दुःखका प्रतिकार करनेके लिए है, अज्ञानी उन्हें सुखका साधन मान लेते हैं । स्त्री सम्भोग सुख नहीं है वह तो शारीरिक श्रममात्र है । तथा विरूपताको नष्ट करनेवाले वस्त्रोंसे सिद्धोंको क्या करना है ? वे तो क्षरीर रहित हैं उनमें समस्त दुःखोंका विनाशरूप अनन्त-ज्ञानात्मक सम्पूर्ण सुख है । इसके जाननेके लिए श्रुत वर्तमान है । तथा जैसे अहंन्त शुभोपयोगमें निमित्त होते हैं उसी तरह उनके प्रतिबिम्ब भी होते हैं । इसलिए यह बौद्धिक कल्पनामात्र नहीं है ॥४६॥

गा०—इस प्रकार सम्यग्दर्शनकी आराधना करने वाला मरते समय यद्यपि कोई असंयत होता है किन्तु सुबिशुद्ध तीव्र लेष्या वाला अल्प संसारी होता है ॥४७॥

टी०—‘एवं’ इत्यादि गाथाके द्वारा सम्यक्त्वकी आराधना करने वाले असंयत सम्यग्दृष्टिका फल कहते हैं । ‘एवं’ पद पूर्वोक्त कथनके लिये आया है कि निबन्धता ही उत्कृष्ट मोक्ष मार्ग है ।

मनसे श्रद्धान करने वाले, यही उत्तम है ऐसा वचनसे प्रीति प्रकट करने वाले, सकेतादि से शक्ति दशानिवाले और समस्त प्रवचनका अनुष्ठान करने वाले ये सब सम्यक्त्वके आराधक होते हैं ॥

अर्थात् जो श्रद्धान करते हुए शांका आदिको दूर करते हैं और उपबृंहण आदिके सम्यक्त्वकी

संपादयन् । 'वंशध' शब्दानं । 'आरहृती' निष्पादयन्मरणं भवपर्यायप्रभृतिशकाले । 'असंख्यौ ऋषि वि' यक्ष्यसंयतः । 'सुविशुद्धसिन्धुकेस्तो' कथायानुरजिता योगवृत्तिलेख्या, सा बोधा प्रविभक्त कृष्णनीलकापोततैः पद्मशुक्लकेश्याभेदेन । तथाशुभलेख्यानिरासायं सुविशुद्धग्रहण । तीव्रग्रहण परिणामप्रकर्षोपादानाय । सुविशुद्धा रीक्षा लेख्या यस्य सुविशुद्धतीव्रलेख्य । 'परिसंसारिओ' अल्पचतुर्गतिपरिवर्तः । 'होषि' भवति । अल्प-संसारता सम्यक्त्वााराधनायाः फलत्वेन दर्शिता ॥४७॥

सत्त्वश्रद्धानपरिणामः कतिभेदः किं फलं इत्यस्य प्रतिबचनमुत्तरप्रबंधः । तत्र भेदप्रतिपादनायाह—

तिविहा समचाराहणा य उष्कस्समज्झिमजहण्णा ॥

उष्कस्साए सिज्झदि उष्कस्सससुष्ककलेस्साए ॥४८॥

'तिविहा' त्रिविधा । 'समचाराहणा' सम्यक्त्वााराधना । 'उष्कस्समज्झिमजहण्णा' उत्कृष्टमध्यम-जघन्या भेति । तत्र 'उष्कस्साए' उत्कृष्ट्या सम्यक्त्वााराधनया । 'सिज्झदि' सिध्यति निर्वृत्तिमुपैति । उत्कृष्ट-शुष्कलेख्यासहितया ॥४८॥

सेसा य हुंति भवा सच मज्झिमाए य सुष्ककलेस्साए ॥

संखेज्जाअसंखेज्जा वा सेसा भवा जहण्णाए ॥४९॥

'सेसा' अवशिष्टाः । 'हुंति' भवन्ति । किं 'भवा' मनुष्यत्वादिपर्यायाः । कति 'सत्त्' सत् । 'मज्झिमाए' च' सम्यक्त्वााराधनया । 'सुष्ककलेस्साए' शुष्कलेखयया मध्यमया वर्तमानस्तेत्युपाय्या मध्यमशब्दस्य

विशुद्धिको बढ़ाते हुए दर्शन विनय करते हैं वे सम्यक्त्वके आराधक हैं । मरण अर्थात् भवपर्यायके छूटनेके समय यद्यपि असंयत होता है किन्तु जो सम्यग्दर्शनको धारण किये होता है और सुविशुद्ध तीव्रलेख्या वाला होता है । कथायसे रंगी हुई मन वचन कायकी प्रवृत्तिको लेख्या कइते हैं । उसके कृष्ण, नील, कपोत, तेज, पद्म और शुक्लके भेदसे छह भेद हैं । उनमें अशुभ लेख्या का निराकरण करनेके लिये 'सुविशुद्ध' पद ग्रहण किया है । तथा परिणामोंका प्रकर्ष बतलानेके लिए तीव्र पद ग्रहण किया है । जिसके सुविशुद्ध तीव्र लेख्या होती है वह सुविशुद्ध तीव्र लेख्या वाला होता है । वह चतुर्गतिरूप परिवर्तमें अल्पकाल तक भ्रमण करता है । इस प्रकार सम्यक्त्वकी आराधना का फल अल्प संसार बतलाया है ॥४७॥

सत्त्वश्रद्धानरूप परिणामके कितने भेद हैं तथा उसका क्या फल है इसके उत्तरमें आगेका कथन करते हुए पहले भेद कहते हैं—

गा०—सम्यक्त्वकी आराधना तीन प्रकारकी है । उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य । उत्कृष्ट शुष्क लेख्या सहित, उत्कृष्ट सम्यक्त्व आराधनामें मोक्ष प्राप्त करता है ॥४८॥

टी०—सम्यक्त्व आराधनाके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य ऐसे तीन भेद हैं । उत्कृष्ट शुष्क लेख्याके साथ यदि उत्कृष्ट आराधना सम्यक्त्वकी हो तो उससे मोक्ष प्राप्त होता है ॥४८॥

गा०—और मध्यम शुष्क लेख्याके साथ मध्यम सम्यक्त्वााराधनासे सात मनुष्य आदि पर्याय शेष होती है । जघन्य सम्यक्त्वााराधनासे संख्यात अथवा असंख्यात (भव) भव अवलोक रहते हैं ॥४९॥

टी०—गाथामें आये मध्यम शब्दका सम्बन्ध दोनोंमें लगाकर व्याख्यान करना चाहिये ।

सर्वानो व्याख्येयः । 'संश्लेष्या' संख्याताः 'असंश्लेष्या वा' असंख्याता वा 'सैता' शेषा यद्यपि तथाः ।
'असंश्लेष्या' अथवा सम्यक्त्वावधारणवा मृतिमुपेतस्य ।

उत्कृष्टतत्त्व आराधनाः कस्य भवति इत्यस्योत्तरमाह वाक्या—

उत्कृष्टसा केवलिनो मज्झिमया सेतसम्मदिट्ठीणं ।

अविरदसम्मादिदिट्ठस्स संकिलिट्ठस्स हु जहण्णा ॥५०॥

उत्कृष्टा सम्यक्त्वावधारणा भवति । कस्य, 'केवलिनो' केवलिनः । केवलसत्सहायं ज्ञानं । इंधियाधि, मनः, प्रकाशोपलब्धादिषु बालकैश्च वृत्तेः । प्रत्यक्षस्यावध्यायेः आत्मकारणत्वादसहायतास्तीति केवलत्वप्रसंगः स्थापिति शेष इडेतिराकृताशेषज्ञानावर्णस्योपजायमान' एव बोधे केवलशब्दवृत्तेः । केवलशब्दो यद्यपि सामान्येन केवलित्वे प्रवृत्तस्तथापीह अवयविकेवलिसहृणं इत्यन्यत्र मरणाभावात् ॥

उत्कृष्टता कथं सम्यक्त्वावधारणायां इति चेत् इह द्विविधं सम्यक्त्वं सरागसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं चेति । रागो द्विविधः प्रक्षस्तरागः अप्रक्षस्तराग इति । तत्र प्रक्षस्तरागो नाम पंचगुण्यु, प्रवचने च वर्तमानस्तद्-

अर्थात् मध्यम शुक्ल लेस्यामं वर्तमान मध्यम सम्यक्त्वावधारणा बालके सात भव शेष रहते हैं । और अप्रक्षम्य सम्यक्त्वावधारणाके साथ मरने बालके संख्यात अथवा असंख्यात भव शेष होते हैं ॥५०॥

विशेषार्थ—पं० आशाधरने अपनी टीकामें कहा है कि अन्य टीकाकार 'संश्लेष्या-संश्लेष्या भवाय' ऐसा पढ़कर 'भवाश्च' में आये शब्दसे अनन्तका समुच्चय करते हैं किन्तु हम 'वा' शब्दसे करते हैं । परन्तु विजयोदयामें 'च' शब्द या वा शब्दसे अनन्तका ग्रहण नहीं किया है ॥५०॥

उक्त तीन आराधनाएँ किसके होती हैं इसका उत्तर आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—उत्कृष्ट आराधना केवलीके होती है । मध्यम आराधना शेष सम्यग्दृष्टिके होती है । अप्रक्षम्य आराधना संश्लेष परिणाम बाले अविरत सम्यग्दृष्टिके होती है ॥५०॥

टी०—उत्कृष्ट सम्यक्त्व आराधना केवलीके होती है । केवल अर्थात् असहाय ज्ञान; क्योंकि वह इन्द्रियां, मन, प्रकाश और उपदेश आदिकी अपेक्षाके बिना होता है ।

शंका—प्रत्यक्ष अवधि आदि ज्ञान आत्मासे ही होते हैं । वे भी इन्द्रियादिकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखते, अतः उनके भी केवल ज्ञान होनेका प्रसंग आयेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि रूढिवश जिसकी सम्पूर्ण ज्ञानावर्ण नष्ट हो गया है उसीके उत्पन्न होने बाले ज्ञानमें केवल शब्दका व्यवहार होता है ।

यद्यपि केवली शब्द सामान्यसे दोनों प्रकारके केवलियोंमें प्रवृत्त होता है तथापि यहाँ अवयव केवलीका ग्रहण किया है क्योंकि सयोग केवलीका मरण नहीं होता ।

शंका—सम्यक्त्व आराधनाकी उत्कृष्टता कैसे होती है ?

समाधान—यहाँ सम्यक्त्वेके दो भेद हैं—सरागसम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व । रागके दो भेद हैं—प्रक्षस्तराग और अप्रक्षस्तराग । उनमेंसे अर्हन्त सिद्ध आदि पाँच परमैष्टियोंमें और

बुधशुक्राद्यत्मकः । अग्रशस्तो रागो द्वित्रिषः इन्द्रियविषयेषु मनोज्ञेषु जायमानः । आसाभासेषु, उत्तमीते सिद्धांशे, सन्निकृष्टे मार्गे, तत्त्वेषु वा प्रवर्तमानः दृष्टिरागः इति । तत्र प्रशस्तरागसहितानां श्रद्धानां सगरागसम्बन्धनां । रागद्वयरहितानां क्षीणमोहावरणानां वीतरागसम्बन्धनां । तस्याराधना उत्कृष्टा रागमलाभावात् जघोष-त्रिकालगोचरवस्तुयाथात्म्यप्राप्तिसकलज्ञानसहचारित्वाच्च ।

‘मञ्जिस्तम्बा’ मध्यमिका सम्यक्त्वाराधना भवति । ‘सैतसम्बन्धिनीचं’ उपयुक्तेतरवचनः शेषशब्दः इति केवलिन्यो येऽन्येऽस्यतसम्यग्दृष्टभादयस्ते परिगृह्यन्ते शेषशब्देन ।

तत्रापवादमाह—‘अविरतसम्यग्दृष्टिस्त’ असंयतसम्यग्दृष्टे । ‘जहन्त्या’ जघन्या सम्यक्त्वाराधना भवति । किं सर्वस्य ? नेत्याह—‘संक्लिष्टस्स’ संक्लिष्टस्य परीषहव्याकुलचेतसः इति यावत् ।

जघन्यसम्यक्त्वाराधनामाहात्म्यं कथयति—

संश्लेज्जमसंश्लेज्जगुणं वा संसारमणुसरित्पूर्णां ।

दुःखस्रवस्यं करंति जे सम्मत्तेणुमरंति ॥५१॥

‘संश्लेज्जमसंश्लेज्जगुणं वा संसारमणुसरित्पूर्णां’ परिभ्रम्य । ‘दुःखस्रवस्यं’ दुःखस्रायं । ‘करंति’ कुर्वन्ति । के ‘जे सम्मत्तेणुमरंति’ सम्यक्त्वेन सह मृतिमुपयान्ति । नन्विय जघन्या सम्यक्त्वाराधना तस्या च प्रवृत्तस्य संसारकालो निरूपित एव । ‘संश्लेज्जं वा असंश्लेज्जं वा सैता जहन्त्याए’ इति तत्पुनस्कृता स्यादिति । न,

प्रवचनमें, उनके गुणोंमें अनुराग रूप प्रशस्तराग है । अग्रशस्त रागके दो भेद हैं एक तो मनकी प्रिय लगने वाले इन्द्रिय विषयोमें होनेवाला और दूसरा, मिथ्या देवोमें, उनके द्वारा कहे गये सिद्धान्तमें, उनके द्वारा कहे गये मार्गमें अथवा उस मार्गके अनुयायियोंमें प्रवर्तमान दृष्टिराग । उनमेंसे प्रशस्तराग सहित जीवोका श्रद्धान सगरागसम्बन्धनां है और दोनों प्रकारके रागसे रहित तथा जिनका मोह और आवरण क्षीण हो गया है उनका श्रद्धान वीतराग सम्बन्धनां है । उसकी आराधना उत्कृष्ट है । क्योंकि राग और मलका अभाव है तथा समस्त त्रिकालवर्ती पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेवाले सम्पूर्ण ज्ञानके साथ होता है ।

शेष सम्यग्दृष्टियोंके मध्यम सम्यक्त्वाराधना होती है । यहाँ शेष शब्द जो कहे हैं उससे अन्यका वाचक है, अतः केवलीसे अन्य जो असंयत सम्यग्दृष्टि है वे शेष शब्दसे ग्रहण किये जाते हैं । उसमें अपवाद कहते हैं कि अविरत सम्यग्दृष्टिके जघन्य सम्यक्त्वाराधना होती है । क्या समीके होती है । इसके उत्तरमें कहते हैं जो संक्लिष्ट है अर्थात् जिसका चित्त परीषहसे व्याकुल है उस अविरत सम्यग्दृष्टिके जघन्य सम्यक्त्वाराधना होती है ॥५०॥

जघन्य सम्यक्त्वाराधनाका माहात्म्य कहते हैं—

भा०—जो सम्यक्त्वके साथ मरते हैं वे असंख्यात अथवा असंख्यातगुणे संसारमें भ्रमण करके दुःखका भय करते हैं ॥५१॥

टी०—शंका—यह तो जघन्य सम्यक्त्वाराधना है । उसे जो करता है उसका संसार काल पहले कहा ही है कि जघन्य सम्यक्त्वाराधनावालेके सख्यात या असंख्यात भव शेष रहते हैं । अतः पुनश्चकता शेष आता है ?

उक्तस्वार्थस्याविधीयेत् सुयोत्रिभयानं पुनश्चतमिति, इह तु विधीयानिभयानमस्ति 'दुष्कृत्यत्वं करेतिस्ति' ।

सम्यक्त्वकाभमाहात्म्यनिवेदनाय गाथा—

लुब्धं य सम्मत्तं द्युत्कालमपि जे परिवर्द्धति ।

तेसिमर्णताणंता ण भवदि संसारवासदा ॥५२॥

'लुब्धुत्वं' लब्धत्वा । 'सम्मत्तं' तत्त्वभ्रष्टान । कियत्कालं ? 'दुष्कृतकालमपि' अंतमुद्धर्तमानमपि । 'जे' जे 'परिवर्द्धति' सम्यक्त्वात्प्रच्यवन्ति अनन्तानुबन्धिनामुदयात् । 'तेस्ति' तेवा सम्यक्त्वात्प्रच्युत्य मिथ्यात्वं गतानां । 'संसारवासदा' संसारवसनकालोऽन्ती भवत्येवेति, तु शब्द एवकारार्थोऽत्र संबन्धनं नेयः । अनन्तान्तमहर्णं कुर्वता अनन्तकालपरिभ्रमणसद्भावसूचनं कृतम् ॥५२॥ इति बालभरणम् ॥

जे पुण सम्भवाओ पम्भट्ठा ते पमाददोसेण ।

भामन्ति दु भव्वा वि दु संसारमहण्णवे भीमे ॥५३॥

मिथ्यादृष्टेर्दशनस्याभावात् तस्याराधकः स्यात् ज्ञानचारित्रयोः परिणत इति तयोः आराधकः स्याद्विधीमां शंकाप्राकर्तुमाह—

ओ पुण मिच्छादिट्ठी दढचरिचो अदढचरिचो वा ॥

कार्लं करेज्ज ण हु सो कस्स हु आराहओ होदि ॥५४॥

समाधान—नहीं, जो बात पूर्वमें कही है उसे बिना किसी विशेषताके पुनः कहनेको पुनश्च कहते हैं । किन्तु यहाँ तो विशेष कथन है कि दुःखका क्षय करते हैं ॥५१॥

सम्यक्त्वका माहात्म्य कहनेके लिये गाथा कहते हैं—

गा०—जो अन्तमुद्धर्त मात्र भी सम्यक्त्वको प्राप्त करके सम्यक्त्वसे गिर जाते हैं उनका संसारमें बसनेका काल अनन्तानन्त नहीं होता ॥५२॥

टी०—एक अन्तमुद्धर्त कालके लिये भी जो तत्त्वभ्रष्टान रूप सम्यक्त्वको प्राप्त करके अनन्तानुबन्धी कषायका उदय होनेसे सम्यक्त्वसे गिर जाते हैं । सम्यक्त्वसे गिरकर मिथ्यात्वमें जाने वाले उन जीवोंका संसारमें बसनेका काल अनन्त ही होता है । 'अनन्तानन्तकाल नहीं होता' ऐसा कहनेसे अनन्तकाल तक भ्रमणके सद्भावकी सूचना की है ॥५२॥

गा०—पुनः जो सम्यक्त्वसे भ्रष्ट हो जाते हैं । वे प्रमादके दोषसे भव्य होते हुए भी भयंकर संसाररूपी समुद्रमें भ्रमण करते ही हैं ॥५३॥

विशेषार्थ—इस गाथापर विजयोदया टीका नहीं है । आशाधर जी ने भी इसकी टीका नहीं की है । अतः कोपक प्रतीत होती है । किन्तु प्रतियोंमें पाई जाती है । तथा गाथा ५२ की विजयोदया टीकामें 'तु शब्दो एवकारार्थोऽत्र संबन्धनं नेयः' ऐसा वाक्य है जिसका अर्थ होता है कि यहाँ तु शब्दका अर्थ एवकार लेना । 'आ' प्रतिमें पाठ है—'तु शब्दो एवकारार्थो भ्रामत्यनन्तरं नेयः ।' तु शब्दका अर्थ एवकार है और उसे 'भ्रामति' के अनन्तर लेना चाहिये । इस गाथा ५३ में 'भ्रामति दु' पाठ है । इसी दु या तु का अर्थ एवकार लेनेके लिये कहा है । अतः यह गाथा मूलकी होना संभव है ॥५३॥

मिथ्यादृष्टिके सम्यग्दर्शनका अभाव होनेसे वह उसका आराधक न होवे, किन्तु ज्ञान और

‘जो दुःख मिथ्यादृष्टि’ यः पुनर्मिथ्यादृष्टिस्तत्त्वब्रह्मज्ञानरहितो । यः पुनर्बहुचारित्र्यो अदृष्टचारित्र्यो वा बहुचारित्र्यो वा अदृष्टचारित्र्यो वा । ‘कार्यं करेण’ मतिमुपेयात् । ‘जो’ सः । ‘व कु’ क्व । ‘क्याह’ कस्य-चिदपि । ‘आराधनी’ आराधको भवति । सम्यक्त्वमंतरेण सम्यक्ज्ञानसम्यक्चारित्र्ये न स्तः, इति रत्नत्रये कस्यचिदपि आराधक इति ब्राह्मणम् । अथवा मिथ्यादर्शनादीनामाराधक एवासी इति कृत्वा न कस्यचिदपि इत्यनुपपत्तं स्यात् ॥५४॥

अथ को मिथ्यादृष्टिर्गो मिथ्यात्ववान् । अथ तदेव मिथ्यात्वं नाम किं कतिविधं इत्यत आह—

तं मिच्छत् जमसदृष्टं तच्छात्रं होइ अर्थार्थम् ।

संसिद्धयमभिग्महियं अथभिग्महियं च तं त्रिभिर्ह ॥५५॥

‘तं’ तत् । ‘मिच्छत्’ मिथ्यात्वं । ‘होइ’ भवति । ‘अ’ यत् ‘असदृष्टं’ अज्ञानं । कस्य ? ‘तच्छात्रं’ ‘अर्थार्थम्’ तत्त्वार्थानामन्तर्द्रव्यपर्यायात्मकानां जीवादीनां । अर्थस्य तत्त्वविशेषमनर्थकम् । अतत्त्वरूपस्याभावात् इति चेन्न मिथ्याज्ञानोपदेशितस्य नित्यत्वकणिकत्वाद्यत्तममर्थमाभात्वकस्यातत्त्वक-संभवात् । तस्य भावस्तत्त्वं तत्त्वशब्दो भाववचनं । भाववचनमर्थशब्दो ज्ञेयत्वम् । ततोऽप्यभिज्ञानाधिकरणयुतोः कथं समानाधिकरणत्वेति न शेषः । भाववच्यतिरेकाद्भावस्य तत्त्वशब्दोऽर्थ एव वर्तते इति । तथा च प्रयोगः—

चारित्र्य तो उसके है अतः वह उनका आराधक हो सकता है ? इस शंकाको दूर करनेके लिए कहते हैं—

शा०—जो पुनः मिथ्यादृष्टि है वह दृढ़ चारित्र्य वाला अथवा अदृढ़ चारित्र्य वाला हो और मरण करे तो वह किसीका भी आराधक नहीं ही होता ॥५४॥

टी०—जो मिथ्यादृष्टि अर्थात् तत्त्वार्थभ्रष्टानसे रहित है वह दृढ़ चारित्र्य बरता हो या अदृढ़ चारित्र्य बरता हो और मरण करे तो वह ज्ञान या चारित्र्यका भी आराधक नहीं होता; क्योंकि सम्यक्त्वके बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य नहीं होते । इसलिये रत्नत्रयमें से किसीका भी वह आराधक नहीं है ऐसा अर्थ लेना चाहिये । यदि ऐसा अर्थ नहीं लिया जाये तो मिथ्या-दर्शन आदिका वह आराधक ही होनेसे ‘किसीका भी आराधक नहीं’ ऐसा कहना ठीक नहीं होगा ॥५४॥

जो मिथ्यात्ववान् है वही मिथ्यादृष्टी है । तब वह मिथ्यात्व क्या है और उसके कितने भेद हैं ? यह कहते हैं—

शा०—जो तत्त्वार्थोंका अभ्रष्टान है वह मिथ्यात्व है उसके तीन भेद हैं । संशयसे होनेवाला मिथ्यात्व, अभिगृहीत मिथ्यात्व और अनभिगृहीत मिथ्यात्व ॥५५॥

टी०—तत्त्वार्थ अर्थात् अनन्त द्रव्य पर्यायात्मक जीवादिका अभ्रष्टान मिथ्यात्व है ।

शंका—अर्थका तत्त्व विशेषण देना निरर्थक है क्योंकि अतत्त्वरूप अर्थका अभाव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि मिथ्याज्ञानके द्वारा दिखलाये गये नित्यता कणिकता आदिमेंसे किसी एक धर्म वाला अतत्त्वरूप अर्थ संभव है ।

शंका—तत्त्वे भावको तत्त्व कहते हैं । तत्त्व शब्द भाव वाचक है और अर्थ शब्द भाववान् को कहता है । अतः ये दोनों भिन्न-भिन्न अधिकरण वाले हैं । इनका सामानाधिकरण्य कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह दोष नहीं है क्योंकि भाव भाववान्से अभिन्न होता है अतः तत्त्वशब्द

‘तत्त्वार्थब्रह्मत्वं तन्व्यात्त्वार्थव्यतिरिक्तं । अथवात्यधिकरणत्वेन । अर्थात् जीवादीनां वाणि उत्पत्तिं अवि-
परोक्षानि कथानि तेषामन्यत्त्वं यत्तन्विषयात्वं इति संबन्धः शिष्यते । ‘संशयिब’ संशयितं किंचित्पक्षमिति ।
तत्त्वत्वकारणात्मक संशयज्ञानसहचारि अश्रद्धानं संशयितं । न हि संविदानस्य तत्त्वविषयं अज्ञानवदिति इत्यन्वि-
येवेति, मिथ्यवदस्यसहचारित्वात् अज्ञानस्य । ‘अभिगृहीतं’ परोपदे‘सान्निगृह्येण गृहीतं’ स्वीकृतं अश्रद्धानं
अभिगृहीतमुच्यते । एतन्मुक्तं भवति । न-संति जीवादीनि इत्यादि इति गृह्यते संति जीवादीनि नित्यात्मेवेति
वदा परमं वचनं भूत्वा जीवादीनां सत्त्वे अनेकांशात्मकत्वे चोपचातं अश्रद्धानं अक्षिपिष्यात्वमिति । परो-
पदेवं विनापि मिथ्यात्वोच्येयानुपपन्नत्वे यत्त्वज्ञानं तदनभिगृहीतं मिथ्यात्वं ॥५५॥

विध्यात्वबोधनाह्यात्पक्ष्यात्मानाह—

जे वि अहिंसादिगुणा मरणे मिच्छसकडुगिदा होति ॥

ते तस्स कडुगदुद्वियगदं च दुदं हवे अफला ॥५६॥

‘जे वि’ हिंसा नाम प्रमादवतः प्राणेश्यो वियोगकरणं प्राणिनस्ततो निवृत्तिरहिंसा । असद्विधाना-
द्विरतिः सत्यम् । अवदात्तानाद्विरतिरत्येयं मैथुनाद्विरतिर्ब्रह्म । मरेदं भावो मोहोदयजःपरिग्रहः । ततो
निवृत्तिरपरिग्रहता । एते अहिंसावयो गुणाः परिणामा धर्म इत्यर्थः ।

ननु सहयुयो गुणा इति वचनात् चैतन्यायुर्तत्त्वादीनामेवात्मनः सहयुवां गुणता । हिंसादिषो विरति-

अर्थमें रहता है । ऐसा प्रयोग भी देखा जाता है—जैसे तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है । अथवा
अन्य प्रकारसे भी अधिकरणता है—‘अर्थ’ अर्थात् जीवादिके, जो ‘तत्त्व’ अर्थात् अविपरीत रूप हैं
उनका श्रद्धान न करना मिथ्यात्व है ऐसा सम्बन्ध किया जाता है ।

तत्त्वका निर्णय न करने वाले संशय ज्ञानका सहचारी जो अश्रद्धान है वह संशयित
मिथ्यात्व है । जो संदेहमें है उसके तत्त्वविषयक श्रद्धान नहीं है क्योंकि श्रद्धान ‘यह ऐसा ही है’
इस प्रकारके निश्चयात्मक ज्ञानके साथ ही रहता है । परोपदेशकी मुख्यतासे गृहीत अर्थात् स्वीकार
किया गया अश्रद्धान अभिगृहीत कहा जाता है । इसका अभिप्राय यह है कि ‘जीवादि द्रव्य नहीं हैं
यह स्वीकार करो । या जीवादि हैं किन्तु नित्य ही हैं’ इस प्रकार जब दूसरेके वचनको सुनकर
जीवादिके अस्तित्वमें या उनके अनेकान्तात्मक होनेमें जो अश्रद्धान या अर्थात् उत्पन्न हो वह
अभिगृहीत मिथ्यात्व है और परोपदेशके बिना भी मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जो अश्रद्धान उत्पन्न
होता है वह अनभिगृहीत मिथ्यात्व है ॥५५॥

गा०—जो भी अहिंसा आदि गुण मरते समय मिथ्यात्वके द्वारा दूषित होते हैं, वे उस
दूषित गुण वाले आत्माके कडुवी तूबीमें रखे गये दूषकी तरह निष्फल होते हैं ॥ ५६ ॥

डी०—प्रमादवानके द्वारा प्राणिके प्राणोंका वियोग करना हिंसा है । उस हिंसासे निवृत्त-
को अहिंसा कहते हैं । असत् कहनेसे निवृत्तिको सत्य कहते हैं । बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणसे
विरतिको अचौर्य कहते हैं । मैथुन सेवनसे विरतिको ब्रह्मचर्य कहते हैं । मोहके उदयसे होने वाले
‘यह मेरा है’ इस प्रकारके भावको परिग्रह कहते हैं । उससे निवृत्तिको अपरिग्रह कहते हैं । ये
अहिंसा आदि गुण अर्थात् अहिंसादि रूप परिणाम धर्म है ।

शङ्का—जो द्रव्यके साथ होते हैं वे गुण हैं ऐसा वचन है । उसके अनुसार चैतन्य अमूर्तत्व

परिणामः पुनः कावाचित्वात् मनुष्यत्वादिशोधादिवत्पर्याया, इति चेन्ननु गुणपर्यवसन्नग्रहणमित्यादावुपयोपाधाने अर्थात्परत्वेदोषवर्धनमेतद्यथा 'गोबलीवर्ध' इत्युभयोप्यादाने पुनरुक्ततापरिरुद्धतये स्त्रीबोसम्बन्धाच्चा इति कथम-
मेकस्यैव गुणसम्बन्धस्य ग्रहणे धर्ममात्रवचनता ।

अहिंसायुग्मं ते गुणाः अहिंसादिगुणा । 'निष्कलकटुमिषा' मिथ्यात्वेन तत्त्वाभङ्गानेव । कटुमिषा कटुकृताः कटुकृता गताः । 'ह्येति' भवति । कदा मरणे मरणकाले ते अफला भवति । कस्य मिथ्यात्वकटु-
कृताहिंसादिगुणस्यात्मनः । किमिव ? बुद्धवं क्षीरमिव । कीदृशभूत ? 'कटुमुद्गुद्विषयवदं' कटुकाशाङ्गुणसत्त्वं यथा अफल फलरहितं । पिताद्युपसामन प्रीतिरित्यादिक यत्फलं क्षीरस्य प्रतीतं तेव फलेन अफलं भवतम् । यथा क्षीरं भाजनदोषादेवं मिथ्यात्ववत्यात्मनि स्थिता अहिंसादिगुणा स्वसाध्येन फलेन न फलवन्तः । पंचानुत्तर-
विमानवासित्वं लौकतिकत्वमित्याद्यभ्युदयफलमिह गृहीतं । अहिंसायसो न स्वीचिंतफलासिधयवापिनः दुष्ट-
भाजनस्थितत्वात् कटुकालानुक्रमतपयोवदिति सूत्रार्थः ॥५६॥

न केवल फलातिशयाकारित्वं अहिंसादिगुणाना, अपि तु मिथ्यात्वकटुकृते स्थिता दोषानपि कुर्वन्ति इत्याचष्टे—

जह भेसजं पि दोसं आवहइ विसेण संजुद संत ॥

तह मिच्छत्तविसजुदा गुणा वि दोसावहा होति ॥५७॥

'यथा भेसजं वि' इति स्पष्टतया न व्याख्यापते । 'निष्कलचित्तगुणा' मिथ्यात्वेन विषेण संबद्धाः

आदि जो आत्माके साथ रहते हैं वे ही गुण हैं । हिंसादिके त्याग रूप परिणाम तो कभी होते हैं, कभी नहीं होते । अतः मनुष्यत्वकी तरह या श्रोधादिकी तरह पर्याय हैं, गुण नहीं हैं ?

समाधान—'गुण पर्यायवान्को द्रव्य कहते हैं' इत्यादिमें गुण और पर्याय दोनोंका ग्रहण किया है । जैसे 'गोबलीवर्द' यहाँ गो और बलीवर्द दोनोंको ग्रहण करने पर पुनरुक्तता दोष आता है क्योंकि दोनों शब्दोंका अर्थ एक है । इस पुनरुक्तता दोषको हटानेके लिये 'गो' शब्द गायका वाचक है ऐसा कहा है । एक गुण शब्दका ग्रहण करने पर वह धर्ममात्रको कहता है अतः कोई दोष नहीं है । वे अहिंसादि गुण मरते समय यदि तत्त्वके अश्रद्धान रूप मिथ्यात्वसे दूषित होते हैं तो मिथ्यात्वसे दूषित अहिंसा आदि गुण वाले आत्माके कटुक तूम्बीमें रखे दूषकी तरह निष्कल होते हैं । दूषका फल चित्त आदिको शान्त करना प्रसिद्ध है । किन्तु भाजनमे दोष होनेसे वह दूष फल रहित होता है । इसी तरह मिथ्यात्ववान् आत्मामें रहने वाले अहिंसा आदि गुण अपना साम्य जो फल है उससे फलवान नहीं हैं । यहाँ पाँच अनुत्तर विमानका बासी देव होना या लौकान्तिकदेव होना इत्यादि अभ्युदयरूप फलका ग्रहण किया है । अतः कटुक तूम्बीमें रखे दूषकी तरह सदोष भाजनमें रहनेके कारण अहिंसा आदि अपने उचित फलातिशयको नहीं देते, यह गाथा सूत्रका अभिप्राय है ॥ ५६ ॥

अहिंसा आदि गुण केवल फलातिशयकारी ही नहीं हैं, बल्कि मिथ्यात्वसे कलुषित आत्मामें स्थित अहिंसादि दोष भी करते हैं, यह कहते हैं—

गा०—जैसे औषध भी विषसे सम्बद्ध होने पर दोष करती है । उसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी विषसे सम्बद्ध अहिंसा आदि गुण भी दोषकारी होते हैं ॥ ५७ ॥

दो०—विष मिश्रित औषधकी तरह मिथ्यात्वरूपी विषसे सम्बद्ध अहिंसा आदि गुण भी

'बुधा वि' गुण अपि अहिंसावयो बुधा अपि । 'बोधावह' बोधावहाः संसारे चिररिभ्रमणबोधभावहृतीत्यर्थः । अथवा मिथ्यादृष्टेर्गुणाः पापानुबन्धि स्वल्पमिन्द्रियसुखं कृत्वा बह्वारभपरिग्रहादियु आसक्तं नरके पातयन्ति इति बोधावहाः । दृष्टान्तप्रवचनेन दृष्टमिदृतिः । प्राप्तिप्र मिथ्यात्वमहात्प्रत्यान्व भवतीति प्रमाणेन दर्शयितुं याचाहयमावाचम् ॥५७॥

द्विदशेण जोयनसयं पि गच्छमाणो सगिच्छिदं देसं ।

अण्णतो गच्छंतो जह पुरिसो णेव पाउणदि ॥५८॥

इत्यनेन प्रकृत्यनमनसामर्थ्यात्प्रमण'माख्यातम् । 'अण्णंतो गच्छंतो' इत्यनेन तन्मार्गाप्रवृत्त्यात् इत्ययं हेत्वर्थो दक्षिणाः । तेन इष्टं देशं न प्राप्नोतीति साध्यधर्मो दृष्टान्तेनोपदक्षितः । 'सगिच्छिदं देसं जह पुरिसो णेव पाउणदि' इत्यनेन दृष्टान्त उपदक्षितः ॥५८॥

अधिदं पि संजमतो मिच्छादिद्वी तहा ण पावेई ।

इदं जिच्चुइममं उग्गेण तवेण जुणो वि ॥५९॥

'अधिदं' पि नितरामपि । 'संजमतो' चारित्र्ये वर्तमानोऽपि । 'उग्गेण तवेण जुणो वि' उग्गेण तपसा जुणोपि, णेव निवृत्तिं प्राप्नोति इत्यनेन साध्यधर्मास्थानम् । मिच्छादिद्वी इत्यनेन साध्यधर्मि दक्षितम् । एवं प्रमाणरचना कार्या—

मिथ्यादृष्टिर्नैवेष्टं प्राप्नोति तन्मार्गावृत्तित्वात् । य स्वप्राप्यस्य मार्गं न प्रवर्तते न स तमभिमतं प्राप्नोति । यथा दक्षिणमयुरातः पाटलिपुत्रं प्राप्नुमिच्छुः दक्षिणा दिशं गच्छन्ति । 'जिच्चुवि' निवृत्तिः ।

बोधावह होते हैं अर्थात् संसारमें चिरकाल तक भ्रमणरूपी बोधको करनेवाले होते हैं । अथवा मिथ्यादृष्टिके गुण पापका बन्ध करानेवाले थोड़ेसे इन्द्रिय सुखको देकर बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहमें आसक्त उस जोबकी नरकमें गिराते हैं यह बोध कारक है । दृष्टान्त द्वारा दिखलानेसे मिथ्यात्वके माहात्म्यसे इष्टकी उत्पत्ति और प्राप्ति नहीं होती, यह प्रमाण द्वारा बतलानेके लिए दो माथाएँ आई हैं ।

या०—जैसे एक दिनमें सौ योजन भी चलनेवाला यदि अन्य मार्गसे जाता है तो वह पुरुष अपने इच्छित देशको नहीं प्राप्त होता ॥५८॥

दो०—इससे चलनेकी उत्कृष्ट सामर्थ्य होनेसे संसार भ्रमण कहा है । अन्यत्र जानेवाला इस पदसे 'अपने मार्गपर न चलनेसे' इस हेतु अर्थको दिखलाया है । अपने इच्छित देशमें न पहुँचनेमें हेतु है उसका सही मार्गसे न चलना । इष्ट देशको प्राप्त नहीं होता' यह साध्य धर्म दृष्टान्त द्वारा बतलाया है । अर्थात् प्रतिदिन सौ योजन चलनेवाला मनुष्य अपने इष्ट स्थानको प्राप्त नहीं होता क्योंकि वह सही मार्गसे नहीं जाता ॥५८॥

या०—उसी प्रकार अत्यन्त भी चारित्र्यका पालन करनेवाला उग्र तप करते हुए भी मिथ्यादृष्टि इष्ट प्रधान मोक्ष नहीं पाता ॥५९॥

दो०—मिथ्यादृष्टि इष्टको प्राप्त नहीं करता, क्योंकि इष्टके मार्गपर नहीं चलता । जो अपने इष्टकी प्राप्तिके मार्गपर नहीं चलता, वह अपने इष्टको प्राप्त नहीं करता । जैसे दक्षिण

'अर्थ' अर्थात् । अथवा निर्वृत्तिस्तुष्टिर्वा मनसो निर्वृत्तिर्नस्तुष्टिरित्यर्थः । निर्वृत्तेर्मात्रमुपायं क्षात्रिकज्ञान-
चारिणास्त्वम् । स्पष्टतया न प्रतिषर्षं व्याख्या कृता ॥५९॥

इतेन धीकेन तपसा वा युक्तोऽपि मिथ्यात्वदोषाच्चिरं संसारे परिभ्रमति इतरस्मिन्प्रतापिहीने किं
वाच्यमिति सर्ववति—

जस्तु पुत्र मिच्छदिदृष्टिस्त जल्पि सीलं वदं गुणो वाचि ।
सो मरणे अप्पाणं किह ज कुणई दीहसंसारं ॥६०॥

स्वल्पापि मिथ्यात्वविषयकजिका कुत्सितासु योनिषु उत्पादयति किमस्ति वाच्यं सर्वस्य चिनवृष्टस्या-
भङ्गाने इति वाचाया अर्थः ॥६०॥

एकं पि अक्षरं जो अरोषमाणो मरेज्ज जिणदिदृष्टं ॥
सो वि कुजोणिजिबुद्धो किं पुण सच्चं अरोचंतो ॥६१॥

एकमपीत्यस्य बालबालमरणप्रवृत्तस्य भ्रम्यस्य संख्याता, असंख्याता, अनंता वा भ्रमन्ति भवाः ।
अभ्रम्यस्य तु अनंतानंताः । मिथ्यादर्शनदोषमाहात्म्यसूचन संसारमहताख्यापनेन क्रियतेऽजया गाथया ॥६१॥

संखेज्जासंखेज्जाणंता वा होंति बालबालम्मि ॥
सेसा भव्वस्त भवा णंताणंता अभव्वस्त ॥६२॥

मधुरासे पाटलीपुत्र जानेका इच्छुक यदि दक्षिण दिशामें जाता है तो वह पाटलीपुत्र नहीं पहुँच
सकता । उसी तरह मिथ्यादृष्टि भी प्रधानभूत मोक्षको नहीं प्राप्त करता; क्योंकि निर्वृत्ति अर्थात्
मोक्षका मार्ग या उपाय क्षात्रिकज्ञान और क्षात्रिकचारित्र्य है अथवा निर्वृत्तिका अर्थ तुष्टि है ।
जैसे मनकी निर्वृत्तिका अर्थ मनकी तुष्टि है । अर्थात् उसे अनन्तसुख प्राप्त नहीं होता । स्पष्टरूप-
से प्रत्येक पदकी व्याख्या नहीं की है ॥५९॥

आगे कहते हैं कि जब व्रत, शील और तपसे युक्त होनेपर भी मिथ्यात्व दोषके कारण
चिरकाल तक संसारमें भ्रमण करता है तब जो व्रतादिसे हीन है उसका तो कहना ही क्या है—

गा०—जिस मिथ्यादृष्टिके शील व्रत अथवा ज्ञानादि भी नहीं है वह मरणपर कैसे अनन्त
संसार नहीं करता है ॥६०॥

टी०—यदि मिथ्यात्वरूपी विषकी छोटी-सी भी कणिका कुत्सित योनियोंमें उत्पन्न
कराती है तो जिन भगवान्के द्वारा देखे गये समस्त तत्त्वोंका श्रद्धान न होनेपर, तो कहना ही
क्या है ? ॥६०॥

गा०—जिन भगवान्के द्वारा देखा गया एक भी अक्षर जिसे रचता नहीं है वह मरे
तो वह भी कुयोनियोंमें डूबता है, तब जिसे सब ही नहीं रचता उसके सम्बन्धमें तो कहना ही
क्या है ॥६१॥

टी०—बालबालमरणसे मरनेवाले भ्रम्यके संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त भव होते
हैं और अभ्रम्यके तो अनन्तानन्त भव होते हैं । इस गाथासे संसारकी महताका कथन करनेके
द्वारा मिथ्यादर्शन दोषके माहात्म्यका सूचन किया है ॥६१॥

सकलकार्यं कर्तुं शक्यता वा इत्यनया ।

सतस्यमरणविकल्पेषु पंचमरणाद्यभ्येत्येति इति प्रतिज्ञात् । तत्र यत्प्रतिमरणं तत्रायोपपन्नमरण-
निश्चिनीकरणं भक्तप्रत्याख्यानमिति चिद्विकल्पं सूचितं । तत्र भक्तप्रत्याख्यानं प्राग्दर्शनीमिति वर्धयति सूत्रकारः
स्वयमेव सम्बन्धवृत्तप्रबंधस्तम्—

पुष्पं ता वृजोति भक्तपूज्यं पसत्यमरणेषु ॥

उस्सर्णं सा वैव हु सेसार्णं वृजजा पच्छा ॥६३॥

'पुष्पं' पूर्वं प्रथमं तावत् । 'वृजोति' वर्णयिष्यामि । 'भक्तपूज्यं' भक्तप्रत्याख्यानम् । 'पसत्यमरणेषु'
प्रसस्तमरणेषु व्याख्येयेषु निर्धारणकलाया वेद्यं सन्दर्भम् । यथा—कृष्णा घोषु संपन्नजीरतमेति समुदायाद्येकदेशस्य
पुष्पकरणं निर्धारणं । प्रसस्तमरणसमुदायात् श्रवणविकल्पात् भक्तप्रत्याख्यानं पूज्यव्यवस्थाप्यते । पूर्वव्याख्येयत्वेन
एतत्कालप्रयोग्यत्वेन गुणेनेति मन्यते । उस्सर्णं नितरां बाहुल्येन यावदित्यर्थः । मरणं सा वैव भक्तप्रत्या-
ख्यानमृतिरेव । साध्याहारत्वात्सर्वसूत्रपथानां । एवंहि काले इति वाक्यशेषः कार्यः ।

संहननविशेषसम्पत्तानां इतरमरणद्वयं । न च संहननविशेषः । वृजवृक्षमनाराचाद्यः अक्षत्वेऽप्युपि-
न्यजेते इति गणिनां । 'सेसार्णं' शेषयोः प्रायोपगमनस्य इगिनीमरणस्य च । वृजजा कथनं । 'पच्छा' इति
शेषः ।

शा०—बाल-बाल मरणसे मरणेपर भव्य जीवके संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त भव शेष
होते हैं । अभव्यके अनन्तानन्त भव होते हैं ॥६२॥

टी०—इस गाथाके साथ बाल-बालमरणका कथन समाप्त हुआ । मरणके सतरह भेदोंमेंसे
यहाँ पाँच मरणका कथन करते हैं ऐसी प्रतिज्ञाकी थी । उनमेंसे जो पंक्ति मरण है उसके प्रायोप-
गमन मरण, इगिनी मरण और भक्त प्रत्याख्यान ये तीन भेद सूचित किये थे । उनमेंसे प्रथम भक्त
प्रत्याख्यानका वर्णन करनेकी सूचना ग्रन्थकार आनेकी गाथासे स्वयं करते हैं—

शा०—प्रशस्त मरणोंमें पहले भक्त प्रत्याख्यानको कहूँगा । क्योंकि वह भक्त प्रत्याख्यान ही
बहुतायतसे प्रचलित है । शेष मरणोंका वर्णन पीछे करेंगे ॥६३॥

टी०—जिनका यहाँ व्याख्यान किया जाना है उन प्रशस्त मरणोंमेंसे भक्त प्रत्याख्यानको
पहले कहूँगा । यहाँ यह सन्दर्भ बिभक्ति निर्धारण करनेके अर्थमें है, जैसे गीर्वाणों काली गाय बहुत
अधिक दूध देती है । समुदायसे उसके एक देशको पूषक् करनेको निर्धारण कहते हैं । तीन भेद
बाले प्रशस्त मरणके समुदायसे भक्त प्रत्याख्यानको पूषक् करते हैं । इस कालमें भक्त प्रत्याख्यान
ही पालन करनेके योग्य है इस गुणके कारण उसका प्रथम कथन करना योग्य है । समस्त सूत्रपद
अध्याहार सहित होते हैं इसलिये इस कालमें भक्त प्रत्याख्यान मरण ही 'उस्सर्ण' बाहुल्यसे
प्रवर्तित है । शेष दो मरण विशेष संहननके धारकोके होते हैं । और आजके समयमें गणियोंके
वृजवृक्षमनाराच आदि संहनन विशेष इस क्षेत्रमें नहीं होते । इसीसे शेष प्रायोपगमन और
इगिनीमरणका कथन पीछे करेंगे ।

शांका—यदि आजके मनुष्योंमें उन मरणोंको करनेकी शक्ति नहीं है तो उनका कथन क्यों
करते हैं ?

यदि ते वतीवितुं इवागीतनामानामसामर्थ्यं किं तदुपदेशेनेति चेत् तत्स्वरूपपरिज्ञानात्सम्बन्धानां । तन्म
मुमुक्षुणापयोभवेति मन्वते ॥६३॥

कतिविकल्पं भक्तप्रत्याख्यानमित्यारेकावागाह—

दुविहं तु भक्तपञ्चकक्षार्णं सविचारमथ अविचारं ॥

सविचारमणागाढे मरणे सपरकमस्त हवे ॥६४॥

‘दुविधं तु भक्तपञ्चकक्षार्णं’ द्विविधमेव भक्तप्रत्याख्यानं । ‘सविचारमथ अविचारं’ इति । विचरणं
नानागमनं विचारः । विचारेण वर्तते इति सविचारः । एतदुक्तं भवति । वक्ष्यमाणाहौलगादिविकल्पेन सहितं
भक्तप्रत्याख्यानं इति । अविचारं वक्ष्यमाणाहौलगादिनामाप्रकाररहितं । भवतु द्विविधं । सविचारमन्त्रप्रत्याख्यानं
कस्य भवति इत्यस्योत्तरं । सविचारं भक्तप्रत्याख्यानं ‘अणागाढे’ सहसा अनुपस्थिते मरणे चिरकालमाविति
मरणे इति यावत् । ‘सपरकमस्त’ सह पराक्रमेण वर्तते इति सपराक्रमस्तस्य हवे भवेत् । पराक्रमः उत्साहः
एतेनैव सहसोपस्थिते मरणे पराक्रमरहितस्य अविचारमन्त्रप्रत्याख्यानं भवतीति लभ्यते ‘यतो’ विचारमन्त्र-
प्रत्याख्यानं अस्य अस्मिन्काले इति सूत्रे नोक्तं ॥६४॥

तयोः कस्य भक्तप्रत्याख्यानस्य अनेन शास्त्रेण निरूपणेत्याशंकायां आह—

सविचारमन्त्रपञ्चकक्षार्णस्तिगमो उवक्कमो होइ ।

तत्थ य मुत्तपदाइं चत्तलं होति येयाइं ॥६५॥

समाधान—उनके स्वरूपको जाननेसे सम्यग्ज्ञान होता है और वह मुमुक्षुओंके लिए
उपयोगी ही है ॥६३॥

भक्त प्रत्याख्यानके भेद कहते हैं—

गा०—भक्त प्रत्याख्यान दो प्रकारका ही है । सविचार और अविचार । सविचार भक्त
प्रत्याख्यान सहसा मरणके उपस्थित न होनेपर पराक्रम अर्थात् साहस और बलसे युक्त साधुके
होता है ॥६४॥

टी०—भक्त प्रत्याख्यान मरणके दो भेद है सविचार और अविचार । विचरण या नाना
गमनको विचार कहते हैं और विचारसे सहितको सविचार कहते हैं । इसका यह अमिप्राय है कि
आगे रुहे जाने वाले अहौलगादि भेद सहित भक्त प्रत्याख्यान सविचार है और उनसे रहित
अविचार है । सविचार प्रत्याख्यान किसके होता है ? तो कहते हैं कि यदि मरण सहसा उपस्थित
न हो, चिरकाल भावी हो तो पराक्रमसे उत्साहसे सहितके होता है । इसीसे वह भी प्राप्त होता
है कि सहसा मरण उपस्थित होनेपर पराक्रमसे रहितके अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है ।
माथामें अविचार भक्त प्रत्याख्यान इस कालमें इसके होता है, ऐसा नहीं कहा है ॥६४॥

उन दोनोंमेंसे किस भक्त प्रत्याख्यानका इस शास्त्रके द्वारा कथन किया जायेगा ? इस शंका
का उत्तर देते हैं—

गा०—सविचार भक्त प्रत्याख्यानका यह उपक्रम अर्थात् प्रारम्भ होता है । और उस भक्त
प्रत्याख्यानमें सूत्र और पद चालीस जानने योग्य हैं ॥६५॥

'सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्त' इति सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य । 'दुष्कर्मो' अर्थः । 'उपकर्मो' व्याख्यान-
प्रारंभः । 'होति' भवति । 'तस्य च' तत्र च भक्तप्रत्याख्याने । 'सूत्रपदाह' सूत्रपदानि । सूत्रेण सूत्रवरीति
वा सूत्रं । सूत्रानि च तानि पदानि च सूत्रपदानि । 'असत्सं' अस्तिरिप्तात् । 'होति' भवति । 'विवाह'
ज्ञातव्यानि ॥६५॥

तानि सूत्रपदानि शाखाचतुष्टयनिबद्धानि—

अरिहे लिंगे सिक्खा विजय समाधी य अणियदविहारे ।

परिणामोवचिजहणा सिद्धी य तह भावणाओ य ॥६६॥

'अरिहे' अर्थः योग्यः । सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्यायं योग्योऽयं नेति प्रथमोऽधिकारः कर्तुं व्यापारः ।
लिंगाख्यः कर्तुं पुरःसरा भवतीति प्रागेव लिंगशिक्षाविष्यो योग्यकर्तुं निर्देशः सूत्रे कृतः अरिह इति । शिक्षादि-
क्रियाया भक्तप्रत्याख्यानक्रियांगभूताया योग्यपरिकरभावसंबन्धितुं लिंगोपादानं कृतम् । कृतपरिकरो हि कर्ता
क्रियासाधनायोग्यं करोति लोके । तथा हि घटादिकरणे प्रवर्तमाना दुग्धद्वक्काः कुलाला दुग्धते । ज्ञानमंतरेण
न विनयाख्यः कर्तुं शक्यन्ते इति तेभ्यः प्राह निर्देशमर्हति शिक्षा । यथावसरमितरक्रममादशयिष्यामः ।
लिंगशब्दचिह्नवाची । तथाहि वक्ष्यति । 'चिह्नं करणं' इति । सिक्खा शिक्षा श्रुतस्य अध्ययनमिह शिक्षा-
शब्देनोच्यते । तथा च वक्ष्यति—'विनयवचनं ककुसहरं अहो व रत्ती य वद्विरब्धविति' । विनयः मर्यादा ।
तथा हि—ज्ञानादिभावनाव्यवस्था हि ज्ञानादिविनयतया वक्ष्यते । समेकीभावे वर्तते तथा च प्रयोगः—संघर्षं

टी०—सविचार भक्त प्रत्याख्यानका व्याख्यान प्रारंभ होता है उसमें चालीस सूत्रपद
हैं ॥६५॥

उन सूत्रपदोंको चार गाथाओंसे कहते हैं—

गा०—अर्ह अर्थात् योग्य, लिंग अर्थात् चिह्न, शिक्षा अर्थात् शास्त्राध्ययन विनय और मनका
एकत्र करना, अनियत क्षेत्रमें विहार, परिणाम, परिग्रह त्याग और शुभ परिणामोंकी श्रेणिपर
आरोहण तथा अभ्यास ॥६६॥

टी०—अर्हका अर्थ योग्य है । सविचार भक्त प्रत्याख्यानके यह योग्य हैं और यह योग्य नहीं
है यह प्रथम अधिकार है जो कतकि व्यापारसे सम्बद्ध है । लिंग आदि कतकि होनेपर ही होते हैं
इसलिये लिंग शिक्षा आदिसे पहले गाथामें 'अरिह' से योग्य कर्ताका निर्देश किया है । भक्त
प्रत्याख्यान क्रियाके अंगभूत शिक्षा आदि क्रियाके योग्य परिकर दिखलानेके लिये लिंगका ग्रहण
किया है । क्योंकि साधन सामग्री जुटा लेनेपर ही कर्ता लोकमें क्रियाकी साधनाके लिये उद्योग
करता है । घट आदि बनानेमें लगे कुम्भकार साधन सामग्री कर लेनेपर ही कमर बांधकर तैयार
देखे जाते हैं । ज्ञानके बिना विनय आदि नहीं किये जा सकते, इसलिये उनसे पहले शिक्षाका
निर्देश योग्य है । अन्य क्रम अवसरके अनुसार कहेंगे ।

लिंग शब्द चिह्नवाची है । आगे कहेंगे 'चिह्नं करणं' । यहाँ शिक्षा शब्दसे श्रुतका अध्ययन
कहा है । आगे कहेंगे—'विनय वचन कालिमाको दूर करता है उसे रात दिन पढ़ना चाहिये ।
विनयका अर्थ मर्यादा है । आगे ज्ञानादि भावनाकी व्यवस्था ज्ञानादिका विनयके रूपमें कहेंगे ।

धृतमित्यत्र एकीभूतं तैलं एकीभूतं धृतमित्यर्थः । समाधानं मनसः एकठाकरणं शुभोपयोगे बुद्धे वा । अनियतक्षेमवासः अनियतविहारः । तद्भावः परिणामः [उ. सू. ५।४२] इति वचनात्तस्य जीवादेश्चक्यस्य क्रोधादिना दर्शनादिना वा भवनं परिणाम इति । यद्यपि सामान्येनोक्तं तथापि यतेः त्वेन कर्तव्यस्य कार्यस्यासोचनमिह परिणाम इति गृहीतम् । उच्यतेः परिग्रहः । तस्य 'ब्रह्मणा' त्यागः । 'सिद्धी व' भित्तिः श्रेणिः सोपानमिति यावत् । भावनाभ्यास तत्र असकृत्प्रवृत्तिः ॥६६॥

सल्लेखणा दिसा खामणा य अससिद्धिं परगणे चरिया ।

अगण सुद्धिय उवसंपया य पडिछा य पडिसेहा ॥६७॥

'सल्लेखणा' सम्यक्तनूकरणं । 'दिसा' परलोकविगुपदर्शनपरः सूरिणा स्थापितः भवतां विषयं मोक्ष-
'वर्तनीमयमुपदिशति य' सूरि' स विद्या इत्युच्यते । 'खामणा' क्षमाग्रहणं । 'अससिद्धिं' सूत्रानुसारेण शासनम् । 'चरिया' अन्यस्मिन्नागे 'चरिया' चर्या प्रवृत्तिः । 'अगण' भास्वने रत्नत्रयविशुद्धि समाधिभरणं वा संपादायितुं क्षमस्य सूरेश्वरेण । 'सुद्धि' सुस्थितः परोपकरणे स्वप्रयोजने च सम्यक् स्थितः सुस्थितः आचार्यः । 'उवसंपया' आचार्यस्य ढोकन । 'पडिछा' परीक्षा । गणस्य, परिचारकस्य, आराधकस्य, उत्साह-
शक्तेश्च आहारगताभिलाषं त्यक्तुमयं क्षमा नेति । 'पडिसेहा' आराधनाया भ्यालोपेण विना सिद्धिर्भवति न

समका अर्थ एकीभाव है । जैसे 'संगत भूत' का अर्थ एकमेक हुआ ही है । समाधानका अर्थ है शुभोपयोग अथवा शुद्धोपयोगमे मनका एक रूप करना । अनियत विहारका अर्थ है अनियत क्षेत्रमें रहना । तत्त्वार्थ सूत्रमें 'तद्भाव' को परिणाम कहा है । अतः जीवादि द्रव्यके क्रोधादि या दर्शन आदि रूपसे होनेको परिणाम कहते हैं । यद्यपि सामान्य परिणाम गायामें कहा है तथापि यहाँ साधुके द्वारा अपने कर्तव्यको आलोचनाको परिणाम शब्दसे ग्रहण किया है । उपधिका अर्थ परिग्रह है । उसका त्याग उपधिग्रहणाका अर्थ है । 'सिद्धी' या भित्तिका अर्थ श्रेणियां सोपान है । भावनाका अर्थ अभ्यास उममें बार-बार प्रवृत्ति करना है ॥६६॥

शा०—सल्लेखना, दिशा, क्षमाग्रहण, शिक्षा ग्रहण, अन्य गणमें प्रवृत्ति, आचार्यकी खोज सुस्थित उपसपदा, परीक्षा, प्रतिलेखना ॥६७॥

टी०—कपाय और शरीरको सम्यक् रीतिसे कृश करना सल्लेखना है । आचार्य अपने स्थानपर जिसे स्थापित करते हैं कि यह आपको परलोककी दिशा दिखलाते हुए मोक्ष मार्गका उपदेश देगा वह आचार्य दिशा कहलाता है । क्षमा ग्रहण करनेको खामणा कहते हैं । शास्त्रानुसार शिक्षा देनेको अणुसिद्धि कहते हैं । परगण अर्थात् दूसरे संघमें जानेका परगण चरिया कहते हैं । अपनी रत्नत्रय विशुद्धि अथवा समाधिभरण करानेमें समर्थ आचार्यके खोजनेका मार्गण कहते हैं । परका उपकार करनेमें और अपने प्रयोजनमें सम्यक् रूपसे स्थित आचार्यको सुस्थित कहते हैं । आचार्यके पास जानेको उपसपदा कहते हैं । गण, परिचारक, आराधक और उत्साह शक्ति की और यह आराधक आहारकी अभिलाषा छोड़नेमें समर्थ है या नहीं इन सबकी परीक्षा करना

१ भित्तिः श्रेणिः निश्रेणिः मो. भा. मु० ।

२. वर्तन्या अयमु०—अ० । वर्तन्याश्रयमु०—मु०

वा राज्यस्य तस्य देशस्य ग्रामनगरादेस्तत्र प्रधानस्य वा शोभनं वा नेति एवं निरूपणम् ॥६७॥

आपुच्छा य पडिच्छणमेगस्सालोयणा य गुणदोसा ।

सेज्जा संघारो चि य णिज्जवग पयासणा हाणी ॥६८॥

'आपुच्छा' प्रतिप्रश्नः । किमयमस्मानिरनुगृहीतव्या न वेति संघप्रश्नः । 'पडिच्छणमेगस्स' प्रति चारकैरभ्यनुज्ञातस्वीकृत्य संग्रह आराधकस्य । 'आलोचना य' स्वापराधनिवेदन गुरुणामा लोचना । 'गुणदोसा' तस्या गुणदोषाः । 'सेज्जा शय्या वसतिरित्यर्थः' । आराधकावासगुहमिति यावत् । 'संघारो चि य' संस्तरश्च । 'णिज्जवग' निर्यापका आराधकस्य समाधिसहायाः । 'पयासणा चरमाहारप्रकाशनम् । 'हाणी' क्रमेणाहार-त्यागः हानिः ॥६८॥

पच्चवस्साणं खामणं खमणं अणुमट्ठिसारणाकवचे ॥

समदाज्जाणे लेस्सा फलं विजहणा य णेयाइं ॥ ६९ ॥

'पच्चवस्साणं' प्रत्याख्यानं त्रिविधाहारस्य । 'खामणं' आचार्यादीना क्षमाग्रहणं । 'खमणं' स्वस्याप्य भूतापराधे क्षमा । 'अणुमट्ठि' अनुशासनं शिक्षणं निर्यापकस्याचार्यस्य । 'सारणा' दुःखामिभवाग्मोहमुपगतस्य निश्चेतनस्य चेतनाप्रवर्तना सारणा । 'कवचे' यथा कवचस्य शरशतनिपातदुःखनिवारणक्षमता एवमाचार्येण

'पडिच्छा' है । आराधनाकी सिद्धि विना बाधाके होगी या नहीं, तथा राज्य, देश, ग्राम नगर आदि वहाँका प्रधान ये सब आराधनाके योग्य हैं या नहीं, इस प्रकारके निरूपणको पडिलेहा कहते हैं ॥६७॥

शा०—पूछना एक क्षपकको स्वीकार करना, और आलोचना, आलोचनाके गुण दोष, शय्या अर्थात् वसति, और संस्तर, निर्यापक, अन्तिम आहारका प्रकाशन क्रमसे आहारका त्याग ॥६८॥

टी०—जब कोई आराधक समाधिमरणके लिये आवे तो आचार्यका संघसे पूछना कि हम इसे स्वीकार करें या नहीं आपुच्छा है । आराधककी सेवा करने वाले मुनियोंकी स्वीकृति मिलने पर एक आराधकको लेना 'एकका पडिच्छण है । गुरुके सामने अपने अपराधका निवेदन आलोचना है । आलोचनाके गुण और दोष 'गुणदोस' हैं । आराधकके रहनेका स्थान शय्या है उसे वसति भी कहते हैं संस्तरको संघार कहते हैं । आराधककी समाधिमें जो सहायक मुनि होते हैं उन्हें निर्यापक कहते हैं । आराधकके सामने अन्तिम आहारका प्रकाशन 'पयासणा' है । और क्रम से आहारके त्यागको हानि कहते हैं ॥६८॥

शा०—प्रत्याख्यान, क्षमा ग्रहण, दूसरोंके अपराधको क्षमा करना । शिक्षण, सारणा, कवच, समभाव, लेख्या, आराधनाका फल (य) और (विजहणा) शरीर त्याग ये अधिकार जानना ॥६९॥

टी०—तीनों प्रकारके आहारका त्याग करना प्रत्याख्यान है । आचार्य आविसे क्षमा माँगना खामण है । दूसरेसे हुए अपराधको क्षमा करना खमण है । निर्यापकाचार्य जो शिक्षा देते हैं बंध अनुशिष्टि है । दुःखसे पीड़ित होकर बेहोश हुए चेतना रहित आराधकको सचेत करना सारणा है । जैसे कवचमें सैकड़ों बाणोंके लगनेसे होनेवाले दुःखको दूर करनेकी सामर्थ्य है । वैसे ही

निर्वापकेन धर्मोपदेशकत्वयुक्तिपरिच्छेदयोः दुःसहानि दुःखानि ननु कर्मपरवशतया मुक्ताणि लिप्कानि । इदं पुन-
 दुःखसहनं निर्जरायै प्रवर्त्यमानं सकलदुःखान्तं सुखमन्यतीन्द्रियमन्त्रमनुपमग्यावाधात्मकं संपादयिष्यतीति
 किमन्यो दुःखनिवारणमुपसामान्यात् कवच शब्देनोच्यते । यथा शौर्यप्रचिख्यापविषया माणवके सिंहशब्दः
 प्रमुप्यमानः शौर्यविगुणाम्यासितं देवदत्तमवगमयति । 'सम्भा' समभाव जीवितमगलाभालाभसयोगविप्रयोव-
 बुद्धदुःखाविषु रागद्वेषयोरकरणं । 'क्याच' ध्यानं एकाग्रचितानिरोध । 'लेस्ता' लेश्या कषायानुरजिता योम-
 प्रवृत्तिलेश्या । 'कलं' साध्यं परिप्राप्यं आराधनायाः । 'विजहणा' आराधकस्य शरीरत्यागः ॥६९॥

बाहिव्व दुप्पसज्जा जरा य सामण्णजोग्गहाणिकरी ॥

उवसग्गा वा देवियमाणसतेरिच्छया जस्स ॥ ७० ॥

'बाहिव्व' । अत्र चैवं पवघटना । 'बाहिव्व दुप्पसज्जा सो अरिहो होइ भत्तपबिण्णाए' इति । व्याधिर्वा
 दुःप्रसाध्यः शत्रुणेन महता संयमप्रचयावहेन चिकित्स्य । यस्य विद्यते सोहो भक्तप्रत्याख्यानं कतु' । जीर्यति
 विनश्यति रूपयोबलप्रभृतयो गुणा यस्यामवस्थाया प्राणिन सा जरा । 'सामण्णजोग्गहाणिकरो' श्राम्यति
 तपस्यतीति श्रमणः । तस्य भावः श्रामण्यं । श्रमणशब्दस्य पुंसि प्रवृत्तिनिमित्त तपःक्रिया श्रामण्यं, तेन योगः
 संबन्धः साध्यसाधनलक्षणस्तस्य हानि विनाशं करोति या सा जरा यस्य सोहति भक्तप्रत्याख्यानं विधातुं ।

निर्यापकाचार्य जो धर्मोपदेश देते हैं—तूने चार गतियोंमें भ्रमण करते हुए दुःसह दुःख सहे और
 कर्मके अधीन होकर भोगे जिनसे कोई लाभ नहीं । किन्तु इस समयका दुःख सहन निर्जराके
 लिए हैं, सब दुःखोंका अन्त करनेवाला है और अतीन्द्रिय, अचल, अनुपम तथा बाधारहित सुखको
 भी देगा । इस प्रकार दुःखको दूर करनेके गुणकी समानतासे उसे कवच शब्दसे कहा है । जैसे
 शौर्यका बलान करनेकी इच्छासे बालकमें प्रयुक्त सिंह शब्द शौर्य आदि गुणोंसे युक्त देवदत्तका बोध
 कराता है । वैसे ही यहाँ भी जानना ।

जीवन, मरण, लाभ, हानि, संयोग, वियोग, सुख दुःख आदिमें रागद्वेष न करना समता
 है । एक विषयमें चिन्ताके निरोधको ध्यान कहते हैं । कषायसे अनुरक्त मन-वचनकायको प्रवृत्ति-
 को लेश्या कहते हैं । आराधनाके द्वारा प्राप्त साध्यको फल कहते हैं । और अन्तमें आराधकके
 शरीर त्यागको विजहणा कहते हैं । इतने अधिकारोंसे भक्त प्रत्याख्यान मरणका कथन करेंगे ॥६९॥

उनमेंसे 'अहं' का कथन आगेकी गाथाके द्वारा करते हैं—

शा०—जिसके दुष्प्रसाध्य व्याधि हो, अथवा श्रामण्यके सम्बन्धको हानि पहुँचानेवाली
 बुद्धावस्था हो अथवा देवकृत मनुष्यकृत और तिर्यञ्चकृत उपसर्ग हो वह भक्त प्रत्याख्यान करनेके
 योग्य है ॥७०॥

टी०—दुःप्रसाध्य व्याधि हो, अर्थात् बड़े कष्टसे संयमके समूहका घात करके जिसका
 इलाज सम्भव हो वह भक्त प्रत्याख्यान करनेके योग्य होता है । जिस अवस्थामें प्राणिके रूप,
 शय, बल आदि गुण नष्ट हो जाते हैं उसे जरा कहते हैं । 'श्राम्यति' अर्थात् जो तपस्या करता है
 वह श्रमण है । श्रमणके भावको श्रामण्य कहते हैं । पुरुषमें श्रमण शब्दकी प्रवृत्तिमें निमित्त
 तपश्चरण श्रामण्य है । उससे योग अर्थात् साध्यसाधनरूप सम्बन्धकी हानि जो करती है अर्थात्
 जिसके होनेपर तपश्चरणकी साधना करना कठिन होता है वह बुद्धावस्था जिसके आ गई हो
 वह अथवा प्रत्याख्यान करनेके योग्य होता है । जिसका शारीरिक बल बुद्धावस्थाके कारण क्षीण हो

जरापरिच्छेदशरीरबलः शरीरबलसाम्येषु कायक्लेशेषु न वर्तितुमुत्सहते । अथवा सममगो 'समन्तो' समवस्तु भवति सामन्त्वं । क्वचित्पञ्चमसुगतरावद् वता समता सामण्यशब्देनोच्यते । वस्तुयाथात्म्यावहितचेत-
स्तया योगः संबन्धो ध्यानयोग इति यावत् । वस्तुयाथात्म्यावबोधो निश्चलो यः स ध्यानमिष्यते । जरापरि-
च्छेदबोधस्य ध्यानं विनश्यति । ततो ध्यानयोगविनाशकारिणी जरा यस्य सोर्हति भक्तं त्यनभुम् । अथवा
सामन्त्वं समता, मुख्यतेजने निर्बाराधिन इति योगः, तपः । योगशब्दस्तपसि कायक्लेशाख्ये रूढः सोऽत्र गृहीतः ।
'आदावनादिविजोगव्यतिरिक्तोऽन्वयानारा' इत्युक्तेः आतापनादितपोधारणः इति प्रतीयते ।

इदं अल्पाक्षरत्वाद्योगशब्दस्य पूर्वनिपातप्रसंग इति चेत् न अस्मिहितत्वात्ममतायाः सामण्य इत्यस्य
पूर्वनिपात इति मन्थते, पूर्वतोऽप्यहितमिति वचनात् । न हि समतासून्यात्तपसो विपुला निर्जरा भवति । सत्यां
तु समतायां निर्जरा भवति । ततस्तपसो निर्बाराहेतुता समतापरवर्षेति प्रधानं समता ।

उच्यमाना वा उपद्रवा वा 'द्वैविध्यान्मुसलेरिक्किणा' देवैर्नरैस्तिर्यग्भिरवच प्रवर्तिता यस्य सोर्हति भक्त-
प्रत्याख्यानं इति संबन्धः । वस्तुविषयत्वादुपसर्गस्य 'भैविध्योपदेशः कथमिति ? अनोच्यते—उपसर्गा वा इति वा
शब्दः समुच्चयार्थोऽतो 'द्वैविध्यान्मुसलेरिक्किणा वा इति संबन्धीयस्तेनाचेतनोपसर्गसमुच्चयः क्रियते ॥७०॥

जाता है वह शरीरमें रहते बलके द्वारा करने योग्य कायक्लेशोंमें प्रवृत्त होनेके लिए उत्साहित
नहीं होता । अथवा जिसका मन सम है वह समण है । समणका भाव सामण्य है । किसी भी
वस्तुमें रागद्वेष न करनेरूप समता 'सामण्य' शब्दसे कही जाती है । वस्तुके यथार्थस्वरूपमें
चित्तका लगना, उसके साथ योग-सम्बन्ध अर्थात् ध्यान योग । वस्तुके यथार्थस्वरूपका जो ज्ञान
निश्चल होता है उसे ध्यान कहते हैं । बुद्धापेसे ज्ञानके व्यास हो जानेपर ध्यान नष्ट हो जाता
है । अतः ध्यानयोगका विनाश करनेवाली जरा जिसके है वह भोजनका त्याग करनेके योग्य है ।
अथवा समताको सामण्य कहते हैं । और निर्जराके इच्छुक जिससे युक्त होते हैं वह योग अर्थात्
तप है । योग शब्द कायक्लेश नामक तपमें रूढ़ है । वही यहाँ योग शब्दसे लिया है, क्योंकि
'आदावनादि जोगधारिणो अणगारा' इस कथनसे 'आतपन आदि तपको धारण करनेवाले' ऐसा
अर्थ प्रतीत होता है ।

शंका—'योग' शब्द अल्प अच्वाला है । अत इन्द्र समासमें सामण्यसे पहले 'जोग' शब्द
रखना चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि समता पूज्य है अतः सामण्यको पहले रखना उचित है क्योंकि
जो पूज्य होता है उसे पहले स्थान दिया जाता है ऐसा शास्त्रका वचन है । समताशून्य तपसे
बहुत निर्जरा नहीं होती । किन्तु समताके होनेपर होती है । अतः तप समताके परवश होकर
निर्जरामें कारण होता है इसलिए समता प्रधान है ।

अथवा देव, मनुष्य और तिर्यज्जोंके द्वारा जिसपर उपसर्ग किया गया हो वह भक्त प्रत्या-
ख्यानके योग्य होता है ।

शंका—उपसर्ग तो चार प्रकारका होता है । यहाँ तीन प्रकारका क्यों कहा ?

समाधान—'उपसर्गा वा' में 'वा' शब्दका अर्थ समुच्चय है । उससे अचेतनकृत उपसर्गका
समुच्चय होता है ॥७०॥

अणुलोभा वा सत्त् चारित्रविषासया इवे जस्स ॥
दुग्मिक्खे वा गाढे अडवीए विप्पणद्धो वा ॥७१॥

'अणुलोभा वा' अनुकूल वा शत्रुव । 'चारित्रविषासया' चारित्र पापक्रियानिवृत्तिः तस्य विनाशकाः । बंधवो हि स्नेहान्मिथ्यात्वदोषात् स्वपोषणलोभाद्वा यस्य चारित्रं विनाशयितुं उद्यता । अनुलोमत्वं शत्रुत्वविरोधि प्रातिकूल्ये समवस्थिता हि भवन्ति शत्रवस्तत्किमुच्यते 'अणुलोभा वा सत्त्' इति ? प्रियवचनमात्रभाषणावनुलोमता । अहितेऽसंयमे प्रवर्तनाद्विदितस्य सयमघनस्य विनाशनात् शत्रवो भवन्ति । अथवा अनुलोमा बंधवः सत्त् वा शत्रुवश्चेति समुच्चयः वा शब्दसमुच्चयार्थत्वान् । 'वेक्किमानुसतेरिषणाया उबसग्गा जस्स' इतिवचनान् अनुकूलशत्रुकृतोऽप्युपसर्गं समूहीतः एव किमर्थं पुनरुच्यते 'अणुलोभा वा' इति पुनरुक्ता । तत्र हि सूत्रे मनुष्योपसर्गो नाम बंधनताडनविलंबनादिकः शरीरोपद्रवः परकृतो गृहीतः । इह तु जिह्वात्पाटनादिर्षं कुर्मो यदि श्रामण्यं न त्यजसीति लोकीकरणं वक्तुमिष्टम् ।

'दुग्मिक्खे वा' दुग्मिक्खे वा । 'आगाढे' दुस्तरते महति अशनिपातमिव सर्वजनगोचरे अर्हति प्रत्याख्यातु ।

'अडवीए' अटव्या महत्या व्यालमृगाकुलायां मार्गोपदेशजनरहितायां विड्मूढः पाषाणकंटकबहुलकस्या दुःप्रचाराया । 'विप्पणद्धो वा' विप्रनष्टो वा अर्हतीति संबध ॥७१॥

गा०—अनुकूल बन्धु मित्र शत्रु हो जो चारित्रिका विनाश करनेवाले हो । अथवा अनुकूल बन्धु और शत्रु जिसके चारित्रिका विनाश करनेवाले हो । भयंकर दुग्मिक्खे हो अथवा भयंकर जंगलमें भटक गया हो तो भक्त प्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७१॥

टी०—अनुकूल ही शत्रु हो । पापक्रियासे निवृत्तिरूप चारित्रिका विनाश करनेवाले हों । बन्धु स्नेहसे या मिथ्यात्व दोषसे या अपने भरण-पोषणके लोभसे जिसके चारित्रिका विनाश करनेके लिए तत्पर हो वह भक्त प्रत्याख्यानके योग्य है ।

शंका—अनुलोमता शत्रुताकी विरोधी है । जो प्रतिकूल होते हैं वे शत्रु होते हैं तब 'अणुलोमा वा सत्त्' कैसे कहा ?

समाधान—प्रियवचनमात्र वालनेसे अनुलोमता है और असंयमरूप अहितमें प्रवृत्ति करानेसे तथा सयमघनरूप हितका विनाश करनेसे शत्रु होते हैं ।

अथवा अनुलोम अर्थात् बन्धु और शत्रु इस प्रकार 'वा' शब्दको समुच्चयार्थक लेना चाहिए ।

शंका—पहले कहा है कि जिसपर देवकृत मनुष्यकृत उपसर्ग हो, तो इससे अनुकूल कृत और शत्रुकृत उपसर्गका ग्रहणकर ही लिया है यहाँ पुनः 'अणुलोमा वा सत्त्' क्यों कहा ? इससे पुनरुक्ता दोषका प्रसंग आता है ।

समाधान—उक्त गाथायाम् मनुष्योपसर्गसे परके द्वारा किया गया बंधना, मारना, रोकना आदि शारीरिक उपद्रव लिया गया है । और यहाँ 'यदि मुनिपद नहीं छोड़ता तो हम तेरी भीम उखाड़ लेंगे' इस प्रकारकी शत्रुता ली गई है ।

वज्रपातके समान भयंकर दुग्मिक्खे होनेपर भक्त प्रत्याख्यानके योग्य है । सर्प, मृग आदिसे भरे हुए भयंकर वनमें, जहाँ कोई रास्ता बतलानेवाला नहीं है, कंकर पत्थरोंके कारण चलना भी दुष्कर है, फँस जानेपर भक्त प्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७१॥

चक्षुं व दुर्बलं अस्त ह्योज्ज सोदं व दुर्बलं जस्त ॥

जंघाबलपरिहीनो जो न समत्थो विहरिदुं वा ॥७२॥

‘चक्षुं’ व ‘चक्षुर्वा’ । चष्टेऽन्विर्वायतीति चक्षुः । ‘दुर्बलं’ अल्पशक्तिकं सूक्ष्मवस्तुदर्शनाक्षमं । ‘जस्त’ यस्य । ‘ह्योज्ज’ भवेत् । ‘सोदं’ व ‘सोदं’ वा श्रूयते शब्द उपलभ्यते येन तत् श्रोत्रम् । ‘दुर्बलं’ शब्दो-
पलम्बिष्यन्ननसामर्थ्यविकलं । सोऽप्यहति । ‘जंघाबलपरिहीनो’ ‘जो’ यः । ‘न समत्थो’ न शक्तो । ‘विहरिदुं’
वा’ ननु’ वा सोऽप्यहति ॥७२॥

अर्णमि चाधि एदारिसंमि आगाढकारणे जादे ॥

अरिहो भक्षपक्ष्णाय होदि चिरदो अचिरदो वा ॥७३॥

‘अर्णमि चाधि’ अन्विस्मिन्मपि उक्तप्रत्ययात् । ‘आगाढकारणे’ आगाढे कारणे ‘जादे’ जाते । ‘एदा-
रिसंमि’ उक्तकारणसदृशे । ‘भक्षपक्ष्णाय’ अरिहो होदि चिरदो अचिरदो वा इति पदघटना । भक्ष प्रत्या-
ख्यानस्याहो भक्ति विरतः अचिरदो वा ॥७३॥

अनहंसुषनायोत्तरगाथा—

उत्तरइ जस्त चिरमधि सुहेण सामणमणदिचारं वा ॥

जिज्जावया य मुलहा दुक्मिक्खभयं च जदि णत्थि ॥७४॥

‘उत्तरइ’ निरतं प्रवर्तते । ‘जस्त’ यस्य । ‘चिरमधि’ चिरकालमपि । किं ‘सामणं’ चारित्रं । ‘सुहेण’
भक्तेनेन । ‘अधिचिचारं वा’ निरतिचिचार । चारित्रविनाशप्रयासव्यतीतेषु कारणेषु सन्तु प्रत्याख्यानयोषोणं

गा०—जिसकी चक्षु दुर्बल हो अथवा जिसके श्रोत्र दुर्बल हों । जो जंघाबलमें हीन हो
(वा) अथवा विहार करनेमें समर्थ न हो ॥७२॥

टी०—‘चष्टे’ अर्थको जो दिखलाती है वह चक्षु है । ‘श्रूयते’ जिसके द्वारा शब्दको जाना
जाता है वह श्रोत्र है । जिसकी चक्षु अल्पशक्तिवाली हो, सूक्ष्म वस्तुको न देख सकती हो ।
जिसकी कर्णेन्द्रिय दुर्बल हो, शब्दका ज्ञान करानेमें आशक्त हो, जिसमें जंघाबल न हो, जो विहार
करनेमें अशक्त हो, वे सब भक्तप्रत्याख्यानके योग्य हैं ॥७२॥

गा०—उक्तकारणके समान अन्य भी प्रबल कारण उपस्थित होनेपर विरत अथवा अचिरत
भक्तप्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७३॥

टी०—उक्त कारणोंके समान अन्य भी ऐसे कारण हों तो मुनि हो या श्रावक हो वह
भक्तप्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७३॥

जो भक्तप्रत्याख्यानके अयोग्य हैं उन्हें आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—जिसका चारित्र चिरकाल भी विना किसी क्लेशके अतिचार रहित अच्छी तरह
पालित हो रहा है । अथवा समाधिभरण करानेमें सहायक नियामक (मुलहा) मुलभ हैं । (च)
और (जदि) यदि दुःखिसका भय नहीं है ॥७४॥

टी०—पहले जो भक्तप्रत्याख्यान करनेके कारण कहे हैं उनके रहते हुए यह चारित्र विनाश-
के भयसे भक्तप्रत्याख्यानके लिए उद्योग करता है । किन्तु यदि चारित्र विना क्लेशके निरतिचार

करोति । उन्मत्तवदन्ति निरतिचारमकौशेन नैव भक्तप्रत्याख्यानमर्हति । इदानीमहं यदि न त्वायां कुर्वां निर्या-
पकाः पुनर्न लम्प्यन्ते सूरयस्तदभावे नाहं पण्डितमरणवाराधयितुं शक्नोमि इति यदि भयमस्ति भक्तप्रत्याख्या-
नाहं एव ॥७५॥

यदि च सुलभा निर्यापका अनागतदुःखमयं च यदि न स्यान् चवत्यर्थः इति कथयति—

तस्स ञ कप्पदि भयपङ्कणं अनुबद्धिदं भवे पुरदो ॥

सो मरणं पण्डितो होदि हु सामण्णणिविचण्णो ॥७५॥

'तस्स' तस्य । 'ञ' 'कप्पदि भयपङ्कणं' न योग्यं प्रत्याख्यानं भक्तस्य । 'भवे पुरदो अनुबद्धिदं' भवे पुरदायानुपस्थिते । 'सो' सः । निरतिचारभ्रामभ्य सुलभनिर्यापकः अनुपस्थितदुःखमयः । 'मरणं' मृति । 'पण्डितो' प्रार्थयमानः । सुशब्द एवकारार्थः । एवमसौ संभावनीयः 'सामण्णणिविचण्ण एव होविति' आमध्या-
ध्यान्निविष्ण एव संभवतीति । ननु च अरिहोति अहं एव सूचितो नानहं, तत्किमर्थमसूत्रितव्याख्या क्रियते, सूत्रकारेण ? अहंभ्रसंगादायातमिति केचित् । अनहंमपि लक्षणतया अनहंत्वं सूचितं इति वा न दोषः । स्वपर-
'भाषाभावोभयाधीनात्मलाभत्वात्सर्ववस्तुनां इति मन्यते ॥ अरिहोति मयम् ॥७५॥

पलता है तो वह भक्तप्रत्याख्यानके योग्य नहीं है उसे भक्तप्रत्याख्यान मरण नहीं करना चाहिए । तथा यदि इस समय मैं भक्तप्रत्याख्यान नहीं करता तो फिर भूझे समाधिमरण करानेवाले निर्या-
पकाचार्य नहीं मिलेंगे । उनके अभावमें मैं पण्डितमरणकी आराधना नहीं कर सकता । ऐसा यदि भय है तो भक्तप्रत्याख्यानके योग्य ही है । अर्थात् यदि ऐसा भय न हो और आराधनामें सहायक उस कालमें और आगे भी सुलभ हों तो उक्त भयसे तत्काल भक्तप्रत्याख्यान करना योग्य नहीं है । इसी तरह यदि दुःखिका भय हो कि आगे धान्यका विनाश होनेसे भिक्षाके विना मेरे चारित्रकी हानि होगी तो भक्तप्रत्याख्यान करना योग्य है, नहीं तो अयोग्य है ॥७५॥

यदि निर्यापक सुलभ हों और आगे दुःखिका भय न हो तो भक्तप्रत्याख्यान करना योग्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—

भा०—आगे भयके अनुपस्थित होते हुए उसका भक्तप्रत्याख्यान योग्य नहीं है । वह यदि मरणकी प्रार्थना करता है तो मुनिघमसे विरक्त ही होता है ॥७५॥

टी०—जिसका चारित्र निरतिचार पलता है, निर्यापक भी सुलभ हैं और दुःखिका भय भी नहीं है फिर भी यदि वह मरना चाहता है तो ऐसी सम्भावना होती है कि वह मुनिपदसे विरक्त हो गया है ।

शंका—'अरिहं' इस पदसे 'अहं' ही सूचित होता है 'अनहं' अयोग्य नहीं । तब ग्रन्थकारने सूत्र विरुद्ध व्याख्या क्यों की ?

समाधान—'अहं' के प्रसंगसे 'अनहं' आया है ऐसा कोई कहते हैं अथवा लक्षणासे 'अहं' भी 'अनहं' को सूचित करता है इसलिए कोई दोष नहीं है । क्योंकि सब वस्तुएँ स्वका भाव और परका अभाव, दोनोंके होनेसे ही आत्म लाभ करती हैं ऐसा माना जाता है ॥७५॥

इस प्रकार 'अरिहं' अधिकार समाप्त हुआ ।

भक्तप्रत्याख्यानार्हस्य सत्प्रत्याख्यानपरिकरभूतलिंगनिरूपणं उत्तराभिर्गाथाभिः क्रियते—

उत्सग्नियलिंगकदस्स लिंगह्यस्सग्नियं तयं वेव ॥

अपवादियलिंगस्स वि पसत्थहुवसग्नियं लिंगं ॥७६॥

उत्सग्नियलिंगकदस्स उत्कषेण सर्जनं त्यागं सकलपरिग्रहस्य उत्सर्गः । उत्सर्गं सकलधर्मपरित्यागे भवं लिंगं औत्सर्गिकं किं करोति क्रियासामान्यवचनोऽत्र सुध्ययीं ब्राह्म. धनुमानैकार्थैवाविति वचनात् । तेनायमर्थः औत्सर्गिकलिंगस्थितस्य भक्तप्रत्याख्यानान्भिलाषवत् । 'सं वेव उत्सग्नियं लिंगं' तदेव प्राक् गृहीतं लिंगं औत्सर्गिकम् । 'अपवादियलिंगस्स वि' यतीनामपवादकारणत्वात् परिग्रहोऽपवादः, अपवादो यस्य विद्यते इत्यपवादिकं परिग्रहसहितं लिंगं अस्येत्यपवादिकलिंगं भवति । वाक्यगेय कृत्वा एवं पदसंबन्धः कार्यः । 'अहं वल्लभलिंगं' यदि प्रशस्तं शोभनं लिंगं मेहणं भवति । चर्मरहितत्व, अतिदीर्घत्व, स्थूलत्व, असङ्कुट्यान-धोलतेत्येवमादिदोषरहितं यदि भवेत् । पुंस्त्वलिंगता इह गृहीतेति बीजयोरपि लिंगशब्देन ग्रहणं । अतिलभ-मानतादिदोषरहितता प्रशस्ततापि तयोर्गृहीता ॥७६॥

अप्रशस्तलिंगस्य औत्सर्गिकं लिंगं न भवत्येवंत्यस्यापवादमाह—

जस्स वि अण्वभिचारी दोसो तिट्ठाणिगो विहारम्मि ॥

सो वि हु संयारगदो गेणहेज्जोस्सुग्नियं लिंगं ॥७७॥

जो भक्तप्रत्याख्यान करनेके योग्य है उसके भक्तप्रत्याख्यानका परिकर जो लिंग है, उस लिंगका कथन आगेकी गाथाओंसे करते हैं—

गा०—जो औत्सर्गिक लिंगमें स्थित है उसका जो पूर्वगृहीत है वही औत्सर्गिक लिंग होता है । आपवादिक लिंगवालेका भी औत्सर्गिक लिंग होता है यदि उसका पुरुष चिह्न दोष रहित हो ॥७६॥

टी०—उत्कृष्टसे 'सर्जन' अर्थात् सकलपरिग्रहके त्यागको उत्सर्ग कहते हैं । 'उत्सर्ग' अर्थात् सकल परिग्रहके त्यागसे होनेवाले लिंगको औत्सर्गिक लिंग कहते हैं । यहाँ सूज् धातुका अर्थ क्रिया सामान्यवाची लेना चाहिए । क्योंकि ऐसा कहा है कि धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं । तब ऐसा अर्थ होता है कि जो औत्सर्गिक लिंगमें स्थित है और भक्तप्रत्याख्यानकी अभिलाषा रखता है उसका वही लिंग रहता है जो उसने पूर्वमें ग्रहण किया है अर्थात् औत्सर्गिक लिंग ही रहता है । मुनियोंके अपवादका कारण होनेसे परिग्रहको अपवाद कहते हैं । जिसके अपवाद हो वह अपवादिक है अर्थात् परिग्रह सहित लिंगवाला आपवादिक लिंगी होता है । वह यदि भक्तप्रत्याख्यान करना चाहता है तो उसे परिग्रहको त्यागकर औत्सर्गिक लिंग धारण करना होता है । इस लिंग धारण करनेपर नमन होना पड़ता है । किन्तु उसके सम्बन्धमें यह नियम है कि उसका लिंग-पुरुष चिह्न प्रशस्त होना चाहिए । लिंगका चर्मरहित होना, अतिदीर्घ होना, स्थूल होना, और बार-बार उल्लिखित होना ये दोष हैं । इन दोषोंसे रहित होनेपर ही औत्सर्गिक लिंग दिया जाता है । यहाँ लिंग शब्दसे पुरुष चिह्नका ग्रहण किया है । तथा उससे अण्वकोष भी ग्रहण होता है । वे भी अति कटकते हुए लम्बे नहीं होना चाहिए ॥७६॥

आगे 'अप्रशस्त लिंगवालेके औत्सर्गिक लिंग नहीं होता है, इस कथनका अपवाद कहते हैं—

'अस्य चि' यस्यापि । 'अन्वभिचारी' अनिराकार्यो । 'दोषो' दोषः । 'सिद्धाण्डिनो' स्थानत्रयवचनः मेहमे वृषणयोश्च भवः औषधादिनामपसार्थः । 'सोऽपि' खु शब्द एवकारार्थः स च 'वैश्वेण्ड्य' इत्यनेन संबन्धनीयः । गृहीयादेव किं ? 'उत्सर्गिणं लिङ्गं' औत्सर्गिकं अचेलतालक्षणं । न च 'विहारमिन्' विहारे वसती, 'संचारमथै' संस्तरारूढः संस्तरारोहणकाले । एवं संस्तरारूढस्यैव औत्सर्गिकं नान्यत्रत्याख्यातं भवति ॥७७॥

अपवादलिङ्गस्थानां प्रशस्तलिङ्गानां सर्वेषामेव किमौत्सर्गिकलिङ्गतेत्यस्यामारेकायां आह—

आवसथे वा अप्याउग्मे जो वा महद्द्विजो हिरिमं ॥

मिच्छजणे सजणे वा तस्त होज्ज अववादियं लिङ्गं ॥ ७८ ॥

'आवसथे वा' निवासस्थाने । 'अप्याउग्मे' अप्राप्तोप्ये अविधिकते । 'अपवादिकलिङ्गं' ह्यवदिति' शेषः । 'जो वा महद्द्विजो' महद्द्विजः । 'हिरिमं' हीमान् लज्जावान् । तस्यापि 'होज्ज' भवेत् अपवादिकं लिङ्गं । 'मिच्छे' वा मिध्यादृष्टौ । 'सजणे' स्वजनो बंधुवर्गो । 'होज्ज' भवेत् । अपवादिकलिङ्गं सचेललिङ्गं ॥७८॥

पूर्वनिर्दिष्टोत्सर्गीलिङ्गस्वरूपनिरूपणाद्योत्तरगाथा—

अच्येलकं लोचो वीसद्वसरीरदा य पडिलिहणं ॥

एसो हु लिङ्गकप्पो चदुज्विहो होदि उम्सग्गे ॥७९॥

शा०—जिसके भी लिङ्ग और दोनों अण्डकोष इन तीन स्थानोंमें ऐसा दोष है जिसे औषध आदिसे भी दूर नहीं किया जा सकता । वह भी वसतिकामें संस्तरेपर आरूढ होनेपर औत्सर्गिक लिङ्गको अवश्य ग्रहण करे ॥७७॥

टी०—जिसके तीनों स्थानोंमें ऐसा दोष है जिसे चिकित्सासे भी नहीं दूर किया जा सकता । वह भी जब भक्त प्रत्याख्यान करना है तो उसे वसतिमें संघरे पर रहना होता है अतः उस समय उसे भी औत्सर्गिक लिङ्ग ग्रहण करना आवश्यक है । इस प्रकार वह संस्तर पर आरूढ होते हुए भी औत्सर्गिक लिङ्गका पात्र होता है उससे पहले नहीं (क्योंकि सदोष लिङ्ग वाला नग्नता का पात्र नहीं होता) ॥७७॥

क्या प्रशस्त लिङ्ग वाले सभी अपवाद लिङ्गके चारकोंको औत्सर्गिक लिङ्ग लेना आवश्यक है इस शङ्काका उत्तर देते हैं—

शा०—जो महान् सम्पत्तिशाली है अथवा लज्जालु है अथवा जिसके स्वजन बन्धुवर्ग मिध्यादृष्टि विधर्मों है । उसके लोगोंके आवागमनके कारण अयोप्य निवास स्थानमें आपवादिक लिङ्ग होता है ॥ ७८ ॥

टी०—जो प्रतिष्ठित धन सम्पन्न है या जिन्हे सबके सामने लज्जा लगती है या जिनका परिवार विधर्मों है उन्हें सार्वजनिक स्थानमें नग्न लिङ्ग नहीं देना चाहिये । सबस्त्र लिङ्ग ही उनके योग्य है ॥ ७८ ॥

पहले कहे औत्सर्गिक लिङ्गका स्वरूप कहते हैं—

शा०—अचेलता, हाथसे केस उखाड़ना, शरीरसे ममत्व त्याग और प्रतिलेखन यह चार प्रकारका लिङ्गभेद औत्सर्गिक लिङ्गमें होता है ॥ ७९ ॥

अप्येकनकमिति । अचेलकं अचेत्ता । लोथी केघोत्पाटनं हस्तेन । घोसदृढशरीरवा यन्मुष्टशरीरता च । पश्चिद्धुर्ध्वं प्रतिनेक्षणं । एषो हु एषः । निम्नकण्ठो लिगमिकल्पः । चर्चमिहो यतुविचः भवति । उत्सर्गो औत्सर्गिकसंज्ञिते किं ।

अतीतानिर्वाचानिः पुक्त्वाणां भक्तप्रत्याख्यानानिमिलाविषां किमविकल्पोऽग्निदृष्टनिरुचयः । अपुना स्त्रीणां तपस्विनीनां किममुत्तरया गात्रया निरूप्यते—

इत्थीवि य जं लिगं दिट्ठं उत्सर्गियं व इदं वा ॥
तं तत्त्व होदि हु लिगं परिग्रहवदिं करंतीए ॥८०॥

‘इत्थीवि व’ स्त्रियोऽपि । ‘जं लिगं’ यत्किं । ‘दिट्ठं’ दृष्टं आगनेऽग्निहितं । ‘उत्सर्गियं व’ औत्सर्गिकं तपस्विनीनां । ‘इदं वा’ भ्राविकाणां । ‘तं’ तदेव । ‘तत्त्व’ भक्तप्रत्याख्याने । ‘होदि’ भवति । लिगं तपस्विनीनां प्राप्तनम् । इतरासां पुंतामिष योज्यम् । यदि महद्विका लज्जावती मिष्यादृष्टिस्वजना च तस्याः प्राप्तनं लिगं विविक्ते त्वावसवे, उत्सर्गलिगं वा सकलपरिग्रहत्यागरूपं । उत्सर्गलिगं कथं निरूप्यते स्त्रीणा-मित्यत आह—‘त’ तत् उत्सर्गं लिगं । ‘तत्त्व’ स्त्रीणां ‘होदि’ भवति । ‘परित्तं’ अल्पं । ‘उचदि’ परिग्रह । ‘करंतीए’ ‘कुर्वात्याः’ ।

टी०—अचेलक अर्थात् वस्त्रादिका अभाव, केश लोच, शरीरका संस्कार आदि न करना और पीछो यह चार औत्सर्गिक लिगके प्रकार है । औत्सर्गिक लिगमें ये चार बातें होना आवश्यक हैं ॥ ७९ ॥

पिछली गाथाओंसे भक्त प्रत्याख्यानके अभिलाषी पुरुषोके लिगका निश्चय किया । अब उसकी अभिलाषी स्त्रियोंका लिग कहते हैं—

गा०—स्त्रियोके भी जो, लिग औत्सर्गिक अथवा अन्य आगममें कहा है । वही लिग अल्प परिग्रह करती हुईके भक्त प्रत्याख्यानमें होता है ॥ ८० ॥

टी०—स्त्रियोके आगममें जो लिग कहा है तपस्विनी स्त्रियोंके औत्सर्गिक और भ्राविकाओंके आपवादिक । वही लिग उनके भक्त प्रत्याख्यानमें भी होता है । अर्थात् तपस्विनी स्त्रियोंके औत्सर्गिक लिग होता है और शेषके पुरुषोंको तरह जानना । अर्थात् यदि स्त्रां किसी ऐश्वर्यशाली परिवारसे सम्बद्ध है या लज्जाशील है अथवा उसके परिवार वाले विधर्मों हैं तो उसे एकान्त स्थानमें सकल परिग्रहके त्यागरूप उत्सर्गं लिग दिया जा सकता है । प्रश्न होता है कि स्त्रियोंके उत्सर्गं लिग कैसे सम्भव है ? तो उसका उत्तर यह है कि परिग्रह अल्प कर देनेसे स्त्रोके उत्सर्गं लिग होता है ॥ ८० ॥

विशेषार्थ—तपस्विनी स्त्रियां एक साड़ी मात्र परिग्रह रखती है किन्तु उसमें भी ममत्व त्यागनेसे उपचारसे निर्ग्रन्थताका व्यवहार होता है । किन्तु भ्राविकाओंके उस प्रकारके ममत्वका त्याग न होनेसे उपचार से भी निर्ग्रन्थताका व्यवहार नहीं होता । भक्त प्रत्याख्यानमें तपस्विनियोंके अयोग्य स्थानमें तो पूर्व लिग ही होता है । शेषके पुरुषोंकी तरह जानना । सारास यह है कि तपस्विनी स्त्री मृत्युके समय बस्त्र मात्रको भी छोड़ देती है । अन्य स्त्री यदि योग्य स्थान होता है तो बस्त्र त्याग करती है । यदि वह धन सम्पन्न, या लज्जाशील या मिष्यादृष्टि परिवारसे सम्बद्ध

गुणवत्त्वं रत्नत्रयभावनाप्रकर्षेण मुक्तिरूपमुच्यते किममुना क्रियविकल्पोपादानेनेत्वस्योत्तरमाह—

जन्नासाधनचिह्नकरणं तु जगत्पञ्चयादितिदिकरणं ॥

गिहभावविशेषो वि य लिंगगहणे गुणा इति ॥ ८१ ॥

‘जन्नासाधनचिह्नकरणं’ यात्रा शरीरस्थितिहेतुभूता भुजिक्रिया । तस्याः साधनं यल्लिगजातं चिह्न-
जातं तस्य करण । न हि गृहस्थबेधेण स्थितो गुणीति सर्वजनताधिगम्यो भवति । अज्ञातगुणविशेषाच्च वार्त्तं न
प्रयच्छति । ततो न स्याच्छरीरस्थितिः । अस्त्या तस्यां रत्नत्रयभावनाप्रकर्षः क्रमेणोपचीयमानो न स्यात् ।
विना तं न मुक्तिरित्यभिलषितकार्यसिद्धिरेव न स्यात् । गुणवत्तायाः सूचनं किञ्च भवति । ततो दानाधिपरं-
परया कार्यसिद्धिर्भवतीति भावः । अथवा यात्राशब्दो गतिवचनः । यथा देववत्तस्य यात्राकालोऽयम् । गति-
सामान्यवचनादप्ययं गतिवतावेव वर्तते, दारकं पश्यसीति यथा । यात्रायाः शिवगतेः साधनं रत्नत्रयं तस्य
चिह्नकरणं ध्वजकरणं ।

‘जगत्पञ्चयादितिदिकरणं’ जगच्छब्दोऽयत्र चेतनाचेतनद्वयसंहतिवचनो ‘जगत्त्रैकात्म्यं युगपद्विकल्पान्तं
विषयम्’ इत्येवमादौ । इह प्राणिविशेषवृत्तिः । यथा—‘अर्हन्तस्त्रिजगत्पञ्चान्’ इति । प्रत्ययशब्दोऽनेकार्थः ।
क्वचिज्ज्ञाने वर्तते यथा ‘घटस्य प्रत्ययो’ घटजान इति यावत् । तथा कारणवचनोऽपि ‘मिथ्यात्वप्रत्ययोऽन्तः
संसार’ इति गदिते मिथ्यात्वहेतुक इति प्रतीयते । तथा श्रद्धावचनोऽपि ‘अय अत्रास्य प्रत्यय’ श्रद्धेति गम्यते ।
इहापि श्रद्धावृत्तिः । जनतः श्रद्धेति । ननु श्रद्धा प्राणिधर्मः अचेलाधिक शरीरधर्मो लिंगम् । तत्किमुच्यते ‘किञ्च’

है तो पुरुषोंकी तरह वस्त्र त्याग नहीं करती ॥८०॥

जो योग्य होता है उसके रत्नत्रयकी भावनाका प्रकर्ष होने पर मरण हो जाता है तब लिंग
का कथन करनेकी क्या आवश्यकता है । इसका उत्तर देते हैं—

गा०—यात्राके साधन चिह्नका करना, जगतकी श्रद्धा, अपनेको स्थिर करना और गृह-
स्थतासे भिन्नता, ये चार लिंग ग्रहण करनेमे गुण होते हैं ॥ ८१ ॥

टी०—यात्राका अर्थ है जरीरकी स्थितिमें कारण भोजन करना । उसका साधन जो लिंग
है उसका करना लिंग धारण करनेका पहला गुण है; क्योंकि जो ग्रहस्थके वेधमे रहता है उसे सारी
जनता गुणी नहीं मानती और उसके बिना भोजन नहीं मिलता । और ऐसी स्थितिमें इच्छित
कार्यकी सिद्धि नहीं होती । अतः लिंग गुणवत्ताका सूचक होता है । और उससे दान आदिकी
परम्परासे कार्यकी सिद्धि होती है । अथवा यात्रा शब्द गतिवाचक है । जैसे देवदत्तका यह यात्रा-
काल है । इस गति सामान्यका वाचक होनेपर भी यहाँ यात्रा शब्द मोक्ष गतिमें ही लिया गया
है । अतः यात्रा अर्थात् मुक्ति गतिका साधन जो रत्नत्रय है उसका चिह्नकरण अर्थात् ध्वजा फह-
राने रूप लिंग हाता है । अन्यत्र जगत शब्द चेतन और अचेतन द्रव्योंके समुदायका वाचक है ।
जैसे ‘एक साथ अनन्त विषयोंको लिये हुए जगत एक अवस्था वाला नहीं है’ इत्यादि वाक्यमें
जगतका उक्त अर्थ लिया गया है । किन्तु यहाँ जगतका अर्थ प्राणि विशेष है । जैसे ‘तीनों जगतके
द्वारा बन्धनीय अर्हन्त’ इस वाक्यमें जगतका अर्थ प्राणि विशेष है । प्रत्यय शब्दके अनेक अर्थ हैं ।
कहीं ज्ञानके अर्थमें है जैसे घटका प्रत्यय अर्थात् घटका ज्ञान । तथा प्रत्यय शब्द कारण वाचक भी
है । जैसे अनन्त संसारका प्रत्यय मिथ्यात्व है’ ऐसा कहने पर मिथ्यात्व हेतुक अनन्त संसार है
ऐसा ज्ञान होता है । तथा प्रत्यय शब्द श्रद्धावाचक भी है । जैसे ‘इसका इसमें प्रत्यय है’, यहाँ

अस्वस्थ' इति । सकलसंगपरिहारा मोक्षो मुक्तोः इत्यत्र अस्वस्थान् अस्वां वनमति । तन्मिति जन्मत्यय इत्य-
मिहितं । न वेत्सकलपरिग्रहत्यागो मुक्तिर्लिंगं किमिति निबोधतोऽनुष्ठीयते इति ।

'आदिठिकरण' आत्मनः स्वस्य अस्थिरस्य स्थिरतापादनं । क्व ? मुक्तिवर्त्मनि व्रजने । किं मम
परित्यक्तवसन.य रागेण, रोषेण, मानेन, मायाया, लोभेन वा । वसनाशेसराः सर्वा लोकेऽलङ्कियाः तच्च
निरस्तं । को मम राजस्यावसर इति । तथा परिग्रहो निबंधनं कोपस्य । तथा हि—पित्रा सुतो युध्यते वना-
वितया मनेऽं अवति तवेदमिति । तत्किमनेन स्वजनवैरिणा रिक्वेन, 'लोभं, मायां संपाद्य, दुर्गातिं च बद्धवता
इति सकलः परित्यक्तो वसनपुरःसरः परिग्रहो रोषविजितये । ह्रंसति च मा परे साधवो रोषमुपयातं । क्वेय-
मवसनता मुमुक्षोः स्वायमस्य कोपद्वृत्ताशन. ज्ञानवस्त्रकेपरिवृद्धतपोवनविनाशनबद्धविभ्रमः इति । तथा च माया
वनाधिभिः प्रयुज्यते सा च तिर्यग्यति प्रापयतीति भीत्वा मायोन्मूलनार्थं वैशममुच्छितं । 'गिहिभाषविशेषोभि' य
गृहित्वात्पुष्यमावो दक्षितो भवति ॥८१॥

गंधच्चाओ लाघवमप्पडिलिहणं च गदभयचं च ।

संसज्जणपरिहारा परिक्रमभिवज्जणा खेव ॥८२॥

'गंधच्चाओ' परिग्रहत्यागः । 'लाघव' हृदयसमारोपितशूल इव भवति परिग्रहवान् । कथमिदमन्वे
म्यधोराविम्य. घालयामि इति दुर्धरचितसखेदविशमालक्षुता भवति ।

प्रत्ययसे श्रद्धाका बोध होता है । यहाँ भी प्रत्ययका अर्थ श्रद्धा है । जगतकी श्रद्धा ।

शुद्धा—श्रद्धा प्राणिका धर्म है । और अचेलता आदि लिंग शरीरका धर्म है । तब आप
कैसे कहते हैं—लिंग जगत प्रत्यय है ?

समाधान—'समस्त परिग्रहका त्याग मुक्तिका मार्ग है' इसमें लिंग मन्वजीवोंकी श्रद्धा
उत्पन्न करता है इसलिये लिंगको जगत प्रत्यय कहा है । यदि सकल परिग्रहका त्याग मुक्तिका
लिंग न हो तो क्यों उसे नियमपूर्वक किया जायगा । 'आदठिकरण' का अर्थ है अपनी अस्थिर
आत्माको स्थिर करना । किसमें ? मुक्तिके मार्गमें चलनेमें । जब मैंने वस्त्र ही त्याग दिया तो मुझे
राग, रोष, मान, माया, लोभसे क्या प्रयोजन ? लोकमें सब अलकरण वस्त्रमूलक होते हैं । वह
मैंने त्याग दिया तो मुझे रागसे क्या प्रयोजन । तथा परिग्रह क्रोधका कारण है । देखो, धनकी
अभिलाषासे पुत्र पितासे लड़ता है यह मेरा है यह तेरा है । तब अपने परिवारके वैरी इस धनसे
क्या ? यह लोभ और मायाको उत्पन्न करके दुर्गातिको बढ़ाता है । इसीसे रोषको जीतनेके लिये
मैंने वस्त्रपूर्वक सब परिग्रहका त्याग कर दिया । जब मुझे रोष होता है तो दूसरे साधु मुझपर
हंसते हैं । कहाँ मुमुक्षुकी यह नग्नता और कहाँ क्रोधरूपी अग्नि । यह तो ज्ञानरूपी जलके सिचन-
से फूले-फूले तपोवनको नष्ट करने वाला है । तथा धनके इच्छुक मायाचार करते हैं । वह तिर्यञ्च
गतिमें ले जाता है इस भयसे मायाका उन्मूलन करनेके लिये हो मैंने यह लिंग धारण किया है ।
तथा लिंग ग्रहण करनेसे गृहस्थपनेसे भिन्नता दीखती है ॥ ८१ ॥

शा०—परिग्रहत्याग लाघव अप्रतिलेखन और भय रहितपना, सम्मूर्छन जीवोंका बचाव
और परिकर्मका त्याग ये गुण लिंगमें होते हैं ॥८२॥

‘अन्वडिनिहृत्’ वसनसहितलिङ्गधारिणो हि वस्त्रसंबाधिकं शोषणीयं गृह्यत् । इतरस्य पिच्छाधिमार्यं ।

‘परिकल्पविषयकत्वा चेव’ याचनसीवनशोषणप्रक्षालनाधिरनेको हि व्यापारः स्वाध्यायध्यानविघ्नकारी अचेतस्य तन्न तथेति परिकर्मनिर्जनं ।

‘व्यक्तवत्स’ भयरहितता । भयव्याकुलितचित्तस्य न हि रत्नत्रयघटनायामुद्योगो भवति । सबसभो वृत्तिवस्त्रेषु यकालिकादिसम्पूर्णजनजोवपरिहारं न विधातु बर्हः । अचेतस्तु तं परिहरतीत्यक्त्—‘संसृज्जणं परिहारो’ इति ।

‘परिसहजविधासना चेव’ । शीतोष्णवंशमशकविपरीषहजयो युज्यते नमनस्य । वसनाच्छावनवतो न शीताविधाया येन तत्सहनपरीषहजयः स्यात् । पूर्वोपासकर्मनिर्जराथं परिवोदभ्याः परीषहाः इति वचनाधिर्जरा-विधिः परिषोदभ्याः परीषहाः ॥८२॥

विस्वासकरं रूपं अणादरो विसयदेहसुकवसेसु ।

सञ्चत्थ अप्यवसदा परिसह अधिवामणा चेव ॥८३॥

‘विस्वासकरं रूपं’ विस्वासकारि जनाना रूप अचेततात्मक । एवं असंगा नीतेऽप्यद्गुणान्ति नापि परोपपातकारि वास्त्रग्रहणं प्रच्छन्नमात्र सभाव्यते । विरूपेषु वामोषु नास्मदीयाः मित्रयो रागमनुबन्धनीति विधवासा ॥

टी०—लिङ्ग ग्रहणका एक गुण परिग्रहका त्याग है । दूसरा गुण लाघव है । बयोकि परिग्रहवान् ऐसा होता है मानो छाती पर पहाड रखा है । कैसे अन्य चौर आदिसे इस परिग्रहकी रक्षा करूँ इस प्रकार चित्तसे बडे भारी खेदके चले जानेसे लाघव होता है । जो वस्त्र सहित मुनि लिङ्ग धारण करते है उन्हे वस्त्रों आदिका शोषण करना पड़ता है किन्तु वस्त्र रहित साधुको तो केवल पीछी आदिका ही शोषण करना होता है अतः अप्रतिलेखना भी एक गुण है । वस्त्रधारिको मागना, सीना, घोना, मुखाना आदि अनेक काम करना होते हैं जिनसे स्वाध्याय और ध्यानमे विघ्न होता है । किन्तु वस्त्र रहित साधुके ये सब नही होता अतः परिकर्मका न होना भी एक गुण है । जिसका चित्त भयसे व्याकुल रहता है वह रत्नत्रयके साधनमे उद्योग नही करता । अतः परिग्रहके त्यागसे भय नही रहता । तथा वस्त्र सहित साधु वस्त्रोंमे जूँ लीख आदि सम्पूर्ण जोवोका बचाव नही कर सकता । किन्तु वस्त्र रहित साधु इनसे बचा रहता है अतः संसृज्जण परिहार भी एक गुण है । तथा नम्र मुनि शीत, उष्ण, डसमच्छर आदि की परीषहको जिनता है । जो वस्त्र ओढे हैं उसे शीतादिकी बाधा नही होती । तब उसको सहना रूप परीषहजय कैसे सभव है ? तत्त्वाथं सूत्रमे कहा है कि पूर्वग्रहीत कर्मोंकी निर्जराके लिये परीषहको सहना चाहिये ॥८२॥

गा०—वस्त्र रहित रूप जनतामे विश्वास पैदा करने वाला होता है विषयसे होने वाले शारीरिक सुखमें अनादर भाव होता है । सर्वत्र स्वाधीनता रहती है और परीषहको सहना होता है ॥८३॥

'अनाधरो विषयवेहसुखेषु' विषयजनितेषु शरीरसुखेषु प्रेताकारस्य किं मम वामलोचनाविकोकितेन, तासां कलगीतमयमेन, तामिर्जुगुप्सनीयशरीरस्य का वा रतिक्वीडेति भावना चैवानादरः । अथवा शरीरसुखे विषयसुखे चानादरः । विषयसुखस्यतिरेकेण न शरीरसुखं, नाम किञ्चिदिति चेद्—शारीरदुःसाभावः शारीर-सुखं, इन्द्रियविषयसन्निधानजनिता प्रीतिर्विषयसुखमिति महाननमोर्भेदः ।

'सम्बन्ध' सर्वस्मिन्धेयो । 'अप्यथसत्त्वा' आत्मवशात् । स्वैच्छया आस्ते, मच्छति; सेते वा । इहासनादि-करणे इदं मम विनयवति वस्त्विति तदनुरोधकृता परतन्त्रता नास्ति संयतस्य । परिग्रहविनाशभीररात्मनोऽ-योष्येऽपि स्थाने उद्गमादिदोषोपहृते प्राणिसंयमविनाशकारिणि वा आसनस्थानशयनादिक सपायवति । त्रस-स्थावरबाधापामवहता वरसना वा व्रजति । एतद्दोषपरिहारीऽसंगस्य भवति ॥

'परिसह अविद्यासत्त्वा चेष' पूर्वोपात्तकर्मनिर्जराधिना यतिना सोढव्या परीषहा. नियोगेन क्षुधावयो बाधाविषोषाः द्वाविशतिप्रकाराः । तत्रायं सामान्यवचनोऽपि परीषहशब्दः प्रकरणादचलाख्यातदनुसृत्यपरीषह-वृत्तिर्ग्राह्यः । तेन नाम्म्यशीतोष्णदंशमशकपरीषहसहस्रमिह कथितं भवति । सचेत्स्य हि संप्रावरणस्य न तावद्भी शीतोष्णदंशमशकजनिता पीडा यथा अचेलस्येति मन्यते ॥८३॥

अचेलताया गुणान्तरसूचनाय गाथा—

जिणपद्धिरूढं विरियायारो रागादिदोसपरिहरणं ।

इच्छेवमादिबहुगा अचेलस्येति गुणा ह्येति ॥८४॥

टी०—नग्न मुनिको देखकर लोग सोचते हैं—ये तो परिग्रह रहित है, ये कुछ ग्रहण नहीं करते । ये परका घात करने वाले शास्त्र आदि भी छिपाकर नहीं रख सकते । ये तो विरूप है इनमें हमारी स्त्रियाँ भी राग नहीं कर सकती । इस प्रकारका विश्वास पैदा होता है । मेरा रूप तो प्रेतके समान है मुझे स्त्रियोको ताकने, और उनके मनोहर गीतोंको सुननेसे क्या प्रयोजन ? अथवा इस ग्लानिभरे शरीरका उनके साथ कैसी रति क्रोडा । इस प्रकारकी भावना शारीरिक सुखमें अनादर है । अथवा शरीर सुख और विषय सुखमें अनादर ऐसा अर्थ भी होता है ।

शङ्का—विषयसुखसे भिन्न शारीरिक सुख नहीं है ?

समाधान—शारीरिक दुःखके अभावको शरीर सुख कहते हैं और इन्द्रियोके विषयोंके सम्बन्धसे उत्पन्न हुई प्रीति विषय सुख है । इन दोनोंमें महान् अन्तर है ।

सब देशमें आत्माधीनता रहती है । अपनी इच्छानुसार बैठता है, जाता है, सोता है । यहाँ आसन आदि करनेपर मेरा यह नुकसान होगा, इस प्रकार की परतन्त्रता साधुके नहीं होती । परिग्रहके नाशके भयसे परिग्रही साधु उद्गम आदि दोषोंसे युक्त और प्राणिसंयमका विनाश करने वाले अयोग्य स्थानमें भी आसन, स्थान, शयन आदि करता है । अथवा त्रस और स्थावर जीवोंको बाधा पहुँचाने वाले मार्गसे गमन करता है । किन्तु परिग्रह रहित साधु इन दोषोंसे बचा रहता है । साधुको पूर्व संचित कर्मोंके निर्जराके लिये नियमसे भूख प्यासकी बाधा आदि रूप बाईस परीषहोंको सहना चाहिये । यहाँ यह परीषह शब्द यद्यपि सामान्यवाचो है फिर भी प्रकरणवश अचेलताका प्रकरण होनेसे उसके अनुरूप परीषह ग्रहण करना चाहिये । अतः यहाँ नाम्म्य, शीत, उष्ण, और दंशमशक परीषहोंका सहन कहा है । जो साधु सबस्य है कपडा ओढ़े हुए हैं—उन्हे शीत उष्ण और डासमच्छरसे होने वाली वैसी पीडा नहीं होती जैसी वस्त्र रहितको होती है ॥८३॥

'जिन्मविच्छेद' जिनानां प्रतिबिम्बं चेदं अचेरल्लिंगं । ते हि मुमुक्षवो मुक्त्वाप्यत्रा यत्पुह्रीतवन्तो लिङ्गं तदेव तदधिनां गोम्यमित्यभिप्रायः । यो हि यदर्थी विवेकवान् नासी तदनुपायमावसे यथा घटाधीं 'तुरिजेमावी-
न्मुक्त्वाप्यर्थं च यतिनं चेकं गृह्णाति मुक्तेरनुपायत्वात् । अच्चात्यनोऽभिप्रेतव्योपायस्तत्त्वियोगत उपावसे यथा
चक्रादिकं तथा यतिरपि अचेरला । तदनुपायता च अचेरलाया जिनाचरणजेव ज्ञानवर्धनयोरेव ।

'धिरिवाधारे' वीर्यातरायजयोपशमजनितसामर्थ्यपरिणामो वीर्यं, तदधिगूहनेन रत्नत्रयवृत्तिर्बीर्याधारः ।
स च पंचविवेध्याचारेण्येकः स च प्रवर्तितो भवति । अचेरलासुग्रहताऽऽक्षयचेरुपरित्यागस्य कृतत्वात् ।
परिग्रहस्यागो हि पंचमं व्रतं तन्नाचरितं भवेत् सक्तोऽपि यदि न परिहरेत् ।

'रामाधिवोसपरिहरकं' । लाभे रागोऽलाभे कोपः । लब्धे ममेवंभावकलापो मोहः । अथवा मुमुक्षं
दाकार्यमित्येवमादिषु वसनाच्छादनगुणेषु रागोऽनुदुस्पर्शनादिषु द्वेष इत्येषां परिहारः । 'इच्छेवन्मादि' इत्येव-
मादयः 'बहुषा' महान्तः महाफलतया अच्चेरल्लके अचेरलायां सत्यां 'गुणा ह्यसि' गुणा भवन्ति । यांचादीनता
रसा संक्लेशादिपरिहाराः आधिशाब्धेन गृहीताः ॥८४॥

अचेरलाके अन्य गुणोंका सूचन करते हैं—

गा०—यह अचेरला जिन भगवानका प्रतिरूप है । वीर्याधारका प्रवर्तक है । रागादि
दोषोंको दूर करती है । इत्यादि बहुतसे गुण अचेरलामें होते हैं ॥८४॥

दो०—जिण पडिख्व—यह अचेरल्लिग जिन देवोंका प्रतिबिम्ब है अर्थात् जिन देवोंने जो
लिग्य द्रहण किया था मुनितके लिये वहीं लिग मुनितके अभिलाषियोंके योग्य है । क्योंकि जिनदेव
मुमुक्षु थे मुनितका उपाय जानते थे । जो जिस वस्तुका प्रार्थी होता है और विवेकशील होता है
वह उस वस्तुके जो उपाय नहीं है उन्हें ग्रहण नहीं करता । जैसे घट बनानेका इच्छुक कपड़ा
बुननेके साधन तुरि आदिको ग्रहण नहीं करता । इसी तरह मुक्तिका इच्छुक साधु वस्त्र ग्रहण नहीं
करता क्योंकि । वस्त्र मुक्तिका उपाय नहीं है । और जो अपनेको इष्ट वस्तुका उपाय होता है उसे
नियमसे ग्रहण करता है । जैसे घटका अर्थात् चाक आदिको अवश्य ग्रहण करता है । उसी तरह
साधु भी अचेरलाको ग्रहण करता है और अचेरला ज्ञान और दर्शनकी तरह मुक्तिका उपाय है
यह जिन भगवानके आचरणसे सिद्ध है ! वीर्यायारो—वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए
सामर्थ्यरूप परिणामको वीर्यं कहते हैं । उसको न छिपाते हुए रत्नत्रयके पालन करनेको वीर्याधार
कहते हैं । पांच प्रकारके आचारोंमेंसे एक वीर्याधार है उसका पालन होता है क्योंकि अचेरलाके
धारणसे जो वस्त्रत्याग अशक्य है वह हो जाता है । परिग्रहका त्याग पांचवा व्रत है । शक्ति होते
हुए भी यदि परिग्रहका त्याग न करे तो वह पांचवा व्रत नहीं रहता ।

रागदिवोस परिहरण—लाभमें राग होता है, लाभ न होने पर क्रोध आता है । जो प्राप्त
होता है उसमें 'यह मेरा है' इस प्रकारका मोह होता है । अथवा ओढ़ने पहिरनेके वस्त्रोंके कोमलता
मजबूती आदि गुणोंमें राग होता है और कठोर स्पर्शन आदिमें द्वेष होता है । वस्त्र त्याग देनेपर
ये रागादि दोष नहीं होते । इस प्रकार अचेरलामें महाफलदायक महान गुण होते हैं । आदि शब्दसे
मागना, दीनता, आदिसे रक्षा होती है और संक्लेश आदि नहीं होते ॥८४॥

पुनरन्वेषेण तासां माहात्म्यं सूचयत्युत्तरभाषा—

इयं सम्बन्धसमिदकरणौ टाभासणसयजगमनपरिचरियासु ।

विनिर्घणं शुचिद्वयमदो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥ ८५ ॥

'इयं' एवं अवसनतया । 'सम्बन्धसमिदकरणौ' सम्बन्धितानि प्रवृत्तानि समितानि, क्रियते रूपाद्युपयोग एभिरिति करणानि इन्द्रियाणि, समितानि च तानि करणानि च समितकरणानि, सर्वाणि च तानि समितकरणानि च सर्वसामंतकरणानि, सर्वसमितकरणान्यस्वेति सर्वसमितकरणम् । रागद्वेषरहित्वा भावेन्द्रियाणां प्रवृत्तिः समीचीना तस्याद्य च अलता निर्वचनम् । रागादिविजयस्य बृहत्तासंयत्वात्कथमिदं रागादौ प्रेक्षावाच्यतते ॥८५॥

'टाभासणसयजगमनपरिचरियासु' एकादसमपावाधिकं स्थानक्रिया, उत्कटासनादिका आसनक्रिया, दंडाद्यतशयनादिका शयनक्रिया । सूर्याभिमुखगमनादिका गमनक्रिया । एतासु । 'पग्गहिददरं' प्रगृहीततरं । 'परक्कमदि' चेष्टते । कः ? निगिर्णं नग्नता । 'शुचि' शुक्ति । 'द्वयमदो' उपगतः प्रतिपन्नः । कृतवसनत्यागस्य शरीरे निःस्पृहस्य यम किं शरीरतपंचेन तपसा निर्जरायैव कर्तुं मुत्सहते इति तपसि पतते इति भावः ॥८५॥

अपवादालिंगमुपगतं किमु न शुद्धयत्येवेत्याद्यंकार्या तस्यापि इन्द्रियेन क्रमेण भवतीत्याचष्टे—

अपवादालिंगाकदो विसयासधिं अगूहमाणो य ।

विण्णगरहणजुचो सुज्झदि उवधिं परिहरंतो ॥ ८६ ॥

आगेकी गाथासे फिर भी अचेलेताका माहात्म्य सूचित करते हैं—

गा०—इस प्रकार, नग्नता और गुप्तिको धारण करनेवाला सब इष्ट अनिष्ट विषयोंमें अपनी इन्द्रियोंको रागद्वेषसे रहित करता है । और स्थान, आसन, शयन, गमन आदि क्रियाओंमें प्रगृहीततर अर्थात् सुदृढरूपसे चेष्टा करता है ॥८५॥

टो०—सम्बन्धसमिदकरणानि—सम्यक् रूपसे 'इत' अर्थात् प्रवृत्तको समित कहते हैं । और जिनसे रूपादिका जानना देखना किया जाये उसे करण कहते हैं । करणका अर्थ इन्द्रिय है । जिसकी सब इन्द्रियां समित हैं वह सर्वसमितकरण है । भावेन्द्रियोंकी रागद्वेषसे रहित समीचीन प्रवृत्तिमें कारण अचेलेता है । जिस विचारशील बुद्धिमान व्यक्तिने रागादिको जीतनेके लिए असगताको स्वीकार किया है वह रागादिमें कैसे यत्नशील हो सकता है ।

एक पैरसे या दोनों पैरोंको सम करके खड़े होना स्थान क्रिया है उत्कटासन आदि आसन क्रिया है । दण्डके समान एकदम सीधा सोना आदि शयन क्रिया है । सूर्यकी ओर अभिमुख होकर चलना गमन क्रिया है । जिसने वस्त्र त्याग दिया है और शरीरसे निस्पृह है वह 'मुझे शरीरके पोषणसे क्या' ऐसा विचारकर तपके द्वारा निर्जरा करनेमें ही उत्साहित होता है । यह उक्त कथनका भाव है ॥८५॥

अचेले समाप्त हुआ ।

क्या अपवादालिंगाका धारी शुद्ध नहीं ही होता ? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि उसकी शुद्धि भी इस क्रमसे होती है—

धा०—अपवादालिंगमें स्थित होते हुए भी अपनी शक्तिको न छिपाते हुए और निम्बा गर्ह करते हुए परिग्रहका त्याग करनेपर शुद्ध होता है ॥८६॥

अववादिवाल्लगकदो वि' अपवादलिगत्वोऽपि । करोति स्वानार्थवृत्तिरिह परिगृहीतः । तथा च प्रयोगः एवं च कृत्वा एवं च स्थित्वेत्यर्थः । 'बुष्ठावि' शुष्यति च । कर्ममलापावेन शुद्धयति । कीदृक् सन् यः स्वां 'सति' शक्ति । 'अग्रहणाचो' अग्रहमानः सन् । 'उर्वाचि' परिग्रहं । 'बहिर्दरतो' परित्यजन् मोघ-प्रवेण । 'निबन्धनरह्यबन्धुतो' सकलपरिग्रहत्यागो भुक्तेर्नागो मया तु पातकेन बन्धनात्राधिकः परिग्रहः परीषह-श्रीवणा गृहीत इत्यंतःसंतापो निदा । गृहीतः परेषां एवं कथनं । ताम्बां मुक्तः निवागाहृतीक्रियापरिगतः इति यावत् । एवमभिलेता व्यावर्णितगुणा मूलतया गृहीता ॥८६॥

केशलोचनकारणे के दोषा याम्परिहृत् लोचोऽनुष्ठीयते इत्यारेकाया दोषप्रतिपादनाद्योत्तरं वाचाडयम्-

केशा संसज्जति हु निष्प्रतिकारस्स दुपरिहारा य ।

सयणादिसु ते जीवा दिदृठा आगंतुया य तथा ॥ ८७ ॥

'केशा' केशाः । 'संसज्जति लु' लुशब्द एवकारार्थः । युक्तलिखीत्पतेराधारमाघमुपब्रजस्त्वेव कस्य केशाः ? 'निष्प्रतिकारस्स' निष्कान्त' प्रतीकारात् निष्प्रतीकार' । प्रतीकारशब्दः सामान्यवचनोऽपि संसजनस्य प्रकृतत्वात् संसजनप्रतिकार एव वृत्तो गृह्यते । तैलाम्यंगगंधादिप्रक्षेपजलप्रक्षालनाविक्रियामुक्तं इत्यर्थः । ते च सम्मूर्च्छनामुपगताजीवा युक्तादयः । 'दुःपरिहारा य' दुःखेन परिह्रियन्ते । यः ? 'सबन्धाविधु' शयनं'आलप-यमनं, शिरसा कस्यचिदवष्टंभन । निद्रामुद्रितलोचनस्य पतन परबशस्य सतः आविशब्देन गृह्यते । वाचा

टी०—'अववादिवाल्लगकदो' मे 'कद' जिस 'करोति' धातुसे बना है उसका अर्थ यहाँ स्थान लिया है । जैसे 'ऐसा करके' का अर्थ इस प्रकार स्थिर करके होता है । अतः अपवादलिगमे स्थित भी कर्ममलको दूर करके शुद्ध होता है । किस प्रकार होता है ? अपनी शक्तिको न छिपाकर मन-वचनकायसे परिग्रहका त्याग करनेपर होता है । तथा, समस्त परिग्रहका त्याग मुक्तिका मार्ग है, मुझ पापीने परीषहसे डरकर वस्त्र पात्र आदि परिग्रह स्वीकार किया । इस प्रकारके अन्तःसन्तापको निन्दा कहते हैं । दूसरोसे ऐसा कहना गृहीत है । उनसे युक्त होनेपर अर्थात् अपनी निन्दा गृहीत करनेपर शुद्ध होता है । इस प्रकार जिस अनेकताके गुणोंका वर्णन ऊपर किया गया है उसे मूलरूपमे स्वीकार किया है ॥८६॥

केशलोचन करनेमें क्या दोष है जिन्हे दूर करनेके लिए लोच किया जाता है ? इस शङ्काके उत्तरमें दो गाथाओंसे दोषोंको कहते हैं—

गा०—प्रतीकार न करनेवालेके केश जूँ आदि सम्मूर्छन जीवोंके आधार होते हैं । और वे सम्मूर्छन जीव शयन आदिमे दुष्परिहार होते हैं । तथा अन्यत्रसे आते हुए भी क्रीट आदि देखे गये हैं ॥८७॥

टी०—'संसज्जति लु' में लु शब्दका अर्थ एवकार है । अतः निष्प्रतीकारके केश जूँ लीस आदिकी उत्पत्तिके आधार होते ही है । जो प्रतीकारसे रहित है वह निष्प्रतीकार है । यद्यपि प्रतीकार शब्द सामान्य प्रतीकारका वाचक है । फिर भी संसजनका प्रकरण होनेसे संसजन सम्बन्धी प्रतिकार लिया जाता है । उसका अर्थ होता है कि जो बालोंमें तेल मर्दन नहीं करता, सुगन्धित वस्तु नहरी लगाता, उन्हें पानीसे नहीं धोता उसके केशोंमें सम्मूर्छन जूँ आदि उत्पन्न हो जाते हैं और साधुके सोनेपर, धूपमें जानेपर, सिरसे किसीके टकरानेपर उन जीवोंकी वाचा

धीषेभ्यः कर्माधिपन्वदेशकालस्वभावशेषात् । सतः बाधायां दुष्परिहारायां धीवा एव दुष्परिहारा एव भवन्तीति
कथ्यते । अन्यथा हृष्टेनापनेतुं शक्याः कर्मा दुष्परिहाराः स्युः । न केवलं तन्नोत्पन्ना एव दुष्परिहारास्तथा
तेनैव प्रकारेण जीवाः 'आगमुकाश्च य' अन्यत आगताश्च कीटादयश्च । एतेन हिंसादोष आख्यातः ॥८७॥

ज्वाहि य लिक्खाहि य बाधिज्जंतस्स संकिलेसो य ।

संघट्टिज्जंति य ते कंडुयणे तेण सो लोचो ॥ ८८ ॥

ज्वाहि य युकाधिपच । लिक्खाहि य लिखाधिपच । 'बाधिज्जंतस्स' बाध्यमानस्य यते संकिलेसो य
संकलेशपच बायते इति शेषः । स च क्लेशोज्ज्वलपरिणाम. पापास्रव. पूर्वोपात्तकर्मपुद्गलरसाग्निवर्द्धननिपुणः ।
अथवा बाधिज्जंतस्स भक्ष्यमाणस्य संकिलेसो य दुःखं वा । तथा चोक्त—क्लिण् विबाधने इति । एतेनात्मविरा-
धनादोषः सूचितः । अथ तद्रूपणे असहमानः कंडूयति तत्र दोषमाह—'संघट्टिज्जंति य' संघट्टयंते ते युका-
दयः । आगमुकाश्च 'कंडूयणे' कंडूकरणे । 'तेण' तेन दोषेण हेतुनासो आगमदृष्टः. 'लोचो' लोच' क्रियते इति
शेषः । प्रदक्षिणावर्त. केशरमन्विवचयः हस्तांगुलीभिरैव सपाद्यः द्वित्रिचतुर्मासयोश्च ॥८८॥

एव लोचकारणे दोषानुद्भाव्य लोचे गुणस्थापनाय गाथात्रयमुत्तरम्—

लोचकदे मुंडसं मुंडसे होइ णिव्वियारसं ।

तो णिव्वियारकरणो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥८९॥

पहुँचती है । बाधाका मतलब है कि भिन्न देश, भिन्नकाल और भिन्न स्वभाव होनेसे जीवोंसे
जीवोंको बाधा पहुँचती है । उस बाधाको दूर करना अशक्य जैसा है । जब बाधा ही दुष्परिहार
है तो उन जीवोंको दूर करना भी दुष्परिहार है, क्योंकि यदि बाधा पहुँचनेकी बात न होती तो
उन्हे हाथसे निकाला जा सकता था । तथा जो जीव केशोंमें उत्पन्न होते है वे ही दुष्परिहार
नहीं है, अन्यत्रसे आकर भी कीटादि बालोंमें घुस जाते है उन्हे भी दूर करना कठिन होता है ।
इस तरहसे केशलोच न करनेमें हिंसादि दोष कहे है ॥८७॥

गा०—जुंसे और लीखोंसे पीड़ित साधुके सक्लेश उत्पन्न होता है । खुजाने पर वे जू आदि
पीड़ित होते है इस कारणसे वह केशलोच किया जाता है ॥ ८८ ॥

टी०—जू और लीख जब साधुको बाधा पहुँचाती है तो साधुको सक्लेश होता है । बड़
संकलेश अशुभ परिणाम रूप होनेसे पापास्रवका कारण है । उससे पूर्वबद्ध कर्म पुद्गलके अनुभाग
रसमें वृद्धि होती है । अथवा 'बाधिज्जंत'का अर्थ खाना या काटना है' उनके काटने पर यदि
साधु खुजाता है तो वे जू आदि पीड़ित होते है इस दोषके कारण आगममें कहा लोच करते है ।
यह लोच सिर और दाढीके बालोंका हाथकी अंगुलियोंके द्वारा दो, तीन या चार मासमें प्रदक्षिणा
के रूपमें अर्थात् दाहिनी ओरसे बायी ओर किया जाता है ॥ ८८ ॥

इस प्रकार लोचके न करनेमें दोष बतलाकर लोचमें गुणोका कथन तीन गाथाओं द्वारा
करते हैं—

गा०—लोच करने पर सिर मुण्डा हो जाता है । मुण्डताके होने पर निर्विकारता होती है ।
उससे विकार रहित क्रियाशील होनेसे प्रगृहीततर चेष्टा करता है ॥ ८९ ॥

'लोचकर्म' लोचो कृतः स्थितः लोचकृतः सप्तमीति योगविभागात्समासः । तस्मिन् लोचो कृते । लोच-स्थिते इति केचित् । अन्ये तु वदन्ति लोचकर्म इति पठन्तः लोचं वतः प्राप्तः लोचगतः तस्मिन्निति । अथवा कृतसम्बन्धो भावसाधनः ततः सत्कलना सप्तमी लोच एव कृतं तस्मिन् । लोचक्रियायां सत्यां । 'बु'ङत्सं' मुञ्-शिरस्कृता नाम भवति । न मुञ्शिरस्कृता मुक्त्युपायो गुणोऽरत्नत्रयत्वादस्यार्थविधानवत् । तत्किमुक्तोनामैनामुप-योधिना मुनेनेत्यालंकार्या आह—'बु'ङत्से होबि षिञ्चिदारत्सं' इति । 'बु'ङत्से' मुञ्नायां सत्यां । 'होबि' भवति । 'षिञ्चिदारत्सं' निविकारता । विकारो विक्रिया सलीलमनश्रु'गारकशाकटाखेलाणादिकः । तस्मान्निष्कान्तः स्यात्प्रवृत्तः निविकारः तस्य भावः निविकारता । निविकारो भवति इति यावत् । 'लो' ततः 'षिञ्चिदारत्सं-जो विकाररहितक्रिये । 'कर्महिषवरं' प्रगृहीततरं । 'परचकमवि' चेष्टते करणमये इति शेषः । रत्नत्रयोद्योगे परस्परया लोचस्थोपयोगे समाख्यातोऽनया गाथया । नमस्त्य मुञ्जस्य मम सविभ्रमं गमनादिकं ज्ञानो दुष्ट्या हृषति, शोभते त्वाभिमयस्य विलासिता बंधकस्य वामलोचनाविलास इवेति मन्थमानो निरस्तविकारो मुक्तो केवल पटते इत्यभिप्रायः ॥८९॥

अप्या दमिदो लोएण होइ ञ मुहे य संगमुवयादि ।

साधीणदा य णिदोसदा य देहे य णिम्ममदा ॥९०॥

'अप्या' आत्मा । 'दमिदो होबि' वशीकृतो भवति । कस्य ? आत्मन एव । केन करणेन ? 'लोएण' केशोत्पादनेन । दुःखभावनाया निगृहीतवर्षं सर्वं एव शालो भवति यथा बलीवर्षाविरिति मन्यते ।

टी०—लोचमेवं कृत अर्थात् स्थित लोचकृत है । दोनोंका योगविभाग करके सप्तमी समासमें अर्थ होता है—लोच करने पर । कोई 'लोचमे स्थित होने पर' ऐसा अर्थ करते हैं । अन्य 'लोच-गदे' ऐसा पाठ रखते हैं । वे अर्थ करते हैं लोचको प्राप्त होने पर । अथवा कृत शब्द भावसाधन है । तब सप्तमीका अर्थ सत् होता है अर्थात् लोच क्रिया होने पर । मुण्डित होता है—सिर मुंड जाता है ।

शब्दा—सिर मुण्डन मुक्तिका उपाय नहीं है क्योंकि वह रत्नत्रय रूप नहीं है जैसे असत्य बोलना । तब इस अनुपयोगी गुणके कहनेसे क्या लाभ ?

समाधान—इसके उत्तरमें कहते हैं कि मुण्डन होने पर निविकारता होती है । लीला सहित गमन, श्रु'गार कथा, कटाक्ष द्वारा निरीक्षण ये सब विकार है जो ये सब नहीं करता वह निविकार होता है । और जिसकी चेष्टाएँ विकार रहित होती हैं वह रत्नत्रयमें उद्योग करता है ।

इस गाथासे परम्परासे लोचका उपयोग कहा है । मैं नग्न और मुण्डे सिर हूँ मेरा विलास-पूर्ण गमन आदि देखकर लोग हँसते हैं कि नपुंसकके स्त्री विलासकी तरह इसकी विलासिता कैसी शोभती है ? ऐसा मान, विकारको दूरकर वह केवल मुक्तिके लिये प्रयत्न करता है, यह इस गाथा-का अभिप्राय है ॥ ८९ ॥

शा०—केशलोचसे आत्मा दमित होता है और सुखमें आसक्त नहीं होता है । और स्वाधीनता निर्दोषता और निर्ममत्व होता है ॥ ९० ॥

टी०—केश उपाड़नेसे आत्मा आत्माके वशमें होता है । जैसे बैल बनीरह दुःख देनेसे शान्त हो जाते हैं वैसे ही दुःख भावनासे मदका निग्रह होने पर सभी शान्त हो जाते हैं । सुखमें आसक्त

'सुखे च' सुखे च । 'लभे' आसक्ततां गोपयति । सुखमेव सुखरूपं करोति जन् । दुःखेऽतर्थाव्यमाने सुखासक्तिसहस्यते' सुखोपयोगमूलात्सुखासंगत्वात् । बीजामात्रेऽङ्कुर इव । इन्द्रियसुखं वाऽत्र सुखशब्देनोच्यते तथासक्तौ हिंसादिषु प्रवर्तते । तेन परिग्रहार्थमूलात्सुखासंगत्वात्सुखं संबन्धेन एवेति मुक्तेर्भवत्युपायः । अभिषेकान्तरनिरोधनतरेण का नाम निर्जरा ? तस्यां वाऽसत्यां का मुक्तिरिति भावः ।

'साधीनता च' स्ववशता च । केशासक्तौ हि जनोऽजयं शिरोप्रसङ्गे, सम्मर्दने, प्रधातने, तच्छोषणे च प्रवर्तते । स चायं व्यापारो विघ्नमात्रहृति स्वाध्यायादेः ।

'निर्दोषता च' निर्दोषता च । या तदोषक्रिया सा न कार्या यथा स्तेयादिका । निर्दोषा त्वनुष्ठीयते यथान्तानादिका । तथा श्रेयमदोषा लोचक्रिया ।

'देहे च' देहे च । 'विघ्नमत्वा' ममेदं बुद्धिरहितता । अनेन शोचक्यो धर्मो भावितो भवतीत्युक्तं भवति । 'प्रकृष्टा लोभनिवृत्तिः शौचं शरीरलोभनिवृत्तिः शौचं । शरीरलोभनिवृत्तिः सकललोभनिराक्रियामा मूलं । शरीरोपकृतये बन्धुधनादिष्वस्य लोभः । धर्मश्च सबरहेतुः, मुक्तिर्भावितधर्मनिर्ग्रहपरिग्रहव्यतिरिक्तवचनत् ॥९०॥

आणखिखदा य लोचेषेण अप्यणो होदि सम्मसद्दा य ।

उगो तवो य लोचो तहेव दुःखस्स सहणं च ॥ ९१ ॥

'आणखिखदा य होदि' आवागता भवति । 'लोचेषेण' लोचनेन । का ? 'सम्मसद्दा' धर्मे चारित्रे

नहीं होता । सुख ही मनुष्यको सुखलम्पट बनाता है । अन्तर्गमं दुःखकी भावना माने पर सुखकी आसक्ति कम होती है सुखको आसक्तिका मूल है सुखका उपभोग । उसका अभाव होनेसे सुखकी आसक्ति नहीं होती । जैसे बीजके अभावमें अंकुर उत्पन्न नहीं होता । अथवा यहाँ सुख शब्दसे इन्द्रिय सुख लिया है । जो इन्द्रिय सुखमें आसक्त होता है वह हिंसा आदि करता है । अतः जो सुखासक्ति परिग्रह और आरम्भका मूल है उससे निवृत्त होना संबन्ध ही है । अतः वह मुक्तिका उपाय है । नवीन कर्मोंका आना रके बिना निर्जरा कैसे ? और उसके अभावमें मुक्ति कैसे ? यह अभिप्राय है । तथा केशलोचसे स्वाधीनता आती है क्योंकि जो मनुष्य केशोंसे अनुराग रखता है वह अबधय सिरको साफ करने, उसकी मालिश करने धोने तथा सुखानेमें लगा रहता है और ये सब काम स्वाध्याय आदिमें विघ्न डालते हैं । तथा निर्दोषता होती है । जो क्रिया सदोष है वह नहीं करना चाहिए जैसे चोरी आदि । किन्तु निर्दोष क्रिया की जाती है जैसे उपवास बगैरह । उसी तरह लोच क्रिया भी निर्दोष है । शरीरमें 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धि नहीं होती । इससे शौच धर्म पलता है यह कहा है । लोभसे अत्यन्त निवृत्तिको शौच कहते हैं । शरीरमें लोभकी निवृत्ति भी शौच है । शरीरमें लोभकी निवृत्ति सब प्रकारके लोभोंको दूर करनेका मूल है । शरीरके उपकारके लिए ही मनुष्य परिवार और धन आदिका लोभ करता है और शौच धर्म सबरका कारण है क्योंकि तत्पार्थ सूत्रमें गुप्ति, सन्निधि, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषह जयसे सबर कहा है ॥९०॥

शा०—और केशलोच करनेसे आत्माकी धर्ममें श्रद्धा प्रदीक्षित होती है । उसी प्रकार लोच उच्च तप है और दुःखका सहन है ॥ ९१ ॥

ही०—लोच करनेसे आत्माकी धर्म अर्थात् चारित्र्यमें श्रद्धा प्रदीक्षित होती है । अर्थात्

श्रद्धा । कस्य ? 'अप्यथो' आत्मनः । महती धर्मस्य श्रद्धाऽप्यथा कथमिदं दुःसहं वनेश्वरभते इति । आत्मनो धर्मश्रद्धाप्रकाशनेन परस्यापि धर्मश्रद्धाजननोपबृंहणं कृतं भवति । सांध्यमुपवृंहणाख्यो गुणो भावितो भवति । 'अप्यथो त्वयो य' उग्रं च तपः कायक्लेशाख्यं दुःखतराणि च सहते ॥ 'लोचः तथैव' व्यावर्णितगुणवच्च । 'दुःखस्य' दुःखस्य 'सहनं च' सहनं च दुःखं भावयन् दुःखान्तराणि च सहते । दुःखसहनान्निर्जरा भवत्य-
शुभकर्मणा ॥९१॥ लोचोक्तिं गदं ॥

व्युत्सृष्टशरीरतानिधानायोत्तरः प्रबंध —

सिंहहाणञ्चभंगुज्वट्टणाणि णहकेसमंसुसंठप्यं ।

दंतोदठकण्णमुहणासियच्छिभमुहाइंसंठप्यं ॥ ९२ ॥

सिंहहाणञ्चभंगुज्वट्टणाणि चञ्चोविति पदघटना स्नानाम्यजनोद्वर्तनानि ॥ णहकेसमंसुसंठप्यं नखकेशम-
सुसंस्कारं च वर्जयन्ति । अन्तरेणापि चशब्दं समुच्चयार्थप्रतीति 'वृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो विधात्मा
मनः इति ब्रह्माण्डं' इत्यत्र यथा ॥ अन्तोदठकण्णमुहणासियच्छिभमुहाइंसंठप्यं चञ्चोविति पदरचना ॥ दंताना-
भोष्टयोः, कर्णयोर्मुखस्य, नासिकाया, अक्षयोर्भ्रुवोरादिग्रहणात्याणिपादादीनां च संस्कृतिं परिहरति ॥

स्नानमनेकप्रकारं शिरोमात्रप्रसालनं, शिरो मुक्त्वा अन्यस्य वा गान्तस्य, समस्तस्य वा । तन्न शीतोद-
केन क्रियते स्थावरानां प्रसानां च बाधा माभूदिति । कर्दमवालुकायिर्मर्दानजलक्षोभणात्तच्छरीराणां च वन-
स्पतीना पीडात मत्स्यवर्षुरं सूक्ष्मप्रसानां च स्नानं निवार्यते । उष्णोदकेन स्नात्त्विति चेन्न, तत्र त्रस-धावर-

इसकी धर्मश्रद्धा महान है, यदि न होती तो इतना दुःसह कष्ट क्यों उठाता ? अपनी धर्मश्रद्धा
प्रकाशित करनेसे दूसरेकी भी धर्मश्रद्धा उत्पन्न होती है और उसमें वृद्धि होती है । इस तरह
उपबृंहण नामक गुण भी भावित होता है । तथा लोचसे कायक्लेश नामक उग्र तप होता है ।
तथा दुःख सहन करनेसे अन्य दुःखोंको भी सहन करनेमें समर्थ होता है । दुःख सहन करनेसे
अशुभ कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥ इस प्रकार लोचका कथन समाप्त हुआ ॥९१॥

व्युत्सृष्ट शरीरता अर्थात् शरीरसे ममत्वके त्यागका कथन करनेके लिए आगेकी गाथा
कहते हैं—

शा०—स्नान, तेलमर्दन, उबटन और नख, केश, दाढ़ी-मूँछोंका संस्कार छोड़ देते हैं ।
दाँत, ओष्ठ, कान, मुख, नाक, भौं आदिका संस्कार छोड़ देते हैं ॥९२॥

टी०—'छोड़ते हैं' यह पद लगा लेना चाहिए । 'च' शब्दके बिना भी समुच्चयरूप अर्थका
बोध होता है । जैसे पृथिवी जल तेज वायु आकाश काल दिशा आत्मा मन ये द्रव्य हैं । यहाँ 'च'
शब्द न होनेपर भी समुच्चयरूप अर्थका बोध होता है । अतः स्नान, अभ्यंजन, और उबटन
नहीं लगाता है नख, केश, दाढ़ीका संस्कार और दाँत, ओष्ठ, कान, मुख, नाक, भौं आदिके
हाथ पैर आदिका संस्कार छोड़ देते हैं ।

स्नानके अनेक प्रकार हैं—सिरमात्र धोना, सिरको छोड़कर शेष शरीरको धोना अथवा
समस्त शरीरको धोना । स्थावर और त्रसजीवोंको बाधा न हो, इसलिए स्नान ठण्डे जलसे नहीं
करते । कीचड़ रेत आदिके मर्दानसे पानीमें क्षोभ पैदा होता है और जिसके होनेसे उनमें रहने-
वाले वनस्पति कायिक जीवोंको तथा मछली मेढक और सूक्ष्म त्रसजीवोंको पीड़ा होती है । इस-

बाधा स्थितैव । भूमिघरीबिबरस्थितानां पिपीलिकादीनां मृतेः, तद्वस्तुषपल्लवानां षोण्णांभूमिस्तप्तानां दुःखा-
सिका महती जायते, तथा क्षारतया धाम्ब्यरसादीनां । न चास्ति प्रयोजनं स्नानेन सप्तधातुमयस्य देहस्य न
सुषुप्तिता घास्या ऋतुं । ततो न शीघ्रप्रयोजनं । न रोगापहृतये रोगपरीषहसहनाभावप्रसंगात्, न हि भूषादी
विरागत्वात् ।

भूततैलादिनिरम्बजनमपि न करोति प्रयोजनाभावात्तुक्तेन प्रकारेण भूताविना क्षारेण स्पृष्टा भूम्बादि-
शरीरादि अंतको बाध्यते । प्रसाद्य तत्रावलम्बाः । उद्धर्तने इतस्ततः पततां व्याघातः । मूलत्वक्फलपत्रादेः
पेषणे, दलने च महानसंयमः । निर्बर्तनविलेखनघर्षणरंजनादिको नखसंस्कारः । केशसंस्कारो हस्तघर्षणेन
सधूपतासंपादनं, तथा श्मभूषणमपि । संतमलापकर्षणं तद्वर्जनं वा संतसंस्कारः । ओष्ठमलापकर्षणं तद्रागकरणं वा
ओष्ठसंस्कारः । नृस्वयोरुंबतापादनं दीर्घयोर्वा नृस्वकरणं तन्मलनिरासोर्ज्जकारग्रहणं कर्णसंस्कारः । मुखस्य
तेजःसंपादनं लैपेन मंत्रेण वा मुखसंस्कारः । अक्षयोः प्रक्षालनं अंजन अक्षिसंस्कारः । विकटोत्थितानां रोम्भां
उत्पाटनं आनुलोम्यापादनं कंबयोल्मतीकरणं, म्भसंस्कारः । शोभायं हस्तपादादिप्रक्षालनं, औषधविलेपादिर्वा-
संस्कार आदिशब्देन गृहीतः ॥९२॥

बज्जेदि बंभचारी गंधं मन्लं च धूववासं वा ।

संवाहणपरिमहणपिण्डिजादीणि य विमृत्ती ॥ ९३ ॥

लिए शीतल जलसे स्नान नहीं करते ।

शंका—तब गर्म जलसे स्नान करना चाहिए ?

समाधान—उसमें भी त्रस और स्यावर जीवोंको बाधा रहती ही है । पृथिवी तथा पहाड़के
बिलोंमें रहनेवाली चींटी आदिके मरनेसे और उष्णजलके तापसे कीमल तृण पत्ते आदिके
झुलसनेसे बड़ा दुःख होता है । तथा जलके खारपनेसे घाम्यके रसको भी हार्नि पहुँचती है । तथा
स्नानकी कोई आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि सप्तसाधुओंसे युक्त शरीरको पवित्र नहीं किया
जा सकता । अतः पवित्रताकी दृष्टिसे स्नानका कोई प्रयोजन नहीं है । रोगको दूर करनेके लिए
भी स्नान आवश्यक नहीं है क्योंकि तब साधु रोगपरीषह सहन नहीं कर सकेंगे । और शरीरकी
घोभाके लिए भी स्नान आवश्यक नहीं है क्योंकि साधु तो विरागी होते हैं ।

साधु प्रयोजन होनेसे धी तेल आदिसे शरीरका अभ्यंजन भी नहीं करते । क्योंकि कहे हुए
अनुसार धी आदिसे तथा क्षारसे भूमि आदि तथा शरीर आदिमें चिपटे जीवोंको बाधा पहुँचती
है । उद्धर्तन अर्थात् उबटन लगानेसे शरीरसे चिपटे त्रसजीव यहाँ वहाँ गिरकर मर जाते हैं । तथा
उबटन तैयार करनेके लिये वृक्षकी जड़, छाल, फल पत्ते आदिको पीसने या दलनेमें महान असंयम
होता है । काटना, छाटना, रगड़ना, रंगना आदि नखका संस्कार है । हाथसे घर्षणके द्वारा
चिकनापना लाना केश तथा दाढ़ी मूछोंका संस्कार है । दाँतका मेल दूर करना अथवा दाँतोंको
रंगना दाँतका संस्कार है । ओठोंका मेल दूर करना अथवा उनको रंगना ओष्ठ संस्कार है । यदि
छोटे हो तो बड़ा करना और बड़े हों तो छोटा करना, मेल निकालना अथवा आभूषण धारण
करना कानका संस्कार है । लेप या मंत्र द्वारा मुखको तेजस्वी बनाना मुखका संस्कार है । आँखों-
को धोना, अंजन लगाना आँखका संस्कार है । विकट रूपसे उठे हुए रोमोंको उखाड़ना और उन्हें
व्यवस्थित करना तथा लटकती हुईको ऊँचा करना भीका संस्कार है । आदि शब्दसे शोभाके लिये
हाथ पैर धोना, अथवा औषध आदिका लेप करना, ग्रहण किये गये हैं ॥ ९२ ॥

'गंध' कस्तूरिकादिकं । 'जल्ल' माल्यं वपुष्पकारं । 'बुधवासं वा' धूपं कालामुर्वादिकं । वासं मुखवासं वा वासिकलादिकं । अनेकसुरभिद्रव्यमिश्रं वा । 'संवाह्यं' हस्ताभ्या मलनं । चरणौबर्हणं परितः 'परिजर्हणं' । अंशकुट्टनं उन्नतिं दाह्यं वा कपुं यत्तत्पिण्डमित्युच्यते । एतत्सर्वं वर्जयति प्रयोजनाभावाद्द्विजाप्रवृत्तेश्च । कः ? ब्रह्मचारी अग्रह निवृत्तिपरो यतिः ॥१९३॥

किं ब्रह्मचरस्य कुर्वन्ति स्नानादिपरित्यागाः येन तद्ब्रताचरणप्रियस्तदनुष्ठाने यतते इत्यारोक्यामाह—

जल्लविलितो देहो लुब्धो लोचकदवियडवीमत्यो ।

जो रुद्धणक्खलोमो सा गुत्ती बंभचेरस्स ॥१९४॥

'जल्लविलितो देह' इति । 'देहो गुत्ती बंभचेरस्स' इति पदवचना । 'देहः' शरीरं । 'गुत्ती' गुप्तिः रक्षा । कोदृक् ? 'जल्लविलितो' घनीभूतमुपयुपरि प्रचित शरीरमलं जल्लशब्देनोच्यते । तेन विलितो विलिप्तः देहः । स्नानादित्यागात् 'लुब्धो' रुक्षस्पर्शः । स्नानादिविरहादेव 'लोचकदविमडवीमत्यो' लोचकरणविकृत-बीमत्सः । 'जो' यो देह 'रुद्धणक्खलोमो' दीर्घीभूतनखप्रच्छादशलोमान्वितः । सेति गुप्तिः ॥ सामानाधिकरण्यात् स्त्रीलिंगत्वात् ॥ कस्य ? 'बंभचेरस्स' ब्रह्मचर्यस्य ॥

इति व्युत्पष्टदेहता ॥

शा०—ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ गन्ध, माल्य और धूप और मुखवास संवाहन, परिमर्दन और पिण्डाण आदिको छोड़ देता है ॥ १९३ ॥

टी०—ब्रह्मचारी अर्थात् अग्रहके त्यागमें तत्पर साधु कस्तूरी आदि गंध, चार प्रकारकी माला (पुष्पमाला, रत्नमाला, मोतीमाला और सुवर्णमाला) कालागुरु आदि धूप, मुखको सुवासित करने वाले जाति फल आदि, अथवा अनेक सुगन्धित द्रव्योंका मिश्रण, हाथसे शरीरकी मालिश, पैरोंसे शरीरको दबवाना, और पिण्डा, इन सबको प्रयोजन न होनेसे और हिसापरक होनेसे छोड़ देता है । कन्वोंको उग्रन औ टढ़ बनानेके लिये जो उनको कूटा जाता है उसे 'पिण्डाण' कहते हैं ॥ १९३ ॥

ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करने वालेको स्नान आदिके त्यागसे क्या लाभ होता है जिससे ब्रह्मव्रतके आचरणका प्रेमी स्नान आदिके त्यागको अपनाता है, इस शब्दाका उत्तर देते हैं—

शा०—जल्लसे लिप्त, रुक्ष, लोच करनेसे विकृत और बीमत्स बड़े हुए नख और रोमों से युक्त जो शरीर होता है, ब्रह्मचर्यकी वह गुप्ति है ॥१९४॥

टी०—शरीरपर चढ़ा हुआ मेलपर मेल जल्ल कहाता है । स्नान आदिका त्याग करनेसे यतिका शरीर मेलसे लिपता जाता है । तथा स्नान आदि न करनेसे रखा हो जाता है । केश लोच करनेसे भद्दा और ग्लानि युक्त होता है उसे देखकर लोगोंको ग्लानि होती है । नख बड़े हुए होते हैं । गुप्त अंग आदिके बाल बढ़ जाते हैं । ऐसा शरीर ब्रह्मचर्यकी गुप्ति है । उससे यतिके ब्रह्मचर्यकी रक्षा होती है । 'गुप्ति' शब्द स्त्रीलिंग होनेसे सामानाधिकरण्यके लिये 'सा' शब्दका प्रयोग किया है ॥१९४॥

व्युत्पष्ट शरीरताका प्रकरण समाप्त हुआ ॥

प्रतिलेखनसाम्यप्रयोजनमाकथानाघोतरमाचाह्वयम्—

हरियादाणनिखेवे विवेचटाणे जिसीयणे सयणे ।

उच्चसणपरिचसण पसारपाउंटणामरसे ॥९५॥

'अथ येन हि संख्यो हृत्स्वमपि तस्य ह्य' इत्यनेन क्रमेण संबन्धः—'हरियादाणे' पडिलेहूणेच पडिलेहिल्लेखवित्ति एव संबन्ध । ईयांयां गमने अथवाः स्वपावनिलेखपदेशे दुष्परिहाराः यदि स्युः पिपीलिकादयोऽथवा प्राक् पादावकम्बरजसो विरुद्धयोनिनामुक्तित्ता बलं प्रवेष्टव्य यदि 'पडिलेहूणेच' प्रतिलेखनेन 'पडिलेहिल्लेखवि' निराक्रियते त्रसादिक । 'आद्यत्वे' ग्रहणे ज्ञानचारित्रसाधनाया । 'निखेवे विवेके' । ज्ञानसंयमोपकरणानां निखेवे स्थापनाया । यन्निमित्त्यते यत्र च तदुभयप्रमार्जनं कार्यं । शरीरमलानां उच्चारदीनां 'विवेके' उत्सर्जने वा कर्तारि प्रदेशे । सा च भूर्यक्षयोप्या प्रमाजनीया । 'छाने नितीयत्वे कथ्यते' स्थाने आसने च दायनक्रियायां । 'उच्चसणपरिचसणकसारपाउंटणामरसे' । 'उच्चसण' उत्तानशयनं । 'परिचसण' पास्वनीतरसंचारं, 'पसारणं' प्रसारणं हस्तपाददीना । आउंटणं संकोचनं । स्पर्शनक्रिया 'आमरसध्वनेनोच्यते' ॥

पडिलेहूणेण पडिलेहिल्लेखं चिण्हं च होइ सगपकखे ।

विस्सासियं च लिगं संजदपडिलेखदा खेव ॥९६॥

'चिण्हं च होषि' निहृता भजते । 'सगपकखे' स्वप्रतिज्ञाया । सर्वजीवदया हि यते. पक्ष । विस्सासियं च' विश्वासकारि च जनानां । 'लिगं' प्रतिलेखनात्थं कथमयमतिसूक्ष्मान्कुष्वादीनपि परिहृतं, गृहीतप्रति-

अब प्रतिलेखनका प्रयोजन बतलानेके लिये दो गाथा कहते हैं—

गा०—गमनमें, ग्रहणमें, रखनेमें मल त्यागमें स्थानमें बैठनेमें शयनमें ऊपरको भुंजा करके सोनेमें करबट लेनेमें हाथ पैर फैलानेमें संकोचनमें और स्पर्शनमें पीछीसे परिमार्जन करना चाहिये ॥९५॥

टी०—जिसका जिसके साथ सम्बन्ध होता है दूर होते हुए भी वह उसका होता है, इस क्रमके अनुसार प्रतिलेखनके दूर होते हुए भी यहाँ उसके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिये । ईयां अर्थात् गमन करते हुए, यदि अपने पैर रखनेके देशमें चींटी आदिको दूर करना अशक्य हो, अथवा अपने पैरोंमें लगी हुई धूलसे आगेकी भूमि विरुद्ध योनि वाली हो या यदि जलमें प्रवेश करना हो तो पीछीसे त्रसादि जीवोंको दूर करना चाहिये । अर्थात् पीछीसे उस देशका पैर आदि का परिमार्जन करके चलना चाहिये । ज्ञान और चारित्रके साधन पुस्तक कमण्डलू आदिको ग्रहण करते समय, या उन्हें रखते समय, जो वस्तु रखें और जहाँ रखें उन दोनोंका प्रमार्जन करना चाहिये—पीछीके द्वारा उन्हें झाड़ना चाहिये । शरीरके मल भूत्रादिका त्याग करते समय यदि भूमि अव्योम्य हो तो उसका प्रमार्जन करना चाहिये । स्थान, आसन और सोते समय मुख ऊपर करके सोते हुए या करबट लेते समय या हाथ पैर फैलाते और संकोचते समय, किसी वस्तु को छूते समय पीछीसे प्रमार्जन करना चाहिये । यहाँ आमरस शब्दसे स्पर्शन क्रियाको कहा है ॥९५॥

गा०—उक्त क्रिया करते समय पीछेके द्वारा प्रतिलेखना करना चाहिये, इस प्रकार पूर्व

लेखनोपयान्महतो जीवान्कथमिव वाचितुं उत्सहते इति । 'संभवपरिच्छेदा चेष' । संघतानां प्राक्कानाना प्रति-
बिंबता च प्रतिलेखना ग्रहणेन नभति ॥९६॥

प्रतिलेखनलक्षणार्थानामाहा—

रससेयाणमगाहणं मद्ब सुकुमालदा लघुत्वं च ।

अत्वेदे पंच गुणा तं पडिलिहणं पसंसति ॥९७॥

'रससेवात्ममगाहणं' रजसः सचित्तस्य अचित्तस्य वा त्वेदस्य अगाहक । अचित्तरजोप्राहिणा सचित्त-
रजो प्रतिलेखने तद्विराधना सचित्तरजोप्राहिणा चेतस्स्य । स्वेदप्राहिणि रजसामुपहतिः । 'मद्बसु सुमालदा'
भुङ्क्त्वर्था मार्दवं, सुकुमालदा सीकुमार्य । 'लघुत्वं च' लघुत्व च । एते पंच गुणा यत्रैते पंच प्रकारगुणाः
संति 'सं' तत् 'प्रतिलिहणं' प्रतिलेखनं 'पसंसति' स्तुवंति दयाविधिजा । अमदुता, असुकुमारणे, गुरुणा च प्रति-
लेखनेन जीवानामुपघात एव कृती न दयेति भावः । एव चतुर्गुणयुक्तं लिखं व्याख्यातं गृहीतलिख्यस्य यते ॥९७॥

क्षिप्रानंतरंति तन्निरूपणार्थं उत्तरप्रबधः—

जिउणं विउलं सुदं णिकाचिदमणुत्तरं च सम्बद्धिदं ।

जिणवयणं कलुसहरं अहो य रची य पद्धिद्वं ॥९८॥

मायासे सम्बन्ध है । अपनी प्रतिज्ञामे पीछी चिह्न होती है । और प्रतिलेखना रूप लिग मनुष्योंको
विश्वास करानेवाला है । और प्राचीन मुनियोंका प्रतिबिम्ब रूप है ॥९६॥

टी०—मुनिका पक्ष या प्रतिज्ञा सब जीवोंपर दया करना है । अतः पीछी उसका चिह्न
है । तथा यह चिह्न मनुष्योंमें विश्वास उत्पन्न कराता है कि जब यह व्यक्ति अतिसूक्ष्म कीट वादि
जीवोंकी भी रक्षाके लिये पीछी लिये हुए है तो हमारे जैसे बड़े जीवोंको कैसे बाधा पहुंचा सकता
है । तथा पीछी धारण करनेसे प्राचीन मुनियोंका जो रूप था उसीकी छाया वर्तमान मुनियोंमें
आ जाती है ॥९६॥

प्रतिलेखनाके लक्षण कहते हैं—

शा०—धूलि और पसीनेको पकड़ती न हो, कोमल स्पर्शवाली हो, सुकुमार हो, और हल्की
हो । जिसमें ये पाँच गुण होते हैं उस प्रतिलेखनाकी प्रशंसा करते हैं ॥९७॥

टी०—सचित्त या अचित्त रज और पसीनेको ग्रहण न करती हो; क्योंकि अचित्त रजको
ग्रहण करनेवाली पीछीसे सचित्त रजकी प्रति लेखना करनेपर उनमें रहनेवाले जीवोंका घात होता
है और सचित्त रजको ग्रहण करनेवाली पीछीसे अचित्त रजकी प्रतिलेखना करने पर भी घात
होता है । पसीनेको पकड़नेवाली पीछीसे रजमें रहनेवाले जीवोंका घात होता है । तथा पीछी
कोमल स्पर्शवाली, सुकुमार और हल्की होनी चाहिये । जिस प्रतिलेखनमें ये पाँच गुण होते हैं,
दयाकी विधिको जाननेवाले उसकी प्रशंसा करते हैं । इसका भाव यह है कि कठोर, असुकुमार
और भारी प्रतिलेखनासे जीवोंका घात ही होता है, दया नहीं । इस प्रकार लिगको स्वीकार
करनेवाले साधुके चार गुणोंसे युक्त लिगका कथन किया ॥९७॥

विजयवचनं जिनवचनम् । 'अहो व रस्ती व' नक्तं विचं । 'बद्धिदम्बं' अध्येतम्बं । कीदृग्मृतं जिनवचन-
मत् आह—'निन्दनं' बीबादीनर्थाप्रमाणनयानुगतं निरूपयतीति निपुणं । 'बुद्धं' पूर्वापरविरोधपुनरुक्तवि-
द्याविशदोषवजितत्वात् बुद्धं । 'विपुलं' निक्षेपः, 'एकार्थः', निरुक्तिः अनुयोगद्वार, नयश्चेति अनेकविकल्पेन
बीबादीनर्थमित्थप्रपञ्चं निरूपयतीति विपुलं । अर्थगाढत्वात्निकाचितं अर्थनिचितं । 'अनुत्तरं व' न विद्यते
उत्तरं उत्कृष्टमस्मादित्यनुत्तरं । परेषां वचनानि पुनरुक्तानि, अनर्थकानि, व्याहृतानि, प्रमाणविरुद्धानि च तस्य
इदमुत्तरं तदसंभविमुणत्वात् । 'सम्बद्धिं' सर्वं प्राणहितं । अन्येषां मतानि केवाचिदेव रक्षां सूचयति ।
'जिघांसन्तं जिघांसीयात् न तेन ब्रह्महा मयेत्' इत्युपदेशात्^१ ।

कलुसहरं द्रव्यकर्मणां ज्ञानावरणादीनां अज्ञानादेभ्योमलस्य च विनाशनात् कलुसहरं । 'अहो व रस्तीव
बद्धिदम्बमित्यनेन' अनारतं अध्ययनं सूचितं ॥९८॥

अब शिक्षाका कथन करते हैं—

शा०—निपुण विपुल, बुद्ध, अर्थसे पूर्ण, सर्वोत्कृष्ट और सब प्राणियोंका हित करनेवाला
द्रव्यकर्म भाव कर्मरूपी मलका नाशक जिनवचन रात-दिन पढ़ना चाहिये ॥९८॥

टी०—जिनवचन रात-दिन पढ़ना चाहिये । किस प्रकार जिनवचन पढ़ना चाहिये ? इसके
उत्तरमें कहते हैं—जो निपुण हो अर्थात् जीवादि पदार्थोंका प्रमाण और नयके अनुसार निरूपण
करनेवाला हो । पूर्वापर विरोध पुनरुक्तता आदि बत्तीस दोषोंसे रहित होनेसे बुद्ध हो । विपुल हो
अर्थात् निक्षेप, निरुक्ति अनुयोगद्वार और नय इन अनेक विकल्पोंसे जो जीवादि पदार्थोंका विस्तार
से निरूपण करता हो । निकाचित अर्थात् अर्थसे भरपूर हो । अनुत्तर अर्थात् जिससे कोई उत्तर
यानी उत्कृष्ट न हो । दूसरोंके वचन पुनरुक्त, निरर्थक, बाधित और प्रमाण विरुद्ध हैं अतः उनसे
जिनवचन उत्कृष्ट है क्योंकि जो गुण उनमें सम्भव नहीं है उन गुणोंसे युक्त है । सब प्राणियोंका
हितकारी है । दूसरोंके मत तो किन्हीं की ही रक्षा सूचित करते हैं । कहा है—वेदका जाननेवाला
भी ब्राह्मण यदि किसीको भारता हो तो उसे मार डालना चाहिये । उससे ब्रह्म हत्याका पाप
नहीं लगता । तथा ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म और अज्ञानादिभावमलका विनाश करनेसे
जिनवचन पापका हरनेवाला है । उसे 'रात-दिन पढ़ना चाहिये' इससे निरन्तर अध्ययन करना
सूचित किया है ॥९८॥

१. पदार्थः—आ० मु० ।

२ आ० मु० प्रयोअधोल्लिखिताश्लोकाः स ।

"यज्ञार्थं पशवः सृष्टा स्वयमेव स्वयंभुवा ।
यज्ञो हि भूर्ध्वं सर्वेषां तस्माद्यज्ञे बध्नोऽन्वचः ॥ १ ॥
"अग्निदो षरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ॥
क्षेत्रदारहृदश्चेति वदेते आततायिन ॥"
"आततायिनमायातमपि वेदातविद् द्विजम् ॥
जिघांसन्तं जिघांसीयात् तेन ब्रह्महा मयेत् ॥"

जिनवचनशिखाया मुष्णान्संहृत्य कथयति—

आदहिदपद्गुणा भावसंवरौ ज्वणचो या संवेगो ॥

जिक्कंपदा तवो भावणा य परदेसिगचं च ॥९९॥

आदर्शवचनम् आत्महितपरिज्ञानं । इन्द्रियसुख अहितं परिहितमिति गृह्णन्ति जना । दुःखप्रतीकारमात्रं तत् ? अल्पकालिक, पराधीन, रागानुबन्धकारि, दुर्लभं, भयावह, क्षरोरायासमात्र, अनुषिष्टादीरासंस्पर्शनम् । तत्रत्य बालस्य सुखबुद्धिः । नि शेषदुष्प्रापयजनित स्वास्थ्य अचल सुखमिति न वेत्ति । जिनवचोऽभ्यासात्पचि-
कच्छति । 'भावसंवरौ' भावः परिणामः तस्य संवरौ निरोधः । ननु परिणाममतरेण न प्रव्यस्यास्ति क्षणमात्र-
सप्तयवस्थानं तत्किमुच्यते भावसंवर इति । परिणामविशेषवृत्तिरिह भावशब्द इति मन्यते । तथा बभूवसि—

'सत्त्वज्ञानं कुर्वन्तो संवेगोसंबुधो इति' अशुभकर्मादाननिमित्तपरिणामग्रहणमिह सरागापेक्षया । वीत-
रागाणा तु केषांचिच्छुद्धोपयोगनिमित्ततया पुण्यासवपरिणामसंवरोंऽपि ग्राह्यः । 'ज्वणचो य' प्रत्ययः प्रत्ययः ।
'संवेगो' धर्मे श्रद्धा जिनवचनाभ्यासादुपजायते । 'जिक्कंपदा' निश्चलता । क्व ? रत्नत्रये । 'तवो' स्वाध्या-
यास्यं तपश्च । 'भावणा' भावना च गुप्तीना । 'परदेसिगचं च' परैवामुपदेशकता च ॥

जिनवचनकी शिक्षामें जो गुण हैं उन्हें कहते हैं—

शा०—आत्महितका ज्ञान होता है । भाव संवर होता है । नवीन-नवीन संवेग होता है रत्नत्रयमें निश्चलता होती है । स्वाध्याय तप होता है और भावना होती है । और दूसरोंको उपदेश करनेकी क्षमता होती है ॥९९॥

द्वी०—जिनवचनके पढ़नेसे आत्महितका परिज्ञान होता है—इन्द्रिय सुख अहितकर है उसे श्लो गहितकर ग्रहण करते हैं । इन्द्रिय सुख दुःखका प्रतीकार मात्र है, अल्पकाल तक रहता है । पराधीन है, रागका सहचारी है, दुर्लभ है (?), भयकारी है, शरीरका आयासमात्र है, अपवित्र क्षरीरके स्पर्शसे उत्पन्न होता है । उसको यह अज्ञानी सुख मानता है । समस्त दुःखोंके बिनाशसे उत्पन्न हुआ स्वास्थ्य-आत्मामें स्थितिरूप भाव-स्थायी सुख है यह नहीं जानता । वह सुख जिनवचनके अभ्याससे प्राप्त होता है । भाव अर्थात् परिणामका, संवर अर्थात् निरोध भाव-संवर है ।

शंका—परिणामके बिना द्रव्य एक क्षण भी नहीं रह सकता । तब आप कैसे भावसंवर कहते हैं ?

समाधान—यहाँ भाव शब्द परिणाम विशेषका वाचक लिया गया है । आगे कहेंगे—
स्वाध्याय करनेवाला पाँचों इन्द्रियोंसे संवृत होता है । अतः यहाँ सरागकी अपेक्षासे अशुभ कर्मों के ग्रहणमें निमित्त परिणामका ग्रहण किया है । वीतरागोंमेंसे तो किन्हींके जिनवचन शुद्धोपयोग में निमित्त होता है इसलिये भावसंवरसे पुण्यासवमें निमित्त परिणामको संवर भी ग्राह्य है । जिनवचनके अभ्याससे नित नया 'संवेग' अर्थात् धर्ममें श्रद्धा उत्पन्न होती है । रत्नत्रयमें निश्चलता आती है । स्वाध्यायनामक तप होता है, गुप्तियोंकी भावना होती है तथा दूसरोंको उपदेश देनेकी सामर्थ्य आती है ॥९९॥

आवहितपरिष्ठा इत्यस्य व्याख्यानं नाचोत्तरा—

जायेन सम्बन्धा जीवाजीवासवादिना तथिना ।

अज्जदि इह परलोए अहिदं च तहा हियं वेव ॥ १०० ॥

'जायेन' ज्ञानेन । 'सम्बन्धा' सर्वे पदार्थाः । 'जीवाजीवासवादिना' जीवाजीवासवधसंस्वरनिर्वा-
मोक्षाः । 'अहिदं' सत्यभूताः । 'अज्जदि' ज्ञानन्ते । 'तहा' तेनैव प्रकारेण । 'इहपरलोए' इह परस्मिन्नेव लोके ।
'अहिदं' अहितं । 'हियं' हितं वैव । ननु च आवहितपरिष्ठा इत्यत्र हितस्वीयं हि सूचितत्वान् जीवादिपरिज्ञानं
असूचितं कथं व्याख्यायते पूर्वमभिहितं हितमनुक्त्वा ? अत्रोच्यते—आत्मा च हितं च आत्महिते तयोः परिज्ञानं
इति गृहीत । न चात्मनो हितमिति । ततो युक्तं व्याख्यातं । एवमपि जीव एव निषिष्ट इत्यजीवाद्युपन्यासः
कथं ? आत्मसम्बन्धस्तूपलक्षणत्वावधेयः । जीवाजीवासवधसंस्वरनिर्वात्मोक्षात्सत्त्वं [त०सू० १।८] इत्यत्र
सुत्रे आदौ निषिष्टो जीवः प्रसिद्धस्तेनोत्तरोपलक्षणं क्रियते । अथवा आत्मन्यज्ञाते हितमेव पुत्रतिं चात्म-
परिणामो हि हितं तच्च स्वास्थ्यं । तच्च स्व-वे आधिविते स्वास्थ्यं सुजातं भवति । तत्र आत्मा ज्ञातव्यः ।

आयं सत्वं समस्तं आत्मज्ञानं तच्च विचरं विमलं । रहिं तु उग्राहविं ह्यु ह्यु हितं एयंति यं विचरं" [प्र०
व० १।५] । इति वचनात् अनंतज्ञानरूपं सुखं यत् हितमिति गृहीतं, तथापि चेतनाया जीवत्वात् चेतन्यावस्था-
स्वरूपत्वात् केवलस्यावस्थानात् आत्मा ज्ञातव्य एव । मोक्षस्तु कर्मणा तदपायतयाधिगतव्यः । तत्परिज्ञानम-
जीवैर्जिनैरिति न भवति । पुद्गलानामेव द्रव्यकर्मत्वात्, तद्वियोगस्य मोक्षत्वात् । स च मोक्षो अक्षयपुरस्कारः । न

आगे आत्महित परिज्ञानका व्याख्यान करते है—

ना०—ज्ञानके द्वारा जीव अजीव आस्रव आदि सब पदार्थ तथ्यभूत जाने जाते हैं । उसी
प्रकारसे इस लोक और परलोकमें अहित और हित जाना जाता है ॥१००॥

टी०—शंका—'आत्महित परिज्ञा' इस पदमें तो हितको ही सूचित किया है, जीवादिके
परिज्ञानको तो सूचित नहीं किया है तब पहले कहे गये हितका कथन न करके जीवादि परिज्ञान-
का व्याख्यान क्यों किया है ?

समाधान—आत्महित परिज्ञानका अर्थ आत्मा और हितका परिज्ञान लिया है । 'आत्मका
हित' अर्थ नहीं लिया है । अतः जीवादिका व्याख्यान करना युक्त है ।

शंका—ऐसा अर्थ करनेपर भी जीवका ही निर्देश किया है । तब अजांव आदिका उपन्यास
क्यों किया ?

समाधान—आत्म शब्द अजीवादिका उपलक्षणरूप होनेसे कोई दोष नहीं है । क्योंकि
'जीवाजीवा' इत्यादि सूत्रमें जीवका प्रथम निर्देश प्रसिद्ध है उससे आगेके अजीवादिका उपलक्षण
किया है । अथवा, आत्मका ज्ञान हुए बिना उसके हितको जानना कठिन है । आत्मका परिणाम
हित है और वह स्वास्थ्य है । अतः स्वस्थका ठीक ज्ञान होनेपर स्वास्थ्यका सम्यग्ज्ञान होता है ।
अतः आत्मा ज्ञातव्य है । अथवा ऐसा कहा है—अनन्त पदार्थोंमें व्याप्त और अवग्रह आदिके क्रमसे
रहित निर्मल सम्पूर्णज्ञान जो परकी सहायताके बिना स्वयं होता है उसे एकान्तसे सुखरूप कहा
है । इस कथनसे यद्यपि अनन्तज्ञानरूप सुखको हित स्वीकार किया है तथापि चेतना जीव है
और केवलज्ञान चैतन्य अवस्था स्वरूप है अतः आत्मा ज्ञातव्य ही है और मोक्ष कर्मोंके विनाश-
रूप होनेसे जानने योग्य है । कर्मोंका ज्ञान अजीवको जाने बिना नहीं होता, क्योंकि पुद्गल ही

हृष्टति बन्धे मोक्षोऽस्ति । स च बन्धो नासत्यासन्धे । मोक्षस्य बोधायी संवरनिर्जरे । अहितं इति यदि दुःखं गृह्यते तदैहलोकिकमनुभवसिद्धयेव । किं तत्र जिनवचनेन ? अहितकारणं यद्यहितमुच्यते तत्कर्म तच्चाभा-
धीवचनेन आश्रितं । अथ हिंसादयः परंपराकारणत्वेन दुःखस्यावस्थिताः अहितशब्देनोच्यन्ते । तथाऽन्ययुक्तं
आश्रयेऽतर्जुतत्वात् । अत्रोच्यते—अनुभूतमपि दुःखं अस्मिञ्जन्मनि जडभतयो विस्मरत्यत एव मन्मार्थं न
धीकंते । तेषां स्मृतिर्जन्यते जिनवचनेन मनुजभवापदा प्रकटनेन । जुगुप्सिते कुले प्रादुर्भूतिविचित्रास्तत्र रोयोर-
गवचनचमिता विपदः । निर्व्रविणता, दुर्भंगता, अर्बुता, अनाथता, प्राथितद्रविणपरागनालाभधूमन्वजनिर्दग्ध-
चित्तता, द्रविणवतां कुत्सितप्रेषणकरणं, तथापि तेषां आक्रोशननिर्मलंनताडनादीनि, परवशतामरणादीन्धेव-
माधिना, इह लोके हितं दानतपःप्रभृतिकं हितकारणं हित इति यथा गृह्यते 'हितमारण्यमीषधं' इति यथा ।
यतो दानादिके कुशलकर्मणि वर्तमाना जने स्तूयते बद्धन्ते । उक्तं च—

दानेन तिष्ठन्ति यथास्ति लोके दानेन वैराग्यमपि याति नाशम् ।

परोऽपि बंधुत्वमुपैति दानात्सत्मानुदानं सततं प्रदेयम् ॥' इति ।—[वराह० ७।३६]

इन्द्रचक्रधारादयोऽपि प्रथतिमायान्ति तपोद्रविणानाम् । परलोके अहित भवान्तरभाविषु ख नरकगतौ
हि, तिर्यक्त्वे च, परलोके हितं निवृत्तिसुखं, तदेत्सकलं अवबोधयति जैनी भगवती भारती ।

द्रव्यकर्मरूप होते हैं और उनका विनाश मोक्ष है । वह मोक्ष बन्धपूर्वक होता है । क्योंकि बन्धके
अभावमें मोक्ष नहीं होता । तथा बन्ध आस्रवके विना नहीं होता । और मोक्षके उपाय सवर और
निर्जरा हैं ।

शंका—यदि अहितसे दुःख लेते है तो इस लोकमें होनेवाला दुःख अनुभवमें सिद्ध है ।
उसमें जिनवचनकी क्या आवश्यकता ? यदि अहितके कारणको अहित कहते है तो वह कर्म है
और अजीव शब्दसे उसका ग्रहण होता है । यदि परम्परासे दुःखका कारण होनेसे हिंसा आदिको
अहित शब्दसे लेते है तो भी अहितका पृथक् कथन अयुक्त है क्योंकि आस्रवमें उनका अन्तर्भाव
होता है ।

समाधान—इस जन्ममें अनुभूत भी दुःखको अज्ञानी भूल जाते है इसीसे वे सन्मार्गमें नही
लगते । जिनवचनके द्वारा मनुष्य भवमें होनेवाली विपत्तियोंको बतलानेमें उनका स्मरण होना
है । निन्दनीय कुलमें जन्म होनेपर वहाँ रोगरूपी साँपके डसनेसे उत्पन्न हुई विपत्तियाँ आती हैं ।
दरिद्रता, भाग्यहीनता, अर्बुच्युता, अनाथता, इच्छित धन और पर स्त्रीकी प्राप्ति न होने रूप
अग्निसे चित्तका जलते रहना, धनिकोंकी निन्दनीय आज्ञाका पालन करनेपर भी उनके गाली;
गलीज, डाँट फटकार, मारपीट, परवश मरण आदिको सहना पडता है ।

जब हितका अर्थ हितका कारण लिखा जाता है तो इस लोकमें दान, तप आदि हित है ।
जैसे जंगली औषधी हितका कारण होनेसे हित कही जाती है क्योंकि जो दान आदि सत्कार्य
करते हैं लोग उनकी स्तुति और बन्दना करते हैं । कहा भी है—'दानसे लोकमें चिरस्थायी यथा
होता है । दानमें वेर भी नष्ट हो जाते हैं । दानसे पराये भी बन्धु हो जाते है । अतः मुद्दान
सदा देना चाहिए ॥' तपोधनोंको इन्द्र चक्रवर्ती आदि भी नमस्कार करते है । परलोकमें अहितमें
मतलब है आगामी नरकगति और तिर्यङ्गतिके भवमें होनेवाला दुःख । और परलोकमें हितसे
मतलब है मोक्षसुख । जिन भगवान्के द्वारा उपदिष्ट भारती इन सबका ज्ञान कराती है ॥१००॥

आत्महितापरिज्ञाने दोषमाचष्टे—

आदहिदमयाचंती मुञ्जादि भूदो समादियदि कम्मं ।

कम्मणिमित्तं जीवो परीदि भवसायरमणंतं ॥१०१॥

“आदहिदमयाचंती” आत्महितमनुस्यमानः । ‘मुञ्जादि’ मुञ्जति अहितं हितमिति प्रतिपद्यते । मोहो को दोष इत्यत आह—‘भूदो’ मोहवान् ‘समादियदि’ समावर्ते । ‘कम्मं’ कर्मसामान्यशाब्दोप्ययं अशुभकर्मवृत्ति-
र्वाहः । कर्मग्रहणे को दोष इत्यत आह—‘कम्मणिमित्तं’ कर्महेतुकं, जीवः ‘परीदि’ परिभ्रमति । कि
‘भवसायरम्’ भवसमुद्रं ‘मणंतं’ अनन्तम् ॥१०१॥

आत्महितपरस्योपयोगमावर्षयति—

जाणंतस्सादहिदं अहिदणियत्ती य हिद्वपवत्ती य ।

होदि य तो से तम्हा आदहिदं आगमेदब्बं ॥१०२॥

‘जाणंतस्स’ जानत । ‘आदहितं’ आत्महित । ‘अहिदणियत्ती य’ अहितनिवृत्तिश्च । ‘हिद्वपवत्ती य’
हिते प्रवृत्तिश्च । ‘होदि य’ भवति च । ‘तो’ ततः हितज्ञानात्पश्चात् । ‘तम्हा’ तस्मात् ‘आदहितं’ आत्म-
हितं । ‘आगमेदब्बं’ शिशितम्प्यम् । अत्र बोधते—ननु आत्महितज्ञस्य हिते प्रवृत्तिर्भवतु, अहिदान्निवृत्तिः कथं ?
अहितज्ञोऽहिदान्निवर्तते, हितमहितं च भिन्नमेव । यद्यतो भिन्नं न तस्मिन्मनस्यते तद्व्यपवदवगतं भवति । यथा-
वानरेऽवगते न मकरः, भिन्नं च हितादहितं तस्माद्धितज्ञोऽहितं अजानन् कथमहिदान्निवृत्तिः निवर्तते ? अत्रो-

आत्महितका ज्ञान न होनेके दोष कहते हैं—

गा०—आत्मके हितको न जाननेवाला मोहित होता है । मोहित हुआ कर्मको ग्रहण करता है । और कर्मका निमित्त पाकर जीव (अणतं) अनन्त भवसागरमें भ्रमण करता है ॥१०१॥

टी०—आत्महित या आत्मा और हितको जाननेवाला अहितको हित मानता है । यही मोह है । इस मोहमें क्या दोष है ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि मोही जीव कर्मको ग्रहण करता है । यहाँपर यद्यपि कर्म सामान्य कड़ा है तथापि अशुभकर्म ग्रहण करना चाहिए । कर्मके ग्रहणमें क्या दोष है ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि कर्मके कारण जीव भव समुद्रमें अनन्तकाल तक भ्रमण करता है ॥१०१॥

आत्महितके ज्ञानका उपयोग दिखलाते हैं—

गा०—आत्महितको जाननेवालेके अहितमें निवृत्ति और हितमें प्रवृत्ति होती है । हिता-
हितके ज्ञानके पश्चात् उनका हिताहित भी जानता ही है । इसलिए (आदहिदं) आत्महितको
आगमसे मोखना चाहिए ॥१०२॥

टी०—ज्ञाका—आत्महितको जाननेवालेकी हितमें प्रवृत्ति होवो, किन्तु अहितसे निवृत्ति कैसे ? जो अहितको जानता है वह अहितसे निवृत्त होता है । तथा हित और अहित भिन्न हैं । जो जिससे भिन्न होता है उसको जाननेपर उससे भिन्नका ज्ञान नहीं होता । जैसे बन्दरको जानने-
पर मगरका ज्ञान नहीं होता । और हितसे अहित भिन्न है अतः हितको जाननेवाला अहितको
नहीं जानता । तब वह कैसे नियमसे अहितसे निवृत्त होगा ?

क्यते—सर्वमेव वस्तु स्वपरमावाभावोभयाधीनात्मकम् यथा घटः पृथु लोचराधाकारात्मकः पटादिकल्पतया-
आधारः, कस्यथा विपर्ययस्तं तज्ज्ञानं भवेत् । एवमिहापि हितविलक्षणमहितं अभावतया तद्विलक्षणता हितस्य
ज्ञाता भवेत् । अतो हितोऽहितमपि वेत्तीति युक्तं निवृत्तिलतः ॥१०२॥

शिक्षाया अशुभभावसंवरहेतुता प्रतिपादनायाह—

सज्जायं कुर्वन्तो पश्चिदियसुबुद्धो तिरुषो य ॥

हृदि य इयममणो विजएण समाहिदो भिक्खु ॥१०३॥

“सज्जायं” स्वाध्यायं पंचविध वाचनाप्रस्तानुप्रेक्षाभ्यायधर्मोपदेशमेवेन । तत्र निरवच्छेद इत्यस्या
ध्यापनं तदर्थविधानपुरोगं वाचना । सन्देहनिवृत्तये निश्चितबलाधानाया वा सूत्रार्थविषयः प्रश्नः । अथगतार्थ-
नुप्रेक्षणं अनुप्रेक्षा । आम्नायो गुणना । आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी, निर्वेदनीति चतस्रः कथास्तार्था कथनं
धर्मोपदेशः । तं स्वाध्यायं कुर्वन् । ‘पश्चिदियसुबुद्धो हृदि’ पञ्चेन्द्रियसंवृतो भवति । ननु पञ्चेन्द्रिय शब्दः
निष्ठांतस्य पूर्वनिपातात्संवृतपञ्चेन्द्रिय इति भवितव्यम् ? सत्यं । ‘जातिकालमुखादिभ्यः परवचनम्’ इत्यनेन
बहुव्रीहौ पञ्चेन्द्रियत्वजातिवृत्तिरिति जातिवचन । ततो निष्ठांतं परतः प्रयुज्यते इति मन्थते । इन्द्रियमनेक-
प्रकारं द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियं इति । इह तु रूपाद्युपयोगा इन्द्रियशब्देनोच्यन्ते । तेनायमर्थः स्वाध्यायं कुर्वन्निश्च-
द-

समाधान—प्रत्येक वस्तुका जन्म स्वके भाव और परके अभाव, इन दोनोंके अधीन है ।
जैसे घट बड़े पेट आदि आकारवाला होता है, पटादिरूपसे उसका ग्रहण नहीं होता । यदि घटका
पटरूपसे ग्रहण हो तो वह ज्ञान विपरीत कहलायेगा । इसी तरह यहाँ भी जो हितसे बिलक्षण
अहितको नहीं जानता वह उससे बिलक्षण हितका भी ज्ञाता नहीं हो सकता । अतः जो हितको
जानता है वह अहितको भी जानता है । इसलिए उसको अहितसे निवृत्ति उचित ही है ॥१०२॥

शिक्षा अशुभभावके संवरमें हेतु है, यह कहते हैं—

गा०—विनयसे युक्त होकर स्वाध्याय करता हुआ साधु पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे संवृत
और तीन गुप्तियोंसे गुप्त एकाग्रमन होता है ॥ १०३ ॥

टी०—वाचना, प्रश्न, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेशके भेदसे स्वाध्यायके पाँच भेद हैं ।
उसके अर्थका कथन करने पूर्वक निर्दोष ग्रन्थके पढ़ानेको वाचना कहते हैं । सन्देहको दूर करनेके
लिये अथवा निश्चितको दृढ करनेके लिये सूत्र और अर्थके विषयमें पूछना प्रश्न है । जाने हुए अर्थ-
का चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है । कष्टस्थ करना आम्नाय है । कथाके चार प्रकार हैं—आक्षेपणी,
विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेदनी । उनके करनेको धर्मोपदेश कहते हैं । उस स्वाध्यायको करने
वाला पञ्चेन्द्रिय संवृत होता है ।

झङ्का—बहुव्रीहि समासमें निष्ठांतका पूर्वनिपात होनेसे ‘संवृत पञ्चेन्द्रिय’ होना चाहिये ।

समाधान—आपका कथन सत्य है । ‘जातिकाल मुखादिभ्यः परवचनम्’ इस सूत्रसे पञ्चे-
न्द्रिय शब्द पञ्चेन्द्रिय जातिवृत्ति होनेसे जातिवाचक है । इसलिये निष्ठांतका प्रयोग पञ्चेन्द्रिय-
के आगे किया है ।

इन्द्रियके अनेक भेद हैं—द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय । किन्तु यहाँ इन्द्रियशब्दसे रूपादि विषयक

१. पृथुलाद्या-अ० । पृथुलाद्या-आ० । २. यान्नि-आ० वृ० ।

रूपानुपयोगो भवति इति । रूपानुपयोगनिरोधे किं फलं ? रागाद्यप्रवृत्तिः । मनोज्ञाननोक्त्यानुपयोगानु-
सन्धौ रागद्वेषी । न ह्यन्यनुपयोगानो विषयः स्वसत्तामात्रेण ही करोति । कुतोऽन्यमनस्के वा रागादीनां
विषयप्रतिपक्षानुपयोगानुपयोगानु ।

“अविषयविषयस्त वैदो वैदो इतिवाचि जायते ।

ततो विषयव्यहृषं ततो रज्यो व पीतो वा ॥” [ब्रह्मसिद्धि १२९]

इति वचनात् । कर्म स्वाध्याये प्रवर्तमानः ‘विषयैव तन्माहिषो’ ज्ञानविनयेन समन्वितो भूत्वा यः स्वा-
ध्यायं करोति ‘सिमुत्तो व होधि’ तिसृमिर्गुणितानिश्च भवति । मनसोऽप्रसस्त रागाद्यन्यकेषाम्, अनृतस्वपदवकर्म-
क्षात्मस्ववचनपरदूषणाद्याभ्यापुतेः, हिंसादी शरीरेणाप्रवृत्तेष्व, “एवमनसो व होधि तिस्रसू” इति पदघटना—एक-
मुखात्-करणस्य भवति तिस्रः स्वाध्याये रतः । एतदुक्तं भवति—ध्याने प्रवृत्तिमप्यासादयतीति । न ह्यकृत-
श्रुतपरिचयस्य धर्मशुक्लध्याने भवितुमर्हत् । अपायोपायधर्मविपाकलोकविचयादयो धर्मध्यानत्रेधाः । अपायवि-
स्वरूपज्ञानं जिनवचनबलादेव ‘शुक्ले चाथे पूर्वविधेः’ [त-सू० १।३७] इत्यभिहितत्वात् ॥१०३॥

प्रत्यक्ष संज्ञाप्रत्यक्षप्रकारकपद्ये—

जह जह सुदमोग्गाहदि अदिसयरसपसरमसुदपुष्वं तु ।

तह तह पन्हादिज्जदि नवनवसंवेगसद्दहाय ॥ १०४ ॥

उपयोग कहा गया है । अतः यह अर्थ होता है कि स्वाध्यायको करने वालेका रूपादि विषयक
उपयोग रुक जाता है ।

शब्दा—रूपादि विषयक उपयोगको रोकनेका क्या फल है ?

समाधान—रागादिकी प्रवृत्ति नहीं होती । राग द्वेष मनोऽज्ञ और अमनोऽज्ञ रूपादि विषयक
उपयोगका आश्रय पाकर होते हैं । जिस विषयको जाना नहीं वह विषय केवल अपने अस्तित्व-
मात्रसे राग द्वेषको पैदा नहीं करता । क्योंकि सोते हुए या जिसका मन अन्य ओर है, उस मनुष्य-
में विषयके पासमें होते हुए भी राग द्वेष नहीं देखे जाते । कहा है—‘गतिमें जाने पर शरीर बनता
है । शरीरसे इन्द्रियां बनती हैं । इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होता है और उससे राग और द्वेष
होते हैं । जो विनय बंध स्वाध्याय करता है वह पञ्चेन्द्रिय संवृत और तीन गुणियोंसे गुप्त होता
है क्योंकि उसका मन अप्रसस्त रागादिके विकारसे रहित होता है, झूठ, रस, कठोर, कर्कश,
अपनी प्रशंसा, परनिन्दा आदि वचन नहीं बोलता, तथा शरीरके द्वारा हिंसा आदिमें प्रवृत्ति नहीं
करता । तथा स्वाध्यायमें लीन साधु एकाग्रमन होता है । अर्थात् ध्यानमें भी प्रवृत्ति करता है ।
जिसका श्रुतसे परिचय नहीं है उसके धर्मध्यान शुक्लध्यान नहीं होते । अपायविषय, उपायविषय,
विपाकविषय, लोकविषय आदि धर्मध्यानके भेद हैं । अपाय आदिके स्वरूपका ज्ञान जिनागमके
बलसे ही होता है । कहा भी है—आदिके दो शुक्लध्यान और धर्मध्यान पूर्ववत् श्रुतकेबलीके
होते हैं ॥ १०३ ॥

नवीन संवेगके उत्पन्न होनेका क्रम कहते हैं—

शा०—जैसे-जैसे अतिशय अभिषेयसे भरा, जिसे पहले कमी नहीं सुना ऐसे श्रुतको अब-
गाहन करता है, तैसे-तैसे नई नई धर्मश्रद्धासे आह्लाद युक्त होता है ॥ १०४ ॥

'बहु बहु' यथा यथा । 'सुप्तं' श्रुतं 'ओम्नाहृदि' अवगाहते शब्दश्रुताभिधेयमभिगच्छतीति यावत् । 'अतिशयरसप्रसरं अतिशयिरसप्रसरं' समयांतरेषु अनुपलब्धोऽर्जोऽतिशयितो रसः । शब्दस्य हि रसोऽर्थः तस्य सारत्वात् आभ्रफलविरस इव । प्रसरशब्देन प्राचुर्यमतिक्रियार्थस्य सूचयति । ततोऽभ्यमर्शोऽय-अतिशयि-धेयबहुत्वं श्रुतमिति । ननु प्रवादिनोऽपरेऽपि स्वसमयमेव प्रशंसन्ति । प्रत्यक्षेणानुमानेन च विरुद्धमर्थस्वरूपं केवलं नित्यस्वमनित्यतां वा निरूपयतामागमानां नातिशयार्थप्रसरता । प्रभाषांतरसंबाधानामार्शोऽतिशयितो भवति नापरः । 'अश्रुतपूर्वमेव' अश्रुतपूर्वमेव । ननु भयानामभयभयानां च कर्णगोचरतामायात्वेन श्रुतं किमुच्यतेऽश्रुत-पूर्वमिति ? अथ श्रुताभिधेयापरिज्ञानाच्छब्दमार्थं श्रुतमप्यश्रुतं इति गृह्यते तदप्ययुक्तं, अर्शोपयोगस्यापि असक्यत्वात् । अयमभिप्रायः श्रद्धानसहचारिबोधाभावाच्छ्रुतमप्यश्रुतमिति । 'तह तह क्लृप्तादिच्छब्द' तथा तथा प्रकृत्यनुपैति । 'नवनवसंवेगसद्भाए' प्रत्यप्रतरधर्मश्रद्धया । ननु च संसाराद्भीस्ता संबंधः ततोऽभ्यमर्शः स्याद-संबंधः न बोधः । संसाराद्भीस्ताहेतुको धर्मपरिणामः । आयुचनिपातभीस्ताहेतुककवचग्रहणवत् । तेन संबंधशब्दः कार्यं धर्मं वर्तते ॥१०४॥

निष्कंपतास्थानायाह—

आयापायविदण्हू दंसणणाणतवसंजमे ठिच्चा ।

विहरदि विमुज्जमाणो जावज्जीवं दु णिककंपो ॥१०५॥

टी०—जैसे-जैसे श्रुतका अवगाहन करता है अर्थात् शब्द रूप श्रुतके अर्थको जानता है । वह श्रुत 'अतिशयरस प्रसर' होना चाहिये । अन्य धर्मोंमें जो अर्थ नहीं पाया जाता उसे 'अतिशय-रस' कहा है । क्योंकि शब्दका रस उसका अर्थ है वही उसका सार है । जैसे आभ्रफलविका रस । प्रसर शब्दसे अतिशयित अर्थकी बहुलता सूचित होती है । अतः 'अतिशयितरस प्रसर' का अर्थ है—अतिशय अभिधेयसे भरा हुआ श्रुत ।

शब्दा—अन्य मतावलम्बी भी अपने सिद्धान्तकी प्रशंसा करते हैं ?

समाधान—प्रत्यक्ष और अनुमानसे विरुद्ध अर्थके स्वरूप केवल नित्यता या केवल अनित्यता का कथन करने वाले आगम अतिशय अर्थबहुल नहीं हैं । जिस आगमका अर्थ अन्य प्रमाणोंसे प्रमाणित होता है वही आगमार्थ अतिशयित होता है, अन्य नहीं । तथा वह अश्रुतपूर्व जो पहले नहीं सुना, होना चाहिये ।

शब्दा—भय और अभय जीवोंके कानोंमें श्रुत सुननेमें आता ही है तब आप अश्रुत पूर्व कैसे कहते हैं ? यदि श्रुतके अर्थका ज्ञान न होनेसे शब्दमात्र श्रुतको अश्रुत कहते हैं तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि अर्थके उपयोगका भी अनेक बार ज्ञान हो जाता है ?

समाधान—अभिप्राय यह है कि श्रद्धान पूर्वक ज्ञान न होनेसे श्रुत भी अश्रुत होता है । तो जैसे श्रुतका अवगाहन करता है वैसे वैसे नई नई धर्मश्रद्धासे युक्त होता है ।

शब्दा—संसारसे भीस्ताको संवेग कहते हैं । तब आपका अर्थ धर्म ठीक नहीं है ।

समाधान—इसमें कोई दोष नहीं है । संसारसे भीस्ता धर्म परिणामका कारण है । जैसे शस्त्रके आघातके भयसे कवच ग्रहण करते हैं इससे संवेग शब्द संवेगका कार्य जो धर्म है उसको कहता है ॥ १०४ ॥

अज्ञानावस्थिक्कं वृद्धिहानिक्रमः । प्रवचनान्म्यासादेवं रत्नत्रयाभिवृद्धिः एवं तथा हानिरिति यो
 भागति मत्तौ । 'संशयकारणतत्त्वसंज्ञे' शब्दाने, ज्ञाने, तपसि, संयमे वा । 'डिक्का' स्थित्वा । 'विहृति'
 प्रवर्तते । 'विपुष्पकाश्या' वृद्धिमुपयात् । 'आकम्पी' जीवितकालावधि । तु शब्दोऽन्ते नेयः । 'विष्कंयो हु'
 विनिष्कंयो निष्कक एवेति यावत् । निःशंकितत्वादिना दशनस्य वृद्धिः, शंकादिना हानिः । अर्थव्यञ्जनतदु-
 भयवृद्ध्या स्वाभ्याये चोपयोगात् ज्ञानवृद्धिः । अनुपयोगादपूर्वाभावेहृत्वाच्च ज्ञानहानिः । यथा चोक्तम्—
 "बुधवर्द्धिर्षं चि शब्दं 'संशुद्धिद्वयुत्तजोत्तिस' इति । तपसो द्वादशविधस्य वृद्धिः संयमभावनाया वीर्याविनि-
 गृहणात् ज्ञानोपयोगात् । हानिः पुनस्तद्विपर्ययावैहिककार्यासंगत्वात् । सम्यक् पापक्रियाम्ब उपरमः संयमः ।
 पापक्रियाश्चाशुभमनोवाक्याययोगाः तेन चारिषं संयमः । 'वापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रं' इति वचनात् । तस्य
 संयमस्य वृद्धिः पंचविंशतिभावनाभिर्हानिं तासा भावनानां अभावेन । श्रुतादिना ज्ञानादीनां गुणदोषं वा
 न वेत्ति । 'अनिर्ज्ञातगुणः कथं गुणानुपबृंहयेत्, अविदितदोषो वा तांस्त्यजेत् । तेन शिक्षायामादरः कार्यः ॥१०५॥

जिनवचनशिक्षा तपः इत्येतदुच्यते—

भारसविहम्मि य तवे सम्भंतरबाहिरे कुसलदिट्टे ।

न वि अत्थि न वि य होहिदि सज्जायसमं तवो कम्मं ॥१०६॥

निष्कम्पताका कथन करते हैं—

शा०—वृद्धि और हानिके क्रमको जानने वाला श्रद्धान, ज्ञान, तप और संयममें स्थित
 होकर शुद्धिको प्राप्त होता हुआ जीवन पर्यन्त विहार करता है वह निश्चल ही है ॥ १०५ ॥

टी०—प्रवचनके अभ्यासे जो यह जानता है कि ऐसा करनेसे रत्नत्रयकी वृद्धि होती है
 और ऐसा करनेसे हानि होती है वह श्रद्धान, ज्ञान, तप, और संयममें स्थित होकर शुद्धिको प्राप्त
 करता हुआ जीवन पर्यन्त विहार करता है निष्कम्प अर्थात् निश्चल ही है ।

निःशंकित आदि गुणोंसे सम्यग्दर्शनकी वृद्धि होती है और शंका आदिसे हानि होती है ।
 अर्थशुद्धि, व्यञ्जनशुद्धि और उभयशुद्धिसे तथा स्वाभ्यायमें उपयोग लगानेसे ज्ञानकी वृद्धि होती
 है । उपयोग न लगानेसे तथा नवीन अपूर्व अर्थको ग्रहण न करनेसे ज्ञानकी हानि होती है । कहा
 है—पूर्वमें ग्रहण किया हुआ भी ज्ञान, जो उसमें उपयोग नहीं लगाता उसका घट जाता है ।
 संयमको भावनासे व अपनी शक्तिको न छिपाकर ज्ञानमें उपयोग लगानेसे बारह प्रकारके तपकी
 वृद्धि होती है । उससे विपरीत करनेसे और लौकिक कार्योंमें फँसे रहनेसे तपकी हानि होती है ।
 पाप क्रियाओंसे सम्यक् रीतिसे विरत होनेको संयम कहते हैं । अशुभ मनोयोग, अशुभ वचन योग
 और अशुभकाय योग पापक्रिया है । अतः चारित्र संयम है । कहा भी है—'पाप क्रियाओंसे
 निवृत्ति चारित्र है ।' उस संयमकी वृद्धि पञ्चोस भावनाओंसे होती है और उन भावनाओंके
 अभावसे संयमकी हानि होती है । शास्त्राभ्यासके विना ज्ञान आदिके गुण अथवा दोषको नहीं
 जानता । जो गुणोंको नहीं जानता वह कैसे गुणोंको बता सकता है । और जो दोषोंको नहीं
 जानता वह कैसे उन्हें छोड़ सकता है ? अतः शिक्षामें आदर करना चाहिये ॥ १०५ ॥

जिनवचनकी शिक्षा तप है, यह कहते हैं—

१. संशुद्धिविजु-मु० । २. अज्ञात-आ० मु० ।

'कारसंविद्धिम् व' द्वावशप्रकारे । 'तपे' उपति । 'सर्वमंतरवाहिरे' सहाभ्यन्तरबाह्याभ्यां बतति इति साम्यंतरबाह्यं । बाह्यमभ्यंतरं वा तपो भुक्त्वा किमन्यतपो नाम यत्ताभ्यां सह बतति इत्युच्यते ? तपःसामान्यं विशेषः सह बतति इत्युच्यते । अबाधबंतत्वात् अभ्यहितत्वाच्च अभ्यन्तरशब्दस्य पूर्वमिपातोऽप्यस्वरारवपि बाह्यशब्दात् । 'कुशलसर्वज्ञे' संसारः, संसारकारणं, बन्धो, बंधकारण, मोक्षस्तदुपायः इत्यत्र वस्तुनि ये कुशलाः सर्वविषयस्तर्कपक्षिष्ठे । 'संज्ञात्सर्वं' स्वाध्यायेन सद्बुद्धं । 'तपोकर्म' तपःक्रिया । 'न वि श्चिन्व' नैवास्ति । 'न वि ब' नैव । 'होहिषि' भविष्यति । नाप्यासीदिति कालत्रयेऽपि स्वाध्यायसद्बुद्धस्यान्यस्य तपसोऽभावः कथ्यते । अत्र बोधते—स्वाध्यायोऽपि तपो अनशनाद्यपि तपो बुद्धरेविषोषात् कर्मतपनसामभ्यस्याविषोषात् । किमुच्यते स्वाध्यायसद्बुद्धं तपो नैति ? कर्मनिर्जराहेतुत्वातिशयापेक्षया सद्बुद्धमन्यतपो नैवास्तौत्यभिप्रायः । तपो नाम किमात्मपरिणामो भवेत् न वा ? आत्मपरिणामत्वे कथं कस्यचिद्बाह्यता ? अनात्मपरिणामत्वे न निर्जरा कुर्वन्तं षटादिवदित्यत्रोच्यते—आत्मपरिणाम एव तपः । कथं तर्हि बाह्यता ? बाह्याः सद्वर्त्तमानाधि जनाः तैरप्यवगत्यत्वात् बाह्यमित्युच्यतेऽनशनाधि बाह्यैर्वाचरणात् । सम्मार्गज्ञा अभ्यन्तराः । तत्रवगम्यत्वात्-तैराचरितत्वाद्वा बाह्याभ्यन्तरमिति सूरेरभिप्रायः ॥

शा०—सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट अभ्यन्तर और बाह्यमेद सहित बारह प्रकारके तपमें स्वाध्यायके समान तपक्रिया नहीं है और न होगी ही ॥ १०६ ॥

टी०—शंका—बाह्य और अभ्यंतर तपको छोड़कर अन्य तप क्या है जो बाह्य अभ्यन्तर सहित बारह प्रकारका तप कहते हो ?

समाधान—सामान्य तप विशेषोंके साथ रहता है यह कहनेका अभिप्राय है । यद्यपि बाह्य शब्दमें अल्प स्वर है फिर भी अभ्यन्तर शब्दके आदिमें अच् होनेसे तथा पूज्य होनेसे अभ्यन्तर शब्दको प्रथम स्थान दिया है । संसार और संसाग्के कारण, बन्ध और बन्धके कारण तथा मोक्ष और उसके उपाय इन वस्तुओंमें जो कुशल सर्वज्ञ हैं उनके द्वारा उपदिष्ट तपोंमें स्वाध्यायके समान तप न है, न होगा और न था, इस प्रकार तीनों कालोंमें स्वाध्यायके समान अन्य तपका अभाव कहा है ।

शंका—स्वाध्याय भी तप है और अनशन आदि भी तप है । दोनोंमें ही कर्मको तपनेकी शक्ति समान है । फिर कैसे कहते है कि स्वाध्यायके समान तप नहीं है ?

समाधान—कर्मोंकी निर्जरामें हेतु जितना स्वाध्याय है उतना अन्य तप नहीं है इस अपेक्षासे उक्त कथन किया है ।

शंका—तप, क्या आत्माका परिणाम है अथवा नहीं है ? यदि आत्माका परिणाम तप है तो वह कैसे हुआ ? यदि तप आत्माका परिणाम नहीं है तो वह कर्मोंकी निर्जरा नहीं कर सकता जैसे घट ।

समाधान—आत्माका परिणाम ही तप है । तब आप कहेंगे कि वह बाह्य कैसे है ? समीचीन धर्ममार्गसे जो लोग बाह्य हैं वे भी उन्हें जानते हैं इसलिए अनशन आदिको बाह्य तप कहा है, क्योंकि बाह्य लोग भी उन्हें करते हैं । जो समार्गको जानते हैं वे अभ्यन्तर हैं । उनके द्वारा ज्ञात होनेसे अथवा उनके द्वारा पालन किये जानेसे अभ्यन्तर कहे जाते हैं । इस प्रकार तप

प्रतिज्ञामान्ग स्वाम्यावस्थान्यतपोन्धोऽतिशयितता न सिद्धयतीति मन्थमान प्रति अतिशयमाधनायाह—

अं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।

तं णाणी तिहिं गुणो खवेदि अंतोमुहुत्तेण ॥१०७॥

अट्ठमदसमदुबालसेहिं अण्णाणियस्स जा मोही ।

तपो बहुगुणदरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स ॥१०८॥

'अं' यत् । 'अण्णाणी' सम्यग्ज्ञानरहितः । 'कम्म' कर्म । 'खवेदि' क्षयति । 'भवसवसहस्सकोडीहिं' भवसतसहस्रकोटिभिः । 'तं' तत् कर्म । 'णाणी' सम्यग्ज्ञानवान् । 'तिहिं गुणो' त्रिगुणियुक्तः । 'खवेदि' क्षयति । 'अंतोमुहुत्तेण' अन्तर्मुहूर्तमानेण । अटिति कर्मज्ञातनसामर्थ्यं तपसांऽप्यस्य न विद्यते ऽत्ययमातवय स्वाध्यायस्य ॥१०७॥

स्वाध्याये उद्यतो गुप्तिभावनाया प्रवृत्तो भवति । तत्र च वृत्तस्य रत्नत्रयाराधनं सुखेन भवति इत्युत्तर-
गाथया कथ्यते—

सज्झायभावणाए य भाविदा होति सज्वगुचीओ ।

गुचीहिं भाविदाहिं य मरणे आराधओ होदि ॥१०९॥

मनोवाक्कायव्यापारा. कर्मादानहेतव. सर्व एव व्यावर्तते स्वाध्याये सति, ततो भाविता भवन्ति गुप्तयः । कृताभिमतावियोगप्रयनिरोधश्च रत्नत्रय एव घटते इति सुखसाध्यता । अनतकालाम्भस्तागुभ-

वाह्य और अभ्यन्तर कहे गये है ऐसा आचार्यका अभिप्राय है ॥१०६॥

जो कहता है कि केवल कहने मात्रसे स्वाध्यायकी अन्य तपोसे श्रेष्ठता सिद्ध नहीं हो सकती, उसके प्रति श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं—

गा०—सम्यग्ज्ञानसे रहित अज्ञानी-जिस कर्मको लाख करोड़ भवोंमें नष्ट करता है, उस कर्मको सम्यग्ज्ञानी तीन गुणियोंसे युक्त हुआ अन्तर्मुहूर्तमात्रमें क्षय करता है ॥१०७॥

गा०—अज्ञानीके दो, तीन, चार, पाँच आदि उपवास करनेसे जितनी विशुद्धि होती है उससे बहुत गुणी शुद्धि जीमते हुए ज्ञानीके होती है ॥१०८॥

टी०—इतनी शीघ्रतासे कर्मोंको काटनेकी शक्ति अन्य तपमें नहीं है, यह स्वाध्यायका अतिशय है ॥१०८॥

जो स्वाध्यायमें तत्पर होता है वह गुप्ति भावनामें प्रवृत्त होता है । और जो गुप्ति भावनामें प्रवृत्त होता है वह रत्नत्रयकी आराधना सुख पूर्वक करता है वह आगेकी गाथासे कहते है—

बा०—स्वाध्याय भावनासे सब गुणियाँ भावित होती हैं । और गुणियोंकी भावनासे मरते समय रत्नत्रय रूप परिणामोंकी आराधनामें तत्पर होता है ॥१०९॥

टी०—स्वाध्याय करनेपर मन वचन कायके सब ही व्यापार, जो कर्मोंके लानेमें कारण हैं बन्दे जाते हैं । ऐसा होनेसे गुणियाँ भावित होती हैं । और तीनों योगोंका निरोध करने वाला मुनि रत्नत्रयमें ही क्लृप्ता है । अतः रत्नत्रय सुख पूर्वक साध्य होता है, इसका भाव यह है कि

योगव्यस्य कर्मोदवसह्यस्य व्यावर्तनमतिदुष्करं स्वाध्यायभावनैव क्षमा कर्तुमिति भावः । 'सन्नाथत्वान्नाथत्वात्' यं स्वाध्यायभावनया वा । 'भाविष्ठा' भाविताः । 'होति' भवन्ति । 'सन्धुमुत्तो' सर्वगुण्यः । 'पुत्तो' नृप्तिभिः । 'भाविष्ठा' भाविताभिः । 'वरणे' मरणकाले । 'आराधयो' रत्नत्रयपरिणामाराधनपरः । 'होषि' भवति । स्वाध्यायभावनारतः परस्वीपदेशको भवन् इतरोज्जः कमपकार परस्य सपादयेदभ्यस्य ॥१०९॥

परस्वीपदेशकत्वे किमस्यायातमित्यत्राह—

आदपरसमुद्धारो आणा वच्छल्लदीवणा भची ।

होदि परदेसगत्ते अब्योच्छिन्ती य तित्थस्स ॥११०॥

'आदपरसमुद्धारो' आत्मनः परस्य वा उद्धरणमुद्दिश्य व्यापृतः स्वाध्याये स्वकर्माभ्युपनि साधयति परेषामभ्युपयुक्तानां । 'आणा' 'अयोनिमा हि जिनशासनवस्सलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेशः' (वरांगव० १।२३।) इत्याज्ञा सर्वविदा, सा परिपालिता भवतीति शेषः । 'वच्छल्लदीवणा' वात्सल्यप्रभावना परेषामुपदेशकत्वे कृता भवति । 'भत्ती' भक्तिवच कृता भवति जिनवचने तदभ्यासात् । 'होषि' भवति । 'परदेसगत्ते' परेषामुपदेशकत्वे सति । 'अब्योच्छिन्ती' यं अब्युच्छित्तिश्च । 'तित्थस्स' तिसु चिद्विदिति तित्थ मोक्षमार्गः श्रुतं वा । श्रुतमपि रत्नत्रयनिरूपणे व्यापृतत्वात् तत्रस्य भवति । ततोऽयं अर्थः—श्रुतस्य मोक्षमार्गस्य वा अब्युच्छित्तिरिति ॥ ११०॥ सिक्खा मदा ॥

लिंगब्रह्माण्डं ज्ञानसंपत्तिः कार्या, ज्ञानसंपत्तिं वर्तमानेन विनयोजुष्ठातव्य । स च पंचप्रकार इत्याह—

विणओ पुण पंचविहो णिट्ठो णाणंदंसणचरिणे ।

तवविणवो य चउत्थो चरिमो उवयारिओ विणओ ॥१११॥

अनन्तकालसे जिन तीन अशुमयोगांका इस जीवने अभ्यास किया हुआ है और कर्मका उदय जिसका सहायक है उससे अलग होना अत्यन्त कठिन है । स्वाध्यायकी भावना ही इसे करनेमें समर्थ है ॥१०९॥

जो स्वाध्यायकी भावनामें लीन रहता है वह दूसरोंको भी उपदेश करता है किन्तु जो स्वयं अज्ञानी है वह किसी अन्य भयिका भी क्या उपकार कर सकता है ? ऐसी स्थितिमें परको उपदेश देनेपर इसे क्या लाभ है, यह कहते हैं—

भा०—टी०—अपने और दूसरोंके उद्धारके उद्देशसे जो स्वाध्यायमें लगता है वह अपने भी कर्मोंको काटता है और उसमें उपयुक्त दूसरोंके भी कर्मोंको काटता है । सर्वज्ञ भगवानकी जो आज्ञा है कि कल्याणके इच्छुक जिन शासनके प्रेमीको नियमसे धर्मोपदेश करना चाहिये, उसका भी पालन होता है । दूसरोंको उपदेश करने पर वात्सल्य और प्रभावना होती है । जिन वचनके अभ्यासे जिन वचनमें भक्ति प्रदर्शित होती है । दूसरोंको उपदेश करनेपर मोक्षमार्ग अथवा श्रुतरूप तीर्थकी अब्युच्छिन्ती—परम्पराका अविनाश होता है । श्रुत भी रत्नत्रयके कथनमें संलग्न होनेसे तीर्थ है । अतः स्वाध्याय पूर्वक परोपदेश करनेसे श्रुत और मोक्षमार्गका विच्छेद नहीं होता । वे सदा प्रवर्तित रहते हैं ॥११०॥

लिंग स्वीकार करनेके पश्चात् ज्ञानरूप सम्पदाका संचय करना चाहिये । और ज्ञान सम्पदाका संचय करते हुए विनय करनी चाहिये । उसके पाँच शेष हैं—उन्हें कहते हैं—

विनयवचनयति यत्कर्मशुभं सद्दिनयः । तथा चोक्तं—“काला विनयेदि कर्मं अट्ठविहं चाउरं
 ओषो ब” (सूत्रधार ७।८१) इति । ‘बुध’-वचनत्वात् जिनवचनान्यासोत्तरकालं । ‘बंधविहो’ पंचप्रकारः ।
 ‘विहो’-निदिष्टः । ‘अत्तबंसचरित्तो’ विषयलक्षणं सप्तमी । ज्ञानदर्शनचारित्रविषयः ॥ ‘तथाविषयो य’
 तपति विनयवच ॥ ‘अत्ततो’ चतुर्थः । ‘अत्तो’ अन्त्यः ॥ ‘उत्तवारित्तो विषयो’ उपचारविनयवचति ॥

ज्ञानविनयमेवात्राचष्टे—

काले विषये उवघाणे बहुभाणे तद्देव विणहवणे ।

बंधन अत्थ तदुभये विणओ णाणम्मि अट्ठविहो ॥१२२॥

‘काले’ स्वाध्यायवाचनकालविह कालशब्देन गृह्यते । अन्यथा कालमन्तरेण कस्यचिदपि वृत्त्यभावात्
 कालग्रहणमनर्थकं स्यात् । भवतु नाम कालविशेषः कालशब्दवाच्यः तथापि नासौ विनयो न कर्म व्यपनयतीति,
 यदि व्यपनयेत्सर्वस्वाकर्मबला प्राप्नुयात् । ‘काले’ इति सप्तम्यन्त पदं । तेन वाक्यशेषपुरस्तरौष्यं सूत्रार्थो
 भावते । साध्याहारत्वात् सर्वं सूत्रार्थं । काले अध्ययनमिति । परिवर्जनीयत्वेन निदिष्टं कालं संध्यापूर्व-
 विन्धाहोल्कापातादिकं परिहृत्याध्ययनं कर्म विनयति इति विणए इति प्रथमान्तः । विनयः श्रुतश्रुतधर-
 माहात्म्यस्तवनं श्रुतश्रुतधरभक्तिरिति यावत् ।

शा०—जिनवचनके अभ्यासके पश्चात् विनय पाँच प्रकारकी कही है । ज्ञानविनय दर्शन-
 विनय चारित्रविनय और चतुर्थं तपविनय और अन्तिम उपचार विनय है ॥१२१॥

टी०—‘विनयति’ जो अशुभ कर्मको दूर करती है वह विनय है । कहा है—यतः आठ
 प्रकारके कर्मोंको दूर करती है अतः विनय है ॥१२१॥

ज्ञान विनयके भेदोंको कहते हैं—

शा०—काल, विनय, उपधान, बहुमान, तथा निह्वव, व्यंजनशुद्धि, अर्थशुद्धि, उभयशुद्धि
 ये ज्ञानके विषयमें आठ प्रकारकी विनय है ॥१२२॥

टी०—यहाँ काल शब्दसे स्वाध्यायकाल और वाचन काल ग्रहण किये जाते हैं । अन्यथा
 कालके बिना किसीका भी अस्तित्व संभव न होनेसे कालका ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा ।

शांका—काल शब्दका वाच्य काल विशेष रहे । किन्तु काल विनय नहीं है क्योंकि काल
 कर्मको नष्ट नहीं करता । यदि करे तो सब ही जीव कर्म रहित हो जायेंगे ?

सत्त्वाधान—‘काले’ यह सप्तमी विभक्तिसे युक्त पद है अतः इसके साथमें शेष वाक्य जोड़ने
 से सूत्रार्थ होता है; क्योंकि सभी सूत्र अध्याहार सहित होते हैं । उनमें ऊपरसे कुछ वाक्य जोड़ना होता
 है । अतः ‘कालमें अध्ययन’ यह उसका अर्थ होता है । सन्ध्या, पूर्व, किसी, दिशामें आग लगना,
 उल्कापात आदि जो काल छोड़ने योग्य कहे हैं उन कालोंको छोड़कर किया गया अध्ययन कर्मको
 नष्ट करता है । ‘विणए’ यह प्रथमान्त शब्द है । श्रुत और श्रुतके धारकोंके माहात्म्यका स्तवन
 अर्थात् श्रुत और श्रुतके धारकोंकी भक्ति विनय है ।

१ ‘काले’……‘प्राप्नुयात्’ इत्येतद् प्रतिषु उत्पानिकारूपेण लिखितम् ।

‘अच्छुभे’ अवग्रहः । याचश्चिदमनुबोधद्वारं निष्ठाभूपैति तावदिवं मया न भोग्गम्, इदं अनशनं चतुर्थ-
वच्छादिकं करिष्यामीति संकल्पः । स च कर्म व्यपनयतीति विनयः ।

‘अनुभावे’ सम्मानं । शुभेः कृताञ्जलिपुटस्य अनासिप्तमनसः सावरमभ्ययनं । ‘तद्’ तथा ।

‘अनिहृद्यचे’ अनिहृद्यचच निहृद्योऽप्रकायः । कस्यचित्प्रकाये श्रुतमधीत्याप्तो गुणरित्यभिधानमपलायः ।
बंधव आच लघुबन्धे व्यंजनं शब्दप्रकाशनं, अर्थः शब्दवाच्यः, तदुभयशब्देन व्यंजनमर्थश्च निदिश्यते । बंधव
वत्त्वतदुभये व्यंजनं च अर्थाच्च तदुभयं चेति द्वंद्वे कृते सर्वो द्वंद्वो विभाषया एकवद् भवतीति एकवद्भाषार्थस्य
एकवचनं कृतं । अर्थशब्दस्य अजाद्यतत्वत्वात्प्राप्तत्वाच्च पूर्वनिपातप्रसंग इति चेन्न, सर्वतोऽभ्यर्हितं पूर्वं
निपातति इति व्यंजनशब्दः पूर्वं प्रयुज्यते । कथमभ्यर्हितं ? स्वयं परप्रत्ययहेतुत्वात्स्वयं च शब्दश्रुतादेवार्था-
वाच्यत्वमवैति परं भावबोधयति । अत्र च ‘बंधववत्त्वतदुभये शुद्धी’ इति शेषः ।

तत्र व्यंजनशुद्धिर्नाम यथा गणधरादिभिर्द्वितीयसहस्रावर्जितानि सूत्राणि कृतानि तेषां सर्वैव पाठः ।
शब्दश्रुतस्यापि व्यज्यते भावते अनेनेति विग्रहे ज्ञानशब्देन गृहीतत्वात् तन्मूलं हि श्रुतज्ञानं ।

उपधानका अर्थ अवग्रह है । जब तक आगमका यह अनुयोगद्वार समाप्त नहीं होता तब
तक मैं अमुक वस्तु नहीं खाऊंगा । या यह अनशन या चतुर्थ अथवा वच्छम उपवास कर्त्तगा इस
प्रकारका संकल्प अवग्रह है । वह भी कर्मको दूर करता है अतः विनय है ।

बहुभागका अर्थ सम्मान है । पवित्र हो, दोनो हाथ जोड़ और मनको निश्चल करके
सावर अभ्ययन बहुमान है ।

निहृद्य अपलायको कहते हैं । किसीके पासमें अध्ययन करके उससे अन्यको गुरु कहना है
अपलाय है ।

व्यंजन शब्दके प्रकाशनको कहते हैं । शब्दके वाच्यको अर्थ कहते हैं । ‘तदुभय’ शब्दसे
व्यंजन और अर्थ कहे जाते हैं । ‘व्यंजन और अर्थ और तदुभय’ इस प्रकार द्वन्द्व समास करनेपर
सब द्वन्द्वोंमें विकल्पसे एकवद्भाव होता है इसलिये एक वचन किया है ।

शंका—अर्थ शब्दके आदिमें अच् होनेसे और अल्प अच्वाला होनेसे पूर्व निपातका अर्थात्
प्रथम रखनेका प्रसंग आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जो सबसे पूज्य होता है वह प्रथम रखा जाता है इसलिये
व्यंजन शब्दका प्रयोग पहले किया है ।

शंका—व्यंजन सबसे पूज्य क्यों है ?

समाधान—व्यंजन अर्थात् शब्द स्वयं दूसरोंको ज्ञान करानेमें हेतु है, और स्वयं शब्द श्रुत
से ही वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जानता है तथा दूसरोंको ज्ञान कराता है ।

यद्वा व्यंजन अर्थ और तदुभयके साथ शुद्धि शब्द लयाना चाहिये । गणधर आदिने जैसे
बर्तिस दोषेंसे रहित सूत्र रचे हैं उनका वैया ही पाठ व्यंजन शुद्धि है । ‘व्यज्यते’ अर्थात् जिसके
द्वारा जाना जाता है ऐसा विग्रह करनेपर ज्ञान शब्दसे शब्दश्रुतका भी ग्रहण होता है क्योंकि
श्रुतज्ञानका मूल शब्द है ।

अथ अर्थशाब्देन किमुच्यते ? व्यंजनशब्दस्य 'छानिष्यादर्थशब्दः छब्बाविधेये नसंते, तेन सूत्रार्थोऽर्थ इति वृत्तते । तस्य का शुद्धिः ? अविपरीतरूपेण सूत्रार्थनिरूपणायां अर्थाधारत्वात्प्रकृत्याया अवैपरीत्यस्य अर्थ-
शुद्धिरित्युच्यते । सूत्रार्थनिरूपणायाः शब्दश्रुतत्वादाविपरीतनिरूपणापि व्यंजनशुद्धिरेव भवतीति नार्थशुद्धिः
कदाचित्ति चेत्, न परकृतं शब्दश्रुता विपरीतपाठे । व्यंजनशुद्धिस्तदर्थनिरूपणाया अवैपरीत्यं अर्थशुद्धिः ।
शब्दश्रुते तु अर्थवाच्यत्वप्रतिभासोऽर्थशुद्धिः ॥

तदुभयशुद्धिर्नाम तस्य व्यंजनस्य अर्थस्य च शुद्धिः ।

ननु व्यंजनार्थशुद्धयोः प्रतिपादितयोः तदुभयशुद्धिर्गृहीता न तद्व्यतिरेकेण तदुभयशुद्धिर्नास्ति ततः
कथमष्टत्रिधत्ता ? अत्रोच्यते—पुरुषमेवापेक्षयैर्षं निरूपणा—

कश्चिदविपरीतं सूत्रार्थं व्याचष्टे सूत्रं तु विपरीतं पठति । ततश्चा न कार्यमिति व्यंजनशुद्धिरक्ता ।
अन्वयस्तु सूत्रमविपरीतं पठन्मपि निरूपयत्यन्वया सूत्रार्थं इति तस्मिन्नाकृतयेऽर्थशुद्धिश्चाहता । अपरस्तु सूत्रं
विपरीतमधीते सूत्रार्थं च कथमित्युक्तमो विपरीतं व्याचष्टे तदुभयापाकृतये उभयशुद्धिरुच्यते । अथमष्ट-
प्रकारो ज्ञानाभासपरिकरोऽष्टविधं कर्म विनयति व्यपनयति विनयसम्बन्धाभ्यां भवतीति सूरेरभिप्रायः ॥११२॥

व्यंजन शब्दकी समीपतासे अर्थशब्द शब्दके वाच्यको कहता है अतः अर्थसे सूत्रार्थका
ग्रहण होता है । अविपरीत रूपसे सूत्रके अर्थकी निरूपणामें निरूपणाका आधार अर्थ होता है ।
अतः निरूपणाकी अविपरीतताको अर्थ शुद्धि कहते हैं अर्थात् सूत्रके अर्थका यथार्थ कथन अर्थ
शुद्धि है ।

शंका—सूत्रके अर्थकी निरूपणा शब्दश्रुत रूप होती है अतः अविपरीत निरूपणा भी
व्यंजन शुद्धि ही हुई, अर्थ शुद्धि कभी भी नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि दूसरेके द्वारा किया गया शब्दश्रुतका अविपरीत पाठ व्यंजन
शुद्धि है । और उसके अर्थका अविपरीत निरूपण अर्थ शुद्धि है । किन्तु ज्ञानरूप श्रुतमें अर्थका
ठीक-ठीक ज्ञान अर्थ शुद्धि है । व्यंजन और अर्थकी शुद्धिको तदुभय शुद्धि कहते हैं ।

शंका—व्यंजन शुद्धि और अर्थशुद्धिके कहनेपर तदुभय शुद्धि आ जाती है क्योंकि उन
दोनों शुद्धियेकि बिना तदुभय शुद्धि नहीं होती । तब आठ भेद कैसे रहे ?

समाधान—यह निरूपणा पुरुष भेदकी अपेक्षासे है । कोई व्यक्ति सूत्रका अर्थ तो ठीक कहता
है किन्तु सूत्रको विपरीत पढ़ता है । ऐसा नहीं करना चाहिये इसके लिए व्यंजन शुद्धि कही है ।
दूसरा व्यक्ति सूत्र तो ठीक पढ़ता है किन्तु सूत्रका अर्थ अन्यथा कहता है उसके निराकरणके लिये
अर्थ शुद्धि कही । तीसरा व्यक्ति सूत्रको ठीक नहीं पढ़ता और सूत्रका अर्थ भी विपरीत करता है ।
इन दोनोंको दूर करनेके लिये उभय शुद्धि कही है । यह आठ प्रकारका ज्ञानाम्यासका परिकर
आठ प्रकारके कर्मोंका विनयन करता है उन्हें दूर करता है इसलिये उसे विनय शब्दसे कहते हैं
यह आचार्यका अभिप्राय है ॥११२॥

१. कस्य मां-आ० श्रु० । २. विपरीत-आ० श्रु० । ३. श्रुतवि०-अ० ।

दर्शनविनयसूचनपरोत्तरजाया—

उबगूहणादिया पुबुचा तह भक्तियादिया य गुणा ।
संकादिवज्जर्ण पि णेओ सम्मत्तविणओ सो ॥११३॥

उबगूहणादिया उपबृंहणादिकाः । उपबृंहणं, स्थितिकरणं, वात्सल्यं, प्रभावना चेत्येते । 'पुबुचा' पूर्वाचार्यैक्यताः पूर्वोक्ताः । अस्मात् सूत्रात्पूर्वेण च सूत्रेण "उबगूहणादिविकरणं वज्जर्णपभावना भक्तिया" इत्यनेनोक्ताः पूर्वोक्ताः । पूर्वोक्ता वा सम्मत्तविणओ सम्यक्त्वविनय इति सबधनीयं । 'सच भक्तियादिया च गुणा' तथा भक्त्यादिकाश्च गुणाः विनयस्तथा ते तत्रकारेण अवस्थिताः इति । अहंदादिविषया भक्त्यादिगुणा इति भावः । 'संकादिवज्जर्ण पि ष' संकादिवर्जनं च । चसब्दः पादपूरणः । 'णेओ' ज्ञेयः ॥ 'सम्मत्तविणओ' सम्यक्त्वविनय इति ॥ उपबृंहणादीनां भक्त्यादीनां च गुणानां बहुत्वात् तेषामेव च विनयत्वात् सम्मत्तविणया इति बाध्यमिति चेत्, विनयसामान्यापेक्षया तस्यैकत्वादेकवचनेन परसंस्कारः कृतो न निवर्तते । न च पदांतर-बाध्यापेक्षया बहुत्वमस्तीत्येतावता अप्रतिपदिक्त्वात् सुबुत्पद्यते । तथा च प्रयोगः वृक्षा वनमिति ॥११३॥

चारित्रविनयनिरूपणापरा गाथा—

इदियकसायपणिभाणं पि य गुत्तीओ षेव समिदीओ ।
एसो चरित्तविणओ समासदो होइ णायच्चो ॥११४॥

आगे दर्शनविनयका कथन करते हैं—

भा०—पूर्वोक्त उपबृंहण या उपबृंहण आदि तथा भक्ति आदि गुण, शंका आदिका त्याग यह सम्यक्त्वविनय जानो ॥११३॥

टी०—पूर्वोक्त अर्थात् पूर्वाचार्योक्ति द्वारा कहे गये, या इससे पहलेके गाथा सूत्र 'उबगूहण द्विविकरणं वज्जर्णपभावना भण्डा' के द्वारा कहे गये उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये गुण सम्यक्त्वविनय हैं । तथा अहंन्त आदि विषयक भक्ति आदि गुण सम्यक्त्वविनय हैं और शंका आदि दोषोका त्याग सम्यक्त्व विनय है ।

शंका—उपबृंहण आदि और भक्ति आदि गुण बहुत हैं और वे गुण ही सम्यक्त्वकी विनय रूप हैं । इस लिये गाथामें 'सम्मत्तविणया' इस प्रकार बहुवचनका प्रयोग करना चाहिये ?

समाधान—विनय सामान्यकी अपेक्षा सम्यक्त्व विनय एक है अतः एक वचन पदका प्रयोग किया है । विनय पदके बाध्य बहुत होनेसे बहुपना संभव नहीं है क्योंकि 'वृक्षा वनम्' ऐसा प्रयोग होता है अर्थात् वृक्ष बहुत होनेसे 'वन' में बहुवचनका प्रयोग जैसे नहीं हुआ वैसे ही यहाँ भी जानना ॥११३॥

अब चारित्र विनयका कथन करते हैं—

भा०—इन्द्रिय और कषायरूपसे आत्माकी परिणति न होना, और गुप्तियाँ और समितियाँ, यह संक्षेपसे चारित्र विनय ज्ञातव्य है ॥११४॥

१ नमादीया अ० । २. भक्तियादि गुणा अ० ।

ईदृशिकलावयवविधानं वि ब । इन्द्र आत्मा तस्य सिर्गनिर्ग्रियं । धत्करणं तत्कर्तुमश्या—परशुः । करणं च बहुवचनिकं । तेनास्य कर्मा केनचिद्भ्राम्यमिति । तस्य द्विविधं द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियमिति । तत्र द्रव्येन्द्रियं नाम निर्मुत्पुपकरणम् । मसूरिकादिसंस्थानो यः शरीरावयवः कर्मणा निर्वास्यते इति निर्वृतिः । उपक्रियतेऽनुबृहते ज्ञानसाधननिर्ग्रियमनेनेत्पुपकरणं क्षणित्तदुक्तकृष्णात्तारकादिकं । भावेन्द्रियं नाम ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषोपलब्धिः । द्रव्येन्द्रियनिमित्तरूपादनुपलब्धिश्च । इह इन्द्रियशब्देन मनोज्ञानमोक्षरूपादिसंनिधौ रापकोपाजुषरूपादिनिर्वासाः प्रतीतयो गृहीताः ।

कथयति हिंसति आत्मज्ञेनमिति कथायाः । अथवा तस्मात्^१वत्करणतः कथायः, कथाय इव कथाय इत्पुपमाद्वारेण क्रोधाद्यौ वर्तते कथायशब्द उपमार्थः । यथा कथायो वस्त्रादेः शोक्त्यशुद्धिमपनयति, निराकर्तुं चासक्यस्तद्व्यात्मनो ज्ञानवर्शनशुद्धिं विनाशयति, आत्मावलम्बनश्च दुःखेनापोह्यते इति । यथा वा पटादेः स्वैर्यं करोति कथायस्तद्वैव कर्मणा स्थितिप्रकर्षमात्मनि निरधाति क्रोधादिः । इन्द्रियाणि च कथायाश्च इन्द्रिय-कथायाः । इन्द्रियकथाययोः अप्रणिधानं अनाज्ञेयः आत्मनो व्यावर्णितेन्द्रियकथायापरिणतिः । 'गुप्तौ औ वैभ' गुप्तयश्च । संसारकारणाव्यावर्णनी यौषर्षं गुप्तिः ।

संसारस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभवपरिवर्तनस्य कारणं कर्म ज्ञानावरणादि । तस्मात्संसारकारणाव्यात्मनो

टी०—इन्द्र आत्माको कहते हैं । उसका लिंग इन्द्रिय है । जो करण होता है वह कर्तावाला है जैसे परशु । चक्षु आदि करण है । अतः उनका कोई कर्ता होना चाहिये । वह इन्द्रिय दो प्रकार की है—भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय । उनमेंसे निर्वृति और उपकरण द्रव्येन्द्रिय है । कर्मकेद्वारा जो मसूर आदिके आकाररूप शरीरका अवयव रचा जाता है वह निर्वृति है । और जिसके द्वारा ज्ञानकी साधन इन्द्रिय उपकृत होती है वह उपकरण है । जैसे आँखके पलक, आँखकी काली सफेद तारिका । ज्ञानावरणके क्षयोपशम विशेषकी प्राप्तिको भावेन्द्रिय कहते हैं । और द्रव्येन्द्रियके निमित्तसे जो रूपादिका बोध होता है वह भी भावेन्द्रिय है । यहाँ इन्द्रिय शब्दसे मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपादिके प्राप्त होनेपर जो राग और कोपको लिये हुए रूपादिकी प्रतीति होती है उनको ग्रहण किया है ।

जो 'कथयन्ति' आत्माका घात करती है वे कथाय है । अथवा वृक्षोंकी छालके रसको कथाय कहते हैं । कथायके समान जो है वह कथाय है । इस उपमाके द्वारा क्रोधादिको कथाय शब्दसे कहते हैं । यह उपमा रूप अर्थ है । जैसे कथाय—वृक्षकी छालका रस यदि बस्त्रपर लग जाता है तो उसकी सफेदीको हूर लेता है और उसे दूर करना अशक्य होता है । उसी तरह क्रोधादि आत्माकी ज्ञान दर्शन रूप शुद्धिको नष्ट कर देता है । और आत्मासे सम्बद्ध होनेपर बड़े कष्टसे छूटता है । तथा जैसे कथाय वस्त्रादिको टिकाऊ करती है वैसे ही क्रोधादि आत्मामें कर्मों की स्थितिको वृद्धते हैं । इन इन्द्रिय और कथायमें अप्रणिधान अर्थात् आत्माका कहे गये इन्द्रिय और कथाय रूपसे परिणत न होना चारित्र्य विनय है ।

संसारके कारणसे आत्माके गोपनको गुप्ति कहते हैं । द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन भाव परिवर्तन और भव परिवर्तन रूप संसारके कारण ज्ञानावरण आदि कर्म हैं ।

बोधन रक्षा गुप्तिरित्याख्यायते । भावे नितः, अपादानसाधनो वा, यतो बोधनं सा गुप्तिः । बोधयतीति कर्तृसाधनो वा नित् । शब्दाग्रभ्यदस्वेयम् । किं स्वरूपं तस्या इति वेत् । सम्बन्धोपनिग्रहो गुप्तिः । काव-
बाह्यमनःकर्षणं शक्तिरित्याभासो निग्रहः, यन्नेतच्चारिताभासो गुप्तिः । सम्बन्धित विशेषणानुभावापुरस्तरां क्रियां
बोधतेऽन्वयमिति बध्वाभावपक्षे पारलौकिकनिमित्तसुक्तं वा क्रियामाणा गुप्तिरिति कथ्यते । इति सूत्रयो
व्यवस्थिताः । रागकोपाभ्या अनुपप्लुता नोद्दिश्यमतिः मनोगुप्तिरिति श्रुतेः । एवं चायं वक्ष्यति सूत्रकारो
'अनुरागिण्यवती मन्तस्य आत्मा इति नमोगुप्ति' मिति । अनुपप्लवककक्षामिध्यात्वासंयमनिमित्तवचनानां
अवप्लुता आमुप्तिः । अप्रमत्ततया यदप्रत्यवेक्षिताप्रभाजितभूमामेऽवक्रमणं, इव्यांतरावात्मिकेपक्षयनासन-
क्रियाणां अकरणं कायगुप्तिः कायोत्सर्गं वा ।

'समितीको' समितयः । प्राणिपीडापरिहारावरयतः सम्यगयनं प्रवृत्तिः समितिः । सम्यन्विशेषणा-
श्लोचनिकायस्वरूपज्ञानभ्रष्टानपुरस्तरा प्रवृत्तिर्गृहीता । ईर्ष्याभाववशादाननिकोपोत्सर्गः पंचसमितयः । ईर्ष्यावि-
समितीनां वाक्कायगुप्तिभ्यां अविशेषस्ततो भेदेनोपादानमनर्थकं, प्राणिपीडाकारिभ्याः कायक्रियाया निवृत्तिः
कायगुप्तिः, ईर्ष्याविसमितयवच तथाभूतकायक्रियानिवृत्तिरुपा । अनोच्यते—निवृत्तिरुपा गुप्तयः प्रवृत्तिरुपाः
समितयः इति भेदः विशिष्टा गमनभाषणाभ्यबहरणग्रहणनिकोपोत्सर्गक्रियाः समितय इति उच्यन्ते । 'एते'

उन संसारके कारणोंसे आत्माका गोपन अर्थात् रक्षा गुप्ति कही जाती है । यहाँ भाव साधनमें कि प्रत्यय हुआ है । अथवा अपादान साधन कर लेना । जिससे गोपन हो वह गुप्ति है । अथवा जो रक्षा करता है वह गुप्ति है इस कर्तृसाधनमें किन् प्रत्यय करनेसे गुप्ति शब्द बनता है, यह शब्दार्थ व्यवस्था है । गुप्तिका स्वरूप दूसरा है योगके सम्यक् निग्रहको गुप्ति कहते हैं । काय, वचन और मनकी क्रियाओंकी स्वेच्छारिताके अभावको निग्रह कहते हैं । स्वेच्छाचारिताका अभाव गुप्ति है । सम्यक् विशेषणसे पूजा पूर्वक क्रियाकी और यह महान संयमी है इस यशकी अपेक्षाके बिना तथा पारलौकिक इन्द्रिय सुखकी इच्छाके बिना जो योग निग्रह किया जाता है वह गुप्ति कही जाती है । ऐसा आचार्योंने कहा है ।

मनका राग और क्रोध आदिसे अप्रभाषित होना मनोगुप्ति है । आगे ग्रन्थकार कहेंगे—मनका रागादिसे निवृत्त होना मनोगुप्ति है । असत्य, कठोर और कर्कश वचनोंको तथा मिथ्यात्व और असंयममें निमित्त वचनोंको न बोलना वचनगुप्ति है । अप्रमादी होनेसे बिना देखी और बिना बुहारी हुई भूमिमें गमन न करना तथा किसी वस्तुका उठाना, रखना, सोना बैठना आदि क्रियाओंका न करना कायगुप्ति है । अथवा कायसे ममत्वका त्याग कायगुप्ति है ।

प्राणियोंको पीडा न हो, इस भावसे सम्यक् रूपसे प्रवृत्ति करना समिति है । सम्यक् विशेषणसे जीवके समूहोंके स्वरूपका ज्ञान और श्रद्धान पूर्वक प्रवृत्ति ली गई है । समिति पाँच हैं—ईर्ष्या, भाषा, एषणा, आदाननिकोप और उत्सर्ग ।

शंका—ईर्ष्या आदि समितियां वचन गुप्ति और काय गुप्तिसे भिन्न नहीं है । अतः उनका अलगसे कथन व्यर्थ है, क्योंकि प्राणियोंको पीडा पहुँचाने वाली शारीरिक क्रियासे निवृत्तिको काय गुप्ति कहते हैं । ईर्ष्या आदि समितियां भी उसी प्रकारकी कायक्रियाकी निवृत्ति रूप हैं ।

समाधान—गुप्तियां निवृत्ति रूप हैं और समितियां प्रवृत्ति रूप हैं, यह इन दोनोंमें भेद है ।

द्वयः । 'चारित्र्यविनयो' चारित्र्यविनयः । 'समाप्तयो' संक्षेपतः । 'शास्त्रयो' शास्त्रम् । 'होषि' भवति ।

इन्द्रियकषायाप्रणिधानं मनोगुप्तिरेव किमर्थं पृथगुच्यते ? सत्यम् । वाक्कायगुप्तयोरेव गुप्तीभो इत्यनेन परिरुद्धः । अथवा रागद्वेषमिध्यात्वाद्यद्युभपरिणामविरहो मनोगुप्तिः सामान्यभूता । इन्द्रियकषायाप्रणिधानं तद्विधेयः । सामान्यविशेषयोश्च कथंचिद्भेदान्न पीनकल्पं । मनोगुप्ताद्यन्तर्भूतस्यापि इन्द्रियकषायाप्रणिधानस्य भेदेनोपादानं चारित्र्यविनोऽप्यर्थं परिहृत्यत्वव्यापनार्थं वा ।

ननु त्रयोदशविधं चारित्र्यं पंच महाव्रतानि, पंच समितयः, तिस्रो गुप्तयः इति । ततः समितीनां गुप्तीनां चारित्र्यत्वे चारित्र्यस्य विनय इति कथं भेदेनाभिधानं ? व्रतान्येवान्यत्र चारित्र्यशब्देनोच्यते । तेषां परिकरत्वेनावस्थिताः गुप्तयः समितयश्चेति सूत्रकारस्याभिप्रायः । तथा चोक्तमर्थः 'कर्मादाननिमित्तक्रियाम्यत्र विरतिः अहिंसाभेदेन पंचप्रकारा गुप्तिसमितिविस्तारः' संक्षेपो भवति । कश्चारित्र्यविनयव्याप्त इति चेत् पंचविधसिभावनाः । 'सत्त्वैर्वाचं भावनाः पंच संक्षेपेति' (त० सू० ७।९) निरूपिता ॥११४॥

गमन, भाषण, भोजन, ग्रहणनिकोप और मल मूत्र त्याग रूप क्रियाको समिति कहते हैं । ये सब संक्षेपसे चारित्र्य विनय है ।

शंका—इन्द्रिय और कषायमे उपयोग न लगाना तो मनोगुप्ति ही है, उसे पृथक् क्यों कहा ?

समाधान—आपका कहना सत्य है । यहाँ 'गुप्तीभो' से वचन गुप्ति और कायगुप्तिका हो ग्रहण किया है ।

अथवा रागद्वेष मिध्यात्व आदि अद्युभ परिणामोंका अभाव सामान्य मनोगुप्ति है । और इन्द्रिय तथा कषायमें उपयोगका न होना विशेष मनोगुप्ति है । और सामान्य तथा विशेषमें कथंचिद् भेद होनेसे पुनरुक्तता दोष नहीं है । अथवा इन्द्रिय और कषायका अप्रणिधान यद्यपि मनोगुप्तिमें आ जाता है फिर भी उसका पृथक् ग्रहण चारित्र्यके इच्छुकोंको उसका त्याग अवश्य करना चाहिये, यह बतलानेके लिये किया है ।

शंका—चारित्र्यके तेरह भेद हैं—पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति । अतः समिति और गुप्ति चारित्र्य हैं । तब इन्हे चारित्र्यकी विनयके रूपमें भिन्न क्यों कहा है ?

समाधान—यहाँ चारित्र्य शब्दसे व्रत ही कहे गये हैं । गुप्ति और समितियाँ उन व्रतोंके परिकर रूपसे स्थित हैं यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । अन्य आचार्योंने भी कहा है—कर्मोंको कानेमें निमित्त क्रियाओंसे विरति अहिंसा आदिके भेदसे पाँच प्रकारकी है । गुप्ति समिति उनका विस्तार है ।

शंका—चारित्र्य विनयका विस्तार क्या है ?

समाधान—पाँच व्रतोंकी पच्चीस भावना विस्तार है । तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है—उन व्रतोंकी स्थिरताके लिये पाँच-पाँच भावना है ॥११४॥

पणिघाणं पि य दुविहं इंदिय षोइंदियं च बोधव्वं ।

सदादि इंदियं पुण कोघार्हयं भवे इदरं ॥११५॥

सहरसरुवर्गंघे फासे य मणोहरे य इयरे य ।

जं रागदोसगमणं पंचविहं होदि पणिघाणं ॥११६॥

षोइंदियपणिघाणं कोघो माणो तधेव माया य ।

लोभो य णोकसाया मणपणिघाणं तु तं वज्जे ॥११७॥

तपोनिरूपणार्थं गाथाद्वयमुत्तरम्—

उत्तरगुणउज्जमणे सम्मं अधिआसणं च सदूढाप ।

आवासयाणद्धुचिदाण अपरिहाणी अनुस्सेओ ॥११८॥

सम्यग्दर्शनज्ञानाम्यामुत्तरकालमाधित्वात्संयमः उत्तरगुणशब्देनोच्यते । न हि श्रद्धानं ज्ञानं चातरेण संयमः प्रवर्तते । अज्ञानतः श्रद्धानरहितस्य वाऽसंयमपरिहारो न सम्भाव्यते । तेनावयमः—संयमोद्योग' इति तपसो निर्जराहेतुता सति संयमे, नाम्यथेति तपसः संयमः परिकरः । तथा वाहु 'संयमहीणं च तवमं जो कुणह णिरत्थव्वं कुणह' इति । 'सम्मं' सम्यक् । मंक्लेशं ईव्वं चातरेण 'अधियासणं' सहनं क्षुधादेः ।

गा०—प्रणिधानके भी दो भेद हैं इन्द्रिय और नोइन्द्रिय । शब्द आदि इन्द्रिय और क्रोधादिक नोइन्द्रिय प्रणिधान है ऐसा जानना ॥ ११५ ॥

गा०—मनोहर और अमनोहर शब्द, रस, रूप गन्ध और स्पर्शमें जो राग द्वेष हीता है वह पाँच प्रकारका इन्द्रिय प्रणिधान होता है ॥ ११६ ॥

गा०—नो इन्द्रिय प्रणिधान क्रोध मान तथा माया लोभ और नोकषाय है । ये तो मन प्रणिधान छोड़ना चाहिये ॥ ११७ ॥

तपका कथन करनेके लिये आगे दो गाथा कहते हैं—

गा०—उत्तर गुण अर्थात् संयममे उद्यम सम्यक् रीतिसे भूख प्यास आदिको सहन करना, तपमें अनुराग पहले कहे गये छह आवश्यकोंकी न्यूनता न होना आधिक्य न होना ॥ ११८ ॥

दो०—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके उत्तर कालमें होनेसे संयमको उत्तरगुण कहते हैं । श्रद्धान और ज्ञानके बिना संयम नहीं होता । अथवा जो जानता नहीं है और न जिसे श्रद्धा है वह असंयमका त्याग नहीं कर सकता । इससे यह अर्थ हुआ कि संयमके होने पर तप निर्जराका कारण होता है, अन्यथा नहीं होता । इन प्रकार संयम तपका परिकर है । कहा भी है—'जो

१ द्योततपसो—आ० मु० । २. गा० ११४, ११५, ११६ पर टीका नहीं है । आषाढरजिने अपनी टीकामें कहा है कि टीकाकार इन्हें स्वीकार नहीं करता ।—सं० ।

अन्नसंग्रहमोर्ध्ववृत्तिपरिसंख्यानेषु क्षुत्क्षुब्धनितवेदना व्याकुलता, कचमिचमुद्गहानीति वा अदीनता, अन्नपानबोर्ध्वनसोऽभिधानं, अग्निम पिबामीति वा भक्तकृपापरित्यागः, तत्कथनानावर. इतस्तत्परिचरितं कृपा कृपा वा वाधितोऽस्तीति एवं वचनं सहनं, अथवा भोजनविषये वांचाया अकरणं, श्रोतोऽभ्युपवासेन क्चं भोक्तुं न शक्नोमि क्षीरप्लुतसर्कारिकं वातव्यमिति वचनेन वांचाया अकरणं, मनसा वा यदीवं कल्पते भ्रं स्यात् इति वाऽभ्यार्थना, कायसंज्ञा वा क्षीरादीनामप्रदर्थानं क्षीरादिदाने वाऽऽहृषितायमानमुक्तता, धीतरुसाद्या- हारदाने वा अक्रुपितानमता, अलाभेऽपि लाभादलाभो मे परं तपोवृद्धिरिति संकल्पेनालाभपरीषहसहनं वा, अथवा लौकिकानां धर्मस्थानां वा सत्कारपुरस्काराकरणे तपसि महति वर्तमानोऽब्धहृतेषां न पूजितः इति कोपसंक्लेशाकरणं । सत्कारपुरस्कारपरीषहसहनं वा ।

रसपरित्यागं कृतवतः रसबाह्यारुक्तावर्धनोपजायमानतवावरनिवारणं रसपरित्यागजातशरीरसंता- पयमा वा सहनं । आतापयोगधारिणो धर्माद्युपनिपाते असंक्लिष्टचित्तता तत्प्रतीकारवस्तुषु अनादरश्च सहनं । जनविभक्तदेवे वसतः पिशाचव्यालमृगाश्वजलोकनादिकृतमोतिव्यादासोऽरतिविजयश्च सहन । प्रायश्चित्तमाचरतोऽपि महद्विद दत्तं गुरुणा बलाबलं भ्रमानिरूप्येति कोपाकरणं, प्रायश्चित्तकरणजनितधमेण वा असंक्लिष्टतासहनं । ज्ञानविनये वर्तमानस्य क्षेत्रकालशुद्धिकरणे मासैव नियोजयति इति कोपनिरासो वा, तद्गतधमे असंक्लेशश्च सहनं । दर्शनविनये अम्युद्यतस्य सन्मार्गात्प्रभ्यवमानस्य स्थिरीकरणं महानायासः,

सयमके बिना तप करता है वह निरर्थक करता है । 'सम्मं' का अर्थ सम्यक् है अर्थात् संक्लेश और दीनताके बिना भूख आदिका सहन करना । अनशन, अवमोदयं और वृत्ति परिसंख्यान नामक तपोंमें भूख प्याससे होने वाली वेदनासे व्याकुल न होना कि कैसे इसे सहेंगा । अथवा अदीनता, खान-पानमें मनको न लगाना, मैं खाता हूँ पीता हूँ इस रूपमें भोजनकी कथा न करना, उसकी कथामें आदर भाव न रखना, इधर उधर नहीं घूमना, मैं भूख या प्याससे पीड़ित हूँ इस प्रकारके वचनको सहन करना, अथवा भोजनके दिन माँगना नहीं, मैं उपवासमें कमजोर हो गया हूँ, रूखा भोजन नहीं कर सकता, दूध घी शक्कर आदि देना चाहिये । इस प्रकारके वचनसे याचना नहीं करना अथवा यदि अमुक वस्तु प्राप्त हो तो उत्तम है ऐसी मनसे प्रार्थना न करना अथवा शरीरके संकेतसे दूध आदिको न दिखलाना, अथवा दाता दूध आदि दे तो मुझको प्रफु- ल्लित न करना और ठंडा रूखा आहारादि दे तो मुझ पर क्रोध न लाना अथवा भोजन न मिलने पर लाभसे अलाभमें भेरे तपकी परम वृद्धि है ऐसा संकल्प करके अलाभ परीषहको सहना, अथवा लौकिक या धर्मात्मा पुरुषोंके द्वारा आदर सम्मान न करने पर 'मै महान् तपस्वी हूँ फिर भी इन्होंने मेरी पूजा नहीं की' इस प्रकारका कोप और संक्लेश न करना, अथवा सत्कार पुर- स्कार परीषहको सहना ।

यदि रसका त्याग किया है तो रस युक्त आहारकी कथा अथवा रस युक्त आहारको देखनेसे उसके प्रति उत्पन्न हुए आदर भावका निवारण करना, रसको त्यागनेसे शरीरमें उत्पन्न हुए संतापको सहना । यदि आताप योग धारण किया है तो घूप आदि आने पर चित्तमें संक्लेश न करना, और उसका प्रतीकार करने वाली वस्तुओंमें आदर भाव न करना, मनुष्योंसे शून्य देशमें निवास करते हुए पिशाच, सर्प, मृग आदिको देखने आदिसे उत्पन्न हुए भयको रोकना तथा अरति परीषहको जीतना । प्रायश्चित्त करते हुए भी 'गुरुने मुझे मेरा बलाबल न देखकर महान् प्राय- श्चित्त दे दिया' इस प्रकार कोप न करना अथवा प्रायश्चित्त करनेसे उत्पन्न हुए श्रमसे मनमें संक्लेश न करना । ज्ञान विनय करते समय 'क्षेत्र शुद्धि काल शुद्धि करनेमें मुझे ही लगाते हैं' इस

स्वप्नेतसोपि ऋजुतापावनमतिदुष्करं किमत्र पुनः परस्वैत्यर्थकल्पः सहनं । पुरस्कृतचारित्रविनयवश इतिचित्त-
मितयो दुष्कराः । कीननिकायाकुले जपति किर्यतः परिहृषुं शक्यते ? निपुणतरं प्रतिपद्यन्नासं जीवावकीर्णने
सत्परिहृती च कियद्भवन्तु शक्यते ? तथा प्रवर्तमानं वाचस्पतेरामातापावचः । नवकीटिपरिहृता भिक्षा एव
कल्प्यते, सकेषु कृतज्ञता वैति ममसोऽप्यप्रणिधानं चारित्रविनयः । तपोविनयमुपवसत्सालवर्णाधितपोऽनुष्ठाना-
तिसवस्य मम स्वल्पमसंयमं अप्राप्तुकोदकपापानेन, अच्युद्धमिक्षाग्रहणेन वा जातं तप एवोन्मुक्तमतीति अतस्त्वं
सहनं । असकृदभ्युत्थानं, अनुभवमनं प्रेषणकरणं, उपकरणसोचनाविकं वा कः कस्युं शक्नोति प्रतिदिनमित्यनभि-
संभिर्यचारविनयसहनं ।

'सद्वाच' अद्वा च । एव तपसि । तपसा सपाद्यमुपकारमात्मनोऽलोक्यैव बुद्ध्या तपो हि प्रत्यर्थं कर्म
सद्बोधति, चिरादितानां कर्मणां निर्बंधामापावयति, इन्द्रचक्रलोच्छ्वाधिसंपदोऽप्याययति । समीचीनस्य तपसोऽ-
लाभादेव जननमरणवर्तसहनं, अमुष्माकुले भवांभोषी पर्यटनं ममासीद् भविष्यति च तथैव इति तपस्यनुरागः
कार्यः ।

'आवाप्तगार्थ' आवश्यकाना । ए वसो अवसो अवसस्स कम्ममावाप्तं इति व्युत्पत्तावपि सामायि-
कादिष्वेवायं शब्दो वर्तते । व्याधिषीर्बल्यादिना व्याकुलो भण्यते अवशः परवश इति यावत् । तेनापि कर्तव्यं
कर्मैति । यथा आ-गु गच्छतीत्येव इति व्युत्पत्तावपि न व्याघ्रादो वर्तते अथैवोऽपि तु प्रतिद्विषयात् तुरण
एव । एवमिहापि अवश्यं यत्किञ्चन कर्म इतस्ततः परामृतिराक्रंदनं, पूत्करणं वा न तद्गुण्यते अवशा आवास-

प्रकारका कोप न करना अथवा उससे होने वाले श्रमसे संक्लेश भाव न करना, उसे सहना । दर्शन
विनय करते हुए 'सन्मागसि गिरते हुएकी स्थिर करना बड़ा कठिन है अपने चित्तको भी सरल
करना कठिन है फिर दूसरेका तो कहना क्या । इस प्रकार संकल्प न करना उसे सहना । चारित्र
विनय करने वालेको, 'ईर्ष्या आदि समितियाँ दुष्कर हैं, यह जगत जीवोंसे भरा है कहीं तक उन्हें
बचाया जा सकता है ? अत्यन्त कुशलता पूर्वक पदको रखते हुए जीवोंको देखकर उन्हें बचाते
हुए चलनेमें कौन समर्थ है ? इस प्रकारसे चलने पर आसप आदिकी अत्यन्त बाधा होती है ।
दुर्जनोमें कृतज्ञताकी तरह नौ कोटिसे शुद्ध भिक्षा कहीं मिलती है' इस प्रकार मनमें न सोचना
चारित्र विनय है । तप विनय करने वालेके 'अनशन आदि तपके अनुष्ठानमें लगे मेरे अप्राप्तुक
जल पोने अथवा अच्युद्ध भिक्षाके ग्रहणसे हुवा थोड़ा सा असंयम तपसे नष्ट हो जाता है' इस
प्रकारका संकल्प न करना सहना है । 'बार-बार उठना, पीछे जाना, आभ्रा पालना, उपकरण
आदि शुद्धि, कौन प्रतिदिन कर सकता है' इस प्रकारका संकल्प न करना उपकार विनय सहन
है । तप भवौन कर्मोंका जाना रोकता है । चिरकालसे संचित कर्मोंकी निर्जरा करता है । इन्द्र,
चक्रवर्ती आदिकं संपदा भी लाता है । सम्यक् तपके अलाभसे ही जन्म मरणके चक्र और दुःखसे
भरे संसार ममुद्गम भ्रमण भुंसे करना पड़ा है तथा करना पड़ेगा, इस प्रकार तपके द्वारा होने वाले
उपकारोंको अपनेमें देखकर तपमे अनुराग करना चाहिये ।

न वश, अवश और अवशका कर्म आवश्यक है । ऐसी व्युत्पत्ति होने पर भी सामायिक
आदिको ही आवश्यक कहते हैं । व्याधि, दुर्बलता आदिसे पीड़ितको भी अवश या परवश कहते
हैं, और उसके द्वारा किया गया कर्म आवश्यक है । किन्तु जैसे जो 'आशु' शीघ्र चलता है वह
अश्व (बौछा) है ऐसी व्युत्पत्ति होने पर भी व्याघ्र आदिको अवश नहीं कहते, बल्कि प्रतिद्विषया
धांढेको ही अवश कहते हैं । वैसे ही यहाँ भी जो अक्षय कर्म हैं—यहाँ-वहाँ भ्रमना, रोना, चिन्तना

कामा इत्ययमर्थः । आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनीति कृत्वा सामायिकं, चतुर्विंशतिस्तथो, बन्धना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यानं, व्युत्सर्ग इत्यथीर्षा ।

तत्र सामायिकं नाम चतुर्विंशं नामस्थापनाद्रव्यभावभेदेन । निमित्तानिरेवेता कस्माच्चिञ्जीवादेरप्याहिता संज्ञा सांभयिकमिति नामसामायिकम् । सर्वसावद्यनिवृत्तिपरिणामवत्ता आत्मना एकीभूतं शरीरं यत्साकार-साद्रूपमात देवेवेमिति स्वान्यते यच्चित्रपुस्तायिकं तत्स्थापनासामायिकम् । आगमद्रव्यसामायिकं नाम 'श्रुतस्यार्थ' सामायिकं नाम ग्रंथः, तदर्थको यः सामायिकाख्यात्मपरिणामप्रत्यवभासः प्रत्ययरूपेण सांप्रतमपरिणतः आत्मा । नो आगमद्रव्यसामायिकं नाम यत्त्रिविकल्पं ज्ञायकशरीरभावितद्वयतिरिक्तभेदेन । सामायिकस्य यच्छरीरं तदपि सामायिकज्ञानकारणं, आत्मेन शरीरमंतरेण उत्सामाभावात् । यस्य हि भावाभावी नियोगतो यदनुकरोति तत्तस्य कारणमिति हेतुफलव्यवस्था वस्तुषु । अतः प्रत्ययसामायिकस्य कारणत्वाच्छरीरं त्रिकालगोचरं सामायिकस्य-साध्यं अर्थात् । चारित्रमोहनीयस्योपशमविशेषसहायो य आत्मा भविष्यत्सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिपरिणामः शोचि-धीयते भाविसामायिकसाधनेन । चारित्रमोहनीयास्त्वं कर्म परिप्राप्त्यस्योपसमावस्यं नो आगमद्रव्यस्यद्वयतिरिक्त-कर्म सामायिकमिति श्राह्यं । आगमभावसामायिकं नाम प्रत्ययसामायिकं । नो आगमभावसामायिकं नाम सर्व-सावद्ययोगनिवृत्तिपरिणामः । अयमिह गृहीतः ।

चतुर्विंशतिंस्थानां तीर्थं कृतात्मत्र भारते प्रवृत्तानां वृषभादीनां जिनवरत्वादिगुणज्ञानश्रद्धामपूरस्तरा

आदि, उन्हे आवश्यक नहीं कहते । अथवा 'आवासयाण' का अर्थ आवासक है । जो आत्मामें रत्नत्रयका आवास कराते हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तब, बन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग ।

उनमेंसे नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे सामायिकके चार भेद है । निमित्तकी अपेक्षाके बिना किसी जीव आदिका नाम सामायिक रखना नाम सामायिक है । सर्व सावद्यके त्याग रूप परिणाम वाले आत्मके द्वारा एकीभूत शरीरका जो आकार सामायिक करते समय होता है उस आकारके समान होनेसे 'यह वही है' इस प्रकार जो चित्र, पुस्त आदिमें स्थापना की जाती है वह स्थापना सामायिक है । द्वादशांग श्रुतका आद्य ग्रन्थका नाम सामायिक है । उसके अर्थका जो ज्ञाता है जिसे सामायिक नामक आत्म परिणामका बोध है किन्तु जो वर्तमानमें उस ज्ञानरूपसे परिणत नहीं है अर्थात् उसका उपयोग उसमें नहीं है वह आगम द्रव्य सामायिक है । नो आगम द्रव्य सामायिक ज्ञायक शरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्तके भेदसे तीन प्रकार है । सामायिकके ज्ञाता का जो शरीर है वह भी सामायिकके ज्ञानमें कारण है क्योंकि आत्माकी तरह शरीरके बिना भी ज्ञान नहीं होता । जिसके होने पर जो नियमसे होता है और अभावमें जो नहीं होता, वह उसका कारण है । ऐसी वस्तुओंमें कार्य कारणभावकी व्यवस्था है । अतः ज्ञान सामायिकका कारण होनेसे त्रिकालवर्ती शरीर सामायिक शब्दसे कहा जाता है । चारित्र मोहनीय कर्मके अयोपशम विशेषकी सहायतासे जो आत्मा भविष्यमें सर्वसावद्ययोगके त्यागरूप परिणाम वाला होगा उसे भावि सामायिक शब्दसे कहा जाता है । जो चारित्र मोहनीय नामक कर्म अयोपशम अवस्थाको प्राप्त है वह नोआगमद्रव्य तद्व्यतिरिक्त सामायिक है । प्रत्यय रूप सामयिक आगमभाव सामायिक है । और सर्वसावद्य योगके त्यागरूप परिणाम नोआगमभाव सामायिक है । यहाँ इसीको ग्रहण किया है ।

इस भारतमें हुए दशम आदि चौबीस तीर्थंकरोंके जिनवरत्न आदि गुणोंके ज्ञान और श्रद्धान

चतुर्विंशतिस्तवनपठनक्रिया नोभागमभावचतुर्विंशतिस्तव इह गृह्यते ।

बंजना नाम रत्नत्रयसमन्वितानां यतीनां आचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्यविराणां गुणातिशयको विज्ञापकश्चाद्वा-
पुरःसरं च अभ्युत्थानप्रयोगभेदेन द्विविधे विनये प्रवृत्तिः । प्रत्येकं तयोरेकभेदता कर्तव्यं केन, कस्य, कदा,
कस्मिन्कतिवारानिति । अभ्युत्थानं केनोपविष्टं, किंवा फलमुद्दिश्य कर्तव्यं ? पूर्वभेद विनयः कर्तव्यतयोपविष्टः
सर्वोद्देशैः कर्मभूमिषु सदा मानकषायसंघः । गुरुजने बहुमानं, तीर्थकराणां आज्ञासंपादनं श्रुतधर्मांशनाक्रिया
भावशुद्धिरार्जवं, तुष्टि च फलमपेक्ष्य केन तत् क्रियते । अमानिना, संविन्नेन, अनलक्षेनाशठेनानुग्रहकारणाणिना,
परगुणप्रकाशनोद्यतेन संघबन्धनेन । असंयतस्य संवतासंयतस्य वा नाभ्युत्थानं कुर्यात्, पार्श्वस्थपंचकस्य वा ।
रत्नत्रये तपसि च नित्यमभ्युद्यतानां अभ्युत्थानं कर्तव्यं कुर्यात् । सुखशीलजनेऽभ्युत्थानं कर्मबन्धनमितं प्रथा-
त्पापनोबृंहणकरणात् । संविन्बन्धनं प्रति क्रियमाद्यमभ्युत्थानं निर्बन्धनमितं विरतिस्वापनोपबृंहणकरणात् ।
वाचनानुग्रहयोगं वा शिक्षयत् अवमरत्नत्रयस्याभ्युत्थासत्वं तन्मूलेऽप्ययं कुर्वन्निः सर्वरेव । वसते, कायभूमितः,
भिक्षासे, वैश्यात्, गुप्तकाशात्, ग्रामांतराद्वा आगमनकालेऽभ्युत्थासत्वं । गुरुजनस्य यदा निष्कामति निष्काम्य
प्रविशति वा तदा तदा अभ्युत्थानं कार्यं । अन्या विश्वा यथागममितरत्नयुग्मतंभ्यम् ।

दुःख्यं अहाचार्यं वारसावस्थेव य ।

चतुस्त्रिंशत् तिसुद्धं च किञ्चिद्व्यं चञ्जए ॥ [मूलखार-७।१०४]

पूर्वकं चौबीस स्तवनोंको पढ़ना नोभागमभाव चतुर्विंशतिस्तव है । उसीका यहाँ ग्रहण है ।

रत्नत्रयसे सहित आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक और स्थविर मुनियोंके गुणातिशयको जान-
कर श्रद्धापूर्वक अभ्युत्थान और प्रयोगके भेदसे दो प्रकारकी विनयमें प्रवृत्तिको बन्दना कहते हैं ।
उन अभ्युत्थान विनय और प्रयोग विनयके अनेक भेद हैं कि किसको किसका कब, कितनी बार
करना चाहिए ।

शंका—अभ्युत्थानका उपदेश किसने दिया है और किस फलके उद्देशसे करना चाहिए ?

समाधान—सब जिनदेवोंने कर्मभूमियोंमें सदा प्रथम ही कर्तव्यरूपसे विनयका उपदेश
दिया है । विनयसे मानकषायका विनाश होता है । गुरुजनोंमें बहुमान, तीर्थशूरोकी आज्ञाका
पालन, श्रुतमें कहे गये धर्मकी आराधना, परिणाम विशुद्धि, आर्जव और सन्तोषरूप फलकी
अपेक्षा करके विनय की जाती है । यह विनय कौन करता है ? जो मान रहित, संसारसे विरक्त,
निरालसी, सरल अनुग्रह करनेका इच्छुक, दूसरोंके गुणोंको प्रकट करनेमें तत्पर और संघका
प्रेमी होता है वह विनय करता है । असंयमी और संयमासंयमी तथा पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार-
के भ्रष्ट मुनियोंके सम्मानमें उठना नहीं चाहिए । जो रत्नत्रय और तपमें नित्य तत्पर रहते हैं
उनके प्रति उठना चाहिए । जो सुखशील साधु हैं उनके सम्मानमें उठना कर्मबन्धका कारण है
क्योंकि वह प्रमादको बढ़ानेमें कारण होता है । जो वाचना देता है अथवा अनुयोगका शिक्षण
देता है वह अपनेसे रत्नत्रयमें न्यून भी हो तब भी उनके पासमें सब अध्ययन करनेवालोको उनके
सम्मानमें उठकर खड़ा होना चाहिए । वसतिसे, कायभूमिसे, भिक्षासे, जिन मन्दिरसे, गुत्के
पाससे अथवा ग्रामान्तरसे आनेके समय उठना चाहिए । जब-जब गुरुजन निकलते हैं अथवा
निकलकर प्रवेश करते हैं तब तब अभ्युत्थान करना चाहिए । इसी प्रकार आगमसे अन्य भी
जानना चाहिए ।

इत्याधिकः प्रयोजयिष्यः ।

प्रतिक्रमणं प्रतिनिवृत्तिः बोधा भिद्यते-नामस्थापनाद्रम्यक्षेत्रकालभावविकल्पेन । अयोग्यनाम्नामनुष्चारणं नामप्रतिक्रमणं भट्टि दारिका स्वामिनी इत्यादिकमयोग्यं नाम । आप्ताभासात्प्रतिमायां, त्रसस्थावरणां रूपाणि लिखितान्युत्कीर्णानि वा स्थापनाशब्देनेह गृह्यन्ते । तत्राप्याभासप्रतिमायां पुरःस्थितायां यद्यन्निमुक्तया कृताञ्जलिपुटता, शिरोधनतिः, नन्दादिभिरम्यर्चनं च न कर्तव्यम् । एवं सा स्थापना परिहृता भवति । त्रसस्थावरादिस्थापनामविनाशनं, अमर्दनं, अताडनं वा परिहारः प्रतिक्रमणं । वास्तुक्षेत्रादीनां दशप्रकारणां उद्यमोत्पादनैश्चादोषपुष्टानां वसतीनां, उपकरणानां, मिशानां च परिहरणं, अयोग्यानां बाह्यारदीनां, गृहैर्बर्षव्य च कारणानां संश्लेषहेतूनां वा निरसनं द्रव्यप्रतिक्रमणं । उदककर्मत्रसस्थावरनिचितेषु क्षेत्रेषु यमनादिवर्जनं क्षेत्रप्रतिक्रमणं । यस्मिन्वा क्षेत्रे वसतो रत्नत्रयहानिर्भवति तस्य वा परिहारः, तच्च किं ? ज्ञानतपोबुद्धिरनाम्न्यासितः । रात्रिभ्रंशत्रयस्थाध्यायावश्यककालेषु यमनायमनादिध्यायाराकरणत् कालपति-

मूलाचारमें कहा है—क्रियाकर्ममें दो अवनति, बारह आवर्त, चार शिरोनति, और तीन शुद्धियाँ होती हैं । पंचनमस्कारके आदिमें एक नमस्कार और चौबीस तीर्थंकरोंके स्तवनके आदिमें दूसरा नमस्कार इस प्रकार दो नमस्कार होते हैं—पंचनमस्कारका उच्चारण करनेके प्रारम्भमें मनवचनकायके समयनरूप तीन शुभयोगोंके सूचक तीन आवर्त होते हैं । पंचनमस्कारकी समाप्ति होनेपर भी उसी प्रकार तीन आवर्त होते हैं । इसी प्रकार चौबीस तीर्थंकरोंके स्तवनके आदि और अन्तमें तीन-तीन आवर्त होते हैं । इस प्रकार बारह आवर्त होते हैं । अथवा एकवार प्रदक्षिणा करनेपर चारो दिशाओंमें चार प्रणाम होते हैं । इस प्रकार तीन प्रदक्षिणाओंमें बारह प्रणाम होते हैं । पंचनमस्कार और चतुर्विंशति स्तवके आदि और अन्तमें दोनों हाथ मुकुलितकर मस्तकसे लगाना, इस तरह चार सिर होते हैं । इस प्रकार मनवचनकायकी शुद्धिपूर्वक क्रियाकर्म होता है यह सब प्रयोग विनय है ।

दोषोसे निवृत्तिको प्रतिक्रमण कहते हैं । उसके छह भेद हैं—नामप्रतिक्रमण, स्थापना प्रतिक्रमण, द्रव्यप्रतिक्रमण, क्षेत्रप्रतिक्रमण, कालप्रतिक्रमण और भावप्रतिक्रमण । अयोग्य नामोंका उच्चारण न करना नाम प्रतिक्रमण है । भट्टिनी, दारिका, स्वामिनी इत्यादि अयोग्य नाम है । स्थापना शब्दसे यहाँ आप्ताभासोंकी मूर्ति, त्रस और स्थावरोंकी आकृतियाँ लिखित या खोदी हुई, ग्रहण की गई हैं । उनमेंसे आप्ताभासोंकी प्रतिमाओंके सम्मुख हाथ जोड़ना, सिर नमाना और गन्ध आदिसे पूजन नहीं करना चाहिए । इस प्रकार करनेसे उस स्थापनाका परिहार हो जाता है यह स्थापना प्रतिक्रमण है ।

त्रस स्थावर आदिकी स्थापनाओंको नष्ट न करना अथवा तोड़ना-फोड़ना आदि न करना स्थापना प्रतिक्रमण है । मकान खेत आदि दस प्रकारकी परिग्रहोंका, उद्यम उत्पादन और एषणा दोषोसे दूषित वसतिकाओंका, उपकरणोंका, और भिक्षाओंका, अयोग्य आहार आदिका और जो तुष्णा और मदके तथा संश्लेशके कारण हैं उन द्रव्योंका त्याग द्रव्य प्रतिक्रमण है । जल, कौचड़ और त्रस स्थावर जीवोंसे भरे क्षेत्रोंमें आने जानेका त्याग क्षेत्र प्रतिक्रमण है । अथवा जिस क्षेत्रमें रहनेसे रत्नत्रयकी हानि हो उसका त्याग क्षेत्र प्रतिक्रमण है । ऐसे क्षेत्रोंमें ज्ञान और तपसे बूढ़ मुनिगण नहीं रहते, इसलिए उनमें रहना वर्जित है । रात, तीनों सन्ध्या, स्वाध्याय

क्रमणं । कालस्य दुष्परिहारत्वात्कालाधिकरणव्यापारविशेषाः कालसाहचर्यत्वात्कालस्येव नृहीताः । मिथ्यात्वनि-
 श्चयमः, कषायः, रागः, द्वेषः, संज्ञा, निदान, आर्तरीद्रमिथ्यात्वबोधोऽनुभपरिणामाः, पुष्पास्रवभूतत्व शुभपरि-
 णामाः इह भावसम्बन्धेन नृहीता नृशृण्वन्ते, तेभ्यो निवृत्तिर्भावप्रतिक्रमणं इति केचान्निवृत्त्याख्यानां । अशुभमित्य-
 परे । निमित्तानिरपेक्षं कस्यचिन्नामत्वेन नियुज्यमानं प्रतिक्रमणमित्यभिधानं नामप्रतिक्रमणं । अशुभपरिणा-
 मानां विशिष्टबीजद्रव्यानुगतशरीराकारसाधुव्यापेक्षया चिन्नाकारं स्वार्थितं स्थापनाप्रतिक्रमणं । प्रणामनय-
 निकोपार्निधिः प्रतिक्रमणभावस्यकस्यकम्पत्तस्तत्रानुपपन्नः प्रत्ययप्रतिक्रमणकारणत्वात् आत्मनद्रव्यप्रतिक्रमणसम्बन्धे-
 नोच्यते । नो आत्मनद्रव्यप्रतिक्रमणं विविधं ज्ञावकशरीरभाषितद्वयतिरिक्तमेवैः । यथात्वा कारणं प्रतिक्रमण-
 पर्यायस्य, तथा तदीयमपि शरीरं त्रिकालवर्ती शरीरं प्रतिक्रमणशब्दवाच्यं भवति । चारित्र्यबोधोपशम-
 सानिध्ये भविष्यत्प्रतिक्रमणपर्याय आत्मा भाविप्रतिक्रमणं । क्षयोपशमव्यवस्थानुपगतः चारित्र्यबोधः नो आत्म-
 नद्रव्यव्यतिरिक्तकर्म प्रतिक्रमणं । प्रतिक्रमणप्रत्यय आगमभावप्रतिक्रमणं । मिथ्यात्वानिमिच्छासंलग्नमिच्छाचारि-
 तावो पविर्विरदोमिति एवं स्वरूपज्ञानं । अशुभपरिणामबोधमवबुध्य भद्राद्य तत्प्रतिपक्षपरिणामवृत्तिर्नोआगम-
 भावप्रतिक्रमण ।

सामाजिकात् प्रतिक्रमणस्य को भेदः ? सावधयोर्निवृत्तिः सामाजिकं । प्रतिक्रमणमपि अशुभमनो-
 शक्यापनिवृत्तिरेव तत्कर्म वदामव्यवस्था ?

और बड़ावश्यकी कालमें गमन आगमन आदि व्यापार न करना काल प्रतिक्रमण है । कालका
 त्याग तो अशक्य जैसा है अतः कालमें होनेवाले कार्य विशेषोंको कालके सम्बन्धसे काल शब्दसे
 ग्रहण किया है । मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, राग, द्वेष, आहारादि संज्ञा, निदान, आर्त रीद्र
 इत्यादि अशुभ परिणाम और पुष्पास्रवभूत शुभ परिणाम यहाँ भाव शब्दसे ग्रहण किये हैं । उनसे
 निवृत्ति भाव प्रतिक्रमण है । ऐसा किन्हीं आचार्योंका व्याख्यान है ।

अन्य आचार्य प्रतिक्रमणके चार भेद कहते हैं । निमित्तकी अपेक्षा न करके किसीका प्रति-
 क्रमण नाम रखना नामप्रतिक्रमण है । अशुभ परिणामवाले जीवोंके शरीरका जैसा आकार होता
 है उस आकारके सादृश्यकी अपेक्षासे चित्रमें अशुभ परिणामोंकी स्थापना स्थापना प्रतिक्रमण है ?
 प्रमाण नय-निक्षेप आदिके द्वारा प्रतिक्रमण; नामक आवश्यकके स्वरूपका जो ज्ञाता उसमें उपयुक्त
 नहीं है वह प्रतिक्रमण विषयक ज्ञानका कारण होनेसे आत्मन द्रव्य प्रतिक्रमण शब्दसे कहा जाता है ।
 नो आगम द्रव्य प्रतिक्रमणके तीन भेद हैं—ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त । जैसे प्रतिक्रमण
 पर्यायका कारण आत्मा है वैसे उसका त्रिकालवर्ती शरीर भी कारण है इसलिए वह प्रतिक्रमण
 शब्दसे कहा जाता है । चारित्र्यबोधके क्षयोपशमके होनेपर जो आत्मा भविष्यमें प्रतिक्रमण पर्यायरूप
 होगा वह भावि प्रतिक्रमण है । क्षयोपशम अवस्थाको प्राप्त चारित्र्यबोध कर्म नोआत्मनद्रव्य
 व्यतिरिक्त कर्म प्रतिक्रमण है । प्रतिक्रमणरूप ज्ञान आगम भाव प्रतिक्रमण है । अर्थात् मिथ्याज्ञान,
 मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र्यसे भे विरत हैं इस प्रकारका स्वरूपज्ञान आगमभाव प्रतिक्रमण है ।
 अशुभ परिणामके दोषको जानकर और उसपर भ्रष्टा करके उसके प्रतिपक्षी शुभपरिणामोंमें प्रवृत्ति
 नोआगमभाव प्रतिक्रमण है ।

शंका—सामाजिक और प्रतिक्रमणमें क्या भेद है ? सावधयोगसे निवृत्ति सामाजिक है
 और अशुभ मनवचनकायसे निवृत्ति प्रतिक्रमण है तब छह आवश्यककी व्यवस्था कैसे सम्भव है ?

अधोऽप्येत—सर्वं सावद्ययोगीयं पञ्चमस्यामीति यचनाद्विहासिमेवमुपादाय समान्येन सर्वसावद्ययोग-
निवृत्तिः सामायिकं । हिंसादिभेदेन सावद्ययोगविकल्पं कृत्वा ततो निवृत्तिः प्रतिक्रमणं ।

‘मिथ्यात्वप्रतिक्रमणं, तद्देव असंयमप्रतिक्रमणं ।

कसात्पु पञ्चमकमणं, योगेणु अन्यस्तत्केषु’ ॥ [सुव्या० ७।१२०]

इति यचनादिति केचित्परिहृम्तिः ।

इदं त्वम्यात्वं प्रतिविधानं । योगशब्देन वीर्यपरिणाम उच्यते । स च वीर्यन्तरायक्षयोपशमनिवृ-
त्तात् क्षायोपशमिको भावस्ततो निवृत्तिरशुभकर्मविनामिमित्तयोगरूपेण अपरिणतिरारम्भः सामायिकं । मिथ्या-
त्वमसंयमः कषायपच दर्शनचारित्रमोहोदयजा बीदयिकाः । मिथ्यात्वं तत्त्वाभ्रदानरूपं, असंयमो हि हिंसादि-
रूपः, क्रोधादयस्तु परस्परतो मिथ्यात्वावसंयमाच्चानुभवसिद्धवैलक्षण्यरूपाः । ये भिन्नहेतुस्वरूपास्तौ नैक्यमा-
पद्यन्ते यथा शक्तिवयोभ्रमादिधान्वं । भिन्नहेतुस्वरूपाश्च मिथ्यात्वावसंयमकषायाः । तेषु विरतिव्यावृत्तिः
प्रतिक्रमणं । सावद्ययोगमार्गनिवृत्तिः सामायिकमिति श्रेयो महाननयोः । भेदमेवाश्रित्यामीषां परिणामानां
चतुःपञ्चयथो बंधो इति सूत्रमवस्थितं । अन्यथा योगविकल्पत्वे मिथ्यात्वादीनां चतुःसंख्या न न्याय्या
योगेन सह ।

प्रत्याख्यानं नाम अनागतकालविषया क्रियां न करिष्यामि इति संकल्पः । तच्च नामस्थापनाइत्यल्लेख-
काल भावविकल्पेन वृद्धिर्बन्धः । अयोग्य नाम नोच्चारयिष्यामीति चिन्ता नामप्रत्याख्यानं । आत्माभासानां

समाधानं—‘सर्वं सावद्ययोगको त्यागता हूँ’ इस प्रकार हिंसा आदिका भेद न करके
सामान्यसे सर्वं सावद्ययोगसे निवृत्ति सामायिक है । और हिंसा आदिके भेदसे सावद्ययोगके भेद
करके उससे निवृत्ति प्रतिक्रमणं है । सूत्रमें कहा है—‘मिथ्यात्व प्रतिक्रमण’ असंयम प्रतिक्रमण,
कषाय प्रतिक्रमण और अप्रशस्त योग प्रतिक्रमण होता है ।

उक्त शंकाका कोई आचार्य ऐसा उत्तर देते हैं किन्तु वह उचित नहीं है । योग शब्दसे
वीर्यपरिणाम कहा जाता है । वह वीर्यपरिणाम वीर्यन्तरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेके कारण
क्षायोपशमिक भाव है । उससे निवृत्ति अर्थात् अशुभकर्मको लानेमे निमित्त योगरूपसे आत्माका
परिणमन न करना सामायिक है । मिथ्यात्व, असंयम और कषाय दर्शनमोह और चारित्रमोहके
उदयसे उत्पन्न होनेके कारण औदयिक हैं । मिथ्यात्व तत्त्वोके अश्रदानरूप है । असंयम हिंसादि-
रूप है और क्रोधादि तो मिथ्यात्व और असंयमसे विलक्षण हैं यह अनुभवसिद्ध है । जिनका
हेतु और स्वरूप भिन्न होता है वे एक नहीं हो सकते जैसे शक्ति, जौ, गेहूँ आदि घान्य । मिथ्यात्व,
असंयम और कषायके हेतु और स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं उनसे निवृत्ति प्रतिक्रमण है । और सावद्य योग-
मात्रसे निवृत्ति सामायिक है । अतः दोनोंमें महान् भेद है इन परिणामोके भेदको ही लेकर ‘चतु-
पञ्चयथो बन्धो’—बन्धके चार कारण है, यह सूत्र अवस्थित है । अन्यथा यदि मिथ्यात्व आदि
योगके भेद हों तो फिर योगके साथ चारकी संख्या नहीं बन सकती ।

आगामी कालमें मैं यह काम नहीं करूँगा, इस प्रकारके संकल्पका नाम प्रत्याख्यान है ।
नाम, स्थापना, इच्छा, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे उसके छह भेद हैं । मैं अयोग्य नामका

प्रतिमा वा पुष्पविष्णामीति, योगत्रयेण त्रसत्वावरस्थापनापीडां न करिष्यामीति प्रतिषेधान् मनसः स्थापनाप्रत्याख्यानं । अथवा अर्हतादीनां स्थापना न विनासविष्णामि नैवानावरं तत्र करिष्यामि इति वा । अयोग्याहारोपकरणद्रव्याणि न द्रव्यीष्यामीति चिन्ताप्रबंधो द्रव्यप्रत्याख्यानं योष्यामि वा निश्चितप्रयोजनानि । संवमहानि संकलनं वा संपादयति यानि जेनाणि तानि त्यस्यामि इति क्षेत्रप्रत्याख्यानं । कालस्य दु परिहृत्यत्वात् कालसाध्याया क्रियायां परिहृताया काल एव प्रत्याख्यातो भवतीति ब्राह्म । तेन सध्याकालाधिक्ययनगमनादिकं न संपादयिष्यामीति चेत्. कालप्रत्याख्यानं । भावोज्ञानपरिणामं तन्म निर्वर्तयिष्यामि इति संकल्पकरणं भावप्रत्याख्यानं । तद्द्विविधं मूलगुणप्रत्याख्यानमुत्तरगुणप्रत्याख्यानमिति । ननु च मूलगुणा व्रतानि तेषां प्रत्याख्यानं निरासो भविष्यत्कालविययस्वेन्न स संवराधिना कार्यं., सबरार्थमवधयमनुष्ठीयते इति । उत्तरगुणानां कारणत्वात्मूलगुणव्यपदेशो व्रतेषु वर्तते मूलगुणशब्दं मूलगुणवच सः प्रत्याख्यानं च तत् इति मूलगुणप्रत्याख्यानं । व्रतोत्तरकालभावित्वादनसनादिकं उत्तरगुण इति उच्यते । उत्तरगुणवच स प्रत्याख्यानं च तदिति उत्तरगुणप्रत्याख्यानं । तत्र संयताना जीवितावधिकं मूलगुणप्रत्याख्यानं । सयतासंयताना अणुव्रतानि मूलगुणव्रतव्यपदेशाभिः भवति । तेषां द्विविधं प्रत्याख्यानं अल्पकालिकं, जीवितावधिकं चेति । पक्षमासषष्मासादिविधेण भविष्यत्काल सावधिकं कृत्वा तत्र स्थूलहिंसानूतस्तेष्वानुपरिग्रहान्माचरिष्यामि इति प्रत्याख्यानमल्पकालिकम् ।

उच्चारण नहीं कहेगा, इस प्रकारका विचार नाम प्रत्याख्यान है । मैं आपनाभासोंकी प्रतिमाको नहीं पूजूँगा, मनवचनकायसे त्रस और स्वावरोंकी स्थापनाको पीडा नहीं पहुँचाऊँगा, इस प्रकारका मनका संकल्प स्थापना प्रत्याख्यान है । अथवा मैं अर्हन्त आदिकी स्थापनाको नष्ट नहीं कहेगा, न उसका अनादर ही कहेगा, इस प्रकारका मनका संकल्प स्थापना प्रत्याख्यान है ।

अयोग्य आहार तथा उपकरण द्रव्योंको मैं ग्रहण नहीं कहेगा, इस प्रकारके चिन्ता प्रबन्धको द्रव्य प्रत्याख्यान कहते हैं । जो क्षेत्र संयमको हानि पहुँचाते हैं अथवा संकलेश उत्पन्न करते हैं । उन्हें मैं छोड़ूँगा इस प्रकारके संकल्पको क्षेत्र प्रत्याख्यान कहते हैं । कालको छोड़ना तो अशक्य जैसा है अतः काल साध्य क्रियाका त्याग करने पर कालका ही प्रत्याख्यान होता है ऐसा लेना चाहिये । अतः सन्ध्याकाल आदिमें अध्ययन गमन आदि नहीं कहेगा इस प्रकारके चिन्तको काल प्रत्याख्यान कहते हैं । भावसे अशुभ परिणाम लेना । मैं अशुभ परिणाम नहीं कहेगा, इस प्रकारका संकल्प करना भाव प्रत्याख्यान है । उसके दो भेद हैं—मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान ।

शङ्का—मूलगुण व्रतोको कहते हैं । उनका प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग भविष्यत् कालमें यदि किया जायेगा तो सवरके इच्छुक यतिको उसे नहीं करना चाहिये, उसे तो संवरके लिये व्रत अवश्य पालनीय होते हैं ?

समाधान—उत्तर गुणोंका कारण होनेसे व्रतोंको मूलगुण कहते हैं अतः मूलगुण रूप प्रत्याख्यान मूलगुण प्रत्याख्यान है । व्रतोंके उत्तर कालमें अनशन आदि हांते हैं इसलिये उन्हें उत्तर गुण कहते हैं । यहाँ भी उत्तर गुणरूप प्रत्याख्यान उत्तरगुण प्रत्याख्यान है । उनमेंसे संयमियोंके जीवनपर्यन्त मूलगुण प्रत्याख्यान होता है । और सयमासंयमी आबकोंके अणुव्रत मूलगुणव्रत कहलाते हैं । उनके दो प्रकारका प्रत्याख्यान होता है—एक अल्पकालिक और दूसरा जीवनपर्यन्त । पक्ष, मास, छहमास आदि रूपसे भविष्यत्कालकी मर्यादा करके 'इतने काल तक मैं स्थूल हिंसा,

आनन्दमनवाधि कृत्वा न करिष्यामि स्थूलहिंसावीनि इति प्रत्याख्यानं जीवितावधिकं । उत्तरगुणप्रत्याख्यानं संयतसंयतासंयतयोऽपि अल्पकालिकं जीवितावधिकं वा । परिगृहीतसंयमस्य सामायिकवदिकं अनशनवधिकं च वर्तते इति उत्तरगुणत्वं सामायिकावेस्तपसश्च । भविष्यत्कालगोचराशनादित्याशात्मकत्वात्प्रत्याख्यानत्वं । सति सम्यक्त्वे चैतद्गुण्यं प्रत्याख्यानं । जीवनिर्कायं हिंसादिवस्वरूपं च ज्ञात्वा अद्भ्याय सर्वतो देशतो वा हिंसादिविरतिर्ब्रतं । तथा चोक्तं—'निःशस्यो ब्रह्मी' (त० सू० ७।१८) इति ।

मिथ्यादर्शनशाल्यं, मायाशाल्यं, निदानशाल्यं चेति त्रिविधं शाल्यं तेभ्यो निष्कांतं निःशाल्यः । सावधारणं चेदं निःशाल्य एव व्रतीति । तेन सशाल्यव्रतिता निरस्ता भवति । न च असति अद्भ्याने मिथ्यात्वशाल्यनिवृत्तिः । न च जीवाधर्मपरिज्ञानमंत्रेण अद्भानत्यास्ति ममव इति ज्ञानदर्शनवत एव व्रतिता मूत्रकारणाख्याता । तथावश्यकेऽप्युक्तम्—

“पञ्चवशाणि अदीर्घं अणुज्जवाद् वा च देशविरवाणं ।

अ ह्यु सम्मत्तेषु विना तो सम्मत्त पदमथाए ॥” []

इति हिंसादिप्रवर्तनपरं भाषितमिति क्रियाः पचापि सरात्रिभोजनाः प्रत्याचष्टे यतिभिन्ना यनोवाक्याय-विकल्पेन कृतकारितानुमतेयावज्जीव ।

मध्यमदृष्टिस्त्वहारी मूलगुणं उत्तरगुणं वा स्वशक्त्या गृह्णाति परिमितकालं यावज्जीव वा । आत्मना प्राक्कृतं हिंसारिकं हा दुष्टं कृतं, हा दुष्टं संकल्पितं, वचो वा हिंसादिप्रवर्तनपरं भाषितं इति निदागर्हाभ्यां स्थूल झूठं, स्थूल चोरी, स्थूल अन्नह्य और परिग्रहका आचरण नहीं करूँगा, इस प्रकारका प्रत्याख्यान अल्पकालिक है । भरणपर्यन्त मैं स्थूल हिंसादि नहीं करूँगा, इस प्रकारका प्रत्याख्यान जीवितावधि है ।

उत्तरगुण प्रत्याख्यान संयत और संयतासंयतके भी अल्पकालिक अथवा जीवनपर्यन्त होता है । जिसने संयम ग्रहण किया है उसके सामायिक आदि और अनशन आदि होते हैं इसलिये सामायिक आदि और तप उत्तरगुण हैं । और भविष्यत्कालमें अनशन आदिके त्यागरूप होनेसे प्रत्याख्यान रूप भी है । सम्यक्त्वे होने पर ही ये दोनों प्रत्याख्यान होते हैं ।

जीवनिर्काय और हिंसा आदिके स्वरूपको जानकर तथा अद्भ्या करके सर्वदेश अथवा एक देशसे हिंसा आदिके त्यागको व्रत कहते हैं । कहा भी है—जो निःशाल्य है वही व्रती है । मिथ्यादर्शन शाल्य, मायाशाल्य और निदानशाल्य, इस प्रकार तीन शाल्य हैं । उनसे जो रहित है वह निशाल्य है । यह निशाल्य शब्द अवधारण सहित है । निःशाल्य ही व्रती होता है । इससे जो शाल्य सहित है उसके व्रतीपनेका निषेध किया है । अद्भ्यानेके अभावमें मिथ्यात्वशाल्यसे निवृत्ति नहीं होती । और जीवाधि पदाधिके ज्ञानके बिना अद्भ्यान संभव नहीं है । अतः ज्ञानदर्शनवान्को ही सूत्रकारने व्रती कहा है । तथा आवश्यकमें भी कहा है—‘सम्यक्त्वेके बिना न तो यतियोंके पाँच व्रत होते हैं और न देशविरत श्रावकोके अणुव्रत होते हैं । अतः सम्यक्त्वको प्रथमता है ।’

इस प्रकार यति मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे रात्रिभोजनके साथ हिंसा आदि पाँचों पापोंका त्याग जीवनपर्यन्तके लिये करता है । गृहस्थ सम्यग्दृष्टि मूलगुण अथवा उत्तरगुणको अपनी शक्तिके अनुसार कुछ काल या जीवनपर्यन्तके लिये ग्रहण करता है । अपने द्वारा पहले किये गये हिंसा आदिको ‘हा, मैंने बुरा किया, हा, मैंने बुरा संकल्प किया, हिंसा

स्वपरिविषयान्यां वृषकण्ठमालं चासंयमं कृतं क्रियमाणासंयमसदृशं न करिष्यामि इति मनास कुर्वन्प्रत्याख्याता भवति ।

अवारिणां विरतिपरिणामविकल्पो निरूप्यते । स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं कृतकारितानुमतविकल्पान् विविधं मनोवाक्कायविकल्पैर्न त्यजति । मनसा स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं न करोमि, तथा वचसा कायेनेति विविधं कृतम् । मनसा स्थूलकृतं प्राणातिपातादिकं न कारयामि तथा वचसा कायेन चेति विविधकल्पं कारितं । तथा मनसा स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं नानुजानामि, तथा वचसा कायेन चेति विभेदमनुमननं । एवं नवविधं स्थूलकृतप्राणवधादिकं त्यक्तुमशक्नोऽजारी ।

तथा मनोवाक्यां स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं कृतकारितानुमतविकल्पादिविषयं व कर्तुं मशक्तो मनसा न करोमि, न कारयामि, नानुजानामि । वचसा न करोमि, न कारयामि नानुजानामि इति । कायेन कृतकारितानुमतविकल्पान् हिमादीविषयं न समर्थो विहातुः । तथा च सूत्रं—

‘न च्छु तिविषयं तिविषयेन व बुधिव्येकविषयेन वापि विरयेक्य इति ॥’ []

कथं तर्ह्यजारी विरतिमुपैति ? अत्रोच्यते कृतकारितविकल्पाद्द्विप्रकारं हिंसादिकं मनोवाक्कायैस्त्वयजति । वाचा कायेन वा हिंसादिविषयं कृतकारितं त्यजति । कायेन एकेन वा कृत कारितं त्यजति । अत एवोक्तं ‘बुधिवं वृष तिविषयेन व बुधिव्येकविषयेन वा विरयेक्य’ इति । अथवा हिंसाया स्वयं करणं एकं मनोवाक्कायैस्त्वयजति । नाहं मनसा वाचा कायेन स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं पचकं करोमीति अभिसंधिपूर्वकं विरमणं

आदिमें प्रवर्तन करने वाला बचन बोला,’ इस प्रकार स्व और परविषयक निन्दा गृह्णिके द्वारा दोषयुक्त बतलाते हुए, तथा वर्तमानमें मैं जो असंयम करता हूँ और पूर्वमें जैसा असंयम किया है वैसा मैं भविष्यमें नहीं करूँगा, ऐसा मनमें संकल्प करके त्याग करता है ।

अब गृहस्थोके विरतिरूप परिणामोके भेद कहते हैं—कृत, कारित और अनुमतके भेदसे तीन भेदरूप स्थूल हिंसा आदिको गृहस्थ मन वचन कायसे नहीं त्यागता है । मनसे स्थूल हिंसा आदिको नहीं करता हूँ तथा वचनसे और कायसे नहीं करता हूँ, ये तीन भेद कृत है । मनसे स्थूल हिंसा आदिको न कराता हूँ तथा वचनसे और कायसे नहीं कराता हूँ । ये तीन भेद कारितके हैं । तथा मनसे स्थूल हिंसा आदिमें अनुमति नहीं देता हूँ तथा वचनसे और कायसे अनुमति नहीं देता हूँ ये तीन भेद अनुमतके हैं । इस प्रकार नौ प्रकारकी स्थूल हिंसा आदिका त्याग करनेमें गृहस्थ असमर्थ होता है । तथा कृत कारित अनुमतके भेदसे तीन भेदरूप स्थूल हिंसा आदिको मन और वचनसे करनेमें असमर्थ होता है । मनसे न करता हूँ, न कराता हूँ और न अनुमति देता हूँ । वचनसे न करता हूँ, न कराता हूँ और न अनुमति देता हूँ । कायसे कृत कारित अनुमतरूप हिंसा आदिको छोड़नेमें समर्थ नहीं हूँ । सूत्रमें कहा है—कृतकारित अनुमतके भेदने तीन भेद रूप हिंसा आदिको मन वचन कायसे अथवा मन वचनसे अथवा कायसे त्याग नहीं करता है ।

तब गृहस्थ कैसे त्याग करता है यह बतलाते हैं—

कृत और कारितके भेदसे दो भेदरूप हिंसा आदिको मन वचन कायसे छोड़ता है । कृत कारित रूप हिंसादिको वचन और कायसे छोड़ता है । अथवा कृत कारित रूप हिंसा आदिको एक कायसे छोड़ता है । इसीसे कहा है—‘कृत कारित रूप हिंसा आदिको तीन रूपसे, दो रूपसे या एक रूपसे छोड़ता है ।’ अथवा हिंसके एक स्वयं करनेको मन वचन कायसे त्यागता है । मैं मनसे वचनसे कायसे स्थूल हिंसादि पाँच पापोंको नहीं करता हूँ’ इस प्रकार संकल्प पूर्वक त्याग

करेति । वाक्कनयान्यां वा स्वयं करणं त्यक्ति कायेनैकेन वा । तथा चोक्तम्—'एकविधं त्रिविधेन वापि विरहितम्' इति । एवमेते व्रतविकल्पाः भविष्यकालविषयतयानुमुष्यमानाः प्रत्याख्यानविकल्पाः भवन्तीत्य-
भीकन्यासः कृतः ।

कायोत्सर्गो निरूप्यते—कायः शरीरं तस्य उत्सर्गस्त्यागः कायोत्सर्गः । उपलब्ध्याधिष्ठानेप्रियावयवकः कर्मनिर्भरितः पुत्रलभप्रचयविशेष औदारिकाख्य इह कायशब्देन गृहीतः इतरत्र उत्सर्गस्यार्थं तु बध्यमाणस्य ।

ननु च आयुषो निरवशेषवकने आत्मा शरीरमुत्सृजति नाम्नया तत्किमुच्यते कायोत्सर्गं इति ।

आत्मशरीरजोरग्योऽन्यस्य प्रवेशानुप्रवेशिनोरामुर्बन्धात् अनपायित्वेऽपि शरीरे अमूर्त्तित्वं सत्त्वाद्युष्ण-
तया अच्युतितं बुद्ध्याभितवीतवीजत्वाच्च, तथा अनित्यत्वं, अपायित्वं, दुर्बलत्वं, असारत्वं, दुःखहेतुत्वं,
शरीरगतमनसाहेतुकमनंतसंसारपरिभ्रमणं इत्याधिकांशप्रभार्यं योषान्नेवं मम नाहमस्वेति संकल्पवत्सत्त्वादार-
भावात्कायस्य त्यागो षट् एव । यथा प्राग्भ्योऽपि प्रियतमा कृतापराधावत्विता ह्येकस्मिन्मन्दिरे त्यक्ते-
त्युच्यते तस्यामनुरागाभावाभ्यन्नेवं भावव्यावृत्तिवैक्य एवमिहापि । किं च कायापायसन्निपातेऽपि अपाय-
निराकरणमिच्छावस्थाभावात् । यो यस्यानिराकरणानुत्सकस्तेन तत्परित्यक्तं यथा वसनाविकं परिहृतं । शरीर-
पायनिराकरणानुत्सुकवच यत्तस्तस्याच्युत्यते कायस्य त्यागः ।

करता है । अथवा स्वयं करनेको बचन और कायसे त्यागता है या एक कायसे त्यागता है । कहा है—'एक कृतको तीन प्रकारसे त्यागता है । इन व्रतके भेदोंको भविष्य कालके साथ जोड़ने पर कि मैं भविष्यमें ऐसा नहीं करूँगा, ये प्रत्याख्यानके भेद होते हैं ।

अब कायोत्सर्गको कहते हैं—काय अर्थात् शरीरके, उत्सर्ग अर्थात् त्यागको कायोत्सर्ग कहते हैं । पदार्थोंको जाननेका आचार इन्द्रियां जिसकी अवयव है, और कर्मके द्वारा जिसकी रचना हुई तथा जो पुद्गलोंका एक समूह विशेष है उस औदारिक नामक शरीरको यहाँ काय शब्दसे ग्रहण किया है क्योंकि आगे कहे जानेवाला उत्सर्ग अन्य शरीरोंमें सम्भव नहीं है ।

शंका—आयुर्कर्म जब पूर्णरूपसे समाप्त हो जाता है तब आत्मा शरीरको छोड़ता है अन्य कालमें नहीं छोड़ता । तब कैसे आप कायोत्सर्गकी बात करते हैं ?

समाधान—आत्मा और शरीरके प्रवेश परस्परमें मिलनेसे आयुर्कर्मके कारण यद्यपि शरीर ठहरा रहता है तथापि शरीर सात धातु रूप होनेसे अपवित्र है, रज और वीर्यसे उत्पन्न होनेसे विशेष अपवित्र है । तथा अनित्य है, नष्ट होनेवाला है, दुःखसे घारण करने योग्य है, असार है, दुःखका कारण है, इस शरीरसे ममत्व करनेसे अनन्त संसारमें भ्रमण करना होता है, इत्यादि दोषोंको जानकर 'न यह मेरा है, न मैं इसका हूँ' ऐसा संकल्प करनेवालेके शरीरमें आदरका अभाव होनेसे कायका त्याग घटित होता ही है । जैसे प्राणोसे भी प्यारी पत्नी अपराध करनेपर उसमें अनुराग न रहनेसे 'यह मेरी है' इस प्रकारका भाव न होनेसे एक ही घरमें रहते हुए भी 'त्यागी हुई कहीं जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी जानना । दूसरे, शरीरके बिनाशके कारण उपस्थित होनेपर भी कायोत्सर्ग करनेवालेके बिनाशके कारणको दूर करनेकी इच्छा नहीं होती । जो जिसके बिनाशके कारणोंको दूर करनेमें उत्सुक नहीं है उसने उसे त्याग दिया है, जैसे त्यागा हुआ वस्त्रादि । और यत्ति शरीरके बिनाशके कारणको दूर करनेमें उत्सुक नहीं होता । अतः उसके

१. श शरीरनिःस्पृहः, स्थाणुरिबोद्धर्षकायः, प्रलंबितमुखः, प्रशस्तध्यानपरिणतोऽनुममितानतकायः, परीषद्गानुपसर्वादिषु सहमानः, तिष्ठन्निर्जन्मुके कर्मापायामिलायी विविक्ते देशे ।

अन्तर्मुहूर्तः कायोत्सर्गस्य जघन्यः कालः, धर्ममुक्लृष्टः । अतिचारनिवृत्तये कायोत्सर्गं बहुप्रकारात् भवन्ति रात्रिदिनपञ्चमासचतुष्टयसंबन्धरादिकालगोचरातिचारभेदापेक्षया । सामान्गोच्छ्वास शतकं, प्रत्युषसि पंचाशत्, पक्ष त्रिंशतानि, षट्पुं मासेषु चतुःशतानि, पंचशतानि संबन्धे उच्छ्वासानां^१ । प्रत्युषसि प्राणिव-
धादिवु पंचस्वतीचारेषु अष्टशतोच्छ्वासमात्रः कालः कायोत्सर्गः कार्यः । कायोत्सर्गं कृते यदि शक्यते उच्छ्-
वासस्य स्थूलनं वा परिणामस्य उच्छ्वाससाष्टकमधिकं स्थातव्यम् ।

उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्टम्, उपविष्टोत्थितं, उपविष्टनिविष्ट इति चत्वारो विकल्पाः । धर्मं शुक्रे वा परिणतो यस्तिष्ठति तस्य कायोत्सर्गः उत्थितोत्थितो नाम । द्रव्यभावोत्थानसमन्वितत्वादुत्थानप्रकर्षः उत्थितोत्थितशब्देनोच्यते । तत्र द्रव्योत्थानं शरीरं स्थाणुबद्धं अविचलमवस्थानं । ध्येयैकवस्तुनिष्ठता ज्ञानार-
ब्धस्य भावस्य भावोत्थानं । आर्तौद्भवो परिणतो यस्तिष्ठति तस्य उत्थितनिषण्णो नाम कायोत्सर्गः । शरीरो-
त्थानादुत्थितत्वं शुभपरिणामोद्गतिरूपस्योत्थानस्याभावाग्निषण्ण इत्युच्यते । अत एव विरोधाभावो भिन्न-

कायत्याग उचित है । तथा वह शरीरसे निस्पृह होकर, स्थाणुकी तरह शरीरको सीधा करके, दोनों हाथोंको लटकाकर, प्रशस्त ध्यानमें लीन हो, शरीरको ऊँचा-नीचा न करके परीषद्गों और उपसर्गों को सहन करता हुआ, कर्मोंको नष्ट करनेकी अभिलाषासे जन्तुरहित एकान्त देशमें ठहरता है ।

कायोत्सर्गका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल एक वर्ष है । अतिचारोंको दूर करनेके लिए कायोत्सर्गके रात, दिन, पक्ष, मास, चार मास, वर्ष आदिकालमें होनेवाले अतिचारोंकी अपेक्षा अनेक भेद हैं । सायंकालमें सी उच्छ्वास प्रमाण, प्रातःकालमें पचास उच्छ्वास प्रमाण, पाक्षिक अतिचारमें तीन सौ उच्छ्वास प्रमाण, चार मासोंमें चार सौ उच्छ्वास प्रमाण और वाषिकमें पाँच सौ उच्छ्वास प्रमाण काल कायोत्सर्गका है । हिंसा आदि पाँच अतिचारोंमें एक सौ आठ उच्छ्वास मात्र काल तक कायोत्सर्ग करना चाहिए । कायोत्सर्ग करनेपर यदि उच्छ्वासका अथवा परिणामका स्थूलन हो जाये तो आठ उच्छ्वासप्रमाण अधिक काल तक कायोत्सर्ग करना चाहिए ।

कायोत्सर्गके चार भेद है—उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्ट, उपविष्टउत्थित, और उपविष्ट-
निविष्ट । जो धर्मध्यान या शुकलध्यान सहित कायोत्सर्ग करता है उसके उत्थितोत्थित नामक कायोत्सर्ग है । यहाँ द्रव्य और भाव दोनोंके ही उत्थानसे युक्त होनेसे उत्थितोत्थित शब्दसे उत्थानका प्रकर्ष कहा है । स्थाणुकी तरह शरीरका उन्नत और निश्चल रहना द्रव्योत्थान है । ज्ञानरूप भावका ध्यान करने योग्य एक ही वस्तुमें स्थिर रहना भावोत्थान है । जो आर्त रौद्र-
ध्यानके साथ कायोत्सर्ग करता है उसके उत्थितनिविष्ट नामक कायोत्सर्ग होता है । शरीरके सड़े होनेसे इसे उत्थित और शुभपरिणामकी उद्गतिरूप उत्थानका अभाव होनेसे निविष्ट या निषण्ण कहते हैं । इसीसे एक कालमें एक क्षेत्रमें उत्थान—सड़े होना और निविष्ट—बैठना इन दोनों आसनोंमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि दोनोंके निमित्त मिश्र हैं । जो बैठकर ही धर्म और शुकलध्यान करता है उसके उत्थितनिषण्ण कायोत्सर्ग होता है क्योंकि उसके परिणाम तो उत्थित

निमित्तत्वाद्दुःखानामनयोः एकत्र एकत्वा । यस्त्वासीन एव धर्मशुक्लध्यानपरिष्णतिमुपैति तस्य उत्थितनिषण्णो भवति परिणामोत्थानात्कामानुत्थानाच्च । यस्तु निषण्णोऽभुमध्यानपरस्तस्य निषण्णनिषण्णकः कायशुभपरिणामाभ्यां अनुत्थानात् ।

ईदृशिकाशरीचार रत्नत्रयगतं मनसा विमूष्य इदं मया^१ न सुष्ठु कृतं प्रमादिनेति संचिन्त्य पश्चाद्धर्मं शुक्ले वा ध्याने प्रयत्नितव्यम् ।

कायोत्सर्गप्रपन्नः स्थानदोषान्परिहरेत् । के तं इति चेदुच्यते । १ नुरग इव कुटीकृतपादेन अवस्थानम् २ क्लतेवेतस्तत्तद्वचलतोऽवस्थानं ३ स्तम्भवत्स्तम्भशरीरं कृत्वा स्थानं । ४ स्तम्भोपाश्रयेण वा कुडपाश्रयेण वा माहावकलमधिरसा बावस्थानम् । ५ लंबिनाशरतया, स्तनगतदृष्टया बायस इव इतस्ततो नयनोद्धर्तनं कृत्वा । ६ लालीनाशपीडितमुखहृद्य इव मुखचालनं संपादयतोऽवस्थानं । ७ युगावष्टम्बबलीवर्ह इव शिरोऽधः पृतयता । ८ कपित्थफलप्राहीव विकाशिकरतलं, संकुचिताङ्गुलिपंचकं वा कृत्वा ९ शिरश्चालनं कुर्वन् १० मूक इव हुंकारं संपादावस्थानं ११ मूक इव नासिकया वस्तुपर्वशयता वा १२ अंगुलीस्फोटनं १३ भ्रूतर्तनं वा कृत्वा १४ शबरवपुर्विव स्वकीपीनवेशाच्छादनपुराणं १५ श्रुत्वालाबद्धपाद इव बावस्थानं १६ पीतमदिर इव परवधगतशरीरो वा मूत्वावस्थानं इत्यमी बोधाः ॥

व्यावृत्तितानामावश्यकानां अपरिहाणिहानिर्न कार्या । अनुत्सेयो आधिक्येनाकरणं च ।

है किन्तु शरीर बैठा हुआ है । जो बैठे हुए अगुमध्यानमें लीन होता है उसके निषण्ण निषण्ण कायोत्सर्ग होता है । क्योंकि न ना उसका शरीर उत्थित है और न शुभपरिणाम ही हैं । रत्नत्रयमे देवसिक आदि अतीचारीको मनसे विचारकर 'मुझ प्रमादीने यह ठीक नहीं किया' ऐसा सोचकर पीछे धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान करना चाहिये ।

कायोत्सर्ग करने वालेको स्थान सम्बन्धी दोष दूर करना चाहिये । वे दोष इस प्रकार हैं— १ घोड़ेकी तरह पैरको थोड़ा मोड़कर खड़ा होना । २ बेलकी तरह इधर-उधर हिलते हुए खड़े होना । ३. स्तम्भकी तरह शरीरको स्तम्भ करके खड़े होना । ४. स्तम्भ अथवा दीवारके आश्रयसे अथवा ऊपरके तल्लेसे सिरको लगाकर खड़े होना । ५. ओष्ठको लटककर दृष्टि अपने स्तनों पर रखकर कौएकी तरह आँखोंको इधर-उधर घुमाना । ६. लगामसे पीड़ित मूख वाले घोड़ेकी तरह मुख चलाते हुए अवस्थित होना । ७. जैसे कन्धे पर जुआ होनेसे बैल अपना सिर नीचे डालता है उस तरह सिरको लटकाकर अवस्थापन करना । ८. कैथके फलको ग्रहण करने वाला मनुष्य जैसे अपनी हथेलीको फैलाता है उस तरह हथेलीको फैलाकर या पाँचों अंगुलियोंको संकुचित करके अवस्थित होना । ९. सिरको चलाते हुए अवस्थान । १०. गूँगेकी तरह हुंकार करते हुए अवस्थान । ११. गूँगेकी तरह नाकसे वस्तुको दिखलाते हुए अवस्थान । १२. अंगुली चटकाते हुए अवस्थान । १३. भौंको नचाते हुए अवस्थान । १४. भीलनीकी तरह अपने अग्रभागको हथेलीसे ढाँकते हुए अवस्थान । १५. ऐसे खड़े होना मानों दोनों पैर साँकलसे बँधे हैं । १६. मदिरा पिये हुए की तरह अथवा पराधीन शरीर वालेकी तरह खड़ा होना । ये कायोत्सर्गके दोष हैं ।

जो पहले छह आवश्यक कहे हैं उनमें हानि नहीं करनी चाहिये और न उनमें आधिक्य करना चाहिये ॥ ११८ ॥

अची तबोधिर्वमि य तवम्मि य अहीलजा य सेसाणं ।
एसो तवम्मि बिणजो जहुत्तचारिस्स साधुस्स ॥११९॥

‘भत्तो’ भक्तिः । बचननिरोद्धाणादिविप्रसाहेन अभिव्यक्त्यभावीऽस्तर्कतोऽनुरागः । ‘तबोधिर्वमि’ तपो
अधिके च ‘तवम्मि’ य सम्यक्तपसि, तद्वति च, भक्तिरिति यावत् । तच्च सम्यग्ज्ञानवर्धनसयमानुवर्त । ‘अही-
लजा’ य अपरिभवत्च । ‘सेसाणं’ सेवाया । तपसा न्यूनानामात्मनः ज्ञानश्रद्धान्नाचरणवता परिभवे ज्ञानावीग्येव
परिश्रुतानि भवति । ततो बहुमानाभावो ज्ञानातिचारः, वात्सल्याभावो दर्शनातिचारः । सातिचारज्ञानवर्धनस्य
चारित्रममद्युद्ध इति, महाननर्थ इति भावः । ‘एसो’ एष व्यावृत्तपरिणामसमूह उत्तरगुणोद्योगादिकः ।
‘तवम्मि’ तपसि तपोविषयः । ‘बिणजो’ विनयः । ‘जहुत्तचारिस्स’ श्रुतिनिरूपितक्रमेणाचरतः । ‘साधुस्स’
साधोः ॥११९॥

उपचारविनयनिरूपणार्थोत्तरमाथा—

काइयवाइयमाणसिओत्ति तिबिधो हु पंचमो विणओ ।
सो पुण सच्चो दुबिहो पच्चक्खो वेव पारोक्खो ॥१२०॥

‘काइयवाइयमाणसिओत्ति’ पदसंबन्धः । पंचमो विनयस्त्रिप्रकारः कायेन, मनसा, वचसा च, निर्बल्यते
इति । ‘सो पुण सच्चो’ स पुनस्त्रिप्रकारोऽपि विनयः । ‘दुबिहो’ द्विविधः । ‘पच्चक्खो वेव’ प्रत्यक्षः ।
‘पारोक्खो’ परोक्षश्चेति ॥१२०॥

शा०—जो तपमें अधिक है उनमें और तपमें भक्ति और जो अपनेसे तपमें हीन है उनका
अपरिभव यह श्रुतके अनुसार आचरण करने वाले साधुकी तप विनय है ॥११९॥

टी०—मुखकी प्रसन्नतासे प्रकट होनेवाले आन्तरिक अनुरागको भक्ति कहते हैं । तपसे
आधिक्यमें ओर सम्यक् तपमें भक्ति करना । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और संयमके अनुगत तप ही
सम्यक् तप है । जो तपमें न्यून है उनका तिरस्कार नहीं करना । जो ज्ञान श्रद्धान और चारित्रसे
युक्त होनेपर भी अपनेसे तपमें कम हैं, उनका तिरस्कार करनेपर ज्ञानादिका ही तिरस्कार होता
है । और ऐसोंका बहुमान न करना ज्ञानका अतिचार है । उनमें वात्सल्य न रखना सम्यग्दर्शनका
अतिचार है । और जिसका ज्ञान और दर्शन सातिचार है उसका चारित्र अमद्युद्ध है, इस तरह
महान् अनर्थ है । यह ऊपर कहा, उत्तरगुणोंमें उद्योग आदि शास्त्रानुसार आचरण करनेवाले साधु
की तप विषयक विनय है ॥११९॥

उपचार विनयका निरूपण करते हैं—

शा०—पाँचवीं उपचार विनय तीन प्रकारकी है कायिक, वाचनिक और मानसिक । और
बहु तीनों प्रकारकी विनय दो प्रकारकी है प्रत्यक्ष विनय और परोक्ष विनय ॥१२०॥

टी०—पाँचवीं विनय तीन प्रकारकी है जो कायसे, मनसे और वचनसे की जाती है । और
ये तीनों प्रकारकी भी विनय दो प्रकारकी है—प्रत्यक्ष और परोक्ष ॥१२०॥

सप्त प्रत्यक्षकायिकविनयप्रवर्धनाय गाथाचतुष्टयमुत्तरम्—

अङ्गुट्टाणं किदियम्मं जवसणं अंजलीं च हुंटाणं ।

पञ्चुम्माच्छममेवो पच्छिद अणुसाधणं वेव ॥१२१॥

'अङ्गुट्टाणं' अङ्गुत्थानं गुर्वादीनां प्रवेशानिःकमणयोः । 'किदियम्मं' गर्बसणं, बंधना, शरीरत्वनिश्चय । 'अंजलीं च' कृताञ्जलिपुट्टा च । 'हुंटाणं' शिरोवनसिपच । 'पञ्चुम्माच्छममेवो' प्रत्युत्थमनं । आसीने स्थिते वा गुरी । 'पच्छिद अणुसाधणं वेव' स्वयं गच्छतः दूरात्परिहृत्य निभूतकरधरणस्यावनतगात्रस्य गमनं, सह्यमे वा पृष्ठतः स्वशरीरमात्रप्रमाणभूमिगानेन तं परिहृत्य गमनं ॥१२१॥

णीचं ठाणं णीचं गमणं णीचं च आसणं सयणं ।

आसणदाणं उवगरजदाणमोगासदाणं च ॥१२२॥

'णीचं च आसणं' नीचैरासनं । पृष्ठतः स्वहस्तपादस्वासादिभिस्सपहुतो न भवति यथा गुर्वादिस्तथासनं । अवतोरभिमुक्तात् मनापयसृत्य वामपार्श्वेऽनुद्धतस्येवचवनतीसमायस्य चासनं । आसने गुराभुपसिद्धे स्वयं भूमावासनं च । 'स्वयं च णीचमिति' पचघटना । नीचैः क्षयनमिति यावत् । 'अनुन्मते देवो क्षयनं, गुल्मानिप्रमाणमात्र-भूमिगाने वा स्वशिरो भवति यथा तथा क्षयनं । हस्तपादादिभिर्वा यथा न चप्यते गुर्वादिः । 'आसणदाणं'

उनमेंसे प्रत्यक्षकायिक विनयको चार गाथाओंसे दिखलाते हैं—

टी०—गुरु आदिके प्रवेश करनेपर या बाहर जानेपर अङ्गुत्थान—खड़े होना, कृतिकर्म अर्थात् बन्धना करना, गर्बसण अर्थात् शरीरको नम्र करना, दोनों हाथोंको जोड़ना, सिरको नवाना, प्रत्युद्गमन अर्थात् गुरुके बैठने अथवा खड़े होनेपर उनके सामने जाना, और जब गुरु जावें तो उनसे दूर रहते हुए अपने हाथ पैरको शान्त और शरीरको नम्र करके गमन करना और गुरु के साथ जानेपर उनके पीछे अपने शरीर प्रमाण भूमिभागका अन्तराल देकर गमन करें ॥१२१॥

विद्योच्चारणं—प० आसाधरणे अपनी टीकामें लिखा है कि टीकाकार तो 'पच्छिद अणुसाधणं' के स्थानमें 'पच्छिद संसाहणा' पढ़ते हैं और उसकी व्याख्या करते हैं कि—आचार्य उपाध्याय आदिके द्वारा प्राणित और मनसे अभिलषितका सम्यक् प्रसाधन करना अर्थात् आज्ञा नहीं देनेपर भी संकेतसे ही जानकर करना । यह टीकाकार कोई दूसरे जान पड़ते हैं क्योंकि विजयोदयामें तो यह पाठ नहीं है ।

शा०—नीचा स्थान, नीचा गमन, नीच आसन, नीचे सोना, आसनदान, उपकरणदान और अवकाशदान ये उपचार विनयके प्रकार हैं ॥१२२॥

टी०—नीचा आसन—गुरुके पीछे इस प्रकार बैठे कि अपने हाथ पैर बसाव आदिसे गुरुको किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचे । आगे बैठना हो तो सामनेसे थोड़ा हटकर गुरुके नाम भागमें उद्धतता त्यागकर और अपने मस्तकको थोड़ा नवाकर बैठे । आसन पर गुरुके बैठने पर स्वयं भूमिमें बैठे । नीचे सोना—अर्थात् जो ऊँचा नहीं हो ऐसे देशमें सोना, अथवा गुरुके नाम प्रमाण मात्र भूभागमें अपना स्थिर रहे इस प्रकार सोना । अथवा अपने हाथ पैर बगैरहसे गुरु आदिक

आसितुमिच्छति इत्यवगम्य निरूप्य चक्षुषा प्रमार्जनयोग्यं न वेति, पश्चात्प्रतिलेखनेन क्लृप्तवर्माद्वाविगुणा-
न्वितेनातिघनकैः प्रमार्ज्यं भूभागं पीठादिकं च आसनदानं । 'उपकरणदानं' ज्ञानसंयमो उपक्रम्येते अनुगृह्येते
येनतदुपकरणं पुस्तकादि ब्रह्मीतुमभिप्रेतं तस्य दानं । अथवा उद्गमोत्पादनैवणादिदोषैर्दुष्टस्य तुप्रतिलेखन-
स्यात्प्रमां क्लृप्तस्य उपकरणस्य दानं । 'ओमासुखार्थं च' अवकाशदानं च शीतानर्त्त्यावस्थितनिवातावकाशदानं,
उष्णाहितस्य शीतलस्थानदानं ग्रामनगरादिविवावासस्थानदानं वा ॥१२२॥

पडिरूपकायसंस्पर्शना पडिरूपकालकिरिया य ।

पेन्नणकरणं संयारकरणमुवकरणपडिल्लिहणं ॥१२३॥

'पडिरूपकायसंस्पर्शना' कायस्य सस्पर्शनं । प्रतिरूपं कायस्य संस्पर्शनं प्रतिरूपकाय-
सस्पर्शनं तस्य भावः प्रतिरूपकायसंस्पर्शनता । गुर्वादिशरीरानुकूल सस्पर्शनमिति यावत् ।

अयं चात्र क्रम —मनागुपसृत्य स्थित्वा तदीयेन पिच्छेन कायं त्रि' प्रमूज्य आगंतुकजीवबाधापरिहाराप-
युक्तः सादरः स्वबलानुरूपं यावद्यादुर्भर्दनसहस्तावदेव मर्दनं कुर्यात् । उष्णाभितप्तस्य यथा शीत्यं भवति तथा
स्यूषेच्छीतार्त्तस्य यथोष्ण्यं तथा ।

'पडिरूपकालकिरिया य' कालकृतोऽस्वाविशेषो बालत्वाविरिह कालशब्देनोच्यते कालप्रभवत्वात् ।

संघट्टन न हो इस प्रकार शयन करे । आसनदान—गुरु बैठना चाहते हैं ऐसा जानकर चक्षुसे
देखे कि प्रमार्जनके योग्य है या नहीं ? पीछे लाघव कोमलता आदि गुणोंसे युक्त पीछीसे अत्यन्त
धीरेसे भूभाग और आसन आदिको पोछ देवे । उपकरणदान—जिससे ज्ञान और समय का
उपकार हो उसे उपकरण कहते हैं । गुरु पुस्तक आदि चाहते हो तो उन्हें देना । अथवा उद्गम
उत्पादन आदि दोषोंसे रहित उपकरण अपनेको मिला हो तो उसे देना उपकरणदान है । अवकाश-
दान—शीतसे पीड़ितको बायु रहित स्थान देना और गर्मीसे पीड़ितको शीतल स्थान देना, अथवा
ग्राम नगर आदिमें अपना आवास स्थान देना ॥१२२॥

विशेषार्थ—नीचा स्थानका मतलब है गुरु जहाँ बैठे या खड़े हों उसके वाम भागमें या
पीछे बैठना । और नीचे गमनका मतलब है—गुरुके बैठे रहते या खड़े रहते स्वयं गमन करते
शिष्यका गुस्ते दूर रहते हुए अपने हाथ पैरको निचल रखते हुए और शरीर को नम्र करके
गमन करना ।

गा०—गुरु आदिके शरीरके अनुकूल स्पर्शन, बालपने आदि अवस्थाके अनुरूप वैयावृत्य
करना, और गुरु आदिकी आज्ञाका पालन करना, तृण आदिका संभार करना, उपकरणोंकी प्रति-
लेखना करना ॥१२३॥

टी०—कायके स्पर्शनको कायस्पर्शन कहते हैं । प्रतिरूप कायका स्पर्शन प्रतिरूप काय
स्पर्शन है और उसका भाव प्रतिरूपकाय स्पर्शनता है अर्थात् गुरु आदिके शरीरके अनुकूल स्पर्शन
करना । इसका क्रम इस प्रकार है—गुस्ते षोड़ा हटकर बैठे और उनकी पीछीसे तीन बार
उनके शरीरका प्रमार्जन करके आगंतुक जीवकी किसी प्रकारकी बाधा न हो इस प्रकार सादर
अपने बलके अनुरूप जितने काल तक और जितना मर्दन गुरु सह सके उतना ही मर्दन करे । यदि
गुरु गर्मीसे तप्त हों तो शीतपना जिस प्रकार संभव उस प्रकार स्पर्श करे और यदि शीतसे पीड़ित
हों तो गर्मी पहुँचाना जैसे हो उस प्रकार स्पर्श करे । तथा 'प्रतिरूपकाल क्रिया' में काल शब्दसे

तेन बालस्याद्यनुरूपवैद्यावृत्त्यक्रियेति यावत् । पेशचकरणं गुर्वादिभिराक्रान्तस्य । 'संभारकर्णं' तुणफलकादिकसंस्तरणक्रिया । 'उच्चकरणपठित्तिहृत्' गुर्वादीनां ज्ञानसंयमोपकरणप्रतिलेखनं अस्तमनवेलाया आवित्योद्गमने च ॥१२३॥

**इच्छेद्यमादि विणञो उवयारो कीरदे सरीरेण ।
एसो काइयविणञो जहारिहो साहुवम्मम्मि ॥१२४॥**

उपचारिकविनयः । शेषं सुगमं ।

वाचिकविनयनिरूपणार्थं गाथाद्वयम्—

**पूयावयर्णं ह्रिदभासणं च मिदभासणं च महुरं च ।
सुत्तानुवीचिवयणं अणिट्टुरमकक्कसं वयणं ॥१२५॥**

'पूयावयर्णं' पूजापुरस्सरं वचनं भट्टारक इदं श्रुणोमि, भगवन्निदं कर्तुमिच्छामि युष्मदनुमयेत्यादिकं । 'ह्रिदभासणं च' गुर्वादीनां यद्विदितं लोकद्वयस्य तस्य भाषण । 'मितभासणं' यावता विविदिपितार्थप्रतिपत्तिर्भवति तावदेव वक्तव्यं न प्रसक्तानुप्रसक्तं । 'मधुरं' च श्रोत्रप्रियं । 'सुत्तानुवीचिवयणं' सूत्रानुवीचिवचनं । भाषासमित्यधिकारे यानि वाक्यानि निविष्टानि वचांसि तेषां कथनं । 'अणिट्टुरं' अनिष्टुरं परचित्तपीडाकृतावनुद्यतं । 'अकक्कसं वयणं' अकर्कशं वचनं अपक्ष्यमिति यावत् ॥१२५॥

कालकृत अवस्थाविशेषे बाल्य अवस्था आदि ग्रहण की है क्योंकि वह कालसे होती है । अतः गुरुकी बाल आदि अवस्थाके अनुसार वैयावृत्य करना चाहिये । उनके लिये तुणोंका या लकड़ीके पटियाका संथरा करना चाहिये । सूर्यके अस्त और उदय होनेके समय उनके ज्ञान और सयमके उपकरण शास्त्र कमण्डलु आदिकी सफाई करना चाहिये ॥१२३॥

गा०—इस प्रकारको आदि लेकर उपचार विनय शरीरके द्वारा साधुवर्गमें यथा योग्य की जाती है । यह कायिक विनय है ॥१२४॥

टी०—यह उपचार विनय है । शेष सुगम है ॥१२४॥

दो गाथाओंसे वाचिक विनयका निरूपण करते हैं—

गा०—पूजा पूर्वक वचन, हितकारी भाषण, मित भाषण, मधुर भाषण, सूत्रानुसार वचन, अनिष्टुर और अकर्कश वचन वचनविनय है ॥१२५॥

टी०—'हे भट्टारक ! मैं सुन रहा हूँ,' 'हे भगवन् आपकी आज्ञा हो तो मैं ऐसा करना चाहता हूँ । इस प्रकारसे पूजा पूर्वक वचन बोलना । जो गुरु आदिके लिये इस लोक और परलोक में हितकर हो ऐसा हित भाषण करना । जितना बोलनेसे विवक्षित अर्थका बोध हो उतना ही बोलना, प्रासंगिक या अप्रासंगिक न बोलना । कानोंको प्रिय वचन बोलना, भाषासमिति अधिकार में जो वचन बोलने योग्य कहे हैं उन्हें ही बोलना, तथा दूसरेके चित्तको पीड़ा करने वाले निष्टुर वचन और कर्कश वचन न बोलना वाचिक विनय है ॥१२५॥

उत्सर्तवचनमगिहृत्स्ववचनमकिरियमहीलजं वचनं ।

एसो बाह्यविजजो जहारिहो होदि कादम्बो ॥१२६॥

'उत्सर्तवचनं' प्रधातरात्मकोपः उपधातः तस्य वचनं उपधातवचनं । विरामस्य विरोधस्य च यद्वचन-
स्तदेव भाष्यं । 'अगिहृत्स्ववचनं' गृहस्था मिध्यावृष्टयोऽसंयता अयोग्यवचनविकल्पानभिज्ञास्तेषां यद्वचनं न
भवति तस्य अविधानं । 'अकिरियं' वदकर्मव्यावर्धनपरं यन्न भवति । 'अहीलजं' परानवज्ञाकारि । 'एसो'
व्याप्तवचनव्यापारः । 'बाह्यविजजो' बाह्यिनयो । 'जहारिहं' यथाहं । 'होदि कादम्बो' कर्तव्यो
भवति ॥१२६॥

मानसिकविनयं निरूपयति—

पापविज्ञोत्तिय परिणामवज्जर्जं पियहिदे य परिणामो ।

पापजो संखेजेन एसो माणस्सिजो विजजो ॥१२७॥

'पापविज्ञोत्तियपरिणामवज्जर्जं' पापज्ञानेन अनुभक्तमप्युच्यते । ज्ञोतः प्रवाहः । ज्ञोत इव अविच्छेदेन
प्रवृत्तेः कर्माणि अपि पापविज्ञोतःशब्देन उच्यन्ते । पापविज्ञोतःप्रयोजनाः परिणामा ये तेषां वर्जनं । इह गुरु-
विनयस्य प्रस्तुतत्वात् गुरुविषयोऽशुभः परिणामः आत्मनो यद्येष्टचारित्तरनिवारणजनितः क्रोधः । अविनीतता-
वर्धनाद्यनुग्रहाभावप्रपेक्ष्य नाध्याययति पूर्वबन्ध मया सह संभावणं करोति इति वा क्रोधः । गुरुविनये आत्मस्थं,

वा०—उपशान्त वचन, जो वचन गृहस्थों के योग्य नहीं हैं, कृषि आदि आरम्भ से शून्य
वचन, दूसरों की अज्ञान न करने वाला वचन बोलना यह यथा योग्य वाचिकविनय करने योग्य
होती है ॥१२६॥

टी०—जिसका राग द्वेष शान्त हो गया है उसे उपशान्त कहते हैं । उसका वचन
उपशान्त वचन है । अर्थात् राग रहित और रोष रहितका जो वचन होता है वही बोलना
चाहिये । गृहस्थ अर्थात् मिध्यावृष्टि और असंयमी जो योग्य अयोग्य वचनोंको नहीं जानते,
उनका जो वचन हो वह नहीं बोलना जो वचन वे नहीं बोलते वही बोलना चाहिये । जिस
वचन में अस्ति, मयी, कृषि, सेवा, वाणिज्य आदि वदकर्मोंका उपदेश न हो वह बोलना चाहिये ।
तथा जो वचन दूसरेका निरादर न करता हो वह बोलना चाहिये । ये जो वचन कहे हैं इनका
बोलना वचन विनय है । उसको यथायोग्य करना चाहिये ॥१२६॥

मानसिक विनय को कहते हैं—

वा०—पापको छाने वाले परिणामोंको न करना, जो गुरुको प्रिय और हितकर हो उसीमें
परिणाम लगाना, यह संखेपसे मानसिक विनय जानना ॥१२७॥

टी०—पाप शब्दसे अशुभ कर्मोंको कहा है । ज्ञोतका अर्थ प्रवाह है । प्रवाहकी तरह
क्यातार होनेसे कर्मोंको भी पाप विज्ञोत शब्दसे कहा है । पापको छाना ही विनयका काम है उन
परिणामोंको त्यागना चाहिये । यह गुरु विनयका प्रकरण होनेसे गुरु विनयक अशुभ परिणाम
लेना । गुरुके द्वारा अपनी स्वेच्छाचारिताका निवारण करनेसे क्रोध उत्पन्न होना, शिष्यको
अविनयी देखे उसपर गुरु क्रुपा न करे तो 'मुझे पहलेकी तरह नहीं पढ़ाते हैं न मेरे साथ पहलेकी
तरह वार्तालाप करते हैं इस प्रकार क्रोध करना, गुरुकी विनयमें प्रमाद करना, गुरुकी अज्ञाना

गुरुं प्रत्यक्षता, निवा, संभ्रमः, तदप्रतिकूलवृत्तितत्त्वेवमाययः । 'विद्यहिमे व परिचामो' गुरोर्योस्त्रियं तस्मै यद्धितं आत्मने वा तत्र परिणामः । 'जाबन्वो' ज्ञातव्यः । 'संक्षेपेण' समक्षेण । 'एषो' एषः । 'भाणस्सिगो' मानसिकः । 'विणजो' विनयः ॥१२७॥

इय एसो पञ्चवक्त्रो विणजो परोक्खिजो वि जं गुरुणो ।

विरहम्मि विवद्धिज्जइ आणाणिहेसचरियाए ॥१२८॥

'इय' एषः । 'एषो' एषः । 'पञ्चवक्त्रो' प्रत्यक्षी विनयः । सन्निहितगुरुविषयत्वात् । 'पारोक्खिजो' वि गुरोः परोक्षे क्रियमाणोऽपि विनयः । कोऽभाविति चेदाह—'गुरुको विरहम्मि विवद्धिज्जइ' गुरोर्विरहोऽपि यत् क्रियते । 'आणाणिहेसचरियाए' आशानाम्—इत्यमेव भवता कार्यं समुत्थानं न कदाचनेत्यभिति यन्निहित्यते तदाज्ञानिर्देशः । 'अद्धंतणो विहारो वंसंनंताणचरयेसु काबब्बो' इत्येवमाविसवृथः ॥१२८॥

न गुरुत्वेव विनयः कार्यं इति ग्रहीतव्यं, एतेष्वपि विनयः कर्तव्य इत्याह—

राहणिय अराहणीएसु अज्जासु वेव गिहिवग्गे ।

विणजो जाहरिहो सो कायब्बो अप्पमत्तेण ॥ १२९॥

'राहणिय अराहणीएसु' यथा रत्नानि दुर्लभानि अभिलषितदानक्षमाणि तथैव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि श्रद्धानादिविणामेनोत्कृष्टेन वर्तमानः राहणिय इत्युच्यते । आत्मनो न्यूनरत्नत्रया अराहणिया भवता 'राहिविण अमराहिविणेषु' ज्येष्ठकनिष्ठव्रतेषु च शेषं सुगमं ॥१२९॥

करना निन्दा करना, उनके प्रतिफूल चलना इत्यादि पाप परिणामोंको छोड़ना । और गुरुको जो प्रिय हो और हितकर हो उसमें ही परिणाम लगाना । ये संक्षेपसे मानसिक विनय हैं ॥१२७॥

शा०—इस प्रकार यह प्रत्यक्ष विनय है, परोक्ष विनय भी वह है जो गुरुके अभावमें उनकी आज्ञा निर्देशका आचरण करनेमें की जाती है ॥१२८॥

टी०—यह प्रत्यक्ष विनय है क्योंकि गुरुके सामनेकी जाती है और गुरुके अभावमें जो उनकी आज्ञाका पालन किया जाता है वह गुरुके परोक्षमें होनेसे परोक्ष विनय है । 'आप मुझसे हैं आपको ऐसा ही करना चाहिये और कभी भी उसके विपरीत नहीं करना चाहिये' यह आज्ञा निर्देश है । जैसे 'सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्रमें सदा विहार करना चाहिये', इत्यादि ॥१२८॥

'न केवल गुरुकी ही विनय करना चाहिये किन्तु इनकी भी विनय करना चाहिये यह कहते हैं—

शा०—रत्नत्रयमें जो अपनेसे उत्कृष्ट हैं, रत्नत्रयमें जो अपनेसे हीन है उनमें, आर्थिकाओंमें और गृहस्थवर्गमें वह विनय जो जिस योग्य हो, प्रमाद रहित होकर करना ही चाहिये ॥१२९॥

टी०—जिस प्रकार इच्छित वस्तुको देनेमें समर्थ रत्न दुर्लभ हैं उसी तरह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रत्न शब्दसे कहे गये हैं । अतः जो उत्कृष्ट श्रद्धानादि परिणामों से युक्त हैं तथा अपनेसे न्यून रत्नत्रयसे युक्त हैं उनकी विनय करना चाहिये । अथवा 'राहिविण अमराहिविणेषु' ऐसा पाठ होनेपर भी अपनेसे जो व्रतोंमें ज्येष्ठ हैं और कनिष्ठ हैं उनकी विनय करना चाहिये । शेष गाथा सुगम है ॥१२९॥

विनयाभावे दोषमाशङ्कते—दोषप्रकटनेन भयमुत्पाद्य विनये दृढता कर्तुम्—

विणयण विष्णुहृणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया मव्वा ।

विणजो सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकम्माणं ॥१३०॥

'विणयण विष्णुहृणस्स' विनयरहितस्य यतेः । 'हवद्दि सिक्खा णिरत्थिया मव्वा' सर्वशिक्षा निष्फला । किं शिक्षायाः फलं इत्यारभ्य आह—'विणजो सिक्खाए फलं' व्यावर्णितः पञ्चप्रकारो विनयः शिक्षायाः फलं । तस्य विनयस्य किं फलं ? पुरुषार्थो हि फलमित्यासंबन्धाह 'विणयफलं सव्वकम्माणं' सर्वमभ्युदयनिःश्रेयसकर्म कल्याणस्थानमानीस्वर्गादिक इन्द्रियानिन्द्रियसुखं च ॥१३०॥

विणजो मोक्खहारं विणयादो संजमो तवो णाणं ।

विणएणाराहिज्जह आयरिओ सव्वसंघो य ॥१३१॥

'विणजो मोक्खहारं' यथा द्वारमभिमतदेशप्राप्तेश्चपायस्तद्वत् मोक्षस्य निरवशेषकर्मापायस्य प्राप्त्यानुपायो विनय इति मोक्षद्वारमित्युच्यते । निरूपिते पञ्चप्रकारे विनये स्वल्पेभे (?) कर्मापायो भवतीति 'विणयादो' विनयाद् हेतोः 'संजमो' संयमो भवति । ज्ञानादिविनयेषु अनवरतं प्रवर्तमानो ह्यसंयम परिहर्तुं शक्नोति नापरः । इन्द्रियकषाययोरप्रतिबन्धनं यदि न स्यात् कथमिन्द्रियसंयमः प्राप्तिर्संयमो वा भवति ? 'तवो' तपः ज्ञाना-

बिज्ञेसार्थ—पं० आशाधरने अपनी टीकामें 'रादिणिग उमरादिणिगेसु' पाठ रखा है—'रादिणिगा' अपनेसे रत्नत्रयसे अधिक या समान साधु । उमरादिणिगा—अपनेसे हीन रत्नत्रय वाले, ऐसा अर्थ किया है । और लिखा है कि अन्य टीकाकार इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—रातिका और अबम रातिका अर्थात् जो अपनेसे तपमें एक रात आदि बड़े या छोटे हैं ॥

दोष प्रकट करनेसे भय उत्पन्न कराकर विनयमें दृढ करनेके लिये विनयके अभावमें दोष कहते हैं—

शा०—विनयसे रहित साधुकी सब शिक्षा निष्फल होती है । शिक्षाका फल विनय है । विनयका फल सब कल्याण है ॥१३०॥

टी०—विनय रहित साधुकी सब शिक्षा निष्फल है; क्योंकि पूर्वमें कही पाँच प्रकार की विनय शिक्षाका फल है और उस विनयका फल सर्व कल्याण है । सब लौकिक अभ्युदय और मोक्ष रूप कल्याण उसका फल है अर्थात् विनयसे मान, ऐश्वर्य आदि तथा इन्द्रिय जन्य और अतीन्द्रिय सुख मिलता है ॥१३०॥

शा०—विनय मोक्षका द्वार है । विनयसे संयम, तप और ज्ञानकी प्राप्ति होती है । विनयसे आचार्य और सर्व संघ अपने वचनमें किया जाता है ॥१३१॥

टी०—जैसे द्वार इष्ट देशकी प्राप्तिका उपाय होता है उसी तरह समस्त कर्मके विनाश रूप मोक्षकी प्राप्ति का उपाय विनय है इस लिये मोक्षका द्वार कहा है । पूर्वमें कही पाँच प्रकार की विनयके होनेपर ही कर्मसे छुटकारा होता है । विनयसे ही संयम होता है । क्योंकि जो पाँच प्रकारकी विनयोंमें सदा लगा रहता है वही असंयमको त्यागनेमें समर्थ होता है, जो विनयोंमें प्रवृत्ति नहीं करता वह असंयमको नहीं छोड़ सकता । यदि इन्द्रियों और कषायोंकी ओरसे विमुखता न हो तो कैसे इन्द्रिय संयम या प्राणिसंयम हो सकता है । तथा ज्ञानादिकी विनयसे

विनियमसूत्र्यं अनशानादिकं न कर्म तपतीति विनयहेतुकं तपसः तपस्त्वमिति मत्वोच्यते विनयात्तप इति । 'आर्ज' ज्ञानं च विनयहेतुकं । अविनीतो हि ज्ञानं न लभते । 'विनयश्च' विनयेन । 'आराधिकादि' आराध्यते स्वयसे स्वाप्यत । 'आचारिणो' आचार्यः । 'सम्बन्धो च' सर्वत्र संघः ॥१३१॥

आचारजीवकल्पगुणदीवणा अपतोषि णिज्झांझा ।

अज्जव मद्द लाचव मची पन्हादकरणं च ॥१३२॥

'आचारजीवकल्पगुणदीवणा' रत्नत्रयाचरणनिरूपणपरतया प्रथममङ्गमाचारशब्देनोच्यते । आचारशास्त्र-निदिष्टः क्रम आचारजीवशब्देन उच्यते । कल्प्यते अभिधीयते येन अपराधानुक्तो दण्डः स कल्पस्तस्य गुणः उपकारस्तेन निर्वर्त्यत्वात् । अनयोः प्रकाशनं 'आचारजीवकल्पगुणदीवणा' । एतदुक्तं भवति—कार्यिको वाचिकश्च विनयः प्रवर्तमानः आचारशास्त्रनिदिष्टं क्रमं प्रकाशयति । कल्पोऽपि विनयं विनाशयती दण्डयती विनयं निरूपयति । तद्भूयावयं प्रवर्त्यते इति कल्पसंघात उपकारः प्रकटितो भवति इति केषांचिद् व्याख्यानं । अन्ये तु वदन्ति । कल्पयते इति कल्प्यं योग्यं कल्प्या गुणाः कल्प्यगुणाः आचारक्रमस्य कल्प्यानां च गुणानां प्रकाशनं 'आचारजीवकल्पगुणदीवणाशब्देनोच्यते' श्रुताराधना चारित्र्याराधना च कृता भवतीत्येतद्व्याख्यातं अनेनेति ।

'अतसोषिणिज्झांझा' विनयपरिणतिरात्मशुद्धेर्ज्ञानदर्शनवीतरागात्मिकाया निमित्तमिति आत्मशुद्धिरुच्यते । अथवा ज्ञानादिविनयपरिणतिः कर्ममलापायलभ्यत्वात् शुद्धिरुच्यते आत्मनः पङ्कपायलभ्या जलाधि-

शून्य अनशन आदि कर्मको नष्ट नहीं कर सकते । इसलिये तपमें तपपनाका कारण विनय है ऐसा मानकर 'विनयसे तप होता है', कहा है । तथा ज्ञानका कारण भी विनय है । अविनीत पुरुष ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता । और विनयसे आचार्य तथा समस्त संघ अपने वशमें हो सकता है ॥१३१॥

श०—आचारके क्रम तथा कल्प्य गुणोंका प्रकाशन, आत्मशुद्धि, वैमनस्यका अभाव, आज्ञव, मार्दव, लघुता, भक्ति और अपने और दूसरोंको प्रसन्न करना, ये विनय के गुण हैं ॥१३२॥

टी०—रत्नत्रयके आचरणका कथन करनेमें तत्पर होनेसे पहले अंगको आचारांग कहते हैं । और आचार शास्त्रमें कहे गये क्रमको 'आचारजीव' शब्दसे कहते हैं । 'कल्पयते' अर्थात् जो अपराधके अनुरूप दण्डको कहता है वह कल्प है उसका गुण अर्थात् उपकार । इन दोनोंका प्रकाश 'आचारजीवकल्पगुणदीवणा' है । इसका अभिप्राय यह है कि कार्यिक और वाचिक विनयके करनेसे आचारशास्त्रमें कहे गये क्रमका प्रकाशन होता है । कल्प भी विनयको न मानने वाले साधुको दण्डका विधान करता है अतः विनयका ही निरूपण करता है । उसके भयसे साधु विनय करता है इस प्रकार कल्पके द्वारा किया जाने वाला उपकार प्रकट होता है । ऐसा किन्हीं का व्याख्यान है । अन्य टीकाकार कहते हैं—

'कल्पयते इति कल्प्य' अर्थात् योग्य । कल्प्य गुणोंको कल्प्यगुण कहते हैं । आचारके क्रमका और कल्प्य गुणोंका प्रकाशन 'आचारजीव कल्प गुण दीवणा' शब्दका अर्थ है । इससे यह कहा है कि विनय करनेसे श्रुतकी आराधना और चारित्र्य की आराधना होती है । तथा विनय करना आत्म शुद्धिका अर्थात् ज्ञान दर्शन और वीतराग रूप परिणतिका निमित्त है । अथवा ज्ञानादि विनय रूप परिणति कर्ममलके विनाशसे प्राप्त होती है अतः उसे आत्माकी शुद्धि कहते हैं । जैसे

शुद्धिरिव । वैमनस्यभाषो 'षिञ्जंशा' विमनस्को भवति विनयहीनो गुर्वाविभित्तनुपुष्टमाधः ।

'अञ्जय' आर्जयं नाम ऋजुमार्गवृत्तिः, शास्त्रनिर्विष्टं वा करणं ऋजु । 'मञ्जु' अभिमानत्यागो मार्दवं परगुणातिशयं श्रद्धाभेन, तन्माहात्म्यप्रकाशनेन च विनयेन च अभिमाननिरासः कृतो भवति । काञ्चं विनीतो हि आचार्याविपु स्यस्तमरो मन्वीति काञ्चं विनयमूलः । 'मन्वी' विनीतस्य हि सर्वजनो विनीतो भवति इति विनयहेतुका भक्तिः । 'परस्वकारणं' च प्रकृतं सुखं प्रकृतसुखं प्रह्लादस्तस्य करणं क्रिया प्रह्लादकरणमित्युच्यते । येषां विनयः क्रियते तेषां सुखं संपादितं भवति इति परानुग्रहो गुणः आत्मनो वा प्रह्लादकरणं । कथमविनीतो हि निर्मलनादिभिरनवरतं दुःखितो भवति । विनीतो हि निर्मलनाद्यभावात् सुखी भवति । भाषाभावे एव सुखव्यवहारो लोके ॥१३२॥

किञ्ची मेची माणस्स भञ्जणं गुरुजणे य बहुमाणो ।

तिस्वयराणं आणा गुणानुमोदो य विणयगुणा ॥१३३॥

'किञ्ची' विनीतोऽपिभिति संक्षम्भं कीर्तिः । 'मेची' परेषां दुःखानुत्पत्त्यनिलापो मैत्री । परस्य दुःखं नैवेच्छति विनीत इति । 'माणस्स भञ्जणं' मानस्य भङ्गः ।

ननु मार्दवशब्देनाभिहित एव मानभङ्गः पूर्वसूत्रे ततः पीनरुक्त्यं इति । उच्यते 'माणस्स भञ्जणं' 'परस्स' इति शेषः एकस्य विनयवर्षानात् परोऽपि स्वं मानं जहाति । गतानुगतिको हि प्रायेण लोकः ।

कीचड़के दूर होनेसे जलादिकी शुद्धि होती है । 'षिञ्जंशा' का अर्थ वैमनस्यका अभाव है । जो विमनस्क होता है अर्थात् जिसका मन स्थिर नहीं होता वह विनय हीन होता है । गुरु उसपर अनुग्रह नहीं करते । ऋजु मार्ग पर चलनेको आर्जय कहते हैं और शास्त्रमे कहे गये आचरणको ऋजु कहते हैं । मार्दवका अर्थ अभिमानका त्याग है । दूसरेके गुणातिशयमे श्रद्धा करनेसे और उनके माहात्म्यको प्रकट करनेसे तथा विनय करनेसे अभिमानका निरास स्वयं हो जाता है । जो विनीत साधु होता है वह अपना भार आचार्यपर सौंपकर लघु हो जाता है अर्थात् आचार्य स्वयं उसकी चिन्ता करते हैं अतः लाघव का मूल विनय है । जो विनीत होता है सभी मनुष्य उसकी विनय करते हैं अतः विनय भक्तिका कारण है । प्रकृत सुखको प्रह्लाद कहते हैं उसका करना प्रह्लादकरण है । जिनकी विनय की जाती है उनको सुख होता है इस प्रकार दूसरोंको प्रसन्न करना विनयका गुण है । अपनेको प्रसन्न करना भी विनयका गुण है क्योंकि जो अविनयी होता है सब उसका तिरस्कार आदि करते हैं अतः वह निरन्तर दुखी रहता है । और जो विनयी होता है उसका कोई तिरस्कार आदि नहीं करता, अतः वह सुखी रहता है क्योंकि लोकमें भाषाके अभावको ही सुख कहा जाता है ॥१३२॥

शा०—कीर्ति, मित्रता, मानका विनाश, गुरुजनोंका बहुमान, और तीर्थङ्करोंकी आश्राका पालन और गुणोंकी अनुमोदना ये विनयमें गुण हैं, ॥१३३॥

टी०—यह विनयी है ऐसा कहना कीर्ति है । विनयीकी कीर्ति होती है । दूसरोंको दुःख न होनेकी भावना मैत्री है ! जो विनीत होता है वह दूसरोंको दुःख नहीं चाहता । और मानका भंग होता है ।

शङ्क—पूर्व गाथामें मार्दव शब्दसे मानभंगको कहा ही है । पुनः कहनेसे पुनरुक्तता दोष आता है ?

अनुमानविनाशकत्वान्नो गुणो अन्यथा निमित्तत्वं विनयं करोतीति । गुरवो हि बहुमान्याः कृता भवन्ति विनये-
नेत्याह—'गुरुत्वमेव बहुमान्यो' इति ।

'नित्यव्यवहारं आज्ञा संपादिता होयति' शेषः । विनयगुणविद्यतां तीर्थं कृतां आज्ञा संपादिता भवति,
अनुष्ठितेन विनयेन । 'गुणानुभवीर्षय' गुणियु विनयं प्रवर्तयता तदीयगुणानुयननं कृतं भवति इति । केचिद् गुणेषु
श्रद्धानाशिषु हर्षः कृतो भवतीत्येवं भवति । एते विनयगुणाः । गुणशब्द उपकारवचनोऽत्र विनयजन्यत्वाद्दिन-
यस्य गुणा इत्युच्यन्ते ॥१३३॥

विनयव्याख्यानानन्तरं समाधिनिरूपणार्थं उत्तरप्रबंधः । योग्यस्य, गृहीतकिस्यस्य, ज्ञानभावनीचतस्य,
ज्ञाननिरूपते विनये वर्तमानस्य, रत्नत्रये मानसः सम्यगा (अथं न्यायमित्यधिकारसंबन्धोऽनुर्प्रथमः । चेतः समा-
हितं कीदृक् तस्य वा समाहितस्य किं फलमिति बोधद्वयप्रतिविधानार्था' गाथा ।

चिचं समाहितं जस्स होज्ज बज्जिदविसोपियं वसियं ।

सो बहदि णिग्दिचारं सामण्यधुरं अपरिसंतो ॥१३४॥

'चित्तं समाहितं जस्स' जस्स चित्तं बज्जिदविसोपियं वसियं समाहितं इति पदघटना । यस्य चेतः
परित्यक्ताभ्युपरिणतिप्रसरं वशवति च यत्र नियुङ्क्ते तथैव तिष्ठति, तच्चित्ता समाहितमिति ब्राह्म्यम् । २अर्थं

समाधान—यहाँ परके मानभंगको कहा है । एक की विनय देखकर दूसरा भी अपना मान
छोड़ देता है, क्योंकि लोग प्रायः गतानुगतिक होते हैं । दूसरोंको जैसा करता देखते हैं स्वयं भी
वैसा करते हैं । वे सोचते हैं—निश्चय ही अभिमानका त्याग गुण है, अन्यथा यह विनय क्यों
करता । विनयसे गुरुवोका बहुत मान होता है क्योंकि विनयी शिष्य अपने गुरुजनोंका बहुत
सम्मान करता है ।

तथा तीर्थं कृतोंकी आज्ञाका पालन होता है । अर्थात् विनयका उपदेश देने वाले तीर्थंकरों
की आज्ञाका पालन विनय करने से होता है । तथा गुणीजनों की विनय करनेसे उनके गुणोंकी
अनुमोदना होती है । कोई कहते हैं कि श्रद्धानादि गुणोंमें हर्ष प्रकट होता है । ये विनयके गुण हैं ।
यहाँ गुणशब्द उपकारवाची है । विनयसे पैदा होनेके कारण इन्हे विनयके गुण कहते हैं ॥१३३॥

विनयका कथन करनेके पश्चात् समाधिका कथन करते हैं । जो योग्य हो, जिसने साधु
लिंग स्वीकार किया हो, ज्ञान भावनामें तत्पर हो, शास्त्र निरूपित विनयका पालन करता हो
और जिसका मन रत्नत्रय में हो, उसको सम्यक् आराधना करना योग्य है, इस प्रकार अधिकार
का सम्बन्ध लगाना चाहिये । अब समाहित चित्त कैसा होता है और उसका क्या फल है ? इन
दो प्रश्नों का उत्तर गाथा द्वारा देते हैं—

मा०—जिसका चित्त अशुभ परिणामोंके प्रवाहसे रहित और वशवर्ती होता है वह चित्त
समाहित होता है । वह समाहित चित्त बिना थके गिरतिचार चारित्रिके भारको धारण करता
है ॥१३४॥

टी०—जिसका चित्त अशुभ परिणामोंके प्रवाहको छोड़ देता है और जहाँ उसे लगाया
जाय वहीं ठहरा रहता है वह चित्त समाहित जानना । यहाँ यह विचार करते हैं कि यह चित्त

विचारते। किमिदं चित्तं नाम ? मन इति चेद् द्रव्यमनो भावमनस्यैति तद्विद्वत्प्रकारं, कस्वेह ग्रहणं ? न तावत् द्रव्यमनः पुद्गलत्वावसंभविनी कर्माद्यानिमित्ततया परिणतिरिति। 'वज्जिदविसेसोत्तिग' विशेषण-संभवोति। न च तद्वशवत्स्थानः। तेन भावमनो गृह्यते। नोइन्द्रियमतिः सा रागादिसहभाविनी तद्वहिता चास्तीति मुच्यते 'वज्जिद विसेसोत्तिग' इति विशेषणं वसिगमिति च तस्यां घटते। नोइन्द्रियमतिज्ञानावरण-सम्बोधमवत आत्मनो वशेन नोइन्द्रियमतिर्वर्तते। तथा हि रागकोपभयदुःखावयो नटावीनां वशेन परिणामा वर्तते तत्कार्यपुलकाविदग्धनेनानुवीयमाना। तद्वदेव नोइन्द्रियमतिरपि आत्मेच्छया स्वचिदेवावस्थानुभूयते इति। 'सो' सः 'समाहितचित्तो' बहति बहति धारयति। तथा च प्रयोगः—विषय बहति धारयति इति गम्यते। 'निरतिचारं' निरतिचारं निर्दोषं। किं ? सामण्यचुरं रागकोपानुपप्लुतचित्तः समण इत्युच्यते। तथा च नैवकता वदन्ति 'समणो' समणो इति। समणस्स भावो सामण्यं। तच्च किं ? समानता चारित्रं। तस्य भारं कीदृश निरतिचारं निर्मलं। 'अपरिसंतो' अश्रान्तश्चारित्रभारोद्ग्रहन फल समाहितचित्तस्येत्याख्यातं भवति। अनिमृत्तमनस्तायां दोषाख्यानव्याजेन निमृत्तं मनं कार्यमिति द्रव्यत्युत्तरगायया। कश्चित्कचित्तुज्जयिनीस्य दक्षिणापथाभिमुखमाह अल्पधाम्यं। सुद्रव्यनबहुलो द्रमिलदेव' इति। स एवमुक्तं प्रत्येति अयं जनपदः सुमिहः सुजनामिहातः इति ॥१३४॥

चालणियय व उदयं सामण्यं गल्लं अणिहुदमणास्स ।

कायेण य वायाए जदि वि जघुत्तं चरदि भिक्खु ॥१३५॥

क्या है ? यदि चित्तसे मतलब मनसे है तो उसके दो भेद है—द्रव्यमन और भावमन। यहाँ किसका ग्रहण किया है ? द्रव्यमनका ग्रहण तो संभव नहीं है क्योंकि पौद्गलिक होनेसे कर्मोंके ग्रहणमें निमित्त रूपसे उसकी परिणति संभव नहीं है। तथा 'वज्जिदविसेसोत्तिग' यह विशेषण भी संभव नहीं है। तथा द्रव्यमन आत्माके वशवर्ती भी नहीं है। अतः चित्तसे भावमनका ग्रहण होता है। वह भावमन नोइन्द्रियमति है और नोइन्द्रियमति रागादि सहित और रागादि रहित होती है। उसमें 'वज्जिद विसेसोत्तिग' और 'वसिग' दोनों विशेषण घटित होते हैं। नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम वाले आत्माके नोइन्द्रियमति होती है अतः वह उसके वशवर्ती है। जैसे राग, कोप, भय और दुःख आदि परिणाम नट आदिके अधीन होते हैं क्योंकि उनका कार्य देखकर दर्शकोंको रागादि होने हैं। इससे अनुमान किया जाता है कि रागादि परिणाम नट गैररहके वशवर्ती हैं। उसी तरह नोइन्द्रिय मति भी आत्माकी इच्छासे किसी एक विषयमें रुकी हुई अनुभवमें आती है। अर्थात् आत्माको इच्छानुसार भावमन किमी भी विषयमें लीन हो जाता है ! वह समाहित चित्त निर्दोष 'सामण्यधुत्त' को धारण करता है। जिसका चित्त राग रूपसे अबाधित होता है उसे समण कहते हैं। निरुक्तिकार कहते हैं 'समणो समणो' समता युक्त मन जिसका है वह समण है और समणके भावको सामण्य कहते हैं। वह समानता चारित्र है। उसके निरतिचार अर्थात् निर्मल भारको वह अश्रान्त होकर धारण करता है। इससे यह तलया है कि समाहित चित्तका फल चारित्रके भारको धारण करना है। जैसे किसी उज्जयिनीके निवासीको ओ दक्षिणापथकी ओर जाता था किसी ने कहा कि द्रमिल देशमें अन्नकी कमी है और क्षुद्र जनसे भरा है। उसके ऐसा कहने पर वह जान लेता है कि यह देश सुभिक्षगाली और सुजनसे भरा है। उसी तरह चित्तकी चंचलतामें दोष कहनेके बहानेसे ग्रन्थकार उत्तर गाथासे यह दृढ़ करते हैं कि मनको निश्चल करना चाहिये ॥१३५॥

‘आलोकितं च उद्यमं’ उद्यमिय चालनीयत् । ‘सामर्थ्यं’ सामान्यं समानभावी । ‘गलद्’ गलति । कस्त
‘अभिव्यक्तवत्स’ अनियुक्तं वेतो यस्य । ‘कावेन य वाचाद्’ कायेन च वचसा च । ‘अदि वि चरदि’ यद्यपि
चरति प्रवर्तते भिक्षुः । ‘अनुसं’ यथाशास्त्रेणोक्तं । तथा वाक्कायाम्नामाचारतोऽपि मनोनिभूतताभावे श्रामण्यं
भवत्यतीत्यर्थः । तस्मात्त्वेतःसमाधानं कार्यमित्युपसंहारः ॥१३५॥

मनसो दुष्टतां प्रपञ्चनेनोपविष्य तदेवैभूतं मनो यो निगुह्णाति तस्य श्रामण्य भवति समानभावी नेतर-
स्वेत्येतदुत्तरप्रपञ्चनेनोच्यते तद्दीरात्म्यप्रकाशनायं वाचापञ्चकम्—

वाहुष्मानो व मनो परिचावद् अटिठद् तद् समंता ।

सिग्धं च जाइ दूरं पि मनो परमाणुद्वयं वा ॥१३६॥

‘वाहुष्मानो’ इत्यादिर्क । ‘वाहुष्मानो व’ वास्येव । ‘मनो’ मनः । ‘परिचावद्’ चावति परिरतर्धकः
प्रलंबित इति यथा । ‘अटिठं’ इति क्रियाविशेषणं अस्थितं चावति । क्वचिद्विषयेऽनवस्थितिराख्याता वनसः ।
‘तद् समंता’ तथा समंतात् । ‘दूरं’ पि दूरमपि । सिग्धं च जाइ’ शीघ्रं याति । ‘मनो’ मनः । ‘परमाणुद्वयं वा’
परम प्रकृष्टो अणुः सूक्ष्मः परमाणुः स एव द्रव्य गुणपर्यायगमनात् तदिव । एतेन सटिति दूरस्थितविषयग्रहणं
तस्य दीरात्म्यमावेदितं ॥१३६॥

अंचलयवहिरमूवो ज्व मनो लहुमेव विप्पणासेइ ।

दुक्खो य पडिभियणेदुं जो गिरिसरिदसोदं वा ॥१३७॥

शा०—जिसका चित्त अंचल है उसका समान भाव चालनीमे रखे पानीकी तरह गल जाता
है । यद्यपि वह भिक्षु कामसे और वचनसे शास्त्रमें कहे अनुसार आचरण करता है ॥१३५॥

टी०—इसका सार यह है कि वचन और शरीरसे शास्त्रानुसार आचरण करने वाले
भी साधुका मन यदि निश्चल नहीं है तो उसका श्रामण्य नष्ट हो जाता है । अतः चित्तको स्थिर
करना चाहिये । यह उपसंहार है ॥१३५॥

मनकी दुष्टताका विस्तारसे कथन करके, इस प्रकारके मनको जो वशमें करता है उसके
समान भावरूप श्रामण्य होता है, अन्यके नहीं होता, यह आगे कहते हैं । प्रथम ही पाँच गाथाओं
से मनकी दुष्टता प्रकट करते हैं—

शा०—बड़े जोरसे चलने वाली हवाकी तरह मन उसीकी तरह चहुँ ओर अस्थिर रूपसे
बीड़ता है । और परमाणु द्रव्यकी तरह मन दूरवर्ती भी वस्तुके पास शीघ्र जाता है ॥१३६॥

टी०—प्रपञ्चवायुकी तरह मनके अस्थिर गमनसे यह बतलाया है कि मन किसी भी
विषयमें स्थिर नहीं रहता । तथा दूरवर्ती वस्तुके पास परमाणु द्रव्यकी तरह शीघ्र जाता है ।
परम अर्थात् प्रकृष्ट, अणु अर्थात् सूक्ष्म जो है वह परमाणु है । वह परमाणु द्रव्य है क्योंकि गुण
पर्यायी बाला है । इससे मनकी दुष्टता बतलाई है कि वह दूर स्थित विषयको झट ग्रहण कर
लेता है (जैसे परमाणु एक समयमें चौदह राजु गमन करता है) ॥१३६॥

शा०—मन अन्ये बहरे और भूँके समान है शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । और पहाड़ी
नदीके प्रवाहकी तरह लौटाना अवाक्य है ॥१३७॥

‘अवलम्बवाहिरकृमौ च्च कर्मो दुःखद’ इति शेषः । अवलम्बवाहिरकृमकवचनं भवति मनः । कथाचित्क-
र्षणित्त्वविधिषये सक्तं मनः सन्निरहितमपि विषयं न पश्यति, न शृणोति, न ब्रवीति, इति । मनु चक्षुराद्यैः
कर्मज्ञा बर्धनाद्यौ न मनसस्तत्सर्ववापि न किञ्चित्पश्यति, न शृणोति वदति वा ? उच्यते—मनसः करणस्य
कर्मज्ञा पराशुविच्छन्तीति यथा । एतदुक्तं भवति—दृष्टव्ये जीवाधिके, ओतव्ये जिनवचनावधिके, स्वपरहिते
वाच्ये च कदाश्चित्प्रवृत्तिर्मनसो दुष्टतेति । यथा भृत्यो दुष्ट इत्युच्यते स्वाभिमा नियुक्तं कर्मण्यप्रवर्तमानः ।
एवं मनोऽप्यात्मना नियुक्तोऽप्यपुत्रेदुष्टमिति भावः । ‘कृष्णैश्च क्लिप्णासेवि च’ आशु विनस्यति च । अनित्य-
तादोषस्तु वस्तुयाथात्म्यप्राप्तिषो मनसः सो इन्द्रियमतेः । ‘दुष्करो च’ दुःख अणवयं । ‘वद्विनिवसेदु’ च’ प्रति-
निवर्तयितुं वस्तुभ्यभूतरूपग्रहणे भूतरूपनिरासे च प्रवृत्तं ताभ्यां निवर्तयितुं न क्षमं रागादिवहृचारित्वात्
प्रतिनिवर्तयितुं । किञ्चित् ‘गिरित्तरिक्तोर्बन्ध’ गिरिनदीप्रवाह इव ॥१३७॥

ततो दुःखे पंथे पादेदुं दुःखो जहा अस्तो ।

बीलणमच्छोष्य मनो णिवसेसुं दुष्करो धणिदं ॥१३८॥

‘सतो’ तस्मात्प्रतिनिवर्तनात् । ‘दुष्करो’ दुष्करे ‘पंथे’ मार्गे । ‘पादेदुं’ पातयितुं । किमिदं । ‘दुष्टव्यो जहा
अस्तो’ दुष्टोऽप्रतिष्णालो यथैवाश्च । एतेन दुष्करमायविपातित्वदोषः प्रकटितः । ‘बीलणमच्छोष्य’ मसृणतरदेह-
मत्स्य इव । ‘धणिदं’ दुष्करो णिवसेसुं’ नितरां दुष्कर ब्रवीतु मनः । एतेन दुरवग्रहता क्थ्यता ॥१३८॥

टी०—मन अंधे, बहरे और गुंने मनुष्यकी तरह है क्योंकि कभी-कभी किसी विषयमें
आसक्त मन निकटवर्ती भी विषयको नहीं देखता, नहीं सुनता, और नहीं बोलता ।

झाङ्गा—देखने आदिका काम तो चक्षु आदि इन्द्रियोंका है, मनका नहीं । मन तो सदा ही
न कुछ देखता है, न सुनता है, न बोलता है ।

समाधान—मन करण है फिर भी उसे कर्ता कहा है । जैसे परशु लकड़ी काटनेमें करण
है फिर भी उसे कर्ता कहा जाता है परशु काटता है । इसका आशय यह है कि देखने योग्य
जीवादिमें, सुनने योग्य जिन वचन आदिमें और स्वपरका कल्याण करने वाले वचनोंमें मनका
प्रवृत्त न होना उसकी दुष्टता है । जैसे जो सेवक स्वामीके द्वारा कहे गये कार्यमें प्रवृत्त नहीं
होता उसे दुष्ट कहा जाता है । उसी तरह मन भी आत्माके द्वारा नियुक्त कार्यमें प्रवृत्त न होनेमें
दुष्ट कहा जाता है । तथा शीघ्र नष्ट हो जाता है । इससे वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करने
वाले मनकी अनित्यताका दोष बतलाया है । तथा वस्तुके अविद्यमान स्वरूपको ग्रहण करनेमें
और विद्यमान स्वरूपका निरास करनेमें प्रवृत्त हुए मनको उससे हटाना वैसे ही अशक्य है जैसे
पहाड़ी नदीके प्रवाहको लौटाना अशक्य होता है; क्योंकि मन रागादिभावमें आसक्त होता
है ॥१३७॥

शा०—अयोग्य विषयसे हटानेसे मन दुष्कर मार्गमें गिराता है । जैसे दुष्ट घोड़ा गिराता
है । अति चिकने मच्छकी तरह पकड़ने में अत्यन्त दुष्कर है ॥१३८॥

टी०—जैसे कुमार्गपर चलते हुए दुष्ट घोड़ेको रोकनेसे वह मार्गमें गिरा देता है वैसे ही
मन भी छोटे मार्गमें गिराता है । इससे दुष्कर मार्गमें गिरानेका दोष प्रकट किया । तथा जैसे

जस्स य क्खेण जीवा संसारमणंतयं परिममंति ।

भीमासुहृदिवहुलं दुक्खसहस्साणि पावता ॥१३९॥

'जस्स य' जस्स य । 'क्खेण' करोति क्रियासामान्यवाची इह चेष्टावृत्तिर्गृहीतस्तेनायमर्थः यत् यन्नसत्त्वचेष्टितेन जीवाः संसारं पञ्चविधं परावर्तं परिभ्रमन्ति । 'अणत्तयं' अल्पप्रमाणवाचिष्णम् । 'भीमासुहृदिवहुलं' भयावहाशुभनरकादिवृत्तिप्रचुरं । 'दुक्खसहस्साणि' शारीरागन्तुकमानसस्वाभाविकाख्यानि प्रत्येकप्रमेकविकल्पानि । 'पावता' प्राप्नुवन्तो जीवाः । एतेन चतुर्गतिपरावर्तमूलतादोषः प्रकटितः ॥१३९॥

जम्हि य वारिदमेत्ते सज्जे संसारकारया दोसा ।

णासंति रागदोसादिया हु सज्जो मज्जुस्सस्स ॥१४०॥

'जम्हि' यस्मिन्वच मनसि । 'वारिदमेत्ते' वारित एव मात्रग्रहणं वारणादव्य निराकर्तुमुपात्तं । मनो निवारणादेव 'रागदोसादिषां' रागद्वेषादयः । 'णासंति स' नश्यन्त्येव । 'सज्जो' सज्जः तदानीमेव । 'संसारकारया' परावर्तपञ्चकस्य संपावन्नोद्यताः ॥१४०॥

इय दुट्ठयं मणं जो वारेदि पडिडुवेदि य अकपं ।

सुहसंक्रप्पयारं च कुणदि सज्जायसण्णिहिदं ॥१४१॥

षिकने शरीर वाली मछलीको पकड़ना कठिन है वैसे ही मनको रोकना बहुत कठिन है । इससे 'दुरवग्रहता' नामक दोष कहा ॥१३८॥

शा०—जिस मनकी चेष्टासे जीव हजारों दुःख भोगते हुए भयंकर अशुभ गतियोंसे भरे हुए अनन्त संसारमें भ्रमण करते हैं ॥१३९॥

टी०—गाथामें आया 'क्खेण' शब्द करने रूप क्रियासामान्यका वाची है किन्तु यहाँ उसका अर्थ चेष्टा लिया है । अतः ऐसा अर्थ होता है कि जिस मनकी चेष्टासे जीव पाँच परावर्तन रूप संसारमें भ्रमण करते हैं, वह संसार अनन्त प्रमाण वाला है और उसमें भयानक नरक आदि अशुभ गतियोंका बाहुल्य है । तथा वे जीव शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक स्वाभाविक आदि अनेक प्रकारके दुःखोंको पाते हैं । इससे 'चतुर्गतिमें भ्रमणका मूल' दोष प्रकट किया ॥१३९॥

शा०—जिस मनके निवारण करने मात्रसे मनुष्यके सब संसारके कारक राग द्वेष आदि दोष क्षीण ही नष्ट हो जाते हैं ॥१४०॥

टी०—'वारिदमेत्ते' में 'मात्र' पदका ग्रहण निवारणसे अन्यका निराकरण करनेके लिये किया है । अर्थात् अन्य कुछ न करके मात्र मनको रोकना जाये तो पाँच परावर्तन रूप संसारके कारण सब दोष तत्काल नष्ट हो जाते हैं ॥१४०॥

शा०—उक्त प्रकारसे जो बुद्ध मनको रागादिसे निवारण करता है, और निश्चलरूपसे अज्ञानरूप परिणामादिमें स्थापित करता है । तथा क्षुभसंकल्पोंमें मनको प्रवृत्त करता है और स्वाध्यायमें मनको लगाता है उसके सामण्य-समताभाव होता है ॥१४१॥

'इव' एवं व्यावर्णितक्येन । 'बुद्धं' दुष्टं दुष्टं । 'मर्षं' मनो । 'जो भारेवि' यो निवारयति रागादिभ्यः । 'अभिदुष्टोवि' इ' प्रतिष्ठापयति च अद्वानपरिणामादी । 'अर्कं' निश्चलं । क्रियाविशेषण-मेत् । तस्य सामर्थ्यं होषि बन्धनाद्येन संबन्धः । 'शुभसंकल्पप्रचारो' जो शुभं तस्य सामर्थ्यं होषिति' संबन्धीयं । शुभः संकल्पः तस्मिन्प्रकृष्टप्रचारो गमनं प्रवृत्तिस्य मनसस्तत्कृमसंकल्पप्रचारं मनो यः करोति । 'तत्त्वान्-कल्पित्वि' च जो कृषि तस्य सामर्थ्यं इति संबन्धते । सम्यग्अध्ययनं स्वाध्यायः दुष्टनिर्वृतितादिवोचरहितसं अर्थव्यञ्जनशुद्धिश्च सम्यक्त्वं । स पुनः पञ्चप्रकारः वाचनाप्रमाणुप्रेक्षाभ्यामर्थमोपदेशमेवेन ।

प्रश्नस्य कर्त्तव्यत्वात् ? प्रश्नो हि ग्रन्थेऽर्थे वा संशयच्छेदाय इत्यमेवैतदिति निश्चितार्थबला-धानाय वा प्रच्छन् । न' हि यः पृच्छति ग्रन्थमर्थं वा सोऽधीते ? अध्ययनप्रवृत्त्यर्थत्वात् प्रश्नेऽध्ययनव्य-पदेशः इन्द्रप्रतिमार्थं दार्शन्य इन्द्रव्यपदेश इव । अथवा किमिदमेवं पठितव्यमिति अधीत एव ग्रन्थे संविधानः । अर्थसंश्लेषेऽपि किमस्य वाक्यस्य पदस्य वाच्यमर्थः इति । यद्वाप्यते एवं निश्चितबलाधानार्थं प्रश्ने योज्यम् ।

अनुप्रेक्षा कर्त्तव्याः ? अविगतार्थस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा अन्तर्जल्परूपमध्ययनमस्त्येव तत्रापीति मन्यते ।

शेषपरिशुद्धं श्रुतं परावर्त्यमानं आम्नायः स्वाध्यायो भवत्येव ।

आश्लेषणी, विशेषणी, संबन्धी, निर्वेदनी चेति कथावचनस्तासामुपदेशो धर्मोपदेशः स च स्वाध्यायः । एतस्मिन्स्वाध्याये सम्यक् निहितं निमित्तं मनो यः करोति इत्यर्थः ।

टी०—जो ऊपर कहे अनुसार रागादिसे दुष्ट मनको हटाता है और श्रद्धानादिमें निश्चल-रूपसे मनको स्थापित करता है उसके सामर्थ्य होता है इस प्रकार आगेके साथ सम्बन्ध लगाता चाहिए । शुभ संकल्पमें प्रकृष्ट चार प्रचार अर्थात् प्रवृत्ति जिसके मनकी है अर्थात् जो मनको शुभ संकल्पोंमें लगाता है उसके सामर्थ्य होता है । सम्यक् अध्ययनको स्वाध्याय कहते हैं । जल्दी पढ़ना या देरसे धीरे-धीरे पढ़ना इत्यादि दोषोंसे रहित होना तथा अर्थशुद्धि और वचनशुद्धिका होना सम्यक्पना है । उस स्वाध्यायके पाँच भेद हैं—वाचना, प्रश्न, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश । प्रश्न कैसे स्वाध्याय है यह बतलाते हैं—ग्रन्थ अथवा अर्थके सम्बन्धमें संशयको दूर करनेके लिए अथवा निश्चित अर्थको पुष्ट करनेके लिए पूछना प्रश्न है । जो ग्रन्थ या अर्थको पूछता है वह अध्ययन नहीं करता, किन्तु ऐसा करना अध्ययनकी प्रवृत्तिके लिए होता है इससे प्रश्नको अध्ययन कहा है । जैसे इन्द्रकी प्रतिमा बनानेके लिए लाये गये काष्ठको इन्द्र कहा जाता है । अथवा 'क्या इसे इस प्रकार पढ़ना चाहिए' इस तरह पूछे हुए ही ग्रन्थमें सन्देह करना, तथा अर्थमें सन्देह होनेपर भी 'क्या इस पद अथवा वाक्यका यह अर्थ है' इस प्रकार पूछना स्वाध्याय-का कारण होनेसे स्वाध्याय है । इसी प्रकार निश्चित अर्थको हट करानेके लिए भी प्रश्नकी योजना करनी चाहिए । अनुप्रेक्षा कैसे स्वाध्याय है ? जाने हुए अर्थका मनसे अभ्यास करनेको अनुप्रेक्षा कहते हैं । इसमें भी अन्तर्जल्परूप अर्थात् मन ही मनमें अध्ययन होता ही है । बुद्ध उच्चारण-पूर्वक श्रुतका पाठ करना आम्नाय है । यह तो स्वाध्याय है ही । आश्लेषणी, विशेषणी, संबन्धी और निर्वेदनी इस प्रकार चार कथाएँ हैं । उनका उपदेश धर्मोपदेश है । यह भी स्वाध्याय है । इस स्वाध्यायमें जो मनको सम्यक् रूपसे लगाता है उसके सामर्थ्य होता है ।

अर्थात् पदघटना अध्याहृतं कृत्वा 'इव बुद्ध्यां मनो लो वारेदि अर्थात् बहिर्भवति च लो मनं बुभुक्ष-
कल्पपदारमेव बुभुक्षि सत्त्वावसन्निहितं काञ्चन इति' । एवं 'दुष्टं' मनः स वारयति निवृत्तं प्रतिष्ठापयति वा ।
यो मनः शुभसंकल्पप्रचारेण करोति । स्वाध्याये सन्निहितं कृत्वैति सूत्रार्थः । तस्यैवमुक्तस्य धामस्य समा-
नता वा भवति ॥१४१॥

जो विद्य विधिप्यहंतं मर्णं जियसेदि सह विचारेण ।

जिग्महदी य मर्णं जो करेदि अदिलज्जियं च मर्णं ॥१४२॥

'जो वि च' यत्रापि । 'विधिप्यहंतं' वि सम्बो नानार्थः, निर इत्युपसर्गो बहिर्भावे, पविर्गमनार्थः ।
ततोऽयमर्षोऽय पदस्य विचित्रं बहिर्निर्गच्छन्निवर्तयैविति । ननु च सत्यम्यन्तरे कस्मिन्विषयवेषो भवति
बहिर्भावस्ततः किम् ? अम्यन्तरमिह बुद्धीत् रत्नत्रयं । कथमस्याम्यन्तरता ? आत्मनो निजस्वरूपकति ।
रागकोपादयस्तु चारित्रमोहोदयजा भावाः परिणामा बाह्या मिथ्यात्वासंयमकषायविभेदेन विचित्रास्तवनिमुक्त-
तया प्रवृत्तः । 'विचरंति सह विचारेण जो' इति शेषः

कोऽती विचारः ? उच्यते—इवं तत्त्वावधानं, इवं च हिंसाविपरिणतिर्यं वा क्रोधादिको भावो मया
परिणामिकारणभूतेन निर्बर्यमानो जातिजराभरणपरिणामरूपानन्तसंसारकारणानां कर्मणां यूक्तोत्तरप्रकृतिभेदेन
संख्यात विकल्पानां, स्थितिविशेषमात्मप्रदेशेऽप्यवस्थानरूपं, तीव्रमध्यममन्दरूपावधानासनयमकषायपरि-

इस प्रकार जो दुष्ट मनका निवारण करता है और उसे श्रद्धानादिमें स्थिर करता है तथा
जो मनको शुभसंकल्पोंमें ही लगाता है और स्वाध्यायमें प्रवृत्त रहता है उसके भ्रामण्य अथवा
समता होती है ॥१४१॥

गा०—जो भी रत्नत्रयसे च्युत होकर विचित्र रागादिमें जानेवाले मनको विचारोंके साथ
हटाता है, और जो मनको निन्दा गृह्णति द्वारा निगृहीत करता है—उसकी निन्दा करता है, और
मनको अति लज्जित करता है उसके सामण्य होता है ॥१४२॥

टी०—'विधिप्यहंतं' में 'वि' शब्दका अर्थ अनेक है, 'निर' यह उपसर्ग बहिर्भावेके अर्थ-
में है और 'पवि' का अर्थ गमन है । अतः इस पदका अर्थ है अनेक बाह्य विषयोंमें जानेवाले
मनको रोके ।

शब्दा—किसी अभ्यन्तरके होनेपर उसको अपेक्षा बहिर्भाव होता है यहाँ वह अभ्यन्तर
कौन है ?

समाधान—रत्नत्रय है और वह आत्माका निजस्वरूप होनेसे अभ्यन्तर है । राग-कोप
आदि तो चारित्रमोहके उदयसे होनेवाले भाव हैं, वे बाह्य हैं । तथा मिथ्यात्व, असंयम और कषाय
आदिके भेदसे नाता हैं । उनके अभिमुखरूपसे प्रवृत्तिको जो विचारोंसे रोकता है ।

शंका—वह विचार कौन है ?

समाधान—यह जो तत्त्वका अवधान है, अथवा हिंसादिरूप परिणति है, अथवा क्रोधादि
भाव है, इन रूप में परिणमन करता है तो ये हिंसादिरूप परिणाम जन्म जरा मरण परिणामरूप
अनन्त संसारके कारण जो कर्म है, जो मूलप्रकृति और उत्तर प्रकृतिके भेदसे संख्यात भेदवाले हैं,

'ज्ञानम्' समागता 'होषि' भवति । 'समाहिषं' एकमुक्षं । 'अबिसोतिषं' दूरापसृतविष्वक्पापुभपरिणामप्रवाहं । 'विष्वक्पापुभानुगर्ह' संघटितद्रव्यभावकर्मकरपरभवानां यच्छासनं—शिव्यते जीवावयः पदार्थां अनेनात्मिन्वेति ज्ञासनं ज्ञानवस्तेनानुपगच्छ ॥१४३॥

योगस्य गृहीतशुक्लपुष्यमलिकङ्कस्य श्रुतशिक्षापरस्य पञ्चविधविनयवृत्तेः स्ववशीकृतमनसः अनियतवासो युक्तः । कस्तत्र गुणः ? इत्यारिकायां समाधिगतस्य अनियतविहारगुणप्रकटनार्थं उत्तरसूत्रं—

दंसनसोषी ठिदिकरणभावणा अदिसयत्तकुसलत्तं ।

खेत्तपरिभग्णाधि य अणियदवासे गुणा ह्येति ॥ ४४॥

'दंसनसोषी' दर्शनशुद्धिः । दूषित प्रेक्षण इति पठितोऽपि धातुः श्रद्धानार्थवृत्तिरिह गृहीतः । धातूनामनेकार्थत्वात् । तथा च सूत्रं—'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' । [त०सू० ११२] इति जिनागमनिरूपिणार्थविषयश्रद्धानामिह दर्शनशब्देन भण्यते । तस्य शुद्धिर्निर्मल्यं । 'ठिदिकरणं' स्थितिकरणं रत्नत्रयपरिणामस्यात्मनोऽवपायः । तस्य करणं स्थितिकरणं । 'भावणा' भावना अभ्यास पुनः पुनर्वृत्तिः । 'अदिसयत्तकुसलत्तं' अतिशयितेष्वर्थेषु निपुणता । 'खेत्तपरिभग्णाधि य क्षियति' निवसन्ति तस्मिन्निति क्षेत्रं । ग्रामनगरादिकं क्षेत्रं । तस्य क्षेत्रस्य अन्वेषणा च । अनियतस्थानवसने गुणा 'ह्येति' भवन्ति ॥१४४॥

सामर्थ्यं जैनमतरूपी अमृतका पान करनेसे आई है । उसके 'सामण्य' अर्थात् समभावपना होता है । वह श्रामण्य एक मुख होता है, असुभपरिणाम प्रवाहको, जिन्होंने विष्वको अपने रंगमें रंगा है, दूर करता है, और जिनशासनानुगत होता है । द्रव्य और भावकर्मके द्वारा किये जानेवाले पराभवोंको जिन्होंने नष्ट कर दिया है उन जिनका शासन । जिसके द्वारा या जिसमें जीवादि पदार्थ सिलाये जाते हैं उसे शासन कहते हैं अर्थात् जिनागमका अनुगामी होता है ॥१४३॥

जो योग्य है, जिसने मुक्तका उपाय जो निर्गन्धालिन है उसे स्वीकार किया है, श्रुतके अभ्यासमें तत्पर है, पाँच प्रकारकी विनयका पालन करता है, और जिसने मनको अपने वक्षमें कर लिया है उसके लिए अनियतवास युक्त है । उसमें क्या गुण है ? ऐसी शंका होनेपर समाधि करनेवालेके अनियत विहारके गुण प्रकट करते हैं—

भा०—दर्शन विशुद्धि, स्थितिकरण, भावना, अतिशय अर्थोंमें निपुणता और क्षेत्रका अन्वेषण ये अनियत स्थानमें बसनेमें गुण होते हैं ॥१४४॥

टो०—दर्शन शब्द जिस 'हशिर' धातुसे बना है यद्यपि उसका अर्थ देखना है फिर भी यहाँ उसका अर्थ श्रद्धान ग्रहण किया है । क्योंकि धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं । तत्त्वार्थसूत्रमें कहा भी है—'तत्त्वार्थका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ।' अतः यहाँ दर्शन शब्दसे जिनागममें कहे गये अर्थों का श्रद्धान लिया है । उसकी शुद्धि अर्थात् निर्मलता दर्शनविशुद्धि है । आत्माके रत्नत्रयरूप परिणामका नष्ट न होना स्थिति है । उसका करना स्थितिकरण है । पुनः पुनः अभ्यास करनेको भावना कहते हैं । ग्राम नगर आदि क्षेत्र हैं । उसकी खोज, ये सब अनियत स्थानमें बसनेके गुण हैं ॥१४४॥

विद्योदार्थ—समाधिमरणके इच्छुकको एक स्थानमें नही बसना चाहिए । अनियत स्थानमें

दंसणशुद्धी इत्येतत्पद्यव्याख्यानकारिणी गाथा—

जन्मजन्मिभिक्षकस्यणे भानुप्यस्ती य तित्त्वचिण्हणिसिद्दीजो ।

पासंतस्स जिजाणं सुविसुद्धं दंसणं होदि ॥१४५॥

‘जन्मजन्म’ जन्माभिनवधारीरग्रहणं । तद्यस्मिन्क्षेत्रे जातं तद्विह साहचर्याधिष्ण्यस्यज्ञानेनोच्यते । गृहीत-
शरीरस्य बाल्मनो जनमुदराद्यत्र निष्क्रमणं जातं तद्वा । ‘जग्निष्ण्वकवणे’ रत्नत्रयाभिमुख्येन गृहाद्बहिर्गमनं
यस्मिन्क्षेत्रे तद्विह निष्क्रमणं । ‘भानुप्यस्ती य’ केवलज्ञानावरणक्षयात् सर्वाभ्यावात्म्यग्रहणक्षमं यत्केवलं तद्विह
ज्ञानमिति गृहीत । सामान्यसामानानपि विशेषकृतिः प्रतीतैव । तस्य ज्ञानस्योत्पत्तिर्यस्मिन् क्षेत्रे तद्विह साह-
चर्यात् ‘भानुप्यस्ती य’ शब्देनोच्यते । ‘तित्त्व’ चिन्हं । तीर्थविह समवधारणं गृह्यते । तरन्ति तस्मिन्मध्या-
पापविनाशादिभिः इति । तस्य चिह्नतया स्थिता मानस्तम्भाः । ‘चिसिद्दीजो’ निषिधीयोगिवृत्तियस्या भूमी सा
निषिधी इत्युच्यते । एतज्जन्मादिस्थानं श्रुतेन प्राग्वगतं । ‘पासंतस्स’ पश्यतः । कस्य ? ‘जिजाणं’ जिजानां
‘सुविसुद्धं’ सुष्ठु विष्टुद्धं । ‘दंसणं’ श्रद्धानं । ‘होदि’ भवति । एतदुक्तं भवति—

देशान्तरादिभिः जिजानां जन्मादिस्थानदर्शनान्महती श्रद्धोत्पद्यते । यथा कांचिद्द्विधावर्ण्यमानरूपां विला-
सिनी परोक्षामगवत्य परस्य वचनोपजाताभिलाषस्य तस्यां दर्शनपथमपुजाताया श्रद्धातिशयो जायते इति ।

वसनेके उक्त गुण कहे हैं । इन गुणोंका वर्णन ग्रन्थकार आगे स्वयं करते हैं । टीकाकारने भावना-
का अर्थ पुनः पुनः अभ्यास किया है और पं० आशाधरने परोषह सहन किया है । आगे ग्रन्थकारने
भी यही अर्थ भावनाका किया है । अभ्याससे ही परोषह सहनकी सामर्थ्य होती है । सम्भवतः
इसी भावसे भावनाका अर्थ अभ्यास किया है । लोकमें भावनाका यही अर्थ प्रचलित है ॥१४४॥

‘दंसणशुद्धी’ इस पदका व्याख्यान करनेवाली गाथा कहते हैं—

शा०—जिनदेवोंके जन्मस्थान, दीक्षास्थान, केवलज्ञानकी उत्पत्तिका स्थान और समवसरण-
के चिह्न मानस्तम्भका स्थान निषिधिका स्थान देखनेवालेके सम्यक् रूपसे निर्मल सम्यग्दर्शन
होता है ॥१४५॥

टी०—नये शरीरके ग्रहण करनेको जन्म कहते हैं । वह जन्म जिस क्षेत्रमें हुआ, जन्मके
साहचर्यसे यहाँ उस स्थानको जन्म शब्दसे कहा है । अथवा शरीर ग्रहण करनेवाले आत्माका
माताके पेटसे निकाला जहाँ हुआ वह जन्म है । रत्नत्रय धारण करनेकी भावनासे घरसे बाहर
जाना जिस क्षेत्रमें हुआ उसे निष्क्रमण कहा है । केवलज्ञानावरणके क्षयसे सब पदार्थोंके यथार्थ-
स्वरूपको ग्रहण करनेमें समर्थ केवलज्ञानको यहाँ ज्ञान शब्दसे ग्रहण किया है; क्योंकि सामान्य-
वाची शब्दोंकी भी विशेषमें प्रवृत्ति प्रसिद्ध ही है । यहाँ तीर्थसे समवसरणका ग्रहण किया है ।
जिसमें पापके विनाशके इच्छुक भव्य जीव तिरते हैं वह तीर्थ है । उस समवसरणके चिह्न मान-
स्तम्भ हैं । निषिधि अर्थात् योगिवृत्ति जिस भूमिमें हो उसे निषिधी कहते हैं । श्रुतेसे पहले जाने
हुए जिनदेवके इन जन्मादि स्थानोंको जो देखता है उसका श्रद्धान सुविशुद्ध होता है । देशान्तरमें
भ्रमण करनेवालेके जिनदेवोंके जन्मादि स्थानोंको देखनेसे महती श्रद्धा उत्पन्न होती है, जैसे
किसी सुन्दर नारीको वर्णनके द्वारा परोक्षरूपसे जानकर दूसरेके कथनसे उसे देखनेकी इच्छा होती
है और उसे उसासात् देखनेपर विशेष श्रद्धा होती है ।

अथवा अब तीर्थकर जन्म लेते हैं सब अनियत विहार करने वाला यदि तीन ज्ञानके धारी

कवचा तथा तीर्णकृतः संभवन्ति तथा अनिबन्धितहारो यतिजिनानां ज्ञानवचनपरिणां अवाप्तस्त्ववग-
 इत्यनुशासितसन्नामं जन्माभिषेककल्याणं भुवनभवनागन्तर्लीनतयोविद्यानापनवमोक्षतं, सुधापानमिव सकलप्राणमुदा-
 रोन्धविधमिव, सुरविकासिनीगर्तनमिव सकलजन्मदानवदायि, प्रियवचनमिव मन्त्रप्रसादकारि, पुण्यकर्मव जगत्प-
 पुण्यविश्वरूपश्रीवर्ण, लक्ष्मीपरिचारिकाग्निः साधक्यं ससंभ्रमं ईक्षितं, गुण्डकात्मकीयनिकसुरमिप्रसूनकरणमन्वाभु-
 भ्रमभ्रमरकृतकोलाहलं अनारतप्रहृतमंगलमेरीभंभाष्यनिभरितभुवनविधरं, सुरवधूनर्तनजगीषयेव शीघ्रसिखर-
 रङ्गनृत्यप्रत्यप्रपञ्चवर्णपताकाविकासिनीकं, हरिविष्टप्रचक्रुणोपनीतसाध्यसजवसुरवत्सभारमसकण्ठप्रहीतिवि-
 कासिमुखासतमखनुखं, संभ्रमोत्थितकृताङ्गलिपुटसुरपरिवारसावराकर्ममानवभुवाञ्चं, भेर्यादिध्वानाहृतप्रमुखसक-
 लगीर्वाणकं, परस्परसंघर्षगृहीतोत्तरवैक्रियिकदेवपुतनाभ्यासपवनपचवेवा, जन्माभिषेकसमयप्रयाणसंपादानायातपी-
 लोमीनूपुरभ्यानश्चक्रिहृषीमिलासविराजमानराजमन्धिराङ्गणं, ऐरावतावतीर्णप्रसारितवाम्बजघनभुजागलं,
 सुरकरप्रहाप्रसरवृद्धिमिनेरीध्वानसन्निभसिंहनादवधिरितविकालाकाशमुखं, प्रह्लाणेकप्रयाणकपटहृग्मीरधीरारावं,
 असकलधार्मिकरावदासचमारुह्विक्षोपदक्षकमिन्निकुञ्जंजिनावलोकनव्यप्रसुराप्रमहिषीक, श्वेतातपत्रजलयरधटा-
 वरुद्धनभोमंडलं, विद्युदायमानपताकाकुलं, इन्द्रनीलमयसोपानप्रयागिसुरपुन, सुरवजरवनसरोलिनवलरंगशोभा-
 विद्यायिनर्तकीसलीलपदव्यासं, गृहीताष्टमंगलदेवीसहस्रपुरोगानं, देवप्रतीहारद्वारापसार्यमाणभद्रामरवर्णं, आत्म-

और स्वर्गसे अबतरित होते समयकी विशिष्ट पूजाको प्राप्त जिनदेवके जन्माभिषेक कल्याणको
 देखता है। वह जन्मोत्सव लोक रूपी घरमें छिपे हुए अन्धकारके फंलावको दूर करने में तत्पर
 होता है। अमृतपान की तरह समस्त प्राणियोंको आरोग्य देने वाला है। देवानाजाओंके नृत्यकी
 तरह समस्त जगत्को आनन्दमयी है, प्रियवचनकी तरह मनको प्रसन्न करता है। पुण्यकर्मकी
 तरह अगणित पुण्यको देने वाला है। लक्ष्मीरूपी परिचारिकाओं के द्वारा बड़े आदर्यं और शीघ्रता
 के साथ इसे देखा जाता है। गुण्डक जाति के देवोंके द्वारा बरसाये गये अनेक प्रकारके सुमन्धित
 पुष्पोंकी गन्ध पर मंडराने वाले भौरों की गुंजनके कोलाहलसे पूर्ण होता है। निरन्तर बजने वाली
 मंगल मेरी और बाद्योंकी ध्वनिसे समस्त भुवन भर जाता है। देवागनाओंके नृत्यको जीतनेकी
 इच्छासे ही मानों महलोंके शिखर पर पाँच वर्षकी पताका रूपी नृत्यांगनाएँ नाचती हैं। भगवान्के
 जन्मके समय इन्द्रके सिंहासनके कम्पनसे भयभीत हुई नवजन्म वाली देवांगनाएँ जल्दीसे इन्द्रके
 कण्ठसे लिपट जाती है तब इन्द्रका मुख प्रेमसे खिल उठता है। तब देव परिवार जल्दीसे उठकर
 बड़े आदरसे इन्द्रकी आज्ञा सुनता है। मेरीके शब्दको सुनकर इन्द्रादि प्रमुख सब देवगण एकत्र
 होते हैं, परस्परके संघर्षसे उत्तर वैक्रियिक शरीरको धारण करने वाले देवोंकी सेनासे आकाश
 मार्ग व्याप्त हो जाता है। जन्माभिषेकके समय जिन बालकको लानेके लिये आई हुई इन्द्राणीके
 नूपुरोंके शब्दसे थकित हुई हँसीके विलाससे राजमन्दिरका अंगन शोभित होता है। ऐरावतसे
 उतरकर इन्द्र अपनी वज्रमयी भुजायें फंला देता है। देवताओंके हाथोंके प्रहारसे डोल और मेरीके
 शब्दके साथ मिला सिंहनाद विशाल दिशाओंको बधिर कर देता है। गमन करते समय बजाये
 जाने वाले अनेक नगारोंका गम्भीर शब्द होता है। इन्द्रोंका समूह अपूर्ण चन्द्रमाकी किरणोंके
 समान धुम धमरोंको दक्षतापूर्वक ढोरता है। इन्द्राणियाँ बालक जिनका मुख देखनेके लिये उत्क-
 षिप्त होती हैं। श्वेत छत्ररूपी मेघोंकी घटाओंसे आकाश ढक जाता है। पताकायें विजुलीकी
 तरह प्रतीत होती हैं। इन्द्रनीलमय सीढ़ियोंकी तरह देवसेना गमन करती है। ऐरावतके दातों पर
 बने सरोवरोंमें झिले कमलके पत्रों पर नर्तकियाँ कीलाके साथ पद निक्षेप करती हुई नृत्य करती

रक्षकेश्वरहस्तपादमाकराभिधानं, नर्तनम्बन्दादनुत्तविद्युत्सरोसरभूतं, प्रवक्षिमीकृतसुराचलं, आम्बुसुरागिरि शिख-
रायभाषासिद्धासनं, तद्देवकुमारपरंपरानीतजीरवारिश्चिन्नमरितरत्नकरसङ्कृताभिषेकं, पीत्सेमीरचितप्राज्ञानुरूप-
मङ्गलं, मुष्पस्तव व्यापूत्रैर्नैतालिकसहजं, सुराधिपरचितजम्बोत्सवधनं, जम्बाभिषेककल्याणं पश्यति तस्य
पद्मवतः ।

अधिनिक्रमण वा जिनामानीदृक् तदिति बध्यते । सर्व एव जिनाः समधिपयोदीरितजन्माभिषेक-
कल्याणाः, शतमन्त्रशासनस्वसावरपदनदीपनीयमानदिव्योजिताङ्गरागवसनमोजनवाह्मालंकारसपत्संघोहाः । मगो-
कुलक्रीडासंपादनचतुरदेवकुमारपरिवाराः, केचित्पुरातनपुण्यपरिपाकोषयाचलोद्गतविराजमानारकसहस्रचक्र-
विसहायिन अमेवमुजविक्रमेण वशीभूतासोषमागधप्रभासादिदेवविद्याधरभूमिपालसंहृतयः, सुरकुमारीरूपयीवन-
विभ्रमापहसनचतुरानेकद्रात्रिचहृदीसहस्राननारविदविकासनोद्यताः, पाकशासनप्रहितनर्तकीनुतावजोकन-
विनोदाः, सावरकणितकिन्नरविदेवगान्धर्वगीताः, कालमहाकालाधिनबनिधिप्रभवः, प्रत्येकदेवसहस्रपरिपाल्य-
मानचक्रादिचतुर्दशरत्नानुवाताः, द्वात्रिंशत्सहस्रमुकुटबद्धशतकुम्भभटितमोलि तटमकरिकास्थितरत्नप्रदीपाकी-

हुई नृत्य करती हैं । हज्जारों देवियाँ हाथोंमें अष्ट मंगल लिये हुए आगे गमन करती हैं । देवोंके
द्वारपाल क्षुद्र देवगणोंको वहाँसे दूर कर देते हैं । हज्जारों आत्मरक्ष जातिके देव रक्षा करनेमें तत्पर
रहते हैं । नाचनेमें मग्न अद्भुत शरीरधारी देव आगे रहते हैं । सब सुमेरुकी प्रदक्षिणा करते हैं ।
सुमेरुके शिखरके समान सिंहासन पर भगवान्को विराजमान करते हैं । देवकुमारोंकी परम्परासे
लाये गये जिन समुद्रके जलसे भरे रत्नमयी कलशोंसे जिन भगवान्का अभिषेक करते हैं । इन्द्राणी
बालकका उनके अनुरूप श्रृंगार करती हैं । सहस्रों इन्द्र वेंतालिक भगवान्के गुणोंका स्तवन करते
हैं । जन्मोत्सवके अवसर पर इन्द्र नृत्य करता है । ऐसे जन्माभिषेक कल्याणको जो देखता है
उसका सम्यग्दर्शन अति निर्मल होता है ।

जिन भगवान्का अभिनिष्क्रमण इस प्रकारका होता है । उसका वर्णन करते हैं—

सभी जिनदेवोंका जन्माभिषेक कल्याणक बड़ी विभूतिके साथ मनाया जाता है । इन्द्रकी
आज्ञासे कुबेर उनके लिये दिव्य अमराग, अस्त्र, भोजन, वाहन, अलंकार आदि संपत्ति प्रस्तुत
करता है । मनके अनुकूल क्रोड़ा करनेमें चतुर देवकुमारोंका परिवार रहता है । उनमेंसे कोई-कोई
जिनदेव पूर्वसंचित पुण्यकर्मके उदयरूपी उदयाचल पर प्रकट हुए एक हजार आरोंसे युक्त चक्ररूपी
सूर्यकी सहायतासे और अपने अपरिमित भुज पराक्रमसे समस्त मागध प्रभास आदि देव, विद्याधर
और राजाओंके समूहको अपने अधीन कर लेते हैं, देवांगनाओंके रूप, यौवन और विलासको
तिरस्कृत करनेमें चतुर बत्तीस हजार पट्टरानियोंके मुखरूपी कमलोंको विकसित करनेमें तत्पर
रहते हैं । इन्द्रके द्वारा मेजी गई नर्तकियोंके नृत्यका अवलोकन करते हुए मनोविनोद करते हैं ।
किन्नर आदि देवगन्धर्वाँके गीतोंको बड़े आदरसे सुनते हैं । काल महाकाल आदि नौ निधियों
उनके राजकोषमें उत्पन्न होती हैं । चक्ररत्न आदि चौदह रत्न होते हैं । प्रत्येक रत्नकी एक हजार
देव रक्षा करते हैं । बत्तीस हजार मुकुट बद्ध राजाओंके स्वर्ण निमित्त मुकुटोंके ऊपरकी मकरिका-
में लगे रत्नदीपोंकी पंक्तिके द्वारा उनके पादपीठ निरन्तर पूजे जाते हैं अर्थात् बत्तीस हजार राजा
उन्हें नित्य नमस्कार करते हैं । देवकुमार भेटे ले लेकर उनकी सेवामें सदा उपस्थित होते हैं । इस

प्रकरेभानवरत्नमर्म्ममानपादवीठाः, देवकुमारोपनीयमानोपायविकीर्णकर्मकव्यघ्राः, मनुजभोगाग्रेसरं सुखमक्षेदेनानु-
बध्निषि । अपरेऽपि मण्डलीकमहामण्डलीकमवयुपगताः ।

पुनस्तीर्थकरनामकर्मोदयात् चारित्र्यमोहक्षयोपशमप्रकर्षानुगतादिकाकावलयमन्त्रपरकर्मरजोविभूतनाच-
बद्धकव्या इत्यं मनः प्रणिधवति—कर्म^१ मोहस्य महता येनास्मान्मन्त्रव्यधीक्रियमाणदुरन्तसंसारत्तरिवधिपदुःखा-
वर्तानु प्रवर्तयत्यारम्भपरिग्रहयोः । अणिमाद्यगुणसपत्क, अपवभापदा, अमिलाधस्याप्यविषयम्, अपराभराणां
कुशाधीयबुद्धीनामपि बलभिदाभगोचरं, वचसामप्रत्युह, अपराधीनं, अनास्वाधिताम्पूनतारसं, अहमिन्द्रसुखं चिर-
तरमनुभूतवतामस्माकं केयमुत्कण्ठा मनुजभोगसंपदि, सखजनमंभीव विधिन्नदुःखानुबंधविधानोदघायां शलायां
विपुष्यतमितिरिव परयातवृत्तौ, कुकविकृतिरिवात्पार्यसग्रहाया, दूरभयस्य मुक्तिमवधीगतिरिव अनेकप्रत्युह-
प्रतिहृताया अनन्तकालपरिभूक्तयां इति ।

तदैव च ब्रह्मलोकान्तावासावधिगतलौकान्तिकव्यपदेशाः, शङ्खावदाततनवः, स्वावधिज्ञानलोचनेनाव-
लोक्य स्वपरोत्तारणाबद्धपरिकरता जिनाना, महवि^२ कार्यं अनेकभयानुग्रहकरं भगवता प्रारब्ध, अस्माभिरपि
एतवमुन्मत्तव्यः । पूष्यपूजाव्यतिक्रमच स्वार्थं शकारीति सुरपयाववतीयं स्वाग्निः पुरस्तासबहुमानमवस्थिता
एवं विज्ञापयति—

तरह वे मनुष्योंको प्राप्त भोगोसे होने वाले सर्वोत्कृष्ट सुखको बिना किसी श्लेघके भोगते हैं, अन्य
कुछ जिनदेव मण्डलोक, महामण्डलीक आदि राजपदोंको प्राप्त होते हैं ।

पुनः तीर्थकर नामकर्मके उदयसे और चारित्र्य मोहके क्षयोपशमके प्रकर्षसे अनादिकालसे
लगी हुई अपनी और दूसरोंकी कर्मरूपी धूलको दूर करनेमें कम्मर कसकर वे इस प्रकार मनमें
विचारते है—यह मोहकी कैसी महता है कि दुरन्त संसार समुद्रके दुःखरूपी भँवरोंको प्रत्यक्ष अनु-
भव करने वाले हम जैसेको भी आरम्भ और परिग्रहमें फँसाता है । हमने चिरकाल तक अह-
मिन्द्रका सुख भोगा है जो अणिमा आदि आठ ऋद्धियोंसे सम्पन्न होता है, जिसमें कभी कोई
आपत्ति नहीं आती, जिसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता, अन्य देव और कुशाग्र बुद्धिशाली
इन्द्रोंको भी वह सुख प्राप्त नहीं है, वचनके अगोचर है, अपराधीन है, उसमें कभी कभी नहीं
होती । ऐसा अहमिन्द्र पदका सुख चिरकाल तक भोग चुकनेपर हमारी यह मनुष्यकी भोगसम्पदा-
में उत्कण्ठा कैसी ? यह भोग सम्पदा दुष्टजनकी मैत्रीकी तरह अनेक दुःखोंकी परम्पराको उत्पन्न
करने वाली है, चंचल है, पाप पुण्यकर्मके समान पराधीन है, जैसे कुकविकी रचनामे अल्पसार
होता है वैसे ही इस भोगसम्पदामे भी सार नहीं है । जैसे दूर भयके मोक्ष गमनमे अनेक बाधाएँ
रहती हैं वैसे ही इस भोगसम्पदामे अनेक बाधाएँ रहती हैं और हमने इसे अनन्तकाल भोगा है ।

उसी समय ब्रह्मलोक स्वर्गके अन्तमें रहनेसे लौकान्तिक नामधारी देव, जिनका शरीर
शंखके समान श्वेत होता है, अपने धर्वाधिज्ञान रूपी चक्षुसे देखते हैं कि जिनदेव स्वर्गकी और
दूसरोंकी संसार समुद्रसे पार उत्तारनेके लिये एकदम तत्पर हैं तो विचारते है—भगवान्ने अनेक
भय्य जीवों पर अनुग्रह करने वाला यह महान् कार्य करनेका बीड़ा उठाया है, हमे भी इसकी
अनुमोदना करनी चाहिए । तथा पूष्य पुरुषोंकी पूजा न करना भी स्वार्थका घातक है । ऐसा
विचार स्वर्गसे उतरकर भगवान्के सम्मुख बडे आदरके साथ उपस्थित हो, इस प्रकार निवेदन
करते हैं—

१. प्रतिवधति—आ० म० ।

२. कर्म मोहस्य बलवता—आ० मु० ।

मद्दत्तारकाः ! उचित एवमनुष्ठानो भवतां कल्पमहीक्ष्वा इव प्रत्युपकारनिरपेक्षा, जगदनुग्रहकारिणौ हि महाम्नाः, मिथ्यात्वसिद्धिराद्यनुष्ठितज्ञानकोषजनतया विनयेजनराक्षिकल्पप्रस्थानोऽसक्तकुण्डलितगर्तपतितो निःसर्तु-
ननिष्कल्पनिर्भ्रमसन्तः क्लिब्यसि । स च भवत्पातितावतवृद्धसमीचीनवृद्धिरज्ज्वावकृष्टः शुभमनुपवर्षिताति-
प्रनुष्णक्षिप्तासन्निधिमार्गधीकनाद्यनन्तज्ञानात्मकेन सुखेन सुखी भवत्वित्यभिधाय गतेषु सारस्वताधिषु ।

जिननिर्बन्धसमीरकाचोक्तिरहिरिष्टरो हरिः प्रणिधानप्रवर्तिततावधिकोचनाधिगतमुखारम्यमाणकार्यः, छिद्वाद्यनतः ससंभ्रममुत्थाय, स्वामिसमवस्थितदिग्निमुखं गत्वा सप्तपदमार्गं, कलाटतटविष्यस्तेन प्रभुद्वन्द्वलिम-
बलच्छायापहादिना, बंकुशकुलिक्षकलशाधिलक्षणीभूतासिमा दक्षिणेन करेवालकृतपीलिरत्नप्रभावंतुरनयनम्य
शिखरः सलीलं नमः सद्भर्मतीर्थप्रवर्तनोद्यतेभ्यः शरणागतविनेयत्राणकारिभ्योऽलौकिकमनयेभ्यो जिनेभ्य इत्यभि-
धाय, पुरोधावधमेरीभ्यान्नाविर्भ्रष्टिदिति विदितकार्येण, समुचितानन्तेन, स्वनायकपुरोयायिना, विशिष्टतपत्र-
शस्त्रवस्त्रविभूषणवाहनोष्णकेन शीर्षाणचक्रं णानुगम्यमानः सौधर्मः सह नगरमेन्द्रैः, चमररुहहरिहरिभ्रमेतात-
पधाधिपरमेश्वरकाञ्चनमालिकमपहाय प्रतीहारनिर्बेदितागमनस्तदाज्ञयाशु धर्मचक्रलाञ्छनातिक्रमवाप्य सबहुमान-
प्रणाममारभते स्म ।

उक्तो जिनात्सादरावलोकनप्रसादमात्मोचितमुपलभ्य विज्ञापनं करोति । सकलोऽप्रमायातोऽभ्युत्ताधिप-
पुरःसरः शक्तलोको मद्दत्तारकाणां परिनिष्कमणपरिष्वसन्निपपादयितुमना भवन्तमुक्तिमार्गोऽप्ययं स्वाधीनज्ञानात्स-

भगवन् ! आपका यह उद्योग उचित ही है । महान् पुरुष कल्पवृक्षकी तरह प्रत्युपकारकी
अपेक्षा न करके जगत् पर अनुग्रह करते हैं । मिथ्यात्व रूपी अन्धकारसे ज्ञानरूपी दृष्टिके अवच्छेद
हो जानेसे संसारके भव्य जीव कुमार्गमें चल पड़ते हैं । बार-बार कुनतिरूपी गढ़में गिरकर निक-
लना चाहते हुए भी नहीं निकल पाते और कष्ट भोगते हैं । आपके द्वारा डाली गई बिस्तुत दृढ़
समीचीन दृष्टिके रस्तीके द्वारा लीचे गये वे भव्य जीव आपके द्वारा बतलाये गये गुणशाली
विद्याल भोक्षमार्ग पर चलकर अनन्त ज्ञानात्मक सुखसे सुखी हों । इतना कहकर वे लौकान्तिक
देव चले जाते हैं ।

भगवान्‌के वैराग्यरूपी हवाके झकोरोंसे इन्द्रका सिंहासन कम्पित होता है । तब इन्द्र
अवधिज्ञान रूपी दृष्टिका उपयोग करके भगवान्‌के द्वारा प्रारम्भ किये जाने वाले कार्यको जानता
है । तत्काल सिंहासनसे उठ, जिस दिशामें भगवान्‌ हैं उस दिशाकी ओर सात पद चलकर, जिले
हुए कमलकी पांखुरीकी शोभाकी तिरस्कृत करने वाले और अंकुश, वज्र, कलश आदि शुभ
लक्षणोंसे शोभित दाहिने हाथको मस्तकसे लगाकर मुकुटके रत्नोंकी प्रभासे भासित सिरको नवा-
कर कहता है—'समीचीन धर्मरूप तीर्थके प्रवर्तनके लिये उद्यत, शरणागत भव्य जनकोंका रक्षा
करने वाले और अलौकिक नेत्रोंसे विशिष्ट जिनदेवको नमस्कार हो । मेरी आदिके शब्दसे सब
देवोंको ज्ञात हो जाता है । नाना प्रकारके छत्र, शस्त्र, वस्त्रामूषण और वाहनोंके साथ अपने
नायकको आगे करके सब देव सौधर्मके पीछे चलते हैं । सौधर्मेन्द्र अन्य इन्द्रों और राजाओंके साथ
राजमहलके द्वार पर पहुँच सिंहासन, चमर छत्र, आदि इन्द्रत्वके सब चिह्नोंको दूर करके द्वारपाल-
से अपने आनेका समाचार निवेदन कराता है । आज्ञा मिलने पर इन्द्र तत्काल धर्मचक्रके प्रवर्तक
भगवान्‌के समीप आकर अत्यन्त बहुमान पूर्वक नमस्कार करता है । जिनदेव इन्द्रकी ओर आदर-
पूर्वक देखते हैं । भगवान्‌के इस सादर अवलोकनको ही अपने योग्य प्रसाद मानकर इन्द्र निवेदन

कामस्तुत्यानुभवलम्पटोऽपि, अबधीरितेन्द्रियमुखसेदोऽपि, अपरिभ्रातसंभवात्तितकर्मकपोषणः, न चारित्र्ये प्रवृत्ते, न पराश्रयवर्तीयुवोहते । सुषिषुःप्रसादनवर्त्मनोऽपि च विना समीचीनं चारित्र्यं तपश्च, कर्मणि निरक्षेपं क्षयितुं शक्यते । अनेकसमुद्रगवनामुःस्त्रितयिता वीर्यसंसारी बराकोऽम्भवादिः चिकम्बति । उत्पानुसुजिलवल्गुपि धारको यथा पतत्वेवमपि अनवचारिभाषिकाश्चपि तद्वोक्तसमर्थस्तिष्ठति । मूर्धं पुनर्विचित्तवेषिष्ठम्भः क्षयोपसामपरिप्राप्तिनित्वृत्तिपरिणामाः, पूज्यतमाः ज्ञ्यान्तरेऽम्भकमपीवृष्टी वीतरागता सकलारम्भपरिब्रह्मपरित्यागोबोली विनयबनोपकारशक्तिश्च भवत्प्रसादावस्थानुमननाश्च श्वतु सञ्जीकृतमिर्षं विमानं जानीतमर्ककरोतु देवः इत्युपरत्तवक्षसि सुरादिषु हर्षंविधावपरवर्षं ज्ञातिवर्षं अन्तःपुराणि परिवारं चावलोक्य कृपया विना वदन्ति—

चिरसंवासावल्पकोपकारापेक्षया जगत्यानुरागो भवति तवपुत्री कोमस्ताम्नां दुरन्तकर्माधानं ततो भवति मयेवंभावः सर्वदुःखाना मूलमपनेतुमर्हति विद्वान् । न हि कस्याचित् किञ्चिन्मित्रं, धनं, शरीरं बालपात्यस्तित् । पाने समिता हि बन्धवः, परिवाराश्च, धनं पुनरजने विनाद्ये च महतीमानयति दुःखासिकां । तर्वाचिभिरन्यैश्च सह विरोधं कारयति । तुष्णा प्रकथयतीयावधाति क्वचनकस्मीतिमिव । बाललोकनाः पुनः सुरा इव चित्तं मोहयन्ति, व्यलीकरोदनेन हसनेन चाटुमिश्च पुंसामल्पसत्त्वानां श्वेतः स्वबधीकुर्वन्ति । चर्ममयपुत्रिकायु, चपलायु, संध्याम्बुशवकीवास्थिरागायु, मायाजननीषु, मृषाषेटीनायिकायु, सुगतिवज्राणंलयष्टिषु

करता है—अच्युतेन्द्र आदि समस्त इन्द्रगण भयवान्के निष्क्रमण कल्याणक सम्बन्धी परिचर्या करनेके अभिलाषी हैं । हम मुक्तिके मार्गको जानते हैं । स्वाधीन ज्ञानात्मक अनन्त सुखका अनुभव करनेके लिये भी आतुर हैं, इन्द्रिय सुखको भी श्लेद रूप जानकर उसकी उपेक्षा करते हैं । किन्तु संयमका घात करने वाले कर्मका क्षयोपशम हमें प्राप्त नहीं हैं । इसलिये न हम स्वयं चारित्र्यमें प्रवृत्त होते हैं और न दूसरोंको ही प्रवृत्त करना पसन्द करते हैं । सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त व्यक्ति भी समीचीन चारित्र्य और तपके बिना समस्त कर्मोंका क्षय नहीं कर सकता । अनेक सागरो प्रमाण आयु होनेसे दीर्घ संसारी हमलोग कष्ट उठाते हैं । जैसे शिष्य उठना चाहते हुए भी गिरता है वैसे ही हम लोग चारित्र्यके अभिलाषी होते हुए भी उसे धारण करनेमें असमर्थ रहते हैं । आप तो सब कुछ जानते हैं । चारित्र्यमोहका क्षयोपशम होनेसे आपके निवृत्ति रूप परिणाम हुए हैं । आप पूज्यतम हैं । आपके प्रसादसे तथा आपकी अनुमोदना करनेसे आगामी जन्ममें हमें भी इस प्रकारकी वीतरागता, समस्त आरम्भ और परिग्रहको त्यागनेका उद्योग तथा भय्य जीवोका उपकार करनेकी शक्ति प्राप्त हो । यह सजाया हुआ विमान तैयार है, देव ! इसे सुशोभित करें ।

देवेन्द्रके कान्धनके पश्चात् अन्तःपुर, परिवार और ज्ञातिवर्गको हर्ष और विधावमें देखकर जिनदेव कृपापूर्वक कहते हैं—चिरकाल तक साथ रहनेसे तथा थोड़ा बहुत उपकार करनेसे लोगोंमें अनुराग होता है तथा कोप भी होता है । इस अनुराग और कोपसे दुरन्तकर्मोंका बन्ध होता है । उससे 'यह मेरा है' इस प्रकारका भाव होता है, यह सब दुःखोंका मूल है । विद्वान्को इसे दूर करना चाहिए । न किसीका कोई मित्र है और न धन और शरीर ही स्थायी हैं । बन्धु बान्धव और परिवार यानपात्रमें मिले हुए पुरुषोंके समान हैं । धनके कमानेमें और कमाये हुए धनके नष्ट हो जानेपर बहुत दुःख होता है । उस धनके अर्धी अन्यजनोंसे विरोध होता है । जैसे खारा जल पीनेसे प्यास बढ़ती है वैसे ही धन पानेसे धनकी तुष्णा बढ़ती है । स्त्रियां मदिराकी तरह चित्तको मोहित करती हैं । बनावटी रोने और हँसने तथा मीठे वचनोंसे कमजोर मनुष्योंके चित्तको अपने वशमें कर लेती हैं । स्त्रियां चर्मनिमित्त पुतलियां हैं, चंचल होती हैं,

कोऽनुरागः प्रकाशतात् ? शरीरं पुनरिच्छन्नेकाग्रचित्तिधानं, कथारपुञ्जबलान्मृतात्मन्यस्वी भारः महारोग-
नाशानां बलीकीभूतं, जराभ्याग्नीभासजितं, मेघस्यच्छर्चनंवेदितकोष्ठमवन्ति सारं बहिर्नोहरं, गुणः पुनरथ
एक एव धर्मसङ्घातता । विरिन्वीवीतोर्तासीवात्मस्वितानि यौवनानि । तुषामिज्ज्वाला इव संपदः क्षयमात्रं
दृष्टव्यम् । इत्यमवचम्य मा कृष्या वृषा प्रमात्रं जननरत्नाकरपारवमनाय कुस्तोद्योगं । मर्षणीयोऽस्माभिः
प्रमाद्यत्कृतीपराव इति ।

भगवद्भारतीसमनन्तरं सुरकुमारकरप्रहृष्टा समन्ततो दुन्दुभयो ध्वनन्ति । सकलं च जगद्विन्दुप्रभुत्वं जयध्व-
निमूसारं जायते । समन्तात्सुरतक्षयः सविलासं नृतमारभन्ते । अगन्नाथाश्च त्रिलोकभूषणा बबलदुःकूलपरि-
धात्राः परमबुद्धलेखयमा निर्वृत्तिसंकल्पेव मुक्ताकण्टिकाभ्याजेनोपगतयालंकृतधीवाः विरागांशामपि मूसारानकरणे
पाटवं नः पश्यतेति दर्शयन्मूषामिव कुण्डलाभ्या विराजमानपूर्णमसृणवण्डस्थला । भूतं प्रियं एषां चैन्नोक्तर
इतीवोपगतने कटकद्वयेनाश्लिष्टप्रकोष्ठाः । यन्नामीषामतिशयरत्नाभिमानः तत्पश्यामः स्थित्वोर्ध्वरितीवोत्त-
माङ्गल्येन मुकुटरत्नकलापेन घोममानः निर्वाणपुरमिव विमानं प्रविशन्ति ।

ततः शतमसृग्मवाहस्कन्धोत्थितेन विमानेन सदेवीकचतुनिकायामरससानीकपरिवृतेन गत्वा अचतीयं

सन्ध्याकालीन मेघमालाकी तरह उनका राग अस्थिर होता है । वे स्वभावसे मायावी होती हैं, सुगतिके लिए वज्रनिमित्त अर्गला हैं । उनमें बुद्धिमानोंका कैसा अनुराग ? यह शरीर अनेक अपवित्र वस्तुओंकी खान है, कचरेके ढेरकी तरह प्राणियोंका ऐसा भार है जो कभी नष्ट नहीं होता । महारोगरूपी सर्पोंके लिए वामी है और जरारूपी सिंहनीके रहनेके लिए विल है । जैसे कोष्ठकी चमड़ेसे मढ़कर उसपर आँखें लगा देनेपर वह बाहरसे सुन्दर और भीतरसे निःसार होता है उसी तरह यह शरीर भी बाहरसे सुन्दर और भीतरसे निःसार है । इसमें केवल एक ही गुण है कि यह धर्ममें सहायक होता है । पहाड़ी नदीके स्रोतोंकी तरह यौवन स्थायी नहीं है । तृणोंकी आगकी लपटोंकी तरह सम्पदा क्षणमात्रमें देखते-देखते नष्ट हो जाती है । ये सब जानकर वृषा प्रमाद मत करो, जन्म समुद्रको पार करनेके लिए उद्योग करो । हमसे प्रमादवश जो अपराध हुए उन्हे क्षमा करें ।

भगवान्की वाणीके पश्चात् देवकुमार दुंदुभियाँ बजाते हैं । इन्द्र आदि सब लोग जय जयकार करते हैं । देवागनाएँ विलासपूर्ण नृत्य आरम्भ करती हैं । तीनों लोकोंके भूषण और जगत्के स्वामी जिनदेव सपेद वस्त्र धारण करते हैं । गलेमें मोतियोंकी माला पहने हैं मानों मुक्तिकी दूतीके समान परमशुक्ल लेख्याने उस मुक्कामालाके व्याजसे भगवान्के कण्ठको सुशोभित किया है । दोनों कानोंके कुण्डलोंसे भगवान्का स्निग्ध गण्डस्थल शोभित है, मानों दोनों कुण्डल यह दिखला रहे हैं कि विरागोंके भी मुखको रागयुक्त (लाल) करनेमें हमारा चातुर्य लगे देखें । दोनों हाथोंमें दो गोल कड़े हैं । वे गोल कड़े मानों यह विचार कर ही आये हैं कि भगवान्को वृत्त प्रिय है । वृत्तका अर्थ चारित्र्य भी है और गोल भी । सिरपर रत्नमयी मुकुट शोभित है । रत्नोंने सोचा—इन्हें रत्नों (रत्नत्रय) का बड़ा अभिमान है जरा इनके साथ रहकर देखें तो । इस प्रकारसे आभूषित भगवान् मोक्षपुरीके द्वारके समान विमानमें प्रवेश करते हैं ।

उस विमानको इन्द्र अपने कन्धोंपर उठाते हैं । देवांगनाओंके साथ चारों निकायोंके देव और उनकी सातों सेनाएँ विमानको घेरे होती हैं । उस विमानसे जाकर भगवान् रमणीक स्थानमें

रम्यत्वे वेद्ये उत्तरानिमुखाः, कृतचिद्विद्यमस्त्वयः शुक्रुटाधिकं क्रमेण अलंकाराधिकं अपनमन्ति । परिवृत्तको-
वयसककर्मणाः परिगृह्णन्ति योगप्रथेय रत्नत्रयमित्यंभूतं च परिनिष्क्रमणं पश्यतः ।

‘आत्मबुद्धि’ ज्ञानोत्पत्तिर्ज्ञातेश्चतुष्पत्ये सकलमर्थवाचाल्प्यमनेनेति ज्ञानं इति केवलमुच्यते । तस्योत्प-
त्तिरवसाहितसमीहनीयभाराणां, योगबासरधीवचरनिर्मूलितज्ञानवृथावरणतमसां, उल्कासाम्प्रतारायविषयविटग्निनां,
अपनीतक्रममनसेमितकरणचेष्टयापास्तसंधीतिकं, दूरीकृतविषयसिं केवलमुपपद्यते । तस्य फलस्य दर्शनाजिन-
प्रणीते मार्गे अपनीतयच्छादिकलक्ष्मा अद्वीत्यवते । फलार्थं तद्वस्तु रोचते बुद्धिसामर्थ्यं इति किं चित्रम् ? ॥१४५॥

एवमनियतविहारे वर्धनबुद्धिस्वार्थमुपवर्ष्यं परोपकारं स्थिरीकरणं प्रकटयति—

संविग्मं संविग्माणं जणयति सुविहिदो सुविहिदाणं ।

जुचो आउचाणं विसुद्धलेस्सो सुलेस्साणं ॥१४६॥

‘संविग्मं’ संसारभीष्टता । ‘जणयति’ जनयति । कः ? ‘सुविहिदो’ सुचरितो योऽनियतवासः । केवा ?
सुविहिदाणं सुचरितानां । ‘संविग्माणं’ संविग्नाणां । ‘जुचो’ अनशानाधिके तपसि युक्तः । ‘आउचाणं’ योग-
चाराणां । ‘विसुद्धलेस्सो’ विसुद्धलेख्यः । ‘सुलेस्साणं’ सुलेख्यानां च । सम्यक् चारित्र्यतपसोः बुद्धलेख्यायां च

उत्तरते हैं । और उत्तरकी ओर मुख करके सिद्धोंको नमस्कार करते हैं । तथा क्रमसे मुकुट आदि
अलंकारोंको उतार देते हैं । अन्तरंग बहिरंग सब परिग्रहको त्यागकर मन-वचन-कायसे रत्नत्रयको
स्वीकार करते हैं । इस प्रकारके निष्क्रमणको जो देखता है उसका सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता है ।

अब केवलज्ञानकी उत्पत्तिका वर्धन करते हैं—

जिसके द्वारा समस्त पदार्थों का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है उसे ज्ञान कहते हैं । यहाँ ज्ञान-
से केवलज्ञान कहा है । उसकी उत्पत्ति इस प्रकार होती है—जो मोहनीयका भार उतार देते हैं,
योगरूपी सूर्यसे ज्ञानावरण और दर्शनावरणरूपी अन्धकारको निर्मूल कर देते हैं और अन्तराय
कर्मरूपी विषवृक्षको उखाड़ देते हैं उनके क्रमरहित, इन्द्रियोंकी सहायता न लेनेवाला, संशय तथा
विपरीततासे दूर केवलज्ञान उत्पन्न होता है । उसके फलके दर्शनसे जिनकथित मार्गमें शंका आदि
दोषोंसे रहित अद्वैत उत्पन्न होती है । जो उस फलके अभिलाषी हैं वे उसकी शक्तिको देखकर
यदि उस रत्नत्रयसे युक्त भगवन्तोंमें रुचि करते हैं तो इसमें आश्चर्य क्या है ? ॥१४५॥

इस प्रकार अनियत विहारसे दर्शनविशुद्धिरूप स्वार्थको बतलाकर अब स्थिरीकरणरूप
परोपकारको प्रकट करते हैं—

शा०—सम्यक् आचार और अनशन आदि तपसे युक्त विशुद्ध लेख्यावाले मुनियोंका अनियत-
वास सम्यक् आचारवाले, योगके धारी, सम्यक् लेख्यावाले और संसारसे भीत साधुओंमें संसारसे
भय उत्पन्न करता है ॥१४६॥

दो०—सम्यक् चारित्र्य, सम्यक्तप और बुद्धलेख्यामे वर्तमान अनियत विहारी साधुको
देखकर सभी सम्यक् चारित्र्यवाले, सम्यक्तप करनेवाले और बुद्ध लेख्यावाले यतिगण अत्यन्त
संसारसे भीत होते हैं । वे मानते हैं कि हम संसारसे वैसे भीत नहीं हैं जैसे यह भगवान् मुनिराज
हैं । अत एव हमारा चारित्र्य और तप सदोष है । अर्थात् सम्यक् आचार, तप और विशुद्ध लेख्या-

प्रकर्तयामं वृद्ध्वा सर्वेऽपि सुधारिणाः सुतपसाः, वृद्धकेव्या यतसाः अतिशयवतीं संसारभीष्टां प्रतिपद्यन्ते । न
वचनतीक्ष्णं संसारभीष्टम्, यथाचं भगवान् अतएव नवचारिणं तपस्य सातिचारं इति मन्यमानाः ॥१४६॥

उत्तराध्यायना एतदाद्यच्छे न केवलं अतिशयितचारित्र्यतपोगुण एव परं संविन्नं करोति किन्तु एवंभूतोऽपि
इत्याद्यच्छे—

पियधम्मवज्जभीरू सुत्तत्थविसारदो असढ्माभो ।

संवेग्गाविदि य परं साधू णियदं विहरमाणो ॥१४७॥

‘पियधम्मवज्जभीरू’ प्रिय उत्तमज्ञमादिधर्मो यस्य, यत्त्वाद्यस्य पापस्य भीरुः । ‘सुत्तत्थविसारदो’
सुधार्ययोनियुगः । ‘असढ्माभो’ शाठ्यपरहितः । ‘संवेग्गाविदि य’ परं संविन्नं करोति । ‘साधू’ साधुः । ‘णियदं’
सर्वकालं ‘विहरमाणो’ देशान्तरातिथिः ॥१४७॥

पूर्वगाथायां परस्विरीकरणं प्रतिपाद्य उत्तरयात्मानमपि स्थिरयति इत्यभिधत्ते—

संविग्गादरे पासिय पियधम्मदरे अबज्जभीरुदरे ।

सयमवि पियथिरधम्मो साधू विहरंतओ होदि ॥१४८॥

‘तिथिरधम्म’ । ‘संविग्गादरं’ इत्यादिकथा । असकृत्पञ्चविधपरिवर्तनरूपणाहितचेतस्तयोपगततदायमन-
मयातिशयाः संविन्नतराः । अभिनवकर्मनिरोध विरतनगलनं करोति, अभ्युदयनि.धर्मसमुत्थानि च प्रयच्छति
सुचरितो धर्म इति । धर्मस्य फलमाहात्म्ये अनारतं चेत.समाधानात्प्रियधर्मतराः, स्वल्पमप्यभ्युद्योगानामवसर-

बाले अनियत विहारी साधुको देखकर अन्य मुनि जो सम्यक् आचारवान् हैं, तपस्वी हैं, विशुद्ध
लेख्याबाले हैं वे भी प्रभावित होकर और भी अधिक आचार, तप और लेख्यामे बढ़नेके लिए
प्रयत्नशील होते हैं । यह अनियतवाससे परोपकार होता है । दर्शनविशुद्धिका काम तो अपना
उपकार है ॥१४६॥

आगेकी गाथासे कहते हैं कि केवल विशिष्ट चारित्र्य और तप ही दूसरेको संसारसे विरक्त
नहीं करता किन्तु.....

गा०—जो उत्तम क्षमा आदि धर्मका पालक है और पापसे डरता है, सूत्र और उसके अर्थ-
में निपुण है, शाठ्यासे रहित है ऐसा सदा देशान्तरमें विहार करनेवाला साधु दूसरोंमें विराग
उत्पन्न करता है ॥१४७॥

पूर्वगाथामें दूसरोंके स्थिरीकरणका कथन किया है । आगेकी गाथासे अपने भी स्थिरीकरण-
को कहते हैं—

गा०—संविन्नतर प्रिय धर्मतर और अबद्य भीस्तर साधुको देखकर विहार करनेवाला
साधु स्वयं भी प्रिय स्थिर धर्मतर, संविन्नतर और अबद्य भीस्तर होता है ॥१४८॥

टी०—बार-बार पाँच प्रकारके परावर्तनोंका निरूपण चित्तमें बैठ जानेसे जो उस परावर्तन-
के आगमनसे अत्यन्त भीत होते हैं वे साधु संविन्नतर होते हैं । अच्छी तरह पालन किया गया
धर्म नये कर्मोंके आनेको रोकता है और पुराने कर्मोंकी निर्जरा करता है । तथा इहलौकिक
अभ्युदय और मोक्षका सुख देता है । धर्मके फलके इस माहात्म्यमें जिनका चित्त लीन होता है वे

शानासनधारीस्तराः । स्वयन्मातृना प्रियस्थिरधर्मतराः । अन्तरेणाप्यतिशयिकप्रत्ययवसतिधाराधर्मतरिण 'अभि-
रूपाय कन्या देवेति' यथा प्रियस्थिरधर्मतरः इति । अपिचान्वेन संविम्वतरः अवद्यभीस्तररथेति
ब्राह्मन् ॥१४८॥

भावनां व्याचष्टे—परिषहसहनमिह भावनेत्युच्यते—

चरिया कुहा य तण्हा सीदं उण्हं च भाविदं होदि ।

सेज्जा वि अपच्छिबद्धा विहरणेभाषिआसिया होदि ॥१४९॥

'चरिया' चर्याशब्दं दुःखमिह चर्येति गृहीतं । उपासहान्वेन वा अकृतपादारक्षस्य, गच्छतो निहित-
शर्करापाषाणकण्टकादिभिस्तुष्टमानचरणस्य, उष्णरजःसंतप्तपावस्य, वा यद्दुःखं यस्यानुभवनमसंक्लेशेन चर्या-
भावना । 'कुहा च' अपरिचिते देशे संयतैः पूर्वमनव्यासिते अल्पधाम्यसंघे प्रयोग्याया अकाभात् मिश्रायाः समुप-
जाता कुहेदना सोढा भवति । विरमेकन वसतो जनः परिचयाहासिष्ण्याद्वा मिश्रा प्रयच्छतीति न महात्परि-
श्रमः । 'सीदं उण्हं च' शीतोष्णस्पर्शात् दुःखं इह गृह्यते । तदनुभवनं संक्लेशरहितभावितं' सोढं भवति ।
'सेज्जा' य शय्या च वसतिः । 'अपच्छिबद्धा' ममेदं भावरहिता । 'अभिजासिया' सोढा भवति । 'विहरणेच'
विषयवैशगमनेन ॥१४९॥

प्रियधर्मतर होते हैं । और जो थोड़ेसे भी अशुभ योगको नहीं होने देते व अवद्यभीस्तर होते हैं । उन्हें
देखकर सदा विहार करनेवाला साधु स्वयं भी प्रियस्थिर धर्मतर होता है । शाश्वत 'प्रियधर्मतर' को
पाठ है उसमें अतिशयको बतलानेवाला 'तर' प्रत्यय नहीं है फिर भी अतिशय अर्थका बोध होता
है । जैसे किसीने कहा है 'अभिरूपको कन्या देना', यहाँ अभिरूपसे विशिष्ट रूपवानका बोध होता
है । अतः प्रियस्थिर धर्मतर अर्थ लेना । 'अपि' शब्दसे संविम्वतर और अवद्यभीस्तर भी ग्रहण करना
चाहिए । अर्थात् वह साधु दूसरे इस प्रकारके विशिष्ट साधुओंको देख स्वयं भी वैसा विशिष्ट
बन जाता है । यह विहारसे लाभ है ॥१४८॥

अब भावनाको कहते हैं । यहाँ परीषह सहनको भावना कहते हैं—

गा०—अनेक देशोंमें विहार करनेसे, चर्या भूल, व्यास शीत और उष्णका दुःख संक्लेश-
रहित भावसे सहना होता है । वसति भी ममत्वसे रहित सहनेमें आती है ॥१४९॥

टी०—यहाँ 'चर्या' शब्दसे चर्यासे होनेवाले दुःखका ग्रहण किया है । जूता अथवा अन्य
किसी वस्तुसे अपने पैरोंकी रक्षा नहीं करनेवाले साधुके चलते हुए तीक्ष्ण कंकर पत्थर कटि
आदिसे पैर छिद जाते हैं, अथवा गर्मधूलिसे पैर झुलस जाते हैं । उसके दुःखको बिना संक्लेशके
सहना चर्याभावना है । अनजान देशमें, जहाँ पूर्वमें कभी साधुओंका जाना नहीं हुआ, और
अनाजका संग्रह भी कम है, वहाँ, योग्य भिक्षाके न मिलनेसे उत्पन्न हुआ भूखका दुःख सहना
होता है । बहुत समय तक एक स्थानपर बसनेसे मनुष्य परिचित होनेसे अथवा उदारतावश
भिक्षा देते हैं इसलिए भिक्षामें बड़ा श्रम नहीं होता । शीत उष्णसे शीतस्पर्श और उष्णस्पर्शसे
होनेवाला दुःख यहाँ लिया है । उसका अनुभवन अर्थात् संक्लेशरहित भावपूर्वक सहना होता है ।
तथा रहनेके लिए वसतिका जो प्राप्त होती है उसमें भी 'यह मेरी है' ऐसा भाव नहीं रहता ।
ये सब विहार करनेवाले मुनिओंको सहना होता है ॥१४९॥

‘आषादेसे कुसलो णाणादेसे गदाण सत्थाणं ।
अभिलाव अत्थकुसलो होदि य देसप्पवेसेण ॥१५०॥

अतिशयार्थकुशलताक्यं गुणं कथयति—

सुषत्थयिरीकरणं अदिसयिदत्थाण होदि उवल्लद्धी ।

आयरियदंसणेण दु तम्हा सेविज्ज आयरियं ॥१५१॥

‘सुषत्थयिरीकरणं’ अल्पवर्णरचनं, अभिधेयविषयसहायाकारि साराथ्यवदम्बन्तरीकृतोपपत्तिक, प्रमाणान्तरवर्धितवस्तुतद्रूपविरुद्धानुपदर्शनेन निर्दोष इत्येतद्गुणसहितं सूत्रं तस्मार्थो वाच्य बाह्य आन्तरो वा अर्थः, तयोः सूत्रार्थयोः पिरीकरण इत्यभेदं सूत्रं शब्दतः, अभिधेयं चास्येदमेवेति यत्तत्^१ । ‘होदि उवल्लद्धी’ अतिशयेनार्थोपलब्धिर्भवति । ‘आयरियदंसणेण’ आचार्याणां दर्शनेन । तु शब्द पादपूरण अवधारणार्थो वा । आचार्यदर्शनेनैव अथवा सूत्रार्थानां स्थिरीकरणं व्याख्यातृणामाचार्याणां तत्र दर्शनात् । ‘अदिसयिदत्थाणं’ अतिशयितानां सूत्रार्थानां ‘उवल्लद्धी’ उपलब्धिः । ‘होदि’ भवति । प्रमाणनयनिक्षेपनिष्कृत्या अनुयोगद्वारेण निरूप्यमाणः सूत्रार्थो अतिशयितो भवति । आचार्याणां व्याख्यातृणां दर्शनेन गतभेदेन । केचिन्निक्षेपमुखेनैव सूत्रार्थमुपपादयन्त्यपरे नैगमादिविचित्रनयानुसारेण अन्य सदाद्यन्यांगोपन्यासेन । अपरे ‘अदिसयिदत्थाणं’ होदि

गा०—देशान्तरमें जानेसे अनेक देशोंके सम्बन्धमें कुशल हो जाता है । अनेक देशोंमें पाये जानेवाले शास्त्रोंके शब्दार्थके विषयमें कुशल होता है ॥१५०॥

अतिशय अर्थकुशलता नामक गुणको कहते हैं—

गा०—आचार्योंके दर्शानसे ही सूत्र और अर्थका स्थिरीकरण और अतिशयित अर्थोंकी उपलब्धि होती है । इसलिये आचार्योंकी सेवा करनी चाहिए ॥१५१॥

टी०—घोड़े शब्दोंमें रखा गया हो, अर्थके विषयमें सहाय उत्पन्न न करता हो, सारसे भरा हो, जिसकी उपपत्ति उसीमें गभित हो, और अन्य प्रमाणोंके द्वारा वस्तुका जो स्वरूप बतलाया गया है उसके विरुद्ध कथन न करनेसे निर्दोष हो । जिसमें ये गुण होते हैं वह सूत्र है । उसका अर्थ बाह्य और आन्तर दोनों प्रकारका है । इन सूत्र और उसके अर्थका स्थिरीकरण—यह सूत्र शब्दरूपसे इसी प्रकार है अर्थात् इसके शब्द ठीक हैं और इसका अर्थ भी यही है—यह सूत्रार्थका स्थिरीकरण है । आचार्योंके पास रहनेसे यह लाभ होता है तथा अतिशयित सूत्रार्थको उपलब्धि होती है ।

जो सूत्रका अर्थ प्रमाण नय निक्षेप निरुक्ति और अनुयोगके द्वारा किया गया हो उसे अतिशयित कहते हैं । आचार्य अर्थात् सूत्रके अर्थका व्याख्यान करने वाले व्याख्याताओंमें दर्शन अर्थात् मतभेद देखा जाता है । कोई व्याख्याता निक्षेप द्वारा ही सूत्रके अर्थका उपपादन करते हैं । अन्य व्याख्याता नैगम आदि विभिन्न नयोंके द्वारा सूत्रार्थका कथन करते हैं । कुछ अन्य सत् आदि अनुयोगोंका उपन्यास करके सूत्रार्थका कथन करते हैं । ‘तु’ शब्द पादपूर्तिके लिये अथवा अवधारणके लिये है । आचार्य दर्शानसे ही सूत्र और अर्थका स्थिरीकरण होता है और अतिशयित अर्थकी प्राप्ति

उबसद्धी' इति पठन्ति । तन्नायमर्थः—अतिशयभूतानां शास्त्राणां प्रत्यक्षाणामरातीवैः स्मृतिभिः कृतानां चिरंत-
नामानेषांप्रत्याख्यातानां उपलब्धिर्भवति ।

प्रकारान्तरेण अतिशयार्थकुशलत्वमाख्यातुमीहते—

विश्वव्यापनपवेसादिसु आयरियाणं बहुव्ययारणं ।

सामाचारी कुसलो य होदि गणसंपवेसेण ॥१५२॥

'विश्वव्यापनपवेसादिसु' इत्यनया वाचया । 'आचारिणां' आचार्याणां । 'बहुव्ययारणं' बहुविधाना ।
केचिदाचार्याः चरणक्रममवच्छन्ति परं । सहाचरणात् । अपरे पुनः शास्त्रनिगदितमेव । अन्ये तदुचयज्ञा ।
इति बहुप्रकारता । एवं आचार्याणां अनेकप्रकाराणां गणसंपवेसेण गणप्रवेशेन निःक्रमणप्रवेशादिकासु क्रियासु ।
'कुसलो य होदि' कुशलश्च भवति । क. ? सामाचारी । ते यथा आचरन्ति तथा प्रवर्तमान स्वाभावसदेशान्नि-
गन्तुमिच्छता शीतलाद्रुणाद्वा' देशाच्छरीरप्रमार्जनं कार्यं, तथा प्रविद्यतापि । किमर्थं ? शीतोष्णजन्तूनामा-
बाधापरिहाराय अथवा स्वैतरक्तकृष्णगुणसु भूमिषु अन्यस्या निःक्रमणे अन्यस्याश्च प्रवेशने प्रमार्जनं कटिप्रवेशा-
वचः कार्यं । अन्यथा विश्वयोनिसंक्रमणे पृथिवीकायिकानां तद्भूमिमागोत्पन्नानां त्रसानां बाधा स्यात् ।
तथा जलं प्रविद्यता सचित्तचित्तरजसोः पदादियु लनयोन्निरासः । यावच्च पादौ शुष्यतस्तावन्न गच्छेज्ज-
लान्तिक एव तिष्ठेत् । महतीनां नदीनां उत्तरणे आराद्धाने कृतसिद्धबन्धनं यावत्परकूलप्राप्तिस्तावन्मया सर्वं

होती है, कोई 'अतिशयसत्याण होइ उबसद्धी' ऐसा पढ़ते हैं । उसका यह अर्थ है—अतिशयभूत
शास्त्रोंकी जो नवीन बने हैं अथवा प्राचीन आरातीय आचार्योंके द्वारा रचे गये हैं उनकी उपलब्धि
होती है—उनको जानना देखना होता है ॥१५१॥

प्रकारान्तरसे अतिशय अर्थकुशलताका कथन करते हैं—

शा०—बहुत प्रकारके आचार्योंके गणमें प्रवेश करनेसे वसति और दाताके घरसे निकलने
और प्रवेश करने आदिमें जो उनका सम्यक् आचरण है उसमें प्रवीण होता है ॥१५२॥

टी०—आचार्य बहुत प्रकारके होते हैं । कुछ आचार्य दूसरोंके साथ आचरण करनेसे
आचरणका क्रम जानते हैं । दूसरे कोई आचार्य शास्त्रमें जो आचार कहा है उसे ही जानते हैं ।
अन्य कुछ आचार्य दोनोंको जानते हैं । इस प्रकार आचार्योंके बहुत प्रकार हैं । इस प्रकार अनेक
प्रकारके आचार्योंके संघमें प्रवेश करनेसे निष्क्रमण प्रवेश आदिमें सामाचारी कुशल होता है । वे
आचार्य जैसा आचरण करते हैं उसी प्रकार जो आचरण करता है उसे सामाचारी कहते हैं । अपने
रहनेके स्थानसे यदि बाहर जाना चाहता है वह स्थान शीतल हो अथवा गर्म हो, शरीरका
प्रमार्जन करके बाहर जाना चाहिए । इसी प्रकार प्रवेश करते हुए भी प्रमार्जन करना चाहिए ।
यह प्रमार्जन पीछेसे शरीरकी सफाई शीतकाय और उष्णकायके जीवोंको बाधा न हो, इसलिए
किया जाता है । अथवा सपेद, लाल या काले गुणवाली भूमियोंमें एकमेंसे निकलकर दूसरीमें प्रवेश
करनेपर कमरसे नीचे प्रमार्जन करना चाहिए । अन्यथा विश्व योनिके संक्रमसे पृथिवीकायिक
जीवोंको और उस भूमिमें उत्पन्न हुए त्रसोंको बाधा होती है । तथा जलमें प्रवेश करते समय
पैर आदिमें लगी सचित्त और अचित्त धूलीको दूर कर देना चाहिए । जब तक पैर न सूखे तबतक
जलसे निकलकर जलके पास ही ठहरना चाहिए, बहसि जाना नहीं चाहिए । यदि बड़ी नदीको

शरीरभोजनमुपकरणं च परित्यक्तमिति गृहीतप्रत्याख्यानः समाहितचित्तो द्रोघ्यादिकनारीहेतुः, परकूले च कायोत्सर्गं विच्छेत् । तवतिचारव्यपीडार्थं । एवमेव महतः कान्तारस्य प्रवेशान्.क्रमणयोः ।

तथा भिक्षामिति गृहं प्रवेष्टुकामः अवलोकयेत्किमत्र बलीवर्दा, महिष्यः, प्रसूता वा गावः, दुष्टा वा शारपेया, भिक्षाचरा. श्रमणाः वा सन्ति न सन्तीति । सन्धि बेन्ध प्रविशेत् । यदि न बिभ्यति ते यत्नेन प्रवेशं कुर्यात् । ते हि भीता यति वाक्वन्ते स्वयं वा पलायमानाः बलस्त्वावरपीडा कुपुः । विलग्नचित्तः, महति वा वताथी पतिता मृतमुपेयुः ।

गृहीतभिक्षाणां वा तेषां निर्गमनं गृहस्थैः प्रत्याख्यानं वा दुष्ट्वा भुक्त्वा वा प्रवेष्टव्यं । अन्यथा बहुव बाधेता इति दातुमशक्ताः कस्मैश्चिदपि न दद्युः । तथा च आहारान्तरायः कृत स्यात् । क्रुद्धा परे भिक्षाचराः निर्मलसाधिकं कुपुंरस्माभिराशया प्रविष्टं गृहं किमर्थं प्रविशतीति । अन्ये भिक्षाचरा यत्र स्थित्वा जन्वेवन्ते भिक्षां, यत्र वा स्थिताना गृहिणः प्रयच्छन्ति तावन्मात्रमेव भूभागं यति प्रविशेन् गृहस्थान्तरं । गृहिभिस्तिस्रः प्रविशेत्प्रविहितोऽपि नान्यकार प्रविशेत् त्रसस्त्वावरपीडापरिहृतयं । तद्द्वारकाष्टल्लङ्घने कुप्यन्ति च गृहिणः । एकं बत्सं वा नातिक्रम्य प्रविशेत् । भीताः पलायनं कुपुंरस्मान् वा पातयेयुः ।

द्वारमप्यायामविष्कम्भहीनं प्रविशतः गात्रपीडा इति संकुटितामस्य विवृताद्योगागत्य वा प्रवेशं दुष्ट्वा

पार करना हो तो इस ओर सिद्धोंकी वन्दना करे और जबतक मै नदीके पार न पहुँचूँ तबतकके लिए मेरे सब शरीर भोजन और उपकरणका त्याग है इस प्रकार प्रत्याख्यान ग्रहण करे और चित्तको समाहित करके नौका आदिमे चढ़े । तथा दूसरे तटपर पहुँचकर कायोत्सर्ग करे । यह कर्मोत्सर्ग नदी पार करनेमें लगे दोषकी शुद्धिके लिए किया जाता है । इसी प्रकार किसी महान् बनमें प्रवेश करने और निकलनेपर करना चाहिए ।

तथा भिक्षाके लिए घरमें प्रवेश करनेसे पूर्व देख ले कि यहाँ, साँड़, भेंस, ब्याई हुई गाय, अथवा दुष्ट कुत्ते और भिक्षाके लिए श्रमण हैं अथवा नहीं है । यदि हों तो घरमे प्रवेश न करें । यदि वे पशु साधुके प्रवेशसे न डरें तो सावधानतापूर्वक प्रवेश करे । वे पशु डरनेपर यतिको बाधा कर सकते हैं । अथवा स्वयं भागकर त्रस और स्थावर जीवोको पीडा पहुँचा सकते हैं । स्वयं कष्टमें पड़ सकते हैं । किसी बड़े गड्ढेमें गिरकर मर सकते हैं । अथवा भिक्षा लेकर निकलते हुए साधुओंको देखकर और गृहस्थोंके द्वारा उनका प्रत्याख्यान सुनकर घरमें प्रवेश करना चाहिए । अन्यथा बहुतसे साधु आ गये, हम इन्हें भिक्षा देनेमें असमर्थ हैं ऐसा सोच गृहस्थ किसीको भी भिक्षा नहीं देंगे । और तब आहारमें अन्तराय हो जायगा । अन्य भिक्षार्थी क्रुद्ध होकर तिरस्कार करेंगे कि जिस घरमें हम भिक्षा लेंते हैं उसमें ये क्यों प्रविष्ट हुए । अन्य भिक्षा लनेवाले जहाँ खड़े होकर भिक्षाकी प्रतीक्षा करते हैं अथवा जहाँपर खड़े हुए भिक्षार्थियोंको गृहस्थ भिक्षा देते हैं, वहाँ तक साधुको जाना चाहिए । घरके भीतर प्रवेश नहीं करना चाहिए । गृहस्थोंके द्वारा 'पधारिणे' घरमें प्रवेश कीजिए, ऐसा कहनेपर भी त्रस और स्थावरजीवोको पीडा न पहुँचे इसलिए अन्धकारमें प्रवेश नहीं करना चाहिए । उनके द्वार आदिको लाँचनेपर गृहस्थ क्रुद्ध हो सकते हैं । बछड़े आदिको लाँचकर नहीं जाना चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेसे वे डरकर भाग सकते हैं अथवा साधुको गिरा सकते हैं । लम्बाई चौड़ाईसे रहित द्वारमें प्रवेश करते हुए अंगोंको

१. भोगान्तरायः—आ० नु० ।

२. जन्ते—आ० नु० ।

३. गृहिणः भीतः—आ० ।

मुच्यन्ति ह्यस्मिन् वा । आत्मविराघना मिथ्यात्वाराघना च । द्वारपार्श्वस्वस्त्यनुपीडा स्वनाशमर्हन्ति च शिष्याव-
सन्धितभाजनानि वा अनिरूपितप्रवेशोऽभिहृतिः । तस्माद्भूर्ध्वं तिर्यक्चाबलोक्य प्रवेष्टव्यम् ।

तद्यानमेव क्लिप्ता, जलसेकाद्वा, प्रकीर्णहरितकुसुमफलपलाशादिभिर्निरन्तरं, सचित्तमुत्तिकावतीं, छिन्न-
बहुका, विचरत्तसजीवौ, गृह्णितां भोजनार्थं कृतमण्डलपरिहारं, देवताम्युचितां निकटभूतनाभाजनार्थितकस्था-
सनशयनायासीनशयितपुरुषां, भूनालपुरीषादिभिरुपहृतां भूमिं न प्रविशेत् ।

संयमविराघना आत्मविराघना मिथ्यात्वाराघनां च परिहृतुं भुक्त्या निर्गच्छन्पि शरीरतीक्ष्णत्ववगतो
बन्धमानं प्रति दत्तयोग्याशीर्वादे निर्गच्छेत् । तथा भिक्षाकालं, बुभुक्षाकालं च ज्ञात्वा गृहीतावग्रहः, ग्राम-
नगरादिकं प्रविशेदीर्घास्तमितिसम्पन्नः । भोजनकालपरिमाणं ज्ञात्वा ग्रामादिभ्यो निःसरेत् । विनायतनं, यति-
निवासं वा प्रविशन्नदक्षिणां कुर्यात्त्रिसीधिकाशब्दप्रयोगं च । निर्गन्तुकाम आसीधिकेति । आदिशब्देन परिगृहीता
स्थानभोजनशयनशयनादिक्रिया । तत्रापि यत्नो यतीनां । तं सकलं वेदिम गुरुकुलवासी सूत्रार्थशौर्द्धं, न मया-
चारक्रमः सूत्रार्थो वाग्यसकाशो ज्ञातव्य इत्यभिमानं न बहेत् ॥ १५२॥

शिक्षायामुद्योगपरो भवेदित्याह—

कंठगदेहिं वि पाणेहिं साहुणा आगमो हु कादग्वो ।

सुचस्स य अत्थस्स य सामाचारी जघ तहेव ॥१५३॥

संकुचित करनेपर शरीरमें पीडा होती है । नीचेके भागको फैलाकर प्रवेश करनेपर लंग देखकर
कुपित होंगे या हँसेंगे । तथा आत्माकी विराघना और मिथ्यात्वकी आराघना होती है ।

अपने शरीरका मर्दन करनेपर द्वारके पार्श्वभागमें स्थित जीवोंको पीडा होती है । विना
देखे घरमें प्रवेश करनेवाला साधु छीकेपर रखे बरतनसे टकराता है । अतः ऊपर और इधर-
उधर देखकर घरमें प्रवेश करना चाहिए । जो भूमि तत्काल लीपी गई हो, जलके सिंचनसे गीली
हो, हरे फूल, फल पत्र आदिसे सर्वत्र ढकी हो, सचित्त मिट्टीवाली हो, जिसमें बहुत छिद्र हों,
जिसपर तसजीव विचरते हों, गृहस्थोंके भोजके लिए मण्डल आदि रचे गये हों, जहाँ देवताका
निवास हो, पासमें बहुतसे आदमी बैठे हों, आसन शय्या पासमें हों, पुख्य सोये या बैठे हों, टट्टी
पेशाब आदि पड़े हों, उस भूमिसे प्रवेश नहीं करना चाहिए । संयमकी विराघना, आत्माकी
विराघना और मिथ्यात्वकी आराघनासे बचनेके लिए भोजन करके निकलते हुए भी धीरेसे अति
नम्र हो, वन्दना करनेवालोंको आशीर्वाद देते हुए निकलना चाहिए । तथा भिक्षाका समय और
अपनी भूखके समयको जानकर कोई नियम ग्रहण करके ईयस्तिमितिपूर्वक ग्राम नगर आदिमें
प्रवेश करना चाहिए । और भोजनके कालका परिमाण जानकर ग्रामादिसे निकलना चाहिए ।
जिन मन्दिरमें अथवा साधु निवासमें प्रवेश करते समय निसिधिका शब्दका प्रयोग करना चाहिए
और प्रदक्षिणा करना चाहिए । निकलते समय 'आसीधिका' शब्दका प्रयोग करना चाहिए । आदि
शब्दसे स्थान, भोजन, शयन, गमन आदि क्रियाका ग्रहण किया है । उनमें भी यतियोंको साध-
वानता बरतनी चाहिए । मैं सब जानता हूँ, गुरुकुलका वासी और सूत्रके अर्थका ज्ञाता हूँ, मुझे
दूधरेसे आचारक्रम और सूत्रार्थ नहीं जानना है' ऐसा अभिमान नहीं करना चाहिए ॥१५२॥

शिक्षामें उद्योग करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—

'कण्ठवेदेहं वीरवाचिना' । कण्ठगतैः प्राणैः सह वर्तमानेनापि साधुना आगमशिखा कर्तव्यैव सूत्र-
स्वार्थस्य सामाचारस्य च ॥१५३॥

क्षेत्रपरिमाणं व्याचष्टे—

संज्ञद्वयजस्य य जग्धि फासुविहारो य सुलभवृषी य ।

तं क्षेत्रं विहरतो जाहिदि सल्लेहणाजोग्गं ॥१५४॥

'संज्ञद्वयज' इत्यादिना । असंयमान् हिंसादीन्नात्वा श्रद्धाय च तेभ्य उपरतो व्यावृत्तः सम्यग्यतः संयतः
इत्युच्यते तस्य संयतजनस्य । 'जग्धि' यस्मिन्क्षेत्रे । 'फासुविहारो य' प्रासुक विहारण जीवबाधारहितं गमनं
अनसहरितबहुलत्वावप्रचुरोदककर्मत्वाच्च क्षेत्रस्य । 'सुलभवृषी य' सुसोनाकलेशेन लभ्यते वृत्तिराहारो यस्मि-
न्क्षेत्रे । 'तं क्षेत्रं' तत्क्षेत्रं । 'जाहिदि' ज्ञास्यत्यात्मनः परस्य वा । 'सल्लेहणाजोग्गं' मम्यकृपायकवायतनूकरणं
सल्लेखना तस्या योग्यं । कः ? 'विहरतो' देशान्तराणि भ्रमन् ॥१५४॥

न देशान्तरभ्रमणमात्रादनियतविहारी भवति किन्त्वैवविष इत्याचष्टे—

वसधीसु य उवधीसु य ग्रामे नगरे गणे य सण्णजणे ।

सम्बत्थ अपडिबद्धो समासदो अणियदविहारो ॥१५५॥

'वसधीसु य' इत्यादिना—'वसतिषु' उपकरणेषु । ग्रामे नगरे गणे श्रावकजनै च । सर्वत्र अप्रतिबद्धः ।

गा०—प्राणिके कण्ठमें आ जानेपर भी साधुको आगमका अभ्यास अवश्य करना चाहिए ।
जैसे वह सूत्रका और अर्थका और समाचारीका अभ्यास करता है उसी प्रकार उसे आगमका
अभ्यास करना चाहिए ॥१५३॥

टी०—कण्ठगत प्राणिके होते हुए भी साधुको आगमकी शिक्षा करना ही चाहिए तथा
सूत्र, अर्थ और सामाचारीकी भी शिक्षा करना चाहिए ॥१५३॥

विशेष०—आशाघर इस गाथाको प्रक्षिप्त बतलाते हैं ।

क्षेत्र परिमाणका कहते हैं—

गा०—जिस क्षेत्रमें संयमीजनका प्रासुक विहार और सुलभ आहार हो, वह क्षेत्र देशान्तर-
में भ्रमण करनेवाला सल्लेखनाके योग्य जानता है ॥१५४॥

टी०—असंयमरूप हिंसा आदिको जानकर और श्रद्धान करके जो उनसे अलग होता है
अर्थात् उनका त्याग करता है उस सम्यक् यतको संयत कहते हैं । संयमी मनुष्यका जिस क्षेत्रमें
प्रासुक विहार अर्थात् जीव बाधारहित गमन होता है; क्योंकि क्षेत्रमें त्रस और हरितकायकी
बहुलता और पानी कीचड़की अधिकता नहीं होनी चाहिए । तथा जहाँ वृत्ति अर्थात् आहार
सुखपूर्वक बिना क्लेशके प्राप्त होता है वह क्षेत्र देशान्तरमें विहार करनेवाला अनियत विहारी
साधु सल्लेखनाके योग्य जानता है । सम्यक् रीतिसे शरीर और कषायके कृष करनेको सल्लेखना
कहते हैं उसके योग्य वह क्षेत्र होता है ॥१५४॥

आगे कहते हैं कि केवल देशान्तरमें भ्रमण करनेसे अनियत विहारी नहीं होता किन्तु जो
ऐसा होता है—

गा०—वसतिथीमें और उपकरणोंमें ग्राममें नगरमें संघमें और श्रावकजनमें सर्वत्र यह भेदा
है इस प्रकारके संकल्पसे रहित साधु संक्षेपसे अनियत विहारी होता है ॥१५५॥

टी०—वसति, उपकरण, ग्राम, नगर, गण और श्रावकजनमें जो सर्वत्र अप्रतिबद्ध है, यह

नमेषं बसत्प्राविकं अहमस्य स्वामीति संकल्परहितः अनियतविहारी भवति इति संक्षेपतः प्रतिपत्सम्बः ।
शिष्यो नमो ॥१५५॥

अनियतबासायनन्तरं परिणामं प्रतिपादयितु उत्तरगाथा—

अणुपालिदो य दीहो परियाजो वायणा य मे दिष्णा ।

जिप्यादिदा य सिस्सा सेयं खलु अप्पणो काहुं ॥१५६॥

‘अणुपप्रक्षिदो ब’ अनुपालितस्य सूत्रानुसारेण रक्षितः । ‘दीहो’ दीर्घः चिरकालप्रवृत्तिः । ‘परियाजो’ पर्यायः ज्ञानदर्शनचारित्रतपोरूपः । ‘वायणा वि’ वाचनापि । ‘मे’ मया । ‘दिष्णा’ वरा । ‘जिप्यादिदा ब सिस्सा’ निष्पादितास्य शिष्या । ‘सेयं’ श्रेयः हित । ‘अप्पणो काहुं’ आत्मनः कर्तुं ‘सुत्तं’ इति शेषः । एतदुक्तं भवति । ज्ञानदर्शनचारित्र्येषु चिरकालं परिणतोऽस्मि । सूत्रानुसारेण परेष्वप्यत्र निरवसन्नस्यार्थदानं च कृतं । शिष्यास्य व्युत्पन्नाः संवृताः । एवं स्वपरोपकारक्रियया गतः कालः । इतः प्रभृत्यात्मन एव हितं कर्तुं न्यायमिति चेत् प्रणिधानं इह परिणामशब्देनोच्यते । तथा चोक्तम्—

अप्यहितं कावन्वं अहं सक्कइ परिहित्वं च कावन्वं ।

अप्यहितपरहिवावो अप्यहित्वं सुट्ठु कावन्वं ॥ []

किण्णु अचालंदविधिं भत्तपइण्णो गिणी य परिहारो ।

पादोवगमणजिणकप्पियं च विहरामि पच्चिवण्णो ॥१५७॥

‘किं नु अचालंदविधिं’ । कोऽभावचालन्दविधिः ? उच्यते—परिणाम सामर्थ्यं, गुर्विसर्जनं, प्रमाणं, स्थापना, आचारमार्गणा, अचालन्दमासकल्पः । गृहीतार्थाः कृतकरणाः, परीवहोपसर्गजये समर्थाः, अनि-

वसति आदि मेरी है और मैं इसका स्वामी हूँ इस प्रकारके संकल्पसे रहित है उसे संक्षेपमें अनियत विहारी जानना । इस प्रकार अनियत विहार समाप्त हुआ ॥१५५॥

अनियत बासके अनन्तर परिणामका कथन करनेके लिए गाथा—

गा०—दीर्घकाल तक ज्ञान दर्शन चारित्र और तप रूप पर्यायिका मैंने शास्त्रानुसार पालन किया । और मैंने वाचना भी दी और शिष्योंको तैयार किया । अब निश्चयसे अपना कल्याण करना उचित है ॥१५६॥

टीका—इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञानदर्शन चारित्रमें मैं चिरकालतक रमा हूँ । तथा दूसरोंको आगमके अनुसार निर्दोष प्रथ्य और उसके अर्थका दान किया है । शिष्य भी व्युत्पन्न हो गये । इस प्रकार अपना और परका उपकार करनेमें काल बीता । आजसे अपना ही हित करना उचित है । इस प्रकारके मनोभावको यहाँ परिणाम शब्दसे कहा है । कहा भी है—‘अपना हित करना चाहिए । यदि शक्ति हो तो परका हित भी करना चाहिए । किन्तु आत्महित और परहित में से आत्महित अच्छे प्रकार करना चाहिए ॥१५६॥

गा०—क्या अचालन्द विधि, भक्त प्रतिज्ञा, इंगिनीमरण, परिहार विशुद्धि चारित्र, पाषोप-गमन अथवा जिनकल्पको धारण करके मैं विहार करूँ ॥१५७॥

टी०—अचालन्दविधि क्या है, यह कहते हैं—परिणाम, सामर्थ्य, गुत्के द्वारा बिसर्जन, प्रमाण, स्थापना, आचार मार्गणा और अचालन्दकमासकल्प यह क्रम है । जो मुनि शास्त्रज्ञ, करने

शुद्धिचक्रवीर्या, आत्मानं सनसा तुल्यमिति । किमथालन्दविधिपरिहारभौमोऽथवा प्रायोपगमनविधिरिति । परिहारस्यासमर्था अथालन्दविधियुगमन्पुत्रासास्त्रयः, पञ्च, सप्त, नव वा ज्ञानदर्शनसंपन्नास्तीन्द्रसंवेगमापन्नाः, स्वधिरभूतनिवासिनः, अथशुभ्रास्त्यसामर्थ्या विधितायुःस्वित्तयः स्वधिरं विज्ञापयन्ति—भगवन् ! किमिच्छामो-
 आलन्दकसंयमं प्रतिपत्सुमिति । तच्छ्रुत्वा स्वविरो धारयति श्रुत्वा शरीरेण च दुर्बलात्परिणामातिशयधिर-
 हितोऽत्र कांश्चिद्वदन् आजाति । समग्रगुणास्ते निस्पृष्टाः स्वविरेण प्रशस्तेऽकाशे स्थिताः कृतकोर्षाः, गुरुणामा-
 लोचनां कृत्वा कृतत्रतारोपणा अचिरोद्भूयते आदित्ये कल्पस्थितमेकं गणस्यालोचना श्रोतु शुद्धि चैव कर्तुं
 समुद्यतं स्थापयन्ति । स एव प्रमार्णं गणस्य । आत्यन्त सहाया यावन्तो यथाभिर्गतास्तावन्त एव तत्स्थाने
 स्थापयितव्या गणे ।

आचारो निरूप्यते—अथालन्दसंयताना लिङ्ग औत्सर्गिक, देहस्योपकारार्थं आहारं वसति च गृह्णन्ति, धैर्यं
 सकलं त्यजन्ति । तृणपीठकटकफलादिक उपधि च न गृह्णन्ति । प्राणिसंयमपरिपालनार्थं जिनप्रतिरूपतासपाध-
 नार्थं च गृहीतप्रतिरूपता ग्रामान्तरगमने विहारभूमिगमने, भिक्षाचर्यायां, निवश्याया च अप्रतिलेखना एव व्युत्सृष्ट
 शरीरसंस्कारा परीषहान्सहस्ते नो वा धृतिबलहीनाः । अस्ति च मनोबल संयमाचारितुं इति मत्वा त्रय-
 पञ्च वा सह प्रवर्तन्ते । रोगेणाभिघातेन वा जाताया वेदनायां प्रतिक्रियया वर्ज्यां यदा तपसातिश्रांतास्तावदा

योग्य कार्यको कर चुकने वाले, परीषह और उपसर्गको जीतनेमें समर्थ तथा अपने बल और वीर्य-
 नहीं छिपानेवाले होते हैं, वे अपनी तुलना मनमें करते हैं कि क्या अथालन्दविधि प्रारम्भ करें या
 प्रायोपगमन विधि ? जो परिहार विशुद्धिको धारण करनेमें असमर्थ हैं और अथालन्दविधिको
 स्वीकार करना चाहते हैं ऐसे पाँच, सात या नौ मुनि, जो ज्ञान और दर्शनसे सम्पन्न हैं, तीव्र
 वैराग्यसे सम्पन्न हैं, आचार्यके पादमूलमें रहते हैं, जिन्होंने अपनी सामर्थ्यका निर्णय कर लिया है
 और जिन्हे अपनी आयुकी स्थिति ज्ञात है वे आचार्यसे निवेदन करते हैं—भगवन् ! हम अथालन्दक-
 संयमको धारण करना चाहते हैं । यह सुनकर आचार्य जो धैर्य और शरीरसे दुर्बल है, जिनके
 परिणाम उन्नत नहीं हैं, उन्हें रोक देते हैं और कुछको अनुमति देते हैं । वे सम्पूर्ण गुणशाली गुणके
 द्वारा छोड़ दिये जाने पर प्रशस्त स्थानमें लोच करते हैं । और गुणके सन्मुख आलोचना करके
 व्रत धारण करते हैं । सूर्यका उदय होते ही कल्पस्थित मुनियोंमें से एकका जो गणकी आलाचना
 सुनते और दोषोंको शुद्धि करनेके लिए तत्पर होता है, स्थापित करते हैं । वही गणके लिए प्रमाण
 होता है अपने सहायक जितने मुनि गणसे निकले हैं, गणमें उनके स्थानमें उतने ही मुनि स्थापित
 करना चाहिए ।

अब अथालन्दकोके आचारका निरूपण करते हैं—अथालन्दक मुनियोंके औत्सर्गिक लिंग
 (नग्नता) होता है । शरीरके उपकारके लिए आहार और वसति स्वीकार करते हैं । शेष सब छोड़
 देते हैं । तृणोंका आसन, लकड़ोका तख्त आदि परिग्रह स्वीकार नहीं करते । प्राणि संयमको
 पालनेके लिए और जिनदेवका प्रतिरूप रखनेके लिए पीछी रखते हैं । अन्य ग्रामको जान पर,
 विहार भूमिम जाने पर, भिक्षाचर्यामें और बँटते समय प्रतिलेखना नहीं करते । शरीरका संस्कार
 नहीं करते, परीषहोंको सहते हैं और धैर्यबलसे हीन नहीं होते । संयमका आचरण करनेके लिए
 हममें मनोबल है ऐसा मानकर तीन या पाँच मुनि एक साथ रहते हैं । रोगसे या चोट आदिके

सह्याहस्तावकल्पनं कुर्वन्ति । वाचनारिणां च न कुर्वन्ति यन्माष्टकेऽप्यनिद्रा एकचित्ता ध्याने यतन्ते । यदि बलाघातादि निद्रा तथाकृतप्रतिज्ञाः स्वाध्यायकालप्रतीक्ष्णवारिकाश्च क्रियास्तेषां न सन्ति । स्मशानमध्येऽपि तेषां ध्यानप्रतिविर्द्धं आवश्यकेषु च प्रयतन्ते । उपकरणप्रतिलेखनां कालद्वयेऽपि कुर्वन्ति । सत्त्वामिकेषु देवकुला-
विषु तत्रमुद्रया वसन्ति । अज्ञायमानस्वामिकेषु यत्सर्वं सोऽनुज्ञां करोतु इत्यभिधाय वसन्ति । सहस्रातिचारो
जाते अनुभवरिणामे वा मिथ्या मे दुष्कृतमिति निवर्त्तते । वशाविधे समाचारे प्रवर्त्तते । दानं, ब्रह्म, अनु-
पालना, विनयः, सहभोजनं च नास्ति संभेन तेषां । कारणमपेक्ष्य केषांकिदेक एव सत्लापः कार्यः । यत्र
शेधे सचर्मा तत्क्षेत्रं न प्रविशन्ति । मौनानुब्रह्मनिरताः पंचानं पृच्छन्ति, शक्तिरूपं वा द्रव्यं क्षम्याचरन्तुं वा ।
एवं तिल एव भाषा । शामाद्बहिरांगतुकागारे कल्पस्थितेनानुज्ञाते वसन्ति । पशुपतिप्रभृतिभिर्नयं ध्याने
विष्णो भवति ततः स्थानावपयाति । को भवान्, कुत आयातः, क्व प्रस्थितः, कियत्कालं अत्र भयतो वसनं,
कति व्रतमिति पृष्टाः श्रमणोऽभित्येवं प्रतिवचनमेकं प्रयच्छन्ति, इतरं कृतपृच्छीभाषा । अपसरतः स्थाना-
वकाश मे प्रयच्छ, परिपालय गृहं, इत्यादिको वाक्यापारो यमान्येषां भवति, तत्र न निवसन्ति । बहिरपि
वसतः यदि भवति, ततोऽपयान्ति । स्वावासवृहे प्रज्वलिते न चलन्ति चलन्ति वा मोचयामिप्राप्त्याय-

उत्पन्नं हृद् वेदनाका प्रतीकार नहीं करते । जब तपसे अत्यन्त थक जाते हैं तब सहायके रूपमें
एक दूसरेका सहारा लेते हैं । वाचना आदि नहीं करते । आठों पहर भी नहीं सोते और एकाग्र
होकर ध्यानमें प्रयत्न करते हैं । यदि अब्दानक निद्रा आ जाती है तो सो लेते हैं, नहीं सोनेकी
प्रतिज्ञा उनके नहीं होती । स्वाध्यायके समय उनके प्रतिलेखना आदि क्रिया नहीं होती । स्मशान-
के मध्यमें भी वे ध्यान कर सकते हैं उसका उनके लिए निषेध नहीं है । और आवश्यकोंमें प्रयत्न-
शील रहते हैं । उपकरणोंकी प्रतिलेखना दोनों समय करते हैं । जिन देवकुलादिके स्वामी होते हैं
उनमें उनकी आज्ञा लेकर ही निवास करते हैं । जिन मन्दिरोंके स्वामीका पता नहीं होता उनमें
'जिनका यह है वह हमें स्वीकृति प्रदान करें' ऐसा कहकर निवास करते हैं । सहसा अतिचार
लगने पर अथवा अशुभ परिणाम होने पर 'मेरा दुष्कृत मिथ्या हो' ऐसा कहकर निवृत्त हो जाते
हैं । दस प्रकारके समाचारका पालन करते हैं । संघके साथ उनका देन, लेन, अनुपालना, विनय
और सहभोजन या वार्तालाप नहीं होता । आवश्यकता होने पर किसीसे एक ही व्यक्तिको बात
करना चाहिए । जिस क्षेत्रमें साधर्मी मुनि हों, उस क्षेत्रमें वे नहीं जाते । मौनका नियम पालन
करते हैं किन्तु, मार्ग या शंका युक्त द्रव्य और बसतिहाके स्वामीका घर पूछ लेते हैं । इस प्रकार
तीन ही उनकी भाषा होती हैं । गाँवसे बाहर आने वालोंके लिए जो मकान होता है उसमें कल्प-
स्थित मुनिकी अनुज्ञा मिलने पर ठहरते हैं । जिस स्थानमें पशु-पक्षी आदिके द्वारा ध्यानमें विघ्न
होता हो बहुसि चले जाते हैं । कोई पूछे कि आप कौन हैं, कहसि आये हैं, कहाँ जाते हैं, कितने
समय तक आप यहाँ रहेंगे ? तो 'मैं श्रमण हूँ' इस प्रकार एक ही उत्तर देते हैं, शेष प्रश्नोंके संबन्ध-
में चुप रहते हैं । 'यहसि जाओ, मुझे स्थान दो, घरको देखना, इत्यादि वचन व्यवहार जहाँ अन्य
लोग करते हैं वहाँ निवास नहीं करते । घरके बाहर भी ठहरने पर यदि कोई ऐसा व्यवहार करता
है तो बहुसि भी चले जाते हैं । जिस घरमें वे रहते हैं उसमें आग लगने पर बहुसि नहीं जाते

१. यामाके अ० । यामाकष्टके-आ० । २. लनं-आ० सू० । ३. सहजल्पनं-आ० सू० ।

४. इतरेण आ० । इतरे कृत-सू० । ५. न चसन्ति वा-अ० ।

तृतीयपीठ्यां द्विचतुस्रमन्थानं गच्छन्ति । यदि गमनव्याघातो महावातेन वर्षादिना जातः समतीतगमनकाल एव गच्छन्ति । व्याघ्रादिका, व्यालमूत्रा^१ वा पतन्ति ततोऽप्रसर्पन्ति न वा पादे कण्ठकालने, वक्षुषि रजः-प्रवेष्टे वा, अपनयन्ति न वा । वृद्धवृत्तिकाः मिथ्यात्वचर्याराधनामात्मविराधनामवस्था दोषात्वा तस्मात्परि-हृत्य न वा । तृतीयपीठ्यां भिन्नार्थमवतरन्ति । कृपणवनीककपशुपक्षिगणे अवगते पञ्चमी पिण्डैवणा कुर्वन्ति मीनं च । एका, द्वे तिलवचनकः पञ्च वा गोचर्यां यत्र क्षेत्रे तत्रालन्दिकयोगे प्रवर्तयन्ति । यस्मात्पाणिपात्र-शोषी मिथ्याराधनां न वर्धयति तस्मात्लेपमलेपं वा मुक्त्वा तत्रैवालयन्ति । धर्मोपदेश^२ कुरुत प्रब्रज्यामि-च्छन्ति अथचरां पाचमूलं इत्युपतास्त्रापि न मनसापि वाञ्छन्ति किं पुनर्वचसा कायेन । इतरे तस्सहाया धर्मो-पदेशं कृत्वा नक्षिकं मुष्णितं वा गणाविपतयेऽर्पयन्ति ।

लेपतः सप्तसिञ्जतधर्मक्षेत्रेषु भवन्ति । कालः सबदा । चारित्र्यत सामायिकच्छेदोपस्थापनयोः । तीर्थतः सर्वतीर्थकृतां तीर्थेषु । जन्मतः त्रिसद्वर्जोचिताः^३ । ग्रामभ्येन एकोनविंशतिवर्षा । श्रुतेन नवदश-पूर्वचराः । वेदतः पुनरांशो नपुंसकाश्च । लेख्यातः पशुपशुकलेभ्याः । ध्यानेन धर्मध्यानाः । सत्यान्त पद्-विभिन्नव्यवहारसंस्काराः देशोलसप्तहस्तादि यावत्पञ्चचतुःशतो^४ ३याः । कालतो मित्रमहृतादिपूजकोटिकाल-

अथवा जाते हैं । गोचरी नदी मिलने पर तीसरे पहरमें दो गव्यूति प्रमाण मार्ग चलते हैं । यदि प्रचण्ड बामु या वर्षा आदिसे गमनमें रुकावट आती है तो वहीं ठहर जाते हैं । व्याघ्र आदि अथवा सर्प मृग आदि आ जाते हैं तो वहाँसे हटते भी हैं और नहीं भी हटते । पैरमें काँटा लगने पर अथवा आँसुमें धूल चली जाने पर उसे निकालते हैं, नहीं भी निकालते ।

'हृद् धैर्यशाली वे मुनि मिथ्यात्वचर्याराधना और आत्मविराधना अवस्थाको अथवा दोषो-को दूर करते हैं अथवा नहीं करते (?) । तीसरे पहर भिक्षाके लिए निकलते हैं । कृपण, याचक, पशु-पक्षी गणके चले जाने पर पाँचवीं पिण्डैवणा करते हैं और मीन रखते हैं । जिस क्षेत्रमें एक, दो, तीन, चार अथवा पाँच गोचरी होती है उस क्षेत्रमें आलन्दिक योग करते हैं । यतः पाणिपात्र-में भोजन करने वाला मिथ्या आराधनाको नहीं छोड़ता, इसलिए वह लेप अथवा अलेपको स्नाकर उसका प्रक्षालन करते हैं ?'

कोई आकर कहे कि धर्मोपदेश करो, मैं आपके चरणोंमें दीक्षा लेना चाहता हूँ तो ऐसा कहने पर भी वे मनसे भी उसकी चाहना नहीं करते, तब बचन और कायका तो कहना ही क्या ? अन्य मुनि जो उनके सहायक होते हैं वे उन्हें धर्मोपदेश देकर शिक्षा सहित अथवा मुण्डन कराकर आचार्यको सौंप देते हैं ।

क्षेत्रकी अपेक्षा एक ती सत्तर कर्मभूमि रूप धर्मक्षेत्रोंमें वे आलन्दिक मुनि होते हैं । कालकी अपेक्षा सर्वदा होते हैं । चारित्र्यकी अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र्यमें होते हैं । तीर्थ-की अपेक्षा सब तीर्थकृतोंके तीर्थमें होते हैं । जन्मसे तीस वर्षसक गृहस्थाश्रममें रहकर उन्नीस वर्ष तक मुनि धर्मका पालन करते हैं, श्रुतसे नौ या दस पूर्वके घारी होते हैं । वेदसे पुरुष अथवा नपुं-सक होते हैं । लेख्यासे पद्य या मुक्क लेख्यावाले होते हैं । ध्यानेसे धर्मध्यानी होते हैं । संस्थानसे छद्म प्रकारके संस्थानोंमें से किसी एक संस्थान वाले होते हैं । कुछ कम सात हाथसे लेकर पाँचसौ

१. व्यालमूत्राद्या यथाप-आ० मु० । २. कुर्वन्तः तत्र-आ० । कुर्वन्तः तत्र० मु० । ३. बीविनः-आ० । ४. शतोल्लेखा-मु० ।

विद्ययाः । विद्विद्या चारणयाजीरासवित्वाद्यवयव तेषां वाचन्ते । विराचतया न श्रेयन्ते । गच्छविनिर्वात-
कल्पविधिरेव व्याख्यातः ।

गच्छप्रतिबद्धालन्दकविधिगच्छते—गच्छाभिर्गच्छन्ती बहिः सञ्जोषयोऽने विहरन्ति । अथराक्रमो गण-
चरो बसति क्षेत्राद् बहिर्वत्सार्थपदं । तेऽपि समर्था ज्ञानस्य शिक्षां गृह्णन्ति । एको द्वौ त्रयो वा परिज्ञान-
धारणा गुणसमन्वा गुणसकाशमाप्नोति । कृतप्रतिप्रथनकार्याः स्वक्षेत्रे निष्ठाग्रहणं कुर्वन्ति । अथराक्रमस्तु गण-
चरो गच्छे सूत्रार्थवीर्यवीं कृत्वा अप्रोधानं गत्वा यत्नेन दशत्यर्थपदं । अथवा स्वोपाध्य एव गणचरो अन्याप-
सारणं कृत्वा एकस्मै उपविशति । यदि गच्छेत्क्षेत्रान्तरं यथाः अथालन्दिका अपि गुर्बुगुत्रया यान्ति क्षेत्रं ।
यथा गच्छनिवासिनः क्षेत्रप्रतिलेखनार्थं प्रयन्तते तथा एव मार्गेण द्वौ अथालन्दिकौ याती । व्याख्यातोऽन्यथा-
कल्पविधिः ।

परिहार उच्यते—जिनकल्पस्यासमर्थाः परिहारसंयमभरं बोद्धुं समर्थाः आत्मनो बलं वीर्यमायुः प्रत्यवा-
याद्यं ज्ञात्वा ततो जिनसकाशं उपगत्य कृतविनयाः प्राञ्चलयः पृच्छन्ति “परिहारसंयमं प्रतिपत्तु-
मिच्छामो मुष्माकमाज्ञया” इति तच्छ्रुत्वा येषां ज्ञानमनुसरं उपजायते विष्णो वा त्राभिवाचयति । निष्पृष्टस्तु
यतीन्ध्रेण संयतानां कृतनिःशल्याः प्रशस्तमवकाशमुपगताः, क्षेत्रं कृत्वा सुनिश्चिता गुरुणां कृतालोचना
व्रतानि सुविशुद्धानि कुर्वन्ति । परिहारसंयमाभिमुष्मानां मध्ये एकं सूर्योदये स्थापयन्ति कल्पस्थितं गुरत्वेन । सध

धनुष ऊंचे होते हैं । कालसे एक अन्तर्मुहूर्तसे लेकर कुछ कम पूर्वकोटिकी स्थितिबाले होते हैं अर्थात्
अथालन्दक होनेके कालसे लेकर अथन्य आयु अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आयु बीते बर्षसे हीन पूर्व
कोटि प्रमाण होती है । उनको विक्रिया, चारण और क्षीरासवित्व आदि ऋद्धियां उत्पन्न होती हैं
किन्तु रागका अभाव होनेसे उनका सेवन नहीं करते । यह गच्छसे निकले हुए आलन्दककी विधि-
का कथन है । अब गच्छसे प्रतिबद्ध आलन्दककी विधि कहते हैं—ये गच्छसे निकलकर बाहर एक
योजन और एक कोस क्षेत्रमें विहार करते हैं । यदि आचार्य पराक्रमी होते हैं तो क्षेत्रसे बाहर
जाकर उन्हें अर्थपद (शिक्षा) देते हैं । आलन्दकोंमें से भी जो समर्थ होते हैं वे आकर आचार्यसे
शिक्षा ग्रहण करते हैं । परिज्ञान और धारणा गुणसे पूर्ण एक दो अथवा तीन अथालन्दक मुनि
गुरुके पास आते हैं, और उनसे प्रश्नादि करके अपने क्षेत्रमें जाकर शिक्षा ग्रहण करते हैं । (?) यदि
आचार्य शक्तिहीन होते हैं तो गच्छमें सूत्रार्थवीर्यवी (?) करके.....

आगेके उद्घानमें जाकर सावधानतापूर्वक अर्थपद देते हैं । अथवा अपने उपश्रयमें ही अन्य
शिष्योंको दूर करके एकको ही अर्थपद देते हैं । यदि गण अन्य क्षेत्रको जाता है तो अथालन्दक
मुनि भी गुरुकी आज्ञासे उस क्षेत्रको जाते हैं । जब गच्छ निवासी मुनि क्षेत्रकी प्रतिलेखना करते
हैं तब उस मार्गसे दो अथालन्दक जाते हैं । यह अथालन्दकी विधि कही ।

परिहारका कथन करते हैं—जो जिनकल्पको धारण करनेसे असमर्थ होते है और परिहार
संयमके भारको बहन करनेमें समर्थ होते है वे अपना बल, वीर्य, आयु और विष्णोको जानकर
जिन भागवान्के पास जाकर हाथ जोड़ विनयपूर्वक वृद्धते हैं—हम आपकी आज्ञासे परिहार संयम
धारण करना चाहते हैं । यह सुनकर जिनका ज्ञान उत्कृष्ट नहीं होता अथवा जिन्हें कोई बाधा
होती है उनको रोक देते हैं । जिन्हें आज्ञा मिल जाती है वे मुनियोंके पास निःशल्य होकर प्रशस्त
स्नानोंमें जाकर केशलोच करते हैं । फिर गुरुकी सन्मुख आलोचना करके अपने व्रतोंको अच्छी
तरह विशुद्ध करते हैं । परिहार संयम धारण करनेवालोंमेंसे एक कल्पस्थितको सूर्यका उदय

अन्यत्र तस्यै स चालोक्यतां मुक्त्वा शुद्धिं करोति । कल्पस्थितमाचार्यं मुक्त्वा शेषानाभिर्द्धां जग्रे परिहार-
संयमं गृह्णति इति परिहारका अभ्यन्ते । शेषास्तेषामनुपरिहारका । पञ्चात्परिहारसंयमवाहितः अनुपरि-
हारका अभ्यन्ते । एवं कल्पस्थिते सति ये पञ्चात्परिहारसंयमार्थमात्मानमुपसृतास्तानपि स्वगणं प्रक्षिपति गणी ।
वाचस्पिज्ज्यो गणः तावत्प्रमाणं गणं कृत्वा परिहारकाननुपरिहारिकांश्च व्यवस्थापयति । तेन परिहारसंयम निषि-
द्धमात्रा अनुपरिहारकाश्च एको द्वौ बहवो वा भवन्ति । अदि तिष्णि, एषां गणी विविधो परिहारसंयमं पश्चि-
ष्यन्ते, तद्विधो अनुपरिहारको । अदि पंच एको कल्पदिठयो, दो परिहारसंयमं पश्चिष्यन्ति । तेषामनुपरिहारका
पक्षेभः । इतरे अदिसप्त एषो कल्पदिठयो, तिष्णि परिहारका, इतरे तिष्णि अनुपरिहारका । अदि णव एषो
कल्पदिठयो, चत्वारि परिहारका, चत्वारि अनुपरिहारका । छहि मासेहि परिहारीनिषिद्धाणी ह्वन्ति ।
ततो पञ्च अनुपरिहारी परिहारं पद्लवेदिदु । तेषि निषिद्धपरिहारी ह्वन्तेऽनुपरिहारका^१ ते पुणो छहि
मासेहि निषिद्धांश्च भवन्ति । तु कल्पदिठयो पञ्च परिहार पवज्जदि । तस्सेषो अनुपरिहारी एषो कल्प-
दिठो वि । असोविअ छहि मासेहि निषिद्धपरिहारकां अट्टारसमासा ते एव हांसि यमाणदो ।

होनेपर गुरुके रूपसे स्थापित करते हैं । उस गणके लिए वह प्रमाण होता है । वह आलोचना
सुनकर उनकी शुद्धि करता है । कल्पस्थित आचार्यको छोड़कर शेषमेंसे आधे पहले परिहार
संयमको ग्रहण करते हैं इसलिये उन्हें परिहारक कहते हैं । शेष उनके अनुपरिहारक होते हैं । जो
पीछे परिहारसंयम ग्रहण करते हैं वे अनुपरिहारक कहे जाते हैं । इस प्रकार कल्पस्थित होनेपर
जो पीछे परिहार संयमके लिए अपनेको उपस्थित करते हैं उन्हें भी गणी अपने गणमें मिला लेता
है । जितने साधु गणमें कम हुए हैं उतने प्रमाण गणको करके परिहारकों और अनुपरिहारकोंकी
व्यवस्था गणी करता है । अतः परिहार संयममें प्रवेश करनेवाले अनुपरिहारक एक दो अथवा
बहुत होते हैं । यदि तीन होते हैं तो उनमेंसे एक गणी, दूसरा परिहारसंयमका धारी और तीसरा
अनुपरिहारक होता है । यदि पांच होते हैं तो उनमें एक कल्पस्थित गणी, दो परिहारसंयमके
धारी और उन दोनोंमें प्रत्येकका एक-एक अनुपरिहारक होता है । यदि सात होते हैं तो उनमें
एक कल्पस्थित, तीन परिहारक और शेष तीन अनुपरिहारक होते हैं । यदि नौ हों तो एक कल्प-
स्थित, चार परिहारक और चार अनुपरिहारक होते हैं । छह महीने तक परिहार संयमी परिहार-
संयममें निषिद्ध होता है । उसके पश्चात् अनुपरिहारक परिहारसंयममें प्रविष्ट होता है । उनके भी
निषिष्ट परिहारक होनेपर अन्य अनुपरिहारक परिहार संयममें प्रविष्ट होते हैं । वे भी छह
मासमें निषिष्ट परिहारक हो जाते हैं । पीछे कल्पस्थित परिहारमें प्रविष्ट होता है । उसका एक
अनुपरिहारक और एक कल्पस्थित होता है । वह भी छह मासमें निषिष्टपरिहारक होता है । इस
प्रकार प्रमाणसे अठारह मास होते हैं ।

विशेषार्थ—इसका लुलासा है कि परिहारविशुद्धि समयमें तीन मुनि धारण करनेवाले हों
तो उनमेंसे एक कल्पस्थित होता है जो गणी कहाता है, दूसरा परिहारक होता है और तीसरा
अनुपरिहारक है । संयममें प्रवेश करनेके छह मास बीतनेपर परिहारक निषिष्ट हो जाता है तब
अनुपरिहारक संयममें प्रवेश करता है । छह महीना बीतनेपर वह भी निषिष्ट परिहारक हो जाता

१. तस्य गणस्य—आ० मु० ।

२. णा अघे—अ० ।

३. रयते आ० ।—रते ते बु० ।

लिङ्गाधिकस्तेषामाचारो निरूप्यते—एकोपधिकं अवसानं लिङ्गं परिहारसंयतानां । वसतिमाहारं च मुक्त्वा मासवद् गृह्णन्ति तुषफलकपीठकटाविकं । संयमार्थं प्रतिलेखनं गृह्णन्ति । स्वप्नदेहाव चतुर्विधानुपसर्पन्तिहन्ते । दृढवृत्तयो निरन्तरं ध्यानावहितचिन्ताः । अस्ति नो बलवीर्यं सर्वगुणसमग्रता च । एवंभूता अपि यदि गणे वसामो वीर्याचारो न प्रवर्तितः स्यादिति मत्वा त्रयः, पञ्च, सात, नव वा नियमिति । रोमेण वेदमयोपहृताश्च सप्तप्रकारे^१ च न कुर्वन्ति । प्राचीन्यमाहारं मुक्त्वा, वाचनां प्रश्नं परिवर्तनां मुक्त्वा सूत्रार्थ-पीठवीथ्यापि सूत्रार्थसेवानुपेक्षन्ते । एवं यामाष्टकेऽपि निरस्तनिद्रा ध्यायन्ति । स्वाध्यायकालप्रतिलेखनाविकाश्र क्रिया न सन्ति तेषां । यस्माच्छमधानमध्येऽपि ध्यानं न प्रतिषिद्धं । आवश्यकानि यथाकां^२ कुर्वन्ति । काल-द्वये कृतोपकरणसोपधना अनुशास्य देवकुलादिवु वसन्ति । अनिद्रा यमानस्वामिकेषु त्यस्येदं सोऽनुज्ञानं नः करोतु इति वसन्ति^३ । आसीधिकां च निवीधिकां च निष्कामणे प्रवेशे च संपादयन्ति । निर्देशकं मुक्त्वा इतरे वधाधिषे समाचारे वर्तन्ते । उपकरणदिदान, ब्रह्मं, अनुपालन, विनयो, वन्दना सत्कामपथ न तेषामस्ति संशेन सह । गृहस्वैरप्यलिङ्गमिष्व दीयमानं योग्यं गृह्णन्ति । तैरपि न शेषोऽस्ति संभोगः । तेषां त्रयाणां, पञ्चानां, सप्तानां, नवानां च परस्परेषास्ति संभोगः ।

कल्पद्विबो मुक्त्वाप्यी मुं जन्मसंघाटवाग्यहणे वि ।
सत्वासंघंघालावयाहि मुं वन्ति अज्जोर्णं ॥

हे । तब कल्पस्थित परिहारसंयममें प्रवेश करता है । छह माह बीतनेपर वह भी परिहारमे निविष्ट होता है । इस प्रकार परिहारमें निविष्ट होनेमे तीन मुनियोंको अठारह मास लगते हैं । इसी तरह पाँच, सात और नौ का भी अठारह मास काल जानना । इनका कथन अन्यत्र नहीं मिला । परिहारसंयतोका लिगादिक आचार कहते हैं—

वसति और आहारके सिवाय अन्य तृणासन, लकड़ीका आसन, चटाई आदि ग्रहण नहीं करते । संयमके लिए पीठी ग्रहण करते हैं । शरीरसे ममत्व छोड़कर चार प्रकारके उपसर्गोंको सहते हैं । हड़ धैर्याशाली तथा निरन्तर ध्यानमें चित्त लगाते हैं । 'हममें बलवीर्य और सब गुणोंकी पूर्णता है । ऐसे होते हुए भी यदि हम संघमें रहते हैं तो वीर्याचारका पालन नहीं होता ।' ऐसा मानकर तीन, पाँच, सात अथवा नौ समयी एक साथ निकलते हैं । रोग और वेदनासे पीड़ित होने पर उसका इलाज नहीं करते । वाचना, पूछना और परिवर्तनोंको छोड़कर सूत्रार्थ और पीठस्थीमें सूत्रार्थका ही चिन्तन करते हैं । आठों पहर निद्रा त्यागकर ध्यान करते हैं । स्वाध्याय काल और प्रतिलेखना आदि क्रिया उनके नहीं होती; क्योंकि श्मशानमें भी उनके लिए ध्यानका निषेध नहीं है । यथासमय आवश्यक करते हैं । दोनों समय उपकरणोंका शोधन करते हैं । आज्ञा लेकर देवालय आदिमें रहते हैं । जिन देवालयों आदि स्थानोंके स्वामियोंका पता नहीं होता, 'जिसका यह है वह हमें स्वीकारता दे' ऐसा कहकर निवास करते हैं । निकलते और प्रवेश करते समय आसीधिका और निवीधिका क्रिया करते हैं । निर्देशकको छोड़कर शेष दस प्रकारके सामाचार करते हैं । उपकरण आदि देना, लेना, अनुपालन, विनय, वन्दना, वार्तालाप आदि व्यवहार उनका संघके साथ नहीं होता । गृहस्थ अथवा अन्य लिंगियोंके द्वारा दी हुई योग्य वस्तुको ग्रहण करते हैं । उनके साथ भी शेष सम्बन्ध नहीं होता । उनमेंसे तीन, पाँच, सात अथवा नौ संयतोका परस्परमें व्यवहार होता है ।

कल्पस्थित आचार्य और परिहारसंयमी परस्परमें संघाटदान संघाटग्रहण (सहायता देना

संवत्संबंधीसावधान अनुपालनाहि परिहृति ।
 अनुपरिहारी भुंक्ति निवसन्तो बंधवसंवासात्सव्याहि ॥
 कल्पद्रुवं भुंक्ति अनुपरिहृति पि महासांवासात्सव्याहि तु ।
 निवसत्सव्याथो निवसन्तानं संवासाथो य अन्वेष ॥
 कल्पद्रुवो भुंक्ति संवासात्सव्यापरिहृति ।
 कल्पद्रुवोभुंक्तोव बंधिवा यैति वन्दनाहोति ॥
 वारत्वि अन्वसित्थो अन्वसित्थीहि निवसंतो ।
 पसन्तुपीको सव्यो वि विषयं अन्वेष्यं तथं वारंति ॥
 वदन्त व सोतुव व जत्तु ह्य साध्मिन्यो वसति श्रोतो ।
 त य 'वसितंति श्रोतं कुवो 'पुनो वंधवादीर्णं ॥
 एवं कल्पोपसः क्रमः सव्योऽनुगतव्यः ।

मीनाभिन्नहरतास्तिको भाषा मुक्त्वा प्रष्टव्याहृतिमनुज्ञाकरणी प्रपने^१ प्रवृत्तां च मार्गस्य शक्तितस्य वा योग्यायोग्यत्वेन शय्याधरगृहस्य, वसतिस्वामिनो वा प्रपनः । श्यामाहृति^२ श्मशानं, धूम्यगृहं, देवकुलं, गुहा वा आगन्तुकगृहं, तदकोटरं वा अनुज्ञापयन्त्येकवार । कस्तव, कुतो वागच्छसि, गमिष्यसि वा कं देवं, किमिच्छि-
 मन्न वसतिर्द्रुवं कतिजना इति प्रपने श्रमणोऽभिमित्येकमेव प्रतिबचनं प्रयच्छन्ति । इतरत्र तूष्णीमावः । इतोऽज-
 काशावपसर्पणं कुच, स्थानमिदं प्रयच्छ, परिपालय स्वमित्येवमादिको शाक्यापारो यत्र तत्र न वसन्ति । गोचर्या
 यद्यपयन्ता तृतीययोमे गभृतिदयं यान्ति । वर्षमहावातादिभिर्बिदि व्याघातो गमनस्य अतीतगमनकालास्तस्रं
 विच्छन्ति । व्याघ्रादिव्यालायमने यदि ते भद्रा युगमात्रं अवसर्पन्ति । दुष्टाः कनेपदमात्रमपि न चलन्ति । नेत्रयो-
 सहायता लेना), निवास, वन्दना, वार्तालाप आदि व्यवहार करते हैं । अनुपरिहार संयमी परिहार-
 संयमीके साथ संवास, वन्दना, दान, अनुपालना आदिसे व्यवहार करते हैं । कल्पस्थित भी अनु-
 परिहारसंयमीके साथ व्यवहार करता है । वन्दना करनेपर धर्मलाभ कहता है । एक दूसरेको
 देखकर सब परस्परमें विनय करते हैं । जहाँ अधार्मिकजन बसते हैं वहाँ वे प्रवेश नहीं करते ।
 इस प्रकार सब कल्पोक क्रम जानना चाहिए ।^३

ये तीन भाषाओंको छोड़ सदा मीनसे रहते हैं । वे तीन भाषाएँ हैं—पूछनेपर उत्तर देना,
 माँगना और स्वयं पूछना । मार्गमें शंका होनेपर मार्ग पूछना पड़ता है । ये उपकरणानि योग्य हैं
 या अयोग्य, यह पूछना होता है । शय्याधर, जो वसतिकसे सम्बद्ध होता है उसका घर पूछना
 होता है, वसतिकका स्वामी कौन है यह पूछना होता है । गाँवसे बाहर स्मशान, धूम्यधर, देवालय,
 गुफा, आनेवालोंके लिए बना घर, अथवा वृक्षके खोलमें निवास करते समय 'हमें अनुज्ञा दें' ऐसा
 एकवार कहना होता है । 'तुम कौन हो, कहाँसे आते हो, कहाँ जाओगे, यहाँ कितने समय तक
 ठहरोगे, तुम कितने जन हो' इस प्रकारके प्रपन होनेपर 'हम श्रमण हैं' यह एक ही उत्तर देते हैं ।
 शेषमें चुप रहते हैं । 'इस स्थानसे चले जाओ, यह स्थान हमें दो, जरा घर देलना' इत्यादि वचन
 व्यवहार जहाँ होता है वहाँ नहीं ठहरते । गोचरी यदि नहीं मिलतो तो तीसरे पहर दो गव्यूसि
 खाते हैं । यदि वर्षा, अर्धी आदिसे गमनमें बाधा होती है तो जहाँतक गमन किया है वही ठहर
 जाते हैं । व्याघ्र आदि पशुओंके आनेपर यदि वे भद्र होते हैं तो मुनि चार हाथ चलते हैं और

१. पसन्तुपीको—आ० मु० । २. पसंसन्ति—आ० मु० । ३. कुवो ह्य गो—आ० मु० ।
 ४. प्रपने प्रवर्तते वा सा—आ० । ५. इन गाथाओंका यथार्थ भाव स्पष्ट नहीं हो सका है—अनुवादक ।

शुद्धिप्रवेशे सकष्टकादिविद्धे वा स्वयं न निराकुर्बन्ति । परे यदि निराकुर्बुंस्तूष्णीमवस्थिच्छन्ते । वृत्तोपयम एव विद्योत्तरो विज्ञानार्थं गच्छन्ति । मनः शोभे षट्शोचर्मा अपुनरुन्ता प्रवन्ति इत्येतेनवापसप्रथीम्यं शेषमयोम्यमित्ति वर्धयन्ति ।

क्षेत्रं, तीर्थं, कालव्यचारित्र्यं, पर्यायं, श्रुतं, वेदः, लेख्या, ध्यानं, संहननं, संस्थानं, आत्मानो वाग्मन्त्र, आयुः, लम्बयः, अतिशयज्ञानोत्पत्तिः, सिद्धिरित्येतेऽनियोमा इहानुगन्तव्याः । क्षेत्रतः भरतीरावतयोः, प्रथम-पाश्चात्ययोः तीर्थं, उत्सपिणी-अवसापिण्योः कालतः, छेदोपस्थापनाप्रभवाव्यचारित्र्यतः, प्रथमतीर्थंकरकाले देवानो-पूर्वकोटीकायकालः । विरातिवर्षाः षतवर्षकालः पाश्चात्यतीर्थं । जन्मतस्त्रिसाद्वर्षाः पर्यायतः एकोनविंशति-वर्षाः । श्रुतेन च दशपूर्वाभिः, वेदेन पुरुषवेदाः, लेख्यातस्तेजःपञ्चशुक्ललेख्याः, धर्मध्यानपरा ध्यानतः, आध्यात्मिक-संहननाः षट्स्वप्न्यतरसंस्थानाः । सप्तहस्ताविपञ्चशतुःशतायताः अष्टादशमासाः पूर्वकोटी वा आयुः । चारणताहारसिद्धिः, विक्रियाहारद्विधेय लम्बयः । अवधिमानःषर्ष्वं केवलं वा योगसमाप्तौ प्राप्नुवन्ति । सिद्धयन्ति वा परेषां । संशोपस परिहारविधिबर्णना ।

जिनकल्पो निरूप्यते—जितरागद्वेषमोहा, उपसर्गपरिहृतिव्यवस्थाः, जिना इव विहरन्ति इति जिन-कल्पिका एक एवेत्यतिसयो जिनकल्पिकानां । इतरो लिङ्गाविराचारः प्रायेण ध्यायन्तिरूप एव ।

क्षेत्रादिभिर्निरूप्यते—सर्वधर्मक्षेत्रेषु गबन्ति जिनकल्पिकाः । कालः सर्वदा । सामायिकच्छेदोपस्थापने वा

यदि दुष्ट हुए तो एक पग भी नहीं चलते । नेत्रोंमें धूल चले जानेपर या कीटा आदि लग जानेपर स्वयं नहीं निकालते । यदि दूसरे निकालते हैं तो चुप रहते हैं । नियमसे तीसरे पहरमें ही निष्काके लिए जाते हैं । जिस क्षेत्रमें छह भिक्षाएँ अपुनरुक होती हैं अर्थात् भिन्न-भिन्न घरोंसे मिल जाती हैं वह क्षेत्र निवासके योग्य होता है, शेष अयोग्य होता है उसे छोड़ देते हैं ।

क्षेत्र, तीर्थ, काल, चारित्र्य, पर्याय, श्रुत, वेद, लेख्या, ध्यान, संहनन, संस्थान, शरीरकी लम्बाई, आयु, लम्बि, अतिशय ज्ञानोत्पत्ति, सिद्धि ये अनुयोग यहाँ जानना चाहिए । क्षेत्रकी अपेक्षा भरत और ऐरावत क्षेत्रमें, प्रथम और अन्तिम तीर्थकरके तीर्थमें, कालकी अपेक्षा उत्सपिणी और अवसापिणी कालमें, चारित्र्यकी अपेक्षा छेदोपस्थापना चारित्र्यसे उत्पन्न होते हैं । प्रथम तीर्थ-करके कालमें उनकी आयु कुछ कम एक पूर्वकोटि और अन्तिम तीर्थकरके कालमें एक सौ बीस वर्ष होती है । जन्मसे तीस वर्षतक भाग भोगते हैं और मुनिपर्याय उन्नीस वर्ष होती है । श्रुतसे दस पूर्वके पाठी होते हैं । वेदसे पुरुषवेदी होते हैं । लेख्यासे तेज, पद्य और शुक्ल लेख्यावाचल होते हैं । ध्यानसे धर्मध्यानी होते हैं । आदिके तीन संहननवाले होत हैं और छह संस्थानोंमेंसे कोई एक संस्थान होता है । सात हाथसे लेकर पाँच सौ धनुष लम्बे होते हैं । परिहारसंयमके कालसे जघन्य आयु अठारह मास और उत्कृष्ट आयु परिहारसंयम होनेसे पूर्वके वर्षोंसे हीन एक पूर्वकोटी हाती है । चारण ऋद्धि, विक्रिया ऋद्धि और आहार ऋद्धियाँ होती हैं ।

परिहारविशुद्धिरूप योगके पूर्ण होनेपर अर्वाधज्ञान, मनःपर्याय वा केवलज्ञानको प्राप्त होते हैं । मोक्ष भी प्राप्त करते हैं । यह संक्षेपसे परिहारविशुद्धिका वर्णन है ।

अब जिनकल्पको कहते हैं—रागद्वेष मोहको जीतते हैं, उपसर्ग और परीषहरूपी शत्रुओंके बेंगको सहते हैं । जिनके समान एकाकी ही विहार करते हैं इसलिए जिनकल्पिक होते हैं । यही जिनकल्पिकोंकी विशेषता है । शेष लिगादि आचार प्रायः उक्त प्रकार ही हैं ।

क्षेत्र आदिकी अपेक्षा कथन करते हैं—जिनकल्पी समस्त कर्मभूमियोंमें होते हैं । सर्वदा

चारित्र्यतः । सर्वतोर्वेषु तीर्षतः । जन्मना विशाद्वर्षाः । श्रामप्यतः एकात्रविशतिवर्षाः । नवदसपूर्वचारित्र्यः । तेजःपद्मशुक्ललेखायाः । धर्मशुक्लध्यानाः । प्रथमसंहननाः, षट्स्वल्पतरसंस्थानाः । सप्तहस्ताधिपञ्चचतुःशतायायाः । त्रिभ्रमुहूर्ताविष्णुना पूर्वकोटिः कालः । विक्रियाहारकचारणया।शीरा।आविस्त्रादिकाषच तपसा कम्बयो धायन्ते । विरागास्तु न सेवन्ते । अवचिमतपर्ययं केवलं वा प्राप्नुवन्ति केचित् । ये केवलिनस्ते नियमतः सिष्यन्ति ॥१५७॥

एवमथालन्वादिक प्रतिपद्य चारित्रविधि मयोत्साहः कर्तव्यः इति विचारयति—

एवं विचारयित्वा सदिमाहप्ये य आउने असदि ।

अणिगूह्रिदबलविरिओ कुणदि मदि भत्तबोमरणे ॥१५८॥

‘एवं विचारयित्वा’ एवमुक्तेन प्रकारेण । ‘विचारयित्वा’ विचार्यं । ‘सदिमाहप्ये य’ स्मृतिमाहात्म्ये च सति । ‘आउने असदि’ आयुष्यसति दीर्घं । ‘अणिगूह्रिदबलविरिओ’ असंवृतबलसहाय वीर्यं आहाराभ्यायाम्ना कृतं बलं । ‘कुणदि’ करोति । ‘मदि’ मतिं । ‘भत्तबोमरणे’ भज्यते सेष्यते इति भक्तं आहारः । तस्य त्यागं आहारेण समयसाधनेन शरीरस्थिति चिरं कृत्वा स्वपरोपकारः कृतः । आयुष्यत्वे न शरीरमवस्थातुमलमाहार-ग्रहणेऽपि । तेन त्याज्यो मयाहारः इति भावोऽस्य । अत एव सूत्रकारेणैवमुक्तं ‘वीहो परिवाओ’ इति । अवशिष्टकालाल्पतास्यापनाय न केवलमायुषोऽल्पता एव भक्त्यागमतेः कारणं, अपि तु अन्यदपीति ॥१५८॥

होते हैं । सामायिक अथवा छेदोपस्थापना चारित्रवाले है । सब तीर्थंङ्करोके तीर्थमें होते हैं । जन्मसे तीस वर्ष और भुनिपदसे उन्नीस वर्षके होते हैं । नव-दस पूर्वके धारी होते हैं । तेज, पप और शुक्ल लेखावाले होते है । धर्मध्यानी और शुक्लध्यानी होते है । प्रथम संहनन होता है और छह संस्थानोंमेंसे कोई एक संस्थान होता है । सात हाथसे लेकर पाँच सौ धनुष तक लम्बे होते हैं । अन्तमुहूर्त आदिसे न्यून एक पूर्वकोटिकाल होता है । तपसे विक्रिया, आहारक, चारण और शीरास्रवित्त्व आदि लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं किन्तु विरागी होनेसे उनका सेवन नहीं करते । कोई-कोई अवधि, मन-पर्यय और केवलज्ञानको प्राप्त करते हैं । जो केवलज्ञानी होते हैं वे नियमसे मोक्ष जाते हैं ॥१५७॥

इस प्रकार अथालादिक आदि चारित्रकी विधिको धारण करके मुझे उत्साह करना चाहिए, ऐसा विचार करते हैं—

गा०—उक्त प्रकारसे विचार करके स्मृतिका माहात्म्य होनेपर और आयुके अल्प होने पर अपने बल और वीर्यको न छिपाता हुआ मुनि भक्त प्रत्याख्यानमें मति करता है ॥१५८॥

टी०—उक्त प्रकारसे विचार करके स्मृतिका माहात्म्य होने पर आयुके लम्बान होने पर बल और वीर्यको न छिपाता हुआ भक्त प्रत्याख्यानमें मति करता है । आहार और ध्यायामसे जो शारीरिक शक्ति होती है उसे बल कहते हैं । और बलका सहायक वीर्य होता है । ‘भज्यते’ अर्थात् जो सेवन किया जाता है उसे भक्त कर्तते है उसका अर्थ आहार है उसका त्याग भक्त प्रत्याख्यान है । आहारके द्वारा शरीरकी स्थितिको लम्बी करके अपना और परका उपकार किया । आयुके बौद्धा रह जाने पर आहार ग्रहण करने पर भी शरीर नहीं ठहरता । अतः मैं आहारका त्याग करता हूँ यह इसका भाव है । इसीसे ग्रन्थकारने शेष बचे कालकी अल्पता बतलानेके लिए ‘वीहो परिवाओ’

बुध्नुत्ताभङ्गदरे सल्लेहणकारणे सङ्गुप्यण्णे ।

तह वैष करिञ्ज मदि भत्तपद्दण्णाए निच्छयदो ॥१५९॥

'बुध्नुत्ताभङ्गदरे' पूर्वमुक्तानां 'बाहीष बुध्नुत्तत्ता' इत्यादीनां मध्ये अन्यतरस्मिन् । 'सल्लेहणकारणे' सम्भक् कायकथायतनूकरणं सल्लेखना तस्याः कारणे वा । 'सङ्गुप्यण्णे' समुपस्थिते । 'तह वैष' तथैव च । यथास्य आयुषि करोति भक्त्यायामे मतिं तथैव 'निच्छयदो भत्तपद्दण्णाए मदि करेण' निरचयतो भक्तप्रत्याख्यानमे मतिं कुर्यात् । एतद्गाथाद्वयं सूत्रकारवचनम् ॥१५९॥

आराधकस्य मनःप्रणिधानं प्रदर्शयति—

जाव य सुदी ण णस्सदि जाव य जोगा ण मे पराहीणा ।

जाव य सद्धा जायदि इंदियजोगा अपरिहीणा ॥१६०॥

'जाव य सुदी ण णस्सदि' यावत्स्मृतिर्न नश्यति । रत्नत्रयाराधनबोधरा अनुभूतविषयवाहिणी तदित्थं-भूतमिति प्रवर्तमाना स्मृतिरित्युच्यते मतिविज्ञानविकल्पः । वस्तुयाथात्म्यश्रद्धानं दर्शनं, तथायात्मावगमो ज्ञानं, समता चारित्र्यमिति । श्रुतेनावगते परिणामत्रये यदुपजायते स्मार्तं ज्ञानं तदिह स्मृतिरित्युच्यते । स्मृतिमूलो व्यवहारः, स्मृतौ नष्टाया न स्यादिति, स्मृतिसद्भावकाल एव प्रारम्भा मया सल्लेखनेति चिन्त्यम् । 'जाव य'

कहा है । भक्त त्यागकी मति होनेका कारण केवल आयुका कम रह जाना ही नहीं है किन्तु अन्य भी कारण हैं ॥१५८॥

विशेषार्थ—स्मृति माहात्म्यसे आशय है—जिनागमके रहस्यका उपदेश सुननेसे जो उसका संस्कार रहा, उसके प्रभावसे 'मे मरते समय अबश्य विधिपूर्वक सल्लेखना करूँगा' ऐसा जो विचार किया था, उसका स्मरण भी भक्त प्रत्याख्यानका कारण होता है ।

गा०—पहले कहे गये कारणोंमें से किसी एक सल्लेखनाके कारणके उपस्थित होने पर उसी प्रकार निश्चयसे भक्त प्रत्याख्यानमें मति करे ॥१५९॥

टी०—पहले सल्लेखनाके जो कारण 'असाध्य बीमारी' आदि कहे हैं उनमेंसे किसी एक कारणके उपस्थित होने पर भी वैसे ही भक्त प्रत्याख्यानका विचार करना चाहिए जैसा आयुके अल्प रहने पर किया है ॥१५९॥

आराधकके मनकी दृढता बतलाते हैं—

गा०—जब तक स्मृति नष्ट नहीं होती, जब तक मेरे आतापन आदि योग पराधीन नहीं होते, जब तक श्रद्धा रहती है, इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे सम्बन्ध हीन नहीं होता ॥१६०॥

टी०—पहले अनुभवमें आये विषयको ग्रहण करने वाली और 'बहु बस्तु' इस प्रकार प्रवृत्ति वाली स्मृति होती है । यह मतिज्ञानका विकल्प है । यहाँ रत्नत्रयकी आराधना विषयक स्मृति ग्रहण की है । वस्तुके यथार्थ स्वरूपके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं और उसके यथार्थ स्वरूपके जाननेको ज्ञान कहते हैं । तथा समताको चारित्र्य कहते हैं । श्रुतके द्वारा जाने गये रत्नत्रय रूप परिणाममें जो स्मृतिज्ञान होता है उसे यहाँ स्मृति कहा है । व्यवहारका मूल स्मृति है । स्मृतिके नष्ट होने पर व्यवहार नहीं होता । अतः स्मृतिके रहते हुए कालमें ही मुझे सल्लेखना प्रारम्भ

यावच्च । 'जोगा' योगाः आतापनाद्यः । 'य मे परहृषीक' न मे परायत्ताः शक्तिवैकल्यात् । विधिभेद तपसा निर्जरां विपुलां कर्तुं कामस्य मम तपोऽतिचारं सा न भवतीति यावच्चिरतिचारं इवं तपस्तावत्सत्केलनां करोमीति कार्या चिन्ता । 'आब ब सद्वा आबधि' यावच्छ्रद्धा जायते रत्नत्रयमाराधयितुं । 'तावत्कानं मे काठिकिति' बद्धयमायेन सम्बन्धः । उपशमकालकरणलब्धयो हि दुर्लभाः प्राणिनां सुखो विद्वान्म इव । मूर्खं ताः बद्धायाः, न च विनष्टा सा पुनर्लभ्यते । न च तामन्तरेणातिशयवतामाहारत्यागः सुखेन संपाद्यते । 'इंधियजोगा' इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां रूपादिभिर्विषयै सम्बद्धा 'अपरिहृषीका' होना न भवन्ति । दृक्श्रोत्रेन्द्रियाणामपाटवै दर्शन-ध्वनगाम्यां परिहार्योऽसंयमः कथं परिह्रियते । दृष्ट्वा श्रुत्वा स इदमयोग्यमिति वेति नाम्यथा ॥१६०॥

जाव य क्षेमसुमिक्खं आयरिया जाव णिज्जवणजोग्गा ।

अत्थि ति गारवरहिदा णाणचरणदंसणविसुद्धा ॥१६१॥

'जाव य क्षेमसुमिक्खं' यावच्च क्षेमसुमिक्खं, स्वचक्रोपद्रवस्य व्याघेर्मायांभ्राभावः क्षेम इत्युच्यते । प्रचुर-धाम्यता सुमिक्खत्सम् । एतदुभयमन्तरेण दुर्लभा निर्यापकाः, तानन्तरेण चतुष्कारधना । 'आयरिया जाव' आचार्या यावन् 'अत्थि' सन्ति । कीदृश्रुता 'णिज्जवणजोग्गा' निर्यापकत्वयोग्या । 'तिगारवरहिदा' गार-वत्रयरहिताः शृद्धिरससातगुरुका ये न भवन्ति । शृद्धिप्रियो ह्यसयतमपि ज्ञं निर्यापकत्वेन स्थापयति । स्वयं च नासंयममभ्रुर्ववति । असयमकारणं अनुमनन च न परिहृरतीति । रसासातगुरुको क्लेशासहो आराध-

करनी चाद्रिए ऐसा विचार करे । जब तक मेरे आतापन आदि योग शक्तिकी कमीसे पराधीन नहीं होते । मैं अनेक प्रकारके तपसे बहुत निर्जरा करना चाहता हूँ किन्तु तपमें दोष लगने पर बहुत निर्जरा नहीं हो सकती । इसलिए जब तक तप निरतिचार है तब तक सल्लेखना कर लेना चाहिए, ऐसी चिन्ता करना उचित है । जब तक श्रद्धा रत्नत्रयकी आराधना करनेकी है 'तब तक मैं करनेमें समर्थ हूँ' ऐसा आगे कहेंगे, उसके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए । जैसे विद्वान् मित्र दुर्लभ हैं वैसे ही प्राणियोंको उपशमलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि दुर्लभ हैं । वे लब्धियाँ श्रद्धाका मूल हैं । एक बार उस श्रद्धाके नष्ट हो जाने पर उसका पुनः प्राप्त होना दुर्लभ है । श्रद्धाके बिना अतिशय शालियोंका भी आहारत्याग सुखपूर्वक सम्पन्न नहीं होता । चक्षु आदि इन्द्रियोंका रूपादि विषयोंके साथ सम्बन्धको इन्द्रिययोग कहते हैं । वे जब तक हीन नहीं होते, चक्षु और कर्ण इन्द्रियके अपने विषयको ग्रहण करनेमें असमर्थ होने पर देखने और सुननेसे दूर होने वाला असंयम कैसे दूर किया जा सकता है । देख और सुनकर 'यह अयोग्य है' ऐसा ज्ञान होना है, अन्यथा नहीं होता ॥१६०॥

गा०—जब तक क्षेम और सुमिक्ख है, जब तक आचार्य निर्यापकत्वके योग्य तीन गारवोंसे रहित निर्मल ज्ञान चारित्र और दर्शनवाले हैं ॥१६१॥

टी०—जब तक क्षेम और सुमिक्ख है । अपने देश और परदेशकी सेनाके उपद्रव और मारी रोगके अभावको क्षेम कहते हैं । और धान्यकी बहुतायतको सुमिक्ख कहते हैं । इन दोनोंके बिना निर्यापकोंका मिलना दुर्लभ है और उनके बिना चार प्रकारकी आराधना दुर्लभ है । तथा आचार्य निर्यापकत्वके योग्य जब तक हैं तथा शृद्धिगारव, रसगारव और सातगारवसे जो रहित होते हैं । जो आचार्य शृद्धिप्रिय होता है वह असंयमी जनको भी निर्यापक बना देता है । और स्वयं भी असंयमसे नहीं डरता । तथा ऐसो अनुमति, जो असयमसे कारण होती है, देनेका त्याग नहीं

कल्प शरीरपरिकर्म कर्म कुशलः ? किं च स्वयं सरागो वैराग्यं परस्व संपादयत्येवेति न निमोगोऽस्ति । 'साधनचरणात्सर्वविशुद्धा' ज्ञानचारित्रवर्धनेषु विशुद्धाः निर्मलाः । जीवाधिपत्यात्मयोचरता ज्ञानम्य शुद्धिः । दर्शनस्यापि समीचीनज्ञानसहभाविता, अरकाद्विहता च चारित्रशुद्धिः । शुद्धज्ञानचरणदर्शनशुद्धा चारित्रशुद्धा भवन्ते । यथा प्रकृतशुक्लगुणयोगाच्छुक्लतम इत्युच्यते पटादि ॥१६१॥

ताव खमं मे कादुं शरीरनिक्षेवणं विदुपसत्वं ।

समयपङ्क्याहरणं भक्तपङ्कणं प्रियमज्जणं ॥१६२॥

'ताव खमं मे कादुं' तावद्युक्तं कर्तुं मम । किं ? 'शरीरनिक्षेवणं' शरीरनिक्षेपणं शरीरत्यजनं । विदुपसत्वं' विद्वज्जनस्तुतं आत्महितत्वात् । 'समयपङ्क्याहरणं' समयः सिद्धान्तः, तस्मिन् कीर्तिता पताका आराधना पताकेव पताका उपमार्थः । यथा पताका वस्त्रादिरचिता जयादिकं प्रकटयति । एवमियं आराधनापि भवनिर्मुक्तं प्रकटयति । तस्या हरणं ग्रहणं । 'भक्तपङ्कणं' भक्तप्रत्याख्यानं 'निबन्धनं' व्रतयज्ञं । ननु शरीरत्यागोऽप्यः, अन्या ज्ञान-अज्ञान-तप-सु परिणतिरन्यद् भक्तत्यजनं, अन्यानि च व्रतानि तत्कथं समानाधिकरणनिर्वेशः ? अनोप्यते-अत्येकमभिसम्बन्धः कार्यः । 'ताव खमं मे कादुं' इत्यनेन शरीरनिक्षेवणं इत्यादीनां । ततोऽप्यमर्थं—शरीरन्यजनं, सम्यग्दर्शनादिपरिणमन, भक्तप्रत्याख्यानं, व्रतयज्ञश्च तावत्कतुं मम युक्तमिति ॥१६२॥

करता । जो आचार्य रसप्रेमी और सुख प्रेमी हैं वे सल्लसना करनेवाले आराधकके शरीरकी सेवा कैसे करेंगे ? दूसरे, जो स्वयं सरागी है वह दूसरेको वैराग्य उत्पन्न कराता ही ऐसा कोई नियम नहीं है । तथा आचार्य ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें विशुद्ध होना चाहिए । जीवादिके यथार्थ स्वरूपको जानना ज्ञानकी शुद्धि है । समीचीन ज्ञानका सहभावी होना दर्शनकी शुद्धि है । और राग-द्वेषका न होना चारित्रकी शुद्धि है । जिनका ज्ञान दर्शन चारित्र शुद्ध होता है वे शुद्ध ज्ञान दर्शन चारित्र वाले कहे जाते हैं । जैसे उत्कृष्ट शुक्ल गुणके सम्बन्धसे वस्त्र आदि 'शुक्लतम'—अत्यन्त सफेद कहे जाते हैं ॥१६१॥

शा०—तब तक मुझे शरीरका त्याग, विद्वानोंसे स्तुत, आगममें कही गई आराधना रूपी पताकाका ग्रहण, व्रत यज्ञ तथा भक्त प्रत्याख्यान करना युक्त है ॥१६२॥

टी०—भक्त प्रत्याख्यान तब तक मुझे करना उचित है, यह पूर्व गाथाओसे सम्बद्ध है । यह भक्त प्रत्याख्यान शरीरके त्यागरूप है क्योंकि शरीरको त्यागनेके लिए ही किया जाता है । विद्वानोंसे प्रशंसनीय है क्योंकि आत्माके हित रूप है । तथा समय अर्थात् सिद्धान्तमें आराधनाको पताका कहा है । जैसे वस्त्रादिसे बनी पताका जयको प्रकट करती है वैसे ही यह आराधना भी संसारसे निर्मुक्तिको प्रकट करती है । भक्त प्रत्याख्यान उस पताका ग्रहण करने रूप है ।

शंका—शरीरका त्याग अन्य है, ज्ञान अज्ञान और तप करना अन्य है, भोजनका त्याग अन्य है और व्रत अन्य हैं । ये सब भिन्न हैं तब कैसे-इनका समानाधिकरण रूपसे निर्देश किया है ?

समाधान -- 'तब तक मुझे करना युक्त है । इसके साथ शरीर त्याग आदि प्रत्येकका सम्बन्ध करना चाहिए । तब ऐसा अर्थ होता है—शरीरका त्याग, सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणमन, भक्त प्रत्याख्यान और व्रतयज्ञ मुझे तब तक करना युक्त है ॥१६२॥

व्यावर्णितस्य परिणामस्य गुणमाहात्म्यकथनायोत्तरगाथा—

एवं सदिपरिणामो जस्स दट्ठो होदि णिच्छिदमदिस्स ।

तिव्वाए वेदणाए वोच्छिज्जदि जीविदासा से ॥१६३॥

एवं सदिपरिणामो व्यावर्णितस्मृतिपरिणामो य ए स्मार्तज्ञानमेव परिणामः । 'जस्स दट्ठो होण्व' 'यस्म सैवु'डो भवेत् । 'णिच्छिदमदिस्स' निश्चितमतेः । करिण्याम्बेव शरीरनिर्घोषण इति कृतनिश्चयस्य । 'जीविदासा वोच्छिज्जदि' जीविते आशा व्युच्छिद्यते । 'तिव्वाए वेदणाए' तीव्रायामपि वेदनायामुपवीर्यायां । एतत्प्रतीकारं कृत्वा जीवामीति चिन्ता न भवति । 'से' तस्येति जीवितायाम्युच्छेदो गुणः सूचितः । परिणामं गद ॥१६३॥

'उवधि जहणा' इति पदं व्याचष्टे प्रबन्धेन—

संजमसाधणमेत्तं उवधिं मोत्तूण सेसयं उवधिं ।

पजइदि विसुद्धलेस्सो साधू मुत्ति गवेसंतो ॥१६४॥

'संजमसाधणमेत्तं'—संयमः साध्यते येनोपकरणेन तावन्मात्र कमण्डलुपिच्छमात्र । 'उवधिं' परिग्रहं 'मोत्तूण' मुक्त्वा । 'सेसयं' अवशिष्टं । 'उवधिं' अवशिष्ट उपधिर्नाम पिच्छान्तर कमण्डल्वन्तरं वा तदानी समयसिद्धौ न कारणमिति संयमसाधनं न भवति । येन साप्रत संयमः साध्यते तदेव संयमसाधनं अथवा ज्ञानोपकरणं अवशिष्टोपधिरुच्यते । 'पजइदि' प्रकर्षेण योगत्रयेण न्यजति । 'विसुद्धलेस्सो' विशुद्धलेष्य । 'साधू' साधुः । 'मुत्ति' मुक्तिं कर्मणामपार्यं । 'गवेसंतो' मूषयन् । लोभकषायेणाननुरजिता योगवृत्तिरिह विशुद्धलेष्या

ऊपर कहे परिणामके गुणोका माहात्म्य कहनेके लिए गाथा कहते है—

गा०—ऊपर कहा स्मृति परिणाम 'मे शरीरत्याग कर्हंगा ही' ऐसा निश्चय करनेवालेके दृढ़ होता है । उसके तीव्र वेदना होनेपर जीवनकी आशा नष्ट हो जाती है ॥१६३॥

टी०—'मे शरीरका त्याग कर्हंगा ही' ऐसा जो दृढ़ निश्चय कर लेता है तीव्र भी वेदनाके होनेपर मैं उसका प्रतीकार करके जीवित रहूँ ऐसी चिन्ता उसे नहीं होती । अतः 'जीवनकी आशाका विनाश' उसका गुण सूचित किया है ॥१६३॥

'उवधिजहण' अर्थात् परिग्रहत्यागका विस्तारसे कथन करते हैं—

गा०—मुक्तिको खोजनेवाला विशुद्ध लेष्यासे युक्त साधु संयमके साधनमात्र परिग्रहको छोड़कर शेष परिग्रहको प्रकर्ष अर्थात् मन-वचन-कायसे त्याग देता है ॥१६४॥

टी०—जिस उपकरणसे संयमकी साधना की जाती है वह उपकरण कमण्डलु और पीछी-मात्र है । उनको छोड़कर जो शेष परिग्रह है—दूसरी पीछी दूसरा कमण्डलु, वह उस समय संयमकी सिद्धिमें कारण न होनेसे संयमका साधन नहीं है । जिससे वर्तमानमें संयमकी साधना होती है वही संयमका साधन है । अथवा शेष परिग्रहमें ज्ञानके उपकरण शास्त्र आदि कहे हैं क्योंकि समाधिके समय उनका उपयोग नहीं रहता । मुक्ति अर्थात् कर्मोंका विनाश करनेका इच्छुक साधु पीछी कमण्डलुमात्र परिग्रहके सिवाय शेष परिग्रहको मन-वचन-कायसे छोड़ता है । वह साधु विशुद्धलेष्यासे युक्त होता है । यहाँ लोभकषायसे अननुरजित (नहीं रंगी हुई अर्थात् लोभरहित)

पुष्टीता । सा हि परिग्रहस्यामे प्रवर्तवत्यात्मानमिति ॥१६४॥

वसत्यादिकं तद्धि त्वाप्यतया नोपविष्टमिति आसङ्किते इति तस्यागमुपविशति—

अप्यपरियम्भ उच्यते बहुपरिंयम्भं च दोषि वज्जेह ।

सेज्जा संधारादी उत्सग्गपदं गवेसंतो ॥१६५॥

'अप्यपरिवन्म उच्यते' अल्पपरिकर्म निरीक्षणप्रमार्जनविधूननाविकं यस्मिन्तं परिग्रहं । 'बहु' महत् परिकर्म यत्र तं च । 'दोषि' द्वावपि 'बन्धेवि' वर्जयति मनोवाक्कायै । 'सेज्जासंधारादी' वसतिसंस्तरादिकं । 'उत्सग्गपदं' उत्सर्जनं त्यागः तदेव पदं । परिग्रहत्यागपदान्बन्धेणकारीति यावत् । गाथाद्वयेनाधिकान्तेन ब्रह्मोपधित्यागो व्याख्यातः । इयता परिसमाप्तः परिग्रहत्यागः ॥१६५॥

पंचविहं जे सुद्धि अपाविदूण मरणसुवणमन्ति । ६

पंचविहं च विवेगं ते खु ममारिं ण पावेन्ति ॥१६६॥

'पंचविहं जे सुद्धि' इत्यादिना किं प्रतिपाद्यते पूर्वमसूचितमिति । अत्रोच्यते—योग्योपादनमेवा-
योग्यत्यागस्तत्परिहार इत्युपधित्याग एवाख्यायते उत्तरग्रन्थेनापि । 'पंचविहं' पञ्चप्रकारां । 'सुद्धि' शुद्धि ।
'अपाविदूण' अप्राप्य । 'जे' ये । 'मरणं' मृति । 'उच्यते' प्राप्नुवन्ति । 'पंचविहं' पञ्चविधं च 'विवेगं'
विवेकं, 'परिहरणं' पृथग्भावं, अप्राप्य मृतिमुपयान्ति । खु सम्ब एवकारणः । स च क्रियापदात्परतो योग्यः ।

मन-वचन-कायकी वृत्तिको विद्युद्धलेप्या कहा है; क्योंकि वह जीवको परिग्रहके त्यागमें प्रवृत्त करती है ॥१६४॥

यहाँ कोई शंका करता है कि वसति आदिको तो त्याग्य नहीं कहा ? इससे उसके त्यागका उपदेश करते हैं—

गा०—परिग्रहत्याग पदका अन्वेषण करनेवाला साधु अल्पपरिकर्मवाले और बहुत परि-
कर्मवाले दोनों ही प्रकारके परिग्रहोंको जिनमें वसति संस्तर आदि भी हैं, मन-वचन-कायसे त्याग
देता है ॥१६५॥

टी०—जिसमें देखना, साफ करना, झाड़ना आदि कम करना होता है वह परिग्रह अल्प-
परिकर्मवाला होता है । और जिसमें यह बहुत करना होता है वह बहुत परिकर्मवाला है ।
परिग्रहत्यागपदका खोजी साधु दोनोंको ही मन-वचन-कायसे त्यागता है । अतः वसति संस्तर आदि
भी त्याग देता है । इन दो गाथाओंसे द्रव्यपरिग्रहके त्यागका कथन किया । यहाँ तक परिग्रहत्याग-
का प्रकरण समाप्त होता है ॥१६५॥

गा०—जो पाँच प्रकारकी शुद्धियोंको और पाँच प्रकारके विवेकको प्राप्त किये बिना मरण-
को प्राप्त होते हैं, वे समाधिको नहीं ही प्राप्त होते हैं ॥१६६॥

टी०—संका—'पंचविहं जे सुद्धि' इत्यादिके द्वारा पहले सूचित किये बिना क्या कह
रहे हैं ?

समाधान—योग्यका ग्रहण ही अयोग्यका त्याग है । अतः आगेके ग्रन्थसे भी परिग्रहका त्याग
ही कहा है । जो पाँच प्रकारकी शुद्धि और पाँच प्रकारके विवेक अर्थात् भिन्नपनेको प्राप्त किये
बिना मरते हैं वे समाधिको प्राप्त नहीं ही होते । गाथामें आये 'खु' सम्बद्धका अर्थ 'ही' है और

समाधि न प्राप्नुवन्त्येवेति । उपधिपरित्यागामात्रे अस्मिन्तसमाध्यमानो दोष आभ्यासः ॥१६६॥

पंचविहं ज्ञे शुद्धिं यत्ता निखिलेण निच्छिद्यदीया ।

पंचविहं च विवेकं ते ह्यु समाधिं परमुर्वेति ॥१६७॥

के समाधिं प्राप्नुवंतीत्यत्र आह—'पंचविहं' पञ्चविधां, 'ज्ञे शुद्धिं यत्ता' ये शुद्धिं प्राप्ताः । 'निखिलेण' साकल्येन । 'निच्छिद्यदीया' निश्चितमतयः । 'पंचविहं' पञ्चविधं च 'विवेकं' विवेकं 'ते ह्यु समाधिं परमुर्वेति' ते स्फुटं समाधिं परमुपयान्ति ॥१६७॥

का एषा पंचविधा शुद्धिरित्याह—

आलोचनायै सेज्जासंधारुवहीण भक्तपाणस्तस ।

वेज्जावच्चकराण य सुद्धी खलु पंचहा होइ ॥१६८॥

'आलोचनायै' आलोचनायाः शुद्धिः, शय्यासंस्तरयोः शुद्धिः, उपकरणशुद्धिः, भक्तपाणशुद्धिः, वैया-
वृत्यकरणशुद्धिरिति पञ्चविधा । मायामुधारहितता आलोचनाशुद्धिः । मनोगतवक्रता माया । व्यलीकता
चासी मूषा । मायाकषाय स चाम्यन्तरपरिग्रहः 'बत्तारि तह कसामा' इति वचनान् । मूषा कर्ष परिग्रह-
इति चेत् उपधीयते अनेनेत्युपधिपरिति शब्दव्युत्पत्तौ उपधीयते उपादीयते कर्म अनेन व्यलीकेनेत्युपधिपरित्युच्यते ।
यत्र यस्यादरः कर्महेतौ तत्त्वबन्धुपरिदेवेति भावः । उद्गमोत्पादनैषणादोषरहितता ममेद इत्यपरिग्राह्यता
च वसतिसंस्तरयोः शुद्धिस्तामुपगतेन उद्गममादिदोषोहृतयोर्वसतिमस्तग्योस्त्याग कृत इति भवत्युपधि-

उसे क्रियापद 'पार्वेति' के परे लगाना चाहिए । परिग्रहत्यागके अभावमे इष्ट समाधिका अभाव
नामक दोष कहा है ॥१६६॥

गा०—पूर्णरूपसे निश्चित मति वाले जो पाँच प्रकारकी शुद्धिको और पाँच प्रकारके विवेक
को प्राप्त हुए हैं, वे निश्चयसे परम समाधिको प्राप्त होते हैं ॥१६७॥

टी०—कौन समाधि प्राप्त करते हैं यह इस गायामें कहा है ॥१६७॥

पाँच प्रकारकी शुद्धि कहते हैं—

गा०—आलोचना की शुद्धि, शय्याकी, संस्तरकी और परिग्रहकी शुद्धि, भक्तपाणकी शुद्धि
और वैयावृत्य करने वालीकी शुद्धि, निश्चयसे शुद्धि पाँच प्रकारकी होती है ॥१६८॥

टी०—माया और मूषासे रहित होना आलोचनाकी शुद्धि है । मनमे कुटिलताका होना
माया है । असत्य भाषणको मूषा कहते हैं ।

माया कषाय है और वह अभ्यन्तर परिग्रह है । 'चार कषाय हैं' ऐसा आगमका वचन है ।

शङ्का—मूषा कैसे परिग्रह है ?

समाधान—'उपधीयतेऽनेनेत्युपधिः' इस शब्द व्युत्पत्तिके करने पर 'अनेन' अर्थात् असत्य
भाषणके-द्वारा 'उपधीयते' कर्मका ग्रहण होता है अतः मूषा उपधि है । जिस कर्मके हेतुमें जिसका
आदर है वह सब उपधि ही है यह कहनेका अभिप्राय है ।

उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित होना तथा 'यह मेरा है' इस प्रकार परिग्रहका
भाव न होना वसति और संस्तरकी शुद्धि है । उस शुद्धिको जिसने स्वीकार किया उसने उद्गम

त्यावः । उपकरणवाचीनामपि उद्गमादिरहितता शुद्धिस्तस्यां सत्या उद्गमादिदोषदुष्टानां अर्मयमसाधनानां मनेवं भावभूतानां परिग्रहाणां त्यागोऽस्त्येव । सयतवैद्यावृत्यक्रमकता वैद्यावृत्यकारिशुद्धिः सत्या तस्या असंयता अक्रमज्ञापव^१ न मम वैद्यावृत्यकरा इति स्वीक्रियमाणास्त्यक्ता भवन्ति ॥१६८॥

अहवा दंसणणाणचरित्तसुद्धी य विणयसुद्धी य ।

आवासयसुद्धी वि य पंच वियप्पा हवदि सुद्धी ॥१६९॥

'अहवा' अहवा । 'दंसणणाणचरित्तसुद्धी य, विणयसुद्धी य, आवासयसुद्धी वि य' आवश्यकशुद्धिश्चेति 'पंचवियप्पा' पञ्चविकल्पा 'हवदि सुद्धी' भवति शुद्धिः । नि शक्कित्त्वादिगुणपरिणतिदर्शनशुद्धिः सत्या सत्यां शक्कात्साधिकाविकल्पादीनां अशुभपरिणामानां परिग्रहाणां त्यागो भवति । काले पठनमित्यादिका ज्ञान-शुद्धिः, अस्यां सत्यां अकालपठनाद्या क्रिया ज्ञानावरणमूला परित्यक्ता भवन्ति । पञ्चविक्षतिभावनाश्चारित्र-शुद्धिः । सत्यां तस्या अनिगृहीतमन प्रचारादिरशुभपरिणामोऽभ्यन्तरपरिग्रहस्यक्तो भवति । दुष्टफलानपेक्षिता विनयशुद्धिः । तस्या सत्यामुपकरणादिलाभलोभो निरस्तो भवति । मनसावद्योगनिवृत्तिः जिनगुणानुराग-बन्धमानश्रुतादिगुणानुवृत्तिः, कृतापराधविषया निन्दा, मनसा प्रत्याख्यानं, शरीरासारतानुपकारित्वभावना, चेत्यावश्यकशुद्धिरस्या सत्या अशुभयोगे जिनगुणानुराग श्रुतादिमाहात्म्येऽनावर, अपराधाजुगुप्सा, अप्रत्याख्यानं, शरीरममता चेत्यमी भावदोषा परिग्रहा निराकृता भवन्ति ॥१६९॥

आदि दोषोसे दूषित वसति और संस्तरका त्याग कर दिया इस प्रकार उपचित्याग होता है । उपकरण आदि की भी शुद्धि उद्गम आदि दोषोसे रहित होना है । उसके होने पर उद्गम आदि दोषोसे दूषित, असंयमके साधन और 'यह मेरा है' इस भावके मूलकारण परिग्रहोंका त्याग है ही । संयमी होना और वैद्यावृत्यके क्रमका ज्ञाता होना वैद्यावृत्यकारीकी शुद्धि है । उसके होने पर असंयमी और क्रमको न जानने वाले मेरे वैद्यावृत्य करने वाले नहीं हैं' ऐसा स्वीकार करने पर उनका त्याग होता है ॥१६८॥

गा०—अहवा दर्शन शुद्धि, ज्ञान शुद्धि, चारित्र शुद्धि, विनय शुद्धि और आवश्यक शुद्धि इस प्रकार शुद्धिके पाँच भेद होते हैं ॥१६९॥

टी०—नि.शक्ति आदि गुणोंका धारण करना दर्शन शुद्धि है । उसके होने पर शका, काक्षा, विकल्कित्सा आदि अशुभ परिणाम रूप परिग्रहोंका त्याग होता है । 'कालमे पढ़ना' आदि ज्ञान शुद्धि है । उसके होने पर अकाल पठन आदि क्रिया, जो ज्ञानावरणके बन्धकी कारण हैं, उनका त्याग होता है । पञ्चोस भावनाएँ चारित्र शुद्धि है । उसके होने पर मनकी चञ्चलताको न रोकना आदि अशुभ परिणाम, जो अभ्यन्तर परिग्रह है उनका त्याग होता है । दुष्ट फलकी अपेक्षा न करके विनय करना विनय शुद्धि है । उसके होने पर उपकरण आदिके लाभका लोभ दूर होता है । सावध योगका त्याग, जिन देवके गुणोंमे अनुराग, नमस्कार करनेके योग्य श्रुत आदि के गुणोंका पालन करना, क्रिये हुए अपराधकी निन्दा, मनसे प्रत्याख्यान करना, शरीरकी असारता और उसके अनुपकारीपनेका चिन्तन, ये आवश्यक शुद्धि है । उसके होने पर अशुभ योग, जिन देवके गुणोंमें अनुरागका अभाव, श्रुत आदिके महात्म्यमें अनादर, अपराधके प्रति ग्लानिका न होना, प्रत्याख्यानका न होना, और शरीरसे ममता ये दोष परिग्रह है, इनका निरास होता

पञ्चविधविवेकप्रख्यापनाविषयता नामा—

इदियकसायउवधीण भक्षपाणस्स चावि देहस्स ।

एस विवेगो भण्णितो पंचविधो दब्बभावगदो ॥१७०॥

‘इदियकसाय’ इति । इन्द्रियविवेकः, कषायविवेकः, भक्षपाणविवेकः, उपधिविवेकः, देहविवेकः इति एष विवेकः पञ्चप्रकारो निरूपितः पूर्वागमेषु । स पुनः पञ्चप्रकारोऽपि द्विविधः । द्रव्यकृतो भावकृत इति । रूपाधिविषयेषु चक्षुरादीनामावरेण कोपेन वा अववर्तनं । इह पश्यामि शृणोमीति वा । तथा तस्या निविड-कुचनटं पश्यामि, नितम्बरोमराजि वा विलोकयामि, पुषुतर जघन स्पृशामि, कलं गीत सावधानं शृणोमि, मूलकमलपरिमलं जिघ्रामि, विम्बाधरं समास्वाद्यामि इति वचनानुच्चारणं वा द्रव्यत इन्द्रियविवेकः । भावत इन्द्रियविवेको नाम जातेऽपि विषयविषयिसम्बन्धे रूपादिगोचरस्य विज्ञानस्य भावेन्द्रियाभिधानस्य राग-कोपाभ्यां विवेचनं, रागकोपसहचारिरूपादिविषयमानसज्ञानापरिणतिर्वा । द्रव्यतः कषायविवेको नाम कायेन वाचा चेति द्विविधः । भ्रूलतासङ्कोचनं, पाटलेक्षणता, अघरावमर्दनं, शास्त्रनिकटीकरणं, इत्यादिकायभ्यापारा-करणं । हन्मि, ताडयामि, शूलमारोपयामि इत्यादिवचनाप्रयोगश्च परपरिभवादिनिमित्तचित्तकलङ्काभावो भावतः क्रोधविवेकः । तथा मानकषायविवेकोऽपि बाक्कायाम्भा द्विविधः । गाभाणा स्तब्धताकरणं, शिरस उन्नमनं, उच्चासनारोहणादिकं च यन्मानसूचनपरं तस्य कायभ्यापारस्याकरणं । मत्तः को वा श्रुतपारग-सुचरितः श्रुतपोधनश्चेति वचनाप्रयोगश्च । एवमेवैतेभ्योऽहं प्रकृष्ट इति मनसाहङ्कारवर्जनं भावतो

है ॥१६९॥

पांच प्रकारके विवेकका कथन करते हैं—

गा०—इन्द्रिय विवेक, कषाय विवेक, उपधिविवेक, भक्षपाण विवेक और देहका विवेक इस प्रकार यह विवेक पांच प्रकारका पूर्वागम में कहा है । तथा यह पांच प्रकारका विवेक द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकार है ॥१७०॥

टी०—रूप आदि विषयोंमें चक्षु आदि इन्द्रियोंका आदर भावसे या क्रोधवश प्रवृत्ति न करना, यह देखता हूँ, अथवा यह सुनता हूँ, उसके धने स्तनोंको देखता हूँ, अथवा नितम्ब और रोमपंक्तिको देखता हूँ, स्थूल जघनको स्पर्श करता हूँ, मनोहर गीत सावधानता पूर्वक सुनता हूँ, भुख रूपी कमलकी सुगन्ध सूंघता हूँ, ओष्ठका रसपान करता हूँ, इत्यादि वचनोंका उच्चारण न करना द्रव्य इन्द्रिय विवेक है । विषय और विषयी अर्थात् पदार्थ और इन्द्रियका सम्बन्ध होने पर भी रूपादिका जो ज्ञान होता है जिसे भावेन्द्रिय कहते हैं, उस ज्ञानके होने पर भी राग द्वेष न करना अथवा राग द्वेषके सहचारी रूपादि विषय रूपसे मानसज्ञानका परिणत न होना भाव इन्द्रिय विवेक है । द्रव्य कषाय विवेक के दो भेद हैं शरीरसे और वचन से । भौंको संकोचना, आँखोंका लाल होना, ओठ काटना, शास्त्र उठाना इत्यादि काय व्यापारका न करना काय द्रव्य कषाय विवेक है । मारता हूँ, ताड़न करता हूँ, सूली पर चढाता हूँ इत्यादि वचन न बोलना वचन क्रोध कषाय विवेक है । दूसरे के द्वारा किये गये तिरस्कार आदिके निमित्तसे चित्तमें मलिनताका न होना भावसे क्रोध विवेक है । तथा मान कषाय विवेकके भी वचन और कायकी अपेक्षा दो भेद हैं । शरीरको स्तब्ध करना, शिर को ऊँचा करना, उच्चासन पर बैठना आदि जो मान सूचक काय व्यापार हैं उनका न करना काय मान कषाय विवेक है । मुझसे बड़ा कौन शास्त्रका पंडित है, चारित्रवान और तपस्वी है, इस प्रकारके वचन न बोलना वचन मान कषाय विवेक है । इसी

मानकषायविवेकः । बाक्कायाभ्यां मायाविवेको द्विप्रकारः । अन्यत् दृश्यत इवान्यस्य यद्रचनं तस्य त्यागो मायोपदेशस्य वा, मायां करोमि न कारयामि, नाभ्युपगच्छामि इति वा कथनं वाचा मायाविवेकः । अन्य-
स्तुर्लक्ष इवान्यस्य कामेयाकरणं कायतो मायाविवेकः । लोभकषायविवेकोऽपि द्विविधः । ब्रह्मास्य लोभस्त-
दुपेक्ष्य करप्रसारणं, द्रव्यवेशानपायिता, तनुवादानुकामस्य कायेन निवेशनं हस्तसंज्ञया निवारण, शिरस्चारुनया
वा एतस्य कायव्यापारस्य अकरणं कायेन लोभविवेकः । शरीरेण वा द्रव्यानुपादानं । एतन्मयीयं व-तुशामादिकं
वा अहमस्य स्वामीति वचनानुच्चारण वा लोभविवेकः । ना कस्यचिदीशो न च मम किञ्चिदिति वचनं
वा । भवेवंभावरूपमोहजपरिणामापरिणतिर्भावतो लोभविवेकः ॥१७०॥

अहवा शरीरसेज्जा संधारुवहीण भक्षणसस ।

वेज्जावच्छकरण य होह विवेगो तहा चैव ॥१७१॥

'अहवा' अथवेति । विवेकः प्रकारान्तरेणावेद्यते । 'शरीरसेज्जासंधारुवहीणभक्षणसस' शरीरविवेकः
वसतिस्तंशरीरविवेकानुपकरणविवेक, भक्षणविवेकः । 'वेज्जावच्छकरण य' वैयावृत्यकरणा च विवेको
भवति । 'तहा चैव' तथैव द्रव्यभावाभ्यां इति यावन् । तत्र शरीरविवेकः शरीरेण निरूप्यते । ससारिण
शरीरादिवेक कथमिति चेत् । शरीरेण स्वशरीरेण स्वशरीरोपद्रवापरिहरण शरीरविवेकः । शरीर उपद्रवन्त
नरं तिर्यञ्च देव वा न हस्तेन निवारयति । मा कृथा ममोपद्रवमिति दशमशकबुद्धिचक्रभुजगसारमेयादीन्
हस्तेन, पिच्छाद्युपकरणेन, दण्डादिनिर्वाप्यमारयति । छत्रापिच्छकटकप्रावरणादिना वा न शरीररक्षा करोति ।

प्रकार इनसे मे उक्तुष्ट हूँ ऐसा मनसे अहकार न करना भावसे मान कषाय विवेक है । माया
विवेक भी वचन और कायकी अपेक्षा दो प्रकार है । दिखाना तो ऐसा मानों कुछ अन्य बोलते हैं
और बोलना कुछ अन्य, इसका त्याग अथवा माया पूर्ण उपदेशका त्याग, अथवा न मैं माया करता
हूँ, न कराता हूँ, न अनुमोदना करता हूँ ऐसा बोलना वचन माया विवेक है । अन्य करते हुए
उससे अन्याका कायसे न करना काय माया विवेक है । लोभ कषाय विवेक भी दो प्रकारका है ।
जिस वस्तुका लोभ हो उसको लक्ष्य करके हाथ पसारना, जो उसे लेना चाहें उसे शरीरसे मना
करना या हाथके सकेत से गोकना अथवा मिर हिलाकर मना करना, इस काय व्यापारका न
करना काय लोभ विवेक है । अथवा शरीरसे वस्तुका ग्रहण न करना काय लोभ विवेक है । यह
वस्तु ग्राम आदि मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ इत्यादि वचनका उच्चारण न करना, अथवा न मैं
किसी का स्वामी हूँ और न कुछ मेरा है ऐसा बोलना वचन लोभ विवेक है । यह मेरा है इस
भावरूप मोहजन्य परिणामका न होना भाव लोभ विवेक है ॥१७०॥

गा०—अथवा शरीर विवेक, वसति विवेक, संस्तर विवेक, उपाधि विवेक, भक्षणान विवेक,
और वैयावृत्य करने वालोंका विवेक, द्रव्य और भाव रूप होता है ॥१७१॥

टी०—प्रकारान्तरसे विवेकके भेद कहते हैं । शरीर विवेक शरीर के द्वारा किया जाता है ।

शब्दा—संसारी जीवका शरीरसे विवेक कैसे संभव है ?

समाधान—अपने शरीरमें होने वाले उपद्रवोंका दूर न करना, शरीर विवेक है । शरीरपर
उपद्रव करने वाले मनुष्य, तिर्यञ्च अथवा देव को हाथसे नहीं रोकता कि मेरे ऊपर उपद्रव मत
करो । डांस, मच्छर, बिच्छू, सर्प, कुत्ते आदिको हाथसे, पिच्छी आदि उपकरणसे अथवा दण्ड
वगैरहमे दूर नहीं करता । छाता, पीछी, चटाई अथवा अन्य किसी आवरणसे शरीरकी रक्षा

शरीरपीडा मम मा कृपा इत्यवचनं । मां पालयेति वा, शरीरनिवन्धनव्यवधानं चैतन्येन सुखदुःखसंवेदनेन वाऽभिविष्टमिति वचनं वाचा विवेकः । वसतिसंस्तरयोविवेको नाम कायेन वसतावनासनं प्राणभ्युषितायां, संस्तरे वा प्राक्तने अशयनं अनासनं । वाचा त्यजामि वसति संस्तरमिति वचनं । कायेनोपकरणानामनादानं, अस्वापनं क्वचिदरक्षा च उपधिविवेकः । वाचा परित्यक्तानीमानि ज्ञानोपकरणादीनि इति वचनं वाचा उपधिविवेकः । भक्तपानयोरनयनं अपानं वा कायेन भक्तपानविवेकः । एवंभूतं भक्तं पानं वा न भुङ्क्षामि इति वचनं वाचा भक्तपानविवेकः । वैयावृत्यकराः स्वशिष्यावयां ये तेषां कायेन विवेकः तैः सहासंबासः । मा कृपा वैयावृत्यं इति वचनं, मया त्यक्ता मयमिति वचनं । सर्वत्र शरीरादौ अनुरागस्य ममेदं भावः य वा मनसा अकरणं भावविवेकः ॥१७१॥

परिग्रहपरित्यागक्रमं उपदिशति—

सुखत्थ दम्बपञ्जयममत्तसंगविजडो पणिहृदप्या ।

शिष्यणयपेमरागो उवेज्ज सख्वाव ॥१७२॥

सुखत्थ इत्यादिना । 'सुखत्थ' सर्वत्र देसे । 'पणिहृदप्या' प्रणिहितात्मा प्रकर्षेण निहितः निहितः वस्तुयाथात्म्यज्ञाने आत्मा येन स प्रतिनिहितात्मा । 'दम्बपञ्जयममत्तसंगविजडो' द्रव्येषु जीवपुद्गलेषु तत्पर्यायिषु च ममत्तरूपो यः संगः परिग्रहस्तेन परित्यक्तः । प्रणयः स्नेहः प्रेम प्रीतिः, राग आसक्तिः । क्व ? द्रव्यपरायिषु जीवद्रव्ये पुत्रवारमित्रादी, तथा नीरोगत्ववनवत्त्वादी पर्यायि, आत्मनो वा देवत्वे, चक्रवर्तित्वेऽहमिन्द्रत्वे वा । तथा शरीरे आहारादिभिः भोगसाधने, तदीयरूपरसगन्धस्पर्शपंचमिषु वा, एतेभ्यः

नहीं करता । यह कायसे शरीर विवेक है । मेरे शरीरको पीडा मत दो, अथवा मेरो रक्षा करो, ऐसा न बोलना, अथवा यह शरीर अचेतन है, भुससे भिन्न है, चैतन्यसे और सुख दुःखके संवेदनसे रहित है ऐसा बोलना वचनसे शरीर विवेक है । जिसमें पहले रहे है उस वसति में न रहना कायसे वसति विवेक है । पूर्वके संस्तर पर न सोना न बैठना कायसे संस्तर विवेक है । मे वसति या संस्तर को त्यागता है यह वचनसे वसति और संस्तर विवेक है । 'उपकरणोंका त्याग करता हूँ' ऐसा बोलना वचनसे उपधि विवेक है, भक्तपानको न खाना न पीना कायसे भक्तपान विवेक है । 'इस प्रकारके भोजन और पानको ग्रहण नहीं करता' ऐसा कहना वचनसे भक्तपान विवेक है । वैयावृत्य करने वाले अपने शिष्यों आदिके साथ बास न करना कायसे विवेक है । 'वैयावृत्य मत करो' 'मैंने तुम्हारा त्याग किया ऐसा कहना' वचनसे विवेक है । सर्वत्र शरीर आदिमें अनुरागका 'यह मेरा है' इस प्रकार का भाव मनमें न करना भावविवेक है ॥१७१॥

परिग्रहके त्यागका क्रम बतलाते हैं—

गा०—सर्वं देशमे प्रतिनिहित आत्मा द्रव्य और पर्यायोंमें ममत्तारूपी परिग्रहसे रहित, प्रणय, प्रेम और रागसे रहित सर्वत्र समभावको प्राप्त होता है ॥१७२॥

टी०—जिसने वस्तुके यथार्थ स्वरूपके ज्ञानमें आत्माको प्रकर्षरूपसे निहित किया है वह प्रतिनिहितात्मा है अर्थात् जो वस्तु स्वरूपके जाननेमें लीन रहता है और द्रव्य अर्थात् जीव पुद्गलमें और उनकी पर्यायोंमें ममत्ता नहीं करता । और जीव द्रव्य अर्थात् पुत्र स्त्री मित्रादि में उनकी नीरोगता, धनवत्ता आदि पर्यायोंमें अथवा आत्माकी देवपना, चक्रवर्तीपना, अहमिन्द्रपना आदि पर्यायोंमें तथा शरीरमें, आहारादिमें; भोगके साधनमें और उनकी रूप, रस, गन्ध,

परिणामेभ्यो निर्यतो 'विषयधर्मैवराग' इत्युच्यते । 'उबेव' प्रतिपद्यते । 'समभाव' समचित्तता । इव्ये पर्याये वा रागकोपावन्तरेण तत्स्वरूपग्रहणमात्रप्रवृत्तिर्ज्ञाना समचित्तता ॥१७२॥

परिग्रहपरित्यागादनन्तरोपधिकारः श्रितिनार्थं, एतद्व्याख्यानुकामं श्रितिशब्दस्वार्थद्वयं व्याचष्टे भाव-श्रितिर्द्रव्यश्रितिरिति, अप्रकृत श्रितिशब्दार्थं निराककुमिष्टं दर्शयितुम्—

जा उवरि उवरि गुणपडिवची सा भावदो सिदी होदि ।

द्ववसिदी जिस्सेणी मोवाणं आरुहंतस्स ॥१७३॥

'जा' या । 'उवरि उवरि' उपर्युपरि । 'गुणपडिवची' गुणप्रतिपत्ति । ज्ञानश्रद्धानममानभावाना गुणानां प्रवृत्ताना उपर्युपरि गुणानात्तथाभूतानामेव प्रतिपत्तिर्या सा । 'भावदो' भावेन । 'सिदी होदि' श्रितिर्भवति । भावश्रितिं सैवेति यावन् । अथ का द्रव्यश्रिति ? अम्योत्तरमाह—'द्ववसिदी' श्रीयते इति श्रितिः द्रव्यं च तत् श्रितित्वा सा द्रव्यश्रितिः । यदाश्रीयते द्रव्यं निधयेणीसोपानादिकं तदपि श्रितिशब्देनोच्यते । 'आरुहंतस्स' आरोहन् ॥१७३॥

अनयो' का' परिग्रहोतेत्यत्राह—

सल्लेहणं करंतो सव्वं सुहसीलयं पयहिदुण ।

भावसिदिमारुहत्ता विहरेज्ज सरीरणिव्वण्णो ॥१७४॥

स्पर्श पर्यायोमे प्रणय अर्थान् स्नेह, प्रेम और गग अर्थान् आसक्ति रूप परिणामोसे रहित हैं वह सर्वत्र समभाव अर्थान् समचित्तताको प्राप्त होता है । द्रव्य अथवा पर्यायमें गग द्वेष के बिना उनके स्वरूपको ग्रहण मात्र करनेको प्रवृत्तिको अर्थान् ज्ञानताको समचित्तता कहते हैं ॥१७२॥

उपधि त्याग समाप्त हुआ ।

परिग्रह त्यागके अनन्तर श्रिति नामक अधिकार है । उसका व्याख्यान करनेके इच्छुक ग्रन्थकार श्रिति शब्दके दो अर्थ कहते हैं भाव श्रिति और द्रव्य श्रिति । श्रिति शब्दके अप्रकृत अर्थका निराकरण और इष्ट अर्थ का कथन करतं है—

गा०—जो ऊपर-ऊपर गुणोंकी प्रतिपत्ति हैं वह भावसे श्रिति है । ऊपर चढने वाले के नसैनी सीढी आदि द्रव्य श्रिति है ॥१७३॥

टी०—ज्ञान श्रद्धान समभाव यादि गुणोंका ऊपर-ऊपर उन्नत होना गुण प्रतिपत्ति है और वह भाव श्रिति है । भाव अर्थात् परिणामसे श्रिति भाव श्रिति अर्थात् परिणाम सेवा है । 'श्रीयते' जिसका आश्रय लिया जाये वह श्रिति है । द्रव्यरूप श्रिति द्रव्य श्रिति है । ऊपर चढने वाला नसैनी सीढी आदि जिस द्रव्यका आश्रय लेता है उसको भी श्रिति शब्दसे कहते हैं ॥१७३॥

यहाँ इन दोनोंमेंसे किसका ग्रहण किया है, यह कहते हैं—

गा०—सल्लेखना करता हुआ शरीरसे विरक्त साधु सब सुखशीलताको मन वचन कायसे त्यागकर भावश्रिति पर आरोहण करके विहार करे ॥१७४॥

“सल्लेहणं” सल्लेखना । ‘करंती’ कुर्वन् । ‘सर्वं सुहृसीलयं’ सर्वां सुखभावना आसनशयनभोजनादिविषया । ‘व्यतिष्ठणं’ प्रकथ्येण त्यक्त्वा योगत्रयेणेति यावत् । ‘भावसिद्धिमाश्रिता’ श्रद्धानादिविपरिणामक्षेत्रां प्रतिपद्य । ‘विरहेच्छ’ प्रवर्तेत । ‘शरीरणिब्धिणो’ शरीरनिस्पृह । किमनेन शरीरेण, सुखभेनासारेण, अद्युचिना, कृतघ्नेन, भारेण रोगाणामाकरेण, जरामरणप्रतिहतेन दुःखविधागिनेति ॥१७४॥

दृढसिद्धिं भावसिद्धिं अणुओगवियाणया विजाणंता ।

ण सु उद्धगमणकज्जे हेट्ठिल्लपदं पसंसति ॥ १७५॥

दृढसिद्धिं भावसिद्धिं अणुओगवियाणया विजाणंता’ इत्यस्मिन्मूने पदघटना । ‘उद्धगमणकज्जे हेट्ठिल्लपदं ण सु पसंसति’ इति । ऊर्ध्वगमने कार्ये ज्योष पादनिक्षेपं नैव प्रशमन्ति । ‘विजाणंता’ विशेषेण जानन्तः । का ‘दृढसिद्धिं भावसिद्धिं’ च द्रव्यभावश्रियो स्वरूप उपादेयश्रितज्ञा’ इति यावत् । न केवलं श्रितिमात्रज्ञा, किन्तु ‘अणुओगवियाणया’ अनुयोगशब्द सामान्यवचनोऽपि इह चरणानुयोगवृत्तिर्गृहीतस्तेनायमर्थ आचाराङ्गज्ञा अथवा चतुर्विधानुयोगज्ञा श्रुतमाहात्म्यवन्न न प्रशमन्ति । गतदुःखत भवति—शुभ-परिणामवता तदतिशय एव प्रवर्तितव्य, न जघन्यपरिणामप्रवाहे निपतितव्य, यथाप्रतिप्रयितश्रुतज्ञानलोचना यतयो निन्दति जघन्यपरिणामान् । कुतो ? मन्दायमानशुभपरिणाम क्रमेण न बहुलविशालकर्मतिमिरमपाकर्तुमर्हति नाशाभिमुख प्रदीप इव । यथा नागमन्मुख प्रदीपोऽनितेजसा प्रवर्तमानो मन्द मन्द उवलन्नाशमुपैति शनैः शनैस्तमसाच्छाद्यते तथा मन्दायमानपरिणामोऽपीत्यर्थः । अनुभविण्याममन्ततेमूल भवति । तेन कर्मणा स्थितिरनुभवश्च प्रकथ्यमुपैति ततो व्यवस्थिता नैव दीर्घमार्गिणा । गभीर्चानज्ञानमारुणप्रतिग’ शुभपरि-

गा०—टी०—इस सुलभ, असार, अपवित्र, कृतघ्न, भाररूप, रोगोका घर और जन्म मरणसे युक्त, दुःखदायी शरीरसे क्या लाभ ऐसा विचार माधु गरीरमे निस्पृह होकर मल्लेखना धारण करना है और बैठना, सोना, भोजन आदिकी सब सुख भावनाको छोड़ श्रद्धानादि परिणामोंका आश्रय लेता है ॥१७४॥

गा०—द्रव्यश्रितिके भावश्रितिके स्वरूपका विशेष रूपमें जानने वाले तथा आचांगिके ज्ञाता ऊर्ध्वगमन रूप कार्यमें नीचे पैर रखना प्रशंसनीय नहीं ही मानते ॥१७५॥

टी०—अनुयोग शब्द अनुयोग सामान्यका वाची होने पर भी यहाँ चरणानुयोगका वाचक ग्रहण किया है अतः उसका अर्थ आचांगिके ज्ञाता होना है । अथवा चार प्रकारके अनुयोगोंके ज्ञाता भी होता है । द्रव्यश्रितिके और भावश्रितिके स्वरूपको जानने वाले तथा चरणानुयोगके ज्ञाता ऊपर जानेके लिये नीचे-नीचे पैर रखना प्रशंसनीय नहीं मानते । आशय यह है कि शुभ परिणाम वालोको शुभ परिणामोंकी उत्कृष्टतामें ही लगना चाहिये, जघन्य परिणामोंके प्रवाहमें नहीं गिरना चाहिये; क्योंकि अतिशय युक्त श्रुतज्ञान रूपी चक्षुसे सम्पन्न यतिगण जघन्य परिणामों की निन्दा करते हैं । क्योंकि जिसके शुभ परिणाम उत्तरोत्तर मन्द होने जाते हैं वह घने विशाल कर्मरूपी अन्धकारको नाशके अभिमुख दीपककी तरह दूर नही कर सकता । जैसे बुझता हुआ दीपक तीव्र प्रकाश देता है किन्तु मन्द-मन्द जलकर बुझ जाता है और धीरे-धीरे अन्धकारसे ढक जाता है । उसी तरह मन्द होता हुआ शुभ परिणाम भी अशुभ परिणामोंकी परम्पराका जनक होता है और उसमें कर्मोंकी स्थिति और अनुभाग उत्तरोत्तर बढ़ता है । उससे बड़ी दीर्घ संसारि-

भाषाणः प्रकृत्यमाणो विक्षोभितकर्मपादपरसस्तमुन्मूलयतीति ॥१७५॥

विधेतरपायस्थानपरिहाराख्यानायोत्तरगाथा—

गणिणा सह संलाओ कज्जं पइ सेसएहिं साहुहिं ।

मोणं से मिच्छज्जणे भज्जं सण्णीसु सज्जणे य ॥१७६॥

'गणिणा सह' सावधारणमिदं गणिनेव सह । 'संलाओ' प्रश्नप्रतिबचनप्रबन्धः, नाम्यैः सह विरभाषणं कार्यम् । आचार्येण सह संलापः शुभपरिणामस्य हेतुरित्यनुज्ञायते । इतरे तु प्रमादितो यत्किञ्चिद् ब्रुवन्तोऽशुभपरिणामं विदधुः । 'कज्जं पइ' कार्यं स्वं प्रति । 'सेसएहिं साहुहिं' शेषैः साधुभिः सम्भाषणं कार्यं, न प्रबन्धरूपा कथा कार्या । 'मोणं' मौनमेव । 'से' तस्य शुभपरिणामश्रेणीमारूढस्य । 'मिच्छज्जणे' मिथ्यादृष्टि-जने । स्वार्थे बद्धपरिकरस्य किं तेनानुपकारिणा हितोपदेशाद्वाहिणा जनेन । 'भज्जं' भाज्यं विकल्प्य मौन । 'सण्णीसु' मिथ्यादृष्टिज्वप्युपशान्तेशु । 'सज्जणे य' स्वजने च । मिथ्यादृष्टी अस्वामवस्थाया मदीयं वचनं श्रुत्वा सम्यग्दर्शनादिकमिमे गृह्णन्तीति यद्यस्ति सम्भावना ब्रूयाद् धर्मं न चेन्मौनमेव ॥१७६॥

उपगतशुभपरिणामस्य प्रवृत्तिक्रममाचष्टे—

सिदिभारुहिचु कारणपरिभुत्तं उवधिमणुवधिं सेज्जं ।

परिकम्मादिउवहदं वज्जित्ता बिहरदि विदणहू ॥१७७॥

'सिदिभारुहिचु' शुभपरिणामश्रेणिमारुह्य । कारणभूत्तं किञ्चित्कारणमुपविष्य श्रुतग्रहणं, परेया वा

पना प्राप्त होता है । सम्यग्ज्ञान रूपी वायुसे प्रेरित शुभ परिणाम रूप आग बढ़ती-बढ़ती कर्म रूपी वृक्षके रसको सुखाकर उसे जठसे नष्ट कर देती है ॥१७५॥

श्रितिके विनाश स्थानोंसे बचनेके उपाय कहते हैं—

शा०—शुभ परिणामोंकी श्रेणि पर आरूढ साधुको आचार्यके ही साथ वार्तालाप करना चाहिये । कार्य हो तो शेष साधुओंसे वार्तालाप करे । मिथ्यादृष्टिजनोंमें मौन रहे । शान्त परिणामी मिथ्यादृष्टियोंमें और अपने ज्ञातिजनोंमें मौन करे, न भी करे ॥१७६॥

टी०—आचार्यके साथ ही 'सलाप' अर्थात् प्रश्नोत्तर आदि करना चाहिये । दूसरोंके साथ लम्बा वार्तालाप नहीं करना चाहिये । आचार्यके साथ संलाप शुभ परिणाम का कारण है इसलिये उसकी अनुज्ञा है । अन्य लोग तो प्रमादी होनेसे जो कुछ भी बोलकर अशुभ परिणाम कर देते हैं । शेष साधुओंके साथ संभाषण करना चाहिये किन्तु लम्बी कथा नहीं करना चाहिये । मिथ्यादृष्टि जनसे बात नहीं करना चाहिये क्योंकि वह तो स्वार्थमें डूबा है । हितोपदेशको नहीं सुनता । ऐसे अनुपकारी व्यक्तिके क्या काम ? जो मिथ्यादृष्टि होते हुए भी शान्त परिणामो है और अपने ज्ञातिबन्धु हैं उनसे वार्तालाप किया जा सकता है । ये मेरे वचन सुनकर सम्यग्दर्शन आदिको ग्रहण करेंगे, यदि ऐसी सम्भावना है तो धर्मका उपदेश दें, नहीं तो मौन ही रहे ॥१७६॥

शुभ परिणामके धारी मुनिकी प्रवृत्तिका क्रम कहते हैं—

शा०—क्रमका ज्ञाता मुनि शुभ परिणामो की श्रेणिपर चढ़कर किसी कारणवश व्यवहार में आई परिग्रहको और ईश्वर उपधिरूप वसतिको तथा जो लीपने-पोतने अयोग्य है, उसे त्याग कर तपस्वरण करता है ॥१७७॥

टी०—शुभ परिणामोंकी परम्परासे जो मुनि ऊपर चढ़ रहा है वह ऐसे परिग्रहको त्याग

श्रुतोपदेशं, आचार्यादिर्वैयावृत्यादिक वा, 'परिभूक्त' व्यवहृत । 'उर्वाच' परिग्रहमीषधं अतिरिक्तज्ञानसंयमोपकरणानि वा । 'अनुपधि' ईषत्परिग्रहं । अन्वयेपदर्थवृत्ति' अनुदरा कल्पेति यथा । कोसावनुपधिरत आह— 'सिञ्ज' तेविज्जदि अदिणा इति व्युत्पत्तौ वसतिरुच्यते, तेन सिञ्जं वसति । परिक्रमादिउच्यते' यतयोऽव वसन्तीति प्रमाजर्जनादिपरिकर्मणा उपहृत अयोग्य । 'परिविज्जता' वर्जयित्वा । 'बिहृरवि' आचरति । 'बिहृर' क्रमज्ञः ॥१७७॥

भित्तिनन्तरं किं करोतीत्यत्राह—

तो पच्छिमंमि काले वीरपुरिससेवियं परमघोर ।

भक्तं परिजाणतो उवेदि अब्भुज्जदविहारं ॥१७८॥

'तो' तस्याः भित्ते । 'पच्छिमंमि काले' पश्चिमे काले । 'वीरपुरिससेवियं' वीरं पुरुषैराचरितं । 'परमघोरं' अतिबुद्धकर । 'भक्तं परिजाणतो' आहार परित्यक्तुकाम । 'उवेदि' उपैति । किं ? अब्भुज्जदविहारं' सम्यग्दर्शनाविपरिणामाभिमुख्ये उच्यन्त विहारं ॥१७८॥

कीदृग्सावभ्युद्यतो विहार इत्यत्रावष्टे—

इत्तिरियं सध्वगणं विधिणा वित्तिरिय अणुदिसाए ढु ।

जहिदुण मंकिसेसं भावेइ असंकिसेसेण ॥१७९॥

'इत्तिरियं' क्रियतः काल्प्य । 'सध्वगणं' मयताना, आर्याकाणां, श्रावकाणां, इतराणां च समिति ।

देता है जो कारणवश व्यवहारमें आया है जैसे स्वयं शास्त्राध्ययनके लिये या दूसरोंको शास्त्रका उपदेश देनेके लिये ज्ञान और मंत्रमके उपकरण शास्त्र आदि व्यवहारमें आये हों जो कि स्वयं अपने लिये आवश्यक नहीं है । तथा आचार्य आदिकी वैयावृत्यके लिये औषध आदि व्यवहारमें आई हो । ऐसा परिग्रह कारणभुक्त परिग्रह है । तथा कारणभुक्त अनुपधिको भी त्याग दे । अनुपधिमें अन्का अर्थ ईपत् या किञ्चित् है । यह अनुपधि है 'सिञ्ज' । 'जो यतिके द्वारा सेवित होती है' इस व्युत्पत्तिक अनुसार सिञ्जाका अर्थ वसति है । तथा 'इसम यति गण रहेंगे' इस अभिप्रायसे जिस वसतिकी मफाई लिपाई पुनाई की गई है वह भी त्याज्य है । इन सबको त्यागकर वह मुनि तपस्वरण करता है ॥१७७॥

भित्तिके अनन्तर वह क्या करता है यह कहते हैं—

गा०—उस भित्तिके अन्तिम समयमें वीर पुरुषोके द्वारा आचरित अतिकठिन आहारको त्याग देनेका इच्छुक वह मुनि सम्यग्दर्शन आदि परिणामोंकी अभिमुखतामें तत्पर विहारको प्राप्त होता है । अर्थात् रत्नत्रयकी मूर्ध्प्रताको लिये हुए आचरण करता है ॥१७८॥

वह अभ्युद्यत विहार कंसा है, यह कहते हैं—

गा०—तत्काल गुरुके पश्चात् जो सधका पालन करता है उसे, विधिपूर्वक समस्त संघको सौंपकर संक्लेगकी छोड़कर असक्लेशमें आत्माको भाता है ॥१७९॥

टी०—सर्वगणसे मतलब है मुनि, आर्याका, श्रावक, श्राविका तथा अन्य जनोंका समूह ।

'बिसरिय' वरुषा । कथं 'बिषिणा' विषिना । कथं ? सर्वस्य गणस्य मध्ये तं व्यवस्थाप्य स्वयं बहिः स्थित्वा 'एष निरतिचाररत्नत्रयः आत्मानं युष्मानपि समर्थं ससारसागरदुट्टर्तुं', अनुज्ञातपञ्च यथा सुरिरयमिति । तत एतदुपदेशानुसारेण भवद्भिः प्रवर्तितव्य इति । 'अनुबिसाए हु' 'अनु'पश्चादर्थे दिशिबिधाने गुरो पश्चाद्विंशति विधत्ते चरणक्रमं यः सोभिधीयते अनुविशसद्येन । 'अहिक्रण' त्यक्त्वा । 'संकलेश' संकलेश परोपकार-सम्पादनायासं । 'भाबेइ' भावयति । 'असंकलेशेण' न विद्यते संकलेशोऽस्मिन्नियमंक्रान्तः शुभपरिणामस्तेन भावयति आत्मानं ॥१७९॥

जावतुं केइ संगी उदीरया होत रागदोसाणं ।

ते वज्जितो जिणदि हु रागं दोसं च णिस्सङ्को ॥१८०॥

त्यक्तव्यसंकलेशभावनाकल्पस्याख्यानायाचष्टे—

कन्दर्पदेवखिम्बिस अभिभोगा आसुरी य सम्मोहा ।

एसा हु सङ्कलिद्धा पञ्चविहा भावणा भणिदा ॥१८१॥

कल्प इत्यादिना । गतिकर्म चतुर्विधं नरकगतिमित्यङ्गतिमनुष्यगतिदेवगतिरित्यत्र देवगतिर्नरक-प्रकारा असुरदेवगतिनागदेवगत्यादिप्रपञ्चेन । कन्दर्पदेवगते, किल्बिषदेवगते, अभियोग्यदेवगते, असुरदेवगते, सम्मोहदेवगतेषु कारणभूता आत्मपरिणामाः । कारणे कार्योपचाराऽप्राणवन् । यथान्न वै प्राणा इति

'अनुबिसाए' मे अनुका अर्थ है पश्चात् आरं दिशका अर्थ है विमान । गुरुके पीछे जा चारित्रके क्रमका विधान करता है उसे अनुदिश कहते हैं । सन्तुल्यवार्थी उमको समर्थके मध्यमे स्थापित करके स्वयं बाहर होता है । उस समय वह कहता है—इमका रत्नत्रय निर्दोष है । यह अपना और तुम्हारा भी संसार सागर से उद्धार करनेमे समर्थ है । मन इमे आचार्य द्रवने की अनुज्ञा वा है । अतः इसके उपदेशके अनुसार आपको चलना चाहिये । मघके भागसे मुक्त होकर वह परोपकार करनेका प्रयत्न रूप संकलेश छोड देता है, अर्थात् परोपकार करना छोड देता है और जिसमें संकलेश नहीं है ऐसे असंकलेश अर्थात् शुभ परिणाममे आत्माकी भावना भाता है ॥१७९॥

गा०—जितना कोई परिग्रह रागद्वेषकी उदीरणा करने वाला होना है, उसे छोडता हुआ निस्संग होकर राग और द्वेष को निश्चयमे जीतता है ॥१८०॥

बिज्ञेच—इस पर विजयोदया टीका नहीं है । आशाचरने भी इस पर टीका नहीं की किन्तु इतना लिखा है कि टीकाकार इस गाथाको नहीं मानता ।

छोडने योग्य संकलेश भावनाके भेद कहते हैं—

गा०—कन्दर्पदेवगति, किल्बिषदेवगति, अभियोग्यदेवगति, असुरदेवगति और सम्मोहदेव-गतिके कारण भूत आत्म परिणाम यह निश्चयसे पांच प्रकारकी संविलष्ट भावना कही है ॥१८१॥

टी०—गतिकर्मके चार भेद हैं—नरक गति, नियञ्जगति, मनुष्यगति और देवगति । इनमे से देवगतिके असुरदेवगति, नागदेवगति आदिके विस्तारसे अनेक भेद हैं । कन्दर्पदेवगति, किल्बिष-देवगति, अभियोग्य देवगति, असुरदेवगति और सम्मोहदेवगतिके कारणभूत आत्मपरिणामोंको उस उस गतिके नामसे कहा है । यहाँ कारणमे कार्यका उपचार किया है जैसे 'अन्न ही प्राण है' । यहाँ

प्राणकारणोऽपे प्राणोपचारा । कार्यगतेन व्यपदेशेन कन्दर्पभावना, किल्बिषभावना, अभियोग्यभावना, असुर-
भावना, सम्मोहभावनाश्चेति पञ्चप्रकारा भावना निरूपिताः सर्वविद्धः ॥१८१॥

तत्र कन्दर्पभावनानिरूपणाद्योत्तराया—

कंदप्यकुक्कुआइय चलसीलो णिच्चहासणकहोय ।

विम्भावितो य परं कंदप्यं भावणं कुणइ ॥१८२॥

कन्दप्यकुक्कुआइयचलसीलो रागोद्रेकात्प्रहाससम्मिश्रोऽशष्टवाक्प्रयोग कदपः । रागातिशयवतो
हसतः परमुद्दिष्याशिष्टकायप्रयोगः कौत्कुच्य एवं भवत मातर करोमीति । कदपंकौत्कुच्याम्या चलसीलः,
'णिच्चहासणकहो य' सदा हास्यकथाकथनोऽवतः । 'विम्भावितो य परं' परं विस्मापयन् कुहुक किञ्चिदुपस्यं
'कंदप्यं भावणं कुणइ' कदपंभावना करोति । रागोद्रेकजनितहामप्रवर्तितो वाय्योगः परमविस्मयकारी वा
कंदर्पभावनेत्युच्यते । असकृत्प्रवर्तमान ॥१८२॥

किल्बिषभावनाख्यानायाचष्टे—

णाणस्स केवलीणं घम्मस्माइरिय मव्वसाहूणं ।

माइय अवण्णवादी खिम्भिसियं भावणं कुणइ ॥१८३॥

णाणस्स इत्यादिक । 'माई अवण्णवादी' इत्येनाम्या प्रत्येक मवन्वनीयम् । ज्ञानमिह श्रुत परिगृहीत
श्रुतज्ञानविषया माया यस्य विद्वान् म ज्ञानमवन्धी मायावान् ज्ञानभक्तिरहितो बाह्यविनयवृत्ति । 'केवलिणं'

प्राणके कारण अन्नमें प्राणका उपचार किया है । उन्ही परिणामोका कार्य जो कन्दर्प आदि गति है
उसी कन्दर्पशब्दसे कन्दर्प भावना, किल्बिष भावना, अभियोग्य भावना, असुर भावना, सम्मोह
भावना ये पाँच प्रकार की भावनाएँ सर्वज्ञ देवने कही है ॥१८१॥

आगेकी गाथा मे कन्दर्प भावनाका कथन करते हैं—

गा०—कन्दर्प कौत्कुच्य आदिसे चलशील, और सदा हास्य कथा करनेमें तत्पर, दूसरेको
विस्मयमें डालने वाला कन्दर्प भावनाको करना है ॥१८२॥

टो०—रागकी अत्यधिकतामें हँसीसे मिला हुआ असभ्य वचन बोलना कन्दर्प है । रागकी
अधिकतासे हँसते हुए दूसरे को लक्ष्य कणके शरीरसे कुचेष्टा करना कौत्कुच्य है । इन दोनोंको जो
करता है, सदा हास्य कथा करता है, और कुछ कौतुक दिखाकर दूसरेको अचरजमें डालता है,
वह कन्दर्प भावना करता है । आशय यह है कि रागकी अधिकतासे होने वाले हास्य पूर्वक वचन
योग और काय योग तथा दूसरेको कुतूहल पूर्वक अचरजमें डालना कन्दर्प भावना है ॥१८२॥

किल्बिष भावनाको कहते हैं—

गा०—जो ज्ञानके, केवलियोंके, धर्मके, आचार्यों और सर्व साधुओंके विषयमें मायाचार
करता है, झूठा दोष लगाता है वह किल्बिषक भावनाको करता है ॥१८३॥

टोका—'माइय अवण्णवादी' ये दोनो पद प्रत्येकके साथ लगाना चाहिये । 'ज्ञान' से यहाँ
श्रुतज्ञान ग्रहण किया है । जो श्रुतज्ञानके विषयमें माया रखता है वह ज्ञान सम्बन्धी मायाचारी
है । ज्ञानमें भक्ति नहीं है, बाहरसे विनय करता है । केवलियोंमें आदर तो दिखलाता है किन्तु

केवलम्बादरनामिब यो वर्तते । तद्वर्तनायां मनसा तु न रोचते स केवलिनं मायावान् । धर्मव्यचारिणं तत्र मायाया प्रवृत्तः । आचार्याणां साधूनां च बन्धकः । क्षिम्बिसभास्फनं किल्विषभावनां । 'कुण्ड' करोति ॥१८३॥

अभियोग्यभावनां विरूपयत्युत्तरगाथा—

मंताभिओगकोडुगभूर्कम्मं पटंजदे जो हु ।

इडिदरससादेहु' अभिओगं-भावणं कुण्ड ॥१८४॥

'मंताभिओगकोडुगभूर्कम्मं' मन्त्राभियोगक्रिया, कुतूहलोपदर्शनक्रिया, बालादीना रक्षार्थं मूर्ति कर्म च । 'पटुंजदे' करोति य । 'अभियोगं भावणं कुण्ड' अभियोग्या भावना करोति । किं ? सर्व एव मन्त्राभियोगादो प्रवृत्तो नेत्याह । 'इडिदरससादेहु' मंताभियोगकोडुगभूर्कम्मं जो पटंजदे सो अभियोगभावणं कुण्ड' । द्रव्यलाभस्य, मृष्टाशनस्य, सुखस्य वा हेतुं मन्त्राद्यभियोगकर्मं प्रयुङ्क्ते य स एव अभियोग्यभावनां करोति' नेतरः । स्वस्य परस्य वा आयुराविपरिज्ञानार्थं कौतुक उपदर्शयन्, वैयावृत्य प्रवर्तयामीति वा । उद्यतः, ज्ञानदर्शन चारित्रपरिणामादरवर्तनान् वृष्यतीति भाव ॥१८४॥

चतुर्था भावनां वर्दन्ति—

अणुबद्धरोसविग्गहसंसत्तवो णिमिच्चपडिसेवी ।

णिकिक्वणिगणतावी आसुरिअं भावणं कुणदि ॥१८५॥

उनकी पूजा मनमें नहीं रुचती । वह केवलियोके सम्बन्धमें मायावी है । धर्म अर्थात् चारित्रिके विषयमें जो मायाचार करता है वह धर्मका मायावी है । तथा जो आचार्यों और साधुओंको ठगता है वह किल्विष भावनाको करता है ॥१८३॥

आगेकी गाथासे अभियोग्य भावनाको कहते हैं—

गा०—जो द्रव्यलाभ, मिष्टरस और सुखके लिए मन्त्राभियोग—भूत आदि बुलाना, कौतुक—अकालमें वर्षा आदि दिखलाना और बच्चोकी रक्षाके लिये भभूत देना आदि करता है वह अभियोग्य भावना करता है ॥१८४॥

टी०—द्रव्यलाभ, मीठा भोजन और सुखके लिये जो मन्त्राभियोग क्रिया, कुतूहल दिखानेकी क्रिया और बालक आदिकी रक्षाके लिये भूतिकर्म करता है वह अभियोग्य भावनाको करता है । जो द्रव्यलाभ आदिके लोभसे मन्त्रादि करता है वही अभियोग्य भावना करता है, सब नहीं । जो अपनी या दूसरोंकी आयु आदि जाननेके लिये मंत्र प्रयोग करता है, धर्मकी प्रभावनाके लिये कौतुक दिखलाता है या वैयावृत्य करनेकी भावनामें तत्पर रहता है वह ज्ञान दर्शन और चारित्र परिणामोंमें आदर भाव रखनेसे दोषका भागी नहीं है, यह भाव है ॥१८४॥

चौथी आसुरी भावनाको कहते हैं—

गा०—अनुबद्ध क्रोध और कलहसे जिसका तप संयुक्त है, ज्योतिष आदिसे आजीविका करता है, निर्दय है, दूसरेको कष्ट देकर भी पश्चात्ताप नहीं करता वह आसुरी भावनाको करता है ॥१८५॥

‘अनुबन्धरोषविग्रहसंसक्तस्यो निमित्ताजीवो’ रोषस्य विग्रहस्य रोषविग्रहो अनुबन्धो रोषविग्रहो अनुबन्धरोषविग्रहो अनुबन्धरोषविग्रहाभ्यां संसक्तं संबद्धं अनुबन्धरोषविग्रहसंसक्तं तपो यस्य स तपोवन्तः । ‘निमित्ताजीवो च’ यः स आसुरीभावनां करोति इति केचित्कथयन्ति । अनुबद्धो भवान् आसुरीभावनां रोषो यस्य सोऽनुबद्धरोषः । विग्रहेण कथ्येन संसक्तं तपो यस्य सः विग्रहसंसक्ततपःशब्देन भण्यते । अनुबद्धो रोषविग्रहो अस्येत्यनुबद्धरोषविग्रहः । सम्यगतीव संसक्तं संबद्धं परिग्रहेण तपो यस्य स संसक्ततपोऽभिप्रायवाच्यः । निमित्तक- निराधुताजी, य. निर्दयः प्राणिषु, कृत्वापि परपीडां अनुतापरहितरक्षासुरी भावना करोति ॥१८५॥

संमोहभावना निरूप्यते—

उम्मगदसणो मग्गदसणो भग्गविप्पडिवणी य ।

मोहेण य मोहितो संमोहं भावण कुणह ॥१८६॥

उम्मगदसणं मिथ्यादर्शनं, अतिरति, वा य उपदिशति, आप्ताभासानाममास्तत्प्रणीतांश्च हितत्वे- नाचष्टे । यो वा तत्त्वज्ञो हिसादिकं कुर्वन्नपि न पापेन लिप्यते । ज्ञान हि सर्वं पापं वहति इति प्रतिपादयता हिसादिभ्यो भयं निराकुर्वता हिसादिषु जीवा प्रवर्तिता भवन्ति । स एक उम्मार्गस्योपदेष्टा । यज्ञे प्राणि- वधो न पापाय शास्त्रचोदितत्वाज्ञानादिवत् । किं च पशवो हि यागार्थमेवाद्गौं सृष्टा याजका यजमाना पशु- वधश्च मन्त्रमाहात्म्यान्स्वर्गं लभन्ते इति । अयमेक. उम्मार्गोपदेश । ‘मग्गदसणो’ संवरस्य निर्जंरायाश्च निरव- शोकमर्पायास्य वा हेतुभूताः समीचीनज्ञानदर्शनचारित्रपरिणामा मार्ग इति उच्यते । अध्याबाधसुखस्य परंपरा-

टी०—अनुबद्ध रोष और विग्रहसे जिसका तप सम्बद्ध है और जो निमित्ताजीवि है वह आसुरी भावनाको करना है ऐसा कोई आचार्य कहते हैं। अनुबद्ध अर्थात् आगामी भवमें जाने- वाला जिसका क्रोध है अर्थात् ऐसा उत्कट क्रोध है जो दूसरे भवमें साथ जाता है वह व्यक्ति अनुबद्ध रोष है, जिसका तप विग्रह अर्थात् कलहसे सम्बद्ध है वह ‘विग्रह संसक्त तप’ शब्दसे कहा जाता है। जिसका रोष और विग्रह अनुबद्ध है वह अनुबद्ध रोष विग्रह है। और जिसका तप परिग्रहसे अतीव सम्बद्ध है वह ‘संसक्त तप’ शब्दसे कहा जाता है। जो प्राणियोंमें दया नहीं करता तथा दूसरोंको पीड़ा पहुंचा कर भी पछताता नहीं है, वह आसुरी भावना करता है ॥१८५॥

मम्मोह भावनाको कहते हैं—

गा०—जो मिथ्यात्व या असंयमका उपदेश देता है, मार्गको दूषण लगानेवाला है और रत्नत्रयका विरोधी है, अज्ञानसे मूढ़ है वह सम्मोह भावनाको करता है ॥१८६॥

टी०—उम्मगदसण अर्थात् जो मिथ्यादर्शन अथवा आंवरतिका उपदेश देता है, आप्ता- भासोंको और उनके द्वारा गृहित शास्त्रोंको हितकारी कहता है, जो तत्त्वज्ञ है वह हिंसा आदि करते हुए भी पापसे लिप्त नहीं होता, ज्ञान सब पापको भस्म कर देता है ऐसा कहनेवाला हिंसा आदि पापका भय दूर करके जीवोंको ड्रिमा आदिमें लगाता है। वह उम्मार्गका उपदेशक है। यज्ञमें किया गया प्राणिवध पापका कारण नहीं है क्योंकि वेदमें कहा है जैसे दान पापका कारण नहीं है। प्रारम्भमें यज्ञके लिये ही पशुओंकी सृष्टि की गई थी। जो यज्ञ करते हैं, कराते हैं और पशु, ये सब मरकर मन्त्रके माहात्म्यसे स्वर्गमें जाते हैं। यह भी उम्मार्गका उपदेष्टा है। ‘मग्ग- दसणो’—संवर और निर्जंराके तथा समस्त कर्मोंके विनाशके हेतु सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र रूप परिणाम मार्ग कहे जाते हैं; क्योंकि बाधरहित सुखके परम्परासे कारण हैं,

कारणत्वाच्च । तस्य मार्गस्य दूषणं नाव ज्ञानादेव मोक्षः किं दर्शनचारिणाभ्यां ? चारित्र्यमेवोपायः किं ज्ञानेनेति कथयन्मार्गस्य दूषको भवति । अथवा मार्गप्रत्यापनपरं श्रुतं मार्गस्तस्य दूषको यो अपभ्याख्यानाकारि । 'मग्नविष्पिडिबणी च' मार्गं रत्नत्रयात्मके विप्रतिपन्नः एव न मुक्तेर्वागं इति यस्तद्विषयान्तरण । मोक्षेषु च अज्ञानेन च संशयविपर्ययस्वरूपेण । 'मुञ्जल्लो' मुञ्जन् । सम्भोक्षेणु तीव्रकामरागेषु क्रुरितेषु देवेषु उपपद्यते ॥१८६॥

भावनायां फलं वर्णयति भयोपजननाय—

एदाहिं भावणाहिं य विराधओ देवदुग्गदिं लहइ ।

तत्तो जुदो समाणो भमिहिदि भवसागरमणंतं ॥१८७॥

'एदाहिं भावणाहिं च' एताभिः भावनाभिः । 'देवदुग्गदिं लहइ' देवेषु शुद्धा या गतिस्ता गच्छति । 'विराधओ' रत्नत्रयाच्छ्रुतः । 'तत्तो जुदो समाणो' तस्या देवदुर्गतिच्छ्रुतं सन् । 'भमिहिदि' भ्रमिष्यति भवसागरमन्तातोतं ॥१८७॥

एदाओ पंच वि वज्जिय इणमो छट्ठीए विहरदे धीरो ।

पंचसमिदो तिसुत्तो णिस्संगो सच्चसंगेसु ॥१८८॥

'एदाओ पंच वि वज्जिय' एता पञ्च भावना' परित्यज्य 'इणमो' अयं यतिः धीरः । 'छट्ठीए' षष्ठया भावनया । 'विहरदे' प्रवर्तते । षष्ठया भावनाया प्रवर्तितु एवभूतो योग्यः इत्याचष्टे—'पंचसमिदो' समितिपञ्चकवृत्ति । 'तिसुत्तो' गुप्तित्रयाल्लुक्तः । 'णिस्संगो' सगरहितः । 'सच्चसंगेसु' सर्वपरिग्रहेषु ॥१८८॥
का सा षष्ठीभावना ? अत्राचष्टे—

तवभावणा य सुदससभावणेगत्तभावणा थेय ।

धिदिबलविभावणाविय असकिलिद्धावि पंचविहा ॥१८९॥

उस मार्गको दूषण लगाना । यथा—ज्ञानसे ही मोक्ष होता है, दर्शन और चारित्र्यसे क्या लाभ । अथवा चारित्र्य ही मोक्षका उपाय है, ज्ञानको आवश्यकता नहीं है । ऐसा कहनेवाला मार्गका दूषक होता है । अथवा मार्गका ज्ञान कर्मानेवाला श्रुतमार्ग है उसका जो दूषक है—मिथ्या व्याख्यान करता है । 'मग्नविष्पिडिबणी'—रत्नत्रयात्मक मार्गमें विप्रतिपन्न है । यह मुक्तिका मार्ग नहीं है ऐसा मानकर उसके विरुद्ध आचरण करता है और मोक्ष अर्थात् संशय विपर्ययरूप अज्ञानसे मोहित है । वह तीव्रकामी और रागी नीच देवोंमें उत्पन्न होता है ॥१८६॥

भय उत्पन्न करनेके लिये भावनाओंका फल बतलाते हैं—

गा०—रत्नत्रयसे च्युत हुआ व्यक्ति इन भावनाओंसे देवोंमें जो दुष्टगति है उसे प्राप्त करता है । उस देवदुर्गतिसे च्युत होकर अन्तरहित संसार समुद्रमें भ्रमण करता है ॥१८७॥

गा०—इन पाँचों ही भावनाओंको त्याग कर यह धीर यति छठी भावनामें प्रवृत्त होता है । जो पाँच समितियोंको पालता है, तीन गुप्तियोंसे सुशोभित है और सब परिग्रहोंमें आसक्ति रहित है । अर्थात् छठी भावनामें प्रवृत्त होनेके योग्य ऐसा यति ही होता है ॥१८८॥

छठी भावनाको कहते हैं—

'सत्त्वभावना' तपसोऽभ्यासः । 'बुद्धभावना' ज्ञानस्य भावना । 'सत्त्वभावना' अमीकर्यभावना । 'एकत्वभावना' एकत्वभावना । 'विचित्रसत्त्वभावना' च' धृतिबलभावना चेति । 'असंकलिष्टा' पंचविधा' असंकलिष्टा भावनाः पञ्चप्रकाराः । ननु यः ताः पञ्चभावनास्तत्र किमुच्यते 'छठी य भावना चेति' असंकलिष्टभावनात्सत्त्वान्ध्यापेक्षया एकतामारोप्य षष्ठीत्युच्यते । विधेयरूपपेक्षया तपोभावनादिविवेक । अत एव सूत्रकारोऽपि एकतां दर्शयति असंकलिष्टा चि पंचविहा' इति ॥१८९॥

तपोभावना समाधेः कथमुपाय इत्यत्राचष्टे—

तबभावनाए पंचेदियाणि दंताणि तस्स वसमेति ।

इंदियजोगायरिओ समाधिकरणाणि सो कुणइ ॥१९०॥

'सत्त्वभावनाए' तपोभावनाया असंकुवशानत्यागेन द्रव्यभावरूपेण । 'पंचेदियाणि' पञ्चापि इन्द्रियाणि । 'तस्स' तपोभावनारतस्य । 'वसमेति' वसमुपयान्ति । 'यो' यस्मान्, 'दंताणि' दान्तानि निगृहीतवर्षाणि । इदिययोगायरिओ' इन्द्रियाणां शिक्षाविधान्याचार्योऽसौ । 'समाधिकरणाणि' रत्नत्रयसमाधानक्रिया । 'सो' स, 'कुणइ' करति । एतदुक्तं भवति । दान्तानि इन्द्रियाणि तपसा न कामरागमद्वेषानयन्ति । धुधादिभिस्त्वद्दुतास्मा न कामलोचनासुररत्नकोडादी करोत्यादरमिति प्रतीतमेव । ननु चान्तानां प्रवृत्तस्याहारवशेन तद्वर्षाश्रवणे तदासेवाया आदरः नितान्न प्रवर्तते ततोऽप्युक्तमुच्यते तत्रांभ वनया दान्तानांन्द्रियाणांति । इन्द्रियविषय-

शा०—असंकलिष्ट अर्थात् सकलेशरहित भावना भी पाँच प्रकारकी है—तप भावना, श्रुतभावना, सत्त्व भावना, एकत्व भावना और धृतिबल भावना ॥१८९॥

टी०—तपका अभ्यास तप भावना है । ज्ञानकी भावना श्रुतभावना है । निर्भयताकी भावना सत्त्व भावना है । एकत्व भावना और धृतिबल भावना ये पाँच असंकलिष्ट भावना है ।

शंका—ये तो पाँच भावना है तब छठी भावना कैसे कहा ?

समाधान—असंकलिष्ट भावनापना इन सबमे समान है, इस अपेक्षा इनमें एकत्वका आरोप काके छठी भावना कहा है । विशेषकी अपेक्षा तपो भावना आदि भेद होता है । इसीसे ग्रन्थकार भी 'असंकलिष्टा वि पंचविदा' लिखकर एकताको बतलाते हैं ॥१८९॥

तपभावना समाधिका उपाय कैसे है यह कहते है—

शा० द्रव्य और भावरूप तपकी भावनासे पाँचो इन्द्रियाँ दमित होकर उस तप भावना-वालेके वशमें हो जाती हैं । इन्द्रियोंको शिक्षा देनेवाला वह आचार्य रत्नत्रयका समाधान करने-वाली क्रियाएँ करता है ॥१९०॥

टी०—इसका भाव यह है कि तपसे दमित इन्द्रियाँ साधुमें कामराग उत्पन्न नहीं करती । जो भूख आदिसे पीड़ित है वह स्त्रीके साथ रत्नकोडा आदि करनेमें रुचि नहीं रखता यह प्रसिद्ध ही है ।

शंका—जो उपवास आदि करता है उसका आहारके देखनेमें, आहारकी नहीं सुननेमें और उसके सेवनमें अत्यन्त आदर होता ही है । अतः यह कहना अयुक्त है कि तप भावनासे इन्द्रियाँ दमित होती हैं ?

रागकोपपरिणामानां कर्मात्स्वहेतुतया अहितस्वप्रकाशनपरिज्ञानपुरःसरतपोभावनाया विषयसुखपरित्यागात्मकेन जगदनादिना दाम्पत्यानि भवन्ति इन्द्रियाणि । पुनः पुनः सेव्यमार्गं विषयसुखं रागं जनयति । न भावनान्तराप्त-
हितमिति मन्यते ॥१९०॥

तपोभावनारहितस्य दोषमाचष्टे उत्तरप्रबन्धेन सवृष्टान्तोपन्यासेन—

इदियसुहसाउलओ धोरपरीसहपराजियपरस्तो ।

अकदपरियम्म कीवो शुज्जादि आराहणाकाले ॥१९१॥

‘इदियसुहसाउलओ’ इन्द्रियसुखस्वावलम्ब्यते । ‘धोरपरीसहपराजियपरस्तो’ परीचहै धोरः दुःसहः
धुदादिभिः पराजितोऽभिभूत सन् यः पराहमुखतां भवति रत्नत्रयस्य । ‘अकदपरियम्म कीवो’ अकृतं परिकर्म
तपआराधनाया येनासौ अकृतपरिकर्मा । ‘कीवो’ दीन । ‘शुज्जाह’ मुह्यति विचिन्ततामान्भोति । ‘आराहणा-
काले’ आराधनायाः काले ॥१९१॥

अत्र वृष्टान्तमाह—

जोग्गमकारिज्जंतो अस्तो सुहलालिओ चिरं कालं ।

रणभूमीए वाहिज्जमाणओ जह ण कज्जयरो ॥१९२॥

‘जोग्गमकारिज्जंतो’ वाक्, चालन भ्रमणलङ्घनादिका शिक्षां अकार्यमाणः । ‘अस्तो’ अस्वः । ‘सुहलालिओ’
सुखलालित । ‘चिरं कालं रणभूमीए’ युद्धभूमौ । ‘वाहिज्जमाणओ’ वाह्यमानः । ‘जह ण कज्जकरो’ यथा
कार्यं न करोति तथा यतिरपि ॥१९२॥

सुगमन्वान्न व्याख्यायते गायत्रयम तवभावणा—

पुव्वमकारिदजोगो समाधिकामो तहा भरणकाले ।

ण भवदि परीसहसहो विसयसुहे शुच्छिदो जीवो ॥१९३॥

समाधान—इन्द्रियके विषयमें होनेवाले राग द्वेषरूप परिणाम कर्मके आरम्भमे हेतु होते
हैं इसलिये वे अहितकारी हैं । इस परिज्ञानपूर्वक तपोभावनासे किये गये अनशन आदिसे जो कि
विषय सुखके परित्यागरूप है, इन्द्रियाँ दमित होती हैं । बार बार सेवन किया गया विषय सुख
रागको उत्पन्न करता है । किन्तु भावनासे दमित हुआ नहीं करता ॥१९०॥

जो तपभावनासे रहित है उसका दोष वृष्टान्तपूर्वक आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—जो इन्द्रिय सुखके स्वादमे आसक्त है, भूख आदिकी दुःसह परीपहोसे हारकर
रत्नत्रयसे विमुख हुआ है, जिसने परिकर्म-आराधनाके योग्य तप नहीं किया है वह दीन आराधना
के कालमें विचिन्त हो जाता है उसका मन इधर-उधर भटकता है ॥१९१॥

इसमे दृष्टान्त देते हैं—

गा०—जैसे जिस घोड़ेको शब्दके संकेत पर चलने, भ्रमण, लंघन आदिकी शिक्षा नहीं दी
गई है और चिरकाल तक सुखपूर्वक लालन पालन किया गया है वह घोड़ा युद्धभूमिमें सवारीके
लिये ले जाया गया कार्य नहीं करता वैसे ही यति भी जानना ॥१९२॥

आगेकी तीन गाथाएँ सुगम हैं अतः उनकी टीका नहीं है—

जोगर्ग कारिज्जंतो अस्तो दुहभाविदो चिरं कालं ।
 रणभूमीए बाहिज्जमाणओ कुणदि जह कज्जं ॥१९४॥
 पुष्वं कारिदजोगो समाधिकामो तहा भरणकाले ।
 होदि हु परीसहसहो विसयसुहपरम्हो जीवो ॥१९५॥

श्रुतभावनामाहात्म्यं प्रकटयति—

सुदभावणाए णाणं दंसणतवसंजमं च परिणवइ ।

तो उवजोगपइण्णा सुहमच्चविदो समाणेइ ॥१९६॥

'सुदभावणाए'—श्रूयते इति श्रुतमित्यस्या व्युत्पत्तौ शब्दश्रुतमच्यते । तस्य भावना भाम तदर्थविषय-
 ज्ञानासकृतप्रवृत्ति । ननु शब्दश्रुतस्यासकृत्यठन श्रुतभावना स्यात्, ज्ञान ततोऽप्यनिर ? अनौच्यते—श्रुतकार्ये
 ज्ञाने श्रुतशब्दो वर्तते इति । न दोषो वा । गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्तावपि नाशवादी गोशब्दो वर्तते । किन्तु
 रुद्धिवशात्सात्नादिमत्येव । एवमिहापि श्रूयते इति व्युत्पादितोऽपि न सकले श्लोकोपलभ्ये वचनसम्बन्धे प्रवर्तते,
 अपि तु स्वसमयरुद्धिवशाद् गणधरोपरचिते एव । तथैव श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमनमित्ते ज्ञाने एव वर्तते ।
 तस्यास्य श्रुतज्ञानस्य भावनया । 'णाणं वसणतवसजमं च परिणमइ' समीचीनज्ञानदर्शनतप-संयमपरिणति

गा०—जिसने पूर्व कालमे तप नहीं किया और विषय सुखमे आसक्त रहा वह जीव मरते
 समय समाधिकी कामना करता हुआ उस प्रकार परीषहकी सहन करनेवाला नहीं होता ॥१९३॥

गा०—जैसे योग्य शिक्षाको प्राप्त अथवा चिरकाल तक दुःखसे भावित हुआ, अर्थात् कष्ट
 सहनेका अभ्यासी युद्धभूमिमे सवारीमे ले जाने पर कार्य करता है ॥१९४॥

गा०—उसी प्रकार पूर्वमें तप करनेवाला विषय सुखसे विमुख जीव मरते समय समाधिका
 इच्छुक हुआ निश्चयसे परीषहको सहनेवाला होता है ॥१९५॥

श्रुतभावनाका माहात्म्य प्रकट करते हैं—

गा०—श्रुतभावनासे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, तप और सयमरूप परिणमन करता है ।
 ज्ञान भावनासे उपयोगकी प्रतिज्ञाको सुखपूर्वक अचलित होता हुआ समाप्त करता है ॥१९६॥

टी०—'श्रूयते' जो सुना जाता है वह श्रुत है 'ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर श्रुतसे शब्दश्रुत
 कहा जाता है । उसकी भावनाका मतलब है—शब्दके अर्थविषयक ज्ञानमें बार-बार प्रवृत्ति करना
 अर्थात् उसका अभ्यास करना श्रुतभावना है ।

शंका—शब्दरूप श्रुतका बार-बार पढ़ना श्रुतभावना है । ज्ञान उससे भिन्न है ?

समाधान—श्रुतका कार्य ज्ञान है अतः उसे भी श्रुतशब्दसे कहते हैं । इसमें कोई दोष
 नहीं है । जो 'गच्छति' चलती है वह गौ है ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर भी अथवा आदिको 'गौ' शब्दसे
 नहीं कहा जाता । किन्तु रुद्धिवश गलकम्बलवाले पशुको ही गौ कहा जाता है । इसी प्रकार
 यहाँ भी 'श्रूयते' जो सुना जाता है वह श्रुत है ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर भी कानसे जो कुछ वचन
 समूह सुना जाता है उस सबको श्रुत नहीं कहते । किन्तु अपनी आगमिक रुद्धिवश, गणधरके
 द्वारा रचे गये शब्दसमूहको ही श्रुत कहते हैं । उसी प्रकार श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमके निमित्त-
 से होनेवाले ज्ञानको ही श्रुत कहते हैं । उस श्रुतज्ञानकी भावनासे समीचीनज्ञान दर्शन तप और

प्रतिपद्यते। ज्ञानभावनापरो ज्ञानपरिणतो भवतु कथमती दर्शनादी परिणामान्तरे प्रवृत्तो भवति ? न हि क्रोध-परिणतो मायायां प्रवृत्तो भवतीति चेन्नैव दोषः। यथाज्ञान्तरीयकं तस्मिन्सति तद्भवत्येव सदधिकरणे तथा कृतकत्वैःप्रतिपद्यते। ज्ञानं चान्तरेण न भवन्ति सम्यग्दर्शनादयः। अत्रैवं बौद्धं—असंयतसम्यग्दृष्टेरस्ति ज्ञानं तस्य तपःसंयमी किमु ततः ? संयमसद्भावे कथमसंयतता ? तस्मान्न तौ स्तः। कथमिदं सूत्रं ? नायमस्य सूत्र-स्थार्थो ज्ञानभावनायां सत्यां भवत्येव सर्व एव इति, किन्तु ज्ञानभावनायां सत्यामेव प्रवृत्ति नासत्याम्। तपः-संयमी कार्यत्वेन स्थितौ चारित्र्यमोहलपोपशमविशेषसहायापेक्षिणा ज्ञानेन प्रवर्त्यते, न चावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति। धूममजनयतोऽग्नेदर्शनात् काष्ठच्छापेक्षस्य। 'तौ' ततः ज्ञानभावनातः। 'उत्तमोपविष्णां' ज्ञानदर्शनतपःसंयमपरिणामप्रवृत्ते प्रवर्तयाम्यात्मानं इति या उपयोगप्रतिज्ञा तां। 'सुहृ' अन्वेषेण। 'समाप्तेषु' समापयति। 'अच्छाविबो' अचलितः ॥१९६॥

जदुणाए जोगपरिभाविदस्स जिणवयणमणुगदमणस्स।

सदिलोवं कादुं जे ष चर्याति परीसहा ताहे ॥१९७॥

'जदुणाए' मत्नेन। 'जोगपरिभाविदस्स' युज्यते अनेन अनशानदिना निर्जरायं यतिरिति ब्राह्म तपः

संयमरूप परिणतिको प्राप्त होता है।

शंका—जो ज्ञानभावनामें लीन है वह ज्ञानरूप परिणत होता है किन्तु वह दर्शन आदि अन्य परिणामरूप परिणत कैसे हो सकता है ? जो क्रोध रूपसे परिणत है वह मायारूपसे परिणत नहीं हो सकता ?

समाधान—यह दोष उचित नहीं है। जो जिसके बिना नहीं होता वह उसके होनेपर अवश्य होता है। जैसे जो बनाया हुआ है वह अनित्य अवश्य है। ज्ञानके बिना सम्यग्दर्शन आदि नहीं होते।

शंका—यहाँ यह तर्क होता है कि असंयत सम्यग्दृष्टीके ज्ञान है तब क्या उसके तप और संयम है ? यदि संयम है तो वह असंयत कैसे है ? अतः उसके तप और संयम नहीं है ? तब यह सूत्रगाथा कैसे ठीक है ?

समाधान—इस सूत्रगाथाका यह अर्थ नहीं है कि ज्ञानभावनाके होनेपर सब तप संयम आदि होते ही हैं। किन्तु ज्ञानभावनाके होनेपर ही होते हैं, उसके अभावमें नहीं होते। तप और संयम कार्य हैं अतः चारित्र्यमोहके क्षयोपशम विशेषकी अपेक्षा सहित ज्ञानके होनेपर होते हैं। कारणके होनेपर कार्य अवश्य होता ही है ऐसा नियम नहीं है। काष्ठ आदिकी आग बिना धूमके भी देखी जाती है।

ज्ञानभावनासे उपयोग प्रतिज्ञाको बिना क्लेशके अचल होकर समाप्त करता है—पूर्ण करता है। 'मैं ज्ञान दर्शन तप संयमरूप परिणामोंमें अपनेको प्रवृत्त करता हूँ' यह उपयोग प्रतिज्ञा है ॥१९६॥

शा०—तब यर०से अपनेको तपसे भावित करनेवालेके तथा जिनागमके अनुगत चित्तवालेके स्मृतिका लोप करनेमें परीषह समर्थ नहीं होती ॥१९७॥

टी०—यति निर्जराके लिए इस अनशन आदिसे 'युज्यते' युक्त होता है वह योग है। इस

योगशास्त्रेणाभ्यस्यते । तेनायमर्थः । तपसा भावितस्येति । 'जिन्नवचनानुगतर्षतसः । 'स्रक्षिन्नेषु' स्मृतिलोपः । रत्नत्रयपरिणामप्रबन्धसम्पादनोद्योगस्य स्मृतिर्था तस्या विनाशः । 'कार्त्तिके' कर्तुः । 'न चर्षति' न शक्यनुवृत्तिः । के ? परिस्सद्धा' क्षुधादिवेदनाः । 'ताहे' तवा । एतदुक्तमनया माधया—अभ्यस्यमानं श्रुतज्ञानं निर्मल पटोयो भवति । पाटवाभ्यासबलेन च स्मृतिरक्षेदेन प्रवर्तते । स्मृतिमूलो हि योगो वाक्काय-व्यापार इति । सुखं भवं ॥१९७॥

सत्त्वभावनाया गुणं स्तोति उत्तरमाधया—

देवेहिं भीसिदो वि दु कयावराचो व भीमरूवेहिं ।

तो सत्त्वभावणाय वहइ भरं णिब्भओ सयलं ॥१९८॥

बहुसो वि जुद्धभावणाय ण भडो दु भुज्झदि रणम्मि ।

तह सत्त्वभावणाय ण भुज्झदि भुणी वि उवसग्गे ॥१९९॥

'देवेहिं' देवैस्नासितोऽपि । सु स्फुटं । कृतापराधोऽपि भीमरूपे । वा अथवा । सो ततः । सत्त्वभाव-
नया मोडदुःखात् । 'बहुइ भरं णिब्भओ सयलं' वहति भरं सयमस्य निर्भयः सकलं । मृतेर्भीमरूपदर्शनाच्च
भीतिशयजायते । भीतस्य प्रच्युतरत्नत्रयस्य तदतिदुरवार्यं । तदनवाप्त्या न कर्म निर्मूलनं शक्यं कर्तुं । अना-

व्युत्पत्तिके अनुसार यहाँ योग शब्दसे बाह्य तप कहा है । अत 'जोगपरिभाविदस्स' का अर्थ तपसे
भावित होता है । जो यत्नपूर्वक तप करता है और अपने चिन्तको जिनागमका अनुसारी बनाता
है उसकी स्मृतिका—अर्थात् रत्नत्रयरूप परिणामोंके प्रबन्ध सम्पादनमें उद्योग करनेकी जो
उसकी स्मृति है कि मुझे रत्नत्रयरूप परिणामोंको सम्पन्न करनेमें उद्योग करना है उस स्मृतिक
लोप परीषह नहीं कर सकतीं । इस गाथासे यह कहा है कि सतत अभ्यास करनेसे श्रुतज्ञाना
निर्मल और प्रबल होता है । प्रबल अभ्यासके बलसे स्मृति विना खेदके अपना काम करती है ।
योग अर्थात् वचन और कायके व्यापारका मूल स्मृति है ॥१९७॥

श्रुतभावनाका कथन समाप्त हुआ ।

आगेकी गाथासे सत्त्वभावनाके गुणका कथन करते हैं—

शा०—देवोंके द्वारा पीड़ित किया गया भी अथवा भयंकर जीवोंके द्वारा सताया गया
यति सत्त्वभावनाके द्वारा दुःख सहन करनेसे निडर होकर संयमके समस्त भारको वहन करता
है ॥१९८॥

टो०—भरणसे और भयंकररूपके देखनेसे भय उत्पन्न होता है । डरकर यदि रत्नत्रयको
छोड़ बैठा तो पुनः उसको प्राप्ति बहुत कठिन है । और रत्नत्रयको प्राप्त किये विना कर्मका
निर्मूलन करना शक्य नहीं है । तथा कर्मोंका विनाश न होनेपर वे आत्माको नाना प्रकारके कष्ट
देते हैं । इसलिए भय ही अनेक अनर्थोंका मूल है ऐसा निश्चय करके सबसे पहले भयको ही
भगाना चाहिए ॥१९८॥

शा०—अनेक प्रकारकी भी युद्ध सम्बन्धी भावनासे जैसे योद्धा युद्धमे नहीं ही मोहित
होता अर्थात् युद्धसे नहीं डरता । वैसे ही मुनि भी सत्त्वभावनासे उपसर्ग आनेपर मोहित नहीं
होता ॥१९९॥

सावितप्रलयानि च कर्माणि विचित्र यातयन्त्यास्मान् । ततो भीतिरेवानेकानर्भमूलमिति निश्चिदथ सा प्रागेव
गिरसनीया । तथाहि—॥१९९॥

खण्णुत्तावणवालणवीयणविच्छेयणावरोहत्सं ।

चित्तिय दुहं अदीहं मुज्झदि णो सत्त्वभाविवो दुक्खे ॥२००॥

बालमरणाणि साहू सुचित्तिदूणप्पणो अर्णताणि ।

मरणे समुट्ठिए विहि मुज्झइ णो सत्त्वभावणाणिरदो ॥२०१॥

पृथिवीकायिकाः सन् खननदहनविलेखनकुट्टनभञ्जनलोलनपेषणचूर्णनादिभिर्बाधा परिप्राप्तोऽस्मि ।

अपश्च शरीरत्वेनोपादाय धर्मरक्षिकरनिकरापातेन, बहनज्वालाकलापकबलिततनुतया पर्वतदरीसमुन्मत्त-
देशेभ्योऽतिवेगं श्लेष्माघनवसुम्भरासु पतनेन, आम्ललवणक्षारादिरससमवेतद्रव्यतन्निमग्नयेन, धगधगायमानेऽज्जो
प्रक्षेपणेन, तप्तदंशिलापातेन पावकरतलाभिघातेन, तरणंघतानां विशालचनोर स्थलावपीडनेन, अवलोकमान-
महानागतरणमग्जनहस्तक्षोभणादिना व महती वेदना अधिगतोऽस्मि ।

तथा ममीरणं तनुतया परिगृह्य द्रुमगुल्मशिलोच्चयादीनां प्राणभृता नितान्तकठिनकायाना चाभिघातेन
समीरणान्मगावमर्द्दनेन, उवलनस्पर्शनेन च दुःखासिकामनुभूतोऽस्मि ।

तथा त्रिगृहीताग्निशरीरो विध्यापनेन पाभुभस्मसिकतादिप्रक्षेपणेन, गुशलमात्रजलधारापातेन, दण्ड-
काट्यादिभिस्ताडनेन, लोष्ठपाषाणादिभिश्चूर्णनेन प्रभञ्जनभञ्जनेन विपदमाश्रितोऽस्मि ।

फलपलाशपल्लवकुमुभादिकाय स्वीकृत्य श्राटनभक्षणमर्दनपेषणदहनविभिस्तथा गुल्मलतापादादिक

गा०—खोदना, जलना, बहना छेदना, रोपनाको विचारकर सत्त्वभावनायुक्त मुनि दुःखमे
अल्पकालीन दुःखसे मोहित नहीं होता अर्थात् नहीं डरता ॥२००॥

गा०—सत्त्वभावनामे लीन साधु अपने अनन्त बालमरणोंको सम्यकरूपसे विचारकर
मरणके उपस्थित होनेपर भी मोहित नहीं होता ॥२०१॥

टी०—पृथ्वीकायमे जन्म लेकर मैंने खोदने, जलने, जोतने, कूटने, तोड़ने, लोटने, पीसने
और चूर्णकी तरह पीसे जानेका कष्ट उठाया है । जलको शरीररूपसे ग्रहण करके मैंने सूर्यकी
किरणोंके समूहके गिरनेसे, आगकी ज्वालाके समूहके द्वारा भेरे शरीरको निगल लेनेसे, पर्वतकी
गुफा जैसे ऊँचे स्थानोंसे शिला और कठोर पृथिवी पर अतिवेगसे गिरनेसे, खट्टे, नमकीन, खारे
आदि रसोंसे युक्त द्रव्योंके मिलनेसे, धक्-धक् जलती हुई आग पर फेंकनेसे, वृक्ष, किनारे और
शिलाओंके गिरनेसे, पैर और हथेलीके अभिघातसे, तरनेमें उद्यत मनुष्योंके विशाल और दृढ़
छातीसे पीड़ित होनेसे, विशालकाय हाथियोंके तरने डूबने और सूडके द्वारा क्षोभित होनेसे मैंने
बड़ी वेदना भोगी है । तथा वायुको शरीररूपसे ग्रहण करके वृक्ष, झाड़ी, पर्वत आदि प्राणियोंकी
अत्यन्त कठोर कायाके अभिघातसे, दूसरी वायुके द्वारा दबाये जानेसे, और आगके स्पर्शनेसे मैंने
दुखोंका अनुभव किया है । तथा अग्निको शरीररूपसे ग्रहण करके बुझानेसे, धूल भस्म रेत आदि
भेरे ऊपर फेंकनेसे, मूसल जैसी जलधारा डालनेसे, दण्ड काष्ठ आदिसे पीटनेसे, लोष्ठ पत्थर आदि
से चूर्णित करनेसे और वायुसे पीड़ित होनेसे मैं विपत्तियोगका स्थान बन चुका हूँ । फल, पलाश,
पत्र, फूल आदिके शरीरको स्वीकार करके तोड़ना, खाना, मलना, पीसना और जलाने आदिसे

मनुष्य के चर्चने, भेदने नोतराटने, रोहने, कर्षणे, दहने व क्लेशभाजनतामपयातोऽस्मि ।

तथा कुम्भपिपीलिकादिनसो भूत्वा बेगप्रयायिरथचक्राक्रमणेन, खरतुरगादिपक्षधरुसस्ताडनेन, अल-
प्रवाहकर्मचर्चने, शवानलेन, हृमपाशावाविपलनेन, मनुजचरणवामर्हनेन, बलवता भक्षणने च चिरं क्लिष्टोऽस्मि ।

तथा शरकरमबलीवर्षाविभाषमापद्य गुरुतरभारारोपणेन, बन्धनेन, कर्कशतरकषादण्डमुशालिताड-
वैभाहारविरोधनेन, शीतोष्णवातादिसंपातेन, कर्षणछेदनेन, दहनेन, नासिकाबंधने, विदारणेन, परस्वादिनि-
विधासिभारप्रहारेण चिरमुपद्रुतोऽस्मि । तथा भ्रमपादं, क्लृप्तया ध्याप्यभिभवने वा पतित इतस्तत् परा-
वर्त्तमानं, क्रूरतपस्याभ्रभृवाल्लस्यारमेवाविभिर्भक्ष्यमाणं, काकगुध्रकङ्कूादिभिः कवलीक्रियमाणं, तरलतरतार-
काक्षिगुणं, कस्यातुमासीत् । ततो यतो गुरुतरभारोदहनजातक्वथितव्रणसमुद्भवहृमिकुलेन, काकादिभिश्चा-
भारसमुपद्रुतोऽस्मि ।

तथा मनुजभवेऽपि करणवैकल्याद्द्वारिद्रघादसाध्यव्याध्नुपनिपातात्, प्रियालाभादप्रिययोगात्परप्रैष्यकरणा-
स्परपरान्धनात्, इविचार्यनासया दुष्करकर्मदानमूलघटकर्मोद्योगाच्च, विचित्रा विपद्यमुगतोऽस्मि ।

तर्ष्वामरभवेऽपि दूरमपसर लघु प्रयाहि, प्रभोः प्रस्थानबेला वर्तते, प्रयाणपटहू ताडय, ध्वज धारय,
हृत्वाश्वेभीक्ष्णं पाळ्य, तिष्ठ स्वामिनोऽभिलषितेन बाहनरूपेण, किं त्वस्मृतोऽस्य नैतल्पपुण्यपथशतमस्य दासे-
रतां वपुष्मीं तिष्ठसि । पुरो न धावसीति देवमहत्तरपक्षतरभारतोऽगलाकानां श्रवणतोऽनेन शतमुत्तान्त-

तथा शार्दी, बेल, वृक्ष आदिको छेदने, भेदने, उखाड़ने, खींचने और जलानेसे मैं क्लेशका पात्र
बना हूँ ।

तथा कुम्भु चीटी आदि त्रस पर्यायिको धारण करके वेगसे जाते हुए रथके पहियेके आक्रमण-
से, गधे घोड़े आदिके कठोर खुरके आघातसे, जलके प्रवाहके खिंचावसे, जगलकी आगसे, वृक्ष, पत्थर
आदिके गिरनेसे, मनुष्यके चरणोंसे रोंदे जानेसे और बलवानोंके द्वारा खाये जानेसे मैंने चिरकाल
तक कष्ट भोगा है । तथा गधा ऊँट बेल आदिका शरीर धारण करके भारी बोझा लादनेसे,
सवारी करनेसे, बाँधनेसे, अत्यन्त कठोर कोड़े, दण्डे, और मूसल आदिसे पीटनेसे, भोजन न देनेसे,
शीत उष्ण वायु आदिके चलनेसे, कान छेदनेसे, जलानेसे, नाक छेदनेसे, परशु आदिसे काटनेसे,
सीस्य तलवारकी धारके प्रहारसे मैंने चिरकाल उपद्रव सहें हैं । तथा पैर टूट जाने पर, कमजोर
होनेसे अथवा रोगसे पीड़ित होनेसे गिर पड़ने पर, इधर-उधर घूमने पर अतिक्रूर व्याघ्र, सियार,
कुत्ते आदिसे खाये जाने पर, कौबे, गिद्ध, कंक आदि पक्षियोंके द्वारा अपना आहार बनाये जाने पर,
जाबोसि आँसू बहाते हुए भी कौन मेरी रक्षा करता था । अतः भारी बोझा लादनेसे उत्पन्न हुए घाबो
में पैदा हुए कीटाँसे और उनको खाने वाले कौबोसि मैं निरन्तर सताया गया हूँ । तथा मनुष्यभ्रममें
भी इन्द्रियोंकी कमी होनेसे, गरीबीसे, असाध्य रोगके होनेसे, इष्ट वस्तुके न मिलनेसे, अप्रियके संसर्गसे
दूसरेकी चाकरी करनेसे, दूसरेके द्वारा तिरस्कृत होनेसे, घन कमानेकी इच्छासे दुष्कर कर्मबन्धके
कारण बट्कर्मोंको करनेसे अनेक प्रकारकी विपत्तियोंको मैंने भोगा है । उसी प्रकार देवपर्यायमे
भी—दूर हटो, लक्ष्मी चलो, स्वामीके प्रस्थान करनेका समय है । प्रस्थान करनेके नगारे बजाओ,
ध्वजा लो, निराश देवियोंकी देखभाल करो, स्वामीको इष्ट बाहनका रूप धारण करके खड़े रहो,
ज्या अति पुण्यशाली इन्द्रकी दासताको भूल गये जो चुपचाप खड़े हो, आगे नहीं दौड़ते । इस

पुण्यप्रतिभ्रमविलोकनोद्भूतमित्थावध्वजनिवृत्तसन्तापेन चण्णासावस्थितेरायुषः परिज्ञानेन च महदुद्वेष्टादि दुःखं । एवं मरकमयेपि । इत्यमनन्तकालमनुभूतदुःखस्य मम को विचारो, दुःखोपनिपातो । न च विपण्यं स्वयन्वित्त दुःखानि, स्वकारणायससन्निधानानि तान्नीति सत्त्वभावना । यद्यश्नुमशरीरवर्णनात् भीतिः सापि नो युक्ता । सति शरीरस्य असङ्गमया गृहीतानि वृष्टानि च । का तत्र परिचित्तैवो भीतिरिति चित्तस्थितीक्रिया सत्त्व-भावना ॥२०१॥

एयसभावणात् च कामभोगे गणे शरीरे वा ।

सज्जह वेरगमणो फासेदि अणुत्तरं धम्मं ॥२०२॥

एकत्वभावना नाम जन्मजरामरणानुत्तिवृत्तितदुःखानुभवने न दुःखं मदीयं संविभ्रजति कश्चित् । दुःख-संविभ्रजनगुणेन स्वजन इत्यनुरागः तदकरणेन च परजन इति च द्वेषो भूयते । न वेदस्ति सुखं मय्याथागु-मक्षमः इति न तत्सुखेनापि स्वजनपरजनविभेदः । तस्मादेक एवाहं न मे कश्चित् । नाप्यहं कस्यचित्चित् चिन्ता कार्या । तस्या गुणमाचष्टे 'एवसभावणात्' एकत्वभावना हेतुभूतया । 'न सज्जहि' नासन्नित् करोति । च ? कामभोगे, गणे शिष्याविवर्गे, शरीरे वा सुखे वा । कामं स्वच्छया भूयन्ते इति काम-भोगाः । सुखसाधनतया संकल्पितभक्तपानादयो वामलोचनाविवर्गश्च तत्र न संघं करोति । बाह्यव्यसंसर्ग-

प्रकार देवोंके प्रधानोंके अति कठोर वचन रूपी कीलोंसे कानोंके छेदनेसे, इन्द्रके अन्तपुरकी देवांग-नाओंके प्रचुर विलासको देखकर उत्पन्न हुई ऐसी सुन्दर देवांगनाओंकी अभिलाषारूपी आगसे उत्पन्न हुए संतापसे, और आयुके छह मासके शेष रहनेके परिज्ञानसे महान दुःख होता है । इसी प्रकार नरक पर्यायमें भी जानना । इस प्रकार मैंने अनन्तकाल दुःखका अनुभव किया है । तब दुःख आने पर विषाद क्यों ? विषाद करनेसे दुःख छोड़ता नहीं है । दुःख तो अपने कारणोंके होने-से होता है । यह सत्त्वभावना है । यदि अशुभ शरीरके देखनेसे भय होता है तो वह भी ठीक नहीं है । ऐसे शरीर मैंने बहुत बार धारण किये हैं और देखे हैं । परिचित्तोंसे भय कैसा ? इस प्रकार चित्तको स्थिर करना सत्त्वभावना है ॥२०१॥

शा०—एकत्व भावनासे कामभोगमें, संघमें अथवा शरीरमें आसक्ति नहीं करता । वैराग्य-में मन रमाये हुए सर्वोत्कृष्ट चारित्रको अपनाता है ॥२०२॥

टी०—एकत्व भावनाका स्वरूप इस प्रकार है—जन्म, जरा, और मरणके बार-बार होने-से उत्पन्न हुए दुःखको भोगनेमें कोई मेरे दुःखमें भाग नहीं लेता । अतः दुःखमें भाग लेनेसे यह स्वजन है इसलिए उसमें अनुराग और जो दुःखमें भाग नहीं लेता वह परजन है इसलिए उससे द्वेष करना उचित नहीं है । यदि कोई दुःखमें भाग नहीं लेता तो मुझमें सुख ही पैदा करदे सो भी बात नहीं है । अतः जो मुझमें सुख पैदा करे वह स्वजन है और जो सुख पैदा नहीं करता वह पर-जन है ऐसा भेद सुखको लेकर भी नहीं होता । अतः मैं अकेला ही हूँ । कोई मेरा नहीं है । और न मैं ही किसीका हूँ ऐसा विचार करना चाहिए । उसका लाभ कहते हैं कि एकत्व भावनासे काम भोगमें, शिष्यादिके समूहरूप गणमें, शरीर अथवा सुखमें आसक्ति नहीं होती ।

'काम' अर्थात् अपनी इच्छासे जो भोगे जाते हैं वे कामभोग हैं । सुखका साधन होनेसे मनमें संकल्पित ज्ञान-मान आदि और स्त्री आदि वर्ग कामभोग हैं । उसमें वह आसक्ति नहीं

बलिताः प्रीतिविशेषाः सुखसम्बन्धाभ्यास्ते तृष्णानेवातिशयवती आनयन्ति चेतोभ्यामुक्तकारिणीं, न चेतःस्वास्थ्यं संप्राप्तयिष्युमीशा इति । न तु उपयोग्याः कामभोगा, रत्नत्रयसंपत्तिरेव जनस्त्योपयोगिनी, न तथा भोगसंपदा-स्माकं किञ्चिदस्ति कृत्यं । मदीयपरिणामावलंबिनी हि बन्धमोक्षी भव । ततः किं तेन गणेन । शरीरसम्ब-किञ्चित्करं । न चेतःकर्मणि किञ्चिदुत्तुम् । बाह्यं जीवाजीवात्मक द्रव्य रागकोपनिमित्तं, इद्रमुपकारकमु-पकारकमिति वा संकल्प्यमान नान्यथा । ततः संकल्पमीदृग्भूत विहाय शुद्धात्मस्वरूपज्ञानपरिणामप्रबन्धः बल-हायात्मस्वरूपविषय इति एकत्वभावनोच्यते । सत्यामस्यां न क्वचित्सङ्गः ततः 'वेदम्यथैवे' वैराध्यमुपगतः । 'कासैह' स्पृशति । 'अनुत्तरं बन्धं' अतिशयिन्तं न्यस्तं । 'एतेन' संसारबीजस्य सङ्गस्य निवृत्तिरक्षेपकर्मापाय-हेतोश्चारित्रस्य च शशि गुण एकत्वभावनाजन्म' इत्याख्यातं भवति । एकत्वभावना मोहमज्ञानरूपं अप्यपनयति यथा जिनकल्पको निरस्तमोहः संबुतः ॥२०२॥

भयणीए विघम्भिज्जंतीए एयत्तभावणाए जहा ।

जिणकप्पिदो ण मूढो खवओ वि ण मुज्झइ तथेव ॥२०३॥

यथा जिनकल्पको जिनकल्पकं प्रपन्नो नागदत्तो नाम मुनिर्भगिन्यामद्योग्यं कारयन्त्यामपि एकत्वभाव-नया । 'न मूढो' मोहं न गतः । तथैव क्षपकोऽपि न मुह्यतीति गाथायं । एकत्वभावना ॥२०३॥

पञ्चमी धृतिबलभावना दुःखोपनिपात अकातरता धृतिः । संव बलं धृतिबलं तस्य भावनाम्यासः अस-कृदकातरतया वृत्तिः । तथा धृतिबलभावनया दुःखवपरीशहृचम्या मुच्यतीति निगदति—

करता । बाह्य पदार्थके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए प्रीति विशेषको सुख गन्धसे कहते हैं । वे चित्तको व्याकुल करने वाली अति तृष्णाको ही पैदा करते हैं । वे चित्तको स्वस्थ करनेमें समर्थ नहीं हैं । कामभोग भोगने योग्य नहीं हैं । रत्नत्रयरूप संपत्ति ही मनुष्यके लिए उपयोगी है । उस भोग-सम्पदासे हमें कुछ नहीं करना है । मेरे परिणामों पर अवलम्बित बन्ध और मोक्ष ही मेरे हैं । अत-गणसे मुझे क्या ? शरीर भी अकिञ्चित्कर है । यदि ऐसा न होता तो कर्म क्या करते । बाह्य जीव अजीव आदि द्रव्योंमें यह उपकारक है और यह उपकारक नहीं है । ऐसा संकल्प करनेसे ही राग-द्वेष होते हैं, और संकल्प न करनेसे नहीं होते । इसलिए इस प्रकारका संकल्प त्यागकर शुद्ध आत्म स्वरूपके ज्ञानरूप परिणामोंका प्रबन्ध और परकी सहायतासे रहित आत्म स्वरूपका चिन्तन एकत्व भावना कहाता है । उसके होने पर किसी भी पदार्थमें ममत्व नहीं होता । अतः वैराग्य धारण करके उत्कृष्ट चारित्रको अपनाता है । इससे यह कहा है कि संसारका बीज जो ममत्वभाव है उससे निवृत्ति और समस्त कर्मके विनाशका कारण जो चारित्र है उसकी प्राप्ति एकत्व भावना-से होने वाले गुण हैं । एकत्व भावना अज्ञानरूप मोहको भी दूर करती है । जैसे जिनकल्पी मोहको दूर करते हैं ॥२०२॥

गा०—जैसे अयोग्य आचरण करनेवाली अपनी बहनमें जिनकल्पको धारण करनेवाला नागदत्त नामक मुनि एकत्व भावनासे मोहको प्राप्त नहीं हुआ । वैसे ही क्षपक भी मोहको प्राप्त नहीं होता ॥२०३॥

एकत्व भावना समाप्त हुई । पाँचवी धृतिबल भावना है । उसका अर्थ है दुःख आनेपर कातर नहीं होना । धृति अर्थात् धैर्य ही हुआ बल । उसकी भावना अर्थात् अभ्यास, निरन्तर कात-

कसिणा परीसहचमू अञ्चुहुइ जइ वि सोवसग्गावि ।

दुद्धरपहकरवेगा भयजणणी अण्यसत्ताणं ॥२०४॥

'कसिणा' कृत्वा । 'परीसहचमू' परीषट्सेना क्षुदादिद्राविषत्रिदुःखपूतनेति यावत् । 'अञ्चुहुइ' भामि-
मुख्येनोत्तिष्ठति । 'जइवि' यद्यपि 'सोवसग्गा वि' चतुर्विधेनोपसर्गेण सह वर्तमानापि । 'दुद्धरपहकरवेगा' दुर्धर-
संकटवेगा । 'अण्यसत्ताणं भयजणणी' अल्पसत्त्वाना भयजननी ॥२०४॥

धिदिभणिदवद्धकच्छो जोषेइ अणाइलो तमच्चाई ।

धिदिभावणाए सरो संपुण्णमणोरहो होई ॥२०५॥

'सं' तां पुतनां । 'जोषेइ' योधयति । कया सह ? 'धिदिभावणाए' धृतिभावनया । क ? 'धिदिभणि-
दवद्धकच्छो' धृत्या नितरा ददकक्ष । 'सरो' शूर । 'अणाइलो' अनाकुलो विक्रमवान् । फलमाचष्टे तस्य
'संपुण्णमणोरहो होई' संपूर्णमनोरथो भवति ॥२०५॥

एयाए भावणाए चिरकालं हि विहरेज्ज सुद्धाए ।

काऊण अत्तसुद्धिं दंसणणाणे चरिसे य ॥२०६॥

'एयाए भावणाए' एतया पञ्चप्रकारया भावनया सह । 'चिरकालं विहरेज्ज' चिरं प्रवर्तते । 'सुद्धाए'
शुद्धया । 'काऊण' कृत्वा । 'अत्तसुद्धिं' आत्मशुद्धिं । 'दंसणणाणे चरिसे य' रत्नत्रये निरतिचारो भूत्वा ॥२०६॥

व्यावर्णितभावनानन्तरा सल्लेखनेत्यधिकारसंबन्धमाचष्टे—

एवं भावेमाणो भिक्खु सल्लेहणं उवक्कमइ ।

णाणाविहेण तवसा वज्जेणमंतरेण तथा ॥२०७॥

एवं भावेमाणो 'एवं' उक्तेन प्रकारेण 'भावेमाणो भावनापरः । 'भिक्खु सल्लेहणं' सल्लेखनां तनू-
करण । 'उवक्कमइ' प्रारभते । केन ? 'णाणाविहेण' नामाप्रकारेण । 'तवसा' तपसा 'वज्जेणमंतरेण तथा'

रता रहित वृत्ति । उस धृति बल भावनासे दुःखदायी परीषहकी सेनासे मुनि युद्ध करता है, यह कहते हैं—

शा०—दुःखदायी संकटके वेग सहित, अल्प शक्तिवालोंको भय पैदा करनेवाली भूख आदि बाईस परीषहोंकी समस्त सेना जिसके साथमें चार प्रकारके उपसर्ग भी हैं, यदि सम्मुख खड़ी हो ॥२०४॥

शा०—वेयके साथ हड़तापूर्वक कमरको बाँधनेवाला शूर विना किसी घबराहटके धृति भावनासे उस सेनासे अत्यन्त युद्ध करता है । फलस्वरूप उसका मनोरथ सम्पूर्ण होता है ॥२०५॥

शा०—इस शुद्ध पाँच प्रकारकी भावनासे आत्माकी शुद्धि करके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयमें चिरकालतक विहार करना चाहिए ॥ २०६॥

भावनाओंका वर्णन करनेके अनन्तर सल्लेखना अधिकारके साथ उनका सम्बन्ध कहते हैं—

शा०—उक्त प्रकारसे भावना भानेवाला भिक्षु नाना प्रकारके बाह्य और अभ्यन्तर तपसे सल्लेखनाको प्रारम्भ करता है ॥२०७॥

बाह्याभ्यन्तरेण च ॥२०७॥

भेदमकृत्वा व्यावर्णमित्युं अणव्या सल्लेखनेति भेदमाचष्टे—

सल्लेख्या य दुविहा अर्धमंतरिया य बाहिरा चैव ।

अर्धमंतरा कस्तायेसु बाहिरा होदि ह् सरीरे ॥२०८॥

'सल्लेख्या य दुविहा' सल्लेखना च द्विप्रकारा । 'अर्धमंतरिया य बाहिरा चैव' अभ्यन्तरा बाह्या चेति । 'अर्धमंतरा कस्तायेसु' अभ्यन्तरा सल्लेखना क्रोधादिकषायविषया । 'बाहिरा होदि ह् सरीरे' बाह्या भवति सल्लेखना शरीरविषया ॥२०८॥

बाह्यसल्लेखनोपायनिरूपणार्थं उत्तरप्रबन्ध—

सञ्चे रसे पणीदे णिज्जहिता दु पत्तलुक्खेण ।

अण्णदरेणुवधाणेण सल्लिहइ य अप्पयं कमसो ॥२०९॥

'सञ्चे रसे' सर्वांतरसान् । प्रकर्षं नीत्ता. प्रणीताः तान् अतिशयवत्' इत्यर्थं सुसंस्कृतान् बलवर्द्धनानि-
त्यर्थः । 'णिज्जहिता' त्यक्त्वा । 'अण्णदरेणुवधाणेण' अन्यतरेणावग्रहेण । 'अप्पयं' आत्मानं शरीरं । 'कमसो'
क्रमशः । 'सल्लिहइ' तनूकरोति ॥२०९॥

बाह्यं तपो व्याचष्टे—

अणसण अवमोयरियं चाओ य रसाण वुत्तिपरिसंखा ।

कायकिलेसो सेज्जा य विविता बाहिरतवो सो ॥२१०॥

'अणसणं' अनशनं । 'अवमोयरियं' अवमोदर्यं । 'चाओ य रसाणं' त्यागो रसाना । 'वुत्तिपरिसंखा'
वृत्तिपरिसंख्यानं । 'कायकिलेसो' कायक्लेशः । 'सेज्जा विविता' विविन्नतशय्या । 'बाहिरतवो सो' बाह्य
तपस्वत् ॥२१०॥

तत्र अनशनतपोभेदनिरूपणार्थां गाथा—

अद्धाणसणं सच्च्वाणसणं दुविहं तु अणसणं भणियं ।

विहरंतस्स य अद्धाणसणं इदरं च चरिमंते ॥२११॥

भेद किये विना सल्लेखनाका वर्णन करना अशक्य है इसलिए पहले उसके भेद कहते हैं—
शा०—सल्लेखनाके दो भेद हैं अभ्यन्तर और बाह्य । अभ्यन्तर सल्लेखना क्रोध आदि
कषायकी होती है, बाह्य सल्लेखना शरीरके विषयमें होती है ॥२०८॥

बाह्य सल्लेखनाके उपाय बतलाते हैं—

शा०—बलको बढ़ानेवाले सब रसोंको त्यागकर प्राप्त हुए रूखे आहारसे कोई एक नियम
विशेष लेकर अपने शरीरको क्रमसे कृश करता है ॥२०९॥

बाह्य तपको कहते हैं—

शा०—अनशन, अवमौदर्य, रसोंका त्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायक्लेश और विविन्न
शय्या ये बाह्य तप हैं ॥२१०॥

'अहाराक्षयं' अहाराक्षयः कालसामान्यवचनोऽप्यनेह चतुर्धाविष्णुमासपर्यन्तो गृह्यते । तत्र यदनशनं तदहाराक्षयम् । 'सन्धाक्षयं' वेति' सर्वानशनं वेति । कुक्षिपक्षयस्यं ह्यु' तु शब्दोऽप्यहारार्थं द्विप्रकारभेदान्तरम् । सर्वसम्ब' प्रकारकालस्यं वर्तते । यथा सर्वसम्बं भुंक्ते । परिव्यागोत्तरकालो बीभितस्य यः सर्वकालः तस्मिन्-नशनं अशनस्यागः सर्वानशनं । कदा तदुभयमित्यत्र कालविवेकमाह—'बिहूरस्य य' ग्रहणप्रतिसेवनकालयो-वर्तमानस्य । 'अहाराक्षयं' अहाराक्षयं । इतरं च इतरत् सर्वानशनं । 'अरिभंसे' अरिभान्ते । परिणामकाल-स्यान्ते ॥२११॥

अहाराक्षयविकल्पं प्रतिपादयति—

होइ चउयं छट्टट्टमाइ छम्मासखवणपरियंतो ।
अहाराक्षयविभागो एतो इच्छानुपुञ्जीए ॥२१२॥

'अहाराक्षयविभागो होइ' इति पदचटना । अहाराक्षयविभागो भवति । 'वउयं छट्टट्टमाइ' छम्मास-खवणपरियंतो चतुर्थपण्डाष्टमाविष्णुमासक्षणपर्यन्तः । 'इच्छानुपुञ्जीए' आत्मेच्छा' क्रमेण ॥२१२॥

अवमोदरियं निरूपयितुकाम आहारप्रमाणं प्रायोभूत्या प्रवृत्तं दर्शयति—

वत्तीसं किर कवला आहारो कुक्षिपूरणो होइ ।
पुरिसस्स महिलियाए अट्टावीसं इवे कवला ॥२१३॥

अनशन तपके भेद गाथा द्वारा कहते हैं—

शा०—अहाराक्षय और सर्वानशन इस प्रकार अनशन दो ही प्रकारका कहा है । ग्रहण और प्रतिसेवनाकालमें वर्तमानके अहाराक्षय होता है और मरण समय में सर्वानशन होता है ॥२११॥

टी०—अन्यत्र अहाराक्षय कालसामान्यका वाचक है । किन्तु यहाँ अहाराक्षयमें अहाराक्षय चतुर्थ आदिसे लेकर छहमास पर्यन्त जितने भेद अनशनके होते हैं उन सबके लिए ग्रहण किया है । उन उपवासोंमें जो अनशन होता है वह अहाराक्षय है । सर्वशब्द सब प्रकारोंमें आता है । जैसे सब प्रकारका अन्न खाता हूँ । संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् जबतक जीवन रहे उस सब कालमें जो भोजनका त्याग है वह सर्वानशन है । इस तरह अनशन दो ही प्रकारका है । ये दोनों कब होते हैं इसके लिए कालका भेद किया है । ग्रहण कालमें अर्थात् दीक्षा ग्रहणसे लेकर संन्यास धारण करनेसे पूर्वके कालमें तथा प्रतिसेवना काल अर्थात् दीक्षाके विशुद्धिके लिए अहाराक्षय होता है और परिणाम कालके अन्तमें अर्थात् मरण समयमें सर्वानशन होता है ॥२११॥

शा०—चतुर्थ षष्ठ आदिसे छह मासके उपवास पर्यन्त यह अहाराक्षयके भेद होते हैं । ये मुनिगण अपनी इच्छाके अनुसार करते हैं ॥२१२॥

अवमोदर्यका निरूपण करनेकी इच्छासे प्रायः प्रचलित आहारका परिमाण बतलाते हैं—

शा०—वत्तीस प्रास प्रमाण आहार पुरुषके पेटको पूरा भरनेवाला होता है । स्त्रियोंके कुक्षिपूरक आहारका परिमाण अट्टादश प्रास होता है ॥२१३॥

। 'बलीसं किर कबल' पुष्यस्य कुक्षिपूरणो भवत्याहारः । द्वात्रिंशत्कवलमात्र 'इस्थिजाए' स्त्रियाः कुक्षिपूरणो भवत्याहारः अष्टाविंशतिकवलजातानि । 'तसो' तस्मादाहारान् ॥२१३॥

एगुत्तरसेढीए जावय कवलो वि होदि परिहीणो ।

ऊमोदरियतवो सो अद्धकवलमेव सिच्छं च ॥२१४॥

'एगुत्तरसेढीए' एककवलोत्तरश्रेण्या 'परिहीणो' परिहीन । 'ऊमोदरियतवो' अवमोदर्यस्य तप क्रिया यावदेककवललावशेषतया न्यून 'अद्धकवल' अर्धकवल यावदवशिष्टं । समप्रतिभूत कवलमर्धकवलशब्देनोच्यते । यावदेकसिक्थकं वा अवशिष्टं । आहारस्याल्पतोपलक्षणमिदं अन्यथा कथमेकसिक्थकमात्रभोजनोद्यतो भवेत् । ननु आहारो न्यूनः कथं तप इत्युच्यते इति केचित्कथयन्ति । आद्यूनतापरिहारस्य तपमो हेतुत्वात्तप इत्युच्यते अवमोदर्यं । तथा च निरुक्तिः—अवमं न्यून उदरमस्यावमोदरः । अवमोदरस्य भावः कर्म च अवमोदर्य-मिति ॥२१४॥

रसपरित्यागो निरूप्यते—

दत्तारि महावियडीओ होंति णवणीदमज्जमंसमहू ।

कखापसंगदप्पाजंसजमकारीओ एदाओ ॥२१५॥

'दत्तारि महावियडीओ' चतस्रो महाविकृतयः । महत्याश्चेतसो विकृतेः कारणत्वात् महाविकृतय इत्युच्यन्ते । 'होंति' भवन्ति । 'णवणीदमज्जमंसमहू' नवनीतं, मद्यं, मांसं, मधु च । कीदृश्यन्ताः ? 'कखा-

पा०—पुरुष और स्त्रीके उक्त आहारमसे एक दो आदि घ्रासकी हानिके क्रमसे जब तक एक घ्रास मात्र भी शेष होता है वह अवमोदर्यं तप है । जब तक अर्धघ्रास ही अवशिष्ट रहे या एक सिक्थ शेष रहे तब तक भी अवमोदर्यं तप है ॥२१४॥

टी०—एक घ्रासके बराबर दो भाग करने पर एक भागको अर्धकवल कहते हैं । एक चावल मात्र जो कहा है वह आहारकी अल्पताका उपलक्षण है । अन्यथा कोई मात्र एक चावलका भोजन करनेके लिए कैसे तत्पर हो सकता है ।

शंका—थोड़ा आहार लेना तप कैसे है ? ऐसा कोई कहते हैं ।

समाधान—पेट भर खानेका त्याग तपका हेतु होनेसे अवमोदर्यको तप कहा जाता है । अवमोदर्यकी निरुक्ति है—'अवम' अर्थात् न्यून (कमभरा) उदर है जिसका वह अवमोदर है और अवमोदरका भाव अथवा कर्म अवमोदर्यं है ॥२१४॥

रस परित्याग तपका निरूपण करते हैं—

पा०—चार महाविकृतियाँ होती हैं, मक्खन, मद्य, मांस और मधु । ये गूढि, प्रसंग, दर्प, और असंयमको करते हैं ॥२१५॥

टी०—चित्तमें महान विकार पैदा करनेसे इन्हें महाविकृति कहते हैं । नवनीत कांक्षा अर्थात् गूढिको उत्पन्न करता है । मद्य प्रसंग अर्थात् पुनः पुनः अगम्या स्त्रीके साथ भोगविलास करता है । मांस इन्द्रियोंमें मद पैदा करता है । मधु असंयमको उत्पन्न करता है असंयमके दो भेद

कर्तव्यत्वात्संन्यस्यतीति एवमौ । काला गाढर्षे, प्रसंगः पुनःपुनस्तत्र बुद्धिः, दर्शः दृष्टोन्मियता, असंयमः रसविषयानुरागात्मकः इन्द्रियासंयमः, रसजन्तुपीडा प्राणासंयमः, एतान्बोधयित्वा कुर्वन्ति ॥२१५॥

आणामिकंस्त्रिणावज्जमीरुणा तवसमाधिकामेण ।

ताओ आवज्जीवं णिज्जुहाओ पुरा वेव ॥२१६॥

'आणामिकंस्त्रिणा' । अर्धव पदघटना—'ताओ' ताः महाविकृतयः । 'आवज्जीवं' जीवितावधिकं । 'णिज्जुहाओ' परित्यक्ताः । 'पुरा वेव' सल्लेखनाकालात्पूर्वमेव । केन परित्यक्ताः ? 'आणामिकंस्त्रिणा'—इदमित्थं त्वया कर्तव्यमिति कथन आज्ञा । सर्वविदा आज्ञप्ता भव्याः परित्याज्या नवनीतादयः । तदासेवा असंयमः कर्मबन्धनेषु रिति । अस्यामाज्ञायां कांक्षावता आदरवता सर्वज्ञाज्ञाऽम्पादनदेव दुरन्तससारमध्यपतनं ममास्ती-
द्विष्यति च तेन तथाज्ञादरः कार्य इत्यभ्युद्यतेन । 'अवज्जमीरुणा' अवयं पाप तेन । अयमर्थः पापमीरुणा । 'तवसमाधिकामेण' तपस्येकाग्रतामभिलषता । अतो नवनीतादित्यागोऽपि रसत्याग एव ॥२१६॥

इह सल्लेखनाकाले ममैवा त्यागो गृहीत इत्याचष्टे—

क्षीरदधिसप्पित्तेल्लगुडाण पत्तेगदो व सव्वेत्ति ।

णिज्जुहणमोगाहिम पणकुसणल्लोणमादीण ॥२१७॥

'क्षीरदधिसप्पित्तेल्लगुडाण' क्षीरस्य, दधन, घृतस्य, तैलस्य, गुडस्य, च 'णिज्जुहणं' त्यागः । कथं ? 'पत्तेगदो व' प्रत्येकं एकैकस्य वा त्यागः । 'सव्वेत्ति' सर्वेषां वा क्षीरादीनां त्यागः रसपरित्यागः । 'मोगाहिम पणकुसण ल्लोणमादीण' अपूपानां, पत्रशाकानां, सूपस्य, लवणादीनां वा त्यागो रसपरित्यागः ॥२१७॥

है—इन्द्रिय असंयम और प्राणि असयम । मधुके रसके विषयमे अनुरागकी आतुरता रूप इन्द्रिय असयम होता है और मधुमे उत्पन्न जन्तुओंका घात होनेसे प्राण असंयम होता है ॥२१५॥

गा०—सर्वज्ञकी आज्ञाके प्रति आदरवान, पाप भीरु और तपमें एकाग्रताके अभिलाषीने वे महविकृतियां सल्लेखनाके समयसे पूर्व ही जीवन पर्यन्तके लिये (णिज्जुहाओ) त्याग दी है ॥२१६॥

टी०—यह काम इस प्रकार नुपूँ करना चाहिये, ऐसा कहना आज्ञा है । सर्वज्ञकी आज्ञासे मध्य जीवोंके लिये नवनीत आदि छोडने योग्य है । उनका सेवन असंयम हैं जो कर्मबन्धका कारण है । इस आज्ञाका पालन न करनेसे ही मेरा दुरन्त ससारके मध्यमें पतन हुआ और होगा । इसलिये उस आज्ञाका आदर करना चाहिये इस प्रकार जो उद्यत हुआ है और अवद्य अर्थात् पाप से जो डरता है तथा जो तपमें एकाग्रताका अभिलाषी है वह तो पहले ही जीवन पर्यन्तके लिये इन विकृतियोंको त्याग चुका है । अतः नवनीत आदिका त्याग भी रस त्याग ही है ॥२१६॥

अब इस सल्लेखनाके समय मेने इन नीचे कही वस्तुओंका त्याग किया, यह कहते हैं—

गा०—दूध, दही, घी, तेल, गुडका और घृत पूर, पुवे, पत्रशाक, सूप और लवण आदिका सबका अथवा एक-एकका त्याग रस परित्याग है । अर्थात् सल्लेखना कालमें दूध आदि सबका या उनमेंसे यथायोग्य दो तीन चारका त्याग रस परित्याग है ॥२१७॥

अरसं च अणवैलाकदं च सुदोदणं च लुक्खं च ।

आयंभिलमायामोदणं च विगडोदणं चैव ॥२१८॥

'अरस' च स्वावरहितं । 'अणवैलाकदं च' बेलान्तरकृत च शीतलमिति यावत् । 'सुदोदणं च' सुदोदणं च केनचिदप्यमिश्रं । 'लुक्खं च' रूक्षं च स्निग्धताप्रतिपक्षभूतेन स्पर्शेन विशिष्टमिति यावत् । 'आयंभिलं' असंस्कृतसीवीरमिश्रं । 'आयामोदणं' अम्रचुरजल सिषयाद्यमिति केचिद्वदन्ति । अत्र 'आवणसहित-मित्यन्ये । 'विगडोदणं' अतीव पक्वं । उष्णोदकसम्मिश्रं इत्यपरे ॥२१८॥

इच्छेवमादि विविहो जायब्बो हवदि रसपरिच्चाओ ।

एस तवो भजिदब्बो विसेसदो सल्लिहतेण ॥२१९॥

'इच्छेवमादिविविहो' एवमादिविविहो मानाप्रकारो । 'जादब्बो हवइ रसपरिच्चाओ' ज्ञातव्यः सर्वेषां रसपरित्यागः । 'एस तवो भजिदब्बो' एतद्रसपरित्यागाख्यं तपः । 'भजिदब्बो' सेव्यं । 'विसेसदो' विशेषेण । 'सल्लिहतेण' कायसल्लेखना कुर्वता । 'आओ रसाधं' ॥२१९॥

वृत्तिपरिसंख्याननिरूपणाय गाथाचतुष्टयमुत्तरम्—

गत्तापच्चागदं उज्जुवीहि गोमुत्तियं च पेलवियं ।

सम्बूकावट्टपि पदंगवीधी य गोयरिया ॥२२०॥

गा०—स्वाद रहित अन्य समयमें बनाया गया अर्थात् ठण्डा भोजन, और शुद्ध भात जिसमें कोई अन्य शाक बगेरह न मिला हो, और रूखा भोजन जिसमें घी आदि न हो, आचाम्ल अर्थात् काजी मिश्रित भात, थोडा जल और बहुत चावल वाला भात, और बहुत अधिकपका भात ॥२१८॥

टी०—आयामोदण' का अर्थ कोई तो थोडा जल और चावल बहुत ऐसा भात करते है । अन्य कुछ अवश्रावण सहित (?) कहते है । विगडोदणका अर्थ दूसरे व्याख्याकार गर्मजलसे मिश्रित भात करते है ॥२१८॥

गा०—इत्यादि अनेक प्रकारका रस परित्याग सबको जानने योग्य है । शरीर सल्लेखना करने बालेको यह रस परित्याग नामक तप विशेष रूपसे सेवन करना चाहिये ॥२१९॥

रस परित्याग तपका वर्णन समाप्त हुआ । आगे चार गाथाओंसे वृत्तिपरि संख्यान तपका कथन करते हैं

टी०—'गत्तापच्चागदं'—जिस मार्गसे पहले गया उसीसे लौटते हुए यदि भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं ग्रहण करूँगा । 'उज्जुवीहि'—सीधे मार्गसे जानेपर मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं ग्रहण करूँगा । 'गोमुत्तियं' बेलके मूलते हुए जानेसे जैसा आकार बनता है सोड़ेदार, वैसे जाते हुए यदि भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं ग्रहण करूँगा । 'पेलवियं'—वस्त्र सुवर्ण आदि रखनेके लिए बांस के पत्ते आदिसे जो सन्दूक बनता है, जिसपर ढकना भी हो, उसके समान चौकोर भ्रमण करते हुए भिक्षा मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं । 'सम्बूकावट्ट'—शांखके आवतोंके समान गाँवके अन्दर आवतोंका भ्रमण करके बाहरकी

'कलापचक्रवर्त' । अथ वीच्या मतः पूर्वं तथैव प्रत्यागमनं कुर्वन्त्यदि भिक्षा लभते गृह्णाति नान्यथा । 'उत्सृष्टीर्हि' श्रुत्या वीच्या यतो यदि लभते गृह्णाति नेतरथा । गोमुक्ताकारं भ्रमणं वा संपादयन् । 'विश्वविर्ष' बंधवलादिभिर्निष्पादितं बलवसुवर्णादिनिक्षेपकार्यं पिचानसहितं यत्तद्बन्धनुरक्षाकारं भ्रमणं । 'संप्रसा-
दहं वि ब' शंभुकार्यं इव । 'पर्वणवीची य' पर्वणमाला पतनवीचीत्युच्यते । सा यथा भ्रमति तथा भ्रमणं । 'गोचरिया' गोचर्या भिक्षायां भ्रमणं । एवंभूतेन भ्रमणेन लब्धा भिक्षा गृह्णामि नान्यथेति कृतसंकल्प'ता
वृत्तिपरिसंख्यानं ॥२२०॥

पाठयणियंसणभिक्षा परिमाणं दत्तिचासपरिमाणं ।

पिंडेसणा य पाणेसणा य जागूय पुग्गलया ॥२२१॥

'पाठयणियंसणभिक्षापरिमाणं' इमं एव पाठकं प्रविश्य लब्धां भिक्षा गृह्णामि नान्यं । एकमेव पाठकं पाठकद्वयमेवेति । अल्प गृह्यस्य परिकरतया अवस्थिता भूमि प्रविशामि न गृह्मि'त्यमभिग्रहः । णियंसणमित्युच्यते इति केचिद्भवन्ति । अपरे पाठस्य भूमिमेव प्रविशामि न पाठगृह्णामि इति संकल्पः । पाठयणियंसणमित्युच्यते इति कथयन्ति । भिक्षापरिमाणं एकां भिक्षां द्वे एव वा गृह्णामि नाधिकामिति । 'दत्तिचासपरिमाणं' एकैर्नैव दीयमानं द्वाभ्यामेवेति दानक्रियापरिमाणं । आनीतायामपि भिक्षाया इयत् एव ग्रामान्गृह्णामि इति वा परिमाणं । 'पिंडेसणा' पिण्डभूतमेवासक्तं गृह्णामि । 'पाणेसणा' इव बहुलतया यत्पीयते अशनं । जागूय' यवागू । 'पुग्गलिया वा' धान्याभ्येव निष्ठावचनकमसूरकादीनि भक्षयामि इति ॥२२१॥

संसिद्धं फलहं परिखा पुप्फोवहिदं व सुद्धगोवहिदं ।

लेवडमलेवडं पाणायं च णिस्सित्थगं ससित्थं ॥२२२॥

और भ्रमण करते हुए भिक्षा मिली तो ग्रहण कर्हेगा अन्यथा नहीं ।

'पर्वणवीची'—पक्षियोंकी पंक्ति जैसे भ्रमण करती है उस तरह भ्रमण करते हुए यदि भिक्षा मिली तो मैं ग्रहण कर्हेगा । 'गोचरिया'—गोचरी भिक्षाके अनुसार भ्रमण करते हुए भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण कर्हेगा । इस प्रकारके संकल्प करनेको वृत्ति परिसंख्यान कहते हैं २२०॥

शा०टी०—'पाठयणियंसण'—इसी ही फाटकमें प्रवेश करके मिली हुई भिक्षाको ग्रहण कर्हेगा, अन्य फाटकमें नहीं । एक ही फाटकमें प्रवेश कर्हेगा या दो में ही प्रवेश कर्हेगा । 'अमुक घरसे लगी हुई भूमिमें प्रवेश कर्हेगा, घरमें नहीं जाऊंगा ? इस प्रकारकी प्रतिज्ञाको णियंसण कहते हैं । ऐसा कोई कहते हैं । दूसरोंका कहना है कि पाटकी भूमिमें ही प्रवेश कर्हेगा, पाटके घरोंमें प्रवेश नहीं कर्हेगा इस प्रकारके संकल्पको 'पाटकाणियंसण' कहते हैं । 'भिक्षा परिमाण'—एक ही भिक्षा या दो ही भिक्षा ग्रहण कर्हेगा, अधिक नहीं । 'दत्तिचास परिमाण'—एक कं ही द्वारा देने पर या दो के ही द्वारा देनेपर भिक्षा ग्रहण कर्हेगा । अथवा दाताके द्वारा लाई गई भिक्षामेंसे भी इतने ही प्रास ग्रहण कर्हेगा ऐसा परिमाण करना । 'पिंडेसणा'—पिण्ड रूप भोजन ही ग्रहण कर्हेगा । 'पाणेसणा'—जो बहुत द्रव होनेसे पीने योग्य होगा वही ग्रहण कर्हेगा । 'जागूय' यवागू ही ग्रहण कर्हेगा । 'पुग्गलया'—चना असूर आदि धान्य ही ग्रहण कर्हेगा ॥२२१॥

१. स्यात् वृ—आ० नु० । २. मित्यवग्रहः ।

संसिद्धं शाककुल्माषादिव्यञ्जनसम्मिश्रसंस्पृष्टमेव । 'फलह' समन्तादवस्थितशाकं मध्यावस्थितौदनं । 'परिखा' परितो व्यञ्जन मध्यावस्थितान्नं । 'पुष्पोवहिदं च' व्यञ्जनमध्ये पुष्पबलिरिव अवस्थितसिक्कणं । 'मुद्ग-
गोवहिद' मुद्गेन निष्पावादिभिरेमिश्रेणान्नेन 'उद्वहिदं' सस्पृष्टं शाकव्यञ्जनादिकं । 'लेवडं' हस्तलेपकारि ।
'अलेवडं' यच्च हस्ते न सञ्जति । 'पाषणं' यच्च हस्ते न सञ्जति । 'पाषणं' पानं च कीदृक् ? 'गिसिक्कणस-
सिक्कणं' सिक्करहितं पान तत्सहितं च ॥२२२॥

पतस्स दायगस्स य अवग्गहो बहुविहां ससचीए ।

इच्छेवमादिविदिहा णादग्वा वुत्तिपरिसंखा ॥२२३॥

'पतस्स' एवंभूतेषु भाजनेनवानोत्त गृह्णाणि सोवर्णेन, कसपाभ्या, राजतेन मूष्मयेन वा । 'दायगस्स च' लिनयैव तत्रापि बालया, युवत्या, स्थविरया सालङ्कारया, निरलङ्कारया, ब्राह्मण्या, राजपुत्र्या इत्येवमादि अभिप्रहोऽजग्रहः । 'बहुविहो' बहुविध । 'ससचीए' स्वशक्त्या । 'इच्छेवमादि' एवंप्रकारा । 'विदिहा' विविधा । 'णायग्वा' जातव्या । 'वुत्तिपरिसंखा' वृत्तिपरिसंख्या ॥२२३॥

कायक्लेशानिरूपणाद्योत्तरप्रबन्ध—

अणुसूरी पडिसूरी य उद्वहसूरी य तिरियसूरी य ।

उन्नागेण य गमणं पडिआगमणं च गंतूणं ॥२२४॥

'अणुसूरी' पूर्वस्या दिशः पश्चिमाशागमनं क्रूरतपे दिने । 'पडिसूरी' अपरम्या दिश आदित्याभि-
मुखं गमनं । 'उद्वहसूरी च' उच्चं गते सूर्ये गमन । 'तिरियसूरी च' तिर्यग्वस्थित दिनकरं कृत्वा गमनं ।
'उन्नागेण य गमणं' स्वावस्थितग्रामाद् ग्रामान्तरं प्रति भिक्षायं गमन । 'पडिआगमणं च गंतूणं' प्रत्यागमन

शा०टी०—'संसिद्ध'—जो शाक कुल्माष आदि व्यंजनसे मिला हुआ हो । 'फलह'—जिसके चारो ओर शाक रखा हो और बीचमें भात हो । 'परिखा - चारों ओर व्यंजन हो बीचमें अन्न रखा हो । 'पुष्पोवहिद'—व्यंजनके मध्यमें पुष्पावलीके समान चावल रखे हो । 'मुद्गगोवहिद'—मुद्ग अर्थात् विना कुछ मिलाये अन्नसे 'उपहित' अर्थात् मिले हुए शाक व्यंजन आदि । 'लेवड' जिससे हाथ लिप जाये । 'अलेवड' जो हाथसे न लिप्टे हो । सिक्क सहित पेय और सिक्क रहित पेय । ऐसा भोजन मिलेगा तो ग्रहण कर्हंगा ऐसा संकल्प करना है ॥२२३॥

शा०टी०—'पतस्स'—इसी प्रकार सोने, चाँदी, काँसी या मिट्टीके पात्रसे ही लाया गया भोजन ग्रहण कर्हंगा । 'दायगस्स'—स्त्रीसे ही, उसमें भी बालिकासे या युवतीसे या वृद्धामे अथवा अलंकार सहित स्त्री या अलंकार रहित स्त्रीसे या ब्राह्मणीसे या राजपुत्रीसे दिया गया आहार ही ग्रहण कर्हंगा । इस तरह बहुत प्रकार के अभिप्रह अपनी शक्तिके अनुसार होते हैं । ये सब विविध वृत्ति परिसंख्यान जानना चाहिये ॥२२३॥

काय क्लेशका कथन करते हैं—

शा०टी०—'अणुसूरी'—जिस दिन कड़ी धूप हो सूरजको पीछे करके पूरव दिशासे पश्चिम दिशाकी ओर जाना । 'पडिसूरी'—पश्चिम दिशासे सूरजको ओर मुख करके गमन करना । 'उद्वहसूरी'—सूरजके ऊपर आ जाने पर गमन करना, 'तिरियसूरी'—सूरजका एक ओर रहते हुए गमन करना । 'उन्नागेण गमण'—जिस ग्राममें मुनि ठहरे हो उस ग्रामसे दूसरे ग्राममें भिक्षाके

व 'ब'त्वा ॥२२४॥

स्थानयोगनिरूपणा—

साधारणं सवीचारं सणिरुद्धं तद्देव बोसट्टं ।

समपादमेगपादं गिद्धोलीणं च ठाणाणि ॥२२५॥

'साधारणं' प्रमुष्टस्तम्भाधिकमुपावित्य स्थानं । 'सवीचारं' ससंक्रमं पूर्वावस्थिताद्देहादवत्वापि स्थापितस्थानः । 'सणिरुद्धं' निरुचलमवस्थानं । 'तद्देव' तर्धव । 'बोसट्टं' कायोत्सर्गः । 'समपाद' समौ पादौ कृत्वा स्थान । 'एगपाद' एकेन पादेन अवस्थानं । गिद्धोलीणं गृद्धस्योद्ध्वंभनमनिब बाहू प्रसार्यावस्थान ॥२२५॥

आसनयोगनिरूपणा—

समपलियं कणिसेज्जा समपदगोदोहिया य उक्कुडिया ।

भगरमुह हत्थिसुण्डी गोणिसेज्जद्वपलियङ्का ॥२२६॥

'समपलियं कणिसेज्जा' सम्यक्पर्यङ्कनिरुपणा । 'समपाद' स्फिकपिठसंभवसरणेनासनं । 'गोदोहिया' गोदोहने आसनमिवामन । 'उक्कुडिया' ऊर्ध्वं संकुचितमासनं । 'भगरमुह' मकरस्य मुलमिब कृत्वा पादाववस्थानं । 'हत्थिसुण्डी' हस्तिहस्तप्रसारणमिब एकं पादं प्रमायासनं । हस्त प्रसार्यत्यपरे । 'गोणिसेज्ज अर्धपर्यङ्क' गोनिवद्या गवापासनमिब अर्धपर्यङ्क ॥२२६॥

वीरासणं च दण्डायउदुदसाई य लगडसाई य ।

उत्ताणो मच्छिय एगपाससाई य मडयसाई य ॥२२७॥

लिये जाना । 'गंतूण पडिआगमण'—जाकर लौट आना ये सब काय कलेना तप है ॥२२४॥

स्थान योगका कथन करते हैं—

गा०-टी०—'साधारण'—चिकने स्तम्भ आदिका आश्रय लेकर खड़े होना । सवीचार—पूर्व स्थानसे दूसरे स्थान पर जाकर कुछ काल तक खड़े रहना । 'सणिरुद्ध'—अपने स्थान पर ही निश्चल स्थित होना । 'बोसट्ट'—कायोत्सर्ग करना । समपाद—दोनों पैर बराबर करके खड़े होना । 'एगपाद'—एक ही पैर से खड़े होना । 'गिद्धोलीण'—जैसे गिद्ध उठते समय अपने दोनो पंख फैलाता है उस तरह दोनों हाथ फैलाकर खड़े होना ॥२२५॥

आसन योगका कथन करते हैं—

गा०-टी०—'समपलियं कणिसेज्जा'—सम्यक् पर्यंकासनमे बैठना । 'समपाद'—जांघे और कटि भागको सम करके बैठना । 'गोदोहिया' गौ दूहते समय जैसा आसन होता है वैसे आसनसे बैठना । 'उक्कुडिया'—ऊपरको संकुचित आसनरो बैठना अर्थात् दोनों पैरोंको जोड़ भूमिको न छूते हुए बैठना । 'भगरमुह'—मगरके मुखकी तरह पैर करके बैठना । 'हत्थिसुण्डी'—हाथोंके सूंड फैलानेकी तरह एक पैर फैलाकर बैठना । दूसरों का कहना है कि हाथ फैलाकर बैठना हत्थिसुण्डी है । 'गोणिसेज्ज' दोनों जंघाओंको संकोच कर गायकी तरह बैठना । और अर्धपर्यंकासन । ये सब कायकलेश के आसन हैं ॥२२६॥

१. कृत्वा अ० । २. समकरणेना—मु० ।

‘वीरस्य’ जंघे विक्रुद्धदेवे कृत्वासन । दण्डवदाद्यत् शरीरं कृत्वा शयनं । स्थित्वा शयनं च ऊर्ध्वशायीत्युच्यते । ‘लग्नसाई’ संकुचितनाभस्य शयनं । उत्तापो उत्तानं शयनं । अबमस्तकशयनं एकपात्सर्वशयनं च ॥२२७॥

अबभावगाससयणं अणिट्टिवणा अकंडुर्गं चैव ।

तणफल्यसिलाभूमि सेज्जा तह केसलोचो य ॥२२८॥

‘अबभावगाससयणं’ बहिर्निरावरणदेवे शयन । ‘अणिट्टिवणं’ निष्ठीवनाकरणं । ‘अकंडुवर्णं’ अकण्डूयनं । ‘तणफल्यसिलभूमिसेज्जा’ तृणाविवु शय्या । ‘तहा’ तथा । ‘केसलोचो य’ केसलोचवच ॥२२८॥

अण्डुट्ठणं च रादो अण्हाणमदंतघोवणं चैव ।

कायकिलेसो एसो सीदुण्हादावणादी य ॥२२९॥

‘अण्डुट्ठणं च रादो’ रात्रावशयनं जागरणमित्यर्थः । ‘अण्हाणं’ अस्नानं । ‘अण्हाणं चैव’ दन्ताः नामघोषनं । ‘कायकिलेसो’ कायक्लेशः । ‘एसो’ एष । ‘सीदुण्हादावणादी य’ शीतातपनमुष्णातपनमित्येव-भाविकं ॥२२९॥

विविक्तशयनासननिरूपणा—

अथ ण विसोत्तिग अत्थि दु सहरसरुवगन्धफासेहिं ।

सज्जायज्जाणवाघादो वा वसधी विविक्ता सा ॥२३०॥

‘अथ ण विसोत्तिग’ यस्यां वसती न विद्यतेऽशुभपरिणामः । सहस्रसरुवगन्धफासेहिं शब्दस्वरूपगन्ध-स्पर्शः करणभूतः मनोज्ञैरमनोज्ञैर्वा । ‘सा विविक्ता वसधी’ विविक्ता वसति । ‘सज्जायज्जाणवाघादो’ स्वाध्याय-ध्यानयोर्व्याघातो वा नास्ति सा विविक्ता भवति ॥२३०॥

गा०-टी०—दोनों जंघाओंको दूर रखकर आसन वीरासन है । आगे शयनके भेद करते हैं—दण्डके समान शरीरको लम्बा करके सोना । खड़े होकर सोना । इसे ऊर्ध्वशायो कहते हैं । ‘लग्न साई’—शरीरको संकुचित करके सोना । उताण—ऊपरको मुख करके सोना । ओमच्छ्रय-मस्तक नीचे करके सोना अर्थात् नीचे मुख करके सोना । एक करवटसे सोना । मडयसाई—मृतककं तरह निदचेष्ट सोना ॥२२७॥

गा०-टी०—‘अबभावगास सयणं’—बाहुर खुले आकाशमें सोना । ‘अणिट्टिवणं’—थूकन नहीं । अकंडुतर्गं—खुजाना नहीं । तथा तृण, काठका पटिया, शिला, या भूमिपर सोना औः केसलोच ॥२२८॥

गा०-टी०—रातमें शयन नहीं करना अर्थात् जागना । स्नान नहीं करना । दाँतोको नहीं धोना, उनकी सफाई नहीं करना । और शीतकालमें तथा गर्मीमें आतपन योग करना इत्यादि यह कायक्लेश है ॥२२९॥

विविक्त शयनासन सपका कथन करते हैं—

गा०—जिस वसतिमें मनोज्ञ या अमनोज्ञ शब्द, रस, रूप गन्ध और स्पर्शके द्वारा अशुभ परिणाम नहीं होते । अथवा स्वाध्याय और ध्यानमें व्याघात नहीं होता वह विविक्त वसति है ॥२३०॥

वियङ्गाए अवियङ्गाए समविसमाए वृहि च अन्तो वा ।
इत्थिणउंसयपसुवज्जिदाए सीदाए उसिणाए ॥२३१॥

‘वियङ्गाए’ उद्घाटितद्वारायां । ‘अवियङ्गाए’ अनुद्घाटितद्वारायां वा । ‘समविसमाए’ समभूमि-
समन्विततायां विषमभूमिसमन्विततायां वा । ‘वृहि च’ बहुवचने वा । ‘अन्तो वा’ अन्त्यन्तरे वा । ‘इत्थिण-
उंसयपसुवज्जिदाए’ स्त्रीभिरन्युत्सर्कं पशुमिदं च वक्षितायां वसती । ‘सीदाए’ सीतायां । ‘उसिणाए’
उष्णायां ॥२३१॥

उग्गमउत्पादणएसणाविसुद्धाए अकिरियाए दु ।

वसति असंसत्ताए णिप्पाहुड्डियाए सेज्जाए ॥२३२॥

‘उग्गमउत्पादणएसणाविसुद्धाए’ उद्गमोत्पादनवर्षणावोपरहिताया । तत्रोद्गमो दोषो निरूप्यते । वृक्ष-
च्छेदस्तदानयनं इष्टकापाकं, भूमिलक्षणं, पाषाणसिकतादिभिः पूरणं, घरायां कुट्टनं, कर्मकरणं, कीलानां कर्णं,
अग्निनायसस्तापनं कृत्वा प्रताड्य क्रूरुचं काष्ठपाटनं, वासीभिस्तक्षणं, परभूमिच्छेदनं इत्येवमादिव्यापारेण
षणा जीवनिकायानां बाधा कृत्वा स्वैन वा उत्पादिता, अग्नेन वा कारिता वसतिराधाकर्मशब्देनोच्यते ।
यावन्तो दीनानाथकृपणा आगच्छन्ति लिङ्गिनो वा तेषामियमित्युद्दिश्य कृता, पार्ष्णिनामेवेति वा श्रमणाना-
मेवेति, निश्रंथानामेवेति वा उद्देशिमा वमदिति भ्रष्यते । आत्मार्यं गृहं कुर्वता अपवरकं सयताना भवत्विति
कृत अभोवश्रममित्युच्यते । आत्मनो गृहार्थमानीतं काष्ठानि सह बहुभिः श्रमणाथमानीताल्पेन मिथिता
यथ गृहे तत्पूतकमित्युच्यते । पाषण्डिना गृहस्थानां वा क्रियमाणे गृहे पचत्सयतानुद्दिश्य काष्ठादिमिश्रणेन
निष्पादितं वेपम मिश्रम् । स्वाश्रमेव कृत संयतार्थमिति स्थापितं ठविदं इत्युच्यते । संयतं स च यावद्भिद्वि-

भा०—यह वसति खुले द्वार वाली हो अथवा बन्द द्वार वाली हो । उसकी भूमि सम हो
अथवा ऊँची नीची हो । वह बाहरके भागमें ही अथवा अन्दरके भागमें हो । स्त्री नपुंसक और
पशुओंसे रहित हो ठडी हो या गर्म हो ॥२३१॥

भा० उद्गम उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित, दु प्रमाज्जन, आवि संस्कारसे रहित,
जीवोंकी उतात्तिसे रहित, गय्यारहित वसतिकामें अन्दर या बाहरमे विविक्त क्षयनासन तपके
धारी मुनि निवास करते हैं ॥२३२॥

टी०—उद्गमदोषको कहते हैं—वृक्षको काटना, उसको लाना, ईटे पकाना, भूमि खोदना,
उसे पत्थर रेत बगैरहमें भरना, पृथ्वीको फूटना, कीचड़ तैयार करना, कीले बनाना, आगसे
लोहा गरम करके उसे पीटकर करोतोंसे लकड़ी चीरना । विसौलोंसे छीलना, फरसोंसे काटना,
इत्यादि व्यापारसे छहकायके जीवोंको बाधा पहुँचाकर अपने द्वारा बनाई या दूसरेसे बनवाई
वसति अधःकर्मनामक दोषसे युक्त है । जितने दीन अनाथ दरिद्र अथवा वेपथारी आयेंगे उनके
उद्देशसे बनाई, अथवा यह पाषण्डियोंके ही लिए है, या श्रमणोंके ही लिए है या निश्रंथोंके ही
लिए है, ऐसी वसति उद्देशिग दोषसे युक्त होती है । अपने लिए घर बनाते हुए यह कोटरी संयमियों-
के लिए रहे ऐसा संकेतपूर्वक बनाई वसतिका अभोलभ्य कहलाती है । अपना घर बनानेके लिए
लाए गये बहुसंसे काष्ठ आदिके साथ थोड़ा-सा सामान श्रमणोंके लिए लाकर दोनोंके मेलसे बनी
वसति पूतिक कहली जाती है । पाषण्डियों अथवा गृहस्थोंके लिए घर बनवाकर पीछे मुनियोंका
उद्देश करके उसमें काष्ठआदि मिलाकर बनवाई वसति मिश्रदोषसे दूषित है । अपने ही लिए

गैरगमिष्यति तत्रवेष्टरिने गृहसंस्कारं सकलं करिष्यामः इति चेतसि कृत्वा यत्संस्कारितं वेदम तत्पाहुडिग-
वित्युच्यते । तदागमानुरोधेन गृहसंस्कारकालोपन्हासं कृत्वा वा संस्कारिता वसति । यद्गृहं अन्धकार-
बहुलं तत्र प्रकाशसंपादनाय यतीनां छिद्रीकृतकुडुर्ष, अपाकृतफलकं, सुविन्यस्तप्रदीपकं वा तत्पादुकाराशब्देन
अच्यते । द्रव्यकीलं भावकीलं इति द्विविधं कीलं वेदम, सचित्तं गोवलीवर्दीषिकं दत्त्वा समयतार्थकीलं,
अचित्तं वा वृत्तगुडलंकादिकं दत्त्वा कीलं द्रव्यकीलं । विद्यामन्त्राविधानेन वा कीलं भावकीलं । अल्पभूषं
कृत्वा श्रुतिसहितं अश्रुदिकं वा गृहीतं संयतेभ्यः पामिच्छं उच्यते । मदीये वेदमनि तिष्ठन्नु भवान्
युष्मदीयं तावद्गृहं यतिष्यं प्रयच्छेति गृहीतं परिगृह्णित्युच्यते । कुडुघावर्षं कुटीरककटादिकं स्वार्थं निष्पन्न-
मेव यत्संयतार्थमानीतं तद्व्यहृद्भुष्यते । तद्द्विद्विधमचरितमनाचरितमिति । दूरदेशाद् ग्रामान्तरालद्वानीत-
मनाचरितं इतरवाचरितं । इष्टकादिमि., मूर्त्पिडेन, वृत्त्या, कवाटेनोपलेन वा स्वगितं अपनीय दीयते यत्स-
दुद्भिन्न । निश्रेण्यादिभिरारुह्य इत आचच्छत युष्माकमिय वसतिरिति या दीयते द्वितीया तृतीया वा भूमिः
सा मालारोहमित्युच्यते । राजामात्पादिभिर्मयमुपदस्यं परकीय यदीयते तदुच्यते अच्छेज्जं इति । अनिसृष्टं
पुनर्द्विविधं । गृहस्वामिना अनियुक्तेन या दीयते वसति यदस्वामिनापि बान्धेन परवशवर्तिना दीयते सोऽभ्यव्य-
निसृष्टेति उच्यते । उद्गमदोषा निरूपिताः ।

उत्पादनदोषो निरूप्यते—पञ्चविधाना धात्रीकर्मणा अन्यतमेनोत्पादिता वसति । काचिद्द्वारकं स्नप-

बनाये घरको समयियोंके लिए स्थापित करना ठवद दोष है । अमुक मुनि जितने दिनोमें
आखेंगे, उनके प्रवेश करनेके दिन घरकी सब सफाई आदि करायेंगे, ऐसा चित्तमे विचारकर बन-
वाया घर 'पाहुडिग' कहा जाता है । अथवा मुनिके आनेके अनुरोधमे घरका संस्कार करनेका जो
समय नियत किया था उस समयसे पूर्व संसार करना पाहुडिग दोष है । जिम घरमे बहुत अन्ध-
कार रहता है उसमें मुनियोंके लिए बहुत प्रकाश लानेके उद्देशसे दीवारमे छेद करना, लकड़ीका
पटिया हटाना, दीपक रखना पादुकारदोष है । खरीदा हुआ दो प्रकारका होता है द्रव्यकृत और
भावकृत । सचेतन गाय बेल वगैरह देकर मुनिके लिए खरीदा गया अथवा अचित्त घी गुड खाड़
आदि देकर खरीदा गया घर द्रव्यकृत है । विद्या मंत्र आदि देकर खरीदा गया घर भावकृत है ।
बिना ब्याजका अथवा ब्याज पर थोडा सा ऋण लेकर मुनियोंके लिए लिया गया घर पामिच्छ
कहा जाना है । आप मेरे घरमें रहे, अपना घर यातियोंको देदे इम प्रकार ग्रहण किया घर परि-
यट्ट कहाता है । अपनी दीवार आदिके (?) लिए जो तैयाग या उसे मुनिके लिए लाना अभ्यहृद्
कहाता है । उसके दो भेद हैं आचरित और अनाचरित । जो दूर देशमे या अन्य ग्रामसे लाया
गया वह अनाचरित है गेप आचरित है । जो घर इट आदिमे, मिट्टीके बेल से, वाइसे, कपाटसे
या पत्थरसे ढपा है इनको हटाकर दिया गया वह घर उद्भिन्न दोषमे युक्त है । मोदी वगैरहसे
ऊपर चढकर 'यज्ञों आओ, आपकी यह वसति है' इस प्रकारमे जो दूसरे या तीसरे खण्डकी भूमि
दो जाती है उने मालारोहण कहते है । राजा मंत्री आदिके द्वारा भय दिखलाकर जो दूसरेकी
वसति दी जाती है । वह अच्छेज्ज है । अनिसृष्टके दो भेद है । घरके स्वामीके द्वारा जो नियुक्त
नहीं है ऐसे व्यक्तिके द्वारा जो वसति दी जाये वह अनिसृष्ट है । और जो पराधीन बालक स्वामी
के द्वारा दो जाए वह भी अनिसृष्ट है । ये उद्गमदोष कहे ।

उत्पादन दोष कहते है—घायके पाँच काम हैं—कोई बालकको नहलाती है । कोई उसे

वसति, भ्रूवसति, क्रीडवसति, आशयति स्वापयति वा । वसत्यर्थमेवोत्पादिता वसतिर्बाबीदोषदुष्टा । ग्रामान्तरान्तरागता राष्ट्र देशादन्वयेद्यतो वा संबन्धिना वार्तामिमाषोत्पादिता दूतकर्मोत्पादिता । अंग, स्वरो, व्यञ्जन, लक्षण, छिन्नं, भोमं, स्वप्नोऽन्तरिक्षमिति एवंभूतनिमित्तोपदेशेन लब्धा वसतिर्निमित्तदोषदुष्टा । आत्मनो जाति, कुलं, ऐश्वर्यं वामिषाय स्वमाहात्म्यप्रकटनेनोत्पादिता वसतिराबीवशब्देनोच्यते । भगवत्सर्वेषा आहारदानाद्वसतिदानाच्च पुष्यं किमु महद्युपजायते इति पुष्टो न भवतीत्युक्ते गृहजन प्रतिकूलवचनशुद्धो वसति न प्रयच्छेदिति एवमिति तदनुकूलमुक्त्वा योत्पादिता सा वणिगवा शब्देनोच्यते । अष्टविधया चिकित्साया लब्धा चिकित्सोत्पादिता । क्रोधोत्पादिता च । गच्छतामागच्छता च यतीना भवदीयमेव गृहमाश्रय इतीय वार्ता द्वारादेवास्माभिः श्रुतेति पूर्वं स्तुत्या या लब्धा, वसनोत्तरकालं च गच्छन्प्रशसा करोति पुनरपि वसति लप्स्ये इति । एवं उत्पादिता सस्तवदोषदुष्टा । विद्यया, मन्त्रेण, चूर्णप्रयोगेण वा गृह्णं सर्वे स्वापयित्वा लब्धा, मूलकर्मणा वा विन्नकन्यायोनिस्तथापना मूलकर्म । विरक्ताना अनुरागजनन वा । उत्पादनास्थोऽभिहितो दोष. षोडशप्रकारः ।

अथ एषणादोषान्दश प्राह—

किमियं योग्या वसतिर्नेति शङ्कना । तदानीमेव निक्त्वा सत्यालिप्ता सती वा छिद्रस्फुटजलप्रवाहेण वा, जलभाजनकोठनेन वा तदानीमेव लिप्ता वा भ्रमित्युच्यते । सन्निवृत्तिया अपा, भायी हरिताना, बीजानां भूषण पहिनाती है । कोई खेल खिलती है, कोई भोजन कराती है, कोई सुलाती है, इनमेंसे कोई एक कर्म करके प्राप्त की गई वसति धात्रीदोषसे दूषित है । अन्य ग्राम, अन्य नगर या देशान्तमें रहनेवाले सम्बन्धियोंकी कुशलवार्ता कहकर प्राप्त की गई वसति दूतकर्मके द्वारा उत्पादित होनेसे दूतकर्म दोषसे दुष्ट है । अंग, स्वर, व्यञ्जन, लक्षण, छिन्न, भोम, स्वप्न और अन्तरिक्ष, इस प्रकार निमित्तोंके उपदेशसे—गृहस्थोंको शुभाशुभ बतलाकर प्राप्त की गई वसति निमित्त नामक दोषसे दुष्ट है । अपनी जाति, कुल अथवा ऐश्वर्यको कहकर अपना बढपन प्रकट करके प्राप्त की गई वसति आजीव शब्दसे कही जाती है । भगवन् ! सबको आहार देने और वसति देनेसे क्या महान् पुण्य होता है ? ऐसा गृहस्थ पूछे तो, 'नहीं होता' ऐसा कहनेपर गृहस्थ प्रतिकूल वचनसे रुष्ट होकर वसति नहीं देगा' इस विचारसे उनके अनुकूल कहकर प्राप्त की गई वसति 'वणिगवा' शब्दसे कही जाती है । आठ प्रकारकी चिकित्साके द्वारा प्राप्त की गई वसति चिकित्सा दोषसे दुष्ट है । क्रोधादिके द्वारा प्राप्त की गई वसति क्रोध आदि दोषसे दुष्ट है । आने जागेआल यात्रियोंके लिए आपका ही घर आश्रय है यह बात हमने दूर देशसे ही सुनी है, इस प्रकार पहले स्तुति करके प्राप्त की गई अथवा निवास करनेके पश्चात् जाने समय प्रशसा करना कि पुनः आनेपर वसति प्राप्त हो तो वह संस्तव दोषसे दुष्ट है । विद्या, मन्त्र या चूर्णके प्रयोगसे गृहस्थको बचामे करके प्राप्त की गई वसति विद्यादोष, मन्त्रदोष और चूर्णदोषसे दुष्ट है, मूलकर्मके द्वारा प्राप्त की गई अथवा विरगियोंको राग उत्पन्न करके प्राप्त हुई वसति मूलकर्म दोषसे दुष्ट है ।

उत्पादन नामक सोलह प्रकारका दोष कहा ।

दस एषणा दोष कहते हैं—

यह वसति योग्य है या नहीं, ऐसी शंका करना शक्ति दोष है । जो वसति तत्काल ही सींची गई या लीपी गई है अथवा छिद्रसे बहनेवाले जलके प्रवाहसे या जलपात्रके लुङकानेसे

मसानां उपरि स्थापितं पीठमलकविक्रमं अत्र शय्या कर्तव्येति या दीयते वसति सा निश्चितं भवति । हरित-
कण्टकशितभूमितकामिचाममाकृष्य या दीयते सा पिहित्वा । काष्ठमेलककण्टकप्रारणायाम्पंथं कुर्वता पुनीया-
विनोपवर्षिता वसतिः साहारथशब्देनोच्यते । भूतघातभूतकथुकगृह्णिवेन, मत्सेन, व्याधिसेन, नपुंसकेन, पिशाच-
भृश्रीतेन, कम्बुष्य वादीयमाना वसतिर्दायकदुष्टा । स्वावरैः पृथिव्यादिभिः प्रमैः पिपीलिकामत्सुकुणादिभिः
सहितोम्भिभ्याः । विदस्तिमात्राया भूमैरथिकाया अपि भुवो ग्रहण प्रमाणातिरेकदोषः । शीतघातातपाभूप-
द्रवसहित्वा वसतिरियमिति निन्द्यां कुर्वती वसन भूमदोषः । निर्वाता, विशाला, नात्युष्णा शोभनेयमिति तत्रा-
नुराम इज्जाल इत्युच्येत । एवमेतैरुद्यममाविदोषैरनुपहृता वसतिः शुद्धा तस्या । 'अक्षिरियाए' दुःप्रमार्जनाधि-
संस्काररहितायाः । 'असंसत्ताए' जीवसंभवरहितायाः । 'निष्पाद्वाइयाए' शम्भ्यारहितायाः । सेज्जाए वसती ।
अन्तर्बहिर्वा वसद् वसति । यतिर्विविक्रमशासनरत ॥२३२॥

अथ का विविका वसतिरित्यत्राह—

सृष्टणधरगिरिगुह्यारुक्खमूलआर्गुतुवारदेवकुले ।

अकदप्पम्भारारामधरादीणि य विवित्ताइ ॥२३३॥

शून्य गृह, गिरेर्गुहा, वृक्षमूल, आगन्तुकाना वेदम, देवकुल, शिआगुहं केनचिदकृत अकृतप्रारम्भार-

उसी समय लीपी गई है उसे चक्रित कहते हैं । सचित पृथिवी, वायु, जल हरे वीज, और त्रस-
जीवोंके ऊपर स्थापित पीठ, काष्ठमलक आदिको यहाँ शय्या करें ऐसा कहकर जो वसति दी
जाती है उसे निश्चित कहते हैं । हरित कटि, मचित मिट्टीके आवरणको हटाकर जो वसति दी
जाती है वह विहित दोषसे युक्त है । काष्ठ, वस्त्र, कण्टकके आवरण आदिका खींचते हुए आगे
जानेवाले मनुष्यके द्वारा दिखलाई गई वसति साधारण शब्दसे कही जाती है । जिसे मरण अथवा
जननका शौच लगा है ऐसे गृहस्थके द्वारा या मत्स, रोगी, नपुंसक, जिम पिशाचने पकडा हुआ
है या बालिकाके द्वारा दी गई वसति दायक दोषसे दूषित है । स्थावर पृथिवी आदि, त्रम चाटी
खटमल आदिसे सहित वसति उन्मिभ्या है । जितने वालिस्न प्रमाणाभूमि साधुका चाहिए उससे
एक वालिस्न भूमि भी अधिक लेना प्रमाणातिरेक नामक दोष है । यह वसति शीतवायु, भूप
आदि उपद्रववाली है ऐसी निन्दा करते हुए भी उसी वसतिमें रहना भूमदोष है । यह वसति
विशाल है इसमें हवा नहीं आती, अधिक गर्म भी नहीं है, मुन्दर है इस प्रकार उससे अनुगग
करना इंगाल-दोष है । वसति इन दोषोंसे रहिन होनी चाहिए ॥२३३॥

विशेषार्थ—साधुको देने योग्य आहार, औषध, वसति, सस्तर, उपकरण आदि दानाको
जिन मार्गविरुद्ध क्रियाओंसे उत्पन्न होने हैं वे उदयम आदि सोलह दोष है । और मार्गविरुद्ध जिन
क्रियाओंसे भोजन आदि बनाये जाते हैं वे सोलह उत्पादन दोष है । ये बत्तीस भी आधाकरंरूप
होनेसे दोष कहे जाते हैं । यतिके भोजन आदिके लिए उहकायके जीवोंको बाधा देना अथवा
ऐसे कारणसे उत्पन्न भोजन आदि आधाकरं कहे जाते हैं । पधणादोष दस है । मूलाचार्यं इन
दोषोंका कथन है ।

विविक वसति कौन है यह कहते हैं—

टी०—शून्य घर, पहाड़की गुफा, वृक्षका मूल, आनेवालोंके लिए बनाया घर, देवकुल,

शब्देनोच्यते । आरामग्रहं क्रीडार्थमात्माताना आवासाय कृतं । एता विविक्ता वसतयः ॥२३३॥

अथ वसने दोषाभावमाचष्टे—

कलहो बोलो झंझा वामोहो संकरो ममसि च ।

ज्झाणाज्झयणविधादो णत्थि विविक्खाए वसवीए ॥२३४॥

'कलहो बोलो' । ममेयं वसतिस्तवेयं वसतिरिति कलहो न केनचित् अन्यजनरहितत्वात् । 'बोलो' शब्दबहुलता । 'झंझा' संकलेशो । 'वामोहो' वैचित्र्यं । 'संकरो' अयोग्यैरसंयतैः सह मिश्रणं । 'ममसि च' ममेदंभावश्च । 'णत्थि' नास्ति । 'ज्झाणाज्झयणविधादो' ध्यानस्याध्ययनस्य च व्याघातः । उक्तः कलहादिभिर्निघन्ते । क्व ? 'विविक्खाए वसवीए' विविक्ताया वसती । एकस्मिन्प्रमेये निवृत्तज्ञानसततिष्यति । अनेकप्रमेय-संचारी स्वाध्यायः ॥२३४॥

इय सन्लीणमुवगादो सुहृप्पवत्तेहि तत्थ जोएहि ।

पंचसमिदो तिगुत्तो आदट्ठपरायणो होदि ॥२३५॥

'इय' एव । 'सन्लीण' एकात्मता 'उवगादो' उपगतः । केन ? 'जोएहि' योः तपोभिर्ध्यानिर्वा । सुहृप्पवत्तेहि सुखप्रवृत्तं सुखेनाक्लेशेन प्रवृत्तं । 'पंचसमिदो' समितपंचकोपेतः । 'तिगुत्तो' कृताशुभमनोवाक्का-यनिरोध । 'आदट्ठपरायणो होदि' आत्मप्रयोजनपरो भवति । एतेन कथ्यते—विविक्तवसतिस्वायी यति-निष्प्रतिबन्धध्यानैः क्षुभैस्तपोभिर्वा स्वास्थ्यमुपगतः । सबरं निर्जरा च स्वप्रयोजन संपादयति इति ॥२३५॥

संवरपूर्विका निर्जरा स्तोत्रुमाह—

जं जिज्जरेदि कम्म असंबुडो सुमहदावि कालेण ।

तं संबुडो तवरसी खवेदि अंतोमुहुत्तेण ॥२३६॥

शिक्षाघर, किसीके द्वारा न बनाया गया स्थान, आरामघर—क्रीडाके लिए आये हुआके आवासके लिये जो बनाया गया है ये सब विविक्त वसतिर्या हैं ॥२३३॥

इनमे रहनेमे कोई दोष नहीं है, यह कहते हैं—

गा०—विविक्त वसतिमे कलह, शब्द बहुलता, संकलेश, चित्तका व्यामोह, अयोग्य असंय-मियोंके साथ सम्बन्ध, यह मेरी है ऐसा भाव, तथा ध्यान और अध्ययनमे व्याघात नहीं है ॥२३४॥

टी०—विविक्त वसतिमें यह मेरी वसति है यह तेरी वसति है इस प्रकार कलह नहीं होना क्योंकि वहाँ अन्य लोग नहीं होते । इसीसे ऊपर कहे अन्य दोष भी नहीं होते । ध्यान अध्ययनमे बाधा नहीं होती । एक पदार्थमें ज्ञानसन्ततिके निरोधको ध्यान कहते है और अनेक पदार्थोंमें संचारको स्वाध्याय कहते हैं ॥२३४॥

गा०—इस प्रकार विविक्त वसतिमे निवास करनेसे विना क्लेशके सुखसे होनेवाले तप अथवा ध्यानके द्वारा बाह्यतपमें एकात्मताको प्राप्त यति पाँच समितियोंसे युक्त हुआ अशुभ मन वचनकायका निरोध करके आत्माके कार्यमें तत्पर होता है ॥२३५॥

टी०—यहाँ कहा है कि विविक्त वसतिमें रहनेवाला यति निविघ्न ध्यानके द्वारा अथवा शुभतपके द्वारा स्वास्थ्यको प्राप्त होकर संवर और निर्जरारूप अपने प्रयोजनको करता है ॥२३५॥

'अं भिज्जरेदि कम्भं' यत्कर्म निर्जरयति तपसा बाह्येन । क. ? 'असंबुद्धो' असंवृत अशुभयोगनिरोधरहितः । 'सुभह्वादि कालेण' सुष्ठु महता कालेनापि । 'तं' तत्कर्म 'षड्वि' अपयति । 'अंताशुभसंभ' अतिस्वल्पेन कालेन । क. ? 'संबुद्धो' संवृत गुप्तिसमितिघर्मानुप्रेक्षापरीषहजयपरिणतः । 'तवस्वी' तपस्वी अनघनादिमान् ॥२३६॥

एवमवल्लयमाणो भावेमाणो तवेण एदेण ।

दोसेणिग्घाडतो षग्गहिददरं परक्कमदि ॥२३७॥

एवमुक्तेन क्रमेण एतेन । 'तवेण भावेमाणो' तपसा भावयन्नात्मानमुच्यते । 'अवलायमाणो' अपलायमानः । कुतो दुर्धरात्तपसः । एवमवल्लयमाणो इति क्वचित्पाठः । तत्रायमर्थः—किञ्च एवमेवेण तवेण भावेमाणो इति पदसंबन्धः । एवमेतेन तपसा भावयमानः अपलोयमाणो द्रव्यकर्म विनाशयन् इति । तद्युक्तं—अध्वार्थत्वात् । 'दोसे' द्वययति रत्नत्रयमिति-शेषा अशुभपरिणामाः । तान् घातयन् । 'षग्गहिददरं' नितरा । 'परक्कमदि' वेष्टते मुक्तिमार्गं ॥२३७॥

यतिना निर्जरयिना एवभूत तपोऽजुष्टेय इति कथयति ।

सो णाम बाहिरतवो जेण मणो दुक्कदं ण उट्ठेदि ।

जेण य सड्ढा जायदि जेण य जोगा ण हायंति ॥२३८॥

'सो णाम बाहिरतवो' तन्नाम बाह्य तपः । किं ? 'जेण मणो दुक्कदं ण उट्ठेदि' येन तपसा क्रियमाणेन मनो दुष्कृतं प्रति नोत्तिष्ठते । 'जेण य सड्ढा जायदि' येन च क्रियमाणेन तपसा तपस्यन्तरे श्रद्धा जायते । 'जेण य जोगा ण हायंति' येन च क्रियमाणेन पूर्वगृहीता योगा न हीयन्ते । तत्राभात तपोऽजुष्टेयमिति यावत् ॥२३८॥

संवरपूर्वक निर्जराकी प्रशंसा करते हैं—

गा०—असंवृत अर्थात् अशुभयोगका निरोध न करनेवाला यति महान् कालके द्वारा भी जिस कर्मकी बाह्य तपके द्वारा निर्जरा नहीं करता उस कर्मको संवृत अर्थात् गुप्ति, समिति, घर्म, अनुप्रेक्षा और परीषहजयको करनेवाला तपस्वी अति स्वल्पकालमें क्षय करता है ॥२३६॥

गा०—उक्तक्रमसे इस तपसे अपनेको तत्पर करता हुआ दुर्धरतपसे न डरकर रत्नत्रयको दूषित करनेवाले अशुभ परिणामोंको घातता है और अत्यन्त मुक्तिके मार्गमें वेष्टा करता है ॥२३७॥

टी०—कहींपर 'एवमवल्लयमाणो' ऐसा पाठ है । 'एदेण तवेण भावेमाणो' पदके साथ उसका सम्बन्ध करके ऐसा अर्थ करते हैं—इस प्रकार इस तपसे भावना करता हुआ 'अपलोयमाण' अर्थात् द्रव्यकर्मका विनाश करता है । यह युक्त नहीं है क्योंकि यह शब्दार्थ नहीं है ॥२३७॥

निर्जराके इच्छुक यतिको इस प्रकार तप करना चाहिए, यह कहते हैं—

गा०—उसीका नाम बाह्य तप है, जिस तपके करनेसे मन पापकी ओर नहीं जाता । और जिस तपके करनेसे अभ्यन्तर तपमें श्रद्धा उत्पन्न हो और जिसके करनेसे पूर्वमें गृहीत योग-व्रत विशेष हीन नहीं होते । इस प्रकारका तप करना चाहिए ॥२३८॥

बाहिरतवेण होदि हु सन्धा सुहसीलदा परिच्छत्ता ।

सन्धिहिदं च शरीरं ठविदो अप्पा य संवेगे ॥२३९॥

बाह्यतपोज्जुष्ठाने गुणं कथयत्युत्तरं सूत्रैः । 'बाहिरतवेण' बाह्येन तपसा हेतुभूतेन । 'सन्धा सुहसीलदा परिच्छत्ता होदि' सर्वा सुखशीलता परित्यक्ता भवति । सुखभावना राग जनयति । रागः स्वयं च कर्मबन्धहेतु-
दोषं धानयति । बन्धः कर्मस्थितिहेतुः संबन्धार्था निरस्ता भवति इति मन्यते । 'सन्धिहिदं च शरीरं' भवति । शरीरं दुःखनिमित्तं तत्त्यक्तुकामस्य तनूकरणमुपायः तदनुष्ठितं भवतीति यावत् । 'ठविदो' स्थापितः । 'आदा
य' स्वयं च, 'संवेगे' समारभीरुतायाः । ननु च संसारभीरुता हेतुस्तपसो न तपो हेतुस्तस्याः, ततोऽभ्युक्तमवापि
सूत्रकारेण बाह्येन तपसा संवेगे स्थापितः । लोकेनायं संबन्धचित्त इति स्थाप्यत बाह्ये तपसि वर्तमानस्ततो
युक्तमुच्यते ॥२३९॥

दंताणि इंदियाणि य समाधिजोगा य फासिदा होंति ।

अणिगूहिदवीरियओ जीविदतण्हा य वोच्छिण्णा ॥२४०॥

दंताणि दातानि 'इंदियाणि च' इन्द्रियाणि च । 'होंति' भवन्ति । अनसनावबोधयवृत्तिपरिसंख्यानानेन
जिह्वा दान्ता भवति इति । त्रिविक्रशब्देन इतराणि इन्द्रियाणि दान्तानि भवन्ति । मनोमैन्द्रियविषयरहि-
ताया वसतावस्थानानानि निगूहीतानि भवन्ति । समाधिजोगा य फासिदा होंति रत्नत्रयैकाग्र्यं समाधिः ।
समाधिषु योगा समाधिषु योगाः । योगाः सम्बन्धास्त्वे च 'फासिदा होंति' स्पृष्टा भवन्ति । रत्नत्रयसमाधान-
सम्बन्धा स्पृष्टा भवन्ति । अज्ञानादिकं त्यजता विषयरगो निरस्तो भवति । विषयरगव्याकुलो हि रत्नत्रये न
पश्यते । असति तस्मिन्व्याकुलोऽज्जुभपरिणामिकमुखो भवति इति मन्यते । 'अणिगूहिदवीरियया' अणिगूढवीर्यता

आगेकी गाथासे बाह्यतपको करनेके गुण कहते हैं—

गा०—टी०—बाह्य तपसे सब सुख शीलता छूट जाती है । क्योंकि सुख शीलता रागको
उत्पन्न करती है । राग-रागको बढ़ाता है और कर्मबन्धके कारण दोषोको लाता है । बन्ध-
कर्मकी स्थितिमें हेतु है । इस तरह बाह्य तपसे अनर्थ करनेवाली यह सुखशीलता नष्ट होती है ।
शरीर दुःखका कारण है । उसको छोड़नेका उपाय है शरीरको कृश करना । बाह्य तपसे शरीर
कृश होता है और स्वयं आत्मा संसारसे भीरुतामें स्थापित होती है ।

शंका—न तो संसारसे भीरुता तपका हेतु है और न तप संसारसे भीरुताका हेतु है अतः
ग्रन्थकारने यह अयुक्त कहा है कि बाह्य तपसे संवेगमें स्थापित होता है ?

समाधान—जो बाह्य तप करता है उसे लोग मानते हैं कि इसका चित्त संसारसे विरक्त
है । अतः ग्रन्थकारका कथन युक्त है ॥२३९॥

गा०—टी०—इन्द्रियां दान्त होती हैं । अनशन, अवमोदयं और वृत्ति परिसंख्यान तप करनेसे
जिह्वा दान्त होती है । त्रिविक्र शय्यासन तपसे शेष इन्द्रियां दान्त होती हैं । जहाँ इन्द्रियोंको प्रिय
लगनेवाले विषय नहीं हैं ऐसी वसतिमें रहनेसे इन्द्रियोंका निग्रह होता है । रत्नत्रयमें एकाग्रताको
समाधि कहते हैं । समाधिमें योग अर्थात् सम्बन्ध स्पष्ट होते हैं । भोजन आदिका त्याग करनेसे
विषयोंसे राग नहीं रहता । जो विषयरगसे सताया हुआ है वह रत्नत्रयमें नहीं लगता । रत्न-

न भवति । वीर्याचारं प्रवृत्तश्च भवति । ' जीवित्तुष्ठा च ' या जीविते तुष्णा च 'बोधिच्छा' व्युत्क्रियता मता । न हि जीविताशावान् अक्षनादिकं त्यक्तुमीहते । जीविते तुष्णावाभ्यतिक्रित्कृत्वा असंयमादिकं प्राणानेव चारविपुमुद्यतो भवति न रत्नत्रये ॥२४०॥

दुःखं च भाविदं होदि अप्पडिबद्धो य देहरससुखे ।

सुसुखीवा कसाया विसएसु अणायरो होदि ॥२४१॥

'दुःखं च भाविदं होदि' दुःखं च भावितं भवति । दुःखभावना च कथमुपयोगिनी असंक्लेशेन दुःख-सहने कर्मनिर्जरा जायते । क्रमेण च जायमाना निर्जरा निरवशेषकर्मापायस्योपाय इत्येवमुपयोगिनी इति मन्यते । अपि चासकृद्भाषितदुःखो निवचलो भवति' ध्याने । 'अप्पडिबद्धो य होदि' अप्रतिबद्धश्च भवति । 'देहरससुखे' शरीररससौख्ये । एतेषु त्रिषु प्रतिबद्धता समाधेर्विघ्न म निरस्तो भवतीति भाव । 'सुसुखीवा कसाया' उन्मुदिताः कषायाः भवन्ति । कथं अनसनादिना कषायनिग्रहः कृतो भवति ? क्षमामार्द-वार्जवसन्तोषभावनादिप्राप्तपक्षभूता त्रिनाशयन्ति कषायान्नेतरदिति चेत् अयमभिप्रायः—अक्षनाद्यलामे, स्वल्प-लामे, अक्षोभनाना वा लामे क्रोधकषाय उत्पद्यते । तथा प्रचुरलामाद्रनवद्भ्रुशालाभाच्च लम्बिमानहमेवेति मानकषायः । अस्मदीयभिक्षागृहं यथान्ये न जानन्ति तथा प्रविशामीति चिन्ता मायाकषाय । अक्षने रसे प्राचुर्यादिशिष्टे भासितिलोभकषाय । तथा वसत्यप्रदाने कोप, तन्लाभे च मानकषायः प्राबन्त् । अन्येष्या-वच्छन्तीति न मम वस'तिरस्त्यवकाशो'वाऽप्रेति वचनान्मायाकषाय । अहमस्य स्वामीति लोभ । इत्थं

त्रयमें न लानेसे ब्याकुल होकर अशुभ परिणामोंमें ही लगता है । अपनी शक्तिको छिपाता नहीं है और वीर्याचारमें प्रवृत्त होता है । जीवनकी जो तृष्णा है वह भी नष्ट हो जाती है । जिसे जीनेकी तृष्णा है वह भोजनादिकका त्याग करना नहीं चाहता । जीवनकी तृष्णावाला जो कुछ भी असंयम आदि करके प्राणधारण करनेमें ही तत्पर रहता है, रत्नत्रयमें नहीं लगता ॥२४०॥

गा०—टी०—दुःखका सहन होता है । बिना किसी संक्लेशके दुःख सहनेमें कर्मोंकी निर्जरा होती है । और क्रमसे होनेवाली निर्जरा समस्त कर्मोंके बिनाशका उपाय है इसलिए दुःखभावना उपयोगी है । दूसरे, बार-बार दुःखकी भावना करने वाला ध्यानमें निवचल होता है । शरीर, रस और सुखमें अप्रतिबद्ध—अनासक्त होता है । इन तीनोंमें आसक्ति समाधिमें विघ्न करती है । अतः उसका निरास होता है । कषायोंका मर्दन होता है ।

शंका—अनशन आदिसे कषायका निग्रह कैसे होता है ? कषायोंकी विरोधी क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष भावना आदि कषायोंको नष्ट करते हैं, अन्य नहीं ।

समाधान—अभिप्राय यह है कि भोजन आदि न मिलने पर, या कम मिलने पर अथवा अर्हचकर मिलने पर क्रोध कषाय उत्पन्न होती है । तथा प्रचुर लाभमें और स्वादयुक्त भिक्षाके लाभसे मैं 'लम्बि सम्पन्न हूँ' ऐसी मान कषाय उत्पन्न होती है । मेरे भिक्षा लेनेके घरको दूसरे न जान सकें इस तरह घरमें प्रवेश करूँ, यह चिन्ता माया कषाय है । रसिले अत्यधिक भोजनमें आसक्ति लोभ कषाय है । तथा वसति नहीं देने पर क्रोध और उसके मिलने पर मानकषाय होती है जैसा पहले भोजनके सम्बन्धमें कह आये हैं । दूसरे भी आने वाले हैं इस वसतिमें स्थान नहीं है

कषायनिमित्तवस्तुत्यागान्न कषायानामवसरः इति । 'विसण्णु' विषयेषु स्पर्शनादिषु । 'अणादरो होइ' अनादरो भवति औदासीन्ये जायते । तदौदासीन्यात् तत्रादरनिमित्तकर्ममवरो भवतीति भावः । अशनस्य हि 'शुक्ला-
दिक्ये म्बुत्सुवो, सौगन्धे, रसे वादरस्त्यक्ती भवति अशनं त्यजता । तथा क्षीरादिकमपि त्यजता क्षीरादि-
क्येषु ॥२४१॥

कदजोगदाददमणं आहारणिरासदा अगिद्धी य ।

लाभालामे समदा तितिक्लणं बंभचेरस्स ॥२४२॥

'कदजोगदा' सर्वत्यागस्य पश्चाद्भाविनः योगश्च कृतो भवति बाह्येन तपसा । 'आवबन्ध' आत्मनो धमनं आहारे सुखे च योजुरागस्तस्य प्रशमनात् । 'आहारणिरासदा' आहारे नैराशयं सम्पादित प्रतिदिनं आहारगताशापरिव्यागाम्यासात् । सर्वत्यागकालेऽपि सुकरा भवत्याहारनिराशतेति भावः । 'अगिद्धी य' अगु-
द्विष्य अलपटता च । क्व ? आहारे । न ह्याहारे गृद्धिमान्क्लब्धा तं त्यजति । लाभालामे समदा लाभालामयो समता । लाभे च मत्याहारस्य हृषीकरणत् अलाभे च तथाऽकोपात् । यः स्वयमेव लब्धमपि त्यजति स कष-
मित्त् परेषामदत्ते दुर्मनीभवति । 'तितिक्लणं बंभचेरस्स' ब्रह्मचर्यं च सोढं भवति । रमवदाहारन्यायादभिन-
वेऽसति शुक्रसचये अनशने च मचित्तप्रत्यये मनि न स्त्रीध्वनुगमो भवति इति भावः । तथा गलितशुक्राणां पुंसां वैमुक्यं अगनासु प्रतीतमेव ॥२४२॥

ऐसा कहना माया कषाय है । मे इस वसतिका स्वामी हूँ यह लोभ कषाय है । इस तरह जो वस्तु कषायमें निमित्त है उनका त्याग करनेमें कषायका अवसर नहीं रहता । (विमण्णु अणादरो होई) स्पर्शन आदि विषयोंमें अनादर होता है अर्थात् उदासीनता होती है । विषयोंमें उदासीनतासे विषयोंमें आदर भाव रखनेके निमित्तसे बन्धने वाले कर्मोंका संबन्ध होता है यह भाव है । भोजनके त्यागसे भोजनके शुक्ल आदि रूपमें, कोमल स्पर्शमें, सुगन्धमें अथवा रसमें आदरका त्याग हो जाता है । तथा दूध आदिका भी त्याग कग्नेसे दूध आदिके रूप रस आदिमें आदरका त्याग हो जाता है ॥२४१॥

शा०-टी०—'कद जोगदा'—बाह्य तपसे मरणकालमें जो सर्व आहारका त्याग करना होता है उसका अभ्यास होता है । 'आत्मदमण'—आहार और सुखमें जो अनुराग है उसका प्रशमन होनेसे आत्माका दमन होता है । आहारणिरासदा'—प्रतिदिन आहार सम्बन्धी आशाके त्यागके अभ्याससे आहारके विषयमें निरागा सम्पन्न होती है । अभिप्राय यह है कि समस्त आहारका त्याग करने के कालमें भी आहार सम्बन्धी इच्छाका विनाश सुकर होता है । 'अगिद्धीय'—और आहारमें लंपटता नहीं रहती । जिसकी आहारमें गृद्धि है वह आहार पाकर उसे छोड़ नहीं सकता । 'लाभालामे समदा'—लाभ और अलाभमें समता रहती है । आहारका लाभ होने पर हर्ष नहीं करता और अलाभमें क्रोध नहीं करता । जो स्वयं भी प्राप्त आहारको छोड़ देता है वह दूसरोंके न देने पर अपना मन खराब कैसे कर सकता है । तितिक्लणं बंभचेरस्स'—ब्रह्मचर्यको धारण करता है । रसोले आहारके त्यागसे नवीन वीर्यसंचय नहीं होता और अनशनसे सचित्तवीर्य क्षय होता है तब स्त्रीमें अनुराग नहीं होता । तथा जिन पुरुषोंमें वीर्यहीनता होती है उनके प्रति स्त्रियोंकी विमुखता प्रसिद्ध ही है ॥२४२॥

आदा कुलं गणो पत्रयणं च सोमाविदं इवदि सव्वं ।

अलसत्तणं च विजहं कम्मं च विणिद्दुयं होदि ॥२४४॥

'आदा कुलं गणो पत्रयणं च सव्वं सोमाविदं इवदिति' पदषट्ठना । बाह्येन तपसा स्वयं कुलमात्मनो, गणं, स्वशिष्यसन्तानवच सोमामुपनीतो भवति । 'अलसत्तणं च' अलसत्त्वं च । 'विजहं' त्यक्तं भवति । दुर्धरतपःसमुद्योगात् 'कम्मं च विणिद्दुयं' कर्म च संसारमूलं विशेषेण निर्दूतं भवति ॥२४४॥

बहुगार्णं संवेगो जायदि सोमत्तणं च मिच्छाणं ।

मग्गो य दीविदो भगवदो य अनुपालिया आणा ॥२४५॥

'बहुगार्णं' बहूना । 'संवेगो जायदि' संसारशीलता जायते । यथा सन्नद्धमेकं वृष्टवा नूनमत्र भयमस्ति किञ्चिद्बहुमपि सन्नद्धामीति जन. प्रवर्तते । एव तपस्युद्यतमवलोक्य संसारभयादयमेव क्लिश्यति तदस्माकमप्य-निवारितमेवेति विभ्रंति । भीतश्च प्रतिक्रिया प्रारभते । 'सोमत्तणं च मिच्छाणं' मिथ्यावृष्टीना सीम्यता सुमुह्यता वा जायते । दुर्धरमिदं महत्तपो यतीना इति प्रसन्ना भवतीति यावत् । 'मग्गो य दीविदो' मार्गश्च मुक्ते. प्रकाशितो भवति यतीना बाह्येन तपसा करणभूतेन । न तपसा विना कर्मणा निर्जराऽस्तीति 'भगवदो य अनुपालिया आणा' भगवत् आज्ञा चानुपालिता भवति यतिना बाह्येन तपसा करणेन ॥२४५॥

देहस्स लाषवं संवेगो जायदि सोमत्तणं च मिच्छाणं ।

जवणाहागो संतोमदा य जहसंभवेण गुणा ॥२४६॥

'देहस्स लाषवं' शरीरस्य लाषवगुणो बाह्येन तपसा भवति । लष्वारीरस्य आवश्यकक्रिया. सुकरा भवन्ति । स्वाध्यायध्याने चाकलेशसम्पाद्यं भवत । 'नेहस्स लूहणं' शरीरस्नेहविनाशनं च गुणः । शरीरस्नेहादेव

उक्त पाँच गाथाये जो कुछ कहा है उसका सम्बन्ध 'बाह्यतपसे होता है' इस वाक्यके साथ लगाना चाहिए ॥२४३॥

टी०—बाह्य तपसे आत्मा, अपना कुल, गण, अपनी शिष्य परम्परा शोभित होती है । आलस्य छूट जाता है । और दुर्धर तप करनेसे संसारका मूल कर्म विशेषरूपसे नष्ट होता है ॥२४४॥

टी०—याँतके बाह्य तप करनेसे बहुतसे लोगोंको संसारसे भय उत्पन्न होता है । अवश्य ही यहाँ कुछ भय है भी मैं तैयारी करता हूँ । इस प्रकार लोग तपमे प्रवृत्त होते हैं । तपमे उद्यत जनको देखकर 'यह संसारके भयसे इस प्रकारका कष्ट उठाता है । हम भी इससे बच नहीं सकते ऐसा मान संसारसे डरता है और डरकर उसका प्रतीकार करता है । तपस्वीको देखकर मिथ्या-दृष्टियोंमें भी सौम्यता आ जाती है । याँतियोंका यह महान तप दुर्धर है इस प्रकार अपनी प्रस-न्नता प्रकट करते हैं । याँतियोंके बाह्य तप करनेसे मुक्तिका मार्ग प्रकाशित होता है । क्योंकि तपके बिना कर्मोंकी निर्जरा नहीं होती । और भगवान्की आज्ञाका अनुपालन होता है ॥२४५॥

टी०—बाह्य तपसे शरीरमें हल्कापन आता है । जिसका शरीर हल्का होता है वह आवश्यक क्रियाओंको सरलतासे करता है । तथा स्वाध्याय और ध्यान बिना कष्टके होते हैं ।

मनोऽसंयमे प्रवर्तते । शरीरमेवात्म्यहेतुरिति तपोऽपि न करोति । तेनाहितः शरीरस्नेहो विनाशितो भवति । 'ज्वरसो मन्हा परसो' तथा चोत्कृष्टरसोपशमो भवति रागादेदुःकरे तपसि वर्तमानस्य । किं च मम रागेण उपशमकारिणा । सति रागे हि नवकर्मबन्धो जायते । चिरन्तनकर्मरसोपबुद्धं च । सति चेत्यं मदीयः बलेशो निष्कलो भवेदिति मनःप्रणिधानावुपशमः । 'ज्वरणाहारो' परिमिताहारता इति केचिदाचक्षते । तत्र च गुणो नीरोगतादिकमिति । तथा चाह्मिताशिनः पद्गुणा भजन्ते इति । अपरे शरीरस्थितिमात्रहेतुराहारः ज्वरणाहारस्य शरीरवाच्यः इति स्थिताः ॥२४६॥

एवमित्यादिनोपसंहारति—

एवं उग्गम उप्याद षे सणा सुद्ध भत पाणेण ।

मिदलहु यविरसलुक्खेण य तवमेदं कुणदि णिच्चं ॥२४७॥

'एवमेवं' तसो णिच्चं कुणदिति' पदघटना । 'एवं' व्यावर्णितरूपेण । 'एवं' एतत् बाह्य तपः । 'कुणदि' करोति । 'णिच्चं' नित्यं । 'उग्गम उप्याद षे सणा सुद्ध भत पाणेण' उद्गमोपादनैषणादोपरहितेन, भक्ततेन पानेन च । कीदृग्मतेन ? 'मिदलहु यविरसलुक्खेण' परिमितेन लघुना, विरमेन, रूक्षेण । एवंभूत शुद्धमाहार भुक्त्वा तपः 'कुर्वान्नाशुद्धमिति भावः ।

उत्लीणोत्लीणेहिं य अहना एककंतवद्धमाणेहिं ।

मन्लिहइ म्पणी देहं आहारविधिं पयणुगितो ॥२४८॥

'उत्लीणोत्लीणेहिं च' प्रवर्द्धमानेन हीयमानेन च तपसा चतुर्थवच्छादिक्रमेणानशनतपोवृद्धि । एकदि-

शरीरसे स्नेहका विनाश होता है यह भी एक गुण है । शरीरके स्नेहसे ही मनुष्य असंयमका आचरण करता है । शरीर ही अनर्थका कारण है । इसीके स्नेहवश मनुष्य तप नहीं करता । अतः तपसे अहितकागी शरीरस्नेहका नाश होता है । दुष्कर तप करनेवालेके रागादिका उत्कृष्ट उपशम होता है । वह मनमें विचारता है, इस उपद्रवकारो रागसे मुझे क्या ? रागके होनेपर नवोन कर्मका बन्ध होता है, और पूर्वबद्धकर्मोंमें रसकी वृद्धि होती है । ऐसा होनेपर मेरा कष्ट सहन निष्फल है । ऐसे विचारसे उपशम होता है । 'ज्वरणाहारो'—इसका अर्थ कोई 'परिमित आहार' करते हैं । उसमें नीरोगता आदि गुण हैं । कहा है 'परिमित भोजनमें छह गुण होते हैं ।' अन्य कुछ शरीरकी स्थितिमात्रमें हेतु जो आहार है वह ज्वरणाहार है ऐसा कहते हैं ॥२४६॥

उक्त चर्चाका उपसंहार करते हैं—

गा०—कहे अनुसार उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषसे रहित भोजन और पानसे और परिमित, लघु, रसरहित और रूक्ष भोजन पानसे यह बाह्य तप नित्य यति करता है । इसका भाव है कि इस प्रकारका शुद्ध आहार खाकर तप करना चाहिए । अशुद्ध आहार करके नहीं ॥२४७॥

गा०—वर्द्धमान या हीयमान अनशन आदि तपोसे अथवा सर्वथा वर्द्धमान तपोके द्वारा आहारकी विधिको अल्प करता हुआ मुनि शरीरको कृश करता है ॥२४८॥

टी०—चतुर्थ, षष्ठ आदिके क्रमसे अनशन तपकी वृद्धि होती है । एक दो आदि शासक

१. कुर्वान्नाशुद्ध—अ० । कुयुः सुशुद्ध—आ० ।

कवकाविभ्यूनतया अवमोदयंवृद्धिः । एकस्य रसस्य द्वयोस्त्रयाणामित्यादिना क्रमेण रसपरित्यागवृद्धिः । एक-
पाटकं, गृहसप्तकं, गृहनयं वा प्रविशामीति, भिक्षाप्रासपरिमाणम्यूनताकरणेन वा वृत्तिपरिसंख्यानवृद्धिः । दिवसे
आतपनं कृत्वा रात्रौ प्रतिमावस्रहकरणमित्यादिना कायक्लेशवृद्धिः । एवं श्रमे महति संजाते 'क्रमेण अनशन-
दीनां म्यूनताकरणं' । 'अहवा' अपयवा । 'एवंतवद्दृशार्णोहि' एकांस्तेन धर्ममानं तपोभिः । 'सल्लिहइ' मंलि-
कति । 'मुनी' मुनिः । 'वेहं' । आहारविधिं अशनादिविधिं । 'पबणुमितौ' अल्पीकुर्वन् ॥२४८॥

प्रकारान्तरेण सल्लेखनोपायमाचष्टे—

अणुपुब्बेणाहारं संबट्टतो य सल्लिहइ देहं ।

दिवसुग्गहिएण तवेण चावि सल्लेहणं कुणइ ॥२४९॥

'अणुपुब्बेण' क्रमेण । आहारं संबट्टतो य आहारं म्यूनयित्वा । सल्लिहइ वेहं तनूकर्णात् । विवसुग्-
हिणेण तवेण चावि एकैकदिन प्रतिगृहीतेन तपसा च, एकस्मिन्दिनेऽनशनं, एकस्मिन्दिने वृत्तिपरिसंख्यानं
इति । सल्लेहणं कुणइ मल्लेखना करोति ॥२४९॥

विविहाहिं एसणाहिं य अवग्गहेहिं विविहेहिं उग्गेहिं ।

संजममचिराहितो जहाबल सल्लिहइ देहं ॥२५०॥

'विविहाहिं' नानाप्रकारं । 'एसणाहिं य' भोजनं रसवजित्तरप्यन्वे शुष्कराचाम्लैर्वा । 'अवग्गहेहिं'
नानाप्रकारैरवग्रहं । 'उग्गेहिं' उग्रं । 'संजममचिराहितो' संयम द्विप्रकारं अविनाशयन् । 'जहाबल' स्व-
बलानतिवृत्त्या देहं तनूकरोति ॥२५०॥

सदि आउगे सदि बले जाओ विविधाओ भिक्खुपडिमाओ ।

ताओ वि ण बाधंते जहाबलं सल्लिहंतस्स ॥२५१॥

करनेसे अवमोदयंकी वृद्धि होती है । एक रसका, फिर दो रसका, फिर तीन रसका । इत्यादि
क्रमसे त्याग करनेसे रसपरित्यागकी वृद्धि होती है । मैं एक पाटकमे या मात घरमे या तीन
घरमें प्रवेश करूंगा । अथवा भिक्षाके घ्रासोंका परिमाण कम करनेसे वृत्तिपरिसंख्यान तपकी वृद्धि
होती है । दिनमे आतापन योग करके रात्रिमें प्रतिमा योग धारण करने आदिसे कायक्लेशकी
वृद्धि होती है । इस प्रकार करनेसे महान् श्रम होनेपर क्रमसे अनशन आदिमे कमी करता है ।
या फिर बढ़ाता ही जाता है और आहारको कम करके मुनि शरीरको कृश करता है ॥२४८॥

प्रकारान्तरसे सल्लेखनाका उपाय कहते है—

शा०—क्रमसे आहारको कम करते हुए शरीरको कृश करता है । और एक एक दिन ग्रहण
किये तपसे, एक दिन अनशन, एक दिन वृत्तिपरिसंख्यान इस प्रकार सल्लेखनाको करता
है ॥२४९॥

शा०—नाना प्रकारके रस रहित भोजन, अल्प भोजन, सूखा भोजन, आचाम्ल भोजन
आदिसे और नाना प्रकारके उग्र नियमोंसे दोनों प्रकारके संयमोंको नष्ट न करता हुआ यदि अपने
बलके अनुसार वेहको कृश करता है ॥२५०॥

१. मायियं दुयं तियं चउ पंच मासं छम्मासं सत्त मासी य ।

तिण्णेच सत्तराहं राहं वियं राइपडिमाओ ॥ —मूलागणनावर्षणे ।

'सवि आउचे' आयुषि सति । 'सवि बले' सति बले । 'आजो' या: 'विचिहाजो' विचित्रा: । 'भिक्षु-
पडिमाजो' भिक्षुप्रतिमा: । 'सजो वि' तावच । 'ज आचंते' न पीडा जनयति महती । कस्य ? 'आहारानं
सल्लेखंस्तस्स' यथाबलं तनुकुर्वत: बलमन्तरेण कुर्वत: प्रारब्धमहापलेशस्य योगभङ्गं संकलेशस्य महान् आयते
इति भाव: ॥२५१॥

शरीरसल्लेखनाहेतुषु उपग्रह्यस्तेषु के उत्कृष्टा इत्यत्राह—

सल्लेहणा सरीरे तवोगुणविधी अणेगहा भणिदा ।

आयंभिलं महेसी तत्थ दु उक्कस्सयं विति ॥२५२॥

'सल्लेहणा शरीरे' शरीरसल्लेखनानिमित्त शरीरे सल्लेखना इत्युच्यते । 'तवोगुणविधी' तप:संज्ञितो
गुणविकल्प: । 'अणेगहा भणिदा' अनेकवा निरूपित. अतीतसूत्रं । 'तत्थ' तत्र । 'महेसी' महर्षय: । 'आयं-
भिलं दु' आचाम्लाशंभवेद । 'उक्कस्सयं' उत्कृष्टमिति । 'विति' भुवन्ति ॥२५२॥

टी०—आयुके होते हुए और बलके होते हुए अपनी शक्तिके अनुसार शरीरको कृश करने
वाले यतिके जो विविध भिक्षु प्रतिमाएँ हैं, वे भी महान् कष्ट नहीं देती । जो शक्तिके बिना करता
है उसे प्रारम्भ मे ही महान् क्लेश होनेसे योगका भग तथा महा संकलेश परिणाम होते है ॥२५१॥

विशेषार्थ—आशाघरजोने एक गायके द्वारा उसका अर्थ करते हुए भिक्षु प्रतिमाओका
कथन किया है जो इस प्रकार है—

आत्माकी सल्लेखना करने वाला, धैर्यशाली, महासत्त्वसे सम्पन्न, परीपहोका जेता, उत्तम
सहनसे विशिष्ट, क्रमसे धर्मध्यान और शुक्ल ध्यानको पूर्ण करता हुआ मुनि जिस देशमे रहता
है उस देशके लिये दुर्लभ आहारका व्रत ग्रहण करता है कि यदि एक मासमे ऐसा आहार मिला
तो मैं भोजन करूँगा, अन्यथा नहीं करूँगा । उस मासके अन्तिम दिन वह प्रतिमा योग धारण
करता है । यह एक भिक्षु प्रतिमा है । इस प्रकार पूर्वोक्त आहारसे सौगुने उत्कृष्ट अन्य-अन्य
भोजन सम्बन्धी नियम लेता है । ये नियम दो, तीन, चार, पाँच, छ और सात मासको लेकर
होते हैं । अर्थात् दो या तीन आदि सात मासमें ऐसा आहार मिलेगा तो आहार करूँगा । सर्वत्र
नियमोंके अन्तिम दिन प्रतिमा योग धारण करता है । ये सात भिक्षु प्रतिमा हैं । पुनः पूर्व आहार
से सौगुना उत्कृष्ट दुर्लभ अन्य-अन्य आहारका नियम सात-सात दिनका तीन बार ग्रहण करता है ।
अर्थात् सात दिनमें ऐसा मिला तो ग्रहण करूँगा । ये तीन भिक्षु प्रतिमा हैं । फिर रात दिन
प्रतिमायोगसे स्थित रहकर पीछे रात्रि प्रतिमायोग धारण करता है । ये दो भिक्षु प्रतिमा हैं ।
इनके धारण करनेपर पहले अवधि मनःपर्यय ज्ञानको प्राप्त करनेके पीछे सूर्योदय होनेपर केवल-
ज्ञानको प्राप्त करता है । इस तरह बारह भिक्षु प्रतिमायोगसे स्थित होकर पश्चात् रात्रि प्रतिमा-
योग धारण करता है ॥२५१॥

ऊपर जो शरीरकी सल्लेखनाके हेतु कहे हैं उनमें कौन उत्कृष्ट हैं, यह कहते हैं—

शा०—शरीरकी सल्लेखनाके निमित्त अनेक प्रकार तप नामक गुणके विकल्प पूर्व गाथाओं
के द्वारा कहे हैं । उनमेंसे महर्षि आचाम्लको ही उत्कृष्ट कहते हैं ॥२५२॥

शरीरसल्लेखनोपायोत्कृष्टमाचाम्लाशनमित्युक्तं तत्कीदृगिति चोदिते आह—

छद्दुद्दुमदसमदुबालसेहिं भचेहिं विदियज्जुहिं ।

मिदलद्दुम आहारं करेदि आयबिलं बहुसो ॥२५३॥

‘छद्दुद्दुमदसमदुबालसेहिं भचेहिं विदियज्जुहिं’ द्विशिचतुःपञ्चविनोपवासैः उत्कृष्टं । ‘मिदलद्दुमं आहारं करेदि’ परिमितं लघ्वाहारं करोति । ‘आयबिलं’ आचाम्लं । ‘बहुसो’ बहुशः ॥२५३॥

भक्तप्रत्याख्यानस्यास्य वर्ण्यमानस्य कियत्काल इत्यत्रोत्तर—

उक्कस्सएण भत्तपइण्णाकालो जिणेहिं णिहिट्ठो ।

कालम्मि संपहुत्ते बारसवरिसाणि पुण्णाणि ॥२५४॥

‘उक्कस्सएण’ उत्कर्षेण । ‘भत्तपइण्णाकालो’ भक्तप्रत्याख्यानकालः । ‘जिणेहिं णिहिट्ठो’ जिननिर्दिष्ट । ‘कालम्मि’ काले । ‘संपहुत्ते’ महति सति । ‘बारसवरिसाणि’ सम्पूर्णद्वादशवर्षमाधान् ॥२५४॥

उक्तेषु द्वादशवर्षेषु एवं कर्तव्यमिति क्रमं सल्लेखनाय दर्शयति—

जोगेहिं विचिसेहिं दु खवेइ संवच्छराणि चत्तारि ।

विण्णो वि णिज्जुहिंत्ता चत्तारि पुणो वि सोसेदि ॥२५५॥

‘जोगेहिं’ कापक्केशं । ‘विचिसेहिं दु’ विचित्रैरनियतं । ‘खवेइ’ क्षययति । ‘संवच्छराणि चत्तारि’ वर्षचतुष्टयं । यत्किञ्चिद्भुक्त्वा । ‘विण्णो णिज्जुहिंत्ता’ रसादीन्वीरादीन्परित्यज्य । ‘चत्तारि’ वर्षचतुष्टयं । ‘पुणो वि’ गुणरपि । ‘सोसेदि’ तनूकरोति तनुम् ॥२५५॥

शरीरकी सल्लेखनाके उपायोमे आचाम्लको उत्कृष्ट कहा, वह कैसा होता है, यह कहते हैं—

गा०—उत्कृष्ट दो दिन, तीन दिन, चार दिन और पाँच दिनके उपवासके बाद अधिकतर परिमित और लघु आहार आचाम्लको करते हैं ॥२५३॥

विशेषार्थ—‘अदिविकट्टेहि’ के स्थानमें वियदि अट्टेहि’ पाठ भी मिलता है । उसका अर्थ ‘विशेष अतिकृष्ट’ ऐसा होता है । इस गाथाका तात्पर्य यह है षष्ठ आदि उपवासोंसे सक्लेशको न प्राप्त होता यति मित और लघु कांजी का आहार प्रायः करता है । उसे सल्लेखनाके हेतुओमें उत्कृष्ट कहते हैं ॥२५३॥

जिस भक्त प्रत्याख्यानका वर्णन चल रहा है उसका काल कितना है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—यदि आयुका काल अधिक शेष हो तो जिन भगवान्ने उत्कृष्टसे भक्त प्रत्याख्यानका काल पूर्ण बारह वर्षं कहा है ॥२५४॥

उक्त बारह वर्षमें ऐसा करना चाहिये, इस प्रकार सल्लेखनाका क्रम बतलाते हैं—

गा०—नाना प्रकारके कायक्लेशोंके द्वारा चार वर्षं बिताता है । दूध आदि रसोंको त्यागकर फिर भी चार वर्षं तक शरीरकी सुखाता है ॥२५५॥

आयविलेणान्वियडीहिं दोष्णि आयविलेण एषकं च ।

अद्द णादिविगट्ठेहिं अदो अद्द विगट्ठेहिं ॥२५६॥

‘आयविलेणान्वियडीहिं’ आचाम्लेन निर्विकृत्या च । ‘दोष्णि’ वर्षद्वयं क्षपयति । ‘आयविलेण’ आचाम्लेनैव । ‘एषकं च’ एकं वर्षं । ‘अद्द’ अवशिष्टस्य वर्षस्य षष्मासान् । ‘नादिविगट्ठेहिं’ अत्यनुकृष्ट-स्तपोभिः क्रमायति । ‘अदो अद्द विगट्ठेहिं’ अतः पर षष्मासान् उत्कृष्टस्तपोभिः ॥२५६॥

व्यावर्णितेनैव क्रमेण आचरितव्यमिति नियोगो न विद्यते इत्याचष्टे—

भसं खेच कालं धादुं च पडुच्च तह तवं कुञ्जा ।

वादो पित्तो सिमो व जहा खोभं ण उवयति ॥२५७॥

‘भसं’ आहारं शाकबहुलं, रसबहुलं, कुल्माषप्रायं, निष्पावचणकादिभिर्भ्रं, शाकव्यञ्जनाविरहितं वा । ‘खेत्तं’ अनूपजाङ्गलसाधारणविकल्पं । ‘कालं’ धर्मशीतसाधारणभेदं । धातुमात्मानं शरीरप्रकृतिं च । ‘पडुच्च’ आश्रित्य । ‘तह’ तथा । ‘तवं कुञ्जा’ तपः कुर्यात्कृत्वा खोभं च उवयति । यथा खोभं नोपयान्ति । ‘वादो पित्तो सिमो वा’ वातपित्तस्लेष्मत्रिक ॥२५७॥

शरीरसल्लेखनाक्रममभिधायाम्भ्यन्तरसल्लेखनाक्रममभिधातु अभ्यन्तरसल्लेखनया सह सम्बन्ध कथयन्ति—

एव सरीरसल्लेहणाविहिं बहुविहा व फासेतो ।

अज्झवसाणविसुद्धिं खुणमवि खवओ ण मुंचेज्ज ॥२५८॥

‘एव’मुक्तेन क्रमेण । ‘शरीरसल्लेहणाविहिं’ नानाप्रकारं । ‘फासेतो वि’ स्पृशन्ति । ‘अज्झवसाण-

गा०—आचाम्ल और निर्विकृतिके द्वारा दो वर्षं बिताता है । आचाम्लके द्वारा एक वर्षं बिताता है । मध्यम तपके द्वारा शेष वर्षके छह माह और उत्कृष्ट तपके द्वारा शेष छह मास बिताता है ॥२५६॥

विशेषार्थ—शेष चार वर्षोंमें से दो वर्षं काजी और रस व्यजन आदिसे रहित भात वगैरह खाकर बिताता है । एक वर्षं केवल काजी आहार लेता है । अन्तिम बारहवें वर्षके प्रथम छह महीनोंमें मध्यम तप करता है । अन्तिम छह महीनोंमें उत्कृष्ट तप करना है ॥२५७॥

आगे कहते हैं कि ऊपर कहे क्रमके अनुसार ही आचरण करनेका नियम नहीं है—

गा०—आहार, क्षेत्र, काल अपनी शारीरिक प्रकृतिको विचार कर इस प्रकार तप करना चाहिये जिस प्रकार वात पित्त और कफ शोभको प्राप्त न हों ॥२५७॥

टी०—आहारके अनेक प्रकार है—शाक बहुल—जिसमें शाक ज्यादा है, रस बहुल—जिसमें घी दूध आदि रस अधिक हैं । कुल्माषप्राय—जिसमें कुलधी अधिक है । कच्चे चने आदि से मिला आहार और शाक व्यंजन आदिसे रहित आहार । क्षेत्र भी अनेक प्रकारके हैं जिसमें पानीकी प्रचुरता है, वर्षा अधिक होती है, कहीं वर्षा कम होती है । काल गर्मी सर्दी और साधारण होता है । इन सबका तथा अपनी प्रकृतिका विचार करके तप करना चाहिये जिससे स्वास्थ्य खराब न हो ॥२५७॥

शरीरकी सल्लेखनाका क्रम कहकर अभ्यन्तर सल्लेखनाका क्रम कहनेके निःशेष अभ्यन्तर सल्लेखनाके साथ सम्बन्ध कहते हैं—

गा०—उक्त क्रमसे नाना प्रकारकी शरीर सल्लेखनाकी विधिको करते हुए भी परिणामों

विशुद्धि' परिणामविशुद्धि । 'अन्वयी कषयनिव न बुधेन्य' क्षयकः क्षणमपि न त्यजेत् ॥२५८॥

अभ्यन्तरशुद्धयभावे दोषं कषयति—

अज्ञवसाणविशुद्धीए वज्जिअदा जे तवं विगट्ठं पि ।

कुब्बंति बहिन्लेस्सा ण होइ सा केवला सुद्धी ॥२५९॥

'अज्ञवसाणविशुद्धीए वज्जिअदा' अज्ञवसानविशुद्ध्या वज्जिताः । 'जे' ज्ञे । 'तवं' तपः । 'विगट्ठं पि कुब्बंति' उत्कृष्टमपि कुम्बन्ति । 'बहिन्लेस्सा' बहिल्लेष्याः पूजासत्कारासाहितचित्तवृत्तयः । 'ण होइ वेति केवला सुद्धी' दोषोन्मिश्रका भवतीति शङ्किरिति यावत् ॥२५९॥

केवला शुद्धि' कस्य तर्हि भवतीत्याह—

अविगट्ठं पि तव जो करेइ सुविशुद्धसुक्कलेस्साओ ।

अज्ञवसाणविशुद्धो सो पावदि केवला सुद्धि ॥२६०॥

'अविगट्ठं पि' अनुत्कृष्टमपि तपो य करोति । सुविशुद्धशुक्कलेष्यासमन्वितः विशुद्धपरिणामः स केवला शुद्धि प्राप्नोति इति गाथार्थ ॥२६०॥

प्रस्तुता द्वितीयां कषायमल्लेखनामुक्तयाध्यवसायविशुद्धया योजयति—

अज्ञवसाणविशुद्धी कसायकलुसीकदस्स णत्थिचि ।

अज्ञवसाणविशुद्धी कसायसल्लेखणा भणिदा ॥२६१॥

'अज्ञवसाणविशुद्धी' परिणामविशुद्धि । 'कसायकलुसीकदस्स' कषायं कलुषीकृतस्य । 'णत्थि' नास्ति यस्मात् इति तस्मात् । 'अज्ञवसाणविशुद्धी' परिणामविशुद्धि । 'कसायसल्लेखणा भणिदा' कषायसल्लेखनेति गदिता ॥२६१॥

की विशुद्धिको क्षयक एक क्षणके लिये भी न छोडे ॥२५८॥

अभ्यन्तर शुद्धिके अभावमे दोष कहते है—

गा०—परिणामकी विशुद्धिको छोडकर जो उत्कृष्ट भी तप करते हैं उनकी चित्तवृत्ति पूजा सत्कार आदिमे ही लगी होती है । उनके अशुभ कर्मके आत्मवसे रहित शुद्धि नहीं होती । अर्थात् दोषोसे मिली हुई शुद्धि होती है ॥२५९॥

नव केवल शुद्धि किसके होती है, यह कहने है—

गा०—जो अतिविशुद्ध शुकल्लेष्यामे युक्त और विशुद्ध परिणामवाला अनुत्कृष्ट भी तप करता है वह केवल शुद्धिको पाता है । यह गाथाका अर्थ है ॥२६०॥

प्रस्तुत दूसरी कषाय मल्लेखनाको उक्त अध्यवसाय विशुद्धिसे जोडते है—

गा०—जिमका चित्त कषायमे दूषित है उसके परिणाम विशुद्धि नहीं होती । इसलिये परिणाम विशुद्धिको कषाय मल्लेखना कहा है ॥२६१॥

विशेषार्थ—जिस मुनिका चित्त क्रोधाग्निके द्वारा कलुषित है उस मुनिके परिणाम विशुद्ध नहीं है । अतः उसके कषाय मल्लेखना नहीं है । कषायके कृग करनेको कषाय मल्लेखना कहते हैं । और कषायके कृग हुए दिना परिणाम विशुद्ध नहीं होते । अतः परिणाम विशुद्धिके साथ कषाय मल्लेखना का माध्य माधन भाव सम्बन्ध है ॥२६१॥

शुभपरिणामप्रवाहवृत्तेन चतुष्कषायसल्लेखना कृता भवति इत्यभिप्राय सामान्येन चतुर्णामपि कषायाणां तनुकरणे उपायं प्रतिपन्नपरिणामचतुष्कं कथयति—

क्रोध क्षमाए माणं च मद्भवेणाज्जवेण मायं च ।

संतोसेण य लोहं जिणदुं सु चत्तारि वि कसाए ॥२६२॥

क्रोधं क्षमायेत्यादिना कषायविनाशने उपायस्तदुत्पत्तित्याग. ॥२६२॥

उत्पन्नमानो हि कषायो वृद्धिमुपैतीति कथयति—

क्रोहस्स य माणस्स य मायालोभाण सो ण एदि वसं ।

जो ताण कसायाणं उप्पत्तिं चेष वज्जेइ ॥२६३॥

'क्रोहस्स य' अर्थं वं पदघटना । 'जो तेति कसायाणमुप्पत्तिं चेष वज्जेइ' यत्तेषां कषायाणामुत्पत्ति एव परिहरति । 'क्रोहस्स य माणस्स य मायालोभाण सो ण एदि वसं' क्रोधमानमायालोभानां स नोपैति वसं । यस्तेषामुत्पत्तिमपेक्षते स तद्वचनः कथं कषायसल्लेखना कुर्वादिति भावः ॥२६३॥

कषायोत्पत्तिं परिहर्तुं मिच्छता किं कर्तव्यमित्यत आह—

तं वत्थुं भोसब्बं जं पडिं उप्पज्जदे कसायग्गि ।

तं वत्थुमभिल्लएज्जो जत्थोवसमो कसायाणं ॥२६४॥

'तं वत्थुं भोसब्बं' तद्वस्तु मोक्षतव्यं । 'जं पडिं उप्पज्जदे' यन्निमित्तं उत्पद्यते 'कसायग्गी' कषायानि । 'तं वत्थुमभिल्लएज्जो' तद्वस्तुपाश्रयणं कुर्यात् । 'जत्थ' यनोपाश्रयणे । 'उवसमो कसायाणं' कषायाणामुपशमो भवति ॥२६४॥

जइ कइवि कसायग्गी समुट्ठिठो होज्ज विज्जवेद्वो ।

रागदोसुप्पची विज्जादि हु परिहरंतस्स ॥२६५॥

'जइ कइवि कसायग्गी' यदि कर्षचित्कषायानिः । 'समुट्ठिठो होज्ज' समुत्थितो भवेत् । 'विज्जवेद्वो-

जो शुभ परिणामोंके प्रवाहमें बहता है वही चार कषायोंकी सल्लेखना करता है यह कहकर, सामान्य से चारों कषायों को कुश करनेका उपाय उनके प्रतिपक्षी चार प्रकारके परिणाम हैं, यह कहते हैं—

टी०—क्रोधको क्षमासे, मानको मादवसे माया को आर्जवसे और लोभको सन्तोषसे, इस प्रकार चारों ही कषायोंको जीतो ॥२६२॥

आगे कहते हैं कि उत्पन्न हुई कषाय बढ़ती है—

टी०—जो उन कषायोंको उत्पत्तिको ही रोक देता है वह मुनि क्रोध, मान, माया, लोभके वशमें नहीं होता ॥२६३॥

जो कषायकी उत्पत्तिसे बचना चाहता है उसे क्या करना चाहिए यह कहते हैं—

शा०—उस वस्तुको छोड़ देना चाहिए जिसको लेकर कषायरूपी आग उत्पन्न होती है । और उस वस्तुको अपनाना चाहिए जिसके अपनानेसे कषायोंका उपशम हो ॥२६४॥

शा०—यदि थोड़ी भी कसायरूप आग उठती हो तो उसे बुझा दे । जो कषायको दूर करता है उसके राग-द्वेषकी उत्पत्ति घान्त हो जाती है ॥२६५॥

टी०—नीच जनकी संगतिकी तरह कषाय हृदयको जलाती है । अशुभ अंगोंपांग नामकर्म-

शब्दों' विख्यापितव्यः । 'रागद्वेषोऽप्यती' रागद्वेषयोस्त्वयति । 'विज्जाविष्णु' साम्यत्येव । 'परिहृतलस' परिहृतलः । कषायान्तिः प्रखान्ति नीयते । तद्दोषपेक्षणेन नीचजनसाङ्गत्यमिव हृदयं बहति, अशुभाङ्गीपाङ्गनामकर्मबद्धिरूपाननं करोति । रज इव चक्षुषो रागमानयति । महासमीरण इव तनुं कम्पयति । सुरापानमिव यत्किंचिन्मिथययति^१ । समीचीनज्ञानलोचनं मलिनयति । दर्शनवनमुत्पादयति । चारित्रसरः शोषयति । तपःपुरुषं भस्मयति । अशुभप्रकृतिलतां स्थिरयति । शुभकर्मफलं विरसयति । प्रत्यग्रमनोमलं ढीकयति । हृदयं कठिनयति । प्राणमृतो घातयति । भारतीयसत्त्वां प्रवर्तयति । गुञ्जपि गुणान्लङ्घयति । यशोघनं नाशयति । परानपवादयति । महतोऽपि गुणान्स्थगयति । मंत्रीमुन्मूलयति । कृतमप्युपकारं विस्मारयति । अपकारमभ्यापयति । महति नरकगतं पातयति । दुःखावर्तं निमज्जयतीत्यनेकानर्थबह्वृत्वभावनया ॥२६५॥

रागद्वेषप्रशान्त्युपायकथनाय गाथा^२—

जाबन्ति केइ संग्गा उदीरया होंति रागदोसाणं ।

ते वज्जंतो जिणदि हु रागं दोसं च णिस्संगो ॥२६६॥

'जाबन्ति केइ सगा' यावन्त केचन परिग्रहा । 'उदीरया होंति रागदोसाणं' उत्पादका भवन्ति रागद्वेषयोः । 'ते वज्जंतो' तात्पर्यग्रहान्मिराकुर्वन् । 'जिणदि खु' जयत्येव । 'रागं दोसं च' रागद्वेषो । 'णिस्संगो' नि.परिग्रह. ॥२६६॥

के उदयसे जो मुख विरूप होता है वैसे ही कषायके उदयमें मनुष्यका मुख क्रोधसे विरूप हो जाता है । जैसे धूल पड़नेसे आँख लाल हो जाती है उसी तरह क्रोधसे आँख लाल हो जाती है । जैसे महावायुसे शरीर काँपने लगता है वैसे ही क्रोधसे मनुष्य काँपने लगता है । जैसे शराबी शराब पीकर जो चाहे बकना है वैसे ही क्रोधमें मनुष्य जो चाहे बोल देता है । जैसे जिसपर भूतका प्रकोप होता है वह कुछ भी करता है वैसे ही क्रोधी मनुष्य जो चाहे करता है । कषाय समीचीन ज्ञानरूपी दृष्टिको मलिन कर् देती है । सम्यग्दर्शनरूपी वनको उजाड देती है । चारित्ररूपी सरोवरको सुखा देती है । नपरूपो पत्रोको जला देती है । अशुभकर्मरूपी बेलकी जड़ जमा देती है । शुभकर्मके फलको रमहीन कर् देती है । अच्छे मनको मलिन करती है । हृदयको कठोर बनाती है । प्राणियोंका घात करती है । वाणीको असत्यकी ओर ले जाती है । महान् गुणोंका भी निरादर करती है । यशरूपी धनको नष्ट करती है । दूसरोंको दोष लगाती है । महापुरुषोंके भी गुणोंको ढीकती है, मित्रताकी जड़ खोदती है । किये हुए भी उपकारका भूलाती है । महान् नरकके गदमें गिराती है । दुःखोंके भँवरमें फँसाती है । इस प्रकार कषाय अनेक अनर्थ करती है । ऐसी भावनासे कषायको शान्त करना चाहिए ॥२६५॥

आगे गाथाके द्वारा रागद्वेषकी शान्तिके उपाय कहते हैं—

गा०—जितने भी परिग्रह रागद्वेषको उत्पन्न करते हैं, उन परिग्रहोंको छोड़नेवाला अपरिग्रही साधु राग और द्वेषको निवचयसे जीतता है ॥२६६॥

१. विज्जाविष्णु अ० । विज्जादिसु आ० । २. यति । आविष्टग्रह इव यत्किंचन कारयति समी—शु० ।

३. गाथार्थः, अ० ।

एवमुद्यममुपयाति कषायाम्निः स शैत्यमपकारं करोत्येवं प्रशान्तिं नेतव्यं इत्येतद्गाथायाश्चाहरणे-
नोच्यते—

पठिष्योदनासहजवायस्तुभिदपठिवयणईषणाइदो ।

चंडो हु कसायग्गी सहसा संपज्जलेज्जाहि ॥२६७॥

'पठिष्योदना' प्रतिषोदनायाः असहनमेव वातः तेन क्षुभितः, प्रतिवचनेन्वर्नैरिद्धः क्रूरः कषायाम्निः
सहसा प्रज्वलति ॥२६७॥

अल्लिदो हु कसायग्गी चरित्तसारं डहेज्ज कसिणं पि ।

सम्मत्तं पि विराधिय अणंतसंसारियं कुज्जा ॥२६८॥

'अल्लिदो हि कसायग्गी' ज्वलितवच कषायाम्निः । 'चरित्तसारं' चारित्र्याख्यं सारं बह्व्येव । सम्यक्त्व-
विनाश्यान्तससारपरिभ्रमणे रतं क्रुयविव ॥२६८॥

तम्हा हु कसायग्गी पावं उप्पज्जमाणयं चैव ।

इच्छामिच्छादुक्कडवंदणसल्लिण विज्जाहि ॥२६९॥

'तम्हा हु' तस्मात्सल्लु कषायाम्निः पापमृत्युद्वयमानमेव प्रशमयेत् । केन "इच्छामि भगवतः शिक्षां, मिथ्या
भवतु मम दुष्कृतं, नमस्तुभ्यं" इत्येवंभूतेन सल्लिण ॥२६९॥

तह चैव णोकसाया सल्लिहियच्चा परेणुवसमेण ।

सण्णाओ गारवाणि य तह लेस्साओ य असुहाओ ॥२७०॥

इस प्रकार कषायरूपी अग्निका उदय होता है और वह इस प्रकार अपकार करती है,
तथा इस प्रकारसे उसे शान्त करना चाहिए, यह तीन गाथाओंसे कहते हैं—

टो०—शिष्यकी अयोग्य प्रवृत्तिको रोकनेके लिए गुरुके द्वारा शिक्षा दिये जानेपर शिष्यने
जो प्रतिकूल वचन कहे वह गुरुको सहन नहीं हुए । वही हुई वायु । उस वायुसे गुरुके मनमें आग
भड़क उठी । उसके पश्चात् गुरुने शिष्यको पुनः समझाया तो शिष्यने पुनः प्रतिकूल वचन कहे ।
उसने गुरुकी कोपाग्निमें ईधनका काम किया तो आग भड़क उठी । अथवा गुरुने शिष्यको शिक्षा
दी । शिष्य उससे क्रुद्ध हुआ । शिष्यकी क्रोधरूप वायुसे क्षुब्ध होकर गुरुने पुनः उसे शिक्षा दी ।
उस शिक्षाने शिष्यकी क्रोधाग्निको भड़कानेमें ईधनका काम किया । ऐसे भयानक कषायाम्नि
सहसा भड़कती है ॥२६७॥

गा०—जलती हुई कषायरूप आग समस्त चारित्र्य नामक सारको जला देती है । सम्यक्त्व-
को भी नष्ट करके अनन्त संसारके परिभ्रमणमें लगा देती है ॥२६८॥

टो०—इसलिए पापरूप कषायाम्निको उत्पन्न होते ही बुझा देना चाहिए उसको बुझानेका
जल है—मैं भगवान् जिनेन्द्रदेवकी शिक्षाकी इच्छा करता हूँ । मेरा छोटा कर्म मिथ्या हो, मैं
नमस्कार करता हूँ ॥२६९॥

'सह वैच नोकषाया' तर्थात् नोकषायाः तनुकर्तव्याः । 'वरेषुवसुवेषु' परेणोपश्रवणेन । संज्ञा, गारवाणि, अशुभाश्च लेख्याः, हास्यरत्यदतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुरुषनपुंसकवेदाः नोकषाया इत्युच्यन्ते । आहारभयमैशुभपरिग्रहाभिलाषाः संज्ञाः । ऋद्धौ तीव्राभिलाषो, रसेषु, सुखे च गारवसन्धेन उच्यते ॥२७०॥

कषायवत्सवाचं शकरत्वाविशेषान्शोकषायानीनामपि ममुक्षोः सल्लेखनीयत्वमाख्याति—

परिवर्द्धितदोषघाणो विगडसिराणहारुपासुलिकडाहो ।

सलिलहिदतशुसरीरो अज्जप्परदो हवदि गिच्चं ॥२७१॥

'परिवर्द्धितदोषघाणो' परिवर्द्धितावग्रहः । अन्वेषां पाठः 'परिवर्द्धितदोषघाणो परिवर्धितावघानः । "विष-डसिराणहारुपासुलिकडाहो' प्रकटीभूता महत्यः अल्पाश्च सिराः पाश्चात्स्थिसहृतयः कटाक्षवैशाश्च यस्य । 'सल्लि-हिदतशुसरीरो' सम्यक्नुकृत शरीरं यस्य सः । 'अज्जप्परदो' अभ्यासं ध्यानं तत्र रतः । 'होइ' भवति । 'गिच्चं' नित्यं ॥२७१॥

एवं कदपरियम्भो सम्भन्तरवाहिरम्भ सलिलहणे ।

संसारमोक्खबुद्धी सव्ववरिल्लं तवं कुणदि ॥२७२॥

'एवं कदपरियम्भो' एवमुक्तेन क्रमेण कृतपरिकर । 'सम्भन्तरवाहिरम्भ सलिलहणे' अभ्यन्तरसल्लेखना-सहिताया बाह्यसल्लेखनाया । 'संसारमोक्खबुद्धी' संसारत्यागे कृतबुद्धिः 'सव्ववरिल्लं तवं' सर्वेभ्यस्तपोभ्यः उत्कृष्ट तपश्चरति । सल्लेखना सम्मत्ता ॥२७२॥

सल्लेखनानन्तरं कार्यमुपदिशति—

बोहुं गिलादि देह पव्वोढव्वमिणसुचिमारोत्ति ।

तो दुक्खभारभीदो कदपरियम्भो गणमुवेदि ॥२७३॥

गा०-टी०—इसी तरह उत्कृष्ट उपशमभावके द्वारा नोकषाय, संज्ञा, गारव और अशुभ लेख्याओंका घटाना चाहिए । हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद पुरुषवेद, नपुंसक वेद इन्हे नोकषाय कहते हैं । आहार, भय, मैथुन और परिग्रहकी चाहका नाम मज्ञा है । ऋद्धिकी तीव्र अभिलाषा, रम और सुखकी चाहको गारव कहते हैं ॥२७०॥

गा०-टी०—जो प्रतिदिन अपने नियमोंको बढाता है, जिसकी बड़ी और छोटी सिरायें, दोनों ओरकी हड्डियाँ और नेत्रोंकी हड्डियाँ स्पष्ट दिखाई देती हैं—शरीरको सम्यक् रूपसे कृश करनेवाला वह यति नित्य आत्मामें लीन रहता है ॥२७१॥

गा०-टी०—उक्त क्रमके अनुसार अभ्यास करनेवाला अभ्यन्तर सल्लेखना सहित बाह्य सल्ले-खना करनेपर संसारके त्यागका दृढ़ निश्चय करके सब तपोंसे उत्कृष्ट तप करता है ॥२७२॥

सल्लेखना समाप्त हुई ।

सल्लेखनाके अनन्तर होनेवाले कार्यका उपदेश देते हैं—

‘बोहुं गिलामि देहं’ शरीरोद्धहनहर्षरहितः । ‘पञ्चोद्धव्यं इषमसुद्धभारोत्ति’ परित्यागार्हमिव अशुचि-
भारभूतं शरीरमिति कृतचित्तः । ‘तो’ पश्चाद् ‘दुःखचारमीवो’ दुःखभाजनाच्छरीराद्भीतः । ‘कथपरिकल्पो’
कृतसमाधिमरणपरिकरः । ‘गणं’ विध्यद्वन्द्वं । ‘उबेधि’ ढोकते । अन्येषा पाठः ‘बोहुं गिलामि देहं’ इति ।
ते व्याख्यानयन्ति—शरीरं बोहुं अकृतादरोऽस्मि । पञ्चोद्धव्यमिवमसुद्धभारोत्ति परित्याग्यमिदं अशुचिभारभूतं
शरीरमिति कृतचित्तवचनम् ॥२७३॥

सल्लेहणं कर्तेतो अदि आयस्त्रिओ हवेज्ज तो तेण ।

ताए वि अबत्थाए चित्तेद्व्वं गणस्स हियं ॥२७४॥

‘सल्लेहणं कर्तेतो’ सल्लेखना कर्तुं मुद्यतः । ‘जइ’ यदि ‘आयस्त्रिओ हवेज्ज’ आचार्यो भवेत् । ‘तो’ ततः ।
‘तेण’ तेन । ‘ताए वि’ तस्यामपि । ‘अबत्थाए’ अवस्थायां । ‘चित्तेद्व्वं’ चिन्तनीय । ‘गणस्स’ गणस्य ।
‘हियं’ हितं ॥२७४॥

कालं संभाविता सव्वगणमणुदिसं च वाहरिय ।

सोमतिहिकरणणक्खत्तविलग्गे मंगलोगासे ॥२७५॥

‘कालं संभाविता’ आत्मनः आयु स्थिति विचार्य । ‘सव्वगणं’ सर्वगणं । ‘अणुदिसं च’ बालाचार्यं च ।
‘वाहरिय’ व्याहृत्य । ‘सोमतिहिकरणणक्खत्तविलग्गे’ सोम्ये दिने, करणे, नक्षत्रे, विलग्गे ‘मंगलोगासे’ शुभे
देशे ॥२७५॥

गच्छणुपालणत्थं आहोइय अत्तगुणसमं भिक्खु ।

तो तम्मि गणविसग्गं अप्पकहाए कुणदि घीरो ॥२७६॥

पा०-टी०—यह अपवित्र और भाररूप शरीर त्यागने योग्य है ऐसा निश्चय करके जो
शरीरको धारण करनेसे ग्लानि करता है उसे शरीरके धारण करनेमें कोई हर्ष नहीं होता । पीछे
दुःखके धर इस शरीरसे डरकर समाधिमरणकी तैयारी करता हुआ अपने गिण्योके पास जाता है ।

दूसरे आचार्य ‘बोहुं गिलामि देह’ ऐसा पाठ पढ़ते हैं वे उसकी व्याख्या इस प्रकार करते
हैं—शुभे शरीर धारण करनेमें कोई रुचि नहीं है यह अशुचि और भाग्भूत शरीर छोड़ने योग्य
है ऐसा मैंने निश्चय किया है ॥२७३॥

पा०-टी०—सल्लेखना करनेवाले दो प्रकारके होते हैं—एक आचार्य, दूसरे साधु । यदि
आचार्य हो तो उसे उस अवस्थामें भी गणका हित विचारना चाहिए । अर्थात् आचार्य यदि सल्ले-
खना धारण करनेका निश्चय करे तो उसे अपने संघके सम्बन्धमें भी विचार करना चाहिए कि
उसकी क्या व्यवस्था की जायें ॥२७४॥

पा०-टी०—अपनी आयुकी स्थिति-विचारकर समस्त संघको और बालाचार्यको बुलाकर
शुभ दिन, शुभकरण, शुभनक्षत्र और शुभलग्नमें तथा शुभ देशमें ॥२७५॥

पा०-टी०—गच्छका अनुपालन करनेके लिए गुणोंसे अपने समान भिक्षुका विचार करके

‘गच्छन्नुपालनार्थं’ गच्छानुपालनार्थं । ‘आहोइव’ विचार्यं । ‘अस्तगुणसर्वं’ आत्मनो गुणैः समानं । ‘विषयु’ मिलुं । ‘तो’ ततः । ‘तस्मिन्’ तस्मिन् । ‘गच्छवित्तमं’ गणत्यागं । ‘अप्यकहृत्’ अल्पया कथया । ‘कृण्वद् धीरः’ करोति धीरः । अन्ये तु वदन्ति ‘अप्यप्ये’ कथयेति ॥२७६॥

किनर्धमेवं प्रयतते सूरिः ?

अव्योच्छित्तिणिमित्तं सव्वगुणसमोयरं तयं णच्चा ।

अणुजाणेदि दिसं सो एस दिसा बोधि बोधिचा ॥२७७॥

‘अव्योच्छित्तिणिमित्तं’ धर्मतीर्थस्य ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकस्य व्युच्छित्तिर्मा भूदित्येवमर्थं । ‘सव्वगुण-समोयरं’ सर्वगुणसमन्वितं । ‘तयं’ तत्कं ‘णच्चा’ ज्ञात्वा, ‘अणुजाणेदि’ अनुज्ञां करोति । ‘दिसं’ आचार्यः ‘सो’ सः एषः । दिसा आचार्यः ‘बोधि’ युष्माकमिति । ‘बोधिचा’ बोधयित्वा । दिसा समस्ता ॥२७७॥

क्षमाग्रहणक्रमं निरूपयति—

आमंतेऊण गणिं गच्छम्मि य तं गणिं ठवेदूण ।

तिविहेण खमावेदि हु स बालउड्ढाउळं गच्छं ॥२७८॥

‘आमंतेऊण गणिं’ आमन्त्र्य आचार्यं । ‘गच्छम्मि यं’ गणे । ‘तं गणिं ठवेदूण’ त आत्मनानुज्ञातं स्थापयित्वा, स्वयं पृथग्भूत्वा । ‘तिविहेण खमावेदि हु स बालउड्ढाउळं गच्छं’ मनोवाक्यकार्यग्रहियति क्षमा स बालवृद्धे सकीर्णं गण ॥२७८॥

जं दीहकालसंवासदाए ममकारणेहराणेण ।

कडुगपरुमं च भणिद्या तमहं सव्वं खमावेमि ॥२७९॥

‘जं दीहकालसंवासदाए’ दीर्घकाल सह सवासेन यज्जातं ममत्वं, स्नेहो, द्वेषो, रागश्च तेन । ‘जं’ यत् ‘कडुगपरुमं च भणिद्या’ कटुकं परुषं वा वचं भणिता ‘तं’ तत् युष्मान् । ‘सव्वं खमावेमि’ सर्वान् क्षमा ग्राह्यामि ॥२७९॥

पश्चात् वह धीर आचार्य थोड़ीसी बातचीत पूर्वक उस पर गणका त्याग करता है ॥२७६॥

आचार्य ऐसा क्यों करते है ? यह कहते हैं—

गा०-टी०—ज्ञानदर्शन चारित्रात्मक धर्मतीर्थकी व्युच्छित्ति न हो, इसलिए उसे सब गुणोसे युक्त जानकर यह तुम्हारा आचार्य है ऐसा शिष्योंको समझाकर आप इस गणका पालन करे ऐसा उस नवीन आचार्यको अनुज्ञा करते है ॥२७७॥

दिसा प्रकरण समाप्त हुआ ।

अब क्षमाग्रहणका क्रम कहते हैं—

गा०-टी०—आचार्यको बुलाकर गणकं मध्यमे उस अपने द्वारा स्वीकृत गणीको स्थापित करके और स्वयं अलग होकर बाल और वृद्ध मुनियोसे भरे उस गणसे वह पुराने आचार्य मन वचन कायसे क्षमा मांगते है ॥२७८॥

गा०-टी०—दीर्घकाल तक साथ रहनेसे उत्पन्न हुए ममता, स्नेह, द्वेष और रागसे जो कटुक

गणेश संपाद्य क्रममाचष्टे—

बंधिय गिस्तुडिय पडिदो तादारं सव्ववच्छलं तादिं ।

धम्मारायियं णिययं खामेदि गणो वि तिबिहेण ॥२०॥

'बंधिय गिस्तुडिय पडिदो' अभिवद्य संकुचितपतितः । 'तादारं' संसारदुःसात्त्रातारं । 'सव्ववच्छलं' सर्वेषां वत्सलं । 'तादिं' यति । 'धम्मारायियं' दशविधं उत्तमक्षमादिके धर्मं, स्वयं प्रवृत्तं अन्येषां प्रवर्तकं । 'णिययं' आत्मीयं । 'खामेदि गणो वि तिबिहेण' क्षमा ग्राहयति गणस्त्रिविधेन । 'धम्माराय्या सत्ता ॥२०॥

अनुशासननिरूपणार्थं उत्तरप्रबन्धः—

संबेगजणियहासो सुत्तयविसारदो सुदरहस्सो ।

आदट्ठचित्तओ वि हु चित्तेदि गणं जिणाणाए ॥२१॥

'संबेगजणियहासो' संसारभीक्ष्णया करणभूतया उत्पाटितहासः । परिग्रहैर्हस्तस्यक्तं अभ्यन्तराएष रागादयः निमित्तापायादपयान्ति । तदपगमात्तन्मूलस्थितीनि कर्माणि प्रलयमुपव्रजन्ति । तेषु नष्टेष्वेव चतुर्गति-भ्रमणं नक्षयति' इति जात हर्षः । 'सुत्तयविसारदो' सूत्रे जिनप्रणीते तदर्थं च विसारदो निपुणः । 'सुदरहस्सो' श्रुतप्रायश्चित्तग्रंथः । 'आदट्ठचित्तओ वि हु' आत्मप्रयोजनचिन्तापरोक्षि । 'चित्तेदि गणं जिणाणाए' जिनाणा-मात्रया गणचिन्तां करोति ॥२१॥

और कठोर वचन कहे गये आपसे मैं उन सबकी क्षमा माँगता हूँ ॥२०॥

गणके द्वारा किये जाने वाले कार्यको कहते है—

गा०—टी०—बन्धना करके, पृथ्वीपर पाँचों अंगोंको स्थापित करके अर्थात् पञ्चांग नमस्कार करके संसारके दुःखोंसे रक्षा करने वाले सबको प्रिय अपने दश प्रकारके उत्तम क्षमादिरूप धर्ममें स्वयं प्रवृत्त और दूसरोंको प्रवृत्त करने वाले आचार्यसे गण भी मन वचन कायसे क्षमा माँगता है ॥२०॥

क्षमाका प्रकरण समाप्त हुआ ।

आगे अनुशासनका कथन करते हैं—

गा०—टी०—संसारसे डरनेके कारण जिसे हर्ष प्रकट हुआ है अर्थात् इस परिग्रहका त्याग करने पर अभ्यन्तर रागादि अपने निमित्तका विनाश होनेसे चले जायेगे क्योंकि बाह्य परिग्रह रागादिके उत्पत्तिमें निमित्त है अतः निमित्तके न रहनेसे नैमित्तिक रागादि भी नहीं रहेंगे । और रागादिके न रहनेसे रागादिके कारण बन्धने वाले कर्म नष्ट हो जायेंगे । उनके नष्ट होने पर चार गतियोंमें भ्रमण नष्ट हो जायेगा, इसलिए जिसे हर्ष उत्पन्न हुआ है, और जिन भगवान्के द्वारा कहे गये सूत्र और उसके अर्थमें जो निपुण है, जिसने प्रायश्चित्त शास्त्र सुना है वह आचार्य अपने प्रयोजनकी चिन्ता करते हुए भी जिन भगवान्की आज्ञासे गणकी चिन्ता करता है । अर्थात् यद्यपि आचार्य संस्लेखना धारण करनेके लिए अपना गण त्यागकर दूसरे गणमें जानेके लिए तत्पर है फिर भी गणकी चिन्ता करके उसे उपदेश देते हैं ॥२१॥

शिद्धमहुरगंभीरं गान्धुगण्णहादणिज्जपत्थं च ।

अणुसिद्धिं देइ तहिं गणाहिबइणो गणस्स वि य ॥२८२॥

'गिद्ध' स्नेहसहिता । 'महुरं' माधुर्यंसमन्विता । 'गंभीर' सारार्थवत्तया गृहीतगाम्भीर्या । 'गान्धुरं' वा हिका सुलानबोधा । 'पसह्णवणिज्जपत्थं च' चेतःप्रवृत्तादविधायिनी । 'पत्थं' पथ्या हितं । 'अणुसिद्धिं देइ' अनुसिद्धिं वदाति । 'तहिं' तस्मिन्पूर्वोक्तं काले देवे च । 'गणाहिबइणो गणस्स वि य' गणाधिपतये गणाय च ॥२८२॥

बड्ढंतओ विहारो दंसणणाणचरणेषु कायब्बो ।

कप्पाकप्पटिदाणं सव्वेसिमणागदे मग्गे ॥२८३॥

'बड्ढंतयो विहारो कायब्बो' वर्धमानविहार कार्यं । इव ? 'सव्वेसि कप्पाकप्पटिदाणं अणागदे मग्गे' सर्वेषां प्रवृत्तिनिवृत्तिस्थितानां मुक्तिमार्गं । प्रमत्तसंयताद्विगुणस्थानापेक्षया विचित्रो यतिधर्मः दंसणवद-साम्यायिकादिविकल्पेन प्रवृत्तिधर्मोऽपि विचित्ररूपः । तस्य सकलस्योपादान सर्वेषामित्यनेन । कोज्जी मार्ग इत्याखंकायामाह—नामान्येन 'दंसणणाणचरणेषु' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्येषु । चतुर्विकल्पगणोद्देशेनायमुप-देशः ॥२८३॥

सूरये कथयति—

संखित्ता वि य पवहे जह वच्चइ वित्थरेण बड्ढंती ।

उदधितेण वरणदी तह सीलगुणेहिं वड्ढाहि ॥२८४॥

'संखित्ता वि य' मक्षिप्तार्थं च 'पवहे' प्रवाहे प्रबहत्पस्माधितं प्रवाहः उत्पत्तिस्थानं तत्र संखित्तापि सती वरनदी । 'जह वच्चइ' यथा व्रजति । 'वित्थरेण' पृथुलतया । 'बड्ढंती' वर्द्धमाना । 'उदधितेण' याव-त्समुद्रं । 'तह सीलगुणेहिं वड्ढाहि' तथा शीलगुणैस्त्वं वर्द्धस्व ॥२८४॥

मज्जारसिदसरिसोवमं तुमं मा हु काहिसि विहारं ।

मा णासेहिसि दोण्णि वि अप्पाणं खेव गच्छं च ॥२८५॥

शा०—टी०—उस पूर्वोक्तं शुभ तिथि आदिसे युक्त काल और देशमें गणाधिपति और गणको भी स्नेह सहित, माधुर्यसे युक्त, सारवान होनेसे गम्भीर सुखसे समझमें आने वाली, चित्तको आनन्द दायक और हितकारी शिक्षा देते है ॥२८२॥

शा०—टी०—सब प्रवृत्ति और निवृत्ति में स्थित मुनियों और गृहस्थोको मुक्तिके मार्गमें सम्यग्दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्यमें वर्धमान विहार उत्तरोत्तर उन्नत अनुष्ठान करना चाहिए । यति धर्म प्रमत्त संयत आदि गुणस्थानोंकी अपेक्षा अनेक प्रकार है । प्रवृत्ति रूप गृहस्थ धर्म भी दर्शन, व्रत सामायिकके भेदसे अनेक प्रकार है । उस सबका ग्रहण यहाँ 'सब' शब्दसे किया है । यह चारों प्रकारके संघको लक्ष्य करके आचार्य उपदेश देते है ॥२८३॥

नये आचार्यको कहते है—

शा०टी०—उत्पत्ति स्थानमें छोटी सी भी उत्तम नदी जैसे विस्तारके साथ बढ़ती हुई समुद्र तक जाती है उसी प्रकार तुम शील और गुणोंसे बढ़ो ॥२८४॥

‘मन्जाररक्षितसरिसोवर्षं’ मार्जारस्य रक्षितं रटनं मार्जाररक्षितं तेन सह सादृश्यं उपमा परिच्छेदो यस्य विहारस्य उष्णार्जरक्षितसदुशोपमं विहारं चरणं । ‘सुनं’ भवान् । ‘मा इव काहित्ति’ मा कार्षीः । मार्जारस्य रक्षितं प्राङ्महत् क्रमेणापधीयते तद्वद्वलत्रयभावनातिशयवती प्राक् क्रमेण मन्वायमाना न कर्तव्येति यावत् । ‘मा वासोहिती शीष्णि च अस्तात्तं येव वच्छं च’—आत्मनो गणस्य च विनाश मा कृषाः । प्रथम-मेवास्तिदुर्भारिणतपोभावनायां प्रवृत्तो भवान् गणं च तथा प्रवर्त्यमानो दुश्चरतया नश्यति ॥२८५॥

ओ सघरं पि पलिषं णेच्छदि विज्जविदुमलसदोसेण ।

किइ सो सइहिदब्बो परघरदाहं पसामेदुं ॥२८६॥

‘ओ सघरं पि’ यं स्वगृहं अपि । बह्यमानमालस्यान्न वाञ्छति विष्णापयितुं कथमसौ अद्भुतव्यः परकीयगृहदाहं प्रसमयितुं उद्योगं करोतीति ॥२८६॥

तस्मान्मुपतीर्षं प्रवर्तितव्यमित्याचष्टे—

बज्जेहि वयणकल्पं सगपरपक्खे तद्वा विरोधं च ।

वादं असमाहिकरं विसग्गिभूदे कसाए य ॥२८७॥

‘बज्जेहि वयणकल्पं’ बर्षय अतिचारप्रकारं ज्ञानदर्शनचारित्रविषय । अवाचनाकाले अस्वाध्यायकाले वा पठनं । क्षेत्रशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, भावशुद्धि वा विना । निह्वयः, धन्यार्थयोरशुद्धिः, अबहुमानं इत्यादिको ज्ञानातिचारः । शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदुष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दर्शनातिचाराः । समितिभावनारहितता चारित्रातिचारः । एते व्यवहनकल्पेनोच्यन्ते । ‘सघरपक्खे तद्वा विरोधं च’ धर्मस्त्वेषु, मिथ्यादुष्टेषु च विरोधं बर्षयेत् । येतः समाधानविनाशकारणं वादं च बज्जश्रीधं । वादे प्रवृत्तो यथात्मनो जयः पराजयः परस्य वा

गा०—टी०—तुम विलावके शब्दके समान आचरण मत करना । विलावका शब्द पहले जोरका होता है फिर क्रमसे मन्द हो जाता है उसी तरह रत्नत्रयकी भावनाको पहले बड़े उत्साहसे करके पीछे धीरे-धीरे मन्द मत करना । और इस तरह अपना और संघ दोनोंका विनाश न करना । प्रारम्भमें ही कठोर तपकी भावनामें लगकर आप और गणको भी उसीमें लगाकर दुश्चर होनेसे विनाशको प्राप्त होंगे ॥२८५॥

गा०—टी०—जो जलते हुए अपने घरको भी आलस्यवश बचाना नहीं चाहता । उसपर कैसे विश्वास किया जा सकता है कि वह दूसरेके जलते घरको बचायेगा ॥२८६॥

इसलिए आपको ऐसा करना चाहिए, यह कहते हैं—

गा०—टी०—ज्ञान दर्शन और चारित्रिके विषयमें अतिचारोंको दूर करो । जो वाचना और स्वाध्यायका काल नहीं है उसमें क्षेत्र शुद्धि, द्रव्य शुद्धि, और भाव शुद्धिके विना वाचना आदि करना, निह्वय, धन्य और अर्थकी अशुद्धि, आदरका अभाव इत्यादि ज्ञान विषयक अतिचार हैं । शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिकी प्रशंसा और सस्त्वय वे सम्यग्दर्शनके अतिचार हैं । समितिकी भावना न होना चारित्रका अतीचार है । ये सब ‘व्यवनकल्प’ कहे जाते हैं । धार्मिकों और मिथ्यादृष्टियोंके साथ विरोध नहीं करना चाहिए । चित्तकी शांतिकी भंग करने वाला वाद भी नहीं करना चाहिए । वाद करने वाला जिस प्रकार अपनी जय और दूसरेकी पराजय हो यही

भवति तत्रैवान्वेषते न तत्त्वसमाधानवान् । 'बिस्मिन्मूढे कसाये च' कषायो हि क्रोधादय स्वस्य परस्य च मृत्युं उपानयन्ति इति विषभूताः, हृदयं दहन्तीति दहनमूतमस्तापत्र चर्चय ।

तथा चोक्तं— त्रिलोकमल्लाः कुलशीलसाम्रथो, प्रकामि दुर्माध्यंतमानि चापि ते ।

यशोहरा हानिकरास्तपस्विनां, भवन्ति दीर्घायकरा हि देहिनाम् ॥ १ ॥—[]

न केवलं ते परलोकलोपिनः, इमं च लोकं क्रमयन्ति वाग्वाः ।

न धर्ममाश्रय्य च विघ्नहेतवो, धनस्य कामस्य च ते विघातकाः ॥ २ ॥ इति—[]

णाणम्मि दंसणम्मि य चरणम्मि य तीसु समयसारेसु ।

ण चाएदि जो ठवेदुं गणमप्पाणं गणघणी सो ॥२८८॥

'णाणम्मि दंसणम्मि य' रत्नत्रये गणमात्मानं च यो न स्थापयितु समर्थो तैवामी गणधर । ण च एवि न समर्थ । बहुवो मम वशावतिनः सन्ति एतावता भवतो गणित्वगर्वा माभूदिति भावः ॥२८८॥

कीदृशतर्हि गणधरो भवतीति चेदेवंभूत इत्याचष्टे—

णाणम्मि दंसणम्मि य चरणम्मि य तीसु समयसारेसु ।

चाएदि जो ठवेदुं गणमप्पाणं गणधरो सो ॥२८९॥

स्पष्टार्था गाथा ॥२८९॥

पिंडं उवहिं सेज्जं अबिसोदिय जो हु भुंजमाणो हु ।

मूलट्टाणं पत्तो मूलोत्ति य समणपेत्तो सो । २९०॥

प्रयत्न करता हूँ तत्त्वका समाधान नहीं करता । क्रोधादि कषाय अपनी और दूसरेकी मृत्युमे कारण होती है इसलिए वे विषरूप है और हृदयको जलाती है इसलिए आगके समान हैं । उन्हें छोडना चाहिए । कहा भी है—

ये कषाये तीन लोकमे मल्लके समान हैं । कुल और शीलके शत्रु है । वे ऐसे मल है जिनको दूर करना सबसे कठिन है । ये कषायों तपस्वियोंकी हानि करने वाली और उनके यशको हरने वाली हैं तथा प्राणियोंके दुर्भाग्यको करने वाली है । 'वे कषाये केवल परलोकको ही नष्ट नहीं करतीं, किन्तु इस लोकको भी हीन करती हैं । वे केवल धर्ममें ही विघ्न नहीं डालती किन्तु अर्थ और काम की भी घातक है' ॥२८७॥

टी०—आगमके सारभूत तीन दर्शन ज्ञान और चारित्र्य रत्नत्रयमे जो गणको और अपनेको स्थापन करनेमें समर्थ नहीं है वह गणधर नहीं है । मेरे अधीन बहुतेसे मुनि है इसलिए आपमे गणी होनेका घमण्ड नहीं होना चाहिए ॥२८८॥

तब गणधर कैसा होता है यह कहते हैं—

गा०—आगमके सारभूत तीन सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र्यमें अपनेको और गणको स्थापित करनेमें जो समर्थ होता है वह गणधर है ॥२८९॥

१. वतो न न-अ० । २. अ० आ० प्रत्योः इयं गाथा 'णाणम्मि दंसणम्मि इति लिखिता, न सर्वा ।

पिंडं उवहि सेज्जं उग्गमउप्पादणेसणादीहिं ।

चारित्ररत्नखण्डं सोषितो होदि सुचरिचो ॥२९१॥

'पिंडं' आहार, 'उवहि' उपकरण, 'सेज्जं' वसति । सोषितो शोधयत् । 'उग्गमउप्पादणेसणादीहिं' उद्गमोत्पादनवशादिभिर्दोषैः । किमर्थं शोधयति ? 'चारित्ररत्नखण्डं' चारित्ररत्नखण्डं उद्गमादिदोषं परिहरति । सुसंयत इति लोके यत्नो मे भविष्यतीति वा, स्वसमयप्रकाशने लाभो ममेत्वं भवतीति वा नेत्रस्पर्शत्वेति भावः । एवंभूतः सुचरिचो भवतीति यतिः ॥२९१॥

एसा गणघरमेरा आयारत्थाण वण्णिण्या सूरे ।

लोगसुहाणुरदाणं अप्पच्छंदो जहिच्छाए ॥२९२॥

'एसा गणघरमेरा' एसा गणघरमर्यादा । 'सूते वण्णिणा' सूत्रे निरूपिता । केवा ? 'आयारत्थाण' आचारस्थाना । पञ्चविधे आचारे ये स्थितास्तेषां गणिना व्यवस्था सूत्रे वर्णिता । 'लोगसुहाणुरदाणं' लोकानुवर्तिनां सुखेषुतां च । यथेच्छया असंयतजनसंसर्गं सुखावरणं धास्ते निषिद्धं । तत्र ये वर्तन्ते स्वेच्छया तेषां 'अप्पच्छंदो' आत्मेच्छा एव केवला न तेषां गणघरमर्यादा सूत्रे वर्णिता । अथवा लोकसुखं नाम मूढाहारभोजनं, यथाकामं, मृदुशय्यासनं, मनोज्ञे वंशमनि वसनं च तत्र रताना विषयातुराणामित्यर्थः ॥२९२॥

सीदावेइ विहारं सुहसीलगुणेहिं जो अबुद्धीओ ।

सो णवरि लिंगचारी संजमसारेण निस्सारो ॥२९३॥

'सीदावेइ' मदं करोति । 'विहारं' चारित्रं रत्नत्रये प्रवृत्ति । 'सुहसीलगुणेहिं' सुखसमाधानाम्यासैः । 'जो अबुद्धीओ' यो बुद्धिरहितः । 'सो' णवरि लिंगचारी' स नृपालिगी भवति, द्रव्यलिङ्गं चारयति । 'संजमसारेण निस्सारो' संयमाभ्येन इन्द्रियप्राणसयमविकल्पेन सारेण निःसारः केवलननः स इति । एतदुक्तं भवति ॥२९३॥

गा०—आहार, उपकरण और वसतिका शोधन किये बिना जो उसका सेवन करता है वह साधु मूल स्थान नामक दोषको प्राप्त होता है और वह भ्रष्टश्रमण^४ है ॥३९०॥

आहार, उपकरण और वसतिका जो उद्गम, उत्पादन और एषणा आदि दोषोंसे चारित्रकी रक्षाके लिए शोधन करता है वह सम्यक् संयमी है । मेरा लोकमें यश होगा कि यह सुसंयमी है अथवा अपने आगमका प्रकाश करनेसे मुझे लाभ होगा ऐसा वह अपने मनमें नहीं सोचता । ऐसा यति ही सम्यक् चारित्र बाला होता है ॥२९१॥

गा०—टी०—पाँच प्रकारके आचारमें स्थित जो गणो है उन गणियोंको यह गणघर मर्यादा सूत्रमेंकही है । जो लोकके अनुसार चलने वाले सासारिक सुखके इच्छुक है अथवा लोकसुख यानी मिष्टाहारका यथेच्छ भोजन, कोमल शय्या पर शयन, मनोहर घरमें निवास, इनमें जो रत है अर्थात् जो स्वेच्छाचारी है उनकी गणघर मर्यादा सूत्रमें नहीं कही है ॥२९२॥

गा०—टी०—जो बुद्धिहीन साधु सुखशील गुणोंके कारण रत्नत्रयमें प्रवृत्तिरूप चारित्रमें उपासीन रहता है वह केवल द्रव्यलिङ्गका धारी है और इन्द्रिय संयम तथा प्राणसंयमसे शून्य है ॥२९३॥

१ व्यावर्णिता—आ० मु० । २. सो णवरिणिगी भवति द्रव्य—अ० । ३. निःसारः एत—आ० मु० । ४. इस भाषा पर टीका नहीं है ।

पिंडं उवधि सेज्जामभिसोधि य जो खु भुंजमाणोदु ।

मूलदूठाणं पत्तो बालोचिय णो समणबालो ॥२९४॥

य उवणमाभिवोपहृतमाहारं, उपकरणं, वसति वा गृह्णाति तस्य नेन्द्रियसंयमः, नैव प्राणसंयमः, न यतिर्न गणघर इति निगद्यते ॥२९४॥

कुलगामणयररज्जं पयहिय तेसु कुणइ ममसि जो ।

सो णवरि लिंगघारी संजमसारेण गिस्सारे ॥२९५॥

'कुलमावणयररज्जं' कुलं, ग्रामं, नगरं, राज्यं च । 'ववहिय' परित्यज्य । तेसु कुणवि ममसिं णो' ग्रामाविषु पुनः यः करोति ममतां । मदीयं कुलं, अस्मदीयो ग्रामः, नगरं, राज्यं चेति । यो हि यत्र ममतां करोति तस्य यदि शोभनं जातं तुष्यति अन्यथा द्वेषि, संविलस्यति वा । ततो राघद्वेषयोर्लाभे च वर्तमानः । असंयतोप्यावरजात् (वच्चात्) कथमिव संयतो भवतीति भावः ॥२९५॥

अपरिस्साई सम्भं समपासी होहि सव्वकज्जेसु ।

संरक्ख सच्चक्खुं पि व सवालउट्टाउलं गच्छं ॥२९६॥

'अपरिस्साई' गृहरयमिति शंका विहाय निगदितानामपराधानां प्रकटनं मा कृष्या । 'समपासी वेव होहि कज्जेसु' कार्येषु सम्भक्त् समवश्येव च भव । 'संरक्ख सच्चक्खुं पि व' परिपालय स्वनेत्रं इव । किं ? 'सवालउट्टाउलं गच्छं' सवालैवृद्धैराकीर्णं गणं ॥२९६॥

णिवदिविहूणं खेषं णिवदी वा जत्थ दुदुठओ होज्ज ।

पव्वज्जा च ण लम्भदि संजमघादो व तं वज्जो ॥२९७॥

'णिवदि विहूणं खेषं परिहर' नृपतिरहित क्षेत्रं त्यज । 'णिवदि वा जत्थ दुदुठओ होज्ज' नृपतिर्वा यस्मिन् देशे दुष्टो भवेत्तच्च क्षेत्रं परित्यज । 'पव्वज्जा च ण लम्भदि जत्थ' प्रव्रज्या च न लभ्यते यत्र क्षेत्रे ।

शा-०टी०—जो उद्गम आदि दोषोंसे सहित आहार, उपकरण अथवा वसतिको स्वीकार करता है उसके न प्राणिसंयम है और न इन्द्रिय संयम है । वह केवल नग्न है । न वह यति है और न गणघर है ॥२९४॥

शा०-०टी०—जो कुल, ग्राम, नगर और राज्यको छोड़कर भी उससे ममत्व करता है कि मेरा कुल है, हमारा गाँव है या नगर है राज्य है, वह भी केवल नग्न है । जो जिससे ममता करता है उसका यदि अच्छा होता तो उसे सन्तोष होता है अन्यथा द्वेष करता है अथवा संक्लेश करता है । इस तरह राग-द्वेष करने पर असंयतोंमें आदरवान होनेसे वह कैसे संयमी हो सकता है ॥२९५॥

शा०-०टी०—'हमारा यह गुरु आलोचित दोषोको दूरसे नही कहता । ऐसा मानकर शिष्योंके द्वारा प्रकट किये अपराधोंको किसी अन्यसे मत कहे । कार्योंमें समदर्शी ही रहो । और बाल और वृद्ध यतियोंसे भरे गणकी अपनी आँखकी तरह रक्षा करो ॥२९६॥

शा०-०टी०—जिस क्षेत्रमें कोई राजा न हो उस क्षेत्रको त्याग दो । अथवा जिस क्षेत्रका राज'

१. असंयतो भवतीति—आ० पु० । २. गाथा २९५-२९६ ग० ।

शिष्या यत्र न जायते तच्च । 'संयमबाधो व ज्ञानं' संयमस्य चोपघातो यत्र क्षेत्रे 'तं बन्धो' त्यजेति गणि-
शिक्षा ॥ गणितिकक्षा ॥२९७॥

गणं शिक्षयत्युत्तरप्रबंधेन—

कुणह अपमादभावासएसु संजमतवोवघाणेषु ।

गिस्सारे माणुस्से दुल्लहबोहिं वियाणित्ता ॥२९८॥

'कुणह अपमादभावासएसु' क्रूरताप्रमादभावशयकेषु । 'संजमतवोवघाणेषु' संयमस्य, तपसञ्चाश्रयेषु ।
अभ्यहितः संयम इति पूर्वनिपातः । संयमं विना न तपः शक्नोति कर्तुं मुक्तिमिति सामायिकादौ प्रवर्तमानस्य
संयमो भवति । असंयमं त्यजतीति, सावधक्रियानिवृत्तौ सत्या कर्माणि तपतीति तपो भवति । नाप्यथेति
तपसोऽप्याशयः । 'गिस्सारे माणुस्से' साररहिते मानुष्ये अनित्यतया अच्युतितया मनुजाना असारं । तत्र
'दुल्लभा बोधिं' दुर्लभां दीक्षामिमूला बुद्धिं । 'वियाणिता ज्ञात्वा ॥२९८॥

समिदा पंचसु समिदीसु सच्चदा जिणवयणमणुगदमदीया ।

तिहिं गारवेहिं रहिदा होह तिगुत्ता य दंडेसु ॥२९९॥

साम्यप्रवृत्ताः 'होह' भवत । 'पंचसु समिदिसु' पञ्चसु ममितिषु । 'सच्चदा' सर्वदा । जिणवयणमणुग-
दमदीया' जिनवचनमनुगतबुद्धयः । तिहिं गारवेहिं रहिदा' गारवत्रयग्रहिता 'सिगुत्ता य' गुप्तित्रयसमन्विताः
भवत । 'यच दंडेसु' अशुभमनावाक्यायेषु ॥२९९॥

सण्णाउ कसाए वि य अट्टं रुहं च परिहरह णिच्चं ।

दुड्ढाणि इंदियाणि य जुत्ता सच्चप्पणो जिणह ॥३००॥

दुष्ट हो उस क्षेत्रको त्याग दो । जिस क्षेत्रमें प्रव्रज्या प्राप्त न हो अर्थात् शिष्य न बने, अथवा जिस
क्षेत्रमें संयमका घात हो उस क्षेत्रको त्याग दो ॥२९७॥

आचार्य शिक्षा समाप्त हुई ।

आगे गण (संघ) को शिक्षा देते हैं—

गा०—टी०—मनुष्य जन्म अनित्य और अशुचि होनेसे सार रहित है । उसमें दीक्षा धारण
करनेकी बुद्धि होना दुर्लभ है ऐसा जानकर आवश्यकोंमें, जो संयम और तपके आश्रय है, प्रमाद
मत करो । यहाँ पूज्य होनेसे संयमको तपसे पहले रखा है क्योंकि मयमके विना अकेला तप मुक्ति
नहीं प्राप्त करा सकता । सामायिक आदिमें प्रवर्तमान मुनिके संयम होता है । असंयमको वह
त्यागता है । सावध क्रियाकी निवृत्ति होने पर कर्मोंको तपनेसे तप होता है । संयमके विना तप
नहीं होता । अतः आवश्यक कर्म तपके भी आश्रय हैं । इसलिए साधुको उनमें प्रमाद नहीं करना
चाहिए ॥२९८॥

गा०—हे मुनिगण ! आप सर्वदा पाँच समितियोंके पालनमें तत्पर रहे । अपनी बुद्धिको जिना-
गमकक्ष अनुगामिनी बनाओ । तीन गारव मत करो और अशुभ मन वचन कायके विषयमें तीन
गुप्तियोंका पालन करो ॥२९९॥

गा०—नित्य आहारादि विषयक संज्ञाओंको, कषायोंको और आर्त तथा रू-ध्यानको दूर
करो । तथा ज्ञान और तपसे युक्त होकर अपनी सर्वशक्तिसे बुष्ट इन्द्रियोंको जीतो ॥३००॥

'सम्प्राप्तो' संज्ञा आहारादिविषया । 'कसाए बि' कथायानपि । 'अहुं धई ब' आर्त रीत्रं च ध्यानं । 'परिहरत' निराकुस्त । 'बिम्ब' नित्यं । 'दुष्टाई इबियाई' दुष्टानीन्द्रियाणि च । 'बुला' युक्ता ज्ञानेन तपसा च । 'सम्बन्ध्या बिम्ब' सर्वशक्त्या इन्द्रियजन्यं कुस्त ॥३००॥

धण्णा हु ते मणुस्सा जे ते विसयाउलम्मि लोयम्मि ।
विहरति विगदसंगा गिराउला णाणचरणजुदा ॥३०१॥

'धण्णा हु ते मणुस्सा' धन्यास्ते मनुष्याः । के ? 'जे विसयाउलम्मि लोयम्मि' ये शब्दादिभिराकीर्णं वयति । 'विगदसंगा' नि संगाः क्वचिदपि विषये स्पर्शादी । 'गिराउला' । 'णाणचरणजुदा' ज्ञानेन चारि-
नेण च युताः । ज्ञानचारित्र्ययुताना प्रशंसा उपादरज'ननार्या गणस्य ॥३०१॥

सुस्सुसया गुरुणं वेदियमत्ता य विणयजुत्ता य ।
सज्जाए आउत्ता गुरुपवयणवच्छला होह ॥३०२॥

'सुस्सुसया गुरुणं' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यं । गुणं गुण्यता गुरुव इत्युच्यन्ते आचार्योपाध्यायसाधवः । तेषां शुश्रूषाकारिणो भवतः शुश्रूषापरिण भाव्यं । लाभादिकमनपेक्ष्य तेषां गुणेष्वनुराग कृतो भवति । गुणानु-
रागाद् दर्शनशुद्धिस्तदीयरत्नत्रयानुमननं च भवति । सुकरो ह्युपायः पुण्यार्जने अनुमननं नाम । 'वेदियमत्ता य' चैत्यानि जिनसिद्धप्रतिबिंबानि कृत्रिमाकृत्रिमाणि तेषु भक्ताः । यथा शत्रूणा मित्राणां वा प्रतिकृतिदर्शनाद्द्वेषो रागश्च जायते । यदि नाम उपकारोऽनुपकारो वा न कृतस्तथा प्रतिकृत्या तत्कृतापकारस्वोपकारस्य वा अनु-
स्मरणे निमित्तास्तास्त तद्बिम्बिनसिद्धगुणा अनन्तज्ञानदर्शनसम्यक्त्वबीतरागत्वादयस्तत्र यद्यपि न सन्ति, तथापि तद्गुणानुस्मरणं संपादयन्ति सादृश्यासत्त्वं गुणानुस्मरणं अनुरागात्मकं ज्ञानदर्शने सन्निधापयति । ते च

गा०—वे मनुष्य धन्य हैं जा शब्दादि विषयोसे व्याप्त जगत्में किसी भी स्पर्शादि विषयमें आसक्ति नहीं रखते और निराकुल होकर ज्ञान और चारित्र्यसे युक्त होते हैं । जो ज्ञान और चारित्र्यसे युक्त होते हैं उनकी प्रशंसा करनेसे संघका उनके विषयमें आदरभाव उत्पन्न होता है ॥३०१॥

गा०टी०—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य नामक गुणोंसे महान् होनेसे आचार्य उपाध्याय और साधुको गुरु कहते हैं । उनकी सेवामें तत्पर रहना चाहिए । लाभ आदिकी अपेक्षा न करके उनके गुणोंमें अनुराग करना चाहिए । गुणोंमें अनुराग करनेसे सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि होती है और उनके रत्नत्रयकी अनुमोदना होती है । अनुमोदना पुण्य उपाजर्जन करनेका सरल उपाय है । चैत्य अर्थात् जिन और सिद्धोंकी कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिबिम्बोंमें भक्ति करना चाहिए । जैसे शत्रुओं और मित्रोंकी प्रतिकृति देखनेसे द्वेष और राग उत्पन्न होता है । यद्यपि वे प्रतिकृतियाँ कोई अपकार या उपकार नहीं करती, तथापि उन शत्रुओं और मित्रोंने जो अपकार या उपकार किये होते हैं उनके स्मरणमें उनकी प्रतिकृतियों निमित्त होती है । उसी तरह यद्यपि प्रतिबिम्बोंमें जिन और सिद्धोंके गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, सम्यक्त्व बीतरागता आदि नहीं होते, तथापि उनके समान होनेसे उनके गुणोंका स्मरण कराती हैं । और वह गुणोंका स्मरण जो

संवरनिर्घरे महत्स्यो संपादयतः । तस्मात्त्वैतद्विदितमुपयोधिनीं कुरुत । 'विद्यवद्वृत्ता ब' विलयं नयति कर्म-
कल्पमिति विनयः । ज्ञानवर्षान्तपश्चात्प्रविनयया उपचारविनयश्चेति पञ्चप्रकारेण विनये युक्ता भवतः ।
शास्त्रोक्तवाचनस्वाध्यायकालबोधव्ययनं श्रुतस्य श्रुतं प्रयच्छताश्च भक्तिपूर्वं कृत्वा, अवग्रहं परिगृह्य, बहुमानं
कृत्वा, निह्वयं निराकृत्य, अर्थव्यञ्जनतदुत्पद्युर्द्धि संपाद्य एव भाव्यमानं श्रुतज्ञानं संवरं निर्जरा क करोति ।
अथवा ज्ञानावरणस्य कारणं भवेत् ।

शंकाकांक्षाविनिरासो दर्शनविनयः ।

स च प्रयत्नेन भवद्भिः संपाद्योऽन्याथा शंकाविपरिणामा मिथ्यात्वमानयन्ति । दर्शनमोहनीयस्य चास्त्रवा
भवन्ति । ततो मिथ्यादर्शननिमित्तकर्मवशादवनन्तसंसारपरिभ्रमणं दुःखनीरुणा भवता जायते । रूपरसगंध-
स्पर्शसंज्ञेषु मनोज्ञाननोऽपु सन्निहितेषु अनन्तकालाभ्यासाज्ञानोऽप्रीतिश्च जायते । तथा कथायाश्च बाह्यम-
भ्यन्तरे च निमित्तमाहित्य प्रादुर्भवन्ति । ते श्रोत्यथमानावचारित्रं विनाशयन्ति । कर्मादाननिमित्तक्रियोपरयो द्वि
चारित्रं । रागादयश्च कर्मादाननिमित्तक्रियास्तथा अधुमनोवाचकायक्रियाश्च कर्मादाननिमित्ताः । तथा बह-
जीविकायवाधापरिहृारमन्तरेण गमनं । मिथ्यात्वेऽसंयमं वा प्रवर्तकं वचनं साक्षात्पारंपर्येण वा जीववाधा-
करणं भोजनं अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितादाननिष्पेयी शरीरमलोत्सर्गो जीवपीडाहेतुरेता कर्मपरिग्रहनिमित्ताः

अनुरागात्मक होता है, ज्ञान और दर्शनमें लगाता है । और वे ज्ञान और दर्शन महान् संवर और
निर्जरा करते हैं । इसलिए उपयोगी कैस्य भक्ति करना चाहिए । कर्ममलको जो विलय करती है
वह विनय है । ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र्य विनय, तपविनय और उपचार विनय, इन पांच
प्रकारकी विनयमें संलग्न रहो । शास्त्रमें जो वाचना और स्वाध्याय काल कहा है, उन कालोंमें
श्रुतका अध्ययन, और श्रुतका दान भक्तिपूर्वक करके अवग्रह स्वीकार करके, बहुमान करके,
निह्वयको दूर करके, अर्थशुद्धि, व्यंजन शुद्धि और अर्थ व्यंजन दोनोंकी शुद्धि करके । इस प्रकार
आठ अंगोंके साथ भाया गया श्रुत ज्ञान संवर और निर्जरा करता है । ऐसा नही करनेसे ज्ञाना-
वरणका कारण होता है ।

शंका काँक्षा आदिको दूर करना दर्शन विनय है । आपको प्रयत्नपूर्वक शंका आदिको
दूर करना चाहिए । ऐसा न करनेसे शंका आदि परिणाम मिथ्यात्वको लाते हैं और दर्शन-
मोहनीयकर्मके आलस्यमें कारण होते हैं । उससे मिथ्यादर्शनमें निमित्त मिथ्यात्वकर्मके कारण आप
जैसे दुःख भीरुजनोंको अनन्त संसारमें परिभ्रमण करना पड़ता है । मनोज और अमनोज रूप रस
गन्ध स्पर्श और शब्दके मिलनेपर अनन्तकालके अभ्यासवशा राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं । तथा
बाह्य और अभ्यन्तर निमित्तका आश्रय पाकर कषायें उत्पन्न होती हैं । और वे उत्पन्न होकर
चारित्रको नष्ट करती हैं । कर्मके ग्रहणमें निमित्त क्रियाओंके रोकनेको चारित्र कहते हैं ।
रागादि कर्मोंको ग्रहणमें निमित्त क्रिया है । अशुभ मन वचन और कायकी क्रिया भी कर्मोंके ग्रहणमें
निमित्त होती है । तथा छहकायके जीवसमूहको बाधा न पहुंचाये विना गमन करना, मिथ्यात्व
और असंयममें प्रवर्तक वचन बोलना, साक्षात् या परम्परासे जीवोंको बाधा करनेवाला भोजन
करना, विना देखे और विना साफ किये वस्तुओंको ग्रहण करना और रखना, विना देखी और
विना साफ की गई भूमिमें मलमूत्र त्यागना ये सब क्रियाएँ जीवोंको कष्ट पहुंचानेवाली हैं अतः

क्रियाः । आसां परिवर्जनं चारित्रिकियः । श्वार्थविद्यावृत्तिक्रियापरिवर्जनं विना चारित्रं नाम किमारम्भवतां तस्मात्प्रबोधोक्तं कुतः । अनशननादिकतपोबनितकलेष्वेहान्नं तपोविनयः । सति संकलेशो महानासन्नो भवेदन्था निर्जरा । उपचारविनयवाङ्मनीत इति पूज्यते बुधैरन्थया अविनीत इति निन्द्यते किं च उपचारविनयं मनोवाक्यादिकल्पं यो न करोति, स युष्मन्मसायचान्नाति, नाभ्युत्तिष्ठति, नाभ्युत्तिष्ठति, नाभ्युत्तिष्ठति, नाभ्युत्तिष्ठति, न स्तीति, न विज्ञप्ति करोति, गुरोरद्यत आसनमारोहति, याति पुरस्तेषां, निन्दति, पश्यं कदति, आक्रोधाति वा स नीचैर्गोमं बध्नाति । तेन स्वपाकचाण्डालादिकुलेषु गृहितेषु, सारमेयधामसूकरादिषु वा आयते । न च रत्नत्रयं गुरुभ्यो कथ्यते । विनीत, हि शिष्ययन्ति गुरुः, प्रयत्नेन मानयन्ति च ततो विनयपरा भवत । अविनये शेषं विनये च गुणं महान्तामवबुध्य 'सन्नाए आक्षुता ह्येह' सोमनं अध्येयनं स्वाध्यायः । जीवावितत्त्वपरिज्ञानं, तदुपायभूतस्य ग्रन्थः तस्मिन्स्वाध्याये आजुता आयुक्ता भवत निद्रा, हास्य क्रीडा, आलस्यं, लोकयात्रा च त्यक्तत्वा । तथा चोक्तम्—

विद्ं न बहू मन्नेऽत्र हासं खेडं विवल्पाए ।

ओर्णां समनयन्मस्त क्षुंभे जगत्सो सदा ॥' इति । []

'गुरुवचनचण्डल्ला होह' गुरुप्रवचनत्सला भवत ॥३०२॥

दुस्सहपरीसहेहिं य गामवचीकंटएहिं तिकसेहिं ।

अभिभूदा वि हु संता मा घम्मघुरं पम्भुचेह ॥३०३॥

कर्मोके ग्रहणमे निमित्तं है । इनको त्यागना चारित्र विनय है । इन कही गईं अशुभ क्रियाओंको त्यागे विना आरम्भ करनेवालोंके चारित्र कैसे हो सकता है । अतः इसमें उद्योग करना चाहिए । अनशन आदि तपसे होनेवाला कष्ट सहना तपोविनय है । संकलेश परिणाम होनेपर महान् आसन्न होता है और थोड़ी निर्जरा होती है । उपचार विनय करनेसे विद्वानोंसे पूजित होता है । नहीं करनेपर अविनयी कहा जाता है और निन्दाका पात्र होता है । तथा मन वचन कायसे जो उपचार विनय नहीं करता वह मनसे गुरुओंकी अवज्ञा करता है, उनके आनेपर खडा नहीं होता, उनके जानेपर पीछे-पीछे गमन नहीं करता, हाथ नहीं जोड़ता, स्तुति नहीं करता, विज्ञप्ति नहीं करता, गुरुके सामने आसन पर बैठता है, उनके आगे चलता है, निन्दा करता है, कठोर वचन बोलता है, चिल्लाता है, ऐसा करनेवाला नीच गौत्रका बन्ध करता है और मरकर स्वपाक चाण्डाल आदि नीचकुलोंमें और कुत्ता सुअर आदिमें जन्म लेता है । उसे गुरुओंसे रत्नत्रयकी प्राप्ति नहीं होती । गुरु विनीतको शिक्षा देते हैं और प्रयत्नपूर्वक उसका सम्मान करते हैं । इसलिए अविनयमें दोष और विनयमें महान् गुण जानकर विनयी होना चाहिए । तथा स्वाध्यायमें लगना चाहिए । सुन्दर अध्ययनको स्वाध्याय कहते है । जीवावितत्त्वोका परिज्ञान और उसके उपाय-भूत ग्रन्थोंकी स्वाध्यायमें निद्रा, हास्य, क्रीडा, आलस्य और लोकयात्राको त्यागकर लगना चाहिए । कहा भी है—'बहुत सोना नहीं चाहिए । हास्य क्रीडा छोड़ना चाहिए । सदा आलस्य त्यागकर श्रमणधर्मके योग्य कार्यमें लगना चाहिए ।' तथा गुरुमें प्रवचनवात्सल्य रखना चाहिए ॥३०२॥

भा०—दुःसह परीसहेसे और तीक्ष्ण आक्रोशवचनरूपी कांटोंसे पराभूत होकर भी धर्मकी घुराके भारको मत त्यागो ॥३०३॥

'दुस्सहपरीषदोहिं व' दुःसहः परिषदोऽहं । 'मात्स्यधीकंशोर्हिं तित्परोहिं' आक्रोशवचनकष्टवीर्यवीर्यव । 'अविभूता वि व संता' प'राभूता अपि संताः । 'मात्स्यधनुर् वनुषोर्हिं' मा कृषा धर्मभारत्यागं । ननु व 'दुस्सहपरीषदोहिं व अविभूता आ धनुषधनुर् वनुषोर्हिं' इत्यनेनैव आक्रोशपरीषदसहनं उपविष्टं ? किमनेन 'मात्स्यधीकंशोर्हिं' इत्यनेन ? । अवधमिप्रायः सूचकारस्य-सोडशुवाविवेवोऽपि न स'हतेऽपिन्तं वचस्ततोऽति-दुष्करमपि तस्तीडव्यं इति वर्यगाय पृथगुपावानम् ॥३०३॥

तपस्युद्योगः सर्वप्रयत्नेन त्यक्त्वास्वीर्भवति—

तित्पयरो चदुणापी सुरमहिदो सिज्जिद्वयधुवमि ।

अणिगूहिदवलविरिओ तवोविधानमि उज्जमदि ॥३०४॥

'तित्पयरो' तीर्थंकरः तरंति संसारं येन भव्यास्ततीर्थं । केचन तरंति श्रुतेन गणधरंवालिंबनभूतीरिति श्रुतं गणधरा वा तीर्थमित्युच्यते । तदुभयकरणातीर्थंकरः । अथवा 'तित्पु तित्पुदित्ति तित्प' इति व्युत्पत्तौ तीर्थंशब्देन मार्गो रत्नत्रयात्मकः उच्यते तत्करणातीर्थंकरो भवति । 'चदुणापी' मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानवान् । 'सुरमहिदो' सुरंश्चतुःप्रकारैः पूजित स्वर्गावतरणजन्माभिषेकपरिनिष्क्रमणेषु । 'सिज्जिद्वयधुवमि' नियोगभाविस्या सिद्धावपि । तथापि 'अणिगूहियवकविरिओ' अनुपल्लुतबलवीर्यं । 'तवोविधानमि' तपः-समाधाने । 'उज्जमदि' उद्योगं करोति ॥३०४॥

किं पुण अवसेसाणं दुस्सहसखयकारणाय साहूणं ।

होह ण उज्जमिद्वं सपच्चवायमि लोयमि ॥३०५॥

किं पुण अवसेसाणं' किं पुनर्न प्रयतितव्यं अवशिष्टं' साधुभिः । 'दुस्सहसखयकारणाय' दुःखविनाशन-

टी०—शङ्का—'दुःसह परीषदोहिं' अभिभूत होकर भी धर्मकी धुराको मत त्यागो । इतना कहनेसे आक्रोश परीषदको सहनेका उपदेश दे दिया, फिर 'तीक्ष्ण आक्रोश वचन' आदिके कहनेकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है कि भूख आदिकी वेदनाको सहनेवाला भी अनिष्टवचन नहीं सहता । अतः अति दुष्कर भी आक्रोश वचनको सहना चाहिए । यह बतलानेके लिए पृथक् ग्रहण किया है ॥३०३॥

आगे उपदेश देते हैं कि आलस्य त्यागकर आपको पूरे प्रयत्नसे तपमें उद्योग करना चाहिए—

शा०—टी०—जिसके द्वारा भव्यजीव ससारको तिरते हैं वह तीर्थ हैं । कुछ भव्य श्रुत अथवा आलम्बनभूत गणधरोंके द्वारा संसारको तिरते हैं अतः श्रुत और गणधरोंको भी तीर्थ कहते हैं । इन दोनों तीर्थोंको जो करते हैं वे तीर्थंकर हैं । अथवा 'तित्पु तित्पुदित्ति तित्प' इस व्युत्पत्तिके अनुसार तीर्थ शब्दसे रत्नत्रयरूप मार्ग कहा जाता है । उसके करनेसे तीर्थंकर होता है । वे मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञानके धारी होते हैं । स्वर्गसे गर्भमें आनेपर, जन्माभिषेक और तपकल्याणमे चार प्रकारके देव उनकी पूजा करते हैं । उनको सिद्धिकी प्राप्ति नियमसे होती है फिर भी वे अपने बल और वीर्यको न छिपाकर तपके विधानमें उद्यम करते हैं ॥३०४॥

शा०—टी०—तब दुःसहका विनाश करनेके लिए शेष साधुओंका तप कहना ही क्या है ।

निमित्तं । सापाने लोके आयुषः, शरीरस्य, बलस्य नीरोगतायाञ्च विनाशे अविकृतकाले सति, दावानलसमाने मृत्यावायाति, लोकवर्गमिदं अशेषं भस्मसात्कृतुं अथ इत्यपि सुचिरं निमेषमानेनापि मृत्युरंयात् मासमर्द्धमास-
मृत्युमयं संवत्सरं वा प्रति वचनान्विकारः कस्माद्भावनायाति मृत्युस्तावत्सप्तयुद्धोः कार्यः । न हि मृत्योर्वैश-
ानियमोऽस्ति । स्थल एव प्रचारे यथा शकटादीनां, समीरजपथ एव ज्योतिषां, सलिल एव मीनमकरादीनां ।
कृष्टमस्य पुनरस्य मृत्योः स्थले, जले, विद्यति च विह्वतिः । दहनस्य, सुधासूतेर्वा सुराधिपतेः, प्रभजनस्य
शीतस्योष्णस्य वा, हिमाम्बा वा अप्रवेशदेशाः सन्ति न तथा मृत्योः । यथा वा निदानमानं व्याधीनां पित्तानि-
लक्ष्णरूपमेव मृत्यो पुनरलिलमेव निदानं । वातस्य पित्तस्य कफस्य, शीतोष्णयोर्वर्षाहिमातपाना शक्यः
प्रतीकारविधिं पुनः संनारे मृत्यो । हिमोष्णवर्षादीनां च कालो विविदोऽस्ति न तद्वदस्य । न वा हितमस्य
किञ्चिद्विद्यते । यथा राहुवदनकुहरे प्रवेशो निशापतेः । असत्यपि मृत्युपनिपाते जीवतोऽपि कुरोगाशान्मियो
महद्भयं । यथा विद्यतो निपतत्यनुद् एवाशानि । आयुर्वलं रूपादयश्च । गुणास्तावदेव यावन्नापैति रोगो
देहं । यत् तन्वल्लग्नस्य फलस्य तावदपातो यावन्न स्वप्सुन । व्याधौ शक्यमाने देहे न मुखेन शक्यते श्रेयः कर्तुं,
यथा बेभमनि दहमाने समन्तान् शक्यते प्रतीकारः । असत्यु वा रोगेषु रागश्चतुः सुहृन्मुखेन शत्रुरिव
प्रवृद्धः यदा नरस्य चित्तं बाधते न तदा समेऽधिकारः । पित्तोदयो वैद्यशुभप्रयोगी प्रशाम्येदपि, रागोदयस्य

इस विनाशशील लोकमें आयु, शरीर, बल और नीरोगताके विनाशका काल अज्ञात है । दावा-
नलके समान मृत्यु इस समस्तलोकरूपी वनको जला डालनेके लिए आज या देरमें या क्षणमात्रमें
अथवा एकमास, एकपक्ष, ऋतु दो, मास, छहमास अथवा एक वर्षमें कब आ जायेगी यह कहना
कठिन है । जबतक मृत्यु नहीं आती तबतक तपमें उद्योग करना चाहिए । मृत्युका कोई देश
नियत नहीं है । जैसे गाड़ी आदि स्थलपर ही चलती है । ज्योतिषीदेव आकाशमें ही चलते है, मीन
मगर आदि पानीमें ही चलते है । किन्तु यह सबसे अधिक दुःखदायी मृत्यु जल, थल और आकाश-
में विहार करती है । ऐसे देश हैं जहाँ आग, चन्द्रमा, इन्द्र, वायु, शीत, उष्ण अथवा बर्फका
प्रवेश नहीं है । किन्तु ऐसा कोई देश नहीं जहाँ मृत्युका प्रवेश नहीं है । जैसे रोगोंका निदान बात
पित्त कफ ही है । किन्तु मृत्युका निदान तो सब ही है । बात, पित्त, कफ, शीत, उष्ण, वर्षा,
हिम, आतप इन सबका प्रतीकार करनेकी विधि है । किन्तु संसारमें मृत्युका कोई इलाज नहीं है ।
शीतऋतु, ग्रीष्मऋतु, वर्षाऋतु आदिका काल तो ज्ञात है किन्तु मृत्युका काल ज्ञात नहीं है ।
जैसे चन्द्रमा राहुके मुखमें प्रवेश करके उससे दूर जाता है उस तरह मृत्युके मुखमें प्रवेश करके
निकलना सम्भव नहीं है । मृत्यु न भी आये और जीवन बना रहे तब भी कुरोगरूपी वज्रपातका
महाभय रहता है । जैसे आकाशसे अचानक वज्रपात होता है वैसे ही अचानक रोगका आक्रमण
होता है । आयु, बल और रूपादि गुण तभी तक हैं जबतक शरीरमें रोग नहीं होता । तन्तुसे
लगा फल तभी तक नहीं गिरता जबतक वायुको झोंका नहीं आता । शरीरके रोगसे पीड़ित
होनेपर सुखपूर्वक आत्मकल्याण नहीं किया जा सकता । जैसे घरके चारों ओरसे जलनेपर प्रती-
कार सम्भव नहीं होता । अथवा रोगोंके नहीं होनेपर रागरूपी शत्रु मित्रके रूपमें शत्रुकी तरह
बढ़कर जब मनुष्यके चित्तको पीड़ा देता है तब समभाव कठिन होता है । पित्तका विकार वैद्यके
कुशल प्रयोगोंसे शान्त हो भी सकता है । किन्तु प्राणीके लिए अहितकर रागके उदयको समाप्त

शान्तिविरहस्य हृत्पुं प्रथमः सुदुर्लभः । यदैव च तस्य प्रथमोपलब्धिः पूर्वोक्तकर्मप्रधान्ती तदैव अयस्कृती शक्तिः पितृपितामही कार्यचिरी च । इत्थं मृत्युव्याधयो राग इत्येते प्रत्यवाया जगति तावन्तसि कृत्वा, यदा ते न शक्ति तयोद्योगः कार्यः ॥३०५॥

सचीए भतीए विज्जावचुज्जदा सदा होह ।

आजाए विज्जरिति य सवालउद्दाउले गच्छे ॥३०६॥

'सचीए भतीए' शक्त्या भक्त्या च । 'विज्जावचुज्जदा' वैयावृत्ये उच्यता । 'सदा होह' नित्यं भवत । 'आजाए विज्जरिति' सर्वज्ञानाभावा वैयावृत्यं कर्तव्यमिति तदाज्ञया हेतुभूतया, वैयावृत्यं हि तपः निर्जरा भवतीति च । 'सवालउद्दाउले' सह बालैर्बर्धमाना ये वृद्धास्तेराकोणं गणे ॥३०६॥

वैयावृत्यं 'कर्तुमभ्युक्तं तविवमिति—

सेज्जागासणितेज्जा उवधी पडिलेहणाउवग्गहिदे ।

आहारोसहवायणविकिंचणुज्जत्तणादीसु ॥३०७॥

'सेज्जागासणितेज्जा उवधी पडिलेहणा उवग्गहिदे' शय्याकाशस्य, निषद्यास्थानस्य, उपकरणानां च प्रतिलेखना, उपग्रह उपकारः । किंचिद्यः ? 'आहारोसहवायणविकिंचणुज्जत्तणादीसु' योग्यस्य आहारस्य औषधस्य वा दानं स्वाध्यायोत्सारणं अशक्तस्य शरीरमलनिरास । 'उवग्गहे' पावनीत्याश्वान्तिरेत्यो-
त्पापनं ॥३०७॥

अद्धान्तेण सावयरायणदीरोधगासिबे ऊमे ।

वेज्जावचुचं उचं संगहसारक्खणोवेदं ॥३०८॥

'अद्धान्तेण सावयरायणदीरोधगासिबे ऊमे' अघ्नना श्रमेण श्रान्ताना पादाविमर्दन । स्तेनैरुपद्रूय-

करनेके लिए प्रथमभाव दुर्लभ है । जैसे पित्तके शान्त होनेपर चित्त काममें लगता है वैसे ही जिस समय पूर्वोक्त कर्मका उपशम होनेपर प्रथमभावकी प्राप्ति होती है, उसी समय आत्मकल्याण करनेकी शक्ति आती है । इस प्रकार संसारमें मृत्यु, व्याधि और राग ये बाधक हैं । उनको चित्तमें लाकर जब वे न हों तब तपमें उद्योग करना चाहिए ॥३०५॥

गा०—बालमुनि और वृद्ध मुनियोंसे भरे हुए गणमें सर्वज्ञकी आज्ञासे सदा अपनी शक्ति और भक्तिसे वैयावृत्य करनेमें तत्पर रहो । सर्वज्ञदेवकी आज्ञा है कि वैयावृत्य करना चाहिये । वैयावृत्य तप है और तपसे निर्जरा होती है ॥३०६॥

वैयावृत्य करनेके लिये कहा है । उस वैयावृत्य को बतलाते हैं—

गा०—सोनेके स्थान, बैठनेके स्थान और उपकरणोंकी प्रतिलेखना करना, योग्य आहार योग्य औषधका देना, स्वाध्याय कराना, अशक्त मुनिके शरीरका मल शोधन करना, एक करबट से दूसरी करबट लिटाना ये उपकार वैयावृत्य हैं ॥३०७॥

गा०—जो मुनि मार्गके श्रमसे थक गये हैं उनके पैर आदि दबाना, जिन्हें चोरों ने सताया

मागार्ता तथा स्वापदैः, दुष्टैर्वा भूमिपालैः, नदीरोषकैः मार्गा च तदुपद्रवनिरासः विद्याविधिः । 'ऊभै' बुभिक्षे सुभिक्षवेगनयनं । 'वेङ्गावच्छ्वं सुत्सं' वैयावृत्यमुक्तम् । 'संगहसारवक्षजोवेर्षं' संगहसरक्षणाम्यामुपेतः ॥३०८॥

वैयावृत्याकरणं निन्दति—

अणिगूहिदबलधिरिजो वेज्जावच्छ्वं जिणोवदेसेण ।

जदि ण करेदि समत्थो संतो सो होदि णिद्धम्मो ॥३०९॥

अनिगूहितेत्यादिना—अनिगूढवीर्यो यो वैयावृत्यं जिनोपदिष्टं क्रमेण न करोति । शक्तोऽपि सन् स निर्घर्मो भवति घर्माग्निष्क्रान्तो भवति इति सूत्रार्थः ॥३०९॥

दोषान्तराणि व्याचष्टे—

तित्थयराणाकोवो सुद्धम्मविराषणा अणायारो ।

अप्यापरोपवचयणं च तेण जिज्जुहिदं होदि ॥३१०॥

'तित्थयराणाकोवो' तीर्थकराणामाज्ञाकोपः । 'सुद्धम्मविराषणा' अतोपदिष्टधर्मनाशन । 'अणायारो' आचारभ्राव । वैयावृत्याभ्ये तपसि अवृत्ते । 'अप्यापरोपवचयणं च तेण जिज्जुहिदं होदि' आत्मा साधुवर्गं प्रवचनं च त्यक्तं भवति । तपस्यनुद्योगादात्मा त्यक्तो भवति, आपद्युपकाराकरणाद्यतिवर्गं, श्रुतोपदिष्टस्याकरणादागमस्य त्यक्तं ॥३१०॥

गुणान्वैवावृत्यकरणे कथयति गाथाद्वयेन—

गुणपरिणामो सद्दहा वच्छत्तलं मत्तिपत्तलंभो य ।

संधाणं तव पूया अज्जोच्छित्ती समाधी य ॥३११॥

'गुणपरिणामो' यतिगुणपरिणति । 'सद्दहा' श्रद्धा । 'वच्छत्तलं' वात्सल्यं । 'मत्ती' भवितः । 'पत्तलंभो

है, जंगली जानवरोंसे, दुष्ट राजासे, नदीको रोकने वालों से और मारी रोगसे जो पीड़ित हैं, विद्या आदिसे उनका उपद्रव दूर करना, जो दुर्भिक्षमें फँसे है उन्हें सुभिक्ष देशमें लाना, आप न डरें इत्यादि रूप से उन्हें धैर्य देना तथा उनका संरक्षण करना वैयावृत्य कहा है ॥३०८॥

वैयावृत्य न करने की निन्दा करते हैं—

गा०—अपने बल और वीर्यको न छिपाने वाला जो मुनि समर्थ होते हुए भी जिन भगवान के द्वाग कहे हुए क्रम के अनुसार यदि वैयावृत्य नहीं करता है तो वह धर्मसे बहिष्कृत होता है यह इस गाथा का अभिप्राय है ॥३०९॥

वैयावृत्य न करनेसे तीर्थङ्करोंकी आज्ञाका भंग होता है । गास्त्रमे कहे गये धर्मका नाश होता है । आचारका लोप होता है और उस व्यक्तिके द्वारा आत्मा, साधुवर्ग और प्रवचन का परित्याग होता है । तप में उद्योग न करनेसे आत्मा का त्याग होता है । आपत्ति में उपकार न करनेसे भूमिवर्गका त्याग होता है और शास्त्र विहित आचरण न करनेसे आगमका त्याग होता है ॥३१०॥

दो गाथाओ से वैयावृत्य करनेमें गुणों को कहते हैं—

गा०—वैयावृत्य करनेका पहला गुण है 'गुण परिणाम' अर्थात् जो वैयावृत्य करता है ३६

ब' पात्रस्य लाभः । 'संबन्ध' संबन्ध । 'तप' तपः । पूजा पूजा । 'अभ्युच्छिन्नी य तित्पस्व' अभ्युच्छिन्नीय च । तीर्थस्व । 'समाप्ती य' समाप्तिश्च ॥३११॥

आज्ञा संज्ञमसाखिल्लदा य दार्ण च अविदिगिच्छा य ।

वेज्जावच्छस्स गुणा पभावणा क्कज्जपुष्पाणि ॥३१२॥

'आज्ञा संज्ञमसाखिल्लदा य' आज्ञा संज्ञमसाहाय्य च । 'दार्णं च' दान च । सर्वज्ञोपदिष्टवैयावृत्यकरणादाज्ञा संपादिता । आज्ञासंपादनमाज्ञासंयमः । परस्य वैयावृत्यकृत उपकार । रत्नत्रयस्य निरतिचारस्य दानं । 'संज्ञमसाखिल्लदा य' संयमसाहाय्यमिति चार्थः । 'अविदिगिच्छा य' अविचिकित्सा च । 'वेज्जावच्छस्स गुणा' वैयावृत्यस्य गुणाः । 'पभावणा' प्रभावना च । 'क्कज्जपुष्पाणि' कार्यनिर्वहणानि च ॥३१२॥

गुणपरिणामो ह्येतत्पदं व्याचष्टे—

मोहग्निणादिमहदा घोरमहावेयणाए फुट्ठंती ।

उज्जदि हु घगघमंतो ससुरासुरमाणुसो लोओ ॥३१३॥

'मोहग्निणा' अज्ञानाग्निना । 'अविमहदा' अतिमहता, सकलवस्तुविषयतया मद्भ्रमज्ञान तेन । 'उज्जदि' दहते । 'घोरमहावेयणाए' घोरया महत्या वेदनया । 'फुट्ठंती' विदीर्यमाणः । 'घगघमंतो' घगघगायमान । 'ससुरासुरमाणुसो लोओ' देवासुरमानुषैः सह वर्तमानो लोक ॥३१३॥

एदम्मि णवरि मुणिणो णाणजलोवग्गहेण विज्जविदे ।

डाहुम्म्युक्का हंति हु दमेण णिव्वेदणा चैव ॥३१४॥

'एदम्मि' एतस्मिन्लोकं दहमाने । 'णवरि' पुन । 'मुणिणो णिव्वेदणा चैव हंति' मुनय एव निर्वेदना

उसकी पीड़ित साधुके गुणों में वासना होती है कि मैं भी ऐसा बनूँ । और जिम साधु की वैयावृत्य की जाती है उसकी सम्यक्त्व आदि गुणोंमें विशेष प्रवृत्ति होती है । इसके निवाय श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रका लाभ, सन्धान-अपने में जो गुण पूजा छूट गये हैं उनका-पुनः आरोपण, तप, धर्म तीर्थ की परम्परा का विच्छेद न होना तथा समाप्ति, ये गुण हैं ॥३११॥

गा०—सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट वैयावृत्य करनेसे सर्वज्ञकी आज्ञाका पालन होता है । आज्ञा पालनसे आज्ञा संयम होता है । वैयावृत्य करने वालेका उपकार होता है । निर्दोष रत्नत्रय का दान होता है । संयम में सहायता होती है । विचिकित्सा—ग्लानि दूर होती है । धर्म की प्रभावना होती है और कार्यका निर्वाह होता है ॥३१२॥

'गुण परिणाम' पद का व्याख्यान करते हैं—

गा०—अति महान मोहरूपी आगके द्वारा सुर असुर और मनुष्यो महित यह वर्तमान लोक धक्-धक् करते हुए जल रहा है । घोर महावेदनासे उसके अंग टूट फूट रहे हैं ॥३१३॥

विश्लेषार्थ—'यह भेरा है और मैं इसका हूँ' इत्यादि प्रत्यय रूप अज्ञान समस्त वस्तुओंके सम्बन्धमें होनेसे उसे अतिमहान कहा है । तथा लोकसे बहिर्गात्मा प्राणियों का समूह लिया गया है ।

गा०—इस लोकके जलने पर भी मुनियों को कोई वेदना नहीं है । क्योंकि ज्ञानरूपी जलके

भवन्ति । कथं ? 'षाण्णवर्णव्यवहार' ज्ञानजलोपग्रहेण । 'विज्ञानविषे' नष्टे मोहान्नी । 'इहाम्मुक्ता' दाहो-
न्युक्ताः । 'द्वेषे' रागद्वेषप्रशमेन च । एतदुक्तं भवति—समीचीनज्ञानजलप्रवाहोन्मूलिताज्ञानवह्निप्रसरत्वं
नाम यतीनां गुणः निर्वेदनत्वं चेति ॥३१४॥

विगमहिर्दिदियदारा समाहिदा समिदसञ्चैट्टंणा ।

धण्णा णिरावयक्खा तवसा विबुण्णंति कम्मरयं ॥३१५॥

'विगमहिर्दिदियदारा' इन्द्रियं द्विविधं द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय इति । तत्र द्रव्येन्द्रियं पुद्गलस्कन्धा आत्म-
प्रदेशाच्च तदाधारा । भावेन्द्रियं ज्ञानावरणक्षयोपशम इन्द्रियजनितो रूपाद्युपयोगश्च । तत्रेहोपयोगेन्द्रियं
गृहीतं तत्साहचर्याद्विरागद्वेषावमनोजे मनोजे च विषये प्रवृत्तौ इह पापकर्मनिमित्ततया इन्द्रियद्वारशब्देनोच्यते ।
तेनायमर्थः—निगृहीतेन्द्रियविषयरोगद्वेषा इति । 'समाहिदा' रत्नत्रये समबहितचित्ताः । 'समिदसञ्चैट्टंणा'
सम्यक्प्रवृत्तसर्वेहा । 'धण्णा' पुण्यवन्तः । 'णिरावयक्खा' निरपेक्षा इति केचिद्वदन्ति । अन्ये निरपेक्षाः ।
सत्कार लाभं वानपेक्षमाणा इति कथयन्ति । 'तवसा विबुण्णंति कम्मरयं' तपसा कर्मरजोविध्वननं कुर्वन्ति ।
निगृहीतेन्द्रियत्व, रत्नत्रयैकाग्रता, निरवयवेष्टावत्ता, सत्कारादेरनिरपेक्षता, तपसि वृत्तता, कर्मरजोविध्वननं च
यतिगुणा एतया गाथया सूचिता ॥३१५॥

इय ददगुणपरिणामो वेज्जावच्चं करेदि साहुस्स ।

वेज्जावच्चेण तदो गुणपरिणामो कदो होदि ॥३१६॥

'इयं' एव 'ददगुणपरिणामो' यतिगुणेषु व्यावर्णितेषु दृढपरिणामः । 'साहुस्स वेज्जावच्चं करेदि'

प्रवाहसे—आत्मा और शरीर आदिके भेद ज्ञानरूपी जलके प्रवाहसे मोहरूपी आगके नष्ट हो जाने
से तथा रागद्वेषके शान्त हो जानेसे वे दाह से मुक्त हैं । आशय यह है कि सम्यग्ज्ञान रूपी जलके
प्रवाहसे अज्ञानरूपी आगके फेलावको समाप्त कर देना और वेदना रहित होना अर्थात् ज्ञान-
नन्दमय होना यतियों का गुण है ॥३१४॥

गा०-टी०—इन्द्रियके दो भेद हैं द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय । पुद्गल स्कन्धोंके और उनके आधार
भूत आत्म प्रदेशके इन्द्रियाकार रचनाको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं । और ज्ञानावरणके क्षयोपशम और
इन्द्रियसे होने वाले रूपादि विषयक उपयोगको भावेन्द्रिय कहते हैं । इनमेंसे यहाँ उपयोगरूप
इन्द्रियका ग्रहण किया है, क्योंकि उसकी सहायतासे मनको प्रिय और अप्रिय लगने वाले विषयों
में राग द्वेष होते हैं । पापकर्ममें निमित्त होनेसे यहाँ इन्द्रियद्वार कहा है अतः यह अर्थ होता है
जिन्होंने इन्द्रियोंके विषयोंमें होने वाले रागद्वेषका निग्रह कर दिया है । जिनका चित्त रत्नत्रयमें
लीन रहता है । जो ईर्ष्याभाषा आदि चेष्टाएँ सम्यक् रूप करते हैं और जो 'णिरावयक्खा' है ।
इसका अर्थ कोई 'निरपेक्ष' कहते हैं और कोई 'निरपेक्ष' कहते हैं अर्थात् जो सत्कार और लाभ की
अपेक्षा नहीं करते । वे पुण्यशाली मुनि तपसे कर्म रूपी धूलिको नष्ट करते हैं । इस प्रकार इन्द्रियों
का निग्रह करना, रत्नत्रयमें एकाग्र होना, निर्दोष चेष्टाएँ करना, सत्कार आदि की अपेक्षा न
करना, तप में लीन रहना और कर्म रूपी रजका दूर करना ये यतियोंके गुण इस गाथाके द्वारा
कहे हैं ॥३१५॥

गा०-टी०—इस प्रकार ऊपर कहे यतिके गुणोंमें जिसका परिणाम दृढ होता है वह साधु
की वैयावृत्य करता है । वैयावृत्य करने से गुण परिणाम होता है । आशय यह है कि इस यतिमें

साधोर्वैद्यावृत्यं करोति । 'वेङ्कटावधौष' वैयावृत्येन । 'सो' तेन 'गुणपरिणामो कसो होवि' गुणपरिणामः कृतो भवति । एतदुक्तं भवति—अस्य यतेरेते गुणाः, इमे नश्यन्ति यदि नोपकारं कुर्यात् इति यश्चेत्सि करोति स तेषु गुणेषु परिणतो भवति । यस्य चोपकार कृतस्तस्य च गुणेषु परिणतिः कृता भवति । अतः स्वपरोपकारनिमित्तं वैयावृत्यं इति भाष्यात् ॥३१६॥

जह जह गुणपरिणामो तह तह आरुहइ धम्मगुणसेहिं ।

बड्ढदि जिणवरमग्गे णवणवसंवेगसड्ढावि ॥३१७॥

'जह जह' यथा यथा गुणपरिणामो भवति । 'तह तह आरुहइ धम्मगुणसेहिं' तथाऽऽरोहति चारित्र-गुणश्रेणीः । 'बड्ढदि' वर्धते । 'जिणवरमग्गे' जिनेन्द्रमार्गं । किं वर्द्धते ? 'नवनवसंवेगसड्ढावि' प्रत्यय-संसारभीरुता श्रद्धापि । इह गुणसम्भवेन गुणनिर्भास स्मार्तं प्रत्यय उच्यते । तेनायमर्थः—यथा यथा यति-गुणानां स्मरणं तथा तथा चारित्रगुणानां स्मरणं तथा तथा चारित्रगुणानुपारोहति । विस्मृतयतिगुणो न तत्र प्रयतते । तेषां गुणानां स्मरणान्न र्हाचरूपजायते । गुणानुरागिणो हि भव्या । संसारभीतिः श्रद्धा च प्रवर्तमाना दृढयति यति रत्नत्रये । एतया गाथया सूत्रिता श्रद्धा व्याख्याता ॥३१७॥

गुणानामनुस्मरणान्न र्हाचरुभवति रुचो प्रवृद्धाया वात्सल्य नाम दर्शनस्य गुणो भवतीत्याचष्टे—

सड्ढाए वड्ढियाए वच्छल्लं भावदो उवक्कमदि ।

तो तिच्चधम्मराओ सव्वजगसुहावहो होइ ॥३१८॥

'सड्ढाए वड्ढियाए' श्रद्धया वर्द्धिताया । 'वच्छल्लं भावदो उवक्कमदि' वात्सल्यं भावत मनसा प्रारभते । 'तो' तत । 'तिच्चधम्मराओ' धर्मं तीव्रं राग । 'सव्वजगसुहावहो होवि' सर्वेषु जगत्सु यत्सुख

ये गुण हैं । यदि मैं इनकी सेवा न करूँगा तो ये गुण नष्ट हो जायेंगे । ऐसा जो चित्तमे विचारता है वह उन गुणोंमे परिणत होता है । और जिसकी सेवा की है उसकी गुणो मे परिणति होती है । अर्थात् वैयावृत्य करने वाला स्वयं उन गुणोंसे सुवासित होता है और जिसका वैयावृत्य किया जाता है वह यति अपने गुणोंसे च्युत नहीं होता । अतः अपने और दूसरोंके उपकारके लिए वैयावृत्य कहा है ॥३१६॥

गा०—टी०—जैसे-जैसे गुण परिणाम होता है वैसे वैसे चारित्र रूप गुणोंकी सीढ़ी पर चढ़ता है, और जिनेन्द्रके मार्गमें नई-नई संसार भीरुता और श्रद्धा भी बढ़ती है । यहाँ गुण शब्दसे गुणोंको विषय करने वाला स्मरण ज्ञान कहा गया है । तब यह अर्थ होता है—जैसे-जैसे यतिके गुणोंका स्मरण होता है वैसे-वैसे चारित्र गुण पर आरोहण करता है । जो यतिके गुणोंको भूल जाता है वह उसमें प्रयत्न नहीं करता । उनके गुणोंका स्मरण करनेसे उनमे र्हाच पैदा होती है । मध्य जीव गुणोंकी अनुरागी होते हैं । संसारसे भय और श्रद्धा यतिको रत्नत्रयमें ढ़क करती है । इस गाथासे श्रद्धा गुणका कथन किया ॥३१७॥

आगे कहते है कि गुणोंके स्मरणसे उनमें र्हाच होता है । र्हाच बढ़ने पर सम्यग्दर्शनका वात्सल्य नामक गुण होता है—

गा०—श्रद्धाके बढ़ने पर मुनि मनसे वात्सल्य करते हैं । उससे धर्ममें तीव्र राग होता है । धर्ममें तीव्र राग समस्त जगतमें जो इन्द्रिय जन्य और अतीन्द्रिय सुख है उसे लाता है । अथवा

ऐन्द्रियमतीन्द्रिय वा तदाहृत्याकर्षति धर्मं तीव्रो रागः । तीव्रधर्मरागो वा यतिगत्मनः सकलं सुखमावहति । वात्सल्य इत्येतद्व्याख्यातं गाथायाज्याया ॥३१८॥

वैयावृत्यस्य च भक्तिर्नाम यो गुणस्तं व्याचष्टे—

अरहंतसिद्धमत्ती गुरुमत्ती सव्वसाहुमत्ती य ।

आसेविदा समग्गा विमला वरधम्ममत्ती य ॥३१९॥

'अरहंतसिद्धमत्ती' तत्रार्हन्तो नामातिक्रान्ते तृतीये भवे दर्शनविगुद्धादिपरिणामविशेषबद्धतीर्थकरत्व-
नामकभौतिसयाः, स्वर्गावतरणादिपरदुरवापपञ्चमहाकल्याणभागिनः, घातिकर्मप्रलयाधिगतसकलद्रव्यत्रिकालगो-
चरस्वरूपावभासनपटुनिरतिशयज्ञानदर्शनमोहोन्मूलनपजातवीतरागसम्यक्त्वा, चारित्रमोहोत्पादनलक्ष्यवीत-
रागभावा, वीर्यान्तरायकर्मप्रक्षयाविभूतानन्तवीर्या, परीतमसारभयजनोद्धरणबद्धप्रतिज्ञा, अष्टमहाप्रतिहार्य-
चतुर्भ्रशदतिशयविशेषा । सिद्धा नाम मिथ्यात्वादिपरिणामोपनीतकर्माटकबन्धनिर्मुक्ता अजरामराव्याबाधा
उपमातीतानन्तमुक्ता जाड्यव्यमाननिरावरणज्ञानतनवः पुरुषाकारावाप्तपरमात्मावस्था । गतयोरर्हंतिसिद्धयो-
र्भक्तिः । गुरुशब्देनात्राचार्योपाध्यायौ गृहीतो तयोर्भक्ति । 'सव्वसाहुमत्ती ध' सर्वसाधुभक्तिश्च । 'आसेविदा'
आसेविता भवति । 'समग्गा' समस्ता 'विमला वरधम्ममत्तीध' प्रधाने धर्म रत्नत्रयात्मके भक्तिश्च आसेविता
भवति । अर्हदाद्युपदिष्टवैयावृत्यकरणार्थेषा भक्तिः कृता भवति । रत्नत्रयतामुपकारकरणात्तदादरत एव तत्र
भक्ति । वैयावृत्य भक्तिमापादयति अर्हदादिष्विष्युक्त ॥३१९॥

धर्ममे तीव्रराग रन्धने वाला यनि सब मुखको प्राप्त होता है । इस गाथासे वात्सल्यका कथन
किया ॥३१८॥

वैयावृत्यका भक्तिः नामक जो गुण है उसे कहते हैं—

शा०—टी०—इस भवमे पूर्व तीसरे भवमे दर्शन विगुद्धि आदि परिणाम विशेषसे जिसने
तीर्थकरत्व नामक अतिशयशाली कर्मका बन्ध किया है, जो स्वर्गावतरण आदि पाँच महाकल्याण
का भागी है जो कल्याणक किमी अन्यको प्राप्त नहीं होते, घातिकर्मोंके बिनाशसे जिसने-
त्रिकालवर्ती सब द्रव्योंके स्वरूपको प्रकाशित करनेमें पटु निरतिशय ज्ञान प्राप्त किया है, दर्शन
मोह के क्षय से जिन्हें वीतराग सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है, चारित्रमोहके क्षयसे जिसने वीतरागता
प्राप्त की है, वीर्यान्तराय कर्मके प्रक्षयसे जिनमे अनन्तवीर्य प्रकट हुआ है, जिनके ससारका अन्त
आ गया है उन भव्यजीवीको उद्धार करनेकी प्रतिज्ञासे जो बद्ध हैं, जो आठ महाप्रतिहार्य और
चौतीस अतिशय विशेषसे युक्त हैं, वे अर्हन्त हैं । मिथ्यात्व आदि परिणामोंसे आये आठ कर्मोंके
बन्धनसे जो छूट चुके हैं, जो अजर अमर, अव्याबाध गुणसे युक्त हैं अनुपम अनन्त सुखसे शोभित
हैं जिनके सदा प्रज्वलित रहने वाला आवरण रहित ज्ञानमय शरीर है, जो पुरुषाकार हैं और
जिन्होंने परमात्म अवस्थाको पालिया है वे सिद्ध हैं । इन अर्हन्तों और सिद्धोंकी भक्ति अर्हन्त
सिद्ध भक्ति है । गुरु शब्दसे यहाँ आचार्य और उपाध्यायका ग्रहण किया है । उनकी भक्ति गुरु भक्ति
है । और सर्वसाधुओंकी भक्ति तथा प्रधान धर्म रत्नत्रयमे सम्पूर्ण निर्मल भक्ति । इन अर्हन्त आदि
का ऊपर कहा वैयावृत्य करनेसे उनकी भक्ति की गई जानना । रत्नत्रयके धारकोका उपकार
करनेसे उनका आदर ही उनकी भक्ति है । अभिप्राय यह है कि वैयावृत्यसे अर्हन्त आदिमे भक्ति
व्यक्त होती है ॥३१९॥

इदानीं तस्या माहात्म्यं स्तौति—

संबेगजणियकरणा णिस्सन्त्ला मंदरुच्च णिक्कंपा ।

जस्स दद्धा जिणभसो तस्स भयं णत्थि ससारे ॥३२०॥

'संबेगजणियकरणा' संसारभीस्ताजनितोत्पादा। करणशब्द सामान्यवचनोऽपि उत्पत्तिक्रियावृत्तिरत्र गृहीतः। 'णिस्सन्त्ला' मिथ्यात्वेन, मायया, निदानेन च रहिता। 'मंदरुच्च णिक्कंपा' मंदर इव निश्चला। 'जस्स दद्धा जिणभसो' यस्य जिने भक्तिर्दुर्दा। 'णत्थि ससारे' तस्य भय नास्ति ससारान्। जिन-सन्धेना चात्रार्हदायः सर्व एवोच्यन्ते—कर्मकदेसाना समस्ताना च जयान्। धर्मोऽपि कर्मभ्यभिभवति इति ब्रह्मलामादिकमनुद्दिश्य प्रवृत्तस्तत्कथयति। 'संबेगजणियकरणा' इत्यनेन संसारभयनिराकरणोपायभूता जिन-भक्तिरिति ज्ञाना प्रवृत्तति यावत्। वैनयिकमिथ्यादृष्टे सर्वत्र भक्ति' प्रवर्तते इति तन्निरासाय णिस्सन्त्ला इत्युच्यते। 'मंदरुच्च णिक्कंपा' इत्यनेन सर्वकालवृत्तित्वाभ्याता। सामादनसम्यग्दृष्टेजिताप्यल्पकाला न संसार-भिस्सारयतीति ॥३२०॥

वैयावृत्यस्य पात्रलाभगुणमाचष्टे—

पंचमहृच्चयगुत्तो णिग्गहिदकसायवेदणो दंतो ।

लम्भदि हु पत्तभूदो णाणासुदरयणणिधिभूदो ॥३२१॥

'पंचमहृच्चयगुत्तो' पञ्चभिर्महाघतं कृतास्रवनिरोध। 'णिग्गहिदकसायवेदणो' निगृहीतकषायवेदन कषायस्तु तपयस्यात्मानमिति वेदना। 'दंतो' दान्त शान्तरागजदोष। परिजानाद्वैराग्यभावनात्। प्रशान्त-राग इति कृत्वा दान्त इत्युच्यते। 'लम्भदि हु पत्तभूदो' लभ्यते पात्रभूतः। 'णाणासुदरयणणिधिभूदो' नाना-

अव उस भक्तिका माहात्म्य कहते हैं—

गा०—टी०—'संबेग जणिय करण'मे 'करण' शब्द क्रिया सामान्यका वाची होने पर भी यहाँ उसका अर्थ उत्पत्तिरूप क्रिया लिया है। अतः ससारके भयमे जो उत्पन्न होती है, मिथ्यात्व माया और निदान नामक शक्तियोंसे रहित सुमेरुकी तरह निश्चल, ऐसी दृढ जिन भक्ति जिसके है उसे संसारसे भय नहीं है। कर्मोंके एक देशको अथवा सब कर्मोंको जीतनेसे यहाँ 'जिन' शब्दसे अर्हन्त आदि सभी लिये है। 'धर्म' भी कर्मोंको निरस्त करता है इसलिये जिन शब्दसे धर्म भी कहा जाता है। किन्तु वह धर्म द्रव्यलाभके उद्देशसे न होकर जिन भक्ति ससारका भय दूर करनेका उपाय है। यह जानकर होना चाहिये। वैनयिक मिथ्यादृष्टिकी भक्ति सबमे होती है उसके निराकरणके लिये निःशय कहा है। मेरुकी तरह निश्चल कहनेसे वह भक्ति सर्वकालमे हानी चाहिये ऐसा कहा है। सासादन सम्यग्दृष्टोके अल्पकालीन भक्ति होती है किन्तु वह संसारसे नहीं निकालती ॥३२०॥

वैयावृत्यका एक गुण पात्रलाभ है। उसे कहते हैं—

गा०टी०—'वैयावृत्य करनेसे, पाँच महात्रतो के द्वाग कर्मोंके आस्रवको रोकने वाला, कषाय वेदनाका निग्रह करने वाला, कषाय आत्माको मत्पत्त करती है इससे वेदना कहा है, दान्त अर्थात् जिसके राग जन्य दोष शान्त हो गये हैं, वस्तु तत्त्वका जाननेसे वैराग्य भावना होती है और वैराग्य भावनासे राग शान्त होता है इससे दान्त कहा है, तथा जो नाना प्रकारके शास्त्रोंरूपी रत्नोंका निधि है नाना शास्त्रोंका ज्ञाता है, ऐसा पात्र प्राप्त होता है' अर्थात् वैयावृत्य

शुतरलनिविभूतः ॥२२१॥

दंसणणाणे तव सज्जमे य संधानादा कदा होइ ।

तो तेण सिद्धिमग्गे ठविदो अप्पा परो चेव ॥३२२॥

‘दंसणणाणे’ वर्धनज्ञानयोः । ‘तवसज्जमे य’ तपस्चारित्रयोश्च । ‘संधानादा होइ’ कुतश्चित्रिमिता द्विच्छिन्नानां वर्धनादीनां संधानं कृतं भवति वैयावृत्येन । ‘तो’ तस्मात् तेनैव वैयावृत्यकारिणा । ‘सिद्धिमग्गे रत्नत्रये । ‘ठविदो अप्पा परो चेव’ स्थापित आत्मा परत्वं । अनया संधानमित्येतत्पूत्रपदव्याख्यानम् ॥२२२॥

तव ह्येतद्व्याख्यातुमाह—

वेज्जाबच्चकरो पुण अणुत्तरं तवसमाधिमारूढो ।

पप्फोडितो विहरदि बहुभवबाधाकरं कम्मं ॥३२३॥

‘वेज्जाबच्चकरो पुण’ वैयावृत्यकर पुन ‘अणुत्तरं तवसमाधि मारूढो’ उत्कृष्ट वैयावृत्याख्ये तपसि समाधिमैकाग्रतामुपाश्रित । ‘पप्फोडितो विहरदि’ विधूनयन्निवहरति । ‘बहुभवबाधाकरं’ कम्मं बहुभवेषु बाधाः संपादयत्कर्म ॥३२३॥

जिणसिद्धसाहुचम्मा अणागदातीदवद्धमाणगदा ।

तिविहेण सुद्धमदिणा सन्वे अभिपूह्या होति ॥३२४॥

‘जिणसिद्ध साहुचम्मा’ तीर्थकृतः, सिद्धा, साधवो, धर्मद्वय । ‘अणागदातीदवद्धमाणगदा’ सर्वे त्रिकाल वर्तिनः ‘सन्वे तिविहेण पूजिता होति’ सर्वे मनोवाक्यकार्यं पूजिता भवन्ति । ‘सुद्धमदिणा’ शुद्धचेतसा । तीर्थ कृदावयस्तदाज्ञासंपादनापूजिता, दशविधे धर्मो तपसोऽन्तर्भावार्थवैयावृत्यस्य च तदन्तर्गतत्वाद् वैयावृत्ये आदारात् तत्प्रवृत्तेषु धर्मं पूजितो भवति ॥३२४॥

करने वालेको वैयावृत्यके लिये ऐं सत्यात्र मुनी प्राप्त होते है यह एक महान् लाभ है ॥३२१॥

गा०—टी०—किसी निमित्तसे सम्यग्दर्शन आदिमे त्रुटि हो गई हो तो वैयावृत्य करनेसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्त्प और सम्यक् चारित्रमे पुनः नियुक्ति हो जाती है । अतः उसी वैयावृत्यकारीके द्वारा स्वयं आत्मा तथा जिसकी वह वैयावृत्य करता है उसको रत्नत्रय में पुन स्तित्ति होती है । इससे दोनों का ही लाभ है । इस गाथाके द्वारा ‘संधान’ पदका व्याख्यान किया है ॥३२२॥

तप गुणको कहते है—

गा०—वैयावृत्य करनेवाला मुनि उत्कृष्ट वैयावृत्य नामक तपमे एकाग्र होकर अनेक भवोंमें कष्ट देनेवाले कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ विहार करता है ॥३२३॥

गा०—शुद्धचित्तसे वैयावृत्य करनेवालेके द्वारा भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालके सब तीर्थकर, सिद्ध, साधु और धर्म मन-बचन-कायसे पूजित होते हैं । तीर्थकरोंकी आज्ञाका पालन करनेसे सभी तीर्थकर आदि इसके द्वारा पूजित होते हैं । तथा दस प्रकारके धर्मोंमें एक तपधर्म भी है और वैयावृत्य उसका एक भेद है अतः वैयावृत्यमें आदरभाव रखने तथा वैयावृत्य करनेमें धर्म पूजित होता है ॥३२४॥

वैयावृत्यं वक्ष्यिषं आचार्योपाध्यायनपस्वि शिक्षकग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञभेदेन । तत्राचार्यवैयावृत्यमाहात्म्यकथनायाचष्टे—

आह्रियधारणाए संघो सच्चो वि धारिओ होदि ।

संघस्स धारणाए अब्बोच्छित्ती कया होई ॥३२५॥

'आह्रियधारणाए' आचार्यधारणात्, 'संघो सच्चो वि धारिओ होदि' सर्वं संघोज्वधारितो भवति । कथं ? आचार्यो हि रत्नत्रयं प्राप्तयति । गृहीतरत्नत्रयांस्तेषु द्रढयति । अतिचाराऽजातानप्यनयति । तदुप-
देशकमेव गुणसंहतिरूपता षत्ते संघो नाम्यथेति संघो धारितो भवति । सधधारणाया गुणमाचष्टे । संघस्स धारणाए अब्बोच्छित्ती कया होदि' धर्मतीर्थस्याभ्युदयनि श्रेयससुखसाधनस्य अब्युच्छित्तिं कृता भवति । उपाध्यायादयः सर्व एव साधयन्ति निरवशेषकर्मणायमिति साधुशब्देनोच्यन्ते ॥३२५॥

तेष्वन्यतमस्य साधोर्धारणायां गुणं कथयति—

साधुस्स धारणाए वि होइ तह चेव धारिओ संघो ।

साधु चेव हि संघो ण हु संघो साहुवदिरित्तो ॥३२६॥

'साधुस्स धारणाए' एकस्य साधोर्वैयावृत्यकरणेन धारणाया । 'होदि' भवति । 'तह चेव' तथैव आचार्यधारणात् संघधारणात् । 'धारिओ संघो' धारितो यतिसमुदाय । कथमेकस्य धारणाया समुदायधारणा, समुदायावयवयोर्भेदादित्यासाकायामाह—'साधु चेव हि संघो' साधव एव हि सधः । 'ण हि संघो साहुवदिरित्तो' नैव संघो नामाद्यान्तरभूतोऽस्ति साधुव्यतिरिक्तः । कथञ्चित्समुदायावयोरव्यतिरेक इति मन्यते गाथा-

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शिक्षक, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञके भेदसे वैयावृत्यके दस भेद हैं । उनमेंसे आचार्य वैयावृत्यका माहात्म्य कहते हैं—

भा०—टी०—आचार्यका धारण करनेसे समस्त संघ धारित होता है । क्योंकि आचार्य रत्नत्रय ग्रहण कराते हैं और जो साधु रत्नत्रयको धारण किये हांते हैं उन्हे उसमे दृढ करते हैं । उत्पन्न हुए अतिचारोंको दूर करते है । आचार्यके उपदेशके प्रभावसे ही संघ गुणोंके समूहको धारण करता है अतः आचार्यके धारणसे संघका धारण हांता है । आचार्यके बिना संघका धारण सम्भव नहीं है । संघके धारणसे अभ्युदय और मोक्षके सुखका साधन जो धर्म है उस धर्मतीर्थका विच्छेद नहीं होता । उपाध्याय आदि सभी समस्तकर्मोंके बिनाशकी साधना करते हैं इसलिए साधु शब्दसे उन सबका ग्रहण हांता है ॥३२५॥

विशेषार्थ—धारणाका अर्थ है अपने धर्मकर्मकी शक्तिको भ्रष्ट करनेके निमित्तोंको दूर करके उसको शक्ति प्रदान करना । इसीको वैयावृत्य भी कहते है ।

उक्त आचार्यादिमेंसे किसी एक साधुकी धारणाके गुण कहते हैं—

भा०—टी०—जैसे आचार्यकी धारणासे संघकी धारणा हांती है वैसे ही एक साधुकी धारणासे अर्थात् वैयावृत्य करनेसे साधु समुदायकी धारणा हांती है ।

शंका—एक साधुकी धारणासे सब साधु समुदायकी धारणा कैसे हो सकती है ? क्योंकि समुदाय और व्यक्तिकमें तो भेद है ? इसके उत्तरमें कहते हैं—

समाधान—साधु ही संघ है । साधुओंसे भिन्न कोई संघ नामक वस्तु नहीं है । समुदाय

इवेनानेन । अव्युच्छित्तिव्यवस्थाता ॥३२६॥

सिद्धिसुखे चेतसि एकाग्रता समाधिरित्युच्यते तदुपगृह्णन् कृतं भवतीत्याचष्टे—

गुणपरिणामादीर्हि अणुधरविहीर्हि विहरमाणेन ।

जा सिद्धिसुखसमाधी सा वि य उवगूहिया होदि ॥३२७॥

'गुणपरिणामादीर्हि' ब' गुणपरिणामः, श्रद्धा, वात्सल्यं, भक्तिः, पात्रलाम', संधान, तपः, पूजा, तीर्थी-
व्युच्छित्तिक्रियेत्येते । 'अणुधरविहीर्हि' प्रकृष्टैः क्रमैः । 'विहरमाणेन' आचरना । 'जा सिद्धिसुखसमाधी' या
सिद्धिसुखैकप्रतिता । 'सा वि य उवगूहिया होदि' साध्यालिङ्गिता भवति । कारणे ह्यादरः कार्ये समाधानमन्तरेण
न प्रवर्तते । न हि साध्ये घटे चेतस्यसति तदुपायमूतदण्डादिकारणकलापे जनः प्रवर्तते । इह च गुणपरिणामा-
द्य उपायाः सिद्धिसुखस्य न च सिद्धिसुखैकाग्रतामन्तरेण ते युज्यन्ते इति भावः ॥३२७॥

अणुपालिदा य आणा संजमजोगा य पालिदा होंति ।

जिग्राहियाणि कसारिदियाणि साखिल्लदा य कदा ॥३२८॥

'अणुपालिदा या आणा' अणुपालिता च आज्ञा भवति वैयावृत्य कुर्वता । केषां ? तीर्थकृदादीना ।
एतेन 'आणा' इत्येतत्सूत्रपद व्याख्यातं भवति । 'संजम जोगा य पालिदा होंति' इत्यनेन संयमपदव्याख्या कृता
संयमेन सह सम्बन्धः आचार्यदीनानाम् । 'पालिदा होंति' रक्षिता भवन्ति । व्याध्याद्यापद्यताना रोगपरीषद्धान-
सकलेशेन चारयितुमस्मर्थानाम् । अथवा संयमयोगाच्च तपासि अनशनान्वितपोविशेषाः रक्षिता भवन्ति स्वस्य
परेषां च, करणानुमननाभ्या स्वस्यापन्निरासेन स्वस्थतोपजातसामर्थ्यादीना संयमसंपादनात् । परेषां सहायता

और उसके अवयव व्यक्तिकमें कथञ्चित् अमेद होता है यह इन गाथाओंके द्वारा माना है ॥३२६॥

अव्युच्छित्तिका कथन समाप्त हुआ ।

सिद्धि सुखमें चित्तकी एकाग्रताको समाधि कहते हैं । वैयावृत्यसे उसका उपगृहण होता है, यह कहते हैं—

शा०—श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रलाम, सन्धान, तप, पूजा, तीर्थकी अव्युच्छित्ति (अवि-
नाश) इत्यादि गुणोंका उत्कृष्ट क्रमके साथ आचरण करनेवाले मुनिको जो सिद्धि सुखमें एकाग्रता
है, वह भी प्राप्त होती है; क्योंकि कार्यमें समाधान हुए विना कारणमें आदर नहीं होता । यदि
चित्तमें घट बनानेकी भावना न हो तो उसके उपायभूत जो दण्ड आदि कारण है उनमें मनुष्य
प्रवृत्त नहीं होता । यहीं गुणपरिणाम आदि सिद्धिसुखके उपाय हैं, सिद्धिसुखमें एकाग्रताके विना
वे उपाय नहीं हो सकते । यह अभिप्राय है ॥३२७॥

शा०—टी०—'जो वैयावृत्य करता है वह तीर्थकरोंकी आज्ञाका पालन करता है । इस कथन-
से गाथाके 'आणा' पदका व्याख्यान किया है । 'संयमयोगका पालन होता है' इस कथनसे संयम-
पदका व्याख्यान किया है क्योंकि आचार्य आदिका संयमके साथ सम्बन्ध है । जो आचार्य आदि
व्याधि आदिसे पीड़ित होते हैं और विना संकलेशके रोगपरीषद्हको सहनेमें असमर्थ होते हैं उनकी
वैयावृत्य करनेसे संयमकी रक्षा होती है । अथवा 'संयमयोग' अर्थात् अनशन आदि तपके भेदोंकी
रक्षा होती है । अपने भी और दूसरोंके भी तपकी रक्षा होती है । दूसरोंसे वैयावृत्य कराकर अथवा
वैयावृत्य करनेकी अनुमोदना करके स्वास्थ्यको प्राप्तकर अपने तपकी रक्षा करता है तथा दूसरोंकी

व्याचष्टे—जम्हा इति वाक्यशेषोपाध्याहारेण सूत्रपदानि सम्बन्धनीयानि । यस्मान्निगृहीतानि कपायेन्द्रियाणि तद्दोषोपदेश कुर्वता तस्मात् 'साक्षिल्लवा य कदा' सहायता कृता ॥३२८॥

अदिसयदाणं दत्तं णिव्विदिगिच्छा दरिमिदा होइ ।

पवयणपभावणा वि य णिव्वुद्धं संघकज्जं च ॥३२९॥

'अदिसयदाणं दत्तं' अतिशयदान दत्त भवति रत्नत्रयदानान् । 'णिव्विदिगिच्छा य वरिसिया होइ' सम्यग्दर्शनस्य गुणो निर्विचिकित्सा नाम सा प्रकटिता भवति । द्रव्यविचिकित्सा निररता अरीरुल्लाना निरा करणात् जुगुत्सा विना । 'पवयणपभावणा वि य' प्रवचनभागमस्तदुक्तार्थानुष्ठानान् प्रवचनप्रभावना कृता भवति । 'णिव्वुद्धं संघकज्जं च' संवेन कर्तव्य कार्यं च निश्चयेन संपादित भवति । एतेन 'कज्जपुण्णाणि इत्येतद्व्याख्यातम् ॥३२९॥

वैयावृत्यस्य फलमाहात्म्य दर्शयति—

गुणपरिणामादीहिं य विज्जावच्चुज्जदो समज्जेदि ।

तित्थयरणामकम्मं तिलोयसंखोमयं पुण्णं ॥३३०॥

'गुणपरिणामादीहिं य' अत्रैवं पदसम्बन्ध 'वेज्जावच्चुज्जदो' वैयावृत्ये उच्यते । 'गुणपरिणामादीहिं' गुणपरिणामादिभिः कारणभूतैः । 'पुण्णं तित्थयरणामकम्मं समज्जेदि' पुण्य तीर्थकरणनामकर्म समर्पयति । कीदृक् ? 'तिलोयसंखोमयं' त्रैलोक्यसंक्षोभकरणक्षमम् ॥३३०॥

एदे गुणा महल्ला वेज्जावच्चुज्जदस्स बहुया य ।

अप्पदिठ्ठदो हु जायदि सज्जायं षेव कुव्वंतो ॥३३१॥

'एदे गुणा महल्ला' एते गुणा महान्तः 'वेज्जावच्चुज्जदस्स' वैयावृत्योद्यतस्य । 'बहुया य' बहव ।

आर्पात्तिको दूर करके, उनके स्वास्थ्य लाभ करके शक्ति प्राप्त करनेपर उनके समयकी रक्षा होती है । दूसरोंकी सहायताका कथन गाथाके उत्तरार्द्धसे करते हैं । उसमें 'जम्हा' पदका अध्याहार करके इस प्रकार अर्थ होता है—यत्त वैयावृत्य करनेवाला कपाय और इन्द्रियोके दोष बतलाकर कपाय और इन्द्रियोंका निग्रह करता है, अतः वह दूसरोंको सहायता प्रदान करता है ॥३२८॥

शा०—टी०—वैयावृत्य करनेवाला उक्त प्रकारसे दूसरे साधुओंको रत्नत्रयका दान करता है इसलिए वह सातिशयदानका दाता होता है । तथा वैयावृत्यसे सम्यग्दर्शनका निर्विचिकित्सा नामक गुण प्रकाशित होता है । शरीरका मलमूत्र आदि विना ग्लानिके उठानेसे द्रव्यविचिकित्सा दूर होती है । आगममें कहे हुए धर्मका पालन करनेसे प्रवचनकी प्रभावना भी होती है । और संभका जो करने योग्य कार्य है उसका भी सम्पादन होता है । इस गाथासे 'कज्जपुण्णाणि' पदका व्याख्यान किया है ॥३२९॥

वैयावृत्यके फलका माहात्म्य कहते हैं—

शा०—वैयावृत्यमें तत्पर साधु गुणपरिणाम आदि कारणोंके द्वारा उस तीर्थंकर नामक पुण्यकर्मका बन्ध करता है जो तीनों लोकोंमें हलचल पैदा करता है ॥३३०॥

शा०—वैयावृत्यमें तत्पर साधुके बहुतसे महान् गुण होते हैं । जो केवल स्वाध्याय ही

'अप्यदिशो ह्यु आत्वि' आत्मप्रयोजनपर एव जायते । 'सञ्ज्ञाय चैव कुम्भंतो' स्वाध्यायमेव कुर्वन् । वैयानृत्य-
करस्तु स्वं परं चोद्धरतीति मन्यते ॥३३१॥

वज्जोह अप्यमसा अज्जासंसर्गमग्गिविससरिसं ।

अज्जाणुचरो साधु लहदि अकिरिं सु अचिरेण ॥३३२॥

'वज्जोह' वर्जयत अग्निना विषेण सदृशः आर्याजनसंसर्गः । प्रमादरहितैर्भवद्भिस्त्याग्यः अज्जाणुचरो
आर्याणुचरः । 'साधु' साधुलहदि अकिरिं लभते अयशः 'अचिरेण' अचिरेण । चित्तसंतापकारितया अग्नि-
सदृशता । संयमजीवितविनाशनाद्विषसदृशता । पापस्य अयशसवच प्रायेण श्रीरुल्लोकौऽपि साध्वाचारः मिथ्या-
दृष्टिरसंयतोऽपि किं पुनर्विषयवैदित्यस्य परिहार्यमशेषं उद्यतः परिहर्तुं यतिजनः पापमयशसव न परि-
हरेत् । तथा च श्लोकः—

काये पातिमि का रक्षा यतो रथ्यमपाति यत् ।

नरः पतितकायोऽपि यशःकायेन धाम्यते ॥ [] ॥३३२॥

वेरस्स वि तवसिस्स वि बहुस्सुदस्स वि पमाणभूदस्स ।

अज्जासंसर्गीए ज्जणजंपणयं हवेज्जादि ॥३३३॥

'वेरस्स' स्वविरस्य । 'तवसिस्स वि' अनशनादितपस्युद्यतस्यापि । 'बहुसुदस्स वि' बहुयुतस्यापि ।
'पमाणभूदस्स' प्रमाणभूतस्य । 'अज्जासंसर्गीए ज्जणजंपणयं हवेज्जादि' आर्यापरिचयाज्जनापवादा
भवति ॥३३३॥

किं पुण तरुणो अबहुस्सुदो य अणुकिट्ठतवचरिचो ।

अज्जासंसर्गीए ज्जणजंपणयं ण पावेज्ज ॥३३४॥

करता है वह तो अपने ही प्रयोजनमें लगा रहता है । किन्तु वैयानृत्य करनेवाला अपना और
दूसरोंका उपकार करता है । अर्थात् केवल स्वाध्याय करनेवाले साधुसे वैयानृत्य करनेवाला विशिष्ट
होता है । स्वाध्याय करनेवाले साधुपर विपत्ति आवे तो उसे वैयानृत्य करनेवालेका ही मुक्त
साकना होता है ॥३३१॥

शा०—टी०—हे साधुजनो ! आपको प्रमादरहित होकर आग और विषके तुल्य आर्याओंके
संसर्गको छोड़ना चाहिए । आर्याके साथ रहनेवाला साधु शीघ्र ही अपयशका भागी होता है ।
आर्याका संसर्ग चित्तको सन्तापकारी होनेसे आगके समान है और संयमरूपी जीवनका विनाशक
होनेसे विषके समान है । साधु आचारवाले मिथ्यादृष्टि असंयमी लोग भी प्रायः पाप और अपयश-
से डरते हैं । फिर जो सब कुछ जानते हैं और समस्त त्यागने योग्य पदार्थोंके त्यागमें तत्पर
रहते हैं वे साधुजन पाप और अपयशके कामसे क्यों नहीं दूर रहेंगे ? कहा भी है—शरीर नष्ट
होनेवाला है उसकी रक्षा सम्भव नहीं है । यशकी रक्षा करने योग्य है जो नष्ट नहीं होता ।
शरीरके छूट जानेपर मनुष्य यशरूपी शरीरसे जीवित रहता है ॥३३२॥

शा०—बुद्ध, अनशन आदि तपमें तत्पर तपस्वी, बहुभूत और प्रमाण माना जानेवाला
भी साधु आर्याजनके संसर्गसे लोकापवादका भागी होता है ॥३३३॥

'किं पुत्रं च वाञ्छेज्ज सर्वजन्मवत्' किं पुनर्न प्राप्नुयाज्जनापवाद वा ? प्राप्नोति नियोगतः । केन ? 'अज्जासंसणीए' आर्यागोष्ठया । कः ? 'तस्सो अबहुस्सुवो अणुकिट्ठतपचरितो य' तरुणो यतिरबहुभुत्तो-
मुत्कृष्टतपचरित्रयच ॥३३४॥

अदि वि सयं थिरबुद्धी तद्वा त्रि संसग्गिल्लद्वपसराए ।

अग्गिसमीवे व घदं विलेज्ज चिचं खु अज्जाए ॥३३५॥

'अदि वि सयं थिरबुद्धी' यद्यपि स्वयं स्थिरबुद्धिः । 'तद्वा त्रि' तथापि । 'संसग्गिल्लद्वपसराए' संस-
र्गात्सङ्घप्रसरायाः । 'अज्जाए' आर्यायाः । 'चिचं विलेज्ज' चित्तं द्रवति । किमिव ? 'अग्गिसमीवे व घदं'
अग्गिसमीपस्यं धृतमिव । न केवलमार्याजन एव परिहरणीयः किं तु—॥३३५॥

सव्वत्थ इत्थिवग्गम्मि अप्पमत्तो सया अबीसत्थो ।

णित्थरदि बंभचेरं तच्चिवरीदो ण णित्थरदि ॥३३६॥

'सव्वत्थ इत्थिवग्गम्मि' सर्वस्मिन्नेव स्त्रीवर्गे बालाकन्यामध्यमात्पविरामुरुपाविरूपेति विचित्रभेदे ।
'अप्पमत्तो' अप्रमत्त प्रमादरहितः । सदा 'अबीसत्थो' विषवासरहितः । 'णित्थरदि' निस्तरति 'बंभचेरं' ब्रह्म-
चर्यं । 'तच्चिवरीदो' तद्विपरीतः प्रमत्तः विषवासवांश्च । 'ण णित्थरदि' न निस्तरति ॥३३६॥

आर्यानुचरणे दोषं प्रकटयति—

सव्वत्थो वि विमुत्तो साहू सव्वत्थ होइ अप्पवसो ।

सो चेव होदि अज्जाओ अणुचरंतो अणप्पवसो ॥३३७॥

'सव्वत्थो वि विमुत्तो साहू सव्वत्थ होइ अप्पवसो' सर्वस्माद्वास्तुलोभादिकाद्रिमुक्त साधु सर्वत्र भवति
स्ववशः 'सो चेव' स एवात्मवशः । 'होइ' भवति । 'अणप्पवसो' अनात्मवशः । किं कुर्वन् ? 'अज्जाओ
अणुचरंतो' आर्या अनुचरन् ॥३३७॥

शा०—तब जो अवस्थामें तरुण हैं, बहुश्रुत भी नहीं हैं और न जो उत्कृष्ट तपस्वी और
चारित्रवान् हैं वे आर्याजनके संसर्गसे लोकापवादके भागी क्यों नहीं होंगे ? ॥३३४॥

शा०—मुनि यद्यपि स्वयं स्थिर चित्तवाला हो फिर भी उसके संसर्गसे चित्तमें उल्लास
पाकर आर्याका मन उसी प्रकार द्रवित होता है जैसे आगके समीपमें धी द्रवित होता है ॥३३५॥

शा०—तथा केवल आर्याओंका संसर्ग ही त्याज्य नहीं है, बल्कि जो बाला, कन्या,
तरुणी, वृद्धा, सुरूप, कुरूप सभी प्रकारके स्त्रीवर्गमें प्रमाद रहित होता है और कभी भी उनका
विषवास नहीं करता वही साधु ब्रह्मचर्यको जीवन पर्यन्त पार लगाता है। जो उससे विपरीत
होता है अर्थात् स्त्रियोंके सम्बन्धमें प्रमादी और विषवासी होता है वह ब्रह्मचर्यको पार नहीं कर
पाता ॥३३६॥

आयकिये अनुचरणमें दोष बताकर हैं—

शा०—जो साधु घर, जमीन आदि समस्त परिग्रहोंसे मुक्त है वह सर्वत्र अपनेको वशमें
रखता है। किन्तु वही साधु आर्याका अनुगामी होकर आत्मवशी नहीं रहता ॥३३७॥

खेलपडिदम्पाणं ण तरदि जह मच्छिया विमोचेदुं ।

अज्जानुचरो ण तरदि तह अप्पाणं विमोचेदुं ॥३३८॥

‘खेलपडिदम्पाणं’ इलेष्पपरीतमात्मानं । ‘जह ण तरदि मच्छिया विमोचेदुं’ यथा न तर्गति मत्तिका विमोचयितुम् । ‘तह अज्जानुचरो ण तरदि अप्पाणं विमोचेदुं’ तथा आर्यानुचरो न शक्नोति आत्मानं विमोचयितुम् ॥३३८॥

साधुस्स णत्थि लोए अज्जासरिसी खु बंधणे उवमा ।

चम्मेण सह अब्बेत्तो ण य सरिसो जोणिकसिलेसो ॥३३९॥

‘साधुस्स णत्थि लोए अज्जासरिसी खु बंधणे उवमा’ साधोर्नास्ति लोके आर्यासिद्धी बन्धने उपमा । ‘चम्मेण सह अब्बेत्तो’ चर्मणा सह अपगच्छन् । ‘ण य सरिसो जोणिकसिलेसो’ नैव सदृशः वर्मकारश्लेषः । न केवलं आर्याजिनो दूरत एव परिहार्यं अपि तु अन्यदपि वस्तु ॥३३९॥

अण्णं पि तहा वत्थुं जं जं साधुस्स बंधणं कुणदि ।

तं तं परिहरह तदो होहदि दढमंजदा तुज्झ ॥३४०॥

‘अण्णं पि तहा वत्थुं’ अन्यदपि तपाभूत वस्तु । ‘जं जं साधुस्स बंधणं कुणदि’ यद्यत्साधोर्बन्धन करोति अस्वतन्त्रता करोति । ‘तं तं परिहरह’ तत्तत्परिहारे उद्योगं कुरुत । ‘तत्तः’ वस्तुत्यागात् । ‘होहदि दढसंजदा तुज्झ’ भवतां दृढसंयतता गुणो भवत्येवमिति यावत् । बाह्यवस्तुनिमित्तो ह्यसंयमस्तत्यागे त्यक्तो भवति ॥३४०॥

पासत्थादीपणयं णिच्चं वज्जेह सव्वधा तुम्हे ।

इदि हु मेलणदोसेण होइ पुरिसस्स तम्मयदा ॥३४१॥

‘पासत्थादीपणयं’ पार्श्वस्थादिपञ्चकं पार्श्वस्थं, अवसन्नं, संसक्तं, कुशीलो, मृगचरित्रः इति पञ्च । तान् दूरतो निराकुरुत । अपरित्यागदोषमाह—‘मेलणदोसेण तम्मयदा होइ’ संसर्गदोषेण पार्श्वस्थादि-मयता ॥३४१॥

तन्मयता प्रतिपत्तिकामाख्यानायाता गाथा—

शा०—जैसे मनुष्यके कफमें फँसी हुई मक्खी उससे अपनेको छुड़ानेमें असमर्थ होती है । वैसे ही आर्याका अनुगामी साधु उससे अपनेको छुड़ानेमें असमर्थ होता है ॥३३८॥

शा०—साधुका आर्याके साथ सहवास ऐसा बन्धन है जिसकी कोई उपमा नहीं है । चर्मके साथ ही उतरने वाला वज्रलेप भी उसके समान नहीं है ॥३३९॥

शा०—साधुको केवल आर्याजिनोके संसर्गसे ही दूर नहीं रहना चाहिए किन्तु अन्य भी जो-जो वस्तु साधुको परतन्त्र करती है उस-उस वस्तुको त्यागनेमें तत्पर रहो । उसके त्यागसे तुम्हारा संयम दृढ होगा । बाह्य वस्तुके निमित्तसे होने वाला असंयम उस वस्तुके त्यागसे त्यागा जाता है ॥३४०॥

शा०—पार्श्वस्थ, अवसन्न, संसक्त, कुशील और मृगचरित्र इन पाँच प्रकारके कुमुनियोंसे तुम सब दूर रहो । उनसे मेल रखनेसे पुरुष उनके समान पार्श्वस्थ आदि रूप हो जाता है ॥३४१॥

लज्जं तदो विहिंसं भिन्विसंकदं चैव ।

पियच्चम्भो वि क्रमेणारुहंतयो तम्मओ होइ ॥३४२॥

पार्वस्थादिसंसर्गं क्तुं वाच्छन्नपि 'लज्जं' लज्जा उपागोहति । 'ततः' पश्चाद्विहिंसं अमयमज्जुगुप्सां करोति । कथमहमेवंविधं व्रतमङ्ग करोमि दुरतस्सारपतनहेतुमिति । पश्चात्चारित्र्यभोहांदयात्परदश 'पारंभं' प्रारभते । कृतप्रारम्भो यतिरारम्भपरिग्रहादिषु निन्विसंकदं चैव निविशद्भुतामुपैति । 'पियच्चम्भोवि' धर्मप्रियो-
ऽपि । 'क्रमेणारुहंतयो' क्रमेण प्रतिपद्यमानो लज्जादिकं । 'तम्मओ होइ' पार्वस्थादिसंसर्गो भवति ॥३४२॥

यद्यपि वाक्कायाम्या न प्रयतते तथापि मानसी पार्वस्थादिता प्रतिपद्यत इत्यानष्टे—

संविग्गस्सवि संसग्गीए पीदी तदो य वीसंभो ।

सदि वीसंभे य रदी होइ रदीए वि तम्मयदा ॥३४३॥

'संविग्गस्स वि' मसारभीरोरपि यते । 'संसग्गीए' पार्वस्थादिसंसर्गेण । 'पीदी होइ' प्रीतिर्भवति । 'तदो व' प्रीते सकाम्नात् । 'वीसंभो होइ' विन्वम्भो भवति । 'सदि वीसंभे य रदी' विन्वम्भे सति रतिर्भवति । पार्वस्थादिविषु 'रदीए वि तम्मयदा' रत्या च तन्मयता ॥३४३॥

संसर्गवसाद्गुणदोषो भवतांश्चेतनेष्वपीति दृष्टान्तेन बोधयति—

अइ भाविज्जइ गंधेण मट्टिया सुरमिणा व इदरेण ।

किह जोएण ण होज्जो परगुणपरिभाविओ पुरिसो ॥३४४॥

'अवि' यदि । 'भाविज्जइ' भाव्यते वास्यते । 'गंधेण' गन्धेन, 'मट्टिया' मृत्तिका । 'सुरमिणा व इदरेण' सुरमिणा च इदरेण वा । 'किह जोएण ण होज्जो' कथं सवन्धेन न भवेत् । 'परगुणपरिभावो पुरिसो' परेषां पार्वस्थादीनां गुणैः परिभावितं पुरुष ॥३४४॥ परगुणग्रहणायह—

पार्वस्थ आदिके संसर्गसे कैसे पार्वस्थ आदिरूप हो जाता है यह बतलाते हैं—

गा०—पार्वस्थ आदिका संसर्ग करनेकी इच्छा रखते हुए भी लज्जा करता है । पश्चात् असंयमके प्रति ग्लानि करता है कि मैं कैसे इस प्रकार व्रत भंग करूँ, यह तो दुरन्त ससारमे गिराने वाला है । पश्चात् चारित्र्य मोहके उदयमे परवण होकर असंयमका प्रारम्भ करना है । असंयमका प्रारम्भ करके यति आरम्भ परिग्रह आदिमे निःशक होकर प्रवृत्ति करता है । इस प्रकार धर्मका प्रेमी भी मुनि क्रमसे लज्जा आदि करते हुए पार्वस्थ आदि रूप हो जाता है ॥३४२॥

यद्यपि उनको सगतिसे बचन और कायसे तो उनके आचारमें प्रवृत्ति नहीं करता तथापि मनमे पार्वस्थ आदि रूप हो जाता है यह कहते हैं—

गा०—संसारसे भयभीत भी मुनि पार्वस्थ आदिके संसर्गसे उनसे प्रीति करने लगता है । प्रीति करनेसे उनके प्रति विश्वासी हो जाता है । उनका विश्वास करनेसे उनका अनुरागी हो जाता है और उनमें अनुराग करनेसे पार्वस्थादिमय हो जाता है ॥३४३॥

संसर्गसे अचेतन वस्तुओमे भी गुण और दोष उत्पन्न हो जाते हैं, यह दृष्टान्त द्वारा सम-
झाते हैं—

गा०—यदि सुगन्ध अथवा दुर्गन्धके संसर्गसे मिट्टी भी सुगन्धित अथवा दुर्गन्धयुक्त हो

जो जारिसीय मेची केर सो होइ तारिसो चैव ।

वासिज्जइ च्छुरिया सा रिया वि कणयादिसणेण ॥३४५॥

दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्ता मृत्तिका छुरिका च । तथा चोक्तं सुरभिणा च इदमेव इति ॥३४५॥

दुज्जणसंसग्गीए पजहदि णियगं गुणं खु सुजणो वि ।

सीयलभावं उदयं जह पजहदि अग्गिजोएण ॥३४६॥

‘दुज्जणसंसग्गीए’ दुष्टजनसंसर्गेण । ‘पजहदि णियगं गुणं खु सुजणो वि’ विजहाति रवगुणं सुजनोऽपि । ‘सीयलभावं जहा उदकं पजहदि’ शैत्य भाव यथा जहात्युदकं । ‘अग्गिजोएण’ अग्निसम्बन्धेन । साधुः स्वगुणं जहात्यनलसम्बद्धजलमिवेति सङ्गजगुणत्यागे दृष्टान्तः ॥ ३४६॥

अशोभनगुणेन संसर्गात् तद्रत् स्वयमप्यशोभनगुणो भवतीति कथयति—

सुजणो वि होइ लहुओ दुज्जणसंमेलणाए दोसेण ।

माला वि मोल्लगरुया होदि लहु मडयसंसिद्धा ॥३४७॥

‘सुजणो वि होइ लहुओ’ सुजनोऽपि भवति लघु । ‘दुज्जणसंमेलणाए दोसेण’ दुर्जनगोष्ठीदोषेण । मालावि मोल्लगरुया’ मालापि सुमनसा मीन्येन लघ्वी । ‘होइ’ भवति । ‘मडयसंसिद्धा’ मृतकस्य सन्धिलिप्ता ॥३४७॥

अदृष्टोऽपि दुष्ट इति शङ्कयते यति पाश्चर्यादिगोष्ठ्या इत्येतद्दृष्टान्तोनाचष्टे—

दुज्जणसंसग्गीए संकिज्जदि संजदो वि दोसेण ।

पाणागारे दुद्धं पियंतओ बंभणो चैव ॥३४८॥

दुज्जणसंसग्गीए इति स्पष्टार्थां गाय ॥३४८॥

जाती है तो समगंमे पुरुष पार्श्वस्थ आदिके गुणोसे तन्मय क्यों न होगा ? ॥३४४॥

गा०—जो जिस प्रकारकी वस्तुसं मंत्री करता है वह वैसा ही हो जाता है । स्वर्ण आदिके संसर्गसे लोहेकी छुरी भी उसी रूप हो जाती है ॥३४५॥

गा०—दुष्टजनके मसर्गसे सज्जन भी अपना गुण छोड़ देता है । जैसे आगके सम्बन्धसे जल अपने शीतल स्वभावको छोड़ देता है । आगके सम्बन्धसे जलकी तरह साधु भी अपना गुण छोड़ देता है । यह स्वाभाविक गुणके त्यागमे दृष्टान्त है ॥३४६॥

अशोभनीय गुण वाले मनुष्यके संसर्गसे मनुष्य उसीकी तरह स्वयं भी अशोभनीय गुणवाला हो जाता है, यह कहते हैं—

गा०—दुर्जनोंकी गोष्ठीके दोषमे सज्जन भी अपना बड़प्पन खो देता है । फूलोंकी कीमती माला भी मुँह पर डालनेसे अपना मूल्य खो देती है ॥३४७॥

पार्श्वस्थ आदिके साथ संसर्ग करनेसे अच्छे भी यतिको लोग बुरा होनेकी शंका करते हैं, यह दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

गा०—दुर्जनके संसर्गसे लोग संयमीके भी सदोष होनेकी शंका करते हैं । जैसे मद्यालयमें बैठकर दूध पीने वाले ब्राह्मणके भी मद्यपापी होनेकी शंका करते हैं ॥३४८॥

परदोसगहणलिच्छो परिबादरदो जणो खु उस्खण् ।
दोसत्थाणं परिहरह तेण जणजंपणोगासं ॥३४९॥

‘परदोसगहणलिच्छो’ परदोषग्रहणेच्छावान् । ‘परिबादरदो’ परोक्षे परदोषवचने रतः । ‘जणो’ जनः । ‘उस्खणं’ खु’ नितरामेव । तेण दोसत्थाणं परिहरह’ तेन दोषस्थानपरिहारं कुरुत । ‘जणजंपणोगासं’ जन-जल्पनावकारणं ॥३४९॥

दुर्जनगोष्ठी अनर्थभावहृत्यैहलौकिकमित्येतत्कथयति—

अदिसंजवो वि दुज्जणकएण दोसेण पाउणइ दोसं ।

जह धूगकए नोसे हंसो य हओ अपावो वि ॥३५०॥

प्रदिसंजवो वि इत्यनया । अतीव सयतोऽपि दुर्जनकृतेन दोषेण प्राप्नोति । ‘दोसं’ अनर्थम् । यथोक्त-कृतदोषनिमित्तं अपापोऽपि हंसो हतः ॥३५०॥

दुर्जनगोष्ठ्या दोषान्तरमाचष्टे—

दुज्जणसंसग्गीए वि भाविदो सुयणमज्झयारम्मि ।

ण रमदि रमदि य दुज्जणमज्झे वेरग्गमवहाय ॥३५१॥

‘दुज्जणसंसग्गीए वि भाविदो’ दुर्जनगोष्ठ्या भावितः । ‘सुयणमज्झयारम्मि’ सुजनमध्ये । ‘ण रमदि’ न रमते । ‘रमदि य दुज्जणमज्झे’ रमते दुर्जनमध्ये । ‘वेरग्गमवहाय’ वैराग्य परित्यज्य ॥३५१॥

सुजनसमाश्रयणे गुणस्थापनायोत्तरसूत्राणि—

जहदि य णिययं दोसं पि दुज्जणो सुयणवइयरगुणेण ।

जह मेरुमन्लियंतो काओ णिययच्छविं जहदि ॥३५२॥

‘जहदि य’ जहाति निजमपि दोषं दुर्जनः सुजनमिश्रगुणेन । यथा मेरुसमाश्रयणे काको जहाति सहजा-

गा०—लोग दूसरोके दोषोंको पकडनेके इच्छुक होते है और परोक्षमें दूसरोके दोषोंको कहनेमें रस लेते हैं । इसलिए जो दोषोंका स्थान है उससे अत्यन्त दूर रहो क्योंकि; ऐसा न करनेसे लोगोंको अपवाद करनेका अवसर मिल जाता है ॥३४९॥

‘दुर्जनोंकी संगति अनर्थकागि है यह एक लोक प्रचलित कथाके द्वारा कहते हैं—

गा०—महान् संयमो भी दुर्जनके द्वारा किए गये दोषसे अनर्थका भागी होता है । जैसे उल्लूके द्वारा किए गये दोषके लिए निर्दोष भी हंस मारा गया ॥३५०॥

दुर्जनोंकी संगतिका अन्य दोष कहते हैं—

गा०—दुर्जनोंकी संगतिसे प्रभावित मनुष्यको सज्जनोंका सत्संग शक्तिर नहीं लगता । वह वैराग्यको त्यागकर दुर्जनोंमें ही रमता है ॥३५१॥

सज्जनोंके सत्संगमें गुणोंका कथन आगेकी गाथाओंसे करते हैं—

गा०—सज्जनोंकी संगतिके गुणसे दुर्जन अपना दोष भी छोड़ देता है । जैसे सुमेरु पर्वतका

अपि छायाभयोभनाः सदा^१ । सन्तोऽपि दोषा नश्यन्ति सुजनाभयेन ततस्ते सयाभयणीना इति भावः ॥३५२॥

सुजनसमाभयणे अन्युदयफलं, पूजाकार्यं कथयति याथा—

कुसुममगंधमपि जहा देवयसेसपि कीरदे सीसे ।

तह सुयणमज्जवासी वि दुज्जणो पृहओ होइ ॥३५३॥

कुसुममिरयाधिका । यथा सौवर्ण्यरहितमपि कुसुमं देवताघोषेति क्रियते शिरसि तथा साधुजनमभ्य-
वासी दुर्जनोऽपि पूजितो भवति ॥३५३॥

द्रव्यसंयमे वाक्कायनिमित्तास्त्रविरोधरूपे प्रवृत्तिगुण कथयति—

संविग्गाणं मज्जे अप्पियधम्मो वि कायरो वि षरो ।

उज्जमदि करणचरणे भावणभयमाणलज्जार्हि ॥३५४॥

संविग्गाणं मज्जे इत्यनया । संसारभीरुणा मध्ये वसन्त्यद्यपि धर्मप्रियो न भवति । कातरअ^१ सुखे
तथापि उच्चङ्के पापक्रियानिवृत्तौ भावनया, भयेन, मानेन, लज्जया च ॥३५४॥

ससारभीरोरपि यत्ते सुजनसमाभयणेन गुणमभिवधाति—

संविग्गोवि य संविग्गदरो संवेगमज्जयारम्मि ।

होइ जह गंधजुत्ती पयडिसुरभिदक्वसंजोए ॥३५५॥

संविग्गोऽपि इत्यनया । प्रागपि ससारभीरुर्जनं मभिन्नमध्यनिवासी संविग्गतरो भवति । यथा मन्ध-
पुक्तिः कृतको गन्धं प्रकृतिसुरभिद्रव्यगन्धसंसर्गे सुरभितरो भवति ॥३५५॥

आश्रय लेने पर कौवा अगनी असुन्दर छविको छोड देता है । इसका भाव यह है कि सज्जनोंकी
सत्संगतिसे विद्यमान भी दोष नष्ट हो जाते हैं अतः सज्जनोंका आश्रय लेना चाहिए ॥३५२॥

सज्जनोका आश्रय लेने पर अभ्युदय रूप फल और पूजाका लाभ होता है, यह कहते हैं—

गा०—जैसे सुगन्धसे रहित भी फूल 'यह देवताका आशीर्वाद है' ऐसा मानकर सिर पर
धारण किया जाता है उसी प्रकार सुजनोके मध्यमे रहने वाला दुर्जन भी पूजित होता है ॥३५३॥

बचन और कायके निमित्तसे होने वाले आश्रवके रोकनेको द्रव्य संयम कहते हैं । उस द्रव्य
संयममें प्रवृत्तिका लाभ कहते हैं—

गा०—जिसको धर्मसे प्रेम नहीं है तथा जो दुःखसे डरता है वह मनुष्य भी संसार भीष
यतियोंके मध्यमें रहकर भावना, भय, मान और लज्जांम पापके कार्योंसे निवृत्त होनेका उद्योग
करता है ॥३५४॥

संसारसे भील यति भी सज्जनोंका सत्सग करनेसे लाभान्वित होता है यह कहते हैं—

गा०—जो मनुष्य पहलेसे ही संसारसे विरक्त है वह विरागियोंके मध्यमे रहकर और भी
अधिक विरागी हो जाता है । जैसे वनावट्टी गन्धसे युक्त द्रव्य स्वभावसे ही सुगन्धित द्रव्यकी
गन्धके संसर्गसे और भी अधिक सुगन्धित हो जाता है ॥३५५॥

बहून् इत्येतावन्ता चारित्र्यशुद्धा न भवन्ति: समाश्रयणीयाः एक इति वा न सुगुणः परिहार्यं इत्येतावन्तश्चेत्—

पासत्थसदसहस्सादो वि सुसीलो वरं खु एक्को वि ।
जं संसिदस्स सीलं दंसणणाणचरणाणि वड्ढति ॥३५६॥

'पासत्थसदसहस्सादो वि' पार्व्वस्वग्रहणं चारित्र्यशुद्धोपलक्षणार्थं । चारित्र्यशुद्धाच्छतसहस्रावपि एकोऽपि सुसीलो वरम् । य सयममाश्रितस्य शील, वर्णन, ज्ञान, चारित्र्यं च वर्द्धते, स भवद्विमाराश्रयणीय इति भावार्थः ॥३५६॥

संजदज्जणावमाणं पि वरं खु दुज्जणकदादु पूजादो ।
सीलविणासं दुज्जणसंसग्गी कुणदि ण दु इदरं ॥३५७॥

संयता परिभवन्ति माम सुचरितं ततः पार्व्वस्थादीनेवाश्रयामि इति न चेत् कार्यमित्याचष्टे—
'संजदज्जणावमाणं पि वरं' सयतज्जनापमानमपि वर । 'दुज्जणकदादु पूजादो' दुर्जनकृताया पूजाया । कथं ? 'दुज्जणसंसग्गी सीलविणासं कुणदि' दुर्जनसमर्गं शीलविनाशं करोति । 'न दु इदरं' न तु इतरं । सयत-
ज्जणावमानं तु नैव शीलविनाशं करोति ॥३५७॥

प्रस्तुतोपसंहारणाया—

आसयवसेण एवं पुरिसा दोसं गुणं व पावन्ति ।
तम्हा पसत्थगुणमेव आसयं अस्सिएज्जाह ॥३५८॥

'आसयवसेण' आश्रयवशेन । एवमुक्तेन क्रमेण । 'पुरिसा दोसं गुणं व पावन्ति' पुरुषा दोषं गुणं वा प्राप्नुवन्ति । 'तम्हा पसत्थगुणमेव आसयं अस्सिएज्जाह' तस्मात् प्रशस्तगुणमेव आश्रय आश्रयेत् ॥३५८॥

चारित्र्यमे क्षुद्रं यत् बहुत् भी हो तो आपको उनका मग नहीं करना चाहिए। और गुण-
शाली एक हो तो उसको उपेक्षा नहीं करना चाहिए यह कहते हैं—

गा०—पार्व्वन्थ्य अर्थात् चारित्र्यमे क्षुद्रं यत् लाख भी हो तो उनसे एक भी सुगील यत्ति-
श्रेष्ठ है जो अपने संगीके शील, वर्णन, ज्ञान और चारित्र्यको बढाता है। आपको उसीका आश्रय
लेना चाहिए। गायामं आगत 'पार्व्वन्थ्य' शब्द जो चारित्र्यमे क्षुद्रं है उन सबके उपलक्षणके
लिए है ॥३५६॥

गा०—सयमीजनं मुझ चारित्र्यहीनका तिरस्कार करते हैं अतः मे पार्व्वन्थ्य आदि चारित्र्य-
हीन मुनियोगे ही पास रहूँ। ऐसा मनमे विचार नहीं करना चाहिए; क्योंकि दुर्जनके द्वारा की
गई पूजागे सयमीजनोके द्वारा किया गया अपमान श्रेष्ठ है। इसका कारण यह है कि दुर्जनका
ससर्गं शीलका नाशक है किन्तु सयमीजनो द्वारा किया गया अपमान शीलका नाशक नहीं
है ॥३५७॥

प्रस्तुत चर्चाका उपसंहार करते हैं—

गा०—उक्त प्रकारसे अच्छे बुरे आश्रयके कारण पुरुष दोष और गुणको प्राप्त करते हैं ।
इसलिए प्रशस्तं गुणयुक्त आश्रयका ही आश्रय लेना चाहिए ॥३५८॥

पत्न्यं हिदयाणिदं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स ।

कड्डुगं व ओसहं तं म्हुरविवायं ह्वइ तस्स ॥३५९॥

'पत्न्यं हिदयाणिदं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स' पथ्यं हित हृदयस्य अनिष्टमपि वदत आत्मीयगणे वसतः । 'कड्डुगं व ओसहं तं म्हुरविवायं ह्वइ तस्स' 'कटुकमौषधमिवापि तन्मधुरविपाक भवति । तस्य परस्य अनिष्टेन कथितेन किमस्माकं स्वं प्रयोजनम् । किन्तु वेत्ति स्वयं इति नोपेक्षितव्यम् । परोपकारः कामं एवेति कथयति । तथाहि—तीर्थकृत-विनेयजनसंबोधनार्थं एव तीर्थविहार कुर्वन्ति । महत्ता नामैव यत्-परोपकारावद्वपरिकरता । तथा चोक्तं—

क्षुभाः संति सहजसः स्वभरणव्यापारमानोद्यताः ।

स्वार्थो यस्य वरार्थं एव स पुमानेकः सतामप्रथी ॥

कुःपूरोवरपूरणाव पिबति क्षीतःपतिं बाढवो ।

जीभूतस्तु निवाघसंभृतजगत्संतापविण्णित्तये ॥ [] ॥३५९॥

इतरेणापि श्रयणयोरनिष्टमपि तद्ग्राह्य इति कथयति—

पत्न्यं हिदयाणिदं पि भण्णमाणं गणेण वेत्तव्वं ।

पेल्लेदूण वि छूढं बालस्स घदं व तं खु हिदं ॥३६०॥

हृदयस्यानिष्टमपि पथ्यं नरेण बुद्धिमता ग्राह्यं हित इति वेतो निघाय । 'पेल्लेदूण वि छूढं' अवष्ट-भ्यापि प्रवेशित धूमं बालानां हित भवति यथा तद्वदिति यावत् ॥३६०॥

अप्पयसंसं परिहरह सदा मा होह जसविणासयरा ।

अप्पाणं थोवंतो तणलहुहो होदि हु जणम्मि ॥३६१॥

गा०—टी०—अपने गणके वासी साधुको हितकारी किन्तु हृदयको अनिष्ट भी लगनेवाले वचन बोलना चाहिए, क्योंकि वे वचन कड़ुवी औषधीकी तरह उसके लिए मधुर फलदायक होते हैं । दूसरेको अनिष्टवचन बोलनेसे हमारा अपना क्या प्रयोजन है, क्या वह स्वयं नहीं जानता । ऐसा मान उसकी उपेक्षा नहीं करना चाहिए । परोपकार करना ही चाहिए । जैसे तीर्थकर शिष्यजनोंके सम्बोधनके लिए ही विहार करते हैं । महत्ता नाम इसीका है कि परोपकार करनेमें तत्पर रहना । कहा भी है—

'अपने ही मरण-शोषणमें लगे रहनेवाले क्षुद्रजन तो हजारों हैं किन्तु परोपकार ही जिसका स्वार्थ है ऐसा पुरुष सज्जनोंमें अग्रणी विरल ही होता है । बड़वानल अपना कभी न भरनेवाला पेट भरनेके लिए समुद्रका जल पीता है । किन्तु मेघ ग्रीष्मसे सतस जगत्के सन्तापकों दूर करनेके लिए समुद्रका जल पीता है ॥३५९॥

आगे कहते हैं कि कानोको अप्रिय भी गुरुका वचन ग्रहण करना चाहिए—

गा०—हृदयको अनिष्ट भी वचन गुरुके द्वारा कहे जाने पर मनुष्यको पथ्य रूपसे ग्रहण करना चाहिए । जैसे बच्चेको जबरदस्ती मुँह खोलकर पिलाया गया थी हितकारी होता है उसी तरह वह वचन भी हितकारी होता है ॥३६०॥

'अल्पप्रसंसां वरिहृह' आत्मप्रसंसां स्वयत्त सदा । 'मा होह' मा भवत । 'असाविष्णोस्वर' यशसा विनाशका । सद्भिर्गुणी प्रख्यातमपि यशो भवतां नश्यति आत्मप्रशंसया । 'अप्यान् बोधंते' आत्मानं स्तु-
यन् । 'तत्त्वल्लुगो होषि ह्य अण्डिम' तृणवल्लुगुर्भवति सुजनमध्ये ॥३६१॥

संता वि गुणा कर्त्तृतयस्स णस्संति कंजिए व सुग ।
सो चेव हवदि दोसा जं सो थोएदि अप्पाणं ॥३६२॥

संता वि विद्यमाना अपि 'कर्त्तृतयस्स' ममेते गुणा इति कथयतः । 'गुणा णस्संति' गुणा नश्यन्ति । कंजिएव सुरा तीर्थोरेण सुरेव । 'सो चेव हवदि दोसो' स एव भवति दोष । 'जं सो थोएदि अप्पाणं' यदात्मानं स्तोति स ॥३६२॥

स्वगुणस्तवनाकरणे यदि ते नश्यन्ति तर्हि स्तोतव्या स्युर्न तथा नश्यन्ति इत्याचष्टे—

संता हि गुणा अकहिंतयस्स पुरिसस्स ण वि य णस्संति ।
अकहिंतयस्स वि जह गहवइणो जगविस्सुदो तेजो ॥३६३॥

संता विद्यमाना अपि । 'अकहिंतयस्स' अभाषमाणस्य । 'पुरिसस्स' पुरुषस्य । 'गुणा ण वि य णस्संति' नैव नश्यन्ति । यदि न स्वयं स्तोति स्वगुणान् प्रख्यातिमुपयान्तीत्येतच्च नेति वदति । 'अकहिंतयस्स वि' अस्तुवतोर्जपि 'गहवइणो' प्रहृषते आदित्यस्य 'जगविस्सुदो तेजो' जगति विश्रुत तेजः ॥३६३॥

आत्मन्यसता गुणाना उत्पादक स्तवनगिति^१ च न युज्यत इत्याह—

शा०—अपनी प्रशंसा करना सदाके लिए छोड़ दो । अपने यशको नष्ट मत करो क्योंकि समीचीन गुणोंके कारण फैला हुआ भी आपका यश अपनी प्रशंसा करनेसे नष्ट होता है । जो अपनी प्रशंसा करता है वह सज्जनोके मध्यमे तृणकी तरह लघु होता है ॥३६१॥

शा०—'मेरेमे ये ये गुण हैं' ऐसा कहने वालेमे विद्यमान भी गुण उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे काँजीके पीनेसे मदिराका नशा नष्ट हो जाता है । वह जो अपनी प्रशंसा करता है यही उमका दोष है ॥३६२॥

आगे कहते हैं कि अपने गुणोंकी प्रशंसा न करनेसे यदि वे गुण नष्ट होते हों तो उनकी प्रशंसा करना उचित है किन्तु वे नष्ट नहीं होते—

शा०—जो पुरुष अपने गुणोंकी प्रशंसा स्वयं नहीं करता उसके विद्यमान गुण नष्ट नहीं होते । यदि वह अपने गुणोंकी प्रशंसा नहीं करता तो उसके गुणोंकी प्रख्याति नहीं होती, ऐसी बात नहीं है । सूर्य अपने गुणोंको स्वयं नहीं कहता । फिर भी उसका प्रताप जगत्मे प्रसिद्ध है ॥३६३॥

आगे कहते हैं कि अपनी प्रशंसा करनेसे अपनेमें अविद्यमान भी गुण प्रकट होते हैं ऐसा कहना युक्त नहीं है—

१ वि गहवइणो णो जगविस्सुदो—आ० । २. स्वस्य णो जग विस्सुदो तेजो न जगति विश्रुत तेजः—
आ० म० । ३ ति वचन—आ० म० ।

ण य ज्ञायति असंता गुणम विकल्प्यंतयस्स पुरिसस्स ।
 वंति ह्म महिलायंतो व पंडवो पंडवो चैव ॥३६४॥

'ण य ज्ञायति असंता गुणा' नैबोलाद्यन्ते असंतो गुणाः । विकल्प्यंतयस्स स्तुवत । 'वंति' नितरां 'महिलायंतो व' वामलोचनेव आचरन्मपि । 'पंडवो पंडवो चैव' पंड एव भवति न युवतिः ॥३६४॥

संतं सगुणं कित्तिज्जंतं सुजणो जगाम्म सोदूण ।

लज्जदि किह पुण सयमेव अप्पगुणकित्तणं कुज्जा ॥३६५॥

'संतं सगुणं कित्तिज्जंतं' विद्यमानमपि स्वगुणं कीर्त्यमान । 'सुजणो जगाम्म सोदूण' साधुजनस्य मध्ये ध्रुत्वा । 'लज्जदि' ब्रौडामुपैपि । 'किह पुण' कथ पुन 'सयमेव अप्पगुणकित्तणं कुज्जा' स्वयमेवात्मनो गुणकीर्तनं कुर्यात् ॥३६५॥

स्वगुणान्कीर्तने गुणमाचष्टे—

अविकल्प्यंतो अगुणो वि होइ सगुणो व सुजणमज्झम्मि ।

सो चैव होदि ह्म गुणो जं अप्पाणं ण थोएइ ॥३६६॥

'अविकल्प्यंतो अगुणो वि होइ' अकीर्तयन् स्वयमगुणोऽपि भवति । 'सगुणो व' गुणवानिव । 'सुजणमज्झम्मि' सुजनमध्ये । परस्परव्याहृतमिदं वच 'अगुणस्स गुण' इति एतस्याभाशकायामाह—'सो चैव होदि गुणो' स एव गुणो भवति । 'जं अप्पाणं ण थोएइ' यदात्मन न स्तोति । समीचीनज्ञानदर्शनादिगुणाभावान्निर्गुणाः, आत्मप्रशंसाऽकरणगुणेन गुणवानिति भावार्थः ।

यदि सन्ति गुणस्तस्य निकषे सन्ति ते स्वयम् ।

न हि कस्तुरिकागन्धः शपथेन विभाष्यते ॥ [] ॥३६६॥

वायाए जं कहणं गुणाण तं णासणं हवे तेसिं ।

होदि ह्म चरिदिण गुणाणकहणमुग्भासणं तेसिं ॥३६७॥

शा०—अपने गुणोकी प्रशंसा करने वाले पुरुषमे अविद्यमान गुण प्रशंसा करनेमे उत्पन्न नहीं होते । स्त्रीकी तरह खूब हाव-भाव करने पर भी नपुंसक नपुंसक ही रहता है, युवति नहीं बन जाता ॥३६४॥

शा०—सज्जन मनुष्योंके बीचमे अपने विद्यमान भी गुणोकी प्रशंसा सुनकर लज्जित होता है । तब वह स्वयं ही अपने गुणोकी प्रशंसा कैसे कर सकता है ॥३६५॥

अपने गुणोकी प्रशंसा न करनेके गुण कहते है—

शा०—अपनी प्रशंसा न करनेवाला स्वयं गुणरहित होते हुए भी सज्जनोके मध्यमें गुणवान्की तरह होता है । गुणरहितको गुणवान् कहना तो परस्पर विरुद्ध है, ऐसी आशंका करनेपर कहते है—बह जो अपनी प्रशंसा नहीं करता यही उसका गुण है । भावार्थ यह है कि सम्यग्ज्ञान-दर्शन आदि गुणोका अभाव होनेसे वह गुणरहित है किन्तु अपनी प्रशंसा न करनेके गुणसे गुणवान् है । 'यदि उसमें गुण हैं तो वे स्वयं कसीटीपर कैसे जायेंगे । कस्तूरीकी गन्धके लिए शपथ करना नहीं होता ॥३६६॥

'बायाए अकहता' वाचा गुणानां यत्कथन । 'तं भासन्नं ह्ये तैवि' तन्नाशन भवेत्तेषां गुणाना ।
'चरिदेहि गुणान् कथने' चरितैरेव गुणानां कथनं तैलिसुम्भासन्नं होष' गुणानां प्रकटनं भवति । एतदुक्तं
भवति—गुणान्प्रकटयितुकामस्य यद्वाचा कथनं गुणेष्व्वात्मन प्रवृत्तिरेव गुणप्रकाशन इति ॥३६७॥

'चरितेन गुणप्रकाशनस्य माहात्म्यं कथयति—

बायाए अकहता सुजणे विकतहेया य चरिदेहि ।

सगुणे पुरिसाण पुरिसा होंति उवरीव लोगम्मि ॥३६८॥

'बायाए अकहता' वाचया अकथयन्त । 'सुजणे' साधुजनमध्ये । 'चरिदेहि विकहितया य' चरितैः
प्रतिपादयन्त । 'सगुणे' आत्मीयान्गुणान् । 'पुरिसाण पुरिसा लोगम्मि उवरीव होंति' पुरुषाणामुपरीव
भवन्ति पुरुषा लोके ॥३६८॥

सगुणम्मि जणे सगुणो वि होह लहुगो णरो विकत्थितो ।

सगुणो वा अकहितो वायाए होंति अगुणेषु ॥३६९॥

'सगुणम्मि जणे' गुणवति जने । 'सगुणो वि णरो' गुणवानपि नरः । 'लहुगो होवि' लघुर्भवति । कः ?
'सगुणं णरो विकत्थितो' स्वगुणं नरो वाचा निरूपयन् । किमिव 'सगुणो वा' गुणवानिव । 'वाचा अकत्थितो'
वचनेन अप्रकटयन् । 'अगुणेषु' निर्गुणमध्ये ॥३६९॥

चरिदेहि कत्थमाणो सगुणं सगुणेषु सोभदे सगुणो ।

वायाए विकहितो अगुणो व जणम्मि अगुणम्मि ॥३७०॥

'चरिदेहि कत्थमाणो' चरितैरेव प्रकटयन् । किं 'सगुणं' स्वगुण । 'सगुणो सोभदे' गुणवान् जनः
शोभते । न्व 'सगुणेषु' गुणवस्तु । किमिव 'वायाए विकत्थितो' वचसा क्ववन् । 'अगुणेष्व' निर्गुण इव ।
'अगुणम्मि' निर्गुणमध्ये ॥३७०॥

गा०—वचनसे गुणोको कहना उनका नाश करना है । और आचरणसे गुणोका कथन
उनको प्रकट करना है । अभिप्राय यह है कि जो गुणोको प्रकट करना चाहता है उसे वचनसे
न कहकर गुणोमें अपनी प्रवृत्तिसे ही गुणोका प्रकाशन करना चाहिए ॥३६७॥

अपने आचरणसे गुणोको प्रकट करनेका माहात्म्य कहते हैं—

गा०—जो वचनसे न कहकर साधुजनके मध्यमे अपने आचरणसे अपने गुणोको कहते हैं
पुरुष लोकमें सब पुरुषोसे ऊपर होंते हैं ॥३६८॥

गा०—गुणवान् पुत्रोम गुणवान् भी मनुष्य यदि अपने गुणोको कहना है सो लघु होता
है । जमे निर्गुणोके मध्यमे अपने गुणोको न कहने वाला गुणवान् होता है ॥३६९॥

गा०—गुणवानोमे गुणवान् मनुष्य अपने गुणोको अपने आचरणसे प्रकट करता हुआ ही
शोभता है । जैसे निर्गुण मनुष्योमें निर्गुण मनुष्य वचनसे अपने गुणोको कहता हुआ शोभित
होता है ॥३७०॥

१. नेय उत्थानिका । —आ० मु० ।

२ 'बायाए अकहितो सुजणे चरिदेहि कहयता होंति ।

विकहितया य सगुणे पुरिसा लोगम्मि उवरीव ॥' —आ० मु० ।

सगणे व परगणे वा परपरिषवादं च मा करेज्जाह ।

अच्छासादणविरदा होह सदा वज्जभीरू य ॥३७१॥

'सगणे व परगणे वा परपरिषवादं च मा करेज्जाह' आत्मीये गणे परगणे वा परापरिषवादं मा कृत्वा ।
'अच्छासादणविरदा य होह' अत्यासादनतो विरता भवत । 'सदा वज्जभीरू य' पापभीरवश्च भवत ॥३७१॥

परनिन्दया दोषमाचष्टे—

आयासवेरभयदुक्खसोयलहुगत्तणाणि य करेह ।

परणिदा वि हु पावा दोहग्गकरी सुयणवेसा ॥३७२॥

स्पष्टार्था वाया ॥३७२॥

परनिन्दा किमर्थं क्रियते गुणित्वे स्वापयितुमात्मानमिति चेत्, तन्निराकरोति—

किञ्चा परस्स णिदं जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज ।

सो इच्छदि आरोग्गं परम्मि कहुओसहे पीए ॥३७३॥

'किञ्चा परस्स णिदं' परनिन्दा कृत्वा । 'जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज' य आत्मानं गुणितया स्वापयितु-
मिच्छेत् । 'सो इच्छदि स वाछति । कि 'आरोग्गं' नीरोगता । 'परम्मि कहुओसहे पीए' कटुकौषधपायिन्य-
स्मिन् ॥३७३॥

सत्पुरुषकर्म व्याचष्टे—

बद्धूण अण्णदोसं सत्पुरिसो लज्जिओ सयं होह ।

रक्खह य सयं दोसं व तयं जणजं पणभवेण ॥३७४॥

'बद्धूण अण्णदोसं' अन्यस्य दोष दृष्ट्वा । 'सत्पुरिसो लज्जिओ सयं होह' सत्पुरुषः स्वयं लज्जामुपैति ।
'रक्खह सयं दोसं व' स्वदोषमिव व रक्षति । 'जणजं पणभवेण' जननिन्दाभयेन ॥३७४॥

गा० अपने गणमें अथवा दूसरे गणमें दूसरोंकी निन्दा नहीं करना चाहिये । तथा अर्थात् आसादनासे विरत रहो और सदा पापसे डरो ॥३७१॥

पर निन्दाका दोष कहते हैं—

गा०—परनिन्दा आयास, वैर, भय, दुःख, शोक और लघुताको करती है पापरूप है, दुर्भावकी लाती है और सज्जनोंको अप्रिय है ॥३७२॥

जो कहते हैं कि अपनेको गुणी कहलानेके लिये परनिन्दा की जाती है उनका निराकरण करते हैं—

गा०—जो परकी निन्दा करके अपनेको गुणी कहलानेकी इच्छा करता है वह दूसरेके द्वारा कहुवी औषधी पीनेपर अपनी नीरोगता चाहता है । अर्थात् जैसे दूसरेके औषधी पीनेपर आप नीरोग नहीं हो सकता । वैसे ही दूसरेकी निन्दा करके कोई स्वयं गुणी नहीं बन सकता ॥३७३॥

गा०—सत्पुरुष दूसरोंके दोष देखकर स्वयं लज्जित होता है । लोकापवादके भयसे वह अपनी तरह दूसरोंके भी दोषोंको छिपाता है ॥३७४॥

अप्यो वि परस्स गुणो सत्पुरिसं पप्य बहुदरो होदि ।

उदए व तेत्तलविन्दुं किह सो जंपिहिदि परदोसं ॥३७५॥

'अप्यो वि परस्स गुणो' परस्य गुणः स्वत्योर्जपि । 'सत्पुरिसं पप्य' सत्पुरुषं प्राप्य । 'बहुदरो होदि' अतिमहान् भवति । 'उदए व तेत्तलविन्दुं' उदके तैलविन्दुरिव । 'किह सो जंपिहिदि परदोसं' कथमसौ इत्थंभूतः कल्पति परस्य दोषं ॥३७५॥

एसो सम्बसमासो तह अतह जह हवेज्ज सुजणम्मि ।

तुज्जं गुणेहिं जणिदा सच्चत्थ वि विस्सुदा कित्ती ॥३७६॥

'एसो सम्बसमासो' एष सर्वस्योपदेशस्य संक्षेपः । 'तह अतह' तथा यत्तच्च । 'जह हवेज्ज सुजणम्मि' यथा भवेत्पुण्ये । 'तुज्जं गुणेहिं जणिदा सम्बत्थ वि विस्सुदा कित्ती' युष्माकं गुणैर्जनिता सर्वत्रापि विश्रुता कीर्तिः ॥३७६॥

कासो संयतानां कीर्तिरिति शकायामुच्यते—

एस अखंडियसीलो बहुस्सुदो य अपरोवतावी य ।

चरणगुणसुद्धिदोत्तिय घण्णस्स खु घोसणा भमदि ॥३७७॥

'एस अखंडियसीलो' एष अखण्डितसमाधिः । 'बहुस्सुदो य' बहुभूतश्च । 'अपरोवतावी य' अपरोपता-पाकारी च । 'चरणगुणसुद्धिदोत्तिय' सुचारित्रगुणैः सुस्थित इति । 'घण्णस्स खु' पुण्यवत् । 'घोसणा भम' इ' यथा विचरति ॥३७७॥

एवं गुरुपदेशं श्रुत्वा गणः—

बाढत्ति भाणिदूणं ऐदं णो मंगलेत्ति य गणो सो ।

गुरुगुणपरिणदभावो आणंदंसुं णिवाणेइ ॥३७८॥

'बाढत्ति भाणिदूणं' बाढमित्युक्त्वा । 'एव णो मंगलेत्ति य' एतद्भूता वचन अस्माकं मण्डं नितरा इत्युक्त्वा । 'गुरुगुणपरिणदभावो' गुरोर्गुणेषु परिणतचित्तः । 'आणंदंसुं णिवाणेइ' आनन्दाशु निपात-

भा०—दूसरेका छोटासा भी गुण सत्पुरुषको पाकर अतिमहान हो जाता है । जैसे तैलकी बूँद पानीमें फैलकर महान हो जाती है । तब वह सत्पुरुष दूसरेके दोषको कैसे कह सकता है ॥३७५॥

भा०—यह समस्त उपदेश का सार है । ऐसा यत्न करो जिससे सज्जनोमें तुम्हारे गुणोंसे उत्पन्न हुई कीर्ति सर्वत्र फैले ॥३७६॥

संयमी जनोंकी वह कीर्ति क्या है, यह बतलाते हैं—

भा०—यह साधु अखण्डित समाधिके धारी हैं, बहुभूत हैं, दूसरोको कष्ट नहीं देते, और चारित्रगुणमें अच्छी तरह स्थित हैं । पुण्यशालीका यह यश सर्वत्र फैलता है ॥३७७॥

भा०—इस प्रकार गुरुका उपदेश सुनकर संघ 'हमें स्वीकार है' ऐसा कहकर आपके ये वचन हमारे लिये अत्यन्त मंगल कारक है ऐसा कहता है । तथा मुझे गुणोंमें मन लगाकर

१. ताप इव कारी । —आ० । २ चरइ । —अ० आ० ।

वसति ॥३७८॥

भगवं अनुग्गहो मे जं तु सदेहोव्व पालिदा अग्हे ।

सारणवारणपडिबोदणाओ धण्णा हु पावेति ॥३७९॥

‘भगवं अनुग्गहो मे’ भगवन्ननुग्रहोऽस्माकं । ‘जं तु सदेहोव्व पालिदा अग्हे’ यत्त्वणरीरमिव पालिता वयम् । ‘सारणवारणपडिबोदणाओ’ एवं कुल्ल, ‘यैवं कृया’ इति शिक्षा । ‘धण्णा हु पावेति’ धन्या प्राप्तु-
वन्ति ॥३७९॥

अग्हे वि खमावेमो जं अण्णाणा पमादरागेहिं ।

पडिलोमिदा य आणा हिदोवदेसं कस्तिताणं ॥३८०॥

‘अग्हे वि खमावेमो’ वयमपि क्षमा ग्राह्याम । ‘अण्णाणा’ अज्ञानान् । ‘पमादरागेहिं’ प्रमादाद्ग्राह्यन्व ।
‘जं पडिलोमिदा अग्हे’ भवता प्रतिकूलवृत्तयो यदयं जाता । ‘आणाहिदोवदेसं करताणं’ आज्ञा हितोपदेशं
कुर्वताम् ॥३८०॥

सहिदय सकण्णयाओ कदा सच्चक्खु य लद्धसिद्धिपहा ।

तुज्झ वियोगेण पुणो णट्ठदिसाओ भविस्सामो ॥३८१॥

‘सहिदय सकण्णयाओ’ सहृदया सकर्णकारश्च जाताः । ‘कदा सच्चक्खु य’ कृताः सलोचना । ‘लद्धसिद्धि-
पहा’ लब्धसिद्धिमार्गः । ‘तुज्झ वियोगेण पुणो’ भवद्भूयो वियोगेन पुनः । ‘णट्ठदिसाओ’ नष्टदिवकाः ।
‘भविस्सामो’ भविष्याम ॥३८१॥

सव्वजयजीवहिदए थेरे सव्वजगजीवणाथम्मि ।

पवसंते य मरंते देसा किर सुण्णया होंति ॥३८२॥

‘सव्वजयजीवहिदए’ सर्वस्मिञ्जगति ये जीवा तेया हिते । ‘थेरे’ ज्ञानतपोवृद्धे । ‘सव्वजग जीव-

मानन्दके आसू गिराता है ॥३७८॥

गा०—भगवन् ! आपका हमपर बड़ा अनुग्रह है । आपने अपने शरीरकी तरह हमारा पालन किया है । तथा ‘यह करो’ और ‘यह मत करो’ इत्यादि शिक्षा दी है । भाग्यशाली ही ऐसी शिक्षा प्राप्त करते हैं ॥३७९॥

गा०—आपकी आज्ञा और हितका उपदेश करनेपर हमने जो अज्ञान प्रमाद और रागवश उसके प्रतिकूल आचरण किया, उसके लिये हम भी आपसे क्षमा मांगते हैं ॥३८०॥

गा०—आपने हमें हृदय युक्त अर्थात् विचारशील बनाया । हमें सकर्ण बनाया अर्थात् आपके उपदेश सुनकर कानोंका फल प्राप्त किया । आपने हमें आँखें प्रदान की अर्थात् हमें शास्त्र स्वाध्यायमें लगाया । तथा आपके प्रसादसे हमने मोक्षका मार्ग प्राप्त किया । अब आपके वियोगसे हम विद्याहीन हो जायेंगे । हमें कोई मार्ग दिखाने वाला नहीं रहेगा ॥३८१॥

गा०—समस्त जगत्के जीवोंका हित करने वाले, ज्ञान और तपसे वृद्ध तथा समस्त जगत्

गन्धर्वि' सर्वजनतो बीवानां नाथे । 'पवसंते य मरंते' प्रवासं मूर्ति वा प्रतिपद्यमाने । 'देसा फिर दुष्पवया होंति' देवाः किल दुष्पया भवन्ति ॥३८२॥

सञ्चजयजीवहिदप बेरे सञ्चजगजीवणायम्मि ।

पवसंते य मरंते होदि हु देसोंघयारोम्ब ॥३८३॥

सीलइदगुणइदेहिं दु बहुस्सुदेहिं अवरोवतावीहिं ।

पवसंते य मरंते देसा ओखंडिया होंति ॥३८४॥

'सीलइदगुणइदेहिं हु बहुस्सुदेहिं अवरोवतावीहिं' सीलादर्घ्यं बहुमूर्तं अपरोपतापिभि । 'पवसंते य मरंते' मूर्ति प्रवासं वा प्रतिपद्यमानः । 'देसा ओखंडिया होंति' जनपवा अवलंबिता भवन्ति । गताद्योत्तरा गाथा ॥३८४॥

सञ्चस्स दायगाणं समसुइदुक्खाण गिण्पकंपाणं ।

दुक्खं खु विसइदुं जे चिरप्पवासो वरगुरूणं ॥३८५॥

'सञ्चस्स दायगाणं' ज्ञानदर्शनचारित्र्यतपोदानोद्यताना । 'समसुइदुक्खाण' सुखदुःखयो समानाना । 'गिण्पकंपाणं' परीपहेम्यां निश्चलाना । 'वरगुरूणं' महता गुरूणा । 'चिरप्पवासो' चिरकालप्रवासो वियोगः । 'दुक्खं खु विसइदुं जे' तोदुमतीव दुष्करं ॥३८५॥

एव परित्तमाय्य अनुशासनाधिकारं परगणचर्या निरूपयति—

एवं आउच्छित्ता सगणं अम्भुज्जदं पविहरंते ।

आराधणाणिमिच्चं परगणगमणे मइं कुणदि ॥३८६॥

'एवं आउच्छित्ता' आपृच्छय । 'सगणं' स्वगण । 'अम्भुज्जदं पविहरन्तो' प्रकषेण रत्नत्रयं प्रवर्तमानः । 'आराधणाणिमिच्चं' आराधनानिमित्त । 'परगणगमणे मइं कुणदि' परगणगमने मति करोति ॥३८६॥

के जीवोंके स्वामीके अन्धत्र चल जानेपर अथवा मरणको प्राप्त होनेपर देग शून्य हो जाते हैं ॥३८२॥

गा०—समस्त जगत्के जीवोंके हितकारी, ज्ञान और तपसे वृद्ध तथा सत्र जगत्के जीवोंके स्वामीके अन्धत्र चल जाने या मरणको प्राप्त होनेपर देगमे अन्धकार-सा द्वा जाता है ॥३८३॥

गा०—शीलसे सम्पन्न और गुणोंसे समृद्ध, बहुश्रुत तथा दूसरोंको सत्ताप न देने वाले महर्षियोंके प्रवासमें जानेपर या मरणको प्राप्त होनेपर सब देग उजाड़ सा प्रतीत होते हैं ॥३८४॥

गा०—जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपका दान करनेमें तत्पर रहते हैं, सुख और दुःख में समभाव रखते हैं तथा परीपहेसे विचलित नहीं होते उन महान् गुरुओंके वियोगका दुःख सहना अति कठिन है ॥३८५॥

इस प्रकार अनुशासन अधिकार को समाप्त करके परगणचर्याका कथन करते हैं—

गा०—इस प्रकार अपने गण से पूछकर रत्नत्रयमे उत्कृष्ट रूपसे प्रवृत्ति करनेमें तत्पर आचार्य आराधना करनेके लिये दूसरे गणमें जानेका विचार स्थिर करते हैं ॥३८६॥

किमर्थं परगणप्रवेशं करोति इत्यासक्त्यायां स्वगणावस्थाने दोषमाचष्टे—

सगणे आणाकोवो फलसं कलहपरिदावणादी य ।

जिडमयसिणेहकालुणियञ्जाणविग्घो य असमाधी ॥३८७॥

'सगणे आणाकोवो' आरतीयं गणं आज्ञाकोप । 'फलसं कलहपरिदावणादी य' पश्यवचनं कलहो, दुःस्वादीनि य । 'जिडमयसिणेहकालुणियञ्जाणविग्घो य' निर्भयता, स्नेहः कावर्ष्यं, ध्यानविघ्न । 'असमाधी' असमाधिष्व ॥३८७॥

उड्डाहकरा बेरा कालहिया खुड्डया खरा सेहा ।

आणाकोवं गणिणो करेज्ज तो होज्ज असमाही ॥३८८॥

'उड्डाहकरा बेरा' अयस. संपादकाः स्वविराः । 'कालहिया' कलहकराः । 'खुड्डया' दुल्लकाः । 'खरा सेहा' पश्या अमार्गज्ञाः । 'आणाकोवं गणिणो करेज्ज' आज्ञाकोपं दूरैः कुर्मुः । 'तो होज्ज असमाही' तस्मादाज्ञाकोपाद्भवेदसमाधिः ॥३८८॥

स्वगणे स्वविरादिकृतमसमाधिकरमाज्ञाकोपं दर्शयति—

परगणवासी य पुणो अन्वावारो गणी हवदि तेसु ।

पत्थि य असमाहाणं आणाकोवम्मि वि कदम्मि ॥३८९॥

परगणेऽयमी सन्त्येव स्वविरादयस्तन्नाप्यसमाधानं स्यादेवास्मेति शङ्का निरस्यति । 'परगणवासी य' यः परगणे वसति गणी सो । 'अन्वावारो'ऽव्यापारः तेषु शिखाभ्यापाररहित । तेन आज्ञाकोपो न विद्यते

किसलिये दूसरे गणमें जाते हैं ? ऐसी आशंका होने पर अपने गणमें रहनेके दोष कहते हैं—

गण०—अपने गणमें रहनेपर आज्ञाकोप, कठोर वचन, कलह, दुल आदि, निर्भयता, स्नेह, करुणा, ध्यानमे विघ्न और असमाधि ये नौ दोष होते हैं ।

विशेषार्थ—अपने संघमे रहने पर किसी को आज्ञा दे और वह न माने तो परिणामोंमें क्रोधभाव हो जाय । जो कोई गलती करे तो उसे अपना जान कठोर वचन बोला जाय । किसीको हितकी प्रेरणा करें और वह न माने तो कलह पैदा हो जाय । किसीको दोष करते देखकर मनमें संताप पैदा हो सकता है । रोगवश अपने ही परिणाम बिगड़ जायें तो किसीका भय न होनेसे अव्यग्य आचरण भी कर सकता है । मरते समय परिचित साधुओंमें स्नेह भाव आ सकता है । या किसी को दुःखी देखकर करुणा भाव हो सकता है । ध्यानमें बाधा पड़ सकती है और समाधि नहीं बन सकती । ये दोष अपने गणमें रहकर समाधि करनेमें हैं ॥३८७॥

गण०—तथा अपने गणमें ही रहे तो किसी भी बातको लेकर वृद्ध मुनि अपयश कर सकते हैं । किसीको शिक्षा देनेपर क्षुद्र अज्ञानी कलह करते हैं । मार्गको नहीं जानने वाले और कठोर स्वभाववाले मुनि आचार्यकी आज्ञा न माने तो आचार्यको कोप उत्पन्न होनेसे समाधि बिगड़ जाती है ॥३८८॥

गण०—दूसरे गणमें भी ये वृद्ध मुनि आदि होते ही है, अतः वहाँ भी उनकी असमाधि हो सकती है, इस शंका को दूर करते हैं—जो आचार्य अपना गण त्यागकर दूसरे गणमें रहता है उसे

आज्ञाभङ्गो नास्तीत्यर्थः । 'नस्ति च असमाधानं' नास्ति च असमाधिः । 'आज्ञाकोषमिन् वि कश्चिन्' आज्ञा-
भङ्गं कृत्येति ममानुपकारिणो वचनमिमे किमर्थं कुर्वन्ति इति चेत् प्रणिधानात् ॥३८९॥

आज्ञाकोषदोषं अनिष्टाय द्वितीयं व्याचष्टे—

खुब्डे बेरे सेहे असंबुडे ददूहण कुणइ वा परुसं ।

मभिकारेण भणेज्जो भणिज्ज वा तेहिं परुसेण ॥३९०॥

'खुब्डे बेरे सेहे' कुल्लकान्त्वविरानमार्गशाश्व । 'असंबुडे' असंबुतान् असंयतान् । 'ददूहण' दृष्ट्वा ।
'कुणइ वा परुसं' करोति वा पश्य । 'मभिकारेण भणेज्जो' ममत्वेन वदेद्वा पश्यं । 'भणिज्ज वा तेहिं परुसेण'
अप्येत वा गणी तैः पश्यं वच ॥३९०॥

कलहं पूर्वाद्धेन व्याचष्टे—

पडिचोदणासहणदाए होज्ज गणिणो वि तेहिं सह कलहो ।

परिदावणादिदोसा य होज्ज गणिणो व तेसिं वा ॥३९१॥

'पडिचोदणासहणदाए' गुणशिष्टासहनेन । 'होज्ज कलहो तेहिं गणिणो वि' भवेत्कलहर्तैः कुल्लका-
विभिः सह गणिनः । 'परिदावणादिदोसा होज्ज' दुःखादिदोषा भवेयुः । 'गणिणो व तेसिं वा' गणिमस्तेषां
कुल्लकादीनां वा कलहः ॥३९१॥

कलहपरिदावणादीय इत्येतत्सूत्रपद प्रकारान्तरेणापि व्याचष्टे—

कलहपरिदावणादी दोसे व अमाउले करंतेसु ।

गणिणो हवेज्ज सगणे ममत्तिदोसेण असमाधी ॥३९२॥

'कलहपरिदावणादी दोसे व' कलहं परितापादिदोष वा । 'अमाउले करंतेसु' गणेन सह कुर्वन्तु
कुल्लकादिषु । 'गणिणो हवेज्ज सगणे ममत्तिदोसेण असमाधी' गणिनो भवेन्ममतादोषेण असमाधि ॥३९२॥

वहाँ शिक्षा आदि देनेका काम नहीं रहता । इससे वहाँ आज्ञा भगका प्रदन नहीं रहता । आज्ञा
भंग होने पर भी वह मनमें विचारता है कि मैने इनका कोई उपकार तो किया नहीं, तब ये
मेरी आज्ञाका पालन क्यों करेगे ? अतः आज्ञा भंग होने पर भी असमाधि नहीं होती ॥३८९॥

आज्ञाकोष दोषको कहकर दूसरे दोषको कहते हैं—

गा०—गुणोसे हीन क्षुद्र मुनियों, तपसे बृद्ध स्थविरों और रत्नत्रय रूप मार्गको न जानने
वालोंको असंयमरूप प्रवृत्ति करते हुए देखकर 'ये हमारे शिष्य हैं, संघके हैं' इस प्रकारके ममत्व
भावसे उनके प्रति कठोर वचन कहा जाये अथवा वे क्षुद्र आदि उन्हे कठोर वचन कहे, यह दूसरा
दोष है ॥३९०॥

पूर्वाद्धेसे कलह दोष कहते हैं—

गा०—गुरुकी शिक्षाको सहन न करनेसे आचार्यकी भी उन क्षुद्र आदिके साथ कलह हो
सकती है । और उससे आचार्यको अथवा उन क्षुद्र आदि मुनियोंको दुःख आदि दोष होते
हैं ॥३९१॥

'कलहपरिदावणादीय' इस गाथाका प्रकारान्तरसे कथन करते हैं—

गा०—ये क्षुद्र आदि गणमें कलह परिताप आदि दोष करं तो उसे देखकर ममत्व भावसे
आचार्यकी असमाधि हो सकती है ॥३९२॥

परितावणादि इत्येतत्सूत्रपदं अन्यथा व्याचष्टे—

रोमादंकादीहिं व समणे परिदावणादिपत्तेसु ।

गणिणो हवेज्ज दुक्खं असमाही वा सिणेहो वा ॥३९३॥

'रोमादंकादीहिं व' अल्पमंहृद्विभ्याध्यादिभिः । 'परितावणादिपत्तेसु' परितापनादिप्राप्तये । 'समणे' आत्मीयशिष्यवर्गे । 'गणिणो हवेज्ज दुक्खं' आचार्यस्य भवेद्दुःखं । 'असमाही वा सिणेहो वा' असमाधिर्वा स्नेहो वा ॥३९३॥

तण्हादिण्णु सहणिज्जेसु वि सगणम्मि णिम्मओ संतो ।

आएज्ज व सेएज्ज व अकप्पियं किं पि बीसत्थो ॥३९४॥

'तण्हादिण्णु सहणिज्जेसु वि' पिपासाविकेयु परीषहेषु सहनीयेष्वपि । 'सगणम्मि णिम्मओ संतो' स्वगणे निर्भयः सन् । 'आएज्ज व सेएज्ज व' याचते वा सेवते वा । 'अकप्पियं' अयोग्यं किञ्चित्प्रत्याख्यातम-
शानं पानं वा । 'बीसत्थो' विद्यस्तः भयलज्जाविरहितः ॥३९४॥

सिणेह इत्यस्य व्याख्या—

उद्धे सखंकावडिडव बाले अज्जाउ तह अणाहाओ ।

पासंतस्स सिणेहो हवेज्ज अच्चंतियविओगे ॥३९५॥

उद्धे सखंकावडिडव इत्यादिका बृहान्यतीन्त्वांकर्वाद्धतबालान् यतीस्तथा आयिका, अनाथा. पश्यतः स्नेहो भवेदात्यन्तिके वियोगे ॥३९५॥

कोलुगिण इत्येतद्व्याचष्टे—

खुद्धा य खुडिडयाओ अज्जाओ वि य करेज्ज कोलुगियं ।

तो होज्ज ज्जाणविग्घो असमाधी वा गणधरस्स ॥३९६॥

'परितावणादि' इस गाथा पदको दूसरे प्रकारसे कहते हैं—

गा०—अपने शिष्य वगैरे छोटी बड़ी व्याधियोंसे पीड़ित होने पर आचार्यको दुःख हो सकता है । अथवा स्नेह पैदा हो सकता है और उससे समाधिकी हानि हो सकती है ॥३९३॥

गा०—अपने गणमें रहकर समाधि करने पर प्यास आदि की परीषह सहने योग्य होने पर भी निर्भय होकर और भय तथा लज्जा को त्याग अयोग्य की भी याचना अथवा सेवन कर सकता । जो त्याग दिया है खानपान, उसको भी माँग सकता है या उसका सेवन कर सकता है, क्योंकि वहाँ उसे कोई भय नहीं है सब उसीके शिष्यगण हैं ॥३९४॥

स्नेह का कथन करते हैं—

गा०—बुद्ध भसिष्योंको, जिन्हें बचपनसे अपनी गोदमें बैठाकर पाला है उन बाल यतिमो-
को, आयिकाओंको अनाथ होते देखकर भरते समय सर्वदाके लिए वियोग होने पर स्नेह पैदा हो सकता है ॥३९५॥

'कोलुगिण' पदका व्याख्या न करते हैं—

‘कुन्दला च सुदिग्धामां’ कुल्लका, सुल्लिकपयः आर्वा कुर्पुरारटनं । ततो ध्यानविष्णोऽसमाधिर्वा गण-
धरस्य भक्त्यतीति ॥३९६॥

काव्यं विदुमोति—

मचे वा पाणे वा सुस्त्रसाए व सिस्सवग्गम्मि ।

कुब्बंतम्मि पमादं असमाधी होज्ज गणवदिणो ॥३९७॥

‘भक्तं वा पाणे वा’ भक्ते पाने वा शुभ्रपाया वा प्रमद शिष्यवर्गे कुर्वति गणपतेरसमाधिर्भ-
वति ॥३९७॥

एदे दोसा गणिणो विसेसदो होंति सगणवासिस्स ।

मिक्खुस्स वि तारिसयस्स होंति पाएण ते दोसा ॥३९८॥

‘एदे दोसा गणिणो विसेसदो होंति’ एते दोषा विशेषतो भवन्ति स्वगणे नसतः । ‘मिक्खुस्स वि तारिस-
वस्स’ निवारोपि तावुक्खस्स उपाध्यायस्य, प्रवर्तकस्य वा भवन्ति प्रथमेण ते दोषा ॥३९८॥

एदे सब्बे दोसा ण होंति परगणणिवासिणो गणिणो ।

तम्हा सगणं पयहिय वच्चदि सो परगणं समाधीए ॥३९९॥

एते सब्बे दोसा ण होंति’ एते सर्वे दोषा न भवन्ति । ‘परगणणिवासिणो गणिणो’ परगणनिवासिनो
गणधरस्य । तस्मात्स्वगणं परित्यज्य व्रजति परगण समाधये ॥३९९॥

संते सगणे अम्हं रोचेदूणागदो गणमिप्पोत्ति ।

सब्बादरसत्तीए भत्तीए वड्ड गणो से ॥४००॥

‘संते सगणे’ सत्यपि स्वगणे अस्मद्गणे जातश्चारागतो गणमिमिति सर्वादरेण भक्त्या च गणो
वर्तते ॥४००॥

शा०—कुल्लक, सुल्लिकाएँ अर्थात् बालमुनि और आयिका भी गुरुका वियोग होते देख
रो पड़ते हैं तो आचार्यके ध्यानमे विघ्न और असमाधि होती है ॥३९६॥

शा०—खानपान और सेवा टहलमें शिष्यवर्गके प्रमाद करने पर आचार्यकी असमाधि हो
सकती है । अर्थात् आचार्यको यह विकल्प पैदा हो सकता है कि हमने इनका उपकार किया
और यह हमारी सेवा भी नहीं करते । इससे ध्यानमे विघात होनेसे समाधि विगड़ सकती
है ॥३९७॥

शा०—ये दोष विशेष रूपसे अपने गणमें रहकर समाधि करनेवाले आचार्यके होते हैं ।
अन्य भी जो भिक्षु उपाध्याय या प्रवर्तक अपने गणमें रहकर समाधि मरण करते हैं उनके भी
प्रायः ये दोष होते हैं ॥३९८॥

शा०—ये सब दोष दूसरे गणमें निवास करनेवाले आचार्यके नहीं होते । इसीलिए वह
अपना गण छोड़ परगणमें समाधिके लिए जाता है ॥३९९॥

शा०—अपने गणके होते हुए यह हमारे गणमें रुचि रखकर यहाँ आया है ऐसा मानकर
दूसरा गण पूर्ण आदरके साथ शक्ति और भक्तिसे उसकी सेवामें लगता है ॥४००॥

गीदत्वो वरणत्वो पञ्छेद्भागदस्स सुवयस्स ।

सम्वादरेण जु जिज्जवणो होदि आयरिओ ॥४०१॥

'गीदत्वो वरणत्वो' गृहीतार्थः ज्ञानी वरणस्यः । 'पञ्छेद्भागदस्स' प्रार्थयित्वागतस्य । 'सुवयस्स' क्षपकस्य । 'सम्वादरेण सुतो' सर्वादरेण युक्तः 'जिज्जवणो होदि आयरिओ' नियंपको भवत्याचार्यः ॥४०१॥

संविग्गवज्जमीरुस्स पादमूलम्मि तस्स बिहरंतो ।

जिज्जवयणसव्वसारस्स होदि आराधुओ तादी ॥४०२॥

'संविग्गवज्जमीरुस्स' संसारमीरोः, पापकर्ममीरोश्च तस्य गुरोः पादमूले वर्तमानो जिनवचनसर्व-सारस्य भवत्याराधकः । 'तादि' यतिः । 'संते सगणे', 'गीदत्वो', 'संविग्गवज्जमीरु' इत्येतस्सूत्रत्रयेण पर-गणे चर्यायां गुणो व्याख्यातः । परगणचर्या ॥४०२॥

मार्गानिरूपणार्थमुत्तरप्रबन्धः—

पंचच्छसत्सदाणि जोयणाणं तदो य अहियाणि ।

णिज्जावयमणुण्णादं गवेसदि समाधिकामो दु ॥४०३॥

पंचच्छसत्सदाणि पञ्चषट्सप्तयोजनशतानि ततोऽभ्यधिकानि वा गत्वा अन्वयेते नियंपकं । शास्त्रेण-अनुज्ञातं समाधिकामो यति ॥४०३॥

स्पष्टार्थोत्तरभाषा—

एकं व दो व तिण्णि य वारसवरिसाणि वा अपरिदंतो ।

णिज्जवयमणुण्णादं गवेसदि समाधिकामो दु ॥४०४॥

शा०—उस प्रार्थना पूर्वक आये हुए क्षपकका नियंपक आचार्य ज्ञानी, चारित्रि निष्ठ तथा उस क्षपकके प्रति पूर्ण आदर भावसे युक्त होता है ॥४०१॥

शा०—संसार और पापकर्मसे डरने वाले उस नियंपक आचार्यके वरणोंमें विहार करता हुआ वह क्षपक यति समस्त जिनागमके सार रूप आराधनाका आराधक होता है ॥४०२॥ 'संते सगणे', 'गीदत्वो', 'संविग्गवज्जमीरु' इन तीन गाथा सूत्रोंके द्वारा परगणमें चर्या करनेका गुण कहा है । इस प्रकार परगणमें चर्या करनेका गुण कहा है ॥४०२॥

आगे मार्गणाका कथन करते हैं—

शा०—समाधिका इच्छुक यति पांच सौ, छह सौ, सात सौ योजन अथवा उससे अधिक जाकर शास्त्रसम्मत नियंपकको खोजता है ॥४०३॥

शा०—समाधिका इच्छुक यति एक अथवा दो अथवा तीन आदि बारह वर्ष पर्यन्त खेद-स्तिन्न न होता हुआ जिनागम सम्मत नियंपकको खोजता है ॥४०४॥

१. पंचच्छ सत् जोयण सदाणि ततोऽहियाणि वा गतुं । णिज्जावयमण्णे सदि समाधिकामो अणुण्णा-
व-आ० मु० । २. जिज्जवयम-आ० पु० ।

निर्यापकान्धेवचार्य गच्छतः क्रममुवाहरति—

गच्छेज्ज एवरादियपडिमा अज्जयणपुच्छणाकुसलो ।

धंढिल्लो संभोगिय अप्पडिबद्धो य सव्वत्थ ॥४०५॥

‘गच्छेज्ज एवरादियपडिमा अज्जयणपुच्छणाकुसलो’ गच्छेदेकरात्रिभवावग्रहे अध्ययने परप्रश्ने च कुशलः । एकरात्रिभवा भिक्षुप्रतिमा निरूप्यते । उपवासत्रयं कृत्वा चतुर्ध्यां रात्रौ ग्रामनगरादेर्बहिर्द्वेषे स्मशाने वा प्राङ्-मुखाः, उदङ्मुखसन्धैत्याभिमुक्तो वा भूत्वा चतुरङ्गुलमात्रपदान्तरो नासिकाग्रनिहितदृष्टिस्त्यक्तकायस्तिष्ठन् । सुदुष्टं प्रणिहितचित्तं चतुर्विधोपसर्गसहं न चलेन्न पतेत् यावत्सूर्यं उदेति । स्वाध्यायं कृत्वा गव्यूतिद्वयं यत्वा गोधरशेषवसतिं यत्वा तिष्ठति । यत्र विप्रकुष्ठो मार्गस्तत्र सूत्रपीठध्यामर्षपीठ्या वा मंगलं कृत्वा याति एवं स्वाध्यायकुशलता । प्रश्नकुशलतोष्यते—सैत्यसंयतानायिकाः श्रावकाश्च, बालमध्यमवृद्धाश्च पूष्ट्वा कृतशेषे-षको याति इति प्रश्नकुशला । यत्र भिक्षा कृता तत्र स्थण्डिलान्वेषणं कुर्यात् । कायशोधनार्थं संभोगयोग्यं, यति, सघाटकत्वेन गृह्णीयात् । स्वयं वा तस्य सघाटको भवेत् । एवं स्थण्डिलान्वेषणं संभोगयोग्ययतिना सहभूतौ च यो यत्परः स्थंडिलसंभोगी च इत्युच्यते । अंतरालग्रामनगरादिसन्निवेशस्थयतिगृहिसत्कारसम्मान-प्राप्त्युपक्रमन्तादीं सर्वत्र अप्रतिबद्धत्वात् ‘अप्पडिबद्धो य सव्वत्थ’ इत्युच्यते ॥४०५॥

निर्यापकको खोजनेके लिए जाते हुए क्षपकका क्रम कहते हैं—

गा०—एक रात्रि प्रतिमामें, अध्ययन में और दूसरेंसे प्रश्न करनेमें कुशल वह क्षपक स्थंडिलसंभोगी और सर्वत्र अप्रतिबद्ध होता है ॥४०५॥

टी०—एक रात्रिक भिक्षु प्रतिमाको कहते हैं । तीन उपवास करके चतुर्थ रात्रिमें ग्राम-नगर आदिके बाहर वनमें अथवा स्मशानमें पूरब अथवा उत्तर अथवा जिनप्रतिमाकी ओर मुख करके, दोनों पैरोंके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर रखकर, अपनी दृष्टि नाकके अग्रभाग पर रखते हुए शरीरसे ममत्व त्याग कर स्थित होवे । अपने चित्तको अच्छी तरहसे समाहित करते हुए चार प्रकारके उपसर्गको सहकर जब तक सूर्यका उदय न हो तब तक न विचलित हो, न पतित हो । फिर स्वाध्याय करके दो गव्यूतिप्रमाण गमन करके भिक्षाके क्षेत्रकी वसतिमें जाकर ठहरे । जहाँ मार्ग दूर हो वहाँ सूत्रपीठकी अथवा अर्षपीठकी मंगलाचरण करके गमन करता है । अर्थात् एक रात्रिक भिक्षु प्रतिमाकी समाप्ति पर स्वाध्याय करके भिक्षाके लिए गमन करता है । यदि भिक्षाका स्थान दूर हो तो स्वाध्यायकी स्थापना करके केवल मंगलाचरण करके भिक्षा स्थानके लिए गमन करता है यह उसकी स्वाध्याय कुशलता है । आगे प्रश्नकुशलता कहते हैं—जिनालयमें स्थित संयमियों, आयिका और श्रावकोंसे तथा बाल, प्रौढ़ और वृद्ध पुरुषोंसे भिक्षास्थान ज्ञात करके गमन करता है यह उसकी प्रश्न कुशलता है । जहाँ भिक्षा ग्रहण की वहीं मलत्यागके लिए स्थंडिल भूमिकी खोज करे । जिस यतिके साथ सामाचारी की जा सकती है ऐसे यतिको सहायक रूपसे ले ले या स्वयं उसका सहायक हो जावे । इस प्रकार स्थंडिल भूमिकी खोजमें और सामा-चारीके योग्य यतिके साथ रहनेमें जो प्रयत्नशील होता है उसे स्थंडिल सम्भोगी कहते हैं । तथा वह क्षपक रास्तेमें जानेवाले ग्रामनगर आदिमें बने स्थानोंमें ठहरे हुए यति, गृहस्थ, उनके सत्कार, सम्मान और अतिथि भोजन आदिमें सर्वत्र अप्रतिबद्ध होता है । उनमें उसकी अनासक्ति

१. संभोगी यतिरित्यु—आ० सु० ।

आलोचनापरिणदो सम्मं संपत्तिदो गुरुसयासं ।

जदि अंतरा हु अग्रहो हवेज्ज आराहओ होज्ज ॥४०६॥

‘आलोचनापरिणदो’ रत्नत्रयादिचारम्भनोवाचकायविकल्पान्मयीयानुरी निवेदमिष्यामीति कृतसंकल्पः । सम्मं आलोचनादोषान्परित्यज्य ‘संपत्तिदो’ यातुमुद्यतः । ‘गुरुसयासं’ गुरुसमीपं । ‘जदि अंतरा हु’ यद्यन्तराल एव । ‘अग्रहो हवेज्ज’ पतितजिह्वो भवेत् । ‘आराहओ होज्ज’ आराधको भवति ॥४०६॥

आलोचनापरिणदो सम्मं संपत्तिओ गुरुसयासं ।

जदि अंतरम्मि कालं करेज्ज आराहओ होइ ॥४०७॥

‘आलोचनापरिणदो’ स्वापराधकचनावहित्थितः गुरुसमीपमागच्छतो यद्यन्तराल एव कालं कुर्यात् । ‘आराधको होइ’ आराधको भवति ॥४०७॥

आलोचनापरिणदो सम्मं संपत्तिदो गुरुसयासं ।

जदि आयरिओ अग्रहो हवेज्ज आराहओ होइ ॥४०८॥

तथा आलोचनापरिणतः गुर्वन्तिकं प्रस्थितः आराधको भवति । यथाचार्यो वक्तुमशक्तो जातः ॥४०८॥

आलोचनापरिणदो सम्मं संपत्तिदो गुरुसयासं ।

जदि आयरिओ कालं करेज्ज आराहओ होइ ॥४०९॥

आचार्यकालकरणेऽप्याराधको भवति इति सूत्रार्थः ॥४०९॥

कथं आराधकता तस्य ? न कृता आलोचना नाचरितं गुरुपविष्टं प्रायश्चित्तमित्यारेकायामाचष्ट—

सल्लं उद्धरिदुमणो संवेगुव्वेमतिव्वसण्णओ ।

जं जादि सुद्धिहेदुं सो तेणाराहओ होइ ॥४१०॥

होती है ॥४०५॥

गा०—‘मन वचन कायके विकल्प रूप रत्नत्रयमें लगे अतिचारोंको, आलोचनाके दोषोंको त्यागकर मे सम्म्यग् रूपसे गुरुसे निवेदन कहेगा’ ऐसा संकल्प करके जो गुरुके समीप जानेके लिए निकला, वह यदि मार्गमें ही अपनी बोलनेकी शक्ति खो बैठे तो भी वह आराधक होता है ॥४०६॥

गा०—मैं गुरुके पास जाकर अपने दोषोंकी सम्म्यक् आलोचना कहेगा, यह संकल्प करके जो गुरुके पास जानेके लिए निकला है वह यदि मार्गमें ही मर जाय तो भी आराधक है ॥४०७॥

गा०—आलोचना करनेका संकल्प करके जो गुरुके पास जाने के लिए चला है । यदि आचार्य बोलनेमें असमर्थ हों तो भी वह आराधक है ॥४०८॥

गा०—जो गुरुके सम्मुख अपना अपराध निवेदन करनेके लिए गुरुके पास जानेके लिए निकला है, यदि आचार्य मर जायें तो भी वह आराधक है ॥४०९॥

जिसने गुरुके सम्मुख अपने अपराधकी आलोचना नहीं की और न गुरुके द्वारा कहा गया प्रायश्चित्त ही किया वह कैसे आराधक होता है ? इस शंकाका समाधान करते हैं—

गा०—टी०—किये गये अपराधकी आलोचना न करने पर मायाशल्य होता है । और माया-

सत्त्वं उद्धरिष्यन्मौ कृतापराधाज्जाकोचनाया मायाशक्त्य भवति । सति मायाशक्त्ये न रत्नत्रयशुद्धि-
रिति मत्वा शक्त्यमुद्धरुमनाः । 'संबन्धेवैतिष्यसद्भावो' संसारभीष्ठा संबन्धः, शरीरस्वाशुषितामसारता,
दुःखधातुतां भावकोष्य, तथेन्द्रियसुखाणामवृत्तिकारिता, तृष्णाभिषुद्धिनिमित्ता च तथोद्देशः । तौ संबन्धोद्देशौ,
तीक्ष्णः मरणकाले रत्नत्रयाराधना श्रद्धा च यस्य विद्यते स उच्यते संबन्धेवैतिष्यसद्भावो इति । अथवा
संबन्धोद्देशोऽर्थान् प्रवर्तिता तीक्ष्णा श्रद्धा यस्य रत्नत्रयाराधनाया स एव भवत्ये । 'अं जावि शुद्धिहेतु' मत्सा-
शुद्धिनिमित्तं याति 'सौ तेन क्षारहृणो हृषी' स तेन आराधको भवति ॥४१०॥

निर्यापकसूर्यन्धेवपार्थं गच्छतो गुणमाचष्टे—

आयारजीदकल्पगुणदीवणा अचसोधिणिज्जंझा ।

अज्जवमइवल्लापवतुट्टीपन्हादणं च गुणा ॥४११॥

'आयारजीदकल्पगुणदीवणा' आचारस्य जीवसंश्रितस्य कल्पस्य च गुणप्रकाशना । एतानि हि शास्त्राणि
निरतिचाररत्नत्रयतामेव दर्शयन्ति । तवर्धमेवान्धेषक प्रयतते । 'अससोधि' आत्मन शुद्धि । निष्कलंशा संकलेशा-
भाव । न हि संकलेशानित्य दूरं प्रयातुमीहते । स्वदोषप्रकटनाम्नाया त्यक्त्वा भवत्येव, तत एव माननिरासो
मार्दवं । शरीरपरित्यागाह्वितबुद्धितया लाघवं । कृतार्थोऽस्मीति शुद्धिर्भवति । प्रस्थितस्य प्रल्हाद्वनं हृदयसुखं
च स्वपरोपकारार्थ्या गमित कालः, इत उत्तर मदीय एव कार्ये प्रचाने उद्धृतो भविष्यामि इति
चिन्त्या ॥४११॥

इत्थं गुर्बन्धेवपार्थमायात दृष्ट्वा तद्वगणवासिना सामाचारक्रम व्याहरति—

आएसं एज्जंतं अण्णुद्धिति सहसा हु द्दट्टणं ।

आणासंगहवच्छल्लदाए चरणे य णाहुं जे ॥४१२॥

शक्यके होने पर रत्नत्रयमें शुद्धि नहीं होती । ऐसा मानकर जो शक्यको निकालनेका भाव रखता
है । तथा संसारसे भयभीत होनेको संबन्ध कहते हैं । और शरीरकी अशुचिता, असारता और
दुःखदायकताको देखकर तथा इन्द्रियजन्य सुखोको अतृप्ति करनेवाले तथा तृष्णाको बढ़ानेवाले
जानकर उनमें विरक्ति होना उद्देश्य है । जिसके संबन्ध और उद्देश्य होते हैं तथा मरणकालमें
रत्नत्रयकी तीव्र आराधना और श्रद्धा होती है उसे 'संबन्ध-उद्देश्य-ग-तीव्र श्रद्धावाला' कहते हैं । अथवा
संबन्ध और उद्देश्य द्वारा जिसकी रत्नत्रयकी आराधनामें तीव्र श्रद्धा होती है वह संबन्ध उद्देश्य
तीव्र श्रद्धावाला होना है । ऐसा वह क्षणक शुद्धिके लिए गुरुके पास जाता है इससे वह आराधक
होना है ॥४१०॥

गो०-टी०—निर्यापक आचार्यकी खोजमें जाते हुए क्षणकके गुण कहते हैं—आचार और
जीनकल्प (आचार विशेषका प्रतिपादक ग्रन्थ) के गुणोंका प्रकाशन होता है । ये शास्त्र निरति-
चार रत्नत्रयको ही बतलाने हैं । उसीके लिए क्षणक निर्यापककी खोज करता है । आत्माकी शुद्धि
होनी है । मन्त्रलेशका अभाव होता है क्योंकि जो मन्त्रलेश परिणाम वाला होता है वह इस प्रकार
दूर गमन नहीं करता । तथा गुरुके पास जाकर अपने दोषोंको प्रकट करनेसे मायाचारका त्याग
होता ही है । इसीमें मानका निरास मार्दवं भी होता है । शरीरको त्यागनेका भाव होनेसे लाघव
होता है । मैं कृतार्थ हूँ इस प्रकार सन्तोष होता है । 'मैंने अपने और परके उपकारमें समय
त्रिताया । अब आगे अपने ही कार्यमें प्रधान रूपसे उद्यत रहूँगा' ऐसे विचारसे हृदयमें सुख होता
है । इस प्रकार गुरुके पास जानेके गुण हैं ॥४११॥

'आप्तं' प्राप्नुवंकं । 'एकं' भायान्तं । 'बद्धम्' वृद्ध्वा । 'सहसा अन्धुद्विदति' शीघ्रमभ्युत्थानं कुर्वन्ति यद्यतः । 'आवासंयुक्तञ्चत्सवाद्' अन्धुद्वैयो तन्मनो सुस्तथविचारो उच्यतेष्वन् इति जिनाशासपादनाथं आचरन्तं संग्रहीतुं । वत्सलतया च तस्मिन् 'चरणे य जामेदुं' शरितं समाचारकम् तदीयं ज्ञातुं च अन्धुत्वात् कुर्वन्ति । स्वधिरपाठः "चरणे य जामेदुं" इति च 'चरणे'नावगमनाथं इति तत्रा'ग्राह्यम् ॥४१२॥

आगतुगवच्छब्दा पठिलेहाहिं तु अणमणोहिं ।

अणोणचरणकरणं जाणहेद् परिक्रंति ॥४१३॥

'आगतुगवच्छब्दा' आगन्तुको वास्तव्यावच । 'पठिलेहाहिं तु' वृद्ध्वा । 'अणमणोहिं' अणोन्यं । 'अणोणचरणचरणं' अणोन्यस्य चरणं करणं वा । 'परिक्रंति' परीजन्ते । किमर्थं । 'जाणहेतु' ज्ञातुं । समितयो गुण्यचरणशब्देनोच्यन्ते करणमित्यावश्यकानि गृहीतानि । आचार्याणामुपदेशमेवात्सामाचारोऽनेक-प्रकारो दुरवगमः तं ज्ञातुं सहायस्थानयोग्यो न वायमिति ज्ञातुं वा ॥४१३॥

एव परीक्ष्यन्ते इत्यत्राह—

आवासयठानादितु पठिलेहणवयणगहणणिकलेवे ।

सज्जाय य विहारे भिक्खुग्गहणे परिक्रंति ॥४१४॥

'आवासयठानादितु' अवस्यमेव सवरनिर्जरादिभिः कर्तव्यानि सामायिकादीनि आवश्यकान्युच्यन्ते तेषा

इस प्रकार गुरुकी खोजमें आये हुए क्षपकको देखकर उस गणके वासी साधुओंकी सामा-
चारीका क्रम कहते हैं—

गा०—अतिथिको आता हुआ देखकर यतिगण शीघ्र खड़े हो जाते हैं । जिनागमकी आज्ञा-
का पालन करनेके लिए, आने वालेको ग्रहण करनेके लिए और वात्सल्य भावके लिए तथा उसका
कैसा आचारादि है यह जाननेके लिए वे उठकर खड़े होते हैं । कहीं पर 'चरणे य जामेदुं' पाठ है ।
उसका अर्थ होता है—'अतिथिके चरणोंमें नमन करनेके लिए खड़े होते हैं । यह यहाँ ग्रहण करने
योग्य नहीं है ॥४१२॥

गा०—टी०—आने वाला मुनि और उस गणके वासी मुनि प्रतिलेखनाके द्वारा देखकर
परस्परमें एक दूसरेके चरण और करणको जाननेके लिए परीक्षा करते हैं । यहाँ चरण शब्दसे
समिति और गुप्ति कही हैं । और करण शब्दसे आवश्यकोंका ग्रहण किया है । आचार्योंके उपदेशमें
मेद होनेसे साधुओंका समाचार अनेक प्रकारका है । इससे वह दुरवगम है । उसका जानना कठिन
है उसको जाननेके लिए वे परस्परमें परीक्षा करते हैं । अथवा यह हमारे साथ रहनेके योग्य है
बचना नहीं, यह जाननेके लिए परीक्षा करते हैं ॥४१३॥

कैसे परीक्षा करते हैं, यह कहते हैं—

गा०—आवश्यक स्थान आदिमें, प्रतिलेखन, वचन, ग्रहण, निक्षेप, स्वाध्याय, विहार और
भिक्षाग्रहणमें परीक्षा करते हैं ॥४१४॥

टी०—संवर और निर्बराके इच्छुकोंको अवश्य ही करने योग्य सामायिक आदिको आव-

स्थानं स्थितिः। आवश्यकपरिणतिकालः। 'दुरुणं ब्रह्मणो वारं वारं च। चतुस्तस्य तस्युद्ध'—(गुला-
चार ७११०४) मित्यादिका क्रिया आदिशब्देन गृहीता। तेषु आवश्यकस्थानादिवि। 'पठित्तेहृत्पद्यमह-
वन्धिवन्धो' प्रतिस्लेखने चक्षुषा उपकरणेन वा, वचने, उपकरणानां ग्रहणे निक्षेपे, च 'सत्त्वसादे' स्वाध्याये,
'विहारे' अंधाविहारे, 'भिवस्मगहृते' भिक्षाग्रहणे च 'परिष्कृति' परीक्षन्ते। किमय सामायिकादीन्यावश्यकालि
करोति? कुर्वन्पि वा यथाकालं करोति न वा? किं वा द्रव्यसामायिकादौ प्रवर्तते उत भावसामायिकादौ?
द्रव्यसामायिकादिकं भवति सामायिकादिकं पठत, कायेन चोचता क्रिया कुर्वतः। सावद्ययोगप्रत्यास्थाने, तीर्थ-
कृद्गुणानुस्मरणे, आचार्योपाध्यायादीनां वा गुणानुस्मृतौ, स्वातिचारनिन्दाग्रहणयोः, प्रत्याख्येयप्रत्यास्थाने,
शरीरममतानिरासे वा, परिणतिर्भावसामायिकादिकं। तत्र प्रवृत्तौ न वेति परीक्षा। चक्षुषा पूर्वमिदं प्रति-
स्लेखनं योग्यं न वेति किं पश्यति न वा। उपकरणेन मृदुना लघुना प्रमाजंनं किं करोति न करोति वा।
अथवा त्वरितं प्रमाजंयति, अवपीडयति, दूरान्दस्थानात् पातयति, प्रमाजंनेन विरोधिनी जीवात्मिभ्ययति।
आहारभिमृत्तान्, आहारप्राहिणो गृहीताण्डकान्, स्वनिवासदेशस्थान्, मूर्च्छामृगताम्प्रमाजंयति न वेति परीक्षा।
वचने परीक्षा—ग्रह वच, परनिन्दात्मप्रशंसाप्रवृत्तं, आरम्भपरिग्रहयो प्रवर्तकं, मिथ्यात्वसंपादक, मिथ्याज्ञान-
कारि, म्यतीक, गृहस्थानां वचो वा वदति न वेति। यतो यथादेयं यद्वा यत्र निक्षिपति तद्भयप्रमाजंनपूर्वकं
किं गुह्यमिति निक्षिपति वा नेति परीक्षा। कालादिशुद्धिं कृत्वा पठति किं वा न, अथवा इमं ग्रन्थं पठति,

एक कहते हैं। उनका स्थान अर्थान् स्थिति यानो आवश्यक रूप परिणतिका काल। आदि शब्द-
से 'दो बार नमस्कार, यथाजात, वारह आवर्त, चार बार सिरका नमन, मन वचन कायकी
शुद्धि' इत्यादि क्रिया ग्रहण की हैं। चक्षु अथवा उपकरणसे प्रतिस्लेखना करने पर, वातालापमें
उपकरणोंके ग्रहण और रखनेमें, वेदल चलनेमें, और भिक्षा ग्रहणमें परीक्षा करत है
कि यह सामायिक आदि करता है या नहीं? करना है तो समय पर करना है या नहीं? अथवा
द्रव्य सामायिक आदि करता है या भाव सामायिक आदि करता है। सामायिक आदि पठ पढ़ते
हुए और शरीरसे उक्त क्रिया करते हुए द्रव्य सामायिक आदि होते है। मावद्य योगका त्याग
करनेपर, तीर्थकरके गुणोंका स्मरण करनेपर, अथवा आचार्य उपाध्याय आदिके गुणोंका स्मरण
करनेपर, अपने अतिचारोंकी निन्दा गर्हा करनेपर, त्यागने योग्यका त्याग करनेपर, अथवा शरीरसे
ममत्वको दूर करनेपर भाव सामायिक आदि होते हैं। उममें प्रदूत होता है या नहीं, यह परीक्षा
है। यह प्रतिस्लेखन योग्य है या नहीं? ऐसा आँखोंसे पहले देखता है या नहीं, कोमल हल्के उप-
करणसे प्रमाजंन करता है या नहीं? अथवा क्या जल्दीमें प्रमाजंन करता है। क्या जीवोंकी पीड़ा
पहुँचाता है? क्या दूर स्थानसे उपकरणादि गिराता है? क्या प्रमाजंनके द्वाग विरोधी जीवोंकी
मिलाता है? जो जीव आहारमें लगे हैं, या आहार ग्रहण कर रहे हैं, जिन्होंने मुँहमें अण्डे लिए
हुए है, जो अपने निवास देशमें स्थित है, मूर्च्छाको प्राप्त है ऐसे जीवोंका प्रमाजंन-रक्षण करता है
या नहीं, यह परीक्षा है। वचन परीक्षा—कठोर वचन, परकी निन्दा अपनी प्रशंसा करने वाले
वचन, आरम्भ और परिग्रहमें प्रवृत्ति कराने वाले वचन, मिथ्यात्वके मप्पादक वचन, मिथ्याज्ञान
कराने वाले वचन, झूठे वचन अथवा गृहस्थोंके योग्य वचन बोलता है क्या? जहाँसे जो ग्रहण
करता है अथवा जहाँ जो रखता है उन दोनोंके प्रमाजंन पूर्वक ग्रहण और निक्षेप करता है या
नहीं, यह परीक्षा है। कालादिकी शुद्धि पूर्वक ग्रन्थ पढ़ता है या नहीं? अथवा किस ग्रन्थको पढ़ता

कर्म वास्त्यार्षं व्याचष्टे । स्वनिवासदेशाद्दूरे हस्तमात्रादिपरिमार्थे स्वच्छिन्ने, निर्जन्तुके निश्छिन्ने, समे, अविरोधे मार्गज्ञानेमानवकोप्ये किं स्वसारीरमलं त्यजति उतातो विपरीते इति विहारे परीक्षा । भिक्षाग्रहणे परीक्षा नाम भ्रामर्यां वा काश्चिद्विभक्त्यां गृह्णाति लब्धामुत् नवकोटिपरिमृदाति ॥४१४॥

आगन्तुकी यतिगुं कमुपाशित्य सन्निभं संधाटकदानेन भवन्ननुप्राहोऽस्मीति विज्ञापना करोति । ततो गणचरंशापि समाचारो दातव्यः सधाटक इति निगदति—

आएस्सस्स तिरत्तं णियमा संधाडओ दु दादव्वो ।

सेज्जा संधारो वि य अह वि असंभोहओ होइ ॥४१५॥

'आएस्सस्स तिरत्तं' प्रापूर्वकस्य च निराशं । 'णियमा संधाडओ दु दादव्वो' निश्चयेन संधाटको दातव्य एव । 'सेज्जा संधारो वि य' वसतिः संस्तरत्तव दातव्यः । 'अह वि असंभोहओ होइ' । यद्यप्यपरी-
क्षित्वास्तहानाचरणीयो भवति । तथापि संधाटको दातव्यो भवति । युक्ताचारवत्संयुक्ते ॥४१५॥

दिनत्रयोत्तरकाल किं कार्यं गुरुणेत्यासाङ्क्यां वदति—

तेण परं अबियाणिय ण होदि संधाडओ दु दादव्वो ।

सेज्जा संधारो वि य गणिणा अवि जुत्तजोगिस्स ॥४१६॥

'तेण गणिणा' तेन गणिना । 'परं' दिनत्रयात् । 'अबियाणिय' अबिचार्यं । स्वदत्तसंधाटं यतिवचन-
भवणोत्तरकालं । नु शब्द एवकारार्थे प्रवर्तते स च दादव्वो इत्येतस्मात्परतो द्रष्टव्यः । न दातव्य एव
संधाटकः । 'सेज्जा संधारो वा' वसतिः संस्तरो वा न दातव्यः । 'जुत्तजोगिस्सवि युत्तत्रारम्यापि न

है और कैसे उसका अर्थ करता है ? अपने निवास देशसे दूर, एक हाथ आदि प्रमाण, जन्तुरहित, छिद्ररहित, सम और जिसमें किसीका विरोध नहीं, रास्ता चलते लोग जिसे देख नहीं सकते ऐसे स्थंडिल प्रदेशमें यह अपने शरीर मलको त्यागता है या इससे विपरीतमें त्यागता है यह बिहारकी परीक्षा है । भिक्षाग्रहणमें परीक्षाका मतलब है कि भ्रामरीमें यह जैसी तैसी भिक्षा ग्रहण करता है या नौ कोटिसे शुद्ध भिक्षा ग्रहण करता है ॥४१४॥

आने वाला यति गुरुके पास सविनय उपस्थित होकर निवेदन करता है कि भगवान् साहाय्य प्रदान करके भुङ्गपर अनुग्रह करें । उसके पश्चात् आचार्यको भी आचारके ज्ञाता उस आगन्तुक यतिको साहाय्य देना चाहिए । ऐसा कहते हैं—

शा०—उस आगन्तुक यतिको नियमसे तीन रात तक साहाय्य देना चाहिए । तथा रहनेको वसति और संस्तर देना चाहिए । यद्यपि अभी उसकी परीक्षा नहीं ली है इससे वह साधमे आचरण करने योग्य नहीं है फिर भी यदि उसका आचार उचित है तो उसे साहाय्य देना चाहिए ॥४१५॥

शा०—तीन दिनके पश्चात् गुरु क्या करे, यह कहते हैं—तीन दिनके पश्चात् उस आचार्यको उस यतिके बचनको सुननेके पश्चात् जो साहाय्य दिया था वह साहाय्य बिना विचारे नहीं देना चाहिए । 'दु' शब्दका अर्थ एवकार (ही) है और उसे 'दादव्वो' के आगे रखना चाहिए । अतः उसे साहाय्य नहीं ही देना चाहिए, वसति अथवा संस्तर नहीं देना चाहिए । उसका आचार उचित भी हो तो भी उसे परीक्षा किये बिना साहाय्य आदि नहीं देना चाहिए । जब युक्ताचारको

दास्यः संचाटकादिः परीक्षामन्तरेण किं गुणरितरस्येत्याशय ॥४१६॥

अविचार्यं तेन सहावस्थानेको दोषो येनैव यत्नः कियते इत्यारेकाया संघमाचटं—

उग्गमउप्पाद'णेषणासु सोधी ण विज्जदे तस्स ।

अणगारमणालोह्य दोसं संभुज्जमाणस्स ॥४१७॥

'उग्गमउप्पादणेषणासु' उद्गमोत्पादनैषणादोषपरिहारो न विद्यते तस्य गणिन । 'अणगारं' यति । 'अणालोह्य दोसं' अनालोचितदोषः । 'संभुज्जमाणस्स' समूहस्त । उद्गमादिदोषोपहृतमाहारं वर्जति, उपकरणं वा सेवते यः यतिः तेन सह संवासात् संवासानुमतिं कुर्वता नानुमतिस्त्यक्ता भवति इति ॥४१७॥

उच्चादो तद्विसं विस्सामिचा गणिसुवट्टादि ।

उद्धरिदुमणोसल्लं विदिए तदिए व दिवसम्मि ॥४१८॥

'उच्चादो' भ्रान्तः स्थित्वा । तं दिवसं आगतदिनं । 'विस्सामिचा' विश्राम्य । 'गणिसुवट्टादि' आचार्यं ढोकते । 'उद्धरिदुमणोसल्लं' उद्धरुं मनःशल्यं अतिचारं । 'विदिए तदिए व विवसम्मि' द्वितीये तृतीये वा दिने । मार्गणापुरस्तरा क्रिया सर्वा मार्गणेत्युपन्यस्ता ॥४१८॥

कीदृग्णुणं सूरिरनेनोपाश्रित इत्याचष्टे—

आयारवं च आधारवं च ववहारवं पक्कुब्बीय ।

आयावायविदंसी तहेव उप्पील्लो षेव ॥४१९॥

'आयारवं च' आधारवान् । 'आधारवं च' आभारवान् । 'ववहारवं च' व्यवहारवान् । 'पक्कुब्बीय' कर्ता । 'तहेव आयावायविदंसी' तथा आयापायदर्शनोद्यत । 'उप्पील्लो षेव' अवपाठक ॥४१९॥

भी नहीं देना चाहिए तब अन्यकी तो बात ही क्या है, यह इसका अभिप्राय है ॥४१६॥

यहाँ कोई शङ्का करता है कि बिना विचारें उसके साथ रहनेमें क्या दोष है जो इतनी सावधानी करते हैं, इसका उत्तर देते हैं—

गा०—जो यति अपने दोषोंकी आलोचना नहीं करता, तथा जो उद्गम आदि दोषोंसे दूषित आहार, वसति अथवा उपकरणका सेवन करता है, उसके साथ संवास करनेसे उस आचार्यके उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोंका परिहार रूप शुद्धि नहीं होगी। यदि वह आचार्य अन्य मुनियोंको उसके साथ रहनेकी अनुमति देता है तो भी उसकी अनुमोदनाका भागी होता है ॥४१७॥

गा०—मार्गके श्रमसे थका हुआ वह आगन्तुक मुनि अपने आनेके दिन तो विश्राम लेता है और दूसरे दिन मनमें शल्यकी तरह चुभने वाले दोषोंकी दूर करनेके लिये आचार्यके समीप जाता है। मुष्की मार्गणा अर्थात् खोज पूर्वक की जानेवाली सब क्रियाएँ मार्गणा कही जाती हैं इसलिये यहाँ उनका मार्गणारूपसे कथन किया है ॥४१८॥

गा०—वह आगन्तुक किन गुणोंसे युक्त आचार्यका आश्रय लेता है, यह कहते हैं—आचार्य, आधारवान्, व्यवहारवान्, कर्ता, तथा रत्नत्रयके लाभ और विनाश को दिखाने वाला और अवपीडक ॥४१९॥

अपरिस्ताईं पिम्बावओ य पिञ्जावओ पद्दिकिती ।

पिञ्जवणगुणोवेदो एरिसओ होदि आयरिओ ॥४२०॥

‘अपरिस्ताईं’ अपरिलायी । ‘पिम्बावओ’ निर्वापकः । ‘पद्दिकिती’ प्रथितकीतिः । ‘पिञ्जवणगुणोवेदो’ निययनगुणसमन्वितः । ‘एरिसओ होदि आयरिओ’ इन्द्रवत्याचार्यः ॥४२०॥

आचारवत्त्वव्याख्यानवागता गाथा—

आयारं पंचविहं चरदि चरावेदि जो गिरदिचारं ।

उवदिसदि य आयारं एसो आयारवं णाम ॥४२१॥

‘आवारं पंचविहं’ पञ्चप्रकारं आचारं । ‘चरदि’ विनासिचारं चरति । परं वा निरसिचारं पञ्चविधे आचारे प्रवर्तयति । ‘उवदिसदि य आयारं’ उपदिशति च आचारं । ‘एसो आयारवं णाम’ एष आचारवान्नाम । एतदुक्तं भवति—आचाराङ्गं स्वयं वेति ग्रन्थतोऽर्थतम्र, स्वयं पञ्चविधे आचारे प्रवर्तते प्रवर्तयति च । प । आचारवान् इति । पञ्चविधे स्वाध्याये वृत्तिर्ज्ञानाचारः । जीवाहितत्वश्रद्धानपरिणतिः दर्शनाचारः । हिंसाविनिवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचारः । चतुर्विधाहारत्यजनं, न्यूनभोजनं, वृत्तेः परिसंस्थान, रसानां त्यागः, कायसन्तापनं विविक्तावास इत्येवमादिकस्तपःसहित आचारः । स्वशक्त्यनिग्रहं तपसि वीर्याचारः । एते पञ्चविधा आचाराः ॥४२१॥

प्रकारान्तरेण आचारवत्त्वं कथयति—

दसविहठिदिकप्पे वा हवेज्ज जो सुद्धिदो सयायरिओ ।

आयारवं खु एसो पवयणमादासु आउचो ॥४२२॥

‘दसविहठिदिकप्पे वा’ दशविधे स्थितिकल्पे वा । ‘हवेज्ज जो सुद्धिदो सयायरिओ’ भवेद्यः सुस्थितः सदा ।

गा०—अपरिलायी, निर्वापक, निर्यापक, प्रसिद्ध कीर्तिसाली और निर्यापन गुणसे युक्त ऐसा आचार्य होता है ॥४२०॥

आगे उक्त गुणोंमेंसे आचारवत्त्व गुणका व्याख्यान करते हैं—

गा०—पाँच प्रकारके आचारका जो असिचार लगाये बिना पालन करता है तथा दूसरों को पाँच प्रकारके आचारके निरसिचार पालनमें लगाता है, और आचारका उपदेश देता है यह आचारवान् नामक गुण है ॥४२१॥

टी०—इसका अभिप्राय यह है कि ग्रन्थ रूपसे और अर्थरूपसे स्वयं आचारंगको जानता है । स्वयं पाँच प्रकारके आचारका पालन करता है और दूसरोंसे पालन कराता है इस तरह पाँच आचारवान् है । पाँच प्रकारके स्वाध्यायमें लगना ज्ञानाचार है, जीवादि तत्त्वोंके श्रद्धानरूप परिणत होना दर्शनाचार है । हिंसादिसे निवृत्ति रूप परिणति चारित्राचार है । चार प्रकारके आहारका त्याग, भूखसे कम भोजन करना, भिक्षाके लिये जाते समय गृह आदिका परिमाण करना, रसोंका त्याग, कायक्लेश, एकान्तमें निवास इत्यादि तप नामक आचार है, ‘तपमें अपनी शक्तिको न छिपाना वीर्याचार है । ये पाँच प्रकारके आचार हैं ॥४२१॥

दूसरे प्रकारसे आचारवत्त्वको कहते हैं—

गा०—जो आचार्य सदा दस प्रकारके स्थितिकल्पमें सम्यक् रूपसे स्थित है वह आचार-

‘आचारिणो’ आचार्यः । ‘आचार्यं च’ आचारवान् । ‘एते’ एव । ‘वक्ष्यन्मयावस्तु आउत्तो’ प्रवचनमातृकात्सु समितिषु गुतिषु च आयुक्तः ॥४२२॥

अभिहितकल्पनिर्देशार्था गाथा—

आचेलककुद्देसियसेज्जाहररायपिंडकिरियम्मे ।

वदजेहुपडिक्कमणे मासं पज्जोसवणकप्पो ॥४२३॥

‘आचेलककुद्देसिय’ चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षणं, तेन सकल्पपरिग्रहत्याग आचेलक्यमित्युच्यते । दशविधे धर्मे त्यागो नाम धर्मः । त्यागश्च सर्वसंगविरतिरचेलतामि मेव । तेनाचेलो यतिस्त्यागाख्ये धर्मे प्रवृत्तो भवति । अकिञ्चनाख्ये अपि धर्मे समुद्यतो भवति निष्परिग्रहः । परिग्रहात्वां ह्यारम्भप्रवृत्तिनिष्परिग्रह-स्यामन्याग्न्ये कुतोऽप्ययम् । तथा सत्येऽपि धर्मे समवस्थितो भवति । पर परिग्रहनिमित्तं व्यलीकं वदति । असति बाह्य क्षेत्रादिके अभ्यन्तरे च रागादिके परिग्रहे न निमित्तमस्त्वनृताभिधानस्य । ततो ब्रह्मज्ञेयमचेल मस्यमेव ब्रवीति । नाधर्मं च अचेलम्य भवति । अदत्तविरतिरपि संपूर्णा भवति । परिग्रहाभिलाषे सति अदत्तादायै प्रवर्तने नाप्यथेति । अपि च रागादिके त्यक्ते भावविशुद्धिमय ब्रह्मचर्यमपि विशुद्धतमं भवति । सगनिमित्तो हि क्रोधस्तदभावे चोत्तमा क्षमा व्यवतिष्ठते । सुकपोऽहमाह्य इत्यादिको दर्पस्त्यक्तो भवति अचेलेनेति मार्दव-मपि तत्र सम्निहितं । ‘अजिह्वाभावस्य स्फुटमात्मीय भावमादर्शयतो’चेलस्याजंबता च भवति मायाया मूलस्य परिग्रहस्य त्यागान् । चेलदिपरिग्रहपरित्यागपरो यस्मान् विरागभावमुपगत शब्दादिविषयेष्वसक्तो भवति ।

वान् है । वह आचार्य प्रवचनको माता समिति और गुणियोमे तत्पर रहना है ॥४२२॥

दस कल्पोंका कथन करते हैं—

शा०—आचेलक्य, औद्देशिकका त्याग, जय्या गृहका त्याग, राजपिण्डका त्याग, कृतिकर्म, व्रत, उपेक्षता, प्रतिक्रमण, मास और पर्युषणा ये दस कल्प है ॥४२३॥

टी०—चेल वस्त्रको कहते हैं । चेलका ग्रहण परिग्रहका उपलक्षण है । अतः समस्त परिग्रह के त्यागको आचेलक्य कहते हैं । दस धर्मोंमें एक त्याग नामक धर्म है । समस्त परिग्रहसे विरति को त्याग कहते हैं वही अचेलता भी है । अतः अचेल यति त्याग नामक धर्ममें प्रवृत्त होता है । जो निष्परिग्रह है वह अकिञ्चन नामक धर्ममें तत्पर होता है । परिग्रहके लिये ही आरम्भमें प्रवृत्ति होती है । जो परिग्रहका त्याग कर चुका वह आरम्भ क्यों करेगा । अतः उसके असयम कैसे हो सकता है ? तथा जो परिग्रह रहित है वह सत्य धर्ममें भी सम्यक् रूपसे स्थित होता है । क्योंकि परिग्रहके निमित्त ही दूसरेसे झूठ बोलना होता है । बाह्य परिग्रह क्षेत्र आदि और अभ्यन्तर परिग्रह रगादिके अभावमें झूठ बोलनेका कारण नहीं है । अतः बोलनेपर अचेल मुनि सत्य ही बोलता है । अचेलके लाघव भी होना है । अचेलके अदत्तका त्याग भी सम्पूर्ण होता है क्योंकि परिग्रह को इच्छा होनेपर बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण करनेमें प्रवृत्ति होती है । अन्यथा नहीं होती । तथा रागादिका त्याग होने पर भावोंकी विशुद्धि रूप ब्रह्मचर्य भी अत्यन्त विशुद्ध होता है । परिग्रहके निमित्त से क्रोध होना है । परिग्रहके अभावमें उत्तम क्षमा रहती है । मैं सुन्दर हूँ, सम्पन्न हूँ इत्यादि मद अचेलके नहीं होता अतः उसके मार्दव भी होता है । अचेल अपने भावको बिना किसी छल कपट के प्रकट करता है अतः उसके आजंब धर्म भी होता है, क्योंकि मायाके मूल परिग्रहका उसने त्याग किया है । यतः वस्त्र आदि परिग्रहके त्यागमें तत्पर मुनि विराग

सकौ विभुत्वेन श्रीटीज्जसकमवादिपरिभवाभासुरोदनात्, निश्चेत्ताम्प्रमुपगच्छता उपोषिषि घोरमनुषिर्भवति । एवमचेत्त्वोपदेयेन यद्विषयधर्मास्मान् कृतं भवति संक्षेपेण ।

अथवाग्न्या प्रकल्प्यते अचेत्तागुणप्रशंसा । संयमशुद्धिको गुणः । स्वैररजोमज्जामन्विते चले तद्योनि-
कास्तवाभवात्प्र त्रसा सूक्ष्माः स्फुरात्प्र जीवा उत्पद्यन्ते, ते बाध्यन्ते चेलशाहिणा । संसक्तं वत्तं तावत्स्वापव-
तीति चेत्तद्दि हिंसा स्यात् । विवेचने च ते त्रियन्ते तत्र संसक्तचेलवतः स्वाने, धाने, निवद्यायां, पाटने, छेदने,
बन्धने, वेष्टने, प्रक्षालने, संघट्टने, आतपप्रक्षेपणे च जीवानां वाचेति महानसंयमः । अचेत्त्वैर्बिधासंयमा-
भावात् संयमविशुद्धिः । इन्द्रियविजयो द्वितीयः । सर्पाकुले वने विद्यामन्त्रादिरहितो यथा पुमान् दुष्टप्रयत्नो भवति
एवमिन्द्रियनियमने अचेत्त्वोपि यतते । अग्न्या शरीरविकारो छज्जनीयो भवेदिति । कषायामावस्व गुणोऽ-
चेत्तायाः । स्तेनभावाद्योग्यादिरसेन लेपं कुर्वन्निगूहयित्वा कर्षचिन्मायां करोति । उष्माणेन वा स्तेनवज्जनां
कर्तुं यायात् । गुल्मबल्ल्याद्यन्तर्हितो वा स्यात् । चेलविर्ममास्तीति मानं चोद्वहते । बलात्पहरणतोऽपि सह
कलहं कुर्यात् । लाभाद्वा लोभः प्रवर्तते । इति चेलशाहिणामभी दोषाः । अचेत्तायां पुनरित्वंभूतदोषानुत्पत्तिः
ध्यानस्वाध्याययोरविघ्नता च । सूक्ष्माक्षुण्णकर्मटादिपरिमार्गजसीवनादिध्यायोपेण तयोर्विघ्नो भवति । निःसंयस्य
तथाभूतध्यायोपेयाभावात् । सूक्ष्माक्षुण्णीयु निविघ्नता, स्वाध्यायस्य ध्यानस्य च भावना । धन्यत्यागस्य गुणः ।

भावको प्राप्त होकर शब्द आदि विषयोंमें आसक्त नहीं होता । तथा परिग्रहसे मुक्त होने से शीत, उष्ण, डार, मच्छर आदि परीयहोंको सहता है । अतः वस्त्र त्यागको स्वीकार करनेसे घोर तप भी होता है । इस प्रकार अचेत्ताके उपदेशसे संक्षेपसे दस प्रकारके धर्मों का कथन होता है ।

अथवा अचेत्ता गुणकी प्रशंसा अन्य प्रकारसे कहते हैं । अचेत्तामें संयम की शुद्धि एक गुण है । पसीना, धूल और मैलसे लिप्त वस्त्रमें उसी योनि वाले और उसके आश्रयसे रहने वाले त्रस जीव तथा सूक्ष्म और स्थूल जीव उत्पन्न होते हैं, वस्त्र धारण करनेसे उनको बाधा पहुँचती है । यदि कहोगे कि ऐसे जीवोंसे संबद्ध वस्त्रको अलग कर देंगे तो उनकी हिंसा होगी, क्योंकि उन्हें अलग कर देनेसे वे वहाँ मर जायेंगे । जीवोंसे संसक्त वस्त्र धारण करने वालेके उठने, बैठने, सोने, वस्त्र को फाड़ने, काटने, बाँधने, वेष्टित करने, धोने, कूटने, और धूपमें डालने पर जीवोंको बाधा होनेसे महान् असंयम होता है । जो अचेत् है उसके इस प्रकार का असंयम न होनेसे संयम की विशुद्धि होती है । दूसरा गुण है इन्द्रियोंको जीतना । जैसे सर्पोंसे भरे जंगलमें विद्या मंत्र आदिसे रहित पुरुष दृढ़ प्रयत्न—खूब सावधान रहता है उसी प्रकार जो अचेत् होता है वह भी इन्द्रियोंको वशमें करनेका पूरा प्रयत्न करता है । ऐसा न करने पर शरीरमें विकार हुआ तो लज्जित होना पड़ता है । अचेत्ता का तीसरा गुण कषाय का अभाव है । चोरीके डरसे वस्त्रको गोबर आदिके रससे लिप्त करके छिपावेपर कथंचित् मायाचार करना होता है अथवा चोरोंको धोखा देनेके लिए कुमांगसे जाना पड़ता है या झाड़ु झंखाड़में छिपना होता है । भेरे पास वस्त्र है ऐसा अहंकार होता है । यदि कोई बलपूर्वक वस्त्र छीने तो उसके साथ कलह करता है । वस्त्रलाभ होनेसे लोभ होता है । इस प्रकार वस्त्र धारण करने वालेके ये दोष हैं । वस्त्रत्यागकर अचेत् होनेपर इस प्रकारके दोष उत्पन्न नहीं होते और ध्यान तथा स्वाध्यायमें किसी प्रकारका विघ्न नहीं होता । सुई धागा, वस्त्र आदिकी खोज तथा सीने आदिमें लगनेसे स्वाध्याय और ध्यानमें

१. मां सुरासुरोदीर्णाः सोडापचोपसर्गाः नि—आ० मु० ।

२. संसक्ता. च—आ० मु० ।

३. पास्तेनेन—मु० ।

बाह्यकेकाश्चित्प्रकारकेअभ्यन्तरपरिग्रहत्यागमूलः । यथा तुवनिराकरणमभ्यन्तरमलनिरासोपायः अनुबन्धं धान्यं नियमैः शुद्धयति । भाष्या तु ह्यसमुपस्य शुद्धिः । एवमचेलेवति नियमादेव भाष्या सचेले । वीतरागद्वेषता च गुणः । सचेले हि मनोज्ञे वस्त्रे रक्तो भवति । सुन्दर्यमनोज्ञे । बाह्यद्रव्यालम्बनो हि रागद्वेषौ तावत्सति परिग्रहे न भवतः । किं च शरीरे अनादरो गुणः शरीरगतद्वेषशून्यं हि जनोत्संयमे परिग्रहे च वर्तते । कर्षणेन तु तत्रादरस्त्यक्तः, वातातपादिनाधासहनात् । स्ववशता च गुणः देशान्तरगमनादौ सहायाप्रतीक्षणात् । पिच्छमार्यं गृहीत्वा हि स्थकलकल्पपरिग्रहः पक्षीव यातीति । सचेलेस्तु सहायपरवशः चौरभयात् भवति परवशमानसत्त्वं कर्ष संयमं पालयेत् । चेतोविशुद्धिप्रकटनं च गुणोऽचेलेतायां । कौपीनादिना प्रच्छाद्ययतो भावशुद्धिर्न ज्ञायते । निश्चैलस्य तु निश्चिकारदेहतया स्फुटा विरागता । निर्भयता च गुणः । ममेदं किमपहरन्ति चौरादयः, किं ताडयन्ति, बध्नन्तीति वा भयमुपैति सचेले नाचेलो, भयातुरो वा किं न कुर्यात् । सर्वत्र चौरभयता च गुणः । निष्परिग्रहं न किंचनापि शङ्कते । सचेलेस्तु प्रतिमार्गमायिनं अन्य वा दृष्ट्वा न तत्र विस्वासं करोति । को वेत्स्यं, किं करोति इति । अप्रतिलेखनता च गुणः । चतुर्दशविध उपाधिं वृहत्तां बहुप्रति-लेखनता न तथाचैलस्य । परिकर्मवर्जनं च गुणः । उद्वेष्टनं, मोचनं, सीवनं, बधन, रजन इत्यादिकमनेक परिकर्म

विघ्न होता है । जो निःसंय है उसके इस प्रकारकी बाधा नहीं होती । मूत्र पीरुवी और अर्ध-पीरुवीमें निर्विघ्नता रहती है तथा स्वा-भ्याय और ध्यान की भावना होती है ।

अचेलेतामें एक गुण परिग्रहका त्याग है । बाह्य वस्त्र आदि परिग्रहका त्याग अभ्यन्तर परिग्रहके त्यागका मूल है । जैसे धानके छिलकेको दूर करना उसके अभ्यन्तर मलको दूर करनेका उपाय है । जिना छिलकेका धान्य नियमसे शुद्ध होता है । किन्तु जिसपर छिलका लगा है उसकी शुद्धि नियमसे नहीं होती । इसी प्रकार जो अचेले है उसकी अभ्यन्तर शुद्धि नियमसे होती है किन्तु जो सचेले है उसको शुद्धि भाष्य है । अचेलेता में रागद्वेषका अभाव एक गुण है जो वस्त्र धारण करता है वह मनको प्रिय सुन्दर वस्त्रसे राग करता है और मनको अप्रिय वस्त्रसे द्वेष करता है । राग और द्वेष बाह्य द्रव्यके अवलम्बनसे होते हैं । परिग्रहके अभावमें राग द्वेष नहीं होते । तथा शरीरमें अनादर भी अचेलेताका गुण है । शरीरमें आदर होनेसे मनुष्य असंयम और परिग्रहमें प्रवृत्ति करता है । जो अचेले होता है उसका शरीरमें आदरभाव नहीं होता । तभी तो वह वायु घुष आदिका कष्ट सहता है । अचेलेतामें स्वाधीनता भी एक गुण है क्योंकि देशान्तर में जाने आदिमें सहायकी प्रतीक्षा नहीं करनी होती । समस्त परिग्रहका त्यागी पीछी मात्र लेकर पक्षी की तरह चल देता है । जो सचेले होता है वह सहायके परवश होता है तथा चोरके भयसे उसका मन भी परवश होता है वह संयमको कैसे पाल सकता है । तथा अचेलेतामें चित्तकी विशुद्धिको प्रकट करनेका भी गुण है । लंगोटी बगेरहसे ढाँकेनेसे भावशुद्धिका ज्ञान नहीं होता । किन्तु वस्त्र रहितके शरीरके विकार रहित होनेसे विरागता स्पष्ट दृश्यता है । अचेलेतामें निर्भयता गुण है । चोर आदि भेरा क्या हर लेंगे, क्यों वे मुझे मारेंगे या बंधेंगे । किन्तु मवस्त्र डरता है और जो डरता है वह क्या नहीं करता । सर्वत्र विस्वास भी अचेलेता का गुण है । जिसके पास कोई परिग्रह नहीं वह किसी पर भी शंका नहीं करता । किन्तु जो सवस्त्र है वह ता मार्ग में चलने वाले प्रत्येक जन पर अथवा अन्य किसी को देखकर उस पर विस्वास नहीं करता । यह कौन है क्या करता है यह शंका होती है । अचेलेतामें प्रतिलेखनाका न होना भी एक गुण है । चौदह प्रकारकी परिग्रह रखनेवालों को बहुत प्रतिलेखना करना होती है, अचेलेको वैसी प्रतिलेखना नहीं करना पड़ती । परिकर्मका नहीं होना भी एक गुण अचेलेका है । सवस्त्रको लपेटना, छोड़ना,

सचेत्स्य । स्वस्य वस्त्रप्रारणधारेः स्वय प्रक्षालनं सीवनं वा कुत्सितं कर्म, विभूषा, भूष्णं च । लाघवं च गुणः । अचेत्स्योऽन्योपाधिः स्वनासनयमनाधिकामु क्रियासु वायुवदप्रतिबद्धो लघुर्भवति नैतरः । तीर्थकराश्चरितस्य च गुणः—संहननबलसमवा मुक्तिमार्गप्रस्थापनपर जिनः सर्व एवाचेला भूता भविष्यन्तव्य । यथा शैवशिष्यपर्वतपताः प्रतिमास्तीर्थकरमार्गानुयायिनश्च गणधरा इति तेऽयचेलास्तच्छिष्याश्च तथैवैति सिद्धमचेत्स्यं । चेत्परिवेष्टिताह्नो न जिनसपुत्रः । व्युत्पुष्टप्रलम्बयुजो निश्चेत्सो जिनप्रतिरूपतां घत्ते । अनिशूढबलवीर्यता च गुणः । परीषहसहते शक्तोऽपि सचेत्सो न परीषहान्तसहते इति । एवमेतद्गुणान्नेषामावचेत्सता जिनोपादिष्टा । चेत्परिवेष्टिताङ्ग आत्मानं निर्ग्रन्थं यो वचेत्स्य किमपरे पाषण्डिनो न निर्ग्रन्थाः ? वयमेव न ते निर्ग्रन्था इति बाह्मात्रं नास्ति यते मध्यस्थैः । इत्थं चेत्सो दोषा अचेत्सतायां वा अपरिमिता गुणा इति अचेत्सता स्थितिकल्पनोक्तम् ।

अर्थं च मन्यते पूर्वागमेषु वस्त्रपानादिवह्नयुपादिष्टम् । तथा ह्याचारप्रणियो भगितं—‘पडिलेके पात्र-कंबलं तु शुभचिह्नं । असत्सु पात्राविभु कथं प्रतिलेखना श्रुयं क्रियते ।’ आचारस्यापि द्वितीयाध्यायो लोक-विचयो नाम, तस्य पञ्चमे उद्देशे एवमुक्तं—‘पडिलेहृषं पात्रपुच्छं, उग्राह, कडासत्तं, अन्नदरं

सीना, बाँधना, रगना इत्यादि अनेक परिकर्म करने होते हैं । अपने वस्त्र, ओढने वगैरह को स्वयं धोना, सीना ये कुत्सित कर्म तथा शरीरको भूषित करना ममत्व आदि परिकर्म करने होते हैं । लाघव गुण भी अचेत्सतामें है । अचेत्सके पास थोड़ा परिग्रह होता है । उठना बैठना जाना आदि क्रियाओमें वह वायुका तरह बेरोक और लघु होता है, सब्बत्र ऐसा नहीं होता । तीर्थकरोंके मार्ग का आचरण क'ना भी अचेत्सताका गुण है । संहनन और बलसे पूर्ण तथा मुक्तिके मार्गका उपदेश देनेमें तत्पर सभी तीर्थकर अचेत्स ये तथा मविष्यमं भी अचेत्स ही होंगे । जैसे मेरु आदि पर्वतों पर विराजमान जिन प्रतिमा और तीर्थकरोंके मार्गके अनुयायी गणधर भी अचेत्स होते हैं । उनके शिष्य भी उन्हीं की तरह अचेत्स होते हैं । इस प्रकार अचेत्सता सिद्ध होती है । जिसका शरीर वस्त्रसे वेष्टित है वह तीर्थकरके समान नहीं है । जो दोनों भुजाओंको लटका कर खड़ा है और वस्त्र रहित है वह जिनके समान रूपका धारी होता है । अपने बल और वीर्यको न छिपाना भी अचेत्सताका गुण है । सब्बत्र परीषहोको सहनेमें समर्थ होते हुए भी परीषहों को नहीं सहता । इस प्रकार उक्त गुणोंके कारण अचेत्सता जिनदेवके द्वारा कही गई है । जो अपने शरीरको वस्त्रसे वेष्टित करके अपनेको निर्ग्रन्थ कहता है उसके अनुसार अन्य मतानुयायी साधु निर्ग्रन्थ क्यों नहीं हैं । हम ही निर्ग्रन्थ हैं वे निर्ग्रन्थ नहीं हैं यह तो कहना मात्र है । मध्यस्थ पुरुष इसे नहीं मानते । इस प्रकार वस्त्रमें दोष और अचेत्सतामें अपरिमित गुण होनेसे अचेत्सताको स्थितिकल्पनसे कहा है ।

यदि आप मानते हैं कि पूर्व आगमोंमें वस्त्र पात्र आदिके ग्रहणका उपदेश है । जैसे आचार प्रणयिमें कहा है—‘पात्र और कंबलकी प्रतिलेखना अवश्य करना चाहिये ।’ यदि पात्रादि नहीं होते तो उनकी प्रतिलेखना आवश्यक कैसे की जाती । आचारांगका भी दूसरा अध्याय लोक विचय नामक है । उसके पाँचवें उद्देशमें कहा है—‘प्रतिलेखना, पैर पूँछना, उग्राह (एक उपकरण),

१. प्रतिलेखे-शु० ।

२. ‘वत्थं पडिगहं कंबलं पायपुच्छं उग्राहयं च कडासत्तं एएसु चैव जाणिज्जा’ 1-आचा० २।५।१०।

कथयिष्यामि इति । तथा चार्धसप्ताए वृत्त 'तस्य एते हिरण्ये सेनं चार्धं वा धारैश्च पडिलेहृणगं विविधं, तस्य एते क्षुण्णि वेसे वृषे वस्त्राणि धारिष्ण पडिलेहृणगं तवियं । तस्य एते परिस्वहं अणायहाःसएस (अणयिहवसएस) क्करो वस्त्राणि धारिष्ण पडिलेहृणगं चउस्व ।' तथा पादेसणाए कथितं 'हिरण्ये वा क्षुण्णिवे वारि अण्णवे वा क्कस्स चं क्कपडि वस्त्राणि पादधारिसए इति' । पुनश्चोक्तं तर्धव—'अलामुपत्तं वा, वायणपस वा मट्टियवत्तं वा अण्णवपत्तं, अण्णवीजं अण्णसरिहं तथा अण्णकार पात्रलाभे सति पडिग्गहिस्सामीति' । वस्त्रपात्रे यदि न षड्भे कथमेवानि सूत्राणि नीयन्ते । भावनाया चोपत्तं—'वरिस बोधरधारि सेन परमवेल्ले तु जिणे' इति । तथा सूत्रकृतस्य पुंढरीके अध्याये कथितं 'ण कहेण्णो षड्मकह वस्त्रपसाविहेपुमिति ।

लिसेधेयुपत्तं—'कसिणाइ^३ वस्त्रकवलाइ जो भिक्खु पडिग्गहिहि आपज्जवि भासिय लहुण' इति । एवं सूत्रनिधिष्टे चले अचेलता कथ इत्यत्रोच्यते—आयिकाणामागमे अनुज्ञात वस्त्रं कारणापेक्षया । भिक्षुणां हीमामयोग्य शरीरावयवो दुष्कर्माभिलम्बमाननवीजो वा परीषहसहने वा अक्षम स गृह्णाति ।

कटासन (चटाई) इनमेंसे कोई एक उपधि पाता है । तथा वस्त्रेषणामें कहा है—'जो लज्जाशील हो वह एक वस्त्र धारण करे, दूसरा प्रतिलेखना । देश विशेषमें दो वस्त्र धारण करे, तीसरा प्रतिलेखना धारण करे । जो परीषह सहनेमें असमर्थ हो वह तीन वस्त्र और चतुर्थ प्रतिलेखना धारण करे ।'

तथा पात्रेषणामें कहा है—'जो लज्जाशील आदि है और पादचारी है उसके लिये वस्त्रादि योग्य हैं ।' पुनः उसीमें कहा है—

'सूम्बीका पात्र, लकडीका पात्र अथवा मिट्टीका पात्र, पात्रलाभ होनेपर ग्रहण करहैगा जो अल्पबीज आदि हो ।

यदि वस्त्र पात्र ग्रहण करने योग्य न होते तो ये सूत्र कैसे होते ? भावनामें कहा है— भगवान् जिनने एक वर्ष तक देव दूष्य वस्त्र धारण किया । उसके पश्चान् अचेलक (निर्वस्त्र) रहे । तथा सूत्र कृतांगके पुण्डरीक अध्यायनमें कहा है—'वस्त्र पात्र आदिको प्राप्तिके लिये धर्मकथा नहीं कहनी चाहिये ।' निशोष सूत्रमें कहा है—'जो भिक्षु पूर्ण वस्त्र कम्बल ग्रहण करता है वह मासिक लघु प्रायश्चित्त के योग्य है ।' इस प्रकार सूत्र ग्रन्थोंमें चेलका निर्देग होत हुए अचेलना कैसे संभव है ?

इसका उत्तर देते हैं—कारणकी अपेक्षा आयिकाओंको आगममें वस्त्रको अनुज्ञा है । भिक्षुओंमेंसे यदि किसीके शरीरका अवयव लज्जा योग्य हो, अथवा लिंगके मुँह पर चर्म न हो या अण्डकोष लम्बे हों, अथवा परीषह सहनेमें असमर्थ हो तो वह वस्त्र ग्रहण करता है । आचारांग में कहा है—

'आयुष्मान्' मेंने सुना, भगवान्ने ऐसा कहा । यहाँ संयमके अभिमुख स्त्री पुरुष दो प्रकार के होते हैं—एक सर्वश्रमणागत, एक नो सर्वश्रमणागत । उनमेंसे जो सर्वश्रमणागत, स्थिर अंग हाथ-पैरवाले तथा सब इन्द्रियोंसे पूर्ण होते हैं उनको एक भी वस्त्र धारण करना योग्य नहीं है केवल एक पीछी रखते हैं । तथा कल्प सूत्रमें कहा है—'लज्जाके कारण और शरीरके अगके कानियुक्त होने पर तथा परीषहोंको सहनेमें असमर्थ होने पर वस्त्र धारण करे ।'

१. बडेसणाए अ० वा० । २. जुग्गिदे दे-मु० ।

३. जे भिक्खुकसिणाई वत्थाइं चरेइं चरेतं वा सातिज्जति ॥—निसीधसू० १।२३ ।

तथा बोधतमाचारानि 'सुखं च आरुक्स्ततो भगवता एवमपकारं । इह कस्य संवन्निमुखा बुधिया इत्येतु रिक्तं ध्यात्' अर्थति । तं बाधा-सम्बन्धसम्बन्धे गीतसमापये चैव । 'तत्त्व ज्ञे सन्धसम्बन्धे विद्यामहत्त्वसापिपक्षे सम्बन्धितसम्बन्धान्धे तस्य ज्ञे गो कल्पति एतन्नि बन्ध कारितं एव' परिहितं एव अण्यत्त्व एवमे पक्षिलेहमेव इति' । तथा बोधतं कल्पे—'हिरीरहेषुक्तं च होइ वेष्टुगुं इति हेहे क्षुमिबन्धे । वारुक्त्वा तिया अत्वं परिस्तहार्णं च न चिहृत्सीति (बसहर्ह)''

द्वितीयमपि सूत्र कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहणमित्यस्य प्रसाधकं आचारे विद्यते—'अहं पुण एव जाणेष्ण उपासिकन्ते हेमन्तेहि सुपडिबन्धे से अथापडिबुष्णमुबन्धि पडि ट्ठोबेष्ण' इति । हिमसमये शीतवाधासह परिगृह्य चेलं तस्मिन्निष्कान्ते शीष्मे समायाते प्रतिष्ठापयेदिति कारणापेक्ष ग्रहणमाख्यात । परिजीर्णविशेषोपादानाद्दुःखानामपरित्याग इति चेत् अचेलतावचनेन विरोध' । प्रजालमाधिकसंस्कारविरहात्परिजीर्णता वस्त्रस्य कथिता न तु युक्त्य (स्या) त्यागकथनार्थं । पात्रप्रतिष्ठापना सूत्रेणोक्तैति संयमार्थं पात्रग्रहण सिध्यति इति मन्यते नैव, अचेलता नाम परिग्रहत्यागः पात्रं च परिग्रह इति तस्यापि त्याग सिद्ध एवेति । तस्मात्कारणापेक्षं वस्त्रपात्रग्रहणं । यदुपकरणं गृह्यते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहणविधिः गृहीतस्य च परिहरणमवश्यं वक्तव्यम् । तस्माद्दस्त्रं पात्रं यार्थाधिकारमपेक्ष्य सूत्रेषु बहुषु यदुक्तं तत्कारणमपेक्ष्य निदिष्टमिति ग्राह्यम् । यच्च भावनायामुक्त-विरसं वीरवचारी तेन वरनेचल्लो जिवीति ।—तदुक्तं विप्रतिपत्तिबहुलत्वात् । कथं ? केचिद्भवन्ति 'तस्मिन्नेव दिने तद्वस्त्रं वीरजिमस्य विलम्बनकारिणा गृहीतमिति' । अन्ये 'वष्मासाच्छिन्नं तत्कण्टकाशाधिभिरिति' । 'साधिकेन

आचारांगमं दूसरा सूत्र भी कारणकी अपेक्षा वस्त्र ग्रहणका साधक है—

'यदि ऐसा जाने हेमन्त वीत गया, शीष्म ऋतु आ गई और वस्त्र जीर्ण नहीं हुआ तो स्थापित कर दे ।' अर्थात् ठंडके समय शीतकी बाधा न सहने पर वस्त्र ग्रहण कर ले । उसके चले जाने पर और शीष्मके आनेपर वस्त्रको कहीं रख दे । इस प्रकार कारणकी अपेक्षा वस्त्रका ग्रहण कहा है ।

शङ्का—जीर्ण विशेषण देनेसे हड़ वस्त्र ही तो न छोडे ?

समाधान—तब तो अचेलता कथनके साथ विरोध आता है । धोना आदि संस्कार न किये जानेसे वस्त्रको जीर्ण कहा है, मजबूत वस्त्रका त्याग न करनेके लिए नहीं कहा ।

शङ्का—सूत्रके द्वारा पात्रकी प्रतिष्ठापना कही है । अतः संयमके लिए पात्रका ग्रहण सिद्ध होता है ?

समाधान—नहीं, अचेलताका अर्थ है परिग्रहका त्याग । और पात्र परिग्रह है अतः उसका भी त्याग सिद्ध ही है । अतः कारणकी अपेक्षा वस्त्र पात्रका ग्रहण कहा है । और जो उपकरण कारणकी अपेक्षा ग्रहण किया जाता है उसके ग्रहण ग्रहणकी विधि और गृहीत उपकरणका त्याग अवश्य कहना ही चाहिए । इसलिए बहुतसे (श्वेताम्बरीय) सूत्रोंमें जो यार्थाधिकारकी अपेक्षा वस्त्र पात्रका कथन किया है वह कारण विशेषकी अपेक्षा कहा है—ऐसा ग्रहण करना चाहिये ।

और जो भावनामें कहा है कि 'जिन एक वर्षतक वस्त्रधारी रहे उसके बाद अचेलक रहे ।' उसमें बहुत विवाद हैं । कोई कहते हैं कि उसी दिन वह वस्त्र वीर भगवान्के किसी व्यक्तिने ले लिया था । दूसरोंका कहना है कि वह वस्त्र छह मासमें कटि शाखा आदिसे छिन्न हो गया ।

१. आधा आ० मु० । २. 'अहं पुण एव जाणिज्जा-उवाइक्कन्ते हेमन्ते गिन्हे पडिबन्धे, अहापरिजुन्नाहं । बत्वाइ परिट्ठविज्जा'—आचारा० ७।४।२०९ ।

वर्षेण तद्वत्वं अङ्गलकब्राह्मणेन वृहीतमिति केचिस्कथयन्ति । केचिद्वातेन पतितमुपेक्षितं जिनेनेति । अपरे वदन्ति 'विष्णुमन्वाराणि जिनस्य स्कन्धे तदारोपितमिति' । एव विप्रतिपत्तिबाहुल्यान्म दूषयते तत्त्वं । सचेललिङ्ग-प्रकटनार्थं यदि चेलग्रहणं जिनस्य कर्त्तव्यं तद्विनाश इष्टः । सदा तद्वारयितव्यम् । किं च यदि नश्यतीति ज्ञातं निरर्थकं तस्य ग्रहणं । यदि न ज्ञातमज्ञानमस्य प्राप्नोति । अपि च चेलप्रज्ञापना बाष्पिता चेत् 'आचेल'क्यो धम्मो पुरिमचरिणाम्" इति वचो मिथ्या भवेत् । तथा नवस्थाने यदुक्तं 'यथाहमचेली तथा होउ पच्छिमो इदि होमचरिणस्स' तेनापि विरोधः । किं च जिानामितरेषा वस्त्रत्यागकाल वीरजिनस्येव किं न निदिपयते, यदि वस्त्रं तेषामपि भवेत् । एवं तु युक्तं वक्तु 'सर्वत्यागं कृत्वा स्थिते जिने केनचि' वस वस्त्र निक्षिप्तं उपसर्गः स इति ।

इवं आचेलताप्रसाधनपरं शीतदशमशकतृणस्पर्शपरीषहसहनवचनं परीषहसूत्रेषु । न हि सचेलं शीतावयो वाचन्ते । इमानि च सूत्राणि अचेलतां दर्शयन्ति—

'परिषत्सेषु वत्सेषु च पुणो चेलमाविए ।' अचेलपवरे भिषसू जिणकवधरे सदा ॥

सचेलमो सुखी भवति असुखी वाचि अचेलमो । अहं तो सचेलो होक्खामि इदि भिषसू च चितए ॥

कोई कहते हैं कि एक वर्षसे कुछ अधिक होने पर उस वस्त्रको खडलक नामके ब्राह्मणने ले लिया था । कुछ कहते हैं कि हवासे वह वस्त्र गिर गया और जिनदेवने उसकी उपेक्षा कर दी । अन्य कहते हैं कि उस पुरुषने उस वस्त्रको वीर भगवान्के कन्धेपर रख दिया । इस प्रकार बहुत विवाद होनेसे इसमें कुछ तत्त्व दिखाई नहीं देता । यदि वीर भगवान्ने सवस्त्र वेध प्रकट करनेके लिए वस्त्र ग्रहण किया था तो उसका विनाश इष्ट कैम हुआ । सदा उस वस्त्रको धारण करना चाहिये था । तथा यह वस्त्र विनष्ट होने वाला है ऐसा उन्हे ज्ञात था तो उसका ग्रहण निरर्थक था । यदि उन्हे यह ज्ञात नहीं था तो वीर भगवान् अज्ञानी ठहरने हैं । तथा यदि चेलप्रज्ञापना इष्ट थी तो 'प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करका धर्म अचेल था' यह वचन मिथ्या ठहरता है । तथा नव स्थानमें कहा है—'जैमे मै अचेल हुआ वैसे ही अन्तिम तीर्थङ्कर अचेल होंगे ।' उससे भी विरोध आता है । तथा अन्य तीर्थङ्करोंने भी वस्त्र धारण किया था तो वीर भगवान् की तरह उनका भी वस्त्र त्यागनेके कालका निर्देश क्यों नहीं है ? इसलिए ऐसा कहना युक्त है कि जब वीर भगवान् सर्वस्व त्याग कर ध्यानमें लीन हुए तो किसीने उनके कन्धे पर वस्त्र रख दिया । यह तो उपसर्ग हुआ ।

परीषहोंका कथन करनेवाले सूत्रोंमें जो शीत, ढास-मच्छर, तृणस्पर्श परीषहोंके सहनेका कथन है वह अचेलताको सिद्ध करता है । वस्त्रधारोको शीत आदि बाधा नहीं पहुँचाते । तथा ये सूत्र भी अचेलताको बतलाते हैं—'वरत्रोंका त्याग कर देने पर भिक्षु पुनः वस्त्र ग्रहण नहीं करता । सदा भिक्षु अचेल होकर जिनरूपको धारण करता है । भिक्षु ऐसा विचार नहीं करता कि सवस्त्र सुखी होता है और अवस्त्र दुःखी होता है इसलिए मैं वस्त्र धारण करूँगा ।' वस्त्र रहित साधुको कभी शीत मताता है तो वह धामकी चिन्ता नहीं करता, आलस त्याग सहन करता है । मेरे

१. 'आचेलको धम्मो पुरिमस्य पच्छिमस्स य जिणस्स ।' वु, कल्पम् भा० गा० ६३६९ ।

२. इत्वं वस्तु नि-आ० मु० ।

अथैतन्न समूहस्त (स्त समूहस्त) शीर्षं भवति एवम् ।
 यज्ञस्य ते चिन्तितोऽथो अथितिकम् अलाइतो (?) ॥
 य ये विचारणं अथि च्छाद्वं ता य च्छिअदि ।
 अथं तावन्धि सेचानि इति चिन्तयू य चित्तए ॥
 अथेकमान्य समूहस्त संभवस्त इवत्तित्तयो ।
 तन्नेतु अस्तनायस्त अं ते होदि विराचिदो ॥
 एतेण ताव कन्वेच संयुद्धंनतिभंसित ।
 संसाचाए ओ संपत्तिद्धं किर्मगं युध दीहकन्वेहि ॥

एताम्बुतराभ्ययने—

आचेलकयो य ओ यन्तो ओ वागं सपत्तरो ।
 देसिदो बद्धमानेन पासेच अ यहुत्पया ॥
 एयधम्मे पवसाय बुविवा तिमकण्यया ।
 उयधंसि पविदुययम्हं संसवमनवा ॥

इति अथनाम्बरमतीर्षस्यापि अचेलता सिद्धयति ।

कन्वेस्त य मुंउस्त य दीहलोमनहास्त य ।
 वेदुवाओ चिरस्तस्त कि विभूता करिस्तसि ॥

इति दशवैकालिकायामुक्तं । एवमाचेलक्यं स्थितिकल्पः ।

अथनागुद्दिश्य कृतं नकादिकं उद्देशिगमित्युच्यते । तच्च बोद्धव्यं भाषाकर्माधिकल्पेन । तत्परि-
 हारो द्वितीयः स्थितिकल्पः । तथा चोक्तं कल्पे—

सौलसविद्यमुद्देशं अन्वेचन्वति दुरिजपरिमाणं ।
 सित्पनराच तित्त्वे ठिबिकम्पो होवि विधिओ हु ॥

सेज्जाधरकम्बेन ययो अभ्यन्ते वसति यः करोति । कृता वा वसति परेण अन्नां पतिर्तकदेवां वा

पास शीत दूर करनेका कोई साधन नहीं है न कोई छाजन ही है । मैं आगका सेवन करूँ ऐसा भिक्षु विचार नहीं करता । जो तपस्वी अचेल होनेसे भारमुक्त है वह संयमकी विराचना नहीं करता । उत्तराध्ययन सूत्रमें किसी गौतमसे प्रश्न करता है—जो यज्ञ वर्धमान भगवान् अचेलक धर्म कहा है और भगवान् पादर्वने 'सान्तरोत्तर' धर्म कहा है । एक ही धर्मके मानने वालोंमें दो प्रकारके लिंगकी कल्पनासे मैं संशयमें पड़ा हूँ । इस कथनसे अन्तिम तीर्थकी भी अचेलता सिद्ध होती है ।

दशवैकालिक सूत्रमें कहा है—नग्न, मुण्डित और दीर्घ नख और रोम वाले तथा मेषुनसे विरक्त साधुको आभूषणसे क्या प्रयोजन है । इस प्रकार आचेलक्य स्थितिकल्प है ।

२. अमर्णोकि उद्देशसे बनाये गये भोजनादिको औद्देशिक कहते हैं । अथःकर्म आदिके मेव-
 से उसके सोलह प्रकार हैं । उसका त्याग दूसरा स्थितिकल्प है । कल्पमें कहा है—प्रथम और अन्तिम तीर्थकरके तीर्थमें सोलह प्रकारका उद्दिष्ट छोड़ने योग्य है । यह दूसरा स्थितिकल्प है ।

३. 'शम्याधर' शब्दसे तीन कहे जाते हैं—जो वसति बनाता है, दूसरेके द्वारा बनाई गई

संस्कारोपि, यदि वा न करोति न संस्कारयति केवलं प्रयच्छत्यवास्वेति । एतेषां पिण्डो नामाहारः, उपकरणं वा प्रतिलेखनादिकं शय्याधरपिण्डस्तस्य परिहरणं तृतीयः स्थितिकल्पः । सति शय्याधरपिण्डग्रहणं प्रच्छन्नमयं योजयैवाहारपिकं । धर्मफललोभाद्यो वा आहारं दातुमश्रमो दरिद्रो लुब्धो वा न चासौ वसति प्रयच्छेत् । सति वसती आहाराधाने लोको वा निन्दति-स्थिता वसतावस्य^१ यतयो न चानेन मन्दभाष्येन तेषां आहारो वसति इति । यतेः स्नेहः स्वाद्याहारं वसति च प्रयच्छति तस्मिन् बहूपकारितया । तल्पिण्डग्रहणं तु नोकदोषसंस्पर्शः ।

राजपिण्डग्रहणं चतुर्थः स्थितिकल्पः । राजशब्देन इक्ष्वाकुप्रभृतिकुले जाताः । राजते प्रकृतिं रञ्जयति इति वा राजा राजसवृषो महद्भिको भण्यते । तस्य पिण्डः तत्त्वामिको राजपिण्डः । स त्रिविधो भवति । आहारः, अनाहारः, उपधिरिति । तनाहारसचतुर्विधो अशनादिभेदेन । तुण्यफलकपीठादिः अनाहारः, उपधिरिति प्रतिलेखन वस्त्रं पार्श्वं वा । एवंभूतस्य राजपिण्डस्य ग्रहणं को दोष इति चेत् अत्रोच्यते—द्विविधा दोषा आत्म-समुत्था. परकृताश्चेति । द्विविधा परसमुत्थाः मनुजतिर्यकृतविकल्पेनेति । तिर्यकृता द्विविधा भ्रामारण्यपशु-भेदात् । ते द्विप्रकारा अपि द्विभेदा दुष्टा भद्राश्चेति । हया, गजा, गावो, महिषा, मेष्ट्राः, स्वानश्च ग्राम्याः दुष्टाः ।

वसतिको टूटेन पर या उसका एक हिस्सा गिर जाने पर जो उसकी मरम्मत कराता है, जो न करता है न मरम्मत कराता है केवल देता है कि गहाँ ठहरिये । उनका पिण्ड अर्थात् भोजन, उपकरण अथवा प्रतिलेखना आदि शय्याधर पिण्ड कहाता है । उसका त्याग तीसरा स्थितिकल्प है । शय्याधरका पिण्ड ग्रहण करने पर वह धर्मके फलके लोभसे छिपाकर आहार आदिकी योजना कर सकता है । अथवा जो दरिद्र या लोभो होनेसे आहार देनेमें असमर्थ है वह ठहरनेका स्थान नहीं देगा क्योंकि वसतिमे ठहराकर आहार न देने पर लोक मेरी निन्दा करेगे कि इसकी वसतिमे यतिगण ठहरे और इस अभागने उन्हें आहार नहीं दिया । तथा आहार और वसति देने वाले पर यतिका स्नेह हो सकता है कि इसने हमारा बहुत उपकार किया है । किन्तु शय्याधरका आहार ग्रहण न करने पर उक्त दोष नहीं होते । ४ राजपिण्डका ग्रहण न करना चतुर्थ स्थितिकल्प है । राज शब्दसे इक्ष्वाकु आदि कुलमें उत्पन्न हुआका ग्रहण किया जाता है । जो 'राजते' शोभित होता है या जनताका रंजन करता है वः राजा है । राजाके समान सम्पत्तिशाली भी राजा कहलाता है । उसका पिण्ड अर्थात् जिस पिण्डका वह स्वामी होता है, वह राजपिण्ड है । उसके तीन भेद हैं—आहार, अनाहार और उपधि । अशन आदिके भेदसे आहारके चार भेद हैं । तुणोंका फलक, आसन आदि अनाहार है । प्रतिलेखन, वस्त्र पात्रको उपधि कहते हैं ।

शङ्का—इस प्रकारके राजपिण्डके लेनेमें क्या दोष है ?

समाधान—दो प्रकारके दोष हैं एक आत्मसमुत्थ-स्वयं किया, और दूसरा परसमुत्थ । परसमुत्थके दो भेद हैं—एक मनुष्यकृत और एक तिर्यककृत । तिर्यककृतके दो भेद हैं—एक भ्रामोण पशुके द्वारा किया गया और एक जगली पशुके द्वारा किया गया । इन दोनों प्रकारके भी दो भेद हैं—दुष्टके द्वारा और भद्रके द्वारा किया गया । गाँवके घोड़े, हाथी, गाय, भैंस, मेढे, कुत्ते दुष्ट होते हैं । दुष्टोंसे संयमियोंका उपघात होता है । भद्र हुए तो संयमीको देखकर भागने पर गिरकर

१. पिण्डधर-अ० आ० ।

२. फलेभाषे वा-अ० । फलेभोषो वा-आ० ।

३. वसतावसना वस-अ० । वसत्यवसत्यवसाधते-आ० ।

४. वा राजा सदृशः अ० ।

दुष्टैः संवतोपधातः । भद्राः पलायमानाः स्वर्बं दुःखिताः पातेन अनिघातेन वा व्रतिनो मारयन्ति वा धावन्तीत्युक्तं ।
 ह्यनाधिपराः शानिनः । आरभ्यकास्तु व्याघ्ररूप्यान्वहीपिनो, वानरा वा राजगृहे मन्थनमुक्तं यदि क्षुद्रस्तत् क्षाल्य
 विपत्तिर्नद्रावनेतत्पकायने पूर्वबोधः । मनुष्यास्तु ईश्वराः तन्वरा म्लेच्छाः, भटाः, प्रेम्णाः, दासाः शस्त्राः, इत्या-
 दिकाः । तीराकुलत्वात् दुःप्रवेशनं राजगृहं प्रविशन्तं मराः, प्रमसाः, प्रभुविताप्य दासादयः उपहसन्ति, आक्रोशयन्ति
 वारयन्ति उल्लङ्घयन्ति वा । अवच्छा याः स्त्रियो मैथुनसंज्ञया बाध्यमानाः पुत्राधिप्यो वा बलात्स्वगृहं प्रवेश-
 यन्ति भोगार्थम् । विप्रकीर्णं रत्नसुवर्णादिकं परे गृहीत्वा अत्र संघटा आयाता इति दोषमप्यारोपयन्ति । राजा
 विवस्वतः श्रमणेषु इति श्रमणरूपं गृहीत्वागस्य दुष्टाः खलीकुर्वन्ति । ततो ष्टा अविवेकिनः दूषयन्ति श्रमणान्पा-
 रयन्ति बध्नन्ति । वा एते परसमुद्भवा बोधाः । आत्मसमुद्भवास्तुच्यन्ते । राजकुले आहारं न शोषयति अदृष्ट-
 माहृतं च गृह्णाति । विकृतिसेवनादिनालोचनः, मन्थभाग्यो वा दृष्टवानर्घ्यं रत्नादिकं गृहीत्याङ्गमलोचना
 वा 'दुःकृपाः समवलोचनानुरक्ततासु भवेत् । ता विभ्रूति, अन्तःपुराणि, पण्याङ्गना वा विलोक्य निदानं कुर्यात् ।
 इति दोषसंभवो यत्र तत्र राजपिण्डग्रहणप्रतिषेधो न सर्वत्र प्रकल्प्यते । रत्नानां^१ राजपिण्डोऽपि दुर्लभं इयम् ।
 अगाढकारणे वा श्रुतस्य व्यवच्छेदो मामूक्तिः ।

चरण-वेनापि विनयो गुरुणा महतराणां शुभ्रया च कर्तव्येति पञ्चमः कृतिकर्मसञ्ज्ञितः स्थितिकल्पः ।

या चोट खाकर स्वयं दुःखी होते हैं अथवा दौड़ते हुए व्रतियोंको मारते हैं । जगलके रहने वाले
 व्याघ्र, सिंह, बन्दर यदि राजाके आँगनमें खुले घूमते हो और क्षुद्र हो तो उनसे अपने पर विपत्ति
 आ सकती है । यदि भद्र हुए तो यतिको देखकर दौड़ने पर स्वयं चोट खा सकते है या यतियोंको
 चोट पहुँचा सकते हैं । मनुष्य स्वामी, कोतवाल, म्लेच्छ, योद्धा, सेवक दास दासी आदि अनेक
 है । राजाका घर इन सबसे भरा होनेसे उसमें प्रवेश करना कठिन है । मत्त, प्रमत्त, और हर्षसे
 उत्फुल्ल दास आदि यतिको देखकर हँसते हैं, चिल्लाते हैं, रोकते हैं, अवज्ञा करते हैं । कामसे
 पीडित स्त्रियां अथवा पुत्र प्राप्तिकी इच्छुक स्त्रियां बलपूर्वक भोगके लिए साधुको अपने घरमें ले
 जाती हैं । राजगृहमें पड़े हुए रत्न सुवर्ण आदिको दूसरें ग्रहण करके यह दोष लगा सकते है कि
 यहाँ साधु आये थे । राजाका श्रमणो पर विश्वास है ऐसा जानकर दुष्ट लोग श्रमणका रूप रख-
 कर दुष्ट काम कर सकते हैं । तब रुष्ट होकर अविवेकी पुरुष श्रमणोको दोष देते हैं, उन्हें मारते
 और बाँधते हैं । ये परसे उत्पन्न हुए दोष हैं ।

अब आत्मासे हुए दोष कहते हैं—राजकुलमें आहारका शोधन नहीं होता, बिना देखा और
 छीना हुआ आहार ग्रहण करना होता है । सवोष आहार लेनेसे इगाल दोष होता है । कोई
 अभागा साधु ब्रह्ममूष्य रत्नादि देखकर उठा सकता है अथवा सुन्दर स्त्रियोंको देखकर उनपर
 अनुरक्त हो सकता है । उस विभ्रूति, अन्तःपुर और बाजारू स्त्रियोंको देखकर निदान कर सकता
 है कि मुझे भी ये वस्तुएँ प्राप्त हों । इस प्रकारके दोष जहाँ सम्व हों वहाँ राजाका आहार नहीं
 लेना चाहिए । सर्वत्र लेनेका निषेध नहीं है । रोगीके लिए राजपिण्ड भी दुर्लभ होता है । अथवा
 कोई ऐसा कारण उपस्थित हो कि साधुका मरण बिना भोजनके होता हो और साधुके मरनेसे
 श्रुतका विच्छेद होता हो तो राजपिण्ड ले सकते है कि श्रुतका विच्छेद न हो ।

५ चारित्र्यमें स्थित साधुके द्वारा भी महान् गुरुओंकी विनय सेवा करना पाँचवा कृतिकर्म
 नामक स्थितिकल्प है ।

१. वानुक्या. आ० मु० । २. गीतायें-आ० ।

आसन्नोन्मिक्तमस्य वासस्थानि नियमेन व्रतानि इति वृष्टं स्थितिकल्पः । अचेलतायां स्थितः उद्दे-
क्षिकराजपिण्डपरिहरणोद्यतः गुरुमन्त्रिद्विभोतो व्रतारोपणाहो भवति । उक्तं च—

आचेलकके व ठिबो जहैसाबी व परिहरवि बोसे ।
वृत्तमत्तिको धिगीओ होवी बबानं सवा अरिहो ॥ []

इति व्रतदानक्रमोऽयं स्वयमासीनेषु गुरुषु, अभिमुख^१ स्थिताभ्यो विरतिभ्यः, श्रावकश्राविकावर्गय च
व्रतं पथच्छेत् । स्वयं स्थित सूरि स्ववामे देशे स्थिताय विरताय व्रतानि वधात् । उक्तं च—

विरवी सत्ववर्णं च गिबिहुं ठविय तं च सपडिमुषी ।
विरव च ठिबो बाये ठवियं गणिवो उपदृठाषो उबदठवेण्ण ॥ []

इति ज्ञान्वा श्रद्धाय पापेभ्यो विरमण व्रत वृत्तिकरण छादनं संवरो विरतिरत्येकार्थाः । उक्तं च—

गाऊण अबुबेच्छव पाबाण विरमणं बह होई ।
विधिकरणं छावण सवरो विरविति एगहुो ॥ []

इति । आद्यपाश्चात्यतीर्थयो रात्रिभोजनविरमणवच्छानि पांच महाव्रतानि । तत्र प्राणवियोगकरणं
प्राणिनः प्रमत्तयोगात्प्राणवधस्ततः विरतिरहिंसाव्रत । व्यलीकभाषणेन दुःखं प्रतिपद्यन्ते जीवाः इति मत्वा
दयावतो यत्सत्याभिधानं तद्वितीयं व्रत । ममेदमिति मकल्पोपनोतद्रव्यवियोगे दुःखिता भवन्ति इति तद्दमया

६ जीवोके भेद-प्रभेदोको जानने वालेको ही नियमसे व्रत दना चाहिए । यह छठा स्थिति-
कल्प है । जो अचेलतामें स्थित हो, उद्दिष्ट और राजपिण्डका त्याग करनेमें तत्पर हो, गुरुकी
भक्ति करने वाला हो, विनयी हो, वही व्रत देनेके योग्य होता है । कहा है—

‘जो अचेलकपनेमें स्थित है और उद्दिष्ट आदि दोषोका सेवन नहीं करता, गुरुका भक्त
और विनीत है वह सदा व्रतोको धारण करनेका पात्र होता है ।’ यह व्रत देनेका क्रम है— गुरु-
जनोके स्वयं रहते हुए आचार्य स्वयं स्थित हाकर सामने स्थित विरत स्त्रियोको श्रावक श्राविका
वर्गको व्रत प्रदान करे । तथा अपने वाम देशमें स्थित विरतोको व्रत प्रदान करे । कहा है—

‘विरत स्त्रियोको और श्रावक वर्गको अपने सामने स्थित करके और विरत पुरुषोको
अपने वाम भागमें स्थापित करके गणि व्रत प्रदान करे ।’ इस प्रकार जानकर तथा श्रद्धा करके
पापोंसे विरत होना व्रत है । वृत्तिकरण छादन, संवर और विरति, ये सब शब्द एकार्थक हैं ।
कहा है—‘जानकर और स्वीकार करके पापोंसे विरत होना व्रत है । वृत्तिकरण, छादन, संवर,
विरति ये सब एकार्थक है ।’

प्रथम और अन्तिम तीर्थं करके तीर्थमें रात्रिभोजन त्यागनामक छठे व्रतके साथ पांच महा-
व्रत होते हैं । प्रमादयुक्तभावके सम्बन्धसे प्राणिके प्राणोंका वियोग करना हिंसा है और उससे
विरति अहिंसा व्रत है । झूठ बोलनेसे जीव दुःखो होते हैं ऐसा मानकर दयालु पुरुषका सत्य
बोलना दूसरा व्रत है । जिसमें ‘यह मेरा है’ ऐसा संकल्प है उस द्रव्यके चले जानेपर जीव दुःखी
होते हैं । इसलिए उसपर दया करके बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणसे विरत होना तीसरा व्रत है ।

अवसत्सवाधानाद्विरमणं वृत्तीयं व्रतम् । सर्वपपूर्णायां मात्यां सप्तम्यसमालाकाप्रवेशनबधोनिद्वारस्त्वानेकधीवयीषा-
सावनप्रवेशेकेति सद्वाचापरिहाराच्च तीक्ष्णो राधाभिनवेशः कर्मबन्धस्य महतो मूलं इति ज्ञात्वा मद्वावसः
मैथुनाद्विरमणं चतुर्थं व्रतम् । परिग्रहः पृथ्वीवनिनायपीडाया मूलं मूर्च्छानिमित्तं चेति सकलबन्धवत्यागो
भवति इति पञ्चमं व्रतम् । तेषामेव वचनानां क्लृप्तानां पालनार्थं रात्रिभोजनविरमणं षष्ठं व्रतम् । सर्वजीवविषयम-
हिंसाव्रत अवसत्परिग्रहत्यागी सर्वब्रह्मविषयी द्रव्यैकदेशविषयाणि शेषव्रतानि । उक्तं च--

‘पञ्चमिन्म सत्त्वजीवा तस्मिन्ने करिषे य सत्त्ववज्जार्हं ।

तेसा महम्बन्धा चक्षु तदेकदेशेस्मिन् बन्धानां ॥ [आषट्पक ७९१ गा०]

पञ्चमहाव्रतधारिण्याविचरप्रव्रजिताया यमि ज्येष्ठो भवति अधुनाप्रव्रजितः पुमान् इत्येव सप्तमः
स्थितिकल्पः पुरुषज्येष्ठत्वः । पुरुषत्व नाम सग्रहं उपकारं, रक्षां च कर्तुं समर्थः । पुरुषप्रणीतत्व धर्मः
इति तस्य ज्येष्ठता । ततः सर्वाभि संयताभिः विनयः कर्तव्यो विरत य । येन च स्त्रियां लब्धः
परप्राचीनोया, पररक्षापेलिष्य, न तथा पुमांस इति च पुरुषस्य ज्येष्ठत्वम् । उक्तं च--

जेषित्वो ह्य लघुसिगा परप्यसज्जा य पञ्चमिज्जाय ।

भीष अरक्षणाञ्जोति तेन पुरिसो भवति जेष्ठो ॥ []

अचेलताविकल्पस्थितस्य यद्यतिचारो भवेत् प्रतिक्रमण कर्तव्यमित्येषांऽष्टम स्थितिकल्पः । नामस्थापना-
द्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पेन पृथिविं प्रतिक्रमणं । भट्टिणी भट्टदारिगा इत्यस्ययोग्यनामोच्चारण कृतवतस्तत्परि-

सरसोसे भरो हुई नलीमें तपाई हुई लोहकी कोलके प्रवेशकी तरह योनिद्वारमें स्थित अनेक जीवों-
को लिंगके प्रवेशसे पोड़ा हाती है । उस पोड़ाको दूर करनेके लिए ‘रामका तीव्र अभिनवेश महात्
कर्मबन्धका मूल है’ ऐसा जानकर और श्रद्धा करके मैथुनसे विरत होना चतुर्थ व्रत है । परिग्रह
छडुकायके जाँवाको पोड़ा पृथुचानेका मूल है और ममत्वभावमें निमित्त है ऐसा जानकर समस्त
परिग्रहका त्याग पाँचवाँ व्रत है । उन्हीं पाँच व्रतोंका पालन करनेके लिए रात्रि भोजनका त्याग
छठा व्रत है । अहिंसाव्रतका विषय सब जीव हैं अर्थात् सब जीवोंकी हिंसाका त्याग उसमें है ।
विना दी हुई बस्तुका त्याग और परिग्रहका विषय भी सब द्रव्य है । अर्थात् अचौर्यव्रती विना
दिया हुआ कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं लेता जिसका कोई स्वामी है । परिग्रहका त्यागी भी सब
द्रव्योका त्याग करता है । किन्तु शेष व्रत द्रव्योंके एकदेशको विषय करते हैं । कहा है—

‘प्रथम व्रतमें सब जीव, तीसरे और अचौर्यव्रतमें सब द्रव्य तथा शेष महाव्रत द्रव्योंके
एकदेशमें होते हैं ।’

७ चिरकालसे दीक्षित और पाँच महाव्रतोंकी धारी आर्थिकासे तत्काल दीक्षित भी पुरुष
ज्येष्ठ होता है । इस प्रकार पुरुषको ज्येष्ठता सातवाँ स्थितिकल्प है । पुरुषत्व कहते हैं संग्रह,
उपकार और रक्षा करनेमें समर्थ होना । धर्म पुरुषके द्वारा कहा गया है इसलिए पुरुषकी ज्येष्ठता
है । इसलिए सब आर्थिकाओंको साधुकी विनय करनी चाहिए । यतः स्त्रियाँ लघु होती हैं, परके
द्वारा प्रार्थना किये जाने योग्य होती हैं । दूसरेसे अपनी रक्षाकी अपेक्षा करती हैं । पुरुष ऐसे नहीं
होते इसलिए पुरुषकी ज्येष्ठता है । कहा है—‘यतः स्त्री लघु होती है, दूसरेके द्वारा प्रसाध्य
होती है, प्रार्थनीय होती है, डरपोक होती है, अरक्षणीय होती है इसलिए पुरुष ज्येष्ठ होता है ।’

८. अचेलता आदि कल्पमें स्थित साधुके यदि अलिचर लगता है तो उसे प्रतिक्रमण करना
चाहिए । यह आठवाँ स्थितिकल्प है । नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे छह

हृरणं मन्त्रप्रतिक्रमणं । असंयतमिथ्यादृष्टिजीवप्रतिबिम्बपूजाविषु प्रवृत्तस्य तत्रप्रतिक्रमणं स्थापनाप्रतिक्रमणं । सच्चित्तमचित्तं निबन्धितं त्रिविकल्पं द्रव्यं तस्य परिहृरणं द्रव्यप्रतिक्रमणं । त्रसंस्थावरबहलस्य स्वाध्याय-
ध्यानविभक्तसंपादनपरस्य वा परिहृरणं क्षेत्रप्रतिक्रमणं । संध्यास्वाध्यायाकालाविषु गमनागमनादिपरिहृरणं
कालप्रतिक्रमणं । मिथ्यात्वासंयमकषाययोर्भेदो निवृत्तिभावप्रतिक्रमणं । प्रतिक्रमणसहितो धर्मः आद्यपापघ्नाय-
योर्द्विजनयोः प्रातापराधप्रतिक्रमणं मध्यर्त्तितो जिना उपदिशन्ति ।^१

‘आलोचनाशुचिचित्तं रागिण इतिरियमिच्छन्परिवा य ।

पश्चिन्नं चाउष्मासिद्धं संबच्छर उत्तमदृष्टे ॥ एते आलोचनाकल्पाः ।’

पश्चिन्नं रागिण देवसिद्धं इतिरियमिच्छन्परिवा य ।

पश्चिन्नं चाउष्मासिद्धं संबच्छर उत्तमदृष्टे य ॥ []

अनी प्रतिक्रमणभेदा आद्यन्ततीर्थकरप्रणीते पंचयमे धर्मं, इतरत्र च चतुर्थमे प्रतिक्रमणस्य कालनियम उक्तं । यथायमतिचारं प्राप्नोस्तदा प्रतिक्रमणमध्यात्मिक दर्शनं । उक्तं च—

‘अनयो धानेसचो द्विव दूरायादो य सञ्चसन्चो चि ।

‘सुमणे चि यचि य सद्बो जानरानो चि अगदो चि ॥

ठावगिओ आयरिध णावउत्तमिन्ति पञ्चिन्नविभेत्तु ।

ण पश्चिन्नमणं तेण दु ओ भातिष्कनवि सो णेव ॥ []

प्रकारका प्रतिक्रमण होता है । भट्टिणी, भतुंदारिका इत्यादि अयोग्य नामका उच्चारण करनेपर उसका परिहृरण करना नाम प्रतिक्रमण है । असंयत मिथ्यादृष्टि जीवके प्रतिबिम्बकी पूजा आदि करनेवाला जो उसका प्रतिक्रमण करता है वह स्थापना प्रतिक्रमण है । सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका द्रव्य होता है उसका परिहृरण द्रव्य प्रतिक्रमण है । जो क्षेत्र त्रस और स्थावर जोबोसे भरा है, स्वाध्याय और ध्यानमे विघ्न करनेवाला है उसका परिहृरण क्षेत्र प्रतिक्रमण है । सन्ध्याके समय, स्वाध्यायके समय तथा असमयमे गमन आगमन आदिका परिहृरण-
कालप्रतिक्रमण है । मिथ्यात्व असयम, कषाय और योगसे निवृत्ति भावप्रतिक्रमण है । प्रथम और अन्तिम तीर्थकरका धर्म प्रतिक्रमण सहित है अर्थात् प्रतिक्रमण करना ही चाहिए । और मध्यके बाईस तीर्थ कर दोष लगनेपर ही प्रतिक्रमणका उपदेश करते हैं । आलोचना देवसिक, रात्रिक, इतिरिय, भिक्षाचर्या, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सावत्सरिक, उत्तमार्थ—ये दस आलोचनाकल्प हैं ।

देवसिक प्रतिक्रमण, रात्रिक प्रतिक्रमण, इतिरिय, भिक्षाचर्या, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सावत्सरिक और उत्तमार्थ ये प्रतिक्रमणके भेद हैं । आदि और अन्तिम तीर्थकरके द्वारा कहे पाँच महाव्रतरूप धर्ममें और अन्य तीर्थकरोंके द्वारा कहे चार यमरूप धर्ममें प्रतिक्रमणके कालका नियम कहा है । जब साधु अतिचार लगाता है तब प्रतिक्रमण आध्यात्मिक दर्शन है । कहा है—

[इन गाथाओंका शुद्धपाठ न मिलनेसे अर्थका स्पष्टीकरण नहीं हो सका है ।] चौबीस तीर्थ करोंमेंसे मध्यके बाईस तीर्थकरोंके साधुओंके लिए प्रतिक्रमण आवश्यक नहीं है । दोष

१. पश्चिन्नं देवसिद्धं राघ्वं च इतिरत्रनाचकहिय च ।

पश्चिन्नं चाउष्मासिद्धं संबच्छरि उत्तमदृष्टे ॥—आव० ४ अ० । (अभि० रा०, पश्चि०)

२. सुमिणितियं दिवसर्षं ।

सद्वाचितुं चि पचिरी आविष अंतमिं सो पचिषकमवि ।

मचिषकमा नर्णोति य अमचसमार्ण ह्वे उचयं ॥

इरिषं मोवर कुमिषावि सन्वमाचरतु मा व आचरतु ।

पुरिष चरिषेयु सन्वो सन्वो नियमा पचिषकमवि ॥ [मूलाधार ७।३१]

मध्यमतीर्थकरशिष्या दृढबुद्धयः, एकाग्रचित्ताः, अमोघलक्ष्यास्तस्मात्पदाचरितं तद्गर्हया शुद्धयति । इतरे तु चलचित्ता न लक्षयन्ति स्वापराधीस्तेन सर्वं प्रतिक्रमण उपविष्टं जिनाभ्या अंधघोटकदुष्टान्तन्यायेन ।

ऋषुषु षट्सु एकैकमेव मासमेकत्र वसतिरन्यदा विहरति इत्यय नवम स्थितिकल्प । एकत्र चिर-कालावस्थाने नित्यमुद्गमदोषं च न परिहर्तुं क्षम । क्षेत्रप्रतिबद्धता, सातगुह्यता, अलगता, मौकुमार्यभावना, ज्ञातयिषयाग्राहिता च दोषाः । पञ्जोसमणकल्पो नाम दशम । वर्षाकालस्य चतुषु मासेषु एकत्रैवावस्थान भ्रमणस्यायगः । स्थावरजंगमजीवाकुला हि तदा धिति । तदा भ्रमणं महानसमयं वृष्टया शीतवातपातेन च वात्मविराघना । पतेदु वाप्यादियु स्थायुकण्टकादिभिर्वा प्रच्छन्नेजलेन कर्मभेन वा नाध्यत इति विशान्यधिक

लग्नेपर ही प्रतिक्रमण करते हैं । इसी बातको इन गाथाओंमें कहा है। शब्दादि विषयोमें प्रवृत्ति होनेपर आदि और अन्तिम तीर्थं करोके साधु प्रतिक्रमण करते ही है । मध्यम तीर्थं करोके साधु करते भी हैं और नहीं भी करते ।

ईयांसमिति, गोचरी और स्वप्न आदिमें अतिचार लगे या न लगे । किन्तु प्रथम तीर्थं कर और अन्तिम तीर्थं करके शिष्य सब प्रतिक्रमण दण्डकोको पढते हैं अर्थात् अतिचार नहीं लग्नेपर भी उन्हें प्रतिक्रमण करना होता है ।'

मध्यम बार्देस तीर्थं करोंके शिष्य दृढ बुद्धिवाले, एकाग्रचित्त और अव्यर्थ लक्षवाले होते हैं । इसलिए अपने आचरणकी गृही करनेसे शुद्ध होते हैं । किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थं करके शिष्य चंचल चित्त होनेसे अपने अपराधोंको लक्षमें नहीं लेते । इसलिए प्रथम और अन्तिम तीर्थं करके सबके लिए प्रतिक्रमण करनेका उपदेश दिया है । इसमें अन्य घोडेका दृष्टान्त दिया जाता है । जैसे घोड़ेके अन्वे होनेपर अनजान वंछपुत्रने अपने पिताके अभावमें उमपर सब दवाइयोंका प्रयोग किया तो घोडा ठीक हो गया । इसी तरह अपने दोषोंसे अनजान साधु भी प्रतिक्रमणसे शुद्ध होता है ।

९. छह ऋतुओंमें एक-एक महीना ही एक स्थानपर रहना और अन्य समयमें विहार करना नवम स्थितिकल्प है । एक स्थानमें चिरकाल ठहरनेपर नित्य ही उद्गमदोष लगता है । उसे टाला नहीं जा सकता । तथा एक ही स्थानमें बहुत समयतक रहनेसे क्षेत्रसे बंध जानेका, सुखशीलता, आलसीपना, सुकुमारताकी भावना तथा जाने हुएसे भिक्षा ग्रहण करनेके दोष लगते हैं ।

१०. पञ्जोसमण नामक दसवां कल्प है । उसका अभिप्राय है वर्षाकालके चारमासोंमें भ्रमण स्थायकर एक ही स्थानपर निवास करना । उस कालमें पृथिवी स्थावर और जंगम जीवोंसे व्याप्त रहती है । उस समय भ्रमण करनेपर महाम् असंयम होता है । तथा वर्षा और शीतवायुके ग्रहनेसे आत्माको विराघना होती है । वापी आदिमें गिरनेका भय रहता है । जलादिमें छिपे

विश्वस्यै एकत्रावस्थानमित्यममूर्तयः । कारणपेक्षया तु हीनमधिकं वावस्थानं, संयतायां आषाढशुद्धवद्यम्यां स्थितानां उपरिष्ठाच्च कार्तिकपौर्णमास्याद्विषाद्विषसावस्थानं । वृष्टिबहुकालां, भूतग्रहणं, सन्ध्यमाष्वथैवा-
वृत्त्यकरणं प्रयोजनमृष्टियं अवस्थानमेकमेति उत्कृष्टः कालः । मार्ग, दुर्भिक्षं, ग्रामजनपदचलेन वा गच्छमाश-
निमित्तं समुपस्थिते देशांतरं याति । अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यतीति । पौर्णमास्यामाषाढषा-
मशिक्षाम्सायां प्रतिपदादिषु विनेत् याति । यावच्च त्यक्त्वा विशतिदिवसा एतवपेक्ष्य हीनता कालस्य । एष दशमः
स्थितिकल्पः ।

हुए ठूठ, कष्टक आदिसे अथवा जल कीचड़ आदिसे कष्ट पहुँचता है । इसलिए एक सौ बीस दिनतक एकस्थानपर रहना उत्संगरूप नियम है । कारणवश कम या अधिक दिन भी ठहरते हैं । आषाढ शुक्लादशमीको ठहरनेवाले साधु आगे कार्तिककी पूर्णमासीके पश्चात् तीस दिन ठहर सकते हैं । वर्षाकी अधिकता, शास्त्रपठन, शक्तिका अभाव, वैयावृद्ध्य करनेके उद्देश से एकस्थानपर ठहरनेका यह उत्कृष्टकाल है । इस बीचमें यदि मारी रोग फैल जायें, दुर्भिक्ष पड़ जायें या गच्छका विनाश होनेके निमित्त मिल जायें तो देशान्तर चले जाते हैं क्योंकि वहाँ ठहरनेपर भविष्यमें रत्नत्रयकी विराधना हो सकती है ।

आषाढकी पूर्णमासी बीतने पर प्रतिपदा आदिके दिन देशान्तर गमन करते हैं । इस तरह बीस दिन तक कम होते हैं । इस अपेक्षा कालकी हीनता होती है । यह दसवाँ स्थितिकल्प है ।

विशेषार्थ—श्वेताम्बर परम्परामें भी ये ही दस कल्प माने गये हैं । किन्तु उनमेंसे चार स्थितिकल्प हैं और छह अस्थितिकल्प हैं । शय्यातर पिण्ड, चातुर्याम, पुरुषकी ज्येष्ठता और कृत्तिकमं य चार कल्प स्थित हैं । अर्थात् मध्यम बार्दिस तीर्थकरोंके साधु और महा विदेहोंके साधु शय्यातर पिण्ड ग्रहण नहीं करते, चतुर्याम रूप धर्मका पालन करते हैं, पुरुषकी ज्येष्ठता पालते हैं अर्थात् चिरदोक्षित आश्रिका भी उसी दिनके दोक्षित साधुको नमस्कार करती है । तथा सब कृत्तिकमं करते हैं । आचेलक, औद्देशिक, प्रतिक्रमण, राजपिण्ड, मास और पर्युषण ये छह कल्प मध्यम तीर्थकरोंके तथा महाविदेहके साधुओंके लिए अनवस्थित हैं । यदि वस्त्र धारण करनेसे वस्त्रको लेकर रागद्वेष उत्पन्न होता है तो अचेल रहते हैं अन्यथा सचेल रहते हैं । साधुओंके उद्देशसे बनाया भोजन उद्विष्ट होनेसे सदोष होता है । किन्तु उक्त तीर्थकरों और महाविदेहोंके साधु अपने उद्देशसे बना भोजन नहीं लेते । अन्य साधुओंके उद्देशसे बना भोजन ले लेते हैं । प्रतिक्रमण भी दोष लगने पर करते हैं, अन्यथा नहीं करते । राजपिण्डमें यदि कहे गये दोष होते हैं तो ग्रहण नहीं करते । यदि एक क्षेत्रमें रहने पर दोष न हो तो पूर्वकोटी काल भी रहते हैं । दोष हो तो मास पूर्ण नहीं होने पर भी चल देते हैं । पर्युषणमें भी यदि वर्षामें बिहार करने पर दोष हो तो एक क्षेत्रमें रहते हैं दोष न हो तो वर्षाकालमें भी बिहार करते हैं । श्वेताम्बर परम्परामें प्राकृतमें दसवें कल्पका नाम 'पञ्जोसवणा' है उसका संस्कृत रूप पर्युषणाकल्प है । इसीसे भादोंके दश लक्षण पूर्वको पर्युषण पर्व भी कहते हैं । श्वेताम्बर परम्परामें भी इसका उत्कृष्ट काल आसाढ़ी पूर्णिमासे कार्तिकी पूर्णिमा तक चार मास है । जषण्य काल सप्तर दिन है । मात्रपद शुक्ला पंचमीसे कार्तिककी पूर्णिमा तक सप्तर दिन होते हैं । सम्भवतः इसीसे श्वेताम्बर परम्परामें पर्युषण पर्व मात्रपद शुक्ला पंचमीसे प्रारम्भ होता है । इस कालमें साधु बिहार नहीं करते ।

इदेषु दससु निष्कं समाहितो निष्कवज्जमीरु य ।

खवयस्स विसुद्धं सो जघुसचरियं उवविषेदि ॥४२४॥

‘इदेषु दससु निष्कं’ एतेषु दशान्वितिकल्पेषु नित्यं । ‘समाहितो’ समाहित । ‘निष्कवज्जमीरु य’ नित्यं पापभीरुः । ‘खवयस्स’ क्षयकस्म । ‘विसुद्धं जघुसचरियं’ यथोक्तं चर्या । ‘सो उवविषेदि’ स विदधाति ॥४२४॥

निर्यापकस्य सुरेराचारवत्त्वे क्षपकस्य गुणं व्याचष्टे—

पंचविषे आयारे समुज्जदो सव्वसमिदवेद्वाओ ।

सो उज्जमेदि खवयं पंचविषे सुट्ठु आयारे ॥४२५॥

‘पंचविषे आयारे समुज्जदो’ पंचप्रकारे आचारे समुद्यत । ‘समिदवेद्वाओ’ सम्यक् प्रवृत्ता सर्वा-
द्वेष्टा यस्य सः । ‘सुट्ठु उज्जमेदि’ सुट्ठु उद्योगं कारयति । ‘सव्वसं’ क्षपकं । ‘ख ? ‘पंचविषे’ आचारे ॥४२५॥

य. आचारवान्न भवति तवाश्रयणे दोषमाचष्टे—

सेज्जेवधिसंधारं भचं पाणं च चयणकप्पगदो ।

उवकप्पिज्ज असुद्धं पडिचरण वा असंविग्गे ॥४२६॥

‘सेज्जं’ वसति । ‘उवधिं’ उपकरण । ‘संधारभसपाणं च’ संस्तर भक्त्यां च । ‘असुद्धं’ उद्धमा-
विदोषोपहृतं । ‘उवकप्पेज्ज’ उपकल्पयेत् । क. ‘चयणकप्पगदो’ ज्ञानाचारविकादोपलब्धयनमुपगत ‘पडिचरण
वा’ प्रतिचारकान्वा योजयेत् । ‘असंविग्गे’ असविमान् । एवमसंयमे कृते महान्कर्मबन्धो भविष्यति ततोऽस्माकं
महती संसृष्टिरनेकापन्मूलैति भयरहितान् ॥४२६॥

सल्लेहणं पयासेज्ज गंधं मल्लं च समणुजाणिज्जा ।

अप्याउग्गं व कण्ठं करिज्ज सइरं व जंपिज्ज ॥४२७॥

‘सल्लेहणं पयासेज्ज’ सल्लेखना प्रकाशयेत् लोकस्य । ‘गंधं मल्लं च समणुजाणेज्ज’ गन्धं माल्यं
वानुजामीयात् । गन्धमाल्यानयनमभ्युपगच्छेत् । ‘अप्याउग्गं व कण्ठं कहेज्ज’ अप्रयोग्या वा कथा कथयेत्

शा०—इन दस कल्पोंमें जो सदा समाधान युक्त रहता है और नित्य पापसे डरता है वह
आचार्य क्षपक ऊपर कहे विशुद्ध आचरणको पालन कराता है ॥४२४॥

निर्यापकाचार्यके आचारवान होने पर क्षपकका लाभ बतलाते हैं—

शा०—जो आचार्य पांच प्रकारके आचारमें तत्पर रहता है और जिसकी सब चेष्टाएँ
सम्यग्रूपसे होती हैं वह क्षपकसे पांच प्रकारके आचारमें उद्योग कराता है ॥४२५॥

जो आचार्य आचारवान नहीं होता, उसका आश्रय लेनेमें दोष कहते हैं—

शा०—ज्ञानाचार आदिसे थोड़ा सा च्युत हुआ आचार्य उद्गम आदि दोषोंसे दूषित असुद्ध
वसति, उपकरण, संस्तर और भक्तपानकी व्यवस्था करेगा । तथा ऐसे परिचारक मुनियोंको नियुक्त
करेगा जिन्हें यह ब्रह्म नहीं है कि इस प्रकारका असंयम करने पर महान् कर्मबन्ध होगा और
उससे हमारा संसार बढ़ेगा जो अनेक आपत्तियोंका मूल है ॥४२६॥

शा०—तथा वह क्षपककी सल्लेखनाकी लोगों पर प्रकाशित कर देगा । सुगंध माला आदि
सेवनकी अनुमति दे देगा । क्षपकके अशुभ परिणाम करने वाली अयोग्य कथा वार्ता करेगा । और

क्षपकस्याशुभपरिणामविधाविनी । 'सहरं वा' स्वीरं वा । 'अपेक्ष' जल्पेत् । आराधकस्याघत इवं युक्तं न
वेत्तविचार्यं बवेत् ॥४२७॥

ण करेज्ज सारणं वारणं च स्वयस्स चयणकम्पगदो ।

उदेज्ज वा महल्लं स्वयस्स वि किंचणारंमं ॥४२८॥

'ण करेज्ज' न कुयात् । कि 'सारणं' रत्नत्रये दृष्टि । 'वारणं च' निषेध न कुयात् । तेभ्यः प्रथमव-
मानस्य । 'क्षपकस्त क्षपकस्य । कः ? 'क्षपकम्पयवो ज्यवनकल्पगतः । 'उदेज्ज वा महल्लं' आरम्भं कार-
येद्वा महाण्तं आरम्भं पट्टशाला, पूजा, विमानं वा । 'क्षपकस्त वि' क्षपकस्यापि कंचन ॥४२८॥

आयारत्थो पुण से दोसे सुब्बे वि ते विचज्जेदि ।

तम्हा आयारत्थो णिज्जवओ होदि आयरिओ ॥४२९॥

'आधारत्थो पुण' आधारत्थः पुनः सूरिः तान्तर्धान्वर्जयति दोषान् । 'तम्हा' तस्मात् । गुणेषु प्रवर्त-
मानो दोषेभ्यो ध्यावृत्तश्च । 'आधारत्थो आयरिओ णिज्जवओ होदि' आधारत्थ एवाचार्यो निर्मापको भवति
नापरः । ध्याव्यातामाचारवत्त्वम् ॥४२९॥

आधारवत्त्वव्याख्यानायोत्तरप्रबन्धः—

चोदसदसणवपुब्बी महामदी सायरोच्च गंभीरो ।

कम्पववहारचारी होदि हु आधारवं णाम ॥४३०॥

'चोदसदसणवपुब्बी' चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी, नवपूर्वी वा । 'महाम्मी' महामति । 'सायरोच्च गंभीरो'
सागर इव गम्भीरः । 'आधारवं णाम कम्पववहारचारी वा' कल्पव्यवहारज्ञो वा आधारवान् ज्ञानी । दुष्परि-
णामा एते मनीषाकायविकल्पा, शुभा वा पुण्यालवभूताः । शुद्धा वा शुभाशुभकर्मसंवरहेतवः, इति बोधयति ।

यह उचित है या नहीं यह विचार किये बिना क्षपकके आगे स्वच्छन्दता पूर्वक बात करेगा ॥४२७॥

गा० तथा स्वयं आचार च्युत आचार्य क्षपकके रत्नत्रयसे ढिगने पर रत्नत्रयमें प्रवृत्ति
और रत्नत्रयसे च्युत होनेका निषेध नहीं करेगा । तथा क्षपकसे कोई महान् आरम्भ पूजा, विमान-
यात्रा, पट्टकशाला आदि करायेंगा ॥४२८॥

गा०—किन्तु आचारवान् आचार्य इन सब दोषोंको नहीं करता । इसलिए जो गुणोंमें
प्रवृत्ति करता है और दोषोंसे दूर रहता है ऐसा आचारवान् आचार्य ही निर्मापक होता है, दूसरा
नहीं । इस प्रकार आचारवत्त्वका कथन किया ॥४२९॥

आगे आधारवत्त्वका कथन करते हैं—

गा०—टी०—जो चौदह पूर्व, दस पूर्व अथवा नौ पूर्वका धारी हो, महाबुद्धिशाली हो, सागर
की तरह गम्भीर हो, कल्प व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता हो वह ज्ञानी आधारवान्
होता है । वह समझाता है कि मन वचन कायके विकल्प रूप ये परिणाम अशुभ हैं, शुभ परिणाम
पुण्यकर्मके आस्रवके कारण हैं और बुद्ध परिणाम शुभ और अशुभ कर्मके संवरमें कारण हैं । तथा
बहु रात दिन भुतका उपवेश करते हुए शुभ और बुद्ध परिणामोंमें क्षपकको लगाता है । इसलिए
बहु दर्शन, चारित्र्य और तपका आधारबाला होनेसे आधारवान् होता है । ज्ञान आधार है और

कुनेषु शुद्धेषु वा प्रवर्तयति श्रुतमनारतमुपविशन्त्वोऽप्यौ वचनस्य, चारित्र्यस्य, तपसश्च आधारवत्त्वात् ।
ज्ञानमाधारस्तद्वानाधारवान् ॥४३०॥

यस्तु ज्ञानवान् भवति तदाश्रयणे क्षोधान्याचष्टे—

‘णासेज्ज अमीदत्थो चउरंगं तस्स लोगसारंगं ।

णट्ठम्मि य चउरंगे ण उ सुलहं होइ चउरंगं ॥४३१॥

‘णासेज्ज अमीदत्थो’ नाशेयदगृहीतसुत्रार्थः । ‘तस्स’ तस्य क्षपकस्य । ‘चउरंगं’ चत्वारि ज्ञानवर्ध-
नचारित्र्यतपांसि अङ्गानि यस्य मोक्षमार्गस्य तं चतुरङ्गं । लोके अत्सारं निर्वाणं तस्याङ्गं उपकारकं । चतुरङ्गं
यदि नाम नष्टं तथापि तच्चतुरङ्गं पुनर्लभ्येत इति वाङ्मामिमा निरस्यति । ‘णट्ठम्मि य चउरंगे’ नष्टे इह
जन्मनि चतुरङ्गे मुक्तिमार्गं । ‘ण उ सुलहं होइ चउरंगं’ नैव सुखेन लभ्यते तच्चतुरङ्गं । विनाशितचतुरङ्गो
मिथ्यात्वपरिणतः कुयोनिमुपगतः कथमिव लभते चतुरङ्ग इत्यभिप्रायः ॥४३१॥

क्षपकस्य चतुरङ्गं कथमगृहीतार्थो नाशयतीत्यारेकायामित्थमसी नाशयतीति दर्शयति—

संसारसायरम्मि य अणंतवहुत्तवहुत्तसल्लिम्मि ।

संसरमाणो दुक्खेण लहदि जीवो मणुस्सत्तं ॥४३२॥

तह चैव देसङ्कलजाइरुवमारोग्गमाउगं बुद्धिं ।

सवणं गहणं सद्धा य संजमो दुन्लहो लोए ॥४३३॥

जो ज्ञानवान् है वह आधारवान् है ॥४३०॥

जो ज्ञानवान् नहीं है उसका आश्रय लेनेमें दोष कहते हैं—

गा०—टी०—जिसने सूत्रके अर्थको ग्रहण नहीं किया है ऐसा आचार्य उस क्षपकके चतुरंगको
नष्ट कर देता है । ज्ञान दर्शन चारित्र्य तप ये चार अंग जिस मोक्षमार्गके होते हैं वह चतुरंग है ।
लोकमें जो सारभूत निर्वाण है उसका चतुरंग—मोक्षमार्ग उपकारक है । वह नष्ट कर देता है ।
शाश्वद कोई कहे कि यदि चतुरंग नष्ट हुआ तो पुनः प्राप्त हो जायेगा ? इस शकाका निरास करते
हैं—इस जन्ममें चतुरंग मोक्षमार्गके नष्ट होने पर चतुरंग सुलभ नहीं है—सुखसे नहीं मिलता ।
क्योंकि जो चतुरंगको नष्ट कर देता है वह मिथ्यात्व रूप परिणत होकर कुयोनिमें चला जाता
है । तब वह कैसे चतुरंगको प्राप्त कर सकता है यह उक्त कथनका अभिप्राय है ॥४३१॥

सूत्रके अर्थको ग्रहण न करने वाला आचार्य क्षपकके चतुरंगको कैसे नष्ट करता है ? ऐसी
आशंका करने पर बतलाते हैं कि वह इस प्रकार नष्ट करता है—

गा०—जिसमें अनन्त अत्यन्त तीव्र दुःखरूप जल भरा है उस संसार सागरमें भ्रमण करते
हुए जीव बड़े कष्टसे मनुष्य भव प्राप्त करता है ॥४३२॥

गा०—उस संसारमें देश, कुल, जाति, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, धर्मका सुनना, उसे
ग्रहण करना, उस पर श्रद्धा होना तथा संयम ये सब दुर्लभ हैं ॥४३३॥

१ स्तद्वानाधारवान् श्रद्धानाधारवान् जा० मु० । २ इयं गाथा व्यवहारसूत्रे (उ० ३, गा० ३७७)
वसिष्ठ ।

एवमपि दुर्लभपरंपरेण लब्ध्वा संजमं स्वयं ।
 ण लह्जिज्ज सुदी संवेगकरी अबहुसुयसयासे ॥४३४॥
 सम्मं सुदिमल्लहंतो दीहद्धं भुत्तिभुवगमिचा वि ।
 परिवद्धइ मरणकाले अकदाधारस्स पासम्मि ॥४३५॥
 सक्का वंसी छेतुं तत्तो उक्कद्विहजो पुणो दुक्खं ।
 इय संजमस्स वि मणो विसएत्तुक्कद्विहुं दुक्खं ॥४३६॥
 आहारमजो जीवो आहारेण य विराधिदो संतो ।
 अहुदुह्हो जीवो ण रमदि णाणे चरिसे य ॥४३७॥
 सुदिपाणयेण अणुसद्धिमोयणेण य पुणो उवग्गहिदो ।
 तण्हासुहाकिलंतो वि होदि ज्ञाणे अवक्खित्तो ॥४३८॥
 पढमेण व दोवेण व बाहिज्जंतस्स तस्स स्वयस्स ।
 ण कुणदि उपदेसादिं समाधिकरणं अगीदग्घो ॥४३९॥

‘कथेय वा’ श्रुवा । ‘दोवेय वा’ पिपासया वा । ‘बाधिज्जंतस्स तस्स’ बाध्यमानस्य तस्य । ‘स्वयस्स’ क्षपकस्य । ‘म सुदिपि उववेसावि’ न करोत्युपदेशादि । ‘समाधिकरणं’ समाधिः क्रियते येनोपदेशादिना तं । ‘अगीदग्घो’ अपुहीतार्थः ॥४३९॥

वा०—इस प्रकार परम्परा रूपसे दुर्लभ संयमको पाकर क्षपक अल्पज्ञानी आचार्यके पासमे वैराग्य करने वाली देशना नहीं प्राप्त करता ॥४३४॥

वा०—सम्यक् उपदेश प्राप्त न करनेसे चिरकाल तक असंयमके त्यागपूर्वक संयमको धारण करके आचारवस्त्र गूणसे रहित आचार्यके पासमें मरते समय संयमसे गिर जाता है ॥४३५॥

वा०—जैसे छोटेसे ब्रांसको छेदना शक्य है । किन्तु ब्रांसोंके हाडमेंसे खींचकर निकालना बहुत कठिन है । इसी तरह संयमीका भी मन विषयोंसे हटाना अल्प ज्ञानी गुच्छे लिए कठिन है । आशय यह है कि यद्यपि क्षपकने रागद्वेषको जीतनेकी प्रतिज्ञा की तथापि शरीरकी सल्लेखना करनेपर जब भूख प्यासकी परीषह सताती है तो वह श्रुतज्ञानमें उपयोग लगाये बिना अल्पज्ञ आचार्यके पासमें राग-द्वेषमें पढ़कर चारित्रिका आराधक नहीं रहता ॥४३६॥

वा०—यह जीव आहारमय है, अन्न ही इसका प्राण है । आहारके न मिलनेपर आर्त और रोगध्यानसे पीड़ित होकर शान और चारित्रमें मन नहीं लगाता ॥४३७॥

वा०—किन्तु ज्ञानी आचार्यके द्वारा श्रुतका पान करानेसे और योग्य शिक्षारूप भोजनसे उपकृत होनेपर भूख प्याससे पीड़ित होते हुए भी ध्यानमें स्थिर होता है ॥४३८॥

वा०—भूख और प्याससे पीड़ित उस क्षपकको अल्पज्ञानी आचार्य समाधिके साधन उपदेश आदि नहीं करता ॥४३९॥

सो तेण विडज्जंतो पण्यं भावस्स भेदमण्यसुदो ।

कलुणं कोलुणियं वा जायणाकिविणायणं कुणइ ॥४४०॥

‘सो तेण विडज्जंतो’ स क्षपकस्तेन प्रथमेन द्वितीयेन वा । ‘विडज्जंतो’ विविधं बहुमान । ‘पण्यं भावस्स भेदमण्यसुदो’ प्राप्य शुभपरिणामस्य भेदं ‘विडज्जंतो’ ‘अण्यसुदो’ अल्पश्रुतः । ‘कलुणं कोलुणियं वा कुणइ’ यथा मूष्यतां कर्षणा भवति तथा करोति । ‘जायणं वा कुणइ’ याञ्चा वा करोति । ‘किविणायणं कुणइ’ दीनतां वा करोति ॥४४०॥

उक्कूवेज्ज व सहसा पिण्णज्ज असमाधिपाणयं चावि ।

गण्छेज्ज व मिच्छंत्तं मरेज्ज असमाधिपरणेण ॥४४१॥

‘उक्कूवेज्ज व सहसा’ पूर्वकुर्याद्वा सहसा । ‘पिण्णज्ज’ पिबेद्वा । ‘असमाधिपाणयं चावि’ असमाधिपानक-
मुष्यते यत्स्वय स्थित्वा स्वहस्ताभ्यां काले प्रायोग्यपानं ततोऽन्यदस्थित्वा अकाले च यत्पानं तदसमाधिपानक-
मुष्यते । ‘गण्छेज्ज व मिच्छंत्तं’ मिथ्यात्वं वा गच्छेत् । कष्टोऽयं धर्मं किमनेन श्रमविधायिनेति निन्दापरणे
चेतसा । ‘मरेज्ज असमाधिपरणेण’ मृतिमुपेयात् असमाधिना ॥४४१॥

संसारपदोसं वा णिग्गच्छिज्जंतो णिगण्छेज्ज ।

कुण्वंते उद्दहाहो णिच्चुम्भंते विक्किंते वा ॥४४२॥

‘संसारपदोसं वा कुणइ’ इति शेषः, संस्तरं वा दूषयति । ‘णिग्गच्छिज्जंतो णिगण्छेज्ज’ रोदनं
पूर्वकारं वा कुर्वन्त यदि निभ्रसंयन्ति निर्यायात् । ‘कुण्वंते’ पूर्वकुर्यात् सति क्षपके । ‘उद्दहाहो’ अयसो धर्मस्य
भवति । ‘णिच्चुम्भंते’ बह्विनि-सरणे । ‘विक्किंते वा’ पृथक्करणे वा । ‘उद्दहाहो होवि’ धर्मदूषणो भवति ।
एवमगृहीतार्थः प्रतिकारानभिज्ञो नाशयति क्षपकम् ॥४४२॥

गृहीतार्थः पुनः किं करोतीति चेदाह—

गीदथो पुण खवयस्स कुणदि विधिणा समाधिकरणाणि ।

कण्णाहुदीहि उव-गहिदो य पज्जलइ ज्जाणग्गी ॥४४३॥

गा०—बहू अल्पज्ञानी क्षपक भूख प्याससे पीड़ित हो शुभभावको छोड़ देता है और ऐसा रुदन
करता है कि सुननेवालोंको दया आती है, याचना करता है और दीनता प्रकट करता है ॥४४०॥

गा०—अथवा सहसा चिल्लाने लगता है अथवा असमाधिपानक पीता है । स्वयं बड़े होकर
अपने दोनों हाथोंसे भोजनके कालमें जो योग्यपान किया जाता है उससे अन्य बिना बड़े हुए
असमयमें जो पान किया जाता है उसे असमाधिपानक कहते हैं । तथा यह धर्म कष्टदायक है
इससे केवल श्रम ही होता है ऐसे निन्दायुक्त चित्तसे मिथ्यात्वको प्राप्त होता है असमाधिपूर्वक
भरणको प्राप्त होता है ॥४४१॥

गा०—अथवा बहू संस्तरको दोष देता है । रोने चिल्लानेपर उसका तिरस्कार करो तो
बाहुर भाग जायेगा । उसके रोने चिल्लानेपर, या बाहुर निकल जानेपर अथवा संघसे निकाल
बेनेपर धर्ममें दूषण लगता है । इस प्रकार अज्ञानी आचार्य प्रतीकार न जानता हुआ क्षपकका
जीवन नष्ट कर देता है ॥४४२॥

गृहीतार्थज्ञानी आचार्य क्या करता है यह कहते हैं—

'भीकती पुनः' गृहीतार्यः पुनः । 'क्षपकस्य' क्षपकस्य । 'कुण्वि' करोति । 'विधिना' क्रमेण । 'समाधि-
करणादि' समाधानक्रियाः । 'कण्वात्तुषीहि' कर्णाद्गतिभिः । 'उपगृहीतो' उपगृहीतः । 'पञ्चलभि' प्रचलति ।
'अज्ञानयो' ध्यानाभिः ॥४४३॥

खुवयस्सिच्छासंपादणेण देहपडिकम्मकरणेण ।

अण्णेहि वा उवाएहि सो हु समाहिं कुणइ तस्स ॥४४४॥

'खुवयस्सिच्छासंपादणेण समाधिं कुण्वि' क्षपकस्येच्छासम्पादनेन समाधिं करोति । यदिच्छस्यसी
सहत्या 'समाधि' रत्नत्रये समवधानं तस्य करोति इति यावत् । 'देहपडिकम्मकरणेण' शरीरबाधाप्रतिकार-
क्रियाया । 'अण्णेहि वा उवाएहि' 'अन्वैर्वा' सामवचनोपकरणदानचिरंतनक्षपकोपाख्यानादिभिरुपायैः समाधिं
करोति ॥४४४॥

णिज्जूढं पि य पासिय मा भीही देइ होइ आसासो ।

संवेइ समाधिं पि य वारेइ असंबुडगिरं च ॥४४५॥

'णिज्जूढं पि य पासिय' निर्यापकैर्यतिभिः परित्यक्तं दृष्ट्वा किं भवता परीषदासहनेन चलचित्तेना-
स्माकं ? त्यक्तोऽप्यस्मान्भिरिति । 'मा भीही देइ' मा मैथीरित्यभयं वदति । 'होइ' भवति । 'च आसासो'
च आश्वासः । 'संवेइ' संवत्ते 'समाधिं पि य' रत्नत्रयीकान्धमविच्छिन्नं । 'वारेइ असंबुडगिरं च' वारयत्य-
संबुधानां वचनं नैवं वक्तव्यो भवद्भिरय महात्मा । को हि नामायमिव शरीरं आहारं दुस्त्यजं त्यक्तुं क्षम
इति प्रोत्साहयन् ॥४४५॥

जाणदि फासुयदब्बं उवकप्पेद् तहा उदिण्णाणं ।

जाणइ पडिकारं वादपिप्पसिंमाणं गीदत्थो ॥४४६॥

'जाणदि च' जानाति च । 'फासुयदब्बं' योग्यं द्रव्यं । 'उवकप्पेद्' विधातु । 'तहा उदिण्णाणं' तयो-

वा०—किन्तु गृहीतार्यं आचार्यं विधिपूर्वकं क्षपकका समाधान करनेकी क्रिया करता है ।
उसके कानोंमें घर्मापदेशकी आहुति देता है उससे उपगृहीत होकर ध्यानरूपी अग्नि भड़क उठती
है ॥४४३॥

वा०—वह क्षपककी इच्छा पूर्ति करके—जो वह चाहता है वह देकर—समाधि करता है
अर्थात् रत्नत्रयमें उसका मन स्थिर करता है । तथा शारीरिक बाधाका प्रतिकार करके और
अन्य उपायोंसे जैसे शान्तिदायक वचन, उपकरणदान और प्राचीन क्षपकोंके दृष्टान्त आदिसे
समाधि करता है ॥४४४॥

वा०—निर्यापक अर्थात् सेवा करनेवाले यतियोंने जिस क्षपकको यह कहकर 'कि आप
परीषद सहन नहीं करते और आपका चित्त चंचल है हमें आपसे अब कुछ भी प्रयोजन नहीं है,
छोड़ दिया है, उसको भी देखकर बहुभूत आचार्य 'मत डरो' इस प्रकार अभय देते हैं । आपवासन
देते हैं, और रत्नत्रयमें एकाग्रता बनाये रखते हैं । तथा असंयतवचनोंका निवारण करते हैं कि
इस महात्माको आपको ऐसा नहीं कहना चाहिए । इनके समान कठिनतासे छोड़नेके योग्य शरीर
और आहारको कौन छोड़नेमें समर्थ है । इस प्रकार प्रोत्साहन देते हैं ॥४४५॥

वा०—शास्त्रके अर्थको हृदयंगम करनेवाले आचार्य उदीर्ण हुई भूल व्यासकी वेदनाको

१. अन्वैर्वा उपायैः तस्य समाधिं करोति—अ० ।

दीर्घानां क्षुधादीना विनासने समर्थ' । 'आन्वयि पठितार' धामाति प्रतिकार । 'वात्पित्तस्त्रिभान्' वातपित्त-
स्त्रेभ्यर्णा । 'वीर्यस्यो' गृहीतार्थः ॥४४६॥

अहव सुदिपाणयं से तदेव अणुसिद्धिभोजणं देह ।

तण्हाछुहाकिल्लितो वि होदि ज्जाणे अवक्खित्तो ॥४४७॥

'अहव सुदिपाणयं' अथवा भूतिपानं । 'से देहि' तस्मै दधाति । 'अणुसिद्धिभोजणं देहि' अनुशासन-
भोजनं वा । तेन पानेन भोजनेन च । 'तण्हाछुहाकिल्लितो वि' क्षुधा तृषा वा वाच्यमानोऽपि । 'ज्जाणे
अवक्खित्तो होहि' ध्याने अव्याक्षिप्तचित्तो भवति ॥४४७॥

दोषान्तरमप्याचष्टे—अगृहीतार्थसकामो वसतः क्षपकस्य—

संसारसागरम्मि य णंते बहुतिष्वदुक्खसल्लिम्मि ।

संसरमाणो जीवो दुक्खेण लहइ मणुस्सत्तं ॥ ४४८ ॥

'संसारसागरम्मि य' संसार' सागर इव तस्मिन्संसारसागरे द्रव्यक्षेत्रकालभवभावेषु परिवर्तमानः संसार-
सागर । तत्र द्रव्यसंसारो नाम शरीरद्रव्यस्य ग्रहणमोक्षणाभ्यामुत्तरसङ्कत् । तत्रथा—प्रथमायां पृथिव्यां सप्त-
धनुषि त्रयो हस्ता षट् ङ्गलाधिका. प्रमाण नारकाणा शरीरस्य । अबोऽव्यस्तद्विगुणोच्छ्रयता यावत्पञ्चधनु-
शतानि । एवंकिल्पेषु शरीरेषु एकैकं शरीरमनन्तवारं गृहीतमतीते काले भव्यानां तु भाविनि काले भाज्य-
मनन्तवारग्रहण । अभव्याना तु भविष्यति कालेऽप्यनन्तानि तयाविधानि शरीराणि । एष द्रव्यसंसारः
स्थूलतः ।

नष्ट करनेमें समर्थ प्राणुकद्रव्योंको देना जानते हैं । तथा वात पित्त कफका प्रकोप होनेपर उनका
प्रतिकार करना भी जानते हैं ॥४४६॥

गा०—अथवा वह आचार्य क्षपकको शास्त्रोपदेशरूपी पेय और अनुशासनरूप भोजन
देते हैं । उस पान और भोजनसे भूख और प्याससे पीड़ित भी क्षपक ध्यानमें एकाग्रचित्त होता
है ॥४४७॥

अल्पज्ञानी आचार्यके पास रहने वाले क्षपकके अन्य दोष भी कहते हैं—

गा०—बहुत तीव्र दुःख रूपी जलसे भरे अनन्त संसार रूपी सागरमें संसरण करता हुआ
जीव बड़े कष्टसे मनुष्य भव प्राप्त करता है ॥४४८॥

टी०—संसारके पाँच प्रकार हैं—द्रव्य संसार, क्षेत्र संसार, काल संसार, भव संसार और
भाव संसार । शरीर द्रव्यका बार-बार ग्रहण और त्याग द्रव्य संसार है । प्रथम नरकमें नारकियों-
के शरीरका प्रमाण सात धनुष, तीन हाथ छह अंगुल है । नीचे-नीचेके नरकोंमें उसकी दुगुनी
ऊँचाई होते होते अन्तमें पाँच सौ धनुष ऊँचाई है । इस प्रकारके भेद वाले शरीरोंमें जीवोंने अतीत
कालमें एक-एक शरीर अनन्त बार ग्रहण किया । भविष्य कालमें भव्य जीवोंका अनन्तवार ग्रहण
करना भाज्य है अर्थात् जो मुक्त हो जायेंगे वे अनन्त बार ग्रहण नहीं कर सकेंगे, शेष कर सकेंगे ।
किन्तु अभव्य जीव तो भविष्य कालमें भी उन शरीरोंको अनन्त बार ग्रहण करेंगे । यह द्रव्य
संसारका कथन स्थूलरूपसे है ।

लोपसंसार उच्यते—सीमन्तकाश्रीनि अप्रतिष्ठान्तानि चतुरशीतिनरकसप्तसहस्राणि । सर्वकैस्मिन् नरकैः अनन्ता कल्पमरुतयोर्वृत्तिरतीते काले । भविष्यति तु भाष्या नव्यान्व्रति । अनन्त्याना तु भविष्यत्य-
प्यनन्ताः ।

काकसंसार उच्यते—उत्सर्पिण्याः कस्याश्चित्प्रथमसमये प्रथमनरकै उत्पन्नी, मृतान्यनोत्पन्नाः, पुनः कदाचिदुत्सर्पिण्या द्वितीयाविसमये उत्पन्न एवं तृतीयाविसमयेषु । एवं उत्सर्पिणी समाप्तिं नीता । तथा अवसर्पिण्या अपि । एवमितरेष्वपि नरकेषु । एवमुत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालयोरनन्तवृत्तिः । भवसंसार उच्यते—

प्रथमायां पुत्रिण्यां वसवर्षसहस्रायुर्जातः पुनः समयेनैकैकेन अधिकानि वसवर्षसहस्राणि । एवं द्विसम-
वाधधिकक्रमेण सागरोपमपर्यन्तमायुः समाप्तिं नीतम् । द्वितीयायां समयाधिकं सागरोपमादिं कृत्वा द्वितीयावि-
समयाधिकक्रमेण यावत्सागरोपमपरिसमाप्तिः । तृतीयायां समयाधिकं त्रिसागरोपमादिं कृत्वा द्वितीयावि-
समयाधिकक्रमेण यावत्सागरोपमसप्तपरिसमाप्तिः । चतुर्थां समयाधिकसप्तसागरोपमादारम्य द्वितीयावि-
समयाधिकक्रमेण यावद्दशसागरोपमपरिसमाप्तिः । पञ्चम्यां समयाधिकदशसागरोपमादारम्य द्वितीयावि-
समयाधिकक्रमेण यावत्सप्तदशसागरोपमपरिसमाप्तिः । षष्ठ्यां समयाधिकसप्तदशसागरोपमादारम्य द्वितीयावि-
समयाधिकक्रमेण यावद्द्वादशसागरोपमपरिसमाप्तिः । सप्तम्यां समयाधिकद्वादशसागरोपमादारम्य
यावत्पर्यन्तदशसागरोपमपरिसमाप्तिः । एवमेतेष्वामुक्तिलेषु परावृत्तिः भवसंसार ।

क्षेत्र संसार कहते हैं—प्रथम नरकके सीमन्तकसे लेकर सातवें नरकके अप्रतिष्ठ विलें पर्यन्त चौदासी लाख विलें हैं । उनमेंसे एक-एक विलेमें अतीत कालमें अनन्त बार जन्म मरण जीवोंने किया है । भविष्यमें भव्य जीवोंका अनन्त बार जन्म मरण भाज्य है । अभव्य जीवोंका तो भविष्य-
में भी अनन्त जन्म मरण होंगे ।

काल संसार कहते हैं—किसी उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें प्रथम नरकमें जीव उत्पन्न हुआ । मरने पर अन्यत्र उत्पन्न हुआ । फिर कभी उत्सर्पिणीके दूसरे आदि समयमें उत्पन्न हुआ । इसी तरह तीसरे आदि समयोंमें उत्पन्न हुआ । इस प्रकार उत्सर्पिणी कालके सब समयोंमें जन्म लेकर उत्सर्पिणी समाप्त की । इसी प्रकार अवसर्पिणी भी समाप्त की । इस तरह अन्य नरकोंमें उत्पन्न हुआ । इस प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमें अनन्त बार जन्मा मरा ।

भव संसार कहते हैं—प्रथम नरकमें दस हजार वर्षकी आयु लेकर जन्मा और मरा । पुनः एक एक समय अधिक दस हजार वर्षकी आयु लेकर जन्मा और मरा । ऐसा करते करते क्रमसे एक सागर प्रमाण आयु पूर्ण की । फिर दूसरे नरकमें एक समय अधिक एक सागरकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ मरा । इस तरह एक एक समय बढ़ाते हुए तीन सागर प्रमाण आयु पूर्ण की । तीसरे नरकमें एक समय अधिक तीन सागरकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ और एक एक समय बढ़ाते हुए सात सागरकी आयु पूर्ण की । फिर चतुर्थ नरकमें एक समय अधिक सात सागरकी आयु लेकर जन्मा मरा । फिर एक एक समय बढ़ाते बढ़ाते दस सागरकी आयु पूर्ण की । फिर पाँचवें नरकमें एक समय अधिक दस सागरकी आयु लेकर जन्मा मरा । फिर एक एक समय बढ़ाते बढ़ाते सत्रह सागरकी आयु पूर्ण की । फिर छठे नरकमें एक समय अधिक सत्रह सागरसे लेकर एक एक समय बढ़ाते-बढ़ाते बाईस सागरकी आयु पूर्ण की । फिर सातवेंमें एक समय अधिक बाईस सागरसे लेकर तैंतीस सागरकी आयु पूर्ण की' इस प्रकार इन आयुके विकल्पोंके परावर्तनको भव संसार कहते हैं ।

भावसंसारस्तु सर्वजनसुखाधिपत्य इति नेह प्रत्ययते । एवंभूते संसारसागरे अनन्ते । बहुविधबुद्धकल-
 शिक्कित्वं शारीरं, आत्मबुद्धं, मानसं, स्वाभाविकमिति विकल्पेन बहूनि तीव्राणि दुःखानि सल्लोकानि यस्मिन्
 कस्मिन् संसारजाते परिवर्तमानः । जीवो 'बुद्धो' कण्ठेन । 'लब्ध' लभते । किं 'बहुसंस्त' मनुष्यात् ।
 मनुष्यलोकेत्यात्पत्वात् सर्वजगति तिरम्याभूत्तत्तेर्मुज्जतानिर्वर्तकानां कर्मणां कारणभूता ये परिणामास्तेषां
 दुर्घमत्वाच्च । के से परिणामा इत्यत्रोच्यते—

सर्व एव हि जीवपरिणामा मिथ्यात्वासंयमकषायार्थास्त्रिप्रकारा भवन्ति । तीव्रो मध्यमो मन्द इति ।
 कुतः कर्मनिमित्ता हि मिथ्यात्वादयः कर्मणि च तीव्रमध्यममन्धानुभवविशिष्टानि । तेन कारणभेदतः कार्याणां
 परिणामानां विचित्रता । तत्र ये हिंसादयः परिणामा मध्यमास्ते मनुजगतिनिर्वर्तकाः बालिकाराज्या, वाचना,
 गोमूत्रिक्या, कर्मभराणेण च समाप्ताः यथासंख्येन क्रोधमालमायालोभाः परिणामाः । जीवघातं कृत्वा हा दुः-
 क्तं, यथा दुःखं मरणं वास्माकं अप्रियं तथा सर्वजीवानां । अहिंसा शोभना च यं तु असमर्था हिंसादिकं परि-
 ह्युत्विति च परिणामः । मृषा परदोषसूचनं, परगुणानामसहनं चञ्चलं वाऽसज्जनाचारः । साधुनामयोम्य-
 वचने दुष्प्रापारे च प्रवृत्तानां का नाम साधुतास्माकमिति परिणामः । तथा शस्त्रप्रहाराद्व्यनर्थं परद्रव्यापहरणं,
 द्रव्यविनाशो हि सकलकुटुम्बविनाशो । नैतरण तस्माद्दुष्टं कृतं परधनहरणमिति परिणामः । परदारावि-
 लम्बनमस्मानिः कृतं तथतोवाशोभनं । यथास्मद्वाराणां परैर्ग्रहेण दुःखमात्मसाक्षिकं तद्वृत्तमिति परिणामः ।
 यथा गङ्गादिमहानदीनां अनवरतप्रवेशेऽपि न तृप्तिः सागरस्वीवं द्रविणेनापि जीवस्य सन्तोषो नास्तीति परि-

भाव संसारको तो सभी सुखपूर्वक जान लेते हैं । अतः यहाँ उसका विस्तार नहीं किया ।
 इस प्रकारके अनन्त संसार सागरमें मनुष्य पर्याय पाना दुर्लभ है । क्योंकि मनुष्य क्षेत्र अल्प है ।
 तिर्यक्ष तो सब जगत्में उत्पन्न होते हैं । मनुष्य पर्यायमें जन्म लेनेके कारणभूत जो परिणाम हैं वे
 दुर्लभ हैं । वे परिणाम कौनसे हैं यह कहते हैं—मिथ्यात्व असंयम और कषाय रूप सभी जीव
 परिणाम तीन प्रकारके हैं—तीव्र, मध्यम, मन्द, क्योंकि मिथ्यात्व आदि परिणाम कर्मके निमित्त-
 से होते हैं और कर्म तीव्र मन्द और मध्यम अनुभाग शक्तिसे युक्त होते हैं । अतः कारणके भेदसे
 उनके कार्य परिणामोंमें भी विचित्रता होती है । उनमेंसे जो हिंसा आदि रूप परिणाम मध्यम
 होते हैं वे मनुष्य गतिके कारण होते हैं । ऐसे परिणाम हैं बालूकी लकीरके समान क्रोध, लकड़ीके
 समान मान, गोमूत्रिकके समान माया और कीबड़के रागके समान लोभ । जीवघात करके पछ-
 ताना, हा बुरा किया । जैसे दुःख और मरण हमें अप्रिय हैं उस तरह सभी जीवोंको अप्रिय हैं ।
 अहिंसा उत्तम है किन्तु हमलोग हिंसा आदिको त्यागनेमें असमर्थ हैं । इस प्रकारके परिणाम
 मनुष्यगतिके कारण हैं । दूसरेको झूठा दोष लगाना, दूसरेके गुणोंको न सहना, ठगना ये दुर्जनोंके
 आचार हैं । साधुओंके अयोग्य वचन और खोटे व्यापारमें लगे हम लोगोंमें साधुता कैसे संभव है
 इस प्रकारके परिणाम मनुष्यगतिके कारण हैं । दूसरेके द्रव्यका हरण करना शस्त्र प्रहारसे भी बुरा
 है । द्रव्यका विनाश समस्त कुटुम्बका विनाश है । इसलिए दूसरेका धन हरना खोटा काम है ।
 इस प्रकारके परिणाम मनुष्यगतिके कारण हैं । हमने जो परस्त्री आदिका सेवन किया यह बुरा
 किया । जैसे हमारी स्त्रियोंको दूसरे पकड़ें तो हमें दुःख होता है उसी तरह दूसरोंको भी होता है ।
 इस प्रकारके परिणाम मनुष्य गतिके कारण हैं । जैसे गंगा आदि महा नदियोंके द्वारा रात दिन
 जल आने पर भी सागरकी तृप्ति नहीं होती, इसी तरह धनसे भी जीवोंको सन्तोष नहीं होता ।

आमः । एवमाधिपरिणामानामनुभवता अनुभवसिद्धिः । इत्थं दुर्लभमनुजलं साधुवचने पश्यमिव दधः । धर्मरक्षितमण्डले तत्र ह्य, चण्डकोपे दमेव, कुम्भे सत्यवचनमिव, मानिनि परगुणस्तवनमिव, वामलोचनवावा-
 मार्चमिव, शक्रेण्यकारकतेव, आत्माभासमतेषु वस्तुतत्त्वावबोधे इव । तद्द शेष मनुजत्वमिव । 'द्वैतकुलकल्पना-
 रौप्यवाक्यं बुद्धीं देशः, कुलं, रूपं, आरोग्यं, आयुर्बुद्धिश्च । 'सर्वत्र गृह्यं सत्त्वा व' संजयो भवर्ष, प्रहृषं
 अद्वा संयमश्चेत्येते 'द्वैतशास्त्रं' दुर्लभा लोके । तत्र देशदुर्लभतोष्यते । कर्मभूमिजा, भोगभूमिजा अन्तर्द्वीपजाः
 सम्पूर्णिकाः इति षतुःप्रकारा मनुजाः । पञ्च भरताः, पञ्च ऐरावताः, पञ्च विदेहाः इति पञ्चदशकर्मभूमयः ।
 पञ्च हैमवतवर्षाः, पञ्च हरिवर्षाः, पञ्च देवकुरवः, पञ्च उत्तरकुरवः, पञ्च रम्यकाः, पञ्च हैरप्यवतवर्षाः
 विश्वद्रोमभूमयः । लवणकालोदधिसमुद्रयोरन्तरद्वीपाः । चक्रिस्त्वन्वावारप्रलवोष्चारभूमयः शुक्रसिंहाणकमलेष्वा-
 कर्णवन्तमलानि चाङ्गुलासंख्यातभागमात्रघारीराणां सम्पूर्णिकामानां जन्मस्थानानि । तत्र भोगभूमिमन्तरद्वीपं च
 परिहृत्य कर्मभूमिसुप्तसिद्धुर्लभा । कर्मभूमिषु च बर्बरचिलातकारसीकादिदेशपरिहारेण अङ्गवक्त्रमयवादिदेषीषु
 उत्पत्तिः । लम्बेऽपि देशे चाण्डालादिकुलपरिहारेण तपोयोग्ये कुले जाती । जातिर्मातृवृद्धः । सुकुलं कर्षं दुर्लभं
 इति शेषनोच्यते । जाति, कुलं, रूपं, ऐश्वर्यं, ज्ञानं, तपो, बलं वा प्राप्य अगमितत्त्व अन्येऽप्येतेषु वैररिकाः
 स्वबुद्धयानमनं, परालम्बकारणं, गुणाधिकेषु नीचैर्बुति, परेण पृष्टस्यापि अन्यदोषाकथनं, आत्मगुणस्वास्तवनं,
 इत्येते परिणामीः उच्चैर्गोत्रं कर्म बापाद्यते तेन कुलेषु पूज्येऽपि जायते जन्तुरयं पुनर्न तथा प्रवर्तते जडमतिः ।
 किन्वेतद्विपरीतेषु परिणामेषु वर्तमानो नीचैर्गोत्रमेव बध्नाति असकृत्तेन पूज्यं कुलं दुर्लभं । उक्तं च—

इस प्रकारके परिणामोंकी दुर्लभता अनुभवसे सिद्ध है । इस प्रकार मनुष्य जन्म वैसे ही दुर्लभ है
 जैसे साधुके मुखमें कठोर वचन सूर्यमण्डलमें अन्धकार, प्रचण्ड क्रोधमें दया, लोभीमें सत्यवचन,
 मानीमें दूसरेके गुणोंका स्तवन, स्त्रीमें सरलता, दुर्जनोमें उपकारकी स्वीकृति, आत्माभासोंके मतों
 में वस्तु तत्त्वका ज्ञान दुर्लभ है । देश, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, प्रहृण, श्रवण और संयम
 ये लोकमें उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं ।

उनमेंसे देशकी दुर्लभता कहते हैं—मनुष्य चार प्रकारके हैं—कर्मभूमिया, भोगभूमिया,
 अन्तर्द्वीपज और सम्पूर्णिक । पाँच भरत, पाँच ऐरावत, पाँच विदेह ये पन्द्रह कर्मभूमिया हैं ।
 पाँच हैमवत वर्ष, पाँच हरिवर्ष, पाँच उत्तरकुरु, पाँच देवकुरु, पाँच रम्यक, पाँच हैरप्यवत, ये
 तीस भोगभूमियाँ हैं । लवणसमुद्र और कालोदधि समुद्रमें अन्तर्द्वीप हैं । चक्रवर्तीकी सेनाके निवास-
 स्थानकी मलमूत्र त्यागनेकी भूमियाँ, वीर्य, नाक, धूक, कान और दाँतका मेल, ये अंगुलके
 अंसख्यात भाग शरीरवाले सम्पूर्णिक जीवोंके जन्मस्थान हैं । उनमेंसे भोगभूमि और अन्तरद्वीपको
 छोड़ कर्मभूमियोंमें उत्पत्ति दुर्लभ है । कर्मभूमियोंमें बर्बर, चिलातक, पारसीक आदि देशोंको
 छोड़ बंग, बंग, मगध आदि देशोंमें उत्पत्ति दुर्लभ है । योग्य देश मिलनेपर भी चाण्डाल आदि
 कुलोंको छोड़ तपके योग्य कुल जाति मिलना दुर्लभ है । मातृवंशको जाति कहते हैं ।

शङ्कन—सुकुल कैसे दुर्लभ है ?

समाधान—जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान, तप और बलको पाकर अन्य भी इन गुणोंसे
 अधिक है ऐसा अपनी बुद्धिसे मानकर गर्व न करना, दूसरोंको अबज्ञा न करना, अपनेसे जो
 गुणोंमें अधिक हों उनसे नम्र व्यवहार करना, दूसरेके पूछनेपर भी किसीके दोष न कहना, अपने
 गुणोंकी प्रशंसा न करना, इस प्रकारके परिणामोंसे उच्चगोत्रका बन्ध होता है । उससे पूज्य
 कुलोंमें जन्म होता है । किन्तु यह अज्ञानी जीव उस प्रकारकी प्रवृत्ति नहीं करता, बल्कि उक्त

जात्या मतो यः कुलाद्वापि क्वाचैश्चबन्धा श्लागसो वा बलद्वा ।
 प्राथ्यार्ष वा यस्तसौ वा परेषु विद्यायुक्तः स्तौति वात्मानमेव ॥ १ ॥
 जन्मव्यथाभावरतिश्रमार्थां कर्मां मानं बोधितवानं विभक्ति ।
 नीचैर्घोरं नाम कर्मैव वात्पादङ्गारवृषं निन्दितं बन्धवासे ॥ २ ॥
 यस्तु प्राप्यतन्मृतमत्वं कुलाक्षैरन्ध्याभ्युदया कथयामो विशिष्टम् ।
 अन्धकारविषयावधानाति बीरानीचैर्दुःखा पुण्यते वाधिकेषु ॥ ३ ॥
 पुष्टोऽन्यथैर्नन्यबोधाश्चभीति नात्मानं वा स्तौति भिन्नुक्तमानः ।
 उच्चैर्घोरं नाम कर्मैव बीजान् बन्नातीष्टं बन्धवासे प्रजानाम् ॥ ४ ॥ इति । []

नीरोगस्त्रापि दुर्लभा, असकृदवद्वेषकर्मबन्धनात् । बन्धाच्छेदात्ताडनाम्भारणाद्दाहप्रोधाभ्यामसद्वेषमेव
 बन्नाति । तथा चाम्यथायि—

अन्धैर्वा धो दुःखमज्ञोऽनुकम्पां स्वस्त्या तोषं तीक्ष्णसंकेतयुक्तः ।
 बन्धच्छेदैस्ताडनैर्मरिचैश्च दाहै रोषैश्चापि नित्यं करोति ॥
 तीक्ष्णं काङ्क्षन्नात्मनो दुष्टचित्तो नीचो तीक्ष्णं कर्म कुर्वन्सदैव ।
 पदधास्तापं तापिता यः प्रयाति बन्नात्येवोऽसातवेष्टं सदैवम् ॥ इति । []

रोगाभिप्रवान्पटबुद्धिचेष्ट. कथमिव हितोद्योगं कुर्यात् ।

तथा चामाणि—

प्राप्नोत्युपास्ताविह जीवतोऽपि महामयं रोषमहाशमिभ्यः ।
 यथाजनिः क्षान्तिपत्तवबुद्धो रोगस्तापागत्य निहन्ति वैहम् ॥ १ ॥

परिणामोसे विपरीत परिणाम करके बार-बार नीचगोत्रका बन्ध करता है इससे पूज्य कुल दुर्लभ
 है । कहा है—

जो जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान या बलका मद करता है, घन अथवा लपको प्राप्त
 करके दूसरोंकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करता है, अन्यकी अवज्ञा, अनादर और तिरस्कार
 करके खूब घमण्ड करता है वह बचपनसे ही नीचगोत्र नामक कर्मका बन्ध करके नीचकुलमें
 जन्म लेता है । और जो उत्तमकुल आदि प्राप्त करके दूसरोंको अपनेसे विशिष्ट मानता है,
 किसीकी भी अवज्ञा नहीं करता । अपनेसे अधिकोंमें नम्रव्यवहार करता है । पूछनेपर भी दूसरोंके
 दोष नहीं कहता और अपनी प्रशंसा नहीं करता । वह मानरहित व्यक्ति उच्चगोत्रका बन्ध करता
 है जो जनताको इष्ट है ।

नीरोगता भी दुर्लभ है क्योंकि जीव निरन्तर असातावेदनीयकर्मका बन्ध करता है ।
 बन्धन, छेदन, ताड़न, मारण, दाह, और रोगसे असातावेदनीय ही कर्म बँधता है । कहा है—
 जो अज्ञानी तीव्र संकलेशसे युक्त हो, दया त्याग दूसरोंको बन्धन, छेदन, ताड़न, मारण, दाह और
 रोषसे नित्य तीव्र दुःख देता है, जो दुष्टचित्त नीच पुरुष अपनेको सुख चाहता हुआ सदैव
 नीचकर्म करता है और सताये हुएसे सताये जानेपर पछताता है वह सदैव असातवेदनीयको
 बाँधता है ।

रोगसे ग्रस्त होनेपर उसकी बुद्धि और चेष्टा नष्ट हो जाती है तब वह कैसे अपने हितका
 उद्योग कर सकता है ? कहा है—

इस लोकमें जीवन प्राप्त करके भी वह रोगरूपी महान् बध्नात्तसे महाभयग्रस्त रहता

बलमनुषी बलनुष्यात् न तावदात्मन्य रोगः समुपैति वैहम् ।

फलस्यै बलस्य हि वायु तन्मोत्साहनं घातः इत्यतनो न वायत् ॥

तस्मिन्मन्वेहे परिवाचकान्ते शेषः तन्मनु न पुच्छेन सत्यम् ।

वृहे समस्तान् हि बह्यन्तान् सन्तः प्रकृत्युं पुच्छोऽत्र किञ्चित् ॥ इति । []

सदा परप्राणिघातोद्यतस्तवीयप्रियतमजीवितविनाशानात् प्रायेणात्प्रायुरेव भवति । आयुषपक्षेदेने बहूनि निमित्तानि—जल, ज्वलनः, भासतः, सर्पाः, वृक्षिकाः, रोगा, उष्णवातनिशवासनिरोध, आहारालाभः, वेद-
नेत्येवमादीनि । ततो दार्ढ्यमायुर्न सुलभं मनुजत्रये । सामान्यबलमोष्यायुःशब्दः दीर्घं मनुजायुषि वर्तमानो
वृद्धितोऽप्यथायुर्मानस्य संसारिणः सुलभत्वात् । लम्बेऽपि देधादिषु बुद्धिदुर्लभा । परलोकान्नेषणपरा बुद्धिश्च
बुद्धिशब्देनोच्यते न ज्ञानमात्रवाची । तद्धि सुलभं ज्ञानावरणेनावच्छेदबोधवीर्यस्य जलधर-भटावद्वमप्यलस्य
छायामान्द्यमिव दिनपतेरपि शेषकं भवति ज्ञानम् । किञ्चिन्मिथ्यात्वोदयाद्विपर्यस्तमुदेति विज्ञान । नैवात्मा नाम
कश्चित्कर्ता सुभायुषयोः कर्मणोः । नापि तत्फलानुभवनिरतः, नापि परलोक प्राप्य कर्मवशाद्वर्तना कश्चि-
चित् । तथाभ्यधायि—

शोको मायं नारदो नापि चरन्ता धर्मावर्णां पुण्यपापे न चापि ।

स्वर्गो दुष्टः केन केनाचवा ते घोरा दुष्टा नारकानां निवासः ॥

बन्धः को वा कोऽथवा तोऽस्ति मौल्यो, निष्ठा सर्वं बन्धधैर्यं निरर्था ।

प्राप्ताः कामाः शेषितव्या यथेष्टं दुष्टं त्यक्त्वा दूरमे कोऽभिलाष ॥ []

है । जैसे आकाशसे अचानक बज्रपात होता है वैसे रोग अचानक आकर शरीरका घात करता है । बल, आयु, रूपादिगुण सभी तक हैं जब तक शरीरमें रोग नहीं होता । पेड़की डालमें लगा फल सभी तक नहीं गिरता जब तक हवा नहीं चलती । उसे अपने शरीरमें पीड़ा होने पर सुख-पूर्वक कल्याण करना शक्य नहीं है । घरके चारों ओरसे न जलने पर ही पुरुष कुछ कर सकता है । घर भस्म हो जाने पर कुछ नहीं कर सकता ।

जो सदा दूसरे प्राणियोंके घातमें तत्पर रहता है वह उनके प्रियतम जीवनका विनाश करने से प्रायः अल्प आयु वाला होता है । आयुके नष्ट होनेके बहुतसे निमित्त हैं—जल, आग, वायु, साँप, बिच्छु, रोग, दवासोच्छ्वासका रुकना, भोजनका न मिलना, वेदना आदि । अतः मनुष्य भवमें दीर्घ आयु सुलभ नहीं है । यह आयुशब्द सामान्य आयुका वाचक होने पर भी दीर्घ मनुष्यायुके अर्थमें ग्रहण किया है । अन्यथा आयु मात्र तो ससारी जीवोंमें सुलभ है । देश आदि प्राप्त होने पर भी बुद्धिकी प्राप्ति दुर्लभ है । यहाँ बुद्धि शब्दसे परलोककी खोजमें तत्पर बुद्धि ग्रहण की है, ज्ञान मात्रको वाचक बुद्धि नहीं । ज्ञानमात्र तो सुलभ है । जैसे सूर्यमण्डलके मेघकी घटासे ढक जानेपर हलकी छाया रहती है वैसे ही ज्ञान शक्तिके ज्ञानावरणसे ढक जानेपर साधारण ज्ञान रहता है । मिथ्यात्वका उदय होनेसे ज्ञान विपरीत हो जाता है । यथा—आत्मा नहीं है न कोई शुभ अशुभ कर्मका कर्ता है और न कोई उसके फलका भोक्ता है । न कोई कर्मके परवश होकर परलोक जाता है । कहा है—

‘न कोई इह लोक है, न कोई परलोक है । न आत्मा है, न धर्म अधर्म हैं, न पुण्य पाप हैं । किसने स्वर्ग देखा है और किसने वे भयानक नारकियोंके निवास देखे हैं ? कौन बन्ध है और कौन

१. फलस्य वाचा वतवृत्तन्तो । २. रपटाव-आ० । रपकाव-मु० ।

इति । तथा 'बान्धे—दृषष्टवर्षिका स्त्री विसृतिर्वाधिकः पुमान् तमोः परस्परं प्रेमपूर्वहावभावविभ्रम-
कटाक्षकिर्लिकिचितादिभावपूर्वकः संयोग एव स्वर्गः नाम्यः ।

स्त्रीमुद्रां मकरन्दवदवचनीया । सर्वावर्त्तपरकरी ।

एनां वै प्रविहाय धाम्नि कुविधः स्वर्पापिचर्येच्छया ।

सहोषैविगिहृत्य ते व्रतसरं नमनीकृता भुविभताः

केचिद्वचनदीकृताश्च वदित्वाः कापालिकाश्चापरे ॥ २५० ॥ ५० ॥ ४५ ॥

तथाम्बैरभिहित—जलवृद्धवदवचनीया, परलोकिनोऽभावात्परलोकभावः इति च । सत्यानपि बुद्धौ
समीचीनज्ञानलोचनवटा, सकलप्राणिभूवर्गोचररूपपरिष्वस्यतश्चेत्सा लाभसत्कारादिनिरपेक्षेण, चतुर्गतिपरि-
भ्रमणप्रभवयातनासहस्रमवलोक्य प्राणमृता परमात्मनुकम्पामुपवर्त्तेन हा जगो विष्वेतनः मिथ्यादर्शनाद्यगुभरिणाम-
कदम्बकमिवमस्माभिरशुभगतितिर्वर्त्तनप्रवणमबहूततव्यमित्यजानानस्तथैवासकृत्प्रवर्त्तमानो दुःखरत्नाकरमपारमुप-
विशत्यशरणो बराक इति कृतसकल्पेन यतिजनेन संसर्गो दुर्लभः । कुतः ? दर्शनमोहोदयाज्ज्ञानाभरणोदयाच्च
न यतिगुणान्वेति श्रद्धते वा जनः । तत एव न दौकते यतीन् न वा सुगुणमविकुञ्चस्तदुत्सर्पणमुपपद्यते । अपि च
चारित्रमोहोदयाद्यसंयतैरतिरसितरा पाणिनस्ततोऽज्ञौ हिंसाधिक स्वय करोति, कारयति अनुमोदते । हिंसादिव्यु

मोक्ष है । यह सब मिथ्या और व्यर्थकी यन्त्रणा है । जो काम भोग प्राप्त हैं उन्हें यथेष्ट सेवन
करना चाहिए । सामने वर्तमानको छोड़ दूरवर्तीकी अभिलाषा क्यों ? ।

तथा अन्य भी कहते हैं—सोलह वर्षकी स्त्री और बीस वर्षके पुरुषका परस्परमें प्रेमपूर्वक
हाव भाव, विलास, कटाक्ष, शृङ्गारादि भावपूर्वक संयोग ही स्वर्ग है । इसके सिवाय कोई दूसरा
स्वर्ग नहीं है । कहा है—'कामदेवको जीतनेवाली और समस्त अर्थ सम्पदाको करने वाली स्त्री
मुद्रा है । जो कुबुद्धि स्वर्ग और मोक्षकी इच्छासे इसे छोड़कर जाते हैं वे उसके दोषोंसे सताये जाकर
जल्द ही सिर मुण्डाकर नग्न हो जाते हैं । कुछ लाल वस्त्र धारण करते हैं और कुछ जटायें बढ़ाते
हैं । कुछ हाथमें मनुष्यकी खोपड़ी लेकर कापालिक हो जाते हैं ।' तथा कुछ दूसरोंने भी कहा है—
जीव जलके बुलबुलेके समान हैं और जब कोई परलोककी आत्मा नहीं है तो परलोक भी नहीं है ।

यतिजनोंका चित्त समस्त प्राणियों पर कृपा भावसे युक्त होता है, उन्हें लाभ सत्कार पुरस्कार
आदिकी अपेक्षा नहीं होती । चार गतियोंमें परिभ्रमणसे होनेवाली हजारां यातनाओंको देखकर
प्राणियोंमें अत्यन्त दयालु हो उन्होंने संकल्प किया—'हा, वह अज्ञानी जन—अशुभगतिमें ले जानेमें
समर्थ यह मिथ्यादर्शन आदि अशुभ परिणामोंका समूह हमें त्यागना चाहिए' ऐसा नहीं जानते
और बार-बार उसीमें प्रवृत्ति करते हुए बेचारे अशरण होकर दुःखके अपार समुद्रमें प्रवेश करते
हैं । उनमें बुद्धि होते हुए भी यतिजनके साथ उनका सम्बन्ध नहीं हो पाता, क्योंकि दर्शनमोहके
उदय और ज्ञानावरणके उदयसे मनुष्य यतिजनोंके गुण न तो जानता है और न उनपर श्रद्धा
करता है । इसीसे न तो यतियोंकी ओर देखता है और उनके गुणोंको न जाननेसे उनके पास नहीं
जाता । तथा चारित्र मोहका उदय होनेसे असंयमी जनोंके प्रति उसका अत्यधिक प्रेम होता है
इससे वह प्राणियोंकी स्वयं हिंसा करता है, दूसरोंसे कराता है और कोई स्वयं हिंसा करता है तो

वर्तमानेष्वेव रतिं बध्नाति न हिंसाधिपरिहारोचतेषु । बिना रतिं कथं तैः संसर्गस्तस्वेवा वा । सा हि—
 संसारोच्छेदकरी प्रथमकरी क्षान्त्वुद्धिबुद्धिकरी ।
 कोटिकरी पुण्यकरी संसेवा साधुवर्गस्य ॥
 दर्शनमात्रमपि सतां संसारोच्छेदने बध्ति शीघ्रं ।
 किं पुनरधिकारहस्ता संसेवा साधुवर्गस्य ॥
 तस्सेवा यदि न स्थान्म स्याद् क्षान्मात्रां विना ज्ञानात् ।
 हितकर्मप्रतिफलितं स्वान्न स्वासतो मोक्षः ॥
 साधुपसेवनं यदि धारयन्ते मोक्षमागयति ।
 हानिजनौ च मृचां की साधुस्तेवमानानाम् ॥
 श्रेयाः कथं न यतयो विदुषा श्रेयोधिना मनुष्येभ्य ।
 अक्षयमिह^१ ये श्रेयो मुधाधिनेभ्यः प्रवक्ष्यमिह ॥
 इति सतसमयीष्ट्यात्मनोहाविहपरलोकहितैरपिना नरेण ।
 अगदधिकतपोविभूतिपुक्ता यतिबुधभा विनयेन सेवितव्याः ॥ १ ॥

यदृच्छया जातेऽपि यतिजनसर्गं न गुणः न वेदित मृगुयात् । यथा न बर्बस्य पात एव गुणो नरस्य
 अपि तु भुवि बीजवापः । तदृच्छवण गुणो यतिसमीपगमनेन । तदेवं श्रवण दुर्लभं कथयति । समीपमुपगतो-
 ऽपि निद्रायति ।

समीपस्थाना बचो यत्किञ्चित् मृगोति, न रोचते, वा तद्धर्ममाहात्म्यप्रकाशनं मांहोदयात् । न जानाति

उसकी अनुमोदना करता है । जो हिंसा आदिमें लगे रहते हैं उन्हीसे प्रेम करता है । जो हिंसासे बचनेमें तत्पर हैं उनमें उसकी प्रीति नहीं होती । बिना प्रीति हुए कैसे उनके साथ सम्बन्ध हो सकता है अथवा कैसे उनकी सेवा कर सकता है ?

ऐसे यतिजनको सेवा संसारका विनाश करती है, शान्ति प्रदान करती है, ज्ञान और बुद्धिको बढ़ाती है, यथा तथा पुण्यको लाती है ।

सज्जनोंका दर्शनमात्र भी ससारके विनाश करनेमें बीज होता है फिर साधुवर्गकी अधिकार पूर्वक की गई सम्यक् सेवा का तो कहना ही क्या है ? यदि उनकी सेवा न की जाये तो ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती । ज्ञानके बिना हितकारी कर्मोंका ज्ञान नहीं होता और हितके ज्ञान बिना मोक्ष नहीं होता । यदि साधुजनोंकी सेवा परम्परासे मोक्ष लाती है तो साधुजनोंकी सेवा करने-वाले मनुष्योंकी हानि और श्रम कैसे सम्भव है ? कल्याणका इच्छुक ज्ञानी मनुष्य यतियोंका आश्रय क्यों न लेवे, जो निष्प्रयोजन भी आश्रय लेनेवालोंको अक्षय कल्याण प्रदान करते हैं । इसलिए इस लोक और परलोकमें हित चाहने वाले मनुष्यको निरन्तर मान और मोहको त्यागकर जगत्में अधिक तपकी विभूतिसे युक्त श्रेष्ठ यतियोंकी विनयपूर्वक सेवा करनी चाहिए ।

अद्यानक यतिजनोंका संसर्ग होनेपर भी यदि उनसे हितकी बात न सुने तो कोई लाभ नहीं है । जैसे वर्षाके होनेसे ही मनुष्यका लाभ नहीं है किन्तु जमीनमें बीज बोने पर लाभ है । उसी तरह यतिजनके समागमका लाभ उनसे हितकी बात सुननेसे है । इस प्रकार आचार्य उपदेश सुननेको दुर्लभ कहते हैं । मनुष्य समीपमें जाकर भी सोता है । समीपमें स्थित जनोके वचन

१ य महाश्रियो ये मुधा-आ० ।

वा मतिमान्वावत् एव तत्र मानुराप्नोत्येव । अन्तरेण चानुरागं कथं श्रोतुमुत्सहेत् । तथा चाभाणि—

'साधूनां शिष्यसिन्धुवैदिकानां संश्रयतो गिलयन्धि प्रयासधीवत् ।

जातेन भौ जगत्कलानि तत्र भुञ्जन् शरवाती ह्यङ्गानि पङ्क एव जगन्ः ॥' इति []

सत्यपि अथचे ब्रह्मण विद्वानं धर्मिकपितृत्वार्यस्य बुष्करं । शीष्याऽप्रीवाक्विस्तुतत्त्वस्य कदापिद्वय-
श्रुतत्वात् श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकाराभावाच्च । जाते धर्मतत्त्वे तत्र अज्ञा दुर्लभा । सोऽयं जिनप्रणीतो धर्मः
अहिंसाक्षणः, सत्याधिष्ठानः, परद्रव्यापहरणपरिवर्जनात्मकः, नवविषयब्रह्मचर्ययुक्तः, परित्यक्ताशेषमूछं, विनय-
मूलः, समीचीनज्ञानपुरःसरः, क्षामार्थवार्धार्थसंतोष'गुणः, नरकवर्तनीयकार्गलभूतः, तियग्गतिलताकुठारः,
कठोराक्षनिर्दुःखाचलशिक्षारार्था, मोहमहामहीच्छोत्पाटनपटुमातरिषवा जरादवानलशिखामुक्षप्रशमनमुखरो
चनाशनः, प्रावर्षकः प्राक्षेप्यः, मरणहरिणविशसनचटुल्लवचण्डपुष्करीकः, क्रूररोगोरगाणां विनतासुतः,
संपत्सुरापगायां हिमाचलः, यः सेतुराशयशोकपङ्कस्य, पिता सुमथतायाः, ऐश्वर्यरत्नानामाकरः, कुयोनिवनवि-
प्रनष्टानां पृथुलशिवपुर, इति अज्ञानं अतिदुर्लभं दर्शनमोहोदवात् । उपशमात् क्षयोपशमात्, क्षयाद्वा दर्शन-
मोहस्य जातेऽपि अज्ञाने सयमो दुर्लभतरः प्रत्याख्यानावरणोदवात् । उक्तं च—

थोड़ा बहुत सुनता है किन्तु रचते नहीं । अथवा मोहके उदयसे उनके धर्मके महत्त्वका प्रकाशन
उसे नहीं रचता । अथवा बुद्धिकी मन्दतासे समझता नहीं है । इसीसे उसका उस उपदेशमें अनु-
राग नहीं होता । और अनुरागके बिना सुननेका उत्साह कैसे हो सकता है । कहा है—'जो
मोक्षमार्गके उपदेशक साधुओंके निवास स्थान पर जाकर भी प्रमादवश वहाँ लोगोंकी बातचीत
सुनता हुआ बैठता है वह तालाब पर जाकर भी कीचड़में ही फँस जाता है ।

उपदेश सुनकर भी उसमें कहे गये अर्थका ग्रहण, उसका ज्ञान कठिन है; क्योंकि एक तो
जीवादि वस्तु तत्त्व सूक्ष्म है, दूसरे पहले कभी सुना नहीं, तीसरे श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमका
प्रकर्ष नहीं है । धर्मतत्त्वको जानने पर भी उसमें श्रद्धा दुर्लभ है । वह यह जिन भगवानके द्वारा
कहा गया धर्म अहिंसा रूप है, सत्य उसका आधार है, उसमें परद्रव्यका अपहरण त्यागना होता
है, गौ प्रकारके ब्रह्मचर्यसे वह रक्षित है, उसमें समस्त ममत्वभाव छोड़ना होता है । विनय उसका
मूल है । समीचीन ज्ञानपूर्वक वह धर्म होता है । क्षमा, मार्दव, आज्ञव, सन्तोष उसके गुण है ।
नरकके मार्गके लिए वज्रकी साफल रूप है । तिर्यञ्चगतिरूपी बेलके लिए कुठार है । दुःखरूप
पर्वतोंके शिक्षारोंके लिए कठोर वज्र है । मोहरूपी महावृक्षको उखाड़नेमें चतुर प्रचण्ड बाघू है ।
जराक्षी जंगलकी आगकी लपेटोंको शान्त करनेके लिए वर्षाकालीन मेघ है । मृत्युरूपी हरिण-
का बध करनेके लिए प्रचण्ड बाघ है । क्रूर रोगरूपी सर्पोंके लिए गरुड है । सम्पत्तिरूपी गंगाकी
उत्पत्तिके लिए हिमवान पर्वत है । गम्भीर शोक रूपी कीचड़से पार उतरनेके लिए पुल है ।
सौभाग्यका पिता है । ऐश्वर्य रूपी रत्नोंकी खान है, कुयोनिरूपी वनमें भटकते हुए लोगोंके लिए
विशाल मोक्ष नगर है ।' इस प्रकारका अज्ञान दर्शनमोहका उदय होनेसे अति दुर्लभ है । दर्शन-
मोहका उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे अज्ञान होनेपर भी प्रत्याख्यानावरणका उदय होनेसे
संयम उससे भी अधिक दुर्लभ है । कहा है—

दुर्लभो भवति नरैश्च तत्त्वदर्शनात्प्रायः प्रयत्नमत्र कष्टमेव ।
 तस्मात्सत्त्वाभ्युत्थितमनुष्यं वृष्टतत्त्वः, सद्धर्मं क्षणमपि वा कृपाः प्रमादम् ॥
 मूढाश्च सुकरतरौघेषि पापकर्म्यात् धर्मोऽभूत्क्षानमपि दुष्करो व्रणुष्ये ।
 आश्चर्यं किमपि न चात्र सन्ति मूढाः स्यादेतत् ध्रुवमिह कर्मणां गुणवत् ॥
 काकिष्वाभ्यपि कथयन्तुं महान्तं तद्धेतो भवन्तुलं करोति यत्नात् ।
 न त्वन्नः सुरमनुष्यद्विनोक्षन्तुः सद्धर्मं हृदयमपि स्थिरीकरोति ॥
 यत्प्राये भूषणहिते करोति वेष्टामालस्यं परमहिते च याति धर्मं ।
 युगं तद्वद्वि न तथा भवंत्पुण्य्यां संसारं मनु पुण्यः कथं लभेत ॥ इति । []

एवमपि 'परिषंभ' दुर्लभपरंपरया । 'लङ्घन' चि' लब्ध्वापि । 'संयम' सज्जम । 'क्षयणो' क्षयक । किं न 'लभेत्सु सुधि' न लभते श्रुति । 'संयोगकरी' संसारमयजननी । 'अवहृत्सुवसकासि' अवहृत्सुवसकस्य सूरं पाषणं । तस्माच्छ्रुतवानाचार्यं आश्रयणीयः इति प्र. तुतेन सवन्ध. ॥

'सद्धर्मं सुधिमलभतौ' समीचीना श्रुतिमलभमान । कदा ? मरणकाले । 'अवहृत्सुवसकासि' अवहृत्सुवसकस्य पाषणं । 'विण्मूढ' चिरं कालं । 'श्रुतिमनुष्यमित्यादि' मुक्तिशब्देनात्र प्राणेश्चिद्व्यविषयासयमत्याग. परिगृह्यते । तेनायमर्थः—चिरप्रवृत्तिसयमोऽपीति । 'परिबद्धि' प्रस्यवते । कुतः ? संयमात् । सयमहानिकथनेन चारिणा-
 राधनाया अभाव आश्रयायते । सयमात्प्रस्यवते कथमिति चेत्—मनोज्ञानामनोज्ञाना च विषयाणा सर्वत्र सदा च सानिष्ठात् अभ्यन्तरकारणस्य कर्मणोऽपि रागद्वेषमोहपरिणामा. प्रादुर्भवन्तीति ते दुर्निवारा इति वदन्ति ।

मनुष्यके द्वारा धर्मका तत्त्व जानना कठिन है । जानकर भी उसमें प्रयत्नशीलता कष्टकर है । उस धर्मको जानकर, तत्त्व दृष्टिसे सम्पन्न मनुष्यों धैर्य धारण करके समीचीन धर्मके विषय-
 में एक क्षणके लिए भी प्रमाद मत करो । पापकार्यसे अति सुकर होने पर भी यह धर्म मनुष्योंको क्षणभरके लिए दुष्कर होता है । इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । यह निश्चय ही कर्मोंकी गुरुताका फल है । यह मनुष्य एक कौड़ीमें भी महान् गुण मानकर उसके लिए अतुल श्रम करता है । किन्तु अज्ञानी देव और मनुष्योकी ऋद्धिके मूल समीचीन धर्ममें अपने मनको भी स्थिर नहीं करता । अत्यन्त अहितकारी पापमें तो चेष्टा करता है और परमहितकारी धर्ममें आलस्य करता है । यह ठीक ही है । यदि ऐसा न होता तो पुरुष इस पृथिवी पर संसार कैसे पाता, कैसे सर्वत्र भ्रमण करता ।

इस तरह उत्तरोत्तर दुर्लभ संयमको धारण करके भी क्षणक अल्पज्ञानी आचार्यके पास संसारसे भयभीत करनेवाला उपदेश नहीं प्राप्त कर सकता । इसलिए शास्त्रज्ञ आचार्यका आश्रय लेना चाहिए, ऐसा प्रस्तुत कथनके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए । अल्पज्ञानी आचार्यके पास समीचीन उपदेश न पाकर चिरकाल तक मुक्तिको—यहाँ मुक्तिशब्दसे प्राणी और इन्द्रियोंके विषयमें असंयमका त्याग लिया जाता है । अतः उसका अर्थ होता है—संयमको धारण करके भी भरते समय संयमसे गिर जाता है । संयमकी हानि कहुनेसे उसके चारित्र आराधनाका अभाव कहा है । संयमसे क्यों गिरता है । यह कहते हैं—

मनको प्रिय और अप्रिय लगानेवाले विषयोंके सदा सर्वत्र समीप रहनेसे तथा अभ्यन्तर कारण कर्मका उदय होनेसे रागद्वेष और मोहरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं और वे दुर्निवार होते

'कण्ठं बन्ती छेत्तु' अन्वयः— बन्ती शब्दोऽप्यन्तरेण गाढावलम्बता हि तत्र संभवति लक्षयते बन्ती च्छेत्तु । 'तस्ते' गुल्मात् 'उक्थंविद्यु' अथक्कण्ठः । 'पुणो' पदधात् । 'दुक्थं' दुष्करं । 'इव' एवं । 'संख्यस्व पि' तयतस्यापि मनः । 'वित्तस्तु' रूपादिविषयम् । 'उक्थंविद्यु' अथक्कण्ठः । 'दुक्थं' दुष्करं । रागद्वेषयो व्यावर्तयितु अशक्य । एतदुक्तं भवति— रागद्वेषविषये यदि नाम प्रतिज्ञा कृता तथापि कृतशरीरसल्लेखनस्य क्षुधाविपरीतवर्तमानस्य य मन्ववीर्यस्य न श्रुतज्ञानप्रणिधानान्तश्चान्तरेण रागद्वेषयोः प्रवृत्तेर्न चारित्र्याशकता स्यात् । बहुश्रुतः पुनः यथास्य रागद्वेषो न जायेत तद्योपविशति भोगनिर्वेजनीं शरीरनिर्वेजनी वा कथामित्थं—

एकान्तदुःखं निरयप्रतिष्ठा तिर्यक्तु देवेषु च मनुष्येषु ।
 कर्षकित्वादिभ्यो कर्षादिभ्येव सौख्यस्य संज्ञात्र शरीरिणां स्यात् ॥ १ ॥
 एकेन जन्मस्वदताऽऽप्रेयं शरीरिणा दुःखमवाप्यते यत् ।
 जनन्तभागोऽपि न तस्य हि स्यात् सर्वं सुखम् सर्वशरीरसंख्यं ॥ २ ॥
 तत्रैकजीवः सुखभाग्येकं भवेत्किमन्तं जननाभेदमित्थम् ।
 चंचूर्वमानः परितो वराको भवेत्तिभीतो हरिणो यथैकः ॥ ३ ॥
 मन्ववन्तेषु सुखे तथापि शरीरिणैकेन समापनीये ।
 एकप्रसूतो यववाप्यते तत्किमद्भवेत्तस्य विमृश्यमाणं ॥ ४ ॥
 अत्यल्पमप्यस्य तवस्तु तावत्सवुःखराशी पतितं तवीयम् ।
 स्यात्सद्वत् स्वानुरक्तं यथाम्बु प्राप्याम्बुधानां लवणार्णवान्बु ॥ ५ ॥
 यथाप्यवः सौख्यमितीष्यतेऽत्र पूर्वोक्तदुःखप्रतिकार एवः ।
 विना हि दुःखान्प्रथमप्रसूतात् न लभ्यते किञ्चन सौख्यमत्र ॥ ६ ॥

है । जैसे बाँसका झुण्ड गाढरूपसे बृहद् रहता है उसमेसे छोटा बाँस तो खींचा जा सकता है । किन्तु पीछे उसको अलग करना बहुत कठिन है । उसी तरह संयमीका भी मन रूपादिविषयोंमें फँसनेपर निकालना कठिन होता है अर्थात् रागद्वेषसे हटाना अशक्य होता है । कहनेका आशय यह है कि यद्यपि रागद्वेषको जीतनेकी प्रतिज्ञा की है फिर भी शरीरकी सल्लेखना करनेपर भूख आदिकी परीषहसे पीडित और मन्दशक्ति उस क्षपकके श्रुतज्ञानकी और उपयोग नहीं होता । और उसके बिना रागद्वेषमे प्रवृत्ति होनेसे चारित्र्यकी आराधना नहीं होती । किन्तु बहुश्रुत आचार्य उसको रागद्वेष पैदा न हों इस प्रकारकी भोग और शरीरसे वंराग्य करानेवाली कथा इस प्रकार कहता है—

नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवोंमें सर्वथा दुःख ही है । उनमें प्राणियोंको सुखकी संज्ञा कभी, कहीं किञ्चित् ही होती है । एक प्राणी नाना जन्मोंमें भ्रमण करते हुए जो अपरिमित दुःख भोगता है उसका अनन्तभाग भी सब सुख सब शरीरोंमें मिलकर भी नहीं होता । तब इस जन्मरूपी समुद्रमें एक जीव उस सुखका कितना भाग भोगता है ? जैसे वनमें एक अत्यन्त डरा हुआ बेचारा हरिण सब ओरसे त्रस्त हुआ रहता है वैसी ही दशा जीवकी संसारमें है । अनन्तश्रमोंमें एक प्राणी के द्वारा प्राप्त सुख की जब यह स्थिति है तो उसका विचार करनेपर एक जन्ममें जो सुख प्राप्त होता है वह कितना होगा । अत्यन्त अल्प भी यह सुख दुःखके समुद्रमें गिरकर दुःखरूप ही हो जाता है । जैसे मीठा भी मेघोंका पानी लवण समुद्रके जलमें पड़कर खारा हो जाता है । तथा उसमें जो सुखका आभास होता है वह सुख नहीं है किन्तु पहले उत्पन्न हुए दुःखका प्रतिकार है ।

प्रवीयते ह्यन्वु सुधाप्रधानस्यै शुभान्नामायास्तनमस्यते च ।
 वेधमाशुधातातवधारणाय गुह्यप्रतिच्छादनमन्धरं च ॥ ७ ॥
 शीतानुष्णधारणं च दुग्धं सय्या च निद्राभयनोपमाय ।
 शान्तिनि धान्यवधनधारणार्थं स्नानं अमस्त्वेषनमापनुये ॥ ८ ॥
 स्थानभयस्त्वौषधमासनं च दुर्गन्धनाशय च गन्धसेवा ।
 वैद्यक्यनाशय च भूषणानि कलाभियोगोऽरतिधाषणाय ॥ ९ ॥
 तथैव सर्वं परिचिन्त्यमानं ओषानिधानं सुरभानुधाषणम् ।
 दुःखप्रतीकारनिमित्तमेव भेषज्यसेवेव स्नाहितस्य ॥१०॥
 पित्तप्रकोपेन विद्युद्गुणाने इष्याणि शीतानि निवेद्यमायः ।
 कन्धेत भोगा इति तानि योजः कुर्वति सौज्जनाविषु भोगसंज्ञाः ॥११॥
 यतश्च नैकान्तसुखाप्रदाने इष्याणि तोषप्रभृतीनि लोके ।
 अतश्च दुःखप्रतिकारमुद्दि तेषु प्रकुर्यान्न तु भोगसंज्ञाम् ॥१२॥
 शुषानिभूतस्य हि यस्तुल्याय तत्रैव तुलस्य विषायतेऽनम् ।
 उज्ज्वलितः काङ्क्षति यानि चेह् तास्यैव विद्वेषकराणि शीते ॥१३॥

किं च स्वचक्रविक्रमाक्रान्तदेवमानवविद्याधरचक्राणां निकटोपनिविष्टाक्षयनबनिधीना, समधिगतचतुर्द-
 शरत्नानां, चक्रलाञ्छनानां, दशाङ्गभोगानुभवचतुराणां तथा सुधाधानानामप्यनेकसमुद्रोपमजीविना, अप्रच्यवप्रत्य-
 प्रथीबनानां, सहजस्वैच्छानुसारविष्याभरणमास्यवसनसंपत्सौभाग्यस्कन्धेन मनोनयनबल्लभरूपप्रसूनोऽज्ज्वलेन

पहले हुए दुःखके बिना उसमें किञ्चित् भी सुख प्रतीत नहीं हो सकता। प्यासकी शान्तिके लिए पानी पिया जाता है और भूखकी शान्तिके भोजन किया जाता है। पानी, हवा और घामसे बचनेके लिए मकान होता है और गुह्यभागको ढकनेके लिए वस्त्र होता है। ठंडसे बचनेके लिए ओढ़ना होता है। निद्रा तथा थकान दूर करनेके लिए शय्या होती है। मार्गिक श्रमसे बचनेके लिए सवारी होती है। थकान, पसीना और मल दूर करनेके लिए स्नान होता है। बंठनेके श्रमका इलाज आसन है। दुर्गन्ध दूर करनेके लिए सुगन्धका सेवन होता है। विरूपताको दूर करनेके लिए आभूषण पहने जाते हैं। अरतिको दूर करनेके लिए कलाएँ हैं। इस प्रकार विचार करने पर देव और मनुष्योंके जो ये भोग हैं वे सब दुःखको दूर करनेमें ही निमित्त हैं। जैसे रोगसे पीड़ित रोगी औषधिका सेवन करता है। पित्तके प्रकोपसे शरीरके जलने पर जो शीत पदार्थके सेवनको भोग मानता है वही अज्ञानी अन्न आदिको भोग नामसे कहता है। किन्तु यतः लोकमें जल आदि पदार्थ एकान्तसे सुख देनेवाले नहीं हैं अतः उनको दुःखका प्रतीकार करनेवाला ही कहना चाहिए, भोग नामसे नहीं कहना चाहिए। जो अन्न भूखसे पीड़ितको सुख देता है वही अन्न पेटभरे व्यक्तिको विषके समान लगता है। गर्मसे पीड़ित मनुष्य जिन पदार्थोंकी इच्छा करता है, शीतसे पीड़ित उन्हेंसे द्वेष करता है।

तथा अपने चक्ररत्नसे देव, मनुष्य और विद्याधरोंके समूहको बधमें करनेवाले, अक्षय नौ निधियोंके स्वामी और चौदह रत्नोंसे सम्पन्न चक्रवर्तियोंकी, जो इस प्रकारके भोगोंको भोगनेमें चतुर हैं, भोगोंसे तृप्ति नहीं होती। तथा अनेक सागरोंकी आयुवाले अमृतभोजी देवोंकी भी भोगोंसे तृप्ति नहीं होती जो देवांगनारूपी लताओंके वनसे घिरे रहते हैं। वे देवांगना लताएँ भी कैसी हैं? जो जन्मजात अपने इच्छानुसार दिव्य आभरण, माला, वस्त्र सम्पदारूपी सौभाग्य

विद्यालयकावेन, लोकुमार्याङ्कुरेण विद्यङ्गनामुखशास्यमावसीरमेण विदुमाचरपल्लवेन, निजिकोसतपुसस्सगफलेन, मनीमववद्विगामिलप्रेरान्धोलितेन, ललितभुजशाखाप्रदानेन, स्फुरत्तपनीयमयस्रमवेदिकापरीतकामनीरमरित्तविद्यालयजघनसरोविभ्रूचयेन, मुखरनूपुरभ्रमरकृतकलकलेन देवकम्बालतावनेन परिनुवानामपि परीनमित्स्तिमं किं पुनरितरमाजवानां । अपि च तीव्रतरपुंवेदीदयानकजमित्तवेदीविद्याहारां शैवीषधं वामलोचनतंनमः ताप-प्रकर्षानुबन्धत्वात् । स्ववीचनविलासचानुर्यसीभार्यादीनां प्रकर्षापकर्षरूपेणावस्थितत्वाच्चङ्गनासु । तास्ताः पक्व-तोऽपि उत्कम्पानुपरतमुपजायमाना विद्याह्रमवहसि दुर्बुहं । तास्त्ययत्वा चेनं मान्ति मूर्ति वा डोकन्ते, परीबीक-त्रिषीपिह्नुमन्ते । स्वयं वा बुविभीचतमपातकयमपाक्षेनाङ्कव्यमंगो विहाय तानि विवृतमुखो, निगियेचनकनो नितान्तरोधनाम्बधितकोहितलोचना जहाति । तासां तनवोऽपि स्फटिकमालैबोपाभितगुणघ्राप्यः ताव्वास्थिर-रायाः संभ्यासमयजलदलेक्षेव दुर्लभास्व । स्त्रीवस्त्रगन्धमात्यादीश्च लब्धानप्य'पहरन्त बलिनः इति महद्भूवं, न च ते'र्जयन्ति । तवर्धनां वट्कर्मसु प्रयतितव्यं । तानि च संविन्धकलानि बहुतरामासमूलानि हितावि-सावधक्रियापरतन्त्रानि, दुर्गतिवर्धनानि इत्येवभारिभका भोगनिर्बन्धनी । शरीरं पुनरिदमपुचिनिधानं, आत्मनो महान् भारः, न चावास्ति किञ्चित्सारमूतं । सन्निहितानेकापायं व्याधिसत्त्वाना जेवं, जराकाकिनोपित्तमूहं । किं

स्कन्धवाली हैं, मन और नेत्रोंको प्रिय रूप सौन्दर्यरूपी पुष्पोसे शोभित हैं, विलासरूपी पत्तोसे वेष्टित हैं, सौकुमार्यं उनका अंकुर है, दिशारूपी अंगनाओंके मुखकी सुवास जैसी उनकी सुगन्ध है, मृगेके समान उनके ओष्ठरूपी पल्लव हैं, घने ऊँचे गोल स्तनरूपी फल हैं, कामदेव-रूपी दक्षिण वायुकी प्रेरणासे वे हिलती हैं, ललित भुजारूपी उनका शाखाविस्तार है, चमकदार सोनेकी करघनीरूपी वेदिकासे चिरे और कामजलसे भरे विशाल जघनरूपी सरोवरसे भूषित है, बजते हुए नूपुररूपी भीनोंकी गुंजारसे गुंजित हैं । ऐसी देवांगनाओंसे चिरे हुए देवोंकी भी जब भोगोंसे तृप्ति नहीं होती तब अन्य मनुष्योंका तो कहना ही क्या है ? तथा जिनका चित्त तीव्रतर पुरुषवेदके उदयरूपी अग्निसे जल रहा है, स्त्रियोंका संगम उनकी औषधी नहीं है । उससे तो उनका सन्ताप और भी अधिक बढ़ेगा; क्योंकि स्त्रियोंमें रूप, यौवन, विलास, चतुरता, सौभाग्य आदि कमती बढ़ती पाया जाता है । उन-उन स्त्रियोंको देखकर निरन्तर उत्कण्ठा उत्पन्न होकर ऐसी दाह होती है जिसको सहना कठिन होता है । वे स्त्रियां पतिको छोड़कर चली जाती हैं, या मर जाती हैं अथवा दूसरे बलवान् पुरुष उन्हें हर लेते हैं । अथवा जिससे छूटना किसी भी तरह सम्भव नहो है उस मृत्युके फन्देसे खिचकर मनुष्य, मुँह खोले, आँखें पथराये हुए स्वयं, अत्यन्त रुदन करनेसे लाल आंख हुई स्त्रीको स्वयं छोड़कर चला जाता है । उन स्त्रियोंके शरीर भी स्फटिककी मालाकी तरह जो पासमें आता है उसीके गुणोंको ग्रहण करनेवाले होते हैं । जैसे सन्ध्या-कालीन भेवोंका रंग अस्थिर होता है वैसे ही स्त्रियोंका अनुराग भी अस्थिर होता है । तथा वे दुर्लभ होती हैं क्योंकि स्त्री, वस्त्र, गन्धमाला आदिको बलवान् हर लेते हैं और देते नहीं हैं । इस प्रकार बड़ा भय रहता है । स्त्रीकी प्राप्तिके लिए छह कर्मोंको करना पड़ता है । उनका फल संविन्ध होता है । उनके लिए बड़ा परिश्रम करना पड़ता है । तथा वे वट्कर्म हिंसा आदि सावध क्रियाके अधीन होते हैं उनमें हिंसा आदि होती है । अतः वे दुर्गतिको बढ़ाते हैं । इत्यादि कथा भोगोक्ति वैराग्य उत्पन्न करती है । तथा यह शरीर अपवित्रताकी खान है, आत्माके लिए बड़ा भाररूप है । इसमें कुछ भी सार नहीं है इसके साथ अनेक संकट लगे हैं । व्याधिरूपी धानके

व मान्ये कुले आसी विशालकीर्तिः गुणवानपि प्रहीणविभ्रमो नीचं कर्म, पुरो धावनं, प्रेषणकरणं, तदुच्छिष्ट-
भोजनं वा करोति शरीरदोषघनाय ।

मासतर्तोऽथ न बहिर्न च तस्य सन्धे शरीरंरिस्त जेन वगता परिपन्थनाथः ।
तरिचन्ससारजनकंरिस्तकामसारं क्रोऽथः करिष्यति मनः प्रतिबुद्धसारः ॥
वायुप्रकोपजनितः कफपित्तज्वरश्च रोषैः तथा दुरितैः प्रथिनन्ध्यानः ।
देहोऽप्येवमतिदुःस्मग्नितपूतो मासं प्रयाति द्युपेति कुण्ठ्य धर्मं ॥
संघातार्थं प्रथिचित्सास्त्रि तचमगाढं स्नायुप्रबद्धमधुनं प्रगतं तिराभिः ।
क्षिप्तं च मांसरुचिरौषककर्मिण रोमाहृतं स्नुषति को हि शरीरयेहं ॥ []
इत्येवमादिका शरीरनिर्बन्धी ।

गीदस्थपादमूले ह्येति गुणा एवमादिया बहुगा ।

ण य होइ संकिलेसो ण चावि उप्पज्जदि विवसी ॥४४९॥

‘गीदस्थपादमूले’ गृहीतार्थस्य बहुश्रुतस्य पादमूले । ‘ह्येति द्युगा गुणा’ ‘गीदस्थो पुण क्षयवस्त’ इत्येव-
मादिभूतपञ्चकनिदिष्टाः । ‘ण य होइ संकिलेसो’ नैव भवति संकलेशः ‘ण चावि उप्पज्जदि विवसी’ न चोत्पद्यते
विपत्तत्रयस्य । तस्मादाधारवानाचार्यः उपाध्ययोग्यः इत्युपसंहारः इति आचार्यः ॥४४९॥

व्यवहारवत्त्वनिरूपणायोत्तरवाचा—

लिए यह खेत है । जरारूपी झाकिनीके लिए समसान है । मान्यकुलमें जन्म लेकर विशाल यश
अर्जन करके गुणी मनुष्य भी सम्पत्ति नष्ट हो जानेपर शरीर-पोषणके लिए नीचकर्म करता है,
आगे-आगे दौड़ता है, मालिकका सन्देश ले जाता है उसका जूठा भोजन करता है । कहा है—

उस शरीरके अन्दर, बाहर और मध्यमें कोई सार नहीं है जिससे मन उसे स्वीकार करे ।
असारजनोंके द्वारा पसन्द किये जानेवाला काम ही जिसमें सार है उस शरीरके सारको जानने-
वाला कौन व्यक्त अपना मन लगायेगा । यह शरीर वायुके प्रकोपसे उत्पन्न हुए और कफ तथा
पित्तके प्रकोपसे और पापकर्मसे उत्पन्न हुए रोगोंसे सदा मथा जाता है । इस तरह यह अति
दुःख का निमित्त होता और नाशको प्राप्त होता है इसलिए धर्मका आचरण करो ।

यह शरीररूपी घर रज और वीर्यके मेलसे बना है । इसकी अस्थियाँ ढीली-ढाली हैं ।
स्नायुओंसे बँधा है, अशुभ है, सिराओंसे वेष्टित है, मांस और रुचिररूपी कोचड़ तथा जलसे लीपा
गया है । रोगोंसे घिरा है इसे कौन छूना पसन्द करेगा ।

इत्यादि कथा शरीरसे वैराग्य उत्पन्न करती है ॥४४८॥

गीतार्थ अर्थात् बहुश्रुत आचार्यके ‘पादमूलमे रहनेक ‘गीदस्थो पुण क्षयमो’ इत्यादि पाँच
गायानुश्रोमें कहे गये बहुत गुण-लाभ होते हैं । उस क्षणके परिणामोंमें संकलेश नहीं होता और
न रत्नत्रयको लेकर ही कोई विपत्ति आती है अर्थात् उसके रत्नत्रयका विनाश नहीं होता । अतः
आधारवान् आचार्यका आश्रय लेना चाहिए । इस प्रकार आधारवत्त्व गुणका कथन हुआ ॥४४९॥
आगे व्यवहारवत्त्वगुणका निरूपण करते हैं—

पंचविहं व्यवहारं जो आणइ तत्त्वदो सवित्थारं ।

बहुसो य दिव्वुक्कयधहुवणो व्यवहारवं होइ ॥४५०॥

‘पंचविहं व्यवहारं’ पञ्चप्रकारं प्रायश्चित्तं । ‘जो आणइ तत्त्वदो सवित्थारं’ यो जानाति तत्त्वतः सविस्तरं । ‘बहुसो य दिव्वुक्कयधहुवणो’ बहुधास्य वृष्टकृतप्रत्यापनः । आचार्याणां प्रायश्चित्तदानं वृष्टं, स्वयं चाम्येषां व्रतप्रायश्चित्तः । ‘व्यवहारवं होइ’ व्यवहारवान् भवति । पूर्वार्द्धेन प्रायश्चित्तज्ञानता दक्षिता, कर्मदर्शनं कर्माभ्यासवच प्रख्यापितः । अशास्त्रज्ञो यत्किञ्चिद्दात्यात्मनोऽभिलषितं न तेन परः शुद्धयति, शास्त्रज्ञोऽप्यवृष्टं कर्मात्मनो विचारमेति । ततो ज्ञानं, कर्मदर्शनं, कर्माभ्यास इति त्रयो गुणाः यस्य स व्यवहारवानित्युच्यते ॥४५०॥

कः पञ्चविधो व्यवहारः, को वा विस्तर इत्याशङ्क्या तदुभयं निरूपयति—

आगममुद आणाधारणा य जीवो य हुंति व्यवहारा ।

एदेसिं सवित्थारा परूवणा सुत्तणिदिट्ठा ॥४५१॥

‘आगममुद आणाधारणा य जीवो य हुंति व्यवहारा’ आगम., श्रुतं, आज्ञा, धारणा, जीव इति व्यवहारा. पञ्च । ‘एदेसिं’ एतेषा आगमादीनां । परूवणा कीदृशी ? ‘सवित्थारा’ विस्तारसहिता । ‘सुत्तणिदिट्ठा’ सूत्रेषु चिरंतनेषु निर्दिष्टा । प्रायश्चित्तस्य सर्वजनानामग्रतोऽकथनीयत्वाच्छास्त्रान्तरे च निर्दिष्टत्वादिह नोच्यते ॥४५१॥ उक्त च—

सम्बन्धे चि विजयवयधं सोवब्धं सुद्धिदेणे पुरिसेज ।

छेवमुवस्तु हु आणो य होवि सम्बन्धे सोवब्धो ॥ इति ॥ []

शा०—जो पांच प्रकारके व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्तको तत्त्वरूपसे विस्तारके साथ जानता है तथा जिनने अनेक आचार्योंका प्रायश्चित्त देना देखा है और स्वयं भी दूसरोंको प्रायश्चित्त दिया है वह आचार्य व्यवहारवान् होता है । गाथाके पूर्वार्द्धसे आचार्यका प्रायश्चित्तका ज्ञाता होना दर्शाया है तथा प्रायश्चित्तकर्मका दर्शन और प्रायश्चित्तकर्मका अभ्यास होना कहा है । जो प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता नहीं होता वह अपनी इच्छानुसार कुछ भी प्रायश्चित्त देता है किन्तु उससे दूसरोंके दोषकी विमुक्ति नहीं होती । प्रायश्चित्तशास्त्रका ज्ञाता होते हुए भी यदि उसने अन्य आचार्योंको प्रायश्चित्त देते न देखा हो तो प्रायश्चित्त देते समय खेदखिन्न होता है । इसलिए प्रायश्चित्तशास्त्रका ज्ञान, प्रायश्चित्तकर्मका देखना तथा प्रायश्चित्त देनेका अभ्यास ये तीन गुण जिसमें होते हैं उस आचार्यको व्यवहारवान् कहते हैं ॥४५०॥

पांच प्रकारका व्यवहार कौन-सा है ? और उसका विस्तार क्या है? ऐसी आशंका होनेपर दोनोंको कहते हैं—

शा०—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारण और जीव ये पांच प्रकारका व्यवहार है । इन आगम आदिका विस्तारसे कथन प्राचीन सूत्रोंमें कहा है । प्रायश्चित्त सब जनोंके आगे नहीं कहा जाता, तथा अन्य शास्त्रोंमें उसका कथन है इसलिए यहाँ नहीं कहा । कहा है—‘समस्त श्रद्धालु पुरुषोंको जिनागम सुनना चाहिए । किन्तु छेदशास्त्रका अर्थ सबको नहीं सुनाना चाहिए’ ॥४५१॥

व्यवहाररामसी पराकोषितापराचस्य कथं प्रायश्चित्तं वदातीत्यासङ्गायां प्रायश्चित्तवानक्रमनिरूपणार्थं
गाथाद्वयम्—

द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं ।

संघट्टणं परिणयं आगमपुरिसं च विष्णुनाथ ॥४५२॥

‘द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं’ द्रव्यमित्यादीनां विज्ञायेत्यनेन संबन्धः । तत्र द्रव्यं त्रिविधं सचित्तमचित्तं मिश्रमिति । पृथिवी, आपस्तेजो वायुः, प्रत्येककायाः, त्रसाश्चेति सचित्तद्रव्यमित्युच्यते । तृण-फलकाविकं जीवैरनुमिश्रं अचित्तं । संसृत उपकरणं मिश्रं । एवं त्रिविधा द्रव्यप्रतिसेवना । वर्षासु क्रोसाहं-गमनमित् अर्धयोजनं वा । ततोऽधिकक्षेत्रगमनं क्षेत्रप्रतिसेवना । अथवा प्रतिषिद्धक्षेत्रगमनं, विशुद्धराज्य-

विशेषार्थ—पं० आशाधरजीने अपनी मूलाराधना टीकामें इनका अर्थ इस प्रकार किया है—ग्यारह अंगोंमें कहे गये प्रायश्चित्तको आगम कहते हैं । चौदह पूर्वोंके कहेको श्रुत कहते हैं । अन्य स्थानमें स्थित अन्य आचार्यके द्वारा अन्य स्थानमें स्थित अन्य आचार्यके द्वारा आलोचित अपने गुरुके दोषको ज्येष्ठ शिष्यके हाथ भेजना आज्ञा है । कोई एकाकी मुनि पैरोंमें चलनेकी शक्ति न होनेसे दोष लगनेपर वहीं रहते हुए पूर्वनिश्चित प्रायश्चित्तको करता है यह धारणा है । बहुततर पुरुषोंके स्वरूपको लेकर वर्तमान आचार्योंने जो शास्त्रमें कहा है वह जीत है । इवेताम्बरीय आगमोंमें भी व्यवहारके ये ही पांच भेद किये हैं । आगमव्यवहारी छह हैं—केवल-ज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, दसपूर्वी और नौपूर्वी । शेष पूर्वधारी और ग्यारह अंगके धारी श्रुतसे व्यवहार करते हैं । आगमव्यवहारी आगमसे ही व्यवहार करता है अन्यसे नहीं करता । यह भी चर्चा आती है कि केवलीका व्युच्छेद हो जानेपर चौदह पूर्वधरोंका भी विच्छेद हो गया अतः प्रायश्चित्तदायक न रहनेसे प्रायश्चित्तका विच्छेद हो गया । किन्तु इसका निराकरण किया है । जो व्यवहार एक बार प्रवृत्त हुआ, दुबारा और तिथाग प्रवृत्त हुआ उसे महाजनने स्वीकार किया । वही पांचवां जीतकल्प व्यवहार है । जीत अर्थात् अवश्य ही कल्प-आचार जीतकल्प है । द्रव्य क्षेत्र काल भाव, संहनन आदिकी हानिको लक्षमें रखकर दिया गया प्रायश्चित्त जीत है ॥४५१॥

वह व्यवहारवान् आचार्य दूसरेके आलोचित दोषका प्रायश्चित्त कैसे देता है ? ऐसी आशंका किये जाने पर दो गाथासे प्रायश्चित्त देनेके क्रमका निरूपण करते हैं—

गा०—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, करण, परिणाम, उत्साह, शरीरबल, प्रवज्याकाल, आगम और पुरुषको जानकर प्रायश्चित्त देते हैं ॥४५२॥

टी०—द्रव्यके तीन भेद हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र । पृथिवी, जल, आग, वायु, प्रत्येककाय, अनन्तकाय और त्रस इन्हें सचित्त द्रव्य कहते हैं । जीवोंसे रहित तृण, फलक आदि अचित्त द्रव्य है । जीवोंसे सम्बद्ध उपकरण मिश्र हैं । इस प्रकार द्रव्य प्रतिसेवनाके तीन भेद हैं । वर्षामें आधा कोस अथवा आधा योजन जाना सम्मत है । उससे अधिक क्षेत्रमें जाना क्षेत्र प्रति-

धमनं, जिन्माध्वगमनं, ततो रक्षणीयामनमं तस्याहों यदा क्रान्तः । उन्मार्गेण वा चमनं । अन्तःपुरप्रवेशः । अननुज्ञातानुगृह्यभियमनं । इत्यादिना क्षेत्रप्रतिषेधा । आवाप्यककालादप्राप्तिकाले अवश्यकरणां वर्षाभिन्नहासि-
क्रमः इत्यादिका कालप्रतिषेधना । वर्षः, प्रमादः, अनाभोगः, भयं, प्रदोषः इत्यादिकेषु परिणामेषु प्रवृत्तिनिषि-
धेया । एवमपराधनिदानं ज्ञात्वा अथवा प्रायश्चित्तं प्रकृतद्रव्यादिकं ज्ञात्वा रसबहुलं, धान्यबहुलं, शाकबहुलं
यवागूशाकमात्रं वा पानकमेव वेत्याहारे द्रव्यपरिज्ञानं । प्रायश्चित्तमाचरतः अनुपदानलसाधारणक्षेत्रपरिज्ञानं ।
षर्मलीतसाधारणकालज्ञानं । क्षामामार्दवाजर्वसन्तोषकादिकं भावं क्रोधादिकं वा । करणपरिणामं प्रायश्चित्त-
क्रियायां परिणामं । सहवासार्थं किमर्थं प्रायश्चित्तं प्रवृत्तः उत यथोर्थं, लाभार्थं नूत कर्मनिर्भरार्थं इति ।
'उच्छ्राहं' उस्ताहं । 'संभवर्षं' शरीरबलं । 'परिणामं' प्रवृत्त्याकालं । 'अनमनं' अल्पं श्रुतमस्य बहु वेति । पुरितं
'आचरतरोभयातरंगो इत्येवमादिकं विकल्पं च ज्ञात्वा ॥४५२॥

भोक्ष्ण रागदोसे बबहारं पडुषेह सो तस्स ।

बबहारकरणकुसलो जिणबयणविसारदो धीरो ॥४५३॥

'भोक्ष्ण' त्यक्त्वा । 'रागदोसे' रागं द्वेषं च मध्यस्थः सन्निति यावत् । 'बबहारं पडुषेह सो तस्स'
प्रायश्चित्तं ददाति स सूरिस्तस्मै । 'बबहारकरणकुसलो' प्रायश्चित्तदानकुशलं । 'जिणबयणविसारदो' जिन-
प्रतीते आगमे निपुणः । धीरो वृत्तमान् ॥४५३॥

सेवना है । अथवा बजित क्षेत्रमें जाना, विरद्ध राज्यमें जाना, कटे-टूटे मार्गसे जाना, ऐसे मार्गका
आधा भाग जानेपर बहसि अरक्षणीय मानकर लौट आना अथवा उन्मार्गसे जाना, अन्तःपुरमें
प्रवेश करना, जहाँ जानेकी आज्ञा नहीं है ऐसी गृहभूमिमें जाना, इत्यादिके द्वारा क्षेत्र प्रति-
सेवना करना । आवाप्यककालमें छह आवाप्यक न करके अन्यकालमें करना, वर्षाकालके नियम-
का उल्लंघन करना, इत्यादि काल प्रतिसेवना है । धमण्ड, प्रमाद, अनाभोग, भय, प्रदोष आदि
परिणामोंमें प्रवृत्ति भाव सेवा है । इस प्रकार द्रव्य प्रतिसेवना आदिके द्वारा अपराधका निदान
जानकर प्रायश्चित्त देना चाहिए । अथवा प्रकृतिके द्रव्यादिको जानकर प्रायश्चित्त देना चाहिए ।
आहारके सम्बन्धमें ज्ञान होना द्रव्यपरिज्ञान है, रसबहुल—जिसमें रसकी अधिकता हो, धान्य-
बहुल—जिसमें अन्नकी अधिकता हो, शाकबहुल—जिसमें शाकसब्जीकी अधिकता हो, यवागू—
हल्वा लपसी, शाकमात्र अथवा पानकमात्र । आहारके साथ दोषीकी प्रकृति जानकर उसे आहार
बतलाना चाहिये । प्रायश्चित्त देते समय क्षेत्रका भी ज्ञान होना चाहिये कि यह क्षेत्र जलबहुल
है या जलकी कमी वाला है अथवा साधारण है । कालका भी ज्ञान होना चाहिये कि यह गर्मीके
दिन है या शीतके दिन है अथवा साधारण है । क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि भाव हैं ।
अथवा क्रोधादि भाव हैं । करण परिणामका अर्थ है प्रायश्चित्त करनेके परिणाम । यह प्राय-
श्चित्त क्यों लेना चाहता है ? क्या यह साथ रहनेके लिए प्रायश्चित्तमें प्रवृत्त हुआ है अथवा
यस, लाभ या कर्मोंकी निर्जराके लिए प्रवृत्त हुआ है । उसका प्रायश्चित्तमे उस्ताह कैसे है,
शरीरमें बल कितना है, बोझा लिए कितना काल हुआ है, शास्त्रज्ञान बोझा है या बहुत है ।
और वैराग्यमें तत्पर है या नहीं ॥४५२॥

या०—प्रायश्चित्त देनेमें कुशल और जिन भगवान्के द्वारा कहे गये आगममे निपुण धीर
वह आचार्य रागाहं धको त्याग अर्थात् मध्यस्थ होकर उसकी प्रायश्चित्त देता है ॥४५३॥

अज्ञात्वा प्रायश्चित्तग्रन्थं यो ददाति तस्य दोषं संकीर्तयत्युत्तरमाध्या—

ब्रह्महारमयाणतो ब्रह्महरणिज्जं च ब्रह्महर्तो खु ।

उत्सीयदि भवपंके अयसं कम्मं च आदियदि ॥४५४॥

'ब्रह्महारं अज्ञात्वात्तो' प्रायश्चित्तं ग्रन्थतोऽर्थात्तस्य कर्मतत्त्वाविद्वान् । 'ब्रह्महरणिज्जं च' व्यवहृत्यते अति-
चारविनाशादिनेति ब्रह्महरणीयमालोचनादिकं प्रायश्चित्त इति नवधा । 'ब्रह्महर्तो' प्रयच्छन् । उत्सीयसि
अवसीदति । नव ? 'भवपंके' सत्सारपङ्के । 'अयसं आदियसि' अयथा तुण्डाचार्योऽयं यत्किञ्चन ददाति नायं पर
शोभयति, संसारभीरयतिजनं ब्रह्मं क्लेशयति इति । 'कम्मं च आदियसि' बध्नाति कर्म दर्शनमोहनीयास्य
उन्मार्गोपदेशात् सन्मार्गविनाशनाशच । तस्मादज्ञो न दद्यात्प्रायश्चित्तमिति सूत्रार्थः । आचार्याणामियं शिक्षा ।
व्यमाचार्या यवस्माभिर्दत्तं तदिदं 'कुर्वन्तीति यत्किञ्चन न वक्तव्यम् । श्रुतरहस्या प्रायश्चित्तदाने
'यद्वलमिति ॥४५४॥

अहं ण करोदि तिगिच्छं वाधिसस तिगिच्छंओ अणिम्मादो ।

ब्रह्महारमयाणतो ण सोधिकामं वि सुज्जेइ ॥४५५॥

यदि नाम सुज्जा मृगधानेकशिष्यजनपरिवृतत्वमात्रेणोपजाताहंकारा मूर्खलोकेनादृता मन्ति सूरयस्ते
भवद्भिः शुद्धधर्मं न ढीकनीया इति शिष्ययति—'अहं ण करोदि तिगिच्छं'—यथा न करोति चिकित्सा
वाहित्सा व्याधे । 'तिगिच्छंओ' वैद्यो । 'अणिम्मादो' अनिपुण । 'तह' तथा । 'ब्रह्महारमयाणतो' प्रायश्चित्त-
मजानन्सूरि । 'सोधिकामं' रत्नत्रयशुद्धयभिलाष । ण सोधेवि नु न शोधयत्येव ॥४५५॥

जो प्रायश्चित्त शास्त्रको जाने विना प्रायश्चित्त देता है उसका दोष कहते हैं—

भा०-टी०—जो प्रायश्चित्त शास्त्रको ग्रन्थरूपसे, अर्थरूपसे और कर्मरूपसे नहीं जानता,
तथा अतिचारके विनाशके इच्छुक मुनिके द्वारा जिसका व्यवहार किया जाता है वह व्यवहरणीय
है । आलोचना आदि नौ प्रकारका प्रायश्चित्त, उसे जो देता है वह आचार्य सत्साररूपो कीचड़में
फँसकर दुःख उठाता है तथा अपयश पाता है । लोग कहते हैं यह तुण्डाचार्य है जो कुछ भी प्राय-
श्चित्त दे देता है, दूसरेके दोषकी विशुद्धि नहीं करता । संसारसे भोर साधुओको व्यर्थ ही कष्ट
देता है । तथा उन्मार्गका उपदेश देनेसे और सन्मार्गका नाश करनेसे दर्शनमोहनीय नामक कर्मका
बन्ध करता है । अतः अज्ञानीको प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिये यह इस गाथाका अभिप्राय है । यह
आचार्यों की शिक्षा है । हम आचार्य हैं । हमने जो प्रायश्चित्त दिया है उसे करो, इस प्रकार जो
कुछ भी नहीं बोलना चाहिये । प्रायश्चित्त शास्त्रके ज्ञाताओं ही प्रायश्चित्त देनेमें समर्थ होते
हैं ॥४५४॥

जो वाचाल आचार्य मूढ़ अनेक शिष्योंसे घिरे रहने मात्रसे गर्वित है और मूर्ख लोग
जिनका आदर करते हैं, प्रायश्चित्तके लिए उनके पास नहीं जाना चाहिये यह शिक्षा देते हैं—

भा०—जैसे अनिपुण वैद्य व्याधिकी चिकित्सा नहीं करता, वैसे ही प्रायश्चित्तको न जानने
वाला आचार्य रत्नत्रयकी विशुद्धिके इच्छुकको शुद्ध नहीं करता ॥४५५॥

१. कुर्वतीति आ० । कुर्वति म० । २. यत्त्वमिति आ० म० ।

तम्हा निम्बिसिदब्धं बवहारविदो हु पादमूलम्भि ।

तत्त्व हु विज्जा चरणं समाधि सोची य निवयेण ॥४५६॥

'तम्हा निम्बिसिदब्धं' एस्मात्स्वातर्थात् । 'बवहारविदो' व्यवहारवतः एव । 'पादमूलम्भि' पादमूले । 'तत्त्व' तत्र व्यवहारविद्यावमूले । 'विज्जा' विद्या ज्ञानं भवति । 'चरणं समाधि य' चारित्र्यं समाधिश्च । 'सोची य' शुद्धिश्च । 'निवयेण' निश्चयेन भवति । बवहारवं ॥४५६॥

पशुब्धी एतद्ब्याचष्टे—

ओ निद्वल्लमणपवेसे सेज्जासंवारउवधिसंभोगे ।

ठाणणिसेज्जागासे अगदूण विक्किंचणाहारे ॥४५७॥

'ओ निद्वल्लमणपवेसे' यो यः सूरिः क्षपकस्य वसतेतिःक्रमणे प्रवेसे वा । 'सेज्जासंवारउवधिसंभोगे' वसतेः, संस्तरस्य, उपकरणस्य शोधने । 'ठाणणिसेज्जागासे' स्थाने, निवद्यावकासे, 'अगदूणविक्किंचणाहारे' क्षम्यायां, शरीरमकाहारे, भक्षणानदीकने च ॥४५७॥

अम्भुज्जदचरियाए उवकारमणुत्तरं वि कुम्बंतो ।

सब्बादरसचीए बहूइ परमाए भचीए ॥४५८॥

'अम्भुज्जदचरियाए' क्षपकस्य अम्भुद्यतचर्यया 'उवकार' अनुग्रहं हस्तावलम्बनादिकं । 'अणुत्तरं पशुम्बंतो' उत्कृष्टं प्रकुर्वन् । 'सब्बादरसचीए' सर्वापरसक्त्या । 'भचीए' भक्त्या । 'परमाए' उत्कृष्टया । 'बहूवि' वर्तते । स प्रकुर्वकः सूरिर्भवति इति संबन्धः ॥४५८॥

इय अप्परिस्सममगणिता सुबयस्स सब्बपडिचरणे ।

बट्टंतो आयरिओ पकुब्बओ नाम सो होइ ॥४५९॥

'इय' एवं । 'अप्परिस्सम' आरमपरिश्रमं । 'अगणिता' अपरिगम्य । 'सब्बपडिचरणे' आराधकस्य । 'सब्बपडिचरणे' सर्वव्युत्पायां । 'बट्टंतो' वर्तमानः । 'आयरिओ' आचार्यः । 'पकुब्बओ वत्स' प्रकारको नाम 'सो होवि' स भवति । पशुब्धी एवं ॥४५९॥

इसलिये क्षपकको प्रायश्चित्तके ज्ञाता आचार्यके पादमूलमें ही ठहरना चाहिये । उनके पादमूलमें रहनेसे ज्ञान, चारित्र्य, समाधि और शुद्धि निश्चयसे होती है ॥४५६॥

इस प्रकार व्यवहारवान्का कथन समाप्त हुआ । प्रकुर्वित्व गुणका कथन करते हैं—

शा०—ओ आचार्य क्षपकके वसतिसे निकलने अथवा उसमें प्रवेश करनेमें, वसति संस्तर और उपकरणके शोधनमें, सड़े होने, बैठने, सोने, शरीरसे मल दूर करनेमें, स्नानपान लानेमें, इन पण्डितमरण सम्बन्धी चर्यामें समस्त आदर शक्तिसे और उत्कृष्ट भक्तिसे हस्तावलम्बन आदि द्वारा उत्कृष्ट उपकार करते हैं, वह आचार्य प्रकुर्वक होते हैं ॥४५७-४५८॥

शा०—इस प्रकार अपने भ्रमकी परवाह न करके ओ आचार्य क्षपकको सब प्रकारसे सेवा करते हैं वह प्रकारक नामसे कहे जाते हैं ॥४५९॥

क्षपकधिसागरा गाथा—

खवओ विह्लाभिर्दंगो पद्धिचरयगुणेण जिञ्चुदिं लहइ ।

तम्हा जिञ्चिसिदज्वं खवएण पकुञ्चयसयासे ॥४६०॥

'खवओ' क्षपकः । 'विलाभिर्दंगो' ग्लानघटीरः । 'पद्धिचरयगुणेण' शुभूषागुणेनैव, 'जिञ्चुदिं लहइ' सुखं कश्ते । यस्मात् । तम्हा—तस्मान् जिञ्चिसिदज्वं-निर्वेष्टयं । 'खवओ' क्षपकेण । पकुञ्चयसयासे विनयकारिणः समीपे । अनुष्णीगवं ॥४६०॥

आयोपायविबंसीत्येतद्व्याख्यानायोत्तरप्रबन्ध.—

खवयस्स तीरपचस्स वि गुरुगा होंति रागदोसा इ ।

तम्हा छ्हादिएहिं य खवयस्स विसोत्तिया होइ ॥४६१॥

'खवयस्स' क्षपकस्य । 'तीरपचस्स वि' तीरं प्राप्तस्यापि । 'रागदोसा गुणमा होंति' रागद्वेषी गुरु तीव्री भवतः । 'तम्हा' तस्मात् 'छ्हादिएहिं व' क्षुत्पिपासादिभिः परीवहेष्व कारणभूतैः । 'खवयस्स' क्षपकस्य 'विसोत्तिया होइ' अशुभपरिणामो जायते ॥४६१॥

धोलाइदूण पुज्वं तप्पट्टिवक्खं पुणो वि आवण्णो ।

खवओ तं तह आलोचेदुं लज्जेज्ज गारबिदो ॥४६२॥

'धोलाइदूण पुज्वं' प्रव्रज्यादिक्रमेण तद्धिनपर्यवसानं रत्नत्रयातिचारं निवेदयामिति पूर्वं प्रतिज्ञाय । 'तप्पट्टिवक्खं' तस्यापराधप्रत्याख्यापनस्य प्रतिफलं निवेदनं । 'आवण्णो' आपन्नः प्राप्तः । 'खवओ तं तह आलोचेदुं लज्जेज्ज गारबिदो' क्षपकस्तमपराधं तथा त्वाचरितक्रमेण गबिदुं जिन्हेति संभावनागुः ॥४६२॥

तो सो हीलणमीरू पूयाकामो ठवेणइत्तो य ।

जिज्जहणमीरू वि य खवओ वि न दोसमालावे ॥४६३॥

'तो' पश्चात् । 'सो' क्षपकः । 'हीलणमीरू' ज्ञातमदीयापराधा इमे मामवजानन्ति इति अवज्ञाभीष्टः ।

गा०—यतः रोगसे प्रस्त क्षपक आचार्यके सेवागुणसे सुख प्राप्त करता है, अत क्षपकको सेवा करनेवाले आचार्यके समीप ठहरना चाहिये ॥४६०॥

प्रकारकका कथन समाप्त हुआ ।

आय अपाय विदशित्व गुणका कथन करते हैं—

गा०—यद्यपि क्षपक संसार समुद्रके किनारे पहुँच जाता है फिर भी उसे तीव्र रागद्वेष होते हैं । अतः भूख प्यासकी परीवहोके कारण क्षपकके अशुभ परिणाम होते हैं ॥४६१॥

गा०—क्षपक पूर्वमें प्रतिज्ञा करता है कि दीक्षा लेनेके दिनसे समाधि धारण करनेके दिन तक रत्नत्रयमे जो दोष लगे हैं उन सबको मैं गुरुके सामने निवेदन करूँगा । ऐसी प्रतिज्ञा करके भी जब अपराध निवेदनका समय आता है तो अपना बड़प्पन जानकर क्षपक उस अपराधको जिस प्रकार वह किया गया उसी प्रकारसे कहनेमें लज्जा करता है ॥४६२॥

गा०—पश्चात् वह क्षपक डरता है कि मेरे अपराधको जानकर ये सब मेरी अवज्ञा

'पूजाकर्त्री च' बन्धान्मुखात् इत्याधिकारां पूजायान्मिलायवान् । सापराधं न पूजयन्तीति । 'उपबहसो च' आत्मानं सुचारितले स्वापयितुकामश्च । 'पिञ्जुह्वनीक वि च' माग्निं सापराधं त्यजन्तीति त्यागभीत्यश्च । 'अपचो वि' स्वापराधं क्षरीरं च अपयामीति प्रवृत्तोऽपि । 'आलोकेण्य दोष' न कचवेद् गुरोरात्मीयं दोषं ॥४६३॥

तस्स अवायोपायविदंसी खयस्स ओषपण्णवओ ।

आलोकेतस्स अणुज्जगस्स दंसेइ गुणदोसे ॥४६४॥

'तस्स खयस्स गुणदोसे संसृष्टि पदसंबन्धः । तस्य अमालोककस्य आलोचनायां गुणमिदं रं दोषं च दर्शयति । कः ? 'आयोपायविदंसी' आयोपायविदर्शी सूरिः । अवायो रत्नत्रयस्य विनाशः उपायो लाभः । उपशब्दोऽर्थकः इति कृत्वा रत्नत्रयस्य आठ शुद्धिर्लाभः सद्गुणयदर्शी । 'ओषपण्णवओ' सामान्यं प्रकल्पयन् यो न कचयति स्वापराधं तस्यायं दोष इति । 'आलोकेतस्स वि' अपि शब्दोऽत्र कुतनिदिष्टो आलोचनां कुर्वतोऽपि । 'अणुज्जगस्स' मायावतः ॥४६४॥

मायायां दोषं याथात्म्यकचने गुणं च दर्शयति । एवं दोषप्रकटनं कर्तव्यमित्याचष्टे—

दुक्खेण लहइ जीवो संसारमहण्णवम्मि सामण्णं ।

तं संजमं खु अबुहो णासेइ ससल्लमरणेण ॥४६५॥

'दुक्खेण लहइ जीवो' क्लेशेन लभते जीवः । किं ? 'सामण्णं' सामान्यं चारित्र्यं संयमं । क्व ? 'संसार-महण्णवम्मि' चतुर्गतिपरिभ्रमणमहाप्रायं दुष्प्राप्यपारतया संसारो महाप्रायं इव । 'खु' शब्दः 'णासेइ' इत्यतः परतो अवधारणार्थो द्रष्टव्यः । तं संयमं नाशयत्येव 'बुद्धः' अविद्वान् । 'ससल्लमरणेण'—यद्यपि शल्यमनेक-प्रकारं मिथ्यामायानिदानशल्यमेवेन तथापीह प्रकरणवशात्मायाशल्यं गृह्यते, मायाशल्यसहितेन मरणेनेत्यर्थः ।

करेगे । उसकी अमिलावा अपनी पूजा कराने की है कि मेरी बन्दना करें, मेरे लिए उठकर खड़े होंगे । किन्तु अपराध ज्ञात होने पर तो पूजा नहीं करेंगे । वह अपनेको सम्यक् आचारमें स्थापित करना चाहता है । किन्तु अपराधी जानकर यह मुझे त्याग देंगे, इससे डरता भी है । अतः अपने अपराध और क्षरीरको त्यागनेके लिए तत्पर होते हुए भी वह गुहसे अपने दोषोंको नहीं कहता ॥४६३॥

गा०—उस अपने दोषोंकी आलोचना न करनेवाले अथवा आलोचना करते हुए भी माया-चार पूर्वक आलोचना करनेवाले क्षणको आय और उपायको दिखलाने वाले आचार्य आलोचना-के गुण और आलोचना न करनेके दोष सामान्यसे बतलाते हैं कि जो अपना अपराध नहीं कहता उसको यह दोष होता है ॥४६४॥

टी०—रत्नत्रयके विनाशको अपाय और रत्नत्रयके लाभको उपाय कहते हैं । 'उप' शब्द व्यर्थ है' ऐसा मानकर रत्नत्रयका 'आठ' अर्थात् शुद्धि और लाभ दोनोंको दिखानेवाले आचार्य आयोपायविदर्शी होते हैं ॥४६४॥

गा०—टी०—इस संसारका पार पाना बड़ा कठिन है इसलिये चारों गतिमें भ्रमण रूप संसारको महासमुद्रकी उपमा दी है । उसमें भ्रमण करते हुए 'श्रामण्य' अर्थात् चारित्रको—संयमको जीव बड़े कष्टसे प्राप्त करता है । अज्ञानी उस समयको सशल्य मरणसे नष्ट कर देता है । यद्यपि मिथ्यात्व, माया और निदानके भेदसे शल्यके अनेक भेद हैं । तथापि यहाँ प्रकरणवशात् मायाशल्य

मनु समाप्तवाक्याः प्रस्तुतत्वात् सामर्थ्यं इत्यनेन तत् परित्यज्य कथमन्यदुपपन्नस्तं 'तं संजममिति' । अस्या-
वमन्निर्णयः^१ अनवसाध्यस्य इत्येवप्रवृत्तिनिमित्तं यच्छामर्थ्यं किं च तत्संयमः । तथाहि सावधक्रीमापरो नार्यं
अवयव इति कोको बवति । ततो युक्तमेव भावशक्त्यमात्मन्यवस्थितमिव^२ दोषभाववहतीति दृष्टान्तमुत्तेन
कथयति—॥४६५॥

अह नाम दम्बसन्ले अणुददे वेदणुहिदो होदि ।

तह भिषक्षु विं ससन्लो तिक्वदुहङ्को मयोन्विष्णो ॥४६६॥

'अह नाम' यथा नाथ स्फुटं । 'दम्बसन्ले' शरकष्टकादौ 'अणुददे' अनुदूते अनिराकृते । 'वेदणुहिदो
होदि' वेदनातो भवति । 'तह' तथा । 'भिषक्षु विं' भिक्षुरपि । 'ससन्लो' भावशक्त्यवान् । 'तिक्वदुहङ्को
होदि' तीक्ष्ण-क्षितो भवति । 'मयोन्विष्णो' भयेन चलो भवति । एवमनुदूतशक्त्यो गमिष्यामि का गतिमिति
भयमस्य जायते । एवमर्थं दृष्टान्तेनाविरोधयति ॥४६६॥

कंटकसन्लेण जहा वेधाणी चम्मखीलनाली य ।

रफ्फयजालगसागदो य पादो पडदि पच्छा ॥४६७॥

'कंटकसन्लेण जहा' कष्टकाख्येन शल्पेन करणभूतेन यथा । 'वेधाणी चम्मखीलनाली य' व्यघनचर्म-
कीलनात्मिकाश्च भवन्ति । 'रफ्फयजालगसागदो य' कुपितवस्त्रीकच्छाद्राणि प्रातः स पादः 'पडदि' पतति
पश्चात्तथा ॥४६७॥

एवं तु भावसन्लं लज्जागारवमएहिं पडिवदं ।

अप्यं पि अणुदरियं वदसीलगुणे वि णासेइ ॥४६८॥

लिया है । भाषाशास्त्र सहित मरणसे अज्ञानी संयमको नष्ट करता है ।

वाक्य—यहाँ तो 'सामर्थ्य' शब्दसे समानता ली गई है । उसे छोड़कर 'संयम' क्यों कहा ?

समाधान—इसका अभिप्राय यह है कि द्रव्यमें प्रवृत्ति न करनेमें निमित्त जो श्रामण्य है
वही संयम है । लोग कहते ही हैं कि यह पापकार्योंमें प्रवृत्ति करता है अतः श्रमण नहीं है । अतः
आत्मामें स्थित भावशक्त्य दोषकारी है यह कहना उचित ही है ॥४६५॥

इसे दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

वा०—जैसे शरीरमें लगे बाण, काँटा आदि द्रव्यशक्त्यको न निकालनेपर मनुष्य कष्टसे
पीड़ित होता है । उसी प्रकार भावशक्त्यसे युक्त भिक्षु भी तीव्र दुःखित होता है—और भयसे बिचल
होता है कि शक्त्यको दूर न करनेपर मैं किस गतिमें जाऊँगा । इस प्रकार दृष्टान्तसे अविशेष
दिसलाया है ॥४६६॥

वा०—जैसे पैरमें काँटा घुसनेपर पहले पैरमें छिद्र होता है फिर उसमें मांसका अंकुर उग
आता है और वह नाभीतक पहुँचता है । पीछे उस पैरमें साँपकी बाँधी जैसे दुर्गन्ध युक्त छिद्र हो
जाते हैं ॥४६७॥

१. प्रायः तदिति संजमं श्रामण्यमेवेति निरूपितं सावधमिति ततो युक्त-आ० । २. मिह दो-आ० ।

‘एवं तु’ एवमेव । ‘जातकालं’ परिणामकालं । ‘लज्जाभारवधवेद्दि पञ्चमं’ स्वारपराधनिग्रहण कथातो भवति । भवेन अपराध रूपिते कुप्यन्ति गुरवस्त्यजन्ति वा सां सुहृदा प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्तीति । भवात् । तपस्व्ययं सुसंयत इति महती प्रसिद्धिः सा विनश्यतीति गोपनीयं प्रतिबद्धमावाशस्यं । ‘अथं पि’ अल्पमपि । शल्यं ‘अनुद्धरिषं’ अनुद्वर्त । ‘भवतीत्यनुवं’ अतानि शीलाणि अनुद्वरिष विनाशयति ॥४६८॥

तो भङ्गबोधिलामो अर्धतकालं भवणञ्च भीमे ।

अन्ममरणभावचे ओजिसहस्साउळे भमदि ॥४६९॥

‘तो’ पश्चात् । ‘भङ्गबोधिलामो’ विनष्टदीर्घानिमुलबुद्धिलाभ । ‘अर्धतकालं भमहं’ अनन्तकाल भ्रमति । क्व ? ‘भवणञ्च’ अर्धार्थे । ‘भीमे’ नयंकरे । ‘अन्ममरणभावचे’ जन्ममरणवर्ते । ‘ओजिसहस्साउळे’ चतुरशीतियोगिसहस्राङ्कके ॥४६९॥

तत्त्व य कालमर्धतं घोरमहावेदनासु ओजीसु ।

पञ्चतो पञ्चतो दुःखसहस्साइ पप्येदि ॥४७०॥

‘तत्त्व य’ तत्र य भवार्थे । ‘अर्धतकालं दुःखसहस्साइ पप्येदि इति पदघटना । अनन्तकालं दुःखसहस्राणि अनुभवति । ‘घोरमहावेदनासु ओजीसु पञ्चतो’ घोरमहावेदनासु योनिषु पञ्चमान् ॥४७०॥

तं न क्षमं सु पमादा मृदुपमवि अत्थिदुं ससल्लेण ।

आयरियपादमूले उद्धरिद्वं हवदि सल्लं ॥४७१॥

‘तं’ तस्मात् । ‘मृदुपमवि अत्थिदुं ससल्लेण न क्षमो सु’ मूर्हतमात्रमपि आसितुं शक्यसहितेन रत्नप्रयेण सह न शक्यं प्रमादवशाच्चित्तं संसारमीश्वर । ‘आयरियपादमूले’ उक्तगुणस्याचार्यस्य पादमूले । ‘उद्धरिद्वं हवदि सल्लं’ शक्यमुद्धर्तव्यं भवति ॥४७१॥

शा०—टी०—इसी प्रकार लज्जा भय और गारवसे प्रतिबद्ध थोडा-सा भी भावशक्य यदि दूर न किया जाये तो व्रत शील और गुणोंको नष्ट करता है । लज्जावश साधु अपने अपराधको छिपाता है । या अपराध प्रकट करनेपर गुरुजन क्रुद्ध होंगे, मुझे त्याग देंगे अथवा बडा प्रायश्चित्त देंगे इस भयसे दोषको छिपाता है । अथवा मेरी जो महती प्रसिद्धि है कि यह तपस्वी उत्तम संयमी है वह नष्ट हो जायेगी इस भयसे दोषको छिपाता है । यह मायाशक्य है । इसे यदि दूर नहीं किया गया तो क्षयके व्रत शील गुण नष्ट हो जाते हैं ॥४६८॥

शा०—पीछे दीक्षा धारण करके जो बुद्धिलाभ किया था वह नष्ट हो जाता है और चौरासी हबार योनियोंसे भरे, और जन्ममरणरूपी भँवरोंसे युक्त भयंकर भवसमुद्रमें अनन्तकालतक भ्रमण करता है ॥४६९॥

शा०—और उस भवसमुद्रमें भयंकर महावेदनावाली योनियोंमें भ्रमण करता हुआ अनन्तकालतक हवारों दुःख भोगता है ॥४७०॥

शा०—इसलिए संसारसे भीत यतिको प्रमादवश एक मूर्हतमात्रके लिए भी शक्यसहित रत्नमयके साथ रहना उचित नहीं है । उक्त गुणवाले आचार्यके पादमूलमें उसे अपने शक्यको निकाल देना चाहिए ॥४७१॥

तम्हा जिणवयणरुई जाइजराभरणदुक्खसिचिस्तथा ।

अज्जवमह्वसंपण्णा भयलज्जाउ पमोत्तुण ॥४७२॥

'तम्हा' तस्मात् । 'जिणवयणरुई' जिनागमे श्रद्धावन्तः । 'जाइजराभरणदुक्खसिचिस्तथा' जातिजराभरणदुक्खसिचिस्ता । 'अज्जवमह्वसंपण्णा' अर्जवेन मार्दवेन च युक्ताः । 'भयलज्जाओ' भयं लज्जा वा । 'पमोत्तुण' मुक्त्वा ॥४७२॥

उप्पाडित्ता धीरा मूलभसेसं पुणम्मवल्याए ।

संवेगजणियकरणा तरंति भवसायरमणंतं ॥४७३॥

'उप्पाडित्ता' उत्पाद्य । धीराः । किं ? मूलं । कथं ? 'भसेसं' निरवशेषं । कस्य मूलं ? 'पुणम्मवल्याए' पुनर्भवलताया । किं तन्मूलं ? शल्य । 'संवेगजणियकरणा' संसारभीस्तोत्पादितक्रियाः । 'तरंति' तरन्ति । 'भवसायरमणंतं' भवसागरमनन्त ॥४७३॥

उक्तवस्तुपसहारायां गायाम्—

हय जइ दोसे य गुणे ण गुरू आलोयणाए दंसेइ ।

ण णियसइ सो तत्तो खवओ ण गुणे य परिणमइ ॥४७४॥

'हय' एव । 'जइ गुरू ण दंसेइ' यदि गुरुं दर्शयेत् क्षपकस्य । किं 'आलोयणाए गुणे' स्वापराधकधनस्य गुणान् । 'दोसे य' दोषाश्च यदि न दर्शयेत् । आलोयणाए इति वाक्यशेष । 'सो खवओ ण णियसइ' अशी क्षपको न निवर्तते । कुतः ? 'तत्तो' पूर्वोक्तदोषान्मायाशक्त्यात् । 'गुणे य ण परिणमइ' गुणे च निःशल्यत्वे न परिणमते ॥४७४॥

तम्हा खवएणाओपायविदंसिस्स पायमूलम्मि ।

अप्पा णिन्विसिदल्लो धुवा हु आराइणा तत्थ ॥४७५॥

'तम्हा' तस्मात् आयोपायदर्शिनः पादमूले यस्माद्दोषाभिभवर्तते क्षपको गुणे च परिणमते तदुभयार्था च । 'तम्हा' तस्मात् 'खवणेण' क्षपकेन 'आयोपायविदंसिस्स' गुणदोषदर्शिनः । 'पायमूलम्मि' पादमूले । 'अप्पा णिन्वि-

गा०—अतः जिनागमके श्रद्धालु और जन्म जरा मरणके दुःखसे भीत क्षपकको भय और लज्जाको छोड़ अर्जव और मार्दवसे युक्त होना चाहिए ॥४७२॥

गा०—धीर क्षपक पुनर्जन्मरूपी लताके मूल सम्पूर्ण शल्यको उखाड़कर संसारके भयसे उत्पन्न किये चारित्रिको धारण करके अनन्तभवसागरको तिर जाते हैं ॥४७३॥

उक्त कथनका उपसंहार करते हैं—

गा०—इस प्रकार यदि गुरु क्षपकको आलोचना अर्थात् अपने अपराधको कहनेके गुण और दोष न बतलावे तो वह क्षपक पूर्वोक्त मायाशल्य दोषसे निवृत्त न हो और निःशल्य नामक गुणसे युक्त न हो ॥४७४॥

गा०—यतः आय-उपायके दर्शी आचार्यके पादमूलमें रहनेसे क्षपक दोषसे निवृत्त होता

‘सिद्धो’ आत्मा स्थापयितव्यः । तत्र गुणवाच्ये ‘कुवा बु आराहणा तव्य’ निषिचता रत्नत्रयाप्यना तत्र ।
आलोचनायः ॥४७५॥

अवपीडकत्वं व्याख्यातुकामः संबन्धति पूर्वेण उपायदर्शित्वेन—

आलोचनगुणदोसे कोई सम्मं पि पण्यविज्जंती ।

तिष्सेहिं गारवादिहिं सम्मं आलोचए खवए ॥४७६॥

‘आलोचनगुणदोसे’ आलोचनाया गुणदोषात् । ‘कोई’ कश्चित् । ‘सम्मं पि पण्यविज्जंती’ सम्मगबोध्य-
मानोऽपि । ‘खवणे आलोचए सम्मं’ क्षपकः सम्मच् न कवयेत् । केन हेतुना ? ‘तिष्सेहिं गारवादिहिं’ तीर्णगरि-
वादिभिः आदिसम्बन्धेन लज्जानमकलेसासहृत्वं च गृह्यते ॥४७६॥

एवमनालोचयतोऽपि भावः प्रकान्ति नेतव्यो निर्यापकेनेत्येतद्व्याचष्टे—

गिद्धं मधुरं ह्रिदयंगमं च पण्हादग्निज्जमेगते ।

तो पण्हावेदम्भो खवओ सो पण्यवत्तेण ॥४७७॥

‘विष्व’ स्नेहवत् । ‘मधुरं’ श्रुतिसुखं । ‘ह्रिदयंगमं’ हृदयानुप्रवेगि । ‘पण्हादग्निज्जं’ सुखदं । ‘एवमे’
एकान्ते । ‘पण्हावेदम्भो’ शिक्षयितव्यः । ‘खवणे’ क्षपकः । ‘सो’ सः । आत्मापराध यो न कवयति । ‘पण्यव-
त्तेण’ प्रज्ञापयता सूरिणा । आयुष्मन् ! उपलब्धसम्भारं रत्नत्रयनिरतिचारकरणे समाहितचित्त ! अतिचारं
निवेदय लज्जां, भयं, गारवं च विहाय । गुणवतो हि मात्रा पित्रा च सवृषः, तेषां कथने का लज्जेति । स्वदोष-
मिव न प्रख्यापयन्ति परेषा यतोना । यतिषमस्य वा अवर्णवादं प्रयत्नेन विनाशयितुमुद्यताः किमयशः प्रथयन्ति ।

हे और गुणसे युक्त होता है । अत क्षपकको गुणदोष दिखलानेवाले आचार्यके पादमूलमें अपनेको
रखना चाहिए । ऐसा करनेसे रत्नत्रयकी आराधना होना निश्चित है ॥४७७॥

आयोपायका कथन समाप्त हुआ ।

अब अवपीडक गुणका कथन करनेकी इच्छासे उसका उक्त उपायदर्शित्व गुणके साथ
सम्बन्ध जोड़ते हैं—

वा०—कोई क्षपक आलोचनाके गुण और दोषोंको अच्छी तरह समझनेपर भी तीव्र गारव,
आदिके कारण सम्यक् रूपसे अपने दोषोंको नहीं कहता । यहाँ आदि पदसे लज्जा, भय और कष्टको
सहन न करना लिए गये हैं ॥४७६॥

इस प्रकार आलोचना न करनेवाले क्षपकके भावको निर्यापक आचार्यको शान्त करना
चाहिए, यह कहते हैं—

वा०—टी०—जो अपना अपराध नहीं कहता उस क्षपकको समझानेवाले आचार्यको
एकान्तमें स्नेहसे भरे, कानोंको सुखकर और हृदयमें प्रवेश करनेवाले सुखदायक वचनसे शिक्षा
देना चाहिए । प्राप्त सम्भारं रत्नत्रयके निरतिचार पालनमें सावधान आयुष्मन् ! लज्जा, भय
और मान छोड़कर दोषोंको निवेदन करो । गुणवत् माता-पिताके समान होते हैं उनसे कहनेमें
लज्जा कैसी ? वे अपने दोषकी तरह दूसरे यतियोंके भी दोष किसीसे नहीं कहते । जो यतिषमं

समीचीनदर्शनस्य मुक्तिमार्गं प्रधानस्य मर्कं हि तद्यतिजनं दूषणं । अतिचारहिमान्या हृतं च रत्नत्रयकमलम्बनं न शोभते । परनिन्दा मीर्षावैश्यालवः । स्वयं च निन्दते बहुषु जन्मसु निन्दकः । परस्य मनःसन्तापं कुस्तुहं सम्पादयतो असह्येक्षानर्भबन्धः स्यात् । साधुजनोऽपि निन्दति स्वधर्मतनयं किमर्षमयं एव अयसःपङ्कजं लिम्पतीति । एवमनेकानर्थावहपरदोषप्रकटनं क सचेतन करोतीति ॥४७७॥

शिद्धं महुरं हृदयंगमं च पन्हादणिज्जमेगते ।

क्रोडं तु पण्णविज्जंतजो वि णालोचए सम्मं ॥४७८॥

एव प्रज्ञापनाया सत्यामपि यो नालोचयति इत्युत्तरसूत्रार्थं ।

तो उपीलेदब्बा ख्वयस्सोप्पीलएण दोसा से ।

वामेइ मंसमुदरमवि गदं सीहो जह सियालं ॥४७९॥

'तो' पश्चात् । 'उप्पीलएण' अवपीडयितव्या । के ? 'दोसा' दोषा । कस्य ? 'से' तस्य । 'ख्वयस्व' क्षयकस्य । केन ? 'उप्पीलएण' अवपीडकेन सूत्रिणा । अपसरारस्मत्सकाशात्, किमस्माभिर्भवत प्रयोजनं ? यो हि स्वशरीरलनमलप्रधालनेच्छ स ढीकते काचच्छायानुसारिसालक सर । यो वा महारोभोरगघस्तनप-पनय्माभिलाषयत्वात् न वैध ढीकते । एव रत्नत्रयातिचारान्निराकतुं मभिलषता समाश्रयणीयो मुहजन । भव-तश्च रत्नत्रयशुद्धिकरणे नैवावर किमनया क्षयकत्वविडम्बनया । न चतुविधाहारपरित्यागमात्रायता सल्लसनेय ।

पर मिथ्या दोषाभोगणको नष्ट करनेमें तत्पर रहने है वे क्या अपयश फैला सकते हैं ? मोक्ष-मार्गमें प्रधान मध्यदर्शन है और यतिजनमें दूषण लगाना सम्यग्दर्शनका अतिचार है । रत्नत्रय-रूपो कमलोका बन यदि अतिचाररूपो हिमपातमें नष्ट हो तो वह शोभित नहीं होता । पर-निन्दासे नीचगोत्र कर्मका आश्रय होता है । जो दूसरोंकी निन्दा करता है वह स्वयं अनेक जन्मोंमें निन्दाका पात्र बनता है । दूसरेके मनको असह्य सन्ताप देनेवालेके असातावेदनीयकर्मका बन्ध होता है । साधुजन भी निन्दा करते हैं कि अपने धर्मपुत्रको यह इस प्रकार अपयस्वरूप कीचडसे क्यों लिप्त करना है । इस तरह दूसरोंके दोषोंको प्रकट करना अनेक अनर्थोंका मूल है । कौन समझदार उस करना पसन्द करेगा ॥४७७॥

गा०—स्निग्ध मधुर, हृदयग्राही और सुखकर वचनोंके द्वारा एकान्तमें ममज्ञानेपर भी कोई क्षपक अपने दोषोंको सम्यक् रूपसे नहीं कहता ॥४७८॥

गा०—तब जैसे सिंह स्यारके पेटमें गये मांसको भी उगलवाता है वैसे ही अवपीडक आचार्य उस क्षपकके अन्तरमें छिपे हुए मायाशय्य दोषोंको बाहर निकालता है ॥४७९॥

दो०—हमारे सामनेसे दूर हो जाओ । आपको हमसे अब क्या प्रयोजन है ? जो अपने शरीरमें लगे मलको धोना चाहता है वह काचके समान निर्मल जलवाले सरोवरके पास जाता है । जथवा जो महान् रोगरूपी सर्पसे डँसा गया है और उसे दूर करना चाहता है वह वैद्यके पास जाता है । इसी प्रकार जो रत्नत्रयमें लगे अतिचारोंको दूर करना चाहता है उसे मुहज्जमके पास जाना चाहिए । आपको अपने रत्नत्रयकी शुद्धि करनेमें आदर नहीं है तब इस क्षपकका रूप धारण करनेसे क्या लाभ ? यह सल्लेखना केवल चार प्रकारके आहारका त्याग करनेमात्रसे

अपि तु कथावशात्कथामत्सा । संवरो निर्जरा च, कथाया ह्यभिलषकनीयान्ते, बन्धे, स्थितिविधाने चोद्यताः परिहृयन्तीयाः । तेषु च कथावेषु मायासिद्धिभ्रष्टा तिर्यग्योनिर्बर्तनप्रवणाः । तां त्यक्तुमसमर्थस्यापि प्रविष्टस्य भवतः संसारोद्वर्गसिद्धयन्वयात् । ततो निःशरभमसिद्धुष्करं । वस्त्रमात्रपरित्यगेनैव निर्ग्रन्थज्ञानिनालोडहन-
कन्धसर्वं, सर्वेषं तिर्यग्योनिर्बर्तनाः स्तुः । अतुर्बर्तनकारस्यान्वन्तरपरिग्रहस्य त्यागान्नावनैर्ग्रन्थं सम-
सिद्धये । तदेव हि मुपैकनायः । भावनैर्ग्रन्थस्य उपाय इति वक्ष्यविषयाह्यन्वन्तरात् उपायो नी मुमुक्षोः । न हि जीवपुद्गलद्रव्यसन्निधानमात्राधीनः कर्मबन्धः । अपि तु तन्निमित्तजीवपरिणामालम्बनः । अतिचार-
वन्ति वधनाधीनि न मुपैकनायः । 'सम्बन्धज्ञानचारित्र्यानि मौल्यमार्गः' इति किन्व भवतः श्रुतिगोचर-
मायात् औनं च ? समीचीनता हि वधनज्ञानचारित्र्यानि निरतिचारात् । सा च गुरुपदिष्टप्रायश्चित्ताचरणे ।
गुरवोऽपि कृताचोचनायैव प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति । ततो भवान्गुरुभ्यः अभव्यो वा । आसन्नभयस्य सति
किनेषं महाभावाद्यस्य भवति ? नैव यतिजनवन्दनार्होऽसि । 'समर्थं बंधेण वैषाची संबंधं तुल्यमाहि' इति
वचनात् । औचित्यमरवयोर्लान्ताभयोनिन्दाप्रशंसयोश्च समानचित्ततया समानो भवति । अतिचारनिबन्धने मा
निवन्धि न प्रशंसन्तीति भवता नाकोच्यते । तत्कथं समानोऽसि ? कथं वा बन्धः ?

'सीहो ब्रह्मा सिवार्थं श्वरर्षिं नवं पि अंस कामेभि' सिहो यथा श्रुतालमुदरप्रविष्टमपि मांसमुद्गर-
यति तद्वन्मायाद्यस्यमन्तर्धीनि निस्सारयत्यवपीडकः ॥५७९॥

नहीं होती । किन्तु इसके लिए कथायको कृश करना चाहिए । तभी यह सल्लेखना होती है ।
तथा संवर और निर्जरा भी करना चाहिए । कथाय तो नवीन कर्मोंके ग्रहण, बन्ध और उनके
स्थितिबन्धको करती है अतः वह त्यागने योग्य है ।

उन कथायोंमें माया अत्यन्त शराब है वह तिर्यङ्गतियोंमें ले जाती है । आप उसे छोड़नेमें
असमर्थ हैं अतः आप संसार समुद्रके तिर्यङ्गभवरूपी भँवरमें फँस गये हैं । वहाँसे निकलना अत्यन्त
कठिन है । वस्त्रमात्रके त्यागसे अपनेको निर्ग्रन्थ माननेका अभिमान करना भी झूठा है । यदि
कोई इतनेसे ही निर्ग्रन्थ हो तो पशु भी निर्ग्रन्थ कहे जायेंगे । चौदह प्रकारकी अभ्यन्तर परिग्रहके
त्यागसे भावनैर्ग्रन्थ होता है । वही मुक्तिका उपाय है । भावनैर्ग्रन्थका उपाय है दस प्रकारकी
बाह्यपरिग्रहका त्याग । वह मुमुक्षुके लिए उपयोगी है । जीव और पुद्गलद्रव्यके सम्बन्धमात्रसे
कर्मबन्ध नहीं होता, किन्तु उसके निमित्तसे होनेवाले जीवके परिणामोंके निमित्तसे कर्मबन्ध होता
है । अतिचार सहित सम्पद्दर्शन आदि मुक्तिके उपाय नहीं है । 'सम्पद्दर्शन, सम्पद्ज्ञान और
सम्पद्चारित्र्य मोक्षका मार्ग है ।' क्या यह जिनागमका वचन आपके कानोंमें नहीं गया ? निरति-
चार होना ही दर्शन ज्ञान और चारित्र्यकी समीचीनता है । और वह निरतिचारता गुरुके द्वारा
कहे प्रायश्चित्तकों करनेपर ही होती है । गुरु भी उसीको प्रायश्चित्त देते हैं जो आलोचना करता
है । अतः आप या तो दूर भव्य हैं या अभव्य हैं । यदि निकट भव्य होते तो इस प्रकारका महा-
मायारूप धार्य क्यों होता । तुम यतिजनोंके द्वारा बन्दना करने योग्य नहीं हो । क्योंकि आगम-
में कहा है—

'बुद्धिमान्को संवधी और सम्पदरूपसे समाहित श्रमणकी बन्दना करनी चाहिए ।'
जीवनमरणमें, काम अकार्यमें, निन्दा प्रशंसामें जिसका चित्त समान रहता है वही श्रमण
या समण होता है । 'बोध कहनेपर लोग मेरी निन्दा करेंगे, प्रशंसा नहीं करेंगे' इसलिए आप
आलोचना नहीं करते । सब आप कैसे समण (समान) है और कैसे बन्धनीय हैं । इस प्रकार

इदुगनपीडको भवतीत्याचष्टे—

उज्जस्सी तेजस्सी बच्चस्सी पहिदकिचियायग्गिओ ।

सीहाणुओ य भणिओ जिणेहिं उप्पीलगो नाम ॥४८०॥

यो यद्वितकामस्स तं बलात्तत्र प्रवर्तयति । यथा हिता माता बाल धृतपाने हत्येतदुत्तरसूत्रेणाचष्टे—

पिन्हेदूण रडंतं पि जहा बालस्स मुहं विदारिचा ।

पज्जेइ धदं माया तस्सेव हिदं विचिंतंती ॥४८१॥

‘पिन्हेदूण मुहं विदारिचा धदं पज्जेवि’ यथा जननी बालहितचिन्तोयता पूत्कुर्वन्तमपि बाल अवष्टस्य मुहं विदार्य धृतं पाययति ॥४८१॥

दार्ष्टान्तिकेनायोजयति—

तह आयरिओ वि अणुज्जयस्स खवयस्स दोमणीहरणं ।

कुणदि हिदं से पच्छा होहिदि कडु ओसहं वत्ति ॥४८२॥

‘तह’ तथा । आयरिओ आचार्योऽपि । ‘अणुज्जयस्स खवयस्स’ अनृजो क्षपकस्य । ‘दोमणीहरणं कुणइ’ मायाशल्यनिगमं करोति । ‘कडुओसहं वत्ति’ कटकमौषधमिव । ‘से’ तस्य । ‘पच्छाहिदं होवि’ पश्चाद्वित भवतीति ॥४८२॥

यो न निर्भर्त्सयति दोष दृष्ट्वापि प्रियमेव वक्ति स गुरु शोभन इति न भवद्भिर्मन्तव्यमित्यु-
पदिशति—

जिम्भाए वि लिहंतो ण भइओ जत्थ सारणा णत्थि ।

पाएण वि ताडितो स भद्दओ जत्थ साग्णा अत्थि ॥४८३॥

कहकर अवपीडक आचार्य उसके मुखसे दाष उगलवाते है ॥४७९॥

अवपीडक आचार्य ऐसे होते हैं, यह कहते हैं—

गा०—जो ओजस्वी-बलवान्, तेजन्वी-प्रतापवान् वर्चस्वी-प्रशुनोका उत्तर देनेमें कुशल, प्रसिद्ध कीर्तिशाली और मिहकें समान आचार्य हाने हैं उन्हें जिनभगवान् ने उत्पीडक नामसे कहा है ॥४८०॥

जो जिसका हित चाहता है वह उसे बलपूर्वक उममें लगाता है उसे हित चाहनेवाली माता बालकको बलपूर्वक धी पिलाती है यह जागेकी मायायमं कहते हैं—

गा०—जैसे बालकके हितकी चिन्तामें तत्पर माता चिल्लाने हुए भी बालकको पकड़कर उसका मुँह फाड़कर धी पिलाती है ॥४८१॥

उक्त दृष्टान्तको दार्ष्टान्तके साथ जोड़ते हैं—

गा०—उसी प्रकार आचार्य भी कुटिल क्षपकके मायाशल्यरूप दोषको निकालते है । और वह कडुवी औषधिकी तरह पीछे उस क्षपकके लिए हितकारो होता है ॥४८२॥

जो क्षपकके दोष देखकर भी उसका तिरस्कार नही करता, प्रियवचन ही बोलता है वह गुरु उत्तम है ऐसा आप न सोचना, यह उपदेश क्षपकको देते हैं—

'किन्नाए वि विहृते' जिह्वया स्वाद्यमपि 'न च्छ्वो' वैव भद्रकः । 'अथ सारणा वसि' यस्मिन्-
गुरी वीषनिवारणा नास्ति । 'साएव वि साधितो' धावेन तावद्यमपि 'स च्छ्वो' स सूरिभद्रकः । 'सारणा
अथ वसि' सारणा यम गुरी विहते ॥४८६॥

सारणकस्य सुरेभद्रताप्रकटमाय वाचा—

सुलहा लोए आदह्वितगा परहिदन्मि ह्कधुरा ।

आदह्वं व परह्वं चिंतता दुल्लहा लोए ॥४८४॥

'सुलहा लोए आदह्वितगा' सुलभाः प्रचुराः । 'लोए' लोके । 'आदह्वितगा' स्वकार्ये तत्पराः ।
परहिदन्मि ह्कधुरा' परहितकरणे अलताः । 'आदह्वं व' आत्मप्रयोजनमिव । 'परह्वं चिंतता' परप्रयोजन-
चिन्तासमुद्यताः लोके दुर्लभाः ॥४८४॥

आदह्वमेव चित्तदुह्विदा जे परह्वमवि लोमे ।

कडुय फलसेहिं साहेति तं हु अदिदुल्लहा लोए ॥४८५॥

'आदह्वमेव चित्तदुह्विदा' आत्मीयमेव प्रयोजनं चिन्तयितुमुत्थिताः । 'जे' ये 'परह्वमवि' परप्रयो-
जनमपि 'कडुयफलसेहिं' कटुकैः पर्यैः प्रवचनैः 'साहेति' साधयन्ति लोके । 'अदिदुल्लहा' अतीव
दुर्लभाः ॥४८५॥

सूरियदि नावपीडयेत् तासी क्षपको मायाशल्यान्निवर्तते । निर्मायत्वे निरतिचाररत्नत्रये च गुणे न
प्रवर्तते इति आचार्यसपाद्यमुपकारं प्रकटोकरोति—

खवयस्स जह ण दोसे उग्गालेह सुहमे व इदरे वा ।

ण णियत्तह सो तत्तो खवओ ण गुणे य परिणमह ॥४८६॥

'खवयस्स ण सुहमे व इदरे वा दोसे जह ण उग्गालेह' क्षपकस्य सूक्ष्माय स्थूलान्वा दोषान्यदि नोद्गार-
यति । 'सो खवओ तत्तो ण णियत्तह' स क्षपकस्तैम्य-सूक्ष्मेभ्यः स्थूलेभ्यो वा दोषेभ्यो न निवर्तते । 'नेव गुणे

जो गुरु शिष्यके दोषोका निवारण नही करता, वह जिह्वासे मधुर बोलनेपर भी भद्र नहीं
है । और जो गुरु दोषोका निवारण करता हुआ पैरसे मारता भी है वह भद्र है ॥४८३॥

दोषोका निवारण करनेवाले आचार्यको भद्रता बतलाते हैं—

था०—अपने काममें तत्पर किन्तु दूसरोका हित करनेमें आलसी मनुष्य लोकमें बहुत हैं
किन्तु अपने कार्यकी तरह दूसरोके कार्यकी चिन्ता करनेवाले मनुष्य लोकमें दुर्लभ हैं ॥४८४॥

था०—जो अपने ही कार्यकी चिन्तामें तत्पर होते हुए दूसरोके कार्यको भी कठोर औ-
कटुकवचनोंसे साधते हैं वे पुरुष लोकमें अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥४८५॥

था०—आचार्य यदि क्षपकको पीड़ित न करे तो वह मायाशल्यसे न निकले । और माया-
शल्यसे निकले बिना निरतिचार रत्नत्रय गुणमें प्रवृत्त न हो ॥४८६॥

इस प्रकार आचार्यके द्वारा किये जानेवाले उपकारकी प्रशंसा करते हैं—

यदि आचार्य क्षपकके सूक्ष्म अथवा स्थूल दोषोको न उगलवाये तो वह क्षपक उन सूक्ष्म
अथवा स्थूल दोषोसे निवृत्त न हो और न गुणमें प्रवृत्त हो । और दोषोको दूर किये बिना तथा

परिष्कारो विराट्प्रबोधो गुणे वाऽपरिगतो कथमाराधकः स्वादारारथनार्थमायातोऽन्यसत्यवपीठके । उन्पीठसि कथं ॥४८६॥

तस्मात्तु भविष्या उपील्लेजेण खवयस्त सन्बदोसाहु ।
ते उग्मालेद्वेष्वा तस्सेव हिं तया षेव ॥४८७॥

उन्पीठोति यं ।

एवं अवपीठकता व्याख्यानावसरप्राप्तपरिश्रान्तिं व्याचष्टे—

लोहेण पीदद्बुदयं व जस्त आलोचिदा अदीचारा ।

ण परिस्सवन्ति अण्णतो सो अप्परिस्सवो होदि ॥४८८॥

‘लोहेण पीदद्बुदयं व’ एवमत्र पदसंबन्धः । ‘जस्त आलोचिदा सोता ण परिस्सवन्ति अण्णतो’ यस्मिं कथिता दोषा न परिस्सवन्त्यन्वयतः । किमिव ‘लोहेण पीदद्बुदयं’ लोहेन सत्पत्तेन पीतमिवादिक् । ‘सो’ म’ । एवंभूतोऽपरिस्सवो होमि अपरिस्सवो भवति ॥४८८॥

दंसण्णणाणादिचारे वदादिचारे तवादिचारे य ।

देसञ्चाए विविषे सञ्चञ्चाए य आवण्णो ॥४८९॥

दंसण्णणाणादिचारे व वदादिचारे’ श्रद्धान्त्यातिचार शक्काइक्षाविचिकित्साभ्यदृष्टिप्रशंसामंस्तवा, ज्ञानस्य अतिचाराः अकले पठनं, श्रुतस्य श्रुतधरस्य वा विनयाकरण अनुयोगादीना ग्रहणे तत्रायोग्यावग्रह-ग्रहणं, उपाध्याय निष्ठान्, व्यञ्जना न्यूनताकरण, अधिष्यकरण, अर्थस्य अन्यथाकथन वा । तपसोज्ञाना-

गुणमें लगे बिना आराधक कैसे हो सकता है ? आराधनाके लिए गुस्के पास आकर भी यदि गुक अवपीठक न हो तो उक्त बात नहीं बन सकती है ॥४८६॥

गा०—इसलिए उत्पीठक आचार्यको क्षपकके सब दोष उगलवाना चाहिए । क्योंकि क्षपकका हित इसीमे है ॥४८७॥

उत्पीठक गुणका कथन समाप्त हुआ ।

इस प्रकार अवपीठक गुणका व्याख्यान करके अवसर प्राप्त अपरिश्रावी गुणको कहते हैं—

गा०—जैसे तपाये हुए लोहेके द्वारा पिया गया जल बाहर नहीं जाता वैसे ही जिस आचार्यसे कहे गए दोष अन्य भुनियोपर प्रकट नहीं होते, वह आचार्य अपरिस्सव गुणसे युक्त होता है ॥४८८॥

गा०—किसीके सम्यग्दर्शनमे अतिचार लगा हो, अथवा ज्ञानमे अतिचार लगा हो, या श्रुतोंमें अतिचार लगा हो, या तपमें अतिचार लगा हो, यह एकदेशसे अथवा सर्वदेशसे अतिचार लगा हो तो ॥४८९॥

टी०—सम्यग्दर्शनके अतिचार हैं—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिकी प्रशंसा और संस्तव । ज्ञानके अतिचार हैं—असमयमें स्वाध्याय, श्रुत अथवा श्रुतके धारीकी विनय न करना, अनुयोग आदिको ग्रहण करनेमें उसके योग्य अवग्रह न करना, गुस्का नाम छिपाना, व्यंजन शब्द छोड़ जाना या अधिक जो उसमें नहीं हैं, बोलना, और अर्थका अन्यथा कथन

वेदतिथारः—स्वयं न भुङ्क्ते अन्नं भोजयति, परस्य भोजनकमुवासाति ममसा वपसा कामेन च, स्वयं तुषा पीडित आहारकविकल्पति, समसा पारयां मम कः प्रयच्छति, मम वा कल्पयामीति चिन्ता जनकनातिथारः । रसवशाहारकत्तरं परिरमो मम नापिडि इति वा । बद्धीचनिकमयाकावां अन्धवनेन योगेन कृतिः प्रचुर- निद्रयया । संकेतकमनर्चनिसमनुचिठं मया, संतापकारीवं नाचरिष्यामि इति संकल्पः । अथमोथवातिथारः ममसा बहुमोक्षत्तरं परं बहु भोजयामीति चिन्ता । भुङ्क्ते वाच्यञ्चतस्तुतिरिति वचनं भुक्तं मया दहि- त्युक्ते सम्यक्कृतमिति वा वचनं, हुस्तसंभया प्रवचनं कल्प्येत्तनुपस्युक्त् । वृत्तिपरिसंख्यानस्थातिथारः भूत्स्यक- मेव प्रविशामि, एकमेव पाटं दरिद्रभूमेव । एवंभूतेन हाथकेन हाथिकया वा वत्तं सहीष्यामीति वा कुत- संकल्पः बहुस्यकाविकाविकप्रवेशः; पाटात्तरप्रवेशवच परं भोजयामीत्याधिकः । कुतररपरित्यागस्य रसाति- सक्तिः, परस्य वा रसवशाहारभोजनं, रसवशाहारभोजनानुमननं, वातिथारः । कायकलेशस्यातपनस्थातिथारः उष्णावित्तय शीतलद्रव्यमसागमेच्छा, सन्तापापायो मम कथं स्वाभिति चिन्ता, पूर्वनिवृत्तशीतलद्रव्यप्रवेशार्थं स्मरणं, कठोरतपस्य द्वेषः, शीतलाद्वेषावकुतपात्रप्रमार्जनस्य आसक्तप्रवेशः, आतपसंतपशरीरस्य वा अग्रभुङ्- गावस्य क्षयानुप्रवेशः इत्यादिकः । भूत्स्य भूत्स्युपवसत्स्वामि हुस्तैन, पातेन, शरीरेण वा वा कयावां पीडा ।

करना । तप अनशन आदिके अतिचार हैं—स्वयं भोजन न करते हुए भी दूसरोंको भोजन कराना, मनवचनकायसे दूसरेको भोजनकी अनुमति देना, स्वयं भूखसे पीडित होनेपर मनसे आहारकी अभिलाषा करना, मुझे पारणा कौन करायेगा, अथवा कहाँ पारणा होगी, इत्यादि चिन्ता अनशन तपके अतिचार हैं । अथवा रसीले आहारके बिना मेरी बकान दूर नहीं होती, प्रचुर निद्रामें पड़कर छहकायके जीबोंकी बाधामें मन या वचन या कायसे प्रवृत्ति होना । मैंने यह संकलेशकारी उपवास व्यर्थ ही किया, यह सन्तापकारी है इसे नहीं कहेगा इस प्रकारका संकल्प भी अनशनका अतीचार है ।

अथमौदर्यतपके अतिचार—मनसे बहुत भोजनमें आदर, दूसरेको बहुत भोजन करानेकी चिन्ता, जबतक आपकी तृप्ति हो तबतक भोजन करो ऐसा कहना, 'मैंने बहुत भोजन किया' ऐसा कहनेपर 'आपने अच्छा किया' ऐसा कहना, हाथके संकेतसे कंठ देशको स्पर्श करके बतलाना कि मैंने आकण्ठ भोजन किया ।

वृत्तिपरिसंख्यानतपके अतिचार—सात घरमें ही प्रवेश कहेगा, या एक ही मुहालमें जाऊंगा, वा दरिद्रके घर ही जाऊंगा, इस प्रकारका दाता पुरुष या दानी स्त्रीके द्वारा दिया गया आहार ग्रहण कहेगा । ऐसा संकल्प करके दूसरेको भोजन कराना है इस भावसे सात घरसे अधिक घरोंमें प्रवेश करना और एक मुहालसे दूसरे मुहालमें जाना ।

रसपरित्यागतपके अतिचार—रसोंमें अति-आसक्ति, दूसरेको रसयुक्त आहारका भोजन कराना, अथवा रसयुक्त आहारके भोजनकी अनुमति । ये अतिचार हैं ।

कायकलेशतपके अतिचार—गर्भसि पीडित होनेपर शीतलद्रव्यकी प्राप्तिकी इच्छा होना, मेरा सन्ताप कैसे दूर हो यह चिन्ता होना, पूर्वमें भोगे हुए शीतलद्रव्यों और शीतल प्रदेशोंको याद करना, कठोर धूपसे द्वेष करना, शीतल प्रदेशसे अपने शरीरको पीछीसे शोधे बिना धूपमें या गर्भस्थानमें प्रवेश करना, अथवा क्षमसे सन्तप्त शरीरको पीछीसे शोधे बिना छावामें प्रवेश करना आदि । बूझके भूलमें जाकर हाथ, पैर अथवा शरीरसे अलकायिक जीवोंको पीड़ा देना,

कर्म ? शरीरबलसम्बलकणप्रमार्जनं हृत्तेन पादेन वा शिलाफलकादिगतोदकापनयनं मृदुकार्द्रायां भ्रूमी क्षयन
निम्ने जलप्रवाहमनयेत् वा अवस्नानम्, अवघ्राहे वर्षापातः कदा स्यादिति चिन्ता, वर्षति देवे कदास्योपरमः
स्यादिति वा, छत्रफटकाविधारण वर्षानिबारणायेत्यादिकः । तथा अन्नाधिकसास्यातिचारः सचित्तायां भ्रूमी
वत्सहितहरितसमृत्तिकायां विवरवत्यां क्षयनं । अकृतभूमिशरीरप्रमार्जनस्य हृत्तपासकोचप्रसारणे, पाश्वर्क-
न्धरसम्परण, कण्डूयनं वा । हिमसमीरणाभ्यां हृतस्य कर्दतदुपशमो भवतीति चिन्ता, बशवकाविमिच्छरि-
निप्रतितहिमापकर्षणं, अत्रश्यायघट्टना वा प्रचुरवातापातदेशोऽप्यमिति सक्लेशः, अग्निप्राञ्चरणादीनां स्मरण-
मित्यादिकः । प्रायश्चित्तातिचारनिरूपणा—तत्रालोचनातिचारा 'आकम्पिय अणुमाणियमित्यादिकाः । स्व
भूतातिचारोऽप्य मनसा अजुगुप्सा । अज्ञानत, प्रमादात्कर्मगुरुत्वादात्सत्याच्चेद अशुभकर्मबन्धननिमित्तं अनुष्ठितं,
दुष्ट कृतमिति एवमादिकप्रतिक्रमणातिचारः । उक्तोभयातिचारसमवायस्तदुभयातिचारः । भावतोऽविवेको
विवेकातिचारः । व्युत्सर्गातिचारः कृत. शरीरममताया न निवृत्ति अशुभध्यानपरिणति । कापोत्सर्गदोषाश्च
तप^१ अतिचारे उक्ता । एव छेदस्यातिचार न्यूनो जातोऽहमिति सक्लेशः । भावतो रत्नयानादान मूलाति-
चारः । सर्वो द्विप्रकार इत्याचष्टे—'विश्वत्पाए विविधे' देशातिचार नानाप्रकारं मनोवाक्याभेदात्कृतकारितानुमत-

शरीरमे लगे जलके कणोको हाथ वर्गहसे पोंछना, हाथ या पंरसे शिलातल आदिपर पड़े जलको
दूर करना, कोमल शीली भूमिपर सोना, जलके बहनेके निचलं प्रदेशमे ठहरना, निश्चित स्थानपर
रहते हुए 'कब वर्षा होगी' ऐसी चिन्ता करना अथवा वर्षा होनेपर 'कब रुकेगी' ऐसी चिन्ता
करना, बघसे बचनेके लिए छाता आदि धारण करना ।

अन्नावकाशके अतिचार—सचित भूमिपर जिसमे त्रसहित हरितकाय हो, तथा छिद्र-
वाली भूमिपर सोना, भूमि और शरीरको पीछीसे दृढ़ किये विना सोते हुए हाथ पंर संकोचना
फैलाना, करवट लेना अथवा शरीर लुजाना । वर्ष और वायुमे पीछित होनेपर 'कब ये बन्द होगे'
ऐसी चिन्ता करना, बांसके पत्ते वर्गहसे शरीरपर गिरे वर्षको हटाना, अथवा वर्षसे घट्टन करना,
इस प्रदेशमे अधिक वायु चलतो है ऐसा सक्लेश करना, अथवा शीत दूर करनेके साधन आग,
ओढनेके वस्त्र आदिका स्मरण करना ।

प्रायश्चित्तके अतिचार—आलोचना प्रायश्चित्तके अतिचार 'आकम्पिय अणुमाणिय' इत्यादि
आगे कहे गये हैं । अपने लगे अतिचारोमे मनसे ग्लानिका न होना अतिचार है । अज्ञानसे,
प्रमादसे, कर्मोकी गुरुतासे, और आलस्यसे मने यह अणुभक्तमे बन्धमे निमित्त कार्य किया,
यह बुरा किया, यह जुगुप्सा है । उसका न होना प्रतिक्रमण प्रायश्चित्तका अतिचार है । उक्त
आलोचना और प्रतिक्रमणके अतिचार तदुभय प्रायश्चित्तके अतिचार है । भावपूर्वक विवेकाका न
होना विवेक प्रायश्चित्तका अतिचार है । शरीरसे ममत्व न हटना, और अशुभध्यानरूप परिणति
तथा कापोत्सर्गके दोष व्युत्सर्ग प्रायश्चित्तके अतिचार हैं । नपके अतिचार पहले कहे हैं । मेरी
दोषा छेदनेमे मैं छोटा हो गया, यह संक्लेश छेदप्रायश्चित्तका अतिचार है । भावपूर्वक रत्नत्रय-
को ग्रहण न करना मूलनामक प्रायश्चित्तका अतिचार है ।

अतिचारके दो प्रकार हैं—देशातिचार और सर्वातिचार । मनबचनकाय और कृत-कारित

१ मृत्कार्द्रा—आ० मु० । २ अन्नावकाशस्य—अ० । ३ त्रसहितकायचित्ताया विव-अ० ।
४ र कृतो भवति—आ० । ५ तप अतिचारा उक्ता—आ० । तप अतिचारे उक्त मु० । ६ कृतो
भवति मु० ।

महामिहकल्पान् । 'लज्जाम्बाने व' सर्वातिचारे व 'आचरन्ते' भाष्यः ॥४८९॥

आयसियाणं वीसत्थदाए भिक्खु कहेदि सगदोसे ।

कोई पुण भिद्धम्मो अण्णेसिं कहेदि ते दोसे ॥४९०॥

'आहरिषाणं' आचार्याणां । 'भिक्खु' भिक्षुः । 'कहेदि' कथयति । 'वीसत्थदाए' विस्वासेन । किं ? 'सगदोसे' स्वातिचारान् । 'कोई पुण' कथित्वानुराचार्यपाशः । 'भिद्धम्मो' निष्कान्तो बहिर्भूतो जिनप्रणी-
ताद्वयम् । 'अण्णेसिं' अन्येभ्यः । 'कहेदि ते दोसे' कथयति तान् आलोचिताम्बोषान् । अनेन किलायमपराधः
कृत इति ॥४९०॥

तेण रहस्सं भिदंतएण साधु तदो य परिचत्तो ।

अप्या गणो य संघो मिच्छत्ताराधणा वेव ॥४९१॥

'तेण' तेन । 'रहस्सं भिदंतएण' प्रच्छाद्यालोचितदोषप्रकाशनकारिणा । 'साधु' साधुः । 'तदो य परि-
चत्तो' ततस्तु परित्यक्त । स्वदोषप्रकाशने मया कृते लज्जावानयं दुःखितो भवति । आत्मानं वा घातयेत् ।
कुपितो वा रत्नत्रयं त्यजेत् इति स्वचित्तेऽक्रुवंता परित्यक्तो भवति । 'अप्या परिचत्तो', 'गणो परिचत्तो, संघो
परिचत्तो', इति प्रत्येकामिसम्बन्धः । 'मिच्छत्ताराधणा वेव' मिथ्यात्पाराधना दोषो भवति ॥४९१॥

इत्थं सामुः परित्यक्तो भवतीत्याचष्टे—

लज्जाए गारवेण व कोई दोसे परस्स कहिदोवि ।

विपरिणामिज्ज उपावेज्ज व गच्छेज्ज वाध मिच्छतं ॥४९२॥

'लज्जाए' लज्जया । 'गारवेण व' गुस्तया वा । 'कोई' कथित्व् । 'दोसे' दोषान् । 'परस्स' परस्मै ।
'कहिदो वि' कथितोऽपि । 'विपरिणामेज्ज' पृथग्भवेत् । नायं मम गुहः प्रियो यदि स्यात्किं मदीयाम्बोषान्नि-

अनुमोदनाके भेदसे देशातिचारके अनेक भेद हैं ॥४८९॥

भा०—भिक्षु विश्वासपूर्वक अपने दोषोको आचार्योसे कहता है । कोई आचार्य जो जिन
भगवान्के द्वारा कहे गये धर्मसे भ्रष्ट होता है, वह भिक्षुके द्वारा आलोचित दोषोको दूसरोसे
कह देता है कि इसने यह अपराध किया है अर्थात् ऐसे करनेवाला आचार्य जिनधर्मसे बाह्य
होता है ॥४९०॥

भा०—उस आलोचित दोषको प्रकट करनेवाले आचार्यने ऐसा करके उस साधुका ही
त्याग कर दिया । क्योंकि उसने अपने चित्तमें यह विचार नहीं किया कि मेरे द्वारा इसके दोष
प्रकट कर देनेपर यह लज्जित होकर दुखी होया, अथवा आत्मघात कर लेगा, अथवा क्रुद्ध होकर
रत्नत्रयको ही छोड़ देगा । तथा उस आचार्यने अपनी आत्माका त्याग किया, गणका त्याग किया,
संघका त्याग किया । इतना ही नहीं, उसके मिथ्यात्वकी आराधना दोष भी होता है ॥४९१॥

उस आचार्यने साधुका परित्याग कैसे किया, यह कहते हैं—

भा०—निर्बाधकाचार्यके द्वारा दूसरेसे साधुके गुप्त दोष कहनेपर कोई क्षपक लज्जावश
वा मानकी गुस्तावश विपरीत परिणाम कर सकता है । यह मेरा गुह नहीं है । यदि मैं इसे

भवति । मधीया बहिरुचराः प्राणा गुहरयमिति या संभावना साध नष्टेति चिन्ता विपरिणामः 'उवाचैज्ज वा' त्यजेद्वा रत्नत्रयं दोषप्रकटनेन कुपितः । 'गच्छेज्ज वा' गणान्तर प्रविशेत् ॥४९२॥

आत्मपरित्यागं व्याचष्टे—

कोई रहस्यमेदे कदे पदोसं गदो तमायगिय ।

उद्दावेज्ज व गच्छं भिदेज्ज व होज्ज पडिणीओ ॥४९३॥

'कोई' कपिचत् । 'रहस्यमेदे कदे' रहस्यमेदे कृते । 'पदोसं गदो' प्रद्वेष गत । 'तमायगियं' तमाचार्यं । 'उद्दावेज्ज व' मारयेत् । 'गच्छं भिदेज्ज' गणभ्रवं कुर्यात् । किमनेन सूरिणा स्नेहरहितेन, यथा ममापराध प्रकटितवान् एव मुग्धानपि निवेदितापराधान्पूषयिष्यतीति ब्रुवन् । 'होज्ज पडिणीओ' प्रत्यनीको भवेन् ॥४९३॥

गणत्याग कथयति—

जह धरिसिदो इमो तह अम्हं पि करिज्ज धरिसणमिमोत्ति ।

मव्वो वि गणो विप्परिणमेज्ज छडेज्ज वायगियं ॥४९४॥

'जह धरिसिदो इमो' यथा दूषितोऽय । 'तह' तथा । 'अम्हं पि करेज्ज धरिसणमिमोत्ति' 'अस्मद् दूषण कुर्यान् अयमिति । 'विप्परिणमेज्ज' पृथग्भवेन् । 'छडेज्ज वायगियं' त्यजेद्वाचार्यं । 'नत्वेनेन मूनेण गण आचार्य न्यजतीति कथ्यते तेन गणस्यैक इति पूर्वसूत्रेण ततोऽन्यथां संगतिरित्यत्रोच्यते । यत एव सूरिणा

प्रिय होता तो यह मेरे दोष क्यो कहता । यह गुरु मेरे बाहरमे चलते-फिरते प्राण है ऐसा जो मैं सोचता था वह आज नष्ट हो गया, इस प्रकारकी चिन्ता विपरीत परिणाम है । अथवा दोष प्रकट कर देनेसे कुपित होकर रत्नत्रयको छोड़ सकता है ॥४९२॥

उस आचार्यने आत्माका त्याग कैसे किया, यह कहते हैं—

गा०—रहस्यमेद करनेपर कोई क्षपक द्वेषी बनकर उस आचार्यको मार सकता है । अथवा गणमे भेद डाल सकता है कि इस स्नेहरहित आचार्यसे क्या लेना देना है ? जैसे इसने मेरा अपराध प्रकट कर दिया उसी प्रकार तुम्हें भी अपराध निवेदन करने पर दोष लगायेगा । ऐसा कहकर अन्य साधुओंको विरोधी बनाकर गणमें भेद डाल सकता है । अथवा विरोधी हो सकता है ॥४९३॥

उस आचार्यने गणका त्याग कैसे किया, यह कहते हैं—

गा०—जैसे इस आचार्यने अमुक साधुका दोष प्रकट किया उसी प्रकार यह हमारा दोष भी प्रकट कर देगा, ऐसा सोचकर समस्त गण गणसे अलग हो सकता है अथवा आचार्यका त्याग कर सकता है ।

टी०—शंका—इस गायामं तो कहा है कि गण आचार्यको छोड़ देता है और पूर्व गाथामें कहा है कि आचार्यने गणका त्याग किया । इन दोनों कथनोंकी संगति नहीं बैठती ?

१. 'अरमाम् दूषितान् कुर्यात्'—आ० मु० । २. 'वचनेन मूनेण—आ० ।

दोष प्रत्यापनपरिण त्वक्तोऽती तत एव गणस्तं त्वजति ॥४९४॥

संघस्त्यक्तो मवतीत्येतद् व्याचष्टे—

तद् वैव पवयर्णं सम्बन्धेव विपरिणयं मने तस्त ।

तो से दिसावहारं करेज्ज निज्जहर्णं चावि ॥४९५॥

'तद् वैव पवयर्णं सम्बन्धेव' तर्क्य प्रवचनं संघः सर्व एव प्रोच्यते रत्नत्रयं यस्मिन्निति सम्बन्धव्युत्पत्तौ संघवाची भवति प्रवचनशब्दः । 'विपरिणयं' विरुद्धतया परिणतं प्रवृत्तं । 'हमे तस्त' भवेत्तस्य । 'तो' ततः । 'से' तस्य । 'दिसावहारं करेज्ज' कुर्यात् आचार्यापहरणं कुर्यात् संघः 'निज्जहर्णं चापि करेज्ज' इति पद-संबन्धः । परित्यागं वा कुर्यात् ॥४९५॥

मिथ्यात्वाराराधनाप्रतिपादनार्थां माथा—

जदि धरिसणभेरिसयं करेदि सिस्सस्स वैव आयरिओ ।

धिद्धि अपुट्ठम्मो समणोचि भणेज्ज मिच्छज्जो ॥४९६॥

'अद् धरिसणभेरिसयं' यदि दूषणं एवंभूत । 'करेदि' करोति । 'सिस्सस्स वैव' शिष्यस्वीव । कः आचार्यः । 'धिद्धि अपुट्ठम्मो समणोचि भणेज्ज' धिग्धिग् अपुष्टधर्मान् धमणान् । इति 'भणेज्ज मिच्छ-ज्जो' वदेन्मिथ्यादृष्टिजनः ॥४९६॥

प्रस्तुतापरिव्यावितोपसहारमाया प्रसिद्धार्था—

इच्चैवमादिदोसा ण होति गुरुणो रहस्सचारिस्स ।

पुट्ठेव अपुट्ठे वा अपरिस्ताइस्स धीरस्स ॥४९७॥

'इच्चैवमावि दोसा इति' । अपरिस्ससं तु गद ॥४९७॥

समाधान—यतः दोषोको प्रकट करनेवाले आचार्यने गणका त्याग किया अतः गण मी उसे छोड़ देता है ॥४९४॥

सघ कैसे त्यागा, यह कहते हैं—

गा०—जिसमें रत्नत्रय 'प्रोच्यते' कहा जाता है वह प्रवचन है इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रवचन शब्दका अर्थ यहाँ संघ है । सभी संघ आचार्यके विरुद्ध हो सकता है और उसके आचार्य पदको छीन सकता है अथवा उसका त्याग कर सकता है ॥४९५॥

दोष प्रकट करनेसे मिथ्यात्वकी आराधना कैसे होती है, यह कहते हैं—

गा०—यदि आचार्य अपने शिष्यको ही इस प्रकार दोष प्रकट करके दूषित करते हैं तो इन अपुष्ट धर्मवाले धमणोंको बिककार है ऐसा मिथ्यादृष्टि लोग कहेंगे ॥४९६॥

प्रस्तुत अपरिभ्रावि गुणके कथनका उपसंहार करते हैं—

धा०—जी आचार्य पूछनेपर अथवा बिना पूछे शिष्यके द्वारा प्रकट किये दोषोंको दूसरोसे नहीं कहता वह रहस्यको गुप्त रखनेवाला आचार्य अपरिस्त्रावी होता है और उसे ऊपर कहे दोष परा भी नहीं छूते । ४९७॥

अपरिस्त्रावी गुणका कथन पूर्ण हुआ ।

'णिव्ववगो' इत्येतत्सु पदव्याख्यानाद्योत्तरप्रबन्ध —

संधारभत्तपाणे 'यस्य येनाभिसंबन्धो दूरस्वस्यापि तस्य म.' इति कृत्वा—

संधारभत्तपाणे अमणुण्णे वा चिरं व कीरंते ।

पडिचरमपमादेण य सेहाणमसंबुडगिराहिं ॥४९८॥

संधारभत्तपाणे अमणुण्णे वा चिरं व कीरंते कुविओ हवेज्ज सबगो मेरं वा भेत्तुमिच्छेज्ज । इति क्रियाभिः पदसंबन्धोऽन्य कार्य । सस्तरं भक्त्याने वा । 'अमणुण्णे' अमनांसे । 'कीरंते' क्रियमाणे । 'कुविओ' कुपितो भवेत्क्षयक । मेरं वा मर्यादा वा । भेत्तुमिच्छेत् । 'चिरं व कीरंते' चिराद्वा सस्तरकरणे भक्तमानानयने वा । 'पडिचरमपमादेण वा' निर्यापकाना वैयावृत्यकरणे य प्रमादस्तेन वा कुपितो भवेत् । मर्यादा वा व्याप्त्या भेत्तु इच्छेत् । 'सेहाणमसंबुडगिराहिं' अगृहीताथाना असंवृताभि परस्परं प्रतिक्लाभिर्वा कुपितो भवेत् ॥४९८॥

सीदुण्हछुहातण्हाकिलामिदो तिच्चवेदणाए वा ।

कुविदो हवेज्ज खवओ मेरं वा भेत्तुमिच्छेज्ज ॥४९९॥

'सीदुण्हछुहातण्हा किलामिदो' शीतेनोष्णेन क्षुधा तृष्या पीडित कुपितो भवेत् । 'तिच्चवेदणाए वा' तीव्रवेदनया वा कुपितो मर्यादोलङ्घनेच्छुर्भवेत् ॥४९९॥

णिव्ववएण तदो से चिचं खवयस्स णिव्ववेदव्वं ।

अक्खोभेण खमाए जुत्तेण पणट्टमाणेण ॥५००॥

'णिव्ववएण' सन्तोषमुत्पादयता सूरिणा । 'तवो' तत । 'से खवयस्स' तस्य कुपितस्य मर्यादा भेत्तुमिच्छतो वा । 'चित्तं णिव्वेदव्वं' चित्तं प्रशान्तिं नेय । 'अक्खोभेण' चलनरहितेन व्यवस्थावता । 'खमाए जुत्तेण' क्षमया युक्तेन । 'पणट्टमाणेण' प्रनष्टमानेन । न हि रोषो मानो वा सूरि परचित्तकलङ्क प्रशमयितु ईहते ततो निःकषायेण भाव्यमिति भावः ॥५००॥

गाथाके 'णिव्ववगो' पदका व्याख्यान करते हैं—

गा०—सस्तर और भोजनपान क्षपकको मनके अनुकूल न होने पर, अथवा उसमें देरी करने पर अथवा निर्यापकोंके वैयावृत्य करनेमें प्रमाद करने पर अथवा सल्लखना विधिसे अनजान नये साधुओंके कठोर और प्रतिकूल वचनोसे क्षपक कुपित हो सकता है अथवा अपनी मर्यादाका उल्लघन कर सकता है ॥४९८॥

गा०—अथवा शीत, उष्ण, भूख, प्याससे पीडित होनेसे अथवा तीव्र वेदनासे क्षपक कुपित हो सकता है और मर्यादाको तोड़नेकी इच्छा करता है ॥४९९॥

गा०—तब विचलित न होनेवाले, क्षमाशील और मानरहित आचार्यको सन्तोष वचन कहते हुए उस कुपित अथवा मर्यादाको तोड़नेके इच्छुक क्षपकके चित्तको शान्त करना चाहिये ॥५००॥

टी०—क्रोधी अथवा धमण्डी आचार्य दूसरेकी चित्तकी अशान्तिको शान्त करना नहीं पसन्द करता । इसलिए आचार्यको कषायसे रहित होना चाहिए, यह इस गाथाका भाव है ॥५००॥

एवंभूतो निर्वाण्यतीत्येतद्वचनघटे—

अंगमुदे य बहुविधे जो अंगमुदे य बहुविधविभक्ते ।

रत्नकरंडयभूतो सुष्णो अविजोगकरणम्मि ॥५०१॥

‘अंगमुदे य’ श्रुतं पुरुषः मुखचरणपादजङ्गस्थानीयत्वाद् जङ्गलक्ष्णेनोच्यते आचारादिकं द्वादशविधं तस्मिन् जङ्ग-
भूते । ‘बहुविधे’ नामाप्रकारे । आचारं, सूत्रकृतं, स्थानं, समवायः, व्याख्याप्रज्ञप्तिः । ‘जो अंगमुदे य’ जङ्ग-
बाह्ये वा । ‘बहुविधविभक्ते’ सामायिकं, चतुर्विधातिस्तवो, वन्दना, प्रतिक्रमणं, वैययिकं, कृतिकर्म, दशवै-
कालिका उत्तराध्ययनं, कल्पव्यवहारः, कल्प्यं, महाकल्प्यं, पुष्करीकं, महापुष्करीकं इत्यादिना विचित्रमेवेन
विभक्ते । ‘रत्नकरंडयभूतो’ रत्नकरण्डकभूतः । ‘सुष्णो अविजोगकरणम्मि’ यद्यत्प्रस्तुतं व वस्तु तत्र तत्र
सवायिकाद्यनुयोगयोजनायां कुशलं । अनेन ज्ञानमाहात्म्यं सूचितं ॥५०१॥

वचा कता च शुष्णी विचिन्तमुदधारजो विचिन्तकहो ।

तह य अपायविदण्हू मईसंपण्णो महामागो ॥५०२॥

‘कता’ वक्ता । ‘कता य’ कर्ता य विनयवैयानुत्पयोः । ‘विचिन्तमुदधारजो’ विचित्रं श्रुतं प्रथमानुयोगः,
करणानुयोगचरणानुयोगो, द्रव्यानुयोग इत्यनेन विकल्पेन । ‘विचिन्तकहो’ विचित्रायाः कथायाः निरूपणा अस्म
स विचित्रकथः । ननु य ‘अंगमुदे य बहुविधे जो अंगमुदे य बहुविधविभक्ते’ इत्यनेनैव गतत्वात् किमनेन
‘विचिन्तमुदधारजो’ इत्यनेन ? नैव दोषः । पूर्वतूने श्रुतकेवलो निर्वापकत्वैर्नोक्त । अनया तु असमस्तश्रुदाचा-

आगे कहते हैं कि इस प्रकारका आचार्य क्षपकका चित्त शान्त करता है—

शा०—टी०—श्रुत एक पुरुषके समान है । आचार्य आदि बारह उस श्रुतपुरुषके मुख, पैर
आदि अंगोंके स्थानापन्न होनेसे अंग शब्दसे कहे जाते हैं । आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय,
व्याख्याप्रज्ञप्ति इत्यादिके भेदसे वह अंगश्रुत नाना प्रकारका है ।

नो अंगश्रुत अर्थात् अंगबाह्य भी सामायिक, चतुर्विधातिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैययिक,
कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्प्य, महाकल्प्य, पुष्करीक, महापुष्करीक
इत्यादि विचित्र भेदसे विभक्त हैं । जो आचार्य इन सब श्रुत भेदोंके लिए रत्न रखनेके पिटारके
समान हैं अर्थात् जैसे पिटारमें रत्न सुरक्षित रहते हैं वैसे ही वह इन श्रुतरूपी रत्नोंका अभ्यास
करके उन्हें अपने हृदयमें धारण करता है । तथा जो जो प्रस्तुत विषय है उस उस विषयमें सत्,
संस्था, श्रेय, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व आदि अनुयोगोंकी योजना करनेमें कुशल
होता है वही आचार्य क्षपककी अशान्तिको शमन कर सकता है । इससे आचार्यके ज्ञान माहात्म्यको
सूचित किया है ॥५०१॥

शा०—टी०—तथा वह बका अर्थात् व्याख्यान करनेमें कुशल, विनय और वैयानुत्पका
कर्ता और प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगके भेदसे नाना प्रकारके श्रुत-
का धारक और विविध प्रकारका निरूपण करनेवाला तथा रत्नत्रयके अतिचारोंका ज्ञाता और
स्वाभाविक बुद्धिसे सम्पन्न तथा जितेन्द्रिय महात्मा होता है ।

शंका—पूर्व शायामें आचार्यको अंगश्रुतका और विविध अंगबाह्यका ज्ञाता कहा ही है ।
फिर यहाँ विचित्र श्रुतका धारक क्यों कहा ?

मौजि एवमुक्तौ निर्वापको भवतीत्याख्यायते तेन न पुनरुक्तता । 'तद् व' तथा च । 'आपामविष्णु' रत्नमयाति-
चारः । 'बहलंशम्भो' स्वभाविषया बुद्ध्या समन्वितः । 'महाभागो' स्वयशो महात्मा ॥५०२॥

पद्मे गिष्सेसं गाहुरं च आहरणहेदुजुत्तं च ।

अभुसासेदि सुविहिदो कुविदं सण्णिव्वेमाणो ॥५०३॥

'अभुसासेदि' अनुशासित । 'कवे' वक्तुं प्रारब्धं वस्तुनि । 'गिष्सेसं यद्युत्तं' समस्तभवबोधयत्तवयु
वासनं करोति । 'आहरणहेदुजुत्तं च' दुष्टातेन हेतुना च युक्तं । एतस्माद्धेतोरिदमेवैतदिति युक्त्यामुखास्ति
'कुविहिदो' मतिः । 'कुविदं' कुमिदं 'सण्णिव्वेमाणो' सम्यक् प्रथमयन् सम्यक्प्रसाधमुपनयन् ॥५०३॥

गिद्धं मधुरं शंभीरं मणप्पसादणकरं सबणकंतं ।

वेह कद्धं गिष्णववगो सदीसमण्णाहरणहेडं ॥५०४॥

'गिद्धं' प्रियवचनबहुलतया स्तित्वं । 'मधुरं' अनतिकठोराक्षरतया मधुरं । 'शंभीरं' अर्थागततया ।
'मणप्पसादणकरं' मनःप्रसहादविधायिनी । 'सबणकंतं' भृतिसुखं । 'वेदि कद्धं' कथा कथयति । 'गिष्णववगो'
निर्वापकः । 'सदीसमण्णाहरणहेडु' स्मृतिसमानयनकारणं । पूर्वाभ्यस्तभुतार्थगोचरस्मरणं इह स्मृतिरिति गृह्यते
मतिवचनो वा । 'वतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनन्तरम्'—[त० सू० १।] इति वचनात् । तेन
बुद्धिसमानयनकारणमित्यर्थः इति केचित् ॥५०४॥

गिष्णववगो इत्येतस्यपत्रं व्याचष्टे—

जह पक्खुभिदुम्भीए पोदं रदणभरिदं समुव्वदम्मि ।

गिष्णववओ धारेदि हु जिदकरणो बुद्धिसंपण्णो ॥५०५॥

'जह पक्खुभिदुम्भीए' यथा प्रचलिततरङ्ग । 'समुव्वदम्मि' समुद्रं । 'पोदं' पोत नाव । 'रदणभरिदं' रत्न-
भरितं । 'गिष्णववओ' निर्यापकः । 'धारेदि हु' धारयति । 'जिदकरणो' परिचितक्रियम् । 'बुद्धिसंपण्णो' बुद्धि-
संपन्नः बुद्धिमान् ॥५०५॥

समाधान—पूर्वं गाथामें श्रुतकेवलीको निर्वापक रूपसे कहा है और इसमें समस्त श्रुतका
जो ज्ञाता नहीं है ऐसा आचार्य भी निर्वापक होता है यह कहा है । इससे पुनरुक्त दोष नहीं
है ॥५०२॥

वा०—जिस वस्तुका निवेदन करना प्रारम्भ करे तो उसके समस्त हेतु उपादेय रूपका
बोध हट्यास्त और युक्तिसे करावे कि इस हेतुसे यह ऐसा ही है । ऐसा आचार्य कुपित हुए क्षपक-
को सम्यक् रूपसे प्रसन्न करके उसे शिक्षा देता है ॥५०३॥

वा०—निर्वापक आचार्य प्रियवचनोंकी बहुतायत होनेसे स्तित्व, अधिक कठोर अक्षर
न होनेसे मधुर, अर्थकी प्रगाढ़ता होनेसे गम्भीर, मनको प्रसन्नता और कानोंको सुख देनेवाली
कथा कहते हैं जिससे क्षपकको पहले अभ्यास किये हुए श्रुतके अर्थका स्मरण होता है । यहाँ
स्मृतिसे कोई व्याख्याकार मतिका ग्रहण करते हैं क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रमें मति, स्मृति संज्ञा, चिन्ता
अभिनिबोधको अर्थान्तर कहा है । अतः वे अर्थ करते हैं कि उस कथासे क्षपकमें बुद्धिका जागृकन
होता है, उसकी बुद्धि जाग्रत हो जाती है ॥५०४॥

आगे गाथाके गिष्णववग (निर्यापक) पदका व्याख्यान करते हैं—

तद् संजमगुणपरिदं परिस्सहुम्भीहिं सुभिदमाइइं ।

गिज्जावजो चारेदि हु मधुरेहिं हिदोवदेसेहिं ॥५०६॥

'तद् संजमगुणपरिदं' तथा संजमेन गुणैश्च सम्पूर्वं । संयमस्य सर्वेभ्यः प्रधानत्वात् संयम-
क्षयस्य पूर्वनिपातः । 'परिस्सहुम्भीहिं' क्षुत्पिपासादुःखानि परीषहास्ते क्रम्य इवानुक्रमेणोद्गच्छन्तीति
उत्पिपासपक्षे लभते । परीषहोभिनिः 'सुभिदं' चकितं । 'माइइ' तिर्वग्भूतं यत्निपातं । 'गिज्जावजो चारेदि
हु' निर्यापकसुरिचारेयत । 'मधुरेहिं हिदोवदेसेहिं' मधुरेहितोपवेशः ॥५०६॥

विदिवलकरमादहिदं मधुरं कण्णाहुदि जदिण देइ ।

सिद्धिमुहमावहंती चत्ता आराहणा होइ ॥५०७॥

'विदिवलकरं' वृत्तिबलकारिणी । स्मृतैः स्वैर्यं वृत्तिस्तस्या अवष्टम्भकारिणी । 'आवहिवं' आत्म
हितां । 'मधुरं' मधुरां । 'कण्णाहुदि' कर्णाहुति । 'जदि न देवि' यदि न दद्यात् । सिद्धिमुहमावहन्तीति ।
सिद्धिमुखानयनकारिणी । 'आराहणा' आराधना । 'चत्ता होवि' त्यक्ता भवति ॥५०७॥

प्रस्तुतोपसंहारगाथा—

इय गिज्जावजो खयस्स होइ गिज्जावजो सदापरिजो ।

होइ य किप्पी पविदा एदेहिं गुणेहिं जुचस्स ॥५०८॥

'इय' एवं । 'गिज्जावजो' निर्यापकः । 'अवयस्स' क्षयस्त्य । 'गिज्जावजो होवि' निर्यापको भवति ।
'सदापरिजो' सदाचार्यः निर्यापकस्य गुणसम्पत्तः क्षयस्त्योपकारी भवतीत्युक्त्वा स्वार्थमपि तस्य 'सुरेवंश'वति ।
'होवि च किप्पी पविदा' भवति च कीर्तिः प्रथिता । 'एदेहिं गुणेहिं जुचस्स' आचारवत्त्वादिनिर्गुण-
सुक्तस्य ॥५०८॥

शा०—जैसे नौका चलानेका अभ्यासी बुद्धिमान् नाविक तरंगोंसे क्षुभित समुद्रमें रत्नोंसे
भरे जहाजको धारण करता है ॥५०५॥

शा०—वैसे ही निर्यापक आचार्य संयम और गुणोंसे पूर्ण, किन्तु परीषह रूप लहरोंसे
चंचल और तिरछे हुए क्षयकरूप जहाजको मधुर और हितकारी उपदेशोंसे धारण करता है
उसका संरक्षण करता है ॥५०६॥

श्री०—संयम सब गुणोंसे प्रधान है इसलिए संयम शब्दको गुणसे पहले रखा है । तथा
मूल-ध्यासका दुःख परीषह है । वे लहरोंकी तरह एकके बाद एक क्रमसे उठती हैं इसलिए परी-
षहोंको लहरें या तरंगें कहा है ॥५०६॥

शा०—यदि आचार्य स्मृतिकी स्थिरता रूप धैर्यको बल देने वाली और आत्माका हित
करनेवाली मधुर वाणी क्षयकरके कानोंमें न सुनाये तो मोक्ष सुखको लानेवाली आराधनाको
क्षयक छोड़ बैठे ॥५०७॥

प्रस्तुत चर्चा का उपसंहार करते हैं ।

शा०—इस प्रकार निर्यापकत्व गुणसे युक्त आचार्य क्षयकका निर्यापक होता है । वह
उसका उपकारी होता है । इतना कहकर उस निर्यापकाचार्यका भी इसमें स्वार्थ बतलाते हैं कि

इय अङ्गुणोवेदो कसिजं आराधणं उवविषेदि ।

ख्वगो वि सं भयवदी उवगूहदि जादसवेगो ॥५०९॥

'इय' एवं । 'अङ्गुणोवेदो' आचारवानित्याद्यङ्गुणोपेतः सूत्रिः । 'कसिजं' कृत्स्नां । 'आराधणं' आराधनां । 'उवविषेदि' ढीकमति । 'ख्वगो वि' क्षयकोऽपि । 'सं' ता 'भयवदि' भगवतीं सकलबाधापनयन-
माहात्म्यवतीं । 'उवगूहदि' आलिगति । 'जादसवेगो' उत्पन्नसंसारभीरुत्वः । सुदिठं सम्पत्तम् ॥५०९॥

एवं सुदिठं इत्येतद्व्याख्यातं, इत उत्तरं उवसम्प्रा इत्येतद्व्याख्यायते—

एवं परिमगिस्ता णिज्जवयगुणेहिं जुचमारियं ।

उवसंपज्जइ विज्जाचरणसमग्गो तगो साह ॥५१०॥

'एवं परिमगिस्ता' अभिव्यय । कं ? 'आवरियं' आचार्यं । कीदम्भूत ? 'णिज्जवयगुणेहिं' निर्यापक-
गुणीराचारवत्त्वादिभिः समन्वितं । 'उवसंपज्जइ' ढीकते । क. ? 'तगो' स । 'साह' साधु । 'कीदम्भूतः' ?
विज्जाचरणसमग्गो ज्ञानेन चारित्रेण समग्रः सम्पूर्णः ॥५१०॥

गुरुकुले आत्मनिर्गमं उवसपानाम समाचार । तत्कम निरूपयति—

तियरणसञ्जावासयपडिपुणं किरिय तस्स किरियम्मं ।

विणएणमंजलिकदो वाइयवसमं इमं भणदि ॥५११॥

'तियरणसञ्जावासयपडिपुणं' किरिय तस्स किरियम्मं । तस्य निर्यापकस्य सूत्रे कृतिकर्म बन्धनां
कृत्वा । कीदुं 'तियरणसञ्जावासयपडिपुणं' मनोवाक्कायात्ममर्वावश्यकप्रतिपूर्णा । सामायिक, चतुर्विंशति-
स्तबोवधना, प्रतिक्रमणं, प्रत्याख्यानं, कायोत्सर्गं, इत्येते मनोवाक्कायाविकल्पेन विविधाः षड्भावश्यकसंज्ञिताः ।
मनसा सर्वसाधद्योगनिवृत्तिः, वचसा 'सर्वं सावधयोगं पक्कवामि' इति वचन । कायेन सावधक्रियामनु-

इन आचारवत्त्व आदि गुणोंसे युक्त निर्यापकाचार्यकी कीर्ति सब जगह फैलती है ॥५०८॥

शा०—इस प्रकार आचारवान् आदि आठ गुणोंसे सहित आचार्य समस्त आराधनाको प्राप्त होता है । क्षय भी संसारसे विरक्त होकर समस्त बाधाओंको दूर करनेसे माहात्म्यशाली उस भगवती आराधनाका आलिगन करता है उसे अपनाता है ॥५०९॥

इस प्रकार सुस्थित गुणका व्याख्यान हुआ । इसमें आगे उपमं पदाका कथन करते हैं—

शा०—इस प्रकार ज्ञान और चारित्रसे सम्पूर्ण क्षयक निर्यापकके आचारवत्त्व आदि गुणोंसे युक्त आचार्यको खोजकर उनके निकट जाता है ॥५१०॥

गुरुकुलमें आत्मोत्सर्ग करनेको 'उवसपा' नामक समाचार कहते हैं । यहाँ उसके क्रमका कथन करते हैं—

शा०—मन वचन कायसे छह आवश्यकोंको पूर्णरूपसे करके निर्यापकाचार्यकी बन्धना करता है और विनयपूर्वक दोनो हाथोंको जोड़ उनकी अजली बनाकर उन आचार्य श्रेष्ठसे इस प्रकार कहता है ॥५११॥

टी०—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तब, बन्धना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक मन वचन कायके भेदसे तीन भेदरूप होते हैं । मनसे सर्व सावधयोगकी निवृत्ति, वचनसे

ध्यानं, मनसा चतुर्विधमिति तीर्थकृता गुणानुस्मरणं 'लोगस्फुजोयकरे' इत्येवमादीनां गुणानां वचनं । सहाट-
निष्पत्सकरमुमुक्षुता विनेमः कायेन । बन्धनीयगुणानुस्मरणं मनोबन्धना । बाधा तद्व्युगमाहात्म्यप्रकाशन-
परवचनोच्चारणं । कायबन्धना प्रवृत्तिनीकरणं कृतागतित्व । मनसा कृतातिचारानिवृत्तिः । हा मुमुक्षुत्वमिति वा
मनःप्रत्याख्यानं । ह्युपोष्णारणं वाक्प्रतिक्रमणं । कायेन तवनाचरणं कायप्रतिक्रमणं । मनसातिचारादीन् करि-
ष्यामि इति मनःप्रत्याख्यानं । वचसा तन्माचरिष्यामि इति उच्चारणं । कायेन तन्माचरिष्यामि इत्यङ्गीकारः ।
मनसा शरीरे मनेर्बन्धननिवृत्तिः मानसः कायोत्सर्गः । कायं बोधरागीति वचनं बाधा कायोत्सर्गः । प्रलम्ब-
भुषण्य, चतुरङ्गुलमानपादाचरणस्य निश्चलावस्थानं कायेन कायोत्सर्गः । कायापायनिरासमकृत्वा एकान्तो
पुरावासीने प्रतन्मन्वेतसि धर्मेणतय शरीरं भूमि च प्रतिकेच्य अदूरे असमीपे आसित्वा कृताञ्जलिः भगवन्कृति-
कर्मबन्धनामिच्छामीति आलोच्य अनुज्ञातः धर्मेणत्वाय मूर्धन्यस्तकर अविलम्बितमनुभूतं सामायिकं पठेत् ।
सुप्रामुगतं, अविचलं, अविचलितं स्थितः कृतकायोत्सर्गश्चतुर्विधतित्तवननिषाय सूरिरामुरकमना मुस्तबनं
पठेत् इत्येवा कृतिकर्मबन्धना । बन्धनोत्तरकालं 'विषण्य' विनयेन 'अंजलिबन्धो' मुकुलीकृताञ्जलिः । 'बाह्य-
वसवं' आचार्यवचनं 'इवं' इवं । अचिद्वि श्वीति इति ॥५११॥

तुज्ज्वल्य चारसंगसुदपारया सवचसंषणिज्जवया ।

तुज्ज्वं तु पादमूले सामर्षणं उज्जवेज्जामि ॥५१२॥

'तुज्ज्वल्य' पुन्यन । 'चारसंगसुदपारया' द्वावस आचारादीनि अज्ञानि यस्य तत् द्वावधाङ्गं श्रुतं सागर
इव तस्य पारं गताः । 'सवचसंषणिज्जवया' धामयन्ति तपस्यमिति इति अमशाः तेषां समुदायः अमणसंघः

'मैं सर्व सावद्ययोगको त्यागता हूँ' ऐसा कहना, कायसे सावद्य क्रियाओंका न करना । मनरो
चौबीस तीर्थकरोंके गुणोंका स्मरण, वचनसे 'लोगस्फुजोयकरे' इत्यादि स्तुतिका पढ़ना, कायसे
दोनों हाथ मुकुलित करके मस्तकसे लगाना । बंधनीय गुणोंका स्मरण करना मनोबन्धना है ।
वचनसे उनके गुणोंके माहात्म्यको प्रकट करने वाले वचनोंका उच्चारण करना वचन बन्धना है ।
प्रदक्षिणा करके नमस्कार करना काय बन्धना है । मनसे किये हुए दोषोंकी निवृत्ति या हर्ष, मेने
बुरा किया' ऐसा सोचना मनःप्रतिक्रमण है । प्रतिक्रमण सूत्रका पढ़ना वाक् प्रतिक्रमण है । कायसे
उन दोषोंका न करना काय प्रतिक्रमण है । मनसे मैं अतिचार आदि नहीं करूँगा ऐसा संकल्प
मनःप्रत्याख्यान है । मैं उम्हें नहीं करूँगा ऐसा कहना वचन प्रत्याख्यान है । कायसे नहीं करूँगा
ऐसा स्वीकार करना काय प्रत्याख्यान है । मनसे शरीरमें 'यह मेरा है' ऐसा भाव न होना मानस
कायोत्सर्ग है । वचनसे मैं कायका त्याग करता हूँ ऐसा कहना वचन कायोत्सर्ग है । दोनों हाथोंको
ऊटकाकर और दोनों पैरोंके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर रखते हुए निश्चल खड़ा होना कायसे
कायोत्सर्ग है । कायके अपायका निरास न करके (?) जब गुरु एकान्त में बैठे हों और प्रसन्न मन
हों तब धीरेसे आकर शरीर और भूमिकी प्रतिलेखना करके, गुस्से न तो दूर और न समीप बैठकर
हाथोंकी अंजलि बनाकर निवेदन करे किं भगवन् । कृतिकर्म बन्धना करना चाहता हूँ । इस प्रकार
आलोचना करके गुरुकी अनुज्ञा मिलने पर धीरेसे उठकर दोनों हाथ मस्तकसे लगा न बहुत धीरे,
न बहुत जल्दीमें साभाविक पाठ पढ़े । शास्त्रके अनुसार विकार रहित निश्चल खड़े होकर कायो-
त्सर्ग करे । फिर चौबीस तीर्थकरोंका स्तवन करे । फिर आचार्यमें अनुराग पूर्वक गुरु स्तवन
पढ़े । यह कृतिकर्म बन्धना है । बन्धनाके अनन्तर विनयपूर्वक दोनों हाथ जोड़ आचार्यसे इस प्रकार
निवेदन करे ॥५११॥

तस्य निर्यापका । 'सुखं च वाचमूले' सुष्माकं पादमूले 'उत्कथयेज्यामि' उद्योतयिष्यामि । 'सम्पन्नं' श्यामध्वं ॥५१२॥

आत्मकेच्छां सूरये प्रकटयति—

पञ्चज्वादी सव्वं काङ्क्षाः श्लोयणं सुपरिसुद्धं ।

दंसणणाणचरित्ते णिस्सन्तो विहरिदुं इच्छे ॥५१३॥

'पञ्चज्वादी सव्वं' दीप्ताग्रहणादिका सर्वा । 'काङ्क्षाः श्लोयणं' कृत्वालोचना 'सुपरिसुद्धं' दोषरहितं । 'दंसणणाणचरित्ते' दर्शनज्ञानचरित्र । 'णिस्सन्तो' सत्यरहितो भूत्वा । 'विहरिदुं' विहत्तुं आचरित्तु । 'इच्छे' इच्छामि ॥५१३॥

एवं कदे णिसग्गे तेण सुविहिदेण वायओ भणइ ।

अणगार उत्तमट्ठं साधेहि तुमं अविग्घेण ॥५१४॥

'एवं कदे णिसग्गे' स्वभारत्यागे कृते । केण 'तेण सुविहिदेण' तेन सुचरितेन क्षपकेण । 'वायओ भणइ' वाचक । मूर्खवदति । 'अणगार' त्यक्तद्रव्यभावागारत्वादनगार तस्य संबोधन । 'उत्तमट्ठं' उत्तम प्रयोजन रत्नत्रय द्रव्य 'साधेहि' साधय । 'तुमं' त्वं । 'अविग्घेण' अविघ्नेन ॥५१४॥

धण्णोमि तुमं सुविहिद एरिसओ जस्स णिच्छओ जाओ ।

संसारदुक्खमहणों धेत्तुं आराहणपडायं ॥५१५॥

'धण्णोमि तुमं' धन्योऽसि । पुण्यवानसि 'तुमं' भवान् । 'सुविहिद' यते । 'एरिसओ जस्स णिच्छओ जाओ' । उपलक्षणपर मनोज्ञाहारग्रहणे ईदृग्यस्य निश्चयो जात । 'संसारदुक्खमहणो' ममारे चतुर्गतिपरिभ्रमणे यानि दुःखानि तन्मर्द्दनायता । 'धेत्तुं' ग्रहीतु । 'आराहणपडायं' आगधनापताका । रत्नत्रयाराधनया कर्माभ्यपयान्ति । तदपगमात्तद्दुःखनिवृत्ति इति भावः ॥५१५॥ उपसया ।

गा०—आप द्वादशांग श्रुत सागरके पारगामी हो । आचार आदि बारह जिसके अंग हैं वह द्वादशांग श्रुत समुद्रके समान है आपने उसे पार कर लिया है । तथा जो श्राम्यन्ति अर्थात् तपस्या करते हैं वे श्रमण हैं । उनका समुदाय श्रमणसंघ है उसके आप निर्यापक हैं । मैं आपके चरणोंमें बैठकर अपने श्राम्यन्तोंको उद्योतित कहूँगा ॥५१२॥

गा०—अग्नी इच्छा आचार्यके सामने प्रकट करता है—दीक्षा ग्रहण करनेसे लेकर जो दोष किए हैं उनका दोषरहित आलोचना करके मे दर्शन, ज्ञान और चाग्निको गल्थरहित होकर पालन करना चाहता हूँ ॥५१३॥

गा०—इस प्रकार उस उत्तम चरित वाले क्षपकके द्वारा अपना भार त्यागने पर वाचक आचार्य कहते हैं—हे द्रव्य और भावरूप अगार (घर) का त्याग करने वाले अनगार ! तुम बिना किसी विघ्न बाधाके उत्तम अर्थ रत्नत्रय रूप द्रव्यकी साधना करो ॥५१४॥

गा०—हे सुविहित श्रमण ! तुम धन्य हो—पुण्यशाली हो, जो तुमने चार गतियोंमें परिभ्रमण रूप ससामं जो दुःख हैं, उन दुःखोंको नष्ट करने पर तत्पर आराधना पताकाको ग्रहण

अप्यमहि साय सुविहितं वीसत्सो मा य होहि उन्वादो ।

पठिचरयहिं सर्वसा इषमहं संपहारैना ॥५१६॥

'अप्यमहि साय सुविहितं' आत्मन्व तान्मर्ते । 'वीसत्स' विस्वतः । 'मा य होहि उन्वादो' व्याकुलित-
चित्तो मा य भूः । 'पठिचरयैहिं सर्वं' प्रतिचारकैः सह । 'इषमत्स' इषं प्रयोजनं । 'संपहारैः' संप्रधारयामः ।
'उन्वादा' निरूपिता ॥५१६॥

इत उत्तरं पठिच्छा इति सूत्रपदव्याख्या—

तो तस्स उत्तमहे करणुच्छाहं पठिच्छदि विदणह ।

क्षीरोदणदन्नुगहदुगुच्छाए समाधीए ॥५१७॥

'तो' पश्चात् । 'तस्स' तस्य क्षपकस्य । 'उत्तमहेकरणुच्छाहं' रत्नत्रयाराधनाक्रियोत्साहं । 'पठिच्छदि'
परीक्षते । 'विदणह' मार्गज्ञः । कथं ? 'क्षीरोदणदन्नुगहदुगुच्छाए' क्षीरोदणदन्नुग्रहणं मनोत्राहारप्र'हणं जुगुप्सा-
परेण । 'समाधीए' समाधिनाहारगत लीत्यमस्य किं विक्षते न वेति परीक्षते । इयमेका परीक्षा । समाधिनिमित्तं
पठिच्छा ॥५१७॥

खवयस्सुषसंपणसस तस्स आराधना अविक्खेवं ।

विज्जेण विमित्तेण य पडिलेहदि अप्यमत्तो सो ॥५१८॥

'खवयस्स' क्षपकस्य । 'उत्तमपणसस' आत्मान्तकमुपाश्रितस्य । 'तस्स' तस्य । 'आराधना अविक्खेवं'
आराधनाया अविक्षेपं । 'पडिलेहदि' परीक्षते । कः ? 'सो' स सुरनिर्वापकः । 'अप्यमत्तो' प्रमादरहितः ।
केय ? 'विज्जेण' देवतोपदेशेन । 'विमित्तेण' निमित्तेन वा इयमेका परीक्षा ॥५१८॥

करनेका निश्चय किया । रत्नत्रयकी आराधनासे कर्मोंका विनाश होता है । उनका विनाश होनेसे
दुःखसे छुटकारा होता है ॥५१५॥

शा०—हे सुविहित ! विश्वस्त होकर सब तक बैठो । अपना चित्त व्याकुल मत करो । हम
वैयावृत्य करने वालोंके साथ इस विषय पर विचार करते हैं ॥५१६॥

'उवसंपा' का कथन पूर्ण हुआ ।

आगे गाथाके 'पठिच्छा' (परीक्षा) पदका व्याख्यान करते हैं—

शा०—उसके पश्चात् मार्गको जाननेवाले आचार्य क्षपकके रत्नत्रयकी आराधना करनेमें
उत्साहकी परीक्षा करते हैं कि उसके आराधना करनेका उत्साह है या नहीं है । तथा दूध भात
आदि द्रव्यको ग्रहण करनेमें इसकी लोलुपता है या ग्लानि है ऐसी परीक्षा करते हैं । यहाँ दूधभात
मनोत्र आहारका उपलक्षण है । अतः आहारके सम्बन्धमें उसकी परीक्षा करते हैं । यह परीक्षा
समाधिके निमित्त की जाती है ॥५१७॥

परीक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

शा०—आराधनाके निमित्तसे अपने पास आये क्षपककी आराधना निविज्ज होनेके लिए

१. ग्रहणोपलक्षणं भू० । 'क्षीरोदणदन्नुगहदुगुच्छाए' क्षीरोदणदन्नुग्रहणं मनोत्राहारोपलक्षणं दस्यं नवग्रहो
ग्रहणं तत्र विधिक्रित्वा निष्ठा तथा ।—भूकारा० ।

रज्जं खेतं अधिवदिगणवप्याणं च पडिलिहिसाणं ।

गुणसाधनो पडिच्छदि अप्पडिलेहाए बहुदोसा ॥५१९॥

रज्जं खेतं अधिवदिगणवप्याणं च' राज्यं, क्षेत्रं, देशं आत्मनराधिकं अधिपतिं यवमात्मानं च ।

- 'पडिलिहिसाणं' परीक्ष्य । 'गुणसाधनो' गुणान्साधकत्वादीन् साधयति य' सूरिः स । 'पडिच्छदि' प्रतिवृत्ताति । क । क्षपक । अन्यत्र गुणराधण इति पाठः । गुणान्साधयितुं उद्यतं साधुं प्रतिवृत्ताति । 'अप्पडिलेहाए' उक्तयाः परीक्षाया अभावे । 'बहुदोसा' बहुनो दोषा भवन्ति । के ते इति चेदुच्यन्ते । निरस्ताहारतुष्णो न वेति यदि न परीक्षितः । आहारे तृष्णावाप्तकालदिनं तमेव चिंतयतीति कथमराधकः । धृतिपसापरीषद्वावष्टम्भासहनात्पु-
स्तुर्बन् धर्मदूषणं कुयति । आराधनाया भ्याक्षेपो भवति न वेत्यपरीक्ष्य यदि तं न त्याजयति तस्यापि न कार्य-
सिद्धि स्वयं च निन्दते जनेन । राज्यक्षेत्रादीनां शुभाशुभपरीक्षा येन कृता सोऽशुभं चैत्यस्यति तस्य राज्यादेश्च
स राज्यक्षेत्रादिकं अन्यदुद्दिष्य तं गृहीत्वा याति । तथा च तस्योपकारको भवति । अपरीक्षायां तु राज्यादि-
भ्रष्टो स च क्षपक स्वयं च बिलक्षयति गणस्य चोपद्रवं यदि पश्यति । आत्मनो वा न प्रारभते कार्यं । अपरो-
क्षितकारी सूरिन् तस्योपकारको न चात्मन इति दोषः ॥५१९॥

परीक्षानन्तर आपृच्छा इत्येतत्पुत्रपदं व्याचष्टे—

आचार्यं प्रमादरहितं होकर विद्य निमित्तज्ञानके द्वारा परीक्षा करते हैं कि इसकी आराधना निर्विघ्न होगी या नहीं होगी ॥५१८॥

शा०—टी०—सम्यक्त्व आदि गुणोका साधक वह आचार्य राज्य, क्षेत्र, अधिपति, गण, और अपनी शरीरको परीक्षा करके क्षपकको ग्रहण क ता है । अन्यत्र 'गुणसाधणं' पाठ मिलता है । उसके अनुसार आचार्य गुणोका साधनाके लिए उद्यत साधुको ग्रहण करता है । उक्त परीक्षा न करनेमें बहुत दोष है ।

उन्हें हो कहते हैं—क्षपककी आहार विषयक तृष्णा दूर हुई है या नहीं, ऐसी परीक्षा यदि नहीं की और क्षपक आहारमें तृष्णा रखनेवाला हुआ, तो रात दिन आहार की ही चिन्ता करनेपर कैसे आगमक हो सकता है । भूख प्यासकी परीषद्को न सहनेसे चिल्ला-चिल्लाकर धर्मको दूषित करेगा । आराधनामें विघ्न आयेगा या नहीं, इसकी परीक्षा न करके यदि उस विघ्नको दूर नहीं किया जाय तो क्षपकका भी कार्य सिद्ध न हो और स्वयं आचार्य लोगोंकी निन्दाका पात्र बने । जो आचार्य राज्य क्षेत्र आदिकी अच्छे बुरेकी परीक्षा करता है वह यदि क्षपक और राज्य आदिका अशुभ देखना है तो उस क्षपकको लेकर अन्य राज्य और अन्य क्षेत्र आदिमें चला जाता है । ऐसा करनेसे वह क्षपकका उपकार करता है । परीक्षा न करनेपर यदि राज्य आदिमें उत्पात हुआ तो क्षपक और आचार्य दोनोंको कष्ट उठाना पड़ता है । यदि गणका या अपना अनिष्ट देखता है तो आचार्य कार्यका प्रारम्भ नहीं करता । अतः बिना परीक्षा किए कार्य करनेवाला आचार्य न क्षपकका उपकार करता है और न अपना उपकार करता है ॥५१९॥

परीक्षाके अनन्तर 'आपृच्छा' का कथन करते हैं—

पश्चिरेण आनुष्ण्ये नेहिं विसिट्टं पश्चिन्दे खबवं ।
तेसिमणापुच्छणं असमाधिं होज्जं तिण्हंवि ॥५२०॥

आनुष्णा । 'पश्चिरेण' प्रतिचारकान्यतीन् । 'आनुष्ण्य' आनुष्ण्य रत्नत्रयारचने अस्मानयं सहाया-
स्मानयन् प्राप्सुर्णको यतिः साधुसमाधिर्वैयानुत्पकरणं च तीर्थकरनामकर्मणो, मुलमिति भवतिरियमवगतमेव,
ततो वक्त किमस्माभिरयमनुप्राप्तो न वेति, परार्थवन्तः परार्थवदपरिकरा हि प्रायेण लौकिका अपि किमुत्
यतयः । सकलमासम्नभ्रम्यलोकं संसारपञ्चासुवसरावभाषासुतारविनुमुत्तताः ।

'अप्यहिं कथयन् वद सक्कह परहिं वं कथयन्मिति' वचनात् ।

एतदनुग्रहोद्योगः किं कार्यं इति प्रष्टव्यं इति कथयति । 'तेहिं' परिचारकैः । 'विसिट्टं' नित्यत्वं अन्वय-
गत । 'पश्चिन्दे' प्रतिगुह्यति । 'असमाधिं' क्षपकं । 'तेसिमणापुच्छणं' परिचारकानामपरिग्रहे तु । 'असमाधिं
होञ्जं तिण्हंवि' सूरे, क्षपकस्य संघस्य च असमाधिः संकलेशो भवेत् । अस्माभिरयमपरिगृहीत इति विनये
वैयानुत्पे वा अनुद्योगादिना मम' न किञ्चित् कुर्वन्ति इति क्षपकस्य संकलेशो भवति । गुरोरपि संकलेशो भवति,
मयास्योपकारे प्रारम्भे सहायभाषिमिमे नोपयान्ति इति । परिचारकाणा च संकलेशो बहुजनसाध्यं कार्य-
मस्मान्मुत्तानुमोदयति । न बलाबलमस्माकं परीक्षते इति ॥५२०॥

पश्चिच्छणा इत्येतत्सूत्रपदं व्याचष्टे—

एगो संथारगदो जज्जइ सरोरं जिणोवदेसेण ।
एगो सज्जिहदि मुणी उग्गेहिं तवोविहाणेहिं ॥५२१॥

'एगो संथारगदो एकः संस्तरमास्वः । 'जज्जइ सरोरं' यजते शरीरं । 'जिणोवदेसेण' जिनानामुपदे-

शा०—टी०—आचार्यं परिवर्ष्य करनेवाले यतियोंसे पूछता है—यह क्षपक रत्नत्रयको
साधनामें हमारी सहायता चाहता है । साधु समाधि और वैयानुत्प करना तीर्थकर नामकर्मके
बन्धके कारण है यह आप जानते ही हैं । अतः कहिये, हमलोग इसपर अनुग्रह करे या न करें ?
प्रायः लौकिकजन भी परोपकारी और परोपकारके लिए सदा तत्पर रहनेवाले होते हैं । तब
यतिजनोका तो कहना ही क्या है ? वे तो समस्त निकट भव्यजीवोको गहरे संसार पंकसे
निकालनेमें तत्पर रहते हैं । आगममें भी कहा है—'आत्माका हित करना चाहिए । यदि शक्य
हो तो परहित भी करना चाहिए ।' अतः क्या इसके कल्याणका उद्योग करना चाहिए या नहीं ।
इस प्रकार आचार्यके पूछनेपर यदि वे स्वीकार करते हैं तो आचार्य क्षपकको स्वीकार करते
हैं । परिचारक यतियोंसे न पूछनेपर आचार्य, क्षपक और संघ तीनोंको ही संकलेश होता है ।
हम लोगोंने इस क्षपकको स्वीकार नहीं किया ऐसा मानकर यतिगण यदि उसकी विनय या
वैयानुत्प न करें तो क्षपकको संकलेश होता है कि ये मेरा कुछ भी नहीं करते । गुरुको भी
संकलेश होता है कि मैंने इसका उपकार करना प्रारम्भ किया किन्तु वे इसमें सहायता नहीं
करते । परिचारक यतियोंको भी संकलेश होता है कि यह कार्य बहुत जनोके करनेका है किन्तु
हमारा गुण यह नहीं मानता और न हमारे बलाबलकी परीक्षा करता है ॥५२०॥

आगे 'पश्चिच्छणा' पदको कहते हैं—

शा०—एक मुनि तो संस्तरपर चढ़कर जिनेन्द्रके उपदेशसे शरीरको आराधनामें लगाता

१. मम भक्ति विष्णु-आ० । मम न भक्ति कु-मु० ।

वेग । 'एवो ललितहृदि मुक्तौ' एको मुनिस्तनुकरोति शरीरं । 'उन्मोहं तत्रोन्मोहो' उपैस्त्वपोविधाम् ॥५२१॥

तद्विजो ब्राह्मण्यदादौ जजमानस्स ह्रु इवेज्ज वाधादो ।

पडिदेसु दोसु तीसु य समाचिकरणाणि हायन्ति ॥५२२॥

'लडिजो ब्राह्मण्यदादौ' तृतीयो यतिर्नानुजात तीर्थकृद्भिः एकेन नियमिकेनानुग्राहत्वेन । कुतो यस्मात् । 'जजमानस्स ह्रु इवेज्ज वाधादौ' यजमानस्य भवेदेव व्याघात इति । कुतो व्याघात इत्यत्राह । 'पडिदेसु दोसु तीसु य' सस्तरं पतितयोर्द्वयोस्त्रिण्यु व क्षपकेषु 'समाचिकरणाणि हायन्ति' निरासमाधानक्रिया विनयवैयाकुल्यादयो हीयन्ते यस्माद्यजमानस्य व्याघातः ॥५२२॥

यस्मादेक एव यजमानो भवति—

'सम्हा पडिचरयाणं सम्मदमेयं पडिच्छेदे खवयं ।

मणदि य तं आयरियो खवयं गच्छस्स मज्झमि ॥५२३॥

'सम्हा' तस्मात् । 'एण' एकं । 'पडिच्छेदे' अनुजानाति । 'खवयं' क्षपकमेकं । 'पडिचरयाणं सम्मदं' प्रविचारणाणां इष्टं । 'मणदि य' भणति य । 'तं' क्षपक । क ? 'आयरियो' आचारे । क्व ? 'गच्छस्स मज्झमि' गणस्य मध्ये । क्षपकस्य शिक्षा । किमर्थं ? गणोऽपि मार्गज्ञो यथा स्यात् इति । पडिच्छेदे यस्त ॥५२३॥

एवमसौ क्षपकं वचतीति कथयति—

फासेहि तं चरिचं सव्वं सुहसीलयं पयहिदूण ।

सव्वं परीसहचमुं अधियासंतो विदिवलेण ॥५२४॥

'फासेहि' प्रतिपद्यस्व । 'तं' भवान् । कि ? 'चरिचं' चारित्रं । 'सव्वं सुहसीलयं' सर्वा सुखशीलता । 'पयहिदूण' त्यक्त्वा । सुखशीलतया हि चारित्रं मन्दं भवति पिण्डस्योपकरणस्य वसतस्वशाशोचनात् । मनोऽन्नाहार-

हे । एक मुनि उग्रतप करके शरीरको कृश करता है ॥५२१॥

गा०—डी०—तीर्थकरने एक नियामिक आचार्यके द्वारा अनुग्राह्य तीसरे यतिकी अनुज्ञा नहीं दी है अर्थात् एक आचार्यकी देख-रेखमें एक साथ एक दो ही भूनि सल्लेखना कर सकता है क्योंकि तपरूपी अग्निमें अपने शरीर आहुति देनेवाले भूनिकी समाधिमें विघ्न आता है । इसका कारण यह है कि यदि दो या तीन क्षपक संस्तर पर पड़ जायें तो चित्तको समाधान देनेवाली विनय वैयाकुल्य आदिमें कमी जाती है ॥५२२॥

बा०—अत आचार्य एक ही क्षपकको स्वीकार करते हैं जो परिश्रवा करनेवाले यतियोंको दृष्ट होता है । तथा आचार्य गणके मध्यमें क्षपकको शिक्षा देते हैं जिससे गण भी समाधिको जान पाये ॥५२३॥

गा०—हे क्षपक ! तुम धैर्यके बलसे सम्पूर्ण सुखशीलताको त्यागकर सम्पूर्ण परीश्रवणकी सेनाको सहन करते हुए चारित्रको धारण करो । सुखशीलतासे चारित्र मन्द होता है क्योंकि

१. सम्हा खवयं एयं पडिचरयणसम्मदं पडिच्छेदं । मणदि य तं आयरियो गच्छस्स मज्झमि खवयस्त ॥—आ० ।

कल्पदो न भिक्षां शोभयति शम्भुपकरणं । कुक्षीक उक्त्वमप्रियोषं न परिहरति मनोशोषकरवक्ष्यामिकाप-
त्वात् । श्रीकृष्णस्योदय कल्प कल्पविद्वत्तत्वात् ॥५२४॥

इन्द्रियवर्ष कषायवर्षं च कुर्वित्पुपदिकति—

सद्ये रूपे गंधे रसे य फासे य जिजिष्णाहि तुमं ।

सम्बोसु कसाएसु य विग्नाहपरमो सदा होइ ॥५२५॥

'सद्ये रूपे गंधे' इत्यनया । ननु कषाययो विषयास्तेषां कयो नाम कः ? तद्विषयो हि रागो बन्धहेतु-
त्वात् तत्प्रतिपक्षवैराग्यभावनाया वेतव्यत्वेनोपदेष्टव्यः । अशोष्यते—सोपस्कारत्वात्पुपार्थां सद्ये, रूपे, गन्धे,
रसे च फासे च एतत् तुमं जिष्णाहि इति पदसम्बन्धः । अथवा कष्यावीर्णा विषयार्थां वसे न स्थित इति कृत्वा
वेता भव्यते । येषां पुष्को जितोऽन्वेत्युच्यते वा पुष्कवक्ष्यापुपदिकी न भवति । 'सम्बोसु कसाएसु य' तर्बेपु
कषायेषु वा क्रोधादिषु । 'विग्नाहपरमो' विग्रहप्रचलः क्षयविभावनाया सदा यम् ॥५२५॥

एवं इन्द्रियकषायवर्षेण मया पक्षार्थिकं कर्तव्यमित्यनोत्तरमाचष्टे—

हंतूण कसाए इंदियाणि सर्व्वं च मारवं हंता ।

तो मलिदरागदोसो करेहि आलीयणासुद्धिं ॥५२६॥

सुकशील मुनि भोजन, उपकरण और वसतिका शोधन नहीं करता । जो स्वादिष्ट भोजनका
लम्पट होता है न वह भिक्षाका शोधन करता है और न उपकरणका शोधन करता है । तथा
सुकशील मुनि उद्गम आदि दोषका परिहार नहीं करता, उसका मन तो मनोम भोजन और
उपकरणमें रहता है । कष्ट न सहकर बिस किसीकी वसतिमें ठहर जाता है ॥५२४॥

आगे इन्द्रिय और कषायोंको जीतनेका उपदेश देते हैं—

मा०—ही०—हे यति ! तुम शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श इन पाँच इन्द्रियोंके विषयोंको जीतो ।

शब्द—शब्द आदि इन्द्रियोंके विषय हैं उनको जीतना कैसे ? उन विषयोंमें राग बन्धका
कारण है । अतः उनके विरोधी वैराग्य भावनाके द्वारा उनको जीतनेका उपदेश देना चाहिए ?

- समाधान—सूत्र उपस्कार सहित होते हैं अतः शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शमें जो राग
है उसे तुम जीतो ऐसा पदका सम्बन्ध होता है । अथवा जो शब्दादि विषयोंके बधामें नहीं है उसे
जीतनेका कहते हैं । जैसे जो स्त्री पुरुषकी अनुगामिनी नहीं होती उसके सम्बन्धमें कहा जाता
है कि इसने पुरुषको जीत लिया ।

तथा सब क्रोधादि कषायोंमें क्षमा आदि भावनाके द्वारा सदा विग्रह करनेमें तत्पर
रहो ॥५२५॥

इस प्रकार इन्द्रिय और कषायको जीतनेपर मुझे क्या करना चाहिए, क्षयके इस प्रयत्नका
उत्तर देते हैं—

१. कुक्षीकः उक्त्वमाप्रियोषं परिहरति—मा० ।

‘सूत्र’ हूया । ‘कवचम्’ कवचानाम् । ‘इन्द्रियाणि’ इन्द्रियाणि च हूया । ‘सर्वं च वारवं हूतां सर्वं च वारवं हूया ऋद्धिरससातमेवातिथिकल्पं । ‘तो’ पश्चात् । ‘कतिवरानवीतो’ मुदितरागद्वेषः । ‘करेहि’ कुप । ‘आलोचनाशुद्धि’ आलोचनाख्या शुद्धि । रागद्वेषी असरपक्षमन्स्य हेतू इति परित्याज्यातिथि कथिते । रागाव पश्यति नरो बोधान् । द्वेषात् गुणाव गृह्णीते । तस्माद्भागद्वेषी व्युत्स्य कार्याणि कार्याणि ॥५२६॥

निरतिचार मदीयं रत्नत्रयं ततः किं गुरोर्निवेद्यामीति न मस्तभ्यमित्याचष्टे—

छत्तीसगुणसमञ्जसागदेण वि अवस्समेव कायव्वा ।

परसक्खिया विसोधी सुट्ठुवि बबहारकुसलेण ॥५२७॥

‘छत्तीसगुणसमञ्जसागदेण वि’ पदत्रिसद्वगुणसमन्वितेनापि । ‘अवस्समेव होइ कायव्वा’ अवश्यमेव भवति कर्तव्या । का ? ‘विसोधी’ विमुद्धिः मुक्त्युपायातिचारानामपाकृतिः ॥५२७॥

आचारवसादीया अट्टगुणा दसविधो य ठिदिकप्पो ।

वारस तव छावासय छत्तीसगुणा मुणेयव्वा ॥५२८॥

‘सुट्ठुवि बबहारकुसलेण’ सुट्ठु अपि प्रापश्चित्तकुसलेनापि । अष्टो ज्ञानाचारा वक्षणाचाराव्वाष्टौ, तपो द्वादशविधं, पंच समितय, तिस्रो गुण्यस्य च त्रिसद्वगुणाः ॥५२८॥

गा०—कषाय और इन्द्रियोंको नष्ट करके तथा ऋद्धि, रस, और सातके भेदसे सम्पूर्ण गारवको नष्ट करके, पश्चात् राग और द्वेषका मर्दन करके आलोचनाकी शुद्धि करो । राग और द्वेष झूठ बोलनेमें कारण होते हैं इसलिए उन्हें छोड़ने योग्य कहा है । रागवग मनुष्य दोषोंको नहीं देखता, और द्वेषवशा गुणोंको ग्रहण नहीं करता । इसलिए रागद्वेषको दूर करके कार्य करना चाहिए ॥५२६॥

मेरे रत्नत्रय निरतिचार हैं अतः गुप्ते क्या निवेदन करूँ ? ऐसा मानना योग्य नहीं, ऐसा कहते हैं—

गा०—छत्तीस गुणोंके धारण और व्यवहारमें कुशल आचार्यको भी अवश्य अन्य मुनिकी सहाय्यसे अपने रत्नत्रयकी विमुद्धि—अतिचारोंका शोधन करना होता है । आठ ज्ञानाचार, आठ वक्षणाचार, बारह प्रकारका तप, पाँच समिति, तीन गुप्ति ये छत्तीस गुण हैं ॥५२७॥

गा०—आचारवत्त्व आदि आठ गुण, दस प्रकारका स्थितिकल्प, वागह तप, छह आवश्यक, ये छत्तीस गुण जानना चाहिए ॥५२८॥

विशेषार्थ—दोनों प्रतियोंमें यह गाथा इससे पूर्वकी गाथाकी विजयोदया टीकाके मध्यमें दी है । किन्तु विजयोदया टीकामें जो छत्तीस गुण गिनाये हैं वे इस गाथामें भिन्न हैं । दोनों प्रतियोंमें यद्यपि इसपर क्रमांक नं० ५२२ है किन्तु इससे आगेकी गाथापर भी यही नम्बर है । इससे प्रतीत होता है कि इस गाथाको मूलमें नहीं गिना गया है । ५० आशाधरजीने अपनी टीकामें छत्तीस गुण संस्कृत टीकामें विजयोदयाके अनुसार बतलाकर प्राकृतटीकाके अनुसार अट्टाईस मूल-गुण और आचारवत्त्व आदि आठ इस तरह छत्तीस बतलाए हैं । ‘यदि वा’ लिखकर दस आलोचना गुण, दस प्रापश्चित्त गुण, दस स्थितिकल्प, छह जीतगुण इस तरह छत्तीस गुण बतलाकर लिखा है कि यह गाथा प्रथम ही प्रतीत होती है ॥५२८॥

सद्ये वि तिष्णसंगा तित्त्ववरा केवली अर्धसञ्जिना ।

छदुमत्वस्स विसोधिं दिसंवि ते वि य सदा गुरुसपासे ॥५२९॥

सर्वेषां तीर्थकृत्याभिमगना-गुरोर्निर्वृत्त्यात्परायणं तदुक्तं प्रायश्चित्तं कृत्वा शुद्धिः कार्थेति । 'सद्येवि तित्त्ववरा' सर्वेऽपि तीर्थकराः । 'तिष्णसंगा' उत्कण्ठितपरिग्रहाणावपक्वाः । 'सद्ये वि केवली' सर्वेऽपि केवलिनः । परिप्राप्तस्वर्गावतरणाधिकस्यापभयाः केवलज्ञानावरणक्षयादविभक्तवित्त्ववराणाः केवलिनः । 'अर्धसञ्जिना' अनन्तसारकारकत्वाच्चारित्र्यसर्वधातिमिथ्यात्व^१ सम्यग्मिथ्यात्व^२ द्वापक्षकथायापच अनन्तं तज्जवादान्तजिना आचार्योपाध्यायसाधवः । तेऽपि सर्वे 'सदा शुक्लकण्ठे लोधिं विसंति' सदा गुरुसमीपे रत्नत्रयशुद्धिं वर्धयन्ति । कस्य ? 'छदुमत्वस्स' छद्मत्वस्वयं सम्बन्धिनीमिति केचिद्वदन्ति । रत्नत्रयपरिणामात्मको रत्नत्रयशुद्धया शुद्धो । भवतीति छप्यस्वस्य विशुद्धिरित्युच्यते इति भाज्या ॥५२९॥

यो न वैश्यतिचारजातमलग्निराकरणक्रम सोऽप्यस्वी कथयेद्यस्तु स्वयं वेति स कस्मात् परस्मि कथयति-तदुक्तं वाचरतीत्याह—

अहं सुकुसलो वि वेज्जो अण्णस्स कहेदि आदुरो रोगं ।

वेज्जस्स तस्स सोच्चा सो वि य पडिकम्ममारमइ ॥५३०॥

'अहं सुकुसलो वि वेज्जो' यथा सुष्ठु कुशलोऽपि वैद्यः । व्यापिनिरासे 'आदुरो' आतुरः । 'अण्णस्स कहेदि' अन्यस्मि कथयति । 'रोगं' व्याधिं । एवंभूतो मम व्याधिः, चिकित्सां कुर्वति । 'वेज्जस्स तस्स सोच्चा' तस्य वैद्यस्य श्रुत्वा वचनं । 'सो वि य' सोऽपि व आतुरो वैद्यः । 'पडिकम्ममारमइ' प्रतिक्रियामारभते ॥५३०॥

सब तीर्थकरोंकी यह आज्ञा है कि गुरुसे अपने अपराधको निवेदन करके, वे जो प्रायश्चित्त कहे उसे करके शुद्धि करना चाहिए। यही कहते हैं—

शा०-टी०—परिग्रहकूपी अथाह कीचड़को लौघनेवाले सभी तीर्थकर, स्वर्गसे अवतरण, जन्म और दीक्षा इन तीन कल्याणकोंको प्राप्त करके, केवलज्ञानावरणके क्षयसे समस्त विश्वको जाननेवाले केवलज्ञानी, तथा अनन्तसारका कारण होनेसे चारित्र्यका सर्वधात करनेवाले मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और बारह कथायको अनन्त कहा है। उनको जीतनेसे आचार्य, उपाध्याय और साधु अनन्तजिन कहे जाते हैं। ये सभी सदा गुरुके समीपमें रत्नत्रयकी शुद्धि करनेको कहते हैं। यह शुद्धि छप्यस्व अवस्थासे सम्बन्ध रखती है ऐसा कोई कहते हैं। अथवा रत्नत्रयके परिणामवाला आत्मा रत्नत्रयकी शुद्धिसे शुद्ध होता है इससे उसे छप्यस्वकी विशुद्धि कहते हैं ॥५२९॥

जो मुनि अतिचारसे उत्पन्न मलको दूर करनेका क्रम नहीं जानता उसका दूसरे आचार्यादि से कहना उचित है। किन्तु जो स्वयं जानता है वह दूसरेसे क्यों कहता है और क्यों उसके कहे अनुसार आचरण करता है इस संकाका उत्तर देते हैं—

शा०—जैसे अत्यन्त निपुण भी वैद्य रोगी होनेपर अपना रोग दूसरे वैद्यसे कहता है और उस वैद्यकी चिकित्सा सुनकर वह रोगी वैद्य उसका कहा इलाज प्रारम्भ करता है ॥५३०॥

१. मिथ्यात्वं द्वाप-आ०मु० । २. वयशुद्धया भवतीति छप्यस्वस्य विशुद्धिरित्युक्तानयं आ०मु० ।
३. आतुरो आ० मु० ।

एवं ज्ञानविद्या वि प्रायश्चित्तविधिभ्यो मन्थ्यते ।

साध्याद्परशिवोक्त्याद् परसंनिष्ठा मोक्षी ॥५३१॥

'एवं ज्ञानविद्या वि' विद्यानसाधि । कि ? 'कर्मशिवतत्त्वविधि' प्रायश्चित्तकर्म । 'अन्वयो' आत्मनः । 'कर्म' कर्म । 'कर्मणा' कर्मणा । 'परसंनिष्ठा मोक्षी' शुद्धिः । 'साध्याद्परशिवोक्त्याद्' आत्मनः परा उत्कृष्टा विद्योक्त्या यथा स्यादित्येवमर्थं स्वसाक्षात् परसाक्षात् च विशुद्धिरुक्त्येति मन्थ्यते ।

प्रथम इत्युच्यते लोकशिवत्वं तस्य नानो पद्यते ।

'तत्प्रवृत्तिसाधुत्वं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतं ॥ []

इति वचनम् । शुद्धिरतिचाराणां अनेन कृतेति परे मानयन्ति । निरतिचारान्मन्त्राणां ज्योतिरिति परे मन्थ्या एतदुपवेशोक्त्यानिः प्रवर्तितव्यमिति ङीकन्ते । अन्यथा तद्गुणव्यतिशयात्मकमन्त्र तद्गुणव्यतिशयात् अस्ति । ततः कर्मनेन परानुग्रहः कृतः स्यात् । कर्मण्यः स्वपरानुग्रहः ।

तथा बोधत्—अप्यहिंसा कर्मण्यं अहं सत्कर्म परहिंसा च कर्मण्यं ॥ इति । तथापि—

अथोच्यते हि जिनशासनव्यतिशयेन कर्मण्य एव मन्थ्येन हितोच्यतेः—[वरान० १।१३] इति । अथ इव । अथवा आत्मनः 'परस्परविशोधनार्थं परमाक्षिकं' मम शुद्धिं दुष्ट्वा परोऽव्ययमेव क्रम इति परसाक्षात्कार्यां शुद्धौ प्रयतते । अन्यथा सर्वे स्वसाक्षात्कारमेव कुर्वन् । तथा च न शुद्धयन्ति । वतानुगतिको हि प्रायेण लोकः ॥५३१॥

यस्मात्परसाक्षात्कारो शुद्धिः प्रथमा—

तस्मात्पञ्चजादी दंसणाणाञ्चरणादिचारो जो ।

तं सर्व्वं आलोच्येहि गिरवसेसं पणिहिदप्या ॥५३२॥

शा०—इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रायश्चित्त विधिको जानते हुए भी मुनिको अपनी उत्कृष्ट विशुद्धि के लिए परकी साक्षीपूर्वक शुद्धि करना चाहिए । क्योंकि अपनी और दूसरेकी साक्षीपूर्वक विशुद्धि उत्कृष्ट मानी जाती है । कहा है—'प्रायश्चित्त' शब्दमें प्रायका अर्थ लोक है और उसका मन चित्त उस चित्तका ग्राहक अथवा उस चित्तको शुद्ध करनेवाले कर्मको प्रायश्चित्त कहा है ॥५३१॥

टी०—प्रायश्चित्त करनेसे दूसरे मानते हैं कि इसने अतिचारोंकी शुद्धि कर ली । इसका रत्नत्रय निरतिचार है । अन्य भव्यजीव उसके पास इस विचारसे आते हैं कि हमें भी इनके उपदेशानुसार प्रवृत्ति करना चाहिए । यदि दोषोंकी विशुद्धि साधु न करे उसके गुणोंके अतिगमको न जाननेसे भव्यजीव उसके अनुयायी नहीं होते । तब साधु कैसे दूसरोंका उपकार कर सकता है । कहा भी है कि 'अपना हिन करना चाहिए । अपना हिन करते हुए सत्य हो तो परका हिन करना चाहिए ।' तथा और भी कहा है—'कल्याणके इच्छुक जिनशासनके प्रेमीको नियमसे हितका उपदेश करना चाहिए । जैसे वैद्य दूसरोंका हिन करता है । अथवा अपनी और परकी शुद्धिके लिए परकी साक्षीपूर्वक शुद्धि करना चाहिए । मेरी शुद्धिको देखकर दूसरे भी ऐसा ही करेंगे, इसलिए साधु परकी साक्षीपूर्वक शुद्धि करना है । ऐसा न करनेसे सब केवल अपनी ही साक्षीपूर्वक शुद्धि करने लगेंगे । और ऐसा करनेपर वे शुद्ध नहीं हो सकेंगे । लोग तो प्रायः देखा-देखी करनेवाले होते हैं ॥५३१॥

१. चित्तशुद्धिकरं कर्म आ० मु० । २ परम्य वि-मु० ।

'सम्पत्' उत्पत्त्या । 'सर्वसम्पत्' प्रत्ययान्तिकः । 'सर्वसम्पत्तन्वयव्यतिरिक्तयोः' सर्वज्ञानपरमातिचारो यः । 'सं सम्ब' सर्व अतिचारः । 'आलोचैहि' कथय । 'अतिशुद्ध्या' प्रतिशुद्धिपरितो मुत्या । 'निरवशेष' सर्वमित्यनेनैवावयवतत्वात् 'निरवशेषमित्येतत्किमर्थ' इति चेत्—ज्ञानदर्शनचारिणमिवयाभ्यामतिचारानां कतिपयानां समस्तमेव सर्वसम्पत्त्वं प्रवृत्तिस्तीति निरवशेषग्रहणं प्रत्येकं ज्ञानातिचारात् 'अहीमुमुक्षुस्तमिति' उक्तं शेषः ॥५३२॥

कथं निरवशेषालोचनां कृता भवतीत्याटकायामाह—

काश्यवाइयमाणसियसेवणं दुप्पजोगसंभूय ।

जइ अरिच अदीचारं तं आलोचैहि जिस्सेसं ॥५३३॥

'काश्यवाइयमाणसियसेवणं' कायेन, वाचा, मनसा च प्रवृत्ति प्रतिसेवनां । 'दुप्पजोगसंभूया' दुःप्रयोजनं तं तां । 'आलोचैहि' कथय । 'जिस्सेसं' निःशेषं । 'जइ अरिच अदीचारं' यद्यस्त्यतिचारः ॥५३३॥

अमुगंमि इदो काले देसे अमुगत्य अमुगभावेण ।

जं जइ जिसेविदं तं जेण य सह सम्बमालोचै ॥५३४॥

वरणं अतिक्रम्याचरणं । 'इदो' अस्मादिनादतिक्रान्ते । 'अमुगंमि काले' अमुकस्मिन्काले । 'देसे' अमुष्मिन्देसे । 'अमुगभावेण' अनेन भावेन । 'अं' यत् । 'जइ जिसेविदं' यथा निषेवितं । 'जेण च सह' येन च सह । 'तं सम्बमालोचै' तत्सर्वं कथयेद्देशमेवात् कालमेवात् परिणाममेवात्, सहायमेवात् च बोधायां गुच्छुभावाः । गुच्छुभावाभावाभ्यामसारेण वा गुच्छु लघु वा प्रायश्चित्तं दीकते । तत्सर्वं कथयति ॥५३४॥

शिक्षयत्यालोचनाक्रमं सूचि—

शा०—यत्: परकी साक्षीपूर्वक की गई शुद्धि ही प्रधान है अतः दीक्षामे लेकर अवशक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यमें जो अतिचार लगे हैं वे सब निरवशेष सावधान चित्त होकर कहे ।

शाङ्खा—सब कहनेसे ही सबका ज्ञान हो जाता है फिर निरवशेष क्यों कहा ?

समाधान—ज्ञान दर्शन और चारित्र्यवियक कुछ अतिचारोंको पूरी तरहसे कहनेमें ही सर्वशब्दकी प्रवृत्ति है, इसलिए 'निरवशेष' का ग्रहण ज्ञानाधिके प्रत्येक अतिचारको ग्रहण करनेके लिए किया है । अतः कोई दोष नहीं है ॥५३२॥

निरवशेष आलोचना कैसे की जाती है ? इसका उत्तर देते हैं—

शा०—मनवचन और कायकी प्रवृत्ति करते हुए यदि उनके दुष्प्रयोगसे अतिचार लगा हो तो उसकी पूरी तरहसे आलोचना करो ॥५३३॥

शा०—इस विनसे लेकर अमुक कालमें, अमुक देशमें, अमुक भावसे जो दोष, जिसके साथ जिस प्रकारसे किया हो वह सब कहना चाहिए । देशभेद, कालभेद, परिणामभेद, और सहायकके भेदसे दोषोंमें शुष्पना और लघुपना होता है । और दोषोंकी गुस्ता और लघुताके अनुसार मुख या लघु प्रायश्चित्त दिया जाता है । इसलिए क्षपक सब कहता है ॥५३४॥

आचार्य आलोचनानके क्रमकी शिक्षा देते हैं—

आलोचना हु बुधिहा ओषेण य होदि पदविभागी य ।

ओषेण मूलपचस्त पदविभागी य इदरस्त ॥५३५॥

'आलोचना सु बुध्या होवि' द्विप्रकारवालोचना भवति । 'ओषेण पदविभागी य' सामान्येन विशेषेण च । ययो हि सामान्यं विशेषं चावलम्ब्य प्रवर्तते । कस्य सामान्येन आलोचना कस्य वा विशेषेणेत्यत आह— 'ओषेण मूलपचस्त' सामान्यालोचना मूलार्थं प्रायश्चित्तं प्राप्स्य । 'पदविभागी' विशेषालोचना । 'इदरस्त' मूलमप्राप्स्य ॥५३५॥

सामान्यालोचनार्हं सामान्यालोचनावरूपं च कथयति—

ओषेणालोचेदि हु अपरिमिद्वराचिसञ्चवादी वा ।

अज्जोपाए इच्छं सामणमहं खु तुच्छोपि ॥५३६॥

'ओषेणालोचेदि हु' सामान्येन कथयति । 'कोअपरिमिद्वराची सञ्चवादी वा' बहुव्री अंपराधा यस्य मिथ्यात्वं व्रतमङ्गो वा । परसाक्षिकायां शुद्धी मायाशक्त्यं निरस्त भवति । मानकषायो नियूलितो भवति । गुरुजन. पूजितो भवति । तत्परतन्त्रया भूतेर्मार्गप्रख्यापना च कृता स्यात् । 'अज्जोपाए' अद्यप्रभृति । 'इच्छं साकम्भ' इच्छामि आगम्य । 'अहं खु तुच्छोपि' अहं स्वल्पको रत्नत्रयेणेति इयं सामान्यालोचना ॥५३६॥

विशेषालोचनाभावष्टे—

शा०—आलोचना दो प्रकारकी होती है—एक सामान्यसे और दूसरी विशेष से । क्योंकि सामान्य और विशेषका अवलम्बन लेकर ही वचनकी प्रवृत्ति होती है । किस दोषकी सामान्यसे आलोचना होती है और किसको विशेषसे होती है ? यह कहते हैं—जिसको मूल नामक प्रायश्चित्त दिया जाता है वह सामान्यसे आलोचना करता है और जिसको मूल प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता वह विशेष रूपसे आलोचना करता है ॥५३५॥

विशेषार्थ—जिसकी मूलसे ही दीक्षा छेद दी जाती है वह अपने दोषकी सामान्य आलोचना करता है किन्तु जो सम्यक्त्व आदिमें दोष लगाता है वह अपने दोषकी विशेष आलोचना करता है । यहाँ सामान्यसे मतलब है किसी गुणविशेषमें लगे दोषकी आलोचना न करके सामान्य मुनिधर्म मात्रमें लगे दोषकी आलोचना करना, और किसी गुणविशेषमें लगे दोषकी आलोचना विशेष आलोचना है ।

सामान्य आलोचनाके योग्य कौन होता है और सामान्य आलोचनाका स्वरूप कहते हैं—

शा०—जो अपरिमित अपराधी है जिसने बहुत अपराध किए हैं या जिसने सब सम्यक्त्व व्रत आदि का घात किया है वह सामान्य आलोचना करता है । मैं आज से मुनि दीक्षा लेना चाहता हूँ । मैं रत्नत्रय से तुच्छ हूँ । यह सामान्य आलोचना का स्वरूप है । आचार्य आदि साक्षी पूर्वक श्रद्धिमें मायाशक्त्य दूर होता है । मान कषाय जड़ से उखल जाती है । गुरुजनके प्रति आदर भाव व्यक्त होता है । उनके अधीन रह कर व्रताचरण करनेसे मोक्षमार्गकी ख्याति होती है ॥५३६॥

विशेष आलोचनाको कहते हैं—

पव्वज्जादी सव्वं कमेण जं अत्थ जेण भावेण ।

पड्डिसेविदं तथा तं आलोचितो पदविभागी ॥५३७॥

‘पव्वज्जादी सव्वं’ प्रवृत्त्यादिकं सर्वं । ‘कमेण जं अत्थ जेण भावेण पड्डिसेविदं’ क्रमेण यद्यपि कालगते वा देशे येन भावेन प्रतिसेवितं । ‘तथा तं’ तथा तत् । आलोचितो निरूपयन्मिति । यदि पदविभागी विशेषा-लोचना भवति ॥५३७॥

शल्यानिराकरणे दोषं शल्यापाये च गुणं दृष्टान्तेन दर्शयति—

अहं कटएण विद्धो सव्वंगे वेदपुद्गुदो होदि ।

तम्मिं दु सम्मुद्धिदे सो णिस्सल्लो णिव्वुदो होदि ॥५३८॥

‘अहं कटएण विद्धो’ यथा कण्टकेन विद्धः । ‘सव्वंगे’ सर्वस्मिन् शरीरे । ‘वेदपुद्गुदो होदि’ वेदन-योषदुतो भवति । ‘तम्मिं सम्मुद्धिदे’ तस्मिन्कण्टके उद्घृते । ‘सो’ दुःखितः । ‘णिस्सल्लो’ निःशल्यो शल्येन रहितः । ‘णिव्वुदो’ निवृत्तो । ‘होदि’ भवतीति सुखी भवतीति यावत् ॥५३८॥

शार्ष्टान्तिकयोजना—

एवमपुद्गुददोसो माइल्लो तेण दुक्खिदो होइ ।

सो च्च वंददोसो सुक्खिसुद्धो णिव्वुदो होइ ॥५३९॥

‘एवं’ कण्टकेन विद्ध इव । ‘अपुद्गुददोसो’ अनुद्घृतदोषः । ‘माइल्लो’ मायावान् । स्वापराधा-कथनानुद्घृतदोषेण । ‘दुक्खिदो होइ’ दुःखितो भवति । ‘सो च्च वंददोसो’ स एव वान्तदोषः । ‘सुक्खिसुद्धो णिव्वुदो होइ’ निवृत्तो भवति ॥५३९॥

मिच्छार्द्धसणसल्लं मायासल्लं णिदानसल्लं च ।

अहवा सल्लं दुविहं दब्बे भावे य बोधव्वं ॥५४०॥

‘मिच्छार्द्धसणसल्लं’ मिथ्यादर्शनशल्यं । ‘मायासल्लं’ मायाशल्यं । ‘णिदानसल्लं’ निदानशल्यं च । ‘अहवा सल्लं दुविहं’ अथवा शल्यं द्विप्रकारं । ‘दब्बे भावे य’ द्रव्यशल्यं भावशल्यमिति । ‘बोधव्वं’ बोद्ध-व्यम् ॥५४०॥

शा०—दीर्घासे लेकर सब कालमें सब क्षेत्रमें जिस भावसे और जिस क्रमसे जो दोष किया हो उसकी उसी प्रकार आलोचना करना पदविभागी अर्थात् विशेष आलोचना है ॥५३७॥

शल्यको दूर न करनेमें दोष और दूर करनेमें गुण दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—

शा०—जैसे कण्टकसे विधा हुआ सर्वशरीरमें पीड़ासे पीड़ित होता है और उस कण्टकके निकल जानेपर वह दुःखी मनुष्य शल्यसे रहित हो सुखी होता है ॥५३८॥

शा०—उसी प्रकार जो कटिकी तरह दोषको नहीं निकालता वह मायावी अपने अपराध-को न कहने रूप दोषसे दुःखी रहता है । और वही दोषको प्रकट करनेपर विशुद्ध होकर सुखी होता है ॥५३९॥

शा०—शल्यके तीन भेद हैं—मिथ्यादर्शनशल्य, मायाशल्य और निदानशल्य, अथवा शल्यके दो भेद जानना—द्रव्यशल्य और भावशल्य ॥५४०॥

सिद्धिं तु भावसत्त्वं दंसज्जणाने चरित्तजोगे य ।

सच्चित्तं य अचित्तं य भिस्सगे वा वि दव्वम्मि ॥५४१॥

'सिद्धिं तु' सिद्धिं एव । 'भावसत्त्वं' परिणामशाल्यं । 'दंसज्जणाने चरित्तजोगे य' दर्शने, ज्ञाने, चरित्रबोधे वा । दर्शनस्य शाल्यं शंकादि । ज्ञानस्य शाल्यं अकाले पठन अविनयादिकं च । चरित्रस्य शाल्यं क्षमिस्सिगुप्पयोत्तरापरः । ['योगस्य तपसः प्रागुक्तानशानाद्यतिचारजातं । असयमपरिणमनं वा । तपसश्चारित्रने अन्तर्भावसिद्धयया सिद्धिर्हमित्युक्तम्] 'दव्वम्मि सत्त्वं सिद्धिं' द्रव्ये शाल्य त्रिविधं । 'सच्चित्तं अचित्तं भिस्सगे य' सच्चित्तद्रव्यशाल्यं दासादि । अचित्तद्रव्यशाल्यं सुवर्णादि । 'भिस्सगे वा' विमिश्रद्रव्यशाल्यं प्राणादि । एतत्त्रिविधं द्रव्यशाल्यमित्युच्यते—चारित्राचारस्य शाल्यस्य कारणत्वात् ॥५४१॥

भावशाल्यानुद्धरणे दोषमाचष्टे—

एगमवि भावसत्त्वं अनुद्धरिणाण जो कुणइ कालं ।

लज्जाए गारवेण य ण सो हु आराधओ होदि ॥५४२॥

'एगमवि' एकमपि भावाना रत्नत्रयाया शाल्य । अतिचार । 'अनुद्धरिणाण' अनुबुध्य । 'जो कुणवि कालं' यः करोति मरणं । कस्मान्नोद्धरति ? 'लज्जाए' लज्जया । 'गारवेण य' गारवेण वा । 'सो ण हु आराधओ होदि' स आराधको नैव भवति । निरतिचारता हि तेषां यतीनां आराधना ॥५४२॥

जाते अपराधे तदानीमेव कथितव्यं न कालक्षेपः कार्यं इति शिक्षयति—

कल्ले परे व परदो काहं दंसज्जणानचरित्तसोचिन्ति ।

इय संकप्पमदीया गयं पि कालं ण याणन्ति ॥५४३॥

'कल्ले' एव प्रभृतिके काले । अहं करिष्यामि 'दंसज्जणानचरित्तसोचिन्ति' दर्शनज्ञानचरित्रशुद्धिमिति । 'इय संकप्पमदीया' एव कृतसंकल्पमतयः । 'गयं पि कालं ण याणन्ति' गतमतिक्रान्तमपि आयुःकालं नैव जानन्ति ।

वा०—टी—भावशाल्यके तीन भेद हैं—दर्शनशाल्य, ज्ञानशाल्य, चरित्रयोगशाल्य । शंका आदि दर्शनके शाल्य हैं । अकालमें पढ़ना, विनय न करना आदि ज्ञानके शाल्य हैं । समिति और गुस्तिमें अनादर चरित्रके शाल्य हैं । पहले कहे अनशन आदिके अतिचार अथवा असंयमरूप परिणाम योग अर्थात् तपके शाल्य हैं । तपका अन्तर्भाव चरित्रमे होता है इस विवक्षासे यहाँ भावशाल्य तीन कहे हैं । द्रव्यशाल्य भी तीन हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र । दास आदि सचित्त द्रव्यशाल्य हैं । सुवर्ण आदि अचित्त द्रव्यशाल्य हैं । गाँव आदि मिश्र द्रव्यशाल्य है । इन तीनोंको द्रव्यशाल्य कहते हैं क्योंकि ये चारित्राचारके शाल्यके कारण हैं ॥५४१॥

भावशाल्यको दूर न करनेमें दोष कहते हैं—

वा०—जो साधु लज्जा अथवा गारवसे एक भी भाव अर्थात् रत्नत्रयके शाल्य अर्थात् अतिचारको निकाले बिना मरण करता है, वह मुनि आराधक नहीं है । निरतिचारता ही यतियोंकी आराधना है ॥५४२॥

आगे शिक्षा देते हैं कि अपराध होनेपर तत्काल कहना चाहिए, देर नहीं करना चाहिए—

वा०—टी०—कल या परसों मैं दर्शन, ज्ञान और चरित्रकी शुद्धि करूँगा ! ऐसा संकल्प

१. कोष्ठात्तर्गत पाठो नास्ति—अ० वा० प्रत्योः ।

ततः सशल्यं मरणं तेषां भवति । जत एवोक्तं—'उष्णानुष्णानां माया जघनुष्वस्तौ निर्हुंतव्या' इति ॥—
[मूलाधार ७।१२५ ॥] व्याख्यः शनवः । कर्माणि, चोपेक्षितानि बद्धमूलानि पुनर्न मुञ्चेन विनाशयन्ते । अथवा
अतिचारकालं वर्तं चिरात्तिष्ठन्तं नैव ज्ञानन्ति । ये हि अतिचाराः प्रतिदिनं जातास्तेषां कालं, सन्ध्या रात्रि-
दिवं इत्यादिकं । पद्माशालोचनाकाले गुण्या 'पृष्ठा वा न वक्तुं जानन्ति विस्मृतत्वाच्चिरातीतस्य । अथायत्तं
स्वतीचारकालं तस्यासिचारस्य । अपिशब्देन क्षेत्रभावी वातिचाररसं हेतुं न जानन्ति न स्मरन्ति । सामान्य-
वाच्यमपि जानाति । इह स्मृतिज्ञानं गोचर इति कैचाचिद्व्याख्या ॥५४३॥

सशल्यमरणे को दोष इत्याद्यङ्क्यामाचष्टे—

रागदोसाभिहृदा ससल्लमरणं मरति जे मूढा ।

ते दुःखसल्लबहुले भमन्ति संसारकांतारे ॥५४४॥

'रागदोसाभिहृदा' रागद्वेषाभ्यामभिहृताः । 'ससल्लमरणं' सशल्यमरणं । 'मरति' त्रियन्ते । 'जे मूढा'
ये मूढास्ते 'संसारकांतारे भमन्ति' । ते संसाराटव्या भ्रमन्ति । कीदृशि ? 'दुःखसल्लबहुले' दुःखानि शल्यवत्
दुर्दरत्वाच्छल्य इत्युच्यन्ते । दुःखशल्यसङ्कुले ॥५४४॥

शल्योद्धरणे गुणं व्याचष्टे—

तिबिहं पि भावसल्लं समुद्धरिचाण जो कुणदि कालं ।

पव्वज्जादी सव्वं स होइ आराधओ मरणे ॥५४५॥

'तिबिहं' त्रिविधमपि । 'भावसल्लं' भावशल्य । 'समुद्धरिचाण' समुद्धृत्य । 'जो कुणदि कालं' यः
काल करोति । कीदृमृत ? 'पव्वज्जादी' प्रवर्ज्यादिक । 'सव्वं' सर्वं । 'स होइ' स भवति । 'आराधओ'
आराधको दर्शनादीनां । 'मरणे' भवपर्यायप्रथमे ॥५४५॥

करनेवालं बीतते हुए आयुकालको नहीं जानते । इसीसे उनका मरण शल्य सहित होता है ।
इसीसे कहा है—'जैसे ही मायाशल्य उत्पन्न हो, उत्पन्न होते ही उसे आनुपूर्वीक्रमसे नष्ट कर
देना चाहिए ।' व्याधि, शत्रु और कर्मकी यदि उपेक्षा की जाये तो उनकी जड़ जम जाती है फिर
सुखपूर्वक उनका विनाश नहीं होता । अथवा अपराधकी उपेक्षा करनेवालं साधु दोष लगनेके
कालको बहुत दिन बीत जानेपर भूल जाते हैं । जो अतिचार प्रतिदिन होते हे उनका काल
सन्ध्यामं अतिचार लगा था या रातमें या दिनमें, इत्यादि भूल जाते हैं । पीछे आलोचना करते
समय गुरुके पूछनेपर नहीं कह पाते क्योंकि बहुत काल बीतनेसे भूल जाते हैं । अथवा बीते
अतीचारके कालको और 'अपि' शब्दसे अतिचारके हेतु क्षेत्र और भावको नहीं जानते, उन्हें
उनका स्मरण नहीं होता । ऐसी किन्हींकी व्याख्या है ॥५४३॥

शल्यसहित मरणमें दोष कहते हैं—

गा०—राग और द्वेषसे पीडित जो मूढ़ मुनि शल्यसहित मरते हे वे दुःखरूपी शल्योंसे
भरे संसाररूपी वनमें भटकते हैं । शल्यकी तरह दुर्दर होनेसे दुःखोंको शल्य कहा है ॥५४४॥

शल्यको निकालनेमें गुण कहते हैं—

गा०—जो बीजा लेनेके दिनसे लेकर तीन प्रकारके सब भावशल्यको निकालकर मरण

जे गारवेहि रहिदा जिस्सल्ला दंसणे चरित्ते य ।

बिहरति घुससंगा खवंति ते सव्वदुक्खाणि ॥५४६॥

'जे गारवेहि रहिदा' वे गौरवविरहिता । 'जिस्सल्ला दंसणे चरित्ते य' निःशल्या समतो दर्शने चरित्ते य । 'बिहरति' प्रवर्तन्ते । 'घुससंगा' निरस्तमूच्छा । ते 'सव्वदुक्खाणि खवंति' ते सर्वाणि दुःखाणि क्षययन्ति ॥५४६॥

तं एवं जाणतो महंतयं लाभयं सुविहिदाण ।

दंसणचरित्तमुद्धो जिस्सल्लो बिहर तो धीर ॥५४७॥

'तं' भवान् । 'एवम्' उक्तप्रकारेण । 'जाणतो' जानन् । 'महंतयं' महान्त लाभ । 'सुविहिदाणं' सुसंय-
ताना । 'दंसणचरित्तमुद्धो' दर्शने चारित्र्ये च शुद्धि । तयोः शुद्धिर्मानदर्शनशुद्धिमन्तरेण न भवतीति त्रयाणां
शुद्धिक्ता । 'जिस्सल्लो' शल्यरहित सन् । 'बिहर' चर । 'तो' तस्माद् 'धीर' धैर्यपित ॥५४७॥

तम्हा सत्तूलमूलं अविच्छेदमविप्पुदं अणुच्चिग्गो ।

जिम्मोहियमणिगूढं सम्मं आलोचए सव्वं ॥५४८॥

'तम्हा' तस्मात् यस्मात्सणल्यमरणे दोष । निःशल्यमरणे च सकलदुःखनिवृत्ति दुःखकारणानां कर्म-
णामभावात् । 'तम्हा' तस्मान् । 'सम्मं सव्वमालोचणे' सम्यक् सर्वमतित्थार कथयेत् । दुःखनिवृत्त्यर्थं मात ।
कथमालोचयेदित्याशङ्क्यामालोचनाविशेषमाह—'सत्तूलमूलं' तूलमूलाम्या सहित । 'सव्वं' निरवशेष । 'अवि-
च्छेदं' अविस्मृत । 'अविप्पुदं' अदृष्ट । 'अणुच्चिग्गो' निर्भय । 'जिम्मोहिय' मोहरहित । 'अणिगूढं' अनि-
गूढ ॥५४८॥

जह्वालो जंपंतो कज्जमकज्ज व उज्जुअं भणइ ।

तह्वालोचेदव्वं मायामोसं च मोत्तूण ॥५४९॥

करते हैं वे मरते समय दर्शन आदिके आराधक होते हैं ॥५४९॥

गा०—जो तीन प्रकारके गारव और तीन प्रकारके शल्योसे रहित हो ममत्वभावको त्याग दर्शन ज्ञान और चारित्र्यमे विहार करते हैं वे सब दुःखोका क्षय करते हैं ॥५४६॥

गा०—हे धीर ! निरतिचार रत्नत्रयका पालन करनेवाले सयमियोंके ऊपर कहे महान् लाभको जानते हुए तुम दर्शन और चारित्र्यकी शुद्धि करके शल्यरहित होकर मोक्षमार्गमे प्रवर्तन करो । दर्शन और चारित्र्यकी शुद्धि ज्ञान और दर्शनकी शुद्धिके बिना नहीं होती । इसलिए दर्शन और चारित्र्यकी शुद्धिसे दर्शन ज्ञान चारित्र्य तीनोंकी शुद्धि कही है ॥५४७॥

गा०—यतः शल्यसहित मरणमे दोष है और निःशल्य मरणमे दुःखके कारण कर्मोका अभाव होनेसे समस्त दुःखोसे छूटकारा होता है । इसलिए दुःखसे निर्वातके लिए दीक्षाके दिनसे लेकर आज तक जो अतिचार लगे हैं वे सब बिना भूल किये, धीरे-धीरे, बिना किसी भय और मोहके सम्यक् रूपसे प्रकट करो ॥५४८॥

१. भावः—जा० नु० ।

२. त्यज्यति.—ब० । त्यजं इति नु० ।

'बहु बालो अर्पतो' यथा बालो जल्पन् । 'अलोचनकर्म व' कार्यमकार्यं वा । 'अचरि' भवति । 'उत्सर्ग' अजुना क्रमेण । 'सह' तथा । 'आलोचनकर्म' वक्तव्योऽपराध । 'मायाबोसं च मोक्ष' मनोगता वक्रतां, वचन-
गतां, मृषां च मुक्त्वा ॥५४९॥

उपसंहारति प्रस्तुतम्—

दंसणणाचरिते कादणालोचणं सुपरिसुद्धं ।

गिस्सल्लो कदसुद्धी कमेण सल्लेहणं कुणसु ॥५५०॥

'दंसणणाचरिते' दर्शनज्ञानचरित्रविषयां । 'आलोचनं कादण' अपराधमभिधाय । 'सुपरिसुद्धं'
'गिस्सल्लो' मायासम्हरहितः । 'कदसुद्धी' कृतगुरुनिरूपितप्रायश्चित्तः । 'कमेण सल्लेहणं कुणसु' क्रमेण सल्ले-
खना कुरु ॥५५०॥

तो सो एवं भणिओ अम्भुज्जदमरणणिच्छिदमदीओ ।

सम्बंगजादहासो पीदीए पुल्लदसरीरो ॥५५१॥

एव शिक्षितोऽसौ क्षपकः 'सो' तत । 'ओ' आराधकः । 'एवं भणियो' एव शिक्षितं स्मरिणा ।
'अम्भुज्जदमरणणिच्छिदमदीओ' अमृद्यते मरणं निश्चितबुद्धि । 'सम्बंगजादहासो' मवांगजातहर्षः । 'पीदीए
पुल्लदसरीरो' प्रीत्या पुलकितशरीरः ॥५५१॥

पाचीणोदीचिमुहो चेदियहुत्तो व कुणदि एगंते ।

आलोयणपत्तीयं काउस्सगं अणावाधे ॥५५२॥

'पाचीणोदीचिमुहो' प्राङ्मुखः उदङ्मुखः । 'चेदियहुत्तो व' चैत्याभिमुखो वा भूत्वा । 'कुणदि काउस्सगं'
करोति कायोत्सर्गं । कोद् गत ? 'आलोयणपत्तीयं' आलोचनप्रत्यय आलोचनानिमित्त । कायोत्सर्गं स्थित्वा
दोषा यतः स्मर्यन्ते कथयि, तस्मात्कायोत्सर्गं आलोचनाहेतुः । क्व त करोति ? 'एगंते' एकान्तं अनरहित-

शा०—जैसे बालक बोलते हुए कार्य हो या अकार्य हो, सरलभावसे ही कहता है कुछ
छिपाता नहीं है । जैसे ही साधुको भी मनोगत कुटिलता और वचनगत झूठको त्यागकर अपना
अपराध कहना चाहिए ॥५४९॥

प्रस्तुत चर्याका उपसंहार करते हैं—

शा०—अतः दर्शन ज्ञान और चारित्रसम्बन्धी अपने अपराधोको कहकर, मायाशल्यसे
रहित होकर, गुरुके द्वारा कहा गया प्रायश्चित्त करके क्रमसे सल्लेखना करो ॥५५०॥

शा०—इस प्रकार गुरुके द्वारा शिक्षित किया गया वह क्षपक समाधिमरण करनेका निश्चय
करता है । उसके सब अर्गोंमें हर्षकी लहर दौड़ती है और प्रीतिसे शरीर रोमांचित हो जाता
है ॥५५१॥

शा०—टी०—वह पूरव, उत्तर या जिनबिम्बकी ओर मुख करके अनरहित एकान्त प्रदेशमें
जहाँ किसी प्रकारकी बाधाकी सम्भावना नहीं है ऐसे अनरहित एकान्तमें स्थानमें आलोचनाके
निमित्त कायोत्सर्ग करता है । यतः कायोत्सर्गसे खड़े होनेपर गुरुसे कहनेके लिए दोषोका स्मरण

देहे । 'अन्नाच्चादे' अर्थात् बहुजनमध्ये एकमुखं न भवति चित्तं । मार्गं स्थितः परकार्यव्याघातकृद्भवति इति मत्वा एकान्ते । अमार्गश्च कायोत्सर्गेश आख्यातः ॥५५२॥

कायोत्सर्गं किमर्थं करोति आलोचयितुकामः इत्याशङ्क्या कायोत्सर्गस्य उपयोगमावाच्ये—

एवं खु बोसरित्ता देहे वि उवेदि णिम्ममत्तं सो ।

णिम्ममदा णिस्संगो णिस्सल्लो जाइ एयत्तं ॥५५३॥

'एवं खु' इत्यादिना । एवमित्यन्तःपूर्वनिर्दिष्टक्रमेण । प्राङ्मुख उवङ्मुखश्चैत्याभिमुखो वा । एकान्ते मार्गं । बोसरित्ता त्यक्त्वा किं ? न हि त्याज्यमन्तरेण न्यायो युज्यते । देहमिति चेत् 'देहे वि उवेदि णिम्ममत्तं सो' इति न घटते निर्ममत्वं ननु त्यागः । भिन्नयोः पूर्वापरकालविषययोः क्रिययोर्यत्र एकः कर्ता तत्र पूर्वकाल-क्रियावचनात् क्त्वा विधीयते । अत्रोच्यते वचना त्यागः 'बोसरित्ता' इत्यनेन उच्यते । मनसा ममार्यं न भवति देह इति त्याग पश्चात्तन्यते । तेन वाङ्मन करणभेदात्प्रागो भिद्यते । 'णिम्ममदा णिस्संगो' निर्ममत्तया निस्संगो निष्परिग्रहः । 'णिस्सल्लो' नि परिग्रहत्वादेव निःशल्यः । 'एयत्तं जाइ' एकत्वभावना प्रतिपद्यते ॥५५३॥

होता है अतः कायोत्सर्ग आलोचनाका कारण है । बहुतसे लोगोंके मध्यमें चित्त एकाग्र नहीं होता तथा रास्तेमें खडे होकर कायोत्सर्ग करनेसे दूसरोंके कार्यमें बाधा आती है । ऐसा मानकर कायोत्सर्गका स्थान एकान्त और मार्गरहित कहा है ॥५५२॥

आलोचना करनेवाला कायोत्सर्ग क्यों करता है ऐसी शंका होनेपर कायोत्सर्गका उपयोग कहते हैं—

गा०-टी०—इस प्रकार आलोचनाके लिए एकान्त स्थानमें पूरबके सम्मुख अथवा उत्तरके सम्मुख अथवा जिनविम्बके सम्मुख होकर 'मे शरीरका त्याग करता हूँ' इस प्रकार वचनसे त्याग करके 'यह शरीर मेरा नहीं है' इस प्रकार मनसे त्याग करता है । अतः वचन और मनके भेदसे त्यागके दो भेद होते हैं । इस प्रकारसे शरीर ममत्व त्यागकर निर्ममत्वको प्राप्त होता है और निर्ममत्वको प्राप्त होनेसे बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहने रहित होता है । परिग्रह रहित होनेसे ही निःशल्य होकर एकत्वभावनाको प्राप्त होता है ।

शङ्का—त्याज्यके बिना त्याग नहीं होता । यदि देहका त्याग करता है तो देहमे भी निर्ममत्व होता है' यह कथन नहीं घटता । क्योंकि शरीरमें निर्ममत्व ही शरीरका त्याग है । आगे पीछे होनेवाली दो भिन्न क्रियाओंका कर्ता जहाँ एक ही होता है वहाँ पूर्वकालको क्रियासे 'क्त्वा' (करके) प्रत्यय किया जाता है । शकाकारका अभिप्राय यह है कि गाथामें कहा है कि देहका त्याग करके देहमें निर्ममत्व होता है । किन्तु देहका त्याग और देहमे निर्ममत्व यह भिन्न कार्य नहीं है निर्ममत्व ही त्याग है । अतः देहका त्याग करके देहमे निर्ममत्व होता है ऐसा कहना ठीक नहीं है ।

समाधान—'बोसरित्ता' शब्दसे वचनसे त्याग कहा है । उसके पश्चात् ही 'यह शरीर मेरा नहीं है' इस प्रकार मनसे त्याग होता है । अतः वचन और मनके भेदसे त्यागमें भेद होनेसे उक्त कथन घटित होता है ।

हो एयत्तमुत्तमगदो सरेदि सव्वे कदे सणे दोसे ।

आयरियपादमूले उप्पाडिस्सामि सक्कल्लि ॥५५४॥

'एयत्तमुत्तमगदो' एकत्वभावनामुपगतः । निरतिचारज्ञानदर्शनचारिन्भाव्येवाहं । शरीरमिदमन्यवमुपकारि मम दुःखमित्तत्वात्, तद्विनाशे मम किं विनश्यति, क्लृप्तमित्येवमनरातिरिति मन्यमानः, प्रायश्चित्ताचरणे न लिखते । शयां च कर्मोपयमित्तां हृत्पुं ईहृत्तो मम शुद्धरूपस्येयमशुद्धिरिति । 'हो' ततः । 'सरेदि' स्मरति । 'सव्वे' सर्वेषां । 'कदे' कृतानां । 'सणे' स्वकानां । 'दोसे' दोषाणां । किमर्थं स्मरति ? 'आयरियपादमूले' आचार्यपादमूले । 'उप्पाडिस्सामि' उत्पाटयिष्यामि । 'सक्कल्लि' दर्शनातिचारमिति ॥५५४॥

स्मृत्वा किं करोति पश्चादित्याशङ्क्यायामित्याचष्टे—

इय उज्जभावमुपगदो सव्वे दोसे सरित्तु तिक्खुत्तो ।

लेस्साहिं विमुज्जांतो उवेदि सक्कं समुद्धरिदुं ॥५५५॥

'इय' एवं । 'उज्जभावं उज्जववो' उज्जुभावं उपगतः । 'सव्वे दोसे' सर्वेषां दोषाणां । 'तिक्खुत्तो सरित्तु' निःस्मृत्वा । 'लेस्साहिं विमुज्जांतो' लेख्याभिविशुद्धाभिविशुद्धपत् । 'उवेदि' डीकते आचार्यं । 'सक्कं' शक्यं । 'समुद्धरिदुं' सम्यगुद्धत् ॥५५५॥

आलोयणादिया पुण होइ.पसत्थे य सुद्धभावस्स ।

पुव्वणहे अवरणहे व सोमतिहिरिक्खवेलाए ॥५५६॥

'आलोयणादिका' आलोचनप्रतिक्रमणादिका. क्रियाः । अथवा 'आलोयणं' आलोचना । 'दिया' दिवसे । 'पुण' पश्चात् । 'होइ' भवति । क्व ? 'पसत्थे' प्रशस्ते क्षेत्रे । अनेन क्षेत्रशुद्धिरुक्ता । विमुद्धभावस्स विगुण्ड-

विशेषार्थ—इस समय में आलोचना करता हूँ । मेरे सम्यक्त्व आदिमें कोई भी दोष नहीं है । इस प्रकार दोषकी शंकासे मुक्त होकर मैं एक असहाय अथवा नित्य हूँ । यह शरीर मुझसे भिन्न है । दुःखका कारण होनेसे मेरा उपकारी नहीं है । मैं तो निरतिचार रत्नत्रयस्वरूप ही हूँ । अतः देहके नाशसे मेरा कुछ भी नष्ट नहीं होता । मैं तो शुद्ध चिद्रूप हूँ । इस प्रकार एकत्व भावना-मय होता है ॥५५३॥

पा०—टी०—एकत्व भावनामय होकर प्रायश्चित्तका आचरण करनेमें सिन्न नहीं होता । कर्मके उदयके निमित्तसे होनेवाली मायाको छोड़नेमें तत्पर होता है । मैं शुद्धस्वरूप हूँ । मेरी यह माया अशुद्धि है ऐसा मानता है । अतः यह सम्यग्दर्शनका अतिचार है । मैं आचार्यके पादमूलमें अपने दोषोंको जड़मूलसे दूर कर्हूंगा, इस भावनासे अपने द्वारा किये गये सब दोषोंको स्मरण करता है ॥५५४॥

दोषोंके स्मरण करनेके पश्चात् क्या करता है यह कहते हैं—

पा०—इस प्रकार सरलभावको प्राप्त हुआ क्षपक सम्पूर्ण दोषोंको तीन बार स्मरण करके लेख्याओंसे विशुद्ध होता हुआ शक्योंको दूर करनेके लिए आचार्यके पास जाता है ॥५५५॥

पा०—आलोचना प्रतिक्रमण आदि क्रिया विशुद्ध परिणामवाले क्षपकके प्रशस्त क्षेत्रमें

परिणामस्व भावशुद्धिरनेन कथिता । 'गुण्यै' पूर्वाह्णे । 'अवरणै ब' अपराह्णे वा । 'लोमसिहिरिषसवेकाए'
शौच्ये विने, नक्षत्रे, वेलायां च ॥५५६॥

एषमादिषु अप्रशस्तेषु देवेषु आलोचनां न प्रतीच्छेत् इति आचार्यशिक्षापरं वचन—

शिष्यसकंदंशुलं विज्जुह्वं सुवसरुवसकहुददं ।

सुणपररुहदेउलपत्वररासिद्धियापुंजं ॥५५७॥

'विष्णुसकंदंशुलं' निष्पन्नं कष्टकाकुलं । 'विज्जुह्वं' अशनिनाहत । 'सुवसरुवसकहुददं' शुष्कवृक्षं,
कटुकफलं, 'रुहदं' वनं । 'सुणपररुहदेउलपत्वररासिद्धियापुंजं' शून्यं गृहं, रुद्रदेवकुलं, पाषाणराशि,
द्वष्टकापुंजं ॥५५७॥

तृणपत्तकहुछारिय असुइ सुसाणं च भग्गपडिदं वा ।

रुहाणं खुहाणं अधिउत्ताणं च ठाणाणि ॥५५८॥

'तृणपत्तकहुछारिय असुइ सुसाणं च' तृणवत्पत्रवत्काष्ठवत् यत्स्थान । 'अशुचिसुसाणं वा' अशुचिभ-
क्षानं वा । अन्नानि पतितानि वा भ्राजानानि गृहाणि वा यस्मिन् स्थाने तद्भ्रम्यपतित । 'अधिउत्ताणं च
ठाणाणि' देवतानां स्थानानि । कीदृशीनां ? 'रुहाणं' रोद्राणा । 'खुहाणं' क्षुद्राणा स्वल्पकाना ॥५५८॥

अण्णं व एवमादी य अप्पसत्थं हवेज्ज जं ठाणं ।

आलोचणं ण पडिच्छदि तत्थ गणी से अविग्घत्थं ॥५५९॥

'अण्णं व' अन्यद्वा स्थानं एवमादिक । 'अप्पसत्थं' अप्रशस्त । 'हवेज्ज' भवेत् । 'जं ठाणं' यत्स्थानं ।
'अत्थं' तस्मिन्स्थाने । 'आलोचणं च पडिच्छदि' आलोचनां न प्रतीच्छति । 'गणी' गणघरः । किमर्थं ? 'से' तस्य
अपकृत्य । 'अविग्घत्थं' अविघ्नार्थं । एतेष्वालोचनाया कृतायां प्रारब्धकार्यसिद्धिर्न भवतीति मन्वा ॥५५९॥

पूर्वाह्णे अथवा अपराह्णकालमें शुभदिन, शुभनक्षत्र और शुभवेलामें होती है । यहाँ प्रशस्त क्षेत्रसे क्षेत्रशुद्धि कही है । विशुद्धपरिणामसे भावशुद्धि कही है तथा शुभदिन भादिसे कालशुद्धि कही है ॥५५६॥

आगे आचार्य शिक्षा देते हैं कि इस प्रकारके अप्रशस्त देशोंमें आलोचना नहीं करनी चाहिए—

गा०—जहाँ वृक्ष पत्ररहित हो, कष्टक भरे हो, वज्रपात हुआ हो, सूखे वृक्ष हों, कटुक रसवाले हों, दायानलसे जल गये हों तथा शून्य घर, रुद्रदेवका मन्दिर, पत्थरो और ईंटोंका ढेर हो ॥५५७॥

गा०—तृण, पत्र और काष्ठसे भरा स्थान, स्मशान, जहाँ टूटे पात्र और लण्डहर हों, चामुष्ठा आदि रौद्र देवताओंका स्थान, नीचजनकोंका स्थान ॥५५८॥

गा०—अन्य भी जो इस प्रकारके अप्रशस्त स्थान हों, वहाँ आचार्य उस क्षपककी निवि-
धताके लिए आलोचना नहीं कराते, क्योंकि इन स्थानोंमें आलोचना करनेपर प्रारब्ध कार्यकी सिद्धि नहीं होती ऐसा वे मानते हैं ॥५५९॥

कव लहि आलोचनां प्रतीच्छतीत्यन्वाह—

अरहंतसिद्धसागरपउमसरं क्षीरपुष्पफलभरियं ।

उज्जाणभवनतोरणप्रासादं नागजकक्षरं ॥५६०॥

‘अरहंतसिद्धसागरपउमसरं’ अर्हद्भिः सिद्धैश्च साहचर्यास्थानं अर्हत्सिद्धशब्दाभ्यामिह गृहीतं । अर्हत्सिद्धप्रतिमासाहचर्याद्वा । सागरादिसमीपं स्थानं साभीप्यास्तागरादिवाम्बेनोच्यते । ‘क्षीरपुष्पफलभरियं’ क्षीरपुष्पफलभरितत्तत्सामीप्यात् स्थानं क्षीरपुष्पफलभरितमित्युच्यते । ‘उज्जाणभवनतोरणप्रासादं’ उद्यानभवनं, तोरणं, प्रासादः । ‘नागजकक्षरं’ नागानां यक्षाणां च गृहं ॥५६०॥

अण्णं च एवमादिय सुपसत्थं हवइ जं ठाणं ।

आलोयणं पडिच्छदि तत्थ गणी से आवेग्गत्थं ॥५६१॥

सूरिरेवं स्थित्वा आलोचना प्रतिगुह्यतीति कथयति—

पाचीणोदीचिमुहो आयदणमुहो व सुहणिसण्णो हु ।

आलोयणं पडिच्छदि एको एकस्स विरहाम्म ॥५६२॥

‘पाचीणोदीचिमुहो आयदणमुहो व’ । प्राङ्मुखः उदङ्मुखः । आयतनशब्दं स्थानसामान्यवचनोऽपि जिनप्रतिमास्थानवाच्यत्र गृहीतस्तेन जिनायतनामित्युक्तो वा । ‘सुहणिसण्णो हु’ सुखेनासीनः । ‘आलोयणं’ आलोचना । ‘पडिच्छदि’ भृशोति । ‘एक्को’ एक एव सूरिरेकस्यैवालोचना । ‘विरहाम्मि’ एकान्ते । तिमिरापसारणपरस्य घर्मरश्मेरुदयदिगिति उदयार्थो तद्वदन्तकार्याभ्युदयो यथा स्यादिति लोकः प्राङ्मुखो भवति । सूरैस्तु

तब कहाँ आलोचना स्वीकार करते हैं । यह कहते हैं—

गा०—टी०—यहाँ अरहंत और सिद्ध शब्दसे अर्हन्तो और सिद्धोके साहचर्यसे युक्त अथवा अर्हन्त और सिद्धोकी प्रतिमाके साहचर्यसे युक्त स्थान लिया गया है । सागर आदि शब्दसे सागर आदिके समीपका स्थान लिया गया है । क्षीर, पुष्प और फलोंसे भरे वृक्षोके समीप होनेसे स्थानको ‘क्षीर पुष्पफल भरित’ कहा है । अतः अरहंतका मन्दिर, सिद्धोका मन्दिर, समुद्रके समीप, कमलोंके सरोवरके समीप, या जहाँ दूध वाले वृक्ष हों, पुष्पफलोंसे भरे वृक्ष हों, उद्यानमे स्थित भवन हो, तोरण, प्रासाद, नागो और यक्षोंके स्थान ॥५६०॥

गा०—अन्य भी जो सुन्दर स्थान हों वहाँ आचार्य अपककी निविघ्न समाधिके लिए आलोचना स्वीकार करते हैं ॥५६१॥

आगे कहते हैं कि आचार्य इस प्रकार स्थित होकर आलोचना ग्रहण करते हैं—

गा०—पूरबकी ओर अथवा उत्तरकी ओर अथवा जिनमन्दिरकी ओर मुख करके मुख-पूर्वक बैठकर आचार्य एकान्त स्थानमें अकेले ही एक ही क्षपककी आलोचना सुनते हैं ।

टी०—गाथामें आया आयतन शब्द यद्यपि स्थान सामान्यका वाची है फिर भी यहाँ जिन प्रतिमाके स्थानका वाची ग्रहण किया है ।

शङ्का—पूरब दिशा अन्धकारकी दूर करनेमें तटर सूर्यके उदयकी दिशा है इसलिए अपने उदयका इच्छुक व्यक्ति उसीकी तरह हमारे कार्यका अभ्युदय हो इसलिए पूरबकी ओर मुख

कोऽभिप्रायो येन प्राह्युषो भवति । प्रारम्भपरानुग्रहणकार्यसिद्धेरङ्गं तद्दिग्भिमुखता तिथिवारादिवविति । उदङ्मुखता तु स्वयंभवादितीर्थकृतो विदेहस्थान् वेतसि कृत्वा तदभिमुखतया कार्यसिद्धिरिति । चैत्यायतनाभि-
मुखताऽपि शुभपरिणामतया कार्यसिद्धेरङ्गं । निव्याकुलमातीनस्य यत् ध्वर्षणं तदालोचयितुं सम्माननं । यथा कर्षच्छ्रवणे मयि अनादरो गुरोरिति नीत्साहं परस्य स्यात् । एक एव श्रुणुयात्सूरिलज्जापरो बहूनां मध्ये नात्मबोधं प्रकटयितुमीहते । चित्तखेदवशास्य भवति, तथा कथयतः एकस्यैवालोचनां श्रुणुयात् दुरवधारत्वा-
द्युपपन्नेकवचनसंदर्भस्य । तद्दोषनिग्रहं नायं वराकः 'पश्च्छब्धिः' । प्रतीच्छति इत्यनेनैवावगतत्वाद्दिरह्मिम् इति वचन निरर्थकं । यद्यप्येऽपि तत्र स्मृतं एकेनैव श्रुतं स्यात् । न लज्जत्ययमस्य अपराधवशास्य अनेनावगत एवेति नान्यस्य सकाशे श्रुणुयात् इति एतस्सूच्यते । 'विरह्मिम्' एकान्ते इति आचार्यसिंहति ॥५६२॥

शिष्यस्य आलोचनाक्रममाचष्टे—

काऊण य किरियम्मं पडिलेहणमंजलीकरणसुद्धो ।

आलोएदि सुविहिंदो सव्वे दोसे पमोत्तूण ॥५६३॥

'काऊण य किरिकम्मं' कृतिकर्म वन्दना पूर्व कृत्वा । 'पडिलेहणमंजलीकरणसुद्धो' प्रतिलेखनासहितः

करता है । आचार्य किस अभिप्रायसे पूरवकी ओर मुख करके बैठते हैं ?

समाधान—शुभ तिथि वार आदिकी तरह पूरवकी ओर मुख करना, प्रारम्भ किए गये क्षपक पर अनुग्रह करनेके कार्यकी सिद्धिका अंग है इसलिए आचार्य पूर्वाभिमुख बैठते हैं । विदेह क्षेत्र उत्तर दिशामे है । अतः विदेह क्षेत्रमे स्थित स्वयंप्रभ आदि तीर्थ करोंको चित्तमे स्थापित करके उनके अभिमुख होनेसे कार्यकी सिद्धि होती है इस भावनासे उत्तर दिशाकी ओर मुख करते हैं । जिनालयके अभिमुख होना भी शुभ परिणामरूप होनेसे कार्यसिद्धिका अंग है । व्याकुलता रहित हो बैठकर सुनना आलोचना करने वालेका सम्मान है । जिस किसी प्रकारसे सुननेपर क्षपक समझेगा कि गुरुका मेरे प्रति आदरभाव नहीं है, इससे उसे उत्साह नहीं होगा । आचार्यको अकेले ही सुनना चाहिए क्योंकि लज्जालु क्षपक बहुत जनोके बीचमे अपना दोष प्रकट करना नहीं पसन्द करता । सबके सामने कहते हुए उसके चित्तको खेद भी होना है । आचार्यको एक समयमें एककी ही आलोचना सुनना चाहिए क्योंकि एक साथ अनेक क्षपकोके वचनोंको अवधारण करना कठिन होता है । लोग कहेंगे कि गुरु इसके दोषोका निग्रह करना नहीं चाहता ।

शंका—उक्त कथनसे ही यह ज्ञान हो जाता है कि गुरु एकाकी आलोचना मुनते हैं । फिर गायामें 'विरह्मिम्' वचन निरर्थक है ?

समाधान—'विरह्मिम्' या 'एकान्तमे' पदसे यह सूचित किया हे यदि अन्य भी वहाँ हों तो वह एकके द्वारा ही सुना गया नहीं होगा । सुनने वाले कहेंगे कि यह लज्जित नहीं होता । इसने इसका अपराध जान ही लिया । अतः अन्यके पास होते हुए आचार्यको आलोचना नहीं सुनना चाहिए ॥५६२॥

क्षपककी आलोचनाका क्रम कहते हैं—

प्राञ्जलीकरणमुद्यः । 'आत्मोष्धि' कथयति । 'सुविहितो' सुचारित्रः । 'सम्बे दोषे' पूर्वदोषान् । 'पयोत्सूय' त्यक्त्वा । आलोचना ॥५६३॥

आलोचनाक्रमं निरूप्य गुणदोषा इत्येतद्व्याख्यानायोत्तरप्रबन्धः—

आकांपिय अणुमाणिय जं दिहुं चादरं च सुहुमं च ।

छण्णं सहाडलयं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी ॥५६४॥

'आकांपिय' अनुकम्पामात्मनि सम्पाद्य आलोचना । 'अणुमाणिय' गुरोरभिप्रायमुपायेन ज्ञात्वालोचना । 'जं दिहुं' यद् दृष्टं दोषजातं परैस्तस्यालोचना । 'चादरं च' यत्सूक्ष्मतिचारजातं तस्यालोचना । 'सुहुमं च' यत्सूक्ष्ममतिचारजातं तस्यालोचना । 'छण्णं' प्रच्छन्नं अदृष्टलोचना । 'सहाडलयं' शब्दा आकुला यस्या आलोचनाया सा शब्दाकुला । बहुजनशब्दः सामान्यविषयोऽपीह गुरुजनबाहुल्यं वर्तते । गुरोरालोचनायाः प्रस्तुतत्वाद्बहूना गुरुणां आलोचना क्रियते सा बहुजनशब्देनोच्यते । 'अव्वत्त' अव्यक्तस्य क्रियमाणा आलोचना । 'तस्सेवी' तानात्मचरितान्दोषान्यः सेवते स तस्सेवी तस्य आलोचना । इदं सूत्रं । अस्य व्याख्यानायोत्तरप्रबन्धः ॥५६४॥

आकम्पिय इत्येतत्सूत्रपदं व्याचष्टे—

भक्तेण व पाणेण व उदकरणेण किरियकम्मकरणेण ।

अणुकपेऊण गणि करेइ आलोयणं कोइ ॥५६५॥

'भक्तेण व पाणेण व' स्वयं भिक्षालम्बिसमन्वितत्वात्प्रवर्तको भूत्वा आचार्यस्य प्रासुकेन उद्गमादिवोप-

गा०—सुविहित अर्थात् सुचारित्र सम्पन्न क्षपक दक्षिण पार्श्वमें पीछीके साथ हाथोंकी अंजलिकी मस्तकसे लगाकर मन वचन कायकी शुद्धि पूर्वक प्रथम गुरुकी वन्दना करके सब दोषोंकी त्याग आलोचना करता है ॥५६३॥

विशेषार्थं—पं० आशाधरजीने अपनी टीकामें लिखा है कि गुरुकी वन्दना सिद्धभक्ति और योगभक्तिपूर्वक की जाती है ऐसा बूद्धोंका मत है । किन्तु श्रीचन्द्राचार्य सिद्ध भक्ति, चारित्र-भक्ति और शान्तिभक्ति पूर्वक कहते हैं ॥५६३॥

आलोचनाका क्रम कहकर उसके गुण-दोष कहने हैं—

गा०-टी०-१ आकम्पित-अपने पर गुरुकी दृषा प्राप्त करके आलोचना करना । २ अनुमानित-उपायसे गुनका अभिप्राय जानकर आलोचना करना । ३. दूसरोंने जो दोष देखा उसकी आलोचना करना । ४ चादर-स्थूल अतिचारकी आलोचना करना । ५ सूदम अतिचारकी आलोचना करना । ६ छन्न-कोई न देखे इस प्रकार आलोचना करना । ७ शब्दाकुलित-शब्दोंकी भरमार होते समय आलोचना करना । ८ बहुजन शब्द सामान्य वाची होते हुए भी यहाँ गुरु-जनोंकी बहुलतामें लिया गया है । गुरुसे आलोचना करनेका प्रकरण होनेसे बहुतसे गुरुओंसे आलोचना करना बहुजन है । ९ अव्यक्तसे आलोचना करना । १० तस्सेवी-जो अपने समान दोषोंका भागी है उससे आलोचना करना । इसका व्याख्यान आगे करेंगे ॥५६४॥

आकम्पित दोषको कहते हैं—

गा०—स्वयं भिक्षालम्बिसे युक्त होनेके कारण प्रवर्तक होकर आचार्यकी उद्गम आदि

रहितेन भक्तैः वा पानेन वा वैयावृत्यं कृत्वा, उपकरणेण कमण्डलुपिच्छादिना । 'किञ्चिन्मकरध्वजं' कृतिकर्म-
बन्धनया वा । 'आलम्बित्वं' अनुकम्पामुत्पाद्य । 'गर्भ' आचार्य ! 'कोइ आलोचयणं करेइ' कश्चित्त्वापराधं
कथयति ॥५६५॥

तस्यालोचयतो मनोव्यापारं दर्शयति—

आलोइदं असेसं होहिदि काहिदि अणुगगहंमेति ।

इय आलोचतंस्स हु पडमो आलोचनादोसो ॥५६६॥

'आलोइदं असेसं होहिदि' निरवशेषं आलोचितं भविष्यति । 'काहिदि' करिष्यति । 'अणुगगहं इमेति'
अनुग्रहं मेति । भक्त्यादिवानेन कृतोपकारस्य मम तुष्टौ गुह्यं महत्प्रायश्चित्तं प्रयच्छति । अपि तु स्वल्पमेव ।
महत्प्रायश्चित्तवानमयाभावात्सूत्र सूक्ष्मं वाचिचार सर्वं कथयामीति । 'इय' एव । 'आलोचंत्सं खु' एवं
मनसि कृत्वा आलोचयत । 'पडमो' पथमः । 'आलोचना दोसो' आलोचनादोषः । कोऽसौ ? अविनयो नाम ।
यत्किञ्चित्कर्मवा गुरवस्तुष्यन्ति लघुप्रायश्चित्तवायिनो भविष्यन्तीति स्वबुद्ध्या असद्दोषाभ्यारोपणान्मानसोऽ-
विनयः । अन्ये तु वर्णयन्ति आलोचना च दोषश्च आलोचनादोषः । अणुभिसिद्धिपुर सरा आलोचना^२ इति
यावत् ॥५६६॥

दृष्टान्तमुक्तेन दुष्टतामालोचनाया दर्शयति—

केदूण विसं पुरिसो पिण्ज्ज जह कोइ जीविदत्थीओ ।

मण्णंतो हिदमहिदं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५६७॥

'केदूण विसं पुरिसो' इत्यादिना । 'जह कोइ पुरिसो ओविदत्थो विसं केदूण पिण्ज्ज' इति मन्वन्ध ।
यथा कश्चित्पुरुषो जीवितार्थी विष कृत्वा पिबति । 'अहिदं' अहितं कृत्वा । विषपान 'हिदं मण्णतो' हितमिति
दोषोसे रहित प्रासुक भक्तसे अथवा पानसे अथवा कमंडलु पीछी आदि उपकरणसे अथवा कृतिकर्म
वन्दनासे वैयावृत्य करके अपने पर आचार्यकी कृपा उत्पन्न करके कोई साधु अपना अपराध
कहता है ॥५६५॥

उसके आलोचना करते समय मनकी प्रवृत्ति दिखलाते है—

गा०—टी०—भोजन आदिके दानके द्वारा उपकार करनेसे भुञ्जपर प्रसन्न होकर गुरु महान्
प्रायश्चित्त नहीं देंगे, बल्कि थोड़ा ही देंगे । अतः महान् प्रायश्चित्तका भय न होनेसे मैं स्थूल और
सूक्ष्म सब अतिचार करूँगा । इस प्रकार मनमें विचार कर आलोचना करने वालेके अविनय
नामक प्रथम आलोचना दोष होता है । जो कुछ प्राप्त करके गुरु प्रसन्न होंगे और वे लघु प्राय-
श्चित्त देंगे ऐसा अपनी बुद्धिसे अस्तु दोषका अध्यारोपण करना मानसिक अविनय है । अन्य
टाकाकार कहते है—आलोचना और दोष आलोचना दोष है । अशुभ अभिप्रायपूर्वक आलोचना
दोष है ॥५६६॥

दृष्टान्त द्वारा आलोचनाकी दुष्टता दिखलाते है—

गा०—टी०—जैसे कोई जीनेका अभिलाषी पुरुष विष खरीद कर पीता है वह अहित करके

१. अणुगगहं मेति आ० । अणुगगहं मिमांति—मु० मूलार० । २. चना दृष्टान्तमालोचनादपि—
आ० मु० ।

मन्यमानः । 'तथिमा' तथा इयं । 'सत्सुद्धरणसौधी' मायाशक्त्योद्धरणशुद्धिः । सामान्यवचनोऽपि शक्यसन्दोऽत्र मायाशक्त्ये वृत्तः । तस्य उद्धरणं नाम स्वकृतापराधकचनं । आलोचनाशक्त्योद्धरणमेव शुद्धिचक्यते ज्ञानदर्शन-
चारित्र्यतपसां नैर्मल्यहेतुत्वात् । जीवितार्थिनः हितबुद्ध्या गृहीताक्रीडविषयानं उपमानं तद्वर्तीयमालोचना । भक्तपानादिदानेन वन्दनया वा क्रीत्वा गुरु स्वबुद्ध्या क्रियमाणा न शुद्धि सम्पाद्यमति विषयानमिव जीवित^१
क्रयणलब्धा च दुष्टतां उपमानोपमेययोः साधारणो धर्मस्तथाप्युपमानोपमेयं तयोश्च साधारणं धर्ममाश्रित्य सर्वभोपमानोपमेयता । चन्द्रमुखी कन्या इत्यादौ चन्द्र उपमानं, उपमेयं मुखं, वृत्तता सर्वजनमनोवल्लभता च साधारणो धर्मः ॥५६७॥

उपमानान्तरेणापि उपमेयं आलोचनां प्रथयति—

वर्णरसगंधजुषं किंपाकफलं जहा दुहविवागं ।

पच्छा णिच्छयकदुयं तथिमा सत्सुद्धरणसौधी ॥५६८॥

वर्णरस इत्यादि । 'किंपाकफलं वर्णरसगंधजुषतममि जहा दुहविवागं' । किंपाकाश्रयस्य तरोः फलं । वर्णादिशून्यस्य तरोः फलस्या^१भावादवचनसिद्धेर्वर्णादियुक्तवचनमतिशयितवर्णादिपरिग्रहं सूचयति । तेनायमर्थः—नयनप्रियरूपं, मधुरसयुक्तं, घ्राणसुखदं सेवितमिति वाक्यशेषः । 'दुहविवाकं' दुःखविपाकं । 'पच्छा' अनुभवांतरकाल । 'णिच्छयकदुयं' निश्चयेन कटुकं । 'तथिमा' त यथा । 'सत्सुद्धरणसौधी' आलोचनाशुद्धिः ।

विषयानको हित मानता है । वैसा ही यह माया शक्त्यको निकालकर शुद्धिका अभिलाषी साधु है । यद्यपि यहाँ शक्य शब्द सामान्य शक्यका वाची है फिर भी यहाँ मायाशक्त्यका वाचक लिया है । उसका उद्धरण अर्थात् अपने किये अपराधको कहना । शक्यका उद्धरण ही शुद्धि कहा जाता है क्योंकि वह ज्ञान दर्शन और चारित्र्य तपकी निर्मलतामें कारण है । जोनेके अभिलाषीने हितबुद्धिसे ग्रहण किया खरीदे हुए विषयका पान उपमान है । उमीके समान यह आलोचना है । भक्त पान आदि देकर या वन्दनाके द्वारा गुरुको खरीदकर अपनी बुद्धिसे की गई आलोचना शुद्धि नहीं करती जैसे विषयान जीवन नहीं देता । खरीदकर प्राप्त करना और दुष्टता उपमान और उपमेयका साधारण धर्म है । उपमान उपमेय और उन दोषोंमे पाये जाने वाले साधारण धर्मको लेकर सर्वत्र उपमान उपमेय व्यवहार होता है । जैसे 'चन्द्रमुखी कन्या' आदिमे चन्द्र उपमान है मुख उपमेय है । और गोलपना तथा सब लोगोके मनको प्रिय होना दोनोंका साधारण धर्म है ॥५६७॥

अन्य उपमानके द्वारा उपमेय आलोचनाको कहते हैं—

गा०-द्वी०—किंपाक नामक वृक्षका फल वर्णरसगन्धस युक्त होनेपर भी जैसे परिणाममें दुःख देता है । वृक्षका फल वर्ण आदिसे शून्य नहीं होता अतः उसका रूपदिमान होना सिद्ध है । फिर भी जो उसे वर्णादियुक्त कहा है वह विगिष्टरूप रसगन्ध आदिका सूचक है । अतः यह अर्थ होता है—किंपाक वृक्षका फल नेत्रोंको अत्यन्त प्रियरूपवाला होता है । मधुररससे युक्त होता है और नाकको सुखदायक होता है । परन्तु सेवन करनेपर दुःखकारी होता है उसे खानेसे मृत्यु हो जाती है । अतः सेवन करनेके पश्चात् निश्चयसे कटुक होता है । यह आलोचना शुद्धि

१. गृहीता अहिता नील-अ० मु० । २ जीवितविक्रयण लब्ध पान दु-आ० मु० । १. स्या-भावादवचन-आ० ।

किपाकफलोपसेवा उपमानं, उपमेयं आलोचना, दुःखविपाकता साधारणो धर्मः ॥५६८॥

किमिरागकम्बलस्त व सोधी जडुरागवत्थसोधीव ।

अपि सा हवेज्ज किइण्ण इमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५६९॥

'किमिरागकम्बलस्त व' कृमिमुक्ताहारवर्णतन्तुनिरुक्त कंचल. कृमिरागकवलः । 'तस्त सोधी' विशुद्धि-रिव पीतनीलरक्तदीनां अन्यवर्णवर्णस्य शुचलतेव । 'जडुरागवत्थसोधीव' जतुवर्णवस्त्रशुद्धिरिव वा यथासौ क्लेशेन प्रवर्तमानापि न भवत्येवमियमपीति सधर्मता । 'अह्वा' वध वा । 'अपि सा' कृमिरागकम्बलशुद्धिजंग्-रागवस्त्रशुद्धिर्वा 'हवेज्ज' भवेत् । 'इमा इयं सल्लुद्धरणसोधी मायाशल्योद्धरणशुद्धिर्न भवत्येव ॥५६९॥ इति जणुकपिय ।

द्वितीयमालोचनादोषमाचष्टे—

धीरपुरिसचिण्णाइं पवददि अदिधम्मिओ व सन्वाइं ।

धण्णा ते भगवंता कुब्बन्ति तवं विकट्ठं जे ॥५७०॥

'धीरपुरिसचिण्णाइं' धीरेः पुरुषराचरितानि । 'पवददि' प्रवदति । 'अदिधम्मिओ व' अतीव धार्मिक इव । 'सन्वाइं' सर्वाणि । 'धण्णा' धन्याः पुण्यवन्तः । 'ते भगवंता' महात्म्यवन्तः । 'जे' ये । 'कुब्बन्ति' कुर्वन्ति । 'तवं' तपः । 'विकट्ठं' उत्कृष्टं इति वदति ॥५७०॥

भी उसीके समान है । यहाँ किपाकफलका सेवन उपमान है । आलोचना उपमेय है । परिणाममें दुःख होना दोनोंका साधारण धर्म है ॥५६८॥

गा०—टी०—कीडोंके द्वारा खाये गये आहारके रंगमें रगे धागांसि बने कम्बलको कृमिराग कम्बल कहते हैं । उसकी विशुद्धिकी तरह, जैसे पीला-नीला-लाल आदिमेंसे कोई एकवर्ण सफेद नहीं होता उसकी तरह कृमिराग कम्बलकी विशुद्धि नहीं होती । अथवा लाखके रगमें रगे वस्त्रकी शुद्धि बहुत प्रयत्न करनेपर भी नहीं होती । उसी तरह मायाशल्ययुक्त आलोचनासे भी शुद्धि नहीं होती । अथवा कृमिराग कम्बलकी शुद्धि और लाखके रगमें रगे वस्त्रकी शुद्धि ही भी जावे किन्तु यह मायाशल्यके निकलनेरूप शुद्धि नहीं होती ॥५६९॥

विशेषार्थ—पं० आशाधरजीने अपनी टीकामें कृमिराग कम्बलकी कई व्याख्या दी हैं एक तो उक्त संस्कृत टीका विजयोदया की है । दूसरी टिप्पण की है—कृमिके द्वारा त्यागे गये रक्त आहारसे रजित तन्तुओंसे बना कम्बल कृमिरागकम्बल है । तीसरी व्याख्या प्राकृतटीका की है । उसमें कहा है—उत्तरापथमें चर्मरंग (?) म्लेच्छ देशमें म्लेच्छ जोकोंके द्वारा मनुष्यका रक्त लेकर बरतनोंमें रखते हैं । उस रक्तमें कुछ दिनोंमें कृमि उत्पन्न हो जाते हैं तब उससे धागोंको रंगकर कम्बल बुनते हैं । उसे कृमिरागकम्बल कहते हैं । वह अत्यन्त लाल रंगका होता है । आगमें जलानेपर भी वह कृमिराग नहीं जाता ।

दूसरे आलोचना दोषको कहते हैं—

गा०—आलोचना करनेवाला मुनि अत्यन्त धार्मिककी तरह कहता है—धीर पुरुषोंके द्वारा आचरित उत्कृष्ट तपको जो करते हैं वे धन्य हैं, महात्म्यशाली हैं ॥५७०॥

यामासहारपासत्त्वदाय सुहृसीलदाय देहेसु ।

वददि णिहीणो हु अहं जं ण समत्थो अणसणस्स ॥५७१॥

'यामासहारपासत्त्वदाय' बलनिमूहनेन पादर्वस्वतया च । 'सुहृसीलदाय च' सुखशीलतया च । 'तयो' ततः । 'तो' सः । 'वददि' कथयति । 'णिहीणो' जवन्यः । 'अहं' अहम् । 'जं' यस्मात् । 'ण समत्थो' अस्मत्समाप्तः । 'अणसणस्स' अनसन्स्य ॥५७१॥

आणह य मज्झ थामं अंगाणं दुब्बलदा अणारोगं ।

णेव समत्थोमि अहं तवं विकट्टं पि काहुं जे ॥५७२॥

'आणह य' अस्सद्वल युष्मानिरवसितमेव । 'अंगाणं दुब्बलदा' उदरान्निदोर्बल्यं । 'अणारोगं' रोगवत्तां च । 'अहं तवं विकट्टं काहुं' णेव समत्थोमि' अहं तप उत्कृष्टं कर्तुं नैव समर्थोऽस्मि ॥५७२॥

आलोचेमि य सत्त्वं जइ मे पच्छा अणुग्गहं कुणह ।

तुज्झ सिरिए इच्छं सोधी जह णिच्छरेज्जामि ॥५७३॥

'आलोचेमि य सत्त्वं' सर्वमेतिचारजातं आलोचयामि । 'अदि पच्छा अणुग्गहं कुणह' मम यदि पश्चादनुग्रहः क्रियते भवद्दिभः । 'तुज्झ सिरिए' भवतां प्रिया । 'इच्छं' इच्छामि । 'सोधी' मुद्धि । 'णिच्छरेज्जामि' निस्तारयिष्याम्यात्मानं ॥५७३॥

अणुमाणेदूणं गुरुं एवं आलोचणं तदो पच्छा ।

कुणइ ससत्त्लं सो से विदिओ आलोयणा दोसो ॥५७४॥

'एवं अणुमाणेदूणं' एवं अनुमानेन ज्ञात्वा । गुरुः प्रापितः करिष्यति स्वल्पप्रायश्चित्तदानेन ममानुग्रहं इति । 'पच्छा आलोचणं कुणइ' पश्चादालोचनां करोति । 'ससत्त्लं' शल्पसहितः । 'तो' सः । 'से' तस्य । 'विदिओ' द्वितीय 'आलोचनादोषो' आलोचनादोषः ॥५७४॥

गुणकारि ओत्ति भुंजइ जहा सुहृथी अपच्छमाहारं ।

पच्छा विवायकहुगं तधिमा सन्नुद्धरणसोधी ॥५७५॥

गा०—अपनी शक्तिको छिपाने, पार्श्वस्थ मुनि होने तथा शरीरमें सुखशील होनेसे वह कहता है—मैं तो एक जघन्य प्राणी हूँ, उपवास करनेमें असमर्थ हूँ ॥५७५॥

गा०—आप मेरे बलको जानते ही हैं । यह भी जानते हैं कि मेरी उदरान्नि दुर्बल है, मैं रोगी हूँ । अतः मैं उत्कृष्ट तप करनेमें असमर्थ हूँ ॥५७५॥

गा०—मैं समस्त अतिचारोंकी आलोचना करूँ यदि आप उन्हें सुनकर मुझपर कृपा करें अर्थात् लघु प्रायश्चित्त दें । मैं आपकी कृपासे शुद्ध होना चाहता हूँ और शुद्ध होकर अपना निस्तार करूँगा ॥५७५॥

गा०—प्रार्थना करनेपर लघु प्रायश्चित्त देकर गुरु मेरेपर अनुग्रह करेंगे, ऐसा अनुमानसे जानकर पीछे वह शल्पसहित आलोचना करता है । यह दूसरा आलोचना दोष है ॥५७५॥

'गुणकारिणीति शु' बह' गुणमुपकारं करोति इति बुद्धते । 'अहा सुहृत्वी' यथा सुखार्थी । 'अपण्डनाहार' अपथ्यमाहारं । कीदृग्भूतं 'पञ्चाधिकालकनुमं' भोजनोत्तरकालं विपाककटुकं । 'तथिमा' तथा इमाः । 'सल्लुद्धरणसोधी' शाल्योद्धरणशुद्धिं अपथ्यमाहारं स्वबुद्ध्या गुणकारीति संकल्प्य यदि नाम भुङ्क्ते तथापि विपाककटुक एवासी । एवं शुर्षभिप्रायानुमानेन प्रवृत्ता हितबुद्ध्या गृहीताप्यालोचना अनर्थविहेति । न हि संकल्पवशाद्बहुतोऽप्यथाभावः । मापथ्यस्याहारस्य पथ्यतास्ति संकल्पमात्रेण । अणुमाणिय ॥५७५॥

जं होदि अणदिदं तं आलोचेदि गुरुसयासम्मि ।

अदिदं गृहंतो माइल्लो होदि णायव्वो ॥५७६॥

'जं अणदिदं होदि' यदन्यदुष्टं भवति अपराधजात । 'तं आलोचेदि' कथयति । 'गुरुसयासंमि' गुरुसमीपे । 'अदिदं' परेदृष्टं । 'गृहंतो' प्रच्छावयन् । 'माइल्लो इति णायव्वो होदि' मायावानिति ज्ञातव्यो भवति ॥५७६॥

दिदं व अदिदं वा जदि ण कहेइ परमेण विणएण ।

आयरियपायमूले तदिओ आलोयणादोसो ॥५७७॥

'दिदं व अदिदं वा' परेदृष्टमदृष्टं वापराधं । 'परमेण विणएण जदि ण कहेइ' प्रकृष्टेन विनयेन यदि न कथयेत् । एव 'आयरियपायमूले' आचार्यपादमूले । 'तदिओ आलोयणादोसो' तृतीय आलोचनादोषः ॥५७७॥

जह वालुयाए अबडो पूरदि उक्कीरमाणओ चेव ।

तह कम्मदाणकरी इमा हु सल्लुद्धरणसुद्धी ॥५७८॥

'जह वालुयाए' यथा वालुकाभिः । 'पूरदि' पूर्यते । 'अबडो' बालुकामध्यकृतो गर्तः । 'उक्कीरमाणओ चेव' उत्कीर्यमाणोऽपि सन् । 'तह कम्मदाणकरी' तथा कर्मपहणकारिणी । 'इमा सल्लुद्धरणसोधी' इयमालो-

णा०—जैसे सुखका इच्छुक पुरुष अपथ्य भोजनको अपनी बुद्धिसे गुणकारी मानकर खाता है तथापि भोजन करनेके पश्चात् उसका परिपाक दुःखदायी होता है । उसीके समान यह अनुमानित दोषसहित शाल्यको दूर करके शुद्धि करनेवाला है । अर्थात् अनुमानसे गुरुके अभिप्रायको जानकर हितबुद्धिसे की गई भी आलोचना अनर्थकारी होती है । संकल्पसे वस्तुका अन्यथाभाव नहीं होता । संकल्पमात्रसे अपथ्य आहार पथ्य नहीं हो सकता ॥५७५॥

अनुमानित दोषका कथन हुआ ।

णा०—जो अपराध दूसरे ने देख लिया है, गुरुके पासमें उसकी आलोचना करता है । और जो अपराध दूसरोंने नहीं देखा है उसे छिपाता है । वह मायावी है ऐसा जानना ॥५७६॥

णा०—दूसरेके द्वारा देखे गये अथवा न देखे गये, अपराधको यदि आचार्यके पादमूलमें अत्यन्त विनयपूर्वक नहीं कहता तो यह तीसरा आलोचना दोष है ॥५७७॥

णा०—जैसे रेतके मध्यमें गढ़ा खोदने पर वह गढ़ा खोदते खोदते ही रेतसे भर जाता है,

१. प्रवृत्तः षा०, प्रवृत्तो मु० । प्रवृत्तहित—मूला० ।

चनास्या शुद्धिः । मायाशल्यनिराकरणार्थमालोचनायां प्रवृत्तोऽप्यया माययात्मानं प्रच्छादयति । यथा बालुका-
विसेपो गर्तसंस्कारार्थं बालुकाभिरापुरयति वर्तमिति ॥५७८॥

बादरमालोचैतो जचो जचो वदाजो पडिअम्भो ।

सुहुमं पच्छादेंतो जिणवयणपरंमुहो होइ ॥५७९॥

'बादरमालोचैतो' । अत्रैवं पदसम्बन्धः, 'अतो जतो वदामो पडिअम्भो' यस्मात्तस्मात्प्रतात्प्रतिभन्तः ।
तत्र 'बादरं मालोचैतो' स्थूलं कथयन् । 'सुहुमं पच्छादेंतो' सूक्ष्मदोषं प्रच्छादयन् । 'जिणवयणपरंमुहो होइ'
जिनवचनपरामुखो भवति ॥५७९॥

सुहुमं व बादरं वा जइ ण कहेज्ज विणएण सुगुरुणं ।

आलोचनाए दोसो एसो हु चउत्थजो होदि ॥५८०॥

स्थूलस्य सूक्ष्मस्य वातिचारजातस्थानालोचना चतुर्थो दोषः इति 'सुहुमं व' इत्यस्यार्थः ॥५८०॥

जह कंसियभिगारो अंतो णीलमइलो बहिं चोक्खो ।

अंतो ससल्लदोसा तथिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५८१॥

बादरं ॥५८॥ 'अह कंसियभिगारो' यथा कांस्यरचितो मृङ्गारः । 'अंतो अम्यन्तरे । 'णीलमइलो'
नीलः सन्मलिनः । 'बहिं चोक्खो' बहिः शुद्धः । 'अंतो सल्लदोसा' अन्तः सशल्यदोषा इमालोचना
शुद्धि ॥५८१॥

चंकमणे य द्वाणे णिसेज्जउवट्ठणे य सयणे य ।

उल्लाभाससरक्खे य गम्भिणी बालवत्थाए ॥५८२॥

'चंकमणे' अवस्थायवहलेन यथा व्याकुलितचित्तो मनागीर्यायामनुपयुक्तो गतवान् । 'ठाणे णिसेज्ज
उवट्ठणे य सयणे य' प्रमार्जनमकृत्वा स्वान्, निपट्टा, शय्या च कृता । 'उल्लाभाससरक्खे य' 'आर्द्रांशाधिक

उसी प्रकार यह आलोचना शुद्धि कर्मको लाने वाली है इससे नवीन कर्मोंका बन्ध होता है ।
आशय यह है कि मायाशल्यके दूर करनेके लिए साधु आलोचना करता हुआ भी अन्य मायासे
अपनेको आच्छादित करता है । जैसे गढा बनानेके लिए उसमेसे रेत निकाली जाती है किन्तु
उसमें धीर रेत भर जाती है ॥५७८॥

शा०—जिन-जिन व्रतोंमें जो दोष लगे हों उनमेंसे जो साधु स्थूल दोषोंकी तो आलोचना
करता है और सूक्ष्म दोषोंको छिपाता है वह साधु जिनागमसे विमुख होता है ॥५७९॥

शा०—यदि साधु विनयपूर्वक सुगुस्से सूक्ष्म अथवा बादर दोषको नहीं कहता तो यह
आलोचनाका चतुर्थ दोष है ॥५८०॥

शा०—जैसे कसिका बना भुगार अन्दरसे नीला और मलिन होता है तथा बाहरसे स्वच्छ
होता है वैसे ही यह आलोचना शुद्धि मायाशल्य दोषसे युक्त होती है ॥५८१॥

शा०—टी०—साधु गुस्से निवेदन करता है—ओससे भीगे हुए मागसे ईर्यासमितिकी ओर
ध्यान न रखते हुए मैं चला था । उस समय मेरा चित्त व्याकुल था । या प्रतिलेखना किए विना

स्पृष्टं । 'सरस्वती च' सचित्तब्रह्मसहितो स्थाने स्थितं सुप्तमासितं वा । 'गविमयी' गमिष्या । 'बालकत्वाए' बालकत्वत्वा वा । वीर्यमार्त्तं गृहीतं इति ॥५८२॥

इय जो दोसं लघुगं समालोचेदि गृह्दे थूलं ।

भयमयमायाहृदजो जिणवयणपरंमुहो होदि ॥५८३॥

'इय' एवं । 'जो' यः । 'दोसं' अतिघातं । कीदृग्भूतं ? 'लघुगं' स्वल्पं । 'आलोचेदि' कथयति । 'किञ्चिद्गृह्दि' विनिर्गृहयति । कि ? 'थूलं' स्थूलं । 'भयमयमायाहृदजो' भयमयमायासहितचित्तः । महतो दोषान्यदि अवीमि महत्प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्तीति भयं, त्यजन्ति मामिति वा । वृथा निरतिचारचरित्रसर्वसमानभङ्गासहः स्थूलान्न सकनोति वक्तुं । कश्चित्प्रकृत्यैव मायावी सोऽपि न नियदति । 'जिणवयणपरंमुहो होदि' जिनवचनपराङ्मुखो भवति ॥५८३॥

सुहुमं व बादरं वा जइ ण कहेज्ज विणएण स गुरुणं ।

आलायणाए दोसी पंचमओ गुरुसयासे से ॥५८४॥

मायाशाल्यत्यागस्य जिनवचनोपदणितस्य अकरणात् प्रसिद्धार्था ॥५८४॥

उत्तर गाथा—

रसपीदयं व कडयं अहवा कवडुकडं जहा कडयं ।

अहवा जदुपूरिदयं तथिमा सन्लुद्धरणसोषी ॥५८५॥

'रसपीदयं व कडयं' रसोपलेमान्मनाम्बहि पीतवर्णकटकमिव । 'अहवा कवडुत्तरं' तनुमुवर्णपत्राच्छादितमिव वा अन्तर्निस्तार । 'अथवा जदुपूरिदयं' अन्तर्निच्छद्र जनुपूरणकटकमिव । पीतता र्म्योपलिप्तस्य यथा तथात्वा शुद्धिरिति प्रथमो दृष्टान्त । गुस्तरपापप्रच्छादनमानताप्रकाशनाय द्वितीयो दृष्टान्त । गुस्तरमे बैठो, या सोया या खड़ा हुआ । या जलादिसे मेने शरीरको छुआ । या मज्जित धूलमे सहित स्थानमें मैं खड़ा हुआ या बैठो या सोया । अथवा आठ आदि मासका गर्भ धारण करने वाली या जिसे प्रसव किए एक माह भी नहीं बीता था ऐसी स्त्रीमे मेने आठार ग्रहण किया ॥५८२॥

गा०—इस प्रकार जो अपने सूक्ष्म दोषको कहता है और भय, मद, माया सहित चित्त होनेसे स्थूल दोषको छिपाता है । यदि मे महान् दोष कहना हूँ तो गुरु मुझ महान् प्रायश्चित्त देंगे या मुझे त्याग देंगे यह भय है । मेरा चारित्र्य निरतिचार है ऐसा गर्व करके स्थूल दोषको नहीं कहता ।

कोई स्वभावसे ही मायावी होनेसे अपने दोषोंको नहीं कहता । ऐसा करने वाला माघु जिनागमसे विमुख होता है ॥५८३॥

गा०—यदि साधु विनयपूर्वक गुरुके सामने सूक्ष्म अथवा स्थूल दोषको नहीं कहता तो यह आलोचनाका पाँचवाँ दोष है क्योंकि उसने जिनागममें कहा मायाशाल्यका त्याग नहीं किया ॥५८४॥

गा०—टी०—जैसे सोनेके रसके लेपसे लोहेका कड़ा बाहरसे पीला दिखाई देता है । अथवा जैसे सोनेके पतले पत्रसे ढका लोहेका कड़ा अन्दरसे निःसार होता है । अथवा लाखसे भरा कड़ा जैसा होता है उन्हीके समान यह आलोचना शुद्धि है । यहाँ तीन दृष्टान्तोंके द्वारा सूक्ष्म दोषको आलोचनाकी निन्दा की गई है । जैसे सोनेके रससे लिप्त कड़ा ऊपरसे पीला होता है उसी प्रकार

मयःप्रभृति निस्सारं वस्तु बाह्ये तु सुवर्णसकलैः प्रच्छादितं यथा तथा स्वल्पानपराधान्कथयति । पापभोक्ता-
प्रकर्षाद्यर्थं मुनिरित्थं संयतः कथं महत्यतिचारे प्रवर्तत इति प्रत्ययजननाय अंतःसाररहितत्वा तृतीयेनोच्यते ।
सुद्धं ॥५८५॥

जदि मूलगुणे उत्तरगुणे य कस्सइ विराहणा होज्ज ।

पढमे विदिए तदिए चउत्थए पंचमे च वदे ॥५८६॥

यदि मूलगुणे उत्तरगुणे च कस्यचिद्विषये मूलगुणे, चारित्र्ये, तपसि वा अनशनादावुत्तरगुणे अतिचारो
भवेत् । अहिंसादिके व्रते ॥५८६॥

को तस्स दिज्जइ तवो केण उवाएण वा हवदि सुद्धो ।

इय पच्छण्णं पुच्छदि पायच्छिचं करिस्सत्ति ॥५८७॥

'को तस्स विज्जइ तवो' कि तस्मिं वीयते तपः ? 'केण उवाएण होवि वा सुद्धो' केनोपायेन वा सुद्धो
भवतीति । 'पच्छण्णं' प्रच्छन्नं । 'पुच्छदि' पूच्छति । आत्मानमुद्दिश्य मयायमपराधः कृतस्तस्य किं प्रायश्चित्तं
इति न पूच्छति । किमर्थमेवं प्रच्छन्नं पूच्छति । ज्ञात्वा प्रायश्चित्तं करिस्सति करिष्यामि ॥५८७॥

इय पच्छण्णं पुच्छिय साधु जो कुणइ अप्पणो सुद्धि ।

तो सो जिणेहिं वुत्तो छट्ठो आलोयणा दोसो ॥५८८॥

'इय' एव । 'पच्छण्णं' प्रच्छन्नं । 'पुच्छिय' पूच्छ्वा । 'जो साधु' यः साधु । 'अप्पणो सोधि कुणदि'
आत्मनः शुद्धिं करोति । 'सो छट्ठो आलोयणा दोसो वुत्तो जिणेहिं' । षष्ठोऽज्ञाबालोचनादोषस्तस्य भवतीति
विनिश्चयः ॥५८८॥

अल्प शुद्धि होती है यह प्रथम दृष्टान्तका भाव है । गुरुतर पापको ढाँकने मात्रको प्रकट करनेके
लिए दूसरा दृष्टान्त है । भारी लोहा वगैरह वस्तु निस्सार होती है, बाहरमें उसे सोनेके पत्रसे जैसे
ढाक देते हैं उसी प्रकार वह सूक्ष्म अपराधोंको कहता है । ऐसा वह यह विश्वास उत्पन्न करनेके
लिए करता है कि गुरु समझे कि यह मुनि पापसे इतना भयभीत है कि सूक्ष्म पापको भी नहीं
छिपाता तब बड़ा पाप कैसे कर सकता है ? तीसरे दृष्टान्तके द्वारा इसे अन्तःसार रहित कहा
है ॥५८९॥

शा०—यदि किसीके मूलगुण चारित्र्य अथवा उत्तर गुण अनशन आदि तपमें या अहिंसा,
सत्य, अर्थाय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग व्रतमें अतिचार लग जाये ॥५८६॥

शा०—तो उसे कौन सा तप दिया जाता है ? वह किस उपायसे शुद्ध होता है ? ऐसा
प्रच्छन्न रूपसे पूछता है । अर्थात् अपनेको लक्ष करके कि मुझसे यह अपराध हुआ है उसका क्या
प्रायश्चित्त है ऐसा नहीं पूछता । किन्तु यह जानकर प्रायश्चित्त करूँगा इस भावसे पूछता
है ॥५८७॥

शा०—इस प्रकार प्रच्छन्नरूपसे पूछकर जो साधु अपनी शुद्धि करता है उसको छठ
आलोचना दोष होता है ऐसा जिनदेवने कहा है ॥५८८॥

घादो हवेज्ज अण्णो जदि अण्णम्मि जिमिदाम्म संतम्मि ।

तो परववदेसकदा सोधी अण्णं विसोथेज्ज ॥५८९॥

'घादो हवेज्ज अण्णो' तृप्तो भवेदन्य । 'जदि अण्णम्मि जिमिदम्मि संतम्मि' यद्यन्यस्मिन्मूकत्वति सति । 'तो' ततः । 'परववदेसकदा सोधी' परव्यपदेशकृता शुद्धि । 'अण्णं विसोथेज्ज' अन्य विशोधयते ॥५८९॥

तवसंजमम्मि अण्णेण क्कदे जदि सुग्गदि लहदि अण्णो ।

तो परववदेसकदा सोधी सोधिज्ज अण्णं पि ॥५९०॥

स्पष्टोत्तरा गाथा ।

भयतण्हादो उदयं इच्छइ चंदपरिवेसणा कूरं ।

जो सो इच्छइ सोधी अकहंतो अप्पणो दोसे ॥५९१॥

'भयतण्हादो' इत्यत्र पदघटनेत्य । 'जो अप्पणो दोसे अकहंतो सोधी इच्छइ सो भयतण्हादो उदय इच्छइ, चंदपरिवेसणे कूरं इच्छइ य' । य आत्मनो दोषाननभिधाय गुरूणा शुद्धिमिच्छति स मूयतृष्यिकात् उदकं वांछति, चन्द्रपरिवेशादशनमिच्छति । निष्कलतासाधम्यदिय दृष्टान्तदाष्टान्तिकभावः । छन्नं ॥५९१॥

पक्खियचाउम्मासियसंवच्छरिएसु सोधिकालेसु ।

बहुजणसहाउलए कहेदि दोसे जहिच्छाए ॥५९२॥

'पक्खियचाउम्मासिय' पक्षाद्यनिचारशुद्धिकालेषु । 'बहुजणसहाउलए' बहुजनसम्बन्धकटे । 'जहिच्छाए दोसे कवेदि' यथेच्छया दोषानात्मीयान्कथयति ॥५९२॥

गा०—यदि अन्यके भोजन करनेपर अन्यको क्षुति हो तो दूसरेके नामसे की गई विशुद्धि उससे अन्यकी शुद्धि कर सकती है ॥५८९॥

गा०—अन्यके द्वारा तपसयम करनेपर यदि अन्य व्यक्ति मुग्तिको प्राप्त हो सकता हो तो दूसरेके नामसे किया गया प्रायश्चित्त भी दूसरेको शुद्ध कर सकता है ॥५९०॥

गा०—जो अपने दोषोंको न कहकर गुरुसे शुद्धि चाहता है वह मरीचिकासे जल और चन्द्रके परिवेशसे भोजन प्राप्त करना चाहता है । अर्थात् जैसे मरीचिकासे जल और चन्द्रके परिवेशसे भोजन नहीं प्राप्त होता उसी तरह अपने दोषोंको कहे बिना शुद्धि नहीं होती । इस तरह निष्कलताकी समानता होनेसे दोनोंमें दृष्टान्त और दाष्टान्तिकभाव है ॥५९१॥

विशेषार्थ—चन्द्रपरिवेशसे भोजन न मिलनेका अर्थ श्रीचन्द्रके टिप्पणमें इस प्रकार किया है—राजाने चन्द्रनामक रसोद्भयेको निकाल दिया । यह जानकर उसके परिवारने भोजन करना छोड़ दिया । एक दिन जब राजा भोजनके लिए बैठा तो आकाशमें चन्द्रका परिवेश देखकर लोगोंने कहा चन्द्रका परिवेश (प्रवेश) हो गया । यह सुनकर परिवारने समझा कि राजकुलमें चन्द्रनामक रसोद्भयेका प्रवेश हो गया । वह भोजनके लिए गया किन्तु भोजन नहीं मिला ॥५९१॥

गा०—पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रायश्चित्तके समय जब सब मुनिगण अपने-अपने दोष निवेदन करते हैं और इस तरह बहुतसे भगुण्योंके शब्दोंका कोलाहल होता है उस समय जा मुनि अपनी इच्छानुसार दोषको कहता है ॥५९२॥

इय अञ्चत् जइ सार्वतो दोसे कहेइ सगुरूणं ।

आलोचनाए दोसो सत्तमओ सो गुरुसयासे ॥५९३॥

‘यसि इय अञ्चत् सार्वतो दोसे कहेइ सगुरूणं’ यद्येवमञ्चत् श्रावयन्तोपान्कथयति स्वगुरुभ्यः । ‘सत्तमो आलोचनादोसो’ सप्तम आलोचनादोषः । ‘गुरुसयासे’ गुरुसमीपे प्रवृत्तो भवति ॥५९३॥

अरहङ्गुचडीसरिसी अहवा चुं दछुदोवमा होइ ।

मिण्णचइसरिच्छा वा इमा हु सल्लुट्टरणसोधी ॥५९४॥

‘अरहङ्गुचडीसरिसी’ अरगतघटीसदृशी यथा घटी पूर्णाप्यपूर्णा । एवमपरायकथनं स्वमुखेन प्रवृत्तमपि अप्रवृत्तमेव गुरुणा अभूतत्वात् । ‘अहवा चुं दछुदोवमा होइ’ अथवा मंथनचर्मपालिका इव, सा यथा मुकापि बध्नाति एवमिय वाङ् मुखकुहरमुक्तापि मायाशल्पसहितेति बध्नाति । ‘मिण्णचइसरिच्छा वा’ मिण्णचटसदृशी वा । यथा मिन्नो घटी घटकार्यं जलधारणं जलाद्यानयनं वा कर्तुमसमर्थं एवमियमालोचना न निर्जरा संपादयतीति साधर्म्यं । सहाउल्लय ॥५९४॥

आयरियपादमूले हु उवगदो बंदिऊण तिबिहेण ।

कोई आलोचैज हु सच्चे दोसे जहावत्ते ॥५९५॥

‘आयरियपादमूले उवगदो’ आचार्यपादमूलमुपगतः । ‘तिबिहेण बंदिऊण’ मनोवाककायशुद्ध्या बन्धना कृत्वा । ‘कोई’ कश्चित् । ‘आलोचैज हु’ कथयेत् । ‘सच्चे दोसे जहावत्ते’ सर्वान्दोषान्पूज्यान्सूक्ष्माश्च यथावृत्तान्मनोवाककायक्रियाख्यान् कृतकारितानुमतभेदान् ॥५९५॥

तो दंसणचरणाधारएहिं सुत्तयमुच्चइतेहिं ।

पवयणकुसलेहिं जहारिहं तवो तेहिं से दिण्णो ॥५९६॥

शा०—यदि अपने गुरुओंको स्पष्टरूपसे सुनाई न दे इस प्रकार दोषोंको कहता है तो गुरुके निकट शब्दाकुल नामक सातवें आलोचना दोषका भागी होता है ॥५९३॥

शा०—टी०—जैसे रहटमें लगी हुई पानी भरनेकी घटिकाएँ भरकर भी रीति होती जाती हैं उसी प्रकार वह आलोचना करनेवाला मुनि है । वह अपने मुखसे अपराध प्रकट करनेके लिए प्रवृत्त हुआ भी अप्रवृत्त ही है क्योंकि गुरुने उसे नहीं सुना । अथवा वह मन्थन चर्मपालिकाके समान है । जैसे मथानी डोरीसे छूटते हुए भी डोरीसे बँधती जाती है उसी प्रकार उसकी आलोचनावाणी मुखरूपी गर्तसे छूटकर भी मायाशल्पसे सहित होनेसे कर्मसे बद्ध करती है । अथवा फूटे घटके समान है । जैसे फूटा बड़ा घटका कार्य जलधारण अथवा जल आदिका लाना करनेमें असमर्थ होता है । उसी प्रकार यह आलोचना निर्जरारूप कार्यको नहीं करती । यह इन दृष्टान्तोंमें और दार्ष्टान्तिमें समानता है । यह शब्दाकुलित नामक सातवाँ आलोचना दोष है ॥५९४॥

शा०—कोई साधु आचार्यके पादमूलमें जाकर, मनबचनकायकी शुद्धिपूर्वक बन्धना करके मनबचनकाय और कृतकारित अनुमोदनाके भेदरूप सब स्थूल और सूक्ष्म दोषोंको कहता है ॥५९५॥

'तो' पश्चात् आलोचनोत्तरकालं । 'बंसचरणभाषारणैहि' समीचीनदर्शनचारित्रधारणोद्यतैः । 'सुतरन्-
मुबंहतेहि' सूत्रार्थमुद्वहद्भिः । 'पञ्चवचकुशलैहि' सूत्रार्थमुद्वहद्भिः रित्यनेनेव मतत्वात्किमनेन 'प्रवचनकुशलैः' इति ।
अयमभिप्रायः—प्रायश्चित्तव्रतग्रन्थवृत्तिः प्रवचनशब्दः तेन प्रायश्चित्तकुशलैरित्यर्थः । अन्यशास्त्रज्ञोऽपि न शोधयति
न चेत्यादिचित्तज्ञः इति प्राधान्यकथनार्थं पृथगुपादानं । 'तेहि' तैः । 'ते' तस्मै । 'अचारिहं तवो विष्णो' अपरा-
धानुरूपं तपो वत्तं । तपोग्रहणं प्रायश्चित्तोपलक्षणार्थं तेन प्रायश्चित्त वत् इत्यर्थः ॥५९६॥

अणवममि य जं पुञ्चे भणिदं कप्पे तहेव ववहारो ।

अंगेसु सेसएसु य पइण्णए चावि तं दिण्णं ॥५९७॥

तेसिं असइहंतो आइरियाणं पुणो वि अण्णाणं ।

जइ पुच्छइ सो आलोयणाए दोसो हु अडुमओ ॥५९८॥

'तेसिं' तथा । 'आवरियाणं' आचार्याणां वचन । 'असइहंतो' अध्वद्धानः । 'पुणो वि जीवि' पुनरपि
यदि पुच्छयन्त्यानसी । 'अडुमओ आलोयणावोसो' संश्लेष्य आलोचनादोष ॥५९७-९८॥

पगुणो वणो ससल्लं जध पच्छा आदुरं ण तावेदि ।

बहुवेदणाहिं बहुसो तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५९९॥

'पगुणो वणो' प्रगुणं वा व्रण उपचित । 'ससल्लं' शल्यसहित । 'पच्छा' पश्चात् । 'आदुरं' व्याधित ।
'किमु न तावेदि' किमु न तापयति तापयत्येव । 'बहुवेदणाहिं' बहुविधवेदनाभिः । 'बहुसो' बहुधाः^३ । 'तधिमा'

गा०—टी०—आलोचनान्ते पश्चात् सम्यग्दर्शनं और सम्यक्चारित्रिके धारण करनेमें तत्पर,
सूत्रोके अर्थको वहन करनेवाले और प्रवचन कुशल आचार्योंने उसे अपराधके अनुरूप तप दिया ।
यहाँ तपका ग्रहण प्रायश्चित्तके उपलक्षणके लिए है अतः आचार्योंने उसे प्रायश्चित्त दिया ।

शब्द—सूत्रके अर्थको वहन करनेसे प्रवचनकुशलका भाव आ जाता है फिर उसे अलग
ग्रहण क्यों किया ?

समाधान—इसका अभिप्राय यह है कि यहाँ प्रवचन शब्दका अर्थ प्रायश्चित्तग्रन्थ है ।
अतः उसका अर्थ होता है प्रायश्चित्तशास्त्रमे कुशल । अन्य शास्त्रोंका ज्ञाता होते हुए भी यदि
प्रायश्चित्तका ज्ञाता नहीं है तो दोषका शोधन नहीं कर सकता । इसलिए प्रायश्चित्तकी प्रधानता
कहनेके लिए 'वचनकुशल' पदका अलगसे ग्रहण किया है ॥५९६॥

गा०—प्रत्याख्यान नामक नवम पूर्वमें तथा कल्प और व्यवहार नामक अग वाह्यमें, तथा
शेष अंगो और प्रकीर्णकोंमें जो प्रायश्चित्तका कथन है तदनुसार ही आचार्योंने उसे प्रायश्चित्त
दिा ॥५९७॥

गा०—किन्तु वह साधु उन आचार्योंके वचनोंपर श्रद्धान न करके फिर भी यदि अन्य
आचार्योंसे पूछता है तो यह आलोचनाका आठवाँ दोष है ॥५९८॥

गा०—ऊपरसे अच्छा हुआ किन्तु भीतरमे कील सहित घाव पीछे बढ़कर क्या बहुत कष्ट

१. शो न वदाति न चेत् आ० मु० । २. अ० ज० प्रति में यह गाथा नहीं है । ३. श' ।
कथा तथा इमा स-अ० आ० ।

तथा इयं । 'सन्तुद्धरणादी' आलोचनायुद्धिः । मायामुधापरित्यागेन कृता अतिशोभना सद्गुणा दोषा' गुरु-
वत्तप्रायश्चित्ताभ्युद्धानरुच्यसमन्वितत्वावदुःखावहृत्वात् । बहुजन ॥५९९॥

आगमदो वा बालो परिचाएण व हृवेज्ज जो बालो ।
तस्स सगं दुच्चरियं आलोचैदूण बालमदी ॥६००॥

'आत्मबोधो वा बालो' आगमेन ज्ञानेन वा बालः । 'परिचाएण व हृवेज्ज जो बालो' चारित्रबालो वा यो
भवेत् । यः स 'तस्स' तस्मी । 'सगं दुच्चरियं' आत्मीयमतिचारं । 'आलोचैदूण बालमदी' उपक्त्वा बाल-
युद्धिः ॥६००॥

आलोचिदं असेसं सच्चं एदं मएत्ति जाणादि ।
बालस्सालोचैतो णवमो आलोचना दोसो ॥६०१॥

'आलोचिदं' कथितं । 'असेसं सच्चं' निरवशेषं सबं । मनोवाक्कायकृतोक्तिचारः सर्वशब्देन उच्यते ।
कृतकारितानुमतविकल्पा अशेषा इत्याख्यायन्ते । 'मएत्ति जाणादि' मयेति जानाति । 'बालस्सालोचैतो' ज्ञान-
बालाया चारित्रबालाया वा कथयति । 'णवमो आलोचनादोसो' नवम आलोचनादोषः ॥६०१॥

कूडहिरण्णं जह भिच्छएण दुज्जणकदा जहा मेत्ती ।
पच्छा होदि अपत्थं तच्चिमा सन्तुद्धरणसोधी ॥६०२॥

कूडहिरण्णं जह पच्छा अपत्था भिच्छएण हीविति पदघटना । यथा कूटहिरण्य वनमिति गृहीतं पश्चाद-
पथ्यं निश्चयतो भवति अभिमतद्रव्यग्रहणे अनुपायत्वात् । एवमपि इयमपि बालस्य क्रियमाणालोचना अनुरूप-
प्रायश्चित्तप्राप्तौ अनुपायत्वात् सद्गुणी । न ज्ञानबाल परार्थयोग्यप्रायश्चित्तं दातुं क्षम । 'दुज्जणकदा व मेत्ती'
नहीं देता ? देता ही है । उक्त आलोचना भी उसी धावकी तरह है । यद्यपि यह आलोचना माया
और असत्यको त्यागकर की जानेसे अति सुन्दर है, दोष रहित है । तथापि गुरुके द्वारा दिए गये
प्रायश्चित्तके प्रति अश्रद्धान रूपी शरस्यसे युक्त होनेसे दुःखदायी है । यह बहुजन नामक दोष
है ॥५९९॥

गा०—जो मुनि आगम अर्थात् ज्ञानसे बालक है अथवा जो चारित्रसे बालक है अर्थात्
जिसे शास्त्रज्ञान भी नहीं है और चारित्र भी जिसका हीन है उसके सन्मुख जो अज्ञानी अपने दोष-
की आलोचना करता है ॥६००॥

गा०—और मैंने अपने मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदनासे किए सब दोष कह
दिये, ऐसा जानता है । इस प्रकार ज्ञान बालक और चारित्र बालक मुनिसे दोषोंका निवेदन करना
नोर्वा आलोचना दोष है । इसे अव्यक्त दोष कहते हैं ॥६०१॥

गा०—टी०—जैसे नकली सोनेको धन समझकर ग्रहण करे तो पीछेसे वह निश्चय ही अहित-
कर होता है क्योंकि उससे यदि कुछ इच्छित वस्तु खरीदना चाहे तो नहीं खरीद सकते । इसी
प्रकार बालमुनिके सन्मुख की गई आलोचना भी अनुरूप प्रायश्चित्तकी प्राप्तिका उपाय न होनेसे
नकली सोनेके ही समान अहितकारी है । क्योंकि ज्ञानसे बालमुनि परमार्थके योग्य प्रायश्चित्त

ब्रह्मा पञ्चा होइ अपत्यं इति सम्बन्धः कार्यः । दुर्बले कृता मैत्री यथा न पथ्य, दुःख प्रयच्छतीति एवं चारित्र-
बालस्य संयमोपयविकल्पस्य कृतापि प्रायश्चित्तालाममूला अनेकानर्थाविहेति भावः ॥६०२॥

पासत्थो पासत्थस्स अणुगदो दुक्कं परिकहेइ ।

एसो वि मज्झसरित्थो सव्वत्थवि दोससंचइओ ॥६०३॥

'पासत्थो पासत्थस्स' पार्श्वस्थः पार्श्वस्थमनुगतः । 'दुक्कं परिकहेइ' दुष्कृत परिकथयति । 'एसो वि'
एवोऽपि । 'मज्झसरित्थो' मत्सदृश । 'सव्वत्थ वि' सर्वेष्वपि व्रतेषु । 'दोससंचइओ' दोषसंचयोचतः ॥६०३॥

जाणह य मज्झ एसो सुहसीलत्तं च सव्वदोसे य ।

तो एस मे ण दाहिदि पायच्छित्तं महल्लत्ति ॥६०४॥

'एसो मज्झ सुहसीलत्तं जाणवि' एष मम दुःखासहत्व वेत्ति । 'सव्वदोसे य जाणवि' सर्वात्र व्रताति-
चारानवगच्छति । 'तो' तस्मात् । 'एस मे न दाहिदि' एष मे न दास्यति । 'महल्लं पायच्छित्तं' महत्प्राय-
श्चित्तमिति मत्वा कथयतीति सम्बन्धः ॥६०४॥

आलोचिदं असेसं सव्वं एदं मएत्ति जाणादि ।

सो पवयणपडिक्कुद्धो दसमो आलोचना दोसो ॥६०५॥

स्पष्टार्था ॥६०५॥

उत्तर गाथा—

जह कोइ लोहिदकयं वत्थं घोवेज्ज लोहिदेणेव ।

ण य तं होदि विसुद्धं तथिमा मल्लुद्धरणसोधी ॥६०६॥

'जह कोइ लोहिदकयं' करोति क्रियासामान्यवाचो इह लेपे वर्तते तेनायमर्थः—यथा कश्चिल्लोहितेन
लिप्तं वस्त्र । 'घोवेज्ज' प्रक्षालयेत् । 'लोहिदेणेव' लोहितेनैव । 'ण य तं हववि विसुद्धं' नैतद् भवति विसुद्धं ।

देनेमें समर्थ नहीं होता । अथवा जैसे दुर्जनसे की गई मित्रता हितकर नहीं होती, दुःखदायक होती
है उसी प्रकार प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयमसे रहित चारित्र बालमुनिके सम्मुख की गई भी आलो-
चना प्रायश्चित्तका लाभ न होनेसे अनेक अनर्थको लानेवाली है ॥६०२॥

गा०—पार्श्वस्थमुनि पार्श्वस्थमुनिके पास जाकर अपने दोषोंको कहता है । वह जानता
है कि यह भी मेरे समान है । सब व्रतोंमें दोषोंसे भरा है ॥६०३॥

गा०—यह मेरी सुखशीलताको जानता है कि मैं दुःख सहन नहीं कर सकता । मेरे सब
व्रतोंके दोषोंको भी यह जानता है । अतः यह मुझे बड़ा प्रायश्चित्त नहीं देगा । यह मानकर वह
उससे अपने दोष कहता है ॥६०४॥

गा०—यह पार्श्वस्थमुनि मेरे द्वारा कहे सब दोषोंको जानता है ऐसा मानकर उससे
प्रायश्चित्त लेना आगमसे निषिद्ध है । और यह आलोचनाका दसवाँ दोष है ॥६०५॥

गा०—जैसे कोई रुधिरसे सने हुए वस्त्रको रुधिरसे ही धोता है तो वह विधुद्ध नहीं होता ।

१. सव्वदोसे य जानाति सर्वदोषांश्च । सो—सु० ।

‘तथिमा सत्कुण्डरजसोषी’ आलोचनाशुद्धिः दोषं न निरस्यति । तद्विलक्षणं वस्तु यथा निर्मलजलं पङ्कं वस्त्रवत् न तु लोहितेन लिप्तं वस्त्रं शोधयति तथाभूतमेव लोहितं । एवमतीचाराशुद्धिः अशुद्धरत्नत्रयोद्देशप्रभृतेः अशुद्धयालोचनया न निराक्रियते इति साधर्म्यनियोजना ॥६०६॥

पदयणणिगृह्यवयाणं जह दुष्कण्डपावयं करैताणं ।

सिद्धिगमनमद्दूरं तथिमा सत्कुण्डरजसोषी ॥६०७॥

‘पदयणणिगृह्यवयाणं’ जिनप्रणीतवचननिष्कृतिकारिणा । ‘दुष्कण्डपावयं करैताणं’ दुष्करपापकारिणा । ‘जह सिद्धिगमनमद्दूरं’ यथा सिद्धगमनमतिदुष्करं । तस्सेवी वयं ॥६०७॥

सो दस वि तदो दोसे भयमायामोसमाणलज्जाओ ।

णिज्जूहिय संसुद्धो करेदि आलोयणं विधिणा ॥६०८॥

‘सो’ क्षपक । ‘तवो’ ततः आलोचनया दुष्टया शुद्धेरभावात् । ‘दोसे णिज्जूहिय’ दोषांस्त्यक्त्वा । ‘दस वि’ दशापि । ‘भयमायामोसमाणलज्जाओ’ भयं माया मनोगतां मूषा वचनगतां, मानं लज्जा च त्यक्त्वा । ‘संसुद्धो’ सम्यक्शुद्धः । विधिना आलोचनं करेदि’ विधिना आलोचनां करोति ॥६०८॥

कोऽसावालोचनाविधिरित्याद्यं क्याहः—

णट्टचलवलयिगिहिभासमूगदवदुरसरं च मोत्तूण ।

आलोचेदि विणीदो सम्मं गुरुणो अहिमुहत्थो ॥६०९॥

‘णट्टचलवलयिगिहिभासमूगदवदुरसरं च’ हस्तनर्तनं, भ्रूक्षेपं, चलनं गान्त्य, वलितं, गृहिवचनं, मुकवत्सञ्चारण, धर्मरत्नं च मुक्त्वा । ‘आलोचेदि’ कथयति । ‘विणीदो’ कृताञ्जलिपुटोऽनन्तधिरस्कः । ‘अवदुत्तं’ अद्भुत । अविलम्बितं । स्पष्ट । ‘गुरुणो अहिमुहत्थो’ गुरोरभिमूलः ॥६०९॥

उसी तरह यह आलोचना शुद्धि दोषको दूर नहीं करती । उसके विपरीत निर्मल जल वस्त्रमे लगे कीचड़को दूर करता है । किन्तु रश्मिरसे लिप्त वस्त्रको रश्मिर शुद्ध नहीं कर सकता । इसी प्रकार अशुद्ध रत्नत्रयवाले मुनिसे की गई अशुद्ध आलोचनासे अतीचार सम्बन्धी अशुद्धि दूर नहीं होती । इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्तमें समानता जानना ॥६०६॥

गा०—जैसे जिन भगवान्के वचनोंका लोप करनेवाले और दुष्कर पाप करनेवालोंका मुक्तिगमन अति दुष्कर है उसी प्रकार पारस्यस्थ मुनिसे दोषोको कहनेवालोंकी शुद्धि अति दुष्कर है । यह तस्सेवी नामक दसवे दोषका कथन हुआ ॥६०७॥

गा०—सदोष आलोचनासे शुद्धि नहीं होती, इसलिए निर्यापकाचार्यके पादमूलमें उपस्थित क्षपक दसों दोषोंको तथा भय, माया, असत्यवचन, मान और लज्जाको त्यागकर सम्यक्प्रकारसे शुद्ध होकर विधिपूर्वक आलोचना करता है ॥६०८॥

वह आलोचनाकी विधि क्या है, यह कहते हैं—

गा०—हाथका नचाना, भौं मटकाना, शरीरकी मोहना, गृहस्थकी तरह बोलना, गुँगेकी तरह संकेत करना और धर्म रत्नको त्याग कर, दोनों हाथोंकी अंजली बनाकर, सिर नचाकर गुहके सामने उनकी बायों ओर एक हाथ दूर गवासनसे बैठकर, न अति जल्दीमें और न अति रुककर कर स्पष्ट आलोचना करता है ॥६०९॥

पुढविदनागनिपवणे य वीयपत्तेयर्णतकाए य ।

विगतिगचदुपंधिदियसत्तारंभे अणेयविहे ॥६१०॥

'पुढविदनागनिपवणे य' पृथिव्यामुदकेऽग्नी पवने च । 'वीयपत्तेयर्णतकाए य' वीजे प्रत्येककाये च वनस्पती । 'विगतिगचदुपंधिदियसत्तारंभे' द्विनिचतुःपञ्चेन्द्रियसत्त्वविषये चारम्भे । 'अणेयविहे' अनेकप्रकारे । पृथिव्या मृत्तिकोपलशर्करासिकतालवणा 'त्रजमित्यादिकायाः क्षननं, विलेखन, दहनं, कुट्टन, भञ्जनं इत्यादिकार्य-रम्भः । उचककरकावधायतुषारावीनां अम्भेदाना पानं, स्नानमवगाहनं, तरण हस्तेन, पादेन, गानेन वा मर्दनं इत्यादिकं । 'अग्निज्वाला, प्रदीप. उल्मुकं इत्यादिकस्य तेजसः उपयुक्तस्य, पाषाणस्य, मृत्तिकायाः सिकताया वा प्रक्षेपणं, पाषाणकाष्ठादिभिर्हननं इत्यादिकं । संज्ञामण्डलिकादौ बायीं वातिव्यंजनन, तालवृन्तेन, सूर्पेण, शैलादिना वा समीरणोत्थापनादिक. वाते वाभिगमन । बीजाना प्रत्येककायाना अनन्तकामाना च वृक्षबल्लीगुल्मलतातृणपुष्पफलादीनां दहन, छेदनं, मर्दनं, भञ्जनं, स्पर्शनं, भक्षणमित्यादिक । द्वीन्द्रियादीनां मारणं, छेदनं, ताडनं, बन्धनं, रोधनमित्यादिकं ॥६१०॥

पिंडोवधिसेज्जाए गिहिमचणिसेज्जवाङ्गसे लिंभे ।

तेणिक्कराइभत्ते मेहणपरिग्गहे भोसे ॥६११॥

'पिंडोवधिसेज्जाए' पिण्डे, उपकरणे, वसती च उद्गमोत्पादनीयणादानातिचार । 'गिहिमचणिसेज्ज-वाङ्गसे लिंभे' । गृहस्थानां भाषनेषु कुम्भकरकशरावाविषु कस्यचिन्निक्षेपणं, तीर्था कस्यचिदादानं च चारित्र्या-तिचारः । दुःप्रतिलेख्यत्वाच्छोषयितुमशक्यत्वाच्च । पीठिकायामासन्धा, स्रट्वाया, मञ्चे वा आसनं निषद्यो-

शा०—टी०—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येककायिक वन-स्पति, साधारणकायिक वनस्पति, दो इन्द्रिय, तेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवसम्बन्धी अनेक प्रकारके आरम्भ की आलोचना करता है । मिट्टी, पत्थर, शर्करा, रेत, नमक इत्यादिका खोदण, हलसे जोतना, जलाना, कूटना, तोड़ना आदि पृथिवी सम्बन्धी आरम्भ हैं । जल, बर्फ, ओस, तुषार आदि पानीके मेदोंका पीना, स्नान, अवगाहन, तैरना, हाथ पैर या शरीरसे मर्दन करना आदि जलसम्बन्धी आरम्भ हैं । आग, ज्वाला, दीपक, उल्मुक इत्यादि आगके ऊपर पानी, पत्थर, मिट्टी, अथवा रेत फेंकना या पत्थर लकड़ी आदिसे आगको पीटना आगसम्बन्धी आरम्भ है । संज्ञा और माण्डलिक आदि वायुको ताड़के पत्रसे, सूपसे, लकड़ी आदिसे रोकना, या पंखे आदिसे हवा करना, वायुके सन्मुख गमन करना ये सब वायुकायसम्बन्धी आरम्भ हैं । बीज, प्रत्येक काय और अनन्तकाय वृक्ष, लता, बेल, झाड़ी, तृण, पुष्पफल आदिको जलाना, छेदना, मसलना, तोड़ना, छूना, खाना आदि वनस्पतिकाय सम्बन्धी आरम्भ हैं । दो इन्द्रिय आदि जीवोंको मारना, छेदना, पीटना, बाँधना, रोकना आदि दो इन्द्रिय आदि सम्बन्धी आरम्भ हैं । ये सब आरम्भ मुझसे हुए हैं ॥६१०॥

शा०—टी०—भोजन, उपकरण और वसतिमें उद्गम, उत्पादन और एषणासम्बन्धी अतिचार होते हैं । गृहस्थोंके पात्र घट, शारी, सकोरा आदिमें किसी वस्तुका निक्षेपण करना अथवा उनके द्वारा किसी वस्तुका ग्रहण चारित्रसम्बन्धी अतिचार हैं क्योंकि उन पात्रोंकी प्रति-

१. भाषकमि—आ० मु० । लवणवज्रादिकाया मूलार० । २. अग्नेज्वाला आ० मु० ।

क्यत् । पीठिकाविष्यनेकच्छिद्राकुलासु दुःप्रेष्याः प्राणिनो वृटावच नापकतुं शक्यन्ते । ततोर्जिहासत्रतातिचार । तथा चोक्तम्—

पीठिकासंबलसंके भ्रंश ए भास ए तथा । अणाचरिवमज्जाणं आसितुं सहसुं पि वा ॥

गंभीरवातिलो पाणा कुप्येच्छा दुग्धकिंचया । तम्हा कुप्यडित्हेह च वज्जए पडमम्बए ॥ []

अथवा गोचरप्रविष्टस्य गृहेषु निषद्याया कस्तत्र दोष इति चेत् ब्रह्मचर्यस्य विनाश स्त्रीभिः सह संवासात् ? असकृत्तदीयकुचतटविम्बाधरादिसमवलोकनाद् भोजनाधिना च विघ्नः । कथमिव यत्समीपे भुजिक्रियां सम्पादयाम् । अशुचि बंद चैत्कथमस्यामासन्ध्या तु तावदमी इति क्रुध्यन्ति वा गृह्णन्ति । किमर्थमयमत्र वाराणां मध्ये निषण्णो यतिर्भुङ्क्ते न यातीति । स्नानमुद्वर्तनं, यात्रप्रक्षालनं च धाकुसमित्युच्यते । स्नानेन उष्णोदकेन शीतजलेन सीवीरकादिना वा बिलस्था घाभीक्षुद्रविवरस्था इतरेऽपि स्वल्पकाया कुन्धुपिपीलिकादयो वा नश्यन्ति । तथा चोक्तम्—

सुहृत्वा संति पाणा सु पासेसु अ बिलेषु अ ।

सिष्ण्वायंतो यतो निषधू विकट्टेणोषपीडए ॥

अ सिष्ण्वायंति तम्हा ते सीधुसणोवणेण वि ।

जावजीवं बवं धोर अष्णाणवमधिद्विदं ॥

लेखना कठिन है तथा उनकी शुद्धि अशक्य होती है । पीठेपर, आसनपर, खाट या मंचपर बैठना निषद्या है । अनेक छिद्रवाली पीठिका आदिमें रहनेवाले जन्तुओंको देखना अशक्य होता है और देख भी लिया जाये तो उन्हें दूर करना शक्य नहीं होता । और उससे अहिंसाव्रतमें अतिचार लगता है । कहा भी है—

पीड़ा, आसंद, पलका, मंच आदि आसनोपर स्नान न करनेवाले साधुओका बैठना या शयन करना उचित नहीं है । गहराईमें रहनेवाले जीवजन्तु देखे नहीं जाते । उनका बचाव कष्ट साध्य होता है । इसलिए अहिंसा नामक प्रथम व्रतमें 'ठीकसे नहीं देखना' छोड़ना चाहिए ।

अथवा गोचरीके लिए जाकर घरमें प्रवेश करना और वहाँ बैठना निषद्या है ।

शङ्का—इसमें क्या दोष है ?

समाधान—स्त्रियोके साथ रहनेसे ब्रह्मचर्यका विनाश होता है । क्योंकि बार-बार उनके कुचों और ओष्ठोंपर दृष्टि जाती है । तथा भोजन करनेके इच्छुक गृहस्थोको वाधा होती है । वे सोचते हैं—हम यस्त्रियोके सामने कैसे भोजन करे ? अथवा उन्हें क्रोध हो सकता है कि इस अपवित्र पलके पर ये क्यों बैठे हैं ? यह यदि यहाँ स्त्रियोके मध्यमें बैठकर क्यों भोजन करता है, जाता क्यों नहीं है ।

स्नान, उबटन और शरीर धोनेको वाकुस कहते हैं । गर्मजल, ठंडे जल अथवा सीवीरक आदिसे स्नान करनेसे पृथ्वीके बिलोंमें स्थित प्राणी अथवा अन्य कुन्धु चीटी आदि क्षुद्रजीव मर जाते हैं । कहा है—

'बिलोंमें तथा आस-पासमें सूक्ष्मजन्तु रहते हैं । यदि भिक्षु स्नान करे तो वे पीड़ित होते हैं । इसलिए वे भिक्षु ठंडे या गर्मजलसे या क्राँजीसे स्नान नहीं करते । वे जीवन पर्यन्त घोर अस्नानव्रतको धारण करते हैं ।'

अथवती आराधना

लोहग्रन्थादिभिः उद्धर्तनं च माचरन्ति । लिङ्गविकासनक्रिया तास्व्यात्लिङ्गसन्धेनोच्यते । 'सिद्धिकार-
रक्षिभत्ते' अथवापानं रात्रिभोजनं च । अवसादाने कृते तस्त्वामिना प्राणापहार एव कृतो भवति । बहिष्कराः
प्राणा वनानि प्राणभृतां रात्रौने स्पष्टमपरीह । रात्रौ च भोजनं अनेकासंयममूलं । रात्रौ भ्रमणे वद्विजीवनि-
कायबन्धो । अनौपत्यस्य प्रत्याख्यातस्य च भोजनं । दातृपरीक्षासम्भवः । करस्य, भाजनस्योच्छिद्यनिपतनदेशस्य,
दायिकापमनमार्गस्य तस्यात्मनश्चावस्थानदेशस्य अपरीक्षा । 'शैलूचरिण्ये शैव' मैथुनं परिग्रहस्वैव । 'मोसे'
मूषा च ॥५११॥

पाणे दंसपतववीरिये य मणवयणकायजोगेहि ।

कदकारिदेणुमोदे आदपरपजोगकरणे य ॥६१२॥

'वाचे' ज्ञाने । 'बंसनतववीरिए' श्रद्धाया तपसि वीर्ये च योजितचारः । 'मणवयणकायजोगेहि' मनो-
बाधकायक्रियाभिः । मनसा सम्यग्ज्ञानस्यावज्ञा, किमनेन ज्ञानेन, तपश्चारित्रमेव फलदाय्यनुष्ठेयमिति । सम्यग्ज्ञान-
नस्य वा मिथ्याज्ञाननिवृत्तिरिति दूषणं । मनसा वाचा कानेन वा स्वार्थिप्रकाशनं, मूलवैवर्ण्येन नैतदेवमिति शिरः-
कम्पनेन वा । शङ्काकाङ्क्षादि वर्तनेऽतिचारः । तपस्यसयमः । वीर्ये स्वशक्तिग्रहणं । स चातीचार सर्वत्रि-
प्रकार इति कथयति । 'कदकारिदे अनुमोदे' कृतः, कारितोऽनुमतवच । 'आदपरपजोगकरणे य' आत्मनैव कृत
कारितोऽनुमतवच, परयोगक्रियया कृतः कारितोऽनुमतो वा ॥६१२॥

वे भिक्षु लोह्र वगैरह सुमन्धित द्रव्योका उबटन भी शरीरपर नही लगाते है । लिंगशब्दसे
लिंगको विकसित करनेकी क्रिया ली गई है । वह भी भिक्षु नहीं करते ।

तेणिक चोरीको कहते हैं । भिक्षु बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण और रात्रिभोजन नहीं
करते । बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण अर्थात् चोरी करनेपर उसके स्वामीका प्राण ही हर लिया
जाता है क्योंकि धन मनुष्योका बाहिरी प्राण होता है । इसी लोकमे राजा उसे दण्ड देते हैं ।
तथा रात्रिमे भोजन अनेक असंयमोका मूल है । रात्रिमें साधु भ्रमण करे तो छहकायके प्राणियो-
का घात होता है । तथा रात्रिमे दृष्टिगोचर न होनेसे त्यागी हुई तथा अयोग्य वस्तु भी खानेमे
आ जाता है । दाताको परीक्षा भी असम्भव होती है । हाथमे स्थित भोजन, जूठन गिरनेका
स्थान, आहार देनेवालेके आने जानेका मार्ग, उसके तथा अपने खड़े होनेके प्रदेशको परीक्षा भी
रातमे नहीं होती । मैथुन, परिग्रह और असत्यके वे त्यागी होते हैं ॥६११॥

शा०-टी०—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, तप और वीर्यके सम्बन्धमे मनु वचन कायकी क्रियाके
द्वारा अतिचार हुए हैं—

मनसे सम्यग्ज्ञानकी अवज्ञा करना, इस ज्ञानसे क्या लाभ है, तप और चारित्र ही फल-
दायक है । उन्हें ही करना चाहिए । अथवा सम्यग्ज्ञानको यह मिथ्याज्ञान है, ऐसा दूषण लगाना ।
अथवा मनसे वचनसे कायसे अपनी अरुचि प्रकट करना । अथवा मुखको विरूपतासे या सिर
हिलाकर 'यह ऐसा नहीं है' यह प्रकट करना सम्यग्ज्ञानके अतिचार है । सम्यग्दर्शनमें शंका
कांक्षा आदि अतिचार कहे हैं । तपमें असंयम अतिचार है । वीर्यमें अपनी शक्तिको छिपाना
अतीचार है । यह सब अतिचार कृत कारित अनुमोदनाके भेदसे तीन प्रकार है । तथा स्वयं ही
करना कराना अनुमोदना करना और परके द्वारा करना, कराना, अनुमोदना करना इस तरह
कृत कारित अनुमोदनाके भी दो प्रकार हैं ॥६१२॥

**अज्ञान रोहने अन्वय य रादौ दिवा सिधे ऊमे ।
द्व्यादिसमावण्णे उद्धरदि कर्म अमिदंतो ॥६१३॥**

'अज्ञान रोहने अन्वय' यथास्थिते जनपदे यावन्तो मार्गस्तेषां रोधके परबद्धे जाते यदि निस्तर्तुं न क्नुते संकिल्पटा भिन्ना चर्या तत्र अयोग्यस्य सेवा कृता ज्ञानना तामपि कथयति । 'रादौ दिवा' रात्रौ अयमति-
चारी जातो विवसे इति वा कथनं । मार्गा उपहृते संघे विद्यया मन्त्रेण वा तन्निषेधनायामयमतिचारी जात इति वा । दुर्मित्रे वा महति अवमोदयमन्नेन यथास्थना सेवितं, अन्व्ये वाऽयोग्यभिक्षाग्रहणे इत्थं प्रवर्तिता इति वा कथनं । 'द्व्यादिसमावण्णे' दर्पादिभिः समापन्नः ।

द्व्यपवाद्यजपानौषजानना आधुरे व तित्तिणिवा ।

संकिल्लसहस्राकारे व भयवधीस्ते म भीमसं ॥

अन्वाचधेगारव अन्वप्यवसजलस उपधि बुभिमन्ति ।

पल्लिकुं वचं ससोषी करंति बीसंतधे भेदे ॥

इति दर्पादिः । अत्र दर्पाजेकप्रकारः श्रीडासंघर्षः, व्यायामकुहकं, रसायनसेवा, हास्यं, गीतशृंगार-
वचनं, प्लबनमित्यादिको घर्षः । प्रमादः पञ्चविधः—विकथाः, कथाया, इन्द्रियविषयासक्तता, निद्रा, प्रणयश्चेति ।
अथवा प्रमादो नाम संकिल्लहस्तकर्म, कुशीलानुवृत्तिः, बाह्यशास्त्रभिक्षा, काव्यकरणं, समितिज्जनपुयुक्ता ।
छेदनं भेदनं, पेषणमभिधातो, व्यघनं, वनचनं, स्फाटनं, प्रवालनं, रञ्चनं, वेष्टनं, वचनं, पूरण, समुदायकरणं,
लेपनं, क्षेपणं, आलेखनमित्यादिकं संकिल्लहस्तकर्म, स्त्रीपुरुषलक्षणं निमित्तं, ज्योतिर्ज्ञानं, छंदः, अर्धशास्त्रं, वैद्यं,
लौकिकवैदिकसमावाच्य बाह्यशास्त्राणि । उभयुक्तोऽपि सम्यगतीचारा न वेति सोऽज्ञानोषकृतः, व्याधिपचैतसा

गा०-टी०—देशसे बाहर जानेके जितने मार्ग हैं, शत्रुसेनाके द्वारा उन सबके बन्द कर
देनेपर साधु निकल नहीं पाता । उस समय परबद्ध होकर साधुको भिक्षाचर्या करनेमें जो संकलेश
हुआ हो, अथवा अपने द्वारा अयोग्य पदार्थका सेवन हुआ है उसे भी गुरुसे कहता है । रातमें यह
अतिचार हुआ, दिनमें यह अतिचार हुआ, यह भी कहता है । अथवा संघमें भारी रोगका उपद्रव
होनेपर विद्या या मंत्रके द्वारा उसे रोकनेमें यह अतिचार लगा, यह भी कहता है । महान् दुर्मित्र
पड़नेपर अवमोदयं तपको भंग करके स्वयंने जो सेवन किया हो, अथवा दूसरे साधुओंको अमुक
प्रकारसे अयोग्य भिक्षाके ग्रहण करनेमें प्रवृत्त किया हो, वह भी कहता है । दर्प, प्रमाद, अना-
भोग, आपात, आसंता, तित्तिणिवा, शक्ति, सहसा, भय, प्रदोष, भीमांसा, अज्ञान, स्नेह, गारव,
अनात्मवशता, आलस्य, उपधि, स्वप्नान्ध, पल्लिकुंचन, और स्वयंशुद्धि ये बीस दर्पादि कहे हैं ।
इनका विवरण—

इनमेंसे दर्पके अनेक प्रकार हैं—१. शैलकूदमें संघर्ष, व्यायाम, इन्द्रजाल, रसायन सेवन,
हास्य, गीत, शृङ्गार, दौड़ना, तैरना आदिको लेकर धमंड करना । २ प्रमादके पाँच भेद हैं—
विकथा, कथाय, इन्द्रियोंके विषयमें आसक्ति, निद्रा और प्रणय (स्नेह) । अथवा संकिल्ल हस्तकर्म,
कुशीलानुवृत्ति, बाह्यशास्त्रोंकी रचना करना, काव्यरचना और समितिज्जनोंमें उपयोग न लयाना
ये पाँच प्रमाद हैं । छेदना, भेदना, पीसना, अभिधात, बीधना, खोदना, बाँधना, फाड़ना, घोना,
रंगना, वेष्टित करना, गूँथना, पूरना, समुदाय करना, क्षीपना, फेंकना, चित्रकारी करना ये सब
संकिल्ल हस्तकर्म हैं । स्त्री पुरुषके लक्षण जिसमें बतलाये हों ऐसा शास्त्र, निमित्तशास्त्र, ज्योतिष-
शास्त्र, छन्दशास्त्र, अर्धशास्त्र, वैद्यकशास्त्र तथा लौकिक और वैदिकशास्त्र बाह्यशास्त्र हैं—

बा कृतः । मधीपूरः, अन्धमुत्थापनं, महावातापातः, वर्षाभिघातः, परचक्ररोध इत्यादिका आपाताः । रोगार्तः, शोकार्ता, वेचनार्त इत्यार्तता त्रिविधा । रसासक्तता 'मुक्तरता वेति द्विप्रकारता तित्तिणदा शब्दवाच्या । सचितं किमचित्तमिति शक्नुते इत्ये भञ्जनमेवेनभक्षणमिभिराहारस्योपकरणस्य, वसतेर्वा उद्गमादिबोबोपहतिरस्ति न वेति शक्नुमामप्युपादानं । अशुभस्य मनसो वाचो वा श्रुतिं प्रवृत्तिं सहसेत्युच्यते ।

एकान्तायां वसती भ्यालमृगव्याघ्रावयस्तेना वा प्रविशन्ति इति भयेन द्वारस्थगने जातोऽतिचारस्तीव्रकषायपरिणामः प्रदोष इत्युच्यते । उदकराज्यादिसमानतया प्रत्येकं चतुर्विकल्पाश्चत्वारः कषाया । आत्मनः परस्य वा बललाघवादिपरीक्षा भीमासा तत्र जातोऽतिचारः । प्रसारितकराकुञ्चितम् आकुञ्चितकरप्रसारणं धनुषाधारोपणं उपलाघुत्वेपणं, बाधनं, वृत्तिकण्टकाद्युल्लङ्घनं, पशुसर्पादीनां मन्त्रपरीक्षणाय वा धारणं, औषध-बीर्यपरीक्षणार्थमञ्जनस्य, चूर्णस्य वा प्रयोगः, इत्यसंयोजनया त्रसानामेकेन्द्रियाणां च समुच्छेना परीक्षा । अज्ञानमाचरणं दृष्ट्वा स्वयमपि तथा चरति तत्र दोषानभिज्ञः । अथवाज्ञानिनोपनीतमुद्गमादिदोषोपहत उपकरणमिदं सेवते इति अज्ञानालम्बुतोऽतीचारः । शरीरे, उपकरणे, वसती, कुले, ग्रामे, नगरे, देशे, बन्धुषु, पार्श्वस्थेषु वा ममेवंभावः स्नेहस्तेन प्रवर्तित अभूतीचारः । मम शरीरमिदं शीतो वातो बाधयति कटादि-

३ उपयोग लगानेपर भी सम्यक् रूपसे अतीचारको नहीं जानना अथवा चित्त चंचल होनेसे अतीचारको न जानना अनाभोगकृत है । ४ नदीमें बाढ़ आना, आग लग जाना, महती आंधी आना, वर्षाकी अत्यधिकता, शत्रुसेनाका आक्रमण इत्यादि आपात है । ५ आर्तताके तीन प्रकार हैं—रोगसे पीड़ित, शोकसे पीड़ित, कष्टसे पीड़ित । ६ रसमे आसक्ति और बकवादमे आसक्ति इन दोनोंको तित्तिणदा कहते हैं । ७. यह सचित है या अचित्त ऐसी आशंका होनेपर भी उसको तोड़ना-फोड़ना खाना, अथवा आहार, उपकरण और वसतिमें उद्गम आदि दोष हैं या नहीं, ऐसी शंका होते हुए भी ग्रहण करना शकित है । ८ अशुभ मन और वचनकी श्रुतपट प्रवृत्ति सहसा है ।

९ एकान्त वसतिमें सिंह मृग सर्प और चोर आदि प्रवेश करते हैं इस भयसे द्वार बन्द कर देना भय है । १० तीव्र कषाय युक्त परिणामको प्रदोष कहते हैं । क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय हैं इनमेंसे प्रत्येकके चार-चार भेद हैं जैसे जलकी रेखा, धूलकी रेखा, पृथ्वीकी रेखा और पत्थरकी रेखाके समान क्रोध होता है ।

११. अपने या दूसरेके बल लाघव आदिकी परीक्षाको भीमांसा कहते हैं । फेले हुए हाथको मोड़ने, मोड़े हुए हाथको फैलाने, धनुष आदिके चढ़ाने, पत्थर आदिके फेंकने, दौड़ने, वाड कण्टक आदिको लौंघने, मन्त्र परीक्षाके लिए पशु सर्प आदिको धारण करने, औषधकी शकिकी परीक्षाके लिए अंजन अथवा चूर्णका प्रयोग करने, इत्येके संयोगसे त्रस जीवों और एकेन्द्रिय जीवोकी उत्पत्ति करने आदिकी परीक्षा भीमांसा है ।

१२ अज्ञानी जनोंका आचरण देखकर स्वयं भी बैसा करता है उसमें दोष नहीं जानता । अथवा अज्ञानीके द्वारा लये गये उद्गम आदि दोषोंसे दूषित उपकरण आदिका सेवन करता है । यह अज्ञानवश हुआ अतिचार है ।

१३ शरीरमें, उपकरणमें, वसतिमें, कुलमे, ग्राममें, नगरमें, देशमें, बन्धुमें और पार्श्वस्थ

निरन्तरान्, अनिन्नेवा शीतापनोदनार्थं प्रावरणग्रहणं वा, उद्वर्तनं, ब्रह्मणं वा । उपकरणं विनश्यतीति तैम स्वकायनिकरणं यथा पिच्छविनाशभयावप्रमार्जनं इत्यादिकं । ब्रह्मणं तैलादिना, कमण्डलादीनां प्रक्षालनं वा, वसतिस्तुषादिभक्षणस्य भक्षणादीनां मनसया निवारणं, बहूनां यतीनां प्रवेशनं मदीयं कुलं न सहते इति भाषणं, प्रवेशे कोपः, बहूनां न दातव्यमिति निषेधनं, कुलस्वीय वैयावृत्यकरणं । निमित्ताद्युपदेशश्च तत्र भूमतया ज्ञाने नगरे देव्यै वा अवस्थाननिषेधनं । यतीनां सम्बन्धिनां सुखेन सुखमात्मनो दुःखेन दुःखमित्यादिरतिशारः । पाशर्वस्थानां बन्धना, उपकरणविधानं वा तदुल्लङ्घनाद्यमर्थता । गुह्या ऋद्धित्यागासहृता, ऋद्धिगौरवं, परिवारे कृतादरः । परकीयमात्मसात्करोति प्रियवचनेन उपकरणशानेन । अभिमतरेसात्यागोजनमिमताभावरश्च नितरां रसगौरवं । निकामभोजने, निकामक्षयमादी वा आसक्तिः । सातगौरवं अनात्मवशतया प्रवर्तिततिशारः । उन्मादेन, पित्तं पिशाचद्वेषेन वा परवशता । अथवा ज्ञातिभिः परिवृष्टीतस्य बलात्कारेण गन्धमात्यादिसेवा प्रत्याख्यातभोजनं, रात्रिभोजनं मुखवासताम्बूलादिभक्षण वा स्त्रीभिरनपुंसकैर्वा बलादब्रह्मकरणं । चतुर्षु स्वाध्यायेषु आवश्यकेषु वा आलस्यं । उवचिशब्देन मायोच्यते प्रच्छन्नमनाचारे वृत्तिः । ज्ञात्वा दातुकुलं पूर्वमन्येभ्यः

मुनियोगे ममत्वभाव स्नेह है । उससे हुआ अतीचार स्नेह कहाता है । मेरे इस शरीरको शीत कष्ट देता है । इसलिए चटाई वगैरहसे शीतको रोकना, आग तापना, शीत दूर करनेके लिए कुछ प्रावरण ग्रहण करना, उबटन लगाना, तेलकी मालिश करना । उपकरण नष्ट हो जायेगा इसलिए उससे अपना कार्य न करना, जैसे पिच्छीके नाशके भयसे उससे प्रमार्जन न करना, कमंडलु आदिको धोना । वसतिके तृण आदि खानेको अथवा उसके टूटने आदिको ममत्व भावसे रोकना, मेरे कुलमे बहुत यतियोंका प्रवेश सहा नहीं है ऐसा कहना, प्रवेश करने पर कोप करना, बहुत यतियोंका प्रवेश देनेका निषेध करना, अपने कुलकी ही वैयावृत्य करना, निमित्त आदिका उपदेश देना, ममत्व होनेसे ग्राम नगर अथवा देशमे ठहरनेका निषेध न करना, सम्बन्धी यतियोंके सुखसे अपनेको सुखी और दुःखसे दुःखी मानना इत्यादि अतिचार हैं । पाशर्वस्य आदि मुनियोंकी बन्धना करना, उन्हे उपकरण आदि देना, उनका उल्लंघन करनेमें असमर्थ होना, इत्यादि अतीचारोंकी आलोचना करता है ।

१४ ऋद्धिके त्यागमे असमर्थ होना ऋद्धिगारव है । मुनि परिवारमें आदरभाव होनेसे प्रिय वचन और उपकरण दानके द्वारा दूसरोंका अपनाता है । इष्ट रसका त्याग न करना और अनिष्ट रसमें अनादर होना रसगारव है । अति भोजन अथवा अतिशयनमें आसक्ति सात गौरव है । ये गारव सम्बन्धी अतिचार है ।

१५ आगेने वशमें स्वयं न होनेसे अतिचार होते हैं । उन्मादसे, पित्तके प्रकोपसे अथवा पिशाच आदिके कारण परवशता होती है । अथवा जातिके लोगोके द्वारा बलपूर्वक पकडकर गन्ध माल्य आदिका सेवन, त्यागी हुई वस्तुका भोजन, रात्रि भोजन, मुखवास, ताम्बूल आदिका भक्षण कराया गया है । स्त्रियों अथवा नपुंसकोंके द्वारा बलपूर्वक अब्रह्म सेवन कराया गया हो ।

१६. चार प्रकारकी स्वाध्याय अथवा आवश्यकोंमें आलस्य किया हो ।

१७ उपपन्न शब्दसे माया कही है अर्थात् छिपकर अनाचार करना । दाताका घर जानकर

१. शीपमातपनो-आ० भू० । २. मतस्य प्रा-आ० । ३. रसत्या-अ० आ० । ४. क्यान भी-अ० आ० ।

प्रवेशः । कामीष्वर्धेभ्य यथा परे न आगम्यत तथा वा । भद्रकं मुक्त्वा विरसमशनं युक्तमिति कथनं । ग्लान-
स्वाभावविर्वा बैषाम्बुधं करिष्यामि इति किञ्चिद्गृहीत्वा स्वयं तस्य सेवा । स्वप्नेनाऽभ्योम्यप्रतिसेवा सुमिण-
मिस्फुष्यते । इन्द्र्यक्षेत्रकालभावत्वयेन प्रवृत्तरयातिचारस्यान्यथा कथनं पलिकुञ्चनशब्देनोच्यते । कथं ? सचित्त-
सेवां कृत्वा अचित्तं सेवितमिति । अचित्तं सेवित्वा सचित्तं सेवितमिति वदति । तथा स्वावस्थाने कृतमन्वनि
कृतमिति, सुमिजे कृतं दुर्मिक्षे कृतमिति, विवसे कृतं रानी कृतमिति, अकषायतया संपादितं तीव्रक्रीडाविना
संपादितमिति । यथावत्कृतालोचनो यतियवित्सूरिः प्रायश्चित्तं न प्रयच्छति सावस्वयमेवेवं भ्रम प्रायश्चित्तं
इति स्वयं गृह्णाति स स्वयं शोधकः । एष मया स्वशुद्धिरनुष्ठितेति निवेदन । एवमेतैर्दर्पाधिभिः समापन्नोऽति-
चारं 'उद्धरवि' कथयति । 'कमं' स्वकृतातिचारक्रमं । 'अभिवंतो' अनिराकुर्वन् ॥६१३॥

इय पयविभागियाए व ओधियाए व सल्लुद्धरिय ।
सव्वगुणसोधिकंखी गुरूवएसं समायरइ ॥६१४॥

'इय' एव । पदविभागियाए व विशेषालोचनया वा । 'ओधियाए व' सामान्यालोचनया वा । 'सल्लं'
मायाशाल्यं । 'उद्धरिय' उद्भूत्य । 'सव्वगुणसोधिकंखी' सर्वेषां गुणानां दर्शनज्ञानचारित्रतपसा शुद्धिमभिलषन् ।
'गुरूवएसं' गुरुणोपदिष्ट प्रायश्चित्तं । 'समाधियवि' सम्यगादत्तं । रोषं दैन्यमभ्रद्धान क त्यक्त्वा ॥६१४॥

परिहारालोचनादोषानुक्त्वा गुरुसकाशे आलोचना निन्दना गुणवतीति वदति—

दूसरे साधुओंसे पहले ही किसी बहानेसे भिक्षाके लिए पहुँचना जिससे दूसरे न जान सकें । या
अच्छा भोजन करके यह कहना कि मैंने नीरस भोजन किया है । मैं रोगीकी या आचार्यकी वैया-
वृत्य करूँगा, इस बहानेसे कुछ वस्तु ग्रहण करके स्वयं उसका सेवन करना ।

१८. स्वप्नमें अयोग्य वस्तुके सेवनको सुमिण कहते हैं ।

१९. द्रव्य क्षेत्र काल और भावसे हुए अतिचारको अन्य रूपसे कहना पलिकुञ्चन शब्दसे
कहा जाता है । जैसे सचित्तका सेवन करके कहना कि मैंने अचित्तका सेवन किया है । अचित्तका
सेवन करके कहना कि सचित्तका सेवन किया है । तथा अपने स्थान पर किये गये दोषको 'मार्गमे
किया है' ऐसा कहना । सुभिक्षमें किये गये दोषको दुर्मिक्षमे किया कहना । दिनमें किये को रातमे
किया कहना । अकषाय पूर्वक कियेको कषायपूर्वक किया कहना ।

२०. विधिपूर्वक आलोचना करके आचार्यके प्रायश्चित्त देनेसे पहले स्वयं ही 'यह मेरा
प्रायश्चित्त है' इस प्रकार जो स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण करता है उसे स्वयं शोधक कहते हैं । उसे
आचार्यसे निवेदन करना चाहिए मैंने इस प्रकार स्वयं शुद्धि की है ।

इस प्रकार क्षपक अपने द्वारा किये गये दोषोके क्रमका उल्लघन न करके दर्पादिसे हुए
अतिचारोंको गुरुसे कहता है ॥६१३॥

शा०—इस प्रकार विशेष आलोचना अथवा सामान्य आलोचनाके द्वारा मायाशाल्यको
दूर करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप इन सब गुणोंकी शुद्धिका इच्छुक क्षपक
गुरुके द्वारा कहे प्रायश्चित्तको रोष, दीनता और अभ्रद्धानकी त्यागकर स्वीकार करता है ॥६१४॥

त्यागने योग्य आलोचना दोषोंको कहकर गुरुके समीपमें आलोचना और निन्दनाके गुण
कहते हैं—

कदपावो वि मनुस्सो आलोचणमिदो गुरुसयासे ।

होदि अपिरेण लहुओ उरुहियमारोच्च भारवहो ॥६१५॥

'कदपावो वि मनुस्सो' कृतपापोऽपि मनुष्यः समक्षिताशुभकर्मसंभवोऽपि मनुष्यः । अथवा पापस्याशुभ-
कर्मणः कारणभूताऽर्थवादिरिह पापशब्देनोच्यते, तेनाशुभकर्मः—कदपावोऽपि कृतासंयमाधिकोऽपि । 'आलोचण-
मिदो' कृतालोचनः कृतनिमित्तवच । न्व ? 'गुरुसयासे' गुरुसमीपे । 'होदि' भवति । 'अपिरेण लहुओ'
लघुतमः 'उरुहियमारोच्च' अवतारितमार इव । 'भारवहो' भास्वय बोधा ॥६१५॥

भावशुद्धयर्था आलोचना असत्या भावशुद्धी को वा दोष इत्याह—

सुबहुस्सुदा वि संता जे मूढा सीलसंजमगुणेषु ।

ण उवेंति भावसुद्धिं ते दुक्खणिहेलणा होति ॥६१६॥

'सुबहुस्सुदा वि संता' सुदृष्ट बहुभूता अपि सन्तः । 'जे मूढा' ये मूढाः । 'सीलसंजमगुणेषु' क्षीले
क्षमादिके धर्म, संयमे, त्रतेषु गुणेषु ज्ञानदर्शनतपःषु च । 'भावसुद्धिं' परिधामेन शुद्धि । 'ण उवेंति' नोपयान्ति
ते । 'दुक्खणिहेलणा' दुःखीनिष्पीड्या । 'होति' भवन्ति ॥६१६॥

कृतायामालोचनायां गुरुणा किं कर्तव्यमित्यत आह—

आलोचयं सुणिचा तिक्खुत्तो भिक्खुणो उवायेण ।

जदि उज्जुगोत्ति णिज्जह जहाकदं पट्टवेदव्वं ॥६१७॥

'आलोचयं' आलोचना । 'सुणिचा' श्रुत्वा । 'तिक्खुत्तो' विः पृष्ट्वा । 'भिक्खुणो' मित्रोः । 'उवायेण'
उपायेन । 'जदि उज्जुगोत्ति च' यदि ऋजुरयमिति । 'णिज्जह' ज्ञायते । 'जहाकदं' ज्ञायते । 'पट्टवेदव्वं'
वचनेन आचरणेन वा ज्ञायते प्रायेण
ऋजुता । 'जहा' यथा । 'कद' कृतं पापं सुज्जविति शेषः शुद्धयति तथा 'पट्टवेदव्वं' प्रायश्चित्तं दातव्यं ।

शा०—'कृतपाप' अर्थात् अशुभकर्मका संचय करनेवाला भी मनुष्य । अथवा पाप अर्थात्
अशुभकर्मके कारणभूत असंयम आदिको यहाँ पापशब्दसे कहा है । तब यह अर्थ होता है—असंयम
आदि करनेवाला भी मनुष्य गुरुके समीप आलोचना और निन्दा करके शीघ्र ही हलका हो जाता
है जैसे बोझको उत्तारनेपर बोझा ढोनेवाला हलका हो जाता है ॥६१७॥

भावोंकी शुद्धिके लिए आलोचना की जाती है । भावशुद्धिके अभावमें दोष कहते हैं—

शा०—जो मूढ़ मुनि बहुत अच्छे बहुभूत विद्वान् होकर भी क्षमा आदि धर्ममें, संयममें,
व्रतोंमें, ज्ञान दर्शन और तप गुणोंमें भावशुद्धि नहीं रखते वे दुःखोंसे पीडित होते हैं ॥६१६॥

आलोचना करनेपर गुरुको क्या करना चाहिए, यह कहते हैं—

शा०—आलोचना सुनकर गुरु भिक्षुसे तीन बार उपायसे पूछते हैं—तुम्हारा अपराध
क्या है मैं भूल गया या मैंने सुना नहीं । इत्यादि उपायसे गुरु तीन बार पूछते हैं । यदि 'वचन'
कहनेके बगसे और आचरणसे जानते हैं कि यह सरल हृदय है तो जिस प्रकार किया पापशुद्ध हो

१. ते तनुभवनेन वाचर—शा० ।

अनुभवात्मिभ्युद्धधनावान् व्यवहारिणः प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति सूरयः । भावशुद्धिमन्तरेण पापानपायात् रत्नत्रयस्य निरतिचारत्वाभावात् ॥६१७॥

शुद्धी इतरा वा आलोचना कीदृशी यस्यां सत्यां प्रायश्चित्तं दीयते न च दीयते इत्यत्र आचष्टे—

आदुरसस्त्रे मोसे मालागररायकञ्ज तिक्कुषो ।

आलोचनाय वक्त्राय उज्जुनाय य आहरणे ॥६१८॥

‘आदुरसस्त्रे’ आतुरो व्यापितः स वैद्येन वारत्रयं पृच्छते । किं मुक्तं ? किमाचरितं ? कीदृशी वा रोगस्य वृत्तिरिति । शल्यमपि शरीररुग्णं विः परीक्ष्यते । शुद्धता व्रणस्य जाता न वेति । ‘राजकञ्जं तिक्कुषो’ राजा आगतं कार्यं किमेवं करिष्यामीति विः पृच्छते । ‘आलोचनाय’ आलोचनाया । ‘वक्त्राय’ वक्त्रयागः । ‘उज्जुनाय’ शृङ्खलाय । ‘आहरणे’ दृष्टान्तः । यदि वारत्रयमप्येकस्मिन् वक्ति ततो शुद्धी अन्यथा अन्यदप्यवाच्यते वक्ति शास्त्र ॥६१८॥

पडिसेवणातिचारे जदि’ णो जंपदि जधाकमं सव्हे ।

ण करंति तदो सुद्धिं आगमववहारिणो तस्स ॥६१९॥

‘पडिसेवणातिचारे’ प्रतिसेवनानिमित्तानतीचारात् । तत्र प्रतिसेवा चतुर्विधा द्रव्यक्षेत्रकालभाव-विकल्पेन । द्रव्यप्रतिसेवा त्रि प्रकारा सचित्तमचित्तं मिश्रमिति द्रव्यस्य त्रिविधत्वात् । चित्तं ज्ञानं तथा च प्रयोग—चित्तमात्रं जगत्स्व ज्ञानमात्रमिति यावत् । ज्ञानस्यात्मनः कथञ्चिद्द्रव्यतिरेकात्सात्स्व्याद्वा चित्तशब्देनाभि-

उस प्रकार प्रायश्चित्त देना चाहिए । जो सरल हृदय नहीं होता उसके भावशुद्धि नहीं होती । इसलिए व्यवहार कुशल आचार्य उसे प्रायश्चित्त नहीं देते । भावशुद्धिके बिना पाप दूर नहीं होता । इसलिए उसके रत्नत्रय निरतिचार नहीं होते ॥६१७॥

सरल या वक्र आलोचना कैसी होती है जिसके होनेपर प्रायश्चित्त दिया जाता है या नहीं दिया जाता, यह कहते हैं—

मा०-टी०—वैद्य रोगीसे तीन बार पूछता है—तुमने क्या खाया था, क्या किया था, रोगकी क्या दशा है ? शरीरमें लगे घावकी भी तीन बार परीक्षा की जाती है कि घाव भरा या नहीं ? चोरी होनेपर तीन बार पूछा जाता है कि क्या-क्या चोरीमें गया है, कैमे चोरी हुई है ? मालाकारसे भी तीन बार पूछा जाता है कि तेरी मालाका क्या मूल्य है । राजाने जिसे कार्य करनेकी आज्ञा दी है वह तीन बार पूछता है कि क्या इस प्रकार करूँ ? इसी प्रकार आलोचनाकी परीक्षा भी तीन बार की जाती है । अपना अपराध पुनः कहो ? ये सरल और वक्र आलोचनाके सम्बन्धमें पाँच दृष्टान्त हैं । यदि तीनों बार भी एकरूपसे ही कहता है तो सरल आलोचना है । यदि अन्य अन्यरूपसे कहता है तो वक्र आलोचना है ऐसा समझना चाहिए ॥६१८॥

मा०-टी०—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे प्रतिसेवनाके चार भेद हैं । द्रव्यप्रतिसेवनाके तीन प्रकार हैं क्योंकि सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे द्रव्यके तीन प्रकार हैं । चित्त ज्ञानको कहते हैं । कहा जाता है—जगत् तस्व चित्तमात्र है अर्थात् ज्ञानमात्र है । ज्ञान आत्मासे

धानं । सह चित्तोनात्मना वर्तते इति सचित्तं जीवशरीरत्वेनावस्थितं पुद्गलद्रव्यं । न विद्यते चित्तं आत्मा यस्मिन्पुद्गले तदचित्तं । मिश्रं नाम सचित्ताचित्तपुद्गलसंश्लिष्टिः । पृथिव्यत्तोजोवायुवनस्पत्यः जीवपरिगृहीताः सचित्तसम्बन्धोच्यन्ते । अचित्तं जीवैव परित्यक्तं शरीरं 'तयोक्त्वाद्याय क्षेत्रादिप्रतिसेवना च योज्या । 'अधि चो' अचित्तं न कथयेद्यदि । 'ब्रह्मकर्म' यथाकर्म । 'सम्बे' सर्वान् स्थूलान् सूक्ष्मांश्चातिचारान् । 'च करति' न कुर्वन्ति । 'तयो' तत । 'तस्स सोधि' तस्य शुद्धिः । 'अधमववहृरिणो' आगमानुसारेण व्यवहरन्तः ।

एष्व षु उच्यन्तवाचा चचहरिबन्धा भवन्ति ते पुरित्तः ।

सका परिहरिबन्धा तेते ष्वद्वहि अहि विमुद्धा ॥ []

इति वचनान् सर्वमतिचारं निवेदयत एव ऋजुता, तत्त्वेव प्रायश्चित्तयानं ॥६१९॥

पश्चिसेवणादिचारे जदि 'आजंपदि जहाकर्म सम्बे ।

कुर्वन्ति तद्दो सोधि आगमववहृरिणो तस्स ॥६२०॥

स्पष्टा गाथा ॥६२०॥

यतिना निर्दोषायामालोचनाया कृतायां गणिना किं कर्तव्यमित्याशङ्कितं तद्वधापारं कथयति—

सम्मं खवएणालोचिदम्मि छेदसुदजाणगो गणी सो ।

तो आगममीमंसं करेदि सुत्ते य अत्थे य ॥६२१॥

कथञ्चित् अभिन्न होता है अथवा आत्मामें रहता है इसलिए उसे चित्त शब्दसे कहते हैं । जो चित्त अर्थात् आत्माके साथ रहता है वह सचित्त है । अर्थात् जीवके शरीररूपमें स्थित पुद्गलद्रव्य सचित्त है । और जिस पुद्गलमें चित्त अर्थात् आत्मा नहीं है वह अचित्त है । सचित्त और अचित्त पुद्गलोंका समूह मिश्र है । जीवके द्वारा ग्रहण किये गये अर्थात् जिनमें जीव वर्तमान है उन पृथिवी, जल, आग, वायु और वनस्पतिको सचित्त कहते हैं । जीवके द्वारा त्यागे हुए शरीरको अचित्त कहते हैं । इन सचित्त अचित्तको लेकर क्षेत्र प्रतिसेवना, काल प्रतिसेवना और भाव प्रतिसेवना लगा लेना चाहिए । इन प्रतिसेवनाके निमित्तसे हुए सब सूक्ष्म और स्थूल दोषोंको यथाक्रम यदि नहीं कहता तो आगमके अनुसार व्यवहार करने वाले आचार्य उसकी शुद्धि नहीं करते । आगममें कहा है—

'जो पुरुष सरल भावसे अपने दोष कहते हैं वे प्रायश्चित्त द्वारा विशुद्धि करने योग्य होते हैं । और जिनके विषयमें शंका हो वे प्रायश्चित्त देनेके योग्य नहीं हैं ।'

अतः सब अतिचारोंको कहने वालेके ही सरलता होती है । उसीको प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥६१९॥

था०—प्रतिसेवना सम्बन्धी सब अतिचारोंको क्रमानुसार यदि कहता है तो आगमके अनुसार व्यवहार करने वाले आचार्य उसकी शुद्धि करते हैं ॥६२०॥

यतिके निर्दोष आलोचना करने पर आचार्यको क्या करना चाहिए ? ऐसी आशंका करने पर उसे कहते हैं—

१. तयोक्त्वादानं क्षेत्रादि प्रतिसेवना योज्या—आ०मु० । २. जदि पाकुंदि—अ० । ३. पावहि अ० ।

४. आउंटेदि अ० ।

‘क्षमयेव सम्मं आलोचयन्मिन्’ क्षपणेन सम्यगालोचिते । ‘छेदसूत्रज्ञः सूरिः सः । ‘तो’ पदवात् । ‘आगमजीमंतं’ आगमविचारं । ‘करेदि’ करोति । कथं ? ‘सुते व अन्वे व’ सूत्रे व अर्थे व । इदं सूत्रं अस्य धायमर्थं इति अपराधस्यैवंभूतस्य इदं प्रायश्चित्तमनेन सूत्रेण चेदं निदिष्टं इति प्राग्निस्त्वयसि ॥६२१॥

परिणामश्च निरूपयितव्यस्तदीयः किमर्थमित्यत आह—

पडिसेवादो हाणी बट्टी वा होइ पावकम्मस्स ।

परिणामेण दु जीवस्स तत्थ तिच्चा व मंदा वा ॥६२२॥

‘पडिसेवादो जातस्स पावकम्मस्स परिणामेण हाणी बट्टी वा होइ’ । कीवृत्ती ? तिच्चा वा मन्दा वा इति पदघटना । प्रतिसेवनातो जातस्य पापकर्मणः परिणामेन पाश्चात्त्येन करणेन हानिर्वा दृष्टिर्वा भवति । तीव्रा हानिस्तीव्रा वृद्धिः । मन्दा वा हानिर्मन्दा वा वृद्धिः ॥६२२॥

तदुभयव्याख्यानाय गाथाद्वयमुत्तरम्—

सावज्जसंक्किलिद्धो गालेइ गुणे णवं च आदियदि ।

पुव्वकदं व ददं सो दुग्गदिमवबंधणं कुणदि ॥६२३॥

‘सावज्जसंक्किलिद्धो’ सावद्यसंक्लेशो द्विप्रकारः । सह अवबोधेन पापेन वर्तते इति सावद्य एक । अन्यस्तु संक्लेशचित्तवाधा । न तु सावद्यः । ज्ञानं विमलं किं मम न जायते, सम्पूर्णं चारित्रं शरीरं वा किमर्थमिदमिति-

गा०—क्षपकके द्वारा सम्यक् आलोचना करने पर छेद सूत्र अर्थात् प्रायश्चित्त गाम्त्रका ज्ञाता आचार्य सूत्र और उसके अर्थको लेकर आगमका विचार करता है कि यह सूत्र है और इसका यह अर्थ है । इस प्रकारके अपराधका यह प्रायश्चित्त इस सूत्रमें कहा है, ऐसा पहले विचार करता है ॥६२१॥

दोषके अनुसार प्रायश्चित्तका विचार करने वाले आचार्यको अतिचारके समय तथा उसके बाद होने वाले क्षपकके परिणामोंका भी विचार करना चाहिए क्योंकि—

गा०—प्रतिसेवना अर्थात् असंयम आदिका सेवन करनेसे उत्पन्न हुए पापकर्मकी पीछे हुए शुभ या अशुभ परिणामोंसे तीव्र हानि अथवा तीव्र वृद्धि, मन्द हानि अथवा मन्द वृद्धि होती है । अर्थात् असंयम सेवन करते समय जैसे तीव्र अशुभ परिणामसे तीव्र पाप बन्ध और मन्द अशुभ परिणामसे मन्द पापबन्ध हुआ था वैसे ही आलोचनाके पदचात् तीव्र शुभ परिणाम होनेसे पापकी तीव्र हानि और मन्द शुभ परिणाम होनेसे पापकी मन्द हानि होती है इसका विचार भी आचार्य करते है ॥६२२॥

इन दोनों का व्याख्यान आगे दो गाथाओंसे करते हैं—

गा०—टी०—सावद्य संक्लेश दो प्रकारका है । एक वह जो अबद्य अर्थात् पापके साथ होता है । दूसरा संक्लेश है चित्तकी बाधा । वह सावद्य रूप नहीं होता । जैसे भोग ज्ञान निर्मल क्यों

दुर्बलं तपोयोगासहमिति एवमाधिकस्तात्रिरासाय सावद्यविशेषणं सावद्यसंक्लिष्टः । 'मन्वीषि वृषे' गालयति गुणान् दर्शनज्ञानचारिणाणि । 'बन्धं च आबिषयि' कर्म च भावते अभिन्नम् । 'पुण्यकर्मं च बन्धं कुण्ठयि' पूर्वाजितं च दूरीकरोति कषायपरिणामनिमित्तत्वात् स्थितिवन्धस्य । 'दुष्प्रविषयकारणं' दुर्गतयः नारकत्वाख्यः विशिन्नवेदनासहजसंक्रुलास्तासु भयं बर्द्धयति, यत्कर्मशुभं उभावसौ स्थिरयति ॥६२३॥

पडिसेविता कोई पच्छतावेण उज्जमानमणो ।

सवेगजनिदकरणो देसं चाएज्ज सन्धं वा ॥६२४॥

'पडिसेविता कोई' कश्चित्कृतासंयमादिसेवनोऽपि । 'पच्छतावेण उज्जमानमणो' पश्चात्तापेन दह्यमानचित्तः । 'सवेगजनिदकरणो' संसारभीक्ताजनितासंयमनक्रियः । 'देसं सन्धं वा चाएज्ज' आत्माभिनवसंचितकर्म-पुद्गलरक्षकदेशनिर्जरां वा करोति, समस्तं वा तत् घातयेत् । यदि मध्यमो मन्दो वा परिणामो देशं घातयति । अथ तीव्रः समस्तं इति भावः ॥६२४॥

तो णच्चा सुत्तविद् णालियघमणो व तस्स परिणामं ।

जावदिएण विमुज्जादि तावदियं देदि जिदकरणो ॥६२५॥

'तो' तस्मात् । 'णच्चा' ज्ञात्वा । 'सुत्तविद्' प्रायश्चित्तसूत्रज्ञः सूरिः । किं ? 'तस्स परिणामं' कृतापराधस्य परिणामः । कर्म परकीयः परिणामो ज्ञायते इति चेत् सहासेन तीव्रक्रोधस्तीव्रमान इत्यादिकं सुभासनेव तत्कार्योपलभ्यात्, तमेव वा परिपृच्छय, कीदृशवतः परिणामोऽतिवारसमकालं वृत्त इति । किमिव ? 'णालियघमणो' नालिकया यो धमति सुवर्णकारः तीजनेर्बलाबलं विदित्वा धमन करोति, एवं सूरिरपि अस्य कर्म तनुतरं महद्देति विदित्वा । 'जावदिएण' यावता प्रायश्चित्तं । 'विमुज्जादि' विमुद्धपति । 'तावदि' तावत्परिमाणं प्रायश्चित्तं अल्पं महदा । 'देदि' ददाति । 'जिदकरणो' परिचित्तप्रायश्चित्तदानक्रियः ॥६२५॥

नही होता ? या मेरे सम्पूर्ण चारित्र नयों नहीं है ? मेरा शरीर नयों इतना दुर्बल है कि तपोयोगको सहन नहीं करता ? इत्यादि संक्लेश चित्त बाधारूप है । उससे अलग करनेके लिए सावद्य विशेषण देकर 'सावद्य संक्लिष्ट' कहा है । यह सावद्य संक्लेश सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र गुणोका नाश करता है । नवीन कर्मका बन्ध करता है । पूर्व संचित कर्मोंको हट्ट करता है । क्योंकि स्थिति बन्ध कषाययुक्त परिणामके निमित्तसे होता है । नाना प्रकारके हजारो वेदनाओंसे व्याप्त नारक आदि दुर्गतियोंके भयको बढ़ाता है । अशुभ कर्मको स्थिर करता है ॥६२३॥

भा०-टी०-—कोई असंयम आदिका सेवन करके भी पश्चात्तापके द्वारा अपने चित्तको जलाता है अर्थात् उसे अपने कर्म पर पश्चात्ताप होता है और वह संसारसे भयभीत होकर संयमका पालन करता है । तब वह अपने द्वारा संचित नवीन कर्म पुद्गल स्कन्धके एक देशकी निर्जरा करता है अथवा समस्त कर्म पुद्गल स्कन्धका घात करता है । यदि परिणाम मध्यम या मन्द होते हैं तब एक देशकी निर्जरा करता है । और तीव्र होते हैं तो समस्तका घात करता है ॥६२४॥

भा०-टी०-—अतः प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता और प्रायश्चित्त देनेकी क्रियासे परिचित, आचार्य-जिस अपराधी भिक्षुके परिणामोंको जानकर जितने प्रायश्चित्तसे उसको विमुद्धि हो उतना ही थोड़ा या बहुत प्रायश्चित्त देते हैं । जैसे सुवर्णकार आगका बलाबल जानकर तबनुसार उसे धौंकनी से धौंकता है । उसी प्रकार आचार्य भी उसका अपराध थोड़ा या बहुत है यह जानकर प्रायश्चित्त देते हैं । दूसरेके परिणाम आचार्य कैसे जानते हैं ? इसका उत्तर है कि साथ रहनेसे यह

आउज्वेदसमची विभिन्धिदे म्दिविसारदो वेज्जो ।
रोगादंकाभिहदं जह णिरुजं आदुरं कुणइ ॥६२६॥

‘आउज्वेदसमची’ निज्ञातिसमस्तायुर्वेदः । ‘विभिन्धिदे’ चिकित्सायां । ‘मदिविसारदो’ बुद्ध्या निपुणः । ‘वेज्जो’ वृद्धः । ‘रोगादंकाभिहदं’ महता अल्पेन वा व्याधिना पीडित । ‘आदुरं’ व्याधितं । ‘जह’ यथा । ‘णिरुजं’ कुण्ठितं विशुद्धं करोति ॥६२६॥

एवं पबयणसारसुयपारगो सो चरित्तसोधीए ।

पायच्छिच्चविदण्हू कुणइ विसुद्धं तयं खवयं ॥६२७॥

‘एवं पबयणसारसुयपारगो’ प्रवचने यत्सारभूत श्रुतं तस्य पारगतः । ‘पायच्छिच्चविदण्हू’ प्रायश्चित्त-
क्रमकः । ‘चरित्तसोधीए’ चारित्रशुद्धया । ‘तयं खवयं’ तर्क क्षपकः । ‘विसुद्धं’ कुण्ठितं विशुद्धं करोति ॥६२७॥
स्वविरे व्यावर्णितगुणे असत्यन्योऽपि भवति निर्यापक इति शास्त्राया कथयति—

एदारिसंमि थेरे असदि गणत्थे तहा उवज्जाए ।

होदि पवची थेरो गणधरवसहो य जदणाए ॥६२८॥

‘एदारिसंमि’ व्यावर्णितगुणे । ‘थेरे’ स्वविरे अविद्यमाने । ‘गणत्थे’ गणस्थे । ‘तहा’ तथा । ‘उवज्जाए’
उपाध्याये वाञ्छति । ‘होदि’ भवति । ‘गणधरवसहो’ निर्यापकः । ‘पवची’ प्रवर्तकः । ‘थेरो’ स्वविरविचरप्र-
जितो मार्गज्ञो । ‘गणधरवसहो व’ बालाचार्यो वा । ‘जदणाए’ यत्नेन प्रवर्तमानः । एवमालोचनार्थां गुणदोष-
निरूपणा समाप्ता ॥६२८॥

सो कदसामाचारी सोज्जं कदडुं विधिणा गुरुसयासे ।

बिहरदि सुविसुद्धप्पा अण्णुज्जदचरणगुणकंखी ॥६२९॥

‘सो कदसामाचारी’ स अपक कृतसमाचारः । ‘सोज्जं’ शुद्धिः । ‘कदडुं’ कृत्वा ‘विधिणा’ विधिना ।

ज्ञात हो जाता है कि यह तीव्र क्रोधी या तीव्र मानी है । अथवा उसीसे पूछनेसे कि दोष करते
समय आपके परिणाम कैसे थे, ज्ञात हो जाता है ॥६२९॥

गा०—अथवा जैसे समस्त आयुर्वेदका ज्ञाता और चिकित्सामें निपुण बुद्धि वाला वृद्ध
महती अथवा अल्प व्याधिसे पीडित रोगीको नीरीय करता है ॥६२६॥

गा०—उसी प्रकार प्रवचनके सारभूत श्रुतका पारगामी और प्रायश्चित्तके क्रमका ज्ञाता
आचार्य चारित्रकी शुद्धिके द्वारा उस क्षपकको विशुद्ध करता है ॥६२७॥

उक्त गुणवाला आचार्य न होने पर क्या अन्य भी निर्यापक हो सकता है ? इसका समाधान
करते हैं—

गा०—उक्त गुणवाले आचार्यके तथा उपाध्यायके संघमें न होने पर सावधानता पूर्वक
प्रवृत्ति करने वाला प्रवर्तक अथवा स्वविर अथवा बालाचार्य निर्यापक होता है । जो अल्प शास्त्रज्ञ
होते हुए भी सर्व संघकी मर्यादा चर्याको जानता है उसे प्रवर्तक कहते हैं । जिसे दीक्षा लिए बहुत
काळ बीत गया है तथा जो मार्गको जानता है उसे स्वविर कहते हैं ॥६२८॥

‘गुरुस्यारो’ गुरुसमीपे । ‘विहरवि’ प्रवर्तते । ‘बुधिसुद्ध्या’ सुद्धु विद्युद्वात्मा । ‘अभ्युत्थनचरणगुणकंठी’ अभ्युत्थनचरित्रगुणकांशसमन्वितः ॥६२९॥

एवं वासारत्ते कासेदृण विविधं तवोकम्मं ।

संभारं पडिबज्जदि हेमंते सुहविहारम्मि ॥६३०॥

‘एवं वासारत्ते’ वर्षाकाले ‘कासेदृण’ स्पृष्ट्वा । ‘विविधं’ नामाप्रकारं । ‘तवोकम्मं’ तपःकर्म । ‘संभारं’ संस्तरं । ‘पडिबज्जदि’ प्रतिपद्यते । ‘हेमंते’ शीतकाले । ‘सुहविहारम्मि’ सुखविहारे । अनशने समुद्यतस्य महाम्परिश्रमो न भवति तत्र काले इति सुखविहारमित्युच्यते ॥६३०॥

सम्बपरियाइयस्स य पडिबकमित्तु गुरुणो णिओगेण ।

सत्वं समारुहिस्सा गुणसंभारं पविहरिज्जा ॥६३१॥

‘सम्बपरियाइयस्सय’ सर्वस्य ज्ञानदर्शनचारित्र्यपर्यायस्य अतिचारान् । ‘पडिबकमित्तु’ प्रतिनिवृत्तो भूत्वा । ‘गुणिओगेण’ गुरुपदेशेन । ‘गुणसंभारं’ गुणानां समूहं । ‘सत्वं’ कृत्स्नं ‘समारुहिस्सा’ सम्यगाहृष्टा । ‘पविहरिज्ज’ प्रवर्तते । आलोचनागुणवोधाः ॥६३१॥

कीदृशी वसतियोग्या का वा नेत्येतद्व्याचष्टे उत्तरेण ग्रन्थेन तथा योग्यां निरूपयति—

गंधव्वणभुज्जट्टसत्तचक्कजंतग्गिकम्मफरुसे य ।

णत्तियरजया पाडहियडोंबणडरायमग्गे य ॥६३२॥

‘गंधव्वणभुज्जट्टसत्तचक्कजंतग्गिकम्मफरुसे य’ गायकानां, नर्तकानां, गजानामवसानां च शालायां, तिलमईनकुम्भकारशालायां च यन्त्रशालायां रजकपाटहिकर्षोर्बनटगृहाणां समीपे । राजमार्गस्य वा समीपभूताया वसती ॥६३२॥

गा०—वह क्षपक सामाचारी करके विधिपूर्वक प्रायश्चित्त द्वारा अपने दोषोंकी विशुद्धि करता है । और अच्छी तरहसे आत्माको विशुद्ध करके स्वीकृत चारित्र्यमें गुणोंकी इच्छा करता हुआ गुरुके पासमें साधना करता है ॥६२९॥

गा०—इस प्रकार वर्षाकालमें नाना प्रकारके तप करके सुख विहार वाले हेमन्त ऋतुमें संस्तरका आश्रय लेता है । हेमन्त ऋतुमें अनशन आदि करने पर महान् परिश्रम नहीं होता, सुखपूर्वक हो जाता है इसलिए उसे सुखविहार कहा है ॥६३०॥

गा०—समस्त ज्ञान दर्शन और चारित्र्यके अतिचारोंसे शुद्ध होकर, गुरुके उपदेशसे समस्त गुणोंके समूहको धारण करके क्षपकको समाधि मरणमें लगना चाहिए ॥६३१॥

आगे कौन वसतिका योग्य है और कौन अयोग्य है यह कहते हैं । प्रथम अयोग्यका कथन करते हैं—

गा०—गायनशाला, नृत्यशाला, गजशाला, अश्वशाला, कुम्भकारशाला, यन्त्रशाला, शंख हाथी दाँत आदिका काम करने वालोंका स्थान, कोलिक, भोवी, बाजा बजाने वाले, डीम, नट और राजमार्गके समीपका स्थान ॥६३२॥

**चारणकोट्टककलालकरकचे पुष्पदयसमीपे य ।
एवंविचवसधीए होज्ज समाधीए वाघादो ॥६३३॥**

'चारणकोट्टककलालकरकचे' चारणकोट्टकशालायां, रजकशाकायां, रसवज्जिकशालायां । पुष्पवाटस्य वा जलाशयस्य वा समीपभूताया । 'एवंविचवसधीए' इदृश्यां वनती वसतः । 'होज्ज वाघादो' भवति व्याघातः । कस्य ? 'समाधीए' समाधेयवित्तकामन्यस्य । इन्द्रियविषयाणां मनोज्ञानां शब्दानां रूपादीनां च सन्निधानाच्छब्दबहुलत्वाच्च ध्यानविघ्नो भवतीति प्रतिविध्यते व्यावर्णिता वसति ॥६३३॥

नव तर्हि कथं तिष्ठत्यस्योत्तरमाचष्टे—

**पंचिदियप्पयारो मणसंखोभकरणो जर्हि णत्थि ।
चिद्दुदि तर्हि तिगुचो ज्जाणेण सुहप्पवत्तेण ॥६३४॥**

'पंचिदियप्पयारो' पञ्चानामिन्द्रियाणां स्वविषयानिमुख्येनादरात् प्रकृष्टं गमनं । 'जर्हि' यस्या वसती नास्ति । कीदृगिन्द्रियप्रचारो 'मणसंखोभकरणो' मन संकोभकारी । 'तर्हि' तस्या वसती । 'चिद्दुदि' तिष्ठति । 'तिगुत्तो' कृतमनोवाचकायसरसकः । 'ज्जाणेण' ध्यानेन । 'सुहप्पवत्तेण' सुखप्रवृत्तेन ॥६३४॥

मन सन्नोभहेतु पञ्चानामिन्द्रियाणां प्रचारो यस्या वसती नास्ति तस्यां सर्वस्यां तिष्ठति न वेत्याचष्टे—

**उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए अकिरियाए हु ।
वसइ असंसत्ताए णिप्पाहुडियाए सेज्जाए ॥६३५॥**

'उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए' उद्गमोत्पादनैषणादोषरहिताया । 'अकिरियाए हु' 'आत्मनमुद्दिश्य उपलेपनमार्जनक्रियारहिताया । 'वसइ' वसति आस्ते । 'असंसत्ताए' तनस्वैरागन्तुकैश्च सत्त्वैर्बन्धिताया ।

गा०—टी०—चारणशाला, पत्थरका काम करनेवालोंका स्थान, कलालोंका स्थान, आरासे चीरने वालोंका स्थान, पुष्पवाटिका, मालाकारका स्थान, जलाशयके समीपका स्थान वसतिके योग्य नहीं है । ऐसी वसतिकामें रहनेसे समाधिका व्याघात होता है । इन्द्रियोंके विषय मनोज्ञ शब्द रूप आदिके सम्बन्धसे तथा शब्दोंकी बहुलता—होहल्लेसे ध्यानमें विघ्न होता है । इसलिए ऊपर कही वसतिकामोंका निषेध किया है ॥६३३॥

तब कहाँ रहते हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—जहाँ मनको संकोभ करने वाला पाँचों इन्द्रियोंका अपने विषयोंमें उत्सुकतापूर्वक गमन संभव नहीं है उस वसतिकामें साधु क्षपक मन वचन कायको गुप्त करके, सुखपूर्वक ध्यान करता हुआ निवास करता है ॥६३४॥

मनको संकोभका कारण-पाँचों इन्द्रियोंका विषयोंमें गमन जहाँ नहीं है ऐसी सब वसतिकामोंमें क्या निवास करता है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—जो वसति उद्गम उत्पादन और एषणा दोषसे रहित होती है, अपने उद्देशसे जिसमें किपाई पुताई आदि नहीं कराई गई है जिसमें उसी वसतिकामे रहने वाले तथा बाहरसे

‘विन्वाहृदिगाए’ संस्काररहितायां । ‘शिष्णाए’ वसती ॥६३५॥

निदीया वसतिस्तहि क्व जाधपिसव्या इत्यत्र वसति व्याधर्णयति—

सुहृणिक्रवणपवेसणवण्णओ अवियडजणंधयाराओ ।

दो तिण्ण वि वेसधीओ वेसव्याओ विसालाओ ॥६३६॥

‘सुहृणिक्रवणपवेसणवण्णओ’ अफलेवाप्रवेशनिर्गमनभना । ‘अवियडजणंधयाराओ’ अविवृतद्वारा अनन्वकारात्त्व जघन्यतो द्वे घाले ग्राह्ये । एकत्र क्षपको वसति, अन्वस्यां अन्ये यतयो बाल्लजनात्त्व धर्मजव-
णार्थमायाताः । विवृतद्वारतया शीतवातादिप्रवेशाल्पगत्स्विभाषतनोर्दुस्सहं दुःख स्मात् । शरीरमल्लयागोर्जपि कथमप्रच्छन्ने क्रियेत । अन्वकारबहुले असंयमः स्यात् । असुखनिष्क्रमणप्रवेशानायां आत्मविराचना संयमविरा-
चना च ॥६३६॥

अन्यच्चावष्टे—

घणकुड्ढे सकवाडे गामबहिं बाल्लबुद्धगणजोग्गे ।

उज्जाणघरे गिरिकंदरे गुहाए व सुण्णघरे ॥६३७॥

‘घणकुड्ढे’ दृढकृड्ढये । ‘सकवाडे’ कपाटसहिते । ‘गामबहिं’ ग्रामबाह्ये देशे । ‘बाल्लबुद्धगणजोग्गे’
बालाना वृद्धाना गणस्य चतुर्विधस्य योग्ये उद्यानगृहे । ‘गुहाए’ गुहायां । वा ‘सुण्णघरे’ गृह्यगृहे वा । ‘संघारो
होवित्ति’ क्रियापदाभिसम्बन्धः ॥६३७॥

आने वाले प्राणी आकर वास नहीं करते, तथा जो संस्कार रहित वसति है उसमें साधु निवास करते हैं ॥६३५॥

तब कैसी निर्दोष वसतिमें रहना चाहिए, इसके उत्तरमें वसतिका वर्णन करते हैं—

पा०—टी०—जिसमें बिना कष्टके सुखपूर्वक प्रवेश और निर्गमन होता हो, जिसका द्वार खुला न हो तथा जिसमें अन्वकार न हो । ऐसी दो अथवा तीन विशालवसतिका ग्रहण करनी चाहिए । जघन्यसे दो वसति लेना चाहिए । एकमें क्षपक रहता है । दूसरीमें अन्य यति और धर्म सुननेके लिए आये बाह्यके आदमी रहते हैं । [यदि तीन ग्रहण करते हैं तो एकमें क्षपक, एकमें अन्य यति और एकमें धर्मोपदेश होता है] यदि वसतिका द्वार खुला हो तो शीतवायु आदिके प्रवेशसे हाडचाममात्र शेष रहे क्षपकको दुःसह दुःख होता है । खुले स्थानमें बहू मलमूत्रका त्याग भी कैसे करेगा ? अन्धेरी वसतिमें असंयम होगा - जीवजन्तु दृष्टिगोचर नहीं होंगे । सुखपूर्वक आना जाना सम्भव न होनेसे अपनी भी विराचना होती है और संयम की भी विराचना होती है ॥६३६॥

और भी कहते हैं—

पा०—जिसकी दीवार मजबूत हो, कपाट सहित हो, गाँवके बाहर ऐसे प्रदेशमें हो जहाँ बच्चे बूढ़े और चार प्रकारका संघ जा सकता हो, ऐसी वसतिमें, उद्यानघरमें, गुफामें अथवा सूर्यघरमें क्षपकका संघरा होता है ॥६३७॥

१. काकाओ—बु० । २. मना अर्पि—आ० बु० ।

आगतुषरादीसु वि कडएहिं य चिलिमिलीहिं कायव्वो ।

ख्वयस्सोच्छागारो धम्मसवणमंडवादी य ॥६३८॥

‘आगतुषरादीसु वि’ आगन्तुकैः स्कन्धाचारायतैः साधिकैः कृतेषु गृहादिषु ‘संसारो हीविति’ वक्ष्य-
मानेन सन्बन्धः । उक्तानां वसतीमानामात्रे ‘कडएहिं ख्वयस्सोच्छागारो कावण्वो’ कटकैः क्षपकस्य अवस्थि-
तये प्रच्छादनं कार्यं । ‘धम्मसवणमंडवादी य’ धर्मअवगणनमडपादिकं च । अनेन बहुतरासंयमनिमित्तवसति-
त्वाच्च, संमसाधनवसतिविकल्पश्च कथितः । सेज्जा ॥६३८॥

एवंभूताया वसती संस्तर इत्थंभूत इत्याचष्टे—

पुढवीसिलामओ वा फलमओ तणमओ य संथारो ।

होदि समाधिणिमित्तं उत्तरसिर अह व पुव्वसिरो ॥६३९॥

‘पुढवीसंथारो होवि’ पृथ्वीसंस्तरो भवति । ‘सिलामओ वा’ शिलामयो वा । ‘फलकमओ वा’ फलकम-
यो वा । ‘तणमओ वा’ तृणमयो वा ‘समाधिणिमित्तं’ समाध्यर्थं । ‘उत्तरसिरअव पुव्वसिर’ पूर्वोत्तमस्य उत्तरोत्त-
मांगो वा संस्तरः कार्यं । प्राची दिगम्युदयिकेषु कार्येषु प्रगस्ता । अथवोत्तरा दिक् स्वयंप्रभाद्युत्तरदिग्गततीर्थ-
करभक्त्युद्देशेन ॥६३९॥

भूमिसंस्तरनिरूपणाय भाषा—

अधसे समे असुसिरे अहिसुयअविले य अप्पपाणे य ।

असिणिद्धे षण्णुत्ते उज्जोवे भूमिसंथारो ॥६४०॥

‘अधसे’ अमृद्धी । ‘समे’ अनिमन्यता । ‘असुसिरे’ असुषिरा ‘अविला’ । ‘अहिसुया’ उद्देहिकार-
हिता । ‘अप्पपाणे’ निर्जन्तुका । ‘असिणिद्धे’ अनाद्रा । ‘षण्णुत्ते’ षणा गुप्ता । ‘उज्जोवे’ उद्योतवती भूमि

शा०—सेनाके पड़ावके साथ आये हुए व्यापारियोंके द्वारा बनाये गये घरोंमें और आदि
शब्दसे इस प्रकारके श्रमणोंके योग्य उद्यानगृह आदिमें क्षपकका सन्धरा करना चाहिए । उक्त
प्रकारकी वसतियोंके न मिलनेपर क्षपकके रहनेके लिए बाँसके पत्तोंसे आच्छादित और प्रकाशके
लिए झीरी सहित घर बना देना चाहिए । तथा धर्म सुननेके लिए मण्डप आदि भी बना देना
चाहिए । इससे बहुत असंयममें निमित्त वसतिका त्याग और संयममें साधन वसतिका निर्माण
कहा ॥६३८॥

शा०—इस प्रकारकी वसतिमें इस प्रकारका संस्तर होना चाहिए, यह कहते हैं—समाधिके
निमित्त संथरा पृथिवीमय, या शिलामय या फलकमय—लकड़ीका, अथवा तृणोंका होता है ।
उसका सिर उत्तर की ओर अथवा पूरब की ओर होना चाहिए, क्योंकि लोकमें मांगलिककार्योंमें
पूरब दिशा अच्छी मानी जाती है उसीमें सूर्यका उदय होता है । अथवा उत्तर दिशामें विषेह
क्षेत्रमें स्थित तीर्थकरोंके प्रति भक्ति प्रदर्शित करनेके उद्देशसे उत्तरदिशा भी शुभ मानी जाती
है ॥६३९॥

पृथ्वीमय संस्तरका कथन करते हैं—

शा०—टी०—जो भूमि कठोर हो, ऊँची नीची न हो, सम हो, छिद्र रहित हो, चींटी आदिसे

'भूमिसंधारो' भूमिसंस्तरः । भूमी भूमिर्वाप्यते गात्रकरचरणमर्बनेन । असमाने उद्यत्समो बाधा । सुविरे विले.
वा प्रविष्टा निर्मातास्तपस्वाः पीडयन्ते । आर्द्रा चैवकायिकाना पीडा । अनुद्योते अपरयतः क्वचमसंयमपरि-
हारः । अन्ये तु सप्तम्यन्तर्ता व्याचक्षते । अनुद्योतां अभिनोम्यन्तायामसुविराया इति तपमुक्तं । आवेद्यस्य संस्तर-
स्य अन्यस्याभावात् । अपि च पृथ्वी सिलामजो वा इति वचनेन पृथिवीरूपतया संस्तरस्वीकृते ॥६४०॥

विद्यत्सो य अफुडिदो निष्कंयो स्वब्दो अससत्तो ।

समपद्दो उज्जोवे सिलामजो होदि संधारो ॥६४१॥

विद्यत्सो य विष्वस्तः बाह्यात्कृत्तुनादर्षणात् । 'अफुडिदो' अस्फुटितः । 'निष्कंयो' निश्चलः । 'सम्बो'
समन्तात् । 'असंसत्तो' जीवरहित । पाषाणमत्कुषादिरहित इति यावत् । 'समपद्दो' समपृष्ठः । 'उज्जोव'
उच्चोते । 'सिलामजो होदि संधारो' शिलामजो भवति संस्तरः ॥६४१॥

भूमिसमरंदलहुजो अकुक्कुचोकंग' अप्यभाणो य ।

अच्छिहो य अफुडिदो लण्हो वि य फलयसंधारो ॥६४२॥

'भूमिसमरंदलहुजो' भूम्यवलग्नः, महान् लघुः । 'अकुक्कुचोकंग' अप्यभाणो य' अचलः, एकशरीरः,
निर्जन्तुकः । 'अच्छिहो य' अच्छिन्नः । 'अफुडिदो' अस्फुटितः । 'लण्हो' मसृणः । 'फलयसंधारो' फलक-
संस्तरः ॥६४२॥

रहित हो, जन्तुरहित हो, क्षपकके शरीरके बराबर प्रमाणवाली हो, गीली न हो, मजबूत और
गुप्त हो, प्रकाशसहित हो वही भूमि संस्तररूप होती है । कोमल भूमि शरीर हाथ पैरके दबावसे
दब जाती है । ऊँची-नीची भूमिमें क्षपकको कष्ट होता है । बिल होनेसे उनमें रहनेवाले या
उनसे निकलनेवाले जीवोंको पीडा होती है । गीली होनेसे जलकायिक जीवोंको पीडा पहुंचती
है । प्रकाशरहित भूमिमें कुछ दिखाई न देनेसे असंयमसे वचाव नहीं होता ।

अन्य व्याख्याकार उक्त शब्दोंकी सप्तमी विभक्तिपरक व्याख्या करते हैं कि कठोर भूमिमें,
छिन्नरहितमें संस्तर होना चाहिए आदि । किन्तु यह युक्त नहीं है क्योंकि आघेय संस्तर भूमिसे
भिन्न नहीं है भूमि ही संस्तररूप होती है । तथा 'पुडवीसिलामजोवा' गाथाके इस पदसे संस्तरकी
पृथ्वीरूप कहा है ।

बिज्ञेयार्थ—यदि भूमिमें चींटी आदिका वास होता है तो संन्यासकालमें वे क्षपकको काट
सकती है । जन्तुसहित होनेपर प्राणिसंयमकी विगधना होती है । क्षपकके शरीरके प्रमाणसे
अधिक होनेपर व्यर्थ प्रतिलेखना आदि करना होती है । शरीरके प्रमाणसे कम होनेपर क्षपकको
शरीर संकोचनेसे दुःख होता है । यदि भूमि हड़ न हो तो शरीरके भारसे दबनेपर उसके अन्दर
जन्तु हों तो उन्हें बाधा होती है और क्षपकको भी कष्ट होता है । प्रकट भूमि होनेपर मिथ्या-
दृष्टिजनकोंका सम्पर्क होता है ॥६४०॥

शा०—शिलामय संस्तर आगसे, कूटनेसे अथवा घिसनेसे प्रासुक हुआ हो, टूटा-फूटा न
हो, निश्चल हो, सब ओरसे जीवरहित हो, अर्थात् पत्थरमें रहनेवाले खटमल आदिसे रहित हो ।
समसल हो, ऊँचा-नीचा न हो । प्रकाशयुक्त हो । ऐसा शिलामय संस्तर होता है ॥६४१॥

शा०—फलकसंस्तर सब ओरसे भूमिसे लगा हो, बिस्तीर्ण हो, हलका हो, उठाने लाने ले

जिस्संधी य अपोन्लो गिरुवहदो समधिवास्सणिज्जंतु ।
सुहृपडिल्लेहो मउओ तणसंधारो इवे चरिओ ॥६४३॥

'जिस्संधी य' अन्वितहितः । 'अपोन्लो' अण्डितः । 'जिरुवहदो' निरुपहतः अपूणितः । समधिवास्स-
णिज्जन्तु मुदुस्पथीं निजन्तुकवच । 'सुहृपडिल्लेहो' सुखेन प्रतिश्लेषनीयः सुखेन गोच्य इति यावत् । 'मउओ'
मनुः । 'तणसंधारो' हमे चरिओ' तृणसंस्तरो अवेदन्त्यः ॥६४३॥

जुओ पमाणरइओ उभयकालपडिल्लेहणामुदो ।
विधिविहो संथारो आरोहण्वो तिगुत्तेण ॥६४४॥

'जुओ' युक्तो योग्यः । 'पमाणरइओ' प्रमाणसमन्वितः । नात्यल्पो नातिमहान् । 'उभयकालपडि-
लेहणामुदो' सूर्योदयास्तामनकालद्वये प्रतिश्लेषेण शुद्धः । 'विधिविहो संथारो' शास्त्रनिर्दिष्टक्रमकृतसंस्तरः ।
'आरोहण्वो' आरोहण्यः । केन ? 'तिगुत्तेण' विगुत्तेन कृताशुभमनीषाक्कायनिरोधेन ॥६४४॥

जिसिदिता अप्पाणं सव्वगुणसमण्णिदंमि जिज्जवय ।
संधारम्मि जिसण्णो विहरदि सल्लेहणाविधिणा ॥६४५॥

'जिसिदिता' स्थापयित्वा त्यक्त्वा । 'अप्पाणं' आत्मान । 'सव्वगुणसमण्णिदंमि' सर्वगुणसमन्विते
जिज्जवये' नियोपके । 'संधारम्मि' संस्तरे । 'जिसण्णो' निषण्णो । 'विहरदि' वेष्टते । 'सल्लेहणा विधिणा'
सल्लेखना द्विप्रकारा बाह्याभ्यन्तरा चेति । द्रव्यसल्लेखना भावसल्लेखना च । आहारं परिहाय शरीरसल्लेखना

जानेमें सुकर हो, अचल हो—शब्द न करता हो, एकरूप हो, जन्तुरहित हो, छिद्ररहित हो,
टूटा-फूटा न हो, चिकना हो । ऐसा फलक संस्तर होता है ॥६४२॥

विशेषार्थ—पं० आशाधरजीने अपनी टीकामें 'अप्पमाणो' के स्थानमें 'अप्पमाणो'
पाठ रखकर उसका अर्थ पुरुष प्रमाण किया है अर्थात् फलक क्षपकके शरीरके प्रमाण होना
चाहिए ॥६४२॥

गा०—तृणसंस्तर गाँठरहित तृणसे बना हो, तृणोंके मध्यमें छिद्र न हों, टूटे तृण न लगे
हों, मुदुस्पथवाला हो, जन्तुरहित हो, सुखपूर्वक शुद्धि करनेके योग्य हो, और कोमल हो । ऐसा
अन्तिम तृणसंस्तर होता है ॥६४३॥

विशेषार्थ—पं० आशाधरजी ने अपनी टीकामें 'समधिवास्स' का अर्थ 'सम्यक् रूपसे
अधिवास करनेके योग्य' किया है अर्थात् जिसपर लेटनेसे खाज पैदा न हो ॥६४३॥

गा०—इस प्रकार संस्तर योग्य हो, प्रमाणयुक्त हो—न बहुत छोटा हो, और न बहुत बड़ा
हो, दोनों समय अर्थात् सूर्योदय और सूर्यास्तके समय प्रतिश्लेषना द्वारा शुद्ध किया गया हो, और
शास्त्रमें निर्दिष्ट क्रमके अनुसार बनाया गया हो । ऐसे संस्तर पर अशुभ मन वचन कायका
निरोध करके क्षपकको आरोहण करना चाहिए ॥६४४॥

गा०—टी०—सर्वगुणोंसे सम्पन्न निर्यापकाचार्य पर अपनेको समर्पित करके क्षपक संस्तर
पर आरोहण करता है और सल्लेखनाकी विधिसे विचरता है । सल्लेखनाके दो प्रकार हैं—बाह्य
और अभ्यन्तर । अथवा द्रव्य सल्लेखना और भावसल्लेखना । आहारको त्यागकर शरीरकी सल्ले-

करोति । सम्यग्दर्शनादिभावनाया मिथ्यात्वादिपरिणामांस्तनुकरोति । 'एवं वदति संस्तरौ इयं वदति संस्तरौ
निरूपिती ॥६४५॥

निर्यापकान्तिरूपमिति—

प्रियधम्मा दृढधम्मा संविम्मा वज्जमीरुणो धीरा ।

छन्दहू पञ्चइया वरुचकख्खान्तिमि व विदण्हू ॥६४६॥

'प्रियधम्मा' प्रियो धर्मो येषां ते भवन्ति प्रियधर्माः । 'दृढधम्मा' धर्मो स्थिराः । 'संविम्मा' संविम्माः
संसारभीरवः । 'वरुचकख्खान्तिमि' पापभीरवो । 'धीरा' वृत्तिमन्तः । 'छन्दहू' अभिप्रायज्ञाः । 'पञ्चइया' प्रत्य-
यिताः । वरुचकख्खान्तिमि व विदण्हू' प्रत्याख्यानक्रमज्ञाः । धर्मचारित्रं तेन प्रियचारित्रा मत्तयः । तत्प्रचारित्र्ये
क्षपकमपि वर्तयितुम्यत्सहने तस्साह्याम्यतां च कर्तुं । यद्यपि चारित्र्येऽनुरागवन्तः सम्यग्बुद्धितया तथापि चारित्र-
मोहोद्यमाद्यदुष्चारित्रा भवन्ति इति विशेषणमुपादत्ते दुष्चारित्रा इति । अदुष्चारित्रा हि न असंयमं परिहर्युः ।
कस्मात्संयमं परिहरन्ति पापभीरवो यस्मात् ? संविम्मा विशिष्टव्यसननि^१बानभूतचतुर्गतिभ्रमणभयव्याकुलाः ।
धीरा इत्यनेन परीषहसहा इत्याख्यायते । परिषहैः पराजितो न संयमं परिपालयतीति मन्यते । क्षपकेण
अनुक्तमपि तद्विज्ञितेनावगततत्प्रयोजना वैयावृत्ये वर्तन्ते । ^२मानभिप्रायज्ञा इति वर्तयितुं छन्दहू इत्युक्तं ।
प्रत्ययितव्या गुरु^३धर्मो असंयमं कुर्वन्ति क्षपके वैयावृत्योद्यता इति साकारनिराकारप्रत्याख्यानक्रमज्ञाः ॥६४६॥

खना करता है । और सम्यग्दर्शन आदि भावनासे मिथ्यात्व आदि परिणामोंको कृपा करता है ।
इस प्रकार वसति और संस्तरका कथन किया ॥६४५॥

अब निर्यापकोंका कथन करते हैं—

गा०—जिन्हें धर्म प्रिय है, जो धर्ममें स्थिर हैं, संसारसे भीरु हैं, पापसे डरते हैं, धैर्यवान्
हैं, अभिप्रायको जानते हैं, विश्वासके योग्य हैं, प्रत्याख्यानके क्रमको जानते हैं, ऐसे यति निर्यापक
होते हैं ॥६४६॥

टी०—यहाँ धर्मसे चारित्रका अभिप्राय है । अतः निर्यापक यतियोंको चारित्र प्रिय होता
है । इससे वे क्षपकको भी चारित्रमें प्रवृत्ति करनेके लिए उत्साहित करते हैं और उसकी सहायता
करते हैं । यद्यपि सम्यग्दृष्टि होनेसे यति चारित्रमें अनुराग रखते हैं तथापि चारित्र मोहका उदय
होनेसे चारित्रमें दृढ़ नहीं होते । इसलिए 'दृढ़ चारित्र' विशेषण दिया है । जिनका चारित्र दृढ़
नहीं होता वे असंयमका परिहार नहीं करते । पापभीरु होनेसे असंयमका परिहार करते हैं
क्योंकि वे विशिष्ट दुःखोंकी खानरूप चार गतियोंमें भ्रमणके भयसे व्याकुल होते हैं । तथा 'धीर'
पदसे परीषहोंका सहने वाले कहा है । जो परीषहोंसे हार जाता है वह संयमका पालन नहीं करता
ऐसा माना जाता है । क्षपके न कहने पर भी उसके संकेत मात्रसे उसका अभिप्राय जानकर
वैयावृत्यमें प्रवृत्त होते हैं इसलिए निर्यापक अभिप्रायको न जानने वाले नहीं होते । यह बतलानेके
लिए 'छन्दहू' कहा है । तथा गुरुओंके द्वारा विश्वास योग्य होते हैं कि ये असंयम नहीं करते और
क्षपककी वैयावृत्यमें तत्पर रहते हैं । वे साकार और निराकार प्रत्याख्यानके क्रमको जानते हैं ।
अर्थात् उक्त गुण युक्त होने पर भी जिन्होंने पहले किसी क्षपककी समाधि नहीं देखी है ऐसे यतियों-

१. 'एवं... संस्तरौ' इति पाठो वास्ति आ० मु० । २. विधान-ज० । ३. नामान-ज० मु० ।

**कृष्णकण्ठे कुसला समाधिकरमुज्ज्वा सुदरहस्ता ।
गीदत्वा भयवतो अबदालीसं तु णिज्जवया ॥६७७॥**

'कृष्णकण्ठे कुसला' योग्यमिदमयोग्यमिति भक्त्यानपरीक्षया कुसलाः । 'समाधिकरमुज्ज्वा' क्षपक-
चित्तसमाधानकरणोद्यता । 'सुदरहस्ता' भुक्तप्रायचित्तग्रन्था । 'गीदत्वा' गृहीतपुत्रार्थाः । भगवन्ते भगवन्त'
स्वपरीद्धरणमाहात्म्यवन्तः । 'अबदालीसं तु' अष्टचत्वारिंशत्संख्या । 'णिज्जवया' नियोपका यतयः ॥६७७॥

निर्यापका इमं इममुपकारं कुर्वन्तीति कथनायोत्तरप्रबन्धः—

**आमासणपरिभासणचंक्रमणसयण-णिसीदणे ठाणे ।
उब्बत्तणपरियत्तणपसारणा-उंटणादीसु ॥६४८॥**

'आमासणपरिभासणचंक्रमणसयणणिसीदणे ठाणे' क्षपकस्य शरीरैकदेशस्य स्पर्शनं आमर्शनं, समस्त-
शरीरस्य हस्तेन स्पर्शनं परिमर्शनं । चक्रमणमित्ततो गमनं शयनं । 'णिसीदणे ठाणे' निषद्यास्थानमित्येतेषु ।
'उब्बत्तणपरियत्तणपसारणा-उंटणादीसु' उद्वर्तने पाश्चात्यास्वान्तरसंचरणे । हस्तपादादिप्रसारणे आकुञ्चन
मित्यादिषु च ॥६४८॥

**संजदकमेण खवयस्स देहकिरियासु णिच्चमाउत्ता ।
चदुरो समाधिकामा ओल्लगंता पडिच्चरंति ॥६४९॥**

'संजदकमेण' प्रयत्नेनैव । 'खवयस्स' क्षपकस्य । 'देहकिरियासु' शरीरक्रियामु व्यावर्णितासु । 'णिच्च'
प्रतिदिनं । 'आउत्ता' आयुक्ता । 'चदुरो' चत्वारो यतयः । समाधिकामा क्षपकस्य समाधिकरणमभिलषन्तः ।
'ओल्लगंता' उपासना कुर्वन्तः । 'पडिच्चरंति' प्रतिचारका भवन्ति ॥६४९॥

को गुरु क्षपककी परिचर्यामें नियुक्त नहीं करते । किन्तु जो विश्वस्त होते हैं उन्हें ही नियुक्त करते
हैं ॥६४९॥

शा०—जो यह योग्य है और यह अयोग्य है इस प्रकार भोजन और पानकी परीक्षामें
कुशल होते हैं, क्षपकके चित्तका समाधान करनेमें तत्पर रहते हैं, जिन्होंने प्रायश्चित्त ग्रन्थोंको
सुना है जो सूत्रके अर्थको हृदयसे स्वीकार किये हैं, अपने और दूसरीके उद्धार करनेके माहात्म्यसे
शोभित हैं । ऐसे अबदालीस नियोपक यति होते हैं ॥६४७॥

निर्यापक क्या-क्या करते हैं, यह कहते हैं—

शा०—क्षपकके शरीरके एकदेशके स्पर्शन करनेको आमर्शन कहते हैं । और समस्त शरीर-
का हस्तसे स्पर्शन करनेको परिमर्शन कहते हैं । इधर-उधर जानेको चक्रमण कहते हैं । अर्थात्
परिचारक मुनि क्षपकके शरीरको अपने हाथसे सहलाते हैं, दबाते हैं । चलने फिरनेमें सहायता
करते हैं । सोने, बैठने, उठनेमें सहायता करते हैं । उद्वर्तन अर्थात् एक करवटसे दूसरी करवट
लिवाते हैं । हाथ पैर फैलानेमें सहायता करते हैं ॥६४८॥

शा०—चार परिचारक यति मुनिमागके अनुसार क्षपककी ऊपर कही शारीरिक क्रियाओंमें
प्रतिदिन लगे रहते हैं । वे क्षपककी समाधिकी कामना करते हुए उपासनापूर्वक परिचर्या करते
हैं ॥६४९॥

'चत्वारि जणा धम्मं कहुंति विकथानो वण्णिता' इति पयसम्बन्धः चत्वारो धर्मं कथयन्ति विकथाः परित्यज्य । कास्ता विकथा भवन्ति—

असत्चिन्तारथजनपदकंदंष्ट्रप्यस्वणदण्डियकहाओ ।

वज्जिन्ता विकहाओ अज्जप्यविराधनकरीओ ॥६५०॥

'असत्चिन्तारथ जनपदकंदंष्ट्रप्यस्वणदण्डियकहाओ' अतः मण्यते सेव्यते इति भक्तं चतुर्विधाहारः । भक्तस्य, स्त्रीणां, राज्ञां, जनपदानां रामोद्रेकारप्रहाससम्मिथ्यासिष्टवाक्प्रयोगः कन्दर्पः तस्य अर्थस्य, नदानां, नतिकानां च याः कथास्ताः । 'अज्जप्यविराधनकरीओ' आत्मानमविधत्तं इत्याध्यात्मिकं । आत्मनस्त्वरथ-निष्कयनिरूपणं ध्यानं (?) तस्य 'विराधनकरीओ' विराधनाकारिणीः ॥६५०॥

कथं तर्हि कथयन्ति—

अस्सलिदममिडिदमव्वाइडुमणुच्चमविलंविदममंदं ।

कंतममिच्छामेलिदमणत्थहीणं अपुणरुत्तं ॥६५१॥

'अस्सलिदं' अस्सलितं अन्यथा शब्दोच्चारण शब्दस्खलना, विपरीतार्थनिरूपणा अर्थस्खलना । 'अमिडिदं' अनाजोदितं । असंमुख्यं । 'अव्वाइडुदं' अग्राहलं अप्रतिहतं प्रत्यक्षादिना । 'अणुच्चं' नातिमहदुच्चनि-समेतं । 'अविलंविदं' नातिचानैः । 'अमंबं' नात्यल्पबोधं । 'कंतं' श्रोत्रमनोहरं । 'अमिच्छामेलिदं' मिथ्यात्वै-नानुन्मिथं । 'अणत्थहीणं' अभिव्येयवृत्त्यं यत्र भवति । 'अणुणरुत्तं' उत्कृत्य अविशेषेण भूयोऽभिधानं पुनरुक्तं यथा तत्पुनरुक्तं न भवति ॥६५१॥

णिद्धं मधुरं हिदयंगमं च पण्हादणिज्ज पत्थं च ।

चत्वारि जणा धम्मं कहुंति णिच्चं विचित्तकहा ॥६५२॥

चार परिचारक मुनि विकथा त्यागकर धर्मकथा कहते हैं ऐसा आगे कहेंगे । यहाँ विकथानों-को कहते हैं—

गा०—जो भोगा या सेवन किया जाता है वह भक्त है अर्थात् चार प्रकारका आहार । आहारकी कथा, स्त्रीकी कथा, राजाकी कथा, देशोंकी कथा । रागके उद्रेकसे हँसीसे मिथित अशिष्ट वचन बोलना कन्दर्प है । उसकी कथा, नटोंकी और नाचनेवालिगोंकी कथा विकथा है । ये अध्यात्मकी विराधना करती है । जो आत्मासे सम्बद्ध हो उसे आध्यात्मिक कहते हैं । आत्म-तत्त्वके यथार्थ कथनको अध्यात्म कहते हैं । ये कथाएँ उसका विघात करती हैं ॥६५०॥

गा०—टी०—वे मुनि अस्सलित धर्मकथा कहते हैं । कुछका कुछ शब्द बोलना शब्दस्खलन है । विपरीत अर्थ करना अर्थस्खलन है । इस स्खलनसे रहित कथा कहते हैं । एक बातको दुहराते नहीं । सन्वेहमें डालनेवाला कथन नहीं करते । प्रत्यक्ष आविसे अविरोध कथन करते हैं । बहुत जोरसे नहीं बोलते । न बहुत रुक-रुककर बोलते हैं । बहुत मन्द आवाजसे भी नहीं बोलते । कानोंको प्रिय वचन-बोलते हैं । मिथ्यात्वकी बात नहीं करते । ऐसी बात नहीं कहते जिसका कुछ अर्थ ही न हो । जो बात कही हो उसे ही पुनः कहना पुनरुक्त है । वे पुनरुक्त कथन नहीं करते ॥६५१॥

'निष्ठा' श्रियं । 'मधुरं' ललितप्रवचनं । 'हृदयंगमं' श्रोत्रहृदयानुभवसि । 'पस्तुहाहित्वा पत्यं च' सुखदं पत्यं च । 'कथंति' कथयन्ति 'निष्ठां' अनुपूरतं । 'विचिन्तकहा' विचिन्तकथा नानाकथाकुशला ॥६५२॥

कीपुत्री क्षपकस्य कथा भवितुष्या इत्यत्राचष्टे—

खवयस्स कहेद्व्या दु सा कहा जं सुणिपु सो खवओ ।

जहिद्विसोत्तिगभावो गच्छदि संवेगणिव्वेगं ॥६५३॥

'क्षपकस्य' क्षपकस्य । 'सा कहा' सा कथा । 'कहेद्व्या' कथयितुष्या । 'सो खवओ' अती क्षपकः । 'जं' यं कथा । 'सुणिपु' श्रुत्वा । 'जहिद्विसोत्तिगभावो' त्यक्ताशुभपरिणाम । 'गच्छदि संवेगणिव्वेगं' ससार-भीक्ष्णं शरीरभोगनिर्वेदं च प्रतिपद्यते ॥६५३॥

आक्षेवणी य संवेगणी य निव्वेयणी य खवयस्स ।

पावोग्गा होंति कहा ञ कहा विक्खेवणी जोग्गा ॥६५४॥

आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी, निर्वेजनी चेति चतस्रः कथाः । तासां मध्ये का योग्या ? का वायोग्येत्य-
श्रोतारं इतीति । 'आक्षेवणी च' इति आक्षेपणी, संवेजनी, निर्वेजनी च कथा क्षपकस्य श्रोतु, आध्यान्तु च योग्या । विक्षेपणी तु कथा न योग्या इति सूचार्थः ॥६५४॥

तासां कथानां स्वरूपनिर्वेशायोत्तरं गाथाद्वय—

आक्षेवणी कहा सा विज्जाचरणमुवदिससे जत्थ ।

ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम ॥६५५॥

'आक्षेवणी कहा सा' सा आक्षेपणी कथा ग्रथयते । 'जत्थ' यस्या कथाया । 'विज्जाचरणमुवदिससे' ज्ञानं चारित्र्यं चोपदिश्यते । एवंभूतानि मत्यादीनि ज्ञानानि सामायिकादीनि वा चारित्र्याण्येवस्वरूपाणि इति । 'ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम' या कथा स्वसमय परसमय वाश्रित्य प्रवृत्ता सा विक्षेपणी

शा०—नाना कथाओंमें कुशल वे चार परिचारक यति प्रिय, मधुर अर्थान् ललितपद और वर्णवाली, श्रोताके हृदयमें प्रवेश करनेवाली सुखदायक हितकारी कथा निरन्तर कहते हैं ॥६५२॥

शा०—क्षपकको किस प्रकारकी कथा कहनी चाहिए, यह कहते हैं—क्षपकको ऐसी कथा कहनी चाहिए जिसे सुनकर वह अशुभ परिणामोंको छोड़े और संसारसे तथा शरीरमें बिरक्त होवे ॥६५३॥

शा०—चार प्रकारकी कथाएँ होती हैं—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेजनी । इनमेंसे कौन योग्य हैं और कौन अयोग्य है ? इसका उत्तर देते हैं—आक्षेपणी, विक्षेपणी और निर्वेजनी कथा क्षपकके सुनने और कहनेके योग्य है किन्तु विक्षेपणी कथा योग्य नहीं है ॥६५४॥

आगे दो गाथाओंसे उनका स्वरूप कहते हैं—

शा०—टी०—जिसमें ज्ञान और चारित्र्यका उपदेश हो उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं । यथा, मति आदि ज्ञान इस प्रकारके होते हैं अथवा सामायिक आदि चारित्र्यका ऐसा स्वरूप है ।

१. बहदि विभूतिय भावं-ज० ।

मन्त्रोऽथ सर्वथा नित्यं, सर्वथा क्षणिकं, एकमेवानेकमेव वा, सर्वत्र अद्यदेव वा, विज्ञानमाद्यमेव । कर्मकमेवे-
त्सारथिकं परसमयं पूर्वपक्षीकृत्य प्रत्यक्षानुमानेन साधनेन च 'विरोधं प्रत्यक्षं कर्त्तव्यमित्यं, कर्त्तव्यमित्यं, कर्त्त-
व्यमित्यं, कर्त्तव्यमित्यं, इत्यादित्त्वसमवयविक्रममा च विज्ञेयणी ॥६५५॥

संवेद्यणी पुण कदा ज्ञानधारितवतीरिषद्द्विधया ।

विज्ञेयणी पुण कदा शरीरभोगे भवेद्ये च ॥६५६॥

'संवेद्यणी पुण कदा' संवेद्यनी पुनः कथा । 'ज्ञानधारितवतीरिषद्द्विधया' ज्ञानधारितवतीरिषद्द्विधया
अनित्यतत्त्वसम्प्रतिष्ठापनपर । 'विज्ञेयणी पुण कथा' विज्ञेयनी पुनः कथा सा । 'शरीरभोगे भवेद्ये च' शरीरे,
भोगे, भवसत्त्वतो च पराकृमुक्तकारिणी । शरीरात्म्यशुचीनि, रसादिस्वत्प्राप्तुयवत्वात् शुद्धोचितबीजत्वात्,
अशुद्ध्याहारपरिचरितत्वात् अशुचित्वात्निर्गतत्वात् च । न केवलमशुद्ध्याहारपरिचरितत्वात् अशुचित्वात्कामत्प्रभावाः प्राणभूतः
इति शरीरतत्त्वत्वभावात् । तथा भोगा दुर्लभाः स्वैक्यस्वभावमात्मभोगनाद्यो कथा अपि कर्त्तव्यं तृप्ति
जनयन्ति । अत्राग्रे तथा, कम्पानां वा विनासे शोको महानुदेति । देवमनुजयवापि दुर्लभा, दुःखबहुनी अल्प-
शुची इति निरूपणात् । तथा ॥६५६॥

विज्ञेयणी अनुरक्तस आउर्गं यदि हवेज्ज पक्षीणं ।

होज्ज असमाधिभरणं अप्यायमियस्स खवगस्स ॥६५७॥

विज्ञेयणी अनुरक्तस' विज्ञेयणी परसमवयविकायां अनुरक्तस्य । 'आउर्गं' आयुक्तं । 'यदि हवेज्ज'
यदि भवेत् । 'पक्षीणं' प्रकीर्णं । 'होज्ज' भवेत् 'असमाधिभरणं' । 'अप्यायमियस्स' अल्पभूतस्य

जिस कथामें स्वसमय और परसमयकी चर्चा होती है वह विज्ञेयणी है । वस्तु सर्वथा नित्य है, या
सर्वथा क्षणिक है, अथवा एक ही है या अनेक ही है, अथवा सत् ही है या असत् ही है, अथवा
विज्ञानमात्र ही है या शून्य ही है, इत्यादि परसमयको पूर्वपक्ष बनाकर प्रत्यक्ष अनुमान और
आयमसे उसमें विरोध दर्शाकर वस्तुको कर्त्तव्य नित्य, कर्त्तव्य अनित्य, कर्त्तव्य एक, कर्त्तव्य
अनेक इत्यादि स्वसमयका कथन करना विज्ञेयणी कथा है ॥६५५॥

शा०—टी०—ज्ञान धारित्र और तपोभावनासे उत्पन्न शक्तिसम्पदाका निरूपण करनेवाली
कथा संवेद्यनी है । शरीर भोग और भवसन्ततिकी ओरसे विमुक्त करनेवाली कथा विज्ञेयनी है ।
जैसे, शरीर अशुचि है क्योंकि वह रस आदि सात धातुओंसे बना है, रज और बीज उसके बीज
हैं । अशुचि आहारसे वह बढ़ता है और अशुचि स्थानसे निकलता है । शरीर केवल अपवित्र
ही नहीं है वह निस्सार भी है; क्योंकि प्राणियोंका शरीर स्वभावसे अनित्य है ऐसा शरीरके
विषयमें सुना जाता है । तथा स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला, भोजन आदि दुर्लभ भोग किसी तरह
प्राप्त होनेपर भी तृप्ति नहीं देते । उनके प्राप्त न होनेपर अथवा प्राप्त होकर नष्ट होनेपर
संहर्ष शोक होता है । तथा देव और मनुष्यभवा भी दुर्लभ हैं, दुःखसे भरे हैं, सुख अल्प है । इस
प्रकारका कथन विज्ञेयनी कथा है ॥६५६॥

शा०—विज्ञेयणी कथामें अनुरक्तवशामें यदि क्षणिकी आयु समाप्त हो जाये तो अल्प-

संभक्तस्य । यथैव पूर्वपक्षीकृतं दूषणानि भगवाय तदेव तत्त्वमित्यथ्यवसायावसनीचोनज्ञानवर्तमानस्य रत्नत्रयीकाम्यं नास्तीति मन्वते ॥६५७॥

बहुश्रुतस्य तद्दूषणयोगिनी विक्षेपणीतीमां शङ्कां निरस्यति—

आगममाहृष्यगो विक्कहा विक्कलेवणी अपाउग्गा ।

अब्भुज्जदम्मि मरणे तस्स वि एहं अणायदणं ॥६५८॥

'आगममाहृष्यगो वि' बहुश्रुतस्यापि । 'विक्कलेवणी' विक्षेपणी । 'अपाउग्गा' अप्रायोग्या । 'अब्भुज्जदम्मि मरणे' रत्नत्रयाराधनपरं मरणं । 'तस्स वि' बहुश्रुतस्यापि 'एहं' एतत् । 'अणायदणं' अनायतनं अनाधारः ॥६५८॥

अब्भुज्जदंमि मरणे संभारत्थस्स चरमवेलाए ।

तिविहं पि क्कहंति क्कहं तिदंउपरिमोडया तम्हा ॥६५९॥

'अब्भुज्जदंमि मरणे' निकटभूते मरणे । कस्य 'संभारत्थस्स चरमवेलाए' तस्तरत्थस्य अन्तकाले । 'तिविहं पि' क्कहंति कथं सर्वजनी, निर्वेजनी आक्षेपणी वा कथा कथयन्ति । 'तिदंउपरिमोडया' अनुभूतमनोवाक्काया दम्भशब्देनोच्यन्ते तद्भेदनकारणं सूरयः । 'तम्हा' तस्मात् अनायतनत्वाद्भिन्नोपमा ॥६५९॥

जुचस्स तवधुराए अब्भुज्जदमरणवेणुसीसंमि ।

तह ते क्कहंति धीरा जह सो आराहओ होदि ॥६६०॥

'जुचस्स' युक्तस्य । 'तवधुराए' तपोभारेण । 'अब्भुज्जदमरणवेणुसीसंमि' समीपीभूतमरणवसस्थ चिरसि स्थितस्य क्षपकस्य । 'ते धीरा तह क्कहंति' ते धीरास्तथा कथयन्ति । 'जह सो आराधओ होदि' यथासाधारणको भवति रत्नत्रयस्य ॥६६०॥

ज्ञानी क्षपकका असमाधिपूर्वकं मरणं होगा; क्योंकि विक्षेपणीमें दूषण देनेके लिए पहले परमतका कथन होता है । अल्पज्ञानी क्षपक उसे तत्त्व समझ बैठे तो मिथ्याज्ञान और मिथ्या श्रद्धान होनेसे रत्नत्रयकी एकाग्रता नहीं रहती ॥६५७॥

तो क्या बहुशास्त्राभ्यासी क्षपकके लिए विक्षेपणी कथा उपयोगी है ? इस शंकाका निरसन करते हैं—

भा०—बहुश्रुत भी क्षपकके लिए विक्षेपणी कथा उपयोगी नहीं है; क्योंकि मरणके समय रत्नत्रयकी आराधनामें तत्पर रहना होता है । अतः उसके लिए भी यह कथा अनायतन है वह उसका आधार नहीं है ॥६५८॥

भा०—जब सस्तरपर स्थित क्षपकका अन्तकाल होता है और मरण निकट होता है तब अशुभ मनवचनकायको निमूल करनेवाले साधु सर्वजनी, निर्वेजनी और आक्षेपणी इन तीन ही कथाओंको कहते हैं । अतः विक्षेपणी कथा अनायतनरूप है ॥६५९॥

भा०—जो तपका भार उठाये हुए है अर्थात् तपस्यामें लीन है और निकटवर्ती मरणरूपी बाँसके अग्रभागपर खड़ा है उस क्षपकको वे धीर परिवारक ऐसा उपदेश देते हैं जिसमें वह रत्नत्रयका आराधक होता है । अर्थात् क्षपककी स्थिति उस नटके समान है जो सिरपर बोझ

चत्वारि जप्ता भवं उवकप्येति अगिलाए पाजोगं ।

छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥६६१॥

'चत्वारि जप्ता' चत्वारो यतय । 'भवं' भवन । 'उवकप्ये' प्रायोत्थं उवचमादिदोषानुग्रहं । 'उव-
कप्येति' आनयन्ति । 'अगिलाए' ग्लानिमन्तरेण । किमन्तं कालमानंयाम इति संक्लेशं विना । 'छंदियं'
अपकेय इष्टं भवनं पानं वा । क्षुत्पिपासापरीषद्प्रथान्तिकरणक्रममित्येतावता तेनेष्टं न तु लौल्यात् । 'अव्यव-
बोसं' वातपित्तकलेमणामजनकं । क आनयन्ति ? 'अमाइणो' मायारहिताः अयोग्यं योग्यमिष्टि ये नानयन्ति ।
'लद्धिसंपण्णा' मोहान्त रायस्योपशमाद्भिक्षालब्धिसमन्विता । अलब्धिमाम्क्षपकं क्लेशयति । प्रायावी अयोग्यं
योग्यमिति कल्पयेत् ॥६६१॥

चत्वारि जप्ता पाजयमुवकप्येति अगिलाए पाजोगं ।

छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥६६२॥

चत्वारि जप्ता पाजय इति स्पष्टार्थां वाया—सूरिणा अनुज्ञाती निवेदितात्मानो दौ दौ पृथग्भक्तः पृथ-
क्पानं पानयतः ॥६६२॥

चत्वारि जप्ता रक्खन्ति इवियमुवकप्यियं तयं तेहिं ।

अगिलाए अप्पमत्ता खवयस्स समाधिभिच्छंति ॥६६३॥

तैरानोतं भक्तं पानं वा चत्वारो रक्षन्ति प्रमादरहिताः जप्ता यथा न प्रविशन्ति, यथा वापरे न
पातयन्ति ॥६६३॥

उठाये बाँसके अन्नभागपर अपनी कलाका प्रदर्शन करता है अतः परिचारक ऐसा ही प्रयत्न करते
हैं जिससे वह सफल हो ॥६६०॥

ग०—चार परिचारक यदि उस क्षपकके लिए उसको इष्ट खान-पान विना ग्लानिके
लाते हैं। उन्हें ऐसा संक्लेश नहीं होता कि कबतक हम इसके लिए लावे। तथा खान-पान उद्गम
आदि दोषोंसे रहित होता है। और बात पित्त कफको उत्पन्न करनेवाला नहीं होता। क्षपक
भी लिप्तावश आहार पसन्द नहीं करता। किन्तु भूख और प्यास पगीपहको शान्त करनेमें
समर्थ खान-पानकी इच्छा करता है। जो यदि आहार लाते हैं वे मायावी नहीं होते, अयोग्य
आहारको योग्य नहीं कहते। मायावी अयोग्यको योग्य कह सकता है। तथा वे मोह और
अन्तरायकर्मोंका क्षयोपशम हानेसे भिक्षालब्धसे युक्त होते हैं। उन्हें भिक्षा अदृश्य मिल जाती
है। अलब्धिमाम् मुनि भिक्षा न मिलनेपर खाली हाथ लौटकर क्षपकको कष्ट पहुँचाना है ॥६६१॥

ग०—चार परिचारक मुनि क्षपकके लिए विना ग्लानिके उद्गम आदि दोषोंसे रहित,
वात पित्त कफको पैदा न करनेवाला तथा क्षपककी प्यास परिषद्को शान्त करनेवाला पानक
लाते हैं। वे लानेवाले यदि मायारहित और भिक्षालब्धसे सम्पन्न होते हैं। आचार्योंको अनुज्ञासे
स्वयं अपनेको उपस्थित करनेवाले दो-दो परिचारक भोजन और पान अलग-अलग लाते
हैं ॥६६२॥

ग०—चार यदि उन यतियोंके द्वारा लाये गये खान-पानकी विना किमी प्रकारकी
ग्लानिके प्रमादरहित होकर रक्षा करते हैं कि उसमें त्रसादि न गिरे अथवा कोई उसमें त्रसादि

काश्यपादी स्रग्भं चत्वारि पदिद्भवन्ति खवयस्त ।
पडिलेहति य उवचोकाले सेज्जुवधिसंधारं ॥६६४॥

'काश्यपादी स्रग्भं' पुरीषप्रभृतिकं मर्गं सर्वं । क्षपकस्य चत्वारः । 'पदिदिभवन्ति' प्रतिष्ठापयन्ति ।
'पडिलेहति य' प्रतिकल्पन्ति च । 'उवचो काले' उच्यतास्तममकालवेलायोः । 'सेज्जुवधिसंधारं' वसतिमुपकरणं,
संस्कारं च ॥६६४॥

खवगस्त षरदुवारं सारकखति जदणाए दु चत्वारि ।
चत्वारि समोसरणदुवारं रकखति जदणाए ॥६६५॥

'खवगस्त' क्षपकस्य । 'षरदुवारं' गृहद्वारं । 'सारकखति' पालयन्ति । 'खवगए' यत्नेन । 'चत्वारि'
चत्वारः । असंयतान् शिक्षकावच निवेद्भुं द्वारपालायन्ते । 'चत्वारि' चत्वारः । 'समोसरणदुवारं' समवसरण-
द्वार । 'खवगए' यत्नेन । 'सारकखति' पालयन्ति ॥६६५॥

जिदणिहा तन्लिच्छा रादो जग्गति तह य चत्वारि ।
चत्वारि गवेसंति खु खेचे देसप्पवत्तीओ ॥६६६॥

'जितनिहा' जितनिद्रा 'तन्लिच्छा' निद्राजयलित्स्वव- । 'रादो' रात्री । 'जग्गति' जागरं कुर्वन्ति ।
'तह य' तत्र क्षपकमन्त्राद्यैः । 'चत्वारि' चत्वारः । 'गवेसंति खु' परीक्षां कुर्वन्ति । 'खेचे' क्षेत्रे स्वाध्यायिते ।
'देसप्पवत्तीओ' देशस्य क्षेमवार्ता ॥६६६॥

वाहिं असइवडियं कहति चउरो चदुव्विचकहाओ ।
ससमयपरसमयविद् परिसाए समोसदाए दु ॥६६७॥

जन्तु न गिरा दे । वे सब क्षपककी समाधिके इच्छुक होते हैं कि उसकी समाधि निविघ्न पूर्ण
हो ॥६६३॥

गा०—चार मुनि क्षपकके सब मलमूत्र उठानेका कार्य करते हैं । और सूर्यके उदय तथा
अस्त होनेके समय वसति, उपकरण और संघरेकी प्रतिलेखना करते हैं ॥६६४॥

गा०—चार यति सावधानतापूर्वक क्षपकके घरके द्वारकी रक्षा करते हैं । ऐसा वे असंयमी
जनों और शिक्षकोंको अन्दर प्रवेश करनेसे रोकनेके लिए करते हैं । चार मुनि सावधानतापूर्वक
समवसरण द्वार अर्थात् धर्मोपदेश करनेके घरके द्वारकी रक्षा करते हैं ॥६६५॥

गा०—निद्राको जीत लेनेवाले और निद्राको जीतनेके इच्छुक चार यति रातमें क्षपकके
पास जागते हैं । और चार मुनि अपने रहनेके क्षेत्रमें देशकी अच्छी बुरी प्रवृत्तियोंकी परीक्षा
करते हैं । अर्थात् जिस क्षेत्रमें क्षपक समाधि मरण करता है उस देशके अच्छे बुरे समाचारोंकी
खबर रखकर उनकी परीक्षा करते हैं कि समाधिमें कोई बाधा आनेका तो खतरा नहीं है ॥६६६॥

विशोवाचं—गाथामें 'तन्लिच्छा' पाठ है और विजयोदयामें उसका अर्थ निद्राको जीतनेके
इच्छुक किया है । किन्तु पं० आगाधरजीने अपनी टीकामें 'तन्णिद्रा' पाठ रखकर उसका अर्थ
क्षपककी सेवामें तत्पर किया है । जितनिद्राके साथ यह पाठ संगत प्रतीत होता है ॥६६६॥

'बाहि' बहिः क्षपकावासाद् । 'अथद्वयवि' यावद् द्वे स्वित्प्रानां शब्दो न क्षुप्तो तत्र स्थित्वा । 'बडरो' बरवारः पयविष । 'कषाको' चतुर्विधाः कषाः पूर्वव्यावर्धिताः । कीदृशुदास्ते कयक्य अत बाहू—
'सत्यमनुरसन्मयि' स्वपरपक्षसिद्धान्तमाः । 'परिसाए' परिचदे । 'समेत्साए' हाक् समासद्वये ॥६६७॥

बादी चचारि ज्वा सीहाणुग सह अणोयसत्थविद् ।

धम्मकइयाथ रक्खाहेदुं विहरंति परिसाए ॥६६८॥

'बादी' बादिभः । 'चचारि' ज्वा' बरवारः । 'सीहाणुग' सिंहसमानाः । 'अणोयसत्थविद्' अनेकशास्त्रज्ञः
धम्मकइयाथ धर्मं कथयतां । 'रक्खाहेदुं' रक्षां । 'विहरंति' इततस्तो यान्ति । 'परिसाए' परिचदि ॥६६८॥

उपसंहरन्ति प्रस्तुतं—

एवं महाणुभावा पग्गहिदाए समाविज्जयाए ।

तं भिज्जवन्ति खवयं अडयालीसं हि' भिज्जवया ॥६६९॥

'एवं महाणुभावा' एवं माहात्म्यवन्तः । 'पग्गहिदाए' प्रकृत्या । 'समाविज्जयाए' समाधी क्षपकस्य
प्रयत्नकृत्या । 'तं भिज्जवन्ति खवयं' तं नियामयन्ति क्षपकं । 'अडयालीसं हि' अष्टवत्वारिषत्प्रमाणाः ।
'भिज्जवया' नियामिकाः ॥६६९॥

व्यावर्णितगुणा एव नियामिका इति न ब्राह्मं, किन्तु भरतीरावतयोविचित्रकालस्य परानुत्ते. कालानु-
सारेण प्राणिनां गुणाः प्रवर्तन्ते तेन यथा यथानुताः शोभनगुणाः सम्भवन्ति तथा तथाभूता यतयो नियामकत्वेन
प्राज्ञा इति वर्णयति—

ओ जारिसओ कालो भरदेरवदेसु होइ वासेसु ।

ते तारिसया तदिया चोरालीसं पि भिज्जवया ॥६७०॥

शा०—क्षपकके आवासके बाहर स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्तके ज्ञाता चार यति क्रमसे
एक एक करके सभामें धर्म सुननेके लिए आये हुए श्रोताओंको पूर्ववर्णित चार कथाएँ इस प्रकार
कहते हैं कि प्रवरवर्ती मनुष्य उनका शब्द न सुन सके । अर्थात् क्षपकको सुनाई न दे इतने धीरेसे
बोलते हैं । उससे क्षपकको किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती ॥६६७॥

शा०—अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता और बाद करनेमें कुशल चार मुनि धर्मकथा करनेवालोंकी
रक्षाके लिए सभामें सिहके समान बिचरते हैं । अर्थात् धर्मकथामे कोई विवादी विवाद खड़ा
कर दे तो बाद करनेमें कुशल मुनि उसका उत्तर देनेके लिए तत्पर रहते हैं ॥६६८॥

प्रस्तुत चर्चाका उपसंहार करते हैं—

शा०—इस प्रकार माहात्म्यशाली अडतालीस नियामक यति क्षपककी समाधिमें उत्कृष्ट
प्रयत्नशील रहते हुए उस क्षपककी संसार समुद्रसे निकलनेके लिए प्रेरित करते हैं ॥६६९॥

ऊपर कहे गुणवाले यति ही नियामक होते हैं ऐसा अर्थ नहीं लेना । किन्तु भरत
और ऐरावत क्षेत्रमें कालका विचित्र परिवर्तन होता रहता है । और कालके अनुसार
प्राणियोंके गुण भी बदलते रहते हैं । अतः जिस कालमें जिस प्रकारके शोभनीय गुण सम्भव हैं

'सो आरिक्तो कालो इत्यारिक्त' यो यावुकालो । 'नरवेरकवेतु बल्लेवु' भरतीरावतेवु वनववेवु । पञ्चमरताः षड्भरतावतास्ते निर्यापकास्तारिक्ता तावुन्यूताः कालानुगुणा इति यावत् । 'तद्वहो' तस्मिन्काले ग्राह्या इत्यर्थः ॥६७०॥

एवं चदुरो चदुरो परिहृषेद्वग्या य जदभाए ।

कालम्मि संकिलिङ्गमि आव चचारि साधेति ॥६७१॥

णिज्जावया य दोण्णि वि होंति जइण्णेण कालसंसयणा ।

एक्को णिज्जावयो ण होइ कइया वि जिणसुणे ॥६७२॥

स्पष्टार्थोत्तरमायाद्वयमिति न व्याख्यायते ।

जघन्यतो ही निर्यापको इति किमर्थमुच्यते । एको जघन्यतो निर्यापकः कस्मान्नोपन्यस्त इत्याशङ्क्याया एकस्मिन्निर्यापके दोषमाचष्टे—

एगो जइ णिज्जवओ अप्पा चत्तो परो पवयणं च ।

वसणमसमाधिमरणं उड्ढाहो दुग्गदी चावि ॥६७३॥

एको यदि निर्यापकः । 'अप्पा चत्तो' आत्मा त्यक्तो भवति निर्यापकेण, परः क्षपकस्त्यक्तो भवति । 'पवयणं च' प्रवचनं च त्यक्तं भवति । 'वसणं' व्यसनं दुःखं भवति । 'असमाधिमरणं' समाधानमन्तरेण मृतिः स्यात् । 'उड्ढाहो' धर्मदूषणा भवति । 'दुग्गदी चावि' दुर्गतिश्च भवति ॥६७३॥

एवं निर्यापकेणान्मा त्यक्तो भवति, एवं क्षपक इत्येतत्कथयन्ति—

खवगपडिजग्गाए भिक्खग्गाइणादिमकुणमाणेण ।

अप्पा चत्तो तन्निवरीदो खवगो हवदि चत्तो ॥६७४॥

उस कालमें उन गुणवाले यदि निर्यापकरूपसे ग्राह्य हैं यह कहते हैं—

गा०—पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रोंमें जब जैसा काल हो तब उसी कालके अनुकूल गुणवाले चवालीस निर्यापक स्थापित करना चाहिए ॥६७०॥

गा०—इस प्रकार ज्यों-ज्यों काल खराब होता जाये त्यों-त्यों देशकालके अनुसार सावधानतापूर्वक चार-चार निर्यापक कम करते जाना चाहिए । अन्तमें चार निर्यापक ही समाधि-मरणको सम्पन्न करते हैं । अधिक काल खराब होनेपर कमसे कम दो निर्यापक भी होते हैं । किन्तु जिनागममें किसी भी अवस्थामें एक निर्यापक नहीं कहा ॥६७१-६७२॥

जघन्यसे दो निर्यापक क्यों कहे ? जघन्यसे एक निर्यापक क्यों नहीं कहा ? ऐसी आशंकाओंमें एक निर्यापकमें दोष कहते हैं—

गा०—यदि एक निर्यापक होता है तो निर्यापकके द्वारा आत्माका भी त्याग होता है, क्षपकका भी त्याग होता है और प्रवचनका भी त्याग होता है । तथा दुःख उठाना होता है । क्षपकका असमाधिपूर्वक मरण होता है, धर्ममें दूषण लगता है और दुर्गति होती है ॥६७३॥

एक निर्यापकके द्वारा आत्मा और क्षपक इस प्रकार त्यक्त होते हैं, यह कहते हैं—

क्षयपडिजन्मभाए इत्यनया गणया अनैवं पवचटना 'क्षयपडिजन्मभाए' भिक्षाग्रहणं, निद्रां, कायमलत्वावं वाञ्छुर्मता निर्यापकेन 'क्षयपडिजन्मभाए' क्षयकार्यकरणे । 'अप्या चतो' आत्मा त्यक्तो भवति । अक्षनाग्रहणान्निद्राया अभावात् कायमलानां वाञ्छितराकरचाम्महृती निर्यापकस्य पीडा । 'सम्बन्धरीवो षी' निर्यापको भिक्षां भ्रमति निद्रातिशयशरीरमलनिरासार्यं याति, 'क्षयवो चतो भवति' क्षयकस्त्यक्तो भवति ॥६७४॥

खवयस्स अप्पणो वा चाए चतो दु होइ अइधम्मो ।

आणस्स य बुच्छेदो पवयणचाओ कओ होदि ॥६७५॥

'क्षयवस्त अप्पणो वा चाए' क्षयकस्यात्मनो वा त्यागे । 'चतो दु होइ अइधम्मो' त्यक्तो भवति यति-धर्मः । यतिधर्मो वैयानुरूपकरणं स परित्यक्तो भवति क्षयकमपह्राय गमने । अगमने तु आवश्यकानि यतिधर्मेषु त्यक्तानि भवन्ति शक्तिनैकत्यात् । 'आणस्स य बुच्छेदो' ज्ञानस्यापि व्युच्छेदो भवति, निर्यापकेन सह मृति-भूययाति । 'सवो' तस्मान् । 'पवयणचाओ होइ' प्रवचनत्यागो भवति । प्रवचनशब्देनागम उच्यते । प्राज्ञा हि कैचिदेव' भवन्तीति चेदेकका निर्यापका अनक्षनादिनातिखिन्ना मृतिभूयेयुः कः शास्त्राभ्युपदिशेत्^२ कश्च चारयेदिति प्रवचनत्यागः ॥६७५॥

व्यसनं व्याचष्टे—

चायम्मि क्षीरमाणे वसणं खववस्स अप्पणो चावि ।

खवयस्स अप्पणो वा चायम्मि हवेज्ज असमाधि ॥६७६॥

'चायम्मि क्षीरमाणे' त्यागे क्रियमाणे । 'वसणं खववस्स' क्षयकस्य दुःख भवति, प्रतिकाराभावात् । 'अप्पणो वा वसणं' निर्यापकस्य वा व्यसनं भवति अक्षनादित्यागात् । असमाधिमरणं व्याचष्टे—'चायम्मि'

शा०-टी०—क्षयकका कार्य करते रहनेसे निर्यापक भिक्षाग्रहण, निद्रा और मलमूत्रका त्याग नहीं कर सकता । अतः वह आत्माका त्याग करता है क्योंकि भोजन न करने से निद्रा नहीं आती । और शारीरिक मल न त्यागनेसे निर्यापकको कष्ट होता है । यदि निर्यापक भिक्षाके लिए भ्रमण करता है तथा सोता है और शरीरमल त्यागने जाता है तो क्षयकका त्याग करता है ॥६७४॥

शा०-टी०—अपना अथवा क्षयकका त्याग करनेपर यतिधर्मका त्याग होता है । अर्थात् यतिका धर्म वैयानुरूप करना है । क्षयकको छोड़कर जानेपर उसका त्याग होता है । न जानेपर यतिधर्ममें आवश्यक प्रवचन हैं उनका त्याग होता है । ज्ञानका भी व्युच्छेद होता है क्योंकि निर्यापकके साथ वह भी मर जाता है । और ऐसा होनेसे प्रवचनका त्याग होता है । यहाँ प्रवचन शब्दसे आगम कहा है । विद्वान् तो बिरल ही होते हैं । अकेला निर्यापक उपवास आदिसे अति-खिन्न होकर यदि मर जाये तो कौन शास्त्रोंका उपदेश देगा और कौन शास्त्रोंको याद रखेगा । अतः प्रवचनका त्याग होता है ॥६७५॥

शा०—क्षयकको त्यागने पर क्षयकको दुःख होता है क्योंकि उसका कोई प्रतिकार नहीं

स्थाने तति । 'क्षयकस्य असमाधिभरणं भवति, चित्तसमीपं कुर्वतः समीपे अभावात् । 'असमाधि वा' निर्यापकस्य वा । 'इच्छेत्' भवेत्, असमाधिः अक्षनावित्यागवन्तितदुःखस्याकुलस्य ॥६७६॥

उदाहो इत्येतत् सुप्तं व्याचष्टे—

सेवेज्ज वा अकल्पं कज्जा वा जायणाइ उद्दहाइ ।

तण्हाकुभादिभग्गो खवओ सुण्णम्मि पिज्जवहे ॥६७७॥

'सेवेज्ज वा अकल्पं' अयोग्यसेवां कुर्यात्, अस्थितभोजनाधिकं पार्ष्णवर्तित्यसति । 'कुण्णा वा' कुर्वाद्वा । 'असमाधि उद्दहाइ' मिथ्यादृष्टीना गत्वा याचते क्षुधा वा तृषा वा अभिपूतोऽहं अस्मि पानं वा वेहीति । 'सुण्णम्मि पिज्जवणे' अमति निर्यापके ॥६७७॥

दुग्धादि एतद्व्याचष्टे—

असमाधिणा व कालं करिज्ज सो सुण्णगम्मि पिज्जवणे ।

गच्छेज्ज तवो खवओ दुग्धादिसमाधिकरणेण ॥६७८॥

'असमाधिणा वा' अमति निर्यापके समीपस्थे समाधिभरणेण कालं कुर्यात् । ततस्तेन अममाधिभरणेण । 'खवओ दुग्धादि गच्छेज्ज' क्षपको दुर्गतिं यायात् अशुभध्यानात् ॥६७८॥

सल्लेहणं सुणिचा जुत्ताचारेण पिज्जवेज्जंतं ।

सव्वेहिं वि गंतव्वं अदीहिं इदरत्थ भयणिज्जं ॥६७९॥

'सल्लेहणं' सल्लेखनां । 'सुणिचा' श्रुत्या । 'जुत्ताचारेण' मुक्ताचारेण सूत्रिणा 'पिज्जवेज्जंतं' प्रत्यक्ष-मार्गं । सर्वत्रपि गन्तव्यं यतिभिरितरत्र निर्यापके शूरी मन्वचारिणे भाष्यं । यान्ति न यान्ति वा यतयः ॥६७९॥

सल्लेहणाए मूलं ओ वप्पइ तिच्चमचिरायेण ।

ओत्तूण य देवसुहं सो पावइ उचमं ठाणं ॥६८०॥

है । और भोजनादि त्यागनेसे निर्यापकको दुःख है । तथा क्षपकको त्यागने पर क्षपकका असमाधि-भरण होता है क्योंकि उसके समीपमें कोई चित्तको समाधान देने वाला नहीं है । अथवा निर्यापक को असमाधि होती है क्योंकि वह भोजन आदिके त्यागसे उत्पन्न दुःखसे व्याकुल होता है ॥६७६॥

शा०—यदि एक निर्यापक आहारादिके लिए गया तो उसके अभावमें क्षपक अयोग्य सेवन करेगा अर्थात् बैठकर भोजनादि करेगा । अथवा मिथ्यादृष्टियोंके पास जाकर याचना करेगा कि मैं मूल वा प्यासे पीड़ित हूँ । मुझे खानेको वा पीनेको दो ॥६७७॥

शा०—समीपमें निर्यापक न होने पर क्षपक समाधिके बिना मरण कर सकता है । और उस असमाधिभरणसे अशुभ ध्यानवश दुर्गतिमें जा सकता है ॥६७८॥

शा०—युक्त आचार वाले आचार्यके द्वारा क्षपककी सल्लेखना हो रही है यह सुनकर सब यतियोंको बर्हा जाना चाहिए । किन्तु यदि निर्यापक आचार्य मन्व चारित्र्य वाला हो तो यति चाहें तो जा सकते हैं, न चाहे तो न जायें ॥६७९॥

एवमिह स्वप्नमहत्त्वे समाधिभरणेण ज्ञो भदो जीवो ।
 न ह्यसौ हिंसति बहुसो सचन्द्रमने पनीचून् ॥६८१॥
 'सोदूष उत्तमदृष्टस साधनं तिष्ठन्मधिसंजुषो ।
 अदि जीवयादि का उत्तमदृष्टमरणमि से मती ॥६८२॥

सोदूष मृत्वा उत्तमार्थसाधनं । तीव्रमक्तिसंयुक्तो यति न गच्छेत् । नैव तस्य उत्तमार्थमरणे
 भक्तिः ॥६८२॥

उत्तमार्थमरणमकल्पनाये दोषमाचष्टे—

अस्त पुण उत्तमदृष्टमरणमि मती न विज्जदे तस्त ।
 किह उत्तमदृष्टमरणं संपज्जदि मरणकालमि ॥६८३॥

'अस्त पुण' यस्य पुनः उत्तमार्थमरणे भक्तिर्न विद्यते तस्य मरणकाले कथमुत्तमार्थमरणं सम्पद्यते इति
 दोषः सूचितः ॥६८३॥

सहवदीणं पासं अल्लियदु असंवुडाण दादब्बं ।
 तेसि असंवुडगिराहिं होज्ज खणयस्त असमाधी ॥६८४॥

'असंवुडाण पासं सहवदीणं अल्लियदु न दादब्बं' । असंवुदानां क्षपकसमीपं दौकनं न दातव्यं । याचद्देघ-
 स्थानां तेया वचो न भूमते । कस्मादसंवुतजनसमीपागमनं निषिध्यते इत्याचष्टे—'तेसि असंवुडगिराहिं होज्ज
 खणयस्त असमाधी' । तेयामसंवुताभिर्वाग्निर्भवेत्क्षोपकस्य असमाधिः । क्षीणो हि जनो यत्किञ्चिच्छ्रुत्वा कुप्यति
 संक्लेशमुपयाति वा ॥६८४॥

शा०—जो यति तीव्र भक्तिरागसे सल्लेखनाके स्थान पर जाते हैं वे देवगतिका सुख भोग
 कर उत्तम स्थान भोगको प्राप्त करते हैं ॥६८०॥

शा०—जो जीव एक भवमें समाधिभरण पूर्वक करता है वह सात आठ भवसे अधिक काल
 तक संसारमें परिभ्रमण नहीं करता ॥६८१॥

विशेषार्थ—इन पर टीका नहीं है । प० आशाघरने लिखा है—यहाँ ये दो वाक्या परम्पर-
 से सुनी जाती हैं । इन्हें विजयोदयाके कर्ता आचार्य नहीं स्वीकार करते हैं ।

शा०—उत्तमार्थ—समाधिक, साधन कोई मुनि करता है ऐसा सुनकर भी जो तीव्र भक्तिसे
 युक्त होकर यदि नहीं जाता तो उसकी समाधिभरणमें क्या भक्ति हो सकती है ? ॥६८२॥

समाधिभरणमें भक्ति न होनेमें दोष कहते हैं—

शा०—जिसकी समाधिभरणमें भक्ति नहीं है उसका मरते समय समाधिपूर्वक मरण नहीं
 होता ॥६८३॥

शा०—वी०—वचन गुप्ति और वचन समित्तसे रहित जो हृक्लान्त-गुल्फा करने वाले लोग हैं
 उन्हें क्षपकके समीप नहीं जाने देना चाहिए । यदि जावें तो वहीं तक जावें जहाँसे उनके वचन
 क्षपकको सुनाई न देवें । ऐसे असंवुत जनोंका क्षपकके समीप जानेका निषेध करनेका प्रयोजन यह

१. एते वाचे जी विजयो नेच्छति ।

भसादीणं तृती मीदस्वेहिं त्रि ष तत्त्व कादब्बा ।

आलोचना वि हु पसत्त्वमेव कादब्बिया तत्त्व ॥६८५॥

‘भसादीणं’ ‘तृती’ भक्तविक्रमा । गृहीतार्यैरपि यतिमिस्तत्र क्षपकसकासे न कर्तव्येति । ‘आलोचना वि हु’ आलोचनायोपराद्यतिचारविषया । ‘तत्त्व’ क्षपकतमीये । ‘पसत्त्वमेव कादब्बा’ यथासौ न मृणोति तथा कार्य । बहुषु युक्ताचारेषु तत्तु ॥६८५॥

पञ्चकल्याणपडिकमणुवदेसणिओगतिविह्वोसरणे ।

पहुवणापुच्छाए उवसंपण्णो पमाणं से ॥६८६॥

प्रत्याख्यानं प्रतिक्रमणादिक^१ । कस्य सकाशे सर्वं कर्तव्यमिति यावत् । यदि शक्तोऽपि, न चेतदनुज्ञा-
तस्य समीपे ॥६८६॥

तेह्लकसायादीहि य बहुतो गंहुसया दु वेसब्बा ।

जिह्माकण्णान बलं होहिदि तुंडं च से विसदं ॥६८७॥

‘तेह्लकसायादीहि च’ तेल्लेन कथायादिभिष्व । ‘बहुतो’ बहुषो । ‘गंहुसया दु’ गंधुषाः । ‘वेसब्बा’
बाह्याः । तत्र गुणं वदति—‘जिह्माकण्णान बलं’ जिह्वायाः कर्णयोष्व बलं शक्ति वचने श्रवणे च । ‘होहिदि’

है कि उनके मर्यादा रहित बचनोंको सुनकर क्षपककी समाधिमें बाधा हो सकती है, क्योंकि कम-
जोर व्यक्ति ऐसे जैसे बचन सुनकर क्रुद्ध हो सकता है अथवा संकलेशरूप परिणाम कर सकता
है ॥६८४॥

विशेषार्थ—टीकामें ‘असंबुबाण पासं सहवदीणं अत्तियदु ण दादब्बं’ ऐसा पाठ है । तथा
‘सहवदीणं’ का अर्थ नहीं किया है । आशाधर जीने ‘शब्दपतीनां शब्दवतीनां’ लिखकर उसका अर्थ
‘कल-कल करने वाले’ किया है ।

ना०—आगमके अर्थके ज्ञाता यतियोंको भी क्षपकके पासमें भोजन आदिकी कथा नहीं
करनी चाहिए और आलोचना सम्बन्धी अतिचारोंको भी चर्चा नहीं करनी चाहिए । यदि करना
ही हो तो बहुतसे युक्त आचार वाले आचार्योंके रहते हुए प्रच्छन्न रूपसे ही करना चाहिए जिससे
क्षपक उसे न सुन सके ॥६८५॥

ना०—प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, उपदेश, नियोग—आज्ञादान, जलके सिवाय तीन प्रकारके
आहारका त्याग, प्रायश्चित्त, आदि सब प्रथम स्वीकार किये आचार्योंके पास ही करना चाहिए,
क्योंकि जिसे उस क्षपकने अपना निर्यापक बनाया है वही उसके लिए प्रमाण होता है । किन्तु
वह निर्यापकाचार्य ऐसा करनेमें असमर्थ हो तो उसकी अनुज्ञासे अन्य भी प्रमाण होता है ॥६८६॥

विशेषार्थ—युक्त आचार वाले अनेक आचार्योंके होते हुए भी क्षपकको प्रत्याख्यान आदि
प्रथम स्वीकार किये निर्यापकके पास ही करना चाहिए यह आशय उक्त गाथाका है ।

ना०—तेल और कसेले आदिसे क्षपकको बहुत बार कुल्ले करना चाहिए । इससे बीम

१. भती-भा० ।

२. बिकं से तस्य सकाशे-आ० नु० ।

मविष्यति । 'सुतं च से विस्तारं ह्रीतिदिपि' पक्षसम्बन्धः । तुच्छवैसाचं अपि क्षपकस्य मविष्यति । निपत्तिक्त्वा-
वर्धना श्रमापत्ता ॥६८७॥

विष्वावयपनासना इत्येतद्वदति—

दृष्यपयासमकिष्वा अहं कीरइ तस्स तिषिइवोसरणं ।

कक्षिणि मपविसेसंमि उत्सुगी होज्ज सो खबओ ॥६८८॥

'दृष्यपयासमकिष्वा' द्रव्यस्याहारस्य प्रकाशनं तं प्रति वीकनं अकृत्वा । 'अहं कीरइ' यदि कियते ।
'तस्स' तस्य क्षपकस्य । 'तिषिइवोसरणं' चिन्तित्वाहारत्यागः । 'कक्षिणि' कस्मिन्विषयवि । 'मपविसेसंमि'
अपविसेसे । 'उत्सुगी होज्ज सो खबओ' उत्सुकी भवेत्स क्षपकः । आहारोत्सुक्त्वं च विपत्तं व्याकुलयति ॥६८८॥

तन्मा तिषिइं वोसरिइदिदिपि उपकस्सयाणि द्वायाणि ।

सोसिचा संविरलिय चरिमाहारं पयासेज्ज ॥६८९॥

पासिपु कोइ तादी तीरं पचस्सिमेहिं किं मेपि ।

वेरग्गमजुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥६९०॥

'पासिपु' वृत्त्वा आहारमुपवर्षितं । 'कोइ' कश्चित् । 'तादी' यतिः । 'तीरं पचस्स' तीरं प्राप्तं य ।
'इमेहिं' अमीभिर्मनोवैराहारैः । 'किं मेपि' किं मयेति । 'वेरग्गमजुप्पत्तो' भोगवैराग्यमनुप्राप्त उपगतः ।
'संवेगपरायणो होदि' संसारमयत्यागे प्रचानो भवति ॥६९०॥

आसादिचा कोइ तीरं पचस्सिमेहिं किं मेपि ।

वेरग्गमजुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥६९१॥

और कानोंको बल मिलता है और मुख साफ होता है ॥६८७॥

इस प्रकार निर्यापकका कथन समाप्त हुआ ।

अब निर्यापकके द्वारा आहारके प्रकाशनका कथन करते हैं—

पा०—आहारका प्रकाशन अर्थात् क्षपकके सामने विविध भोजनोंको उपस्थित न करके
यदि तीन प्रकारके आहारका त्याग कराया जाता है तो क्षपक किसी भी भोजन विशेषमें उत्सुक
बना रह सकता है । और आहारमें उत्सुकता चित्तको व्याकुल करती है ॥६८८॥

पा०—अतः उत्तम-उत्तम भोजन पानोंमें अलग-अलग उसके सामने रखकर जब वह सम्पुष्ट
हो जाये तो अन्तिम आहार उपस्थित करे । ऐसा करनेसे क्षपक तीनों प्रकारके आहारको छोड़
वेगा ॥६८९॥

विशेषार्थ—टीकाकारने यह गाथा नहीं मानी ।

पा०—कोई यदि दिखाये गये आहारोंको देखकर 'मरणको प्राप्त भुझे इन मनोज्ञ आहारों-
से क्या प्रयोजन' ऐसा विचार भोगोंसे विरक्त होकर संसारके भयको त्यागनेमें प्रसुप्त होता
है ॥६९०॥

देसं भोज्या हा हा सीरं पचस्सिमेहिं किं मेपि ।
 वेरज्जमज्जुण्यचो संवेगपरायणो होदि ॥६९२॥
 सम्भं भोज्या चिद्धी सीरं पचस्सिमेहिं किं मेपि ।
 वरज्जमज्जुण्यचो संवेगपरायणो होदि ॥६९३॥

मनोव्यवहारेषा हि पीनःपुण्येन प्रवर्तमाना अभिलाषं जनयति जन्तोः । स चानुरागः कर्मपुद्गलादाने
 हेतुः, ततो भीमं अद्याम्भोधिप्रवेशं नवभूतामिति स्वहार्थं गाथाभयं^१ । उत्तर प्रकाशना समाप्ता पया-
 समा ॥६९३॥

हानी इति सूत्रपरं व्याचष्टे—

कोई तमादइत्ता मज्जुणरसवेदनाए संविद्धो ।
 तं वेवज्जुवंजेज्ज हु सम्भं देसं च गिद्धीए ॥६९४॥

'कोई' कविचक्षुः । 'तं' दक्षितमाहारं । 'अभविता' मुक्ता । 'मज्जुणरसवेदनाए' मनोजरसानु-
 भवनेन । 'संविद्धो' मूर्च्छितः । 'तं वेवज्जुवंजेज्ज हु' तमेवास्त्वारित मनोज्ञाहारमनुबध्नीयात् । दक्षितेष्वेकं वा,
 'गिद्धीए' गृह्यात् ॥६९४॥

तत्त्व अवाजोवायं दसेदि विसेसदो उवदिसतो ।
 उद्धरिदु मज्जोसल्लं सुहुमं सण्णिव्ववेमाणो ॥६९५॥

शा०—कोई क्षपक भोजनका स्वाद मात्र लेकर 'मरणको प्राप्त' मुझे इस मनोज्ञ भोजनसे
 क्या, ऐसा विचार विरक्त हो, संसारके भयको त्यागनेमें तत्पर होता है ॥६९१॥

शा०—कोई क्षपक घोडा सा खाकर 'मरणको प्राप्त' मुझे इस मनोज्ञ आहारसे क्या' ऐसा
 विचार विरक्त हो संसारके भयको त्यागनेमें तत्पर होता है ॥६९२॥

शा०—डी०—कोई सब आहारको भोगकर 'मुझे बार-बार धिनकार है । मरणको प्राप्त' मुझे
 इस मनोज्ञ आहारसे क्या प्रयोजन' इस प्रकार विरक्त हो संसारके भयसे मुक्त होनेमें तत्पर
 होता है ।

बार-बार मनोज्ञ विषयोंका मेहन यदि चलता रहे तो उसमें जीवमें उसकी अभिलाषा बनी
 रहती है । और वह अनुराग कर्म पुद्गलके ग्रहणमें कारण होता है और उससे प्राणिगण संसार
 समुद्रमें पड़े रहते हैं । यह स्पष्ट करनेके लिए ये तीन गाथा कही हैं ॥६९३॥

आहारका प्रकाशन समाप्त हुआ ।

हानिका कथन करते हैं—

शा०—कोई क्षपक उस विज्ञाने आहारको खाकर मनोज्ञ रसके स्वादसे मूर्च्छित होकर
 तुष्णावस्था उस ज्ञाने आहारमें से सबको अथवा किसी एक वस्तुको ही खानेकी इच्छा करता
 है ॥६९४॥

'सर्व' तनाहाररासंगी जातायां । 'अव्यक्तोक्तम्' इन्द्रियसंयमस्यप्राप्य, असंयमस्य च डीकनं । 'बहिर्दि' वर्धयति । 'विशेषतो' विशेषेण । 'उपविशन्ती' उपविशन् । 'उद्धरितु' उद्धरु । 'नयोक्तवन्' मनःसत्यं । 'सूक्ष्मं' सूक्ष्मं । 'अभिवाच्यतेनाचो' सम्यक् प्रशंसयन् ॥६९५॥

सौज्या सन्ध्याभारत्वं उद्धरदि असेसमप्यमादेण ।

वेरगममुप्यचो संवेगपरायणो खवजो ॥६९६॥

'सौज्या' धृत्वा वैराग्यकथां । 'सत्त्वं' शत्यं । 'उद्धरदि' उत्पाटयति । 'असेत्तं' असेत् । 'अप्यमादेण' प्रमादं विना । 'वेरगममुप्यचो' वैराग्यमनुप्राप्तः । 'संवेगपरायणः' संवेगपरः । अपकः शल्योद्धरणपरो भवति ॥६९६॥

अनुसज्जमाद्य पुण समाधिकामस्त सन्ध्याहृहरिय ।

एकैकं हावैतो ठवेदि पौराणमाहारे ॥६९७॥

'अनुसज्जमाद्य पुण' कृतोऽप्याहारानिजापस्य दोषोपदर्शने । 'अनुसज्जमाद्यो' आहारे अनुरायति अपके । 'समाधिकामस्त' समाधिभरणमिच्छतः । 'सन्ध्याहृहरिय' सर्वमाहारमूपसंहृत्य । कथं ? 'एकैकं हावैतो' एकैकं आहारं हापयन् सूरिः । 'ठवेदि' स्वापयति अपकं । 'पौराणमाहारे' प्राक्ते आहारे ॥६९७॥

अनुपुञ्जेय य ठविदो संबट्टेदूण सन्ध्यामाहार्त्वं ।

पाणयपरिक्रमेण दु पच्छा मावेदि अप्याणं ॥६९८॥

'ठविदो' स्थापित सूरिणा प्राक्तनाहारे अपकः पश्चात्तिक करोत्वत् आह—'सन्ध्यामाहार्त्वं', अक्षरं स्वाद्यं, साद्यं च । 'अनुपुञ्जेय' क्रमेण । 'संबट्टेदूण' उपसंहृत्य । 'पाणयपरिक्रमेण दु' पानकाम्बेन परिकरेण । 'अप्याणं' आत्मानं । 'पच्छा मावेदि' पश्चाद्भाषयति । हानिभ्याख्याता । हाप्ति ॥६९८॥

कतिप्रकारं पानकमित्यारेकायामाचष्टे—

शा०—इस प्रकार आहारमें आसमित होने पर आचार्य उस अपकके मनसे सूक्ष्म शल्यको निकालनेके लिए इन्द्रिय संयमका विनाश और असयमकी प्राप्ति बतलाते हुए विशेष रूपसे उपदेश देते हैं और इस तरह उसे सम्यक् रूपसे शान्त करते हैं ॥६९५॥

शा०—वैराग्यका उपदेश सुनकर वैराग्यको प्राप्त हुआ अपक प्रमाद छोड़कर समस्त अनर्थाकारी शल्यको निकाल देता है और संवेगमें तत्पर होता है ॥६९६॥

शा०—आहारकी अभिलाषामें दोष दिखानेपर भी यदि अपक आहारमें अनुरागी रहता है तो आचार्य समाधिभरणके इच्छुक अपकको सब आहार दिखलाकर एक-एक आहार छुकाते हुए उसे अपने पूर्व आहार पर ले जाते हैं ॥६९७॥

शा०—आचार्यके द्वारा पूर्व आहारपर स्थापित होनेके पश्चात् अपक क्रमसे अक्षर साद्य स्वाद्य सब आहारोंका त्याग करके पीछे अपनेको पानक आहारमें लगाता है ॥६९८॥

हानिका कथन समाप्त हुआ ।

पानकके भेद कहते हैं—

१. अनुपुञ्जेय अनुक्रमेण—सूतारा० ।

सत्यं बहलं लेवडमलेवडं च ससित्त्वयमसिस्थं ।

छविहपाणयमेयं पाणयपरिकम्पपाओम्गं ॥६९९॥

'सत्यं' स्वच्छं एकं पानकं उष्णोदकं सौवीरकं । तिन्त्रिणीकाफलरसप्रभृतिकं च अन्यद्रहलं । दध्यादिकं 'लेवडं' लेपसहितं । 'मलेवडं' अलेपसहितं मूत्रं हस्ततलं विलिपति । 'ससित्त्वयं' सिक्वसहितं, 'असित्त्वयं' सिक्वरहितं । 'छटा' बोटा । 'पाणयमेयं' एतत्पानकं । 'पाणयपरिकम्पपाओम्गं' पानकाख्यपरिकर्मप्राप्त्यर्थं ॥६९९॥

आयं बिलेण सिमं खीयदि पिभं च उवसमं जादि ।

बादस्त रक्कणहुं एत्थ पयसं खु कादब्बं ॥७००॥

'आयं बिलेण' आचाम्लेन । 'सिमं खीयदि' श्लेष्मा क्षयमुपयाति । 'पिभं च' पिप्तं च । 'उवसमं जादि' उपशाममुपयाति । 'बादस्त' वातस्य । 'रक्कणहुं' रक्षणार्थं । 'एत्थ' अत्र । 'पयसं खु कादब्बं' प्रयत्नं कर्तव्यं ॥७००॥

पानभावनोत्तरकालभाविनं व्यापारं दर्शयति—

तो पाणएण परिभाविदस्स उदरमलसोधणिच्छाए ।

मधुरं पज्जेदब्बो मंडं व विरेयणं खबओ ॥७०१॥

'तो' पश्चात् । 'पाणयो' पानेन । 'परिभाविदो' भावितः क्षयकः । 'मधुरं पज्जेदब्बो' मधुरं पायसितव्यः । किमर्थं ? 'उदरमलसोधणिच्छाए' उदरव्यथामलनिरासाय ॥७०१॥

आणाहवसियादीहिं वा वि कादब्बमुदरसोधणयं ।

वेदणमुप्पादेज्ज हु करिसं अत्थंतयं उदरे ॥७०२॥

'आणाहवसियादीहिं' अनुवासानादिभिः । 'कादब्बं' कर्तव्यं । 'उदरसोधणयं' उदरव्यथामलमुदरशब्देनोच्यते तस्य निराकिया उदरमलशोधना । किमर्थमेवं प्रयासेन महता मलं निराकियते इत्यत्राचष्टे । 'वेदणमुप्पादेज्ज'

गा०—पानकके छह मेद हैं—एक मेद स्वच्छ है । जंरो गर्मजल सौवीरक । इसली आदि फलके रसको बहल कहते हैं । यह दूसरा मेद है । दही आदि लेवड है जो हाथसे लिप्त हो जाता है । यह तीसरा मेद है । जो हाथसे लिप्त न हो वह चौथा मेद अलेवड है । सिक्व सहित पेय पाँचवाँ मेद है और सिक्वरहित पेय छठा मेद है । ये छह प्रकारका पानक पानक परिकर्मके योग्य हैं ॥६९९॥

गा०—आचाम्लसे कफका क्षय होता है, पिप्त शान्त होता है और वातसे रक्षा होती है । इसलिए आचाम्लके सेवनका प्रयत्न करना चाहिए ॥७००॥

पानककी आबनाके पश्चात्का कार्य बतलाते हैं—

गा०—पानकका सेवन करनेवाले क्षयकको पेटके मलकी शुद्धिके लिए माँडकी तरह मधुर निरेकल पिलाना चाहिए ॥७०१॥

गा०—अनुवासन और गुदाद्वारमें बत्ती आदि चढ़ाकर पेटके मलकी शुद्धि करना चाहिए ।

बु' वेचनामुत्पादयेवेव । 'उदरं क्षयित्तमं' दुरीचं 'क्षयित्तमं' निवर्त ॥७०२॥

एवं कुतोदरशोचनस्य क्षपकस्य योग्यं व्यापारं निर्यापकपूर्वित्तंराजगावर्धयति—

आचञ्जीवं सन्वाहारं त्रिविहं च बोसरिहिविधि ।

भिञ्जवजो आयरिजो संवस्त भिवेदणं कुञ्जा ॥७०३॥

'आचञ्जीवं' जीवितायविकं । 'सन्वाहारं' सर्वाहारं । 'त्रिविहं' त्रिविधं अशनं, वाद्यं, स्वाद्यं च । 'बोसरिहिविधि' त्यजतीति । 'भिञ्जवजो आयरिजो' निर्यापकः दूरिः । 'संवस्त भिवेदणं कुञ्जा' सद्यं निवेदयेत् ॥७०३॥

खामेदि तुम्ह खवओचि कुंचओ तस्स चैव खवगस्स ।

दावेदव्वो जेदूण सव्वसंघस्स वसधीसु ॥७०४॥

'खामेदि' क्षमां प्राहयति । 'तुम्ह' युष्मान् । 'खवओचि' क्षपक इति । 'तस्स चैव खवगस्स' तस्मैव क्षपकस्य । 'कुंचओ' प्रतिलेखनं । 'खवेदव्वो' दर्शयितव्यं । 'जेदूण' नीत्या । 'सव्वसंघस्स वसधीए' सर्व-सङ्घस्य वसतीषु ॥७०४॥

तेन सङ्घेन ज्ञातक्षपकाभिप्रायेण कर्तव्यमित्याचष्टे—

आराधणपत्तीयं खवयस्स व जिरुवसगपत्तीयं ।

काओसग्गो संघेण होइ सव्वेण कादव्वो ॥७०५॥

'आराधणपत्तीयं' रत्नत्रयाराधना क्षपकस्य यथा स्वावित्थेवमर्षं । 'खवयस्स जिरुवसगपत्तीयं' क्षपकस्योपसर्गं मा भूवन्नेवमर्षं च । 'काओसग्गो' कायोत्सर्गः । 'संघेण सव्वेण' सर्वेण सङ्घेन । 'होइ कावव्वो' कर्तव्यो भवति ॥७०५॥

गाथामें आये उदर शब्दसे पेटका मल लेना चाहिए । उसको निकालना उदरमलका शोधन है । ऐमें महान् प्रयासके द्वारा पेटके मलको निकालनेका यह कारण है कि उदरमें रहा हुआ मल कष्ट देता है ॥७०२॥

इस प्रकार क्षपकके उदरके मलकी शुद्धि हो जानेपर निर्यापकाचार्य क्षपकके योग्य जो कार्य करते हैं उसे कहते हैं—

शा०—निर्यापकाचार्य संघसे निवेदन करते हैं कि अब यह क्षपक जीवनपर्यन्तके लिए अशन, खाद्य औंश्चखाद्य तीनों प्रकारके सब आहारका त्याग करता है ॥७०३॥

शा०—तथा यह क्षपक आप सबसे क्षमा माँगता है । इसके प्रमाणके लिए आचार्य उस क्षपककी पिच्छिका लेकर सर्वसंघकी वसतियोंमें दिखलाते हैं । अर्थात् क्षपक सबके पास क्षमा माँगने स्वयं नहीं जा सकता, इसलिए उसकी पीछी सर्वत्र ले जाकर दिखलाते हैं कि वह आप सबसे क्षमा माँगता है ॥७०४॥

क्षपकका अभिप्राय जानकर संघको क्या करना चाहिए, यह कहते हैं—

शा०—क्षपककी रत्नत्रयकी आराधनापूर्ण हो और उसमें कोई विघ्न न आवे, इसके लिए सर्वसंघको कायोत्सर्ग करना चाहिए ॥७०५॥

क्षयं पञ्चवक्त्रावेदि तदो सव्यं च बहुविधाहारं ।

संप्रसमवाचमन्त्रो सागारं गुरुभिज्योमेज ॥७०६॥

'क्षयं' क्षयः । 'पञ्चवक्त्रावेदि' इत्याख्यानं कारयति, निर्यापकः सूरिः । 'तदो' पश्चात् । 'सव्यं' तर्क । 'गुरुभिज्योमेज' गुरुभिवाहारं । 'संप्रसमवाचमन्त्रो' सङ्घसमुदायमध्ये । 'सागारं' साकारं । 'गुरुभिज्योमेज' इतरं गुर्वनुज्ञा ॥७०६॥

अहवा समाधिहेतुं कावज्जो पाणयस्स आहारो ।

तो पाणयंपि पच्छा बोसरिद्व्यं अहाकाले ॥७०७॥

'अहवा' अथवा । 'समाधिहेतुं' समाधिरिषीर्त्तकार्यं, तथं । 'कावज्जो' कर्तव्यः 'पाणयस्स आहारो' पानकस्य विकल्पः । 'तो' पश्चात् । 'पाणयंपि' पानकमपि । 'बोसरिद्व्यं' त्यक्तव्यं । 'अहाकाले' यथाकाले निर्यातं क्षितिहात्मिकाले । पूर्वगाथया बहुविधाहारस्यायः कार्यं इति, योप्रतिपाद्येन परीवहवाचाजमस्त्वं प्रमुक्तं । जनया तु यो न तथा भवति तं प्रति त्रिविधाहारस्याय इति निर्दिश्यते ॥७०७॥

कीदृशार्थं तस्य बोध्यमित्यनाह—

अं पाणयपरियम्ममि पाणयं छविहं समकखादं ।

तं से ताहे कप्पदि तिबिहाहारस्स बोसरणे ॥७०८॥

'अं' यत् । 'पाणयपरियम्ममि' पानकाख्ये परिकरे । 'पाणयं' पान । 'छविहं' यद्विधं । 'समकखादं' समाखादं । सच्छं बहुलमित्याधिकं । 'तं' तत्पानं । 'से' तस्य । 'ताहे' तदा । 'कप्पदि' योग्यं भवति । 'तिबिहाहारस्स' अक्षयस्य, साक्षयस्य, स्वाक्षयस्य च त्यागे । पञ्चवक्त्राणं ॥७०८॥

तो आवरियउवज्जावसिस्ससाधम्मिगे कुल्लगणे य ।

ओ होज्ज कसाओ से तं सव्वं तिबिहेण खामेदि ॥७०९॥

'तो' प्रत्याख्यानोत्तरकाले । 'आवरियउवज्जावसिस्ससाधम्मिगे' आचार्ये, उपाध्याये, सिष्ये, सधर्मिणि । 'कुल्लगणे' य कुले गणे च । 'ओ होज्ज कसाओ' यो भवेत्कथायः क्रोधो, मानो, ज्ञोभो वा । 'तं सव्वं' निरव-

वा०—उसके पश्चात् निर्यापकाचार्यं संघके समुदायके मध्यमें चारों प्रकारके आहारका सविकल्पक त्याग करता है और क्षपक गुरुकी आज्ञासे ऐसा करता है ॥७०६॥

वा०—अथवा समाधि अर्थात् चित्तकी एकाग्रताके लिए पानकको छोड़कर शेष सब आहारका त्याग करता है और अत्यन्त क्षांकिहीन होनेपर पानकका भी त्याग करता है ॥७०७॥

द्विविधार्थ—पूर्वगाथामें चार प्रकारके आहारका त्याग उस क्षपकके लिए कहा है जो अत्यन्त परीवहकी बाधाको सहनेमें समर्थ होता है और इस गाथासे जो ऐसा नहीं होता उसके लिए तीन प्रकारके आहारका त्याग कहा है ॥७०७॥

उसके योग्य पानक किस प्रकारका है यह बताते हैं—

वा०—पानकके प्रकारमें जो छह प्रकारका पानक कहा है, तीन प्रकारके आहारका त्याग करनेपर वह उस क्षपकके योग्य होता है ॥७०८॥

वा०—आहार त्याग करनेके पश्चात् आचार्य, उपाध्याय, सिष्य, साध्वी, कुल और गणके

कथं । 'सिन्धु' निविधेन । 'आश्वि' क्षपयति निराकरोति ॥७०९॥

**अरुमहिषजादहासो मत्स्यमि कर्दजली कदपणामो ।
खामेह सखसंघं संवेगं संजणेमागो ॥७१०॥**

'अरुमहिषजादहासो' नितराभुपकावचितप्रसाधः । कर्तव्यं मुमुक्षुणा यत्तत्सकलं मयानुष्ठितं इति ।
'मत्स्यमि कर्दजली' मत्स्यकन्यस्तारुजलिः । 'कदपणामो' कृतप्रमाण । 'आश्वि' क्षमां प्राह्वयति । 'सखसंघं' सर्व
ममवचनं । 'संवेगं' धर्मानुरागं । 'संजणेमागो' सम्यगुत्पादयन् सर्वस्य सद्दयस्य ॥७१०॥

**मणवयणकायजोगेहि पुरा कदकारिदे अणुमदे वा ।
सखे अवराधपदे एस खामेभि निस्तस्सो ॥७११॥**

'मणवयणकायजोगेहि' मनोवाक्कामयोगी । 'पुरा' पूर्व । 'कदकारिदे अणुमदे वा' कृतकारितानुम-
तापच । 'सखे अवराधपदे' सखिपराधविषयान् । 'एस' एषः । 'खामेभि' क्षमां प्राह्वयामि । 'निस्तस्सो'
शर्यरहितोज्ज्वलिति ॥७११॥

**अम्मापिदुसरितो मे खमहु खु जगसीयलो जगाधारो ।
अहमवि खमामि सुद्धो गुणसंघायस्स संघस्स ॥७१२॥**

'अम्मापिदुसरितो' मामा पित्रा च सद्वधो । 'मे' मम 'खमहु' क्षमा करोतु । 'जगसीयलो' जगतः सर्व-
प्राणिलोकस्य शीतल । 'जगाधारो' आसन्नभ्रम्यलोकस्य आधारः । 'अहमवि खमामि' परकृतमपराधं मनसि
न करोमि । 'सुद्धो' शुद्धः क्रोधादिकलङ्कुरिहात् । 'गुणसंघायस्स' गुणसमुदायस्य 'संघस्स' सद्दयस्य ।
क्षमणा ॥७१२॥

**संधो गुणसंघाजो संधो य विमोचओ य कम्माणं ।
दंसणणाणचरित्ते सघायंतो हवे संधो ॥७१३॥**

सम्बन्धमें क्षपकके अन्दर जो क्रोध, मान, माया या लोभ कषाय होती है उसे सबको वह मन-
वचनकायसे निकाल देता है ॥७०९॥

ग०—मुमुक्षुका जो कर्तव्य है वह मत्र मैने किया, इस विचारसे उस क्षपकके चित्तमें
अत्यन्त प्रसन्नता होती है और धर्मानुरागको प्रकट करते हुए दोनों हाथोंकी अंजलि मस्तकसे
लगाकर प्रणामपूर्वक समस्त मुनिसंघसे वह क्षमा माँगता है ॥७१०॥

ग०—कि मनवचनकाय और कृतकारित अनुमोदनासे पूर्वमें किये गये सब अपराधों की
में निःशल्य होकर क्षमा माँगता है ॥७११॥

ग०—गुणोंका समूहकय यह संघ समस्त प्राणियोंको सुख देनेवाला है, निकट भव्यजीवो-
का आधार है । वह संघ मुझे माता-पिताके समान क्षमा प्रदान करे । मैं भी क्रोधादि दोषोसे
शुद्ध होकर किये हुए अपराधको मनसे निकाल देता हूँ ॥७१२॥

ग०—गुणोंके समूहका नाम संघ है । यह संघ कर्मसे छुड़ाता है । सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान
और सम्यक्चारित्रके मेलसे संघ होता है ॥७१३॥

इयं स्नायिय वेरुग्मं अणुचरं तवसमाधिमारूढो ।

पक्कोर्द्धितो विहरदि बहुभववाधाकरं कम्मं ॥७१४॥

बट्टंति अपरिदंता दिवा य रादो य सव्वपरियम्भे ।

पक्खिरया गणहरया कम्मरयं जिज्जरमाणा ॥७१५॥

'बट्टंति' वर्तन्ते । 'अपरिदंता' अपरिधान्ताः । 'दिवा य रादो य' दिने रात्रौ च । 'सव्वपरियम्भे' सर्वपरिचरणे । 'पक्खिरया' नियंपिकाः । गणहरया गणान् धर्मत्वान् धारयन्तीति गणधराः । 'कम्मरयं' कर्मस्थं रजः । 'जिज्जरमाणा' निर्जरयन्तः ॥७१५॥

जं बहुमसंखेज्जाहिं रयं भवसदसहस्सकोडीहिं ।

सम्मत्तुप्पसीए ख्वेइ तं एयसमयेण ॥७१६॥

'जं' यत् । 'बहु' रथं 'बड' रजः कर्म । यथा रजस्र्वाद्ययति परस्व गुणं शरीरादेः कच्छूयद्रुप्रभृतिर्गण्यते तद्वद्वोधादिगुणमवच्छाद्ययति च विचित्रा विपदः तेन रज इव रज इत्युच्यते । 'भवसदसहस्सकोडीहिं' भवशतसहस्रकोटिभिः । तद्रजः 'खवे' क्षययन्ति । केन ? 'सम्मत्तुप्पसीए' श्रद्धानोत्पत्त्या । 'एयसमयेण' एकेनैव समयेन । तथा चोक्तं—सम्यग्दृष्टिश्चाकस्मिन्नस्मिन्नविद्योक्तदर्शानमोहक्षयकोपशान्तकोपशान्तमोहक्षयकोपशान्तमोहक्षयान्ताः क्लमसोऽसंख्येयगुणनिर्जरा इति ॥ [तत्त्वा० १५५] ॥७१६॥

एयसमयेण विघुणदि उवउत्तो बहुभवज्जियं कम्मं ।

अण्णयरम्मि य जोग्गे पक्खवस्साणे विसेसेण ॥७१७॥

'एयसमयेण विघुणदि' अल्पेन कालेन निर्धुनाति । 'उवउत्तो' परिणतः । न च ? 'अण्णयरम्मि जोग्गे' यस्मिन्कस्मिन्विषयत् तपसि । किं ? 'बहुभवज्जियं' अनेकभवसंचित । 'कम्मं' कर्म । 'पक्खवस्साणे उवउत्तो विसेसेण

शा०—इस प्रकार सर्वसंधको क्षमा प्रदान करके उत्कृष्ट वैराग्यको धारणकर, तप और समाधिमें लीन हुआ क्षपक भवभवमें कष्ट देनेवाले कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥७१४॥

शा०—धार्मिकोंका संरक्षण करनेवाले नियंपक भुनियण रात दिन विना थके उस क्षपककी समस्त परिचर्यामें लगे रहते हैं । और इस प्रकार कर्मोंकी निर्जरा करते हैं ॥७१५॥

शा०—असंख्यात लक्षकोटिभवोंमें जो कर्मरज बाँधा है उसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होनेपर एक समयमें ही जीव नष्ट कर देता है ॥७१६॥

टी०—जैसे रज अर्थात् धूल शरीर आदिके सौन्दर्यको ढाँक देती है और शरीरमें घाद खाज आदि दोष उत्पन्न करती है वैसे ही कर्म जीवके ज्ञानादिगुणोंको ढाँकता है और अनेक कष्ट देता है इसलिए उभे रजके समान होनेसे रज कहा है । असंख्यातभवोंमें संचित कर्मरज सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेपर एक समयमें ही निर्जीर्ण हो जाती है । तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है—सम्यग्दृष्टी, श्रावक, प्रमत्तविरत, अनन्तानुबन्धीका विसंयोजक, दर्शनमोहका क्षपक, उपशम श्रेणिवाला, उपशान्तमोही, क्षपकश्रेणिवाला, क्षीणमोही और अरहन्तके उत्तरांतर अवस्थासमुष्ठी निर्जरा होती है ॥७१६॥

शा०—जिस किसी तपमें लीन हुआ आत्मा अनेकभवोंमें संचितकर्मोंको अल्पसमयमें ही

विद्युत्वि' यावज्जीवं अनुविद्याहारस्यान् परिप्लवः विद्योन्नेन विरत्यति ॥७१७॥

एवं षड्विंशत्युत्तरे कालसम्ये य विद्यायसज्जहार ।

अनुपेक्षामु य जुषो संसारगजो धुषदि कर्म ॥७१८॥

'एवं' उपतेन क्रमेण । 'षड्विंशत्युत्तरे' प्रतिक्रमणे । 'कालसम्ये य' कायोत्सर्गे य । 'विद्यायसज्जहार' विनयस्वाध्याययोः । 'अनुपेक्षामु य जुषो' अनुप्रेषामु य युक्तः । 'संसारगजो' संस्तरारूढः । 'कर्म' कुर्वति कर्म क्षपयति । क्षयं यत् ॥७१८॥

इस उत्तर अनुशासन प्रक्रम्यते इति नियतति—

विज्जवया आयरिया संसारत्वस्स दिति अनुसिद्धि ।

संवेमं विज्जेवं जणत्तयं कण्णजावं से ॥७१९॥

'विज्जवया आहरिया' नियंपका. सूत्रयः । 'अनुसिद्धि' इति श्रुतज्ञानानुसारेण शिक्षां प्रयच्छन्ति । 'संसारत्वस्स' संस्तरस्थस्य । 'संवेमं' संसारभीकता । 'विज्जेवं' वैराग्यं य । 'कण्णत्तयं' उत्पाद्यन्तं । 'कण्णजावं' कर्णजावं । 'से' तस्मै क्षपकाय ॥७१९॥

विस्सल्लो कदमुद्धी विज्जावच्चकरवसधिसंधारं ।

उवधिं च सोवइत्था सल्लेहण मो कुण इदाणि ॥७२०॥

'विस्सल्लो' मिथ्यादर्शनं, माया, निदानं इति त्रीणि शल्यानि तेषु निःशान्तः । तत्त्वभ्रद्धानेन, ऋजुतया, भोगनिस्पृहताया वा 'कदमुद्धी' कृता बुद्धिनिर्मलता रत्नत्रये येन स कृतबुद्धिः । 'विज्जावच्चकरवसधिसंधारं' विविधा आपत् विपत् इत्युच्यते । व्याधय, उपसर्गाः, परीचहा, असंयमो, मिथ्याज्ञानं इत्यादिभेदेन तस्यामापदि यत्प्रतिविधानं तद्वैद्यावृत्त्यं तत्करोति य आत्मनः स वैद्यावृत्त्यकरत्वं । वसधिसंधारं

निर्धीय कर देता है । और जो जीवनपर्यन्त चारों प्रकारके आहारका त्याग करता है वह विशेषरूपसे कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥७१७॥

शा०—इस प्रकार संस्तरपर आरूढ क्षपक प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, विनय, स्वाध्याय और बारह भावनाओंमें लगनेपर कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥७१८॥

आगे कहते हैं कि क्षपकको सूरि शिक्षा देते हैं—

शा०—नियंपक आचार्य संस्तरपर आरूढ क्षपकको श्रुतज्ञानके अनुसार उसके कानमें शिक्षा देते हैं । वह शिक्षा संसारसे भय और वैराग्यको उत्पन्न करती है ॥७१९॥

कानमें क्या शिक्षा देते हैं, यह कहते हैं—

शा०—हे क्षपक ! निःशल्य होकर, रत्नत्रयको निर्मल करके तथा वैद्यावृत्त्य करनेवाले, वसति संस्तर और पीछी आदि उपधिका शोधन करके अब सल्लेखना करो ॥७२०॥

टी०—मिथ्यादर्शनं, माया, निदान ये तीन शल्य हैं । तत्त्वभ्रद्धानसे मिथ्यादर्शनको, सरलतासे मायाको और भोगोंको निस्पृहतासे निदानको दूर करके नि शल्य बनो । व्याधि, उपसर्ग, परीचहा, असंयम, मिथ्याज्ञान आदिके भेदसे विविध आपदाओंको विपदा कहते हैं । उस विपदाके आनेपर उसके प्रतिकार करनेको वैद्यावृत्त्य कहते हैं । जो क्षपककी वैद्यावृत्त्य करता है

वसति संस्तर । उर्षीष पित्रादिक च । 'सौख्यविला' विदोध्य । 'सल्लेह' सल्लेखना । 'कुण' कुण । 'द्वयानि' द्वयानी । किं ? संयमासंयमविकेकज्ञाः असंयमं विद्या भवोवाचकायैः परिहरन्ति न वेति परीष्य अयोग्यवैयावृत्यकराणां त्यागः । योभ्यानां पापुष्ता । पूर्वापरारुहयोर्वसतेः, संस्तरस्योपकरणानां च शुद्धिं कुर्वतेति आज्ञापयता तच्छुद्धिः कृता भवति ॥७२०॥

मिच्छत्सस्य य वमणं सम्मत्ते भावणा परा भसी ।

भावणभोक्काररदिं षाणुवजुचा सदा कुणसु ॥७२१॥

'मिच्छत्सस्य य वमणं' मिथ्यात्वस्य वमन । 'सम्मत्ते भावणा' तत्त्वव्यद्धाने असङ्कद्वृत्तिः । 'परा भसी' । उत्कृष्टा भक्ति । 'भावणभोक्काररदी' नमस्कारो द्विविधः । द्रव्यनमस्कारो भावननमस्कार इति । नमस्तस्मै इत्यादि शब्दोच्चारण, उतमाङ्गावनति, कृताञ्जलिता च द्रव्यनमस्कारः । नमस्कृतंभ्याना गुणानुरागो भावननमस्कारस्तत्र रति । 'षाणुवयोमं' श्रुतज्ञानोपयोग च । सदा 'कुणसु' कुर्वति । सूत्रमिद ॥७२१॥

पंचमहव्यपरकक्षा कोहचउक्कसस णिग्गहं परमं ।

दुदंतिदियविजय दुविहत्तवे उज्जमं कुणसु ॥७२२॥

'पंचमहव्यपरकक्षा' पञ्चाना महावताना रक्षा । 'कोहचउक्कसस' रोचचतुक्तस्य । 'णिग्गहं' निग्रहं । 'परमं' प्रकृष्ट । 'दुदंतिदियविजय' दुदतिन्द्रियविजय । 'दुविहत्तवे' द्विप्रकारे तपसि । 'उज्जमं' उद्योग । 'कुणसु' कुण ॥७२२॥

'मिच्छत्सस्य य वमणं' इत्येतत्सूत्रपद व्याख्ये—

वह वैयावृत्य करनेवाला है । हे क्षपक ! वैयावृत्य करनेवाला, वसति, संस्तर और पीछी आदिका शोधन करके तुम सल्लेखना करो । इसका अभिप्राय यह है क्षपक यह देखे कि वैयावृत्य करनेवाले भुनि संयम और असंयमके भेदको जानते है या नहीं ? वे मनवचनकायसे असंयमका परिहार करते है या नहीं ? यह परीक्षा करके अयोग्य वैयावृत्य करनेवालोंको हटा दें और योग्य वैयावृत्य करनेवालोंको स्वीकार करे । पूर्वाढं और अपराङ्गमें वसति, संस्तर और उपकरणोंकी शुद्धि करो ऐसी आज्ञा देनेपर उनकी शुद्धि भानी जाती है । इनकी शुद्धिपूर्वक तुम समाधि करो । अब तुम्हारा मरणसमय निकट है । ऐसा क्षपकके कानमें कहते है ॥७२०॥

गा०—मिथ्यात्वका त्याग करो । तत्त्वव्यद्धानकी भावना करो । अर्हन्त आदिमे उत्कृष्ट भक्ति करो । भावननमस्कारमे मन लगाओ । नमस्कारके दो भेद हैं—द्रव्यनमस्कार और भावननमस्कार । जिनदेवको नमस्कार हो इत्यादि शब्दोंका उच्चारण करना, मस्तक झुकाना, दोनों हाथ जोड़ना, ये सब द्रव्यनमस्कार है और नमस्कार करने योग्य अर्हन्त आदिके गुणोंमें अनुराग होना भावननमस्कार है । उस भावननमस्कारमें मन लगाओ और सदा श्रुतज्ञानमें उपयोग लगाओ ॥७२१॥

गा०—पंच महाव्रतोंकी रक्षा करो । क्रोध आदि चार कषायोंका उत्कृष्ट निग्रह करो । दुर्दान्ति इन्द्रियोंको जीतो और दो प्रकारके तपमें उद्योग करो ॥७२२॥

'मिथ्यात्वका त्याग करो' गाथाके इस पदका व्याख्यान करते हैं—

संसारमूलहेतुं मिच्छन् संन्यासा विचजेहि ।

बुद्धी गुणणिगदं पि हु मिच्छन् मोहिदं कुणदि ॥७२३॥

'संसारमूलहेतुं' संसारस्य मूलकारणं । 'मिच्छन्' अन्वहानं । 'संन्यासा' मनोवाक्यार्थः । 'विचजेहि' बर्चय । 'बुद्धी' बुद्धिः । 'गुणनिगदं पि कु' गुणान्वितामपि । 'मिच्छन्' मिथ्यात्वं 'मोहिदं' मृगं । 'कुणदि' करोति । अर्थे च विचार्यते । कथं प्रथमता मिथ्यात्वस्य ? न हीवं संभाव्यते असंयमादिभ्यो मिथ्यात्वं प्रथममुप-
जातमिति कुतः ? यथा मिथ्यात्वं स्वनिमित्ततन्निधानाद्भूवति, एवमसंयमादयोऽपीति का तस्य प्रथमता ? अथ तद्धेतुरेव दर्शनमोहः प्रथमं भवति पञ्चाण्वारित्रमोहादीभीत्येतदपि असत् सदा कर्माष्टकसद्भावात् । 'एवं प्रामाण्यते सूत्रकारः 'मिथ्यात्वज्ञानादितिसंन्यासकथात्मनो बन्धहेतवः' इति वचने मिथ्यात्वं बन्धहेतुषु पूर्वमुपप्यस्तं बन्धपुरःसरत्वं संसारः, संसारमूलहेतुमिथ्यात्वमिति बुद्धिं अर्थयाथात्म्यपरिच्छेदगुणसमन्वितामपि मिथ्यात्वं विपरीता करोति । अन्ये तु वदन्ति । 'बुद्धी गुणनिगदा पि कु' शुभुभाष्यवचनप्रहणधारणादयो बुद्धेर्गु-
णास्तद्धेतुमपीति ॥७२३॥

अतद्ब्रह्मवस्तुनि तद्गुणावभासिता कथं विज्ञानस्येत्याशङ्क्यां विपर्यस्तमपि ज्ञानमुदेति तन्निमित्तसद्भावा-
वित्वाचष्टे—

मयतण्डियाओ उदयति मया मर्णति जह सतण्डियागा ।

तह य णरा वि असवभूदं सवभूतं ति मर्णति मोहेण ॥७२४॥

'मयतण्डियाओ' मृगतृष्णिकासम्बन्धेन आदित्यरश्मयो भौमेनोष्मणा संपृका उच्यन्ते । ता अजलभूताः । 'मया मर्णति उवर्णति' मृगा मर्णते उदकमिति । 'यथा सतण्डिया' तृष्णासंतप्तलोचनाः । 'तह य' तथैव । मृगा

११०—मिथ्यात्वं संसारका मूल कारण है उसका मनवचनकायसे त्याग करो; क्योंकि मिथ्यात्व गुणयुक्त बुद्धिको भी मूढ़ बना देता है ॥७२३॥

टी०—शङ्का—यहाँ विचारणीय यह है कि मिथ्यात्वको प्रथमस्थान क्यों दिया गया है ? असंयम आदिसे मिथ्यात्व पहले उत्पन्न हुआ है यह सम्भावना भी सम्भव वही है क्योंकि जैसे मिथ्यात्व अपने निमित्तके होनेपर होता है वैसे ही असंयम आदि भी होते हैं तब वह प्रथम क्यों ? यदि कहोगे कि उसका हेतु दर्शनमोह पहले होता है पीछे चारित्रमोह आदि होते हैं तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि आठों कर्म सदा रहते हैं ?

समाधान—सूत्रकारने तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है—'मिथ्यादर्शन अवरिति, प्रमाद, कषाय और योग बन्धके कारण हैं ।' यहाँ उन्होंने बन्धके कारणोंमें मिथ्यात्वको प्रथम स्थान दिया है और बन्धपूर्वक संसार होता है अतः संसारका मूल कारण मिथ्यात्व है । वह पदार्थको यथार्थ रूपसे जाननेका गुण रखने वाली बुद्धिको भी विपरीत कर देता है ।

अन्य आचार्य ऐसा व्याख्यान करते हैं—सुननेकी इच्छा, सुनना, प्रहण करना और धारण करना आदि बुद्धिके गुण हैं । ऐसी गुणयुक्त बुद्धिको भी मिथ्यात्व विपरीत कर देता है ॥७२३॥

जो वस्तु जिस रूप नहीं है उसे ज्ञान उस रूप कैसे दिखाता है ? ऐसी आशंका होने पर आचार्य कहते हैं कि मिथ्यात्व रूप निमित्तके सद्भावमें ज्ञान विपरीत भी होता है—

११०—सूर्यकी किरणें पृथ्वीकी ऊँचासे मिलकर जलका भ्रम उत्पन्न करती हैं उसे मृग-

इव नरा अपि । 'अत्ममूर्त्तं लक्ष्मूर्त्तिं कर्मातिं मोक्षेण' अतएवमपि तत्त्वमित्यवबच्छन्ति दर्शनमोहेन हेतुना ॥७२४॥

परिहर तं मिच्छतं सम्मचाराहणाए ददधिषो ।

होदि णमोक्कारम्मि य णाणे वदमानणासु धिया ॥७२५॥

मिध्यात्वजन्ममोहमाहात्म्यप्रस्थापनायाह—

मिच्छतमोहणादो धसूरयमोहणं वरं होदि ।

बहूदेदि जम्ममरणं दंसणमोहो दु ण दु इदरं ॥७२६॥

'मिच्छतमोहणादो' मिध्यात्वजन्मान्मोहात् । 'धसूरयमोहणं' उन्मत्तरसनेवाचनितमोहन । 'वरं होदि' शोभनं भवति । कथं ? 'बहूदेदि' वर्धयति । 'जम्ममरणं' जन्ममरणं च विधिन्नासु योनिषु । किं ? 'दंसणमोहो' दर्शनमोहवन्त्य कलङ्क । 'दु ण दु इदरं' जम्ममरणं बहूदेदि' नैव धसूरकमोहन जन्ममरणपरम्परां आनयति कतिपयविनर्भावमोहसम्पादनोद्यत्ता-(-सु) अनन्तकालवर्तिवंपरीत्यजननक्षममोहन अतिवायेन निङ्कृष्टमिति भावः । ततो जन्मरणप्रवाहमोक्षणा भवता त्याग्यं मिध्यात्वं इति ॥७२६॥

ननु प्रागेव परित्यक्त मिध्यात्व तत्त्व इदानीं तस्याशोपवेश इत्यथाशङ्कायाभिषमुच्यते—

जीवो अणादिकालं पवचमिच्छतमाविदो संतो ।

ण रमिज्ज दु सम्मत्ते एत्थ पयसं खु कादम्बं ॥७२७॥

'जीवो अणादिकालं पवचमिच्छतमाविदो संतो' जीवोऽनादिकालप्रवृत्तमिध्यात्वभाषित. सन् । 'ण रमिज्ज खु' नैव रमेत । 'सम्मत्ते' सम्यक्त्वे, 'एत्थ' अत्र सम्यक्त्वे । 'पयसं' प्रयत्नः 'कादम्बं खु' कर्तव्य एव ।

तृष्णा कहते हैं । जैसे प्यासे पीड़ित मूग उसे पानी जानते हैं वैसे ही मनुष्य भी दर्शनमोहके कारण अतत्त्वको भी तत्त्व जानता है ॥७२४॥

गा०—अतः हे क्षपक, सम्यक्त्वकी आराधनाके द्वारा उस मिध्यात्वको दूर कर । ऐसा करनेसे पंचपमेष्ठोके नयस्कारने ज्ञान और व्रतोंकी भावनामें चित्त दृढ़ होता है ॥७२५॥

मिध्यात्वसे उत्पन्न हुए मोहका माहात्म्य कहते हैं—

गा०—टी०—मिध्यात्वके उदयसे उत्पन्न हुए मोहसे धतूरेके सेवनसे उत्पन्न हुआ मोह (मूर्छा) उत्तम है; क्योंकि दर्शन मोहसे उत्पन्न हुआ मोह नाना योनियोंमें जन्ममरणको बढ़ाता है किन्तु धतूरेके सेवनसे उत्पन्न हुआ मोह जन्ममरणकी परम्पराको नहीं बढ़ाता । अतः कुछ दिनोंके लिए मोह उत्पन्न करने वाले धतूरेके मदसे अनन्त कालके लिए बिपरीत बुद्धि उत्पन्न करनेमें समर्थ मिध्यात्वका मोह अत्यन्त बुरा है । अतः जन्ममरणकी परम्परासे भीत आपको मिध्यात्वका त्याग करना चाहिए ॥७२६॥

यहाँ यह शंका होती है कि मिध्यात्वका त्याग तो पहले ही कर दिया यहाँ उसके त्यागका उपवेश क्यों ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—यह जीव अनादि कालसे चले आते हुए मिध्यात्वसे भावित होता आया है इससे

अनन्तकाले परिभाषितं मिथ्यात्वं दुस्त्यञ्च तदेष दुःखत्याज्यं । यथोरवचिचरपरिचितं छिन्नं निवार्यमाणोऽपि
वकारप्रविशति इति कर्तव्यं सम्यक्त्वे वाच्यं ॥७२७॥

अग्निविसर्कणहसप्यादियाणि दोसं ण तं करेज्जण्ह ।

अं कुणदि महादोसं तिब्बं जीवस्स मिच्छचं ॥७२८॥

'अग्निविसर्कणहसप्यादियाणि' अग्निविषं कुण्यसर्पं इत्यादीनि । 'दोसं ण तं करेज्जण्ह' दोषं तं न
कुर्तुः । 'अं कुणदि' यं करोति । 'महादोसं' महान्तं दोषं । 'जीवस्स' जीवस्य । 'तिब्बं' तीव्रं । किं ?
'मिच्छचं' मिथ्यात्वं अथद्धानं ॥७२८॥

अग्निविसर्कणहसप्यादियाणि दोसं करंति एयमवे ।

मिच्छचं पुण दोसं करेदि भवकोटिकोटीसु ॥७२९॥

अग्न्यादिभिः क्रियमाणस्य अल्पता मिथ्यात्वेन संपाद्यस्य च महता दर्शयत्युत्तरगायया । अग्न्यादीन्वेक-
भवदुःखदानि मिथ्यात्वं पुनर्दोषं करोति भवानां कोटाकोटीषु ॥७२९॥

मिच्छससल्लविद्धा तिब्बाओ वेदणाओ वेदंति ।

विसल्लितकंठविद्धा जह पुरिसा णिप्पडीयारा ॥७३०॥

'मिच्छससल्लविद्धा' मिथ्यात्वात्वेन शल्येन विद्धाः 'तिब्बाओ वेदणाओ' तीव्रा वेदनाः । 'वेदंति'
अनुभवन्ति । 'विसल्लितकंठविद्धा' विषलिप्तेन शरेण विद्धा । 'जह' मया । 'पुरिसा' पुरुषा । 'णिप्पडीयारा'
निष्पत्तीकाराः ॥७३०॥

अच्छीणि संघसिरिणो मिच्छसणिकाचणेण पडिदाइं ।

कालगदो वि य संतो जादो सो दीहसंसारे ॥७३१॥

'अच्छीणि' अक्षिणी । 'संघसिरिणो' सहस्रश्रीसंज्ञितस्य । 'मिच्छसणिकाचणेण' मिथ्यात्वप्रकर्षेण ।
'पडिदाइं' पतिते । 'दीह' जन्मनि । 'कालगदो वि य संतो' मृत्वापि । 'जादो सो' जातोऽस्ती । 'दीहसंसारे'
दीर्घसंसारे ॥७३१॥

सम्यक्त्वमें वह नहीं रमता । इसलिए सम्यक्त्वमें प्रयत्न करना ही चाहिए । अनन्त कालमें अच्छी
तरह भाया गया मिथ्यात्व बड़े कष्टसे छूटता है । जैसे सर्प रोकने पर भी अपने चिर परिचित
विलमें बलपूर्वक घुस जाता है । अतः सम्यक्त्वमें दृढ़ता कर्तव्य है ॥७२७॥

शा०—आग, विष, काला सर्प आदि जीवका उतना दोष नहीं करते जैसा महादोष तीव्र
मिथ्यात्व करता है ॥७२८॥

आगेकी गाथासे आग आदिके द्वारा किये गये दोषकी अल्पता और मिथ्यात्वेके द्वारा किये
गये दोषकी महत्ता बतलाते हैं—

शा०—आग आदि तो एक भवमें ही दुःख देते हैं । किन्तु मिथ्यात्व करोड़ो भवोमे दुःख
देता है ॥७२९॥

शा०—मिथ्यात्व नामक शल्यसे दीधे गये जीव तीव्र वेदना भोगते हैं । जैसे विषले बाणसे
छेदे गये मनुष्योंका कोई प्रतीकार नहीं होता । अर्थात् वे अवश्य मर जाते हैं ॥७३०॥

यदि नाम उपवसमिष्यात्वोऽस्मि तथापि दुर्धरं चारित्रमनुष्ठितं मया तदस्मान्निस्तरणे समर्पमित्यासा
न कर्तव्येति निदर्शयति—

कद्रुगन्मि अणिव्वल्लिदम्मि दुद्धिए कद्रुगमेव अह खीरं ।

होदि णिद्धिदं तु णिव्वल्लियम्मि य मधुरं सुगंधं च ॥७३२॥

'कद्रुगन्मि दुद्धिए' कटुकालम्बा । 'अणिव्वल्लियम्मि' अशुद्धायां । 'णिद्धिदं खीरं' निक्षिप्तं खीरं ।
'अह कद्रुगमेव होदि' यथा कटुकरसमेव भवति । एवकारेण माधुर्यव्यापुतिः क्रियते । 'णिव्वल्लियम्मि च' शुद्धा-
यानलम्बा । 'णिद्धिदं' निक्षिप्तं खीरं 'अह मधुरं होदि सुगंधं च' यथा मधुरं भवति सुरभि च ॥७३२॥

तह मिच्छसकद्रुगिदे जीवे तवणाणचरणविरियाणि ।

णासंति वंतमिच्छसम्मि य सफलाणि जायंति ॥७३३॥

'तह' तथा 'मिच्छसकद्रुगिदे' मिष्यात्वेन कटुकृते जीवे । 'तवणाणचरणविरियाणि' तपो, ज्ञानं, चारि-
रिणं; वीर्यमित्येतानि 'जायंति' नश्यन्ति 'सम्यक्स्वरूपविनाशात्' । समीचीनं तपो, ज्ञानं, चरणं, वीर्यानि-
शूहनं च मुक्त्युपायो न तपःप्रभृतिमात्रं । स च सम्यक्श्रद्धाकलेनेव नाम्यथा । 'वंतमिच्छसम्मि' निरस्तमिष्यात्वे
जीवे । सफलाणि फलसमन्वितानि तपःप्रभृतीनि । 'जायन्ते' जायन्ते । [किं तपसः फलं ? अम्युदयसुखं,
निःश्रेयससुखं वा । मिच्छसस्स य वमणं इत्येतद्व्याख्यातं । मिच्छस] ॥७३३॥

^३सम्मतं भावना इत्येतद्व्याख्याते—

मा कासि तं पमादं सम्मत्ते सव्वदुक्खणासयरे ।

सम्मत्तं खु पदिट्ठा णाणचरणवीरियतवाणं ॥७३४॥

शा०—संचप्री नामक राजमन्त्रीकी आँखें तीव्र मिष्यात्वके कारण फूट गईं और वह मर
कर भी वीर्य संसारी हुआ ॥७३१॥

शायद क्षपक विचारे कि यदि मैं मिष्याहोष्ट हूँ तब भी मैंने दुर्धर चारित्रका पालन किया
है अतः मैं संसार समुद्रको पार करनेमें समर्थ हूँ ? आचार्य कहते हैं कि ऐसी आशा नही करना—

शा०—जैसे अशुद्ध कद्रुवी तूम्बीमें रखा दूध कटुक ही होता है और शुद्ध तूम्बीमें रखा
दूध मीठा तथा सुगन्धित होता है ॥७३२॥

शा०—वेसे ही मिष्यात्वसे दूषित जीवमें तप, ज्ञान, चारित्र, वीर्य, ये सब नष्ट हो जाते हैं
क्योंकि सम्यक् रूप नहीं होते । समीचीन तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य मुक्तिके उपाय हैं, केवल
तप आदि मात्र मुक्तिका उपाय नहीं है । और समीचीन तप आदि श्रद्धाके बलसे ही होते हैं,
श्रद्धाके अभावमें नहीं होते । अतः मिष्यात्वको दूर कर देने वाले जीवमें तप आदि सफल होते हैं ।
तपका फल सांसारिक सुख अथवा मोक्षका सुख है । इस प्रकार मिष्यात्वके वमनका कथन
किया ॥७३३॥

अब सम्यक्त्वकी भावनाका कथन करते हैं—

१. सम्यक्स्वरूपविनाशात्—भूकारा० पृ० ।

२. [] एतदन्वयतः पाठः 'अ' प्रती नास्ति ।

३. कि त्येतद्व्याख्याते—ब० ।

'आ कश्चित्' मा कार्षीः । 'तं' भवान् । 'वचनं' प्रवादः । 'सम्पत्ते' सम्पत्तये । 'सम्पदुःखनाशकम्' कर्म-
दुःखनिवृत्तिसौकर्यम् । कर्म सम्पत्कर्म सर्वदुःखनाशकारि ? ननु ज्ञानादीन्मपि सर्वदुःखनिवृत्तिनिमित्तानि इत्यत
माह—

'सम्पत्तं क्व' अद्यान्मेव तत्त्वस्य । 'वचिद्व्य' आचारः । 'पञ्चभरणवीरियतत्त्वार्थ' ज्ञानस्य, चरणस्य,
वीर्याचारस्य, तपसस्य । ननु सर्व एव परिणामः परिणामिद्रव्याधारो न परस्परभधिकरणतां याति ततः कर्म-
मुच्यते सम्पत्कर्ममाधार इति । यथा परिणामिद्रव्यमन्तरेण ज्ञानादीनामनवस्थितिर्येवं समीचीनता तेषां न दर्शनं
विनोति दर्शनस्याधारता ॥७३४॥

नगरस्त जह दुवारं ब्रह्मस्त चक्षु उरुस्त जह मूलं ।

तह जाण सुसम्भवं णाणचरणवीरियतत्त्वार्णं ॥७३५॥

'नगरस्त जह दुवारं' नगरस्य द्वारमिव नगरप्रवेशानुपायो यथा द्वारं । 'तहा' तथा 'सम्पत्तं' सम्पत्कर्म
द्वारं । 'पञ्चभरणवीरियतत्त्वार्थ' ज्ञानादीनां । एवं हि ज्ञानादीन्पुत्रविष्टो यवति बीजो यदि परिणतो यवोस्त-
स्यकवे तदन्तरेण सम्यग्ज्ञानाद्यनुप्रवेशस्यासंभवात् । न हि सात्त्विक्यमवस्थावि, यथाख्यातं चारित्रं, बहुतरनिर्ज-
रानिमित्तं वा तपः प्रतिलभते जन्तुः सम्पत्कर्म विना । 'मूलस्त चक्षु जहा' मूलस्य चक्षुर्यथा शोभाविधावि
ताव ज्ञानादीनां सम्पत्कर्म विद्यते अद्यान् । 'तस्स मूलं जहा' तरोर्मूलं यथा स्थितिनिम्बानं, तथा सम्पत्कर्म
ज्ञानादिस्थितिनिमित्तं ॥७३५॥

मावाणुरागपेमाणुरागमज्जाणुरागरसो ष्वा ।

अम्माणुरागरसो य होहि जिणसासणे णिच्चं ॥७३६॥

गा०-टी०—सब दुःखोंको जड़मूलसे उखाड़नेमें तत्पर सम्पत्कर्मके विषयमें आप प्रभाव न
करें । 'सम्पत्कर्म ही सब दुःखोंका नाश करने वाला कैसे है ? ज्ञान आदि भी तो सब दुःखोंको दूर
करनेमें निमित्त हैं ? ऐसा कोई कहे तो आचार्य कहते हैं—ज्ञान, चारित्र, वीर्याचार और तपका
आधार तत्त्वका अद्यान् ही है ।

शंका—सब परिणाम परिणामी द्रव्यके आधारसे रहते हैं । वे परस्परमें एक दूसरोंके आधार
नहीं होते । तब आप सम्पत्कर्मको ज्ञानादिका आधार कैसे कहते हैं ?

सम्भावना—जैसे परिणामी द्रव्यके विना ज्ञानादि नहीं रहते वैसे ही वे सम्पत्कर्मदर्शनके विना
समीचीन नहीं होते । इसलिए सम्पत्कर्म उनका आधार होता है ॥७३४॥

गा०-टी०—जैसे नगरमें प्रवेश करनेका उपाय उसका द्वार होता है वैसे ही ज्ञान, चारित्र,
वीर्य और तपका द्वार सम्पत्कर्म है । यदि जीव सम्पत्कर्म रूपसे परिणत होता है तो वह ज्ञानादि-
में प्रवेश कर सकता है । सम्पत्कर्मके विना ज्ञानादिमें प्रवेश सम्भव नहीं है । सम्पत्कर्मके विना
जीव सात्त्विक्य जबकि ज्ञान आदि, यथाख्यात चारित्र अथवा बहुत निर्जरामें निमित्त तपको प्राप्त
नहीं कर सकता । तथा जैसे नेत्र मूलको शोभा प्रदान करते हैं वैसे ही सम्पत्कर्मसे ज्ञानादि शोभित
होते हैं । तथा जैसे जड़ वृक्षकी स्थितिमें कारण है वैसे ही सम्पत्कर्म ज्ञानादिकी स्थितिमें निमित्त
है ॥७३५॥

गा०—इस जगत्में लोग परपदार्थोंमें अनुराग रूप हैं, स्नेही जनोमें प्रेमानुरागी हैं । कोई

दंशणमद्दो मद्दो दंशणमद्दुस्स णत्थि णिव्वाणं ।

सिज्जन्ति चरियमद्दु दंशणमद्दु ण सिज्जन्ति ॥७३७॥

दंशणमद्दो मद्दो ण इ मद्दो होइ चरणमद्दो इ ।

दंशणमद्दुयचस्स इ परिवडणं णत्थि संसारे ॥७३८॥

'दंशणमद्दो मद्दो' दर्शनाद्भ्रष्टो भ्रष्टतमः । 'चरणमद्दो वि' चारित्रभ्रष्टोऽपि दर्शनाद्भ्रष्टः । 'ण इ' न वा । 'मद्दो होविति' वाक्यस्यैव कृत्वा संबन्धः । न तु तथा भ्रष्टो भवति चारित्रभ्रष्टः यथा दर्शनाद्भ्रष्टः । 'दंशणं' ध्वजानं । 'अमुत्तमत्त' अत्यजतः । चारित्राद्भ्रष्टस्यापि 'परिवडणं संसारे णत्थि इ' परिपत्तनं संसारे नास्त्येव । असंयमनिमित्ताजितपापसंहृतेरस्त्येव संसारः । किमुच्यते परिपत्तनं नास्तीति ? अयमभिप्रायः—परि समस्तात्सर्वाणु नसिणु चतसृणु संचरणं नास्तीति । इत्यल्पात्संसारः सम्पत्ति नास्तीति व्यथिह्यते । तथा हि स्वल्पद्रवियोगेऽप्यन इत्युच्यते । दर्शनात् प्रभ्रष्टस्य अर्धपुद्गलपरिवर्तनं भवत्यपिमहत्संसार-मिति निकृष्टतमो दर्शनाद्भ्रष्टः ॥७३८॥

एककस्य दर्शनस्य माहात्म्यं कथयति—

सुद्धे सम्मत्ते अबिरदो वि अज्जेदि तित्थवरणामं ।

जादो इ सेण्णो आगमेसिं अरुहो अबिरदो वि ॥७३९॥

'सुद्धे' शुद्धे । 'सम्मत्ते' सम्यक्त्वे । सङ्काचतिचाराभावात् । 'अबिरदो वि' अप्रत्याख्यानावरणक्रोध-मानमायालोभानामुद्यत्वा हिंसाविनिवृत्तिपरिणामरहितोऽपि । 'तित्थवरणामकम्मं' तीर्थंकरत्वस्य कारणं कर्म

मज्जाचुरागी हूँ । किन्तु तुम जिनशासनमें रहकर सदा धर्मानुरागी रहो ॥७३६॥

भा०—जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वह भ्रष्ट है क्योंकि सम्यग्दर्शनसे भ्रष्टका अनन्तानन्त कालमें भी निर्वाण नहीं होता । जो चारित्रसे भ्रष्ट है किन्तु सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट नहीं है उसका कुछ कालमें निर्वाण होगा । परन्तु जिसके सम्यग्दर्शन नहीं है उसका निर्वाण अनन्त कालमें भी नहीं होगा ॥७३७॥

भा०—टी०—जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वह अत्यन्त भ्रष्ट है । किन्तु चारित्रसे भ्रष्ट होने पर भी सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट नहीं है वह भ्रष्ट नहीं है । सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट जैसा होता है चारित्रसे भ्रष्ट वैसा नहीं होता । चारित्रसे भ्रष्ट होकर भी जो सम्यग्दर्शनको नहीं त्यागता उसका संसारमें पतन नहीं होता ।

शंका—असंयमके निमित्तसे उपाजित पाप कर्मके होनेसे उसका संसार रहता ही है । आप कैसे कहते हैं कि उसका संसारमें पतन नहीं होता ?

समाधान—हमारे कथनका अभिप्राय यह है कि उसका चारों गतिधर्मोंमें भ्रमण नहीं होता । यद्यपि संसार रहता है किन्तु स्वल्प रहता है अतः 'नहीं रहता' ऐसा कहनेमें आता है जैसे स्वल्प मज्जा बालेको मिर्चन कहा जाता है । किन्तु जो सम्यग्दर्शन पाकर उससे भ्रष्ट हो जाता है उसका संसार अर्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण रहनेसे महान् संसार होता है । अतः चारित्र भ्रष्टसे दर्शन भ्रष्ट बति निकृष्ट होता है ॥७३८॥

भा०—टी०—एककी सम्यग्दर्शनका माहात्म्य कहते हैं—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान

अर्चयति । विनयसंपन्नताविरपि तीर्थकरनामकर्मणो हेतुदेव तद्यः कोऽतिशयो वर्धनस्य इति चेत् वर्धने सर्वत्र
तेषां तीर्थकरनामकर्मणः कारणता, नाप्यनेति मन्यते । 'आधो ऋ' जातः कर्तुः । 'श्रेणिके' श्रेणिकः । 'आम-
नेर्द्ध' भविष्यति काले । अथो अर्हन् 'अविरयो वि' अर्चयतोऽपि सन् । ननु श्रेणिको भविष्यत्यर्हन् न त्वर्हन्
तस्यातीतं तेन कथमुच्यते जात इति ? भविष्यद्वर्हन् न भिष्यन् इति युक्तमुच्यते जात इति ॥७३९॥

कल्पानपरंपर्यं लहति जीवा विसृष्टसम्पत्ता ।

सम्पद्सत्त्वरयणं जग्दधि ससुरासुरो लोको ॥७४०॥

'कल्पानपरंपर्यं' कल्याणपरम्परा इन्द्रत्वं, सकलवक्रमात्मतां, अहमिन्द्रत्वं, तीर्थकृत्यमित्यादिकं
कर्मणो जीवाः । 'विसृष्टसम्पत्ता' विसृष्टसम्यक्त्याः । 'सम्पद्सत्त्वरयणं' सम्यग्दर्शनरत्नं 'जग्दधि ससुरासुरो
लोको' सकलो लोको मूल्यतया क्षीयमानोऽपि न कर्मणो सम्यक्त्वरत्नमित्यर्थः ॥७४०॥

सम्पत्तस्त य लंमे तेलोककस्त य हवेज्ज जो लंमो ।

सम्पद्सगलंभो वरं खु तेलोककलंभादो ॥७४१॥

लक्ष्मण वि तेलोककं परिवडदि हु परिमिदेण कालेण ।

लक्ष्मण य सम्पत्तं अकख्यसोकखं इवदि मोकखं ॥७४२॥

स्पष्टार्थतया न श्याक्यावते भाषाद्वयम् अनन्तरं सम्पत्ते भावना इत्येतद्व्याख्यात । सम्पत्त ॥७४२॥

माया लोके उदयसे हिंसा आदिकी निवृत्ति रूप परिणामोसे रहित अविरत भी शंका आदि अति-
चारीसे रहित शुद्ध सम्यक्त्वके होने पर तीर्थकर पदके कारणभूत कर्मका उपाजन करता है ।

शंका—विनय सम्पन्नता आदि भी तीर्थकर नाम कर्मके आस्रवमें कारण होते हैं तब
उनसे सम्यग्दर्शनकी क्या विशेषता हुई ?

समाधान—सम्यग्दर्शनके होने पर ही विनय सम्पन्नता आदि तीर्थकर नाम कर्मके कारण
होते हैं, उसके अभावमें कारण नहीं होते । देखो, असंयमी भी श्रेणिक भविष्यमें तीर्थकर हुआ ।

लक्ष्मण—श्रेणिक तीर्थकर होगा, भविष्यकालमें, अभी वह हुआ नहीं है, फिर उसे 'हुआ'
क्यों कहा ?

समाधान—श्रेणिकका अर्हन्तपना आगे होगा, अभी हुआ नहीं है इसलिए 'भविष्यमें
हुआ' ऐसा कहा है ॥७३९॥

शा०—विसृष्ट सम्यग्दृष्टी जीव इन्द्रपद, चक्रवर्तिपद, अहमिन्द्रपद, तीर्थकरपद आदि
कल्याणपरम्पराको प्राप्त करते हैं । मूल्यके रूपमें समस्तलोक देनेपर भी सम्यक्त्वरत्न प्राप्त नहीं
होता ॥७४०॥

शा०—सम्यक्त्वकी प्राप्तिके बदलेमें यदि तीनों लोक प्राप्त होते हों तो त्रैलोक्यकी प्राप्तिसे
सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति श्रेष्ठ है ॥७४१॥

शा०—तीनों लोक प्राप्त करके भी कुछ काल बीतनेपर वे छूट जाते हैं । किन्तु सम्यक्त्वको
प्राप्त करके अबिनाशी सुखवाला मोक्ष प्राप्त होता है ॥७४२॥

सम्यक्त्वभावनाका कथन समाप्त हुआ ।

परा भती इत्येतद्व्याख्यानम् प्रबन्ध उत्तरः—

अरहंतसिद्धयैदियपबयणआयरियसव्वसाइसु ।

सिद्धं करेहि भती षिद्धिदिगिच्छेण भावेण ॥७४३॥

'अरहंतसिद्धयैदियपबयणआयरियसव्वसाइसु' अर्हंतसिद्धं सु तत्प्रतिबिम्बेषु, प्रवचने, आचार्येषु सर्व-
साधुषु च । 'सिद्धं करेहि' तीव्रं भक्ति कुविति । 'षिद्धिदिगिच्छेण' विचिकित्सारहितेन । 'भावेण'
परिग्रामेन ॥७४३॥

जिनभक्तिमाहात्म्यं कथयन्ति—

सर्वेगजनिदकरणा णिस्सन्ला मंदरोव्व णिक्कंपा ।

जस्स द्ढा जिणभती तस्स भयं जत्थि संसारे ॥७४४॥

'सर्वेगजनिदकरणा' संसारमोक्षतया उत्पावितात्मकाया । 'णिस्सन्ला' सिध्यात्वेन, मायाया, निदानेन,
च रहिता । 'मंदरोव्व णिक्कंपा' मन्दर इव निषक्का । 'जस्स द्ढा जिणभती' यस्स दृढा जिनभक्तिः । 'तस्स
संसारे भयं जत्थि' तस्य संसारनिमित्तं भय नास्ति ॥७४४॥

एया वि सा समत्था जिणभती दुग्गहं णिवारेदि ।

पुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धिपरंपरसुहाणं ॥७४५॥

तह सिद्धयैदिए पबयणे य आइरियसव्वसाधूसु ।

भती होदि समत्था संसारुच्छेदणे सिद्धा ॥७४६॥

विज्जा वि भत्तिवंतस्स सिद्धिद्विवयादि होदि सफला य ।

किइ पुण णिब्बुदिबीजं सिज्जाहिदि अमत्तिमंतस्स ॥७४७॥

'विज्जा' विद्यापि । 'भत्तिवंतस्स' भक्तिमतः । 'सिद्धिद्विवयादि' सिद्धिमुपयाति । 'होवि सफला य'
फलवती च भवति । 'किइ पुण' कथ पुनः । 'णिब्बुदिबीजं' निर्वृतेबीज रत्नत्रय 'सिज्जाहिदि' सेत्स्यति ।

अब 'परा भक्ति' का व्याख्यान करते हैं—

शा०—हे क्षपक ! ग्लानिरहित भावसे अहन्त, सिद्ध, उनके प्रतिबिम्ब, प्रवचन, आचार्य
और सर्वसाधुओंमें तीव्र भक्ति करो ॥७४३॥

जिन भक्तिका माहात्म्य कहते हैं—

शा०—संसारके भयसे उत्पन्न द्वेद, सिध्यात्व माया और निदान शक्त्यसे रहित तथा सुमेरु-
की तरह निवचल दृढ़ जिनभक्ति जिसकी है उसे संसारका भय नहीं है ॥७४४॥

शा०—एक ही जिनभक्ति दुर्गलिका निवारण करनेमें, पुण्यकर्मोंको पूर्ण करनेमें और
मोक्षपर्यन्त सुखोंको परम्परको देनेमें समर्थ है ॥७४५॥

शा०—तथा सिद्ध, परमेष्ठी, उनके प्रतिबिम्ब, प्रवचन, आचार्य और सर्वसाधुओंमें तीव्र-
भक्ति संसारका विनाश करनेमें सफल है ॥७४६॥

'अनसिन्तस्त' भक्तिरहितस्य क्व ? अर्हदाविद्यु ॥७४७॥

तेसिं आराधणायनाथं च करिञ्ज जो करो भक्ति ।

चति पि संजर्मतो सालिं सो ऊसरे बंधदि ॥७४८॥

'तेसिं आराधणायनाथं' अर्हदादीनां आराधनाया सायकाना । 'च करिञ्ज जो करो भक्ति' यो नरो भक्ति न करोति । सो चति पि संजर्मतो' नितरां सवमे उच्यतेऽपि शालीनूषरे देवे यपति । ऊसरे शालिन्पत्रं अफलं यथा कः करोत्येवं तुष्वरं संयमं चरत्ययं अर्हदाविद्यु भक्तिरहितो मिष्यादृष्टिः सम्पति भावः ॥७४८॥

बीएण विणा सस्सं इच्छदि सो वासन्नम्पण विणा ।

आराधणमिच्छन्तो आराधणभक्तिमकरतो ॥७४९॥

'बीएण विणा सस्सं' शस्वमिच्छति बीजेन विना । 'वासन्नम्पणविणा' वर्षं धाम्पति अर्थेण विना । कारणेन विना कार्यमिच्छतीति यावत् । 'आराधणं' रत्नत्रयसिद्धिं इच्छति अनुर्बन्नाराधनाभक्ति हेतु-युता ॥७४९॥

विधिणा कदस्स सस्सस्स जहा जिप्पादयं हवदि वासं ।

तह अरहादिगभत्ती जाणचरणदंसणतवाणं ॥७५०॥

'विधिणा कदस्स' विधीयते जन्मते कार्यमनेनेति कारणसदोहो विधिः । तेन कारणकलापेन कुट-स्योपस्य । 'सस्सस्स' सत्यस्य । 'वासं' इह 'जिप्पादयं' हवदि' वर्षं यथा फलनिष्पत्तिं करोति । 'तह' तथैव । 'आराधणभत्ती' आराधकेषु अर्हदाविद्यु 'भत्ती' भक्तिः । 'जाणचरणदंसणतवाणं' ज्ञानस्य, दर्शनस्य, चारित्र्यस्य, तपसश्च निष्पादिका भवति ॥७५०॥

भा०—विद्या भी भक्तिमानकी ही सिद्ध और सफल होती है । तब जो अर्हन्त आदिमें भक्ति नहीं रखता उसके मोक्षका बीज रत्नत्रय कैसे सिद्ध—प्राप्त हो सकता है ? ॥७४७॥

भा०—दर्शन आदि आराधनाओंके नायक अर्हन्त आदिकी जो मनुष्य भक्ति नहीं करता वह संयममें अत्यन्त तत्पर होते हुए भी धान्यको ऊसर भूमिमें बोता है ॥७४८॥

विज्ञेयार्थ—इसका भाव यह है कि ऊसर भूमिमें कौन धान बोता है । क्योंकि उसका कोई फल नहीं है । उसी प्रकार यह अर्हन्त आदिमें भक्तिरहित अर्थात् मिष्यादृष्टि होते हुए कठिन संयमका आचरण करे तो वह निष्फल है ॥७४९॥

भा०—आराधनाके नायकोंकी भक्ति न करके जो आराधना अर्थात् रत्नत्रयकी सिद्धि चाहता है वह बीजके बिना धान्य चाहता है और भावकोंके बिना वर्षा चाहता है ॥७४९॥

भा०—जिससे कार्य किये जाते हैं उसे विधि कहते हैं अतः विधिका अर्थ होता है—कारणोंका समूह । उस विधिसे बोये गये धान्यको वर्षा जैसे उत्पन्न करती है उसी प्रकार अर्हन्त आदिकी भक्ति ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, और तपकी उत्पादक होती है ॥७५०॥

भक्तिमाहात्म्यं फलासिद्धयोपवर्धनेन कथयितुकामोऽप्राप्त्यानुपक्षिपति गायाम्याद्—

बंदणमचीमिषेण मिहिलाहियो य पडमरहो ।

देविदपाद्धिरें पचो जादो गणघरो य ॥७५१॥

'बंदणमतीमिसे' बन्दनानुरागमात्रेण चैव । 'मिहिलाहियो य पडमरहो' मिथिलानगराधिपति पद्म-
रघो नाम । 'देविदपाद्धिरें पचो' देवेन्द्रकृतां पूजां प्राप्तवान् । 'जादो गणघरो य' गणघरत्वं जातः ।
भती ॥७५१॥

आराधणापुरस्सरमण्णह्दिओ विसुद्धलेस्साओ ।

संसारस्स क्षयकरं मा मोचीओ णमोक्कारं ॥७५२॥

'आराधणापुरस्सरं' नमोक्कारं वा मोचीओ' आराधनाया अप्रसन्नं नमस्कारं ना मुञ्च । कीदृग्भूत ?
'संसारस्स क्षयकरं' संसारस्य पञ्चविधपरिवर्तमानस्य क्षयकरं । 'अण्णह्दिओ' अनन्त्यगतचित्तं सन् । 'विसुद्ध-
लेस्साओ' विसुद्धलेष्यया परिणतः । तत्र नमस्कारः नामस्थापनाद्रव्यभावविकल्पेन चतुर्धा व्यवस्थितः । तत्र
नाम नमस्कारो नाम यस्य कस्यचिन्नमस्कार इति कृता संज्ञा इदमस्य नामधेय यथा स्वादिति नियुज्यमान पदं
सर्वं सर्वत्र प्रवर्तते । एवं नमस्करणव्याप्तो जीवस्तस्य कृताञ्जलिपुटस्य यथाभूतनाकारेणवस्थापिता मूर्तिः
स्थापनानमस्कारः । नमस्कारप्राप्तं नामास्ति ग्रन्थ यत्र नयप्रमाणनिक्षेपाविमुखेन नमस्कारो निरूप्यते, तं यो
वेत्ति न च साम्प्रतं तन्निरूप्येऽर्थे उपयुक्तोऽन्यगतचित्तत्वात् स नमस्कारयाथात्म्यप्राप्तिभूतज्ञानस्य कारणत्वाद्या-
नमद्रव्यनमस्कार इत्युच्यते । नो आगमद्रव्यनमस्कारस्त्रिविधः, ज्ञायककारीरभावितद्वयतिरिक्तमेवान् । नमस्कार-

विशिष्ट फलके द्वारा भक्तिका माहात्म्य कहनेकी इच्छासे ग्रन्थकार उदाहरण उपस्थित करते हैं—

गा०—तीर्थंकरकी बन्दनाके अनुरागमात्रसे मिथिला नगरका स्वामी पद्मरथ देवेन्द्रके द्वारा पूजित हुआ और वासुपूज्य तीर्थंकरका गणघर हुआ ॥७५१॥

विशेषार्थ—मिथिलाका राजा पद्मरथ भगवान् वासुपूज्य तीर्थंकरकी बन्दनाके लिए गया । मार्गमें दो देवोंने उसकी परीक्षाके लिए घोर उपसर्ग किया । किन्तु वह विचलित नहीं हुआ । देवोंने उसकी दृढ़भक्तिके प्रसन्न होकर उसकी पूजा की । और वह भगवान् वासुपूज्यके समव-
धारणमें जाकर दीक्षा ग्रहण करके उनका गणघर बन गया ॥७५१॥

गा०—नमस्कार मन्त्र आराधनाका अयेसर है, नमस्कारमन्त्रपूर्वक ही आराधना की जाती है । पाँच परावर्तनरूप संसारका क्षय करनेवाला है । सब ओरसे मनको हटाकर विसुद्ध लेख्यापूर्वक नमस्कार मन्त्रकी आराधना कर । इसे छोड़ना नहीं ॥७५२॥

टी०—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके सेवसे नमस्कार चार प्रकारका होता है । जिस किसका नमस्कार नाम रखना नाम नमस्कार है । इसका यह नाम है इस प्रकारका व्यवहार सर्वत्र चलता है । इसी प्रकार नमस्कार करते हुए जीवकी दोनों हाथोंको जोड़े हुए आकारकी स्थापित मूर्ति स्थापना नमस्कार है । नमस्कार प्राभूत नामक ग्रन्थमें नय, प्रमाण, निक्षेप आदिके द्वारा नमस्कारका कथन है । जो उसे जानता है किन्तु वर्तमानमें उसमें कहे हुए अर्थमें उपयुक्त नहीं है, उसका मन अन्यत्र लगा है । वह व्यक्ति नमस्कारके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेवाले भूतज्ञानक कारण होनेसे आगमद्रव्य नमस्कार कहाता है । नो आगमद्रव्य नमस्कारके तीन भेद

प्राप्तकालस्य मच्छरीरं विकालनीचरं तदव्यन्तरेण श्रुतज्ञानं नोपवायेति इति शरीरमपि कारवं तथापि नमस्कार-
मन्वी वर्तते । यद् उच्यते श्रुतशरीरं विकल्पं श्रुतं, व्यावृत्तं, त्यक्तमिति । आयुको निःशेषकमावात्मनश्च्युतं
एकं । शैतलस्य वा उपसर्गस्य बलात् व्यतिरिक्तं व्यावृत्तसन्धौ च्यते । आयुकोऽप्यवस्येत्येव आत्मनैव श्रुतवत्तं तदव-
कालस्येनोच्यते । तद्विकल्पं चतस्रप्रत्याख्यानं, प्रायोपगमनं, इगिनीमरणं इति । तेष्वप्युपगतं त्यक्तं विधिना
कामकषायसल्लेखानामुत्तरं प्रवृत्तः प्रभृति निर्यापकगुरुकसमाध्ययविषयसम्पन्नं कृत्वा मध्ये प्रवृत्तान् ज्ञानवर्धन-
चारिचार्यां अतिचारानालोच्ये तदवसिमतप्रायश्चित्तानुत्तारिणः ब्रह्मभावसल्लेखानामुपगतस्य विधिवाह्यप्रत्या-
ख्यानविकल्पेण रत्नमयाराधनं भक्तप्रत्याख्यानं । इगिनीमरणप्रायोपगमने वक्ष्यमाणकाले । तैः परित्यक्तं
त्यक्तमुच्यते । यदेव तस्मिन् जीवे नमस्कारोपयोगवति जीववशेव कारणमासीन्नमस्कारोपयोगस्य तदेवेवमिति
तथापि नमस्कारसम्बन्धः प्रवर्तते । नमस्कारोपयोगकाले यो भविष्यति स भावीति भव्यते । स्वापना अर्हदा-
दीनां नो आगमब्रह्मव्यतिरिक्तनौकर्गमनस्कारसम्बन्धोच्यते । आगमनस्कारज्ञानं आगमभावमस्कारः । नमस्कि-
यमाणार्हदादिगुणानुरागवतः मुकुलीकृतकरकमलस्य, प्रणामो नो आगमभावमस्कार इह गृह्यते ।
निर्येष्टस्वामित्वसाधनाधिकरणस्मृतिविधानैरनुयोगद्वारैर्निरूप्यते । अर्हदादिगुणानुरागवतः आत्मनो
वाक्कायक्रियास्तवनशिरोमस्तिक्रमो मस्कारः । सम्यक्च्युष्टिर्नो आगमभावमस्कारस्य स्वायीति । अतिशुत-

है—ज्ञायकशरीर, भावि, तदव्यतिरिक्त । नमस्कार प्राभूतके ज्ञाताका जो निकालवर्ती शरीर है,
उसके बिना भी श्रुतज्ञान नहीं होता, इसलिए शरीर भी कारण है अतः उसे भी नमस्कार शब्दसे
कहते हैं । उनमेंसे जो श्रुत शरीर है उसके तीन भेद हैं—च्युत, व्यावृत्त, त्यक्त । आयुक्रमके
पूर्णरूपसे समाप्त होनेपर छूटा शरीर च्युत कहाता है । उपसर्गके कारण छूटा शरीर व्यावृत्त
कहाता है । आयुका अभाव जानकर स्वयं ही त्याग किया शरीर त्यक्त कहाता है । उस त्यक्त
शरीरके तीन भेद हैं—भक्तप्रत्याख्यान, प्रायोपगमन, इगिनीमरण । उनमेंसे किसी एक विधिसे
शरीर और कषायकी सल्लेखनापूर्वक छोड़ा गया शरीर त्यक्त है । दीक्षा ग्रहण करनेसे लेकर
निर्यापक गुरुके पास आश्रय लेनेके अन्तिम दिनतक लगे ज्ञान दर्शन और चारित्रिके अतिचारोंकी
आलोचना करके गुरुके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तको स्वीकार करके ब्रह्मसल्लेखना और भाव-
सल्लेखनापूर्वक तीन प्रकारके आहारके त्याग आदिके क्रमसे रत्नत्रयकी आराधना करना भक्त-
प्रत्याख्यान है । इगिनीमरण और प्रायोपगमनका कथन आगे करेंगे । इन तीनोंके द्वारा त्यागा
गया शरीर त्यक्त कहाता है । जब शरीरके रहनेपर जीव नमस्कारमें उपयोग लगाता वा तब
जीवकी तरह ही शरीर भी नमस्कारमें उपयोग लगानेमें कारण वा । वही यह शरीर है इस प्रकार
शरीरमें नमस्कार शब्दकी प्रवृत्ति होती है । जो भविष्यमें नमस्कारमें उपयोगरूपसे परिणत होगा
उसे भावि कहते हैं । अर्हन्त आदिकी स्वापनाको नोआगमब्रह्म व्यतिरिक्त नौकर्म नमस्कार
शब्दसे कहते हैं ।

नमस्कार विषयक आगमके ज्ञानको आगमभाव नमस्कार कहते हैं । जिन अर्हन्त आदिको
नमस्कार करता है उनके गुणोंमें अनुरागपूर्वक दोनों हाथोंको जोड़ नमस्कार करनेवालेका जो
नमस्कार है वह नोआगमभाव नमस्कार है ।

निर्वेष, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इन अनुयोग द्वारोंसे नमस्कार-
का कथन करते हैं ।

अर्हन्त आदिके गुणोंमें अनुरागी आत्माका वचनके द्वारा स्तवन और कायके द्वारा सिरको

ज्ञानावरणक्षयोपशमः, दर्शनमोहोपशमः, क्षयः, क्षयोपशमवच बाह्यं साधनं, अभ्यन्तर आत्मा प्रत्यासम्बन्धः
आत्मनि वर्तते नमस्कारः । अन्तर्मुहूर्तस्थितिकः । अर्हदादिनमस्कार्यभेदेन यद्भविवः । अर्हदादीनां प्रत्येकभक्तेः
विकल्पत्वात् नमस्कारोऽपि तावद्धा निश्चते ॥७५२॥

भक्तसा गुणपरिणामो वाचा गुणमासर्णं च पंचगुहं ।

काएण संपणामो एस पयत्थो भमोक्कारो ॥७५३॥

अत्र नमस्कारसूत्रेण 'भमो लोए सव्वसाधुणं' इत्यत्र लोकग्रहणं च सर्वग्रहणं प्रत्येकमिसम्बन्धयते ।
भमो लोए सव्वेदि अरहंताणं, भमो लोए सव्वेदि सिद्धाणं, भमो लोए सव्वेदि आहरियाणं, भमो लोए सव्वेदि
उवज्जायाणं' इति । अरहंताणमित्यादि बहुवचननिर्देशादेव सर्वेषामर्हदादीनां ग्रहणं सिद्धमतो न कर्तव्य सर्व-
धर्मोपादानं इति चेत् । अर्हत्पृतीयद्वीपगतभरतेषु, ऐरावतेषु विदेहेषु च ये अर्हन्तः, सिद्धा, आचार्या, उपा-
ध्यायाः, साधवश्चादीनां, वर्तमाना, भविष्यन्तश्च तेषां ग्रहणार्थं सर्वशब्द उपातः । सावरविशेषक्यापमार्थं
प्रत्येक नमःशब्दोपादानं ॥७५३॥

अरहंतभमोक्कारो एक्को वि हविज्ज जो भरणकाले ।

सो जिणवचणे दिट्ठो संसारुच्छेदनसमत्थो ॥७५४॥

'अरहंतभमोक्कारो' अर्हतां नमस्कारः । 'सो भरणकाले भवेज्ज एक्को वि' यो भरणकाले भवेदे-
कोऽपि । 'सो' सः । जिणवचणे दिट्ठो' जिनवचने दृष्ट । 'संसारुच्छेदनसमत्थो' संसारोच्छेदनसमर्थः ॥७५४॥

शुक्राना नमस्कार है । नोभागमभाव-नमस्कारका स्वामी सम्यग्दृष्टी होता है । मतिज्ञाना-
वरण और श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम तथा दर्शनमोहका उपशम, क्षय और क्षयोपशम उसका
बाह्य साधन है और निकट भव्य आत्मा अभ्यन्तर साधन है । नमस्कार आत्मामें रहता है ।
उपशान्ति स्थिति अन्तर्मुहूर्त है । नमस्कार करनेयोग्य अर्हन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधुके
भेदसे नमस्कारके पाँच भेद हैं । अर्हन्त आदिभेदे प्रत्येकके अनेक भेद होनेसे नमस्कारके भी उतने
ही भेद होते हैं ॥७५२॥

गा०—अरहन्त आदि पाँचोका मनसे गुणानुस्मरण, वचनसे गुणानुवाद और कायसे
नमस्कार यह नमस्कार पदका अर्थ है ॥७५३॥

टी०—नमस्कार मन्त्रमें आये 'भमो लोए सव्वसाधुणं' में जो लोक और सर्वशब्दका ग्रहण
किया है उन्हें प्रत्येकके साथ लगाना चाहिए । लोकके सब अर्हन्तको नमस्कार हो । लोकमें सब
सिद्धोंको नमस्कार हो । लोकके आचार्योंको नमस्कार हो । लोकके सब उपाध्यायोंको नमस्कार हो ।

शङ्का—'अरहंताणं' इत्यादिमें बहुवचनके निर्देशसे ही सब अर्हन्तोंका ग्रहण सिद्ध है अतः
सर्वशब्दका ग्रहण उचित नहीं है ?

समाधान—अर्हत्पृतीयके भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्रोंमें जो अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य,
उपाध्याय और साधु अतीतकालमें हुए, वर्तमानमें हैं और भविष्यमें होंगे उनके ग्रहणके लिए
सर्व शब्द ग्रहण किया है । और विशेष आदर बतलानेके लिए प्रत्येकके साथ 'भमो' शब्द लगाया
है ॥७५३॥

गा०—भरते समय यदि एक बार भी अर्हन्तोंको नमस्कार किया तो उसे जिनागममें

ननु सम्यक्त्वज्ञानचारित्र्यतयापि संसारमुच्छिन्नमिति यद्यपि न स्यान्नमस्कार इत्याशंकायामाह—

जो भावनमोक्षकारेण विना सम्मत्तजाणचरणतया ।

ण हु ते होति समत्था संसारच्छेदणं काहुं ॥७५५॥

'जो भावनमोक्षकारेण विना' यो भावनमस्कारेण विना सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र्य, तपस्व । 'णु' शब्द एवकारार्थः । 'ण हु ते संसारच्छेदणं काहुं' सत्त्वात्वा होति' न हि ते संसारोच्छेदनं कर्तुं समर्था भवन्ति ॥७५५॥

यद्येवं 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गं' इति सूत्रेण विरुध्यते । नमस्कारमात्रमेव कर्मणां विनाशने उपाय इत्येकमुक्तिमार्गकथनाविषयासङ्ख्यायामाह—

चतुरंगाए सेणाए नायगो जह पवत्तओ होदि ।

तह भावणमोक्षकारो मरजे तवजाणचरणार्णं ॥७५६॥

'चतुरंगाए सेणाए नायगो' चतुरङ्गायाः सेनाया नायको । 'जह पवत्तओ होदि' यथा प्रवर्तको भवति । 'तह भावणमोक्षकारो' तथा भावनमस्कारः । 'मरजे' मरणयोग्यः । 'सवजाणचरणार्णं' तपोज्ञानचरणानां । क्षायािकसम्यक्त्वज्ञानदर्शनवीर्यगुणात्मका अर्हन्त इत्येवं श्रद्धानात्मको भावनमस्कारः सम्मत्तदर्शनत्वात् समीचीन तपो, ज्ञान, चारित्र्यं च प्रवर्तयति । न ह्यासगुणश्रद्धानां विना शब्दश्रुतस्य प्रामाण्यमयं व्यवस्थापयितुमीश । वक्तुप्रामाण्याद्विना वचनप्रामाण्यामिदं । न ह्यतीन्द्रियविषयज्ञानभयथार्थमिदमेतत्तथार्थमिति वा विवेक्तुं शक्यते अमन्दादिना । अर्थयाथात्म्यवैदिनो वीतरागद्वेषस्य च यतो वचस्ततो यथार्थमेव विज्ञानं जनयति, नायथार्थमिति समीचीनज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानपुरस्सरतया चरणं तपस्व समीचीनं सत्कर्मपीनोदे निमित्तं ममारका उच्छेद करनेमें समर्थ कहा है ॥७५४॥

नमस्कारके विना भी सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्र्य संसारका उच्छेद करते हैं ? ऐसी आशंकाके उत्तर देते हैं—

गा०—भाव नमस्कारके विना जो सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्र्य होने हैं वे संसारका उच्छेद करनेमें समर्थ नहीं है ॥७५५॥

यदि ऐसा है तो 'सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र्य मोक्षका मार्ग है' इस सूत्रके साथ विरोध आता है क्योंकि आप नमस्कार मात्रको ही कर्मोंके विनाशका उपाय मानकर मुक्तिका एक ही मार्ग कहते हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—टी०—जैसे चतुरंग सेनाका नायक प्रवर्तक होता है वैसे ही मरते समय भाव नमस्कार—क्षायािक सम्यक्त्व, क्षायािक ज्ञान, क्षायािक दर्शन, क्षायािक वीर्य गुण वाले अर्हन्त हैं' इस प्रकार श्रद्धान रूप भाव नमस्कार सम्यग्दर्शन रूप होनेसे समीचीन ज्ञान तप और चारित्र्यका प्रवर्तक होता है । आसके गुणोंके श्रद्धानके विना शब्दरूप श्रुतके प्रामाण्यकी व्यवस्था नहीं की जा सकती; क्योंकि वक्ताके प्रामाण्यके विना वचनोंका प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता । अतीन्द्रिय विषयोंका ज्ञान अयथार्थ है और 'यह' आदि ज्ञान यथार्थ है, ऐसा विवेक हम लोग नहीं कर सकते । यतः अर्थके यथार्थ स्वरूपको जानने वाले और राग द्वेषसे रहित आसका वचन यथार्थ ज्ञानको ही उत्पन्न करता है, अयथार्थ ज्ञानको नहीं, इस प्रकारके सच्चे ज्ञानिका सम्यग्ज्ञान पूर्वक सम्यक्

नाप्यथेति प्रवर्तकता भावनमस्कारस्य ततः प्रधानत्वाद्भावनमस्कारः संसारोच्छेदकारितीति व्यपविषयते ॥७५६॥

आराधनापढार्यं गेणहंतस्स हु करो णमोक्कारो ।

मल्लस्स जयपढार्यं जह हत्थो वेत्तुकामस्स ॥७५७॥

आराधनापताकां ग्रहीषुकामस्य भावनमस्कार एव करो जयपताकां ग्रहीषुकामस्य मल्लस्य हस्तं ह्वेत्युत्तरगाथार्थः ॥७५७॥

अण्णाणी वि य गोवो आराधित्ता मदो णमोक्कारं ।

चंपाए सेट्ठिकुले जादो पघो य सामण्णं ॥७५८॥

अर्हद्गुणज्ञानरहितोऽपि गोषो द्रव्यनमस्कारमाराध्य मृतपंचाम्बापुरे भेदिकुले जातः आमष्यं च प्राप्तवान् इति च द्रव्यनमस्कारोऽप्येवं विपुलं प्रयच्छति फलं किं न कुर्याद् भावनमस्कार इति भावः । भावनमस्कारो व्याख्यातः । णमोक्कारं ॥७५८॥

णाणोवओगरहिदेण ण सक्को चित्तणिग्गहो काउं ।

णाणं अंकुसभूदं मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स ॥७५९॥

णाणुवओगं इत्येतद्वधाख्यानायोत्तरं प्रबन्धः—‘णाणोवओगरहिदेण’ ज्ञानपरिणामरहितेन पुंसा । ‘ण सक्को चित्तणिग्गहो काउं’ चित्तनिग्रहं कर्तुमशक्यम् । कस्मात् ज्ञानमन्तरेण न शक्यञ्चित्तनिग्रहः कर्तुमित्यारोकायां—ज्ञानं निग्रहकरणे साधकतमं ततस्तदन्तरेण न भवति चित्तनिग्रह इत्याचष्टे । ‘णाणं अंकुसभूदं

चारित्र्य और सम्यक् तप विद्यमान कर्मों को दूर करनेमें निमित्त होता है, अन्यथा नहीं होता । इसलिये भाव नमस्कार ज्ञान चारित्र्य और तपका प्रवर्तक होनेसे प्रधान है और संसारका उच्छेद करने वाला कहाता है ॥७५९॥

गा०—जैसे विजय पताकाको ग्रहण करनेके अभिलाषी मल्लके लिए हाथ है । हाथसे ही वह जय पताका ग्रहण करता है । वैसे ही आराधना पताका (ध्वजा) को ग्रहण करनेके इच्छुक आराधकका हाथ भाव नमस्कार है । भाव नमस्कार पूर्वक ही वह आराधनामें सफलता पाता है ॥७५७॥

गा०—सुभग नामका ग्वाला अज्ञानी था, उसे अर्हन्तके गुणोंका ज्ञान नहीं था । वह द्रव्यनमस्कारकी आराधना करके अर्थात् मुखसे णमोकर मन्त्रका जप करते हुए मरा और चम्पा नगरीमें एक श्रेष्ठीके वंशमें उत्पन्न हुआ । तथा मुनि पदको धारण कर मुक्त हुआ । इस प्रकार द्रव्यनमस्कारसे भी विपुल फलकी प्राप्ति होती है । तब भावनमस्कारका तो कहना ही क्या है । इस प्रकार भावनमस्कारका कथन समाप्त हुआ ॥७५८॥

अब ज्ञानोपयोगका कथन करते हैं—

गा०—टी०—ज्ञानोपयोगसे रहित मनुष्य अपने चित्तका निग्रह नहीं कर सकता ।

शाब्द—ज्ञानके बिना चित्तका निग्रह क्यों नहीं कर सकता ?

समाधान—ज्ञान चित्तका निग्रह करनेमें साधकतम है अतः उसके बिना चित्तका निग्रह

मत्स्यस्य ह्यु चित्तहृदयिष्यत्' ज्ञानमकुशभूतं मत्स्यस्य चित्तहृदयितमः । इदमत्र बोधते—इह चित्तशब्देन किमुच्यते ? अन्यत्र सचित्तसौतसंबुत इत्यादौ चित्तं चैतन्यमिति युहीतं । इहापि यदि तदेव तस्य निबन्धो नाम कः ? अनोच्यते—विपर्ययज्ञानमया अशुभध्यानलेख्यातया वा परिणतिः' प्राणभूयो यस्य तस्य निरोधो यथाचञ्चान-परिणामेन क्रियते । परिणामो हि परिणामिनं निरुणद्धि, परिणामोऽस्मा^१ द्विरुद्धस्त्वया नादातम्यः इति । यथा मत्सो हृस्ती न क्वचिद्वचतिष्ठते बन्धनमह^२ भादिकं विना तद्वचिन्वतहृत्स्यपि यत्र क्वचनानामुभपरिणामे प्रवर्तते इति ॥७५९॥

विज्जा जहा पिसायं सुदु पउत्ता करेदि पुरिसवसं ।

णाणं ह्रियपिसायं सुदु पउत्ता करेदि पुरिसवसं ॥७६०॥

'विज्जा सुदु पउत्ता जहा पिसायं पुरिसवसं करेदि' विद्या सुष्ठु प्रयुक्त सम्भारारविद्या यथा पिसाचं पुरुषस्य वस्यं करोति । 'तह णाणं सुदुपउत्तं वसं करेदि ह्रियवपिसायं' तथा ज्ञानं सुष्ठु प्रयुक्तं वसं करोति कि ? हृदयपिसाच । चित्तं पिशाचवदयोग्यकारितया ज्ञानं समीचीनं असकृत्प्रवर्तमानं शुभं गुणं वा परिणामे प्रवर्तयति चेतनामिति यावत् ॥७६०॥

उवसमइ किण्हसप्यो जह मंतेण विधिणा पउत्तेण ।

तह ह्रियकिण्हसप्यो सुदुवज्जेण णाणेण ॥७६१॥

'उवसमवि किण्हसप्यो' उपशाम्यति कृष्णसर्पः । 'अहं यथा । 'मंतेण सुप्पज्जेण' स्वाहाकारान्ता विद्या' नि स्वाहाकारो मन्त्रशब्देनोच्यते । मन्त्रेण सुष्ठु प्रयुक्तेन । 'तह' तथैव । 'ह्रियकिण्हसप्यो उवसमवि' हृदयकृष्णसर्पं उपशाम्यति । 'सुदुवज्जेण णाणेण' सुष्ठु प्रवृत्तेन ज्ञानपरिणामेन । अशुभनिग्रहहेतुता ज्ञानस्य

नहीं होता, यह कहते हैं—मदोन्मत्त चित्तरूपी हाथीके लिए ज्ञान अंकुश रूप है ।

शङ्का—यहाँ चित्त शब्दसे क्या लिया है ? तत्त्वार्थ सूत्रमें 'सचित्त शीत संबुत' इत्यादि सूत्रमें चित्तसे चैतन्यका ग्रहण किया है । यहाँ भी यदि चैतन्य ही लिया है तो उसका निग्रह कैसा ?

समाधान—जिस प्राणीकी परिणति विपरीत ज्ञान रूप या अशुभ ध्यान और अशुभ लेख्या रूप होती है उसका निरोध यथार्थ ज्ञानरूप परिणामसे किया जाता है । परिणाम परिणामीको रोकता है जैसे कुम्हें हमारे विरुद्ध परिणाम नहीं करना चाहिए । अतः जैसे मत्त हाथी वन्धन मर्दन आदिके विना बशमें नहीं होता वैसे ही चित्तरूपी हाथी भी जिस किसी भी अशुभ परिणाम में प्रवृत्त होता है ॥७५९॥

गा०—जैसे सम्यक् रीतिसे साधी गई विद्या पिशाचको पुरुषके बशमें कर देती है । वैसे ही सम्यक् रूपसे आराधित ज्ञान हृदय रूपी पिशाचको बशमें करता है । अयोग्य काम करनेसे चित्त पिशाचके समान है । बार-बार प्रयुक्त सम्यग्ज्ञान चेतनाको शुभ अथवा शुद्ध परिणाममें प्रवृत्त करता है ॥७६०॥

गा०—जैसे विधिपूर्वक प्रयोग किये गये मंत्रसे कृष्ण सर्प शान्त हो जाता है । वैसे ही अच्छी तरहसे भावित ज्ञानसे हृदयरूपी कृष्ण सर्प शान्त हो जाता है । प्रथम गाथा (७५९) से

आद्यया गाथयोक्ता । द्वितीयया विसस्य स्ववशकारित्वं ज्ञानभावनयोक्तं । अनया तु अशुभपरिणामप्रशान्ति-
कारिता ज्ञानभावनया निरूप्यते ॥७६१॥

आरण्यबो वि मनो हृत्वी गियमिज्जदे वरसाए ।

जह तह गियमिज्जदि सो णाणवरसाए मणहृत्वी ॥७६२॥

‘आरण्यबो वि मनो हृत्वी’ अरण्यचारी मनो हृत्वी । ‘गियमिज्जदे वरसाए’ नियम्यते निरूप्यते
वरत्रेण यथा । तथा ‘मणहृत्वी गियमिज्जदे’ मनोहृत्वी नियम्यते । ‘णाणवरसाए’ ज्ञानवरत्रेण । प्राणिना-
महितकारितया, दुनिवारतया च मनो हृत्वीवेति मनोहृत्वीति अभ्यते । ज्ञानमशुभप्रवाहं निरुणद्धि ।
इत्थनयोच्यते ॥७६२॥

ज्ञानवरत्रानियमितस्य मनसो व्यापार निरूपयत्युत्तरगाथा—

जह मक्कडओ खणमवि मज्झत्थो अत्थिदु ण सक्केइ ।

तह खणमवि मज्झत्थो विसएहिं विणा ण होइ मणो ॥७६३॥

‘मक्कडओ खणमवि मज्झत्थो अत्थिदु’ ण जहा सक्कवि’ मर्कटकः खणमवि मध्यस्थो निर्विकार
सन् स्थानु न शक्नोति । ‘तहा मणो विसएहिं विणा मज्झत्थो खणमवि ण होइ’ तथा मनो विषयं शब्दादि-
विषयनिर्मला रामादय इह विषयशब्दवाच्या विषयकार्यत्वात् । ततोऽप्यमर्थः, अत्र रागद्वेषो विना मध्यस्थ
मनो भवति । ज्ञानभावनायामसत्या रागद्वेषयोर्निस्तरेव मनसो व्यापार इत्यर्थः । एतया ज्ञान मनसो माध्यस्थ
करोतीत्याख्यायते । यस्मान्न मनसो माध्यस्थमस्ति सनिहितमनोज्ञानमनोज्ञाविषयरागद्वेषसहचारितया ॥७६३॥

तम्हा सो उड्डहणो मणमक्कडओ जिणोवएसेण ।

रामेदन्वो गियदं तो सो दोसं ण काहिदि से ॥७६४॥

ज्ञानको अशुभका निग्रह करनेमें हेतु कहा । दूसरी गाथासे ज्ञान भावनाके द्वारा चित्त अपने
वशमें होता है यह कहा । इस गाथासे ज्ञान भावनाके द्वारा अशुभ परिणामोकी शान्ति होती है
यह कहा ॥७६४॥

गा०—जैसे चमड़ेके कोड़ेसे जगली भी मस्त हाथी वशमें किया जाता है । वैसे ही ज्ञान
रूपी चर्मदण्डसे मन रूपी हाथी वशमें किया जाता है । प्राणियोका अहितकारी तथा दुनिवार
होनेसे मनको हाथीकी तरह कहा है । ज्ञान अशुभ प्रवाहको रोकता है यह इस गाथासे कहा
है ॥७६२॥

आगे ज्ञानरूपी चर्मदण्डसे वशमें किये गये मनका व्यापार कहते है—

गा०—जैसे बन्दर एक क्षण भी निर्विकार होकर ठहर नहीं सकता, वैसे ही मन एक क्षण
भी विषयोके बिना नहीं रहता । यहाँ विषय शब्दसे शब्द आदिके निमित्तसे होने वाले रामादिको
लिया है क्योंकि विषयोंसे उत्पन्न होते हैं । इसलिए ऐसा अर्थ होता है कि रागद्वेषके बिना मन
मध्यस्थ नहीं होता है । अर्थात् ज्ञान भावनाके अभावमें रागद्वेषमें प्रवृत्ति करना ही मनका व्यापार
है । इस गाथासे कहा है कि ज्ञान मनको मध्यस्थ करता है । निकटवर्ती प्रिय और अप्रिय विषयों-
में रागद्वेष करनेसे मन मध्यस्थ नहीं होता ॥७६३॥

'सन्हा' तस्मात् । 'सो ज्ञानान्धको' मनोमर्कटः । 'उद्बुद्धो' इतस्तत् उत्कर्षणपरः । 'राशेवन्तो विषय' सर्वकालं रमयितव्यः । न च 'विजयोदयेति' जिनागमे । 'सो' ततो जिनागमरतेः । 'सो' मनोमर्कटः । 'सोस' रागद्वेषादिकं । 'न काश्चिद्' न करिष्यति । 'ते' तस्य ज्ञानाभ्यासकारिणः ॥७६४॥

मत्स्याज्ञानाभ्यासे सति मनोमर्कटको दोषं अक्षुभपरिणामं न करोति—

तम्हा णाणुवओगो खवयस्स विसेसदो सदा भणिदो ।

अइ विषणोवओगो चंदयवेज्जं करंतस्स ॥७६५॥

'तम्हा णाणुवओगो' तस्माज्ज्ञानपरिणामः । 'अवयस्स विसेसदो सदा भणितो' क्षपकरय विशेषतः सदा निरूपितः । 'अइ विषणोवओगो' यथा व्यथनाभ्यासो विशेषतो भणितः । कस्य ? 'चंदयवेज्जं करंतस्स' चन्द्रकवेषं कुर्वतः ॥७६५॥

णाणपदीवो पज्जलइ जस्स हियए विमुद्धलेस्सस्स ।

जिणदिट्ठमोक्खमग्गे पणासणभयं ण तस्सत्थि ॥७६६॥

'णाणपदीवो' ध्यानप्रदीपः । 'पज्जलइ' प्रज्वलति । यस्य विद्युद्धलेष्यस्य हृदये । तस्य संसारावर्ते पतित्वा विनष्टोऽस्तीति विनाशभयं नास्ति । 'जिणदिट्ठमोक्खमग्गे' जिनदृष्टे श्रुते । रत्नत्रयवृत्तिरपि भोक्षमार्ग-शब्द इह श्रुतवृत्तिर्वाहः ॥७६६॥

ज्ञानप्रकाशमाहात्म्यं कथयति—

णाणुज्जोवो जोवो णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिषादो ।

दीवेइ खेत्तमप्यं धुरो णाणं जगमसेसं ॥७६७॥

'णाणुज्जोवो' ज्ञानोद्योत एव धोतोऽतिशयित । कस्तस्यातिशय इत्यत्र आह—'णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिषादो' ज्ञानोद्योतस्य नास्ति प्रतिषातः । 'दीवेवि' प्रकाशयति । 'खेत्तमप्यं' रत्नं क्षेत्रं । क ? 'धुरो'

गा०—इसलिये इधर-उधर कूदने वाले मनरूपी बन्दरको जिनागममें सदा लगाना चाहिए । जिनागममें लगे रहनेसे वह मनरूपी बन्दर उस ज्ञानाभ्यास करने वालेमें रागद्वेष उत्पन्न नहीं कर सकेगा ॥७६४॥

गा०—यतः ज्ञानाभ्यास करने पर मनरूपी बन्दर अक्षुभ परिणामरूप दोष उत्पन्न नहीं करता । इसलिये क्षपकके लिये सदा ज्ञानोपयोग विशेष रूपसे कहा है । जैसे चन्द्रक यंत्रका वेध करने वालेके लिये सदा बीधनेका अभ्यास विशेष रूपसे कहा है ॥७६५॥

गा०—जिस विद्युद्ध लेखी वालेके हृदयमें ज्ञानरूपी दीपक जलता है उसको जिन भगवान्-के द्वारा कहे गये आगममें प्रवृत्त रहते हुए 'मैं संसारकी भँवरमें गिरकर नष्ट होऊँगा', ऐसा भय नहीं रहता ॥७६६॥

ज्ञानरूपी प्रकाशका माहात्म्य कहते हैं—

गा०—ज्ञानरूप प्रकाश ही यथार्थ प्रकाश है; क्योंकि ज्ञानरूपी प्रकाशमें रहनेवालेका

भावित्य । 'कर्म जपमत्सैत' ज्ञानं जगत्सर्वं । 'दीवेति' प्रकाशयति । समस्तबस्तुव्यापिज्ञानबन्धनः प्रकाशो मास्तीत्यर्थः ॥७६७॥

गाणं पयासजो सोषजो तवो संजभो य गुप्तियरो ।

तिण्हंपि समाओगे मोक्षो जिणसासणे दिट्ठो ॥७६८॥

'जगत् पयासजं' ज्ञानं प्रकाशयति 'संसारं' संसारकारणं, 'गुप्तं' गुप्तकारणं च ॥ 'सोषजो तवो' निर्जराभिमितं तप । 'संजभो य गुप्तियरो' संयमश्च गुप्तिकरः । 'तिण्हंपि' त्रयाणामपि । 'समाओगे' संगमे । 'मोक्षो' मोक्षः । 'जिणसासणे दिट्ठो' जिणसासने वृष्टः ॥७६८॥

गाणं करणविहणं सिग्गामहणं च दंसणविहणं ।

संजमहीणो य तवो जो कुणदि णिरत्थयं कुणदि ॥७६९॥

गाणुज्जोएण विणा जो इच्छदि मोक्खमग्गमुवगतं ।

गंतुं कच्चिन्लमिच्छदि अंचलओ अंचयारम्मि ॥७७०॥

'गानुज्जोएण विणा' ज्ञानोद्योतेन विना । 'जो इच्छदि' यो वाञ्छति । 'मोक्खमग्गमुवगतुं' चारित्र्य तपश्च ब्रह्म मोक्षमार्गं इत्युच्यते चारित्र्य तपश्चाप्यन्तु । 'गंतुं कच्चिन्लमिच्छदि' गन्तुं दुर्गमिच्छति । क. ? 'अंचलओ' अन्ध । 'अंचयारम्मि' अन्धकारे तमसि । यथा बृक्षतृणगुल्मादिनिचिते प्रदेशे गमनं अतिदुष्करं अप्रकाशे सात । तद्विज्ञानादिपरिहारो जीवनिर्वाणकुले दुष्कर इति मन्वते ॥७७०॥

अइदा खंडसिलोणेण जमो मरणादु फेडिदो राया ।

पत्तो य सुसामण्णं किं पुण जिणउससुसेण ॥७७१॥

'अइदा खंडसिलोणेण' यदि तावत्सिन्धेन श्लोकस्य । 'जमो राया मरणादौ फेडिदो' यमो राजा मरणा-

पतन नहीं होता । सूर्य तो अल्पक्षेत्रको ही प्रकाशित करता है किन्तु ज्ञान समस्त जगत्को प्रकाशित करता है । आशय यह है समस्त वस्तुओंमें व्याप्त ज्ञानके समान अन्य प्रकाश नहीं है ॥७६७॥

गा०—ज्ञान संसार, संसारके कारण, मोक्ष और मोक्षके कारणोंको प्रकाशित करता है । तप निर्जराका कारण है । संयम गुप्तिकारक है । इन तीनोंके मिलनेपर जिनागममें मोक्ष कहा है ॥७६८॥

गा०—आचरणहीन ज्ञान, श्रद्धानके विना मुनि दीक्षाका ग्रहण और संयमके विना तप जो करता है वह सब निरर्थक करता है ॥७६९॥

गा०—ज्ञानरूप प्रकाशके विना मोक्षमार्गको जो प्राप्त करना चाहता है, यहाँ चारित्र्य और तपको मोक्षमार्ग कहा है अतः जो ज्ञानके विना चारित्र्य और तपको प्राप्त करना चाहता है वह अन्धा अन्धकारमें दुर्गमर जाना चाहता है । जैसे प्रकाशके अभावमें वृक्ष, तृण, झाड़ी आदिके भरे प्रदेशमें जाना अति कठिन है वैसे ही जीवोंसे भरे प्रदेशमें हिंसा आदिका बन्धाव कठिन है ॥७७०॥

दपसारितः । 'कसौ व सुखाकर्ण' प्राप्तश्च घोभनं आमथ्यं । 'किं पुन विजयउरासुरेण' किं पुनजिनोक्तसुमेग प्राप्यफले आचर्य । बाध्यमनाब्धानकं च । तदुक्तं—

'भवत्यन्वेनाज्ञेन जीविताधिना यत्किञ्चिदुक्तं बचनं श्रुत्वा हास्यपरेण राज्ञा भाव्यमानं यथापदपसारणे निमित्तं विषयवेदिनां बचो भाव्यमानं किञ्चिन्निरूपितं न प्रापयति ॥ ७७१॥

स्वल्पस्यापि श्रुतस्य भावना मरणकाले महाफलं वधातीत्येवं उक्तवयति—

दृढसुप्तो ह्यलदहो पंचनमोक्कारमेव सुदधाणे ।

उवजुचो कालगदो देवो जावो महद्दहो ॥७७२॥

'दृढसुप्तो ह्यलदहो' दृढसुप्तो नाम वीरः शूलमासृष्ट । 'पंचनमोक्कारमेव सुदधाणे उवजुचो कालगदो' पञ्चनमस्कार एव श्रुतज्ञाने उपयुक्तः सन् कालगतः । 'महद्दहो देवो जावो' महद्दिको देवो जातः ॥७७२॥

ण य तम्मि देसयाले सच्चो वारसविधो सुदक्खंधो ।

सत्तो अणुचिचोदुं बलिणा वि समत्थचित्तेण ॥७७३॥

'सच्चो वारसविधो वि सुवक्खंधो तम्मि देसयाले ण य सच्चो अणुचिचोदुं बलिणा वि समत्थचित्तेण' सर्वो द्वादशविधोऽपि श्रुतस्कवस्तस्मिन्मरणे देसे काले च नैव शक्योऽनुस्मर्तुं नितरामपि समर्थचित्तेन । बहु-श्रुतस्यापि न ध्यानात्मन्वं ममस्त श्रुत किं तु किञ्चिदेव सूत्र । तथा ह्युच्यते 'गकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमिति' [त० सू० ९।४५] ॥७७३॥

एकम्मि वि जम्मि पदे संबेगं वीदरायमग्गम्मि ।

गच्छदि णरो अभिक्खं तं मरणते ण मोत्तव्वं ॥७७४॥

गा०—टी०—यदि श्लोकके एक खण्डके पाठसे राजा यम मृत्युसे बचा और शोभनीय मुनि-पदको प्राप्त हुआ तो जिनभगवान्‌के द्वारा प्रतिपादित सूत्रकी स्वाध्यायसे प्राप्त होनेवाले फलमे क्या आश्चर्य है । इस विषयमे हरिवेषणकृत वृहत् कथाकोशमें यममुनि की कथा है । कहा भी है—

जीवनके अर्था अज्ञानी अन्धके द्वारा कहे गये अनर्गलवचनको सुनकर राजाने हंसीमे उसे ग्रहण किया और वह उसकी आपत्ति दूर करनेमें निमित्त हुआ तो सर्वज्ञके वचनका अभ्यारत किस इच्छित वस्तुको नहीं देता ? अर्थात् सब देता है ॥७७१॥

आगे कहते हैं कि थोड़े से भी शास्त्र की भावना मरते समय महाफल देती है—

गा०—दृढसुप्त नामक चोरको सूली पर चढाया गया तो वह पंच नमस्कार मन्त्र-मात्र श्रुतज्ञानमें उपयोग लगाकर मरा अर्थात् पंच नमस्कार मंत्र का पाठ करते हुए मरा और मरण महान् ऋद्धिका धारी देव हुआ ॥७७२॥

गा०—मरते समय बलवान भी सामर्थ्यसम्पन्न मनुष्य समस्त द्वादशांग श्रुत स्कन्धका अनुचिन्तन नहीं कर सकता । बहुत शास्त्रोंका ज्ञाता भी समस्त श्रुतका ध्यान मरते समय नहीं कर सकता । किन्तु किसी एक का ही ध्यान सम्भव है । कहा भी है—एक विषयमें चिन्ताके निरोध को ध्यान कहते हैं ॥७७३॥

'तेन एकस्मि वि जस्मि बदे' यस्मिन्नेकस्मिन्पि पदे युक्तः । 'संबन्धं कथञ्चि' रत्नत्रये अद्वाभुवैति । 'अस्मिन्' पुनः पुनः । 'त' तत्पदं । 'अर्थसि' शरीराद्वियोगकाले । 'य जोसम्ब' न मोक्षार्थं । गानुबजोम इत्येतद्व्याख्यातं । गार्णं नवं ॥७७४॥

पञ्चमहम्बवरक्षणा इत्येवमप्राचिख्यासुराद्यमहिंसाव्रतं पालयेति कथयति—

परिहर छज्जीवणिकायवहं मणवयणकायजोगेहिं ।

जावज्जीवं कदकारिदाणुमोदेहिं उवजुषो ॥७७५॥

'परिहर छज्जीवणिकायवहं' वज्जा जीवणिकायानां वधं मा कृया मनोवाक्काययोगीः प्रत्येकं कृत-कारितानुमतविकल्पे । कालप्रमाणमाह—'जावज्जीवं' यावज्जीवं । सर्वजीवविषयसर्वप्रकारहिंसापरिहार-रूपत्वात् सर्वस्मिन्नेव भवपर्यायकाले प्रवृत्तत्वादहिंसाव्रतस्य महत्ता निवेदिता । 'छज्जीवणिकाय' इत्यत्र व्यक्तयो जीवणिकायाना परिग्रहोता । 'मणवयणकायजोगेहिं कदकारिदाणुमोदेहिं', इत्यनेन हिंसाविकल्पाः संगृहीता । 'जावज्जीवणिकायनेन निरवशेषमनुज्जीवितकालग्रहणं' । 'उवजुषो सम्मिषु' इति शेष उपयुक्तः समितियु समाहितचित्तः । इह वा सावज्जीवणिकायपरिहारे इति शेषः । मावद्यक्रियापरिहाराप्रतिहित-चित्त ॥७७५॥

जह ते ण पियं दुक्खं तहेव तेसिंपि जाण जीवाणं ।

एवं णच्चा अप्पोवमिबो जीबेसु होदि सदा ॥७७६॥

'जह ते ण पियं दुक्खं' यथा तव न प्रिय दुःखं । 'तवेव तेसिं पि जीवाणं दुक्खं न पियंति' तथैव तेषामपि जीवाना न दुःखं प्रियमिति । 'जाणं जानीहि । 'एवं णच्चा' एवं ज्ञात्वा । अप्पोवमिबो आत्मोपमान । 'सदा होहि जीबेसु' सदा भव जीबेसु । परजीवदुःखाप्रियो भवेति यावत् ॥७७६॥

गा०—अतः जिस एक भी पदमें मन लगानेसे मनुष्यमें रत्नत्रयके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है उस पदको बार-बार विचारना चाहिये और मरते समय भी नहीं छोड़ना चाहिये ॥७७४॥

'पंच महाव्रत रक्षा' का व्याख्यान करनेके इच्छुक ग्रन्थकार अहिंसाव्रतके पालनका कथन करते हैं—

गा०—टी०—मन वचन काय और उनमें से प्रत्येकके कृत कारित और अनुमत भेदोंके साथ छह कायके जीवों को हिंसा जीवन पर्यन्त मत करो । क्योंकि सब जीवोंकी सब प्रकारकी हिंसाका त्याग अहिंसा महाव्रत है सभी भवोंमें इसका पालन करना, आवश्यक है । इससे अहिंसाव्रतकी महत्ता सूचित की है । 'छह जीव निकाय' पदसे जीव निकायोंके सब जीवोंका ग्रहण किया है । मन वचन काय और कृत कारित, अनुमोदनासे हिंसाके भेदोंका ग्रहण किया है अर्थात् हिंसा नौ प्रकार से होती है, 'यावज्जीवन' पदसे मनुष्यका सम्पूर्ण जीवन काल ग्रहण किया है । 'उपयुक्त' पदसे समितियों में सावधान चित्त व्यक्तिका ग्रहण किया है । जो व्यक्ति सावध कार्योंके परिहारमें दक्ष-चित्त है वही जीवन पर्यन्त छह काय के सब जीवोंकी मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से हिंसा नहीं करता ॥७७५॥

गा०—जैसे तुझे दुःख प्रिय नहीं है वैसे ही उन जीवोंको भी दुःख प्रिय नहीं है । ऐसा जानकर अपनी ही तरह सदा जीवोंमें व्यवहार करो अर्थात् किसी को दुःख मत दो ॥७७६॥

तण्डहाहादिपरिदाविदो वि जीवाण घादर्थ किञ्चा ।

पडियारं कादुं जे मा तं चित्तेसु लभसु सर्दि ॥७७७॥

'तण्डहाहादिपरिदाविदो वि' तुषा, शुषा, रोगेण, शीतेन, आतपेन बाधितोऽपि सन् । 'जीवाणं घादर्थं किञ्चा' जीवानामुपघातं कृत्वा । 'पडियारं कादुं जे' तृष्णादीनां प्रतिकारं कर्तुं । 'तं मा चित्तेहि' मा कार्मि-विषत् । 'लभसु सर्दि' लभस्व स्मृति । पिबामि हिमस्रोतलं जल कर्पूरस्रोतवाचित । अगाध वा सर. सुरभित-रोत्पलरजोवर्गुणित प्रविश्य मदान्धसिन्धुर इव निमज्जनोन्मज्जने करोमि । ललाटे, शिरसि, पृथुले चोरस्थले करकप्रकरनिपातो यदि स्याद्भ्रूइं भवेत् । कल्हारसिकताधिकपल्लवशयमादिलाभे वा जीवामि इति वा । आत-पति वा दिवानिगं तर्प । अपसारिततीक्ष्णकरकरमिकुम्बमिति व्यजनतालवृन्तसमुपनीतशीतमाह्लापातेन श्रममशेषमपाकुर्वन्तु भवन्तः । हिमानी पतन्तु । गान्तु वा मातरिष्वान इति वा । भ्रातृपत्न्यान्पुष्यान्पुत्रभिधृताद्रन्ि भक्षयामीति । सम्यक् स्वचितं क्षीर शर्कराभिश्चं सुलोभ्यं पिबामीति वा । धगधवायमानं आदिरमनि कुहत् । शीतेन स्फुटन्ति ममाङ्गानि इत्येवमादिका प्रतिक्रिया मनसि न कार्यैरर्थं । अमहं घोवया'सनी महनि निपतति. को नु तस्य प्रतीकारः ? तदुपशमकालप्राविन एव बाह्यद्रव्यसंपाद्या प्रतीकारा इति मनो निषेधि ॥७७७॥

रदिअरदिहरिसभयउस्सुगत्तदीजत्तणादिजुत्तो वि ।

भोगपरिभोगहेदुं मा हु विचितेहि जीववहं ॥७७८॥

'रदिअरदिहरिसभयउस्सुगत्तदीजत्तणादिजुत्तोवि' । शब्दादिविषया प्रीती रति । अमनोऽविषय-सन्निधाने वा विमुञ्जता सा अरतिः । हास्यकर्मोदयनिमित्तः परिणामो हर्षः । भय, उल्लुकता, दीनेतत्पेव-मादिभयुक्तोऽपि । 'भोगपरिभोगहेदुं' भोगोपभोगार्थं वा जीववहं मा कृषा मनसि ॥७७८॥

गा०-टी०—भूख, प्यास, रोग, शीत अथवा आतपसे पीडित होने पर भी जीवोका घात करके प्यास आदिका प्रतीकार करनेका विचार मत करो । मैं कपूरके चूर्णसे सुवासित तथा बर्फसे शीतल जलका पान करूँ ? अथवा अति सुगन्धित कमलकी रजसे व्याप्त गहरे तालावमें घुसकर मदोन्मत्त हाथी की तरह डुबकरियाँ लूँ । मस्तक, सिर और विशाल छाती पर यदि ओलोंकी वर्षा हो तो उत्तम हो । अथवा यदि कमल बालु और कोमल पल्लवों आदिकी शय्या मिले तो मैं जीवित रह सकूँ । रात दिन प्यास सताती है । सूर्यकी किरणोंके समूह को दूर करके पंखेकी शीतल वायु से मेरी सब थकान आप दूर करे । बर्फ गिरे । शीतल पवन बहे । सुगन्धित घीमे अगार पर पके पुओं को खाऊँगा । अथवा सम्यक् रूपसे उबाले गये और शक्कर मिलाये तथा सुखकर उष्णता को लिये दूधको पीऊँ । खैरकी लकड़ीकी धक् धक् करती हुई आग जलाओ, मेरे अंग ठडसे ठिडुर रहे हैं । इस प्रकारका प्रतिकार मनमें नहीं लाना चाहिये । यह उक्त कथनका आशय है । महान् असाता वेदनीय रूप बज्रपात होने पर उसका क्या प्रतीकार हो सकता है ? उसका उपशमन काल आने पर ही बाह्य द्रव्योंके द्वारा प्रतीकार संभव है. ऐसा मनमें विचार होना चाहिये ॥७७७॥

गा०-टी०—शब्द आदि विषयोंमें प्रीतिको रति कहते हैं । अप्रिय विषयोंके प्राप्त होनेपर उनसे विमुक्त होनेको अरति कहते हैं । हास्यकर्मके उदयके निमित्तसे जो भाव होता है उसे हर्ष कहते हैं ।

मधुकरिसमञ्जस्यमहुं व संजमं शोबशोबसंगलियं ।
तेलोककसम्बसारं जो वा पूरेहि मा जहसु ॥७७९॥

'मधुकरितमन्त्रकथनं' व' मधुकरीणि- समञ्जितं मन्त्रिव । 'संजमं' चारिणं । 'शोबशोबसंगलियं' स्तोत्र-
स्तोत्रेणोपलितं । 'तेलोककसम्बसारं' शैलोक्यस्य सर्वसारं विष्टपत्रये यदतिगयवत् स्थानं, मानं, ऐश्वर्यं सुखं
वा सस्य कारणत्वात् शैलोक्यसर्वसारं । 'मा जहसु' मा त्यासी ॥७७९॥

दुष्कलेण लभदि मानुस्सजादिमदिसवणदंसणाचरितं ।
दुष्खन्जियसामण्णं मा जहसु तर्णं व अगणतो ॥७८०॥

'दुष्कलेण लभदि मानुस्सजादिमदिसवणदंसणाचरितं' दुःखेन लभते मनुष्यजन्म जंतुः । सूने यद्यपि
मनुस्सजादिसवणः सामान्यवाच्युपासस्तथापि विशेषेण मन्त्रासी यदति इति दाह्य । मनुजा हि चतुःप्रकाराः—

कर्मभूमिसमुत्पन्नं भोगभूमिमवास्तथा ।
अंतर्द्वीपवाच्यैव तथा सम्मूर्च्छना इति ॥
असिर्भविः कृषिः शिल्पं चाणिष्णं व्यवहारिता ।
इति यत्र प्रवर्तते नृवासाजीव्योत्पन्नः ॥
प्रपात्यसंयमं यत्र तपःकर्मवरा नराः ।
दुरसंघोतीव सिद्धिं प्रधाति हतसन्नवः ॥
एताः कर्मभुक्ते संघाः पूर्वोक्ता इति पञ्च च ।
यत्र संज्ज्व पर्याप्तिं याति ते कर्मभूमिजाः ॥
महापूर्वाम्बराहारपामाचरणमाल्यैः ॥

इन रति, भरति, हर्ष, भय, उत्सुकता, दीनता आदि भावोंसे युक्त होने पर भी अपने भोग अथवा
उपभोगके लिये मनमें जोब हिंसाका विचार मत करो ॥७७८॥

शा०—मधु-भक्तिर्या जिस प्रकार थोड़ा-थोड़ा करके मधुका संचय करती हैं उसी प्रकार
थोड़ा-थोड़ा करके संचित किया गया संयम तीनों लोकोंमें जो सात्विशय स्थान मान ऐश्वर्य अथवा
सुख है उस सबका कारण होनेसे सारभूत है । उसे यदि पूर्ण नहीं कर सकते तो उसका त्याग नो
मत करो ॥७७९॥

शा०—टी०—प्राणी बड़े दुःखसे मनुष्य जन्म पाता है । गायामे यद्यपि मनुष्य जाति शब्द
सामान्य वाची है तथापि यह विशेष मनुष्यको कहता है, ऐसा अर्थ लेना चाहिये । मनुष्य चार
प्रकारके होते हैं—कर्म भूमिमें उत्पन्न हुए, भोग भूमिमें उत्पन्न हुए, अन्तर्द्वीपोंमें उत्पन्न हुए तथा
सम्मूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न हुए । जहाँ मनुष्य असि, मधि, कृषि, शिल्प, व्यापार और सेवाके द्वारा
जीवन यापन करते हैं, तथा जहाँ मनुष्य संयमका पालन करके तपस्यामें तत्पर होकर
देवमति प्राप्ति करते हैं अथवा कर्म शत्रुओंको मारकर मोक्ष जाते हैं वे कर्मभूमिर्वा हैं । वे
कर्मभूमिर्वा पन्द्रह हैं । उनमें जन्म लेकर वे कर्मभूमिज मनुष्य पर्याप्तियां पूर्ण करते हैं । और

१. वमवसावयति इति आ० ।—वमवसावयति इति मु० ।

२. संगतिवत् सि-आ० ।—संगति वा सि-मु० ।

गृहवीपज्योतिषास्वीस्तपस्तिष्ठत जीविकाः ॥
 पुरस्तादावधौ यत्र न भिवेश न चाधिष्ठाः ।
 न कुलं कर्म शिल्पाणि न वर्णाश्रमसंस्मितिः ॥
 यत्र नाद्यो मर्यादेषु वैकुण्ठीयुव नीचजाः ।
 रथस्ते पूर्वपुण्यानां प्राप्नुवन्तः परं फलं ॥
 यत्र प्रकृतिभद्रत्वात् त्रिवं यास्ति मृता अपि ।
 ता भोगभूमयश्चोक्तास्तत्र स्युर्भोगभूमिजाः ॥
 अभाषका एकोरुका लक्ष्मूलिकाविषाणिकाः ।
 आषट्कानुकाहस्त्यवविद्युत्कानुका अपि ॥
 हृलकर्णा गजकर्णाः कर्णप्रावरणास्तथा ।
 इत्येवमाद्यो ज्ञेया अन्तर्द्वीपजा नराः ॥
 समुद्रद्वीपमध्यस्थाः कन्दमूलफलाक्षिणः ।
 वेदयन्ते मनुष्यामुस्ते भूगोषमचेष्टिताः ॥
 कर्मभूमिषु धक्रास्त्रहलभूधूरिभूभुजा ।
 स्थावावाःसमूहेषु प्रसाधोचचारभूमिषु ॥
 शुक्रसिंघानकश्लेष्मकर्णवर्तनलेषु च ।
 अत्यन्ताशुचिषेतेषु सद्यःसम्पृच्छन्तेन ये ॥
 भूत्वाङ्गुलस्थासंख्येयभागमात्रसारीरकाः ।
 आशु नश्यन्त्यथार्हास्तास्ते स्युः सम्पृच्छन्ता नराः ॥

एतेषु कर्मभूमिजमानवानां एव रत्नत्रयपरिणामयोज्यता नेतरेषां इति तदेव मनुजजन्म गृह्यते । लब्धेऽपि

जहाँ मनुष्य मद्य, तूर्य, वस्त्र, आहार, पात्र, आभरण, माला, घर, दीप और ज्योति प्रदान करने वाले दस प्रकारके कल्प वृक्षोंसे जीवन यापन करते हैं, जहाँ पुर ग्राम आदि नहीं होते, न राजा होते हैं न कुल, न कर्म और न गिल्प होता है, न वर्ण और आश्रमका चलन होता है, जहाँ स्त्री और पुरुष निरोग रहकर पति पत्नी की तरह रमण करते हुए पूर्व जन्ममें किये पुण्य कर्मका फल भोगते हैं, और जो स्वभावसे ही भद्र होनेके कारण मरकर भी स्वर्गमें जाते हैं वे भोगभूमियाँ कही हैं । उनमें जन्म लेने वाले मनुष्य भोगभूमिज होते हैं । अभाषका—जो भाषा नहीं जानते-मूक रहते हैं, एकोरुका—जिनके एक पैर होता है, लामूलिका जिनके पूँछ होती है, विषाणिका—जिनके सींग होते हैं, आदर्शामुखा—जिनका मुख दर्पण की तरह होता है, हस्तिमुखा—हाथी की तरह मुख वाले, अश्वमुख—घोड़ेकी तरह मुखवाले, विद्युन्मुख, विजलीकी तरह मुखवाले, उल्कामुख, हृयकर्ण—घोड़ेकी तरह कानवाले, गजकर्ण—हाथीकी तरह कान वाले, कर्ण प्रावरण—कान ही जिनका आवरण है, इत्यादि अन्तर्द्वीपज मनुष्य होते हैं । ये समुद्रके द्वीपोंके मध्यमें रहते हैं, कन्दमूल फल खाते हैं, तथा हिरनोंकी तरह चोष्टा करते हुए मनुष्यायु भोगते हैं । कर्म भूमियोंमें चक्रवर्ती, बलदेव, राजाओंकी सेनाके पड़ावोंमें मलमूत्र त्यागनेके स्थानोंमें, वीर्य, नाकके मल, कफ, कान और दंतोंके मलमें और अत्यन्त गन्दे प्रदेशोंमें शीघ्र ही सम्मूर्छन जन्मसे उत्पन्न होकर तत्काल ही अपर्याप्त दशामें मरणको प्राप्त होनेवाले सम्मूर्छन मनुष्य होते हैं । उनका शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र होता है । इन चार प्रकारके मनुष्योंमेंसे कर्मभूमि मनुष्योंमें ही रत्नत्रय

तस्मिन् ज्ञानावरणोद्ययाद्विहातहितपरीक्षायां समर्था बुद्धिर्न सुलभा । तया विना लम्बनमपि मनुष्यजन्म विकलमेव
दुष्टिरहितमिवायत्तं कोचनं, इविषयसंपदं विना कुलीनत्वमिव, सुभयतामन्तरेण रूपमिव, यथार्थतारहितं
वचनमिव, सत्यामपि मती यदि नाप्तानां बचः धृज्यात् सापि विकलमेव सरोवरहिता सरसीव । इहापि ध्वजं
आप्तवचनगोचरमेव गृहीतं, श्रवणमपि श्रद्धानरहितं सुलभमेव । इयं यथा येन प्रतिपादितं तथैवेति श्रद्धानं
दुर्लभं दर्शनमोहोद्ययात् । सत्यपि श्रद्धाने चारित्रमोहोद्ययात् शान्तेऽभिरक्षिते मार्गे प्रवृत्तिर्दुर्लभा । एवं 'बुरबन्धिन-
वसानम्ब' दुःखेनावितथामन्थं । या बह्वु मा त्यासीः । 'तर्षं व अर्षाक्षितौ' तृणमिव अरण्यम् ॥७८०॥

जीवघातदोषमाहात्म्यं कथयति गाथाइयेन—

तेलोककजीविदादौ वरेहि एकस्मिन्मपि देवेहि ।

मणिदो को तेलोककं वरिञ्ज संजीविदं गृह्या ॥७८१॥

जं एवं तेलोककं जगदि सम्बन्धस जीविदं तम्हा ।

जीविदघादो जीवस्स होदि तेलोककघादसमो ॥७८२॥

त्रैलोक्यजीवितयोरेकं गृह्यायेति देवैर्ज्ञोविदः कर्ष्वैकोनयं वृणीते 'स्वजीवितं त्यक्त्वा, जीवनमेव ग्रहीतुं'
वाञ्छति । यस्मादेवं त्रैलोक्यस्य मूल्यं जीवितं सर्वप्राणिनस्तस्माज्जीवितघातो । जीवस्य [जीवितस्य]
जीवावस्थानावृत्तेर्जीवस्यैहवचनमनर्थकमिति चेन्न, उत्तरेण सम्बन्धात् । जीवस्य हतुस्त्रैलोक्यघातसमो महा-
न्दोषो भवतीति यावत् ॥७८१॥

रूप परिणामों की योग्यता होती है, शेष तीन में नहीं होती । इसलिये यहाँ उनी मनुष्य जन्मका
ग्रहण होता है । उस मनुष्य जन्मको प्राप्त करके भी ज्ञानावरण कर्मके उदयसे हिन अहितका
विचार करनेमें समर्थ बुद्धि सुलभ नहीं है । उसके विना प्राप्त भी मनुष्य जन्म उसी प्रकार व्यर्थ
है जैसे देखनेकी शक्तिसे रहित लम्बी आँखें, धन सम्पत्तिके विना कुलीनता, सीभाग्यके विना रूप,
और यथार्थतासे रहित वचन व्यर्थ हैं । बुद्धिके होनेपर भी यदि आप्त पुरुषोंका वचन न सुने तो
वह बुद्धि भी कमलसे रहित सरोवरकी तरह निष्फल ही है । यहाँ श्रवण भी आप्तके वचन विषयक
ही ग्रहण किया है । श्रद्धान रहित सुनना भी सुलभ ही है । 'जिसने जैसा कहा है वैसा ही है' इस
प्रकारका श्रद्धान दर्शन मोहके उदयमें दुर्लभ है । श्रद्धान होने पर भी चारित्र मोहके उदयसे जाने
हुए और रचने वाले मार्गमें प्रवृत्ति दुर्लभ है । इस प्रकार बड़े कष्टसे प्राप्त मुनिधर्मको तृणकी
तरह मानकर त्यागना नहीं ॥७८०॥

टी०—आगे दो गाथाओंसे जीवघातसे हुए दोषका महत्त्व बतलाते हैं—

गा०—तीनों लोक और जीवनमेंसे एकको स्वीकार करो ? ऐसा देवोंके द्वारा कहे जानेपर
कौन प्राणी अपना जीवन त्यागकर तीनों लोकोंको ग्रहण करेगा ? अतः इस प्रकार सब प्राणियोंके
जीवनका मूल्य तीनों लोक है अतः जीवका घात करनेवालोंको तीनों लोकोंका घात करनेके
समान दोष होता है ।

शब्द—जीवितपना जीवको छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता अतः 'जीवस्स' यह वचन व्यर्थ है ?

समाधान—गाथायें आये जीवस्सका सम्बन्ध आगेके कथनसे है—जीवके घातकको तीनों
लोकोंके घातके समान दोष होता है ॥७८१-७८२॥

अहिंसाव्रतमहतां निवेदयन्ति—

अत्थि अणुदो अप्यं आयासादो अणुणयं अत्थि ।

जह जह जाण महत्तलं ण वयमहिंसासमं अत्थि ॥७८३॥

'अत्थि अणुदो अप्यं' नास्त्यणोरस्यं अन्यात्किञ्चिद्ब्रह्मं । 'आयासादो अणुणयं अत्थि' । आकाशाद्वा अन्यन्महन्नास्ति यथा तथाभ्यद्वन्नं अहिंसातो महन्नास्ति ॥७८३॥

जह पच्चदेसु मेरु उच्चवावो होइ सच्चलोयम्मि ।

तह जाणसु उच्चवार्यं सीलेसु वदेसु य अहिंसा ॥७८४॥

'अह पच्चदेसु' सर्वस्मिन्लोकके पर्वतेश्चो मेरुष्वप्यर्चैस्तथा अहिंसा शीलेषु व्रतेषु च उन्नततमेति जानीहि ॥७८४॥

व्रतानां, शीलानां, गुणानां च अधिष्ठानमहिंसेति वदन्ति—

सच्चो हि जहायासे लोगो भूमिण सच्चदीउदधी ।

तह जाण अहिंसाए वदगुणशीलाणि तिठ्ठंति ॥७८५॥

यथा सर्वलोक ऊर्ध्वपरितयन्विकल्प आकाशाधिकरण । भूमौ च समवस्थिता. सर्वे द्वीपा उवध-यन्त्र । तत्रैव 'जाण' जानीहि । व्रतगुणशीलान्यहिंसायां तिष्ठन्ति इति ॥७८५॥

कुब्बंतस्स वि जत्तं तुवेण विणा ण ठंति जह अरया ।

अरएहिं विणा य जहा णट्ठं णेमी दु चक्कस्स ॥७८६॥

'कुब्बंतस्स वि जत्तं' यत्नं कुर्वतोऽपि । तुम्बमन्तरेण यथा न तिष्ठन्त्यराणि । अरविना नेम्यवस्थानं चक्रस्य यथा नास्ति ॥७८६॥

तह जाण अहिंसाए विणा ण सीलाणि ठंति सच्चाणि ।

तिस्सेव रक्खणट्ठं सीलाणि वदीव सस्सस्स ॥७८७॥

'तह जाण' तत्रैव जानीहि । अहिंसा विना सर्वाणि शीलानि न तिष्ठन्ति इति । अहिंसाया एव रक्षां शीलानि वृत्तिरिव सस्यस्य ॥७८७॥

शा०—जैसे अणुसे छोटा कोई अन्य द्रव्य नहीं है और आकाशसे बड़ा कोई नहीं है वैसे ही अहिंसासे महान् कोई अन्य व्रत नहीं है ॥७८३॥

शा०—जैसे सब लोकमें मेरु सब पर्वतोंसे ऊँचा है वैसे ही शीलों और व्रतोंमें अहिंसा सबसे ऊँची है ॥७८४॥

अहिंसा व्रतों शीलों और गुणोंका अधिष्ठान है, ऐसा कहते हैं—

शा०—जैसे ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोकके भेदसे सब लोक आकाशके आधार हैं और सब द्वीप और समुद्र भूमिके आधार हैं वैसे ही व्रत गुण और शील अहिंसाके आधार रहते हैं ॥७८५॥

शा०—लाल प्रयत्न करनेपर भी जैसे चक्रेके आरे तुम्बीके विना नहीं ठहरते और आरोंके विना नेमि नहीं ठहरती, वैसे ही अहिंसाके विना सब शील नहीं ठहरते । उसीकी रक्षाके लिए शील हैं जैसे बान्धकी रक्षाके लिए बाड़ होती है ॥७८६—७८७॥

अहिंसाव्रतमन्तरेभेदेषां श्रेष्ठत्वमाचष्टे—

श्रीसं वदं गुणो वा षाचं निस्संगदा सुहृत्त्वाभो ।

जीवे हिंसंतस्स दु सव्वे वि चित्तथया होति ॥७८८॥

श्रीकार्त्वीनि हि संवरनिबंरां बोद्धव्यामुद्यीयन्ते । हिंसायां तु सत्यां न स्तः फलभूते संवरनिबंरे मुक्त्यु-
पायभूते इति निष्कलता मन्यते ॥७८८॥

सव्वेसिमासमाणं हृदयं मग्गो व सव्वसत्थाणं ।

सव्वेसिं वदगुणाणं विंढो सारो अहिंसा हु ॥७८९॥

'सव्वेसिमासमाणं' सर्वेषामाश्रमाणां हृदयं शास्त्राणां गर्भः । सर्वेषां व्रतानां गुणानां च पिण्डीभूतसारो
भवत्साहिंसा ॥७८९॥

जग्गहा असत्त्ववचनादिएहिं दुक्खं परस्स होदिपि ।

त्पपरिहारो तग्गहा सव्वे वि गुणा अहिंसाए ॥७९०॥

'जग्गहा असत्त्ववचनादिमेहिं' यस्मात्प्रसत्यवचनेन, अदत्तादानेन, मैथुनेन, परिग्रहेण च परस्य दुःखं
भवति । तस्मात्तेषां असत्यवचनादीनां परिहार इति सर्वेऽपि अहिंसाया गुणा ।

गोवंमणित्थिवचमेत्तणियत्ति जदि हवे परमग्गम्मो ।

परमो षम्मो किह सो ण होइ जा सव्वभूददया ॥७९१॥

'गोवंमणित्थिवचमेत्तणिवत्ति' गर्वा, ब्राह्मणानां, स्त्रीणां च वधमात्रनिवृत्तिर्यदि भवेदुत्कृष्टो धर्मः परमो
धर्मः कथं न भवति या सर्वजीववया ॥७९१॥

हिंसानिवृत्तिं उपायेन कारयन्ति कृतापकारानपि बान्धवान्स्नेहान्न मारयितुमीहते जनः । तैवपुरस-

अहिंसाव्रतके विना शील आदिकी निष्कलता बतलाते है—

गा०—जीवोंकी हिंसा करनेवालेके शील, व्रत, गुण, ज्ञान, नि सगता और विषय सुखका
स्थान ये सभी ही निरर्थक होते है ॥७८८॥

विशेषार्थ—शील आदि संवर और निर्जंराके उद्देशसे किये जाते है । हिंसाके होते हुए
मुक्तिके उपायभूत संवर निर्जंरारूप फल नहीं होते । इसलिए निष्कल कहा है ॥७८८॥

गा०—सब आश्रमोंका हृदय, सब शास्त्रोंका गर्भ और सब व्रतों और गुणोंका पिण्डीभूत
सार अहिंसा ही है ॥७८९॥

वा०—यतः असत्य बोलनेसे, विना बी हुई वस्तुके ग्रहणसे, मैथुनसे, और परिग्रहसे दूसरों-
को दुःख होता है । इसलिए उन सबका त्याग किया जाता है । अत वे सब सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य
और अपरिग्रह अहिंसाके ही गुण हैं ॥७९०॥

वा०—यदि गौ, ब्राह्मण और स्त्रियोंके वधमात्रसे निवृत्ति उत्कृष्ट धर्म है तो सब प्राणिमों-
पर दया परमधर्म क्यों नहीं है ? ॥७९१॥

लोग सावधानीपूर्वक हिंसासे बचते हैं । अपकार करनेवाले भी बन्धु-बान्धवोंको स्नेहवश

१. उच पुरस्तात्तवर स-आ० ।

कुम्भजन्तुसदरे पितृपुत्रादिपापमुपायतानां मारणमयुक्तं इति वदति—

सञ्चे वि य संबंवा पत्ता सञ्चेण सञ्चजीवेहिं ।
तो मारतो जीवो संबंघी षेव मारेइ ॥७९२॥

'सञ्चे वि य' सर्वोऽपि व । 'संबंवा' सम्बन्धाः प्राप्ताः । 'सञ्चेण' सर्वेण जीवेन । 'सञ्चजीवेहिं' सर्व जीवैः । 'तो' तस्मात् । जीवो मारणोद्यतः सम्बन्धिन एव चातयति ॥७९२॥

तच्च सम्बन्धिहननं लोके अतिनिमित्तं—

जीववहो अप्पवहो जीवदया होइ अप्पणो हु दया ।
विसकंठओव्व हिंसा परिहरियव्वा तदो होदि ॥७९३॥

'जीववहो अप्पवहो' जीवानां घात आत्मघात एव । जीवानां क्रियमाणा दया आत्मन एव कृता भवति । सकृदेकजीवघातनोद्यतः स्वयमनेकेषु जन्मसु मार्यते । कृतकजीवदयोऽपि स्वयमनेकेषु जन्मसु परे रक्ष्यते । इति विषलिप्तकष्टकवत् परिहायार्थं हिंसा दुःखमीक्षणा ॥७९३॥

हिंसादोषमिहैव जन्मनि वर्णयति—

मारणसीलो कुणदि हु जीवाणं रक्खसुज्ज उव्वेगं ।
संबंघिणो वि ज य विस्संभं मारितए जंति ॥७९४॥

'मारणसीलो हु' मारणशीलः परहननोद्यतः । दासस इव जीवानामुद्वेगं करोति । सम्बन्धिनोऽपि न विक्षम्भं उपयान्ति तस्मिन्वचके ॥७९४॥

वचबंघरोचभ्रणहरणजादथाओ य वेरमिह षेव ।
णिव्विसयमभोजितं जीवे मारंतगो लभदि ॥७९५॥

मारना नहीं चाहते । तब पूर्व नाना जन्मोंमें पिता पुत्र आदि सम्बन्ध जिनके साथ रहा है, उन जीवोंको मारना अनुचित है, यह कहते हैं—

शा०—सब जीवोंके साथ सब जीवोंके सब प्रकारके सम्बन्ध पूर्वजन्मोंमें रहे हैं । अतः उनको मारनेवाला अपने सम्बन्धीको ही मारता है और सम्बन्धीको मारना लोकमें अत्यन्त निन्दित माना जाता है ॥७९५॥

शा०—दी०—जीवोंका घात अपना ही घात है । और जीवोंपर की गई दया अपनेपर ही की गई दया है । जो एक बार एक जीवका घात करता है वह स्वयं अनेक जन्मोंमें मारा जाता है । और जो एक जीवपर दया करता है वह स्वयं अनेक जन्मोंमें दूसरे जीवोंके द्वारा रक्षा किया जाता है । इसलिए दुःखसे डरनेवाले मनुष्यको विषैले कटिकी तरह हिंसासे बचना चाहिए ॥७९६॥

इसी जन्ममें हिंसाके दोष दिखलाते हैं—

शा०—जो दूसरोंका घात करनेमें तत्पर होता है उससे प्राणी बैसे ही डरते हैं जैसे दाससे । उस हिंसकका विश्वास सम्बन्धीजन भी नहीं करते ॥७९६॥

'वध बन्ध उल्कोटकादिकं वधं बन्धं मारणं । रोधनं, धनहरणं । यातनाश्च वैरं विषयाद्वादनं अनो-
प्यतां च रोषाद्ब्राह्मणादिहृदनात् । 'मारैस्तनो' हृत्ता । 'लभति' लभते ॥७९५॥

कुट्टो परं वधिता सर्वपि कालेण मरु जंतेण ।

इदधादयाण णत्थि विसेसो मुसूण तं कालं ॥७९६॥

'इदधे परं वधिता'—कुट्ट परं वधित्वा । स्वयमपि कालेन जन्तेण—गच्छता कालेन । मरुदि—
मृतिमुपैति । 'इदधादयाण'—हृत्तस्य यातकस्य च । णत्थि विसेसो—नास्ति विशेषः । तं कालं मुसूण—तं कालं
मुक्त्वा । पूर्वमसौ मृतः पश्चात्स्वयमिति ॥७९६॥

अप्याउमरोगिदयाविरूढदाविगलदा अवलदा य ।

दुम्भेहवणरसगंधदा य से होइ परलोए ॥७९७॥

'अप्याउमरोगिदयाविरूढदाविगलदा अवलदा य' अल्पजीवितरोगिता विरूपता, विकलेन्द्रियता दुर्बलता ।
'दुम्भेहवणरसगंधदा य' दुर्गंधता, दुर्गंधता, दूरसदुर्गंधता च । 'से' तस्य । 'होइ' भवति । 'परलोए'
जन्मान्तरं ॥७९७॥

मारैदि एयमवि जो जीवं सो बहुसु जम्मकोडीसु ।

अवसो मारिज्जंतो मरदि विघाणेहिं बहुएहिं ॥७९८॥

'मारैदि' हन्ति । 'एयमवि' एकमपि । 'जो जीवं' यो जीव । 'सो' सः । 'बहुसु जम्मकोडीसु' बह्वीषु
जन्मकोटीषु । 'अवसो मरदि मारिज्जंतो' परवशो मरति मार्यमाणो । 'विघाणेहिं बहुएहिं' बहुभि प्रकारै-
मार्यमाणः ॥७९८॥

जावइयाइं दुक्खाइं होति लोयन्मि चदुगदिगदाइं ।

सच्चाणि ताणि हिंसाफलाणि जीवस्स जाणाहि ॥७९९॥

शा०—मारनेवाला इसी जन्ममें वध, बन्ध मारण, धनहरण, अनेक यातनाएँ, वैर, देश
निष्कासन तथा क्रोधमें आकर ब्राह्मण आदिकी हत्या करनेपर जातिबहिष्कारका दण्ड पाता
है ॥७९५॥

शा०—क्रोधी मनुष्य दूसरेको मारकर समय आनेपर स्वयं भी मर जाता है । अत मरने-
वाले और मारनेवालेमें कालके सिवाय अन्य भेद नहीं है । पहले वह जिसे मारता है वह मरता है
और पीछे स्वयं भी मरता है ॥७९६॥

शा०—हिंसक परलोक अर्थात् जन्मान्तरमें अल्पायु, रोगी, कुरूप, विकलेन्द्रिय, दुर्बल,
मूर्ख, बुरेरूप, बुरेरस और दुर्गन्धयुक्त होता है ॥७९७॥

शा०—जो एक भी जीवको मारता है वह करोड़ों जन्मोंमें परवण होकर अनेक प्रकारसे
मारा आकर मरता है ॥७९८॥

१. वधं मारणं, बंधं बन्धनं, रोधं उल्कोटकादिकं, रोधन धनहरणं रिक्तबोहालन यातनाश्च कवचनानि
वैरं—आ० मु० । २. 'कुट्टो परं वधिता' कुट्टः सन् परमग्य वधित्वा स्वयमपि गच्छता कालेन जन्तवः हृत्ता-
कपोनास्ति विशेषः—आ० मु० ।

'जायबिवाह' यावन्ति । 'दुष्काह' दुःखानि । 'दुष्टि' भवन्ति । 'बहुगयविगवाह' गतिचतुष्टयगतानि । 'सम्पत्ति ताणि' हिंसाफलानि' सर्वाणि तानि हिंसाफलानि । 'जीवन्त आत्माहि' जीवन्त्येति जानीहि ॥७९९॥ का हिंसा नाम यस्या इमे दोषा निरूप्यन्ते इत्याचष्टे—

हिंसादो अविरमणं बहुपरिणामो य इह हिंसा हु ।
तम्हा पमत्तजोगो पाणञ्चबरोबओ णिच्छं ॥८००॥

'हिंसादो अविरमणं' हिंसातोऽविरतिहिमेति सम्बन्धनीय । प्राणान् प्राणिनो^१ न व्यपरोपयामोति संकल्पाकरण हिंसा इत्यर्थः । 'बहुपरिणामो वा' हन्तीति एवं परिणामो वा हिंसा । 'तम्हा' तस्मान् । 'पमत्त-जोगो' प्रमत्तता सम्बन्धः । पाणञ्चबरोबओ प्राणानपनयति । 'णिच्छं' नित्यः । विकथा, कषाय इत्येवमादयः पञ्चबहुपरिणामा आत्मनो भावप्राणाना परस्य च द्रव्यभावप्राणाना वियोजका इति हिंसेत्युच्यते । तथा चोक्तम्—

रसो वा बुद्धो वा मूढो वा अर्धं वर्जुजि पजोगं ।

हिंसा वि तत्त्व जायवि तम्हा सो हिंसयो होइ ॥ []

रक्तो द्विष्टो मूढो वा सन् यं प्रयोग प्रारभते तस्मिन् हिंसा जायते । न प्राणिनः प्राणाना वियोजन-मात्रेण । आत्मनि रागादीनामनुपादक सोऽभिधीयते अहिंसक इति । यस्मात्प्राणाद्युत्पत्तिरेव हिंसा । न हि जीवान्तरगतदेशतया अन्यतमप्राणवियोगापेक्षा हिंसा, तदभावकृता वा अहिंसा, किन्तु आत्मैव हिंसा आत्मा चैव अहिंसा । प्रमादपरिणत आत्मैव हिंसा अप्रमत्त एव, च अहिंसा । उक्तं च—

असा चैव अहिंसा असा हिंसति णिच्छओ सम्भवे ।

जो होवि अण्यमसो अहिंसगो हिंसगो इबरो ॥ []

गा०—इस लोकमें चारों गतियोंमें जितने दुःख होते हैं वे सब उस जीवकी हिंसाके फल जानो ॥७९९॥

जिसके ये दोष कहे हैं वह हिंसा किसे कहते हैं, यह बतलाते हैं—

गा०—टी०—हिंसासे विरत न होना हिंसा है । अर्थात् 'मे प्राणीके प्राणोंका घात नहीं करूँगा' ऐसा संकल्प न करना हिंसा है । अथवा 'मे मारूँ' ऐसा परिणाम हिंसा है । इसलिये प्रमादीपना नित्य प्राणोंका घातक है । अर्थात् विकथा कषाय इत्यादि पन्द्रह प्रमादरूप परिणाम अपने भाव प्राणोंके और दूसरेके द्रव्यप्राण तथा भावप्राणोंके घातक होनेसे हिंसा कहे जाते हैं । कहा भी है—

रागी, द्वेषी और मोही होकर जो कार्य करता है उसमें हिंसा होती है । प्राणियोंके प्राणोंका घात हो जाने मात्रसे हिंसा नहीं होती । जो अपने रागादि भावोंको नहीं करता, उसे अहिंसक कहते हैं, क्योंकि रागादिकी उत्पत्ति ही हिंसा है । अन्य जीवके किसी प्राणके घातकी अपेक्षा हिंसा और उसका घात न होना अहिंसा नहीं है । किन्तु आत्मा ही हिंसा और आत्मा ही अहिंसा है । प्रमादभावसे युक्त आत्मा ही हिंसा है और अप्रमादी आत्मा ही अहिंसा है । कहा है—

निश्चयसे आगममें आत्माको ही अहिंसा और आत्माको ही हिंसा कहा है । जो अप्रमादी आत्मा है वह अहिंसक है और जो प्रमादभावसे युक्त है वह हिंसा है ।

१. नो व्यपरोपयामोति संकल्पक—आ० म० ।

जीवपरिणामवालो बन्धो जीवो मृतिमुपैतु नोपेयाद्वा । तथा चाभाणि—

‘अज्जवसिदो य बद्धो सत्तो दु मरेण्व षो मरिण्वोत्थ ।

एसो बंधसमात्तो जीवाधं पिण्णयणवत्स ॥ [—समय० २६२]

जीवास्तवीयानि शरीराणि शरीरग्रहणस्थान योनिसंज्ञितं यो च वरोजगो वेत्ति तत्सम्भवकालं तत्पीडा-
परिहारेच्छु रैवाठस्तपःक्रियायां लोभसत्काराद्यनपेक्ष्य प्रवृत्तो भवत्यहिसक । उक्तं च--

जानी कम्मस्त कच्चनमुट्ठो वोट्ठो य हिंसाए ।

अवि असद्धो हि वत्थं अण्णमत्तो जववणो सो ॥ []

शुभपरिणामसमन्वितस्याप्यात्मनः स्वघटीरनिमित्तान्यप्राणिप्राणवियोगमात्रेण बन्धः स्यान्न कस्य-
चिन्मुक्तिः स्यात् । योगिनामपि वायुकायिकवधनिमित्तबन्धसद्भावात् । अभाणि च—

अवि सुद्धस्त य बंधो होहिं वि वाहिरंगवणुजोणेण ।

अविं दु अहिंसगो ज्ञान होवि वायाविचवहेतु ॥ []

तस्मान्निश्चयनयाश्रये ण प्राण्यन्तरप्राणवियोगापेक्षा हिंसा ॥८००॥

हिंसागतक्रियाभेदान्निरूपयति—

पादोसिय अविकरणिय कायिय परिदावणादिवादाए ।

एदे पंचपजोगा किरियाओ होति हिंसाओ ॥८०१॥

जीव मरे या न मरे, जीवके परिणामोके अधीन बन्ध होता है कहा है—

जीव मरे या न मरे हिंसायुक्त परिणामसे बन्ध होता है । निश्चयनयसे यह जीवके बन्धका
सार है ।

जीव, उनके शरीर, शरीर ग्रहण करनेके स्थान जिसे योनि कहते हैं, उनका उत्पत्तिकाल,
इन सबको जो जानता है और उनकी पीड़ाको दूर करना चाहता है तथा लोभ सम्मान आदिकी
अपेक्षा न करके मायाचार रहित तपमें लीन है वह अहिसक है । कहा है—

ज्ञानी कर्मके क्षयके लिए उद्यत होता है, हिंसाके लिए उद्यत नहीं होता । वह मायाचारसे
रहित होता है । अतः अप्रमत्त होनेसे वह अहिसक है । शुभपरिणामसे युक्त आत्माके भी यदि
अपने शरीरके निमित्तसे अन्य प्राणियोंके प्राणोंका घात हो जानेमात्रसे बन्ध हो तो किसीकी
मुक्ति ही न हो । क्योंकि योगियोंके भी वायुकायिक जीवोंके घातके निमित्तसे बन्धका प्रसंग आता
है वे भी स्वास लेते हैं और उससे वायुकायिक जीवोंका घात होता है । कहा है—

यदि बाह्य वस्तुओंके सम्बन्धसे शुद्धपरिणामवाले जीवके भी बन्ध होता हो तो कोई
अहिसक हो ही नहीं सकता, क्योंकि शुद्धपरिणामोके स्वाससे वायुकायिक जीवोंका बध होता है ।

इसलिए निश्चयनयकी दृष्टिसे दूसरे प्राणियोंके प्राणोंके घातकी अपेक्षामात्रसे हिंसा नहीं
होती ॥८००॥

हिंसा सम्बन्धी क्रियाओंके भेदोंका कथन करते हैं—

'पादोत्थितविकरणिष्व कायिष्व परिवाचकाधिकारात्' पादोत्थित्य शब्देनेष्टद्वाराविसहरभाविनिमित्तः क्रोधः प्रद्वेष इत्युच्यते । प्रद्वेष एव प्राद्वेषिको वना विनय एव वैनयिकमिति । हिंसाया उपकरणमधिकरणमित्युच्यते । हिंसोपकरणायामक्रिया आधिकरणिकी । दुष्टस्य सतः 'कायेन वा चक्रंक्रिया कायिकी । परित्वापो दुःखं दुःखोत्पत्तिमिता क्रिया पारित्वापिकी । आयुर्निन्द्रियबलप्राणानां वियोगकारिणो प्राणातिपातिकी । 'द्वेषे वंच क्लेशो' एते पञ्च प्रयोगाः । 'हिंसाकिरिञ्जाओ' हिंसासम्बन्धिष्वः क्रियाः ॥८०१॥

तिहि चदुहि पंचहि वा क्रमेण हिंसा समप्पदि दु ताहि ।

बंधो वि सिया सरिसो जइ सरिसो काइयपदोसो ॥८०२॥

'तिहि चदुहि पंचहि वा' त्रिभिर्मनोवाक्कावैः, चतुभिः क्रोधमानमायालोभैः, पञ्चभिः स्पर्शनादि-भिरिन्द्रियैर्वा । 'क्रमेण हिंसा समप्पदि सु' क्रमेण हिंसा समाप्तिमुपैति । तामिर्मनसा प्रद्वेषो वचसा द्विष्टो-ऽस्मीति वचनं वाद्वेष । कायेन मुखवैष्यादिकरणं कायद्वेष । मनसा हिंसोपकरणायाम्, वाचा शस्त्रं उप-गृह्णामीति हस्तादिताडन इति अधिकरणमपि त्रिविध । मनसा उत्तिष्ठामीति चिन्ता कायक्रिया । वचसा उत्ति-ष्ठाभि इति, हन्तु ताडयितुमिति उक्ति । कायेन चलन कायिकी । मनसा दुःखमुत्पादयामीति चिन्ता, दुःखं भवत करोमि इति उक्तिर्वाचा पारित्वापिकी क्रिया । हस्तादिताडनेन दुःखोत्पादनं कायेन पारित्वापिकी क्रिया । प्राणान्वियोजयामीति चिन्ता मनसा प्राणातिपात, हन्मीति वच वाक्प्राणातिपात । कायव्यापारः कायिक-प्राणातिपातः । क्रोधनिर्मिता कस्मैश्चिद्वपीति, माननिमित्ता, मायानिमित्ता, लोभनिमित्ता, क्रोधादिना शस्त्रग्रहणं

शा०—'पादोत्थित्य' शब्दसे इष्ट स्त्री, धन हरने आदिके निमित्तसे होनेवाला कोप प्रद्वेष कहलाता है । प्रद्वेष ही प्राद्वेषिक है जैसे विनय ही वैनयिक है । हिंसाके उपकरणको अधिकरण कहते हैं । हिंसाके उपकरणोंका लेन-देन अधिकरणिकी क्रिया है । दुष्टतापूर्वक हलन-चलन कायिकी क्रिया है । परित्वापका अर्थ दुःख है । दुःखकी उत्पत्तिमें निमित्त क्रिया पारित्वापिकी है । आयु इन्द्रिय और बल प्राणोंका वियोग करनेवाली क्रिया प्राणातिपातिकी है । पाँच प्रकारकी प्रयोग हिंसासे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाएँ है ॥८०१॥

शा०—टी०—मन वचन काय इन तीनसे, क्रोध मान माया लोभ इन चारसे और स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियोंसे क्रमसे हिंसा होती है । मनसे द्वेष करना, वचनसे मे द्वेषयुक्त हूँ ऐसा कहना वचनद्वेष है । शरीरसे मुखको विकृत आदि करना कायद्वेष है । मनसे हिंसाके उपकरण स्वीकार करना, वचनसे मैं शस्त्र ग्रहण करता हूँ ऐसा कहना, कायसे हाथ आदि भाजना ये अधिकरणके तीन भेद है । मनसे विचारना 'मे मारनेके लिए उठूँ' वचनसे कहना मैं मारनेके लिए उठता हूँ । और कायसे हलन-चलन ये तीन कायिकी क्रिया है । मनमें चिन्ता करना 'मे दुःख हूँ' यह मान-सिक पारित्वापिकी क्रिया है । आपको दुःख हूँ ऐसा कहना वाचनिक पारित्वापिकी क्रिया है । हाथ आदिके द्वारा ताडन करनेसे दुःख देना कायिक पारित्वापिकी क्रिया है । मे प्राणोंका वियोग करूँ ऐसा चिन्तन करना मानसिक प्राणातिपात है । मैं घात करता हूँ ऐसा कहना वाचनिक प्राणाति-पात है । शरीरसे व्यापार करना कायिक प्राणातिपात है । यह किसीमें क्रोधके निमित्तसे, किसीमें मानके निमित्तसे, किसीमें मायाके निमित्तसे और किसीमें लोभके निमित्तसे होता है । क्रोध आदि-

क्रोधादिनिमित्तः कायपरिस्पन्दः । क्रोधादिनिमित्तपरपरितापकरणं, प्राणातिपातो वा क्रोधादिना भवति । स्पर्शनादीन्द्रियनिमित्तो वा प्रद्वेषः, इन्द्रियसुखार्थं वा फलपल्लवः सुनादिछेदननिमित्तसाधनोपादानं, तत्सुखापेक्षेय विषयप्रत्यासत्तिमित्रेभ्यः यतः कायपरिस्पन्दः । परस्य वा गाढालिङ्गगननखक्षतादिना सन्तापकरणं, मांसाद्यर्थं वा प्राणिप्राणवियोजनमिति । किमेतामिहिसामिः संपाद्यः कर्मबन्ध समान उत न्यूनधिकमादो बन्धत्वेत्या-
द्यक्त्यामाचष्टे 'बंधोऽपि' कर्मबन्धोऽपि 'सिवा हरितो' स्यात्सदृशः । कथं ? 'अपि हरितो' यदि सवृषः । 'कायिकबन्धोऽपि' कायिकी क्रिया प्रद्वेषव यदि समः स्यात्कारणसामान्यात्कार्यस्यापि बन्धस्य सावृष्यं, अन्यथा न सदृशता । तीव्रमध्यमन्दरूपाः परिणामाः तीव्र, मध्यं, मन्द व बन्धमापादयन्ति इति भावः ॥८०२॥

अधिकरणभेद निरूपयति—

वीसं पलिया पंचेत्यह मोदया चारि पंच दस पलिया ।
तिणि चदु पंच सत्तमोदय तेसिं पि समो हवे बंधो ॥
वीस पल तिणिण मोदय पण्णरह पला तहेव चचारि ।
बारह पलिया पंच दु तेसिं पि समो हवे बंधो ॥८०३॥
जीवगदमजीवगद समासदो होदि दुविहमधिकरणं ।
अट्टुत्तरसयभेदं पढमं विदियं चदुन्भेदं ॥८०४॥

के वशमें होकर शस्त्र ग्रहण करना क्रोधादि निमित्तसे होने वाला काय परिस्पन्द है । क्रोध आदि-
के निमित्तसे दूसरोंका दुःख देना अथवा प्राणोका घात करना क्रोध आदिसे होता है । अथवा स्पर्शन
आदि इन्द्रियोंके निमित्तसे प्रद्वेष होता है । इन्द्रिय सुखके लिए फल, पत्र, फूल आदि तोड़नेके
लिए उसके साधन ग्रहण किया जाता है । इन्द्रिय सुखके लिए ही विषयोकी स्वीकार किया जाता
है, शरीरसे हलन-चलन किया जाता है, गाढ़ आलिंगन तथा नख द्वारा नोचना आदिसे दूसरोंको
मताप दिया जाता है । अथवा मास आदिके लिये प्राणीके प्राणोका घात किया जाता है ।

इस प्रकार प्राद्वेषिकी क्रिया, आधिकरिणिकी क्रिया, कायिकी क्रिया, पारितापिकी क्रिया
और प्राणातिपातिकी क्रिया मन वचन काय, क्रोध मान माया लोभ और स्पर्शन रसन घ्राण, चक्षु
श्रोत्रसे होनी हैं ।

शब्दा—इन क्रियाओंसे होने वाला कर्मबन्ध समान होता है या हीनाधिक होता है ?

समाधान—यदि कायिकी क्रिया और प्रद्वेष समान होता है तो समान कर्मबन्ध होता है ।
क्योंकि कारणमें समानता होनेसे कार्य बन्धमें भी समानता होती है, अन्यथा समानता नहीं होती ।
तीव्र मध्य या मन्दरूप परिणामोंसे तीव्र मध्य या मन्द बन्ध होता है ॥८०२॥

अधिकरणके भेद कहते हैं—

[गाथा ८०३ दो रूपोंमें मिलती है किन्तु उसका भाव स्पष्ट नहीं होता । पं० सदासुखजीने
भी ऐसा ही लिखा है । अतः इनका अर्थ नहीं किया । किसी टीकाकारने भी इसको व्याख्या
नहीं की ।]

'जीवजोष्याजीवजोष्या इति' जीवगत इति जीवपर्याय उच्यते । न हि जीवद्वयत्वमात्रमेव हिंसायां उपकरणं भवति । किन्तु जीवस्य पर्यायः आत्मस्य हिंसादेर्जीवपरिणामो युक्तोऽन्वयकारणं । अजीवगतः पर्यायः इत्यल्लक्षणः सदा सन्निहितकार्यः स्वात्कादाचित्कतां कथमिव प्रत्याभवति । पर्यायस्तु स्वकारणसाधिकात्कादाचित्कदेवेति । यदा स्वयं सन्धि सन्निहितसहकारिकारणत्वात्सर्व स्वकार्यं कुर्वन्ति नान्यदेति युक्तं कथाचित्कता कार्यस्येति भावः । 'सत्त्वान्ते शुचिबन्धिकात्' संकोचो द्विविधं हिंसाधिकरणं 'अनुपलब्धत्वात्' अष्टोत्तरशतमेवं । 'कथं जीवजोष्याधिकरणं' प्रथमं जीवगतमधिकरणं । 'द्विविधं' द्वितीयं अजीवगतमधिकरणं 'अनुपलब्धं' चतुर्विधत्वं ॥८०४॥

प्रथमस्य भेदान्निरूपयति—

संरंभसमारंभारंभं जोगेहिं तह कसाएहिं ।

कदाकारिदानुमोदेहिं तदा शुचिदा पदवभेदा ॥८०५॥

'संरंभसमारंभारंभेहिं तह कसाएहिं' प्राणव्यपरोपणादौ प्रमादवत् संरंभः । साध्याया हिंसाधिक्रियायाः साधनानां समाहारः समारंभः । सन्निवृत्तिहिंसाव्युपकरणस्य आद्यः प्रक्रम आरंभः । योगशब्देन मनोवाक्यायव्यापारा उच्यन्ते । एतं संरंभसमारंभारंभयोरीः । 'तदा' तथा 'कसाएहिं' कथायैः 'कदाकारिदानुमोदेहिं' कृतकारिदानुमोदितैः । 'तदा शुचिदा' तथा शुचिताः । 'पदवभेदा' जीवाधिकरणभेदा । प्रयत्नपूर्वकत्वात्प्रेतनावतौ व्यापारस्यादौ संरंभस्य वचनं । अनुपाया साध्यसिद्धिर्न भवति प्रयत्नवतोऽपि ततः साधनसमाहरणं प्रयत्नावन्तरमिति समारंभो युक्तः । साध्यं पुनः उपसाधनसंहृती सत्यां प्रक्रमते क्रियामिति आरंभः

षा०-टी०—अधिकरणके दो भेद हैं—जीवगत और अजीवगत । जीवगतका अर्थ है जीवपर्याय । केवल जीवद्वय हिंसामे सहायक नहीं होता किन्तु जीवकी पर्याय होती है । हिंसा आदिसे युक्त जीवका परिणाम हिंसाका अभ्यन्तर कारण होता है । इसी तरह अजीवगतसे अजीवपर्याय लेना चाहिए; क्योंकि अजीवद्वय तो सदा रहनेसे सदा कार्यकारी रहता है अतः कार्य सदा होता रहेगा । किन्तु पर्याय तो अपने कारणोंके होने पर ही होती है अतः कदाचित् होती है । जब सहकारी कारण होते हैं तभी अपना कार्य करते हैं, अन्य कालमें नहीं करते । अतः कार्य सदा न होकर कदाचित् होता है ।

इस तरह संकोपसे अधिकरणके दो भेद हैं । उदमेसे प्रथम जीवाधिकरणके एक सौ आठ भेद हैं और दूसरे अजीवाधिकरणके चार भेद हैं ॥८०॥

जीवाधिकरणके भेद कहते हैं—

षा०-टी०—प्राणोंके घात आदिमें प्रमाद युक्त व्यक्ति जो प्रयत्न करता है वह संरंभ है । साध्य हिंसा आदि क्रियाके साधनोंको एकत्र करना समारंभ है । हिंसा आदिके उपकरणोंका संचय हो जाने पर हिंसाका आरंभ करना आरंभ है । योग शब्दसे मन वचन और कायका व्यापार किया गया है । इन संरंभ, समारंभ, आरंभको, योग, कथाय और कृत कारित अनुमोदनासे गुणा करने पर जीवाधिकरणके भेद होते हैं ।

प्रेतान् जीवका व्यापार प्रयत्नपूर्वक होता है इसलिए प्रथम संरंभ कहा है । प्रयत्न करनेपर भी उपायोंके बिना कार्यसिद्धि नहीं होती, अतः संरंभके पश्चात् समारंभ कहा है । साधनोंके एकत्र होनेपर कार्य आरंभ होता है । अतः समारंभके पश्चात् आरंभको रखा है । जीवके द्वारा

पक्षबाहुपुण्यस्तः । स्वातन्त्र्यविलिप्तेन आत्मना यत् क्रियते तत् कृतं । परस्य प्रयोगमपेक्ष्य सिद्धिमुपयाति बल-
त्कारितं । स्वयं न करोति न च कारयति, किन्त्वभ्युपैति यत्तदनुमननं अभ्युपगमः । तत्र संरंभस्तावदुच्यते क्रोध-
निमित्तं स्वतन्त्रस्य हिंसाविषय प्रयत्नावेश क्रोधकृतकायसंरम्भः । मानकृतकायसंरम्भः, मायाकृतकायसंरम्भः,
लोभकृतकायसंरम्भः । क्रोधकारितकायसंरम्भः, मानकारितकायसंरम्भः, मायाकारितकायसंरम्भः, लोभकारित-
कायसंरम्भः । क्रोधानुमतकायसंरम्भः, मानानुमतकायसंरम्भः, मायानुमतकायसंरम्भः, लोभानुमतकायसंरम्भः ।
इति द्वादशधा संरम्भः । क्रोधकृतकायसमारम्भः, मानकृतकायसमारम्भः, मायाकृतकायसमारम्भ, लोभकृत-
कायसमारम्भ । क्रोधकारितकायसमारम्भ, मानकारितकायसमारम्भ । मायाकारितकायसमारम्भ, लोभ-
कारितकायसमारम्भ । क्रोधानुमतकायसमारम्भः, मानानुमतकायसमारम्भः, मायानुमतकायसमारम्भः, लोभानुमत
कायसमारम्भ इति द्वादशधा समारम्भ । क्रोधकृतकायारम्भः, मानकृतकायारम्भः, मायाकृतकायारम्भ, लोभ-
कृतकायारम्भः । क्रोधकारितकायारम्भ मानकारितकायारम्भ, मायाकारितकायारम्भ, लोभकारितकाया-
रम्भ । क्रोधानुमतकायारम्भः, मानानुमतकायारम्भ, मायानुमतकायारम्भ, लोभानुमतकायारम्भश्च ।
इत्येव आरम्भोऽपि द्वादशधा । एव सविज्ञता- कायारम्भा षट्त्रिंशत् । एते सपिण्डिता- जीवाधिकरणसम्ब-
न्धेवा अष्टोत्तरशतसख्या भवन्ति ॥८०५॥

संरंभो संकल्पो परिदावकदो हवे ममारंभो ।

आरंभो उद्बजो सञ्चवयाणं विसुद्धानं ॥८०६॥

स्वतन्त्रता पूर्वक जो किया जाता है वह कृत है । जो दूसरेके द्वारा सिद्ध होता है वह कारित है ।
न स्वयं करता है न कराता है किन्तु जो करना है उसे स्वीकार करता है वह अनुमत है । इनमेंसे
संरम्भके भेद कहते हैं—

क्रोधके निमित्तसे स्वतन्त्रता पूर्वक हिंसा विषयक प्रयत्न करना क्रोध कृत काय संरम्भ है ।
इसी तरह मान कृत काय संरम्भ, मायाकृत काय संरम्भ, लोभकृत काय संरम्भ, क्रोध कारित
काय संरम्भ, मान कारित काय संरम्भ, माया कारित काय संरम्भ, लोभ कारित काय संरम्भ ।
क्रोधानुमत काय संरम्भ, मानानुमत काय संरम्भ, मायानुमत काय संरम्भ, लोभानुमत काय संरम्भ
इस तरह बारह प्रकारका संरम्भ है । क्रोधकृत काय समारम्भ, मानकृत काय समारम्भ, मायाकृत
काय समारम्भ, लोभ कृत काय समारम्भ । क्रोध कारित काय समारम्भ, मान कारित काय समा-
रम्भ, माया कारित काय समारम्भ, लोभ कारित काय समारम्भ । क्रोधानुमत काय समारम्भ,
मानानुमत काय समारम्भ, मायानुमत काय समारम्भ, लोभानुमत काय समारम्भ । इस तरह
बारह प्रकारका समारम्भ है । क्रोधकृत काय आरम्भ, मानकृत काय आरम्भ, मायाकृत काय
आरम्भ, लोभकृत काय आरम्भ, क्रोध कारित काय आरम्भ, मान कारित काय आरम्भ, माया
कारित काय आरम्भ, लोभ कारित काय आरम्भ, क्रोधानुमत काय आरम्भ, मानानुमत काय
आरम्भ, मायानुमत काय आरम्भ, लोभानुमत काय आरम्भ । इस प्रकार आरम्भ भी बारह
प्रकारका है । ये मिलकर कायारम्भके छत्तीस भेद होते हैं । छत्तीस ही भेद वचन सम्बन्धी आरम्भ-
के और छत्तीस ही भेद मन सम्बन्धी आरम्भके होते हैं । ये सब मिलकर जीवाधिकरण सम्बन्धी
आत्मके एक सौ आठ भेद होते हैं ॥८०५॥

शा०—संकल्पको संरम्भ कहते हैं । संताप देनेको समारम्भ कहते हैं और आरम्भ सब

आजीवाधिकरणत्वं चतुरो भेदानाशब्दे—

निकषेवो निष्पत्ति तदा य संयोजना निसर्गो य ।

कमतो चतु दुग् दुग् तिय भेदा ह्येति हुं विदियस्स ॥८०७॥

'निकषेवो निष्पत्ति तदा य संयोजना निसर्गो य' निक्षेपो निर्वर्तना संयोजना निसर्ग इति । 'कमतो' यथासंख्येन । 'चतु दुग् दुग् तिय भेदा' निक्षेपप्रत्युःप्रकारः । निर्वर्तना द्विप्रकारा । संयोजना द्विप्रकारा । निसर्ग-त्विप्रविच इति सम्बन्धते ॥८०७॥

निक्षेपत्वं चतुरो विकल्पानाशब्दे—

सहस्रानामोगिय दुप्यमज्जिद अप्पचवेकखणिकखेवो ।

देहो य दुप्यउचो तहोवकरणं च निष्पत्ति ॥८०८॥

'सहस्रानामोगियदुप्यमज्जिद अप्पचवेकखणिकखेवो' सहस्रानिक्षेपाधिकरणं, अनाभोगनिक्षेपाधिकरणं, दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणं, अत्रत्यवैकितनिक्षेपाधिकरणं वेति । निष्पत्ति इति निक्षेपः । उपकरणं पुस्तकादि, शरीरं, शरीरमरुनि वा सहसा शीघ्रं निष्पत्तिमात्रानि भयात् कुतश्चित्कार्यान्तरकरणप्रयुक्तेन वा त्वरितेन चर्जीवनिकायबाधाधिकरणतां प्रतिपद्यन्ते । असत्यामपि त्वरायां जीवाः सन्ति न सन्तीति निष्कृजामन्तरेण निष्पत्तिमात्रं तदेवोपकरणार्थिकं अनाभोगनिक्षेपाधिकरणमुच्यते । दुष्प्रमृष्टमुपकरणानि निष्पत्तिमात्रं दुष्प्रमृष्ट-निक्षेपाधिकरणं स्वाभ्यमानाधिकरणं वा दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणं । प्रमाज्जोत्तरकाले जीवाः सन्ति न सन्तीति अत्रत्यवैकितं यन्निष्पत्ति तत्रप्रत्यवैकितनिक्षेपाधिकरणं । निर्वर्तनाभेदानाशब्दे—'देहो य दुप्यउचो' दुःप्रयुक्तं शरीरं हिक्षेपकरणतया निर्वर्त्यते इति निर्वर्तनाधिकरणं भवति । उपकरणानि च सच्छिद्राणि यानि जीवबाधा-

विद्युद्द व्रतोंका घातक है ॥८०६॥

अजीवाधिकरणके चार भेदोंको कहते हैं—

गा०—अजीवाधिकरणके चार भेद हैं—निक्षेप, निर्वर्तना, संयोजना और निसर्ग । क्रमानुसार निक्षेपके चार भेद हैं । निर्वर्तनाके दो भेद हैं । संयोजनाके दो भेद हैं और निसर्गके तीन भेद हैं ॥८०७॥

निक्षेपके चार भेद कहते हैं—

गा०—श्री०—निक्षेपके चार भेद हैं—सहस्रानिक्षेपाधिकरण, अनाभोगनिक्षेपाधिकरण, दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण और अत्रत्यवैकित निक्षेपाधिकरण । रखनेको निक्षेप कहते हैं । उपकरण, पुस्तक आदि, शरीर अथवा शरीरके मल भयसे अथवा किसी अन्य कारणान्तरसे सहसा शीघ्र रखनेसे त्यागनेसे छहकालके जीवोंकी बाधाके आधार हो जाते हैं । यह सहस्रानिक्षेपाधिकरण है । जल्दी नहीं होनेपर भी 'पृथ्वी आविपर बन्तु हैं या नहीं' यह देखे बिना ही उपकरण आदिको रखना अनाभोगनिक्षेपाधिकरण है । उपकरण आविको असावधानतासे या दुष्टतासे साफ करके रखना अथवा जिस स्थानपर उन्हें रखना है उस स्थानकी दुष्टतासे सफाई करना, जिससे जीवोंको कष्ट पहुंचे, दुष्प्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण है । स्थानकी सफाई करनेके पश्चात् वहाँ जीव हैं या नहीं यह देखे बिना उपकरणादि रखना अत्रत्यवैकित निक्षेपाधिकरण है । दुष्प्रयुक्त शरीर-शरीरकी असावधानतापूर्वक प्रवृत्ति हिंसाका कारण होती है उसे निर्वर्तनाधिकरण कहते हैं । छिद्रवाले

निमित्तानि निर्वर्त्यन्ते तान्यपि निर्वर्तनाधिकरणं । यस्मिन्सीवीरादिभाजने प्रविष्टा त्रियन्ते ॥८०८॥

संज्ञोयणाद्युवकरणार्णं च तथा पाणभोयणार्णं च ।

दुष्टुणिसिद्धा मणवचिकाया भेदा णिसगम्स ॥८०९॥

‘संज्ञोयणमुवकरणार्णं’ उपकरणार्णं पिच्छादीना अन्योद्येन मयोजना । शीतस्पर्शस्य पुस्तकस्य कमण्ड-
स्वादेर्वा आतपादितत्वेन पिच्छेन प्रमाजर्जनं इत्यादिक । ‘तथा’ तथा । ‘पाणभोयणार्णं च’ पानभोजनयोश्च पानं
पानेन, पानं भोजनेन, भोजनं भोजनेन, भोजनं पानेनेत्येवमादिकं संयोजनं यस्य सम्मूर्च्छनं सम्भवति सा हिंसा-
धिकरणत्वेनात्रोपात्ता न सर्वा । ‘दुष्टुणिसिद्धा मणवचिकाया’ दुष्टप्रवृत्ता मनोवाक्कायप्रभेदा निसर्गशब्दे-
नोच्यन्ते ॥८०९॥

अहिंसारक्षणोपायमाचष्टे—

जं जीवणिकायवहेण विणा इन्दियकयं सुहं णत्थि ।

तम्हि सुहे णिस्संगो तम्हा सो रक्खदि अहिंसा ॥८१०॥

‘जं जीवणिकायवहेण’ यस्माज्जीवनिकायघातं विना । ‘इन्दियसुहं’ इन्द्रियसुखं नास्ति । स्त्रोवस्त्रगन्ध-
मात्यादिसेवा विचित्रा जीवनिकायपीडाकारिणी आरम्भेण महतोपाजनीयत्वात् । तस्मिन्निन्द्रियसुखे । णिस्संगो
यस्स पात्यहिंसां नेन्द्रियसुखार्थी । तस्मादिन्द्रियसुखादर मा कृष्या इत्युपदिशति मूरिः ॥८१०॥

उपकरण जो जीवोको वाधा पहुँचाते हैं उनकी निर्वर्तना—रचना करना भी निर्वर्तनाधिकरण
है । जैसे कांजी आदि रखनेके ऐसे सछिद्रपात्र बनाना जिसमें प्रविष्ट जीव मर जाते हैं ।

विशेषार्थ—सर्वार्थसिद्धिमें पूज्यपाद स्वामीने निर्वर्तनाधिकरणके दो भेद कहे हैं एक मूल-
गुणनिर्वर्तना, एक उत्तरगुण निर्वर्तना । शरीर वचन मन, उच्छ्वास निश्वासकी रचना मूलगुण
निर्वर्तना है । लकड़ीके पट्टपर चित्रकर्म आदि रचना करना उत्तर गुणनिर्वर्तना है । इन क्रियाओसे
जीवोंको कष्ट पहुँचता है । चित्रकर्ममें छेदन-भेदनकी भावना उत्पन्न होती है ॥८०८॥

संयोजनाधिकरण और निसर्गाधिकरणका स्वरूप कहते हैं—

गा०—टी०—पिच्छी आदि उपकरणोंको परस्परमें मिलाना । जैसे शीतस्पर्शवाली पुस्तक
अथवा कमंडलु आदिको घुसे तप्त पीछीसे साफ करना उपकरण संयोजना है । एक जलमें
दूसरा जल मिलाना, एक भोजनमें दूसरा भोजन मिलाना अथवा भोजनमें पेय मिलाना आदि
भक्तपान संयोजना है । यहाँ इतना विशेष जानना कि जिस पेय या भोजनमें सम्मूर्च्छन जीव होते
हैं उसे ही हिंसाका अधिकरण स्वीकार किया है, सबको नहीं । दुष्टतापूर्वक मन वचन कायकी
प्रवृत्तिको निसर्गाधिकरण कहते हैं ॥८०९॥

अहिंसाकी रक्षाके उपाय कहते हैं—

गा०—टी०—यत् छहकायके जीवोंकी हिंसाके विना इन्द्रियजन्य सुख नहीं होता । विचित्र
प्रकारके स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला आदिका सेवन जीवोंको पीडा करनेवाला होता है क्योंकि बहुत
आरम्भसे उसकी प्राप्ति होती है । अतः जो इन्द्रियजन्य सुखमें आसक्त नहीं है वही अहिंसा की
रक्षा करता है । जो इन्द्रिय सुखका अभिलाषी है वह नहीं रक्षा करता । अतः आचार्य कहते हैं
कि इन्द्रियसुखका आदर मत करो ॥८१०॥

हिंसा कथायैः प्रवर्तयति, ततोऽर्हिंसाभिच्छ्रिता स्ते परिहर्षय्या इत्युत्तरदूषार्थम्—

जीवो कसायबहुलो संतो जीवाण वायर्णं कुण्णइ ।
सो जीवबहं परिहरइ सया जो विज्जियकसाजो ॥८११॥

प्रमादो हिंसायाः प्रवर्तकः स परित्याज्योऽर्हिंसावतापिना इति वाचार्थः—

आदाने णिकखेवे भोसरणे ठाणममणसयणेसु ।
सम्बत्थ अप्पमपो दयावरो होइ इ अर्हिसो ॥८१२॥

काएसु णिरारंमे फासुगभोजिम्मि णाणरइयम्मि ।

मणवयणकायगुचिम्मि होइ सयल्ला अर्हिसा इ ॥८१३॥

परित्यक्तारम्भे य प्रासुकभोजिनि ज्ञानभावनावहितमनसि गुप्तिकवोपेते सम्पूर्णा भवत्यर्हिंसा इति सूचार्थः ॥८१३॥

आरंमे जीवबहो अप्पासुगसेवणे य अनुमोदो ।

आरंभादीसु मणो णाणरदीए विणा वरइ ॥८१४॥

पृथिव्यादिविषयो व्यापार आरम्भः । तस्मिन्सति तदाश्रयप्राप्त्युपपन्न इति जीवबधो भवति । उद्गम-विषयोपहतस्य आहारस्य भोजने जीवनिर्कायवचानुमोदो भवति । ज्ञानरतिमन्तरेण आरम्भे कथायै च मनः प्रवर्तते ॥८१४॥

तम्हा इहपरलोए दुक्खाणि सदा अणिच्छमाणेण ।

उवजोगो कायब्बो जीवदथाए सदा मुण्णिणो ॥८१५॥

हिंसा कथायसे होती है । अतः अर्हिंसाके अभिलाषीको कथाय त्यागना चाहिए, यह कहते हैं—

गा०—जो जीव कथायकी अधिकता रखता है वह जीवोंका घात करता है । और जो कथायोंको जीत लेता है वह सदा जीवोंकी हिंसासे दूर रहता है । अतः प्रमाद हिंसाका कारण है । अर्हिंसाव्रतके अभिलाषीको प्रमादको त्यागना चाहिए ॥८११॥

गा०—उपकरणोंको ग्रहण करनेमें, रखनेमें, उठने बैठने, चलने और शयनमें जो दयालु सर्वत्र यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है वह अर्हिंसक होता है ॥८१२॥

गा० जो आरम्भका त्यागी है, प्रासुक भोजन करता है, ज्ञानभावनामें मनको लगाता है और तीन गुप्तियोंका धारी है वही सम्पूर्ण अर्हिंसाका पालक है यह उक्त गाथासूत्रका अर्थ है ॥८१३॥

गा०—टी०—पृथिवी आदिके विषयमे जो खोदना आदि व्यापार किया जाता है उसे आरम्भ कहते हैं । उसके करने पर पृथिवी आदिमें रहने वाले जीवोंका घात होता है । उद्गम आदि दोषोंसे युक्त आहार ग्रहण करने पर जीव समूहके बधकी अनुमोदना होती है, ज्ञानमें लीनता न होने पर आरम्भ और कथायमें मनकी प्रवृत्ति होती है ॥८१४॥

सम्हा तस्मात् । आरम्भो भवता स्याज्च, प्रासुकभोजनं भोज्यं, ज्ञाने अरतिवच अयाकार्या इति क्षपक-
विज्ञा । अहिंसा जीववया तस्याः फलमुपदर्शयति—तस्मा इत्यनया उभयलोकगतदुःखपरिहारमिच्छता दया-
भावना कार्या इति कथयति क्षपकस्य ॥८१५॥

स्वल्पकालवर्त्यपि अहिंसाव्रतं करोत्यात्मनो महान्तमुपकारमित्यास्थान कथयति—

पाणो वि पाच्छिहेरं पचो हृदो वि सुंसुमारहदे ।

एगेण एकदिवसकदेण हिंसावदगुणेण ॥८१६॥

‘पाणो वि’ चण्डालोऽपि ‘पाच्छिहेरं’ प्रातिहार्यं ‘पचो’ प्राप्य । ‘सुंसुमारहदे हृदो’ शिशुमारकुले नृदे
निलिप्तोऽपि । ‘एकैण हिंसावदगुणेण’ एकेनैव अहिंसाव्रताख्येन गुणेन । ‘अप्यकालकदेण’ अल्पकालकृतेन ।
अहिंसा ॥८१६॥

द्वितीयव्रतनिरूपणाय उत्तरप्रबन्धः—

परिहर असंतवयणं सव्यं पि चदुज्विधं पयणेण ।

चचं पि संजमिचो भासादोसेण लिप्पदि हु ॥८१७॥

‘परिहर’ परित्यज । ‘असंतवयणं’ असद् अशोभनं वचनं । यत्कर्मबन्धनिमित्तं वचस्तदशोभनं । तथा
चोक्तं—‘अस्वभिषामननुतं [त० सू० ७] । ननु वचनमात्मपरिणामो न भवति । द्रव्यान्तरं हि तत्पुद्बलाख्यं,
आत्मपरिणामो हि परित्याज्यो यो बन्धस्य बन्धस्मितेर्वा निमित्तभूतो मिथ्यात्वमसंयम’ कषायो योग इत्येवं-
प्रकारः । तस्मात्सद्वचनपरिहारोपदेशोऽनुपयोगी कस्मात्कृत इति अत्रोच्यते—असंयमो हि विप्रकारः कृतः

गा०—अतः इस लोक और परलोकमें दुःखको नहीं चाहने वाले मुनिजनको सदा जीव
दयामें उपयोग लगाना चाहिए और उसके लिए आरम्भ त्यागना चाहिए, प्रासुक भोजन करना
चाहिए और ज्ञानमें मन लगाना चाहिए । आचार्य क्षपकको यह उपदेश करते हैं ॥८१५॥

थोड़े समयके लिए पाला गया भी अहिंसा व्रत आत्माका महान् उपकार करता है यह
दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

गा०—यमपाल चण्डाल भी एक चतुर्दशीके दिन किसोको फांसी न देनेके एक अहिंसाव्रतके
गुणसे मगरमच्छोसे भरे तालाबमें फेंक दिए जाने पर प्रातिहार्यको प्राप्त हुआ—देवोने उसकी
पूजा की ॥८१६॥

अहिंसाव्रतका कथन समाप्त हुआ ।

दूसरे सत्यव्रतका कथन आगे करते हैं—

गा०—टी०—असत् अर्थात् अशोभन वचन मत बोलो । जो वचन कर्मबन्धमें निमित्त होता
है उसे अशोभन कहते हैं । कहा है—असत् वचन बोलना असत्य है ।

शंका—वचन आत्माका परिणाम नहीं है, पुद्गल नामक अन्य द्रव्य है । कर्मबन्ध या कर्म
स्थितिके बन्धमें निमित्त मिथ्यात्व, असंयम, कषाय योग, इस प्रकारका आत्मपरिणाम त्यागने
योग्य है । अतः असत् वचनके त्यागका उपदेश उपयोगी नहीं है उसे क्यों कहा ?

कारितोऽनुमतवच । इममस्मिन्मसंबन्धे प्रवर्तयामि अनेन वचनेन प्रवृत्तं वानुमानामि । इत्थनित्थिमन्तरेण^१ तस्य वचनस्याप्रवृत्तस्तद्वचनकारणमुत्तोऽभिमतस्मिन्कारणपरिणामो भवति कर्मनिमित्तमिति परिहृत्यस्तस्य परिहारे तत्कार्यं वचनमपि परिहृतं भवति । न ह्यसति कारणे कार्यप्रतिपत्तिरित्यसद्वचनपरिहारेऽनेन क्रमेणोपपन्न्यस्त इति । स्ववचनसद्वचनकथेषुपरिहारेऽन्यथभूतसद्वचनं भवति इत्याद्युक्तं परिहृतिं सर्वमिति चतुर्विधमिति तदीय-नेवोपपत्त्याः । 'वचसेवैति' तत्र अग्रमततामुपदिशति । 'वचं चि संज्ञमंशौ' नितरामपि संयममाचरण्णपि । 'आत्सल्लोसैव' भाषावचनं तस्मिन्नितात्वाद्भाष्योपाख्य आत्मपरिणामो भाषासम्बन्धोऽप्यस्ते । भाषादुष्टः भाषादोषः । भाष्योनेन दुष्टेन निमित्तेन ज्ञातं यत्कर्म तेन । 'किंयधि' किंप्यत् एव संबन्धत एव आत्मा । एतेन कर्मबन्ध-निमित्तात्तादोषकथनेन असद्वचनपरिहारे शाब्धं करोति क्षपकस्य ॥८१७॥

प्रतिज्ञातं चायुर्विध्यं ग्याचष्टे—

पहमं असंतवचणं संभूदत्थस्स होदि पडिसेहो ।

अत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति अचेवमादीयं ॥८१८॥

'पहमं असंतवचणं' चतुर्वं आद्यमसद्वचनं 'संभूदत्थस्स होदि पडिसेहो' सतोऽर्थात् प्रत्येवः । सतां सतो न वचनं असद्वचनमित्येकोऽर्थः । तस्योवाहरवमाह—'अत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति' एवमादिकं नास्त्यकाले मनुष्यस्य मृतिरिति एवमादिकं वचनं । आयुषः स्थितिकालः काल इत्युच्यते । तस्मात्कालादप्य कालोऽकालः । तस्मिन्काले । मनु च भोगभूमिनराणामनपवत्यंभायुरत अकाले मरण नास्त्येव अतो युक्तमुच्यते अत्थि णरस्स

समाधान—असंयमके कृत कारित और अनुमतके भेदसे तीन प्रकार हैं । इस पुरुषको इस असंयममें प्रवृत्त करता हूँ अथवा असंयममें प्रवृत्त पुरुषकी इस वचनके द्वारा अनुमोदना करता हूँ । इस अभिप्रायके बिना उस प्रकारका वचन नहीं बोला जाता । अतः उस प्रकारके वचनमें कारण-भूत आत्मपरिणाम कर्मबन्धमें निमित्त होता है अतः त्यागने योग्य है । उस परिणामके त्यागने पर उसका कार्य वचन भी त्यागा जाता है, क्योंकि कारणके अभावमें कार्य नहीं होता । इसलिए असत् वचनका त्याग कहा है । यदि कोई असत् वचनके एक देशका त्याग करे तब भी असत् वचनका त्याग हो जाता है क्या ? ऐसी आशंकाका परिहार करते हैं कि चारों ही प्रकारके असत्य वचनका त्याग प्रमाद छोड़कर करना चाहिए । क्योंकि अतिशय युक्त संयमका आचरण करता हुआ भी भाषादोषके कर्मसे लिप्त होता है । यहाँ निमित्त होनेसे भाषा शब्दसे वचन योग रूप आत्मपरि-णाम कहा है । दुष्ट भाषाको भाषा दोष कहते हैं । अतः दुष्ट वचनयोगके निमित्तसे जो कर्म बन्ध होता है उससे आत्मा लिप्त होता है । इससे असत्य वचनको कर्मबन्धमें निमित्त होनेका दोष बतलाकर उसके त्यागमें क्षपकको दृढ़ करते हैं ॥८१७॥

असत्य वचनके चार भेद कहते हैं—

शा०-टी०—चार भेदोंमें सद्भूत अर्थका निषेध करना प्रथम असत्य वचन है । जैसे मनुष्य-की अकालमें मृत्यु नहीं होती इत्यादि वचन । आयुके स्थिति कालको काल कहते हैं । उस काल-से अन्य कालको अकाल कहते हैं । उसमें मरण नहीं होता । ऐसा कहना सद्भूतका निषेध रूप असत्य वचन है ।

सद्भूत—भोगभूमिके मनुष्योंकी आयु अनपवत्यं होती है अतः मनुष्योंका अकालमें मरण

अकालमरण-काल-निषेध-विधान-सर्व-न-र-विषयः अकालमरण-भावा-भ्युत्पत्तः के-चु-चित्-कर्म-भूमि-के-चु-
इत्य-स-तो-निषेध-वित्-वि-प्र-यायः ॥८१८॥

अथवा सत्यबुद्धीए पक्षिसेधे क्षेत्रकालभावेहि ।

अविचारिय णत्थि इह षडोत्ति तह एवमादीयं ॥८१९॥

'अथवा विधावबुद्धीए पक्षिसेधे क्षेत्रकालभावेहि अविचारिय भावमिति शेषः' । स्वबुद्धया क्षेत्रकाल-
भावा-भाव-विचार्य-मार्गं अत्र नास्ति इवानी न विद्यते, 'शुक्ल-कृष्णो न वेत्यनिरूप्य षट्सः भाव इत्थं' अनेन-
प्रकारेण 'अथि षडो बहू एवमादिभि' नास्ति षट इत्येवमादिक । सतो षटस्य अविशेषेण असंतवचनं असद्वचन-
मित्युदाहरणान्तरमिदं ॥८१९॥

जं असभूदुःभावजनमेदं विदियं असंतवयणं तु ।

अत्थि सुराणमकाले मच्छुचि जहेवमादीयं ॥८२०॥

'जं असभूदुःभावजनमेदं विदियं असंतवचनं तु' यवसदुद्भावनं द्वितीयं असद्वचस्तस्योदाहरणमुत्तरं ।
'अत्थि सुराणमकाले मच्छुचि जहेवमादीयं' सुराणामकाले मृत्युरस्तौत्येवमादिक यथा असदेव अकालमरणमने-
नोच्यते इत्यसद्वचनम् ॥८२०॥

नहीं होता अतः उक्त कथन उचित ही है ।

समाधान—गाथामें आगत 'नर' शब्द सामान्यवाची होनेसे सभी मनुष्योंके अकालमरण-
का अभाव कहना अयुक्त है । किन्ही कर्मभूमिज मनुष्योंमें अकाल मरण होता है अतः सत्का निषेध
करनेसे उक्त कथनको असत्य कहा है ॥८१८॥

या०—अथवा क्षेत्रकालभावेसे अभावका विचार न करके—षट यहाँ नहीं है, इस समय
नहीं है, या सफेद अथवा कृष्णरूप नहीं है, ऐसा न विचारकर अपनी बुद्धिसे षटका सर्वथा अभाव
कहना असत्य वचन है ॥८१९॥

विश्लेषार्थ—किसी वस्तुका निषेध या विधि द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षासे होती
है । न तो वस्तुका सर्वथा निषेध होता है और न सर्वथा विधि होती है । प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य
क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा अस्तिरूप है और परद्रव्य क्षेत्रकालभावकी अपेक्षा अस्तिरूप है
जैसे षट अपने द्रव्यकी अपेक्षा अस्तिरूप है और अन्य षटोकी अपेक्षा नास्तिरूप है । तथा जिस
क्षेत्रमें वह षट है उस क्षेत्रमें अस्तिरूप है, अन्य षटोके क्षेत्रमें नास्तिरूप है । जिस कालमें है उस
कालमें अस्तिरूप है, अन्यकालोंमें नास्तिरूप है । जिस भावमें स्थित है उस भावसे अस्तिरूप है
अन्यभावकी अपेक्षा नास्तिरूप है । ऐसे द्रव्य क्षेत्र काल भावका विचार किये बिना यह कह देना
कि षट नहीं है यह असत्यवचनका दूसरा उदाहरण है ॥८१९॥

या०—जो नहीं है उसे 'है' कहना दूसरा असत्यवचन है । जैसे देवोंके अकालमें मरण
होता है ऐसा कहना । किन्तु देवोंमें अकालमरण नहीं होता । अतः यह असत्का उद्भावन
करनेसे असत्यवचन है ॥८२०॥

अहवा जं उन्नावेदि असंतं खेचकालमावेहि ।

अविचारिय अत्वि इह षडोचि जह दधमादीयं ॥८२१॥

अथवा 'अं उन्नावेदि' यद्वचनं उद्भावयति । असंतं षट् । कथमसंतं ? खेचकालमावेहि भोभान्तर-सम्बन्धित्वेन (अ) संतं इहृत्यं षट् कालान्तरसम्बन्धेन अतीते अनागतं वा असंतं भावान्तरसम्बन्धित्वेन कृष्ण-त्वादिनाऽसंतं । 'अविचारिय' अविचार्य इत्थं सत् इत्यमसत् इति अस्ति षट् इत्येवमादिकं सर्वथास्तित्वमस-द्भावयतीति असद्वचनं ॥८२१॥

तदियं असंतवयणं संतं जं कुण्वि अण्णजादीयं ।

अविचारिया गोणं अस्सोचि जहेवमादीयं ॥८२२॥

'सन्तीयं असंतवयणं' तृतीयमसद्वचनं । 'संतं अं कुण्वि अण्णजादीयं' सद्यत्करोति अन्यथादीयं । 'अवि-चारिया गोणं अस्सोचि जहेवमादीयं' । अथमित्येवमादिकं । सतो वकीवद्वात् अथत्वं असत्स्य वचनं ॥८२२॥

चतुर्थमसद्वचनमाचष्टे—

जं वा गरहिदवयणं जं वा सावज्जमंजुदं वयणं ।

जं वा अभियवयणं असद्यवयणं षडत्थं च ॥८२३॥

'जं वा गरहिवयणं' यद्वा गहित वचनं । 'जं वा सावज्जमंजुदं वयणं' यद्वा सावद्यसंयुतं वचनं । 'अं वा अभियवयणं' यद्वा अप्रियवचनं । 'सत् षडत्थं' चतुर्थं असंतवयणं असद्वचनं ॥८२३॥

तेषु वचनेषु गहितवचनं व्याचष्टे—

शा०—अथवा जो वचन क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा असत् षट्का विचार न करके 'षट् है' ऐसा कहता है वह असत्यवचन है ॥८२१॥

विशेषार्थ—यह पहले कहा है कि कोई वस्तु न सर्वथा सत् है और न सर्वथा असत् है । जो स्वद्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा सत् है वही पर द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा असत् है । जैसे जो षट् इस क्षेत्रकी अपेक्षा सत् है वही अन्य क्षेत्रकी अपेक्षा असत् है । जो इस कालकी अपेक्षा सत् है वही अतीत और अनागतकालकी अपेक्षा असत् है, जो स्वभावकी अपेक्षा सत् है वही भावान्तरकी अपेक्षा असत् है । अतः षट् इस रूपसे सत् है और इस रूपसे असत् है ऐसा विचार न करके 'षट् है' इस तरह षट्को सर्वथा सत् कहना असत्का उद्भावन होनेसे अक्षय वचन है ॥८२१॥

शा०—एक जातिकी वस्तुको अन्य जातिकी कहना तीसरा असत्य वचन है । जैसे बिना विचार वेल्को घोड़ा कहना ॥८२२॥

चतुर्थं असत्य वचनको कहते हैं—

शा०—जो गहित वचन है, सावद्ययुक्त वचन है, अप्रिय वचन है वह चतुर्थं असत्य वचन है ॥८२३॥

उपमेसे गहित वचनको कहते हैं—

कककसवयणं निट्टुरवयणं पैसुण्णहासवयणं च ।

अं किंचि विप्पलावं गरहिववयणं समासेण ॥८२४॥

‘कककसवयणं’ कककसवचनं नाम सगर्ववचनमिति केचिद्वदन्त्यप्ये असत्यवचनमिति । ‘निट्टुरवयणं’ निट्टुरवचनं । ‘पैसुण्णहासवयणं’ च परदोषसूचनपरं वचनं पैसुण्यवचनं हासावहं वचनं । ‘अं किंचि विप्पलावं’ यकिंचित्प्रत्ययं च सुखरतया । ‘गरहिववयणं’ गहितवचनं । ‘समासेण’ संक्षेपेण ॥८२४॥

सावद्यवचनं निरूपयति—

अतो प्राणवधादी दोसा जायंति सावज्जवयणं च ।

अविचारिता वेषं वेषति जहेवमादीयं ॥८२५॥

‘अतो प्राणवधादी दोसा जायंतीति’ यस्माद्वचनाद्वेतो. प्राणवधादयो दोषा जायन्ते । ‘सावज्जवयणं च’ सावद्यं वचनं पूर्ववर्ती स्तनं, महिषी बोहक (?) पयसा, प्रसूनानि चिनु । इत्येवमादिकानि ‘अविचारिता’ आविचार्य किमेवं वक्तुं युक्तं न वेति । अथवा दोषोज्जेन वचसा न वेति अपरीक्ष्य चौर चोरोऽयमिति कथनं ॥८२५॥

परुसं कहुयं वयणं वेर कलहं च जं भयं कुणइ ।

उत्तासणं च हीलणमप्पियवयणं समासेण ॥८२६॥

हासभयलोहकोहप्पदोसादीहिं तु मे पयत्तेण ।

एवं असंतवयणं परिहरिदब्बं विसेसेण ॥८२७॥

‘हासवचनं’ हास्येन, भयेन, क्रोधेन, प्रदोषेणेत्येवमादिना कारणेन । ‘एवं असंतवयणं’ एतद्वचनं । ‘पुत्ते’ त्वग । ‘वत्तेण’ प्रयत्नेन । ‘परिहरिदब्बं’ परिहृत्यं । ‘विसेसेण’ विशेषेण ॥८२७॥

एवमसद्विवादं परिहारायमुपदेश्यं सत्यवचनलक्षणमुक्त्वाऽसद्वचनविलक्षणतया दर्शयति—

भा०—कर्कश वचन अर्थात् धमण्डयुक्त वचन, निष्टुर वचन, दूसरेके दोषोका सूचन करने-वाले वचन, हास्यवचन और जो कुछ भी बकवाद करता, ये सब संक्षेपमे गहित वचन हैं ॥८२४॥

सावद्य वचन कहते हैं—

भा०—जिस वचनसे प्राणोंका घात आदि दोष उत्पन्न होते है वह सावद्यवचन है । जैसे पृथ्वी खोदो । नांदका पानी भँसने पी लिया उसे पानीसे भरो । फूल चुनो आदि । अथवा ऐसा कहनेमें दोष है या नहीं, यह विचार न करके चोरको चोर कहना सावद्य वचन है ॥८२५॥

भा०—कठोर वचन, कटुक वचन, जिस वचनसे वेर, कलह और भय पैदा हो, अति त्रास देनेवाले वचन, तिरस्कार सूचक वचन ये संक्षेपमें अप्रियवचन हैं ॥८२६॥

भा०—हास्य, भय, क्रोध और द्वेष आदि कारणोंसे बोले जानेवाले असत्य वचनोंको द्वे क्षणक, तुम्हे प्रयत्नपूर्वक विशेष रूपसे नहीं बोलना चाहिए ॥८२७॥

इस प्रकार असत्यवचनोंको त्यागने योग्य बतलाकर उक्त असत्यवचनोंसे विलक्षण सत्य-वचनोंका लक्षण कहते हैं—

१. स्तन । प्रहि पीतोदकं पयसा पूरय—भा० । स्तन । महिषी पीतोदका पयसा प्रपूरय, मु० ।
२. मनेति—भा० मु० ।

सच्चिद्वरीहं सत्त्वं कञ्जे काले मिहं सचिसत्त्वं च ।

मत्तादिकद्वारहियं मत्ताहि तं वेव च 'सुत्ताहि ॥८२८॥

'सच्चिद्वरीहं' असत्त्ववचनविपरीतं । 'सत्त्वं' सत्त्वं । 'मत्ताहि' मत्त । 'कञ्जे' कार्ये ज्ञानचारित्र्यादि चिदाकालेन, असंयमपरिहारे परत्वं वा सम्मार्गस्थापनाख्ये । काले आवश्यकदीनं कालादन्धः काल इत्य-
कालकालान्वेनोच्यते । अथवा कालकालेन प्रस्ताव उच्यते । 'मिहं' परिमितं वचन । 'सचिसत्त्वं च' भवतो ज्ञानस्य विषये प्रवृत्तं वचनं । 'मत्ताहि' मत्त । ज्ञानमेव वचनानीति यावत् । मत्तादिकद्वारहियं भक्तचोरस्त्रीराजकथावि-
रहितं । 'तं वेव च' तयामुक्तमेव सत्यमेव वचनं । 'सुत्ताहि' श्रुत् । अयमयोग्यं च इतीति एतावता सत्यव्रतं
पाकितयिति भाषा न कार्या । परेणोच्यमानमसद्वचनं शृण्वतो मनोज्ञमृतया च कर्मबन्धो महानिति
भावः ॥८२८॥

सत्यवचनगुणं हृदयनिर्वाणं स्वापयति वायोसारा स्पष्टा—

जलचंदनससिं हृत्ताचंदमणी तद् जरस्स शिञ्जाणं ।

ण करंति कुण्डहं जह अत्त्वज्जुयं हिदमधुरमिदवयणं ॥८२९॥

न सत्यमित्येतावता वचनं वक्तव्यं, सत्यमेव सदेव वक्तव्यमेव नेति इतीति—

अण्णस्स अप्पणो वा वि चम्मिण्णं विद्वंतण्णं कञ्जे ।

जं पि अपुच्छिज्जंतो अण्णोहिं य पुच्छिज्जो जं ॥८३०॥

'अण्णस्स अप्पणो वावि' अण्यस्य आत्मनो वा धार्मिके कार्ये विनयति सति अपुच्छोऽपि ब्रूहि । अनति-
पासिति कार्ये पुष्ट एव न नापुष्टः इत्यर्थः ॥८३०॥

शा०—टी०—हे भक्त, ज्ञान चारित्र आदिकी शिक्षारूप कार्यमें, असंयमका त्याग कराने या
दूसरेको सम्मार्गमें स्थापित करनेके कार्यमें, आवश्यक आदिके कालसे भिन्नकालमें, और ज्ञानके
विषयमें असत्यवचनसे विपरीत सत्यवचन बोलो । तथा भक्तकथा, स्त्रीकथा, चोरकथा और राज-
कथासे रहित वचन बोलो—इन कथाओंकी चर्चा मत करो । तथा इसी प्रकारके सत्य वचनोंको
सुनो । अमुक-बक्ता अयोग्य बात नहीं बोलता अतः यह सत्यव्रतका पालक है ऐसी भाषा मत
करो । दूसरेके द्वारा कहे असत्यवचनको जो सुनता है उसका मन बुरा होता है और मनके बुरे
होनेसे महान् कर्मबन्ध होता है ॥८२८॥

आगे सत्यवचनका गुण हृदयको सुख देना है, यह कहते हैं—

शा०—अर्थसे भरे हितकारी परिमित मधुर वचन इस जीवको जैसा सुख देते हैं वैसा
सुख बल, चन्दन, चन्द्रमा, मोती और चन्द्रकान्तमणि भी नहीं देते ॥८२९॥

आगे कहते हैं कि सत्य होनेसे बोलना चाहिए ऐसी बात नहीं है और सदा सत्य बोलना
ही चाहिए ऐसी भी बात नहीं है—

शा०—अपना या दूसरोंका धार्मिक कार्य नष्ट होता हो तो बिना पूछे भी बोलना चाहिए ।
किन्तु यदि कार्य नष्ट न होता हो तो पूछनेपर ही बोलो, बिना उनके द्वारा पूछे जानेपर मत
बोलो ॥८३०॥

सच्चं वदंति रिस्तजो रिस्तीहिं विहिदाउ सच्च विज्जाओ ।

मिच्छस्स वि सिज्जांति य विज्जाओ सच्चवादिस्स ॥८३१॥

'सच्चं वदंति रिस्तजो' सत्यं वदन्ति यतयः । 'रिस्तीहिं विहिदाओ' यतिभिर्विहिताः सर्वविद्याः । 'मिच्छ-
स्सवि' म्लेच्छस्यापि । 'सिज्जांति' सिध्यन्ति । 'विज्जाओ' विद्याः । 'सच्चवादिस्स' सत्यवादिन ॥८३१॥

ण बहदि अग्गी सच्चेण णरं जलं च तं ण बुद्धेइ ।

सच्चबालियं खु पुरिसं ण बहदि तिक्खा गिरिणदी वि ॥८३२॥

'ण बहदि अग्गी षरं' न बहस्यग्निः सत्येन नर । 'बलं च तन्न बुद्धेवि' जलं च तन्न निमज्जति ।
'सच्चबालियं' सत्यमेव बलं तद्यस्यास्ति तं 'न बहसि' नाकर्षयति । 'तिक्खा गिरिनदीवि' तीव्रवेगा गिरि-
नदीपि ॥८३२॥

सच्चेण देवदावो णवंति पुरिसस्स टंति य वसम्मि ।

सच्चेण य गहगहिदं मोएइ करेति रक्खं च ॥८३३॥

'सच्चेण देवदावो णवंति' सत्येन देवता नमस्यन्ति । 'पुरिसस्स टंति य वसम्मि' पुरुषस्य च वशे
तिष्ठन्ति । 'गहगहिदं सच्चेण मोएइ' पिशाचग्रहणं मोचयन्ति सत्येन । 'करेति सच्चेण रक्खं च' कुर्वन्ति
सत्येन ग्रहादिरक्षा ॥८३३॥

माया व होइ विस्सस्सणिज्जो पुज्जो गुरुव्व लोमस्स ।

पुरिसो हु सच्चवाई होदि हु सणिपन्लओ व पिजो ॥८३४॥

'माया व होइ विस्सस्सणिज्जो' मातेव भवति विष्वसनीय । 'पुज्जो गुरुव्व लोमस्स' पूज्यो गुरु-
बल्लोकस्स । कः ? 'सच्चवादी पुरिसो' सत्यवादी पुरुषः । 'पिजो होइ सणिपन्लओव' प्रियो भवति बन्धु-
रिव ॥८३४॥

सच्चं अवगददोसं वुत्तूण जणस्स मज्जयारम्मि ।

पीदिं पावदि परमं जसं च जगविस्सुदं लहइ ॥८३५॥

भा०—ऋषिगण सत्य बोलते हैं । ऋषियोंने ही सब विद्याओंका विधान किया है । सत्य-
वादी यदि म्लेच्छ भी हो तो उसे विद्याएं सिद्ध होती हैं ॥८३१॥

भा०—सत्यवादी मनुष्यको आग नहीं जलाती । पानी उसे नहीं डुबाता । जिसके पास
सत्यका बल है उसे तीव्र वेगवाली नदी भी नहीं बहाती ॥८३२॥

भा०—सत्यसे देवता नमस्कार करते हैं । सत्यसे देवता पुरुषके वशमें होते हैं । सत्यसे
पिशाच पकड़ा हुआ मनुष्य भी छूट जाता है और उसकी रक्षा देव करते हैं ॥८३३॥

भा०—सत्यवादी माताके समान विष्वासयोग्य, गुरुके समान पूज्य, और बन्धुके समान
लोकप्रिय होता है ॥८३४॥

'सर्वं सुरत्वं' सत्यवचनमुत्तरा । कीदृशत्वं ? 'अन्यत्वं' दोषरहितं । यत् ? 'अन्यत्वं मन्त्राकारिणं' अन्वयः । 'कीदृशं सर्वत्वं' परमां प्रीतिं प्राप्नोति, परां 'अर्थं अर्थं' यत्कथं लभते । 'अन्यत्वंसुखं' अर्थं विभुत्वं ॥८३५॥

सत्त्वमिह तवो सत्त्वमिह संजगो तद् वसे तथा वि गुणा ।

सत्त्वं भिद्वर्णं हि य गुणाणामुदधीव मच्छमणं ॥८३६॥

'सत्त्वमिह संजगो' सत्त्वापारो सः संजगो, वेदाद्यं गुणः । 'सत्त्वं भिद्वर्णं गुणार्थं' गुणानां निवृत्त्यर्थं सत्त्वं । 'मच्छमणं उदधीव' मत्स्याणामुदधिरिव ॥८३६॥

सत्त्वेण जगो होदि पमाणं अणो गुणो अदि वि से अत्वि ।

अदिसंजगो य मोसेण होदि पुरिसेसु तणल्लुजो ॥८३७॥

'सत्त्वेण जगो होदि' सत्त्वेन जगति जगति । 'पमाणं' प्रमाणं । यत्कस्यो गुणो नास्ति । अतीव संसो-
पि सतां मध्ये तुल्यत्वमुर्भवति नृपावचनेनेति यावार्थः ॥८३७॥

होदु सिद्धी व अदी मुंठी वा अण्णो व 'धीरवरो ।

अदि अण्णदि अलियवयणं विलंबणा तस्स सा सज्जा ॥८३८॥

'होदु सिद्धी' भवतु नाम सिद्धयान् । 'अदी मुंठी वा' नन्मन्वीवरवरो वा यत्करीकं वदति तस्य सा सर्वा विलम्बना ॥८३८॥

अह परमणस्स विसं विजासयं अह व जोव्वणस्स जरा ।

तह जाण अहिंसादी गुणान य विजासयमसत्त्वं ॥८३९॥

'अह परमणस्स' यथा परमात्मस्य विनाशकं विषं । यथा वा अरा यौवनस्य, तथा जानीहि अहिंसादि-
गुणानां विनाशकं असत्त्वं ॥८३९॥

शा०—जनसमुदायके बीच में दोषरहित सत्यवचन बोलनेसे मनुष्य जनताका प्रेम तथा जगत्में प्रसिद्ध उत्कृष्ट यश पाता है ॥८३५॥

शा०—तप, संयम तथा अन्यगुण सत्यके आधार हैं । जैसे समुद्र मगरमच्छोंका कारण है उसमें मगरमच्छ पैदा होते और रहते हैं वैसे ही सत्य गुणोंका कारण है ॥८३६॥

शा०—यदि मनुष्यमें अन्य गुण न हों तब भी वह एक सत्यके कारण जगमें प्रमाण माना जाता है । जति संयमी भी मनुष्य यदि असत्य बोलता है तो सज्जनोंके मध्यमें तृणसे तुच्छ होता है ॥८३७॥

शा०—मझे ही मनुष्य सिद्धाचारी हो, अटाचारी हो, सिर मुड़ाए हो, नंगा रहता हो या पीयर कारण किन्हे हो, यदि वह झूठ बोलता है तो वह सब उसकी विद्वन्नामाना है ॥८३८॥

शा०—जैसे विष उत्तमोत्तम भोजनका विनाशक है, मुड़ाया यौवनका विनाशक है वैसे ही असत्य वचन अहिंसा आदि गुणोंका विनाशक है ॥८३९॥

मादाय वि वेसो पुरिसो अलियण होइ एककेण ।

किं पुण्य अबसेसाणं ण होइ अलियण सत्तुब्ब ॥८४०॥

‘मादाय वि वे’ मातुरप्यविश्रवात्यो भवत्यलीकेन एकेन पुत्र्यः । शेषाणां पुनर्न किं भवेवलीकेन वस्तु-
रिव ॥८४०॥

अलियं स किं पि भणियं चादं कुणदि बहुगाण सच्चार्णं ।

अदिसंकिदो य सयमवि होदि अलियमासणो पुरिसो ॥८४१॥

‘अलियं स किं पि भणियं’ सकृदप्युक्तं अलीकं सत्यानि बहूनि नाशयति । अलीकवादी पुत्र्यः स्वयमपि
शङ्कितो भवति नितरा ॥८४१॥

अप्पच्चओ अकिची भंमारदिकलहवेरभयसोगा ।

वधबंधमेयं भणणासा वि य मोसम्मि सण्णिहिदा ॥८४२॥

‘अप्पच्चओ’ अप्रत्ययः । अकीर्तिः, संक्लेशः, अरतिः, कलहो, वैरं, भय, शोकः, बधो, बन्धः, स्वजन-
भेदः, धननाशश्चेत्यपी शेषाः सन्निहिता मृषावचने ॥८४२॥

पायस्सासवदारं असच्चवयणं मणंति हु जिणिदा ।

हिदएण अपावो वि हु मोसेण गदो वद्ध णिरयं ॥८४३॥

‘पायस्सासवदारं’ पापत्यागमद्वारमिति वदन्त्यसत्यं जिनेन्द्राः । हृदये अपावोऽपि मृषामात्रेण वसुणंती
नरकं इत्याख्यानकं काव्यं ॥८४३॥

परलोगम्मि वि दोसा ते वैव इवंति अलियवादिस्स ।

मोसादीए दोसे जचोण वि परिहरंतस्स ॥८४४॥

शा०—एक असत्य वचनसे मनुष्य माताका भी विश्वास-भाजन नहीं रहता । तब असत्य
बोलनेसे शेषजनोंको वह शत्रुके समान क्यों नहीं प्रतीत होगा ॥८४०॥

शा०—एक बार भी बोला गया झूठ बहुत बार बोले गये सत्यवचनोंका घात कर देता
है । लोग उसके सत्यकथनको भी झूठ मानने लगते हैं । झूठ बोलनेवाला मनुष्य स्वयं भी अति-
भीत रहता है ॥८४१॥

शा०—असत्य भाषणमें अविश्वास, अपयश, संक्लेश, अरति, कलह, वैर, भय, शोक, बध,
बन्ध, कुटुम्बमें फूट, धनका नाश इत्यादि दोष पाये जाते हैं ॥८४२॥

शा०—जिनेन्द्रदेव असत्यको पापासवका द्वार कहते हैं, उससे पापका आगमन होता है ।
राजा वसु हृदयसे पापी नहीं था फिर भी झूठ बोलनेसे नरकमें गया । इसकी कथा कथाकोशमें
है ॥८४३॥

'परलोकिन् वि द्रोता' परमवेदिन् दोषास्त एव अत्रत्यवाच्य एव भवन्त्यलीकवादिनः । यस्मैनापि परिहरतः । किं ? 'भोक्तारिणे शैले' मुपाधिकान्दोषान् । मुपा भावित्वेयां स्तेषामहङ्कारिणहान्यां ठे मुपादयः । अतश्चमुपास्तधिकान्ते बहुव्रीहिरत्र साङ्गः । स्तेषामिदोषान्परिहरतोऽपीत्यर्थः ॥८४४॥

ननु तु नाम अत्रत्यमहाविका मुपासास्त्व दोषाः कर्मक्षयवचनादिना परमवेदं इह वाच के दोषा इत्यवा-
च्ये—

इहलोह्य परलोह्य दोसा जे होसि अलियवचनत्स ।

कक्षकसबदनादीण वि दोसा ते येव भादव्या ॥८४५॥

'इहलोकिन् परलोकिन् दोस्त' अस्मिन्महानि परम व वे दोषा नवन्ति अलीकवादिनः । कर्मक्षयवचा-
दीनामपि त एव दोषा इति ज्ञातव्याः ॥८४५॥

उपसंहारनामा—

एदेसि दोसानं शुष्को होदि अलिजादिवचिदोसे ।

परिहरमानो साचु तन्मिबरीदे व लमदि गुणे ॥८४६॥

एतेभ्यो दोषेभ्यो मुको नवन्ति व्यलीकविषयनदोषान्धः परिहरति साचुः समते भापि ? दोषप्रति-
पक्षमुपात्तप्रत्ययित्वाविमुभात् । प्रत्ययः, कीटिः, असंक्लेश, रतिः, कल्हानावः, निर्मयताविकषण ।
'सम्ब' ॥८४६॥

व्याख्याय सत्यवत् तृतीयवत् निवदति—

मा कुम्भु तुजं बुद्धि बहुमप्यं वा परादियं वेपुं ।

दंततरसोचनयं कलिद्वेषं पि अविदिष्णं ॥८४७॥

मा०—असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रहकूप दोषोंका प्रयत्नपूर्वक त्याग करनेवाले भी असत्यवादीके परलोकमें भी अविश्वास आदि दोष होते हैं । अर्थात् असत्यवादी मरकर भी इन दोषोंका भागी होता है ॥८४४॥

असत्य भाषणसे अविश्वास आदि दोष भले ही होते हों, किन्तु कर्मक्षय आदि वचन बोलनेसे इस भय या परमवेदमें क्या हानि है ? इसका उत्तर देते हैं—

मा०—इस लोक और परलोकमें असत्यवादी जिन दोषोंका पात्र होता है, कर्मक्षय आदि वचन बोलनेवाला भी उन्हीं दोषोंका पात्र होता है ॥८४५॥

मा०—जो साधु असत्य भाषण आदि दोषोंको दूर कर देता है वह ऊपर कहे दोषोंसे मुक्त होता है—उसमें ये दोष नहीं होते । तथा उन दोषोंसे निपरीत विश्वास, यश, असंक्लेश, रति कल्हका अभाव, निर्मयता आदि गुणोंका भाषण होता है ॥८४६॥

सत्य महाव्रतका कथन समाप्त हुआ ।

सत्य व्रतका कथन करके तीसरे व्रतका कथन करते हैं—

१. ठे वृद्धिपर्येते भेति भापि—मा० मु० ।

‘ना कुण्ड्यु तुमं बुद्धिं’ मा कृपास्त्वं बुद्धिं । कीदृशी ? ‘पराविभं वेत्तुं’ परकीयं वस्तु ब्रूहीतुं । परकीय-
वस्तु विशेषणभाषणम्—‘बहुकल्पं वा’ महत्कल्पं वा । अल्पद्रव्यपरिमाणमभिधायति—‘दंततरजोवपनं कर्षि-
वैसिषि’ दन्तान्तरबुद्धिकारि तुण्यलाकामात्रमपि । ‘अविदित्वं’ अवत् ॥८४७॥

जह मयकडजो षादो वि फलं ददृष्टुण लोहिदं तस्स ।

दूरत्थस्स वि डेवेदि जह वि विसृणुण छंडेदि ॥८४८॥

‘जह मयकडजो’ यथा मर्कटो वानरः । ‘षादो वि’ तुप्तोऽपि । ‘ददृष्टुण फलं’ दृष्ट्वापि फलं । ‘लोहिदं’
रक्तं । ‘तस्स दूरत्थस्स वि डेवेदि’ दूरस्थमपि फलमुद्दिश्योक्तं चनं करोति । ‘अदि वि विसृणुण छंडेदि’ यद्यपि
गृहीत्वा त्यजति ॥८४८॥

दाष्टीन्तिके योजयति—

एवं जं जं पस्सदि दव्वं अहिलसदि पाविदुं तं तं ।

सव्वजगेण वि जीवो लोभाइदुो न तिप्येदि ॥८४९॥

‘एवं जं जं पस्सदि’ एव यद्यत्ययति द्रव्यं । ‘तं तं पाविदुमहिलसदि’ तत्तद्द्रव्यं प्राप्नुमभिलषति ।
‘सव्वजगेण वि’ सर्वेणापि जगता । ‘लोभाइदुो जीवो न तिप्येदि’ जीवो लोभाविष्टो न तुप्यति ॥८४९॥

जह मारुओ पवडुइ खणेण वित्थरइ अग्गयं च जहा ।

जीवस्स तहा लोभो मंदो वि खणेण वित्थरइ ॥८५०॥

‘जह मारुओ पवडुइ’ यथा मारुतः प्रवर्द्धते । ‘खणेण’ क्षणेन । ‘वित्थरवि’ विस्तीर्णो भवति ।
‘अग्गयं च जहा’ यथा चात्र । ‘जीवस्स’ जीवस्य । ‘तहा’ तथा । लोभो मन्दोऽपि क्षणेनैव विस्तीर्णता-
मुपयाति ॥८५०॥

बाह्यद्रव्यसन्निधिपपेक्ष्य लोभकर्मण उदयो जायते तस्य लोभश्च वद्धते तद्बद्धो चाय बोध इति
व्यापद्ये—

लोमे पवद्धदे पुण कज्जाकज्जं णरो ण चित्तेदि ।

तो अप्यणो वि मरणं अगमिंती साइसं कुणइ ॥८५१॥

भा०—हे क्षपक ! तुम पराई बहुत या अल्प वस्तुको भी ग्रहण करनेकी भावना मत
करो । दाँतका मल शोधनेके लिए एक तिनका भी बिना दिया मत ग्रहण करो ॥८४७॥

भा०—जैसे बन्दर पेट भरा होनेपर भी लाल पके फलको देखकर दूरसे ही फल ग्रहण
करनेके लिए कूदता है, यद्यपि वह उसे फिर छोड़ देता है ॥८४८॥

भा०—वैसे ही मनुष्य जो जो वस्तु देखता है उस उसको प्राप्त करनेकी इच्छा करता
है । लोभसे चिरा मनुष्य समस्त जगत्को पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता ॥८४९॥

भा०—जैसे मन्द वायु बढ़कर क्षणभरमें फैल जाती है या मेघ बढ़ते-बढ़ते आकाशमें फैल
जाते हैं । वैसे ही जीवका थोडा-सा भी लोभ क्षणभरमें बढ़ जाता है ॥८५०॥

आगे कहते हैं कि बाह्य द्रव्यका साक्षिष्य पाकर लोभकर्मका उदय होता है उससे मनुष्य-

'लोभे बन्धुद्वये पुत्र' लोभे प्रकर्षेण वृद्धिमुपकते पुनः । 'कर्मणाकर्मणं करो वा विवेचि' कार्यं बकार्यं च न मनसा निश्चययति । इदं कर्तुं बुद्धं न वेति । 'सो' लतः सुषुप्ताहुस्तविचारप्राभावात् । 'अन्वयो मरणात्सि जन्मनिस्ता' आत्मनो मृत्युमप्यवजप्य । 'श्रीरिषं पुत्रवि' शीवं करोति । बन्धीघृह्णत्वाकोट्टान्तप्रवेशादिकं च मयं मृत्योः कष्टतरयबन्धितमपि न गणयति मरणाधीं प्रयुत इति भावः ॥८५१॥

न केवलमात्मन एवोपद्रवकारि शीवं अपि तु परेषामपि महतीमानयति विपदमिति कथयति—

सन्धो उबहिदबुद्धी पुरिसो अत्थे हिदे य सन्धो वि ।

सत्तिप्पहारविद्धो व होदि हिययंमि अदिदुहिदो ॥८५२॥

'सन्धो उबहिदबुद्धी' सर्वो जनः उपहितबुद्धिः स्वापिसन्धिताः । क्व ? 'अत्थे' वस्तुनि इदं भवत्यिति । 'अत्थे हिदे य सन्धो वि' सर्वोऽपि जनो अर्थे हते । 'अदिदुहिदो' बलीय दुःसितो भवति । किमिव ? 'सत्तिप्पहारविद्धोव हियये' सन्ध्यात्वेन सन्धेन हियये विद्ध इव ॥८५२॥

अत्थम्मि हिदे पुरिसो उम्मथो विगयचेयणो होदि ।

मरदि व हक्कारकिदो अत्थो जीवं खु पुरिसस्स ॥८५३॥

'अत्थम्मि हिदे' अर्थे हते परेषात्मीये 'पुरिसो' पुत्रवः । 'उम्मथो विगयचेयणो होदि' उम्मथो विगत-चेतनो भवति । चेतनाविद्ये ज्ञानपर्याये चेतनाशब्दो वर्तते नष्टज्ञानो भवतीति यावत् । अन्यथा चैतन्यस्य विनाशाभावात् । 'मरदि व' म्रियेत वा अर्थे हते । अत्थे हक्कारकिदो अर्थे 'ह्कारं कुर्वन् । 'अत्थो जीवं खु पुरिसस्स' पुत्रस्य जीवितमर्थः ॥८५३॥

का लोभ बढ़ता है । लोभ बढ़नेपर यह दोष होता है—

गा०-टी०—लोभ बढ़नेपर मनुष्य 'यह करना योग्य है और यह योग्य नहीं है' इस प्रकार मनमें कार्य और अकार्यका विचार नहीं करता । युक्त अयुक्तका विचार न करनेसे अपनी मृत्युकी परवाह न करके चोरी करता है—ताले तोड़कर घरोंमें प्रवेश करता है, जेल जाता है । इस प्रकार चोरीमें लगा मनुष्य मृत्युका कठोर भय उपस्थित होते हुए भी उसकी अवहेलना करता है ॥८५१॥

आगे कहते हैं कि चोरी केवल चोरी करनेवालेपर ही विपत्ति नहीं लाती किन्तु दूसरोंपर भी महती विपदा लाती है—

गा०—राभी मनुष्य धनासक हैं—उनका मन धनमें लगा रहता है । अतः धन चुरानेपर सभी जन हृदयमें शक्ति नामक अस्त्रसे आघात होनेकी तरह अत्यन्त दुःखी होते हैं ॥८५२॥

गा०-टी०—दूसरेके द्वारा अपना धन हरे जानेपर मनुष्य पागल हो जाता है, उसकी चेतना नष्ट हो जाती है । यहाँ चेतना शब्द चेतनाके भेद ज्ञानपर्यायमें प्रयुक्त हुआ है अतः उसका ज्ञान नष्ट हो जाता है ऐसा अर्थ लेना चाहिए, क्योंकि चेतनाका तो विनाश होता नहीं । तथा हाहाकार करके मर जाता है । ठीक ही कहा है—धन मनुष्यका प्राण है ॥८५३॥

अहंभिरिदरिसाभरकुद्वाभि अहंति अत्बलोवादो ।

वियबंधु चेवि जीवं वि नरा एवहंति यनहेहुं ॥८५४॥

‘अहंभिरिदरिसाभरकुद्वाभि’ बटनीं, बरीं, गिरि, सामरं, युद्धं प्रविशन्ति अर्धकोभात् । प्रियान्बन्धुन् जीवितं च नरा अहंति जननिमित्तं । सर्वेभ्यो धनं प्रियतमं यतस्तदधिनिः स्रष्टं त्यजन्ति इति भावार्थो भाषायाः ॥८५४॥

अत्वे संतमि सुहं जीवदि सकलपपुषसबंधी ।

अत्वं हरमाणेन य हिदं हवदि जीविदं तेसि ॥८५५॥

‘अत्वे संतमि सुहं’ अर्थे सति सुखं ‘जीविदि सकलपपुषसबंधी’ जीवति सह कलत्रभार्याभिः, पुत्र-बंधुभिश्च । अर्थं हरता तेषां कलत्रादीनां जीवितमेव हृतं भवति ॥८५५॥

चोरस्त अत्वि हियए दया च लज्जा दमो च विस्सासो ।

चोरस्त अत्वेहेहुं अत्वि अकादब्धयं किं पि ॥८५६॥

‘चोरस्त अत्वि हियए’ चोरस्य नास्ति हृदये । दया, लज्जा, दमो, विश्वासो वा । चोरस्य नास्ति अकतव्य किञ्चित् । अर्थाधिनि इति भावार्थः ॥८५६॥

लोगमि अत्वि पक्खो अवरद्धंतस्स अण्णमववराचं ।

गीयल्लया वि पक्खे ण होंति चोरिक्कसीलस्स ॥८५७॥

‘लोगमि अत्वि पक्खो’ लोकेऽस्ति पक्षोऽप्यगपराचं हिंसायुक्तं कुर्वतो बन्धवोऽपि न पशता प्रतिपन्न ये चौर्यकारिण ॥८५७॥

अण्णं अवरज्जंतस्स दिंति णियये घरमि ओगासं ।

माया वि य ओगासं ण देइ चोरिक्कसीलस्स ॥८५८॥

‘अण्णं अवरज्जंतस्स’ अन्य अपराधं कुर्वन ददति स्वावासे अवकाश । माताप्यवकाशं न ददाति चुरायां प्रवृत्तस्य ॥८५८॥

गा०—धनके लोभसे मनुष्य जगल पर्वत गुफा और समुद्रमें भटकता है, युद्ध करता है । धनके लिए मनुष्य प्रियजनोका और अपने जीवनका भी त्याग करता है । सारांश यह है कि मनुष्यको धन सबसे प्रिय है उसके लिए वह सबको छोड़ देता है ॥८५४॥

बा०—धनके होनेपर मनुष्य स्त्री पुत्र और बन्धु बान्धवोंके साथ सुखपूर्वक जीवन यापन करता है । धनके हरे जानेपर उन स्त्री आदिका जीवन ही हर लिया जाता है ॥८५५॥

बा०—चोरके हृदयमे दया, लज्जा, साहस और विश्वास नहीं होते । चोर धनके लिए कुछ भी कर सकता है उसके लिए न करने योग्य कुछ भी नहीं है ॥८५६॥

बा०—हिंसा आदि अन्य अपराध करनेवालेके पक्षमे तो लोग रहते है किन्तु चोरी करने-वालेके पक्षमें बन्धु बान्धव भी नहीं होते ॥८५७॥

गा०—अन्य अपराध करनेवालेको लोग अपने घरमें आश्रय देते हैं । किन्तु चोरी करने-वालेको माता भी आश्रय नहीं देती ॥८५८॥

परदण्डहरणभेदं असषदारं सु वेति पावस्स ।

सोमरिचबाहपरदारिणहि चोरो हु पापदरो ॥८५९॥

'परदण्डहरणभेदं' परदण्डापहरणभेदत् पापस्वास्वहारं भुवन्ति । 'सोमरिचत्', व्याघात्, परदाररति-
त्रियाच्च चोरः पापीवान् ॥८५९॥

सयणं मित्तं आसयमल्लीजं पि य महल्ल्हा दोसे ।

पाठेदि चोरियाण् अयसे हुक्खम्मि य महल्ले ॥८६०॥

'सयणं मित्तं' इच्छामिभाणि आश्रयमूर्तं समीपस्थं च महति दोषे मन्ववधवनापहरणाधिके पातयति
चौर्यं । महत्ययसति दुःखे च निपातयति ॥८६०॥

बंधवघजादजाओ छायाघादपरिमवधयं सोयं ।

पावदि चोरो सयमधि मरणं सव्वस्सहरणं वा ॥८६१॥

'बंधवघजादजाओ' बन्धं, बधं, यातनायच, छायाघातं, परिमवं, भयं, शोकं प्राप्नोति । स्ववधमपि
चोरो मरणं सर्वस्वहरणं वा ॥८६१॥

जिच्चं दिया य रत्ति च संकमानो च जिह्ववल्लभदि ।

तेणं तजो समंता उच्चिग्गमओ च पिच्छतो ॥८६२॥

'जिच्चं दिया य रत्ति च संकमानो' नित्यं दिवाराणि शङ्कमानः न निद्रामुपलभते चौरः । समन्ता-
त्रेकते उच्चिग्गहरिण इव ॥८६२॥

उंदुरकदंदि सद्दं सुच्छा परिबेवमाणसव्वंघो ।

सहसा समुच्चिद्धमओ उच्चिग्गो धावदि खल्लो ॥८६३॥

'उंदुरकदंदि सद्दं' मृषकचलनकृतमपि सव्वं भुत्वा प्रस्फुरत्सर्वपात्रः सहस्रोत्थमयोद्धिग्गो धावति स्वक-
ल्पे पदे ॥८६३॥

वा०—यह परदण्डका हरण पापके जानेका द्वार कहा जाता है । मृग पशु पक्षियोंका घात करनेवाले और परस्त्रीगमनके प्रेमीजनोसि चोर अधिक पापी होता है ॥८५९॥

वा०—चोरीका ब्यसन वन्धु, मित्र, अपने आश्रित, और निकटमें रहनेवालोंको भी वध, बन्ध, धनका हरना आदि दोषोंमें डाल देता है वे भी ऐसे बुरे काम करने लगते हैं । तथा वे महान् अपयश और दुःखके भागी होते हैं ॥८६०॥

वा०—चोर स्वयं भी बन्ध, वध, कष्ट, तिरस्कार, भय, शोक, मरण और सर्वस्व हरणका भागी होता है ॥८६१॥

वा०—चोर दिन रात बकड़े जानेकी आशंकासे सोता नहीं है और भयभीत हरिनकी तरह चारों ओर देखा करता है ॥८६२॥

वा०—बुद्धके द्वारा भी किये शब्दको सुनकर उसका सर्वांग थरथर कांपने लगता है, एक धम भयसे भीत हो, 'घबराकर दौड़ता है और पद-पदपर गिरता उठता है ॥८६३॥

घर्षि पि मंजमंतो वेत्तुण किलिचमेत्तमविदिण्णं ।

होदि हु तण व लहुओ अप्पच्चइओ य चोरो व्व ॥८६४॥

'घर्षि पि संजमंतो' नितगमपि मयमं कुर्वन् । अदत्त तृणमात्रमाप गृहीत्वा तृणबन्धुर्भवति, अप्रत्य-
यितकचोर इव ॥८६४॥

परल्लोगम्मि य चोरो करेदि गिरयम्मि अप्पणो वसदि ।

तिव्वाओ वेदणाओ अणुभवहिदि तत्त्व सुचिरं पि ॥८६५॥

'परल्लोगम्मि य चोरो करेदि' परल्लोके चोर कर्मोत्पात्मनो नरके वसति । कीदृग्भूतो यत्र नरकेषु
सुचिरं दीर्घकाल पच्यमान तीव्रवेदना अनुभवति ॥८६५॥

तिरियगदीए वि तहा चोरो पाउणदि तिव्वदुक्खाणि ।

पाएण णीयजोणीसु चेव संसरइ सुचिरं पि ॥८६६॥

'तिरियगदीए वि तहा' तिर्यग्गतावर्षा चोर प्राप्नोति तोषाणि दुःखानि । प्रायेण नीचयोनिष्वेव मसरति
सुचिरमपि ॥८६६॥

माणुसभवे वि अत्था हिदा व अहिदा व तस्स जस्संति ।

ण य से घणमुवचीयदि सयं च ओल्लुद्धि घणादो ॥८६७॥

'माणुसभवे वि' मनुष्यभवेऽपि तस्य अर्था नश्यन्ति हता वा बहुता वा । न चोपयाति संशयं धनं,
तस्य उपचितेऽपि धने स्वयं तस्मादुपयाति धनात् ॥८६७॥

परद्व्वहरणुद्धी सिरिभूदी जयरमज्जयारम्मि ।

होदूण हदो प्हदो पचो सो दीहसंसारं ॥ ८६८॥

'परद्व्वहरणुद्धी' परद्व्व्यहरणुद्धिः । 'तिरिच्छी' श्रीभूतिर्नवरमण्ये ताडितः प्रहृतश्च भूत्वा दीर्घ-
संसारं प्राप्यः ॥८६८॥

शा०—महान् संयमका घारी साधु भी विना दिया तृणमात्र भी ग्रहण करके अविश्वसनीय
चोरकी तरह तिनकेके समान लघु हो जाता है ॥८६४॥

शा०—चोर मरकर भी नरकमें वास करता है और वहाँ चिरकालतक तीव्र कष्ट भोगता
है ॥८६५॥

शा०—तथा चोर तिर्यग्भवगतिमें भी तीव्र दुःख पाता है । वह प्रायः चिरकालतक नीच
योनिधर्मों ही जन्ममरण करता है ॥८६६॥

शा०—मनुष्यभवेमें भी उसका धन किसीके द्वारा हरा जाकर अथवा विना हरे नष्ट हो
जाता है । वह धनका संशय नहीं कर पाता । धनका संशय हुआ भी तो वह स्वयं उस धनसे
वंचित हो जाता है ॥८६७॥

शा०—परद्व्व्यको हरनेमें आसक श्रीभूतिनामक ब्राह्मण नगरके मध्यमें धारा गया और
मरकर दीर्घसंसारी हुआ इसकी कथा कथाकोशमें है ॥८६८॥

अवसाधानदोषानुभवर्ष वत्' मोक्षं गृह्णति व्याचष्टे—

एदे सम्भे दोसा न होंति परदम्बहरणविरदस्त ।

तन्विबरीदा य गुणा होंति सदा दत्तमोदस्त ॥८६९॥

देविंदरायगह्वरदेवदसाहमि उग्गाहं तन्हा ।

उग्गाहविहिना दिवणं गेहहसु सामन्वसाहचर्यं ॥८७०॥

'देविंदरायगह्वर' देवेन्द्राणां, राज्ञां, गृहपतीनां, राष्ट्रकूटाणां, देवताणां, सधर्मिणां च परिग्रहं । 'उग्गह विहिना' अन्नप्राणविधिना । 'दिव्यं' वत् । 'किञ्चु' गृहान् । 'सामन्वसाहचर्यं' सामन्वसाधनं ज्ञानसंबन्धस्य वा साधनं । अर्थात् ॥८७०॥

चतुर्थं व्रतं निरूपयति—

रक्खाहि बमभेरं अर्धमं दसविधं तु वज्जिजा ।

जिज्जं पि अण्णमसो संचविधे इत्थिवैरग्गे ॥८७१॥

'रक्खाहि बंभभेरं' पालय ब्रह्मचर्यं । अन्नदा वधप्रकारमपि वर्धयित्वा नित्यमन्नमत्तः पञ्चविधे स्त्रीवैराग्ये ॥८७१॥

ब्रह्मचर्यं पालयेत्युक्तं तदेव न ज्ञायते इत्यारेकायां तद्व्याचष्टे—

जीवो बंभा जीवमि चेष चरिया हविज्ज जा जदिणो ।

तं जाण बंभचरं विमुक्कपरदेहवधिस्त ॥८७२॥

'जीवो बंभा' ब्रह्मसन्धेन जीवो भव्यते । ज्ञानवर्धनाधिक्येन वर्धते इति वा । यावत्स्त्रीकाकाशं वर्धते लोकपूरणास्वायां क्रियाया इति वा । 'जीवमि चेष' ब्रह्मचर्यं चर्या । जीवत्स्वरूपमन्तपयार्थात्मकमेव निरूप-

अदत्तादानके दोष बतलाकर योग्य दत्तवस्तुको ग्रहण करनेकी प्रेरणा करते हैं—

शा०—जो परद्रव्य हरनेका त्यागी होता है उसे ये सब दोष नहीं होते । तथा जो दत्त-वस्तुका ही उपयोग करता है उसमें उक्त दोषोंसे विपरीत गुण सदा होते हैं ॥८६९॥

शा०—हे क्षपक ! देवेन्द्र, राजा, गृहपति, देवता और साधर्मि साधुओंके द्वारा विधिपूर्वक दी गई परिग्रहको, जो ज्ञान और संयमकी साधक हो, ग्रहण कर ॥८७०॥

अदत्तविरत व्रतका कथन समाप्त हुआ ।

चतुर्थ व्रतका कथन करते हैं—

शा०—हे क्षपक ! इस प्रकारके अन्नग्रहको त्याग कर ब्रह्मचर्यकी रक्षा कर । और पांच प्रकार के स्त्री वैराग्यमें सदा सावधान रह ॥८७१॥

ब्रह्मचर्यके पालन करनेको तो कहा । किन्तु ब्रह्मचर्य क्या है यही नहीं जानते । इसके लिए कहते हैं—

शा०—श्री०—ब्रह्म शब्दसे जीव कहा जाता है । अथवा 'गृह' घातुसे ब्रह्म शब्द बना है उसका अर्थ होता है बड़ना । ज्ञान वर्धन आदि रूपसे बढनेको ब्रह्म कहते हैं । अथवा जब संयोग केवली जिन लोकपूरण समुदात करते हैं तो उनके आरम्भ प्रदेश लोकाकाश प्रमाण बढ़कर फैल

वती कृतिर्वा 'सं' तां 'व्यस्य' वामीहि । 'बन्धनपरिव' ब्रह्मचर्यं । 'विभुत्वरवेहृतसिख' विभुत्वरवेहृतव्यापारस्य ॥८७२॥

मनसा वचसा शरीरेण परशरीरयोश्चरव्यापारात्सिख्यं त्यक्तमतः दशविधाब्रह्मत्यागान् वचनविभं ब्रह्मचर्यं भवतीति वक्तुकामो ब्रह्ममेवमाचष्टे—

**इत्थिविसयाभिलासो वत्थिविमोक्खो य पणिरससेवा ।
संसत्तद्व्यसेवा तदिदियालोयणं वेव ॥८७३॥**

'इत्थिविसयाभिलासो' स्त्रीसम्बन्धिनो ये इन्द्रियाणां विषयास्तासां रूप, तदीयोऽवररसः, तासां वचन-प्रवचो वचनः तासां कर्म गीतं, हास्यो, मधुरं वचः, मृदुस्पर्शाद्य तत्र अभिलाषः । आत्मस्वरूपपरिज्ञानपरिणति-सम्पन्नं ब्रह्मचर्यं 'बहुतीति आत्मा ब्रह्म ततोऽप्यो वामलोचनाशरीरगतो रूपाविपयविः सोऽङ्ग भव्यतेऽब्रह्मशब्देन तत्र चर्या माम्भिलाषपरिणतिः । 'वत्थिविमोक्खो' मेहनविकारनिवारणं । 'पणिरससेवा' बुध्याहारसेवना । 'संसत्तद्व्यसेवा' स्त्रीभिः संसक्तानां सम्बन्धानां शय्यादीनां सेवा तदङ्गस्पर्शादेव कामिनां तनुप्राप्तप्रव्यस्यर्थांश्चि प्रीति जनयति । 'तदिदियालोयणं वेव' तासां वराङ्गानलोकनं च ॥८७३॥

**सक्कारो संकारो अदीदसुमरणमणागदभिलासो ।
इद्दुविसयसेवा वि य अब्बंमं दसविहं एदं ॥८७४॥**

'सक्कारो' संस्कारः सम्मानना । स च तनुप्राप्तप्रवृत्तितः । 'संकारो' संस्कारः तासां वचनमात्स्याविभिः ।

जाते हैं । इस प्रकारसे जो बढता है वह ब्रह्म जीव है उस ब्रह्ममें ही चर्या ब्रह्मचर्य है । पराये शरीर सम्बन्धी व्यापारसे अर्थात् स्त्री रमणादिसे विरत मुनि अनन्त पर्यायात्मक जीव स्वरूप का ही अवलोकन करते हुए जो उसीमें रमण करता है वह ब्रह्मचर्य है ॥८७२॥

मन वचन कायसे पर शरीर सम्बन्धी व्यापार विशेषको जिसने त्याग दिया है उसके दस प्रकारके अब्रह्मका त्याग करनेसे दस प्रकारका ब्रह्मचर्य होता है यह कहनेकी इच्छासे आचार्य अब्रह्मके भेद कहते हैं—

शा०-टी०—स्त्री सम्बन्धी जो इन्द्रियोंके विषय है—उनका रूप, उनके अघरका रस, उनके युक्तकी सुगन्ध, उनका मनोहर गायन, हास, मधुर वचन और कोमल स्पर्श, उनकी अभिलाषा करना अब्रह्मका प्रथम भेद है । आत्माके स्वरूपको जानकर उसीमें लीन होना ब्रह्मचर्य है । उसको बहन करनेसे आत्मा ब्रह्म है । उससे अन्य स्त्रीके शरीर सम्बन्धी जो रूप रसादि हैं उन्हे यहीं अब्रह्म शब्दसे कहा है । उसमें चर्या अर्थात् अभिलाषा रूप परिणति अब्रह्मचर्य है । निगमे हुए विकारको दूर न करना दूसरा अब्रह्मका भेद है । इन्द्रियमय कारक आहार करना तीसरा भेद है । स्त्रियोंसे सम्बद्ध शय्या आदिका सेवन चतुर्थ भेद है । स्त्रियोंके शरीरके स्पर्शाकी ही तरह उनके शरीरसे सम्बद्ध वस्तुओंका स्पर्श भी कामी जनोंको रागकारक होता है । स्त्रियोंके उत्तम अंगोंका अवलोकन पाँचवाँ भेद है ॥८७३॥

शा०—स्त्रियोंका सम्मान करना छठा भेद है । वचन माला आदिसे उन्हे आभूषित करना

१. विहरति-अ० । २. कारनिवा-अ० का० ।

'अतीतकालम्' अतीतकालमिति रजिःश्रीवात्परम् । 'अवाप्यविकल्पो' अविश्वसि काले दृवं तानिः श्रितां करि-
व्यामि इति रत्नविद्याः । 'इदंस्त्रीविकल्पो वि व' इष्टविषयवत्तमिति व । 'अन्वयं वान्वयं दृवं' दक्षप्रकार-
कृतौत् । अतीतकालस्य परब्रह्मोपयोगात्तावद्वैवी नवतः । तेन संयुक्तोपयोगं, परब्रह्मात्मन्वयं' अज्ञानमिति
वीतराजसाविनु चरवं कृत्यचवं सर्वोपयोगिदं दक्षविषयमज्ञेति निरूपितं ॥८७४॥

एवं विसम्भिभूदं अन्वयं दसविहंपि जादृष्यं ।

आवादे मधुरविष होदि विवागे य कृत्यदरं ॥८७५॥

'एवं विसम्भिभूदं' विवाग्निना सपुं एतकहा स्वप्रकारमिति ज्ञातव्यं । आगते मधुरविष भवति
विपाके तु कृत्यदरं ॥८७५॥

स्त्रीविषयो रागोऽज्ञा स च तत्प्रतिपक्षानुत्तरीय्येन नाशविद्युं कथ्यते इति मत्या वीराव्योपायकथना-
वाच्ये—

कामकदा इत्थिकदा दोसा अनुषिचबुद्धसेवा य ।

संसम्भादोसा वि व करंति इत्थीसु वेरम् ॥८७६॥

'कामकदा इत्थिकदा' कामकृताः स्त्रीकृताश्च दोषाः । अनुषिचं, बुद्धसेवा, संसर्गदोषाश्च कुर्वन्ति
स्त्रीषु वीरान् ॥८७६॥

कामकृतदोषनिरूपणा प्रबन्धेन उत्तरेण क्रियते—

आवहया फिर दोसा इहक्लोए दुहावहा होंति ।

सज्जे वि आवहदि ते मेहुजसज्जा मनुस्सस ॥८७७॥

'आवहिया फिर दोसा' इत्यादिना यावन्तः किल जन्मद्वये, 'दुहावहा' दुःखावहा भवन्ति दोषा हिंसाय-
यस्ताम्सर्वाणि आवहति मेहुजसंज्ञा मनुष्यस्य ॥८७७॥

सातवां भेद है । अतीत कालमें की गई रति क्रीडाका स्मरण करना आठवां भेद है । भविष्य काल-
में मैं उनके साथ इस प्रकार क्रीडा करूँगा इस प्रकार अनागत रतिमें अनिलाषा नीवां भेद है ।
इष्ट विषयोंका सेवन दसवां भेद है । इस प्रकार अज्ञाहके ये दस भेद हैं ॥८७४॥

ब०—इस प्रकार विष और आगके समान अज्ञाहके दस भेद जानना । यह प्रारम्भमें मधुर
प्रतीत होता है किन्तु परिणाममें अत्यन्त कटु होता है ॥८७५॥

स्त्री विषयक राग अज्ञाह है । वह अपने विरोधी वैराग्यसे ही नष्ट किया जा सकता है ।
ऐसा जानकर वैराग्यके उपयोगों कथन करते हैं—

ब०—काम विकारसे उत्पन्न हुए दोष, स्त्रियोंके द्वारा किये गये दोष, शरीरकी अशुचिता,
बुद्ध धर्मोंकी सेवा, स्त्रीके संसर्गसे उत्पन्न हुए दोष, इनके चिन्तनसे स्त्रियोंमें वैराग्य उत्पन्न होता
है ॥८७५॥

जाने कामजन्य दोष कहते हैं—

ब०—इस क्रीड और परलोकमें दुःखदायी जितने भी दोष हैं मनुष्यकी मेधुन संज्ञामें वे

सोपदि विलसदि परितप्सदी य कामादुरो विसीयदि य ।

रक्षिदिया य जिहं न लहदि पञ्जादि विमणो य ॥८७८॥

'सोपदि विलसदि' सोपते, विलसति । परितप्सते । 'कामादुरो विसीयदि य' कामादुरो विसीयति य । नक्तं दिनं मित्रां न स्रमते । पञ्जादि विमणस्को भवति ॥८७८॥

सयने जणे य सयणासणे य मामे धरे व रण्णे वा ।

कामपिसायग्गहिदो न रमदि य तह भोयणादीसु ॥८७९॥

'सयने जणे व' स्वयने परजने, सयने, आसने, श्रामे, गृहे, अरण्ये, भोजनाधिक्रियासु य न रमते काम-पिसायग्गहीतः ॥८७९॥

कामादुरस्स गच्छदि खणो वि संबच्छरो व पुरिस्सत्स ।

सीदंति य अंगाइं होदि अ उक्कंठिओ पुरिसो ॥८८०॥

'कामादुरस्स गच्छदि खणो वि' कामव्याधितस्य गच्छति खणोऽपि संबत्तर इव । अङ्गानि च सीदन्ति । भयस्युत्कण्ठितश्च पुरुषः ॥८८०॥

पाणिदलधरिदगंडो बहुसो चिंतेदि किं पि दीणसुहो ।

सीदे वि जिवाइज्जइ वेवदि य अकारणे अंगं ॥८८१॥

'पाणिदलधरिदगंडो' पाणितलधृतगंडः, 'बहुसो चिंतेवि' बहुवाचिन्ता करोति । किमपि दीनमुखः । शीतेऽपि स्विद्यते । वेपते च अङ्गं कारणमन्यवन्तरेण ॥८८१॥

काहम्मचो संतो अंतो डज्जदि य कामचिंताए ।

पीदो व कलकलो सो रदग्गिजाले जलंतम्मि ॥८८२॥

'कामुन्मत्तो' कामोन्मत्तः । कामचिन्तया चिरं बह्यते । पीतताम्रद्रव इव । अरत्यग्नेज्वालामु उवक-न्तीषु ॥८८२॥

सब दोष वर्तमान हैं ॥८७७॥

शा०—कामसे पीड़ित मनुष्य शोक करता है, विलाप करता है, पंगिताप करता है, विषाद करता है, रात दिन नहीं सोता । इष्ट स्त्री आदिका स्मरण करता है और अन्यमनस्क होकर धर्म कर्म भी मूल जाता है ॥८७८॥

शा०—कामरूपी पिशाचके द्वारा पकड़े गये मनुष्यका मन स्वयनमें, अन्य मनुष्योंमें, शयनमें, आसनमें, श्राममें, घरमें, वनमें और भोजन आदिमें नहीं रमता ॥८७९॥

शा०—कामसे पीड़ित मनुष्यका एक क्षण भी एक वर्षकी तरह बीतता है । उसके सब अंग वेदनाकारक होते हैं । और वह उत्कण्ठित होता है उसका मन उसीमें लगा रहता है ज्ञान-पानमें नहीं लगता । वह उसे रुचता नहीं ॥८८०॥

शा०—वह अपनी हृदेलीपर गाल रखकर दीनमुखसे बहुत-सी व्यर्थ चिन्ता किया करता है । शीतकालमें भी पसीनेसे भीग जाता है । बिना कारण ही उसके अंग काँपते हैं ॥८८१॥

कामादुरो जते पुण कामिच्छति जने तु अरुहंतो ।
पचदि चरिदुं बहुवा मरुत्पवादादिहरणेहिं ॥८८३॥

‘कामादुरो’ कामादुरो मरः । स्वाधिकथिते जने मरुत्पवादे जेष्ठते बहुवा मरु । पर्वतीवधिमपातेन तस्मात्पवात्पवादेन, अग्निप्रवेशादिना वा ॥८८३॥

संकल्प्यजदेन रामदोसपल्लवसुखीहेन ।
विसयविरुवातिना रविहृहेन विवादिरोसेन ॥८८४॥

‘संकल्प्यजदेन’ संकल्प्याच्छप्रसूतेन । रामद्वेषकरुणमलजिह्वेन । विषयविरुवातिना रतिमुषेन विष्ठा-
तिरोसेन ॥८८४॥

कामभुजगेण दद्या लज्जाभिम्भोगदम्पदादेन ।
पासंति परा अवसा अणेयदुःखावहविसेन ॥८८५॥

‘कामभुजगेण’ कामसर्पेण । लज्जात्वस्मिर्भोजनकारिसर्वभ्रंष्ट्रेण दद्या अनेकदुःखावहविभेगावशा मया
नश्यन्ति ॥८८५॥

आसीविसेन अवरुद्धस्त वि वेगा हवंति ससेव ।
दस होंति पुणो वेगा कामभुजंगावरुद्धस्त ॥८८६॥

‘आसीविसेन’ आसीविषेण सर्पाणिना दहस्यापि सत्सर्व वेगा भवन्ति । कामभुजङ्गेन दष्टस्य दसवेगा
भवन्ति ॥८८६॥

उत्पन्त्यापि वेगान्कमेण दर्शयति—

वा०—कामसे उन्मत्त पुरुष अन्तरंगमें कामकी चिन्तासे जला करता है । जैसे आगसे
तपा ताम्बेका ब्रव पीकर मनुष्य अन्तरंगमें जलता है वैसे ही वह इच्छित स्त्रीके न मिलनेपर
अन्तरंगमें जलती हुई अरतिरूप आगकी ज्वालामें जलता है ॥८८२॥

वा०—कामसे पीड़ित मनुष्य अपनी इच्छित स्त्रीके न मिलनेपर प्रायः पर्वतसे गिरकर
या समुद्रमें डूबकर वा वृक्षकी शाखासे लटककर अथवा आगमें कूबकर मरनेकी चेष्टा करता
है ॥८८१॥

वा०—कामरूप सर्प मानसिक संकल्परूप अण्डेसे उत्पन्न होता है । उसके रागद्वेषरूप
दो बिह्वार होती हैं जो सदा चला करती हैं । विषयरूपी बिलमें उसका निवास है । रति उसका
मुख है । चिन्तारूप अतिरोष है । लज्जा उसकी कांचली है उसे वह छोड़ देता है । मय उसकी
बाढ़ है । अनेक प्रकारके दुःख उसका जहर हैं । ऐसे कामरूप सर्पसे डँसा हुआ मनुष्य नाशकी
प्राप्त होता है ॥८८४-८८५॥

वा०—सब सर्पोंमें प्रमुख आसीविष सर्प होता है । उसके द्वारा इसे मनुष्यके तो सात ही
वेग होते हैं । किन्तु कामरूपी सर्पके द्वारा इसे मनुष्यके दस वेग होते हैं ॥८८६॥

उन दस वेगोंको क्रमसे कहते हैं—

पहले सोचदि बेमे ददुं तं इच्छे विदियवेमे ।

विस्तसदि तदियवेमे आरोहदि आरो वउत्पमि ॥८८७॥

‘कामे सोचदि बेमे’ प्रथमे बेमे सोचति । द्वितीये बेमे स तं वउत्पमिच्छति । त्रिःश्रुतिरिति च तृतीये बेमे । आरोहति अररत्नपुत्रं बेमे ॥८८७॥

उज्जदि पंचमवेमे अंगं छुं न रोचदे मचं ।

हुच्छिच्छदि सत्तमम् उम्पचो होइ अहुमम् ॥८८८॥

‘उज्जदि पंचमवेमे’ पञ्चमवेमेऽङ्गं वहुते । भक्तप्रसविः पठे वेमे । सत्तमवेमे मुच्छति । उम्पचो भव-
त्पठने ॥८८८॥

अवमे न किंचि जाणदि दसये पाणेहिं हुच्छदि मद्धो ।

संकल्पवसेण पुणो वेगा तिन्वा व मंदा वा ॥८८९॥

अवमे नात्मानं वेति । दसमं बेमे प्राणविमुच्यते । मद्यान्धस्य संकल्पवसेन पुनस्तीव्रा मन्दा वा भवन्ति
वेगाः ॥८८९॥

जेहामूले जोण्हे दुरो विमले अहम्मि मज्जण्हे ।

अ इहदि तह अह पुरिसं इहदि विवद्धंतजो कामो ॥८९०॥

‘जेहामूले’ ज्येष्ठमासे शुक्लपक्षे विमले नमसि मज्जाह्ने रविः स न वहति तथा यथा पुरुषं वहति प्रवर्द्ध-
मानः कामः ॥८९०॥

दूरग्गी इहदि विवा रचि च दिया य इहइ कामग्गी ।

दूरस्त अत्थि उच्छागारो कामग्गिणो अत्थि ॥८९१॥

‘दूरग्गी इहदि विवा’ सूर्याग्निर्वहति विवा, नक्तं विवा वहति कामाग्निः । सूर्यस्याच्छादनकारी उष्ण-
विकसति न कामाग्नेः ॥८९१॥

भा०—कामके प्रथम बेगमें सोचता है जिसको देखा या सुना उसके बारेमें चिन्ता करता है । दूसरे बेगमें उसे देखनेकी इच्छा करता है । तीसरे बेगमें दीर्घ निश्वास लेता है । चतुर्थ बेगमें क्षीरमें ऊपर चढ़ जाता है ॥८८७॥

भा०—पाँचवें बेगमें अंग जलने लगते हैं । छठे बेगमें भोजन नहीं सकता । सातवें बेगमें मूर्च्छित हो जाता है । आठवें बेगमें उष्ण हो जाता है ॥८८८॥

भा०—नीवें बेगमें अपनेको भी नहीं जानता । दसवें बेगमें भर जाता है । इस प्रकार कामाग्नि पुरुषके संकल्पवच तीव्र या मन्द वेग होते हैं ॥८८९॥

भा०—ज्येष्ठमासके शुक्लपक्षमें मज्जाह्लाकालमें आकाशके निर्मल रहते हुए सूर्य वैसा नहीं चलता वैसा पुरुषकी प्रवृत्तित काम चलता है ॥८९०॥

भा०—सूर्य अग्नि तो केवल दिनको ही जलाती है किन्तु कामाग्नि रात दिन जलाती है । सूर्यके तापसे बचनेके उपाय तो छाता आदि हैं किन्तु कामाग्निका कोई उपाय नहीं है ॥८९१॥

विष्णुवायदि सूर्यो जलादियदि न तदा हु कामन्वी ।

सूर्यो तदा तर्षं अण्यंतस्वाहिरं इदरो ॥८९२॥

'विष्णुवायदि सूर्यो' विष्वातिः सूर्यमग्नितस्तापो वक्त्रादिभिर्न तथा वक्त्रादिभिः कामान्भिः प्रशान्यति ।
तर्षं त्योष्यत् तर्षं ब्रह्मि । कामान्निरन्तर्ब्रह्मिण्य ब्रह्मि ॥८९२॥

जादिहृतं संवातं धम्मं नियवंसवन्नि अगन्निषा ।

हृणदि अकज्जं पुरिसो मेहुण्यसण्णापसंमूढो ॥८९३॥

'जादिहृतं' मातृपितृवंशं । 'संवातं' सहचरतः । धर्मं वाग्जवानपि जन्मवन्मयं पुण्योक्त्यां करोति
मेहुणसंज्ञामूढः ॥८९३॥

कामपिसायम्बहिदो हिदमहिदं वा न अप्पणो हृणदि ।

होइ विसायम्बहिदो व सदा पुरिसो अण्णवत्तो ॥८९४॥

'कामपिसायम्बहिदो' कामपिषाण्णमूढीतः हितमहितं वा न वेत्ति, पिषाचने मूढीतः पुण्य इव सदा
अण्णवत्तो भवति ॥८९४॥

णोषो व नरो बहुगं पि कदं कुलपुण्णो वि न गणेदि ।

काहम्मणो लज्जालुजो वि तह होदि विण्णज्जो ॥८९५॥

'णोषो व नरो' नीच इव नरः कुतमपि बहुमुपकारं न गणयति । कुलपुणोऽपि सम्कामोन्नतो, लज्जा-
वानपि पूर्वं विगतलज्जो भवति ॥८९५॥

कामी सुसंज्जाण वि रुसदि चोरो व जग्गमाणाणं ।

विण्णदि कामण्णत्तो हिदं भण्णते वि सण् व ॥८९६॥

'कामी सुसंज्जाण वि' कामी सुसंयतानामपि क्यति । चापरां चोर इव कामवस्तः, प्रेषते हितं प्रति-
पावयतः समुत्तिव ॥८९६॥

पा०—सूर्यसे उत्पन्न हुआ ताप तो जल आदिसे शान्त हो जाता है किन्तु कामानि
जलादिसे शान्त नहीं होती। सूर्यकी गर्मी तो चर्मको ही जलाती है किन्तु कामानि शरीर और
आत्मा दोनोंको जलाती है ॥८९२॥

भा०—मैत्रुण संज्ञासे मूढ हुआ मनुष्य मातृवंश, पितृवंश, साधर्मं रहनेवाले मित्रादि, धर्म,
और बन्धु बान्धवोंकी भी परवाह न करके अकार्य करता है ॥८९३॥

भा०—कामरूपी पिषाचके द्वारा पकड़ा गया मनुष्य अपने हित ब्रह्मिणको नहीं जानता ।
पिषाचके द्वारा पकड़े गये मनुष्यकी तरह अपने बसमें नहीं रहता ॥८९४॥

भा०—बैसे नीच मनुष्य किये गये उपकारको भुला वेता है बैसे ही कुलीन बंधका भी
व्यक्ति कामसे उन्मत्त होकर पूर्वमें लज्जावान होते हुए निर्लज्ज हो जाता है ॥८९५॥

भा०—बैसे चोर कामसे हुए व्यक्तिोंपर रोव करता है बैसे ही कामी संयमीजनोंपर रोव

१. सहचरतं-भा० भू० । स्वार्थं सहचरतो ज्ञानं मित्रादीन्-पूकारा० ।

आयरिषउवज्ज्ञाय कुलगाणसंबसस होदि पठिणीओ ।

कामकण्डिख दु बरबो धम्मियभावं पयहिदुणं ॥८९७॥

‘अनारिषउवज्ज्ञाय’ भाषायाणां अध्यापकानां, कुलस्य गुरुशिष्यवर्षस्य, गुरुवर्मात्तुशिष्याणां वा चातुर्वर्ष्यस्य वा संघस्य च भवति प्रतिकूलः कामकलिना इत्यतः धामिकत्वं विहाय ॥८९७॥

कामगघत्थो पुरिसो तिलोवसारं जहदि सुदलाभं ।

तेलोक्कपूइदं पि य माहप्यं जहदि विसयंघो । ८९८॥

‘कामगघत्थो’ कामघस्तः । तैलोक्कसर्वसारमपि श्रुतलाभं जहाति । तैलोक्केन पूजितमपि माहात्म्यं त्यजति विषयान्धः ॥८९८॥

तह विसयामिसघत्थो तणं व तवचरणदंसणं जहइ ।

विसयामिसगिद्धस्स दु जत्थि अकायव्वयं किंचि ॥८९९॥

‘तह विसयामिसघत्थो’ विषयामिघलंपटः । तृणमिव तपचरण दर्शनं च जहाति । विषयामिघलंपटस्य मात्स्यकार्यं किञ्चित् ॥८९९॥

अरहंतसिद्ध आयरिष उवज्ज्ञाय साहु सव्ववग्माणं ।

कुणदि अवणं जिच्चं काहुम्मत्तो विगयवेसो ॥९००॥

अरहंतसिद्धआयरिष’ अर्हतां, सिद्धानां, आचार्याणां, उपाध्यायानां, सर्वेषां मनीनां चावर्णवादं करोति मित्यं विद्वत्तथैः ॥९००॥

अयसमणत्वं दुःखं इहलोए दुग्गदा य परलोए ।

संसारं पि अणंतं ण मुणदि विसयामिसे गिद्धो ॥९०१॥

करता है । तथा कामी हितकारी बात कहनेवालेको शत्रुके समान देखता है ॥८९६॥

शा०—कामरूपी कलिकालसे प्रस्त मनुष्य धार्मिक भावको त्याग आचार्य, उपाध्याय, कुल—गुरुका शिष्य समुदाय, गण—गुरुके धर्मबन्धुओंका शिष्य समुदाय और चतुर्विध संघका विरोधी बन जाता है ॥८९७॥

शा०—कामसे प्रस्त मनुष्य तीनों लोकोंके सारभूत श्रुतज्ञानके लाभको भी छोड़ देता है । वह विषयान्ध होकर तीनों लोकोंके पूजित माहात्म्यको भी छोड़ देता है अर्थात् उसे शास्त्र स्वाध्यायमें रस नहीं रहता और कामके पीछे अपना महत्त्व भी भुला देता है ॥८९८॥

शा०—तथा विषयरूपी मांसमे आसक्त होकर तप चारित्र और सम्पददर्शनको तिनकेकी तरह त्याग देता है । ठीक ही है विषयरूपी मांसके लोभीके लिए कुछ भी अकार्य नहीं है, वह सब कुछ अनर्थ कर सकता है ॥८९९॥

शा०—कामसे उन्नत साधु साधुरूपको त्यागकर अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सब साधुजनोंका अवर्णवाद करता है, उनपर मिथ्या दोषारोपण करता है ॥९००॥

शा०—विषयरूपी मांसका लोभी मनुष्य अनर्थकारी अपयश, इस लोकके दुःख, परलोकमें पुर्णति और भविष्यमें संसारकी अनन्तताको नहीं जानता । अर्थात् वह इस बातको भुला देता है

'अवसाम्भवं' अवयवः अवयवः । कुर्वन् वेदकोशे वरकोशे कुर्वन् वसि, संसारमप्यनन्तं भाविनं न वेति विषयान्विते वृद्धः ॥९०१॥

विषयं वि विषयहेतुं सेवति उच्यते वि विषयसुखमदी ।

वहुयं वि य अवसाम्भं विषयं चो सह्य मानीषि ॥९०२॥

'विषयं वि विषयहेतुं' ज्ञानकुशादिभिरतीव न्यूनमपि सेवते कुलीनो बुद्धिमानपि विषयसुखमसिः । परिश्रवं महान्तमपि वनिनिः क्रियमाणं सहते विषयान्धः ॥९०२॥

वीचं वि कुण्दि कम्मं कुलपुत्रदुरुच्छियं विगदमाणो ।

'वारचुञ्चो वि कम्मं अकासि जह संनियामहेतुं ॥९०३॥

'वीचं वि कुण्दि' नीचमपि करोति कर्म उच्छिष्टबोजनार्थिकं कुलीननिन्दितं विगदामिमानः । वारचित्तो नाथ वरितरितमहितं कर्म कृतवान् तथा कुलीनः स्त्रीनिमित्तं ॥९०३॥

दरो तिफस्यो हृषस्यो वि होइ वसिञ्चो जणस्स सधणस्स ।

विसयामिसम्मि गिद्धो माणं रोसं च मोत्तुणं ॥९०४॥

'दुरो तिफस्यो मुक्खो वि होइ' वृत्तीणो मुक्खोऽपि वनिनो जणस्व वसवतीं प्रवति । विषयान्धकारे मुग्धः वृद्धः अमिमानं रोषं मुक्त्वा ॥९०४॥

मानी वि असरिसस्स वि च्चदुयम्मं कुण्दि विषयमविलज्जो ।

मादापिदरे दासं वायाए परस्स काम्मेवो ॥९०५॥

'मानी वि असरिसस्स वि' मानी असवृत्तस्यापि चाटु करोति । शचा आत्मीयां मातरं पितरं वा दास्वमापाययति । तथाहं दासो वृष्टे भवामीति वचनपरं काम्यमानः ॥९०५॥

कि विषयासक्तिका फल संसारमें अपयश, इस लोकमें कष्ट, परलोकमें दुर्गति है तथा संसारका अन्त होना दुष्कर है ॥९०१॥

वा०—विषयोंका लोभी मनुष्य कुलीन और बुद्धिमान् होते हुए भी विषय सेवनके लिए ज्ञान और कुल भाविते अत्यन्तहीन की भी सेवा करता है । वह विषयान्ध बनी पुरुषोंके द्वारा किये गये महान् तिरस्कारको भी सहन करता है ॥९०२॥

वा०—वह अपना सम्मान खोकर कुलीन पुरुषोंके द्वारा निन्दित उच्छिष्ट भोजन आदि नीचकर्म करता है । जैसे वारचक नामक कुलीन यतिने नर्तकीके लिए अत्यन्त निन्दित काम किया ॥९०३॥

वा०—विषयकामी मांसका लोभी मनुष्य अमिमान और रोष त्यागकर सुरवीर, असहनशील और प्रमुख होते हुए भी बनी मनुष्यके बसमें हो जाता है ॥९०४॥

वा०—अभियाथी भी निर्लज्ज होकर अपनेसे नीच पुरुषका नित्य चाटुकर्म—पैर दबाना आदि करता है । अपने माता पिताको उसका दास दासी कहता है और कहता है कि मैं तुम्हारे

१. वारचित्तो वा० वृ० । वारतजी वारचके तज वसिः—भूकारा० ।

दयणपश्चिदपि कुसलत्तमं वि जासइ णरस्स कामिस्स ।
सत्त्वप्पहव्व तिक्खा वि मदी मंदा तथा हवदि ॥९०६॥

‘दयणपश्चिदपि कुसलत्तमं वि’ वचने प्रतिपत्ती च कुसलतापि नश्यति कामिनी नरस्य । शास्त्रप्रहता शास्त्रे षटिता अतितीम्णापि मति कुंठा भवति ॥९०६॥

होदि सचक्खु वि अचक्खु व वधिरो वा वि होइ सुणमाणो ।
दुट्टकरेणुपसत्तो वणहत्थी खेव संभूढो ॥९०७॥

‘होदि सचक्खु वि अचक्खु व’ वक्षुभमानपि अचक्षुरिव भवति । परं समीपस्थमपि यतो न पश्यति । ‘वधिरो वा वि होदि’ वधिर इव भवति । ‘सुणमाणो’ शृण्वन्नपि ज्योत्स्नवणत् । ‘दुट्टकरेणुपसत्तो’ दुष्टकरिणी-प्रसक्तः । ‘वणहत्थी खेव’ वनहस्तीव । ‘संभूढः’ ॥९०७॥

सलिलणिबुद्धोप्य णरो बुज्झंतो विगयचेयणो होदि ।
दक्खो वि होइ मंदो विसयपिसाओवहदचित्तो ॥९०८॥

‘सलिलणिबुद्धो बुज्झंतो णरोप्य’ सलिलनिमग्नः प्रवाहेणोद्यमानो नरो यथा । ‘विगयचेयणो’ विगत-चैतन्यो भवति । ‘दक्खो वि होदि मंदो’ दक्षोऽपि सर्वकार्येषु प्रवीणोऽपि जडो भवति । ‘विसयपिसाओवहदचित्तो’ विषयपिशाचोपहतचित्तः विषया रूपादयस्त्रेतोविभ्रमहेतुत्वात्पिशाचा इवेति विषया. पिशाचा इत्युक्तः ॥९०८॥

बारसबासाणि वि संबसिस्तु कामादुरो ण जासीय ।
पादंगुहमसंतं गणियाए गोरसंदीपो ॥९०९॥

‘बारसबासाणि’ द्वादशवर्षमात्रं सहोचित्वापि । ‘कामादुरोपि’ कामादुरोऽपि । न ज्ञातवाग्मोरसंदीपः । किं ? गणिकायाः पादांगुष्ठमसत्तं ॥९०९॥

घरमें दास बनकर रहूँगा ॥९०५॥

शा०—कामी मनुष्यकी वचन कुशलता और समझदारी नष्ट हो जाती है । शास्त्रमें प्रविष्ट अति तीक्ष्ण भी बुद्धि मन्द हो जाती है ॥९०६॥

शा०—दुष्ट हृद्यनीमें आसक्त जंगली हाथीकी तरह मूढ़ कामी पुरुष नेत्रवाला होकर भी अन्धा होता है क्योंकि उसे समीपकी वस्तु भी नहीं दिख, ई देती । तथा कानवाला होकर भी बहरा होता है ॥९०७॥

शा०—जैसे जलमें डूबा और प्रवाहमें बहता मनुष्य चेतनारहित होता है । वैसे ही जिसका चित्त विषयरूपी पिशाचके द्वारा गृहीत है वह मनुष्य सब कार्योंमें प्रवीण होते हुए भी मन्द होता है । यहाँ विषयोंको पिशाच कहा है क्योंकि रूपादि विषय चित्तको मोहमें डाल देते हैं इसलिए वे पिशाचके समान हैं ॥९०८॥

शा०—गोरसंदीप नामक कामपीडित मनुष्य बारह वर्ष तक गणिकाके साथ रहकर भी यह नहीं जान सका कि गणिकाके पैर में अँगूठा नहीं है ॥९०९॥

मीदं उच्छं तच्छं सुदं च दुस्सेज्ज वच पंचसमं ।

सुकुमारो वि च कामी सहइ वदइ मारंभवि मरुपं ॥९१०॥

'वीरं उच्छं तच्छं' वीरं, उच्छं, तुच्छां, सुधां, दुःखमयं, दुराहारं कृतं, मध्यममनस्यं च सहते । कामी सुकुमारोऽपि गुणमपि मारं वहति ॥९१०॥

गायदि अज्जदि षावदि कसइ ववदि लवदि तइ मलेइ जरो ।

तुज्जेइ तुज्जइ आचइ कुलमि आदो वि विसयवसो ॥९११॥

'मल्लवि अज्जवि' गायति, मृत्पति, षावति, कृषति, वपति, कुनाति, मद्भवति, सीम्यति, पट्टवस्त्राविव-
यनं करोति । गायते कुलमृत्पतीऽपि सन्निवसन्मुपयस आत्मानं गायं वि पोषयितुं ॥९११॥

सेवदि भियादि रक्खदि मोमहिसिमजाथियं हयं हत्थि ।

ववहरदि कुजदि सिप्यं सिणेहपासेण ददवद्धो ॥९१२॥

'सेवति भियावि' सेवति सत्यान्तरं तुणाधिकमेव । निजति, रक्षति वां, महिषी, मजा., भाषिकं, हयं, हस्तिनो वा । गायिष्यं करोति । समस्तनैपुष्यं अतीव उत्कर्मणिकं करोति कामिनीमत्स्नेहमात्रेण पुत्रवदः ॥९१२॥

वेटेइ विसयहेहुं कलसपासेहिं दुज्जिमोएहिं ।

कोसेण कोसियालुप्य दुम्मदी जिच्च अप्पाणं ॥९१३॥

'वेटेइ विसयहेहुं' वेष्टयति विषयहेतुमिति । आत्मानं कलसपासीनां च विमुक्तयति : कोसेण 'कोसकार-
कीट इव दुर्गतिः ॥९१३॥

वा०—सुकुमार भी कामी पुरुष सदीं, गर्मी, प्यास, भूख, खोटी शय्या, खराब भोजन, मार्गमें चलनेका श्रम सहता है और भारी बोझा डोता है ॥९१०॥

वा०—उच्छकुलमें जन्मा भी मनुष्य विषयासक्त होकर गाता है, नाचता है, दीड़ता है, खेत बोतता है, अन्न बोता है, खेती काटता है, अनाज निकालता है, कपड़े सीता है, बुनता है ? यह सब काम विषय परंवसा होकर अपने और अपनी पत्नीके भरणपोषणके लिए करता है ॥९११॥

वा०—स्त्रीके स्नेहबालमें दृढ़तापूर्वक बंधा मनुष्य राजा आदिकी सेवा करता है, धानके खेतमें लगी बालकी उपाड़ता है । गाय, भैंस, बकरी, भेड़ें, घोड़ा, हाथी आदि पालता है । व्यापार करता है । शिल्पकर्म-विनकला आदि करता है ॥९१२॥

वा०—जैसे-रेसमका कीड़ा अपने ही भुखभैसे तार निकालकर उससे अपनेको बांधता है । वैसे ही दुग्धि मनुष्य विषयके लिए स्त्रीरूप पाशके द्वारा, जिसका छूटना अशक्य है, नित्य अपनेको बांधता है ॥९१३॥

रामो दोसो मोहो कसायपेसुपण संकिलेसो व ।

ईसा हिंसा मोसा सूया तेणिकक कलहो व ॥९१४॥

‘रामो दोसो’ रामो द्वेष, अज्ञान, कथायाः, परदोषसंस्तवनं, संकलेशः, ईर्ष्या, हिंसा, मूढा, परगुणा-सहनं, स्तैर्यं कलहवच ॥९१४॥

जंपणपरिभवणियत्तिपरिवादत्तिपरोगसोगचणणासो ।

विसयाउलम्भि सुलहा सव्वे दुक्खावहा दोसा ॥९१५॥

‘जंपणपरिभव’ अल्पनं परिभवः बंधना परोक्षेऽपवायः । सन्नुः, रोग. शोको, धननाश इत्यायवः । विसयाउलम्भि सुलहा’ विषयाकुले सुलभः सर्वेऽपि दुःखावहा बोधाः ॥९१५॥

न केवलमात्मन एव उपद्रवः अपि तु परोपद्रवमपि करोति कामीति वदति—

अवि व वडो जीवाणं मेहुणसेवाए होइ बहुगाणं ।

तिलणालीए तत्ता सलायवेसो व जोणीए ॥९१६॥

‘अवि व वडो जीवाणं’ अवि व बहूनां जीवानां वधो भवति । मैयुनसेवया । ‘जोणीए’ भोग्यां तिलैः पूर्णयां मालिकाया तत्तायःशलाकाप्रवेश इव ॥९१६॥

कामुम्मसो महिलं गम्मागम्मं पुणो अविण्णाय ।

सुलहं दुलहं इच्छियमणिच्छियं चावि पत्थेदि ॥९१७॥

‘कामुम्मसो’ कामोन्मत्तो । स्त्रियः शरीरमात्मनश्च’ गम्यं भोग्यं उतस्त्रिवगम्यमभोग्यमिति अविज्ञाय इवमित्यमशुचि इति । सुलभां दुर्लभां आत्मन्यभिलाषवती च प्रार्थयते ॥९१७॥

शा०—राम, द्वेष, मोह, कथाय, पैसुम्य—दूसरेके दोष कहना, संकलेश, ईर्ष्या, हिंसा, मूठ, असूया—दूसरेके गुणोंको न सहना, बोरो, कलह, वृथा वकवाद, तिरस्कार, ठमना, पीठ पीछे बुराई करना, सन्नु, रोग, शोक, धननाश इत्यादि सब दुःखदायी दोष विषयासक व्यक्तियें सुलभ होते हैं ॥९१४-९१५॥

आगे कहते हैं कि कामी पुरुष केवल अपना ही घात नहीं करता, दूसरोंका भी घात करता है—

शा०—जैसे तिलोसि भरी मालिकामें तपाये हुए लोहेकी सलाईके प्रवेशसे तिलोका घात होता है वैसे ही मैयुन सेवनसे योनियें स्थित बहुतसे जीवोंका घात होता है ॥९१६॥

शा०—कामसे उन्मत्त पुरुष यह स्त्री भोगने योग्य है या अयोग्य है, सुलभ है या दुर्लभ है, मुझे चाहती है या नहीं चाहती, इत्यादि जाने बिना उसकी याचना करता है ॥९१७॥

१. इव गम्य भोग्यं उतस्त्रिवगम्यमभोग्य मिति अवि-मु० । गम्मागम्म स्त्रियः शरीरमात्मनश्च भग्यं भोग्यं उतस्त्रिवगम्यमभोग्यमिति “टीकाकारः । अग्ये तु गम्यागम्यमित्यपि महिलविशेषणवाहुः । तथा च तद्वचनः ‘कामोन्मत्तो गम्यागम्यवद्कथां च दुर्लभां सुलभाय् । अज्ञात्वा प्रार्थयते भोग्यं सेच्छान्नायमिच्छन्नु’ ।

—दुकार० ।

इदृशं परकलत्रं किहिदा परस्वै शिग्बिभो जीवो ।

य य तत्त्वं किं पि सुखं पावदि पार्षं च अज्जेदि ॥११८॥

'इदृशं परकलत्रं' परेषां कलत्रं वृष्ट्वा । कत्रं तावत् प्रार्थयते जीवो विरस्तकलत्रो ममेयं भवतीति । एतस्यां प्रार्थनाव्यापयितायां सुखं प्राप्नोति । पार्षं नियमेनार्थयति ॥११८॥

आहङ्गिद्वेष चिरमधि परस्स महिलं लमिसु दुष्खेण ।

उप्पित्तमवीसत्त्वं अजिञ्जुदं तारिसं चेव ॥११९॥

'आहङ्गिद्वेष चिरमधि' चिरकालमिलम्भायि । 'परस्स महिलं' परस्य महिलां परस्य स्त्रियं । 'दुष्खेण लमिसु' क्लेशेण लम्बा । 'उप्पित्तं' व्यङ्गुलवदधिकवस्तमनिर्भूतं चरणं इति किम्बधिसौवत्सेन देयं । 'तारिसो वेव' यथा तथैवाप्राप्तेः पूर्वमनुत्पन्नहृदयः पश्चादपि तथैवात्पन्नहृदयत्वात्तापुत्रं प्रवृत्त्यते ॥११९॥

कहमधि तमंभयारे संपत्तो जत्थ तत्त्वं वा देसे ।

किं पावदि रइसुखं मीदो तुरिदो वि उल्लावो ॥१२०॥

'कहमधि तमंभयारे' केनचित्प्रकारेण परवञ्चनं ज्ञात्वा । अंभकारे संप्राप्तः । ता यत्र तत्र वा देसे, सुखमृहे सुखायतने, अटम्भां च किं प्राप्नोति ? रतिसौख्यं । प्रकाशे स्वाभिलषितानभयवास्तस्याः पश्यतो मुहुनि समयतके विगतमनोव्याकुलस्य सुखं भवति । नान्वयेति भावः । किं प्राप्नोति रतिसुखं जीवः सन् राज-पुण्येभ्यस्तस्य वा संबन्धिभ्यः । पश्यन्ति मां परे, बध्नन्ति मां, परपत्नीनिवासं भाषणं अपि तया त्वरित किं पुना रत्नम् ॥१२०॥

परमहिलं सेवंतो वेरं वचचंभकलहधननासं ।

पावदि रायङ्गुलादो तिस्से णीयल्लयादो वा ॥१२१॥

शा०—पर स्त्रीको देखकर कामान्ध पुरुष लज्जा त्याग कैसे प्रार्थना करता है कि यह मेरी होवे : उसमें उसे कुछ भी सुख नहीं उल्टे, पापका ही उपार्जन करता है ॥१२०॥

शा०—चिरकाल तक अभिलाषा करनेपर कदाचित् बड़े कष्टसे परस्त्रीका लाभ भी हो जाये तो उसके मिलनेसे पूर्व वह जैसा व्याकुल, अविश्वस्त और अतृप्त रहता है मिलनेपर भी वैसा ही रहता है ॥११९॥

शा०-टी०—किसी प्रकार दूसरोंको धोखा देकर अन्धकारमें किसी द्रुम्य घरमें या जंगलमें उसे पाकर भी क्या रति सुख पाता है वह कामी । प्रकाशमें कोमल शय्यापर मनकी व्याकुलताके अभावमें उस मारीके इच्छित अंगोंको देखते हुए सुख होता है, अन्यथा नहीं होता । किन्तु राज-पुण्यसे अथवा उस मारीके सम्बन्धिबोसि भयके होते हुए कि भूसे कोई डेसे नहीं, कोई बांधे नहीं, कि पर पत्नीके श्लथ निवास करता है, ऐसी स्थितिमें भाषण करनेकी भी जल्दी रहती है, रमण करनेकी सो बात ही क्या ? तब क्या सुख मिल सकता है ? ॥१२०॥

१. कृपा-भा० । २. अन्धकार-ज० । अन्धकारं भा०-मन्धकाळ ज० । ३. लीति वा संवा०-भा० नु० ।

'परबहिष्कृतो सेवको' परस्मिन्वं सेवमानः, वैरं, बधं, बन्धं, कलहं, घननाशं च प्राप्नोति 'राजमुक्तात्
तस्याः स्वजनाद्वा ॥९२१॥

अदि दा जषेइ मेहुणसेवा' प्यवंस दारम्मि ।

अदितिब्बं कइ पावं ण हुज्ज परदारसेविस्स ॥९२२॥

'कवि ता जषेइ' यदि तावज्जनयति मैथुनकर्मसेवा । कि ? पापं स्वभार्याया । अतितीव्र कथं पापं न
भवत् 'परदारसेविस्स' परस्त्रीसेविनः अदत्तादानमब्रह्मोति द्वी यतो दोषो ॥९२२॥

मादा धूदा भज्जा भगिणीसु परेण विप्ययम्मि क्खे ।

अइ दुक्खमप्यणो होइ तथा अण्णस्स वि णरस्स ॥९२३॥

'मादा धूदा' मातरि दुहितरि भगिन्यां परेण विप्रिये क्ले कर्मणि यथा दुःखमात्मनो भवति । तस्माज्ज्य-
स्यापि नरस्य दुःखं भवति । तस्मात्प्रादिविषये असद्व्यवहारे सति ॥९२३॥

एवं परजणदुक्खे णिरवेक्खो दुक्खवीयमज्जेदि ।

णीयं गोदं इत्थीणउंसवेदं च अदितिब्बं ॥९२४॥

'एवं परजणदुःखे' एवमन्यजनदुःखे निरपेक्षः परदाररतिप्रियो दुःखबीज संचिनोति । कि ? असद्वेदं
कर्म, नीचगौरवं, स्त्रीत्वं, नपुंसकत्वं च ॥९२४॥

जमणिच्छंती महिस्सं अवसं परिमुंजदे जह्मिच्छाए ।

तह य किलिस्सइ जं सो तं से परदारगमणफलं ॥९२५॥

'जमणिच्छंती महिस्सं' यन्नेच्छन्ती पुमासं स्त्रीत्वेन अवशा यथेच्छया परिमुच्यमाना यत्कल्पयति
तत्तस्या जन्मान्तराचरितपरदारगमनफलं ॥९२५॥

शा०—परस्त्रीका सेवन करने वालेके सब वंरी होते हैं । वह राजाके पुरुषोंसे अथवा उस
स्त्रीके सम्बन्धियोंसे बध, बन्धन, कलह और घन नाशका कष्ट पाता है ॥९२१॥

शा०—यदि अपनी पत्नीमें भी मैथुन सेवनसे पाप कर्मका बन्ध होता है तो परस्त्री सेवकी
अति तीव्र पापका बन्ध क्यों नहीं होगा; क्योंकि उसमें चोरी और अब्रह्म सेवन दो दोष हैं ॥९२२॥

शा०—अपनी माता, पुत्री और बहिनके प्रति यदि कोई अप्रिय व्यवहार करे तो जैसे हमें
दुःख होता है वैसे ही दूसरोंकी माता आदिके विषयमें असद व्यवहार करने पर दूसरों को भी दुःख
होता है ॥९२३॥

शा०—इस प्रकार दूसरोंके दुःखका ध्यान न रखनेवाला परस्त्रीगामी पुख दुःखके बीज
नीचगोच, स्त्रीवेद और नपुंसक वेदका अति तीव्र बन्ध करता है ॥९२४॥

शा०—इस जन्ममें जो स्त्री परबन्ध होकर ऐसे पुरुषके द्वारा, जिसे वह नहीं चाहती,
यथेच्छ भोगी जाती और कष्ट पाती है यह उसके पूर्वजन्ममें किये गये पर स्त्री-भजनका
फल है ॥९२५॥

महिलावेवविलंबी अं नीचं कुण्ड कर्मयं पुरिसो ।

तह वि ण पूरह इच्छा तं से परदारगमणफलं ॥९२६॥

'महिलावेवविलंबी' स्त्रीवेवविलम्बनापरः पुरुषो मनीषं कर्म करोति । तथापि न पूर्वते इच्छा तत्तस्य रंहत्वं परदारगमणफलम् ॥९२६॥

भज्जा भगिणी मादा सुदा य बहुएसु भवसयसहस्सेसु ।

अयसायासकरीओ होंति विसीला य जिच्छं से ॥९२७॥

'भज्जा भगिणी मादा' भार्या भगिनी माता सुता च बहुषु भवसहस्रेषु भवयः आवास कुर्वन्त्यो भवन्ति नित्यं विसीलास्तथा तस्य ॥९२७॥

होइ सयं पि विसीलो पुरिसो अदिदुग्मवो परभवेसु ।

पावइ वचवंचादि कलहं जिच्छं अदोसो वि ॥९२८॥

'होवि सयं पि' भवति स्वयमपि विसीलः, पुरुषो दुर्भंगश्च प्राप्नोति नित्यं च बचवन्धं आत्मा सकलहं च अदोषोऽपि ॥९२८॥

इहलोए वि महल्लं दोसं कामस्स वसगदो पचो ।

कालगदो वि य पच्छा कडारपिणो गदो जिरयं ॥९२९॥

'इहलोए वि महल्लं कडारपिणो' इहलोकेऽपि महान्तं दोषं प्राप्य कामवशाद्गतः । कालं कृत्वा परवान्तरके प्रविष्टः कडारपिङ्गः । वाच्यमत्राख्यायकम् ॥९२९॥

एदे सच्चे दोसा ण होंति पुरिसस्स बंधचारिस्स ।

तच्चिवरीया य गुणा हवंति बहुगा विरागिस्स ॥९३०॥

विशेषार्थ—पं० आशाचरजीने अपनी टीकामे 'अन्ये' कहकर इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार लिखा है—जो पुरुष उसे न चाहनेवाली नारीको बलपूर्वक यथेच्छ भोगता है और भोगते हुए भी सुख नहीं पाता, यह उसके परस्त्री भोगका फल है जो कष्टरूप है ॥९२५॥

ग०—स्त्रीका वेश धारण करनेवाला जो पुरुष (नपुंसक) नीच कर्म करता है, और यहाँ वहाँ काम क्रीड़ा करके भी सन्तुष्ट नहीं होता, उसका यह नपुंसकपना परस्त्रीगमनका फल है ॥९२६॥

ग०—परस्त्रीगामीकी भार्या, बहन, माता, पुत्री, लाखों जन्मोंमें अपयश और दुःख देनेवाली सदा श्लिषिचारिणी होती है ॥९२७॥

ग०—परस्त्रीगामी स्वयं भी परभवोंमें (आत्माभी जन्मोंमें) दुराचारी और अभागा होता है और श्लिषि अपराधके भी कलहपूर्वक नित्य बध, बन्ध आदिका कष्ट उठाता है ॥९२८॥

ग०—कामके बशीर्णत होकर कडारपिण इसी जन्ममें महान् दोषका भागी हुया । पीछे मरकर नरकमें गया ॥९२९॥

'बूढ़े लम्बे' धृते सर्वे दोषा य जगन्ति ब्रह्मचारिवः पुंसः । तद्विपरीतात्प नृणा जगन्ति बहवो विपरा-
मत्स्य ॥९९०॥

कामग्निना भगवन्मतेषु य इज्ज्वांतयं जवं सध्वं ।

पिच्छद् पिच्छयभूदो सीदीभूदो विगदरागो ॥९३१॥

'कामग्निना' कामाग्निना । जगन्त्यन्वयात्वेन ब्रह्मयानेन । ब्रह्मनामं जगत्सर्वं प्रकृते प्रेक्षकभूतः स्वयं
विपरीतभूतः । कः ? शीतरामः ॥९३१॥

इत्थिकथा इत्येतद्व्याख्यानायोलरः प्रबन्धः । कामकथा—

महिला कुलं सवासं पदिं सुदं मादरं च पिदरं च ।

विसयंधा अगर्जती दुःखसहस्ररम्भि पादेइ ॥९३२॥

महिला दुःखसमुद्रे पातयति विषवांषा अगर्जन्ती । कि ? कुलं सहवासिनः पति, सुतं, मातरं च
पितरं च ॥९३२॥

माणुष्णयस्स पुरिसवृद्धमस्स नीपो वि आरुहदि सीसं ।

महिलाभिस्सेणीए भिस्सेणीए च्च दीहदुमं ॥९३३॥

'माणुष्णयस्स' मानोन्नतस्य पुरुषद्वयस्य सिर आरोहति नीचपुरुषोऽपि महिलाभिः श्रेयिण्या निशेष्या
शीर्षमिव द्रुमं ॥९३३॥

पञ्चदमिषा माणा पुंसाणं होदि कुलबलघणेहिं ।

बलिएहिं वि अक्खोहा गिरीव लोणप्ययासा य ॥९३४॥

'पञ्चदमिषा माणा' भवन्ति मागाणि पुरुषाणां कुलबलघनेः । बलिभिः अशोभ्याणि गिरिवस्कोके
प्रकाशभूतानि च ॥९३४॥

विशेषार्थ—कठारपिण्डी कथा सोमदेवके उपासकाध्ययनमें आई है ।

शा०—ब्रह्मचारी पुरुषके ये सब दोष नहीं होते । प्रत्युत विरागीके इन दोषोंसे विपरीत
बहुनसे गुण होते हैं ॥९३०॥

शा०—विरागी मुकाम्नाकी तरह प्रज्वलित कामाग्निसे जलते हुए सब जगत्को एक
प्रेक्षकके रूपमें देखता है । अर्थात् वह केवल द्रष्टा ही रहता है उसके कष्टसे स्वयं पीड़ित नहीं
होता ॥९३१॥

जागे 'इत्थी कथा'—स्त्री कथाका व्याख्यान करते हैं—

शा०—विषयसे अच्छी हुई स्त्री किसीकी परबाह न करके अपने कुलको, साधमें रहने वाले
पति, पुत्र, माता और पिताको दुःखके समुद्रमें गिरा देती है ॥९३२॥

शा०—जैसे नलेनीके द्वारा छोटा आसमी भी ऊँचे वृक्ष पर चढ़ जाता है वैसे ही महिला
रूपी नलेनीके द्वारा नीच पुरुष भी मानसे उन्नत पुरुष रूपी वृक्षके सिर पर चढ़ जाता है अर्थात्
स्त्रीके कारण नीच पुरुषके द्वारा गर्वान्त मनुष्यका भी सिर नीचा हो जाता है ॥९३३॥

शा०—कुल बल और धनसे पुरुषोंका अहंकार सुमेखर्वतके समान जगत्में विख्यात है ।

ते तारिसया मास्य भोजयिष्यन्ति दुष्टप्रशिक्षादि ।

अहं कुतोऽपि निस्साहज्य इत्थी व्यदियत्ते वि ॥९३५॥

'ते तारिसया मास्य' ताणि क्वाकूदाणि यानाणि अन्नमन्वन्ते दुष्टस्वीनिः । यथा अङ्गुलेन निचर्चा कर्मते हस्तो अतिमलोऽपि ॥९३५॥

आसीय महाङ्गुदाहं इत्थिहेतुं जणम्मि बहुयाणि ।

अयजणयाणि जणाणं मसहरायाकणादीनि ॥९३६॥

'आसीय महाङ्गुदाणि' आसम्पहायुदाणि इति स्वीनिनिताणि अङ्गुनि अयजणयाणि यानां भारत-
रज्यायणादीनि ॥९३६॥

महिलासु पत्थि वीसंमपणवपरिचयकदण्णदा वेहो ।

सहुमेव परगयमणा ताजो सङ्कल्पि अहति ॥९३७॥

'महिलसु' स्त्रीषु न सति विज्ञानः प्रथमः, परिचयः, कुतज्ञता, स्नेहत्व । सहुया परपतयितास्ताः
स्वकुलं अहति ॥९३७॥

परिसस्स दु वीसंमं करेदि महिला बहुप्ययारेहिं ।

महिला वीसंमेदुं बहुप्ययारेहिं वि ञ सयका ॥९३८॥

'परिसस्स दु वीसंमं' पुरुषस्य विसम्भं अयमन्ति स्त्रियो बहुभिः प्रकारैर्गुणैर्विज्ञानं नेतुं न शक्यः
पुमांसः ॥९३८॥

अदिलहुयगे वि दोसे कदम्मि सुकदस्सइस्समगणती ।

इद अप्पाणं च कुलं धणं च ञासंति महिलाओ ॥९३९॥

'अदिलहुयगे वि दोसे' स्वल्पेऽपि दोषे कृते सुकृतगतमप्ययणम्य पति, आत्मानं, कुलं, धनं च नाशयन्ति
युक्तयः ॥९३९॥

उठे बलवान भी नहीं हिला सकते ॥९३४॥

भा०—किन्तु इस प्रकारके अहंकार भी दुष्ट स्त्रियोंके द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं । जैसे अङ्गुलसे अति बलवान हाथी भी बैठ दिया जाता है ॥९३५॥

भा०—स्त्रीके कारण इस जगत्में भारत रामायण आदिमें वर्णित अनेक महायुद्ध हुए जो लोकोक्ति लिये भयकारक थे ॥९३६॥

भा०—स्त्रियोंमें विश्वास, स्नेह, परिचय, कुतज्ञता नहीं है । वे पर पुरुषपर आसक्त होने-
पर शीघ्र ही अपने कुलको अथवा कुलीन भी पतिको छोड़ देती हैं ॥९३७॥

भा०—स्त्री अनेक प्रकारोंसे पुरुषमें विश्वास उत्पन्न करती हैं किन्तु पुरुष अनेक उपायोंसे
भी स्त्रीमें विश्वास उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता ॥९३८॥

भा०—धोड़ा-सा भी अपराध होनेपर स्त्री सैकड़ों उपकारोंको भुलाकर अपना, पतिका,

१. विलियादिज्यादि-भूकाण० । २. गायो-भा० वृ० ।

आसीवितो ष्व कुविदा ताजो हरेण विदुष्यावाजो ।

कूडो चंडो राया व ताजो कुम्बंति कुलपादं ॥९४०॥

'आसीवितो ष्व' आसीवित इव कुविदस्ता हरेण वीकितुं न शक्याः । पश्यन्वप्यो राजेव ताः कुम्बंति कुलपादं ॥९४०॥

अकदम्नि वि अचराचे ताजो वीसत्वमिच्छमाणीजो ।

कुम्बंति बहं पदिषो मुदस्त ससुरस्त विदुषो वा ॥९४१॥

'अकदम्नि वि' अकदोऽपि । 'अचराचे' अपराचे । 'ताजो' ताः । 'वीसत्वमिच्छमाणीजो' स्वेच्छामपुत्रि-
मिच्छामन्त्याः । 'पदिषो बहं कुम्बंति' पत्युर्बहं कुम्बंति, 'मुदस्त' युतस्त, 'ससुरस्त' स्वसुरस्यापि । 'विदुषो
वा' विदुषां बहं कुम्बंति ॥९४१॥

उपकारं उपकारं गुणं व सुहृत्कालं च जेहो वा ।

अधुरवचनं च महिला परमादहिदया च जितेह ॥ ९४२॥

'उपकारं' उत्कारं सम्मानं । 'उपकारं' उपकारं, 'गुणं' कुलकपयीवनादिकं गुणं च पत्युः । 'सुहृ-
त्कालं' सुखेन पोषणं च । 'जेहो वा' स्नेहं च 'अधुरवचनं च' अधुरवचनं च । 'महिला' युवतिः । 'परमादहि-
दया' परपुत्रानुरक्तचित्ता । 'च जितेह' न शिष्ययति ॥९४२॥

साकेदपुराचिबदी देवरदी रज्जुसुखपम्भो ।

बंगुलहेडुं कूडो जदीए रसाए देवीए ॥९४३॥

'साकेदपुराचिबदी' साकेदपुरस्य स्वामी । 'देवरदी' देवरतिसमितः । 'रज्जुसुखपम्भो' राज्येन
लोक्येन च नितरां भ्रष्टः । 'बंगुलहेडुं' पङ्कलमितं गन्धर्वप्रवीणेन पङ्कना सह वीचिबुजमिच्छामन्त्या । 'कूडो'
विशिष्टः । 'जदीए' नद्या । 'रसाए देवीए' रसतानामधेयया देव्या ॥९४३॥

कुलका और धनका नाश कर देती है ॥९३९॥

वा०—ऋद्ध सर्पकी तरह उन स्त्रियोंको दूरसे ही त्यागना चाहिए । रुष्ट प्रचण्ड राजाकी तरह वे कुलका नाश कर देती हैं ॥९४०॥

वा०—वे स्वच्छन्द प्रवृत्तिकी इच्छासे बिना किसी अपराधके पति, पुत्र, ध्वसुर अथवा पिताका वध कर देती हैं ॥९४१॥

वा०—परपुरुषमें जिसका चित्त लग जाता है वह स्त्री अपने पतिके, सम्मान, उपकार, कुल, रूप, यौवन आदि गुण, स्नेह, सुखपूर्वक लालन-पालन और मधुर वचनोंका भी विचार नहीं करती ॥९४२॥

वा०—अयोध्या नगरीका स्वामी देवरति राज्य सुखसे बञ्चित हो गया उसको रस्ता नामकी रानीने गान-विद्यामें प्रवीण एक कण्ठे व्यक्तित्पर आसक्त होकर अपने पतिको नदीमें फेंक दिया ॥९४३॥

ईसालुवाए गोपवदीए भामकूटधुविया चेष ।

छिण्णं पइदो सीसं मण्णेण पासे सीहबलो ॥९४४॥

'ईसालुवाए' ईश्याविया । 'गोपवदीए' गोपवदीयामयेवा तथा । 'भामकूटधुविया चेष' भामकूटस्य पुहितुः । 'सीसं छिण्णं' सिरसिच्छेदनं । 'पइदो' ग्रहणस्तथा । 'मण्णेण' सत्तया । 'पासे' पासवित्ते । 'सीहबलो' सिंहबलसंज्ञितः ॥९४४॥

वीरमदीए सुलमदचोरदुट्टोड्डिगाए वाजिवओ ।

पइदो दसो य तथा छिण्णो ओट्टोसि आलुबिदो ॥९४५॥

'वीरमदीए' वीरपतीसंज्ञिकया । 'सुलमदचोरदुट्टोड्डिगाए' सुलमदचोरकण्ठावरया । 'वाजिवओ' वजि-
कसुतः । 'पइदो' ग्रहणः । 'दसो य' दसमयः । 'तथा' तथा । 'छिण्णो ओट्टोसि' ओच्छेदकैःजेन कृतः इति
य । 'आलुबिदो' मणितः ॥९४५॥

वग्घविसचोरअग्गीजलमत्तगयकहसप्पसत्तु ।

सो वीसंभं गच्छदि वीसंभदि ओ महिलियासु ॥९४६॥

'वग्घविसचोरअग्गीजलमत्तगयकहसप्पसत्तु' व्याघ्रं, विधे, चोरे, अग्नी, जले, मत्तगये, कृष्णसर्पे,
सानी य । 'सो विसंभं गच्छदि' स विसंभं गच्छति । 'विसंभदि ओ महिलियासु' विसंभयः करोति
वनितासु ॥९४६॥

वग्घादीया एदे दोसो ज जरस्स तह करेज्जण्ह ।

अं कुण्ह महादोसं दुट्टा महिला मजुस्सस्स ॥९४७॥

पा०—ईश्यालु गोपवतीने भामकूटकी पुनीका सिर काट दिया और सिंहबली कीछमे
आला भोंक दिया ॥९४४॥

बिसेवारथं देवरति और सिंहबली कया बृहत्कथाकोशमें ८५-८६ नम्बरपर हैं । उसमें
गोमती नाम है ॥९४४॥

पा०—वीरमती एक चोरसे फँसी थी । उसे सूली दी गई तो वह उससे मिलने गई ।
चोरने कहा—अपने मुखका पान दो । इस बहाने चोरने उसका ओठ काट लिया । उसने कहा
कि मेरे पति दत्तने मेरा ओठ काट लिया ॥९४५॥

बिसेवारथं—बृहत्कथाकोशमें वीरवतीकी कथाका क्रमांक ८७ है ॥९४५॥

पा०—ओ स्त्रियोंका विश्वास करता है वह व्याघ्र, विष, चोर, आग, पानी, मत्त हाथी,
कृष्ण सर्प, और शत्रुका विश्वास करता है अर्थात् स्त्रीपर विश्वास ऐसा ही भयानक है जैसा
इनपर विश्वास करना भयानक है ॥९४६॥

१.भामकूटधुविया सीसं । छिण्णं पइदो तथ मण्णेण पासम्मि' ।-मु० ।

२. गोपवदीए

गोपवती' -मु० । गोपवदीए गोपवती संज्ञया-सूचारा० । ३. वीरमती-पा० ।

व्याघ्रादिषु विश्वासनामादायीषो विश्वासचमनं वनितास्त्रिभिः कवचमुत्तरपाथा । 'कृष्णदीपा' व्याघ्र-
विषाचयः पूर्वमुपरिदिष्टाः । 'दीपं' दीपं । 'नरत्नं' नरत्नम् । 'न करिष्यन्तु' न कुर्वुः । 'अं कुम्भे विष्णोर्ध्वे'
अं करोति मङ्गलं दीपं । 'बुद्धय नहिन्ना' बुद्ध्या वनिता । 'कनुरत्नम्' मनुष्यस्य ॥९४७॥

शतसकलमदीरोज्य ताजो जिष्वांषि कलुसहिदयाजो ।

धनहरणकदमदीजो चोरोज्य सकुजगुरुयाजो ॥९४८॥

'शतसकलमदीरोज्य' श्रापदृकाकस्य नच इव । 'ताजो' ताः । 'जिष्वांषि' मित्यमपि । 'कलुस-
हिदयाजो' कलुसहृदयाः । स्त्रीषु हृदयसम्बन्धेन पितृमुच्यते । नदीष्वभ्यन्तरं । रमेण, हंसेन, मोहेन, ईर्ष्याया,
अपुत्रया, मायया वा कलुषीकृतमेव चित्तं ताता । 'चोरोज्य' चोर इव । 'सकुजगुरुयाजो' स्वकार्ये पुन्यः ।
'धनहरणकदमदीजो' वनापहरणे कृतमुद्रयः । चौरा अपि कवचस्माभिरिष्टमेतदीयनात्प्रसाङ्गतं भवतीति कृत-
मुद्रयः । ता अपि मयुरवचनेन रतिस्त्रीशानुकूलतया वा पुण्यस्य इव्यमाहृतुं मुच्यताः ॥९४८॥

रोगो दारिद्र्यं वा जरा व ज उद्वेह जाव पुरितस्स ।

ताव पिजो होदि चरो कुलपुत्रीषु वि महिलाषु ॥९४९॥

'रोगो दारिद्र्यं वा' व्याधिर्वारिद्र्यं वा । जरा वा । 'ज उद्वेह' न ङीकते यावत्पुण्यं । 'ताव पिजो होदि
चरो' तावत्प्रियो भवति नरः । 'कुलपुत्रीषु वि' कुलपुत्र्या अपि । महिलाषु काम्नायाः । कुलपुत्रीषु वाम्याः ।
किमस्ति साम्यो हि प्रायेण कुलपुत्र्यः पतिनेषु देवतेति सम्यगनामाः प्रियं त्यजन्तीति ॥९४९॥

जुष्णो व दरिद्रो वा रोगी सो चेव होइ से वेसो ।

जिष्पीलिजोव्य उच्छू मालाव मिलाय गदमंगा ॥९५०॥

व्याघ्रादिषु विश्वास करनेकी अपेक्षा स्त्रियोंमें विश्वास करना अधिक खतरनाक है यह
कहते हैं—

शा०—पूर्ववाचामें कहे गये व्याघ्र आदि मनुष्यका उतना अहित नहीं करते, जितना
महान् अहित दुष्ट स्त्री करती है ॥९४७॥

शा०—टी०—बर्षाकालकी नदियोंकी तरह स्त्रियोंका हृदय भी नित्य कलुषित रहता है ।
स्त्रियोंके पक्षमें हृदय सन्दका अर्थ चित्त है और नदियोंके पक्षमें अभ्यन्तर है । राग, द्वेष, मोह,
ईर्ष्या, परनिन्दा अथवा मायाचा'से स्त्रियोंका चित्त सदा कलुषित रहता है । चोरकी तरह वे
भी अपना कार्य करनेमें तत्पर रहती हैं और उनकी बुद्धि मनुष्यका धन हरनेमें रहती है । चोर
भी यही विचारते रहते हैं कि कैसे हम इनका धन हरण करें । स्त्रियाँ भी मोठे बचनसे अथवा
रतिस्त्रीशानुमें अनुकूल बनकर पुरुषका इच्छु हरनेमें तत्पर रहती हैं ॥९४८॥

शा०—कुलीन महिलाएँ प्रायः पतिको ही देवता मानकर अपने प्रियको छोड़ देती हैं ।
किन्तु कुलीन नारियोंका भी मनुष्य तभी तक प्रिय रहता है जब तक उसे रोष या दारिद्र्य,
बुद्ध्या नहीं सताता ॥९४९॥

'सुखो' सुखो वा 'सिद्धि' दरिद्रः । 'रोषिणी' व्याधितः । 'श्री वैश' च एवं सुखत्वे वसित्वे नीरोमत्वे वा नः प्रियः स एव 'होषि' मयति । 'शि' उल्काः । 'श्री' श्रेष्ठः । 'श्रीश्रीश्रीश्रीश्री' शिशीकित इव 'उच्छ' इतुः । 'मालाव निरालव मयसं' मालेव म्माला मयसम्भा । अणुत्तरस इतुः बोनादहितनिर्वन्मालाव न मया-
श्रिया । यौवनं, वनं, उक्तिवच सुषोऽसिद्धवस्तपराये वीणाशालिन्धते स्वीयिः ॥९५०॥

महिला पुरिसमवचनाय येव बंधव निषत्तिकमरोहिं ।

महिला पुन पुरिसकदं जानइ कयहं अचवनाय ॥९५१॥

'महिला पुरिसमवचनाय' वनिता पुरुषमनासरेणैव वचन्यति । निष्ठत्या कपटतया च स्वीयिः कृतां निष्ठति वक्षणां सटतां च न जानन्ति पुमांसः । 'महिला पुन' वामलोचना पुनः 'अचवनि' जानाति । किं ? कपटवत् 'पुरिसकदं' पुरुषेण कृतं । 'अचवनाय' अचवना औदासीन्येण अन्वेषेणैवित् वाच्य ॥९५१॥

मरो ह्येवं मयते प्रियोऽभवेतस्या इति न' च सा इत्याचष्टे—

जह जह मण्णेइ जरो तह तह परिमवइ तं जरं महिला ।

जह जह कामेइ जरो तह तह पुरिसं विमाणेइ ॥९५२॥

'जह जह मण्णेइ जरो' यथा यथा मानयति नरः तथा तथा परिमयति तं नरं मुचति । 'जह जह कामेवि जरो' यथा यथा कामयते मनुष्यस्तथा तथा 'पुरिसं विमाणेवि' तथा तथा पुरुषं विमानयति ॥९५२॥

मरो मउज्व जिच्चं पि ताउ मदर्भिमलाजो महिलाजो ।

दासेव सगे पुरिसे किं पि य न मणति महिलाजो ॥९५३॥

'मरो मउज्व' मरागज इव । 'जिच्चं' निचं । 'ताजो मदर्भिमलाजो' मदेन विस्तृता मुचतयः । 'मरो च सगे पुरिसे' दासे वा स्वपुरुषे वा । 'किं पि' किञ्चिदपि विशेषजातं । 'न मणति' नैव गणयन्ति । कुलीनोऽयं मान्धो अर्था स्वामी मम । दास्याः पुत्रोऽयं अचन्यः श्लमस्य स्वामिनीति विवेकं (न) करोति ॥९५३॥

शा०—टी०—गुवावस्थामे, धनी अवस्थामे अथवा नीरोग अवस्थामे जो मनुष्य स्त्रियोंको प्रिय होता है वही मनुष्य बूढ़, दरिद्र अथवा रोगी होने पर रस निकाली हुई ईसकी तरह अथवा गन्ध रहित मलिन मालाकी तरह अप्रिय होता है । अर्थात् रस निकाली हुई ईस और शोभा रहित गन्धहीन माला जैसे अप्रिय होती है वैसे ही यौवन धन और शक्ति पुरुष की विशेषताएँ हैं, उनके न रहने पर उसे स्त्रियाँ पसन्द नहीं करती ॥९५०॥

शा०—स्त्री पुरुषको छल कपटके द्वारा अनायास ही ठग लेती है, पुरुष स्त्रियोंके छल कपटको जान भी नहीं पाता । किन्तु पुरुषके द्वारा किये गये कपटको स्त्री तुरन्त जान लेती है उमे उसके किये कुछ भी कष्ट उठाना नहीं होता ॥९५१॥

पुरुष समझता है कि मैं इसको प्रिय हूँ किन्तु स्त्री ऐसा नहीं समझती, यह कहते हैं—

शा०—जैसे जैसे पुरुष स्त्रीका आदर करता है वैसे वैसे स्त्री उसका निरादर करती है । जैसे जैसे मनुष्य उसकी कामना करता है वैसे वैसे वह पुरुषकी अबज्ञा करती है ॥९५२॥

शा०—मत्त हाथीकी तरह स्त्रियाँ बंधके उन्मत्त रहती हैं । वे अपने दासमें और पतिमें कुछ

अविदुस्वरगदहिदना तावो बग्धीव दुष्टहिदयावो ।
पुरिसस्त ताव सपू व सदा पावं विचिंतति ॥९५४॥

'अविदुस्वरगदहिदना तावो' अनिमूर्त परमत हृदयनासागिति अनिमूर्तपरमसहृदयता भवति । अविचारितपरमव्यक्तचित्ततायोः । 'बग्धीव दुष्टहिदयावो' दुष्टहृदयनासा अकृतेऽप्यपकारे यथा व्याघ्री परं मारुचिपु-
मेव कृतचित्तेति दुष्टहृदयता एवमिमा भवति । 'पुरिसस्त ताव' पुंस्यस्य तावत् । 'सपू व सदा पावं विचिंतति'
सपुत्रिव सदा पापमेव अनुभवेन वेतति कुर्वन्ति । यथा यो रिपुः कश्चित्कस्याचित्सर्वथा धनमस्य विनश्यतु,
विषयोऽस्य भवन्तिवति चित्तं करोति तथैव ता अपि ॥९५४॥

संज्ञाव जरेसु सदा तावो हुंति स्रजमेधराभावो ।
बादोव महिलियाण हिदयं अदिचंचलं निचवं ॥९५५॥

'संज्ञाव जरेसु सदा तावो हुंति' संज्ञा इव जरेसु सदा ता भवति । 'स्रजमित्तरभावो' अल्पकाल-
रागाः । अस्थिररागता नाम दोषः प्रकटितः । यथा संघ्याया रसता विनाशिनी । 'महिलियाणं हिदयं अदि-
चंचलं निचवं' स्त्रीणां हृदय अतिचञ्चलं नित्यं । किमिव ? 'बादो व' वात इव ॥९५५॥

जावइयाइं तपाइं बीचीओ वालिगाव रोमाइं ।
लोए हवेज्ज तपो महिलाचिंताइं बहुगाइं ॥९५६॥

'जावइयाइं' यावन्ति तुषानि, 'बीच्यः', बालुकाः, 'रोमाणि' च जगति ततो पुषतीना चिन्ता
बह्व्यः ॥९५६॥

आगास भूमि उदधी जल मेरू बाउजो वि परिमाणं ।
माइं सक्का ण पुजो सक्का इत्थीण चिंताइं ॥९५७॥

भी अन्तर नहीं करतीं । यह मेरा मान्य कुलीन पति है और यह दासीका पुत्र नीच है, मैं इसकी
स्वामिनी हूँ यह भेद नहीं करती ॥९५३॥

भा०—टी०—उनका चित्त निरन्तर पर पुरुषमें रहता है । तथा व्याघ्रीकी तरह उनका
हृदय दुष्ट होता है । जैसे व्याघ्री कोई अपकार न करने पर भी दूसरेको मारनेका ही विचार
रखती है उसी तरह ये स्त्रियां भी होती हैं । वे शत्रुके समान सदा पुरुषके अधुभका ही चिन्तन
करती हैं । जैसे किसीका कोई शत्रु सदा चित्तमें सोचता रहता है—इसका धन नष्ट हो जाये,
इस पर विपत्तियां आयें, जैसे ही स्त्रियां भी सदा बुरा विचारा करती हैं ॥९५४॥

भा०—सन्ध्याकी तरह स्त्रियोंका राग भी अल्प काल रहता है । जैसे सन्ध्याकी लालिमा
विनाशीक है वैसे ही स्त्रियोंका अनुराग भी विनाशीक है । इससे अस्थिर रागता नामक दोष
प्रकट किया है । तथा महिलाओंका हृदय वायु की तरह सदा अति चंचल होता है ॥९५५॥

भा०—लोकमें जितने तुष हैं, (समुद्रमें) जितनी लहरें हैं, बालुके जितने कण हैं तथा
जितने रोम हैं, उनसे भी अधिक स्त्रियोंके मनोविकल्प हैं ॥९५६॥

'आकाशकी भूमि' आकाशस्य भूमेरुदवेर्बलस्य, श्रेयोदाशोष्य परिमाणवन्ति । स्त्रीणां चित्तं पुनर्नाशु न शक्यमस्ति ॥९५७॥

चिह्नंति जहा न चिरं विज्जुज्जलमुद्बुदो व उक्का वा ।
तह न चिरं महिलाए एक्के पुरिसे हवदि पीदी ॥९५८॥

'जहा न चिरं चिह्नंति' यथा न चिरं तिष्ठन्ति विद्युतः । जलमुद्बुदा उक्काश्च तथा वनितानां न कस्मिंश्चित्पुरुषे प्रीतिचिह्नं तिष्ठति ॥९५८॥

परमाणू वि कर्हंचिवि आगच्छेज्ज गहणं मणुस्सस्स ।
न य सक्का वेत्तुं जे चित्तं महिलाए अदिसण्हं ॥९५९॥

परमाणुरपि कर्वाविन्मनुष्यस्य ग्रहणमाण्डले । वनितानां चित्तं पुनः ग्रहीतुं न शक्यमस्ति-
सूक्तं ॥९५९॥

कुबिदो व किण्हसप्पो दुट्ठो सीहो गजो मदगलो वा ।
सक्का हवेज्ज वेत्तुं न य चित्तं दुट्ठमहिलाए ॥९६०॥

'कुबिदो व' कुपितः क्रुण्यसर्पः दुष्टः सिंहो, मद्यजो वा ग्रहीतुं शक्यते । न तु ग्रहीतुं शक्यते दुष्ट-
वनिताचित्तम् ॥९६०॥

सक्कं हविज्ज दट्ठुं विज्जुज्जोएण रुवमच्छिम्मि ।
न य महिलाए चित्तं सक्का अदिचंचलं जादुं ॥९६१॥

'सक्कं हवेज्ज' विद्युद्घातेन अक्षित्वा रूपं द्रष्टुं शक्यं न पुनर्युवतिचित्तमतिचंचलं अवगन्तुं
शक्यम् ॥९६१॥

या०—आकाशकी भूमि, समुद्रके जल, सुमेरु और वायुका भी परिमाण मापना शक्य है किन्तु स्त्रियोंके चित्तका मापना शक्य नहीं है ॥९५७॥

या०—जैसे विजली, पानीका बुलबुला और उल्का बहुत समय तक नहीं रहते, वैसे ही स्त्रियोंकी प्रीति एक पुरुषमें बहुत समय तक नहीं रहती ॥९५८॥

या०—परमाणु भी किसी प्रकार मनुष्यकी पकड़में आ सकता है । किन्तु स्त्रियोंका चित्त पकड़में आना शक्य नहीं है वह परमाणुसे भी अति सूक्ष्म है ॥९५९॥

या०—क्रुद्ध क्रुण्य सर्प, दुष्ट सिंह, मद्योन्मत्त हाथीको पकड़ना शक्य हो सकता है किन्तु बुद्ध स्त्रीके चित्तको पकड़ पाना शक्य नहीं है ॥९६०॥

या०—विजलीके प्रकाशमे नेत्रमें स्थित रूपको देखना शक्य है किन्तु स्त्रियोंके अति चंचल चित्तको जान लेना शक्य नहीं है ॥९६१॥

'अनुवचनार्थं गुणवचनेहि यं चिचं हरति पुरिसस्त ।
 मादा व जाव ताओ रचं पुरिसं न यार्णति ॥९६२॥
 "अलिण्णिं हसियवचनेहिं अलियरुयनेहिं अलियसवहेहिं ।
 पुरिसस्त चळं चिचं हरति कवडाओ महिलाओ ॥९६३॥
 महिला पुरिसं वयनेहिं हरदि पहणदि य पावहिदएण ।
 वयने अमयं चिट्ठदि हियए य विसं महिलियाए ॥९६४॥

'महिला पुरिसं वचनेहिं' वनिता पुरुषं वचनेर्हरति । हस्ति च पापेन हृदयेन । वान्धे मयु तिष्ठति ।
 हृदये विचं युवतीनाम् ॥९६४॥

^३तो जाणित्ठम रचं पुरिसं चम्मट्टिमंसपरिसेसं ।
 उदाहंति वचंति य वडिसामिसलममच्छं व ॥९६५॥
 उदए पवेज्ज हि सिला अग्गी ण इहिज्ज सीयलो होज्ज ।
 ण य महिलाण क्काई उज्जयभावो णरेसु हवे ॥९६६॥

'उदए पवेज्ज सु' उदके तरेदपि शिला, अग्निरपि न वदेत्, धीतलो वा भवेत् । नैव वनितानां कथा-
 विस्मरेद्यु ऋजु भवति मनः ॥९६६॥

उज्जयभावमि असणयमि क्विच होदि तासु वीसंभो ।
 विस्संभमि असते का होज्ज रदी महिलियासु ॥९६७॥

शा०—जब तक वे पुरुषको अपनेमें अनुरक्त नहीं जानतीं तब तक वे पुरुषके अनुकूल वर्तन-
 के द्वारा तथा प्रशंसा परक वचनोंके द्वारा पुरुषके मनको उसी प्रकार आकृष्ट करती हैं जैसे माता
 बालकके मनको आकृष्ट करती है ॥९६२॥

शा०—बनावटी हास्य वचनोंसे, बनावटी रुदनसे, झूठी शपथोंसे कपटी स्त्रियाँ पुरुषके
 चंचल चित्तको हरती हैं ॥९६३॥

शा०—स्त्री वचनोंके द्वारा पुरुषको आकृष्ट करती है और पापपूर्व हृदयसे उसका घात
 करती है । स्त्रीके वचनोंमें अमृत भरा रहता है और हृदयमें विष भरा होता है ॥९६४॥

शा०—जब वे जानती हैं कि हमारेमे अनुरक्त पुरुषके पास काम हड्डी और मांस ही शेष है
 तो उसे बंधोंमें लगे मांसके लोम्बे फंसे मत्स्यकी तरह संताप देकर मार डालती हैं ॥९६५॥

शा०—शिला पानीमें तिर सकती है । आग भी न जलाकर धीतक हो सकती है किन्तु
 स्त्रीका मनुष्यके प्रति कभी भी सरल भाव नहीं होता ॥९६६॥

शा०—सरल भावके अभावमें कैसे उनमें विश्वास हो सकता है । और विश्वासके अभावमें
 स्त्रियोंमें प्रेम कैसे हो सकता है ॥९६७॥

'उक्तवशात्प्रति' मन्त्रभावे असति कर्म भवति तासु विस्मयः । असति विस्मये का वनितासु रतिः ॥९६७॥

मच्छिञ्ज समुद्रस्स वि पारं पुरिसो तरिनु औचबलो ।

मायाजलमहिलोदधिपारं ण य सक्कदे गंतुं ॥९६८॥

'मच्छिञ्ज' मच्छेत् समुद्रस्य अपि परं पारं दीर्घा महावकः । मायाजलवनितोदधिपारं नैव गन्तुं शक्नोति ॥९६८॥

रदणाउला सबग्धावगुहा याहाउला च रम्मणदी ।

मधुरा रमणिज्जावि य सदा य महिला सदोसा य ॥९६९॥

'रदणाउला' रत्नसंकीर्णा सन्धाप्रा गृहेव रम्या नवी प्राहाकुलेव मधुरा रम्या शठा सदोषा च वनिता ॥९६९॥

बिटंठपि ण सम्भावं पडिज्जदि गियडिमेव उदेदि ।

गोवाणुल्लुक्कमिच्छी करेदि पुरिसस्स कुलजावि ॥९७०॥

'बिटंठपि' दृष्टमपि न प्रतिपद्यते सद्भावं निकृतिमेवोपन्यस्यति ॥९७०॥

पुरिसं वचम्वणेदिपि होदि बहुगा गिरुत्तिवादम्मि ।

दोसे संघादिदि य होदि य इत्थी मणुस्सस्स ॥९७१॥

'पुरिसं वचम्वणेदिपि' पुरुषं वचमपनयतीति वधूरिति निरूप्यते । मनुष्यस्य दोषान्सहृतात्करोतीति स्त्रीति नियमते ॥९७१॥

शा०—महाबलशाली मनुष्य समुद्रको भी पार करके जा सकता है । किन्तु मायारूपी जलसे भरे स्त्रीरूपी समुद्रको पार नहीं कर सकता ॥९६८॥

शा०—रत्नोंसे भरी किन्तु व्याघ्रके निवाससे युक्त गुफा और मगरमच्छसे भरी सुन्दर नदीकी तरह स्त्री मधुर और रमणीय होते हुए भी कुटिल और सदोष होती है ॥९६९॥

शा०—दूसरेने स्त्रीमें दोष देखा हो तो भी स्त्री यह स्वीकार नहीं करती कि मेरेमें यह दोष है । प्रत्युत यही कहती है कि मेरा यह दोष नहीं है या मैंने ऐसा नहीं किया है । इस विषयमें हटान्त कहते हैं—जैसे गोह जिस भूमिको पकड़ लेती है, बलपूर्वक छुड़ाने पर भी उसे नहीं छोड़ती । उसी प्रकार स्त्री भी अपने द्वारा गृहीत पदको नहीं छोड़ती । अन्य भी अर्थ टीकाकारोंने किया है—जैसे गोह पुरुषको देखकर उससे अपनेको छिपाती है उसी प्रकार स्त्री भी पुरुषको देखकर अपनेको छिपाती है कि यह भूसे न देख सकें । अथवा दूसरेने कोई अच्छा कार्य किया और स्त्रीने उसे देखा भी, फिर भी वह उसे स्वीकार नहीं करती, बल्कि व्यंग रूपसे उसको बुरा ही कहती है ॥९७०॥

शा०—स्त्री वाचक शब्दोंकी निरुक्तिके द्वारा भी स्त्रीके दोष प्रकट होते हैं—पुरुषका वध करती है इसलिये उसे वधू कहते हैं । मनुष्यमें दोषोंको एकत्र करती है इसलिये स्त्री कहते हैं ॥९७१॥

वारिसओ अरिष अरी अरस्स अण्णोपि उच्चदे ञारी ।

पुरिसं सदा पमच्चं कुण्णदिपि य उच्चदे पमदा ॥९७२॥

'वारिसओ' तावुण्यो नरस्य नारिरस्सीति नारीत्युच्यते । पुर्वं सदा प्रमत्तं करोतीति प्रमथेति निश्चयते ॥९७२॥

'गल्प लायदि पुरिसस्स अणत्थं जेण तेण विलया सा ।

जोजेदि णरं दुक्खेण तेण जुवदी य जोसा य ॥९७३॥

'अवल्लि होदि जं से ण ददं हियम्मि धिदिबलं अत्थि ।

कुम्मरणोपायं जं अणयदि तो उच्चदि हि कुमारी ॥९७४॥

'आलं जणेदि पुरिसस्स महन्लं जेण तेण महिला सा ।

एयं महिलाणामाणि होति असुमाणि सच्चाणि ॥९७५॥

णिलओ कलीए अलियस्स आलओ अविणयरस्स आवासो ।

आयसस्सावसघो महिला मूलं च कलहस्स ॥९७६॥

'विलओ कलीए' कलेनिलयः । व्यलीकस्यालयः । अविनयस्याकरः । आयासस्यावकाशः । कलहस्स च मूलं युवतिः ॥९७६॥

सोगस्स सरी वेरस्स खणी णिवहो वि होइ कोहस्स ।

णिचओ णियडीणं आसवो महिला अकिसीए ॥९७७॥

'सोगस्स सरी' शोकनिम्नगाया नदी । वेरस्य खनिः । निवह कोपस्य । निचयो निङ्गतीनां । अकीर्ताराधयो युवतिः ॥९७७॥

गा०—मनुष्यका ऐसा 'अरि' शत्रु दूसरा नहीं है इसलिए उसे नारी कहते हैं । पुरुषको सदा प्रमत्त करती है इसलिये उसे प्रमदा कहते हैं ॥९७२॥

गा०—पुरुषके मलेमें अनर्थ लाती है । भयवा पुरुषको देखकर विलीन होती है इसलिए विलया कहते हैं । पुरुषको दुःखसे योजित करती है इससे युवती और योषा कहते हैं ॥९७३॥

गा०—उसके हृदयमें धैर्यरूपी बल नहीं होता अतः वह अबला कही जाती है । कुमरणका उपाय उत्पन्न करनेसे कुमारी कहते हैं ॥९७४॥

गा०—पुरुष पर आल—दोषारोप करती है इसलिए महिला कहते हैं । इस प्रकार स्त्रियोंके सब नाम अधुम होते हैं ॥९७५॥

गा०—स्त्री रागद्वेषका घर है । असत्यका आश्रय है । अविनयका आवास है, कष्टका निकेतन है और कलहका मूल है ॥९७६॥

गा०—शोकको नदी है । वेरकी खान है । क्रोधका पुंज है । मायाचारका ढेर है । अपयशका आश्रय है ॥९७७॥

पासो अत्थस्स ख्खो देहस्स य दुग्गादीपमग्गो व ।
आवाहो य अजत्थस्स होइ पहवो य दोसाणं ॥९७८॥

'पासो अत्थस्स' अर्थस्य नाशः । देहस्य क्षयः । दुर्गतेर्मात्रिः । अनर्थस्य कुल्या । दोषाणा प्रभवः ॥९७८॥

महिला विग्घो धम्मस्स होदि परिहो य मोक्षमग्गस्स ।
दुक्खाण य उप्पत्ती महिला सुक्खाण य विपत्ती' ॥९७९॥

'महिला विग्घो' वनिता विग्घो भवति । 'धम्मस्स' धर्मस्य । 'परिहो' मोक्षमार्गस्य । दुःखानां बोत्पत्तिः । सुख्यानां च विपत्तिः ॥९७९॥

पासो व बंधिदुं जे छेतुं महिला असीव पुरिसस्स ।
सिन्नं व विधिदुं जे पंकोव निमज्जिदुं महिला ॥९८०॥

'पासो व बंधिदुं' बंधं पाश इव बंधितुं । सुगमा गाथा इति नावरो व्याख्याने ॥९८०॥

खलो इव भिनुं जे होइ पवोदुं तद्दा गिरिजदी वा ।
पुरिसस्स खुप्पदुं कइमोव मचुच्च भरिदुं जे ॥९८१॥
अग्गीव य डहिदुं जे मदोव पुरिसस्स झुज्जिदुं महिला ।
महिला णिकचिदुं करकचोव कइव पउलेदुं ॥९८२॥
पाडेदुं फरइ वा होदि तह झुम्मरो व ताडेदुं ।
अवहणणं पि य चुण्णेदुं जे महिला मणुस्सस्स ॥९८३॥

गा०—घनका नाश करने वाली है । शरीरका क्षय करती है । दुर्गतिका मार्ग है । अनर्थके लिए प्याठ है और दोषोंका उत्पत्ति स्थान है ॥९७८॥

गा०—स्त्री धर्ममें विघ्नरूप है । मोक्षमार्गके लिए अर्गला (साकल) है, दुःखोंकी उत्पत्तिका स्थान है और सुखोंके लिए विपत्ति है ॥९७९॥

गा०—स्त्री पुरुषको बाँधनेके लिए पाशके समान है । मनुष्यको काटनेके लिए तलवारके समान है । बाँधनेके लिये भालंके समान है और डूबनेके लिये पकके समान है ॥९८०॥

गा०—स्त्री मनुष्यके भेदनेके लिए धूलके समान है । ससार रूपी समुद्रमे गिरनेके लिए नदीके समान है । खपानेके लिए दलदलके समान है । मारनेको मृत्युके समान है ॥९८१॥

गा०—जलानेको आगके समान है । मदहोश करनेके लिए मदिराके समान है । काटनेके लिए धारेके समान है । पकानेके लिए हलवाईके समान है ॥९८२॥

गा०—विदारण करनेके लिए फरसाके समान है । तोड़नेके लिए मुद्गरके समान है, चूर्ण करनेके लिए लुहारके घनके समान है ॥९८३॥

चंदो हविज्ज उण्हो सीदो सूरुो वि षड्ढमागासं ।
 ण य होज्ज अदोसा महिया वि कुलबालिया महिला ॥९८४॥
 एए अण्णेय बहुदोसे महिलाकदे वि चितयदो ।
 महिलाहितो विचिचं उब्बियदि विसग्गिसरसीहिं ॥९८५॥
 वुग्घादीणं दोसे णच्चा परिहरदि ते जहा पुरिसो ।
 तह महिलाणं दोसे दद्दुं महिलाओ परिहरइ ॥९८६॥
 महिलाणं जे दोसा ते पुरिसाणं पि हुंति णीयाणं ।
 तत्तो अहियदरा वा तेसिं बलसत्तिजुत्ताणं ॥९८७॥
 जह सीलरक्खयाणं पुरिसाणं णिदिदाओ महिलाओ ।
 तह सीलरक्खियाणं महिलाणं णिदिदा पुरिसा ॥९८८॥
 किं पुण गुणसहिदाओ इत्थिओ अत्थि वित्थडजसाओ ।
 णरलोगदेवदाओ देवेहिं वि वंदणिज्जाओ ॥९८९॥
 तित्थयरचक्कघरवासुदेवबलदेवगणघरवराणं ।
 जणणीओ महिलाओ सुरणरवरेहिं महियाओ ॥९९०॥

गा०—कदाचित् चन्द्रमा उष्ण हो जाय, सूर्य शीतल हो जाय, आकाश कठोर हो जाय, किन्तु कुलीन स्त्री भी निर्दोष और भद्र परिणामी नहीं होती ॥९८४॥

गा०—स्त्रियोंके इन तथा अन्य बहुतसे दोषोंका विचार करने वाले पुरुषोंका मन विष और आगके समान स्त्रियोंसे विमुख हो जाता है ॥९८५॥

गा०—जैसे पुरुष व्याघ्र आदिके दोष देखकर व्याघ्र आदिको त्याग देता है उससे दूर रहता है, वैसे ही स्त्रियोंके दोष देखकर मनुष्य स्त्रियोंसे दूर हो जाता है ॥९८६॥

गा०—स्त्रियोंमें जो दोष होते हैं वे दोष नीच पुरुषोंमें भी होते हैं अथवा मनुष्योंमें जो बल और शक्तिये युक्त होते हैं उनमें स्त्रियोंसे भी अधिक दोष होते हैं ॥९८७॥

गा०—जैसे अपने शीलकी रक्षा करने वाले पुरुषोंके लिए स्त्रियाँ निन्दनीय हैं। वैसे ही अपने शीलकी रक्षा करने वाली स्त्रियोंके लिए पुरुष निन्दनीय हैं ॥९८८॥

गा०—जो गुणसहित स्त्रियाँ हैं, जिनका यश लोकमें फैला हुआ है, तथा जो मनुष्य लोकमें देवता समान हैं और देवोंसे पूजनीय हैं उनकी जितनी प्रशंसा की जाये, कम है ॥९८९॥

गा०—तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वानुदेव, बलदेव और धेष्ट गणधरोंको जन्म देने वाली महिलाएँ श्रेष्ठ देवों और उत्तम पुरुषोंके द्वारा पूजनीय होती हैं ॥९९०॥

एगपदिब्वइकण्णावयाणि धारिंति क्किप्पि महिलाओ ।
 वेचव्वतिव्वदुक्खं आजीवं णिति काओ विं ॥९९१॥
 शीलवदीवो सुव्वन्ति महीयले पत्तपाडिहेराओ ।
 सावाणुग्गहसमत्थाओ वि य काओवि महिलाओ ॥९९२॥
 ओग्घेण ण वूढाओ जलंतचोरग्गिणा ण दड्ढाओ ।
 सप्पेहिं सावदेहिं य परिहरिदाओव काओ वि ॥९९३॥
 सव्वगुणसमग्गाणं साहूणं पुरिसपवरसीद्दाणं ।
 चरमाणं जणणित्तं पत्ताओ हवन्ति काओ वि ॥९९४॥
 मोहोदधेण जीवो सव्वो दुस्सीलमइल्लिदो होदि ।
 सो पुण सव्वो महिला पुरिसाणं होइ सामण्णो ॥९९५॥
 तम्हा सा पल्लवणा पउरा महिलाण होदि अधिक्कच्चा ।
 शीलवदीओ मणिदे दोसे किइ णाम पावन्ति ॥९९६॥

इत्थिगदा ॥९९६॥

स्त्रीयतान्त्रोधानभिवाद्य अशुचिस्त्रीरूपणार्थं उत्तरप्रबन्धः—

देहस्स बीयणिप्पच्चिस्सेत्तआहारजम्मनुड्ढीओ ।
 अवयवणिग्गमअसुई पिच्छसु वाधी य अधुवत्तं ॥९९७॥

गा०—कितनी ही महिलाएँ एक पतिव्रत और कीमार ब्रह्मचर्य व्रत धारण करती है । कितनी ही जीवन पर्यन्त वेचव्यका तीव्र दुःख भोगती हैं ॥९९१॥ ऐसी भी कितनी शीलवती स्त्रियाँ सुनी जाती हैं जिन्हें देवोंके द्वारा सन्मान आदि प्राप्त हुआ तथा जो शीलके प्रभावसे शाप देने और अनुग्रह करनेमें समर्थ थीं ॥९९२॥ कितनी ही शीलवती स्त्रियाँ महानदीके जल प्रवाहमें भी नहीं डूब सकीं और प्रज्वलित घोर आगमें भी नहीं जल सकीं तथा सर्प व्याघ्र आदि भी उनका कुछ नहीं कर सके ॥९९३॥ कितनी ही स्त्रियाँ सर्व गुणोंसे सम्पन्न साधुओं और पुरुषोंमें श्रेष्ठ चरम शरीरी पुरुषोंको जन्म देने वाली माताएँ हुई हैं ॥९९४॥ सब जीव मोहके उदयसे कुशीलसे मलिन होते हैं । और वह मोहका उदय स्त्री-पुरुषोंके समान रूपसे होता है ॥९९५॥

गा०—अतः ऊपर जो स्त्रियोंके दोषोंका वर्णन किया है वह स्त्री सामान्यको दृष्टिसे किया है । शीलवती स्त्रियोंमें ऊपर कहे दोष कैसे हो सकते हैं ॥९९६॥

इस प्रकार स्त्रियोंके गुण-दोषोंका वर्णन सम्पूर्ण हुआ । स्त्रियोंके दोषोंको कहनेके पश्चात् अशुचित्वका कथन करते हैं—

१. कित्तिमाकाओ इत्ति पाठान्तरं मूलारा० । २. सावज्जेहि वि हरिया सद्धान काओवि-आ०मु० ।
 ३. पल्लवणा द्या० ।

देहस्य बीज इत्यादिः । देहस्य बीजं, निम्पतिः, क्षेत्रं, आहारः, जन्म, वृद्धिः, अवयवः, निर्गमः, अशुचिः, व्याधिरभ्रुवतेत्येतामप्येति सूत्रिर्बोधि क्षपकं ॥१९७॥

देहस्य बीजमित्येतद्व्याख्याभावोत्तरगाथा—

देहस्य सुषुप्तोष्णिय असुई परिणामिकारणं जग्हा ।

देहो वि होइ असुई अमेज्जसदपूरजो व तदो ॥१९८॥

'देहस्य बीजं' मनुजानां शुक्लशोणितं । अशुचिं शुक्लं पुंसः, शोणितं च वनितायाः परिणामि कारणं । 'जग्हा' यस्मात् । परिणामिकारणं शरीरत्वेन तदुभयं परिणमति तस्मात्परिणामिकारणं । 'देहोवि असुई' शरीर-मपि अशुचि तत एव । 'अमेज्जसदपूरजो व' अनेभ्यश्चतुष्टयक इव । यश्चोष्णपरिणामि कारणं तदशुचि यथाऽ-नेभ्यश्चतुष्टयकः अशुचिपरिणामकारणं च शरीरं इति सूत्रार्थः ॥१९८॥

ददुं वि अमेज्जसिध विहिंसणीयं कुदो पुणो होज्ज ।

ओज्जिग्घिदुमाल्लदुं परिभोसुं चावि तं वीयं ॥१९९॥

'ददुं वि य' इष्टमपि । 'विहिंसणीयं' जुगुप्सनीय । 'अमेज्जसिध' अनेभ्यसिध । 'कुदो पुणो होज्ज ओज्जिग्घिदु' कुतः पुनर्भवेदाद्यातु । 'माल्लदुं' आलिङ्गितुं । 'परिभोसुं चावि' परिभोक्तुं चापि । 'तं वीयं' तत् शुक्लशोणितार्थं बीजं । तत्परिणामत्वाच्छरीरमपि तदेव बीजमिदं शरीरमिति मत्वा बीजमिति उक्तं ॥१९९॥

परिणामिकारणशुद्ध्या तत्परिणामरूपं कार्यं शुद्धं भवति शरीरं न तथेति कथयति—

समिदकदो षदपुण्णो सुज्जादि सुद्धत्तणेण समिदस्स ।

असुचिम्मि तम्मि वीए कइ देहो सो हवे सुद्धो ॥२००॥

गा०—हे क्षपक ! ब्रह्मचर्यं व्रतकी सिद्धिके लिए मनुष्योंके शरीरके बीज, उत्पत्ति, क्षेत्र, आहार, जन्म, जन्मके पश्चात् होने वाली वृद्धि, अवयव, कान आदि अंगोंसे निकलने वाला मल, अशुचित्वा, व्याधि और अशुच्यपनको देखो । ऐसा आचार्य कहते हैं ॥१९७॥

गा०—टी०—मनुष्योंके शरीरका बीज रज और वीर्य है जो अशुचि है । बहो परिणामिकारण है । पुरुषका वीर्य और स्त्रीका रज ये दोनों शरीर रूपसे परिणमन करते है इसलिए ये दोनों परिणामिकारण हैं । इसीसे शरीर भी अशुचि है जैसे मलसे बना घेवर अशुचि होता है । जिसका परिणामिकारण अशुचि होता है वह अशुचि होता है । जैसे मलिन वस्तुसे बना घेवर । शरीरका परिणामिकारण रज और वीर्य अशुचि है इसलिए शरीर अशुचि है । यह इस गाथा सूत्रका अभिप्राय है ॥१९८॥

गा०—जो विद्याकी तरह देखनेमें भी ग्लानिके योग्य है वह रज और वीर्य नामक बीज सूचने, आलिंगन करने और भोगनेके योग्य कैसे हो सकता है ? रज और वीर्य रूप बीज शरीरका परिणामिकारण है अतः शरीरको बीज मानकर 'बीज' शब्दसे शरीरका निर्देश किया है ॥१९९॥

आगे कहते हैं कि परिणामिकारणके शुद्ध होनेसे उसका परिणाम रूप कार्य शुद्ध होता है—

गा०—जैसे 'समिद' अर्थात् गेहूँके चूर्णसे बना घेवर शुद्ध होता है क्योंकि उसका परिणामि-

'सन्निवृत्तो कल्पुणो सुखसि' कथिकाकृतं मूलपूर्वकं 'सुखसि' शब्दपति । 'सुदक्षणेन' सुदक्षय । 'सन्निवृत्त' कथिकाकृतम् । 'अधुचिन्मि वीद्' अधुचिन्मि तन्निवृत्तते । 'कह वैही तो हवे सुद्धी' देहः परि-
णामः कथं शब्दपति । वीर्यं ॥१०००॥

शरीरनिष्पत्तिक्रमविकल्पनाय उत्तरप्रबन्धः—

कलसर्गदं दसरसं अच्छदि कल्पुणीकदं च दसरसं ।

शिरभूदं दसरसं अच्छदि गम्भम्मि तं वीर्यं ॥१००१॥

'कलसर्गदं' कलसर्गदं नाम पर्यायः तं गतं प्राप्तं वीर्यं तदा दिनमात्रं । 'अच्छदि' आस्ते । 'कल्पुणीकदं'
य कल्पुणीकृतं च । दस रात्रिमात्रं अवतिष्ठते । 'शिरभूदं दसरसं' स्थिरभूतं वायुदशदिनमात्रं । 'गम्भम्मि' आस्ते ।
'गम्भम्मि' गर्भे । 'तं वीर्यं' तद्बीजं ॥१००१॥

ततो मासं बुध्बुदभूदं अच्छदि पुणो वि षणभूदं ।

जायदि मासेण तदो मंसप्येसी य मासेण ॥१००२॥

'ततो' स्थिरभावोत्तरकालं । 'मासं बुध्बुदभूदं अच्छदि' मासमात्रं बुध्बुद इव आस्ते । 'पुणो वि
षणभूदं' पुनरपि वनभूतं । 'जायदि मासेण' जायते मासेन ततोऽपि वनभावानुत्तरकालं । 'मासेण' मासेन ।
'मंसप्येसीय' मांसपेयी भवति ॥१००२॥

मासेण पंच पुल्गा तचो हुंति हु पुणो वि मासेण ।

अंगाणि उवांगाणि य णरस्स जायति गम्भम्मि ॥१००३॥

'मासेण पंच पुल्गा' मासेन पञ्च पुल्का भवन्ति । 'पुणो वि मासेण' पुनस्तरेण मासेन । 'अंगाणि
उवांगाणि य' अङ्गान्युपाङ्गानि च । 'णरस्स जायति गम्भम्मि' नरस्य जायन्ते गर्भे ॥१००३॥

मासम्मि सचमे तस्स होदि चम्मणहरोमणिप्यती ।

फंदणमट्ठममासे णवमे दसमे य णिग्गमणं ॥१००४॥

कारण गेहूँका चूर्णं शुद्ध है । किन्तु जिसका बीज अशुद्ध है उससे बना शरीर शुद्ध कैसे हो सकता
है ॥१०००॥

शरीरकी रचनाका क्रम कहते हैं—

गण०—गर्भमें स्थित माताका रज और पिताका वीर्यरूप बीज दस दिनतक कलसरूपमें
रहता है । फिर दस दिन तक कालिमरूप होता है फिर दस दिन तक स्थिर रहता है ॥१००१॥

धा०—स्थिर होनेके पश्चात् एक मास तक बुलबुलेकी तरह रहता है । पुनः एक मास
तक धनभूत अर्थात् कठोररूप रहता है । फिर एकमासमें मांसके पिण्डरूप होता है ॥१००२॥

धा०—वीर्यमें मांसमें उस मांसपिण्डमेंसे दो हाथ, दो पैर और सिरके रूपमें पाँच अङ्कुर
उगते हैं । छठे मासमें उस बालकके अंग और उपांग बनते हैं ॥१००३॥

विशेषार्थः—दो पैर, दो हाथ, एक नितम्ब, एक छाती, एक पीठ, एक सिर ये आठ अंग
हैं । और कान, नाक, गाल, बोट, आँसू, अँगुलि आदि उपांग हैं ॥१००३॥

'आत्मनि शान्ते' सप्तमे मासे । 'तप्त' तस्य गर्भस्थस्य । 'बन्धनहरोर्निष्पत्ती होषि' चर्मनखरोम-
निष्पत्तिर्भवति । 'अंधवमदहनमते' स्पंदनमीषच्छलनं अष्टमे मासे । 'कवचे दसवे य विनामनं' नवमे दशमे
षोडशानिर्गमनं भवति ॥१००४॥

सव्वासु अवत्वासु वि कललादीयाणि ताणि सव्वाणि ।

असुर्गणि अमिज्जाणि य विहिंसणिज्जाणि णिच्छंपि ॥१००५॥

'सव्वासु अवत्वासु वि' सर्वास्त्वप्यवत्वासु शुक्रलोहितयोः । 'कललादिव्याधि' कललमबुद्धमित्यादि-
कानि । 'सव्वाणि असुर्गणि' सर्वाणि असुचोनि । 'अमेज्जाणि' अमेध्यमिव । 'विहिंसणिज्जाणि' जुगुप्सनी-
यानि । 'णिच्छं पि' नित्यमपि ॥१००५॥ णिष्पत्तिं वदं ।

गर्भोऽवस्थानक्रमं अशुभं कथयत्युत्तरगायया—

आमासयन्मि पक्कासयस्स उवरिं अमेज्जमज्जम्मि ।

वत्थिपटलपच्छण्णो अच्छ्हं गन्धे हु णवमासं ॥१००६॥

'आमासयन्मि' आमाशये । आममुच्यते भूकमशानमुदरान्निना अपक्वं तस्य आशयः स्थानं तस्मिन् ।
'पक्कासयस्स उवरिं' आउदरेण अग्निना पक्व आहारः पक्वं तस्य आशयः स्थानं । तत् उपरि । 'अमेज्जमज्जम्मि'
अमेध्ययोः पक्वापक्वयोर्मध्ये । 'गन्धो अच्छ्हि' आस्ते गर्भः । कीदृक् 'वत्थिपटलपच्छण्णो' वितत मांस-
शोषितं जालसंस्थानीयं वत्थिपटलशब्देनोच्यते तेन प्रतिच्छन्नः । क्रियन्तं कालमास्ते ? णवमासं उपलक्षणं नव-
माससदृहं दशमासमात्रमप्यवस्थानात् ॥१००६॥

अशुचित्वात् अवस्थितः स्वल्पकालं यदि जुगुप्स्यते चिरकालावस्थितः कथमयं न जुगुप्सनीय इत्याचष्टे—

वमिदा अमेज्जमज्जे मासंपि समक्खमच्छिदो पुरिसो ।

होदि हु विहिंसणिज्जो अदि वि सयणीपल्लो होज्ज ॥१००७॥

वा०—सातवें मासमें उस गर्भस्थ पिण्डपर चर्म, नख और रोम बनते हैं । आठवें मासमें
उसमें हलन-चलन होने लगता है । नौवें अथवा दसवें मासमें उसका जन्म होता है ॥१००४॥

वा०—रज और वीर्यकी सब अवस्थाओंमें वे सब कलिल आदि अशुचि और विष्टाकी
तरह सदा ग्लानिकारक होते हैं ॥१००५॥

आगे गर्भका स्थान और उसकी अशुचिता कहते हैं—

वा०—आमाशयसे नीचे और पक्वाशयसे ऊपर इन दोनों अशुचि स्थानोंके मध्यमें गर्भाशय
होता है । उसमें वस्तिपटलसे बँधित होकर प्राणी नौमास तक रहता है ॥१००६॥

टी०—साया हुआ भोजन, उदरान्निके द्वारा पकता नहीं है उसे आम कहते हैं उसके
स्थानको आमाशय कहते हैं । और उदरान्निके द्वारा पके आहारको पक्व कहते हैं । उसके स्थान-
को पक्वाशय कहते हैं । इन अपक्व और पक्वके मध्यमें गर्भस्थान होता है । उसमें शिशु नौ मास
तक रहता है । नौ मासों तो उपलक्षण है अतः दस मासमात्र भी रहता है । रुधिर और मांसके
जालको वस्तिपटल कहते हैं । उससे गर्भस्थ बालक चारों ओरसे बँधित रहता है ॥१००६॥

आगे कहते हैं कि अपवित्र गन्धे स्थानमें थोड़े समयके लिए भी यदि रहना पड़े तो ग्लानि
होती है तब नौ दस मास तक ऐसे स्थानमें रहनेवाला ग्लानिका पात्र क्यों नहीं है ?

'अभिषक्त अनेच्छान्नाम्नो' वाग्वत्त्व अनेच्छत्त्व च दम्भे । 'भासंति' भासनाप्रति 'सम्बन्धनिष्कम्भो' स्वप्रत्यक्षत्वात् स्थितः पुनः । 'सु' सम्बन्ध एवकारार्थः स च क्रियापदात्पक्षे इच्छन्त्यः । 'विहिंसनिष्कम्भो', इत्यतः परतः । 'विहिंसनीजो होति' इति द्रुमुत्सनीय एव भवति नाजुमुत्स्य इति यावत् । 'अधि वि सयनीयस्त्वन्मो होन्व' यद्यपि बन्धुर्ममेत् ॥१००७॥

किं पुण णवदसमासे उसिदो वमिगा अयेज्जमज्जम्भि ।

होञ्ज ण विहिंसणिज्जो अदि वि सय णीयन्लजो होञ्ज ॥१००८॥

'विह पुण' कथ पुनः । 'न होन्व विहिंसनिष्कम्भो' न अयेज्जुमुत्सनीय । 'अववत्समात्तं उसिदो' नवमासं दशमासं वावस्थितः । 'वमिगा अनेच्छान्नाम्नि' मात्रा उपमुक्त आहारो वमिगासम्बन्धोऽप्यस्ते । शेषः सुगमः ॥१००८॥ क्षितं गर्द ।

येनाहारेणासायुषितशरीरो जातस्तमाचष्टे—

दंतेहि चच्चिदं वीलणं च सिमेण मेखिदं सतं ।

मायाहारियमण्णं जुत्तं पित्तेण कट्टएण ॥१००९॥

'दंतेहि चच्चिदं' दंतैश्चुणित । 'वीलणं' पिच्छिल । कथ 'सिमेण मेखिदं सतं' दलेष्मणा मिश्रित सत् । 'मायाहारिवमण्णं' मात्रा भुक्तमन्न । 'कट्टएण पित्तेण जुत्तं' कटुकेन पित्तो न युक्तं ॥१००९॥

वमिगं अयेज्जसरिसं वादविओज्जिदरसं खलं गम्भे ।

आहारेदि समंता उवरिं थिप्पंतगं णिच्चं ॥१०१०॥

'वमिगं' वान्तं । 'अविष्कसत्तिसं' अमेघ्येन सद्युत्तं । 'वादाविओज्जिदरसं खलं' वातेन पृथक्कृतं रसं अल-
भाग । 'गम्भे आहारेदि णिच्चं' नित्य गर्भस्थो भूङ्क्ते । 'समंता' समन्तात् । 'उवरिं' उपरि । 'थिप्पंतगं'
विगलद्विन्दुक । 'एतेनान्तर समाहारयतीति ज्ञायते ॥१०१०॥

तो सत्तमम्भि मासे उप्पलणालसरिसी हवइ णाही ।

तचो पभूदि पाए वमियं त आहारेदि णाहीए ॥१०११॥

गा०—गन्दे वमनके मध्यमे एकमास पर्यन्त प्रत्यक्षरूपसे रहनेवाला पुरुष, यदि अपना इष्टमित्र भी हो तो भी ग्लानिका ही पात्र होता है ॥१००७॥

या०—तब माताके द्वारा खाये गये वमनरूप आहारको खाकर गन्दे स्थानमें नौ दस मास रहनेवाला ग्लानिका पात्र क्यों नहीं है, भले ही वह अपना निकट बन्धु हो ॥१००८॥

या०—जिस आहारसे उसका शरीर बना उसे कहते हैं—माताके द्वारा खाया हुआ अन्न पहले दाँतोंसे चबाया गया । फिर कफके साथ मिलकर चिकना हुआ फिर कटुक पित्तसे युक्त हुआ ॥१००९॥

या०—ऐसा होनेपर वह वमनके समान गन्धा होता है । वायुके द्वारा उसका रस भाग अलग हो जाता है और खलभाग अलग । उसमेंसे गिरती हुई बूदको सर्वांगसे गर्भस्थपिण्ड नित्य ग्रहण करता है । इससे यह ज्ञात होता है कि वह अन्नका रस ग्रहण करता है ॥१०१०॥

१. एतेनान्तरसमाहारयतीति मु०, मूलपा० । २. वि माये व-आ० । ततो पाए मु०, मूलपा० ।

द्वितीयं वास्तवम् 'रत्नं कस्तुरिण्यं कालौ' रत्नं चन्द्रमं काले । 'जम्बूकान्तारिकीं वाही हृष्य' उत्पन्ना-
कन्दवृद्धीकानिर्बन्धिः । 'कालौ' नाभिमिण्यत्पुत्रकालः । 'वर्षिषं' तं आहारिण्यं 'वाणोप' वाण्यवाहारयति
काम्या ॥१०११॥

वर्षिषं व जयेज्जं वा आहारिद्वं स किं पि संसम्बन्धं ।

होदि ह्य विहिंसणिज्जो जदि वि य णियन्ल्लो होज्ज ॥१०१२॥

'वर्षिषं' व 'जयेज्जं' वा 'वाण्यमयेय्यं' वा । 'आहारिद्वं' भुक्तवान् । 'स किं पि' सकृदपि एकवारं ।
'सत्सम्बन्धं' स्वप्रत्ययः । 'होदि ह्य विहिंसणिज्जो' जयति जुप्यन्तीति । 'वदि वि य णियन्ल्लो होज्ज'
वदति क्वचुमंवेत् ॥१०१२॥

किं पुण णवदसमासे आहारेदूणं तं णरो वर्षिषं ।

होज्ज ण विहिंसणिज्जो जदि वि य णीयन्ल्लो होज्ज ॥१०१३॥

स्पष्टोत्तरा गाथा । आहारणदं सम्मत । आहारो निरूपितः ॥१०१३॥

जन्मनिरूपणाद्योत्तरगाथा—

अशुचिं अपेच्छणिज्जं दुग्गंघं भुत्तसोणियदुवारं ।

बोत्तुं पि लज्जणिज्जं पोह्महं जम्मभूमिं से ॥१०१४॥

'अशुचिं' अशुचि । 'अपेच्छणिज्जं' अप्रेक्षणयोग्यं । 'दुग्गंघं' दुर्गन्धं । 'भुत्तसोणियदुवारं' भूषण्य योनि-
उत्पन्नं च द्वारं । 'बोत्तुं' पि लज्जणिज्जं' वक्तुमपि स्वनाम्ना लज्जनीय । 'पोह्महं' उदरमुखं वराङ्ग । 'जम्म-
भूमिं से' जन्मभूमिस्तस्य ॥१०१४॥

जदि दाव विहिंसज्जइ वत्थीए ह्मं परस्स आलेट्टुं ।

कइ सो विहिंसणिज्जो ण होज्ज सन्नीढपोह्महो ॥१०१५॥

शा०—इसके पदवात् सातवें मासमें कमलकी नालके समान नाभि होती है । नाभिके
बननेके पदवात् उस बमन किये आहारको नाभिके द्वारा ग्रहण करता है ॥१०११॥

शा०—यदि कोई अपने सामने एक बार भी बमन किये गये आहारको या गन्दे विष्टाको
खाता है तो अपना प्रिय बन्धु भी यदि हो तो उससे ग्लानि होती है ॥१०१२॥

शा०—तब जो मनुष्य नौ दस महीने उस बमन तुल्य आहारको खाता है वह ग्लानिका
पात्र क्यों नहीं होगा, भले ही वह अपना प्रियबन्धु हो ॥१०१३॥

इस प्रकार आहारकी अशुचित्ताका कथन हुआ ।

आगे जन्मका कथन करते हैं—

शा०—उदरका मुख योनि उसका जन्मस्थान है । वहीसे उसका जन्म होता है । वह
स्थान अशुचि है, देखने योग्य नहीं है, दुर्गन्धयुक्त है, मूत्र और रक्तके निकलनेका द्वार है । उसका
नाम लेनेमें भी लज्जा आती है ॥१०१४॥

शा०—यदि दूसरेके वस्त्रमुख—गुदा अथवा योनिको देखनेमें भी ग्लानि होती है तो जो
उसका आस्वादन करता है वह ग्लानिका पात्र क्यों नहीं है ॥१०१५॥

'जदि वरव विहिंसनिज्जावि' यदि तावज्जुमुत्पन्ते । 'बलीदं कुहुं' वत्तिउनुत्तं । 'वरत्त आत्तवुहुं' परत्त वत्तुं । 'किव तो विहिंसनिज्जावो व होत्तव' कथमत्तो न वुत्तुत्तनीयो भवेत् । 'उत्तनीउत्तवुहुं' आत्तावित्त-
वरत्तुः ॥१०१५॥

अन्मवुद्धिं निक्कपयति—

बालो विहिंसनिज्जाणि कुणादि तह वैव लज्जणिज्जाणि ।

येज्जाभेज्जां कज्जाकज्जां किंचिवि अयाणत्तो ॥१०१६॥

'बालो विहिंसनिज्जाणि कुणादि' बालो जुगुप्सनीयानि कर्माणि करोति । 'तथा वैव लज्जनिज्जाणि' तथा वैव लज्जनीयानि । 'येज्जाभेज्जां' शुष्यशुषि व । 'कज्जाकज्जां किं चि वि अयाणत्तो' कार्याकार्यं किंचि-
दप्यजानन् ॥१०१६॥

अण्णत्स अण्णो वा सिंहाणयत्तेल्लुत्तपुरिसाणि ।

चम्मट्टिवसापूयादीणि य तुंठे सगे छुमदि ॥१०१७॥

'अण्णत्स अण्णो वा' अन्यस्यात्मनो वा । सिंहाणयं स्तेभ्यमाणं । मूत्रं, पुरीशं, 'चम्मट्टिवसापूयादि' य' चर्म अस्ति वसां पूयादिकं वा । 'त्ते तुंठे छुमदि' आत्मीये मुखे क्षिपति ॥१०१७॥

जं किं चि खादि जं किं चि कुणादि जं किं चि जंपदि अलज्जो ।

जं किं चि जत्थ तत्थ वि बोत्तरदि अयाणयो बालो ॥१०१८॥

'जं किं चि खादि' यत्किंचिदस्ति, यत्किंचित्करोति, यत्किंचिज्जत्पत्यलज्जः । 'जं किं चि जत्थ तत्थ वि' यत्किंचिद्यत्र तत्र वा शुष्यामशुषी वा वेत्ते । 'बोत्तरदि' म्युत्सृजति । 'अयाणयो बालो' अज्ञो बालः ॥१०१८॥

बालत्तणे कदं सव्वमेव जदि णाम संभरिज्ज तदो ।

अप्पाणम्मि वि गच्छे णिज्जेदं किं पुण परंमि ॥१०१९॥

'बालत्तणे कदं' बालत्वे कृतं । सर्वमेव यदि स्मरेत्ततः आत्मन्यपि गच्छेन्निर्बेदं किं पुनरन्यस्मिन् ।
उदित् ॥१०१९॥

अन्मके पवचात् शरीरकी वृद्धिका कथन करते हैं—

गा०—बालक शुचि अशुचि और कार्य अकार्यको कुछ भी नहीं जानता । तथा निन्दनीय और लज्जाके योग्य कार्य करता है ॥१०१६॥

गा०—अपना अथवा दूसरेका कफ, मूत्र, बिष्ठा, चमड़ा, हड्डी, चर्बी, पीव, आदि अपने मुखमें रख लेता है ॥१०१७॥

गा०—अनजान बालक जो कुछ भी खा लेता है, जो कुछ भी करता है, निर्लज्ज होकर जो कुछ भी बोलता है । जिस किसी भी पवित्र या अपवित्र स्थानमें टट्टी पेशाव कर देता है ॥१०१८॥

घृ०—यदि अचपनमें किये गये सब कार्योंको याद किया जाये तो दूसरेकी तो बात ही क्या, अपनेसे ही बेराग्य हो जाय ॥१०१५॥

कुण्डिमकुटी कुण्डिमोर्हि य भरिदा कुण्डिमं च सपदि सम्बन्धो ।

'ताणं च अमेज्जमयं अमेज्जमरिदं सरिरमिणं ॥१०२०॥

'कुण्डिमकुटी' कुण्डिता कुटी, 'कुण्डिमोर्हि भरिदा' कुण्डितभरिता । 'कुण्डिमं च सपदि सम्बन्धो' कुण्डितं सर्वतः सम्बन्धितं । 'ताणं च अमेज्जमयं' 'ताणमिदं अमेज्जमयं । 'अमेज्जमरिदं' अमेज्जमयं । 'सरिरमिणं' शरीरमिदं ॥१०२०॥

वृद्धिक्रमं निरूप्य शरीरावयवानावष्टे—

अङ्गीणि हुंति सिण्णि ङु सदाणि भरिदाणि कुण्डिममज्जाप ।

सम्बन्धि चैव देहे संबीणि ह्वंति तावदिया ॥१०२१॥

'अङ्गीणि हुंति सिण्णि ङु सदाणि' निस्तान्मन्थनीनि । 'भरिदाणि कुण्डिममज्जाप' पूर्वाणि कुण्डितेन मज्जा-संज्ञितेन । 'सम्बन्धि चैव देहेन्धि' सर्वस्मिन्नेव शरीरे । 'संबीणि ह्वंति तावदिया' सन्धिप्रमाणमपि निस्त-मेव ॥१०२१॥

एहारुण णवसदाहं सिरासदाणि ह्वंति सत्तेव ।

देहन्धि मंसपेसीण हुंति पंचेव य सदाणि ॥१०२२॥

'एहारुण णवसदाहं' स्नायूनां नवशतानि । 'सिरासदाणि य ह्वंति सत्तेव' सिराणां सप्तशतानि । 'देहन्धि मंसपेसीण ह्वंति पंचेव य सदाणि' पंचशतानि शरीरे मांसपेष्ये । ॥१०२२॥

चत्तारि सिराज्जालाणि हुंति सोलस य कंडराणि तथा ।

छक्केव सिराकुञ्जा देहे दो मंसरज्जू य ॥१०२३॥

'चत्तारि सिराज्जालाणि' चत्तारि शिराज्जालानि शिरासंधाता । 'सोलस य कंडराणि तथा' षोडश कण्डरसंज्ञितानि तथा । 'छक्केव सिराकुञ्जा' षडेव शिरामूलानि । 'देहे दो मंसरज्जू य' शरीरे मांसरज्जू-द्वयं ॥१०२३॥

शा०—यह शरीर कुण्डित अर्थात् मलिन वस्तुओकी कुटी है और मलिन वस्तुओसे ही भरी है । सब तरफसे महामलिन मल ही उससे बहता रहता है । मलसे भरे पात्रके समान यह शरीर मलसे भरा होनेसे मलमय ही है ॥१०२०॥

शरीरकी वृद्धिका क्रम कहकर शरीरके अवयवओको कहते हैं—

शा०—इस शरीरमें तीन सौ हड्डियाँ हैं जो कुण्डित मज्जासे भरी है । तथा सम्पूर्ण शरीर-में तीन सौ ही सन्धियाँ हैं ॥१०२१॥

शा०—नी सौ स्नायु हैं । सिराएँ सात सौ हैं । पाँच सौ मांस पेशियाँ हैं १०२२॥

शा०—चार शिराज्जाल हैं । सोलह रक्तसे पूर्ण महाशिराएँ हैं । छह शिराओके मूल हैं । दो मांस रज्जू है एक पीठ और एक पेटके आश्रित हैं ॥१०२३॥

सप्त तयाजो कालेञ्जयाणि सप्तेव ह्येति देह्मि ।

देह्मि रोमकोटीण ह्येति 'असीदिं सदसहस्ता ॥१०२४॥

'सप्त तयाजो' सप्त त्वचः । 'कालेञ्जयाणि सप्तेव ह्येति देह्मि' सप्तैव कालेयकानि देहे । 'देह्मि रोमकोटीण' 'असीदिं सदसहस्ता' शरीरे रोमकोटीनां असीदित्वात्सहस्राणि ॥१०२४॥

पक्कामयासयत्वा य अंतगुंजाजो सोलस ह्वंति ।

कुणिमस्स आसया सप्त हुति देहे मनुस्सस्स ॥१०२५॥

'पक्कामयासयत्वा' पक्वाशये नामाशये अवस्थिताः । 'अंतगुंजाजो' अन्तगुण्यः । 'सोलस ह्वंति' शोण्यं भवन्ति । 'कुणिमस्स आसया' कुणितस्य आशया सप्त भवन्ति देहे मनुजस्य ॥१०२५॥

धूणाजो तिणिण देह्मि ह्येति सत्तत्तरं च मम्मसदं ।

णव ह्येति वणमुहाईं निच्चं कुणिमं सवताईं ॥१०२६॥

'धूणाजो तिणिण देह्मि ह्येति' स्यूणास्तित्तो भवन्ति देहे । 'सत्तत्तरं च मम्मसदं' भर्मणां शतं सप्तार्धिकं । 'णव ह्येति वणमुहाईं' वणमुहानि नव भवन्ति । 'निच्चं कुणिमं' नित्यं कुणितं भवन्ति यानि ॥१०२६॥

देह्मि मच्छुलिंमं अंजलिमिचं सयप्पमाणेण ।

अंजलिमिचो भेदो उज्जोवि य तत्तिओ येव ॥१०२७॥

'देह्मि' शरीरे । 'मच्छुलिंमं' मस्तिष्कं । 'अंजलिमिचो सयप्पमाणेण' स्वाञ्जलिप्रमाणं परिच्छिन्नं । भेदोऽप्यञ्जलिप्रमाणं । 'ओवि तत्तिओ येव' शूक्रमपि तावन्मात्रमेव ॥१०२७॥

तिणिण य वसंजलीओ छुचेव य अंजलीओ पित्तस्स ।

सिमो पित्तसमाणो लोहिदमद्दाढं होदि ॥१०२८॥

'तिणिण य वसंजलीओ' तित्तो वसाञ्जलयः । 'छुचेव य अंजलीओ पित्तस्स' वदुञ्जलयः पित्तस्य । 'सिमो पित्तसमाणो' स्लेष्मा पित्तप्रमाणं । 'लोहिदमद्दाढं होदि' लोहितोऽप्यर्थाढकं भवति ॥१०२८॥

शा०—सात त्वचाएँ हैं । सात कालेयक-मांसखण्ड हैं । और अस्सी लाख करोड़ रोम हैं ॥१०२४॥

शा०—पक्वाशय और आमाशयमें सोलह आते हैं । तथा मनुष्यके शरीरमें सात मलस्थान हैं ॥१०२५॥

शा०—शरीरमें वात पित्त कफ ये तीन धूणाएँ हैं । एक सौ सात भर्मस्थान हैं । नौ व्रण-मुस-मलद्वार हैं जिनसे सदा मल बहता रहता है ॥१०२६॥

शा०—तथा अपनी एक अंजुलीप्रमाण मस्तिष्क है । एक अंजुलिप्रमाण मेद है और एक अंगुलिप्रमाण वीर्य है ॥१०२७॥

शा०—तीन अंजुलिप्रमाण बसा—चर्बी है । छह अंजुलिप्रमाण पित्त है । पित्त प्रमाण ही कफ है । शिथिर आधे आठक या बत्तीस पल प्रमाण है ॥१०२८॥

हृषं आढवमेचं उच्चारस्त व हर्षति छप्पच्छ ।

वीसं जहाणि दंता बचीसं हौति पगदीए ॥१०२९॥

'मृषं आढवमेचं' मृषं आढवमेचं । 'उच्चारस्त व हर्षति छप्पच्छ' वदप्रत्ययप्रमाण उच्चारः । 'वीसं जहाणि' विषादिस्तम्बा नमानां । 'दंता बचीसं हौति' द्रामिषद्भवन्ति दन्ताः । 'पगदीए' प्रकृत्या ॥१०२९॥

किमिणो व वणो भरिदं शरीरं किमिच्छेहिं बहुमेहिं ।

सर्वं देहं अप्फदिद्वं वादा ठिदा पंच ॥१०३०॥

'किमिणो व वणो' संजातकिमिषणवत् । 'बहुमेहिं किमिच्छेहिं भरिदं शरीरमिति' सम्बन्धः । बहुमि-
क्रिणीनां कुलैर्भरितं । 'सर्वं देहं अप्फदिद्वं वादा ठिदा पंच' समस्तं शरीरं व्याप्य पञ्च वायवः
रिचताः ॥१०३०॥

एवं सर्वे देहमि अवयवा कुणिमपुगगला चेव ।

एकं पि पत्ति अंगं पूयं सुचियं च जं होज्ज ॥१०३१॥

'एवं' उच्यतेन प्रकारेण । 'देहमि सर्वे अवयवा' शरीराधारा सर्वे अवयवाः । 'कुणिमपुगगला चेव'
अशुभपुद्गला एव । 'एकं पि पत्ति अंगं' एकोऽपि नास्त्यवयवः । अं पूयं सुचियं च होज्ज' योजयव-पूत
सुचिर्वा भवेत् ॥१०३१॥

परिद्वद्धसञ्चचम्भं पंडुरगत्तं म्र्यंतवणरसियं ।

सुदटु वि दइदं महिलं दटुं पि णरो ण इच्छेज्ज ॥१०३२॥

'परिद्वद्धसञ्चचम्भं' परितो दग्धसर्वत्वकपटलं । 'पंडुरगत्तं' पाण्डुरतनु । 'म्र्यंतवणरसियं'
विचलप्रसं 'सुदटु वि दइदं महिलं' प्रियतमामपि वनिता । 'दटुं पि णरो ण इच्छेज्ज' द्रष्टुमपि नरो न
वाञ्छति ॥१०३२॥

जदि होज्ज मच्छियापत्तसरसियाए णो 'शगिदं ।

को णाम कुणिमभरियं शरीरमालदधुमिच्छेज्ज ॥१०३३॥

शा०—मूत्र एक आठक प्रमाण है । विष्टा छह प्रस्थ प्रमाण है । स्वाभाविकरूपमें वीस
नख और बत्तीस दाँत होते हैं ॥१०२९॥

शा०—जैसे धावमें कीड़े भरे रहते हैं वैसे ही शरीर बहुतसे कीड़ोसे भरा है । समस्त
शरीरको घेरे हुए पाँच वायु हैं ॥१०३०॥

शा०—इस प्रकार शरीरके सब अवयव अशुभ पुद्गलरूप ही हैं । एक भी अवयव ऐसा
नहीं है जो पवित्र और सुन्दर हो ॥१०३१॥

शा०—जिसकी सब चमड़ी जल जानेसे शरीर सफेद वर्णका हो गया है, और उससे पीव
बहता है ऐसी नारी अतिप्रिय भी हो तो उसे मनुष्य देखना भी नहीं चाहता ॥१०३२॥

'अग्निं ह्येकं तन्वाय च वसिष्ठं' यदि त्वचा न स्वयति नवेत् । कीपुष्पा ? 'अग्निं ह्येकं तन्वाय च वसिष्ठं' यदि त्वचा न स्वयति नवेत् । कीपुष्पा ? 'अग्निं ह्येकं तन्वाय च वसिष्ठं' को नाम वाग्नेय ? किं कुण्डितपूर्वं शरीरं । 'आसन्तु' स्वप्त् । अवयवाः ॥१०३३॥

कण्ठेषु कण्ठगुणो जायति अञ्जीसु चिककमंशुभि ।

भासागूषो सिंघाभयं च भासापुटेषु तथा ॥१०३४॥

'कण्ठेषु' कर्णयोः । 'कण्ठगुणो' कर्णगुणः । 'जायति' जायते । 'अञ्जीसु' अञ्जोः । 'चिककमंशुभि' मलमधुविन्यवश्च । 'भासागूषो' नामिकाफलं । 'सिंघाभयं च' सिंघाभयं च 'भासापुटेषु' भासापुटयोः ॥१०३४॥

खेलो पिपो सिंघो वमिया जिङ्गामलो य इतमलो ।

लाला जायति 'तुंडम्भिभिञ्चं' सुत्तपुरिससुक्कसुदरत्थं ॥१०३५॥

स्पष्टार्थोत्तरनाया—

सेदो जायति सिलेसो व चिककणो सञ्चरोमकूपेषु ।

जायति ज्वल्लिख्वा छप्पदियासो य सेदेण ॥१०३६॥

'सेदो जायति' स्वेदो जायते । 'सिलेसो व चिककणो' चिककणो व चिककणः । 'सञ्चरोमकूपेषु' सर्वलोमकूपेषु । 'जायति' जायते । 'ज्वल्लिख्वा' युकाः । 'छप्पदियासो व' चर्मयुकाश्च । 'सेदेण' स्वेदेन हेतुना । एतावता प्रबन्धेन शरीरावयवा व्याख्याता ॥१०३६॥

निर्गमनं । निर्गमनव्याख्यानायाचष्टे—

विट्टापुण्णो मिण्णो व चडो कुणिमं समंतदो गल्ल ।

पूर्दिगलो किमिणोव वणो वृदि च वादि सदा ॥१०३७॥

भा०—यदि शरीर मक्लीके पंखके समान त्वचासे वेष्टित न हो तो मल्लसे भरे शरीरको कौन छूना पसन्द करेगा ॥१०३३॥

भा०—कानोसे कानका मल उत्पन्न होता है । आँखोंमें आँखका मल और आँसू रहते हैं । तथा नाकमें नाकका मल और सिंघाड़े रहते हैं ॥१०३४॥

भा०—मुखमें खलार, पित्त, कफ, वमन, जीभका मल, दन्तमल और लार उत्पन्न होते हैं । और उदरमें भूख, विष्टा तथा वीर्य उत्पन्न होते हैं ॥१०३५॥

भा०—शरीरके सब रोमकूपोंसे चमारके सिरसेके समान चिपचिपा पसीना निकलता है । और पसीनेके कारण लीस और जूँ उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार शरीरके अवयवोंका कथन हुआ ॥१०३६॥

अब मलके निकलनेका कथन करते हैं—

भा०—जैसे विष्टासे भरे और फूटे हुए चड्डेसे चारों ओरसे गन्दगी बहती है अथवा जैसे कुमियोंसे भरे धावसे दुर्गन्धयुक्त पीव बहती है वैसे ही शरीरसे निरन्तर मल बहता है ॥१०३७॥

निर्गमनका कथन समाप्त हुआ ।

१ मिम दूत पुरिसं च सु-आ० मू० ।

२. मिदरत्थं—ज० मू० । इदरत्थे मेहन योनि-

पुवयोः—पूकारा० ।

'विष्णुशुक्लो' विष्ठाविः पूर्वः । 'विष्णो व षष्ठी' निम्नपठ इव । 'पुषिर्न' पुषितं । 'सर्वस्रो' शनस्ताप् । 'वसवि' अरति 'पुष्ट्यामोष्णयो' मलत्पूटिनिषितमिषिषणवत् । 'पुषि व वापि सवा' दुरभिवाति सवा । 'विष्णवर्चं सन्तसं' ॥१०३७॥

इंगालो धोवते ञ सुज्जदि अजहा पयत्तेण ।

सज्जेहिं सहदेहिम्मि सुज्जदि देहो ञ पुज्जतो ॥१०३८॥

सिंहानुभंगुज्जहोहिं मुहंतज्जिपुवणेहिं ।

पिण्चं पि धोवमाणो वादि सदा पूदियं देहो ॥१०३९॥

'सिंहानुभंगुज्जहोहिं व' स्नानेन, अन्यज्जेन, उद्धत्तेन । 'मुहंतज्जिपुवणेहिं' मुखस्य दन्तानामवशेष प्रक्षालनेन । 'पिण्चं पि पुज्जमाणो' नित्यमपि किन्नामाणचोच । 'वाति सवा पुषिर्न देहो' दुरभिगन्धतां न त्यजति देहः ॥१०३९॥

पाहाणाघादुअंजणापुढवित्पाछन्निबन्निमूलेहिं ।

मुहकेसवासतंबोलगंधमन्लेहिं धूवेहिं ॥१०४०॥

'पाहाणाघादुअंजणापुढवित्पाछन्निबन्निमूलेहिं' पाषाणशब्देन रत्नानुप्युज्जते । घातुर्जल । अज्जनं अज्जन मयी च । 'पुढवो' मुत्तिका । 'सवा' त्वक् । 'मुखवासः' । मुख वास्यते मुख गन्धता नीयते येनासी मुखवासः । केषाः सुरभितां प्राप्नुवन्ति येनासी केषवासः, एतं पाषाणादिभिः ॥१०४०॥

अभिभूदुदुब्बिगंधं परिहृज्जदि मोहिपहिं परदेहं ।

सज्जति पूहयमं संजुचं जह कहुमभंणेण ॥१०४१॥

'अभिभूदुदुब्बिगंधं' निरस्ताद्युभयन्वः । 'परदेहं संजुचं' परस्य देहः सयुक्तः । 'मोहिपेहिं' मूढः । परिमुज्जते । 'कहुमभं' भुज्जते । 'पूहयमं मांसं' यथा युक्तं संस्कृतं । 'कहुमभंणेण' मरिचैर्हिन्वादिभिश्च ॥१०४१॥

शा०—जैसे कीयलेको सब समुद्रके जलसे प्रयत्नपूर्वक धोनेपर भी वह उजला नहीं होता, उससे कालापन ही निकलता है, वैसे ही शरीरको बहुत जलादिसे धोनेपर भी वह शुद्ध नहीं होता, उससे मल ही निकलता है ॥१०३८॥

शा०—स्नान, इत्र फुलेल, उबटन आदिसे तथा मुख दांत और आँखोंको धोनेसे नित्य ही स्वच्छ करनेपर भी शरीर सदा दुर्गन्ध देता है, वह उसे छोड़ता नहीं ॥१०३९॥

शा०—दी०—पाषाण शब्दसे रत्नोंको कहा है । घातुसे जल लिया है । पुष्पीसे मिट्टीका ग्रहण किया है । त्वचासे मध्यकी त्वचा ली है और छालसे ऊपरकी छाल ली है । अतः रत्न, जल, अंजन, मिट्टी, त्वचा, छाल देल और जड़से तथा मुखको सुवासित करनेवाले ताम्बूल आदि और केशोंको सुगन्धित करनेवाले गन्धमाला धूप आदिसे परके शरीरकी दुर्गन्ध दूर करके मूढजन मोहित होकर पराये शरीरको भोगते हैं । जैसे मिर्च, हींग आदि मसाले मिलकर, दुर्गन्धयुक्त

अम्भगादीहि विणा समापदो चैव यदि सरीरमिमं ।
सोमेज्ज मोरदेहुज्ज होज्ज तो णाम से सोमा ॥१०४२॥

‘अम्भगादीहि विणा’ सुगन्धतेजस प्रसन्न, उद्वर्तनं, स्नानमाकेपनमित्वादिभिर्निना । ‘समापदो चैव यदि सोमेज्ज इमं सरीरं’ स्वभावत एव यदि सोमेत इमं सरीरं । ‘मोरदेहुज्ज’ मयूरदेहवत् । ‘होज्ज तो णाम से सोमा’ ममेतत् स्फुटं देहस्य घोषा ॥१०४२॥

अदि दा विहिंसदि णरो आल्लुवुं पडिदमप्यणो खेत्तं ।
कयदा णिपिजेज्ज बुबो महिलामुहजायकुणिमजलं ॥१०४३॥

‘अदि दा विहिंसदि णरो आल्लुवुं पडिदमप्यणो खेत्तं’ यदि तावन्नरो जुगुप्सते स्पष्टमात्मनोऽपि कासं । ‘कयदा णिपिजेज्ज बुबो’ कथमिदानीं पिबेद्बुधः । ‘महिलामुहजायकुणिमजलं’ युवतिमुखसमुत्पन्नम-
धुपिचकं ॥१०४३॥

अतो बहिं च मज्जे व कोइ सारो सरीरगे णत्थि ।
एरंडगो व देहो णिस्सारो सज्जहिं चैव ॥१०४४॥

‘अतो बहिं च मज्जे’ अन्तर्बहिष्ये । ‘को इि सारो सरीरगे णत्थि’ सरीरेऽङ्गे सारमूर्तं न किंचिदस्ति । ‘एरंडगो वा णिस्सारो सज्जहिं चैव’ साररहितः कर्षण चैव ॥१०४४॥

चमरीचालं खण्णिसाणं मयदंतसप्यमिगादी ।
दिट्ठो सारो ण य जत्थि कोइ सारो मणुयस्सदेहम्मि ॥१०४५॥

‘चमरीचालं’ चमरीयो रोमाणि । ‘खण्णिसाणं’ खण्णानां मृगया विषाणं । मजानां दन्ताः । सर्पाणां रत्नाधिकं च दृष्टं सारमूर्तं । ‘ण य जत्थि कोइ सारो मणुयस्सदेहम्मि’ नास्ति किञ्चित्सारं मनुष्यदेहे ॥१०४५॥

मांसको मांसभोषी जन साते हैं जैसे ही कामीजन स्त्रीके दुर्गन्धयुक्त शरीरको तेल फुलेल आविसे सुवासित करके भोगते हैं ॥१०४०-१०४१॥

भा०—जैसे मोरका शरीर स्वभावसे ही सुन्दर होता है वैसे ही यदि सुगन्धयुक्त तेलसे माच्छिद्य, उबटन, स्नान, आविके बिना स्वभावसे यह शरीर शोभायुक्त होता तो उसे सुन्दर कहना उचित होता ॥१०४२॥

श्ल०—यदि मनुष्य बाहरमें पड़े अपने कफको भी छूनेमें रगानि करता है तो ज्ञानीपुख्य युवती स्त्रीके मुखसे उत्पन्न हुई दुर्गन्धयुक्त कारको कैसे पीबेगा ॥१०४३॥

भा०—अन्तरमें, बाहरमें और मध्यमें शरीरमें कुछ भी सार नहीं है । ऐरण्डके वृक्षकी तरह शरीर पूर्णरूपसे निःसार है ॥१०४४॥

भा०—चमरी मायकी पूँछके बाल, बड़े वा हिरनके सोंग, हाथीके दाँत, सर्पकी मणि, आवि शब्दसे मयूरके पंख, मृगकी कस्तूरी आवि अवयव तो सारभूत देखे गये हैं अर्थात् इन सबके शरीरोंमें तो कुछ सार है किन्तु मनुष्यके शरीरमें कोई सार नहीं है ॥१०४५॥

छ्वालं मुचं दुहं षोष्णीयं रोयणा य गोणसस ।

सुचिया दिद्वा ण य अत्थि किंचि सुचि मणुयदेहे ॥१०४६॥

बसुद ॥१०४६॥

व्याधि इत्येवंपाचष्टे प्रबन्धेनोत्तरेण—

वाइयपिसियसिमियरोगा तण्हा छुहा समादी य ।

गिच्चं तवति देहं अह्हिदजलं व जह अग्गी ॥१०४७॥

‘वाइयपिसियसिमियरोगा’ दोषत्रयप्रभवा व्याधयः । तृष्णासुषाभ्रम इत्याद्यवयव । देहं निरयं तपन्ति
ज्वलितोऽग्निजलमिव बुल्युपरिस्थितभावनगतं ॥१०४७॥

जदिदा रोगा एकम्मि चेव अच्छिम्मि होति छण्णालदी ।

सच्चम्मि दाहं देहे होद्वं कदिहिं रोगेहिं ॥१०४८॥

‘अदिदा रोगा एकम्मि चेव अच्छिम्मि होति छण्णालदी’ यदि तावद्रोगा एकस्मिन्नेव नेत्रे घण्णवति-
संख्या भवन्ति । ‘सच्चम्मि दाहं देहे’ समस्ते इदानी शरीरे । ‘होद्वं कदिहिं रोगेहिं’ कतिभिर्व्याधिभिर्भवि-
तव्यम् ॥वाधियदां॥१०४८॥

अधुवतामुत्तरया गाथयाचष्टे—

पीणत्थणिदुवदणा जा पुब्बं जयणदइदिया आसे ।

सा चेव होदि संकुडिदंगी विरसा य परिजुण्णा ॥१०४९॥

‘पीणत्थणिदुवदणा’ पीनस्तनभावासम्पूर्णचन्द्रानना । ‘जा पुब्बं’ या पूर्वं । ‘जयणदइदिया’ तयनबल्लभा

शा०—बकरेका मूत्र, गायका दूध, बैलका गोरचन लोकमें पवित्र माने गये हैं परन्तु
मनुष्यके शरीरमें किञ्चित् भी शुचिता नहीं है ॥१०४६॥

इस तरह शरीरकी अशुचिताका कथन क्रिया, आगे व्याधिका कथन करते हैं—

शा०—जैसे आग चूल्हेके ऊपर स्थित पात्रके जलको तपाती है वैसे ही वात पित्त और
कफले उत्पन्न हुए रोग तथा भूख प्यास श्रम आदि शरीरको सदा तपाते हैं दुःख देते हैं ॥१०४७॥

शा०—यदि एक नेत्रमें ही छियानबे रोग होते हैं तो समस्त शरीरमें कितने रोग
होंगे? ॥१०४८॥

आगेकी गाथासे अधुवत्वका कथन करते हैं—

शा०—इस शरीरका स्वरूप तो देखो । जो स्त्री पूर्वं यौवन अवस्थामें पुष्टस्तनवाली,
सम्पूर्ण चन्द्रमाके समान मुखवाली और नेत्रोंको प्रिय थी वही स्त्री वृद्धावस्थामें संकुचित

१. मिम चेव दे-अ० ।

२. इस गाथाके पश्चात् आशाघरने नीचे लिखी गाथा भी है—

पंचेव य कोडीओ भवति सह अट्टुवड्डिककणाहं ।

जयणवरि च सहस्सा पंचसया होति बुलसीधी ॥

पाँच करोड अड़सठ लाख, विष्यानबे हजार पाँच सौ बीसवीं रोग शरीरमें होते हैं ।

गता । 'सा चेव होदि संकुचिर्बन्धी' सैव भवति संकुचिततनुः । 'विरसा' कामरसरहिता । 'वरिमुग्धा' परितो शीर्षा जरकुटीव ॥१०४९॥

जा सम्बसुंदरंगी सबिलासा पदमजोम्बणे कंता ।

सा चेव मदा संती होदि हु विरसा य बीमच्छ ॥१०५०॥

'जा सम्बसुंदरंगी' यस्याः सर्वाणि अङ्गानि सुन्दराणि । 'सबिलासा' विलाससहिता । 'पदमजोम्बणा' प्रथमयोचना । 'कंता' कान्ता । 'सा चेव मदा संती' सैव मृदा सती । 'होदि हु विरसा' यवनि विरसा । 'बीमच्छ' सुपुत्रनीया ॥१०५०॥

शरीरसम्बोधोऽभवता म्याख्याता गाथाहमेव । सम्पत्नोः संयोगस्याद्युवतां म्याचष्टे—

भरदि सयं वा पुष्यं सा वा पुष्यं भरिज्ज से कंता ।

जीवंतस्स व सा जीवंती हरिज्ज बलिण्हिं ॥१०५१॥

'भरदि सयं वा पुष्यं' त्रियते स्वयं वा पूर्वं पुमान् । 'सा वा पुष्यं चिन्वेत्' । 'से' तस्य पुनः कान्ता । 'जीवंतस्स' जीवतो वा, सा जीवन्ती हियते 'बलिण्हिं' बलिनिरपरेः । इत्थं संयोगस्य बहुधाऽनित्यता ॥१०५१॥

सा वा हचे विरसा महिला अण्णेण सह पलाएज्ज ।

अपलायंती व तगी करिज्ज से वेमण्णस्साणि ॥१०५२॥

'सा वा होञ्च विरसा' सा भवेद्विरक्ता पुत्रे तथापि तयोः संगतिः । 'महिला अण्णेण वा सह पलाएज्ज' सा विरक्ता युवतिरन्वेन वा सह पलायनं कुर्यात् । 'अपलायन्ती' अपलायमाना वा । 'तगी' सा । 'करेञ्च से वेमण्णस्साणि' कुर्यात्तस्य चेतोदुःखानि ॥१०५२॥

शरीरस्याद्युवतामाचष्टे—

अंगवाली, श्रुङ्गार हास्य भादि काम रससे रहित अत्यन्त जीर्ण शोषणीकी तरह दिखाई देती है ॥१०४९॥

गा०—जो स्त्री यौवनके प्रारम्भमें सर्वांगसुन्दर तथा विलाससे पूर्ण था वही मरनेपर विरस और ग्लानियोग्य दिखाई देती है ॥१०५०॥

इस प्रकार दो गाथाओंसे शरीरकी सुन्दरताको अस्थायी कहा । अब पति-पत्नीके संयोगको अस्थायी कहते हैं—

गा०—पहले पति मर जाता है अथवा पहले पत्नी मर जाती है । अथवा पतिके जीवित रहते हुए अन्य बलवान् पुरुष उसकी जीवित पत्नीको हारकर ले जाते हैं । इस प्रकार पति-पत्नी-संयोग अनित्य होता है ॥१०५१॥

गा०—अथवा पत्नी पतिसे विरक्त हो जाती है और विरक्त होकर वह दूसरेके साथ भाग जाती है । न भी भागे तो पतिके चित्तको दुःख देनेवाले कार्य करती है ॥१०५२॥

अब शरीरकी अस्थिरता बतलाते हैं—

रूपाणि कङ्कम्मादियाणि चिद्भिः सार्वेत्तस्त ।

चण्डिं पि सार्वेत्तस्त ठादि ञ चिरं सरीरमिमं ॥१०५३॥

'रूपाणि कङ्कम्मादियाणि' काष्ठे उत्कीर्णानि रूपाणि स्त्रीणां पुंसो अन्वेषां च आदिचन्द्रेण विद्या-
व्यापिरूपपरिग्रहनिचरं 'चण्डिंति सार्वेत्तस्त' चिरं तिष्ठन्ति संस्कुन्तः । 'चण्डिं पि सार्वेत्तस्त' नितरा-
मपि संस्कुन्तः । 'ठादि ञ चिरं सरीरमिमं' न तिष्ठति चिरं शरीरमिमं ॥१०५३॥

न च केवलं शरीरमेव अनित्यमपि त्वन्यदपि इति व्याचष्टे—

मेघद्विमफेनउक्कासंज्ञाजलबुब्बुदो व मनुगाणं ।

इदियजोष्वणमदिरुवतेयबलवीरियमणिचं ॥१०५४॥

'मेघद्विमफेनउक्कासंज्ञाजलबुब्बुदोव' मेघद्विमवत्फेनबुत्कावत्सन्ध्यावज्जलबुद्बुदवचच । 'मनुगाणं'
मनुजानां । 'इदियजोष्वणमदिरुवतेयबलवीरियमणिचं' इन्द्रियाणि, बीजन, मतिः, रूपं तेजो, बलं वीर्यं,
चानित्यं ॥१०५४॥

इति शरीरसम्पद्व्याचरते इत्याख्यायकं दर्शयति—

साधुं पडिलाहेदुं गदस्स सुरयस्स अग्गमहिसीए ।

णहुं सदीए अंगं कोटेण जहा म्मुत्तेण ॥१०५५॥

'साधुं पडिलाहेदुं' पवस्त' आधोराहारवानार्थं मतस्व । 'सुरयस्स' सुरतनामधेयस्य राज्ञः । 'अग्ग-
महिसीए' अग्रमहिष्याः । 'सदीए' सत्याः शोभनायाः । 'अंगं णदुं' शरीरं नष्ट । 'कोटेण' कुष्ठेन ।
'जहा म्मुत्तेण' यथा मुहूर्तेन ॥१०५५॥

बज्झो य णिज्जमाणो जह पियइ सुरं च खादि तंभोलं ।

कालेण य णिज्जतां विसए सेवंति तह मूढा ॥१०५६॥

शा०—सार सम्हाल करनेपर काष्ठ, पाषाण, हाथी दाँत आदिमें अंकित किये गये स्त्री
पुरुषोंके रूप चिरकाल तक रहते हैं। किन्तु यह शरीर अति सम्हाल करनेपर भी चिरकाल तक
महीं रहता ॥१०५३॥

आगे कहते हैं कि केवल शरीर ही अनित्य नहीं है किन्तु वस्तुएँ भी अनित्य हैं—

शा०—मनुष्योंके इन्द्रियाँ, बीजन, मति, रूप, तेज, बल और वीर्य ये सब मेघ, बर्फ, फेन,
उस्का, सन्ध्या और अलके बुलबुलेकी तरह अनित्य हैं ॥१०५४॥

शरीररूप सम्पदा नष्ट हो जाती है यह एक कथा द्वारा कहते हैं—

शा०—राजा सुरत साधुको आहार देने गया। इतनेमें ही उसकी पटरानी सतीका शरीर
एक मुहूर्तमें ही कोड़से नष्ट हो गया ॥१०५५॥

शा०—जैसे मारनेके लिए कोई किसी पुरुषको ले जाये और वह पुरुष मरनेकी चिन्ता
न करके शराब पिये और पान खाये। वैसे ही मूढ़ मनुष्य मृत्युकी चिन्ता न करके विषयोंका
सेवन करते हैं ॥१०५६॥

'कर्मज्ञो य विचक्षणश्चो' ह्यनु नियमानः । 'बहू विचरि' मया सुरो विवसि । 'कस्यि संकोचो' ताम्बूलं मसयति । तथा 'कालेन य विचरंता' मृत्युना नीयमाना मृदाः । 'विसर्गं केचि' विषयाननुभवन्ति ॥१०५६॥

बगधपरदो लग्नो मूले य ब्रह्मा ससप्यविलपदिदो ।

बहिदमधुविदुषकसधपरदिजो मूलमि छिज्जते ॥१०५७॥

'बगधपरदो' व्याघ्रेणामिदुतः । 'लग्नो' लग्नः । 'मूलमि' लतायाः मूलः । 'ससप्यविलपदिदो' ससर्प-वति विले पतितः । 'बहिदमधुविदुषकसधपरदिजो' स स्वधुनवस्थानपधिरमधुविन्द्यास्वादमरतिकः । 'मूलमि' 'छिज्जते' मूले छिद्यमाने मृषिकाम्रियया ॥१०५७॥

तह येव मञ्जुबगधपरदो बहुदुक्खसप्यबहुलग्नि ।

संसारविले पदिदो आसामूलमि संलग्नो ॥१०५८॥

'तह येव' तथैव । 'मञ्जुबगधपरदो' मृत्युव्याघ्रेण उपहृतः । 'संसारविले पदिदो' संसार एव विलः तस्मिन्पतितः । कीदृग्भूते ? बहुदुःखसर्पाकुले आशामूले । 'संलग्नो' सम्भग्नः ॥१०५८॥

बहुविषयमूसएहिं आसामूलमि तमि छिज्जते ।

लेहदि 'तहवि अलज्जो अप्सुहं विषयमधुविदु' ॥१०५९॥

'बहुविषयमूलमोहिं य' बहुभिभिन्नमूषकः । 'आसामूलमि तमि छिज्जते' आशान्क्ये मूले तस्मिन्विच्छ-माने । 'लेहदि' आदति । 'विषयविलग्नो' निर्भयो निर्लज्जश्च । 'अप्सुहं विषयमधुविदु' अल्पसुख विषय-मधुविन्दुं । अल्पसुखनिमित्तत्वात्सुखमित्युच्यते । विषयमधुविन्दुं विषयसम्भेन रूपाद्य इत्युच्यन्ते । तेषु पुरो-जस्थितं पुद्बलकक्षयस्य वर्तमानाः कतिपयाः पर्याया अतिस्वल्पास्त एव मधुविन्दवः । अधुवत् ॥१०५९॥

भा०-टी०-—जैसे पीछे लगे व्याघ्रके भयसे भागता हुआ कोई मनुष्य एक ऐसे कूपमें गिरा जिसमें सर्प रहता था । उस कूपकी दीवारमें एक वृक्ष उगा था । उसकी जड़को पकड़कर वह लटक गया । उस जड़को चूहे काट रहे थे । किन्तु उस वृक्षपर मधुमक्खियोंका एक छत्ता लगा था और उससे मधुकी बूँद टपककर उसके ओठोंमें आती थी । वह संकट मूल उसी मधु-विन्दुके स्वादमें आसक्त था ॥१०५७॥

भा०-—उसी मनुष्यकी तरह मृत्युरूपी व्याघ्रसे भीत प्राणी अनेक दुःखरूपी सर्पोंसे भरे संसार कूपमें पड़ा है और आशारूपी जड़को पकड़े हुए है ॥१०५८॥

भा०-टी०-—किन्तु उस आशारूप जड़को बहुतसे विघ्नरूपी चूहे काट रहे हैं । फिर भी वह निर्लज्ज निर्भय होकर क्षणिक सुखमें निमित्त विषयरूपी मधुकी बूँदके आस्वादमें डूबा हुआ है । यहाँ विषय शब्दसे रूप आदिको कहा है । उसके सामने वर्तमान जो पुद्बल स्कन्धकी कुछ थोड़ी-सी पर्यायें हैं वे ही मधुकी बूँद हैं । उसीमें वह आसक्त है ॥१०५९॥

इस प्रकार संसारकी अनित्यताका कथन किया ।

बालो अमेज्जालितो अमेज्जामज्जम्मि षेव जह रमदि ।

तह रमदि ञरो मूढो महिलामेज्जो सयममेज्जो ॥१०६०॥

'बालो अमेज्जालितो' बालोऽमेज्ज्येन लिप्तः । 'अमेज्जामज्जम्मि षेव' अमेज्जमन्थे एव । 'जह रमदि' यथा रमते प्रीतिमुपैति । 'तथा रमदि ञरो मूढो' तथा रमते मूढः नरः । 'महिलामेज्जो' योषिदेव अनेकामुचि-
पुर्णशरीरतया अमेज्जयद्देनोच्यते । सयममेज्जो स्वयममेज्जयुतः ॥१०६०॥

कुण्णिमरसकुण्णिमगंघं सेविता महिलियाए कुण्णिमकुडी ।

जं होति सोचयत्ता एदं हासावहं तेसिं ॥१०६१॥

'कुण्णिमरसकुण्णिमगंघं' अक्षुचिरसमक्षुचिमगंघं । 'सेविता' सेवमानाः । 'महिलियाए' महिलाया
युवस्याः । 'कुण्णिमकुडी' अक्षुचिशरीरकुटी । 'जं होति सोचयत्ता' यद्भवन्ति सोचयन्तः । 'एदं हासावहं'
एतच्छीघ्रत्वं हास्यावहं । 'तेसिं' तेषां ॥१०६१॥

एवं एदे अत्थे देहे चिंतंतयस्स पुरिसस्स ।

परदेहं परिभोत्तुं इच्छा क्ह होज्ज सचिणस्स ॥१०६२॥

'एवं एदे अत्थे' एवमेतानर्थान् । 'देहे' शरीरविषयान् । 'चिंतंतयस्स' चिन्तयतः । 'पुरिसस्स' पुरु-
षस्य । 'परदेहं' परस्य शरीर । 'परिभोत्तुं' परितो भोक्तु । 'इच्छा क्ह होज्ज' इच्छा कथं भवेत् । 'सचि-
णस्स' लज्जायतः ॥१०६२॥

एदे अत्थे सम्मं दोसं पिच्छंतओ ञरो सधिणो ।

ससरीरे वि विरज्जइ किं पुण अण्णस्स देहम्मि ॥१०६३॥

'एदे अत्थे देहस्स ओअण्णस्सिओत्ता' इत्येतत्सूत्रनिदिष्टानेतानर्थान् । 'देहे' शरीरे । 'पिच्छंतओ'
सम्बद् निरूपयन् । 'ससरीरे वि विरज्जइ' आत्मनोऽपि शरीरे विरक्ततामुपैति । 'किं पुण अण्णस्स देहम्मि'
किं पुनरन्यशरीरे विरक्तता नोपेयात् । 'अक्षुचि' अक्षुचित्वं व्याख्यातं ॥१०६३॥

शा०—जैसे मलसे लिप्त बालक मलमें ही रमता है वैसे ही मूढ़ मनुष्य स्वयं अत्यन्त मलिन
है और मलिनता भरे स्त्रीके शरीरमें रमण करता है ॥१०६०॥

शा०—युवतीका शरीर अक्षुचि रस और दुर्गन्धसे पूर्ण है । ऐसे अक्षुचि शरीरको सेवन
करता हुआ कामी पुरुष अपनेको क्षुचि-पवित्र मानता है उसकी यह पवित्रता हास्यास्पद
है ॥१०६१॥

शा०—इस प्रकार शरीरके विषयमें विचार करनेवाले पुरुषको शरीरसे म्लानि हो जाती
है तब उसे स्त्रीके शरीरको भोगनेकी इच्छा कैसे हो सकती है ॥१०६२॥

शा०—शरीरका बीज, उसकी निष्पत्ति आदिको सम्यकरूपसे निरीक्षण करनेवाला लज्जा-
शील मनुष्य अपने शरीरसे भी विरक्त हो जाता है तब अन्यके शरीरमें क्यों विरक्त नहीं
होगा ॥१०६३॥

इस प्रकार शरीरकी अक्षुचित्ताका कथन हुआ ।

बुद्धसेवापिस्वकाय उत्तरः अन्वयः बेरावा तरुणा वा इत्यादिकः । शीलबुद्धता भवति न केवलेन वचसा इत्यादि—

बेरा वा तरुणा वा बुद्धा सीलेहिं होंति बुद्धीहिं ।

बेरा वा तरुणा वा तरुणा सीलेहिं तरुणेहिं ॥१०६४॥

'बेरा वा तरुणा वा' स्वविरासतरुणाश्च । 'बुद्धा होंति' बुद्धा भवन्ति । 'सीलेहिं बुद्धेहिं' शीलैः प्रबुद्धैः । क्षमा, मार्दवं, श्रद्धापूर्वं, सम्पौर्वं इत्यादिकं शीलशब्देनोच्यन्ते । 'बेरा वा तरुणा वा' स्वविरासतरुणाश्च । तरुणा एव । 'सीलेहिं तरुणेहिं' तरुणैः शीलैः । एतेन शीलबुद्धा इह बुद्धशब्देन गृहीताः । एतेषां सेवा बुद्धसेवेति कथितं भवति । बुद्धगुणानां सेवातः स्वयमपि गुणोत्कर्षं गृणीतीति मन्यते ॥१०६४॥

अपि 'बेहवत्यादिनामबबोद्धानामपि संसर्गो गुणवाच्यतस्तेऽपि वयसैव' मन्दीभूतकामरतिवर्षक्रोधा इति वदति—

जह जह वयपरिणामो तह तह ञरसदि ञरस्स बल्लूव्वं ।

मंदा य इवदि कामरदिदम्पकीडा य लोमे य ॥१०६५॥

'जह जह वयपरिणामो' नस्तिस्त्वमिति यथा यथा वयःपरिणामो युवत्वमध्यमत्वसंज्ञितः । 'ञरस्स वरिणामो' प्राणिनः परिणामः नश्यति । 'तथ तथ से' तथा तथा तस्य 'मंदा इवन्ति' मन्दा भवन्ति । 'कामरदिवम्पकीडा' काम्यन्त इति कामा विषयास्तत्र रतिवर्षः, क्रोधा, 'लोमो य' लोमश्च । मन्दाविषयरत्यादिपरिणामेन बुद्धेन सह संवासात् स्वयमेवापि मन्धकामादिपरिणामो भवतीति भावः ॥१०६५॥

खोमेदि पत्थरो जह दहे पढंतो पसच्छमवि पंक्कं ।

खोमेह तहा मोहं पसच्छमवि तरुणसंसग्गी ॥१०६६॥

आगे बुद्धसेवाका कथन करते हुए कहते हैं कि केवल अवस्थासे बुद्धता नहीं होती—

भा०—टी०—अवस्थासे बुद्ध हो अथवा तरुण हो, जिसके शील अर्थात् क्षमा, मार्दवं, आर्जवं, सम्पौष आदि बड़े हुए हैं वे बुद्ध हैं । तथा अवस्थासे बुद्ध हों अथवा तरुण हों जिनके शील तरुण हैं—बुद्धिको प्राप्त नहीं हैं वे तरुण हैं । अतः यहाँ जो शीलसे बुद्ध हैं बुद्ध शब्दसे उनका ग्रहण किया है । उनकी सेवा बुद्ध सेवा है, यह कथनका अभिप्राय है । गुणोंसे बुद्ध पुरुषोंकी सेवा करनेमें स्वयं भी मनुष्य गुणोंमें उत्कर्षको प्राप्त होता है ॥१०६४॥

आगे कहते हैं कि अवस्थासे बुद्धोंका संसर्ग भी लाभकारी है क्योंकि अवस्थाके कारण ही उनका कामचर आदि मन्द हुआ है—

भा०—बैसे-बैसे मनुष्यकी युवावस्था, मध्यावस्था बीतती जाती है जैसे-जैसे उसकी काम-विषयक रति, मद, क्रोध आदि मन्द होते जाते हैं । इसका भाव यह है कि जिसका कामभाव रूप परिणाम मन्द होता है उस बुद्धके साथ रहनेसे मनुष्य स्वयं भी मन्द कामभाव आदिसे युक्त होता है ॥१०६५॥

१. बेह वत्यादीनामपि संसर्गो गुणवाच्यतस्तेऽपि तपर्वव-आ० मु० । २ तपसैव सम्प्यभूत काम-व० ।

'सोमेवि' सोभवति । 'सत्त्वो' सिका महती । 'बहू' यथा । 'बहो' हृदे 'बर्धते' पतन् । 'सत्त्वमन्वि' र्बर्ध' प्रशान्तमपि पशु । 'सोमेवि' चालयति । 'तथा मोहो' । 'सत्त्वमन्वि' प्रशान्तमपि । 'तत्त्वसंज्ञानी' तरुणयोऽपि ॥१०६६॥

कलुसीकर्दपि उदगं अञ्छं जह होइ कदयजोएण ।

कलुसो वि तहा मोहो उवसमदि हु बुद्धसेवाए ॥१०६७॥

'कलुसीकर्दपि उवगं' कलुषीकृतमप्युषकं । 'कदयजोएण' कतकफलसम्बन्धेन । 'अञ्छं' त्वञ्छं । 'जय होवि' यथा भवति । 'कलुसोऽपि' कलुषितोऽपि । 'मोहो' मोहः । 'उवसमदि' उपशान्तयति । 'बुद्धसेवाए' बुद्धसेवया ॥१०६७॥

लीणो वि मङ्गियाए उदीरदि जलासयेण जह गंधो ।

लीणो उदीरदि नरे मोहो तरुणासयेण तहा ॥१०६८॥

'लीणो वि' लीणोऽपि । 'मङ्गियाए' मूलिकायाः । 'गंधो' गन्धः । यथा 'जलासयेण' जलाश्रयेण । 'उदीरदि' उदयमुपैति । 'लीणो वि मोहो' लीणोऽपि नरे मोहः । 'उदीरदि' उदयमुपनीयते । 'तरुणासएण' तरुणाश्रयेण तथा ॥१०६८॥

संतो वि मङ्गियाए गंधो लीणो हवदि जलेण विणा ।

जह तह गुट्टीए विणा नरस्स लीणो हवदि मोहो ॥१०६९॥

'संतो वि' सन्तपि मूलिकाया गन्धः । जलेन विना लीणो भवति यथा तथा गोष्ठया विना मोहो नरस्य लीणो भवति ॥१०६९॥

तरुणो वि बुद्धसीलो होदि नरो बुद्धसंसिओ अचिरा ।

लज्जासंक्रामाणावमाणमयभ्रम्बुद्धीहि ॥१०७०॥

भा०—जैसे तालाबमें गिरकर पत्थर उसकी तलसे बैठी हुई पंक्तो उभारकर निर्मल जलको मलिन कर देता है, वैसे ही तरुणांका संसर्ग प्रशान्त पुष्पके भी मोहको उद्भिक्त कर देता है ॥१०६६॥

भा०—और जैसे कतकफल डालनेसे गदला पानी भी निर्मल हो जाता है वैसे ही बुद्ध पुष्पोंकी सेवासे कलुषित मोह भी शान्त हो जाता है ॥१०६७॥

भा०—जैसे मिट्टीमें छिपी हुई गन्ध जलका आश्रय पाकर प्रकट हो जाती है। वैसे ही तरुणोंके संसर्गसे मनुष्यमें छिपा हुआ मोह उदयमें आ जाता है ॥१०६८॥

भा०—और जैसे मिट्टीमें कर्तमान होते हुए भी गन्ध जलके बिना मिट्टीमें ही लीन रहती है। वैसे ही तरुणोंके संसर्गके बिना मनुष्यका मोह उसीमें लीन रहता है, बाहरमें प्रकट नहीं होता ॥१०६९॥

भा०—बुद्ध पुष्पोंके संसर्गसे तरुण भी शीघ्र ही लज्जासे, शंकासे, मानसे, अपमानके भयसे और धर्मबुद्धिसे बुद्धशील हो जाता है ॥१०७०॥

'तत्त्वो वि' तत्त्वोऽपि । वृद्धत्वीको भवति + वृद्धं त्रिभितोऽपिरात् कञ्च्वा, क्वच्वा, मानेन, अपमान-
भयेन चर्म्मवृद्धया च ॥१०७०॥

वृद्धो वि तरुणसीलो होइ षरो तरुणसंसिजो अशिरा ।
वीसंभणिविसंको समोहणिवज्जो य पयडीए ॥१०७१॥

'वृद्धो वि' वृद्धोऽपि तरुणसीलो भवति तत्त्वसंभितः क्षिप्रं । 'विसंभणिविसंको' विध्वंसेन निविशकः
'समोहणिवज्जो य' सह मोहनीयेन वर्तमानः । 'पयडीए' प्रकृत्या ॥१०७१॥

सुंढयसंसग्गीए जह पादुं सुंढओऽभिलसदि सुरं ।
विसए तह पयडीए संमोहो तरुणगोड्डीए ॥१०७२॥

'सुंढयसंसग्गीए' यथा शीघ्रगोष्ठ्या । 'जह पादुं' सुरभनिलसदि' यथा पादुं सुराभनिलसति । तथा
'पयडीए संमोहो' तथा प्रकृत्या समोहः । 'तत्त्वमोहोए विसए अभिलसदि' तरुणगोष्ठ्या विषयान-
भिलसति ॥१०७२॥

तरुणोहिं सह वसंतो चलिदिजो चलमज्जो य वीसत्वो ।
अचिरेण सइरचारी पावदि महिलाकदं दोसं ॥१०७३॥

'तरुणोहिं' तरुणः सह वसन् चलेन्द्रियचलचित्तः, सुष्टु विस्वस्तः अचिरेण स्वीरचारी । 'पावदि'
प्राप्नोति । 'महिलाकदं दोसं' यनिताविषयं दोषं ॥१०७३॥

पुरिसस्स अप्पसत्थो मावो तिहिं कारणोहिं संभवइ ।
विरहम्मि अंचयारे कुसीलसेवाए ससमक्खं ॥१०७४॥

'पुरिसस्स' पुरुषस्य अप्रसस्तो भावस्त्वितिः कारणैः संभवति । एकान्ते, अन्धकारे, कुसीलसेवायथांनेन
च प्रत्यक्षम् ॥१०७४॥

शा०—तथा तरुण पुरुषोंकी संगतसे वृद्ध पुरुष भी शीघ्र ही विश्वासके कारण निर्भय
होनेसे और स्वभावसे ही मोहयुक्त होनेसे तरुणशील तरुणोंके स्वभाववाला हो जाता है ॥१०७१॥

शा०—जैसे मद्य पीनेवालोंके संसर्गसे मद्यपी मद्यपान करनेकी अभिलाषा करने लगता है
वैसे ही स्वभावसे ही मोहो जीव तरुणोंके संसर्गसे विषयोंकी अभिलाषा करता है ॥१०७२॥

शा०—जो तरुणोंकी संगतमें रहता है उसकी इन्द्रियां चंचल होती हैं, मन चंचल होता
है, और पूरा विश्वासी होता है । फलतः शीघ्र ही स्वच्छन्द होकर स्त्रीविषयक दोषोंका भागी
होता है ॥१०७३॥

पुरुषमें (और स्त्रीमें भी) तीन कारणोंसे अप्रशस्तभाव अर्थात् काम सेवनकी अभिलाषा
दुःकभाव होता है—

शा०—एकान्तमें स्त्रीके साथ पुरुषका और पुरुषके साथ स्त्रीका होना, अन्धकारमें तथा
स्त्री पुरुषके काम सेवनको प्रत्यक्ष देखनेपर ॥१०७४॥

पासिच सुष्वा व सुरं पिञ्जंतं सुंदओ मिलसदि जहा ।

विसए य तह समोहा पासिच सोष्वा व मिलसह ॥१०७५॥

'असिवा सुष्वा व सुरं' सुरं पीवमलां वृद्धा वा भूत्वा वा शौभोऽभिलषति । यथा तथा समोहो विषयान्भिलषति वृद्धा भूत्वा वा ॥१०७५॥

आदो खु चारुदपो गोड्डीदोसेण तह विणीदो वि ।

गणियासपो मज्जासपो कुलदूसओ य तथा ॥१०७६॥

'आदो खु चारुदपो' विनीतोऽपि चारुदती गोष्ठीदोषेण गणिकासक्तो जातः मद्यावसक्तः कुल दूषकरच ॥१०७६॥

तरुणस्स वि वेरगां पण्हाविज्जदि णरस्स बुद्धेहिं ।

पण्हाविज्जह पाठच्छीवि हु वच्छस्स फल्लसेण ॥१०७७॥

'तरुणस्स वि' तरुणत्वापि वेराग्यं जग्यते ज्ञानवयस्तपोभूटैः । वत्तस्य स्पर्णेन यथा गीः प्रस्तुतवीरा क्रियते ॥१०७७॥

परिहरइ तरुणगोड्डी विसं व बुद्धाउले य आयदणे ।

ओ वसइ कुणइ गुण्णिदे सं सो निच्छइ वंमं ॥१०७८॥

'परिहरइ तरुणगोड्डी' परिहरति तरुणैः सह मोक्षी विषयिण यः, बुद्धराकोपे पायतने यो वसति । करोति च पुत्राणां स निस्तरति ब्रह्मचर्यमिति संज्ञेपोषवेशः । बुद्धसेवा गता ॥१०७८॥

स्त्रीसंबर्णकृतदोषावेक्षणं स्वमनसा संसन्मीदोसावि य इत्यस्य सूत्रपदस्यार्थः साध्याहारतया सूत्रार्था पि-
च्छिञ्जता इति वाक्यशेषात्—

भा०—बैसे मद्यपी किसीको मद्य पीते देखकर अथवा सुनकर मद्यपानकी अभिलाषा करता है । वैसे ही मोही मनुष्य विषयोंको देखकर अथवा सुनकर विषयोंकी अभिलाषा करता है ॥१०७५॥

भा०—बिनयधान भी चारुदत सेठ संगतिके दोषसे गणिकामें आसक्त हुआ, मद्यपानमें आसक्त हुआ और अपने कुलका दूषक हुआ ॥१०७६॥

भा०—ज्ञान, वय और तपसे बद्ध पुरुषोंकी संगति तरुणपुरुषोंमें भी वेराग्य उत्पन्न करती है जैसे बछड़ेके स्पर्शसे गौके स्तनोंमें दूध उत्पन्न होता है ॥१०७७॥

भा०—जो तरुणोंकी संगतिके विषयों तरह जानकर छोड़ देता है और ज्ञान तप शीलसे बद्ध पुरुषोंके वासस्थानमें रहता है वह गुरुकी आज्ञाका पालन करता है और ब्रह्मचर्यको पालता है ॥१०७८॥

बुद्ध संगतिका प्रकरण समाप्त हुआ ।

अब स्त्रीके संसर्गसे होनेवाले दोषोंको कहते हैं—

आलोचनेन हृदयं पचन्ति पुरिसस्त अप्सारस्त ।

वेच्छन्त्यस्त बहुसो इत्थीधनजह्वनदध्वनि ॥१०७९॥

आलोचनेन आलोचनेन । 'हृदयं' हृदयं प्रचलति । 'अप्युत्तिकृत्य पुंसः' प्रेक्षामागत्य बहुसो मुवतीनां वदनपयोधरपुमुचयानि ॥१०७९॥

लज्जं तदो विहितं परित्रयमथ निम्बिसंकिं वेव ।

लज्जालुजो क्रमेणारुहंतजो होदि वीसत्थो ॥१०८०॥

'लज्जं तदो विहितं' ततो हृदयचकनोत्तरकारं लज्जां विनाशयति । विपच्छलज्जः परित्रयमुपैति । तामिर्दशनसमीपमनहसनादिकं करोतीति यावद् । पचन्तिविचंचको भवतीति यावन्वा सह स्थित पचन्ति इति या शंका तामपाकरोति । लज्जावानपि नरः क्रमेण अभिहिता अवस्था उपारोहन्, विषयस्तो भवति ॥१०८०॥

वीसत्थदाए पुरिसो वीसंभं महिलियासु उवयादि ।

वीसंभादो पणयो पणयादो रदि ह्वदि पच्छ ॥१०८१॥

'वीसत्थदाए' विषयस्ततया मनसः किञ्चममुपयाति मुचतिपु । विभ्रंभात्त्रयय' प्रणयाव्रतिभंभति ॥१०८१॥

उच्छावसमुच्छावएहिं चा वि अम्लियनपेच्छनेहिं तथा ।

महिलासु सइरचारिस्त मनो अचिरेण सुग्मदि हु ॥१०८२॥

'उच्छावसमुच्छावोहिं' संभाषणप्रतिवचनैः, हीकनेन, प्रेक्षणेन, तथा वनितार्थिः स्वेच्छाचारी तस्य वीर्य' मनश्चलति ॥१०८२॥

ठिदिगादिविलासविभ्रमसहासचेष्टिदकडकखदिह्रीहिं ।

लीलाजुदिरदिसम्मेलणोवयारेहिं इत्थीणं ॥१०८३॥

गा०—युवती स्त्रियोंका मुल, स्तन और स्थूल नितम्बोंको बराबर ताकते रहनेसे चंचल चित्त मनुष्यका हृदय विचलित हो जाता है ॥१०७९॥

गा०-डी०—हृदयके विचलित होनेके पश्चात् उसकी लज्जा जाती रहती है । निर्लज्ज होनेके पश्चात् वह उन स्त्रियोंको देखना, उनके समीप जाना, उनसे हँसी ठोली करना आदिके द्वारा परित्रय प्राप्त करता है । पीछे उसका यह भय जाता रहता है कि लोग मुझे इनके साथ देखेंगे । इस तरह लज्जाशील मनुष्य भी क्रमसे कही गई अवस्थाओंको प्राप्त करता हुआ स्त्रियोंके विषयमें विषयस्त हो जाता है कि यह मुझसे अनुराग करती है और किसीसे यह कहेगी नहीं आवि ॥१०८०॥

गा०—अपने मनमें ऐसा विश्वास होनेसे वह स्त्रियोंमें भी विश्वास करने लगता है और प्रेमसे आसक्ति बढ़ती है ॥१०८१॥

गा०—आसक्ति बढ़नेसे परस्परमें वार्तालाप होने लगता है । बार-बार मिलना और परस्पर देखना होता है । इससे स्त्रियोंके सम्बन्धमें स्वेच्छाचारी मनुष्यका चित्त वीर्य ही विचलित हो जाता है ॥१०८२॥

'विदिवी'—स्त्रीयां स्विस्ता, यत्वा विप्रमेव, गर्तनाचिद्रामेव, विद्रुहनेन, कटाक्षायकोमेव, शोभया, सुत्पा, क्रीडया, सहवमनासनादिना उपचारेण च ॥१०८१॥

हासोपहासकीदारहस्सबीसत्त्वजंपियहिं तहा ।

लज्जामज्जादीषं मेरं पुरिसो अदिक्कमदि ॥१०८४॥

'हासोपहासकीदा' हासेन प्रतिहासेन च, क्रीडया, एकान्ते विस्वस्सर्जस्सतेन च लज्जामयीदियोः सीमातिक्रमं करोति नरः ॥१०८४॥

ठाणमदिपेच्छिद्रुल्लाघादी सञ्जेसिमेव इत्थीणं ।

सविलासा चेव सदा पुरिसस्स मनोहरा हुंति ॥१०८५॥

'ठाणमदि' स्थानं, पविः, प्रेक्षितमुल्लापमत्याद्यः सर्वात्तामेव स्त्रीया सर्वाकासाः पुरुषस्य मनः सदा-पहरन्ति ॥१०८५॥

संसग्गीए पुरिसस्स अप्पसारस्स लद्धपसरस्स ।

अग्गिसमीवे' व थयं मणो लहुमेव हि विलाइ ॥१०८६॥

'संसग्गीए' सहवमनेन, गमनेन, आसनेन च पुरुषस्य अल्पसारस्य लब्धप्रसरस्य मनो इवोभवति । अग्गिसमिचित्ता आसने ॥१०८६॥

संसग्गीसम्मूहो मेहुणसहिपो मणो हु 'दुम्मैरो ।

पुब्बावरमगणंते 'लंकेज्ज सुसीलपायारं ॥१०८७॥

'संसग्गीसम्मूहो' स्त्रीसंसर्पसंयुतः मनो विपुनकर्मपरिणत निर्मर्यादं पूर्वापरमगणयदुल्लंघयेच्छी लप्रकारं ॥१०८७॥

शा०—डी०—तथा स्त्रियोंके सङ्गे होने, गमन करने नेत्रोंके अनुराग, कटाक्ष क्षेप, हास्य-पूर्ण चेष्टा, शोभा, कान्ति, क्रीड़ा, साथ-साथ चलना, बैठना आदि उपचारोंसे, ह्लास उपहाससे, तथा एकान्तमें विश्वासयुक्त वार्तालापसे पुरुष लज्जा और मर्यादाकी सीमाका उल्लंघन करता है ॥१०८३-१०८४॥

शा०—सब ही स्त्रियोंका विलास सहित सङ्गा होना, गमन करना, देखना, बोलना आदि सदा पुरुषोंके मनको हरता है ॥१०८५॥

शा०—निर्बल चित्त और स्वेच्छाचारी मनुष्यका मन स्त्रियोंके संसर्गसे उनके साथ उठने बैठने और जानेसे आगेके पासमें रखे घी या लाखकी तरह द्रवीभूत हो जाता है ॥१०८६॥

शा०—इस प्रकार स्त्रीके सहवाससे मूढ़-मोहित हुआ मन मैथुन संज्ञासे पीड़ित होकर निर्मर्याद हो जाता है और आगे पीछे न देखते हुए सुन्दर शीलरूपी परिकोटको लीज आता है ॥१०८७॥

इदिविकसाम्यं सञ्जामारवगुल्या सभापदो सञ्चे ।

संसगिलहृपसरस्त ते उदीरति अचिरेण ॥१०८८॥

‘इदिविकसाम्यं सञ्जामारवगुल्या’ इतिवैः, कषायैः, संज्ञाभिः सञ्जामारवस्यैवैवुषपरिच्छेदनिषयानिः ऋद्धिरस-
सातगौरवैश्च गुल्काः । सञ्जामाद् सर्वं एव प्राच्युतः संसर्गलम्बाप्रसरस्य अतीव अशुभपरिणामा अपिरासैवो
स्पद्यन्ते ॥१०८८॥

मादं मुदं च भगिणीमेगते अञ्जियंतवस्त मणो ।

सुख्यह नरस्त सहसा किं पुन सेसासु महिलासु ॥१०८९॥

स्पष्टार्था ॥१०८९॥

उत्तरा—

जुष्यं षोष्यलमहलं रोगिववीभस्तसंसञ्चविरुधं ।

मेदुणपडिगं पच्छेदि मणो तिरियं च सु नरस्त ॥१०९०॥

‘जुष्यं’ जीर्णतरां । ‘षोष्यलमहलं’ निःसारमलिनां । ‘रोगिववीभस्तसंसञ्चविरुधं’ व्याधितं वीभस्त-
लोचना विरूपामपि स्त्रियं । ‘मेदुणपडिगं’ मैथुनकर्मनिमित्तं ‘पच्छेदि’ प्रार्थयते । ‘मणो’ मनः । ‘तिरियं च’
तिरस्यो वा दृष्ट्वा हि तीव्रकामावेशात् तिर्यस्वपि नराणा प्रवृत्तिः ॥१०९०॥

दिह्वाणुभूदसुदविसयाणं अभिलाससुमरणं सञ्चं ।

एसा वि होइ महिलासंसग्गी इत्थिविरहम्मि ॥१०९१॥

‘दिह्वाणुभूदसुदविसयाणं’ दृष्टाना, अनुभूताना, श्रुताना च विषयाणां । ‘अभिलाससुमरणं’ अभिलाष-
स्मरण । ‘सञ्चं’ एतेष्वि होषि महिलासंसग्गी’ एषोऽपि भवति युवतिसंसर्गः । ‘इत्थिविरहं’ स्त्रीविरहे ॥१०९१॥

वेरो बहुस्तुदो वा पच्छई ओ तह मणी तवस्सिधि ।

अचिरेण लभदि दोसं महिलावग्गम्मि वीसत्थो ॥१०९२॥

शा०—स्वभावसे ही सब प्राणी इन्द्रिय, कषाय, आहार भय मैथुन और परिग्रह विषयक
संज्ञा तथा ऋद्धिगौरव, रसगौरव और सातगौरवसे युक्त होते हैं । अतः स्त्रीकी संगतिका
साहाय्य पाकर वे इन्द्रियादिरूप अशुभ परिणाम तत्काल प्रबल हो उठते हैं ॥१०८८॥

शा०—एकान्तमें माता, पुत्री और बहनको पाकर जब मनुष्यका मन सहसा चंचल हो
उठता है तब शेष स्त्रियोंके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है ॥१०८९॥

शा०—मनुष्यका मन अति वृद्धा, सारहीन, मेली, कुचैली, रोगी, देखनेमें भयानक कुरूप
स्त्रीको भी मैथुन करनेके लिए चाहता है । तथा तीव्र कामके आवेशमें पशुओंके साथ भी मनुष्य
मैथुन कर्म करता है ॥१०९०॥

अन्य प्रकारसे स्त्री संसर्ग दिखलाते हैं—

शा०—स्त्रीके अभावमें देखे हुए, भोगे हुए, सुने हुए विषयोंकी अभिलाषा करना, स्मरण
करना, ये सब भी स्त्री संसर्ग ही हैं ॥१०९१॥

१. दो पच्छई पमाणं मणी—पृ० ।

'केरो' स्वभिरः, बहुभूतः, अस्वभितः, प्रमावभूतः नवधरः, तपस्वीत्वेवं प्रकारः । 'अधिरेण' धिर-
कालकालरेण । 'कमधि योसं' अवधो कन्धे । 'अधिसावन्मिन्' युवधिवर्गे । 'बीकन्धे' विभवस्तः ॥१०९२॥

किं पुण तस्मा अवहुस्तुत य तद्वरा य विगदवेसा य ।
महिलासंसग्मीए ञ्हुा अधिरेण होइति ॥१०९३॥

'किं पुण तस्मा' स्वीयनाः, अवहुस्तुताः, स्वैरधारिणः, विद्वतवेवाचन युवधिसंसर्गेण श्रुतिरि नष्टा
न भवति ? किं पुनर्भवत्येवेति यावत् ॥१०९३॥

सगहो हु अद्विधाए संसग्मीए दु चरणपम्भट्टो ।
मणिवासंसग्मीय य कूबचारो तथा ञ्हुो ॥१०९४॥

'सगहो हु' सगहा नामधेयः । 'अद्विधाए संसग्मीए' अद्विधासंज्ञायाः संसर्गेण । 'चरणपम्भट्टो'
धारिणाद्भ्रष्टः । 'मणिकासंसग्मीए' मणिकायोष्ठया । 'कूबचारो वि' कूपारनामकः । 'तथा ञ्हुो' तथा
धारिणात्भ्रष्टः ॥१०९४॥

रुहो परासरो सञ्चर्यय रापरिसि देवपुत्तो य ।
महिलारूवालोई ञ्हुा संसचदिद्वीए ॥१०९५॥

'रुहो परासरो' वरः, पराधरः, सात्यकिः, राजाधिर्वैवपुत्रश्च युवतिरूपावलोकिनः । ससक्त्या वृष्ट्या
नष्टाः ॥१०९५॥

जो महिलासंसग्मी विसंघ दद्वृण परिहरइ जिच्चं ।
मित्थरइ बंमचेरं जावज्जीवं अकंधा सो ॥१०९६॥

जो महिलायाः स्त्रीणां संसर्गं विषमिव वृष्ट्वा नित्यं परिहरति । अतो ब्रह्मचर्यं उद्वहति यावन्धीवं
निरचलः ॥१०९६॥

वा०—बुद्ध, बहुभूत, सबका विस्वास भाजन, सबके लिए प्राणभूत, गणधर और तपस्वी
मनुष्य भो यदि स्त्रियोके विषयमें विद्वस्त है उनसे संसर्ग रहता है तो वह भी शीघ्र ही अपयश-
का भागी होता है ॥१०९२॥

वा०—तब जो तस्म हैं, अस्पृजानी हैं, स्वच्छन्द और विकार पैदा करनेवाला बंध रहते
हैं वे स्त्रियोके संसर्गसे शीघ्र ही नष्ट क्यों न होंगे ? अवश्य ही होंगे ॥१०९३॥

वा०—शकट नामक मुनि जैनिका नामक ब्राह्मणीके संसर्गसे चारित्रसे भ्रष्ट हुए । और
कूपार नामक मुनि वेद्याकी संगतिके कारण चारित्रसे भ्रष्ट हुए ॥१०९४॥

वा०—छत्र, पाराधर ऋषि, सात्यकि मुनि, राजाधि, और देवपुत्र ये स्त्रीके रूपको देखनेमें
आसक्त होकर भ्रष्ट हुए ॥१०९५॥

वा०—जो पुरुष स्त्रीके संसर्गको विषकी तरह देखकर नित्य ही उससे बचता है वह
निरचल होकर जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्यका पालन करता है ॥१०९६॥

सम्बन्धि इतिवक्तव्यम् अन्वयतो सदा शब्दीकरणे ।

बंधं निष्कारदि बंधं चरित्रसूक्तं चरित्रसारं ॥१०९७॥

'सम्बन्धि' सर्वस्वीकर्तव्यं । अत्रगतः सदा अन्वयस्तः, ब्रह्मसंस्तुतिश्च चरित्रस्य मूलं सारं च ॥१०९७॥

किं मे संबन्धि किं मे पस्सदि अणो क्वं च बहुभि ।

इदि जो सदानुपेक्षद् सो दृढबन्धवो होदि ॥१०९८॥

'किं मे संबन्धि' किं अन्वयति मां जनोऽयः । किं पस्सदि, कीदृशी वा मम वृत्तिरिति यः सदानुपेक्षते तस्यो दृढबन्धवर्भवतो भवति ॥१०९८॥

मज्झिहवित्पससरं च इत्थिरुवं च पासदि चिरं जो ।

सिष्यं पदिसंहारदि दिदिं सो निष्कारदि बंधं ॥१०९९॥

'मज्झिहवित्पससरं' च' मध्यान्ते स्थितं तीक्ष्णमावित्त्वामिन् स्त्रीणां रूपं चिरं यो न पश्यति । शिष्यमुप-
संहारति वृद्धि यः स निस्तरति ब्रह्मचर्यं ॥१०९९॥

एवं जो महिलाए सद्दे रूपे तद्देव संफासे ।

च चिरं जस्स सज्जदि दु मणं सु निष्कारदि सो बंधं ॥११००॥

'एवं जो महिलाए' एवं यो युवतिसम्बन्धे, रूपे, संस्पर्शे च चिरं मनो न संघतेऽपि ब्रह्म निस्तरति ।
'संस्पर्शी' ॥११००॥

इह परलोए जदि दे मेहुणविस्सुचिया हवे जण्डु ।

तो होदि तद्दुवउचो पंचविधे इत्थिवेएग्गे ॥११०१॥

'इह परलोए' इह परलोके च यदि मैत्रुणपरिणामो भवेत् । पंचविधे स्त्रीवैराग्ये त्वमुपयुक्तो भव । तमु-
पयोवाहिनपयत्वसावशुभ्रतमः परिणाम इति सुरेव्यवेसः ॥११०१॥

वा०—जो पुरुष सम्पूर्ण स्त्री वर्गमें प्रमाद रहित है और सदा स्त्रियोंका विश्वास नहीं करता । वह ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करता है जो ब्रह्मचर्य व्रत चारित्रिका मूल और उसका सार है ॥१०९७॥

वा०—अन्य लोग मेरे सम्बन्धमें क्या कहते हैं ? मुझे किस दृष्टिसे देखते हैं ? मेरी प्रवृत्ति कैसी है ? ऐसा जो सदा विचार करता है उसका ब्रह्मचर्यव्रत दृढ़ होता है ॥१०९८॥

वा०—जो मध्याह्नकालके तीक्ष्ण सूर्यकी तरह स्त्रीके रूपकी ओर देर तक नहीं देखता और क्षीघ्र ही अपनी दृष्टिको उसकी ओरसे हटा लेता है वह ब्रह्मचर्यका निर्वाह करता है ॥१०९९॥

वा०—इस प्रकार स्त्रीके शब्द, रूप और स्पर्शमें जिसका मन चिरकाल तक नहीं ट्ठहरता, वह ब्रह्मचर्यका पालक होता है ॥११००॥

इस प्रकार स्त्री संस्पर्शके दोषोंका कथन किया ।

वा०—डो—हे शपक ! यदि इस लोक और परलोकमें तुम्हारे मैत्रुण सेवनके परिणाम हों तो पाँच प्रकारके स्त्री वैराग्यमें मनको लगाओ । अर्थात् स्वीकृत दोष, मैत्रुणके दोष, स्त्री-

उदयमिन् आश्वविद्युद्य उदयण न लिप्यदे अहा पठमं ।

तह विसयहिं न लिप्यदि साह विसयसु उसिओ विं ॥११०२॥

'उदयमिन् आश्वविद्युद्य' उदके जातं परिबृद्धं च यथा पद्यं उदकेन न लिप्यते । तथा न' लिप्यते विषयैः साधुविषयेषु वर्तमानोऽपि ॥११०२॥

उन्माहृतस्सुदधिं अण्छेरमणोम्लणं जह जलेण ।

तह विसयजलमणोम्लणं विसयजलहिमि ॥११०३॥

'उन्माहृतस्सुदधिं' अन्माहृतानस्योदधिं आपचयं यथा जलेनाल्पनं । तथा विषयजलेनाहंषितत्वा आपचयं विषयजलधिमध्यमध्यासीतस्य ॥११०३॥

मायागहणे बहुदोसभावए अलियहुमगणे भीमे ।

असुव्रतजिल्ले साह न विप्यणस्मंति इत्थिवणे ॥११०४॥

'मायागहणे' यथा गहनं परेषां दुःप्रवेशं एवं मायापि परैर्दुरधिगमेति मायापि गहनमित्युच्यते । मायागहनं यस्मिन्वने तन्मायागहनं तस्मिन् । 'बहुदोसभावदे' बहुदो बोधा बहुदोषा असूया, पिशुनता, अप-कृता, भीष्टता, नितरां प्रमत्तता चेत्केचमावयस्ते स्थापया यस्मिन् । 'अलियहुमगणे' यथा इमो महाननेकशास्त्री-पशास्त्राङ्गुलपच तद्वद्व्यलीकृता इमगणो यस्मिन् । भीमे भयंकरे । 'असुचित्तजिल्ले' असुचित्तुणकुले । यतयो न विप्रणयन्ति स्त्रीवने ॥११०४॥

सिंगारतरंगाए विलासवेगाए जोम्बणजलाए ।

विहसियफेणाए मुणी गारिणईए ण वृज्जंति ॥११०५॥

संसर्गके बोध, शरीरकी अशुचिता और वृद्धसेवाका चिन्तन करो । ऐसा करनेसे तुम्हारे अति अशुभ परिणाम नष्ट होंगे ॥११०५॥

शा०—जैसे जलमें उत्पन्न हुआ और जलमें ही बढ़ा कमल जलसे लिस नहीं होता । वैसे ही विषयोंके मध्यमें रहते हुए भी साधु विषयोंसे लिप्त नहीं होता ॥११०६॥

शा०—जैसे समुद्रका अवगाहन करके भी समुद्रके जलसे शरीरका निर्लिप्त रहना आवश्यक-कारी है । वैसे ही विषयरूपी समुद्रके मध्यमें रहकर विषयरूपी जलसे चित्तका न भींगना आवश्यककारी है ॥११०७॥

शा०—टी०—यह स्त्री रूपी वन मायाधारसे गहन है । जैसे गहन वनमें दूसरोंका प्रवेश करना कठिन होता है वैसे ही मायाको भी जानना कठिन है इसलिए मायाको गहन कहा है । अतः स्त्रीरूपी वनमें माया ही गहनबेल आदि झाड़ियोंका समूह है । वनमें हिंसक जन्तु रहते हैं । स्त्रीरूप वनमें परनिन्दा, चुगली, चंचलता, भीष्टता, प्रमत्तपना आदि बहुदोषरूपी हिंसक जन्तुओंका आवास है । वनमें वृक्ष होते हैं जो अनेक शाखा उपशाखाओंसे फैले रहते हैं । स्त्रीरूपी वनमें झूठरूपी वृक्ष अपने भेद प्रवेदोंके साथ रहता है । वनकी तरह स्त्रीरूप वन भी भयंकर है । वनमें घास फूस रहता है । स्त्री रूपी वनमें अशुचि शरीरको अंग-उपांग ही घास फूस है । ऐसे स्त्रीरूपी वनमें साधु नहीं भटकता ॥११०४॥

'विलासतरंग' शृङ्गारतरङ्गया, विलासवेगया, यौवनबलया, विहसितकैनया, मारीगद्या मुनिर्नो-
हते ॥११०५॥

ते अदिसुरा जे ते विलाससलिलमदिवलरदिवेगं ।

जोव्वज्जर्झसु तिष्णा ज य गहिया इत्थिगाहेहिं ॥११०६॥

'ते अदिसुरा' ते अतिशूराः । ये विलाससलिलमदिवलरदिवेगां यौवननदीमुत्तीर्णः, न च गुहीता
युवतिप्राहैः ॥११०६॥

महिलावाहविद्युक्का विलासपुंक्खा कडक्खदिट्ठिमरा ।

जण्ण वधंति सदा विसयवणचरं सो हवइ धण्णो ॥११०७॥

'महिलावाहविद्युक्का' युवतिव्याधविद्युक्काः । विलासपुंक्काः, कटाक्षदृष्टिधराः । यं न ध्मन्ति सदा
विषयवने वरन्तं भवति स धन्यः ॥११०७॥

विज्वोगतिकखदंतो विलासखंचो कडक्खदिट्ठिणहो ।

परिहरदि जोव्वणवणे जमित्थिवग्घो तगो धणो ॥११०८॥

'विज्वोगतिकखदंतो' विलासकान्तो । विज्वमतीक्ष्णदन्तो विलासकान्तः कटाक्षदृष्टिनसः परिहरति
यौवनवने य युवतिव्याघ्र स धन्यः ॥११०८॥

तेन्लोक्काडविडहणो कामग्गी विसयरुक्खपज्जलिओ ।

जोव्वणतणिल्लचारी जं ण इहइ सो हवइ धणो ॥११०९॥

गा०—स्त्री एक नदीके समान है । उसमें शृङ्गाररूप तरंगे हैं । विलासरूप वेग है ।
यौवनरूप जल है तथा मन्द-मन्द हँसना ही श्राग है । ऐसी स्त्रीरूपी नदी मुनिको नहीं बहा
सकती ॥११०५॥

गा०—यह यौवनरूप नदी विलासरूप जलसे पूर्ण है अति चंचल रतिरूप इसका प्रवाह
है । जो इस यौवनरूप नदीको पारकर गये और स्त्रीरूपी मगरमच्छोंने जिन्हे नहीं पकड़ा वे इस
जगतमें अति शूरवीर हैं अर्थात् जवानीमें भी जिन्हे स्त्रीकी चाहने नहीं वेग वे ही सच्चे शूरवीर
हैं ॥११०६॥

गा०—टी०—विषयरूपी बनमें विचरण करने वाले जिस पुरुषको स्त्रीरूपी शिकारीके द्वारा
छोड़े गये कटाक्षदृष्टिरूपी बाणोंने नहीं बोधा वह धन्य है । इन बाणोंमें लगा पंख स्त्रीका
विलास है । विलासके साथ कटाक्ष दृष्टिरूपी बाण स्त्रीरूपी शिकारी विषयरूपी बनमें विचरण
करने वालों पर चलाता है । जो उससे बचे रहते हैं वे धन्य हैं ॥११०७॥

गा०—स्त्री व्याघ्रके समान है भृकुटि विकार उसके तीक्ष्ण दांत है । विलासरूपी कन्धा
है । कटाक्षदृष्टि उसके नख है । यौवनरूपी बनमें विचरण करने वाले जिस पुरुषको यह स्त्रीरूपी
व्याघ्र नहीं पकड़ता, वह धन्य है ॥११०८॥

गा०—तीनों लोकरूपो बनको जलाने वाली और विषयरूपी वृक्षोंसे प्रज्वलित यह काम-
रूप आग यौवन रूपी तृणों पर चलने में चतुर जिस मनुष्यको नहीं जलाती वह धन्य है ॥११०९॥

'सौन्दर्यकाण्डविहङ्गो' श्रीसौन्दर्यविहङ्गः । कामाग्निविषयसुखे प्रज्वलिते यौवनतृणसञ्चारणचतुरं मन्म
बह्व्यसौ धन्यः ॥११०९॥

विसयसमुद्रं जीवन्सलिलं हसियगइपेविस्तुम्भीयं ।

घण्णा समुत्तरति हु महिलामयरेहिं अञ्चिकका ॥१११०॥

'विसयसमुद्रं' विषयसमुद्रं । 'जीवन्सलिलं' हसनयमनप्रेक्षणतरङ्गनिधितं । धन्याः सम्भुगुत्तरन्ति
युवतिमकरैरस्पृष्टाः ॥ चतुर्थं व्रतं व्याख्यात ॥ चतुर्थं ॥१११०॥

पञ्चममहाव्रतनिरूपणाद्योत्तरप्रबन्धः—

अम्भन्तरबाहिरय सन्धे गंधे तुमं विवञ्जेहि ।

कदकारिदानुमोदेहिं कायमणवयणजोगेहिं ॥११११॥

'अम्भन्तरबाहिरये' अम्भन्तरान्वाह्याश्च । 'सन्धे गंधे' सर्वाङ्गान् । 'तुमं विवञ्जेहि' वचयं मयान् ।
'कदकारिदानुमोदेहिं' कृतकारितानुयमनैः । 'कायमणवयणजोगेहिं' कायेन मनसा वाचा वा ॥११११॥

तन्नाम्यन्तरपरिग्रहेदं निरूपयति गाथा—

मिच्छसवेदरागा तहेव हासादिया य छदोसा ।

चत्तारि तह कसाया चउदस अम्भन्तरा गंधा ॥१११२॥

'मिच्छसवेदरागा' वस्तुयाथास्माश्रद्धानं मिथ्यात्वं, वेदशब्देन स्त्रीपुंससकवेदाख्यानां कर्मणा ग्रहणं ।
तज्जनिताः स्थायीनां अन्धोन्मत्तविषयरागाः । स्त्रियः पुंसु रागः, पुंसो युवतिषु, नपुंसकस्त्योभयत्र । 'हस्तादिया
य छदोसा' हास्यं, रतिररतिः श्लोको, भयं जुगुप्सेति । एते वद्दोषाः । 'चत्तारि तह कसाया चोदस अम्भन्तरा
गंधा' चत्वारस्तथा कथायाश्चतुर्दशैते अम्यन्तराः परिग्रहाः ॥१११२॥

बाहिरसंगा खेचं वत्थुं घणघणकुप्पमंडाणि ।

दुपयचउप्पय जाणाणि चेव सयणासन्धे य तथा ॥१११३॥

गा०—इस विषयरूप समुद्रमें यौवनरूप जल है, स्त्रीका हँसना चलना देखना उसके लहरें
हैं । और स्त्रीरूप मगरमच्छ है जो इन मगरमच्छोसे अच्छेते रङ्कर इस समुद्रको पार करते हैं वे
धन्य हैं ॥१११०॥

इस प्रकार चतुर्थ ब्रह्मचर्य व्रतका व्याख्यान हुआ । पंचम महाव्रतका कथन करते हैं—

गा०—हे क्षपक ? कृत कारित अनुमोदना और मन वचन कायसे तुम सब अन्तरंग और
बहिरंग परिग्रहका त्याग करो ॥११११॥ मिथ्यात्व, वेद राग, हास्य, रति, अरति, श्लोक, भय,
जुगुप्सा और चार कथाय ये चौदह अन्तरंग परिग्रह हैं ॥१११२॥

टी०—वस्तुके मथार्थ स्वरूपका श्रद्धान न करना मिथ्यात्व है । वेद शब्दसे स्त्रीवेद,
पुरुषवेद और नपुंसकवेद नामक कर्मोका ग्रहण किया है । उनके उदयसे उत्पन्न स्त्री आदिके पार-
स्परिक रागको यहाँ अन्तरंग परिग्रह कहा है । स्त्रियोंका पुरुषोंमें राग, पुरुषोंका स्त्रियोंमें राग
और नपुंसकोंका दोनोंमें राग पारस्परिक राग है ॥१११२॥

'बाहिरसंज्ञा' बाह्यपरिग्रहाः । 'क्षेत्रं' कर्मवाच्यकरणं । 'अपु' वास्तु वृह् । 'वर्ष' सुवर्णादि । 'बन्ध' बान्धं वीह्यादि । 'कुप्य' कुप्यं वस्त्रं । 'मंड' भाष्यशब्देन हिङ्गुमरिचादिकमुच्यते । 'दुपदशब्देन दास-दासीभूत्यवगतिः । 'बन्धन' बन्धनुरावयवचतुष्पदाः । 'आत्माभि' चित्तिकाविमानादिकं आत्मं । 'सव्यभासने' शयनाभि आसनाभि च ॥१०१३॥

बाह्यमलमनिराकृत्याभ्यन्तरकर्ममलं ज्ञानवर्षानसम्यक्त्वचारित्रवीर्याभ्यावाद्यत्वात्मानामरगुणानां छादने व्यापृतं न निराकर्तुं शक्यते इत्येतद्दुष्टान्तरमुद्धेनापष्टं—

जह कुंडलो ण सक्को सोबेदुं तंदुलस्स सत्तुस्स ।

तह जीवस्स ण सक्का मोहमलं संगसत्तस्स ॥१११४॥

'अह कुंडलो ण सक्का' तुपसहितस्य तन्मुलस्यान्तर्मलं बाह्ये तुषेऽपनीते यथा शोषयितुमशक्य । तथा बाह्यपरिग्रहप्रकृतसकृत्प्राम्यन्तरकर्ममलं अक्षयं शोषयितुमिति वाच्यार्थः । सपरिग्रहस्य कस्मान्न कर्मविमोक्षो ? जीवाजीवद्रव्ये बाह्यपरिग्रहसम्बन्धेनोच्येते । तौ च सर्वदा सर्वत्र सन्निहिताविति बन्धक एवायमात्मा स्यादिति । एवं च मुख्यभाव इति चोदिते, न तयोः सम्बन्धहेतुरपि तु लोभादयः परिणामाः । लोभादिपरिणामहेतुकं बाह्यद्रव्यग्रहणं ॥१०१४॥

अतो यो बाह्यमुपावर्त्तंभ्यन्तरपरिणाममन्तरेण न्बावत्तं इति वदति—

रागो लोभो मोहो सण्णाजो गारबाणि य उदिण्णा ।

तो तइया वेपुं जे गंथे बुद्धी ञरो कुणइ ॥१११५॥

शा०—क्षेत्री आदिका स्थान क्षेत्र, मकान, सुवर्ण आदि धन, जी आदि धान्य, कुप्य अर्थात् वस्त्र, भाष्य शब्दसे हींग मिर्च आदि, दुपद शब्दसे दास दासी सेवक आदि, हाथी घोड़े आदि चौपाये, पालकी विमान आदि यान तथा शयन आसन आदि ये दस बाह्य परिग्रह हैं ॥१११३॥

बाह्य परिग्रहके त्याग किये बिना ज्ञान, वर्षान, सम्यक्त्व, चारित्र, वीर्य और अब्यावाद्यत्व नामक आत्म गुणोंको ढाँकने वाले अभ्यन्तर कर्ममलको दूर नहीं किया जा सकता, यह दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

शा०—टी०—जैसे तुष सहित चावलका तुष दूर किये बिना उसका अन्तर्मलका शोधन करना शक्य नहीं है । वैसे ही जो बाह्य परिग्रहरूपी मलसे सम्बद्ध है उसका अभ्यन्तर कर्ममल शोधन करना शक्य नहीं है ।

शंका—परिग्रह सहित व्यक्तिका कर्मबन्धनसे छुटकारा क्यों नहीं होता । जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य बाह्य परिग्रह कहे जाते हैं । और वे दोनों सदा सर्वत्र जीवके समीप रहते हैं अतः आत्मा सदा कर्मका बन्धक ही रहेगा । और उसे कभी मुक्ति नहीं होगी ।

समाधान—ऐसा नहीं है, उन जीव द्रव्य और अजीव द्रव्यके निकट रहते हुए भी लोभादिरूप परिणाम उनसे सम्बन्धमें कारण होते हैं । लोभादिरूप परिणामोंके कारण जीव बाह्य द्रव्यको ग्रहण करता है ॥१११४॥

अतः जो अभ्यन्तर लोभादि परिणामके बिना बाह्य द्रव्यको ग्रहण करता है, वह ग्रहण नहीं करता, यह कहते हैं—

‘रम्यो ज्योतीर्गोष्ठो’ मनेवं भावो राघः, द्रव्यगतगुणात्तत्कर्मोऽयं, परिग्रहेच्छा मोहो । मनेवं भावः संवा । किञ्चित् यय भवति बोधनमिति इच्छानुगतं ज्ञानं । तीक्ष्णोऽभिलाषो यः परिग्रहगतः स गौरवसम्बन्धो-
 ष्यते । एते बोधोविदाः परिणामास्तथा इच्छान्नाच्छान्नुं ग्रहोऽनु मनः करोति नाम्बया । तस्माद्यो ब्राह्मं गृह्णाति परिग्रहं स नियोगतो लोभाद्युभयपरिणामबानेवेति कर्मणाऽन्यको भवति । ततस्त्याग्या परिग्रहः ॥१११६॥

स च परिग्रहव्यत्ययो न स्वमनीषिकाचचितोऽपि तु निश्चयेन कर्तव्यं तयोपविष्ट इत्याचष्टे—

चेलादिसम्बसंगच्छाओ पदमो हु होदि ठिदिकप्पो ।

इहपरलोइयदोसे सञ्चे आवइदि संगो हु ॥१११६॥

‘चेलादिसम्बसंगच्छाओ इति’ वसविधा हि स्थितिकल्पा निरूपिता अचेलादयः । तत्र आचेलक्य नाम चेलमात्रत्यागो न भवति । किन्तु चेलादिसंबसंगत्यागः प्रथमः स्थितिकल्पो दशानामाद्यः । ‘इहपरलोइयदोसे’ ऐहिकामुक्तिमात्रं दोषानामवहति परिग्रहो, यस्मात्तस्माज्जन्मद्वयगतदोषपरिहारेणोदरवता सकलः परिग्रह-
 स्त्याग्यः । इति भावः ॥१११६॥

श्रुतं चैलपरित्यागमेव सूचयति आचेलक्यमिति न इतरत्यागमित्याद्युक्त्यामाचष्टे—

देसामासियसुचं आचेलक्यमिति तं सु ठिदिकप्पे ।

लुत्तोत्थ आदिसरो जह तालपलंबसुत्तम्मि ॥१११७॥

‘देसामासियसुचं’ परिग्रहकदेशामर्शकारिसूत्रं ‘आचेलक्यमिति’ आचेलक्यमिति । ‘तं सु’ तत् । ‘ठिदि-

गा०—टी०—‘यह मेरा है’ ऐसे भावको राग कहते हैं । द्रव्यके गुणोमे आसक्तिको लोभ कहते हैं । परिग्रहकी इच्छाको मोह कहते हैं । मेरे पास कुछ होता तो अच्छा होता, इस प्रकारके समत्व भावको संज्ञा कहते हैं । परिग्रहविषयक तीव्र अभिलाषाको गारव शब्दसे कहते हैं । ये परिणाम जब उत्पन्न होते हैं तब बाह्य परिग्रहको ग्रहण करनेका मन होता है, उनके अभावमें नहीं होता । अतः जो बाह्य परिग्रह ग्रहण करता है वह नियमसे लोभ आदि रूप अशुभ परिणाम वाला होनेसे कर्मका बन्ध करता है । अतः परिग्रह त्याग्य है ॥१११५॥

आगे कहते हैं कि यह परिग्रह त्याग हमने अपनी बुद्धिसे नहीं कहा, किन्तु निश्चयसे आगममें इसके पालनेका उपदेश है—

गा०—आगममें वस प्रकारका स्थितिकल्प कहा है । उसमें पहला कल्प आचेलक्य है । आचेलक्यका अर्थ केवल वस्त्र मात्रका त्याग नहीं है किन्तु वस्त्र आदि सर्व परिग्रहका त्याग है । यह वस कल्पोंमेंसे पहला स्थितिकल्प है । यतः परिग्रह इस लोक और परलोक सम्बन्धी दोषों-
 को लाती है अतः जो दोनों लोक सम्बन्धी दोषोंसे बचना चाहता है उसे सब परिग्रह छोड़ना चाहिए । यह इस गाथाका भाव है ॥१११६॥

कोई आशंका करता है कि आगममें वस्त्र मात्रके त्यागकी सूचना है अन्यके त्यागकी नहीं ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—टी०—स्थितिकल्पका कथन करते हुए जो ‘आचेलक्य’ आदि सूत्र कहा है वह देशा-

कल्पे' स्थितिकल्पे वाच्ये प्रवृत्तं सूत्रं नियोगतो भूमिभूषणां यत्कर्तव्यतया स्थितं तस्मिन् स्थितमुच्यते स्थितकल्पः, स्थित-
प्रकारः । एतदुच्यते भवति—वैलप्रहृषणं परिग्रहोपलक्षणं, तेन सकलप्रलम्बस्यान आचेलक्यशब्दस्यायं इति ।
तालप्रलम्बं च कल्पयित्वा सूत्रे तालशब्दो न तदवशिष्यवचनः किन्तु वनस्पत्यैकदेशस्तरविंश उपलक्षणाय वन-
स्पतीनां गृहीतः । तथाचोक्तं कल्पे—

हरिततत्त्वोत्प्लुच्छा मुञ्जा कल्मीकदा व क्वाका व ।
एवं वनस्पतीनां तालोत्प्लुच्छेन आविष्टा ॥ इति ॥
तालेवि दलेविस्तिव तलेव आवेति उदिसवो वति ।
तालादिभ्यो तदवशिष्यवकल्मीकं ह्यवि जायं ॥

प्रलम्बं द्विविधं मूलप्रलम्बं च, अग्रप्रलम्बं च कन्दमूलफलाद्यं, भूम्यनुप्रवेशिनमूलप्रलम्बं, अंकुरप्रवालकल-
पत्राणि अग्रप्रलम्बानि । तालस्य प्रलम्बं तालप्रलम्बं वनस्पतेरंकुरादिकं च लभ्यते इति यथा सूत्रार्थस्तथेहापीति
मन्यते । अथवा 'वृक्षोप आविष्टा' लुप्तोप सूत्रे आविष्टाव्यः । अचेलक्यविधिति प्राप्ते । यथा 'तालप्रलम्ब-
सुतन्मि' यथा तालप्रलम्बसूत्रं । तालादीनि शब्दप्रयोगमकृत्वा तालप्रलम्बमित्युक्तं । तथाचोक्तं सिद्धान्ताविधिं
निश्चयेनैव सूत्रकारेण देशामर्शकसूत्रं ह्येतत्कृतं । आदिशब्दलोपीञ्च तालप्रलम्बसूत्रे न तु देशामर्शकं
भवतीति ॥१११७॥

मर्शक है । ममुक्षुओको जो नियमसे करना चाहिए उसे स्थित कहते हैं और उसके भेदोंको स्थिति-
कल्प कहते हैं । उसमें 'वैल' शब्द परिग्रहका उपलक्षण है । अतः आचेलक्य शब्दका अर्थ सर्व
परिग्रहका त्याग है । जैसे 'तालप्रलंब ण कल्पदि' इस सूत्रमें ताल शब्द वृक्ष विशेष ताडका वाचक
नहीं है, किन्तु वनस्पतिका एक देश वृक्ष विशेष सब वनस्पतियोंके उपलक्षणके लिये रखा है ।
कल्पसूत्रमें कहा है—

'ताल शब्दसे हरित तृण, औषधि, गुच्छा, बेल, लता, वृक्ष इत्यादि वनस्पतियोंका कथन
किया है । 'ताल शब्द तल धातुसे निष्पन्न हुआ है । तल शब्दका अर्थ ऊँचाई भी है । जो स्कन्ध
रूपसे ऊँचा वृक्ष विशेष होता है वह ताल वृक्ष है । तालादिमे आदि शब्दसे वृक्ष फूल पत्ता आदि
वनस्पति लेना चाहिए ।

प्रलम्बके दो प्रकार है—मूल प्रलम्ब और अग्रप्रलम्ब । कन्दमूल फल जो भूमिमें रहते हैं वे
मूल प्रलम्ब हैं । और अंकुर, प्रवाल, फल, पत्ते अग्रप्रलम्ब हैं । तालके प्रलम्बको ताल प्रलम्ब
कहते हैं । इससे वनस्पतिके अंकुर आदिका ग्रहण होता है । अतः जैसे तालप्रलम्बसूत्रमें ताल
प्रलम्बसे अन्य वनस्पतियोंका ग्रहण किया है वैसे ही आचेलक्यसे अन्य परिग्रहका भी ग्रहण किया
है । अथवा सूत्रमें अचेलत्वादिका आदि शब्द लुप्त हो गया है । जैसे तालप्रलम्ब सूत्रमें 'तालादि'
शब्दका प्रयोग न करके 'तालप्रलम्ब' कहा है । आचेलक्य आदि सूत्रको सूत्रकारने देशामर्शक
सूत्ररूपसे बनाया है अर्थात् परिग्रहके एक देश वस्त्रका ग्रहण न करनेका निर्देश करके समस्त
परिग्रहका त्याग बतलाया है । किन्तु ताल प्रलम्ब सूत्रमें आदि शब्दका लोप है अतः वह सूत्र
देशामर्शक नहीं है ॥१११७॥

विशेषार्थ—इस स्थितिकल्पोंमें पहला स्थितिकल्प आचेलक्य है । चेलका अर्थ वस्त्र है ।
अतः कोई शंका करता है कि आचेलक्यसे केवल वस्त्रका ही त्याग कहा है । सब परिग्रहका

ण य होदि संजदो वत्समिच्छामेण सेससंगेहिं ।

तम्हा आचेलक्यं चाजो सज्वेसि होइ संगार्णं ॥१११८॥

'ब य होदि संजदो' नैव संयतो भवति इति वस्त्रमात्रत्यागेन शेषपरिग्रहसम्भितः । वस्त्रावस्थः शेषः इत्युच्यते । आचेलकमित्यत्र चेलस्याणमात्रमेव यदि निदिष्टं स्याच्चेलादव्यपरिग्रहं गृह्यन् संयतः स न भवति यस्मात्स्मादाचेलक्यं नाम सर्वसंपरिग्रहाद्योऽत्र मत्सव्यः इति युक्तिरप्ययस्मात् चेलशब्दस्य परिग्रहोपलक्षणतायां । किं च महाव्रतोपवेशप्रवृत्तानि च सूत्राणि ज्ञापकानि सर्वसंगत्यागः आचेलकमित्यत्र निदिष्ट इत्यस्य ॥१११८॥

कथं यदि चेलमात्रमेव त्याज्यं स्यान्नेतरं अहिंसादिव्रतानि न स्युः इत्येतद्व्यापचष्टे उत्तरवाच्यम्—

संगणिमित्तं मारेइ अलियबयणं च मणइ तेणिककं ।

भजदि अपरिमिदमिच्छं सेवदि मेहुणमवि य जीवो ॥१११९॥

'संगणिमित्तं मारेदि' परिग्रहनिमित्तं प्राणिनो हिनस्ति षट्कर्मप्रवृत्तेः । अथ इव्य परकीय ग्रहीषु-
कामस्तं हिनस्ति, भगत्यलीकं, करोति स्तैभ्यं, भजते अपरिमितामिच्छां, मंभुने च प्रवर्तते । सत्येवमहिंसादि-

त्याग नहीं कहा । इसके समाधानमें दो बातें कहीं हैं । प्रथम यह सूत्र देशामर्षक है—एक देश चेलके द्वारा सब परिग्रहका त्याग कहा है । दूसरे, इसमें आदि शब्दका लोप हो गया है आचेल-
क्यादिकी जगह आचेलक्य कहा है अतः आदि शब्दसे सब परिग्रहका त्याग नतलाया है । अपने इस कथनकी पुष्टिमें ग्रन्थकारने ताल प्रलम्ब सूत्रका उदाहरण दिया है ।

कल्पसूत्रमें पहला सूत्र है—

'नो कप्यइ निग्गंघाण वा निग्गंघीण वा आमे तालपलबे अभिन्ने पडिगाहित्तए ।'

अर्थात् निग्रन्थ साधु और साध्वियोंको ताल प्रलम्ब ग्रहण नहीं करना चाहिए । इसके भाष्यमें कहा है कि तालवृक्षके फलको ताल कहते हैं उसे अग्रप्रलम्ब कहते हैं । और उसके आधारभूत वृक्षको तल कहते हैं । और प्रलम्ब मूलको कहते हैं । यहाँ यद्यपि सूत्रमें तालप्रलम्ब जो कच्चा हो और टूटा न हो उसके ग्रहणका निषेध किया है । तथापि तालफलसे नारियल, लड्डुच, कैथ, आम्र आदि सभी लिए हैं । इसी तरह आचेलक्यमें भी केवल वस्त्रका ही त्याग नहीं कहा किन्तु सर्वपरिग्रहका त्याग कहा है ॥१११७॥

शा०-टी०—केवल वस्त्रमात्रका त्याग करनेसे और शेष परिग्रह रखनेसे साधु नहीं होता । यदि 'आचेलक्य' से वस्त्रमात्रका त्याग ही कहा होता तो वस्त्रके सिवाय अन्य परिग्रहको ग्रहण करनेवाला साधु नहीं हो सकता । अतः आचेलक्यका अर्थ सर्वपरिग्रहका त्याग मानना चाहिए । 'चेल शब्द परिग्रहका उपलक्षण है' इसके सम्बन्धमें यह युक्ति दी गई है । तथा महाव्रतका कथन करनेवाले सूत्र इस बातके ज्ञापक है कि आचेलक्यमें सर्वपरिग्रहका त्याग कहा है ॥१११८॥

आगे कहते हैं कि यदि साधुके लिए केवल वस्त्रमात्र ही त्याज्य है, अन्य परिग्रह त्याज्य नहीं है तो अहिंसादिव्रत नहीं हो सकते—

शा०-टी०—परिग्रहके लिए अंसि मसि कृषि आदि षट्कर्म करके मनुष्य प्राणियोंका घात करता है । पराये द्रव्यको ग्रहण करनेकी इच्छासे उसका घात करता है, शूठ बोलता है, चोरी

कदापि न स्युः । परिग्रहस्य च स्वाने तिष्ठन्ति निवचकान्यहिसादीनि ॥१११९॥

अपि बाधुमपरिणामसंवरणमन्तरेण प्रत्यक्षकर्मोपचयः कथं निवार्यते । प्रत्यक्षकर्मोपचयेन कर्मणां सैवान्तकालाका संयुतिरित्येतन्मेतत्सि कृत्वा परिग्रहग्रहणभाविनोऽप्युभान्परिणामानाचष्टे—

सृष्ट्यागारवपेसुष्णकलहफरुसाणि शिङ्गुरविवादा ।

संगमिमिचं ईसासूयासन्लाणि जायन्ति ॥११२०॥

'सृष्ट्यागारवपेसुष्ण' परिग्रहसंज्ञा 'तत्सन्निवेशोर्द्वयं च जायते सपरिग्रहस्य । पिशुनयति सूचयति पर-
दोषानिति पिशुनस्तस्य कर्म वैशुन्यं । परिग्रहव्यानात्मनैव स्वधनपरिपालनेच्छुः परस्य दोषान्प्रकाशय तदीयं धनं
हारयति, कलहं वा करोति । धनार्थं पृथक् वधो भवति, विवाहं वा कुर्वति, ईध्यासूयाशत्यानि च जायन्ते ।
अयमेतन्मै प्रयच्छति न मह्यं इति सङ्कल्प ईध्या । परस्य धनवन्तासहनमसूया ॥११२०॥

क्रोधो माणो माया लोभो हास रश् अरदि भयसोमा ।

संगमिमिचं जायद् दुगुण्यं तद्द रादिमचं च ॥११२१॥

'तद्द क्रोधो माणो' क्रोधः परिग्रहतरतस्य परिणामो^२ दाने जायते । धन्योऽहमिति गवितो भवति ।
परो धनं दुष्ट्वा गृह्णातीति तस्मिन्गृह्णकरणात्माया च भवति । काकणिलामे कार्षापणं वाञ्छति ।
तत्कल्याणा कार्षापणसहसाधिकमिति लोभस्य हेतुप्रव्यलाभः । निर्द्विषिणं लोको हसतीति हासस्यापि कारणं ।
प्रव्यमात्मीयं पश्यतः तन्नामुराधो रतिः । तद्विनाशे अरतिः । तदव्ये हरन्ति इति भयं । शोको वा । जुगुप्सते

करता है, अपरिमित तृष्णा रखता है और मैथुन करता है । ऐसा करनेपर अहिंसा आदि व्रत
नहीं हो सकते । किन्तु परिग्रहका त्याग करनेपर अहिंसाविव्रत स्थिर रहते हैं ॥१११९॥

तथा अशुभ परिणामोके संवरके विना नवीन कर्मोका संचय कैसे रोका जा सकता है ?
और नवीन कर्मोका संचय होनेसे वही अनन्तकालीन संसार है । ऐसा चित्तमे स्थिर करके प्रव्य-
कार परिग्रहके ग्रहणसे होनेवाले अशुभ परिणामोको कहते हैं—

गा०—टी०—परिग्रहीके परिग्रह सत्ता और परिग्रहमें आसक्ति होती । वह दूसरेके दोषोंको
इधर-उधर कहता है । परिग्रही पुरुष दूसरेका धन लेनेके लिए दूसरेके दोष प्रकट करके उसका
धन हरता है । कलह करता है । धनके लिए कठोर वचन बोलता है, झगड़ा करता है । ईर्ष्या
और असूया करता है । यह व्यक्तिक अमुकको तो देता है मुझे नहीं देता, इस प्रकारके संकल्पको
ईर्ष्या कहते हैं । दूसरेके धनी होनेको न सहना असूया है ॥११२०॥

गा०—टी०—दूसरेके द्वारा अपना धन ग्रहण किये जाने पर क्रोध होता है । मैं धनाढ्य हूँ
ऐसा गर्व होता है । दूसरा व्यक्ति मेरा धन देखकर उसे ले लेगा, इस भयसे उसे छिपाता है अतः
माया होती है । एक कौड़ीका लाभ होने पर एक रुपया आदिका लाभ चाहता है । या धनका लाभ
होनेसे क्रोध होता है । धनी निर्धनको देखकर हँसता है अतः परिग्रह हास्यका भी कारण है ।
अपना प्रव्य देखकर उससे अनुराग होता है । अतः परिग्रह रत्तिक कारण है । प्रव्यका नाश होने
पर अरति होती है । उसे दूसरे हर लेंगे यह भय होता है । धन हर लेने पर शोक होता है ।

वा विष्णुं परिग्रहं । परिग्रहपरिपालनायं राधावपि मुह्यते मदीयं भोजनं परे वृष्ट्वापिनो भवन्ति इति
मन्थवानः ॥११२१॥

गंधो भयं नराणं सहोदरा एयरत्नजा जं ते ।

अण्णोष्णं मारेदु अत्थणिमित्तं मदिमकासी ॥११२२॥

'गंधो भयं नराणां' शब्दो नराणां भयं । ननु भयसंज्ञस्य कर्मणः उदयादुपजातः परिणाम आत्मनो भयं
न वाःपुत्रोवाविको शब्दः तथाभूतस्ततः किमुच्यते शब्दो भयमिति, भयहेतुत्वाद्भयमिति न दोषः । 'सहोदरा'
एकोदरे प्रसवा अपि सन्तः 'एयरत्नजा' एकरभ्यनगरे जाताः । 'जं' यस्मात् । 'ते अण्णोष्णं मारेदु' अण्योग्य
हन्तुं । 'अत्थणिमित्तं' वसुनिमित्तं 'मदिमकासी' बुद्धि कृतवन्तः ॥११२२॥

अत्थणिमित्तमदिमयं जादं चौराणमेकमेककेहिं ।

मज्जे मंसे य विसं संजोइय मारिया जं ते ॥११२३॥

'अत्थणिमित्तं' धननिमित्तं । 'मदिमयं जादं' अतीव भय जातं । 'चौराणं एकमेककेहिं' चौराणा-
मन्योन्यैः सह । 'मज्जे मंसे य विसं संजोइय' मद्ये माने च विष संयोज्य । 'मारिया जं ते' यस्मात्ते
मारिताः ॥११२३॥

संगो महाभयं जं विहेडिदो सावगेण संतेण ।

पुत्तेण चैव अत्थे हिदम्मि णिहिदेन्लए साहुं ॥११२४॥

'संगो महाभयं' परिग्रहो महद्भयं । 'जं' यस्मात् । 'विहेडिदो' बाधितः । 'सावगेण संतेण' श्रावकेण
सता । 'पुत्तेण चैव पुत्रेणैव । 'णिहिदेन्लए अत्थे हिदंहिं' निक्षिप्तेऽयं हृते साधुं ॥११२४॥

विरूप परिग्रह होने पर ग्लानि होती है । मेरा भोजन देखकर दूसरे मनिगे इसलिए रातमें भी
भोजन करता है । अबवा मालिककी सेवामें रहनेसे रातमें भोजन करता है । इस तरह परिग्रहके
कारण क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुत्सा और रात्रि भोजन होते
हैं ॥११२१॥

शा०—टी०—परिग्रह मनुष्यमें भय उत्पन्न करता है ।

शब्दा—भय नामक कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ आत्माका परिणाम भय है । घर खेत
आदि परिग्रह भय नहीं है तब आप परिग्रहको भय कैसे कहते हैं ?

समाधान—परिग्रह भयका कारण होनेसे भय कही जाती है । एक ही माताके उदरसे
उत्पन्न हुए और एक ही नगरमें उत्पन्न हुए भी धनके लिए परस्परमें मारनेका भाव करते
हैं ॥११२२॥

शा०—धनके कारण चोरोंको परस्परमें एक दूसरेसे भय उत्पन्न हुआ । और उन्होंने मद्य
और मांसमें विष मिलाकर एक दूसरेको मार डाला ॥११२३॥

शा०—परिग्रह महाभयरूप है क्योंकि जमीनमें गाड़े गये धनको अपना पुत्र ही ले गया
और सत्पुत्र्य श्रावकको भी यह सन्देह हुआ कि मेरे इस पुत्र्यमें गड़े धनको साधु जानता था ।
सो कहीं इसी साधुने मेरा धन हरा हो । ऐसा सन्देह करके उस श्रावकने साधुपर कषाओंके द्वारा
अपना सन्देह प्रकट किया ॥११२४॥

दूजो बंमणि बग्गो लोजो हत्थी य तह य रीयसुयं ।
 परियणरो वि य राया सुवण्णस्यजस्त' जक्खाणं ॥११२५॥
 वण्णरजउल्लो विज्जो वसहो तावस तहेव च्चुदवणं ।
 रुक्खसिवण्णीडुं डुइ मेदज्ज इणिस्स अक्खाणं ॥११२६॥
 'सीदुण्हादववाद्दं वरिसं तण्हा छुहासमं पंथं ।
 दुस्सेज्जं दुज्जत्त' सहइ वहइ भारमवि गुरुयं ॥११२७॥
 गायदि णच्चइ धावइ कसइ ववइ लवदि तह मलेइ णरो ।
 तुण्णदि तुण्णइ याचइ कुलम्मि जादो वि गंघत्थी ॥११२८॥

'गाववि' गायति, नृत्यति, धावति, क्वचति, वपति, कणिकण्ठेयं करोति, महंनं करोति, सीव्यति, वपति, याचते कुले जातोऽपि परिग्रहाय ॥११२८॥

सेवइ णियादि रक्खइ गोमहिसिमजावियं हयं हत्थि ।
 ववहरदि कुणदि सिप्पं अहो य रत्थी य गयण्हो ॥११२९॥

शा०—टी०—ये कथाएँ इस प्रकार हैं। पहले श्रावक जिनदत्तने दूत और बन्दरकी कथा कही। फिर साधुने ब्राह्मणी और नेवलेकी कथा कही। फिर श्रावकने व्याघ्र और वैद्यकी कथा कही। तब साधुने बैल और लोगोंकी कही। फिर श्रावकने हाथी और तापसकी कथा कही। तब साधुने राजा और आम्रवनकी कथा कही। फिर श्रावकने पार्थक मनुष्य और शिवनिवृत्तकी कथा कही। तब साधुने राजा और सर्पकी कथा कही। तब श्रावकने एक चोर और सेठकी कथा कही। अन्तमें साधुने मणिपालक और मेतार्यमुनिकी कथा कही ॥११२५—११२६॥

विशेषार्थ—इन दोनों गाथाओंमें उस श्रावक और साधुके मध्यमें हुई कथाओंके पात्रोंके नाम दिये हैं। ये दस कथाएँ बृहत्कथाकोशमें जिनदत्त कथानक १०२ के अवान्तरमें दी गई हैं। दसवीं कथाके अन्तमें धन चुरानेवाला पुत्र प्रबुद्ध होकर पिताको धन अर्पित करके उन साधुके समीप शीक्षा ग्रहण करता है। इन दोनों गाथाओंपर न तो अपराजित सूरकी टीका है। न आशाचरकी और न अमितागतिके संस्कृत पद्य ही हैं ॥११२५—११२६॥

शा०—परिग्रहका इच्छुक मनुष्य गर्मी, सर्दी, घाम, वायु, वर्षा, प्यास, भूख, श्रम, मार्ग चलना आदिका दुस्सह कष्ट सहन करता है और अपनी शक्तिसे भी अधिक भार ढोता है ॥११२७॥

शा०—तथा श्रेष्ठकुलमें जन्म लेकर भी धनके लिए जाता है, नाचता है, दौड़ता है, सेठी करता है, बीज बोता है, धान्य काटता है, मालिश करता है, कपड़े सीता है, कपड़े बुनता है, और भीख माँगता है ॥११२८॥

शा०—रात दिन न सोकर सेवा करता है, घर छोड़कर देशान्तर जाता है। गाय, भैंस,

१. वरयस्व—अ० । वयारस्स—आ० मु० । २. वववणं—अ० व० । ३. एतां टीकाकारो नेच्छति ।

आउञ्चवासस्त उरं देह रणमुहम्मि गंवल्लोभादे ।

मगरादिभीमसायवबहुलं अदिगच्छदि सङ्घपूषं ॥११३०॥

‘आउञ्चवासस्त उरं देह’ आयुषवर्षस्य चरो इवाति । ‘रणमुह्मे’ रणमुले । ‘गंवल्लोभादे’ ग्रन्थलोभात् मकरादिभीमं श्वापदबहुलं प्रविशति समुद्रं ॥११३०॥

अदि सो तत्त्व मरिज्जो गंधो भोगा य कस्त ते होज्ज ।

महिलाविहिंसण्जिज्जो लूसिददेहो व सो होज्ज ॥११३१॥

‘अदि सो तत्त्व मरिज्जो’ यद्यत्ती रणमुले मृतिमियात् । ग्रन्था भोगाश्च ते तावत्कस्य भवेयुः । वणिता-
निमित्तः विनष्टकरचरणाद्यवयवो भवेद्यद्यपि न मृतः ॥११३१॥

गंधणिमित्तमदीदिय गुहाजो भीमाजो तह व अट्ठवीजो ।

गंधणिमित्तं कम्मं कुणइ अकारदब्बयंपि जरो ॥११३२॥

‘गंधणिमित्तमदीदिय’ ग्रन्थनिमित्तं प्रविशति गुहा तथा भीमाश्चाटयोः । ग्रन्थनिमित्तं कर्म अकारदब्ब-
यपि करोति नरः ॥११३२॥

चरो तिक्खो हुक्खो वि होइ वसिजो जणस्स सघणस्स ।

माणी वि सहइ गंधणिमित्तं बहुयं पि अवमाणं ॥११३३॥

‘चरो तिक्खो हुक्खो वि’ चरस्तीक्ष्णो मूर्खश्च वक्षरती भवति जनस्य सघनस्य । अभिमानवानपि सहते
ग्रन्थनिमित्तं महान्तं अपि परिमर्षं ॥११३३॥

गंधणिमित्तं धोरं परिताबं पाविट्ठ कं पिण्ठे ।

लल्लककं संपत्तो जिरयं पिण्णागगंधो खु ॥११३४॥

‘अन्धनिमित्तं’ वस्तुनिमित्तं महत् पुञ्जं प्राप्य । ‘कंपिण्ठे’ कम्पिल्लनगरे । ‘लल्लककं’ लल्लकनामधेय
संज्ञात्पो नरकं पिण्णाकगन्धसंज्ञः ॥११३४॥

बकरी, भेड़, हाथी, घोड़े पालता है । लेन-देन करता है । शिल्पकर्म करता है ॥११२९॥

शा०—परिग्रहके लोभसे युद्धभूमिमें अपनी छातीपर आयुधोंकी वर्षा सहता है । मगरमच्छ
आदि मयंकर बन्तुओंसे भरे समुद्रमें प्रवेश करता है ॥११३०॥

शा०—यदि कदाचित् घनका लोभी रणमें मर जावे तो परिग्रह और भोग कौन करेगा ।
यदि न भी मरे और हाथ पैर कट जाये तो भी स्त्रियोंके द्वारा तिरस्कृत होगा ॥११३१॥

शा०—परिग्रहके निमित्त अयानक गुफामें प्रवेश करता है, अयानक जंगलमें जाता है ।
इस प्रकार मनुष्य परिग्रहके लिए नहीं करने योग्य काम भी करता है ॥११३२॥

शा०—परिग्रहके निमित्त शूरवीर, असहनशील और मूर्ख पुरुष भी धनी मनुष्योंके बशमें
होता है और अभिमानी भी बहुत अपमान सहता है ॥११३३॥

शा०—परिग्रहके निमित्तसे कंपिला नगरीमें पिण्णाकगन्ध नामका लोभी पुरुष धोर दुःख
सहकर मरकर लल्लक नामक नरक बिलमें उत्पन्न हुआ ॥११३४॥

एवं वेहुतस्स वि संसद्दो वेव गंभलाहो दु ।

अ य संचीयदि गंधो सुद्धरेणवि मंदमानस्स ॥११३५॥

‘एवं वेहुतस्स वि’ एवं वेष्टमानस्यापि संशयित एव ग्रन्थलाभः, न च संभवमुपवाति ग्रन्थः । सुचिरे-
णापि मन्वभाष्यस्य ॥११३५॥

जदि वि कइंथि वि गंधा संचीएजण्ह तह वि से अत्थि ।

तिची गंधेहिं सदा लोभो लामेण वट्टदि खु ॥११३६॥

‘अवि वि’ यद्यपि कर्त्तवित्केनचित् प्रकारेण ग्रन्थाः संभवमुपेयुः । तथापि तस्य तृप्तिर्नास्ति ग्रन्थः ।
सदा लोभो लामेन वट्टते ॥११३६॥

जच इंधणेहिं अग्गी लवणसद्दो नदीसहस्सेहिं ।

तह जीवस्स अ तिची अत्थि तिल्लोभे वि लद्धम्मि ॥११३७॥

‘अथ इंधणेहिं’ इन्धनसंवाहिनः, यथा वा समुद्रो नदीसहस्रैः । तथा परिग्रहं तृप्तिं जीवस्त्रीलोक्ये
लब्धेऽपि ॥११३७॥

पट्टहत्थस्स अ तिची आसी य महाधनस्स कुद्धस्स ।

संगेसु वृच्छिद्धमदी जादो सो दीहसंसारी ॥११३८॥

‘पट्टहत्थस्स’ पट्टहस्तनामधेयस्य वणिजः न तृप्तिरासीत्तथा महाधनस्य कुम्भस्य । परिग्रहं मूर्च्छित-
मतिरसौ जातो वीर्यसंसारः ॥११३८॥

तिचीए असंतीए हाहाभूदस्स घण्णविचत्तस्स ।

किं तत्थ होज्ज सुक्खं सदा वि पंपाप गहिदस्स ॥११३९॥

‘तिचीए असंतीए’ तृप्तावसथां । ‘हाहाभूदस्स’ कम्पटचित्तस्य किं तत्र सुखं नभेत् । आशया गृही-
तस्य ॥११३९॥

शा०—इस प्रकार नाना चेष्टाएँ करनेपर भी परिग्रहकी प्राप्तिमें सन्देह ही रहता है ।
क्योंकि अभाग्य पुरुषको चिरकाल प्रयत्न करनेपर भी धनकी प्राप्ति नहीं होती ॥११३५॥

शा०—यदि किसी प्रकार धन मिल भी जाये तो उससे सन्तोष नहीं होता; क्योंकि धन-
काम होनेसे लोभ बढ़ता है ॥११३६॥

शा०—जैसे ईंधनसे आगकी तृप्ति नहीं होती, और हजारों नदियोंके मिलनेसे लवण-
समुद्रकी तृप्ति नहीं होती । वैसे ही तीनों लोक मिल जानेपर भी जीवकी परिग्रहसे तृप्ति नहीं
होती ॥११३७॥

शा०—पट्टहस्त नामक वणिक्के पास बहुत धन था । किन्तु वह बड़ा लोभी था । उसे
सन्तोष नहीं था । अतः परिग्रहमें आसक्त रहते हुए उसका मरण हुआ और वह वीर्यसंसारी
हुआ ॥११३८॥

शा०—परिग्रहसे तृप्ति नहीं होनेपर हाव-हाव करनेवाले परिग्रहके कम्पटीको, जो सदा
तृष्णासे व्याकुल रहता है, परिग्रहसे क्या सुख हो सकता है ॥११३९॥

हम्मदि मारिज्जदि वा बज्जदि कंमदि य अणवराधो वि ।

आमिसहेदुं षण्णो खज्जदि पक्खीहिं जह पक्खी ॥११४०॥

'हम्मदि' आह्वयते । 'मारिज्जदि' मार्यते, बध्यते रुध्यते बानपराधोऽपि । आभियनिमित्तं सम्पदः
आप्तते यथा पक्षिभिः पक्षी गृहीताहारः ॥११४०॥

मादुपिदुपुत्तदारेसु वि पुरिसो ण उवयाइ वीसंभं ।

गंधमिसिचं जग्गइ रेक्खंतो सच्चरसीए ॥११४१॥

'मादुपिदुपुत्तदारेसु वि' विष्वसनोपेक्ष्यपि मात्तादिषु विषयं नोपयाति । कायादि सर्वदायीः पाक-
यन् ॥११४१॥

सच्चं पि संकमाणो गामे णयरे धरे व रण्णे वा ।

आधारमग्गणपरो अणप्पवसिजो सदा होइ ॥११४२॥

'सच्चं पि संकमाणो' सर्वमपि शक्यमानः ज्ञाने, नगरे, गृहे, अरण्ये वा, आधारान्वेषणपरोऽनात्मवशः
सदा भवति ॥११४२॥

गंधपट्ठियाए लुद्धो धीरात्थरियं विचिसमावसधं ।

जेच्छदि बहुजणमज्जे वसदि य सागारिगावसए ॥११४३॥

'गंधपट्ठियाए लुद्धो' श्रम्यनिमित्तं लुब्धो धीरैर्वाचरितं विचिन्तमावसधं नेच्छति । बहुजनमध्ये वसति ।
गृहस्वाम्यां वा वेषमणि ॥११४३॥

सोदण किंचि सव्वं सर्गंधो होइ उड्ढियो सइसा ।

सच्चो पिच्छंत्तो परिमस द पलादि भुज्जदि य ॥११४४॥

शा०—जेसे मांसके लिए मांसका लोभी पक्षी दूसरे मांस ले जाते पक्षीको मारता काटता
है वैसे ही लोभी घनाढ्य मनुष्य बिना अपराधके ही दूसरोंके द्वारा घाता जाता है, मारा जाता
है और पकड़ा जाता है ॥११४०॥

शा०—परिग्रहके कारण मनुष्य माता, पिता, पुत्र और पत्नीका भी विश्वास नहीं करता ।
और रातभर आगकर परिग्रहकी रखवाली करता है ॥११४१॥

शा०—वह सबको शंकाकी दृष्टिसे देखता है कि ये मेरा धन हरनेवाले हैं । और गाँव,
नगर, घर अथवा बनमें किसीका आश्रय जोजता फिरता है इस तरह वह सदा पराधीन रहता
है ॥११४२॥

शा०—वह परिग्रहका लोभी धीर पुरुषोंके रहने योग्य एकान्त स्थानमें रहना पसन्द नहीं
करता । वह बहुत जनसमुदायके मध्य गृहस्थोंके घरमें रहना पसन्द करता है ॥११४३॥

शा०—किंचित् भी शब्द सुनकर परिग्रही एकदम उठकर सब जोर देखता है, अपने धनको
टटोकरा है और लेकर भागता है अथवा भूँछित हो जाता है ॥११४४॥

'तेनैव विधि र्द्धं' धृत्वा कञ्चन कञ्चन परिग्रहवान्कुरीरितः तर्वा विधः प्रेक्षमाणः परानुवर्ति स्वं
इत्थं, पलायते, मुह्यति वा ॥११४४॥

तेनमएणरोहइ तर्द्धं निरिं उप्पहेण व सहादि ।

पविसदि व 'द्दं दुग्गं जीवाण वद्दं करेयाणो ॥११४५॥

'तेनमएण' स्तेनमनेन । 'आरोहति' आरोहति तर्द्धं निरि वा । उप्पार्धे वा धावति । प्रविशति वा ह्यं
दुग्गं वा स्थानं जीवानां वातनं कुर्धन् ॥११४५॥

तह वि य चोरा चारमढा वा मप्पं हरेज्ज अबसस्स ।

मेण्हज्ज भद्दइया वा रायाणो वा विक्कुपिज्ज ॥११४६॥

तथापि पलायनधावनार्थिकं कुर्धते इत्थं हरन्ति चोरा वा चारमढा वा । परवचस्य दायया वा वृहन्ति
राजानो वा विक्कुपन्ति ॥११४६॥

संगणमिच्चं कुट्ठो कलहं रोळं करिज्ज वेरं वा ।

पहणेज्ज व मारेज्ज व मरिजेज्ज व तह य 'हम्मोज्ज ॥११४७॥

'संगणमित्तं कुट्ठो' क्वटः परिग्रहमित्तं कलहं वेरं वा करोति हन्ति, ताडयति । परं स्वयं प्राणाग्नि-
योजयति वा परेण वा ताडयते भावते वा परैः ॥११४७॥

अथवा होइ विनासो गंधस्स जल्लग्गिभूसयादीहिं ।

णट्ठे गंधे य पुणो तिब्बं पुरिसो लहदि दुक्खं ॥११४८॥

'अथवा होज्ज विनासो' अथवा ग्रन्थस्य विनाशो भवेत् अग्निजलमूषकादिभिः । नष्टे पुनर्गन्धे तीव्रं
दुःखं लभते मनुष्यः ॥११४८॥

सोयइ विलवइ कंदइ णट्ठे गंधम्मि होइ विसण्णो ।

पज्झादि णिवाइज्जइ वेवइ उक्कंठिओ होइ ॥११४९॥

भा०—चोरके भयसे वृक्ष अथवा पहाड़पर चढ़ जाता है । अथवा मार्गसे न जाकर कुमार्ग-
से जाता है और जोबोंका घात करते हुए तालाब या किल्लेमें छिप जाता है ॥११४५॥

भा०—इस प्रकार दौड़-धूप करनेपर भी चोर अथवा बलवान् मनुष्य उसे परबंश करके
उसके इत्थंको हर लेते हैं । अथवा भाई वगैरह ले लेते हैं या राजा लूट लेता है ॥११४६॥

भा०—परिग्रहके कारण मनुष्य क्रोध करता है, कलह करता है, विवाद करता है, वेर
करता है, मारपीट करता है, दूसरोंके द्वारा मारा जाता है, पीटा जाता है, या स्वयं मर जाता
है ॥११४७॥

भा०—अथवा भागसे, जलसे और मूषकों आदिसे परिग्रहका विनाश हो जाता है तब
विनाश होनेपर मनुष्यको तीव्र दुःख होता है ॥११४८॥

'लोकवि विभववि' शोचति, विरुपति, ऋषति नष्टे परिग्रहे विषण्णश्च भवति । चिन्ता करोति । विषयमन्त्रस्तन्तापाण्यकारिकं, वेपते उत्कण्ठितो भवति ॥११४९॥

दञ्जदि अंतो पुरिसो अप्तिये ञ्ठे सगम्मि गंधम्मि ।

बायावि य अविष्णप्पइ बुद्धी विप होइ से मूढा ॥११५०॥

'ऋणवि' ब्रह्मते अन्तः पुरुष आत्मीये नष्टे परिग्रहे । वागपि नश्यति बुद्धिरपि मन्वा भवति ॥११५०॥

उम्मत्तो होइ ञरो ञ्ठे गंवे गहोवसिष्ठो वा ।

चहुदि मरुप्पवादादिपहिं बहुधा ञरो मरिदुं ॥११५१॥

'उम्मत्तो होइ ञरो' उम्मत्तो भवति नरः । नष्टे परिग्रहे ग्रहणहीत इव चेष्टते मरुप्रतापादि-निर्मर्तुं ॥११५१॥

बेलादीया संग्ता संसज्जति विविहेहिं जंतुहिं ।

आगंतुगा वि जंतु हवंति गंभेसु सण्णिहिदा ॥११५२॥

'बेलादिना' संग्ताचेलप्रवावरगादयः परिग्रहा । 'संसज्जति' सम्मूर्च्छनामुपयान्ति । 'विविहेहिं जंतुहिं' मानाप्रकारैर्जन्तुभिः । 'आगंतुगा वि जंतु' आगन्तुकोपच अन्तवः । 'गंभेसु सण्णिहिदा भवंति' ग्रन्थेषु सन्निहिता भवन्ति युकापिपीलिकामत्कुणादयः । धान्येषु कीटादयः मुद्गपुपादियु रजसा. तेषामादाने ॥११५२॥

आदाणे विवस्सेवे 'सरेमणे चावि तेसि गंधाणं ।

उक्कस्सणे वेकस्सणे फालणपप्फोढणे खेव ॥११५३॥

आदाने, विषये, संस्करणे, बहिर्नयने, बन्धने, मोचने, तेषां ग्रन्थानां पाठने विघ्नने च ॥११५३॥

छेदणबंधणवेदणआदावणधोव्वणादिकिरियासु ।

संधट्टणपरिदावणहणणादी होदि जीवाणं ॥११५४॥

भा०—बहू शोक करता है, विलाप करता है, विल्लाता है, खेद-खिन्न होता है । चिन्ता करता है । अन्तरंगमें सन्ताप होनेसे जलादि पीता है, कौपता है, उत्कण्ठित होता है ॥११४९॥

भा०—अपने परिग्रहके नष्ट होनेपर पुरुष अन्दर ही अन्दर जला करता है । उसकी वाणी नष्ट हो जाती है तथा बुद्धि भी मूढ़ हो जाती है ॥११५०॥

भा०—परिग्रहके नष्ट होनेपर मनुष्य पिशाचसे पकड़े हुए मनुष्यकी तरह उन्मत्त हो जाता है । और प्रायः पर्वत आदिसे गिरकर मरनेकी चेष्टा करता है ॥११५१॥

भा०—बन्धावि परिग्रहमें नाना प्रकार सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं । बाहरसे आकर भी जू, चींटी, छटमल बगैरह बस जाते हैं । धान्यमें कीड़े लग जाते हैं । गुड़ आदि संभय करनेपर उसमें भी जीव पैदा हो जाते हैं ॥११५२॥

भा०—परिग्रहके ग्रहण करने, रक्षने, संस्कार करने, बाहर ले जाने, बन्धन खोलने,

छेदने छेदने, बन्धने, बन्धने, बन्धने, छेदने, छेदने प्रकाशने च । सम्मन्त्रे परितापमहन्नादिकं भवति जीवानां ॥११५४॥

जदि वि विविचिचदि जंतु दोसा ते केव हुंति से लम्मा ।

होदि य विविचिचणे वि हु तज्जोणिविजोवणा गिययं ॥११५५॥

'जदि वि विविचिचदि' यद्यपि निराक्रियन्ते जीवास्त एव संषट्छादयो घोषा भवन्ति । भवति च पृथक्करणे तेषां तद्योनिविजोवना निश्चयेन ॥११५५॥

एवमचित्तपरिग्रहगतदोषमभिधाय सचित्तपरिग्रहदोषमाचष्टे—

सच्चित्ता पुण गंधा वधंति जीवे सयं च दुक्खंति ।

पावं च तण्णिमिच्चं परिमिण्हंतस्स से होई ॥११५६॥

'सच्चित्ता पुण गंधा वधंति जीवे' परिग्रहाः दासीदासगोमहिष्यादयो ज्ञान्ति जीवात्मन्यं च दुःखिता भवन्ति । कर्मणि नियुज्यमानाः कृष्यादिके पापं च स्वपरिग्रहीतबीवकृतासंयमनिमित्तं तस्य भवति ॥११५६॥

इंदियमयं सरीरं गंधं गेण्हदि य देहसुक्खत्वं ।

इंदियसुहाभिलासो गंधग्गहणेण तो सिद्धो ॥११५७॥

'इंदियमयं सरीरं' इन्द्रियमयं शरीरं । स्पर्शानादिषुष्वेन्द्रियाधारत्वात् । परिग्रहं च चेलप्रावरणादिकं इन्द्रियसुखार्थमेव गृह्णाति वातातपावनमिमत्स्पर्शनिषेधाय । आरमच्छरीरे वस्त्राकृष्टारादिभिरलंकृते पराभिलाषमुत्पाद्य तदङ्गासंयजनितम्रीत्यथितया अभिमत्मापावयति । सेवनाद्यर्थं च तत् इन्द्रियसुखाभिलाषो ग्रन्थं गृह्णातः सिध्यति ॥११५७॥

फाड़ने, क्षाड़ने, छेदने, बांधने, डाँकने, सुखाने, धोने, मलने आदिमें जीवोंका घात आदि होता है ॥११५३-५४॥

गा०—यदि वस्त्रादि परिग्रहसे जन्तुओंको अलग किया जाये तब भी वे ही दोष लगते हैं । क्योंकि उन जन्तुओंको दूर करनेपर उनका योनिस्थान छूट जाता है और इससे उनका मरण हो जाता है ॥११५५॥

इस प्रकार अचित्त परिग्रहके दोष कहकर सचित्त परिग्रहके दोष कहते हैं—

गा०—दासी-दास, गाय-भैंस आदि सचित्त परिग्रह जीवोंका घात करते हैं और स्वयं दुखी होते हैं । तथा उन्हें खेती आदि कामोंमें लगानेपर वे जो पापाचरण करते हैं उसका भागी उनका स्वामी भी होता है ॥११५६॥

इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा कर्मबन्धमें निमित्त होती है अतः मुमुक्षुको उसे छोड़ना चाहिए । परिग्रह स्वीकार करनेपर इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा अवश्य होती है, यह कहते हैं—

वा०—श्री०—शरीर इन्द्रियमय है क्योंकि स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियोंका आधार है । वस्त्र ओड़ना आदि परिग्रह मनुष्य इन्द्रियजन्य सुखके लिए ही ग्रहण करता है । ऐसा वह हवा चूप आदिके अनिष्ट स्पृशसे बचनेके लिए करता है । तथा वस्त्र अलंकार आदिसे अपने शरीरको

स्वाध्यायध्यानाभ्ययोस्तपसो विघ्नकारी परिग्रहस्तदुभयं चान्तरेण न संवरनिर्जरे । तयोर्भावे कुतो निरवशेषकर्मणामो भवतीति कथयति—

गंधस्स गह्वरकक्षजसारवणाणि गियदं करेमणो ।

विकिञ्चत्तमणो ज्झाणं उवेदि क्ह भुक्कसज्झाओ ॥११५८॥

‘गंधस्स गह्वरकक्षज’ परिग्रहादानं, तद्रक्षणं, तत्संस्कारं च नित्यं कुर्वन् व्यासिप्तचित्तः कथं शुभ-
ध्यानं कुर्यात् विमुक्तस्वाध्यायः । एतदुक्तं भवति—व्यासिप्तचित्तस्य न स्वाध्यायः असति तस्मिन्वस्तुयाथात्म्या-
विवृषः ध्येयैकनिष्ठं ध्यानं कथमिव वर्तते ॥११५८॥

परभवध्याय्यं दोषं परिग्रहमुक्त्वायातमुपदर्शयति—

गंधेसु षडिदहिदो होइ दरिदो भवेसु बहुगेसु ।

होदि कुणंतो णिच्चं कम्मं आहारहेदुम्मि ॥११५९॥

‘गंधेषु षडिदहिदो’ ग्रन्थासक्तचित्तः बहुषु भवेषु दरिद्रो भवति । आहारमात्रमुद्दिश्य नीचकर्मकारी
भविष्यति । शिबिकोदहनं, उपागद्वेषनं, पुरीषमूत्राद्यपनयनं इत्यादिकं नीचं कर्म ॥११५९॥

विविहाओ जायणाओ पावदि परभवगदो वि भणहेदं ।

लुद्धो पंपागहिदो हाहाभूदो किलिस्सदि य ॥११६०॥

‘विविहाओ जायणाओ पावदि’ विविधा यातनाः प्राप्स्यति । परभवगतोऽपि धननिमित्तं लुब्धः आशया

भूषित करके मनुष्य दूसरेमें अभिलाषा उत्पन्न करता है और इस तरह उसके शरीरके संसर्गसे उत्पन्न अनुरागका इच्छुक होकर उसका सेवन करता है अतः परिग्रहको स्वीकार करनेवालेके इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा सिद्ध होती है ॥११५७॥

परिग्रह स्वाध्याय और ध्यान नामक तपमें विघ्न पैदा करता है तथा स्वाध्याय और ध्यानके बिना संवर और निर्जरा नहीं होती । और संवर निर्जराके अभावमें समस्त कर्मों का विनाश कैसे हो सकता है ? यह कहते हैं—

शा०—टी०—परिग्रहको ग्रहण, रक्षण और उसके सार सम्हालमें सदा लगा रहनेवाले पुरुषका मन उसीमें व्याकुल रहता है । तब वह स्वाध्याय छूट जानेसे शुभध्यान कैसे कर सकता है । कहनेका अभिप्राय यह है कि जिसका चित्त व्याकुल रहता है वह स्वाध्याय नहीं कर सकता । और स्वाध्यायके अभावमें वस्तुके यथार्थस्वरूपको न जानते हुए ध्येयमें एकनिष्ठ ध्यान कैसे हो सकता है ॥११५८॥

परिग्रहसे उत्पन्न हुआ दोष भव-भवमें दुःख देता है यह कहते हैं -

शा०—जिसका चित्त परिग्रहमें आसक्त होता है वह भव-भवमें दरिद्र होता है । केवल पेट भरनेके लिए उसे पालकी उठाना, जूते नेचना, टट्टी पेशाब साफ करने आदिका नीच काम करना पड़ता है ॥११५९॥

शा०—परिग्रहमें आसक्त पुरुष पर भवमें भी धनके लिए अनेक कष्ट उठाता है । लोभके

सङ्कथ्या वृहीतो ह्य नम स्नेहसर्तं कुर्वतोऽपि नम धनं न भवति, चार्तं वा नष्टमिति कृतहाहाकारः विकल्पति ॥११६०॥

एषेति दोसाणं मुंचद् गंजजहणेण सज्जेसिं ।

तन्निवरीया य गुणा लमदि य गंजस्स जहणेण ॥११६१॥

'एषेति दोसाणं मुंचद्' पूर्वोक्तान्परिग्रह्यहणगतान्बोधान्बोधास्त्यजोविति दोषप्रतिपक्षमृतान्गुणानपि कथते ॥११६१॥

गंजच्चाओ इंदियणिवारणे अंकुसो व इत्थिस्स ।

नयरस्स ख्वाइया वि य इंदियगुत्ती असंगत्तं ॥११६२॥

'गंजच्चाओ' ग्रन्थत्यायः । 'इंदियणिवारणे' इत्ययमिन्द्रियसम्बन्ध उपयोगेन्द्रियविषयः सप्तमी च निमित्तलक्षणा । तेनायमर्थ—इन्द्रियज्ञानस्य रागद्वेषमूलस्य निवारणे निमित्तमूर्तोऽंकुस इव हस्तिनी निवारणे उत्पथयानात् । 'नयरस्स ख्वाइया वि य' नयरस्य क्षांतिका इव । 'असंगत्तं' निष्परिग्रहता । 'इंदियगुत्ती' इन्द्रियगुप्तिरिन्द्रियरक्षा रागोत्पत्तिनिमित्तोन्द्रियज्ञानरक्षा ॥११६२॥

सप्पबहुलमि रण्णे अमंतविज्जोसहो जहा पुरिसो ।

होइ दढमप्पमत्तो तह णिग्गंधो वि विसएसु ॥११६३॥

'सप्पबहुलमि' सर्पबहुले । 'रण्णे' अरण्ये । 'अमंतविज्जोसहो' मन्त्रेण, विषया औषधेन च रहितः पुरान् । 'दढमप्पमत्तो होइ' नितरा अग्रमत्तो भवति । तथा निर्ग्रन्थोऽपि' क्षायिकभ्रष्टानकेवलज्ञानयथाख्यात-

वशीभूत हो तुष्णामें पककर हाहाकार करता है कि इतना कष्ट उठानेपर भी मुझे धनकी प्राप्ति नहीं होती या प्राप्त हुआ धन भी नष्ट हो गया । और इस प्रकार दुःखी होता है ॥११६०॥

शा०—परिग्रहका त्याग करनेसे ये सब दोष नहीं होते । तथा इनके विपरीत गुणोंकी प्राप्ति होती है ॥११६१॥

शा०—टी०—'इंदियणिवारणे' में आये इन्द्रिय शब्दका अर्थ उपयोगरूप इन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियजन्यज्ञान है । तथा सप्तमी विभक्तिका अर्थ निमित्त है । अतः उसका अर्थ होता है—

परिग्रहका त्याग इन्द्रियज्ञानको रोकनेमें निमित्त है जैसे अंकुश हाथीको रोकनेमें निमित्त है । अर्थात् जैसे अंकुश हाथीको उन्मार्गीपर जानेसे रोकता है वैसे ही परिग्रहका त्याग इन्द्रियोंको विषयोंमें जानेसे रोकता है । इन्द्रिया ही रागद्वेषकी मूल हैं । अबवा जैसे ख्वाई नगरकी रक्षा करती है वैसे ही परिग्रहका त्याग रागकी उत्पत्तिमें निमित्त इन्द्रियोसे रक्षा करता है ॥११६२॥

शा०—टी०—जैसे मंत्र, विद्या और औषधीसे रहित पुरुष सर्पोंसे भरे जगलमें अत्यन्त सावधान रहता है । वैसे ही निर्ग्रन्थ साधु भी जो क्षायिक सम्यग्दर्शन केवलज्ञान और यथाख्यात

१. तथा निर्ग्रन्थोऽपि विषयेष्वग्रमत्तो भवति इन्द्रियजयो अग्रमत्तताया उपायः अपरिग्रहतापीत्यनेन पाषाद्वयेनाख्यात—उ० ।

चारित्र्यमन्त्रविद्योपधिरहितो विषयारब्धे रागादिसर्वदुःखे सावधानोऽपि भवेत् ॥११६३॥

रागो हवे मज्जुण्णे गंधे दोसो य होइ अमज्जुण्णे ।

गंधच्चाएण पुणो रागदोसा हवे च्चा ॥११६४॥

रागद्वेषयोः कर्मणा मूलयोनिमित्तं परिग्रहः, परिग्रहत्यागे रागद्वेषौ एव त्यक्तौ भवतः । बाह्यद्रव्यं मनसा स्वीकृतं रागद्वेषयोर्बीजं, तस्मिन्नसति सहकारिकारणे न च कर्ममात्राद्वागद्वेषवृत्तियथा सत्यपि मृत्युच्छेददण्डाद्य-
नन्तकारणवैकल्ये न षटोत्पत्तियथेति मन्यते ॥११६४॥

कर्मणा निर्जरणे उपायः परीषहसहन । तथा चोक्तं 'पूर्वोपात्तकर्मनिर्जरायं परिषोढव्या' परीषहाः'
[त०सू० १।८] ते च परीषहाः षोढा भवन्ति ग्रन्थचेलप्रावरणादिकं त्यजतेति व्याचष्टे—

सीदुष्हदंसमसयादियाण दिण्णो परीसहाण उरो ।

सीदादिणिवारणए गंधे णिययं जहतेण ॥११६५॥

'सीदुष्हदसमसयादियाण' । ननु च दुःखोपनिपाते संकलेशरहितता परीषहजयः, न तु शीतोष्णाद्ययो ।
नहि ते आत्मपरिणामा । अनात्मपरिणामाश्च बन्धसत्वरनिर्जराधीनामुपायो न भवन्ति । योज्जात्मपरिणामो

चारित्र्यरूप मंत्र विद्या और औषधिसे रहित है अर्थात् जिसे इन सबकी प्राप्ति अभी नहीं हुई है वह रागद्वेषरूप सर्पों से भरे विषयरूप वनमें सावधान रहता है ॥११६३॥

विश्लेषार्थं—इसका भाव यह है कि मनमें बाह्य द्रव्यके प्रति अनुराग रागद्वेषको उत्पन्न करनेवाले मोहनीयकर्मका सहकारी कारण है अतः उसका त्याग करनेपर रागद्वेषरूप प्रवृत्ति नहीं होती । उसके अभावमें नवीन कर्मबन्ध नहीं होता । अतः परिग्रहका त्याग ही मोक्षका उपाय है ॥११६३॥

शा०—मनोज्ञ विषयमे राग होता है और अमनोज्ञ विषयमें द्वेष होता है । अतः परिग्रहका त्याग करनेसे राग-द्वेषका त्याग हो जाता है ॥११६४॥

टी०—कर्मबन्धके मूल रागद्वेष हैं और रागद्वेषका निमित्त परिग्रह है । परिग्रहको त्यागने पर रागद्वेषका त्याग हो जाता है । बाह्य द्रव्यको मनसे स्वीकार करना ही रागद्वेषका बीज है । उस सहकारी कारणके अभावमें केवल कर्ममात्रसे रागद्वेष नही होते । जैसे मिट्टीके होने पर भी दण्ड आदि सहायक कारणोंके अभावमें षटकी उत्पत्ति नहीं होती ॥११६४॥

परीषहोंका सहना कर्मोंकी निर्जराका उपाय है । कहा भी है—पूर्वमें बांधे गये कर्मोंकी निर्जराके लिए परीषह सहना चाहिए । वस्त्रादि परिग्रहका त्याग करनेसे उन परीषहोंका सहना होता है, यह कहते हैं—

शा०—टी०—शीत आदिका निवारण करने वाले वस्त्र आदि परिग्रहोंको जो नियमसे त्याग देता है वह शीत, उष्ण, डांस मच्छर आदि परीषहोंको सहनेके लिए अपनी छाती आगे कर देता है ।

शंका—दुःख आने पर संकलेश न करना परीषह जय है । शीत उष्ण आदि परीषह जय नहीं हैं, क्योंकि वे आत्माके परिणाम नहीं हैं । और जो आत्माके परिणाम नहीं हैं वे बन्ध, संबन्ध,

नाली निर्जराहेतुः यथा पुद्गलद्रव्यगतरूपादयः । अनात्मपरिणामावच शीतादयः क्षुत्पिपासादयो दुःखहेतवः, न तु दुःखं, तत् किमुच्यते क्षुत्पिपासादयः परीषदा इति । नैव दोषः । क्षुदादिजन्यदुःखविपरिवाय् क्षुदादि-
शब्दानां । तेन क्षुत्पिपासाशीतोष्ण-रसमस्रकनाम्नादीनां परीषद्वाचोयुक्तिर्न विद्यते । 'शीतुष्णदंसमस्रकानाम्' शीतोष्णदंसमस्रकादीनां । 'परिस्तहार्थं शरीरि विष्णो' परीषदायाः शरीरं वत् । केन ? 'श्रीवाविधिधारणम्' शीता-
दीनां निवेद्येकान् । 'शंभे विषयं बहूतिषं' शब्दाभिव्यक्तं त्यजता ॥११६५॥

देहे आदरः सर्वस्य हिंसादेरसंयमस्य मूलं परित्यक्तो भवति परिराहं त्यजतेत्याचष्टे—

जम्हा णिग्गंघो सो वादादवसीददंसमसयाणं ।

महदि य विविधा वाधा तेण सदेहे अजादरदा ॥११६६॥

'जम्हा' यस्मात् । 'णिग्गंघो सो' निष्परिग्रहोऽपि 'वादादवसीददंसमसयाणं' विविधा वाधा वातात-
पशीतदंसमस्रकानां विविध दुःखं 'सहृषि' सहते । 'सिन्ध' सहनेन । 'सदेहे' स्वदेहे 'अजादरदा' आदराभावः ।
शरीरे अकृतादरवच जहात्येषं हिंसादिकं, तपसि च स्वसकथनिमूहनेन प्रयतते ॥११६६॥

संगपरिमगणादी णिस्संगे णत्थि सब्वविकसेवा ।

ज्जाणज्जेणाणि तज्जो तस्स अविग्गेण वच्चन्ति ॥११६७॥

'संगपरिमगणादी' परिग्रहान्वेषणादि परिग्रहस्य स्वामिलषितस्य अस्तित्वसंबन्धेण क्लेशमस्तीति । तथा
तत्स्वामिनां कोऽप्य 'स्वामित्वं वा न्वासो अवाप्तच्छते इति पुनर्याज्ञा ? कामं सन्तोषं, अलामं दीनमनस्कता,

निर्जरा आदिके उपाय नहीं होते । जो आत्माका परिणाम नहीं है वह निर्जराका कारण नहीं है ।
जैसे पुद्गल द्रव्यके रूपादि । शीत आदि आत्माके परिणाम नहीं हैं । तथा भूख प्यास आदि दुःख-
के कारण हैं किन्तु स्वयं दुःखरूप नहीं हैं । तब आप कैसे कहते हैं कि भूख प्यास आदि परीषह हैं ?

समाधान—उक्त दोष ठीक नहीं है क्योंकि भूख आदि शब्दोंका अर्थ भूख आदिसे होने
वाला दुःख है । अतः भूख, प्यास, शीत, उष्ण, डांस-मच्छर, नाग्य आदिको परीषह कहनेमें कोई
विरोध नहीं है । अतः जो इन परीषहोंको दूर करनेके उपायोंको त्याग देता है वह शीत आदिका
कष्ट होने पर भी अपने मनमें कोई संकलश नहीं करता ॥११६५॥

समस्त हिंसा आदि असंयमका मूल शरीरमें आदरभाव है । परिग्रहको त्यागने पर वह भी
त्याग दिया जाता है, यह कहते हैं—

भा०—यतः परिग्रहका त्यागी निर्ग्रन्थ वायु, धूप, शीत, डांसमच्छर आदिके अनेक कष्टो-
को सहता है । उस सहनेसे उसका शरीरमें अनादरभाव प्रकट होता है । और शरीरका आदर न
करने वाला समस्त हिंसा आदिको छोड़ देता है और अपनी शक्तिको न छिपाकर तपका प्रयत्न
करता है ॥११६६॥

भा०—द्वी०—अपनेको इष्ट परिग्रहको खोजनेमें कष्ट होता है । तथा वह मिल भी जाये तो
उसके स्वामीको खोजनेमें कष्ट होता है कि वह कहाँ रहता है । स्वामी मिल जाये तो उससे

तबानमनं तत्संस्कारणं, तद्रक्षणं इत्यादिकं आदिकभेदेन गृहीतं । 'गिःसंवे' सङ्करहिते 'बन्धि सन्धिविषयो' न सन्धि सर्वे व्याखेपाः । 'अन्तरात्मकोवाचि' ध्यानं अध्ययनं च । 'सर्वो' व्याखेपाभावात् धेतसि । 'तत्स' अपरिग्रहस्य । 'अविशेषेण अन्वयसि' विघ्नमन्तरेण वर्तते । सर्वेषु तपस्तु प्रधानयोर्ध्यान्स्वाध्याययोश्चायो अपरिग्रहता इत्याख्यातमनया गायथा ॥११६७॥

गन्धर्वाएण पुणो भावसिसुद्धी वि भविदा होइ ।

ण हु संगषडिदबुद्धी संगे जहिदुं कुणदि बुद्धी ॥११६८॥

'संगधर्वाएण पुणो' सङ्कत्यागेन पुनः । 'भावसिसुद्धी वि बविदा होमि' परिणामस्य विबुद्धिर्वाञ्छिता भवति । 'ण हु संगषडिदबुद्धी' नैव परिग्रहघटितबुद्धिः । 'संगे बहिदुं कुणदि बुद्धी' परिग्रहास्त्यक्तु करोति बुद्धि ॥११६८॥

या च प्रकान्ता सल्लेखना कषायविषया सा च परिग्रहत्यागमूलेति कथयति—

गिस्संगो वेव सदा कसायसल्लेहणं कुणदि भिक्खु ।

संगा हु उदीरेंति कसाय अग्गीव कट्ठाणि ॥११६९॥

गिस्संगो वेव' निष्परिग्रहश्चैव सदा कषायपरिणामस्तनुन् करोति न सपरिग्रहः । कथं इति तदा-चष्टे—'संगा हु उदीरेंति' परिग्रहा उदीरयन्ति । 'कसाय' कषायान् । 'अग्गीव' अग्निरेव 'कट्ठाणि' काष्ठानि ॥११६९॥

सन्वत्थ होइ लहुगो रूवं विस्सासियं ह्वदि तस्स ।

गुरुगो हि संगसचो संकिज्जइ चावि सव्वत्थ ॥११७०॥

याचना करनी होती है । याचना करने पर मिल जाये तो सन्तोष होता है, न मिले तो मनमें दीनताका भाव रहता है । मिलने पर उसको लाना, उसका संस्कार करना, उसकी रक्षा करना 'आदि' शब्दसे लिया है । इस तरह परिग्रहके निमित्त ये सब करना पडता है । किन्तु परिग्रहका त्याग करके निर्ग्रन्थ बन जाने पर ये सब परेशानियाँ नहीं होती । तब चित्तमे किसी प्रकारकी आकुलता न होनेसे उस निर्ग्रन्थ साधुका ध्यान और स्वाध्याय विना विघ्नके चलते हैं । अतः इस गाथाके द्वारा कहा है कि सब तपोमें ध्यान और स्वाध्याय प्रधान हैं और परिग्रहका त्याग उनका उपाय है ॥११६७॥

गा०—परिग्रहके त्यागसे परिणामोंकी निर्मलता भी प्रकट होती है; क्योंकि जिसकी मति परिग्रहमे आसक्त होती है वह परिग्रहको छोड़नेका विचार नहीं रखता ॥११६८॥

आगे कहते हैं कि गुरु जिस कषाय विषयक सल्लेखनाका प्रकरण चला है उसका मूल परिग्रहत्याग ही है—

गा०—जो परिग्रहसे रक्षित है वही सदा कषाय रूप परिणामोंको कृश करता है परिग्रही नहीं । क्योंकि जैसे लकड़ी डालनेसे आग भड़कती है वैसे ही परिग्रहसे कषाय भड़कती है ॥११६९॥

'सम्बन्ध होई' सर्वत्र भवति मनने आगमने च 'सम्बन्धो' कम् । 'कर्म वेत्सतिर्न' कर्म विस्वासकारि च भवति । 'सत्स' निर्गन्धस्य । वस्त्रप्रावरणादिकप्रच्छादितघातनोऽस्माकमुपद्रवं करोति धनं वा त्वेन शीघरादिना प्रच्छाद्य नयतीति शङ्कां कुर्वन्ति परिग्रहं वृष्ट्या ॥११७०॥

सम्बन्ध अल्पवसिञ्जो जिस्संगो जिम्भञ्जो य सम्बन्ध ।

होदि य जिप्परियम्भो जिप्पडिकम्भो य सम्बन्ध ॥११७१॥

'सम्बन्ध अल्पवसिञ्जो' सर्वत्र ग्रामे, नगरे, अरण्ये च आत्मवशकः । 'जिस्संगो' जिप्परिग्रहः । 'सम्बन्ध च जिम्भञ्जो' सर्वत्र निर्गन्धस्य । 'होदि य जिप्पडिकम्भो' भवति च निर्व्यापारः कृष्यादिक्रियाप्राग्भारहितः । 'जिप्पडिकम्भा य' इदं पूर्वकृतं इदं परन्नावशिष्टं कार्यमित्येतच्चास्य न विद्यते ॥११७१॥

सुखादिनो महत्सुख भवति संस्कारस्थानेनेति वदति—

भारककंतो पुरिसो भारं ऊरुहिय जिम्बुदो होइ ।

जह तह पयहिय गंभे जिस्संगो जिम्बुदो होइ ॥११७२॥

'भारककंतो पुरिसो' भाराक्रान्तः पुंस्य । 'भारं ऊरुहिय' भारमवतार्य । 'जिम्बुदो होई' सुखी भवति । यथा तथा 'जिस्संगो जिम्बुदो होई' निप्परिग्रहः सुखी भवति । 'गंभे पयहिय' ग्रन्थान्परित्यज्य । बाधाभाव-लक्षण हि सुख सर्वमेव । तथाहि—अशनादिना क्षुधादावपगतं जातं स्वास्थ्यमेव सुखमिति लोके मन्यते ॥११७२॥

यस्मादेवं परिग्रहणेऽतिबहवो जन्मद्वयभाविनो दोषाश्च—

तम्हा सम्भे संगे अणागए बड्डमाणए तीदे ।

तं सम्बन्ध जिवारहि करणकारावणानुमोदेहि ॥११७३॥

शा०—अपरिग्रही सर्वत्र जाने आनेमे हल्का रहता है । उसका रूप नग्न दिगम्बर विस्वास-कारी होता है । और परिग्रही परिग्रहके भारमे भारी होता है । और उसके परिग्रहको देखकर लोग शङ्का करते हैं कि यह अपने वस्त्रोमे शस्त्र छिपाये हुए है कोई उपद्रव न करे । अथवा यह अपने शीघर आदिमें छिपाकर धन तो नहीं ले जाता ? ॥११७०॥

शा०—जो अपरिग्रही होता है वह सर्वत्र गाँव, नगर और वनमें स्वाधीन रहता है । उसे किसीका आश्रय लेना नहीं होता । और वह सर्वत्र निर्भय रहता है । उसे कृषि आदि काम करना नहीं होता । तथा इतना काम पहले कर लिया, इतना करना शेष है, इत्यादि चिन्ता उसे नहीं रहती ॥११७१॥

आगे कहते हैं कि सुखके अभिलाषीको परिग्रहके त्यागसे महान् सुख होता है—

शा०—जैसे भारसे लदा हुआ मनुष्य भारको उतारकर सुखी होता है वैसे ही परिग्रहको त्यागकर परिग्रहरहित साधु सुखी होता है । सर्वत्र सुखका लक्षण बाधाका अभाव है । लोकमे भी भोजनके द्वारा भूख प्यास चले जाने पर उत्पन्न हुई स्वस्थताको ही सुख माना जाता है ॥११७२॥

'तच्छु' तस्मात् । 'कथं संवे' सर्वपरिग्रहान् । 'अन्वाम्बे' अनागतान् । 'अधुनाप्ये तौषे' वर्तमानान्-
नतीतान् 'सं' भवान् । 'सम्बन्ध विचारैहि' सर्वथा विचारय । करणकाराववापुष्पाहिं कृतकारित्ताम्बामनु-
मोदनेन । कथं अतीतो भावी वा परिग्रहो बन्धकारणं येन निवार्यते ? अयमभिप्रायः । अतीतस्वस्वामिसम्बन्धेऽपि
वस्तुनि मनेऽं वस्तुवासीविति तदनुस्मरणानुरागादिना अधुनापरिणामेन बन्धो भवतीति वा कृपास्तदनुस्मरणं
अनुरागं वा । एवं भविष्यति इत्यभूतं मम इविणं इति ॥११७३॥

जावति केह संगी विराधया विविहकालसंभूदा ।

तेहिं तिविहेण विरदो विमुक्तसंगो जह सरीरं ॥११७४॥

'जावति केह संगी' यावन्तः केचन परिग्रहाः । 'विराध्या' विनाशकाः । कस्य ? रत्नत्रयस्य । 'तिविध-
कालसंभूदा' कालत्रयप्रवृत्ताः । 'तेहिं तिविधेण विरदो' तेभ्यो मनोवाक्कावैविरतः सन् 'विमुक्तसंगो' विमुक्तसङ्गः ।
'जह सरीरं' त्यज शरीरं ॥११७४॥

एवं कदकरणिज्जो तिकालतिविहेण चैव सञ्चत्यथ ।

आसं तण्ह संगं छिंद ममत्तिं च मुच्छं च ॥११७५॥

'एवं कदकरणिज्जो' एवं कृतकरणीय । यत्कर्तव्यमाराधना बाधता आहारशरीरत्यागादिकं स एव भूतः ।
'तिकाले वि' कालत्रयेऽपि । 'तिविधेण' त्रिविधेन । 'सम्बन्ध' सर्वविषया मुक्तसाधनगोचरां । 'आसं' आशा ।
'तण्ह' तृष्णा । 'संगं' परिग्रहभूता । 'छिंद ममत्तिं' ममेवमिति संकल्पं छिदि । 'मुच्छं' मोहमिति
यावत् ॥११७५॥

गा०—टी०—यतः परिग्रह रक्षने पर इह लोक और परलोकमें बहुतेसे दोष होते हैं अतः हे
क्षपकः तुम सब अनागत, वर्तमान और अतीत परिग्रहोंको कृतकारित अनुमोदनासे सर्वथा
दूर करो ।

शंका—अतीत और भावि परिग्रह बन्धका कारण कैसे हैं जिससे उसका त्याग कराते हो ?

समाधान—इसका यह अभिप्राय है यद्यपि अतीत वस्तुके साथ जो स्वामी सम्बन्ध वा बह
जाता रहा, फिर भी उसमें 'मेरे पास अमुक वस्तु थी' इस प्रकारके स्मरण और अनुराग आदिरूप
अधुना परिणामोत्पत्ति बन्ध होता है इसलिए उसका स्मरण वा अनुराग मत करो । इसी प्रकार 'मेरे
पास आगामीमें अमुक धन आदि होगा' ऐसा चिन्तन करनेसे भी कर्मका बन्ध होता है ॥११७३॥

गा०—अतः हे क्षपक ! तीनों कालोंका जितना भी परिग्रह रत्नत्रयका विनाशक है उस
सबको मन वचन कायसे छोड़कर अपरिग्रही बनो और तब शरीरका त्याग करो ॥११७४॥

गा०—इस प्रकार आराधनाके इच्छुकका आहार शरीर आदिका त्याग रूप जो कर्तव्य है
वह जिसने कर लिया है ऐसे तुम हे क्षपक ! तीन कालोंके परिग्रहोंमें मन वचन कायसे आशा,
तृष्णा, संग, ममत्व और मूर्छाको दूर करो ॥११७५॥

टी०—ये इस प्रकारके विषय मुझे चिरकाल तक प्राप्त हों यह आशा है । ये कभी भी
मुझसे अलग नहीं हों इस प्रकारकी अभिलाषा तृष्णा है । परिग्रहमें आसक्ति संग है । ये मेरे भोग्य
हैं मैं इनका भोका हूँ ऐसा संकल्प ममत्व है । अत्यासक्ति मूर्छा है ॥११७५॥

परिग्रहस्य त्यागजन्मसुखातिशयमिह जन्मनि प्राप्यं निर्विघ्नसुत्तरयाथा—

सम्बन्धायविद्युत्को शीवीभूदो पसण्णचित्तो य ।

जं पावइ पीयिसुहं ण चक्रवड्डी वि तं लहइ ॥११७६॥

'सम्बन्धायविद्युत्को' परित्यक्ताशेषाद्ब्रह्मन्तरग्रन्थः । 'शीवीभूदो' शीतीभूतः । 'पसण्णचित्तो य' प्रसन्नचित्तः सन् । 'जं पावइ पीयिसुहं' यत्प्राप्नोति प्रीत्यात्मकं सुखं । 'न चक्रवड्डी वि तं लभइ' चक्रवर्तीपि तन्म लभेत ॥११७६॥

चक्रवर्तिसुखस्य स्वल्पतायाः कारणमाचष्टे—

रागविवागसतण्णादिगिद्धि अवित्ति चक्रवड्डीसुहं ।

णिसंसंमणिसुहस्स कइं अगवइ अर्णतमागं पि ॥११७७॥

रागविवागसतण्णादिगिद्धि अवित्ति चक्रवर्तिसुहं । रागो विपाकः फलमस्यैव रागविपाकरूपं विषय-सुखमाशेष्यमानं रञ्जयति विषयोऽविति रागो विपाकः फलं सुखस्येत्युच्यते । सह तृष्णया वर्तते इति सतृष्णं, अवित्तिशयेन गृद्धि काङ्क्षां जनयति इति अवितिगृद्धि । न विद्यते तृप्तिरस्मिन्नित्युक्तिः । यदेवंभूतं चक्रवर्तिसुखं 'णिसंसंमणिसुहस्स' नि मंगस्य यन्निवृत्तिसुखं 'तस्यानन्तभागमपि न प्राप्नोति ॥११७७॥

महाप्रदमंशा अहिंसादीनां जन्मर्षा इति वर्णयति—

पञ्चमहत्त्वयं ।

साधेति जं महत्थं आयरिदाइं च जं महत्त्लेहिं ।

जं च महत्त्लाइं सयं महत्त्वदाइं हवे ताइं ॥११७८॥

'साधेति जं महत्त्व' साधयन्ति यस्मान्महाप्रयोजनं असंयमनिमित्तप्रत्यग्रकमकदम्बकनिवारण महत्प्रयो-

आगे कहते हैं कि परिग्रहके त्यागसे अतिशय सुख इसी जन्ममें प्राप्त होता है—

गा०—समस्त बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहको त्यागकर जो शीतीभूत होता है अर्थात् परिग्रह सम्बन्धी सब प्रकारकी चिन्ताओंसे भुक्त होमेसे अत्यन्त सुखमय होता है तथा प्रसन्नचित्त होता है वह जिस प्रीतिरूप सुखको प्राप्त करता है वह सुख चक्रवर्तीको भी प्राप्त नहीं होता ॥११७६॥

चक्रवर्तीका सुख कम क्यों है इसका कारण कहते हैं—

गा०—चक्रवर्तीके सुखका फल राग है क्योंकि विषय सुखका सेवन पुरुषको विषयमें अनुरक्त करता है । तथा वह तृष्णाको बढ़ाता है । अत्यन्त गृद्धिको—लम्पटताको उत्पन्न करता है । उसमें तृप्ति नहीं है । अतः चक्रवर्तीका सुख अपरिग्रहीको जो परिग्रहका त्याग करने पर सुख होता है, उसके अनन्तसे भाग भी नहीं है ॥११७७॥

अहिंसा आदिका महाव्रत नाम सार्थक है, यह कहते हैं—

गा०—यतः ये असंयमके निमित्तसे होने वाले नवीन कर्म समूहका निवारण रूप महान्

कर्म सत्यादयन्तीति महाव्रतानि । 'आचरिवाह' च अं अह्मकैर्हि' यस्मादाचरितानि महद्भिः तस्मान्महाव्रतानि इति निश्चितः । 'अं च' यस्मात् 'महत्काचि' स्वयं महान्ति ततो महाव्रतानि स्फुल्लसूक्ष्ममेघसकलहिंसापिरूप-
कया वा महान्ति ॥११७८॥

तेसिं चैव वदाणं रक्षद्वं रादिभोजणियसी ।

अहुप्पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ ॥११७९॥

'तेसिं चैव वदाणं' तेषामेवाहिंसाविव्रताना । 'रक्षद्वं' रक्षणार्थं । 'रादिभोजणियसी' रात्रिभोज-
नान्निवृत्तिः । रात्रौ यदि भिक्षार्थं पर्यटति त्रसान्स्वावररक्ष हन्याद्दुरालोकत्वात् । न च दायकागमनमार्गं,
तस्यान्नावस्थानदेशं, आत्मनो वा उच्छिष्टस्य वा निपातदेशं, दीयमानं वाहारं योस्यं न वेति विरूपयितुमयं
कथं समर्थं ? दिवापि दुःपरिहारान् जानाति रससूक्ष्मानय कथं परिहरेत् । 'कहुप्पुं करं वा' दायिकायाः
भाजनं वा कथं शोधयति । पदविभागिका वा एषणासमित्यालोचनां सम्यगपरीक्षितविषयां कुर्वतः कथमिव ।
सत्यव्रतमवतिष्ठते ? मुप्तेन स्वामिमूर्तेनादत्तमप्याहारं गुह्यतोऽप्यत्तादानं स्यात् । क्वचिद्भाजने दिवैव
स्थापितं, आत्मवासे भुञ्जानस्यापरिग्रहव्रतलोपः स्यात् । रात्रिभोजनात् व्यावृत्तं सकलानि व्रतान्यवतिष्ठन्ते
यम्पूर्णाणि । 'अहुप्पवयणमादाओ' अष्टौ प्रवचनमातृकाश्च सद्ब्रतपरिपालनाया । एव पञ्च समितयः तिक्तो

प्रयोजनको साधते हैं, इसलिए महाव्रत है । यतः महान् पुरुषोके द्वारा इनका आचरण किया जाता
है इसलिए महाव्रत है । और यतः ये स्वयं महान् हैं—स्थूल और सूक्ष्मके भेद रूप हिंसा आदिका
इससे त्याग होता है अतः इन्हे महाव्रत कहते हैं ॥११७८॥

विशेषार्थ—अहिंसा आदि महाव्रत हिंसा आदिसे विरतिरूप होनेसे शुद्ध चिद्रूप है । नोभा-
गमभाव व्रतको अपेक्षा चात्रिभोजके क्षयोपशम उपशम अथवा क्षयसे जीवके हिंसादि निवृत्ति रूप
परिणाम—मै जीवन पर्यन्त हिंसा नहीं करूँगा, असत्य नहीं बोलूँगा, विना दी हुई वस्तु ग्रहण नहीं
करूँगा, मैथुन नहीं करूँगा और न परिग्रह स्वीकार करूँगा, महाव्रत है ॥११७८॥

मा०—टी०—उन्हीं अहिंसा आदि व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रि भोजनका त्याग कहा है ।
यदि भूति रात्रिमें भिक्षाके लिए भ्रमण करता है तो त्रस और स्थावर जीवोंका घात करता है
क्योंकि रात्रिमें उनका देख सकना कठिन है । देनेवालेके आनेका मार्ग, उसके अन्न रखनेका
स्थान, अपने उच्छिष्ट भोजनके गिरनेका स्थान, दिया जानेवाला आहार योग्य है अथवा नहीं,
ये सब वह कैसे देख सकता है ? दिनमें भी जिनका परिहार कठिन है उन रसज अतिसूक्ष्म जीवों-
का परिहार रात्रिमें कैसे कर सकता है । करछुल, अथवा देनेवालीका हाथ अथवा पात्रको देखे
विना कैसे शोधन कर सकता है । इन सबकी सम्यक् रूपसे परीक्षा किये विना पदविभागी अथवा
एषणा समिति आलोचना करनेपर साधुका सत्यव्रत कैसे रह सकता है ? दानका स्वामी सोया
हुआ हो और उसके द्वारा न दिये गये आहारको किसी अन्यके हाथसे लेनेपर अदत्तादान—विना
बी हुई वस्तुका ग्रहण कहलायेगा । किसी भाजनमें लालकर रखे और रात्रिमें भोजन करे
तो अपरिग्रहव्रतका लोप होगा । किन्तु रात्रि भोजनका त्याग करनेसे सब व्रत सम्पूर्ण रहते हैं ।

आठ प्रवचन माता महाव्रतकी रक्षक हैं । पाँच समितियाँ और तीन गुण्तिनीं ये आठ

मुक्तत्व प्रवचनमातृकाः । रत्नत्रय प्रवचनं तस्य मातर इवेमाः । क उपमात्रं ? यथा माता पुत्रानां अपाय-परिहान्मोक्षता एवं गुणितसमिप्येति व्रतानि पारुष्यमिति । 'मातृमातृवो व सत्त्वान्मो' भावनात्प्र सतीः । वीर्यम-राजकयोपशमचारित्रमोहोपशमकयोपशमप्राप्तेनात्मना भाव्यतेऽसकृत्प्रवर्त्यते इति भावना । अथ किमिदं व्रतं नाम ? मातृत्वोर्ध्वं न हिमस्मि, नानृतं वचामि, नानृतमाचये, न मिनुनकर्म करोमि, न परिग्रहमाचये । इत्येवंभूत आत्मपरिणाम उत्पन्नः कथंविद्यतेष्व अवातिष्ठते उत विनश्यति वा ? अथस्याममनुभवविषयं । जीवाचित्तत्प-परिणामे तस्य अज्ञाने वा प्रवृत्तस्य इत्यनुपयोगमाभावात् । अथ विनश्यति ? परिणामान्तरत्पत्ती अदिति का रणा ? अतो ह्युपायपरिहारा रक्षा ततः किमुच्यते वतामां रक्षार्थं रात्रिभोजनविरतिरिति । यथा न हिमस्मीत्यु-पयोगो न तथा नानृतं वचामीत्येवमाचयः सन्ति परिणामाः । किं पुनः परिणामान्तरं वाच्यम् । अमोच्यते—

नामाधिकल्पेन चतुर्विधानि व्रतानि । तत्र नामव्रतं कस्याचिद्ब्रतमिति कृता संज्ञा । हिंसाविनिवृत्ति-परिणामव्रत आत्मनः शरीरस्य कर्म प्रत्येकत्वात् आकारः सामायिके परिणस्य सद्भावस्थापनापन्नं । भाविन्नतत्त्वब्राह्मिज्ञानपरिणतिरत्वा आगमद्वयव्रतं । व्रतस्य शरीरं त्रिकाशुभोचरं, ज्ञायकशरीरं व्रतं । चारित्रमोहस्य उपशमात् क्षयात्क्षयोपशमाद्वा यस्मिन्नात्मनि भविष्यति विरतिपरिणामाः स भाविन्नं । उपशमे क्षयोपशमे वावस्थितः चारित्रमोहो नो आगमद्वयव्यतिरिक्तं कर्म व्रतं । न हिमस्मीत्याधिको ज्ञानोपयोगो म्प्यते आगमभावव्रतमिति । नो आगमभावव्रतं नाम चारित्रमोहोपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा प्रवृत्तो हिंसाधि-

प्रवचन माता है । रत्नत्रयरूप प्रवचनकी ये माताके समान हैं । जैसे माता पुत्रोंकी रक्षा करती है वैसे ही गुणित और समितियां व्रतोंकी रक्षा करती हैं । तथा सब भावनाएँ महाव्रतोंकी रक्षक हैं । वीर्यमतरायका क्षयोपशम और चारित्रमोहके उपशम अथवा क्षयोपशमकी अपेक्षा जो आत्मा-के द्वारा भाई जाती है बारबार की जाती है वे भावना हैं ।

सङ्कल—मैं जीवन पर्यन्त हिंसा नहीं करूँगा, झूठ नहीं बोलूँगा, बिना दी हुई वस्तु ग्रहण नहीं करूँगा, मैचुन कर्म नहीं करूँगा, न परिग्रह रखूँगा, इस प्रकारका परिणाम उत्पन्न होने पर क्या ऐसा ही बना रहता है या नष्ट हो जाता है ? वैसा ही बना रहना तो अनुभव विरुद्ध है क्योंकि जीवादि तत्त्वोंको जाननेमें अथवा उनके अज्ञानमें प्रवृत्ति करने पर इस प्रकारका उपयोग नहीं रहता । यदि नष्ट हो जाता है तो जब अन्य परिणाम उत्पन्न हुए और महाव्रत रूप परिणाम नहीं रहे तब उनकी रक्षा कैसे ? जो विद्यमान होता है उसको बिनाशसे बचाना रक्षा है । तब यह कैसे कहा कि व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रि भोजन विरति होती है । जिस समय 'मैं हिंसा नहीं करता' ऐसा उपयोग होता है उस समय 'मैं झूठ नहीं बोलता' इत्यादि परिणाम नहीं होते । तब अन्य परिणामोंके होने पर तो महाव्रत रूप परिणाम कैसे रह सकते हैं ?

समाधान—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे व्रतके चार भेद हैं । किसीका नाम व्रत होना नामव्रत है । आत्मा और शरीर पारस्परिक सम्बन्धकी दृष्टिसे एक हैं अतः हिंसा आदिते निवृत्ति रूप परिणाम बाला आत्मा जब सामायिकमें लीन होता है तब उसका आकार सद्भाव स्थापना व्रत है । भविष्यमें व्रतको ग्रहण करने वाले ज्ञान रूपसे परिणत आत्मा आगम द्रव्य व्रत है । व्रतके ज्ञाताका त्रिकाशुभोचर शरीर ज्ञायक शरीर व्रत है । चारित्र मोहके उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे जिस आत्मानमें आगे व्रत होंगे वह आत्मा भाविन्नत है । उपशम अथवा क्षयोपशम रूप परिणत चारित्रमोह कर्म नोबागम द्रव्य व्यतिरिक्त कर्म व्रत है । 'मैं हिंसा नहीं करता' इत्यादि रूप ज्ञानोपयोग आगमभाव व्रत है । चारित्र मोहके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे होने वाला

परिणामाभावः अहिंसाविवर्त । प्राणिनां विद्योक्ते प्राणानां, असद्विधाने, अदत्तस्थाधाने, विभुगर्भविशेषे, मूच्छावां काञ्चरिणितिरिति यावत् । तथा चोक्तं—‘हिंसायुक्तस्यैवात्मापरिग्रहेभ्यो विरतिर्नैतदिति’ [त०सू० ७।१] हिंसाशयः क्रियाविशेषा आत्मनः परिणामास्तेभ्यो आत्मनो व्यावृत्तिहिंसाविष्यपरिणतिव्रतमिति सूत्रार्थः । हिंसा-विष्यावृत्तत्वं नाम बद्धुषं जीवस्य व्रतसंज्ञितं तत्परिपाल्यते रात्रिभोजननिवृत्त्या प्रवचनमात्काभिरव । अस्मिन्प्रायश्चित्त उद्दिश्यति सति च न विनश्यति तत्सत्काल्यति यथा दुर्गो राजानं । सत्या रात्रिभोजननिवृत्ती प्रवचनमात्काशु भावनाशु वा सतीषु हिंसाविष्यावृत्तत्वं भवति, न तास्वसतीषु इति युक्तयुक्तं सूत्रकारेण ॥११७९॥

तेसिं पंचणहं पि य अंहयाणमावज्जणं व संका वा ।

आद्विषयी य ह्वे रादीमसप्यसंगम्भि ॥११८०॥

‘तेसिं पंचणहं पि य अंहयाणमावज्जणं’ तेषां पञ्चानां हिंसादीनां प्राप्तिः । ‘संका वा’ संकटा वा मम हिंसाद्यः किं संवृत्ता न वेति । ‘ह्वे’ भवेत् । ‘रादीमसप्यसंगम्भि’ रात्रावाहाराप्रसंगे सति न केवलं हिंसा-विषु परिणतिः । ‘विषयी य ह्विष्य’ आत्मनश्च यते । स्वस्थापि विपद्भवेत् स्थाणुसंप्रकटकादिभिः ॥११८०॥

हिंसादि परिणामोका अभाव रूप अहिंसादि व्रत नोभागमभाव व्रत है । इसका मतलब है प्राणियों के प्राणोंके घातमें, झूठ बोलनेमें, बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणमें, मेथुन रूप विशेष कर्ममें तथा ममत्व भावमें परिणतिका न होना । तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा भी है—‘हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे विरति व्रत है’ हिंसा आदि क्रिया विशेष आत्माके परिणाम हैं । उनसे आत्माकी निवृत्ति अर्थात् हिंसादि रूप परिणतिका न होना व्रत है । यह सूत्रका अर्थ है । जीवकी हिंसा आदिसे व्यावृत्ति रूप जो अवस्था है उसका नाम व्रत है । रात्रि भोजन त्याग और प्रवचन माताओंके द्वारा जीवके उस रूपका संरक्षण होता है । जिसके नहीं होने पर जो नष्ट हो जाता है और जिसके होने पर जो नष्ट नहीं होता वह उसका रक्षक होता है । जैसे दुर्ग राजाका रक्षक है । रात्रि भोजनसे निवृत्ति और प्रवचन माता तथा भावनाओंके होने पर हिंसादिसे निवृत्ति होती है और उनके नही होने पर नही होती है । अतः गाथा सूत्रकारने ठीक ही कहा है कि ये व्रतोंकी रक्षक हैं । आशय यह है कि जीवन पर्यन्त हिंसा आदिसे निवृत्ति रूप परिणत आत्माका कर्त्तव्य उसी रूपसे बने रहना ही यहाँ विवक्षित है । परिणामोंमें परिवर्तन होते हुए भी निवृत्ति रूप परिणाम तदवस्थ रहता है ॥११७९॥

गा०—रात्रिमें आहार करने पर उन हिंसा आदि पांचों पापोंकी प्राप्ति होती है अथवा यह शंका रहती है कि हिंसा आदि पाप हुए तो नहीं ? इसके सिवाय साधुको स्वयं भी दूठ, सर्प, कण्टक आदिसे विपत्तिका सामना करना पड़ सकता है ॥११८०॥

१. इस गाथाके पश्चात् मुद्रित प्रतिमें नीचे लिखी गाथा है जिसपर आशाधरकी टीका है किन्तु यह किसी प्रतिमें नहीं है । पं० जिनवासजी ने भी न तो इसका अर्थ किया है और न इसपर पृथक् क्रमांक दिया है—

अह्यवारापेरमणवरस गुत्तीओ होन्ति तिण्णव ।

वेहिंदुकामस्स पुणो समिदीओ पंच बिट्ठाओ ॥

आत्मनके द्वारको रोकनेमें आत्मक भिक्षुके तीन गुणियां होती हैं । और गमन तथा बोलने आधिकी चेष्टा करने पर पांच लक्षितियां कही हैं ।

प्रवचनमातृकाव्याख्यानायोस्तरप्रवचनस्तत्र मनोगुप्तिं वाग्गुप्तिं व्याख्यातुमायातोत्तरगाथा—

जा रागादिग्नियची मणस्स जाणाहि तं मनोगुप्तिं ।

अलियादिग्नियची वा भोगं वा होइ वच्चिगुची ॥११८१॥

'जा रागादिग्नियची मणस्स जाणाहि तं मनोगुप्तिं' या रागद्वेषाभ्यां निवृत्तिर्मनस्ता ज्ञानाहि मनो-
गुप्तिं । अत्रेदं परीक्ष्यते । मनसो गुप्तिरिति यदुच्यते किं प्रवृत्तस्य मनसो गुप्तिरथाप्रवृत्तस्य ? प्रवृत्तं चेदं शुभ
मनः तस्य का रक्षा । अप्रवृत्तं यदि तथापि असत्. का रक्षा ? सतोऽप्यपायपरिहारोपयुक्तैस्त्युच्यते ? किं च
मनःशब्देन किमुच्यते द्रव्यमन उत भावमन ? मनोद्रव्यवर्गणा मनश्चेत् तस्य कोऽपायो नाम यस्य परिहारो
रक्षा स्यात् ? किं च द्रव्यान्तरेण तेन रक्षितेनास्य जीवस्य फलं य आत्मन परिणामोऽभ्युपमावहति । ततो-
ऽभ्युक्ता रक्षात्मनः । अथ नो इन्द्रियमतिज्ञानावरणक्षयोपशमसंजातं ज्ञानं मन इति वृत्तते तस्य अपायः कः ?
यदि विनाशः स न परिहर्तुं शक्यतं यतोऽनुभवसिद्धौ विनाशः । अन्यथा एकस्मिन्नेव ज्ञाने प्रवृत्तिरात्मन
स्यात् । ज्ञानानीह वीचय इवानारतमुत्पद्यन्ते न चास्ति तदविनाशोपायः । अपि च इन्द्रियमतिरपि रागादिब्या-
वृत्तिरिष्टैव किमुच्यते रागादिग्नियची मणस्स इति ।

अत्र प्रतिविधीयते—नो इन्द्रियमतिरिह मनःशब्देनोच्यते । सा रागादिपरिणामः सह एककाल आत्मनि
प्रवर्तते । न हि विषयावग्रहाविज्ञानमन्तरेणास्ति रागद्वेषयोः प्रवृत्तिः, अनुभवसिद्धेवास्ति नापरा युक्तिः अनु-
गम्यते । वस्तुतत्त्वानुयायिना मानसेन ज्ञानेन सम रागद्वेषौ न वर्तते इत्येतत्त्व्यात्मसाक्षिकमेव । तेन मनमस्त-

आगे प्रवचनमाताओंका व्याख्यान करते हैं । उनमें से प्रथम मनोगुप्ति और वचनगुप्तिका
व्याख्यान करते हैं—

गा०-टी०—मनकी जो रागादिसे निवृत्ति है उसे मनोगुप्ति जानो ।

शंका—यहाँ यह विचार करते हैं कि यह जो आप मनकी गुप्ति कहते हैं सो यह गुप्ति प्रवृत्त
मनकी है या अप्रवृत्त मनकी है ? प्रवृत्त मन तो शुभ रूप होता है उसकी रक्षा कंसी ? यदि मन
अप्रवृत्त है तो वह असत् हुआ, उसकी रक्षा कंसी । प्रवृत्त मनकी अपायसे बचाव करनेमें उप-
योगिता होती है । तथा मन शब्दसे द्रव्यमन लेते हैं या भावमन ? यदि द्रव्यवर्गणा रूप मन लेते
हैं तो उसका अपाय क्या, जिससे बचनेसे उसकी रक्षा हो । तथा द्रव्यवर्गणा रूप मन तो भिन्न
द्रव्य है । उसकी रक्षा करनेसे इस जीवको क्या लाभ जो आत्माके अशुभ परिणाम करता है ।
अतः आत्माकी रक्षाकी बात युक्त नहीं है । यदि नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न
हुए ज्ञानको मन शब्दसे ग्रहण करते हैं तो उसका अपाय क्या है ? यदि अपायसे मतलब विनाश
है तो उसका परिहार शक्य नहीं है क्योंकि विनाश तो अनुभवसे सिद्ध है । यदि ज्ञानका विनाश
न हो तो आत्माकी प्रवृत्ति सदा एक ही ज्ञानमें रहे । किन्तु ज्ञान तो तरंगोंकी तरह निरन्तर
उत्पन्न होते रहते हैं । उनके विनाश न होनेका कोई उपाय नहीं है । तथा इन्द्रियजन्य मतिकी
भी रागादिसे ब्यावृत्ति मान्य है तब 'मनकी रागादिसे निवृत्ति' क्यों कहते हैं ?

समाधान—यहाँ मन शब्दसे नोइन्द्रिय जन्य मति कही है । वह आत्माके रागादि परि-
णामके साथ एक ही कालमें प्रवृत्तिशील है । विषयोंका अवग्रहादिज्ञान हुए विना रागद्वेषमें प्रवृत्ति
नहीं होती, यह बात अनुभव सिद्ध है । इसमें अन्य कोई युक्ति नहीं है । जो मानस ज्ञान वस्तुतत्त्व-
के अनुसार होता है उस ज्ञानके साथ रागद्वेष नहीं होते यह बात आत्यसाक्षिक है । अतः तत्त्व-

त्वावगाहिषो रागादिभिरलक्ष्यकारिता या सा मनोगुप्तिः । मनोब्रह्मज्ञानोपलक्षणं तेन सर्वो विरक्तराग-
द्वेषकलुषो मनोगुप्तिरित्यथा इन्द्रियमयी भूते, अवचो, मनःपर्वणे वा परिणममानस्य न-मनोगुप्तिः स्यात् । इष्यते
च । अथवा मनःशब्देन मनुते य आत्मा स एव मध्यते तस्य रागादिभ्यो या निवृत्तिः रागद्वेषकलेण वा अपरि-
वृत्तिः सा मनोगुप्तिरित्युच्यते । अर्थात् भूषे सम्यग्योगनिवृत्तौ गुप्तिः पुष्टफलमनस्य योगस्य वीर्यपरिणामस्य
निवृत्तौ रागादिकार्यकरवत्रिरोषो मनोगुप्तिः । 'अलिखतिद्विभक्तौ वा शौचं वा होह बन्धुत्सौ' विपरीतार्थप्रति-
पत्तिहेतुत्वात्परदुःखोत्पत्तिनिमित्तत्वात्प्राचर्माणा व्यावृत्तिः सा वाग्गुप्तिः । ननु च वाचः पुद्गलत्वात् विपरी-
तार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वादिभ्यो व्यावृत्तिहेतुर्वाचो धर्मो न चासौ संबरणे हेतुरनात्मपरिणामत्वात् । शब्दाधिबत् ।
एवं तर्हि व्यक्तीकात्पक्ष्वाद्यात्मप्रशंसापरात् परनिन्दाप्रवृत्तात्परोपद्रवनिमित्ताच्च वचसो व्यावृत्तिरात्मनस्तथा-
भूतस्य वचसोऽवदत्तिका वाग्गुप्तिः । या 'वाचं प्रवर्तयन् अशुभं कर्म स्वीकरोत्यात्मा तस्या वाच इह ब्रह्मं
वाग्गुप्तिरित्यत्र तेन वचनविषयस्यानुपपत्तकता वाचः परिहारो वाग्गुप्तिः । भीमं वा सकलाया वाचो या परि-
वृत्तिः सा वाग्गुप्तिः । अयोग्यवचनेऽवृत्तिः प्रेक्षापूर्वकारितया योग्यं तु वक्ति वा न वा । भाषासमितित्तु

का ब्रह्मण करने वाले मनका रागादि भावके साथ साहचर्य न होना मनोगुप्ति है । 'मन' शब्द ज्ञान-
का उपलक्षण है । अतः रागद्वेषकी कालिमासे रहित ज्ञानमात्र मनोगुप्ति है । यदि ऐसा न माना
जाय तो जब आत्मा इन्द्रिय ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान अथवा मन-पर्ययज्ञान रूपसे परिणत हो
उस समय मनोगुप्ति नहीं हो सकेगी । किन्तु उस समय भी मनोगुप्ति मानी जाती है । अथवा जो
आत्मा 'मनुते' अर्थात् पदार्थोंको जानता है वही मन शब्दसे कहा जाता है । उसकी जो रागादिसे
निवृत्ति है अथवा रागद्वेषसे परिणमन करना वह मनोगुप्ति कही जाती है । ऐसा होने पर 'सम्यक्
रूपसे योगका निग्रह गुप्ति है' ऐसा कहनेमें भी कोई विरोध नहीं है । सम्यक् अर्थात् किसी लौकिक
फलकी अपेक्षा न करके वीर्य परिणाम रूप योगका निग्रह अर्थात् रागादि कार्य करनेसे रोकना
मनोगुप्ति है ।

तथा विपरीत अर्थको प्रतिपत्तिमें कारण होनेसे और दूसरोको दुःखकी उत्पात्तिमें निमित्त
होनेसे जो अधर्म मूलक वचनसे निवृत्ति है वह वचन गुप्ति है ।

झङ्गा—वचन तो पौद्गलिक है अतः विपरीत अर्थकी प्रतिपत्तिमें हेतु आदि होनेसे व्यावृत्ति
वचनका धर्म है और वह संबरणमें कारण नहीं है क्योंकि वह तो पुद्गलका परिणाम है, आत्माका
परिणाम नहीं है जैसे शब्द बगैरह पुद्गलके परिणाम हैं ।

समाधान—मिथ्या, कठोर, अपनी प्रशंसा और परकी निन्दा करने वाले तथा दूसरोंमें
उपद्रव कराने वाले वचनसे आत्माकी निवृत्ति, जो इस प्रकारके वचनोंकी प्रवृत्तिको रोकती है
वह वचन गुप्ति है । वचन गुप्तिमें वचन शब्दसे जिस वचनको सुनकर प्रवृत्ति करता हुआ आत्मा
अशुभ कर्म करता है उस वचनका ब्रह्मण है । अतः वचन विषयको उत्पन्न न करना वचनका
परिहार है और वही वचन गुप्ति है । अथवा समस्त प्रकारके वचनोंका परिहार रूप भी वचन-
गुप्ति है । अयोग्य वचनमें अप्रवृत्ति वचनगुप्ति है । प्रेक्षापूर्वकारो होनेसे वह योग्य वचन बोले
या न बोले । किन्तु योग्य वचन बोलना—उनका कर्ता होना भाषासमितित्तु है । अतः गुप्ति और

योग्यबद्धः कर्त्ता ततो यद्वाग्नेवी गुप्तिसमित्थोः । मीनं वामुत्तरम् स्फुटतरो बभोभेदः । योग्यस्य वचसः प्रवर्तकता । वाचः कृत्याधिपत्तवमुत्पादकतेति ॥११८१॥

कायकिरियाधिपती काउस्सम्भो शरीरगे गुची ।

हिसादिधियची वा शरीरगुची हवदि दिद्वा ॥११८२॥

'कायकिरियाधिपती' कायस्योदारिकादेः शरीरस्य वा क्रिया तस्या निवृत्तिः 'शरीरगे गुची' शरीर-विषया गुप्तिः कायगुप्तिरिति यावत् । आसनस्वानशयनादीनां क्रियात्वात् तासां चाल्मना प्रवर्तित्वात् कृ-मात्सलनः कायक्रियाम्यो व्यावृत्तिः । अथ अतं, कायस्य पर्यायः क्रिया, कायाच्चापन्तिरभात्मा ततो द्रव्यान्तर-पर्यायात् द्रव्यान्तरं तत्परिणामशून्य तथापरिणतं व्यावृत्तं भवतीति कायक्रियानिवृत्तिरात्मनो भव्यते । सर्वधामे-वारधनामित्त्वं कायगुप्तिः स्वात् न चेटेति ।

अनोभ्यते—कायस्य सम्बन्धिनी क्रिया कायसम्बन्धोभ्यते । तस्याः कारणभूतात्मनः क्रिया कायक्रिया तस्य निवृत्तिः । 'काउस्सम्भो' कायोत्सर्गः शरीरस्याधुषितामसारतामापन्निमित्तां चाबेत्य तद्गतममतापरि-हारः कायगुप्तिः । अन्यथा शरीरमायुः शृङ्खलाबद्धं त्यक्तुं न शक्यते इत्यसम्भवः कायोत्सर्गस्य । घातूनाम-नेकार्थत्वात् गुप्तिनिवृत्तिवचन इहेति सूत्रकाराभिप्रायोऽन्यथा 'कायकिरियाधिपती शरीरगे गुची' इति कवं भूयात् । कायोत्सर्गग्रहणेन निश्चलता भव्यते । यद्येवं कायकिरियाधिपती इति न वक्तव्यं, कायोत्सर्गः काय-

समित्तिये महान् अन्तर है । मीन वचन गुप्ति है ऐसा कहने पर गुप्ति और समित्तिका भेद स्पष्ट हो जाता है । समिति योग्य वचनमें प्रवृत्ति कराती है । और गुप्ति किसी वचनकी उत्पादक नहीं है ॥११८१॥

शा०—टी०—काय अर्थात् औदारिक आदि शरीरकी जो क्रिया है उसकी निवृत्ति काय-गुप्ति है ।

अङ्गा—बैठना, उठरना, सोना आदि क्रियाएँ हैं । और वे क्रियाएँ आत्माके द्वारा प्रवर्तित हैं । तब आत्मा कायकी क्रियाओंसे कैसे निवृत्त हो सकता है । यदि कहोगे कि क्रिया कायकी पर्याय है और कायसे आत्मा भिन्न है । अत द्रव्यान्तर कायकी पर्यायसे द्रव्यान्तर आत्मा उस पर्यायसे रहित होनेसे कायकी पर्यायरूप परिणत नहीं होता अतः उससे वह निवृत्त है और इसीको आत्माकी कायकी क्रियाओंसे निवृत्ति कही है । तो इस प्रकारसे सभी आत्माओंके काय-गुप्तिका प्रसंग आता है ।

समाधान—कायशब्दसे कायसम्बन्धी क्रिया कही है । उसकी कारणभूत आत्माकी क्रिया कायक्रिया है और उसकी निवृत्ति कायगुप्ति है । अथवा कायोत्सर्ग अर्थात् शरीरकी अपवित्रता, असारता और आपत्तिमें निमित्तपना जानकर उससे ममत्व नं करना कायगुप्ति है । अन्यथा शरीर तो आयुकी सांकरसे बँधा है । जब तक आयु है शरीरका त्याग नहीं किया जा सकता । यदि शरीर त्यागको कायोत्सर्ग कहेंगे तो कायोत्सर्ग असम्भव हो जायगा । घातूँके अनेक अर्थ होते हैं अतः यहाँ गुप्तिका अर्थ निवृत्ति है ऐसा याचासूत्रकार आचार्यका अभिप्राय है । यदि ऐसा न होता तो 'कायक्रिया निवृत्ति शरीर गुप्ति है' ऐसा कैसे कहते ।

गुणिरित्येतदेव बाध्यं इति चेत् न कार्याविषयं ममेदंभावरहितत्वमात्रमपेक्ष्य कार्यात्सर्गस्य प्रवृत्तेः धावनगमन-
कण्ठवर्णाधिक्रियायां प्रवृत्तस्यापि कायगुणितः स्यान्न वेद्यते । अथ कायक्रियानिवृत्तिरित्येतावदुच्यते मूर्च्छापरिणत-
स्यापि अपरित्यक्तता विद्यते इति कायगुणितः स्यात् । तत उभयोपादानं व्यभिचारनिवृत्तये । कर्मादाननिमित्त-
सकलकामक्रियानिवृत्तिः कायगोचरममतात्यायपरा वा कायगुणितरिति सूत्रार्थः । 'हिंसाविधिबन्धनी वा शरीरगुती
हृषि विद्धा' हिंसादिनिवृत्तीर्वा शरीरगुणितरिति दृष्टा जिनायमे, प्राणिप्राणवियोजनं, अदत्तादानं, मिथुनकर्म
शरीरेण, परिग्रहादानमित्यादिका वा विशिष्टा क्रिया सेह कायवाम्बेनोच्यते । कायिकोपकृतेर्गुणितव्यवृत्तिः काय-
गुणितरिति व्याख्यानं सूत्रिणा ॥११८२॥

छेत्स्व वदी जयरस्व खाइया अह्व होइ पायारो ।

तह पावस्व भिरोहे ताजो गुचीजो साहुस्व ॥११८३॥

'छेत्स्व वदी' श्लेषस्य वृत्तिः 'जयरस्य खाइया अह्ववा पायारो' अथवा प्राकारो भवति नगरस्य । 'तथा
पावस्व भिरोजो' पापस्य निरोध उपायः । 'ताजो गुचीजो' ता गुप्त्य साधोः ॥११८३॥

तम्हा तिविहेवि तुमं मणवचिकायप्यओगजोगम्भि ।

होहि सुसमाहिदमदी भिरंतरं ज्माणसज्जाए ॥११८४॥

'तम्हा तिविहेव मणवचिकायप्यओगजोगम्भि' मनोवाक्कायविषये प्रकृष्टे योगे । 'तुमं' त्वं । 'सुसमा-

हाङ्गा—यदि कार्यात्सर्गसे निश्चलता कही जाती है तो 'कायक्रियानिवृत्ति कायगुणित है'
ऐसा नहीं कहना चाहिए । किन्तु कार्यात्सर्ग कायगुणित है ऐसा ही कहना चाहिए ।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि कायमे 'यह मेरा है' इस भावके न होने
मात्रकी अपेक्षासे कार्यात्सर्ग शब्दको प्रवृत्ति होती है । किन्तु यदि कायगुणित यही है तो दीड़ना,
जाना, लांघना आदि क्रियाओंको करते हुए भी कायगुणित हो सकेगी । किन्तु ऐसा नहीं माना
जाता । और 'कायक्रियाकी निवृत्ति कायगुणित है' इतना ही कहा जाता है तो मूर्च्छित अवस्थामे
भी कायक्रियाकी निवृत्ति होनेसे कायगुणितका प्रसंग आता है । इसलिए व्यभिचार दोषकी
निवृत्तिके लिए दोनोंका ग्रहण माथामें किया है ।

अतः कर्मके ग्रहणमें निमित्त समस्त कायकी क्रियाओंसे निवृत्ति और कायविषयक ममत्वका
त्याग कायगुणित है, यह गाथासूत्रका अर्थ है ।

अथवा आगममे हिंसा आदिसे निवृत्तिको कायगुणित कहा है । यहाँ काय शब्दसे प्राणियोंके
प्राणोंका घात, बिना बी हुई वस्तुका ग्रहण, शरीरसे मैथुन कर्म और परिग्रहका ग्रहण इत्यादि
विशिष्ट क्रिया कही गई है । कायिक क्रियाओंसे गुणित अर्थात् व्यावृत्ति कायगुणित है ऐसा आचार्यने
व्याख्यान किया है ॥११८२॥

गा०—जैसे श्वेतकी बाइ और नगरकी खाई अथवा चारदिवारी होती है वैसे ही पापको
रोकनेमें साधुकी गुणितया होती हैं ॥११८३॥

गा०—इसलिए हे क्षेपक ! तुम निरन्तर ध्यान और स्वाध्यायमें लगे रहकर मन बचन
काय विषयक तीन प्रकारके प्रकृष्ट योगमें सावधान रहो । क्योंकि ध्यान और स्वाध्यायके बिना
गुणितया नहीं उठरती ॥११८४॥

द्विषन्वी होति' सुष्टु समाहितमतिर्भव । कथं ? 'भिरंतरं क्त्वात्सक्त्वाए' निरन्तरप्रवृत्तम्यानस्वाम्याये । न हि व्यागस्वाम्यायावन्तरेण गुन्त्योञ्जतिच्छन्त इति भावः ॥११८४॥

सप्तसिध्याख्यानायोत्तरप्रबन्धस्तमेर्यासिमितिस्वरूपायोत्तरा गाथा—

मग्गुञ्जोवपजोगालंबणसुद्धीहिं इरियादो भुषिणो ।

सुनाणुवीचि मणिदा इरियासमिदी पवयणम्मि ॥११८५॥

'मग्गुञ्जोवपजोगालंबणसुद्धीहिं' मार्गशुद्धिः, उद्योतशुद्धिरूपयोगशुद्धिस्वाल्म्बनशुद्धिरिति चतस्रः शुद्धयस्तामि. करणभूतामि । 'इरियवो' गच्छत । 'भुषिणो' मुनेः । 'सुताणुवीचि' सूत्रानुसारेण । 'मणिदा' कथिता । 'इरियासमिदी' ईर्यासिमिति । 'पवयणम्मि' प्रवचने । तत्र मार्गस्य शुद्धिर्नाम अग्रपुरपिपीलिकादि-प्रसता, बीजाकुरतुषाहरितपकाशकर्मभादिरहितता । स्फुटतरता व्यापिता च उद्योतशुद्धिः । निष्ठाकरणसमा-दीनामस्फुट प्रकाश, अद्यापी प्रदीपाधिप्रकाशः । 'पादोद्धारनिलोपदेशबीवपरिहरणान्वहितचेतस्ता उपयोग-शुद्धिः । गुस्तीर्षचैत्ययतिबन्धनाविकमपूर्वशास्त्रार्थग्रहणं, संयतप्रार्थोग्यक्षेत्रमार्गं, वैधावृत्यकरणं, अनियतावास-स्वास्थ्यसम्पादने श्रमपरिजय, नानादेशभाषाशिक्षणं, विनैयजनप्रतिबोधनं चैति प्रयोजनापेक्षया आलम्बनाशुद्धिः । किं तत् सूत्रानुसारेणमन, अद्वत्, नातिविलम्बित, पुरो युगमात्रदर्शनप्रवृत्ति, अतिकृष्टकरण्यास, भयवि-स्मयान्वन्तरेणासलील मनस्युत्क्षेप, परिहृतलङ्घनषावन प्रविलम्बितभुञ्जं, निविकार, अचपलमसम्प्राप्तमनूष्वर्ध-तिर्यक्प्रक्षेप, हस्तमात्रपरिहृततक्षणतृणपत्तलबं, अकृतपशुपल्लिमृगोद्देजनं, विरुद्धयोनिसकृमणजातभाषाभ्युदासाय

आगे समितिका व्याख्यान करते है । प्रथम ईर्यासमितिका कथन करते हैं—

गा०—टी०—मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धि, उपयोगशुद्धि और आलम्बन शुद्धि, इन चार शुद्धियों-के द्वारा सूत्रके अनुसार गमन करते हुए मुनिके प्रवचनमें ईर्यासमिति कही है ।

मार्गमें चोटी आदि त्रस जीवोंकी अधिकताका न होना तथा बीज, अंकुर, तृण, हरे पत्ते और कीचड़ आदिका न होना मार्गशुद्धि है । सूर्यके प्रकाशका स्पष्ट फैलाव और उसकी व्यापकता उद्योतशुद्धि है । चन्द्रमा नक्षत्र आदिका प्रकाश अस्पष्ट होता है और दीपक आदिका प्रकाश व्यापक नहीं होता । पैर उठाने और रखनेके देशमें जीवोंकी रक्षामें चित्तकी सावधानता उपयोग शुद्धि है । गुरु, तीर्थ, चैत्य और यतिकी बन्दनाके लिए गमन करना आदि किसीके पास शास्त्रका अपूर्व अर्थ या अपूर्व शास्त्रके अर्थका ग्रहण करनेके लिए गमन करना, मुनियोंके योग्य क्षेत्रकी खोजके लिए गमन करना, बंध्यावृत्य करनेके उद्देशसे गमन करना, अनियत आवासके उद्देशसे गमन करना, स्वास्थ्य लाभके लिए गमन करना, श्रमपर विजय पानेके लिए गमन करना, नाना देशोकी भाषा सीखनेके लिए गमन करना, शिष्य समुदायका प्रतिबोधन करनेके लिए गमन करना, इत्यादि प्रयोजनोकी अपेक्षा गमन करना आलम्बन शुद्धि है ।

सूत्रानुसार गमन इस प्रकार है—न बहुत जल्दी और न बहुत विलम्बसे सामने युगमात्र भूमि देखकर चलना, पादनिक्षेप अधिक दूर न करना, भय और आश्चर्यके बिना गमन करना, लीलापूर्वक गमन न करना, पैर अधिक ऊँचा न उठाते हुए गमन करना, लांघना दौड़ना आदि नहीं, दोनों भुजा लटकाकर गमन करना, विकार रहित, चपलता रहित, ऊपर तिर्यक् अवलोकन

छटासङ्कटत्रितिकेन, अत्रिसारिलत्रसिवाथामिसंघट्टं कुटबेगुवकीवद् सारवेयाविपरिहृतिषु, परिहृतकुस-
सुचम्योयन्नाङ्गोयवपुषिचयव कोपलकलकं, हरीकृतपोरीकलहं, जवास्वसंक्रमं निरुपयतो यतेरीवा-
समितिः ॥११८५॥

भाषासमितिनिरूपणाशौतरभाषा—

सत्त्वं अमृच्छमोसं अलिवादीदोसवज्जमणवज्जं ।

वदमाणस्सजुवीषी भासासमिदी हवदि सुद्धा ॥११८६॥

वतुविधा वाक्—सत्या, मूषा, सत्यसहिता मूषा, असत्यमूषा चेति । सता हिता सत्या । न सत्या
न च मूषा या सा असत्यमोसा । द्विप्रकारा वाचमित्यंभूता । 'अलिमाविदोसवज्जं' व्यलीकता अर्थाभाष',
पाकम्, पैशुम्यमित्पाविदोवरहितं । 'ज्जवज्जं' पापास्ववो न भवति इत्यनवद्य । 'वदमाणस्स' व्याहरतः ।
'अजुवीषि' सूत्रानुसारेण 'भासासमिदी सुद्धा हवदि' भाषासमितिः सुद्धा भवति ॥११८६॥

सत्यवचनभेद निरूपयति—

ज्जवदसंमदिठवणा जामे रूवे पडुच्चववहारे ।

संभावणववहारे भाड्धोपम्मसच्चेण ॥११८७॥

'ज्जवदसंमदि' नाना जनपदप्रसिद्धाः मुसकेतानुविधायिनो वाणी जनपदसत्यं । गच्छति इति गौ., गर्व-

रहित गमन करना, तरुण तृण पत्रासे एक हाथ दूर रहते हुए गमन करना, पशु पक्षी और
मृगोको भयभीत न करते हुए गमन करना, विरुद्ध योनिवाले जीवोंके मध्यसे जानेपर उनको
होनेवाली बाधाको दूर करनेके लिए पीछीसे अपने शरीरकी बारबार प्रतिलेखना करते हुए गमन
करना, सामनेसे आते हुए मनुष्योंसे न टकराते हुए गमन करना, दुष्ट गाय, दुष्ट बैल, कुत्ता
आदिसे चतुरतापूर्वक बचते हुए गमन करना, भुस, तुष, मसी, गीला गोबर, तृणसमूह, जल,
पाषाण और लकड़ीके तस्तसे बचकर गमन करना, चोरी और कलहसे दूर रहना और पुलपर न
चढ़ना । ये सब करते हुए गमन करना ईयांसमिति है ॥११८५॥

आगे भाषासमितिका कथन करते हैं—

शा०—वचनके चार प्रकार हैं—सत्य, असत्य, सत्यसहित असत्य और असत्यमूषा ।
सज्जनोके हितकारी वचनको सत्य कहते हैं । जो वचन न सत्य होता है और न असत्य उसे
असत्यमूषा कहते हैं । इस प्रकार सत्य और असत्यमूषा वचनको बोलना तथा असत्य, कठोरता,
चुगली आदि दोषोंसे रहित और अनवद्य अर्थात् जिससे पापका आस्वव न हो ऐसा वचन सूत्रा-
नुसार बोलनेवालेके शुद्ध भाषासमिति होती है ॥११८६॥

सत्यवचनके भेद कहते हैं—

शा०—जनपद सत्य, सम्मति सत्य, स्थापना सत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य,
सम्भावना सत्य, व्यवहार सत्य, भाव सत्य और उपमा सत्य इस प्रकार सत्यवचनके दस भेद हैं ।

टो०—विभिन्न जनपदोंमें जो उस उस जनपदके संकेतके अनुसार प्रचलित वाणी है वह

तीति गज इत्येवमादिका अवयववाचिभुवमाभावेऽपि विवक्षितार्थप्रवृत्तिनिमित्तभूता । सम्प्रदायान्धेन संस्थानाम्बु-
पवन उच्यते । गजेन्द्रो नरेन्द्र इत्यादिकाः शब्दाः क्षुब्धलक्षणयोस्तात् केवाञ्छित् स्वतो लक्षणत्वात् नामीश्वररक्षेमा-
म्बुपगममाभित्य क्वाचिद्गजे मानवे वा प्रमुष्यमाना सम्प्रसित्यसम्बन्धेनोच्यन्ते । अर्हन्किन्धः स्कन्धः इत्येवमाद्यः
सद्भाववासद्भावस्थापनाविषया स्थापनासत्य । अरिहननं, रजोहननं, इन्दनं इत्येवमादीनां क्रियाणां तत्राभावा-
द्ब्युत्पीकता नाशङ्कनीया आकारमात्रे परमार्थत्वात्संबंधात्वात् । तस्य च स्थापनायां वस्तुवास्तित्वाद् बुद्धिपरि-
ग्रहेण वा सद्भावात् । इन्द्रादिसंज्ञा स्वप्रवृत्तिनिमित्तजातिगुणक्रियाह्वयनिरपेक्षा तच्छब्दाभिधेयसम्बन्धपरिणति-
मानेन वस्तुतः प्रवृत्ता नामसत्यं । क्वाचग्रहणं उपलक्षणं प्रवृत्तिनिमित्तानां नीलमुत्पलं, धवलो हि मृगलाञ्छन
इत्येवमादिक क्वाचसत्यं । सम्बन्धनगरापेक्षाभिधेय्य च वस्तुस्वच्छपुष्कम्बनं वीथीं ह्रस्व इत्येवमादिकं प्रतीत्य-
सत्यं । वस्तुनि तथाऽप्रवृत्तंऽपि तथाभूतकार्ययोग्यतादर्शनात् सम्भावनाया वृत्तं सम्भावनासत्यं । अपि दोष्यां
समुद्रं वरेत्, शिरसा पर्वतं भिन्नात् इत्यादि । वर्तमानकाले स परिणामो यद्यपि नास्ति तथाप्यतीतानामत-

जनपद सत्य है । जैसे गमन करे वह गाय है गर्जन करे वह गज—हाथी है । यद्यपि गमनरूप और
गर्जनरूप अर्थ नहीं होनेपर भी इन अर्थोंकी प्रवृत्तमें निमित्तभूत वाणी जनपद सत्य है । अर्थात्
जैसे गाय और गजशब्द गमन और गर्जन अर्थको लेकर निष्पन्न हुए हैं और उनका संकेत गाय
और गजमें किया गया है । गाय बैठी हो तब भी उसे गाय कहते हैं । इस प्रकार प्रत्येक देशकी
भाषामें शब्द जनपद सत्य हैं ।

सम्मति शब्दसे आकार विशेषकी स्वीकृति कहा जाती है । जैसे गजेन्द्र नरेन्द्र इत्यादि
शब्द शुभलक्षणके योगसे व्यवहृत होते हैं । किन्हींमें स्वयं शुभलक्षण पाये जानेसे उन्हें इन्द्र या
ईश्वरके रूपमें स्वीकार करके किसी गजको गजेन्द्र या मनुष्यको सुरेन्द्र कहना सम्मति सत्य है ।
किसी तदाकार या अतदाकार वस्तुमें अर्हन्त, इन्द्र या स्कन्दकी स्थापना करके उसे अर्हन्त आदि
कहना स्थापना सत्य है । मूर्तिमें स्थापित अर्हन्त या इन्द्रमें अर्हन्तशब्दका अर्थ अरि—कर्मशत्रुका
हनन करना या कर्मरजका हनन करना और इन्द्र शब्दका अर्थ इन्दन क्रिया नहीं पाई जाती,
इसलिए उसमें असत्यपनेकी आशंका नहीं करनी चाहिए । क्योंकि सभी पदार्थ आकारमात्रमें
परमार्थ माने जाते हैं । और वह आकार तदाकार स्थापनामें वस्तुरूपसे रहता है अथवा अतदा-
कार स्थापनामें उसमें उस प्रकारकी युद्धि कर लो जाती है ।

इन्द्रादि नामोंकी प्रवृत्तिमें निमित्त जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यकी अपेक्षा न करके जो
उस शब्दका अपने वाच्यार्थके साथ सम्बन्ध है केवल उसी दृष्टिसे रखा वस्तुका इन्द्रादि नाम
नामसत्य है । रूपका ग्रहण शब्दकी प्रवृत्तिके निमित्तोंका उपलक्षण है । जैसे कमलका नीला रूप
देखकर नीलकमल कहना या चन्द्रमा सफेद कहना रूप सत्य है । अन्य वस्तुके सम्बन्धसे व्यक्त
होनेवाला वस्तुका स्वरूप प्रतीत्य सत्य है जैसे किसीको लम्बा या ठिगना कहना ।

वस्तुमें वैसा नहीं होने पर भी उस प्रकारके कार्यकी योग्यता देखकर जो संभावना मूलक
बचन है वह संभावना सत्य है । जैसे कहना अमक व्यक्ति हाथोंसे समुद्र पार कर सकता है या
शिरसे पर्वत तोड़ सकता है । इत्यादि । यद्यपि वर्तमान कालमें वस्तुमें वह परिणाम नहीं है तथापि

परिक्रमा^१ इत्यनेन इत्यनिति कृत्वा प्रयुक्तानि वचसि कोटनं पच, कटं कुन्तित्येवमादीनि व्यबहृत्सत्त्वं । अहिंसा-
श्लाघा भवः पात्यते येन वचसा तद्भूत्वसत्त्वं निरीक्ष्य स्वप्रवृत्ताचारो भवेत्येवमाचारिकं । पल्थोपमसाचरोप-
मविक्रमुपमा सत्यम् ॥११८७॥

मुवाधिवचनप्रयलक्षणं कथयन्ति—

तन्निवरीदं मोसं तं उभयं जत्थ सच्चमोसं तं ।

तन्निवरीया भासा असच्चमोसा इवे दिट्ठा ॥११८८॥

'तन्निवरीदं' सत्यविपरीतं । 'मोसं' मूषा । 'असच्चमिचामनमूतं' [त० सू० ७] इति वचनात् । मिथ्या-
ज्ञानमिथ्यादर्शनयोः संयमस्य वा निमित्तं वचनमसद्वचनानां अप्रशस्तं तत्सत्त्वविपरीतं । 'तं उभयं' सत्सत्यमनू-
च उभयं । 'अच्च' यस्मिन् वाक्ये । 'तं' तद्वाक्यं । 'सच्चमोसं' सत्यमूषेत्युच्यते । 'तन्निवरीया भासा' सत्याव-
नृताग्निमिथ्याच्च पुण्यभूता । 'भासा' भाषा वचनं 'असच्चमोसा' असत्यमूषेति । 'इवे' भवेत् । 'दिट्ठा'
दृष्टा पूर्वाग्निमेव । एकान्तेन न सत्या नापि मूषा नोभयमिथा किन्तु जात्यन्तरं यथा वस्तु नैकान्तेन नित्यं नापि
अनित्यं नापि सर्वथा एकान्तयोः समुच्चय किन्तु कथंचिदुपान्त्यामित्यात्मकं । एवमियं भारती ॥११८८॥

सा नवप्रकारा तस्यास्य भेदा^२ इत्यन्त इति भाषाद्वयेनाकष्टे—

आमंतणि आणवणी जायणि संपुच्छणी य पण्वणी ।

पच्चकक्षाणी भासा मामा इच्छाणुलोमा य ॥११८९॥

अतीत और अनागत परिणाम रूप यही द्रव्य है ऐसा मानकर किया गया वचन व्यवहार सत्य है
जैसे भात पकाओ या चटाई बुनो । ये दोनों परिणाम वर्तमानमें नहीं हैं क्योंकि चावल पकने पर
भात बनेगा और बुनने पर चटाई होगी । फिर भी अनागत परिणामकी अपेक्षा इनका व्यवहार
होता है । जिस वचनके द्वारा अहिंसा रूप भाव पाला जाता है वह वचन भाव सत्य है । जैसे
देखकर सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करो आदि । पल्थोपम, सागरोपम आदिका जो कथन आगममें
कहा है वह उपमा सत्य है ॥११८७॥

असत्य आदि तीन वचनोंका लक्षण कहते हैं—

गा०—टी०—सत्यसे विपरीत वचन असत्य है । तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है 'असत् कहना झूठ
है ।' जो वचन मिथ्याज्ञानमें, मिथ्याश्रद्धानमें और असंयममें निमित्त होता है वह वचन असत्
कथन रूप होनेसे अप्रशस्त है । अतः सत्यसे विपरीत है । जो वचन सत्य और असत्य दोनों रूप
होता है वह वचन सत्यमूषा है । जो वचन सत्य, असत्य और सत्य असत्यसे विपरीत होता है उसे
पूर्व आगमोंमें असत्यमूषा कहा है । वह वचन न तो एकान्तसे सत्य होता है न एकान्तसे असत्य
होता है और न सत्यासत्य होता है किन्तु जात्यन्तर होता है । जैसे वस्तु न तो एकान्तसे नित्य है,
न अनित्य है और न सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य है, किन्तु कथंचित् नित्यानित्य है । उसी
प्रकार यह असत्यमूषा वचन भी होता है ॥११८८॥

उस असत्यमूषा वचनके नीचे दो गाथाओंसे कहते हैं—

१. माप्रति इदं—मू० । निचेवागं—आ० मू० । २. वा यत् इति—प्र० । वा य इति—आ० ।

‘आर्जतमी’ यथा वाचा परोऽभिमुखीक्रियते सा आत्मन्त्री । हे देवदत्त इत्यादि । अगृहीतसंकेतं नाभिमुखी करोति इति न सर्वकाम्येन गृहीतमभिमुखी करोति तेन न मया गृहीतागृहीतसंकेतयोः प्रतीतिनिमित्त-मिनिमित्तं चेति द्वयात्मकता । स्वाध्यायं क्रुद्ध, विदमतासंयमात् इत्यादिका अनुशासनवाणी आणवणी । चोचि-तायाः क्रियायाः करणमकरधं चापेक्ष्य नैकान्त्येन सत्या न भूषव वा । ‘आवणी’ ज्ञानोपकरणं पिच्छादिकं वा भवद्विभदात्तयं इत्यादिका याचनी । दातुरपेक्षया पूर्वबहुअवस्था । निरोध’ वेदनास्ति भवतां न वेति प्रपन-वाक् ‘संपुच्छणी’ । यद्यस्ति सत्या न चेदितरा इति । वेदनाभावाभावमपेक्ष्य ऽवृत्तेवमयरूपता । ‘वच्छावणी’ नाम धर्मकथा । सा बहुस्निधिवय प्रवृत्ता कैश्चिन्मनसि करणमितरैरकरणं चापेक्ष्य द्विरूपा । ‘वच्छावणी’ नाम केनचिद्गुणमननुज्ञाप्य इदं क्षीरादिकं इयन्तं कालं मया प्रत्याख्यातं इत्युक्तं कार्यान्तरमुद्दिश्य^१ तत्कुर्वित्युदितं गुणवा प्रत्याख्यानावधिकालो^२ न पूर्ण इति नैकान्ततः सत्यता गुणवचनात्प्रवृत्तो न दोषायेति न भूषकान्त । ‘इच्छानुलोमा च’ उच्यतेन पुष्टं वृत्तार्करामिधं क्षीरं न क्षोभनमिति । यदि परो ब्रूयात् क्षोभनमिति माधुर्यादि-

गा०—आत्मन्त्री, आणवणी, याचनी, संपुच्छणी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी और इच्छानुलोमा ।

टी०—जिस वचनसे दूसरेको बुलाया जाता है वह आमंत्रणी भाषा है । जैसे हे देवदत्त ! यह वचन जिसने संकेत ग्रहण नहीं किया उसे बुलाने वालेके अभिमुख नहीं करता अर्थात् वह बुलाने पर नहीं आता । इसलिए यह वचन सत्य भी नहीं है और जिसने सर्वथा संकेत ग्रहण किया है उसे अभिमुख करता है इसलिए असत्य भी नहीं है । इस तरह यह वचन गृहीत संकेत वालेको तो प्रतीति करानेमें निमित्त होता है किन्तु जिसने संकेत ग्रहण नहीं किया उसको प्रतीति करानेमें निमित्त नहीं होनेसे दो रूप है । ‘स्वाध्याय करो, असंयमसे विरत ह्यो’, इत्यादि अनुशासन वचन आणवणी है । जो काम करनेकी प्रेरणा की गई है वह करने या करनेकी अपेक्षा यह वचन न तो एकान्तसे सत्य है और न एकान्तसे असत्य है । आप मुझे ज्ञानके उपकरण अथवा पीछी आदि प्रदान करें, इत्यादि वचन याचनी भाषा है । यह भी दाताकी अपेक्षा पहलेकी तरह न तो सर्वथा सत्य है और न सर्वथा असत्य है क्योंकि माँगने पर दाता दे भी सकता है और नहीं भी दे सकता ।

आपकी वेदना—कष्ट रूका या नहीं ? या निरोध—जेलमें आपको कष्ट है या नहीं ? इस प्रकार पूछना संपुच्छनी भाषा है । यदि वेदना है तो सत्य है, नहीं है तो मिथ्या है । इस प्रकार वेदनाके भाव और अभावकी अपेक्षासे प्रवृत्त होनेसे यह वचन उभयरूप है ।

धर्मकथाको पणवणी या प्रज्ञापनी कहते हैं । यह बहुतसे श्रोताओंको लक्ष करके होती है अतः कुछ तो अपने मनमें उसका पालन करनेका विचार करते हैं और कुछ नहीं करते । इस अपेक्षा यह भी उभयरूप है । प्रत्याख्यानी भाषा इस प्रकार है—किसीने गुस्से निवेदन किये बिना यह दूध आदि मैंने इतने कालतक त्यागा’ ऐसा नियम किया । किसी अन्य कार्यको लक्ष करके गुरुने कहा ऐसा करो । उसके त्याग करनेकी मर्यादाका काल पूरा नहीं हुआ, इसलिए उसका प्रत्याख्यान सर्वथा सत्य नहीं है और गुस्की अपेक्षासे उसने त्यागी हुई वस्तुमें प्रवृत्ति की इसलिए दोष भी न होनेसे सर्वथा असत्य भी नहीं है ।

इच्छानुलोमा भाषा इस प्रकार है—किसी उचरके रोगीने पूछा—धी और गवकर मिला

१. धो वेदनाया अस्ति—आ० । निरोधो वेदनास्ति—ज० २ इय तद्गुरुहितं—ज० इय तदहितं—ज० । इय तद्गुरुहितं ग—आ० । ३. कालेन पूर्वं इति—अ० । कालो न पूर्वं इति—ज० ।

प्रत्ययबुधसम्बन्धं चरपुद्गलिनमिततां चापेक्ष्य न शोभनमिति बन्धो नृषकान्ततो नापि सत्यमेवेति वृथात्म-
कता ॥११८९॥

संसयबयणी य तद्वा असच्चमोसा य अद्गमी मासा ।

अणवमी अणवस्वरगदा असच्चमोसा इवदि जेया ॥११९०॥

'संसयबयणी' किमय स्यात्पुस्तक पुष्य इत्यादिका द्वयोरेकस्य सद्भावमितरस्यान्नाम्बं चापेक्ष्य
द्विरूपता । 'अणवस्वरगदा' अङ्गुलिस्फोटोटादिव्यभिः कृताकृतसकेतपुरुष्यापेक्षया प्रतीतिनिमित्ततामितिमिततां च
प्रतिपद्यते इत्युभयरूपा ॥११९०॥

उगमउप्यायणएसणार्हि पिंढमुवधि सेज्जं च ।

सोधितस्स य मुणियो विसुज्झण एसणासमिदी ॥११९१॥

'उगमउप्यायणएसणार्हि' उद्यमोत्पादनव्ययादोषरहित भक्तमुपकरण वमति च गृह्यत एषणासमितार्थ-
वतीति सूत्रार्थं । दशवैकालिकटीकाया श्रीविजयोदयाया प्रपञ्चिता उद्यमादिदोषा इति नेह प्रत-
न्यन्ते ॥११९१॥

आदाननिक्षेपप्रणमितिस्वरूपा गाथा--

सहसाणाभोगिददुप्पमज्जिय अपच्चवेसणा दोसो ।

परिहरमाणस्स इवे समिदी आदाणाणक्खेवो ॥११९२॥

'सहसाणाभोगिब' आलोकनप्रमार्जनं कृत्वा आदान निक्षेप इत्येको भङ्ग । अनालोक्य प्रमार्जनं कृत्वा

दूध उत्तम नहीं है ? यदि दूसरा कहे कि माधुर्य आदि प्रशस्त गुणोको अपेक्षा तो उत्तम है किन्तु
ज्वरको बढ़ानेवाला होनेसे उत्तम नहीं है तो इस प्रकारके वचन न सर्वथा असत्य है और न सर्वथा
सत्य हैं किन्तु दोनो रूप होनेमे उभयात्मक है । यहाँ उभयात्मकसे इन वचनोको सत्य और
असत्यरूप नहीं समझना चाहिए । किन्तु सत्य भी नहीं और असत्य भी नहीं अर्थात् अनुभयरूप
समझना चाहिए ॥११९२॥

गा०—आठवी असत्यमूषा भाषा शशय बचनो है । जैसे यह स्थाणु है या पुरुष । दोनोमेंसे
एकके सद्भाव और दूसरेके अभावकी अपेक्षा यह वचन उभयरूप है । और नीची असत्यमूषा
भाषा अनभरात्मक भाषा है । जैसे अंगुलि चटकाने आदिका शब्द । जिस पुरुषने सकेत ग्रहण
किया है उसे तो ध्वनिसे प्रतीति होती है दूसरेको नहीं होती । इय तरह यह वचन उभयरूप
है ॥११९०॥

अब एषणा समितिका कथन करते हैं—

धा०—उद्यम, उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित भोजन, उपकरण और वसतिको
ग्रहण करनेवाले मुनिकी एषणा समिति निर्मल होती है ॥११९१॥

आदाननिक्षेपण समितिका कथन करते हैं—

गा०—टी०—विना देले और विना प्रमार्जन किये पुस्तक आदिका ग्रहण करना या रक्षणा

आदानं निक्षेपो वेति द्वितीयो भङ्गः । आलोचय दुःप्रमृष्टं इति तृतीयः । आर्किकतं प्रमृष्टं च न पुनराकौकितं शुद्धं न शुद्धं वेति चतुर्थो भङ्गः । एतदोपच्युष्टयं परिहरतो भवति आदाननिक्षेपसमितिः ॥११९२॥

एदेन चेव पदिद्वावजसमिदीवि वणिण्या होदि ।

बोसरणिज्जं दग्धं बंदिक्खे बोसरितस्स ॥११९३॥

'एदेन चेव' आदाननिक्षेपविषयबलकथनेन । 'पदिद्वावजसमिदीवि वणिण्या होदि' प्रतिष्ठापनसमिति-वर्णिता भवति । 'बोसरणिज्जं' परित्यक्तस्य मूत्रपुरीषादिकं मलं । 'बंदिक्खे बोसरितस्स' स्थितिले निजन्मुके, निषिच्छद्रे, ममे व्युत्सृतः ॥११९३॥

एदाहिं सदा जुषो समिदीहिं जगम्मि बिहरमाणो हु ।

हिंसादीहिं ण लिप्पह जीवणिकायाउले साहू ॥११९४॥

'एदाहिं समिदीहिं' गताभिः । 'सदा जुषो' सदा युक्त । 'जगम्मि बिहरमाणो हु' जगति विचरन्नपि । कीदृशो ? 'जीवणिकायाउले' पञ्चजीवनिकायाकीर्णं । 'हिंसादीहिं' हिंसादिभिः । 'ण लिप्पह' न लिप्यते माधु । आदिग्रहणेन परित्यापन, संवट्टनं, अङ्गन्युनत्ताकारणादिपरिग्रहः । समितिषु प्रवर्तमान, प्रमादरहित । 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपनं हिल्लेत्थुच्यते' । हिंसादिसहितानि कर्माणि हिंसादिशब्दनोच्यन्ते । कार्यं कारणशब्द-प्रवृत्तिः प्रतीततरन्वात् ॥११९४॥

यद्यपि विवर्जननिमित्तगुणान्वित तत्र प्रवर्तमानमपि तेन न लिप्यते यथा स्नेहगुणान्वित तामरमपत्र

सहसा नामक प्रथम दोष है । विना देखे प्रमाजर्जन करके पुस्तक आदिको ग्रहण करना या रखना अनाभोगित नामक दूसरा दोष है । देखकर भी सभ्य प्रतिच्छेदना न करके पुस्तक आदिको ग्रहण करना या रखना दुष्प्रमृष्ट नामक तीसरा दोष है । देखा भी और प्रमाजर्जन भी किया किन्तु यह शुद्ध है या अशुद्ध, यह नहीं देखा यह चतुर्थ अप्रत्यवेक्षण नामक दोष है । इन चारो दोषोको जो दूर करता है उसके आदान निक्षेपण समिति होनी है ॥११९२॥

प्रतिष्ठापन समिति कहते हैं—

गा०—आदान और निक्षेप विषयक मावधाननाका कथन करनेमें प्रतिष्ठापन समितिका कथन हो जाता है । त्यागने योग्य मूत्र विष्टा आदिको जन्तुग्रहित और छिद्ररहित समभूमिमे त्यागना प्रतिष्ठापन समिति है ॥११९३॥

गा०—टी०—इन पांच समितियोंका सदा पालन करनेवाला मुनि छ प्रकारके जीवनिकायो-से भरे हुए लोकमे गमनागमन आदि करता हुआ भी हिंसा आदिसे लिप्त नहीं होता । 'आदि' शब्दसे छहकायके जीवोको कष्ट दना, उनका परस्परमे सघट्टन करना, उनके अग उपभोगोको छिन्न-भिन्न करना आदि पापोसे लिप्त नहीं होता । समितियोंमे प्रवृत्ति करने हुए मुनि प्रमादमे रहित होता है । और प्रमत्तयोगसे प्राणोके घातको हिंसा कहा है । हिंसा आदिमे सहित कर्म हिंसा आदि शब्दसे कहे जाते है । क्योंकि कार्यमे कारणशब्दकी प्रवृत्ति अस्ति प्रसिद्ध है । आदान निक्षेपमे निमित्त गुणोसे युक्त मुनि प्रवृत्त करते हुए भी हिंसा आदि पापसे लिप्त नहीं होता ॥११९४॥

जैसे चिककणगुणमे युक्त कमल नीलमणिके समान निर्मल जलमे सदा रहते हुए भी

काष्ठीकनीर । रत्नरत्नं वि नाम्ना लिप्यते । निरन्तरनिश्चितबीबनिकायाकुलेऽपि जगति सञ्चरन्त्यपि कुम्भिनं लिप्यते' अथमततया प्रवृत्त पक्षेषु समितिष्विति कथयति—

पदमणिपत्रं व जहा उदयेण न लिप्यति सिंहेहगुणजुषं ।

तह समिदीहिं न लिप्यइ साधू कायसु हरियंतो ॥११९५॥

'पदमणिपत्रं' इत्यनया गाथया—पद्यपत्रं यथा नोदकेन विकल्प्यते स्नेहगुणसमन्वित । तथा कावेसु शरीरेषु प्राणभूतां प्रवर्तमानोऽपि न लिप्यते साधु समितिभिर्हेतुभूताभिः ॥११९५॥

सस्वासे वि पईते जह दढकवचो न विज्जदि सरोहिं ।

तह समिदीहिं न लिप्यइ साधू कायसु हरियंतो ॥११९६॥

'सस्वासे वि पईते' शरत्पर्वेऽपि पठति सति च रथाङ्गमे यथा दृढकवचो न शरैर्भिद्यते, यथा समित्त-भिर्हेतुभूताभिः लिप्यते कायेषु वर्तमानो मुनिः ॥११९६॥

अत्थेव चरइ बालो परिहारण्हू वि चरइ तत्थेव ।

बज्जदि पुण सो बालो परिहारण्हू वि मुच्चइ सो ॥११९७॥

'अत्थेव चरइ बालो' यत्रैव क्षेत्रं चरति जीवपरिहारक्रमानभिज्ञ । 'परिहारण्हू वि' जीवबाधापरिहार-क्रमज्ञोऽपि तत्रैव चरति । तथापि 'बज्जदि सो पुण बालो' बध्यते पुनरसौ ज्ञानबालश्चारिबालश्चासौ । 'परि-हारण्हू' परिहारज्ञः । 'मुच्चइ' मुच्यत कर्मलेपात् ॥११९७॥

उक्तमर्थमुपसहरत्युत्तरगाथया—

तम्हा चेड्डिदुकामो जइया तइया भवाहि तं समिदो ।

समिदो हु अण्णमण्णं णादियदि ख्वेदि पोराणं ॥११९८॥

जलसे लिप्त नहीं होता । पाँचों समितियोंमें अप्रमादोरूपसे प्रवृत्ति करनेवाला मुनि भी निरन्तर जीव निकायोसे भरे हुए जगत्में गमनागमन करते हुए पापसे लिप्त नहीं होता । यह कहते हैं—

गा०—जैसे स्नेह गुणसे युक्त कमलपत्र जलसे लिप्त नहीं होता । उसी प्रकार प्राणियोंके शरीरोंके मध्यमेसे गमनागमन करते हुए भी साधु समितिका पालन करनेमें पापसे लिप्त नहीं होता ॥११९५॥

गा०—जैसे दृढ कवचसे युक्त योद्धा युद्धभूमिमें बाणोंकी वर्षा होते हुए भी बाणोंसे नहीं छिदता । उसी प्रकार षट्कायके जीवोंके मध्यमें विचरण करना हुआ भी समितियोंके कारण हिंसा आदिसे लिप्त नहीं होता ॥११९६॥

गा०—जीवोंकी हिंसासे बचनेके उपायोंको न जाननेवाला जिस क्षेत्रमें विचरण करता है, जीवोंकी हिंसासे बचनेके उपायोंको जाननेवाला भी उसी क्षेत्रमें विचरण करता है । तथापि वह ज्ञान और चारित्र्यमें बालकके समान अज्ञ तो पापसे बद्ध होता है किन्तु उपायोंको जाननेवाला पापसे लिप्त नहीं होता बल्कि उससे मुक्त होता है ॥११९७॥

आगे उक्त कथनका उपसंहार करते हैं—

ब्रह्मात्मसिद्धिपुं प्रवर्तमानो त ब्रह्मते, पापेन मुच्यते । असमितस्तु महता बध्यते कर्मसमूहेन 'लक्ष्मण' उत्सवात् । 'वेद्विद्युक्तान्ते' वननभाष्यकाराभिलाषी । 'अद्वया लक्ष्या' यथा तथा । 'सं' भवान् 'अमितो भवति' समितिपरो भवति निवृत्तिसूरारहा क्षपक । 'लक्ष्मणे च' समितः सम्यक्प्रवृत्तः ईयादिविषु । 'अण्यत्पन्नं कर्म' अन्यत् अन्यत् । प्रत्ययं । 'जातिवधि' नैवायत्ने । 'अवधि चोदात्तं' प्राप्तम् च कर्म क्षपयति निर्जरीति ॥११९८॥

एदाओ अद्वयव्ययमादाओ णाणदंसणपरिं ।

रक्खंति सदा बुजिणो भादा पुत्तं व पयदाओ ॥११९९॥

'एदाओ अद्वयव्ययमादाओ' एता अष्टप्रवचनमातृकाः 'व्यदाओ' प्रयता । 'णाणदंसणपरिं रक्खंति' समीचोमज्ञानदर्शोन्चारित्राणि पालयन्ति सदा मुनेः । 'भादा पुत्तं व पयदा' जननी पुत्रं यथा । प्रयता माता पुत्रं पालयत्यपायस्थानेभ्यः ॥११९९॥

व्रतभावनानिरूपणाद्योत्तरप्रबन्ध । नवोदशा वधं चारित्र्य अलण्डमाराधयतस्चारित्राराधना । तत्र व्रतानां स्वर्यं सम्प.वयितु भावना एकैकस्य पञ्च पञ्चानिहितास्तत्रेमा अहिंसाव्रतभावना इति बोधयति ।

एषणासमितिनिरूपयते—

एसणक्खेवादाणिरियासमिदी तथा मणोगुत्ती ।

आलोयमोयणं वि य अहिंसाय भावणा होति ॥१२००॥

'एसणक्खेवादाणिरियासमिदी' एसणसमिदी एषणासमितिरावाननिलेपणासमितः, ईयासमितस्तथा मनोगुत्तिः । 'आलोयमोयणं व' आलोकमोक्षण च । 'अहिंसाय' अहिंसाव्रतस्य । 'भावणा' भावनाः । 'होति' भवति ।

भिक्षाकाल, बुभुक्षाकालोऽवग्रहकालश्चेति कालत्रयं ज्ञातव्यं । ग्रामनगरादिवु इयता कालेन आहार-

शा०-टी०-यतः समितियोंका पालक पापसे लिप्त नहीं होता किन्तु उससे छूटता है और समितिका पालक न करनेवाला महान् कर्मसमूहसे बंधता है अतः जब तुम गमन करना या बोलना चाहो तो समितिमें सत्य रहो । ऐसा निर्यापकाचार्य क्षपकस कहते हैं । क्योंकि ईयां आदिमें सम्यक् प्रवृत्ति करनेवाला नवीन-नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता और पूर्वमें बाधे कर्मों की निर्जरा करता है ॥११९८॥

शा०-जैसे सावधान माता पुत्रकी अनिष्टोत्ति रक्षा करके उसका पालन करती है । वैसे ही सम्यक् रूपसे पालित ये आठ प्रवचन मातायें मुनिके सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य की रक्षा करती हैं ॥११९९॥

आगे व्रतोंकी भावनाओंका कथन करते हैं । जो तेरह प्रकारके चारित्र्यकी निर्दोष आराधना करता है उसके चारित्र्याराधना होती है । उनमेंसे व्रतोंको स्थिर करनेके लिए एक-एक व्रतकी पाँच-पाँच भावना कही हैं । उनमेंसे अहिंसाव्रतकी भावना कहते हैं—

शा०-टी०-एषणा समिति, आदान निलेपण समिति, ईयासमिति, मनोगुत्ति और आलोक मोक्षण ये पाँच अहिंसाव्रतकी भावना हैं । उनमेंसे एषणा समिति कहते हैं—भिक्षाकाल, बुभुक्षाकाल और अवग्रहकाल ये तीन काल जानना चाहिए । अमुक मासोंमें ग्राम नगर आदिमें अमुक

निष्पत्तिर्भवति, अर्थात् मासेषु, अथवा वा कुलद्वयं वायं भोजनकाल इच्छामाः प्रमाणाधिना शिक्षाकालोऽव-
कल्प्यते। सुवचं मम हीना मन्वा वेति स्वशरीरव्यवस्था च परीक्षणया। अयमग्रहणं पूर्वं गृहीत एवञ्च
आहारो मया न भोक्तव्यः इति। अद्यायमग्रहणो ममेति भीमांसा कार्या। तदनन्तरं पुरतो दुग्धान्तरमाद्यनुभावा-
बोधनरतः अहृतं, अविलम्बितं, असंभ्रान्तं बजेत् प्रकम्बबाहुरविक्रम्येष्टचरन्व्यासो निर्विकार ईश्वरवन्दनोत्समाङ्गः
अर्चनैनामुक्तेन अमरहरितकहुलेन वर्त्तना। दुष्ट्वा तु खरान्, करमान्, बलोद्बद्धान्, गजान्तुरवाम्नाहिवाग्ना-
स्त्रेयान्कलहकारिणो वा मनुष्यान्मूरतः परिहरेत्। पक्षिणो मृगावचाहारकालोद्यता वा यथा न विद्यन्ति, यथा
वा स्वमाहारं मुक्त्वा न बजन्ति तथा यावत्। मृदुना प्रतिलेखनेन कृतप्रमाङ्गो न च्छेद्यदि निरन्तरासु-
द्विस्तककाधिकं वाञ्छतो भवेत् मार्गान्तरमस्ति भिन्नवर्णा वा भूमि प्रविशन्तद्द्वर्णभूभाष एव अङ्गप्रमाङ्गं
कुर्वति। तुषभोमयवस्त्रबुक्कपलाजनिचयं, बलोपलफलादिकं च परिहरेत्। निम्बमागो न कुर्वेत्, पुष्पमागो-
ऽपि न कुर्वेत्। न भीतनुत्पद्मकं, उच्छिष्टपताकं वा गृहं प्रविशेत्। तथा मरुता गृहं न प्रविशेत्। सुरापथ्या-
ङ्गनालोकावहितकुलं वा, यज्ञशालां, दानशाला, विवाहगृहं, वार्यमाणानि, रक्ष्यमाणानि; अमुक्तानि च गृहाणि
परिहरेत्। दरिद्रकुलानि उत्कामाश्चकुलानि न प्रविशेत्। ज्येष्ठाल्पमध्यानि सममेवाटेत्। द्वारमर्गं बघाटं वा
नोद्घाटयेत्। बालवत्सं एलकं, शुनो वा नोल्लङ्घयेत्। पुष्पं, फलबीजैर्वावकीर्णौ भूमिं वर्जयेत् तदानीमेव अव-
लिप्यां। शिक्षाचरेषु परेषु लाभाषिषु स्थितेषु तद्गृहं न प्रविशेत्। तथा कुट्टिमेषु व्यवप्रविषण्णदीनमेषु च

समय भोजन बनता है, अथवा अमुक कुलका या अमुक मुहालका अमुक समय भोजनका है।
इस प्रकार इच्छाके प्रमाण आदिसे शिक्षाकाल जानना चाहिए। तथा मेरी भूख आज मन्द है
या तीव्र है इस प्रकार अपने शरीरकी स्थितिकी परीक्षा करनी चाहिये। मैंने पहले यह नियम
किया था कि इस प्रकारका आहार मैं नहीं लूँगा और आज मेरा यह नियम है इस प्रकार विचार
करना चाहिए। उसके पश्चात् आगे केवल चार हाथ प्रमाण अमीन देखते हुए न अधिक शीघ्रता-
से, न रुक-रुककर किसी प्रकारके वेपकै विना गमन करना चाहिए। गमन करते समय हाथ
लटकते हुए हों, चरण निक्षेप अधिक अन्तरालसे न हो, शरीर विकाररहित हो, सिर थोड़ा झुका
हुवा हो, मार्गमें कीचड़ और जल न हो तथा तसजीवों और हरितकायकी बहुलता न हो। यदि
मार्गमें गधे, ऊँट, बैल, हाथी, घोड़े, भैंसे, कुत्ते अथवा कलह करनेवाले मनुष्य हों तो उस मार्गसे
दूर हो जाये। पक्षी और ज्ञाते पीते हुए मृग अयमीत न हों और अपना आहार छोड़कर न भागें,
इस प्रकारसे गमन करे। आवश्यक होनेपर पीछीसे अपने शरीरकी प्रतिलेखना करे। यदि मार्गमें
आगे निरन्तर इधर उधर फलादि पड़े हों, या मार्ग बदलता हो या भिन्न वर्णवाली भूमिमें प्रवेश
करना हो तो उस वर्णवाले भूमिभागमें ही पीछीसे अपने शरीरको साफ कर लेना चाहिये। तुष,
गोबर, राख, भुस, और घासके डेरसे तथा पत्तें, फल, पत्थर आदिसे बचते हुए चलना चाहिये,
इनपर पैर नहीं पड़ना चाहिये। कोई निन्दा करे तो क्रोध न करे और पूजा करे तो प्रसन्न न
हो। जिस घरमें गाना नाचना होता हो, क्षुब्धियाँ लगी हों उस घरमें न जावे। तथा मतवालोंके
घरमें न जावे। शराबी, बेव्या, लोकमें गिन्दत कुल, यज्ञशालां, दानशाला, विवाहवाला घर
तथा जिन घरोंमें ज्ञानेकी मनाई हो, आगे रक्षक सड़ा हो, सब कोई न जा सकता हो ऐसे घरोंमें
नहीं जाये। दरिद्रकुलोंमें और आचारहीन सम्पन्नकुलोंमें भी प्रवेश न करे। बड़े छोटे और मध्यम
पुष्टीमें एक साथ ही भ्रमण करे। द्वारपर यदि साँकल लगी हो या कपाट बन्द हों तो उन्हें खोलें
वाहें। बालक, बछड़ा, बैदा और कुत्तेको लाँचकर न जावे। जिस भूमिमें पुष्प, फल और कीच
फैले हों उसपरसे न जावे। तत्कालकी लिपी भूमिपर न जावे। जिस घरपर अन्य शिक्षाकी

सत्तु नो तिष्ठेत् । मित्राचार मित्राकार्णव्यभूषितसिद्धय न कच्छेत् । वाक्प्राप्यन्यत्तत्तत्तं वा स्वागमननिवेद-
नार्थं न कुर्वीत् । विद्युच्चिब स्वां तनु^१ च बर्षेत्^२ कोऽमलमित्री दासवतीति अमिसंघि न कुर्वीत् । रहस्ययुक्तं,
वनगृहं, कदलीलतामुत्सृज्य, नाट्यमाग्न्यर्वासात्मनश्च अग्निगन्धमानोऽपि न प्रविशेत् । बहुजनप्रचारे प्राणरहिते
अद्युष्यपरोपरोऽर्थाकिते, अतिवर्गमनप्रवेगमायं गृह्णिमिरनुज्ञातस्तिष्ठेत् । समे विच्छिन्ने, भूभागे चतुरङ्गुला-
द्यान्तरो निरचलः कुडपस्तम्भादिकमनचलम्य तिष्ठेत् । छिद्रद्वार कवाट, प्राकारं वा न पश्येत् चोर इव ।
बापुरागमनमार्गं अवस्थानयेत्, कञ्चुककभाजनादिकं च क्षोद्येत् । स्तनं प्रयच्छन्त्य, गर्भिण्या वा दीयमानं न
गृह्णीयात् । रोगिणा, अतिवृद्धेन, क्षातेनोन्मत्तेन, पिशाचेन, मृगैनाम्बेन, मूकेन, दुर्बलेन, भीतेन, शाकुतेन,
वरासम्बलेन^३, दूरेण, कञ्जाभ्यामुत्सृज्या, आभुत्सृज्या, उपानदुपरिन्पस्तपादेन वा जनेनोन्नतदेशावस्थितेन वा
दीयमानं न गृह्णीयात् । न क्षाप्तेन मिन्नेन वा कञ्चुकदुकेन दीयमानं कपालोच्छिष्टभाजने पद्मकवलीपत्रादि-
भाजने निमित्त्य दीयमानं वा मांसं, मधु, नवनीतं, कण्ठं^४ अवारितं, मूषं, पत्रं, साकूरं, कन्द च वर्धयेत् ।
तत्सत्स्पृष्टानि सिद्धाम्पि विपन्नकपरसपञ्चानि, कुविद्यानि, पुष्पितानि, पुराणानि, अन्तुसत्स्पृष्टानि च^५ न दद्यात्
सादेत्, न स्पर्शेत् । उद्योगोत्पन्नवैषयादावदुष्टं नाम्यवहरेत् । नवकोटिपरिशुद्धाहारग्रहणमेवमासमिति ।

मिक्षाके लिए सड़े हों उस घरमें प्रवेश न करे । जिस घरके कुटुम्बी घबराये हों, उनके मुखपर
विषाद और दीनता हो वहाँ न ठहरे । मित्राधिक्यके लिए मित्रा माँगनेकी जो भूमि हो, उस
भूमिसे आगे न जावे । अपना आगमन बतलानेके लिए याचना या अव्यक्त शब्द न करे । विजली-
की तरह अपना शरीरमात्र दिखाला दे । कौन मुझे निदोष मित्रा देगा ऐसा भाव न करे । एकान्त
घरमें, उद्यान घरमें, केले लता और झाड़ियोसे बने घरमें, नाट्यशाला और गायनशालामें
आवरपूर्वक आतिथ्य पानेपर भी प्रवेश न करे । जहाँ बहुतसे मनुष्योंका आना जाना हो, जीव
जन्तुसे रहित, अपवित्रता रहित, दूसरेके द्वारा रोक-टोकसे रहित तथा जाने आनेके मार्गसे
रहित स्थानमें गृहस्थोंकी प्रार्थनासे ठहरे । सम और छिद्ररहित जमीनपर दोनों पैरोंके मध्यमें
चार अंगुलका अन्तर रखकर निरचल सड़ा हो और दीवार स्तम्भ आदिका सहारा न ले ।
चोरकी तरह द्वारमें लगे कपाटोंके छिद्र अथवा चार दं.वारीके छिद्रमेंसे न देखे । दाताके आनेके
मार्ग, उसके सड़े होनेके स्थान और करछुल आदि भाजनोकी शुद्धताकी ओर ध्यान रखे । जो
स्त्री बालकको दूध पिलाती हो या गर्भिणी हो, उसके द्वारा दिये गये आहारको ग्रहण न करे ।
रोगी, अतिवृद्ध, बालक, पागल, पिशाच, कूड, अग्धा, गुँगा, दुर्बल, डरपोक, शंकाह, अति
निकटवर्ती, दूरवर्ती मनुष्यके द्वारा, जिससे कञ्जासे अपना मुख फेर लिया या मुखपर घूँघट
छाला है ऐसी स्त्रीके द्वारा, जिसका पैर जूतेपर रखा है या जो ऊँचे स्थानपर सड़ा है ऐसे
व्यक्तियोंके द्वारा दिये गये आहारको ग्रहण नहीं करे । टूटे हुए या फूटे हुए करछुल आदिसे दिया
हुआ आहार ग्रहण न करे । तथा कपालमें, जूठे पात्रमें, कमल केले आदिके पत्रे आदिमें रखकर
दिया हुआ आहार ग्रहण न करे । मांस, मधु, मक्खन, बिना फटा फल, मूल, पत्र, अकुरित तथा
कन्द ग्रहण न करे । इनसे जो भोजन छू गया हो उसे भी ग्रहण न करे । जिस भोजनका रूप
रस गन्ध बिगड़ गया हो, दुर्गन्ध आती हो, फसून्द आ गई हो, पुराना हो गया हो और जीव-
जन्तु जिसमें पड़े हों उसे न तो किसीको देना चाहिये, न स्वयं खाना चाहिये और उसे छूनातक

१. तनुं न च-ब० अ० ।

२. म्बेन बहुरे-अ० अ० मु० ।

३. फलाई हरितं-अ० ।

४. चराद-अ० । च वीभाव-ज० ।

प्रतिनिधित्वते यत्र यथादीयते यतस्तदुभयं प्रतिरिक्तनाद्योग्यं न वेति विरक्तोभ्य पक्वत्कृतमार्जनं पुनरवकोभ्य निक्षिपेत् नृह्नीयथा । एक आदाननिक्षेपसमितिः । ईयांमितिनिक्षिपितैव तथा मनोगुणित्थ । स्फुटतरप्रकाशा-
वर्त्तकित्तस्य अन्नस्य भोजनमित्याहिसावतभावना पञ्च ॥१२००॥

द्वितीयव्रतभावना उच्यन्ते—

क्रोधमयलोभहस्सपदिष्णा अणुबीचिभासणं चैव ।

विदिषस्स भावणाओ वदस्स पंचेव ता होति ॥१२०१॥

क्रोधमयलोभहास्यानां प्रत्याख्यानानि चतस्रः । 'अणुबीचिभासणं चैव' सूत्रानुसारेण च भासणं । सत्या, मूषा, सत्यमूषा, असत्यमूषा चेति चतस्रो वाचः । तत्र सत्या असत्यमूषा वा प्यवहृणीया नेतरद्वयं । क्रोधादीनामहत्यवचनकारणानां प्रत्याख्याने असत्यावाच्यपरिहृता भवति नाम्यथा ॥१२०१॥

तृतीयव्रतभावना उच्यन्ते—

अणुणुणादग्गहणं असंगबुद्धी अणुणुणविन्ना वि ।

एदावंतियउग्गहजायणमध उग्गहाणुस्स ॥१२०२॥

'अणुणुणादग्गहणं' तस्य स्वामिभिरननुज्ञातस्य ग्रहणं ज्ञानोपकरणे । 'असंगबुद्धी अणुणुण विन्ना वि' परानुज्ञा सम्प्राप्त गृहीतेऽपि असक्तबुद्धिता । 'एदावंतिय 'उग्गहजायणं' एतत्परिमाणमिदं भवता वातव्य-
मिति प्रयोजनमात्रपरिग्रह यावद्याचितो यावद्गृह्णामि इति न बुद्धिः कार्या । 'उग्गहाणुस्स' ग्राह्यवस्तुजस्य इव

नहीं चाहिये । जो भोजन उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषमें दुष्ट है उसे नहीं खाना चाहिये । इस तरह नौ कोटियोंसे शुद्ध आहार ग्रहण करना एषणा समिति है । जो वस्तु जिस स्थानपर रखी जाय और जो वस्तु जिस स्थानसे उठाई जाये वे दोनों प्रतिरिक्तनाके योग्य हैं या नहीं, यह देखनेके पश्चात् पीछीसे उनको झाड़कर पुनः देखे और तब रखे या ग्रहण करे । यह आदान निक्षेपण समिति है । ईयांसमिति पहले कही है और मनोगुप्ति भी कही है । अति स्पष्ट प्रकाशमें देखे गये अन्नका भोजन आलोकभोजन है । ये पाँच अहिसाव्रतकी भावना हैं ॥१२००॥

दूसरे सत्यव्रतकी भावना कहते हैं—

गा०—क्रोधका त्याग, मयका त्याग, लोभका त्याग, हास्यका त्याग और सूत्रके अनुसार बोलना ये पाँच सत्यव्रतकी भावना हैं । वचनके चार भेद हैं—सत्य, असत्य, सत्य असत्य तथा न सत्य न असत्य । इनमेंसे सत्य और अनुभय वचन बोलने योग्य हैं । शेष दो नहीं बोलने चाहिये । क्रोध आदि झूठ बोलनेके कारण होते हैं । उनको त्याग देने पर असत्य वचनका त्याग ही जाता है अन्यथा नहीं होता ॥१२०१॥

तीसरे व्रतकी भावना कहते हैं—

गा०—टी०—ज्ञानोपकरण आदिके स्वामीकी स्वीकृतिके बिना ज्ञानोपकरण आदिके स्वी-
कार न करना, स्वामीकी स्वीकृति मिलने पर स्वीकार की गई वस्तुमें भी आसक्ति न होना, 'आपको इतना देना चाहिये' इस प्रकार जितनेसे प्रयोजन हो उतना ही ग्रहण करना, जितना माँगा है उतना ही ग्रहण करना ऐसी बुद्धि नहीं रखनी चाहिये । जो ग्रहण करने योग्य वस्तुको

ज्ञानसंभवमोक्षतरस्य साधनमन्तरेण ज्ञानं चारिणं, वा मम न सिध्यतीति तस्य ग्रहणं अनुपयोगि नो याच-
तम् ॥१२०२॥

वज्रजलमथमनुष्णादग्निहोषवेसस्त गोचरादीसु ।

उग्ग्रहजायनमनुषीचिष्ट तथा भावना तद्वृ ॥१२०३॥

'वज्रजलमथमनुष्णादग्निहोषवेसस्त' गृहस्वामिभिरनुज्ञातगृहप्रवेशवर्जनं भावना । 'गोचरादीसु' गोचरा-
दिषु इदं वेद्यं प्रविश, अथ वा किञ्चित् योजनज्ञातो देशस्तस्य अप्रवेशनं । 'उग्ग्रहजायनमनुषीचिष्ट' अवग्रह-
याचना मृगानुसारेण तृतीये भावनाः ॥१२०३॥

महिलाश्लेषणपुष्परक्षितरत्नसंसंघसद्विचिकद्वाहिं ।

वचिदरसेहिं य चिरदी भावना पंच वंमस्त ॥१२०४॥

'महिलाश्लेषणपुष्परक्षितरत्नसंसंघसद्विचिकद्वाहिं' स्त्रीशामालोकनं, पुष्परत्नस्मरणं, स्त्रीभिराकुला या
वसतिः शृङ्गारकथा इत्येतद्विरतयः । 'वचिदरसेहिं य चिरदी' बलदर्पकरेभ्यो विरतिश्चेति पञ्च वन-
भावनाः ॥१२०४॥

अपङ्क्तिगहस्त मुण्डिनो सङ्करितरसरूपगणेषु ।

रागदोसादीणं परिहारो भावना हुति ॥१२०५॥

'अपङ्क्तिगहस्त' परिग्रहहरितस्य । 'मुण्डिनो' मुनेः । सङ्करितरसरूपगणेषु' सम्बन्धव्यतिरस्यगणेषु ।
मनोज्ञानमोक्षेषु । 'रागदोसादीणं' रागद्वेषयोः परिहारो विषयभेदात्पञ्चप्रकारभावनाः पञ्चमस्य ॥१२०५॥

जानता है कि यह वस्तु ज्ञान और संयमसे एककी साधन है इसके बिना मुझे ज्ञान अथवा
चारित्रकी सिद्धि नहीं होगी और उसीको ग्रहण करता है, अनुपयोगी वस्तुको ग्रहण नहीं करता ।
उसीके ये भावना होती है ॥१२०२॥

वा०—गोचरी आदिमें गृहस्वामीके द्वारा अनुज्ञा नहीं दिये घरमें प्रवेश न करना अर्थात्
इस घरमें प्रवेश करें, अथवा यहाँ ठहरें इस प्रकारसे जहाँ गृहस्वामीकी अनुज्ञा प्राप्त न हो उस
देशमें प्रवेश न करे और शास्त्रके अनुसार ग्रहण करने योग्य वस्तुकी याचना करना, ये पाँच
अवरादावन्धिरमन्त्रकी भावना है ॥१२०३॥

वा०—स्त्रियोंकी ओर देसना, पूर्वमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण, स्त्रियोंसे युक्त वसतिकर,
शृङ्गारकथा और इन्द्रियोंमें मग्न और बल पैदा करनेवाले रस, इन सबसे विरत होना ब्रह्मचर्य-
व्रत की पाँच भावनाएँ हैं ॥१२०४॥

वा०—परिग्रह रहित मुनिका मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धमें राग और द्वेषका
रूपन अर्थात् मनोज्ञसे रस और मनोज्ञसे द्वेष न करना विषयोंके भेदसे पाँच प्रकारकी भावना
पाँचवें अपरिग्रह व्रत की है ॥१२०५॥

भाव माहात्म्यं कथयति—

न करेदि भावणाभावदो खु पीडं वदाण सव्वेसिं।

साधु पासुत्तो समुहदो व किमिदाणि वेदंतो ॥१२०६॥

'न करेदि खु' न करोत्येव । कः ? 'भावणाभावदो' भावनाभिभावितः । 'पीडं' पीडा । 'वदाण' वदताम् । 'सव्वेसिं' सर्वेषां । 'साधु' साधु । 'पासुत्तो' प्रकथेण निद्रामुपगत । 'समुहदो व' समुदात्तं मनो वा । 'किमिदाणि' किमिदानीं । 'वेदंतो' वेतयमान ॥१२०६॥

एदाहिं भावणाहिं हु तम्हा भावेहिं अप्पमत्तो तं ।

अच्छिदाणि असंदाणि ते भविस्सति हु वदाणि ॥१२०७॥

'एदाहिं' एताभिः । 'भावणाहिं' भावनाभिः । 'तम्हा' तस्मात् । 'भावेहिं' भावय । 'अप्पमत्तो तं' अप्रमत्तस्तं । 'अच्छिदाणि' अच्छिदाणि । नैरस्तयेण प्रवृत्तानि । 'असंदाणि' सम्पूर्णानि तव भविष्यन्ति व्रतानि ॥१२०७॥

व्रतपरिणामोपघातनिमित्तानि शल्यानि ततस्तद्वर्जनं कार्यमित्याचष्टे—

जिस्सन्लस्सेव पुणो महव्वदाहं हवंति सव्वाहं ।

वदद्भुवहम्मदि तीहिं दु जिदाणमिच्छत्तमायाहिं ॥१२०८॥

'जिस्सन्लस्सेव' शल्यरहितस्येव । शृणाति हिनस्तीति शल्य क्षरकष्टकादि शरीरादिप्रवेशेन तेन तुल्य यत्प्राणिनो बाधानिमित्तं, अन्तर्निषिद्धं परिणामजातं तच्छल्यमिह गृहीतं । 'महव्वदाहं' महाव्रतानि भवन्ति । शल्यं कश्चिदेव व्रतस्योपघातकं, यथा एषणासमित्यभावो अहिंसाव्रतस्येत्याशङ्कां निरस्यति सर्वशब्दो । ननु च महत्त्वेन व्रतमवबोधम् । मिथ्यात्वादिशल्यं अनुव्रतान्यपि हन्त्येव । सत्यं प्रस्तुतन्वाग्महाव्रतानामित्यनुबन्धः ।

भावनाका माहात्म्यं कहुते हैं—

शा०—भावनाओसे भावित साधु गहरी नीदमें सोता हुआ भी अथवा मूर्छित हुआ भी सब व्रतोंमें दोष नहीं लगता । तब जागते हुए की तो बात ही क्या है ॥१२०६॥

शा०—इसलिये हे क्षपक ! तुम प्रमाद त्यागकर इन भावनाओंमें अपनेको भावित करो । इससे तुम्हारे व्रत निरन्तर बने रहेंगे और सम्पूर्ण होंगे ॥१२०७॥

शल्य व्रतरूप परिणामोके घातमें निमित्त होते हैं । अतः उनको त्यागना चाहिये, यह कहुते हैं—

शा०—टी०—शल्यरहितके ही सब महाव्रत होते हैं । 'शृणाति' अर्थात् जो कष्ट देता है वह शल्य है । जैसे शरीर आदिमें घुसनेवाला बाण, काँटा आदि । उनके समान जो अन्तरंगमें घुसा परिणाम प्राणीको कष्ट पहुँचानेमें निमित्त है उसे यहाँ शल्य शब्दसे कहा है । जैसे एषणासमितिका अभाव अहिंसा व्रतका घातक है वैसे ही शल्य किसी एक व्रतका घातक है क्या ? इस आशंका को दूर करनेके लिये सर्व शब्दका प्रयोग किया है ।

शंका—मिथ्यात्व आदि शल्य अनुव्रतोंका भी घात करते हैं । यहाँ उन्हें महाव्रतोंका घातक क्यों कहा ?

अत्र चोद्य—हिंसाविद्भ्यो विरतिपरिणाममात्राणि व्रतानि । शल्ये मिथ्यात्वार्थिकेऽसति किं न भवन्ति । येन-
मुच्यते निःशल्यस्त्वैव महाव्रतानि भवन्ति इति ? एतद्व्यतिविधानायाह—'अबहुवचनम्' इति मुपहृत्यते । 'तीहिं हुं'
तिसुमिः । 'मिथ्यात्वनिवृत्तमायाह' निदानमिथ्यात्वमायायानिः । अत्यान्तरत्वाभ्यासाशब्दस्य पूर्वनिपात इति
वेत्त—मिथ्यात्व इतिविधार्त प्रकर्षेण करोतीति प्रधान ततो मिथ्यात्वं माया चेति द्विपदे द्वन्द्वे मिथ्यात्वशब्दस्य
पूर्वनिपातः पञ्चान्मिथ्यात्वशब्देन द्वन्द्वः तत्त्वात्पञ्चरत्वात्पूर्वनिपातः । सम्यक्चारित्र्यमिह मोक्षमार्गत्वेन प्रस्तुतं,
तच्च नासतोः सम्यग्दर्शनज्ञानयोर्भवति । सति मिथ्यात्वे विरोधिनि न ते स्तः समीचीनज्ञानवर्धने । रत्नत्रय-
त्वात्पुस्तोः अनन्तज्ञानादिकाच्चाप्यत्र चित्तप्रणिधानं इवमेतत्कर्म स्वादिति निधामं । तच्च सम्यग्दर्शनादि-
परम्परया व्रतोपघातकारि । अन्त्या स्वातिचारिणुह्ननशक्त्या माया च व्रतमुपहृन्तीति मन्यते ॥१२०८॥

तत्त्वं विद्वान् विविहं होह पसत्त्वापसत्त्वभोगकदं ।

तिविचं पि तं विद्वान् चरिषंघो सिद्धिभ्रमास्त ॥१२०९॥

'तत्त्वं' तेषु शल्येषु । 'विद्वान्' विद्वान्शब्दं शल्यं । 'तिविचं' तिविचं । 'होह' भवति । 'पसत्त्वमप-
सत्त्वभोगकदं' प्रशस्तनिदानमप्रशस्तनिदानं, भोगनिदानं चेति । 'तिविचं पि तन्निदानं' त्रिप्रकारमपि निदानं ।
'चरिषंघो' विचन । 'सिद्धिभ्रमास्त' रत्नत्रयस्य ॥१२०९॥

समाधान—आपका कहना सत्य है किन्तु यहाँ महाव्रतका प्रकरण होनेसे महाव्रतोंका घातक कहा है ।

शंका—व्रत तो हिंसा आदिसे विरतिरूप परिणाम मात्र है । वे मिथ्यात्व आदि शल्यके होने पर क्यों नहीं होते, जिससे यह कहा गया है कि निःशल्यके ही महाव्रत होते हैं ?

समाधान—इस शब्दका निराकरण करनेके लिये कहते हैं—निदान, मिथ्यात्व और माया इन तीनोंके द्वारा व्रतका घात होता है ।

शंका—माया शब्द अल्प अच्वाला है अतः उसे पहले रक्षना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व व्रतका घात प्रकर्ष रूपसे करता है अतः प्रधान है । तब 'मिथ्यात्व और माया' ऐसा द्वन्द्व समास करने पर मिथ्यात्व शब्दका पूर्व निपात होता है । फिर निदान शब्दके साथ द्वन्द्व करने पर निदान शब्दका पूर्व निपात होता है क्योंकि वह अल्प अच्वाला है । यहाँ मोक्षके मार्ग रूपसे सम्यक्चारित्र्यका कथन है । वह सम्यक्चारित्र्य सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके अभावमें नहीं होता । क्योंकि विरोधी मिथ्यात्वके रहते हुए सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन नहीं होते । रत्नत्रयरूप अथवा अनन्त ज्ञानादिरूप मुक्तिसे अन्यत्र चित्तका उपयोग लगाना कि इसका यह फल भूझे मिले, निदान है । वह सम्यग्दर्शन आदिकी परम्परासे व्रतका घातक है । तथा मनसे अपने दोषोंको छिपाने रूप माया भी व्रतका घात करती है ।

विशेषार्थ—निदानसे सम्यग्दर्शनमें अतिचार लगता है और व्रतका मूल सम्यग्दर्शन है । तथा निदानसे व्रतोंका घात होता है ॥१२०८॥

श्लो०—उम शल्योमें निदान नामक शल्यके तीन भेद है—प्रशस्त निदान, अप्रशस्त निदान और भोग निदान । तीनों ही प्रकारका निदान मोक्षके मार्ग रत्नत्रयका विरोधी है ॥१२०९॥

प्रशस्तनिदाननिकषणार्थोत्तरवाचा—

संजमहेतुं पुरिसससकलभिरिससंबद्धबुद्धी ।

सावजबंधुकुलादीणि णिदाणं होदि हु पसत्थं ॥१२१०॥

'संजमहेतुं' समयनिमित्तं । 'पुरिसससकलभिरिससंबद्धबुद्धी' पुरुषत्वमुत्साहः, बलं शरीरगतं बलार्थं, बीर्यं बीर्यान्तरायकयोपशमनः परिणामः । अस्थिबन्धनिषया बज्रशूचभनाराचसंहननादिः । एतानि पुरुषत्वा-
दोनि समयसाधनानि मयं स्युरितं चित्तप्रणिधानं प्रशस्तनिदानं । 'सावजबंधुकुलादिनिदानं' मानकबन्धुनिदानं ।
'अवरिद्रकुले, अबन्धुकुले वा उत्पत्तिं प्रार्थना प्रशस्तनिदानं ॥१२१०॥

अप्रशस्तनिदानमाचष्टे—

माणेण जाइकुलरूपमादि आइरियगणघरजिणसं ।

सोमग्वाणादेयं पत्थंतो अप्पसत्थं तु ॥१२११॥

'माणेण' मानेन हेतुना । 'जातिकुलरूपमादि' जातिर्मातृवशः, कुल पितृवशः, जातिकुलरूपमापत्य
सुलभत्वात्प्रशस्तजात्यादिपरिग्रहः । इह 'आइरियगणघरजिणसं' आचार्यत्व, गणघरत्वं, जिनत्वं । 'सोमग्वाणा-
देयं' सोभाग्यं, आज्ञा, आदेयत्वं च । 'पत्थंतो' प्रार्थयत । 'अप्पसत्थं तु' अप्रशस्तमेव निदानं मानकवाच-
दूषितत्वात् ॥१२११॥

प्रशस्त निदानका कथन करते हैं—

शा०—संयममें निमित्त होनेसे पुरुषत्व, उत्साह, शरीरगत दृढ़ता, बीर्यान्तरायके क्षयोपशम
से उत्पन्न बीर्यरूप परिणाम, अस्थियोंके बन्धन विशेष रूप बज्रशूचभनाराच संहनन आदि, ये
समय साधन मुझे प्राप्त हों, इस प्रकार चित्तमें विचार होना प्रशस्त निदान है । तथा मेरा जन्म
श्रावक कुलमें हो, ऐसे कुलमें हो जो दरिद्र न हो, बन्धु बान्धव परिवार न हो, ऐसी प्रार्थना
प्रशस्त निदान है ॥१२१०॥

विशेषार्थ—एक प्रतिमें दरिद्रकुल तथा एकमे बन्धुकुल पाठ भी मिलता है । दीक्षा लेनेके
लिये दरिद्रकुल भी उपयोगी हो सकता है और सम्मन्न घर भी उपयोगी हो सकता है । इसी
तरह बन्धु बान्धव परिवारवाला कुल भी उपयोगी हो सकता है और एकाकीपना भी । मनुष्यके
मनमें बिरक्ति उत्पन्न होने की बात है ॥१२१०॥

अप्रशस्त निदान कहते हैं—

शा०—मानकवायके वश जाति, कुल, रूप आदि तथा आचार्यपद, गणघरपद, जिनपद,
सौभाग्य, आज्ञा और आदेय आदिकी प्राप्तिकी प्रार्थना करना अप्रशस्त निदान है ॥१२११॥

टी०—माताके वंशको जाति और पिताके वंशको कुल कहते हैं । जाति कुल और
रूप मात्र तो सुलभ हैं क्योंकि मनुष्य पर्यायमें जन्म लेनेपर ये तीनों अवश्य मिलते हैं । इसलिये
यहाँ जाति कुल और रूपसे प्रशंसनीय जाति आदि लेना चाहिये । मान कवायसे दूषित होनेसे
यह अप्रशस्त निदान है ॥१२११॥

१. दरिद्रकुले—अ० ।

कुडो वि अणसत्त्वं मरणे वत्थेइ परवधादीयं ।

अइ उणसेनकादे कइं निदाणं वसिठुण ॥१२१२॥

'कुडो वि' कुडोअपि । 'अणसत्त्वं' परंपवाचिकं । 'मरणे' मरणकाले । 'वत्थेइ' प्रार्थयते । 'अथा' यथा । 'उणसेनकादे' उणसेनमरणे । 'कइं निदाणं' कृतं निदानं । 'वसिठुण' वसिष्ठेण वसिष्ठा ॥१२१२॥

भोगनिदाननिरूपणा—

देविगमानुसयोमे चारिस्तरसिद्धिसत्त्ववाहचं ।

केसवचककरचं वत्थेइ होदि भोगकइं ॥१२१३॥

'देविगमानुसयोमे' देवेषु मनुषेषु च भगवन्भोगान् । 'वत्थेइ' अर्पितवति । 'भोगकइं' भोगकृतं निदानं । 'चारिस्तरसिद्धिसत्त्ववाहचं' चारितं, ईश्वरत्वं, ज्योतिषत्वं, सार्वबाहृत्वं च । 'केसवचककरचं' वासुदेवत्वं सकलवचनचित्तं च वाचकृति भोगार्थं । भोगनिदानं भवति ॥१२१३॥

संजम सेहराकडो चोरसवचकको तिगुचो वि ।

पमरिज्ज अइ निदाणं सोवि य वड्ढेइ दीहसंसारं ॥१२१४॥

'संजमसिद्धराकडो' संजमः शिखरमिव दुरारोहत्वापचकत्वाद्वा । एतदुक्तं भवति । प्रकृतसंयमोअपि । 'चोरसवचकको' चोरे तपति पराक्रम उत्साहो यस्य सोअपि दुर्भरतपोज्जुष्टमप्यपि । 'तिगुचो वि' गुप्तिसव-
समन्वितोअपि । 'पमरिज्ज अइ निदाणं' निदानं यच्च कुवति । 'सो विव' व्याप्यमित्तमनुमोअपि 'वड्ढेइ' वर्धयति संसारमात्मनः । किमपरस्मिन्निदानकारिणि वाच्यम् ॥१२१४॥

ओ अणसुवच्छेदुं कुणइ निदानमविगमियपरमसुइं ।

सो कयमणीए विक्केइ मणि बहुकोडिसयमोळं ॥१२१५॥

शा०—ओष कथामके बस होकर नी कोई मरते समय दूसरेका बध करनेकी प्रार्थना करता है । जैसे वसिष्ठ ऋषिने उणसेनका घात करनेका निदान किया था ॥१२१२॥

विश्लेषार्थ—वसिष्ठतापसने उणसेनको मारनेका निदान किया था । इस निदानके फलसे बहु मरकर उणसेनका पुन कंस हुआ । और उसने पिताको जेलमें डालकर राज्यपद प्राप्त किया । पीछे कुण्डके द्वारा स्वर्ग भी मारा गया ॥१२१३॥

भोगनिदानका कथन करते हैं—

शा०—देवीं और मनुष्योंमें होनेवाले भोगोंकी अभिलाषा करना तथा भोगोंके लिए नारी-पना, ईश्वरपना, ज्योतिषपना, सार्वबाहृपना, नारायण और सकल चक्रवर्तीपना प्राप्त होनेकी वांछा करना भोगनिदान है ॥१२१३॥

शा०—टी०—संयम पर्वतके शिखरके समान है क्योंकि जैसे पर्वतका शिखर अचल और सुखसे चकने योग्य है वैसे संयम भी है । उस संयमपर जो आरुह्य है अर्थात् उत्कृष्ट संयमका घाटी है, चोर तप करनेमें उत्साही है अर्थात् दुर्भर तप करता है और तीन गुप्तियोंका घाटी है, वह भी मणि निदान करता है तो अपना संसार बढावा है, फिर दूसरे निदान करनेवालेका तो कष्टम ही क्या है ॥१२१४॥

'जो अल्पसुखके' अल्पसुखनिमित्त निदान करोति परमे मुक्तिमुखे अनादर कृत्वा । स काकया विक्षीणीते मणि बहुकोटिघटनस्यम् ॥१२१५॥

सो भिद्द लोहत्वं नावं भिद्द मणि च सुसत्वं ।

अस्फदे योसीरं उद्ददि विदामं खु जो कुण्दि ॥१२१६॥

'सो निवृद्ध' स निगति कीलकोद्धारणं नावं अनेकवस्तुगुता । निगतति रत्न च सुनावं । गोशीर्षं चण्डनं वदति भस्मार्यं यो निदानं करोति स्वस्मर्यं । शारविनाशसाधन्याविशेषमाचष्टे—'सूपकारोपरि' कथा यो निदानकारी, तेन नौप्रयुक्तिकं विनाशितं । अर्वास्थानकानि बाष्पानि ॥१२१६॥

कोटी संतो लद्दु ज उद्द उच्छु रसायणं एतो ।

सो सायणं जास्त्रे योगहेतुं विदामेज ॥१२१७॥

'कोटी संतो' कुच्छी तन् रसायनगुणमित्त्वं कम्प्या वदति यः समानतां नाशयति सर्वदुःखव्याधिनिवा-
स्योद्यतां भोगार्थनिदानेन ॥१२१७॥

पुरिसचादिनिदानं पि मोक्षकामा मुनी ज इच्छन्ति ।

अं पुरिसचाइमजो भवो भवमजो य संसारो ॥१२१८॥

'पुरिसचादिनिदानार्थि' पुरुषत्वादिनिदानमपि मोक्षाभिलाषिणो मुनयो न बाञ्छन्ति । यस्मात्पुरुषत्वा-
धिक्यो भवपर्यायः । अनात्मकत्व संसारः स्वपर्यायपरिवर्तनस्वरूपत्वात् ॥१२१८॥

दुःखसखयकम्भसखयसमाधिग्रहणं च बोधिलामो य ।

एयं पत्थेयज्वं ज पत्थणीयं तओ अण्णं ॥१२१९॥

शा०—जो मुक्तिके उत्कृष्ट सुखका अनादर करके अल्पसुखके लिए निदान करता है वह करोड़ों रूपयोंके मूल्यवाली मणिको एक कीड़ीके बदले बेचता है ॥१२१५॥

शा०—जो निदान करता है वह लोहेकी कीलके लिए अनेक वस्तुओंसे भरी नाव को—जो समुद्रमें जा रही है तोड़ता है, अस्मके लिए गोशीर्षचण्डनको जलाता है और धागा प्राप्त करनेके लिए मणिनिमित्त हारको तोड़ता है । इस तरह जो निदान करता है वह बोझसे लाभके लिए बहुत हानि करता है । एक सूषकारने अपनी मूर्खतासे अपनी नाव नष्ट कर डाली थी । इनकी कथाएँ (कथाकोशसे) जानना ॥१२१६॥

शा०—जैसे कोई कीड़ी मनुष्य अपने रोगके लिए रसायनके समान ईशको पाकर उसे जलाकर नष्ट करता है वैसे ही भोगके लिए निदान करके मूर्ख मुनि सर्व दुःख और व्याधियोंका विनाश करनेमें तत्पर मुनि पदको नष्ट करता है ॥१२१७॥

शा०—भोक्षके अभिलाषी मुनिमन 'मैं मरकर पुरुष होऊँ' या 'मेरे बज्रवृषभनाराच संहनन आवि हो, इस प्रकारका भी निदान नहीं करते । क्योंकि पुरुष आवि पर्याय भवरूप है और स्वपर्यायका परिवर्तन स्वरूप होनेसे संसार भवमय है । अर्थात् जाना भवधारण करने रूप ही तो संसार है ॥१२१८॥

'दुःखान्तर्य' दुःखानां शारीरानां, आगन्तुकानां स्वाभाविकानां च शरीरं भवतु । तथा कर्मणां तत्कारणभूतानां रत्नत्रयसम्पादनपुरःसरं मरणं, दीक्षानिमग्नौ कीर्तिसामय्य एतत्प्राचीनीयं भाष्यम् ॥१२१९॥

पुरितसादीनि पुण्यो संजमलागो व होइ परलोए ।

आराधयस्स भियमा उदत्त्वमकदे निदाणे वि ॥१२२०॥

'पुरितसादीनि' पुण्यत्वात्किं, संयमकामय्य भविष्यति परजन्मनि । कस्य ? इत्तरत्नत्रयााराधनस्य निश्चयेन । तदर्थमङ्गुठीयं निदाने ॥१२२०॥

मानस्स भंजणत्वं चित्तेदक्खो शरीरणिज्जेदो ।

दोसा माणस्स तदा तद्देव संसारणिज्जेदो ॥१२२१॥

'मानस्स भंजणत्वं' मानसज्ञानं ध्यातव्यः शरीरनिर्बन्धः । तथा बोधात्त्व मानस्य । तत्रैव संसार-निर्बन्धश्च ध्यातव्य इति श्लोकं निर्यापकसुरिः सिद्धयति । शरीरस्य अशुचित्वादिस्वभावचिन्तनतः । किमेतेन शरीरेषेति शरीरे अनावरः शरीरनिर्बन्धः । स कथं मानस्य मञ्जने निमित्तं । स हि शरीरानुरागमेव विह्वलित तत्प्रतिपक्षत्वात् । अत्रोच्यते—मानसशब्दः सामान्यवचनोऽपि रूपाभिमाणविषयो गृह्यते । स च शरीरनिर्बन्धेन भज्यते । मानस्य बोधा नीचकुल्लेखूपतिमान्यनुशास्त्रानः, सर्वविद्ध्यता, रत्नत्रयाद्यकाम इत्यादिकाः । संसारस्य द्रव्यज्ञेनकालभावभ्रमपरिवर्तनरूपस्य पराङ्मुखता संसारनिर्बन्धः । तत्रोपयुक्तस्य अहङ्कारनिमित्तानां विनाशात्,

गा०—हमारे शारीरिक, आगन्तुक और स्वाभाविक दुःखोंका नाश हो । तथा उनके कारणभूत कर्मोंका क्षय हो । रत्नत्रयका पालन करते हुए मरण हो और जिनदीक्षाकी ओर अभिमुख करनेवाले ज्ञानका लाभ हो, इतनी ही प्रार्थना करने योग्य है । इनके सिवाय अन्य प्रार्थना करना योग्य नहीं है ॥१२१९॥

गा०—जो रत्नत्रयकी आराधना करता है उसे निदान न करने पर भी आगामी जन्ममें पुण्यत्व आदि का तथा संयमका लाभ निश्चय ही होता है ॥१२२०॥

गा०—दी०—निर्यापकाचार्य श्लोकको शिक्षा देता है कि तुम्हें मानकषायका विनाश करने-के लिए शरीरसे निर्बन्धका, मानके दोषों का और संसारसे निर्बन्धका चिन्तन करना चाहिये । शरीरके अशुचित्व आदि स्वभावका चिन्तन करनेसे 'इस शरीरसे क्या लाभ' इस प्रकार शरीरमें अनावर होता है उसे ही शरीर निर्बन्ध कहते हैं ।

शङ्का—शरीरका चिन्तन मानकषायको दूर करनेमें निमित्त कैसे हो सकता है उससे तो शरीरमें अनुराग का ही बात होता है क्योंकि शरीर निर्बन्ध उसका प्रतिपक्षी है ?

समाधान—यद्यपि मान शब्द मानसामान्यका वाचक है तथापि यहाँ रूपविषयक अभि-मान लिखा है । वह शरीरके निर्बन्धसे नष्ट होता है । नीच कुलोंमें जन्म, आदरणीय गुणोंका प्राप्ति न होना, सबका अपनेसे द्वेष करना, रत्नत्रय आदिका लाभ न होना, ये सब मानकषायसे होनेवाले दोष हैं । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भ्रमपरिवर्तन रूप संसारसे विमुख होना संसार-निर्बन्ध है । संसारनिर्बन्धमें उपयोग रूग्णनेसे अहंकारके निमित्तोंका विनाश होता है । क्योंकि

निष्कानां च गुणानां बहूनां असङ्कल्पवृत्तिः अनेकप्राणिलम्बत्वात् । स्वप्राप्त्येभ्यो गुण्येभ्योऽभिसन्धिगतानां गुणानामन्वीक्यलम्बनात् ॥१२२१॥

कुलानिमाननिराशोपायभाष्ये—

णीचो वि होइ उच्चो उच्चो णीचत्तणं पुण उबेइ ।

जीवार्णं खु कुलाइं पधियस्स व विस्समताणं ॥१२२२॥

'कोचो वि होवि' स्थानमानैश्वर्यादिभिस्तिरोभूतो नीच इत्युच्यते । सोपि 'होवि' भवति । 'उच्चो' तीरेवोच्यते । स उच्चो अतिशयितस्थानमानादिकोऽपि 'नीचत्तणं' तैन्मूनता । 'पुण उबेवि' पुनः उपैति । 'जीवार्णं खु' जीवानां खलु । 'कुलाइं' कुलानि । कीदृग्भूताना ? 'विस्समत्ताणं' विषमतां बहूनि कुलानि कुलबहुत्वप्रकटनेन कुलानित्यता दक्षिता । अनियतकुलस्य क कुलमर्षः । 'पधियस्स' पधिस्य यथा विश्रामस्थानं न नियतमस्ति तद्वदेवास्त्येति भावः ॥१२२२॥

किं च गर्वो ह्यात्मनो वृद्धि परस्य वा हानिं बुद्ध्या सधेपते तस्य यत्कोऽङ्कारः न चास्य वृद्धिहाणी स्त इति कथयति—

उच्चासु व णीचासु व जोगीसु ण तस्स अत्थि जीवस्स ।

वड्ढी वा हाणी वा सव्वत्थ वि तिसिओ चेव ॥१२२३॥

'उच्चासु व णीचासु व' यत्र न्वित आत्मा शरीर निष्पादयति तद्योनिशब्देनोच्यते । न तस्य उच्चता नीचता वा तत् । किमुच्यते उच्चासु व णीचासु व इति । अत्रोच्यते—योनिशब्देन कुलमवाचोच्यते । तेनायमर्थः । मान्ये कुले गृहितं वा उत्पन्नम्य न तस्य जीवस्य वृद्धिर्हानिर्वा सर्वत्र तत्परिमाण एव ज्ञानावि-

अनेकं निन्दनीयं गुण, जो अहंकारमे निमित्त होते हैं, अनेक प्राणियोमं पाये जाते हैं । तथा अपनेको जो गुण प्राप्त है उनमें भी अतिशयशाली गुण दूसरोको प्राप्त है । अत उनका अभिमान कैसा ? ॥१२२१॥

कुलका अभिमान दूर करनेका उपाय कहते हैं—

भा०टी०—स्थान, मान, ऐश्वर्य आदिसे हीन व्यक्तिको नीच कहते हैं । जो स्थान, मान, ऐश्वर्य आदिसे हीन होता है वही नीच हो जाता है । जीवोके कुल पथिकके विश्राम स्थानकी तरह हैं । जैसे पथिकके विश्राम लेनेका स्थान नियत नहीं है वैसे ही कुल भी नियत नहीं है । तब अनियत कुलका गर्व कैसा ? 'कुलानि' पद बहुवचनान्त होनेसे कुलोंकी बहुतायत प्रकट करता है । और कुलोंकी बहुतायतसे कुलोंकी अनित्यता दिखलाई है ॥१२२२॥

आगे कहते हैं कि अपनी वृद्धि और दूसरेकी हानिकी भावनासे गर्व होता है उसका अहंकार करना युक्त है किन्तु उच्च या नीच कुलमें जन्म लेनेमें आत्माकी हानि वृद्धि नहीं होती—

भा०टी०—शंका—जिसमें रहकर जीव अपने शरीरको रचता है उसे योनि कहते हैं । योनि तो उच्च या नीच होती नहीं । तब 'उच्चासु व णीचासु' क्या कहा ?

समाधान—यहाँ योनि शब्दसे कुलको ही कहा है । अत ऐसा अर्थ होता है—मान्य कुलमें अथवा निन्दनीय कुलमें उत्पन्न हुए जीवकी वृद्धि या हानि नहीं होती । सर्वत्र जीवका परिमाण

गुणातिशयादेव उत्कृष्टता । निन्दितगुणः कुलीगोत्रेण न पुण्यतेतरामन्वीः । अनादरेण कुले सम्भूतो यदि गुणी स्यात् । उक्तं च—

संसारकाले जन्तो हि संतीर्णं यात्र किञ्चित्पुण्यमस्ति भित्तं ।
 स एव नीचोत्तममन्वयातीः स्वकर्मात्मैः समुपैति तास्ताः ॥
 गुणैश्च दासः स्वपुत्रैश्च मित्रो दरिद्रैश्चकल्प्य समुत्सृज्यः ।
 चोराग्निहत्यायाहितयाचिता (?) च संजातो कर्मवशात्स एव ॥
 को वाचिकारः कुलुपेण गुणं वा वा विहितान्यकुलजगुनी ।
 कार्योन्धिकारो ननु कर्म एव सर्वत्र विहितमपि च कुलुपेण ॥ [] ॥१२२३॥

कालमन्तं श्रीचाणोदो होदूय लद्द सगिद्युच्चं ।

जोषीमिदरसलमं ताजो वि गदा अर्णताजो ॥१२२४॥

‘कालमन्तं श्रीचाणोदो होदूय’ अनन्तकालं नीचगोत्रो भूत्वा । ‘लघुवि सगिद्युच्चं जोषि’ लघते सकुटुम्बैर्गोत्रं । कीदृशी ‘इदरसलमं’ इतरसलाका । इतरा नीचैर्योनयः सलाका यस्या उच्चैर्योनिस्ता इतर-सलाका । ‘ताजो वि’ ता अपि ‘अन्तराले लब्धा अपि उच्चैर्योनयः’ । ‘गदा अर्णताजो’ अनन्ताः प्राप्या एकेन बीजेन ॥१२२४॥

उत्तमा ही रहता है । ज्ञानादि गुणोंमें अतिशय होनेसे ही उत्कृष्टता होती है । कुलीन भी यदि निन्दित गुण वाला होता है तो दूसरे उसका आदर सम्मान नहीं करते । और अनादरणीय कुलमें उत्पन्न होकर भी यदि गुणी होता है तो दूसरे उसका सम्मान करते हैं । कहा है—संसारमें भ्रमण करते हुए प्राणीका कोई कुल स्थायी नहीं है । वही जीव अपने कर्मके अधीन होकर नीच, उत्तम अथवा मध्यम कुलोंमें जन्म लेता है । वही जीव अपने कर्मके वश होकर राजा और दास, चाण्डाल या ब्राह्मण, दरिद्र वंश वाला या सम्पन्न वंश वाला होता है तथा चोर, आग और दावानलसे पीड़ित तथा मांगने वाला होता है । उच्च कुलोंमें मनुष्योंको जन्म लेनेका गर्व कैसा ? और नीच कुलोंमें जन्म लेने पर घृणा कैसी ? गर्व करना हो तो जर्ममें ही करना चाहिए और घृणा भी पापसे करनी चाहिए ॥१२२३॥

जा०-टी०—यह जीव अनन्तकाल तक नीच गोत्रमें जन्म लेकर एक बार उच्च गोत्रमें जन्म लेता है । इस प्रकार उच्च गोत्रकी शलाका नीच गोत्र है । शलाकासे मतलब है अनन्तकाल नीच गोत्रमें जन्म लेकर एक बार उच्च गोत्रमें जन्म । नीच गोत्रोंके अन्तरालमें प्राप्त उच्च गोत्र भी एक बीजने अनन्त बार प्राप्त किये हैं ॥१२२४॥

विशेषार्थ—यद्यपि यह जीव संसारमें भ्रमण करते हुए अनन्तबार नीच गोत्रमें जन्म लेता है तब कहीं एक बार उच्च गोत्रमें जन्म लेता है । तथापि अनन्त बार नीच गोत्रमें जन्म लेनेके पश्चात् एक बार उच्च गोत्रमें जन्म लेनेकी परम्पराको भी इसने अनन्त बार प्राप्त किया है अर्थात् इस क्रमसे इसने उच्च गोत्रमें भी अनन्त बार जन्म लिया है ॥१२२४॥

१. अन्तराले अन्तराले लब्धा अपि—ब० मुकारा० ।

बहुसो वि लक्ष्मिजडे को उच्चत्तमि विष्मजो नाम ।

बहुसो वि लक्ष्मिजडे णीचत्ते चापि किं दुःखं ॥१२२५॥

'युं बहुसो वि' बहुसोऽपि, 'लक्ष्मिजडे' लक्ष्मपरित्यक्तं च । 'उच्चत्तमि' मान्यकुलप्रसूतत्वे । 'को नाम विष्मजो' को नाम विष्मजः । कदापियलक्ष्मपूर्वमिदागीमेव लक्ष्ममिति भवेद्भवः । 'बहुसो वि' बहुसोऽपि । 'लक्ष्मिजडे' लक्ष्मपरित्यक्ते । 'बीचत्ते चापि' नीचैर्गोत्रप्रसूतत्वे अपि । 'किं दुःखं' किमिदं दुःखं ॥१२२५॥

उच्चत्तममि पीदी संकल्पवसेण होइ जीवस्स ।

णीचत्ते ण दुःखं तह होइ कसायबहुलस्स ॥१२२६॥

'उच्चत्तममि' मान्यकुलत्वे । 'पीदी' प्रीतिः । 'संकल्पवसेण' संकल्पवसेण 'होइ जीवस्स' भवति जीवस्य प्रयासे कुले जातोऽहमिति मनोनिधानात् प्रीतो भवत्यत्यर्थं अगः नेत्वंयुतं संकल्पमन्तरेण सामान्यकुलत्वे सस्यपि प्रीतिर्भवति । नीचकुलत्वमेव च न दुःखस्य निमित्तं । अपि च 'नीचत्ते च' नीचैर्गोत्रत्वे च दुःखं 'तथा होइ' तथा भवति । प्रीतिरिव परनिमित्तकं भवति । कस्य ? 'कसायबहुलस्स' कसायबहुलः । सामान्य-वचनोऽपि मानकषायो वर्तते । तेनायमर्थः प्रचुरमानकषायो जनयति दुःखमस्य न नीचैर्गोत्रत्वमेव ॥१२२६॥

प्रीतिपरितापी संकल्पायत्तावित्येतत्सप्टयत्पुत्रराश्या—

उच्चत्तणं व जो णीचत्तं पिच्छेज्ज भावदो तस्स ।

उच्चत्तणे व णीचत्तणे वि पीदी ण किं होज्ज ॥१२२७॥

'उच्चत्तणं व' उच्चैर्गोत्रत्वमिव 'जो णीचत्तं पिच्छेज्ज' यो नीचैर्गोत्रं प्रेषते इदं चण्डालत्वं वर्धयति । भावशब्दोऽनेकार्थवाच्यपि इह चित्तवाची । यत् येन लब्धं तत्तस्य शोभनं । बलम्येन शोभनं नापि किं तेनेति मनसि करोति यदा तदा तत्रैव प्रीतिरस्य जायते इति वदति 'उच्चत्तणं वि' मान्यकुलत्वं इव 'नीचत्तणेज्ज' नीचैर्गोत्रत्वेऽपि । 'पीदी किं ण होज्ज' प्रीतिः किं न भवेत् भवत्येवेति यावत् ॥१२२७॥

गा०—इस प्रकार अनन्त बार प्राप्त करके छोड़े हुए उच्च कुलमे जन्म लेनेका गर्व कैसा ? गर्व तो तब होता जब अभी तक न पानेके बाद प्रथम बार ही इसे प्राप्त किया होता । तथा अनन्त बार प्राप्त करके छोड़े हुए नीच गोत्रमें जन्म लेनेका दुःख कैसा ॥१२२५॥

गा०—टी०—'मे उच्च कुलमे जन्मा हूँ' ऐसा मनमे संकल्प होनेसे जीवका उच्चकुलमें अत्यन्त अनुराग होता है । इस प्रकारके संकल्पके बिना सामान्य कुलमे जन्म होने पर भी अनुराग नहीं होता । तथा नीच कुलमे जन्म लेना ही दुःखका कारण नहीं है । दुःखका कारण है मान-कषायकी बहुतायत । गाथामे कषाय शब्द सामान्यवाची है तथापि यहाँ उसका अर्थ मानकषाय लेना चाहिए । मानकषायकी बहुतायत जीवको दुःख देती है, केवल नीच गोत्रमें जन्म ही दुःखका कारण नहीं होता ॥१२२६॥

अनुराग और दुःख संकल्पके अधीन है, यह कहते हैं—

गा०—टी०—गाथामे आये भाव शब्दके यद्यपि अनेक अर्थ हैं तथापि यहाँ उसका अर्थ चित्त लिया है । जो मनसे उच्च गोत्रके समान नीच गोत्रको देखता है अर्थात् यह चाण्डाल कुलमें जन्म श्रेष्ठ है ऐसा मानना है । मनमे विचारता है कि जो जिसको प्राप्त है वही उसके लिए उत्तम है । जो प्राप्त नहीं है वह श्रेष्ठ भी हो तो उससे क्या ? ऐसा विचार करते ही उच्च कुलके समान नीच

नीचतत्वं च जो उच्चतं वैशेष्येण भावदो तस्स ।

नीचतमेव उच्चतमे वि दुक्त्वं च किं होज्ज ॥१२२८॥

एतद्विपरीतार्थोत्तरमाया । स्पष्टतया' मस्तुस्मिन्ति भाष्येणते । सकल्पमाया प्रीतिरप्रीतिर्वैतन्यनुभव-
सिद्धमेतद्विशिष्य अगत इति वदति । यस्मान्दुर्बलान्तेऽपि न सुखदुःखयोर्भावाभावात् न भवतः
संकल्पात् ॥१२२८॥

तस्मात्तु च उच्चनीचतयाई पीदि करेति दुःकत्वं वा ।

संकल्पो से पीदि करेदि दुक्त्वं च जीवस्स ॥१२२९॥

'तस्मात्' तस्मात् । 'उच्चनीचतयाई' भाष्यामाय्यकुलत्वानि । 'न करेति पीदि दुक्त्वं वा' न कुलतः
प्रीति दुःखं वा । 'संकल्पो पीदि करेदि' संकल्पो 'से' अस्य जीवस्य तस्मात् प्रीति करोति दुक्त्वं वा । सति सकल्पे
भावावसति अभावाच्च ॥१२२९॥

मानकपायताम्बोजं दोष इति कथयति—

कुणदि य भाषो नीयागोदं पुरिसं भवेसु बहुएसु ।

पत्ता हु नीचजोषी बहुतो माणेण लच्छिभदी ॥१२३०॥

'कुणदि च' करोति । 'भाषो' अहंकारः । 'नीयागोदं पुरिसं' नीचगोत्रमस्येति नीचगोत्रं 'पुरिसं'
भाष्यात् । 'भवेसु' जन्मसु । 'बहुएसु' बहुषु । 'पत्ता' प्राप्ता । 'नीचजोषी च' नीचगोत्रमेव । का ? 'लच्छि-
भदी' लक्ष्मीमती । केन निमित्तेन ? 'माक्षिच' सुख्या यौवनानुकूला कुलीना चेति गर्बेण ॥१२३०॥

कुलमें भी अनुराग क्यों नहीं होगा ? अवश्य ही होगा ॥१२२७॥

भाषेकी भाषामें इससे विपरीत कथन करते हैं—

भा०—जो जीव भावसे उच्चपनेको नीचपनेकी तरह देखता है उसको नीचपनेकी तरह
उच्चपनामें क्या दुःख नहीं होता ? होता ही है । किसीसे प्रीति या अप्रीति तो संकल्पके अधीन है
यह बात समस्त जगत्के अनुभवसे सिद्ध है । क्योंकि संकल्पसे उच्च गोत्र होते हुए भी सुखका
भाव और दुःखका अभाव नहीं होता ॥१२२८॥

भा०—अतः उच्च कुल या नीच कुल सुख या दुःख नहीं देता । किन्तु जीवका संकल्प
सुख या दुःख करता है । संकल्पके होने पर सुख दुःख होता है और संकल्पके अभावमें नहीं
होता ॥१२२५॥

भाषे कहते हैं कि मानकभावके कारण यह दोष होता है—

भा०—मानकभाव अर्थात् अहंकार पुरुषको अनेक जन्मोंमें नीच गोत्री बनाता है । देखो,
लक्ष्मीमती, मैं सुन्दर हूँ, कुलीन हूँ यौवनवती हूँ इस गर्बके कारण अनेक बार नीच गोत्रमें उत्पन्न
हुई ॥१२३०॥

विशेषार्थ—सुखकथा क्रोशमें १०८ नम्बरमें इसकी कथा भी है ॥१२३०॥

पूजावशात्कृत्वविकृतं सुमंगलदुःखमगतं च ।

आणाणाया य तथा विधिना तेजैव पङ्क्तिसेज्ज ॥१२३१॥

'पूजावशात्कृत्वविकृतं' पूजा, अवमान परिभवः । रूपशब्दः सामान्यवचनोऽपि शोभाशोभनरूपविषयतया इह विरूपशब्दसंनिधाने प्रयुज्यमानोऽतिशयिते रूपे प्रवर्तते । तेन सौरूप्यं चेत्यर्थः । 'सुमंगलदुःखमगतं च' सौभाग्यं दौर्भाग्यं च सर्वेषां प्रियत्वं द्वेष्यत्वं चेति यावत् । 'आणाणाया य तथा' आज्ञा आदेशाप्रतिपातः अनाज्ञा च तथा । 'विधिना' माननिषेधप्रकारेणैव । 'पङ्क्तिसेज्ज' प्रतिषेध्याः । अग्निशेयवशात्किमवचनप्रवृत्तिरिति किम्यन्तरेण पूजाविसादोपनीतेन प्रतिषेध्याशब्दस्याभिसम्बन्धः । परिभवं प्राप्नोऽपि बहुशः कदाचित्पूजयते । एवमपि प्राप्ता ह्यनन्तेषु पूजास्तत्र कोऽनुरोगोऽस्य । दुःखं वा परिभवप्राप्ती । 'पूज्यमानोऽपि बहुषु पुनः परिभवाभास्यति । न चात्मनः पूजायां काचित् बुद्धिः परिभवे वा हानिः । सकल्पवशादेवात्मनो जायते प्रीतिपरिहाती न केवलं पूजापरिभवाभ्यामेवेति । उक्तं च—

यः स्तुवते शुक्तिगुणैर्बन्धुरैर्बन्धोनिः स निन्दते च पश्येत्बन्धनैर्विधिभिः ।

हा चिन्ता कथमयं भवसंकटस्यः प्राप्नोत्यनैकविधिकर्मकसोपभोगं ॥

पूजा मनुष्यस्यैव पुनरेव दासा हीना भवन्ति सुखयोऽनुष्यस्यैव भूयः ।

कान्त्या^३ च ये युवतिर्निषिधमानुष्णा द्वेष्या भवन्त्यनुभवात्पुनरेव भूयः ॥

दुष्टः स्वचित्तप्रवररत्नविभूषणो यः संबुद्धयते विकल्पुष्यतया वरिष्ठः ।

भूयश्च मित्रबहुबन्धुजनोपगूढः संलभ्यते व्यसनभारभूषेकं एव ॥ [] ॥१२३१॥

शा०—टी०—मानकषायका जैसे निषेध किया है वैसे ही पूजा, अपमान, सौरूप्य, वैरूप्य, सौभाग्य, दुर्भाग्य, आज्ञा अनाज्ञाका भी निषेध जानना । गाथायें आगत रूपशब्द यद्यपि सामान्यवाची होनेसे सुन्दर और असुन्दर दोनों ही प्रकारके रूपका वाचक हैं तथापि विरूप शब्दके साथमें प्रयुक्त होनेसे अतिशयरूपको कहता है । अतः उसका अर्थ सौरूप्य और वैरूप्य लिया गया है । सौभाग्यका अर्थ है सबको प्रिय होना और दुर्भाग्यका अर्थ है सबके द्वारा तिरस्कृत होना । जिसने अनेक जन्मोंमें तिरस्कार पाया है वह भी कभी पूजा जाता है । इसी प्रकार अनन्त जन्मोंमें पूजा प्राप्त करनेवाला भी तिरस्कृत होता है । अतः उनमें अनुराग कैसा और तिरस्कार पानेपर दुःख कैसा ? जो बहुत जन्मोंमें पूजा जाता है वह पुनः तिरस्कारको प्राप्त करेगा । पूजा होनेपर आत्मामें बुद्धि नहीं होती और तिरस्कार होनेपर आत्मामें कोई हानि नहीं होती । सकल्पके कारण ही प्रीति और सन्ताप होते हैं केवल पूजा और तिरस्कारसे नहीं होते । कहा भी है—

जो मधुर वचनोंके द्वारा अपने निर्मल गुणोंके लिये संस्तुत होता है वही नाना प्रकारके कठोर वचनोंसे निन्दाका पात्र होता है । कैसा आश्चर्य है कि ससाररूपी संकटमें पड़ा हुआ यह प्राणी अनेक प्रकारके कर्मके फलको भोगता है । मनुष्योंका स्वामी होकर उनका नीच दास हो जाता है । पवित्र होकर पुनः अपवित्र हो जाता है । जो युवतियोंके प्रिय होते हैं वे ही दुर्भाग्यवानेपर द्वेषके पात्र बनते हैं । जो मनुष्य कभी उत्कृष्ट रत्नभूषणोंसे भूषित देखा गया है वही मनुष्य पुण्यहीन होनेपर दरिद्र देखा जाता है । जो बहुतसे मित्रों और बन्धु-बान्धवोंसे घिरा हुआ

१. पूजातोऽपि—अ० । २. नैर्घित्वा—अ० ज० । ३. कान्त्या च येपु युवतिः—अ० विधमापक्या द्वेष्या भवन्त्यनुभवन्धमुपेत्य भूयः—आ० ज० । ४. क ये च—अ० ।

‘अप्येवमादि अविधित्यदो माणो ह्येज्ज पुरिसस्स ।
एदे तम्मं अत्थे पसदो णो होइ माणो हु ॥१२३२॥
अइदा उच्चत्तादिधिदानं संसारवहुणं होदि ।
एइ दीहं न करिस्सदि संसारं परवचणिदानं ॥१२३३॥

‘अइदा’ वरि तावत् । ‘उच्चत्तादिधिदानं’ उच्चैर्मात्रता, पुरुषत्वं, स्थिरशरीरता, अदरिद्रकुलप्रसूति-
बन्धुतेत्येवमादिकं मुक्तिः परम्परया कारणमपि चित्तं क्रियमाणमपि । ‘संसारवहुणं होषि’ संसारवृद्धिं करोति ।
‘अइदा उच्चत्तादिधिदानं’ कथं न करिष्यति । ‘दीहं संसारं’ दीर्घसंसारं । ‘परवचणिदानं’ परवचने चित्तप्रणि-
धानं ॥१२३३॥

आचार्यवचनपरत्वाविधानं कथनसोपना रत्नत्रयातिशयलाभप्राप्तिता हि ॥ १२३३ ॥

आचार्यवचनपरत्वाविधाने वि कथे णत्थि तस्स तम्मि भवे ।
अधिदं पि संजमंतस्स सिज्झणं माणदोसेण ॥१२३४॥

‘अचार्यवचनपरत्वाविधानं वि कथे’ आचार्यत्वादिनिदानेऽपि कृते । ‘णत्थि तस्स’ नास्ति तस्य । ‘तम्मि
भवे’ तस्मिन्भवे निदानकरणभवे । ‘अधिदं पि संजमंतस्स’ नितरामपि संयमं कुर्वतः । किं नास्ति ‘सिज्झणं’
शेषं मुक्तिः । केन ? ‘माणदोसेण’ मानकषायदोषेण । स ह्याचार्यत्वादिप्रार्थनां करोति । पुष्टो भविष्यामीति
संकल्पेन, ततोऽप्यहंयुता ॥१२३४॥

भोगदोषचिन्ताया सत्या निदानं तथा न भवति इति कथयति—

होता है, विपत्तिमें पड़नेपर वही एकाकी देखा जाता है ॥१२३१॥

भा०—इत्यादि बातोंका विचार न करनेवाले पुरुषको मान होता है । और जो इन
बातोंको सम्यक् रूपसे देखता है उसको मान नहीं होता ॥१२३२॥

भा०—उच्चगोत्र, पुरुषत्व, शरीरकी स्थिरता, अदरिद्रकुलमें जन्म, बन्धु-बान्धव आदि
परम्परासे मुक्तिके कारण हैं ऐसा चित्तमें विचारकर इनका निदान करना कि ये मुझे प्राप्त हों,
यदि संसारको बढ़ानेवाला है तो दूसरेके बघका चित्तमें निदान करना दीर्घ संसारका कारण
क्यों नहीं है ? अवश्य है ॥१२३३॥

यहाँ कोई शंका करता है कि रत्नत्रयमें अतिशय लाभकी भावनासे मैं आचार्य वचन
आदि बहूँ ऐसी प्रार्थना क्यों बुरी है ? इसका उत्तर देते हैं—

भा०—आचार्य पद आदिका निदान करनेपर भी जिस भवमें निदान किया है उस भवमें
अत्यन्त संयमका पालन करनेपर भी मानकषायके दोषके कारण उसकी मुक्ति नहीं होती, क्योंकि
वह ‘मैं पूज्य हूँ’ इस संकल्पसे आचार्य आदि होनेकी प्रार्थना करता है । इससे उसका अहंकार
प्रकट होता है ॥१२३४॥

जाने कहते हैं कि भोगोंके दोषोंका चिन्तन करनेसे भोगोंका निदान नहीं होता—

भोगा विन्देष्वा किपाकफलोवना कदुविवाया ।

मधुरा व मुञ्जमाणा पच्छा बहुदुक्खभयपउरा ॥१२३५॥

'भोगा विन्देष्वा' भोगविचरन्त्याः । 'किपाकफलोवना' किपाकफलसदृशाः । 'कदुविवाया' कदु अनिष्ट विपाकः । 'अल एषामिति कदुविपाकाः । 'मधुरा व' मधुरा इव । 'मुञ्जमाणा' भुज्यमानाः । 'पच्छा' मन्थे । 'बहुदुक्खभयपउरा' विचित्रदुःखमयाः ॥१२३५॥

भोगनिदानदोष कथयति—

भोगनिदानेण य साम्पणं भोगत्थमेव होइ कदं ।

'साहालंगा जह अत्थिदो वणे को वि भोगत्थं ॥१२३६॥

'भोगनिदानेण व' भोगनिदानेन वा । 'साम्पणं' श्रामण्य । 'भोगत्थमेव होइ कदं' भोगार्थमेव कृतं न कर्मकार्यं भवति । भोगनिदाने सति रागग्नाकुलितचिन्तस्य प्रत्यग्रकर्मप्रवाहस्वीकृती उद्यतस्य का संय-
तता ॥१२३६॥

आवडणत्थं जह ओसरणं मेसस्स होइ मेसादो ।

सणिदाणबंभवेरं अन्वंभत्थं तथा होइ ॥१२३७॥

'आवडणत्थं' अभिघातार्थं । 'जह' यथा । 'ओसरणं' अपगमं । 'मेसस्स होइ' मेघस्य भवति । 'मेसादो' मेघात् । 'सणिदाणबंभवेरं' सनिदानस्य यतेर्ब्रह्मचर्यं । 'अन्वंभत्थं' मैथुनार्थं । 'तथा होइ' तथा भवति ॥१२३७॥

जह वाणिया य पणियं लामत्थं विक्किंति लोमेण ।

भोगेण पणिदभूदो सणिदाणे होइ तह घम्भो ॥१२३८॥

गा०—ये भोग किपाकफलके समान हैं। जैसे किपाकफल खाते समय मीठा लगता है किन्तु उसका परिणाम अतिकटुक होता है। उसको खानेवाला मर जाता है। उसी प्रकार इन्द्रियोंके भोग भोगनेमें मधुर लगते हैं किन्तु उनका फल अतिकटु होता है पीछेसे जीवको बहुत दुःख और भय भोगना पड़ता है ॥१२३५॥

भोगनिदानके दोष कहते हैं—

गा०—टी०—मुनिपद धारण करनेके भोगका निदान करनेसे तो मुनिपद भोगोंके लिए ही धारण किया कहलायेगा। कर्मक्षयके लिये नहीं कहलायेगा। क्योंकि भोगका निदान करनेपर चित्त रागसे व्याकुल रहता है और ऐसा होनेसे नवीन कर्मोंका बन्ध होता है तब उसके मुनिपद कैसा ? जैसे कोई वनमें वृक्षकी शाखामें लगे फलोंको खानेमें लग जाये तो उसके अपने इच्छित स्थानपर पहुँचनेमें विघ्न आ जाता है वैसे ही भोगका निदान करनेवाले श्रमणकी भी दशा होती है ॥१२३६॥

गा०—जैसे एक मेड़ा दूसरे मेड़ेपर अभिघात करनेके लिये पीछे हटता है वैसे ही भोगोंका निदान करनेवाले यतिका ब्रह्मचर्य भी अब्रह्म अर्थात् मैथुनके लिए ही होता है ॥१२३७॥

१. साहोर्लंबो—मु०, प्रकाश० । साहासंगा—जा० ।

'बद्धा कश्चिन्ना' यथा कश्चित् । 'सन्निभं' पद्मं । 'कामधरं' साधारं । 'विचित्राङ्गि' विचित्राङ्गि । 'भोज्येण' कोलेन । 'भोज्यत्वं' भोज्यानां । 'कश्चिद्गो कृतौ' पद्मकृतः । 'सन्निधाने' सन्निधानः । 'जहा कश्चो होषि' तथा कर्म भवति ॥१२३८॥

भोगनिदानवस्तुः नामधेयं प्रणिप्रति—

सपरिग्रहस्तु अर्जुनभारिणो अचिरदस्तु से अन्वता ।

काएण सीलवहर्णं होदि तु अहसमनकर्म व ॥१२३९॥

'सपरिग्रहस्तु' सपरिग्रहस्तु भोगनिदानवस्तो वेदवर्णितो रामोऽभ्यन्तरः परिग्रह इति सपरिग्रहः । तस्य । 'अर्जुनभारिणो' मनसा मीमुनकर्मणि प्रवृत्तस्य । 'अचिरदस्तु' अन्वतावृत्तस्य मीमुनात् । 'अन्वता' चित्तेन । 'से' तस्य कानेन तु शरीरेणैव । 'सीलवहर्णं' ब्रह्मचर्यवहर्णं । 'होदि' भवति । 'अहसमनकर्म व' नदानां अमन-कर्मणि । कानेन भावधानपरिहृतिं यथा अफलमेवनिवमति इति भावः ॥१२३९॥

रोगं इच्छेन्न जहा पक्षियारमुहस्तु कारणे कोई ।

तह अणोसदि दुषखं सन्निधानो भोगतण्हाए ॥१२४०॥

'रोगं कञ्चेष्व' व्याधिभिलसति । 'जहा कोई' यथा कश्चित् । किमर्थं ? 'पक्षियारमुहस्तु कारणे' औषधसेवासुखाधिगमनार्थं । 'तह' तथा 'अचिरदस्तु' अन्वतावृत्तस्य । 'अणोसदि' अन्वयेते । 'दुषखं' दुःखं । कः ? 'सन्निधानो' सन्निधानः । 'भोगतण्हाए' भोगतृष्णया ॥१२४०॥

खंयेण आसणत्वं बहुज्ज गरुमं सिलं जहा कोई ।

तह भोयत्वं होदि तु संजमवहर्णं निदानेण ॥१२४१॥

'खंयेण' स्कन्धेन । 'जहा कोई' यथा कश्चित् । 'गरुमं सिलं' गुर्वं सिलां । 'अणोसदि' बहुति । किमर्थं ?

या०—जैसे व्यापारी लोभभाव का भ्रमके लिये अपना माल बेचता है । वैसे ही निदान करनेवाला मुनि भोगोंके लिए धर्मको बेचता है ॥१२३८॥

भोगोंका निदान करनेवालेके मुनिपदको निन्दा करते हैं—

या०—टी०—भोगोंका निदान करनेवालेके अभ्यन्तरमें वेदवर्णित राग रहता है अतः वह परिग्रही है । तथा वह मनसे मैथुन कर्ममें प्रवृत्त होनेसे अब्रह्मचारी है और मनसे मैथुनसे निवृत्त न होनेसे अचिरद है । वह केवल शरीरसे ब्रह्मचर्यवत धारण करता है अतः वह नटधमण है । वैसे नट धमणका वेश धारण करता है वैसे ही उसने भी धमणका वेश धारण किया है । भावध्यामध्यके बिना केवल शरीरसे मुनि बनना जैसे व्यर्थ है उसी तरह उस मुनिका मुनिपद भी व्यर्थ है ॥१२३९॥

या०—जैसे कोई औषधि सेवनके सुखकी अधिकलासे रोगी होना चाहता है वैसे ही निदान करनेवाला भोगोंकी तृष्णासे दुःख चाहता है ॥१२४०॥

या०—मैं इसके ऊपर सुखपूर्वक बैठूँगा, ऐसा मानकर जैसे कोई भारी शिलाको कन्धेपर उठाता है और उसके उठानेके कष्टकी परवाह नहीं करता । वैसे ही इस दुर्बल संभ्रमको धारण

'आत्मन्त्वं' आत्मनाम् । अस्या उपरि सुचेनाते इति मत्वा त यथा मुच्यतेऽहं नखेर्भे नयिकते, स्वप्नं तस्या उपवासिन्मुक्तनयेकते स्वपुत्रया । 'छद्मं भोग्यं च' तथा भोगार्थमेव । 'होषि' अथति । 'संज्ञकत्वं' दुर्बलं संयमधारणं । 'विद्यान्वेयं' निवामेन सह ॥१२४१॥

बाह्यवस्तुनिमित्ताभिन्निद्रयमुक्तात्तन्निमित्तवस्तुविनाशो यज्जायते दुःखं तदधिकतमं अतः स्वल्पमुक्तनिमित्तं को नाम तचेतनो दुःखभीर्दुःखान्भी फलेति दर्शयति—

भोगोऽभोगसोऽपि जं जं दुःखं च भोगात्तन्नि ।

एदेतु भोगात्से आरं दुःखं पठिविसिद्धं ॥१२४२॥

'भोगोऽभोगसोऽपि' मृष्टासनताम्बुलादिकः स्वीयस्वाकङ्कारादिभिस्त्व जनिता यस्तुलं । 'भोगात्तन्नि' मुक्तसाधनस्य वस्तुनो विनाशे च । 'जं जं दुःखं च' यद्यद्दुःखं जायते । 'एदेतु' एतयोः सुखदुःखयोः 'भोग-नाशे' मुक्तसाधनानां विनाशे च । 'अतं दुःखं पठिविसिद्धं' अधिकतममिति यावत् ॥१२४२॥

देहे कुहादिमहिदे फले य सत्तस्त होज्ज कद्मोऽपि ।

दुःखस्तस्य य पठिपारो रहस्तर्णं येव सोऽपि सु ॥१२४३॥

'देहे' शरीरे मनुजानां । 'कुहादिमहिदे' सुषा, पिपासया, शीतोष्ण, व्याधिभिस्त्व मयिते । 'फले' अनित्ये च । 'सत्तस्त' आसक्तस्य । 'किं च सुखं होज्ज' किमत्र सुखं भवेत् । 'दुःखस्तस्य च पठिपारो' दुःखस्य प्रतीकारः । 'एदेतु' नृत्स्वकरणं एव 'भोग्यं' सोऽपि । सु खम्बः पादपूरणे दुःखप्रतीका'रो-ऽप्यता वा दुःखस्य मुक्तमित्यनेनास्वातम् ॥१२४३॥

सुखमन्तरंगापि अस्ति दुःखं, सुखं पुनरिन्द्रियकं न जायते दुःखं विना ततः सुखार्थी दुःखमेव प्राणाल-

करणेसे मुझे भोगोंकी प्राप्ति हो इस निदानके साथ जो संयम धारण करता है उसका संयम धारण भोगोंके लिये है अर्थात् स्वल्पसुखके लिए बहुत दुःख उठता है ॥१२४१॥

आगे कहते हैं कि बाह्य वस्तुसे उत्पन्न होनेवाले इन्द्रिय सुखसे उस सुखमें निमित्त वस्तुका विनाश होनेपर जो दुःख होता है वह अधिक है, अतः थोड़ेसे सुखके लिये कौन दुःखभीरु ज्ञानी दुःखके समुद्रमें गिरना पसन्द करेगा—

शा०—भोग अर्थात् सुस्वादु भोजन पान आदि और उपभोग अर्थात् स्त्री वस्त्र अलंकार आदिसे होनेवाला सुख तथा सुखके साधनमें निमित्त वस्तुका विनाश होनेपर होनेवाला दुःख, इन दोनों सुख और दुःखमेंसे भोगके साधनोंका विनाश होनेपर होनेवाला दुःख बहुत अधिक होता है ॥१२४२॥

शा०—यह शरीर भूख, प्यास, शीत, उष्ण तथा रोगोंसे पीड़ित और विनाशशील है । इसमें जो आसक्त है उसे क्या सुख होता है ? वास्तवमें दुःखका प्रतीकार अथवा दुःखको कम करना ही सुख है । अर्थात् दुःखके प्रतीकारको या दुःखको कमीको ही सुख मान लिया गया है । वास्तवमें सुख नहीं है ॥१२४३॥

सुखके विना भी दुःख होता है किन्तु इन्द्रियजन्य सुख दुःखके विना नहीं होता । अतः

१. कारोत्पत्ती वा—आ० मु० ।

नोऽपि कथं न च दुःखानि कथं प्राकृत्य वृत्त इति कथयति—

सोपकं जनवेपिच्छया वापदि दुष्कमजुगंभि जह पुरिसं ।

तह जनवेपिच्छय दुष्कं जसिह सुहं नाम लीगमि ॥१२४४॥

'सोपकं' लीकं । 'जनवेपिच्छया' जनपेक्ष्य । 'वापदि' दुष्कमजुगंभि 'पि' वापते दुःखमर्थपि । 'जह पुरिसं' जया दुष्कं । 'सह' तथा । 'जनवेपिच्छय' जनपेक्ष्य । 'दुष्कं' दुःखं । 'लीगमि' अस्मि सुहं कोके नास्ति सुखं नानिन्द्रियं । क्षुत्पिपासाभ्यां पीडित एवाह्वं पानं वाग्नेयते । कठोरतपस्तप एव क्षीरं, शीतसंक्षुचिततनुरेव शाररवादि, वातात्पाम्बुविरेयोहृती भजनमधिकयति । स्वानासन्नोपचातयम एव क्षयां कामयते । पाद-
मननचातयेदन्मपोहृतावीर्यं चिचिकादि, वैक्यनिराहृतये एव कस्यापि नूचमानि च शीतान्यनासनायैव दुष्ककाकाजुगंभि, शेषननायैव रमय इति सर्वं दुःखप्रतीकारमेव । विविधवेदोदयचनितः प्राणिनां लिङ्ग-
धववर्तिनां परस्परानिमायः । स तेषां परस्परशरीरसंसर्गं सत्यपि न विनश्यति । अभिलाषानिमित्तानां कर्मणा सद्भावात् । न हि कार्वाणविकल्पाकारणवर्तिनामी न भवति । कामो हि सेव्यमानो वेदनयं प्रत्यग्रमाकर्षति । सतीभ्यनुभवमुपवृहयते । कारणसम्पर्काकार्यसम्पादो नित्यमिति निरन्तराभिलाषयहनदह्यमानचेतसो न कथाचिन्मिप्यंतिरस्ति । अपनीते तु वेदनये कारणाभावात् कार्याभाव इति निरवशेषवेदापगमे स्वास्थं भवस्य तेष्व सुखमिति न्यनमानो वृष्टान्तं वर्धयति ॥१२४४॥

जो इन्द्रिय सुखका अभिलाषी है वह पहले दुःख चाहता है किन्तु विद्वान्के लिए दुःखको चाह मुक नहीं है यह कहते हैं—

श्री०—**जैसे सुखकी अपेक्षाके बिना बोझ-सा भी दुःख पुरुषको कष्टदायक होता है वैसे ही लोकेमें इन्द्रियबन्धु सुख दुःखकी अपेक्षाके बिना नहीं है ॥१२४४॥**

श्री०—**मूख और प्यासेसे पीड़ित पुरुष ही भोजन और पेयको खोजता है । कठोर धामसे पीड़ित शीतल प्रवेश खोजता है । शीतसे जिसका शरीर ठिठुर गया है वही ओढ़ना आदि खोजता है । बापु नाम वर्षा आदिसे पीड़ित ही मकान खोजता है । उठने बैठनेमें बका हुवा ही सव्या चाहता है । पैदल चलनेसे हुए कष्टको दूर करनेके लिए ही सवारी आदि चाहता है । विरमता दूर करनेके लिए ही बस्त्र आभूषण चाहता है । दुर्गन्ध दूर करनेके लिए ही सुगन्धित द्रव्य लोबान आदि होते हैं । श्वेद दूर करनेके लिए ही सुन्दर स्त्रियाँ होती हैं । इस तरह सब दुःखके प्रतीकारके लिए हैं । स्त्री लिङ्गी, पुरुष लिङ्गी और नपुंसक लिङ्गी प्राणियोंको स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेदके उदयसे परस्परमें रमण करनेकी अभिलाषा होती है । किन्तु वह अभिलाषा परस्परमें शारीरिक संसर्ग होनेपर भी नष्ट नहीं होती; क्योंकि उस अभिलाषामें निमित्त वेदकर्मका सङ्काव है । कारणोंके अधिकल होते हुए कार्य अवश्य होता है । कामका शेषन करनेसे नवीन स्त्रीवेद पुरुषवेद या नपुंसकवेदका बन्ध होता है । तथा सततमें स्थित इन कर्मोंके अनुष्ठानमें वृद्धि होती है क्योंकि कारणके होनेपर कार्य नित्य ही हुमा करता है । जिनके चित्त निरन्तर अभिलाषारूप भावसे जलते हैं उन्हें क्रमो भी शान्ति नहीं मिलती । तीनों वेदोंके चर्चे जानेपर कारणका अभाव होनेसे कार्यका भी अभाव होता है । जतः वेदोंका पूर्णरूपसे अभाव होनेपर जो स्वास्थ्य होता है वही सब है ॥१२४४॥**

जह कोडिल्लो अग्नि तप्यंतो जेव उवसमं लभदि ।

तह भोगे भुंजंतो खणं पि जो उवसमं लभदि ॥१२४५॥

‘जह कोडिल्लो’ यथा कुण्ठेनोपद्रुतः । ‘अग्नि तप्यंतो’ अग्निना बह्यमानमूर्तिरपि । ‘जेव उवसमं लभदि’ जैव व्याभेक्षयामं लभते । न ह्यग्निरुपशामकः कुण्ठस्यापि तु वर्द्धकः । यद्यस्य वृद्धिनिमित्तं न तत्तदुपशामयति । यथा कुण्ठं नोपशामयति वह्निः । वर्धयति चाभिलाषं अवलादिमगमं ‘तह’ तथा । ‘भोगे भुंजंतो’ भोगानुभवनीयत । ‘खणं पि जो उवसमं लभदि’ क्षणमात्रमपि नोपशामं लभते भोगाभिलाषरोगस्य ॥१२४५॥

कण्ठुं कंडुयमाणो सुहाभिमाणं करेदि जह दुःखे ।

दुःखे सुहाभिमाणं मेहुण आदीहिं कुणादि तथा ॥१२४६॥

‘कण्ठुं’ कण्ठुं । ‘कंडुयमाणो’ नलैर्मर्दयन् । ‘सुहाभिमाणं करेदि’ सुहाभिमाणं करोति । ‘जह दुःखं’ यथा दुःखे । ‘तह मेहुण आदीहिं’ तथा मैयुनादिदुःखै रभसालिङ्गने, अघरदशने, उरस्ताम्बने नलैर्निश्चिर्तरङ्ग-च्छेदने कचाकर्षणे । उच्यते च—

नमः प्रेत इवाविष्टः स्वन्नन्निद्यं जवन्नित्यं ।

इवत्तावाङ्मपरिधान्तः स कामी रमते किल ॥१॥ इति ॥ [] ॥१२४६॥

घोसादकीं य जह किमि खंतो मधुरिति मण्णादि वराओ ।

तह दुःखं वेदंतो मण्णइ सुखं जणो कामी ॥१२४७॥

‘घोसादकीं’ घोषातकीं । ‘किमि’ कृमिः । ‘खंतो’ भक्षयन् । ‘बहा मधुरिति’ यथा मधुरमिति मन्यते वराकः । ‘तह’ तथैव । ‘दुःखं वेदंतो’ दुःखमनुभवन् । ‘मण्णवि सोमस’ जणो कामी’ मन्यते कामिजनः सुखं ॥१२४७॥

इसे दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं—

शा०—जैसे कुछ रोगसे पीड़ित व्यक्ति का शरीर आगमें जलने पर भी कुछ रोग शान्त नहीं होता; क्योंकि आग कुछ रोगको शान्त नहीं करती, बल्कि बढ़ाती है। और जो जिसको बढ़ाता है वह उसको शान्त नहीं कर सकता। जैसे आग कुछ रोगको शान्त नहीं करती। उसी प्रकार स्त्रीका संगम स्त्री विषयक अभिलाषाको बढ़ाता है। अतः जो भोगोंके भोगनेमें तत्पर है उसका भोगकी अभिलाषा रूप रोग एक क्षणके लिए भी शान्त नहीं होता ॥१२४६॥

शा०—टी०—जैसे खाजको नखोंसे खुजाने वाला दुःखको सुख मानता है। उसी प्रकार मैयुनके समय वेगपूर्वक आलिंगन, ओष्ठ काटना, छाती मसलना, तोषण नखोंसे धारों नोंचना, केश खीचना आदिसे होने वाले दुःखको कामी सुख मानता है। कहा भी है—कामी पुत्र पिशाच-से ग्रहीत पुत्रकी तरह नग्न होकर स्त्रीके साथ रमण करता है और स्वास तथा धकानसे पीड़ित होकर शब्द करते हुए स्वास लेता है ॥१२४६॥

शा०—जैसे बेचारा कीट घोषा नामक लताको खाते हुए उसे मीठी मानता है उसी प्रकार कामी जन दुःखका अनुभव करते हुए उसे सुख मानता है ॥१२४७॥

सुदृष्टु वि मग्निज्जतो कृत्व वि कयलीए णत्वि जह सारो ।
तह णत्वि सुहं मग्निज्जतो भोगेसु अणं वि ॥१२४८॥

'सुदृष्टु वि' सुदृष्टु अपि । 'मग्निज्जतो' भुज्यमानोऽपि । सारः कवत्वां क्वचिदपि मुखे न्यवेज्जते वा यथा नास्ति तथा भोगेष्वन्विष्यमाणं सुखं न विद्यते ॥१२४८॥

ण लहदि जह लेहंतो सुफसुल्लयमद्वियं रसं सुणहो ।
से सगतालुगरुहिरं लेहंतो मण्णए सुखं ॥१२४९॥

'अथ सुखयो सुफसुल्लयमद्वियं लेहंतो रसं ब्रह्मा वा कृत्ववि' इत्या सुष्कमस्मिन् सिद्ध्यन् सन् यथा रसं न लभते । 'सगतालुगरुहिरं लेहंतो सो लोचनं मण्णवे' तीक्ष्णास्मिच्छिन्नस्वप्तासुगमितक्षिरमास्वाद्यमसुखा-
निर्माणं करोति । 'ब्रह्म लह' यथा तथा । 'पुरितो वा किंचि सुखं लभह' पुरुषो न किंचित्सुखं लभते ॥१२४९॥

महिलादिभोगसेवी ण लहदि किंचिवि सुहं तथा पुरितो ।
सो मण्णवे वराओ सगकायपरिस्समं सुखं ॥१२५०॥

'महिलादिभोगसेवी' स्थाविभोगसेवनीयतः । तथा 'पुरितो वा किंचि वि सुहं लहवि' तथा पुरुषो न किंचिदपि सुखं लभते एव । 'सो वराओ सगकायपरिस्समं लोचनं मण्णवे' स वराकः स्वकायधर्मं तीक्ष्णं मन्यते ॥१२५०॥

अनुभवसिद्धं सुखं कथं नास्तीति क्षम्यते वस्तु इत्यासङ्घ्यं असत्यपि सुखे सुखज्ञानं जगतो भवति विपर्यस्तं सुखकारणस्येति वृष्टान्तोपपत्त्यासेन वदति—

दीसइ जलं व मयतण्हिया हु जह वणमयस्स तिसिदस्स ।
भोगा सुहं व दीसंति तह य रामेण तिसियस्स ॥१२५१॥

'दीसइ वणमयस्स तिसियस्स ब्रह्म जलं मयतण्हिया' वने मूलेण हरिचाविना तृयाभिभूतेन जलकांक्षा-

या०—जैसे अच्छी तरह खोजने पर भी केलेके वृक्षमें मूल मध्य या जन्तमें कहीं भी कुछ सार नहीं है वैसे ही खोजने पर भी भोगोंमें कुछ भी सार नहीं है ॥१२४८॥

या०—जैसे कुत्ता सूखी हड्डीको चबाते हुए रस प्राप्त नहीं करता । किन्तु तीक्ष्ण हड्डीके द्वारा कटे अपने तालुसे भरते हुए रक्का स्वाद लेते हुए सुख मानता है ॥१२४९॥

या०—उसी तरह पुरुष स्त्री आदि विषयभोगमें किञ्चित् भी सुख प्राप्त नहीं करता वह बैचारा अपने शरीरके श्रमको ही सुख मानता है ॥१२५०॥

विषयभोगमें सुख अनुभवसे सिद्ध है आप कैसे कहते हैं कि उसमें सुख नहीं है ऐसी आशंका करने पर इष्टान्त द्वारा कहते हैं कि सुखके नहीं होने पर भी सुखके कारणमें विपरीत बुद्धि होनेसे जगत्को सुखका बोध होता है—

या०—जैसे वनमें हरिण आदि जब प्यासेसे व्याकुल होकर जलकी इच्छा करते हैं तो उन्हें शरीरिका जलके क्षमाण प्रतीत होती है किन्तु हरिणके उसे जल मानने पर भी वह जल रूप नहीं होती । उसी प्रकार रमके प्यासेको भोग सुखकी तरह प्रतीत होते हैं ॥१२५१॥

बटा बलमिव दृश्यते मृगतृष्णिका । न सा मूषेण बलतबोपलब्धेऽपि अर्द्धं भवति । तथा 'रान्नेन तितिवस्त
भोग्या सुहं व बीसति' रागतृष्णितेन भोग्याः सुखमिव दृश्यन्ते ॥१२५१॥

बग्धो सुखेज्ज मद्दयं अवगासेऽण जह मसाणम्मि ।

तह कुणिमदेहसंफंसणेण अबुहा सुहायंति ॥१२५२॥

'बग्धो सुखेज्ज' 'स्मयाने व्याघ्रो मृतकमवशास्य तृप्यति यथा तथा कुषितवेहसंस्पशनेनावुधा सुखाधि-
यमहर्षनिर्गता भवन्ति ॥१२५२॥

मवतु नाम सुखं भोगस्तथापि तदवत्यल्पमिति निबोधयति—

तह अप्यं भोगसुहं जह चावंतस्स अठितवेगस्स ।

गिण्हे उण्हातत्तस्स होज्ज छायासुहं अप्यं ॥१२५३॥

'तथा अप्यं भोगसुहं चावंतस्स अठितवेगस्स भिन्ने उण्हातत्तस्स जहा छायासुहं अप्यं तह अप्यं भोगसुहं'
भावतोऽस्थितवेगस्य ग्रीष्मे उष्माभितप्तस्य यथा मार्गस्वैकतरुच्छायासुखमल्प भोगसुख तथा ॥१२५३॥

अहवा अप्यं आसाससुहं सरिदाए उप्पियंतस्स ।

भूमिच्छिन्नकंगुट्टस्स उम्ममाणस्स होदि सोचेण ॥१२५४॥

'अहवा' अथवा । 'अप्यं' अल्पं । 'आसाससुहं' आश्वास एव सुखं । 'सरिदाए' नद्या । 'उप्पियंतस्स'
निमज्जतः । 'भूमिच्छिन्नकंगुट्टस्स' भूमिस्पृष्टा कुष्ठरस्य । 'सोचेण उम्ममाणस्स' कोतसा प्रवाहेनोद्गमानस्य ।
अल्पं आश्वाससुखं तद्वदिन्द्रियसुखमवत्यल्पमित्यतिक्रान्तेन संबन्धः ॥१२५४॥

इन्द्रियसुखानि यदलम्बपूर्वाणि युक्तो विस्मयस्तत्र तानि सर्वाणि अनन्तवाग्परिभुक्तानि तेषु भुक्तेषु
परित्यक्तेषु न युक्तो विस्मय इति अनादरं जनयति तेषु सूरि —

जावंति केह भोगा पत्ता सज्जे अणंतसुखा ते ।

को णाम तत्थ भोगेसु विमओ लद्धविजडेसु ॥१२५५॥

शा०—जैसे स्मशानमें व्याघ्र मर्देको खाकर सुखी होता है वैसे ही दुर्गन्धिन शरीरके
आलिंगनमें अज्ञानी सुख मानकर हर्षसे भर जाते हैं ॥१२५२॥

भागे कहते हैं कि भोगमें भले ही सुख हो किन्तु वह सुख अति अल्प है—

शा०—जैसे ग्रीष्म ऋतुमें अत्यन्त वेगसे दौड़ते हुए और मध्यकालक सूर्यकी किरणोंसे संतप्त
पुरुषको मार्गमें स्थित एक वृक्षकी छायामें जानेसे थोड़ा-सा सुख होता है वैसे ही भोगमें अति
अल्प सुख है ॥१२५३॥

शा०—अथवा नदीमें डूबते हुए और प्रवाहके द्वारा बहाकर ले जाते हुए मनुष्यको भूमिसे
अंगूठके छू जाने पर जैसा अल्प आश्वास सुख होता है कि मैं तट पर लग जाऊँगा, उसी प्रकार
इन्द्रियजन्य सुख अति अल्प होता है ॥१२५४॥

शा०—यदि इन्द्रिय सुख पूर्वमें कमी प्राप्त न हुए होते तो उनकी प्राप्तिमें हर्ष होना

१. स्मयाने मृतकं शवं मुक्त्वा व्याघ्रस्तृप्यति—आ० ।

'आर्षति केह जीव' वाक्यतः केचन भोगाः । 'ते कस्ये वसा अर्षतकृष्ण के' सर्वे प्राप्ता अनन्तवारं तव । 'को आच स्रव भोगेनु' को नाम तेभु भोगेनु विस्वयः कस्येभुण्णितेभु ॥१२५५॥

भोगतुष्णा निरन्तरं बहति नवन्तं, सेव्यमानाः पुनर्भावास्तामेव तुष्णां बर्द्धयन्ति ततो भोगेष्वां क्षिप्रि-
कतां वेमेति बवति—

जह जह भुंजइ भोगे सह सह भोगेनु बद्धदे तच्छा ।

अग्गीव इंचणहं तच्छं दीर्घिणि से भोगा ॥१२५६॥

'कह कहु भुंजवि भोगे' यथा यथा भोगान्भुङ्क्ते । 'कह तह' तथा तथा । 'भोगेनु बद्धदे तच्छा' भोगेषु बर्द्धते तुष्णा । 'अग्गीव व' अग्नि वा । यथा 'इंचणहं' इंचनामि । 'दीर्घिणि' दीर्घयन्ति । 'तह' तथा । 'कहु' तुष्णां दीपयन्ति । 'से' तस्य भोगतुष्णाः । तथा चोत्तरं—

तुष्णांशितः परिग्रहन्ति न क्षान्तिरानां । इष्टेन्द्रियावधिर्नवीः परिभृद्भिरेव ॥ [बृहत्सचसंभू०] ॥१२५६॥

जीवस्स अत्थि तिची चिरं पि भोगेहिं भुंजमाणेहिं ।

तिचीए विणा चित्तं उच्चूर् उच्चूर् होइ ॥१२५७॥

'जीवस्स' जीवस्य । नास्ति तृप्तिचिरकाक्यमपि भोगाननुभवतः पत्योपममयं कालं भोगभूमौषु बवन्तिवास्तागरोपनकालं अवरेषु । तुष्या च विना चित्तं । 'उच्चूर् उच्चूर्' उत्तूर् उच्चूर्तं भवतीति सूचार्थः ॥१२५७॥

जह इंचणेहि अग्गी जह व सङ्गरो जदीसहस्सेहिं ।

तह जीवा च हु सक्का तिप्पेट्टुं कामभोगेहिं ॥१२५८॥

'कह इंचणेहिं' यवेण्यनैरनिनं तुष्यति । यथा वा समुद्रो नदीसहस्रं । तथा जीवो न शक्यो भोगैस्त-
पयितुं ॥१२५८॥

उचित था, किन्तु उन सबको तुमने अनन्त बार भोगा है । उन भोगकर छोड़े गये विषयोंमें हर्ष मानना उचित नहीं है । इस प्रकार आचार्य विषयोंके प्रति अनादर भाव उत्पन्न करते हैं—जितने संसारके भोग हैं वे सब तुमने अनन्त बार प्राप्त किये हैं उन प्राप्त करके छोड़े गये विषयोंमें आश्चर्य कैसा ? ॥१२५५॥

आगे कहते हैं कि तुम्हें भोगोंकी तुष्णा निरन्तर जलाती है । भोगोंका सेवन उसी तुष्णा-
को बढ़ाता है अतः भोगोंकी इच्छाको कम करो—

वा०—जैसे जैसे भोगोंको भोगते हो वैसे वैसे भोगोंकी तुष्णा बढ़ती है । जैसे इंचनसे आग प्रज्वलित होती है वैसे ही भोगोंसे तुष्णा बढ़ती है । कहा भी है—यह तुष्णारूपी ज्वाला सदा जलाती है, इष्ट इन्द्रियोंके विषयोंसे इनकी तृप्ति नहीं होती, बल्कि बढ़ती है ॥१२५६॥

वा०—तीन पल्लव तक भोगभूमिमें, तीसरा सागर तक देवोंमें इस तरह चिरकाल तक भोगों
को भोगते हुए भी तृप्ति नहीं होती और तृप्तिके बिना चित्त अव्यन्त उत्कण्ठित रहता है ॥१२५७॥

वा०—जैसे इंचनसे आगकी तृप्ति नहीं होती । अथवा जैसे हजारों नदियोंसे समुद्रकी

देविद्वेषकवह्नी य वासुदेवा य भोगभूमिया ।

भोगेहि न तिप्यति इ तिप्यति भोगेसु किह जणो ॥१२५९॥

'देविद्वेष' देवानामधिपतयः, चक्रलाञ्छना वासुदेवा अर्धचक्रवर्तिनः, भोगभूमिजायन् भोगेन तुप्यन्ति । कथमस्यो वनस्तुप्यन्तिमुपेयाद्भोगेः । सुखमामितभोगसाधनादिचरजीविनः स्वतन्त्रावस्थामी । अस्मै तु भवावृक्षा षडरवरजमात्रमपि कर्तुं अक्षमताः स्वल्पायुवः, पराधीनवृत्तयश्च तुप्यन्तीति का कथा ॥१२५९॥

संप्रविचिचितीसु य अज्ज्वरकखणपरिग्महादीसु ।

भोगत्वं होदि करो उद्धुयचित्तो य जणो य ॥१२६०॥

'संप्रविचिचितीसु य' सम्पत्सु विपत्सु च । 'अज्ज्वरकखणपरिग्महादीसु' इत्यस्यालम्बस्याजने, पुण्डीकरणे, राशीहृतस्य रक्षणम् । पर हस्ते विप्रकीर्णस्य ग्रहणे । आदिशब्देन तदग्रचरणे वा । भोगत्वं अनुभवार्थं । अज्ज्वरविपु प्रवृत्तः । 'उद्धुयचित्तो य करो होदि' चल्चित्त उत्कण्ठावाचक भवति नरः । इत्यसम्पदि आतापी रागाच्छल्चित्तं भवति । इविधाविदिनाले कथं जीवामि पुनर्गव्याजनें करोमिति ॥१२६०॥

उद्धुयमणस्स न सुहं सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी ।

पीदीए विणा न रदी उद्धुयचित्तस्य जणस्स ॥१२६१॥

'उद्धुयमणस्स' व्याकुलचित्तस्य 'न सुहं' न सुखं भवति । 'सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी' सुखेन विना कुतो भवति प्रीतिस्तुतिः । 'पीदीए विणा' प्रीत्या विना । 'न रदी' न रतिः । 'उद्धुयचित्तस्स' व्याकुलचेतसः । 'जणस्स' उत्कण्ठावाकिया गृहीतस्य ॥१२६१॥

तृप्ति नहीं होती, जैसे ही भोगोंसे जोवकी तृप्ति नहीं होती ॥१२५८॥

गा०—टी०—देवोंके अधिपति इन्द्र, चक्रवर्ती, वासुदेव अर्थात् अर्धचक्री और भोगभूमिया जीव भी भोगोंसे तृप्त नहीं होते । तब साधारण मनुष्य कैसे भोगोंसे तृप्त हो सकता है ? अर्थात् इनके लिए भोगोंके अपरिमित साधन सुलभ हैं, तथा इनकी आयु भी बहुत होनेसे चिरकालतक ये जीवित रहते हैं और किसीके अधीन न होनेसे स्वतन्त्र होते हैं । आप सरीखे साधारण मनुष्य तो पेट भरनेमें भी असमर्थ और थोड़ी आयुवाले तथा पराधीन होते हैं । अतः उनकी भोगोंसे तृप्ति होनेकी तो बात ही क्या है ? ॥१२५९॥

गा०—सम्पत्ति होनेपर मनुष्य अप्राप्त द्रव्यके कमानेमें, एकत्र हुए द्रव्यके रक्षणमें, दूसरेके हाथमें गई सम्पत्तिको उससे लेनेमें और आदि शब्दसे उसे खर्च करनेमें, तथा भोगनेमें व्याकुल रहता है और विपत्तिमें अर्थात् वन आदिका विनाश होनेपर कैसे मैं जीवित रहूँगा ? कैसे पुनः द्रव्य कमाऊँगा इस उत्कण्ठासे व्याकुल रहता है ॥१२६०॥

गा०—जिसका चित्त व्याकुल रहता है उसे सुख नहीं होता । सुखके विना प्रीति नहीं होती । प्रीतिके विना चित्त नहीं होती । इस तरह जिसका चित्त व्याकुल रहता है और जो उत्कण्ठावृत्ती डाकिनीसे ग्रस्त है उसे सुख कैसे हो सकता है और सुखके विना प्रीति और प्रीतिके विना रति सम्भव नहीं है ॥१२६१॥

जो पुन इच्छति रमिदुं अज्ज्ञप्सुहृन्मि निवृत्तिकरन्मि ।
कुणदि रदि उवसंतो अज्ज्ञप्समा हु णरिषि रदी ॥१२६२॥

'जो पुन इच्छति रमिदुं' यः पुन रमितुं इच्छति । 'जो कुणदि रदि' स करोतु रति । क्व ? 'अज्ज्ञप्सुहृन्मि' अध्यात्मसुखे । 'निवृत्तिकरन्मि' निवृत्तिकरे । 'उवसंतो' उपशान्तरामकोपः । एवमुक्तं भवति—मनो-
ज्ञानोपविषयसन्निधाने स्वसंकल्पहेतुको यी रागद्वेषी ती परित्यज्य निवृत्तितृप्तिकरे अध्यात्मसुखे रति करोतु ।
'अज्ज्ञप्समा' आत्मस्वरूपविषया रतिरध्यात्मज्ञानेनोच्यते । तया सदुची रतिः । 'णरिषि कु' न विद्यते एव ।
कस्मात् भोमरतिरध्यात्मनो रत्या न क्वचिः ॥१२६२॥

कथम् ?

अध्यात्मसाक्षात्कारदी भोमरमणं परायसं ।
भोमरदीय चहदो होदि ण अज्ज्ञप्परमणेण ॥१२६३॥

'अध्यात्मसा' स्वायत्ता । 'अज्ज्ञप्सदी' आत्मस्वरूपविषया रतिः परद्रव्यानपेक्षया । 'भोमरमणं'
भोमरतिः 'परमणं' परायत्ता परद्रव्यालम्बनत्वात् । तेषां च कर्षणिवेव क्षाभिष्यं स्वचिदेव कस्यचिदेवेति ।
एतेन स्वायत्ततया परायत्ततया चासाम्यमाख्यातं । प्रकारान्तरेणापि वैषम्यं दर्शयति । 'भोमरदीय चहदो होदि'
भोमरतया च्युतो भवति । न प्रच्युतो भवति 'अज्ज्ञप्परमणेण' अध्यात्मरत्या ॥१२६३॥

अनेकविधसहिता विनाशिनी च भोमरतिः, अध्यात्मरतेस्तु भाविताया न नाभो नापि विघ्न इति
कथयत्युत्तरमाथा—

भोमरदीय नासो णियदो विग्घा य होति अदिबहुगा ।
अज्ज्ञप्परदीय सुमाचिदाए नासो ण विग्घो वा ॥१२६४॥

भा०-टी०—हे क्षपक ! जो तू रमण करना चाहता है तो रागद्वेषका क्षमन करके परम
तृप्तिकारक अध्यात्म सुखमें रति कर । कहनेका अभिप्राय यह है कि इष्ट और अनिष्ट विषयोंके
प्राप्त होनेपर 'यह अच्छा है और यह बुरा है' इस प्रकारके संकल्पके कारण जो रागद्वेष होते हैं
उन्हें त्यागकर तृप्तिकारक अध्यात्म सुखमें रमण कर । यहाँ अध्यात्म शब्दसे आत्मस्वरूप विषयक
रति कही है । उसके समान कोई रति नहीं है । क्योंकि भोगसम्बन्धी रति अध्यात्म विषयक रति-
के समान नहीं है ॥१२६४॥

भा०-टी०—क्योंकि आत्मस्वरूप विषयक रति अपने अधीन है उसमें परद्रव्यकी अपेक्षा
नहीं है । किन्तु भोग रति पराधीन है क्योंकि उसमें परद्रव्यका अवलम्बन लेना होता है । और
परद्रव्य कभी-कभी ही किसी किसीको ही थोड़े बहुत प्राप्त होते हैं । इससे स्वाधीन और पराधीन
होनेसे दोनोंमें अक्षयानता कही । अन्य प्रकारसे भी दोनोंमें विषमता बतलाते हैं—

भोग रतिते से मनुष्य बंचित हो जाता है किन्तु अध्यात्म रतिते नहीं होता क्योंकि
आत्म इच्छ सर्वत्र सर्वथा और सर्वथा उसके पास रहता है ॥१२६३॥

भोग रतिते अनेक विघ्न रहते हैं और वह नष्ट होने वाली है किन्तु भावित अध्यात्म
रतिका कभी नाश नहीं होता और न उसमें विघ्न आता है, यह आने कहते हैं—

'जोहरवीर' जोहररथाः । 'बिम्बो बालो' नियतो विनाशः । 'विष्णा व हुंति' विष्णारव भवन्ति । 'अविष्णुणा' अतीव बहवः । 'अच्छात्परवीर' अच्छात्पररतेः । 'बुधाविदार' सुख्दु भावितायाः । 'बालो' नासो, न विद्यते । 'विष्णा वा' विष्णा वा न दन्ति । नियतं नक्षरतयाऽनक्षरतया वा बहुविधतया, निविधतया च तयो रत्योर्बैषम्यमिति भावः ॥१२६४॥

इन्द्रियसुख शत्रुतया सङ्कल्पनीयं तथा च तत्रादरो जन्तोनिवृत्तेः अतो अतीन्द्रियसुखत्वमेव वीतरागतत्व-
हेतुके संवरे इति मत्या सूरिचूलागणिराह—

दुःखं उप्पादिता पुरिसा पुरिसस्स होंति जदि सच्च ।

अदिदुःखं कदभाणा भोगा सच्च किहुं ण हुंती ॥१२६५॥

'दुःखं उप्पादिता' दुःखमुत्पाद्य । 'अदि सच्च होंति' यदि शत्रवो भवन्ति । 'पुरिसा पुरिसस्स' पुरुषाः पुरुषस्य । 'अदिदुःखं कुणमाणा भोगा' अतीव दुःख कुर्वन्तो भोगा इन्द्रियसुखानि । 'किव सच्च व हुंति' कथं शत्रवो न भवन्ति भवन्त्येवेति । कथं भोगानां दुःखहेतुता एव मन्यते ? इन्द्रियसुख नाम स्त्रीवस्त्रगन्धमालादि-
परद्रव्यमग्निधानजन्यं । तच्च स्थायिकं दुर्लभतमं निर्द्रवियस्य, तेन तदर्थं कृष्यादिकर्मणि प्रयतितव्यं । ततो महानायासः । इहैव भवानुगामी तु क्षनिमित्तं च कर्म हिमादिषु प्रवर्तमानोऽर्जयति । तदिमं दुरन्ते संसाराम्बोधो निमज्जयति । तत्र च निमग्नेन कतमं दुःखमनेन नावाप्यते ॥१२६५॥

शत्रुतया भोगा इति कथयति—

इहइ परलोगे वा सच्च मित्तत्तणं पुणमुवेति ।

इहइ परलोगे वा सदावि दुःखावहा भोगा ॥१२६६॥

'इहइ' अस्मिन्नेव जन्मनि । 'परलोगे वा' परजन्मनि वा । 'सच्च' शत्रवः । 'मित्तत्तणं' निघतां ।

भा०—भोग रतिका नियमसे विनाश होता है तथा उसमें विघ्न भी बहुत हैं । किन्तु अच्छी रीतिसे भावित अध्यात्म रतिका न विनाश होता है और न उसमें कोई विघ्न आते हैं । इस तरह भोगरति नियमसे नक्षर और बहुत विघ्न वाली है तथा अध्यात्परति निविघ्न और अविनाशी है इसलि ए दोनोंमें कोई समानता नहीं है ॥१२६४॥

आचार्य कहते हैं कि इन्द्रिय सुखको शत्रुके समान मानो । ऐसा करनेसे उनमें जो आदर-
भाव है वह दूर होगा । तथा अतीन्द्रिय सुख ही वीतरागताका कारण होनेसे संवर रूप है—

भा०—टी०—यदि दुःख देने वाले पुरुष पुरुषके शत्रु होते हैं तो अति दुःख देने वाले भोग अर्थात् इन्द्रिय सुख शत्रु क्यों नहीं हैं ? अवश्य हैं । भोग दुःखके कारण क्यों हैं यह विचार करें । स्त्री, वस्त्र, गन्धमाला आदि परद्रव्यके मिलनेसे जो होता है उसे इन्द्रिय सुख कहते हैं । वह स्त्री आदि धनहीनके लिए अत्यन्त दुर्लभ है । अतः धनकी प्राप्तिके लिए कृषि आदि कर्म करना चाहिए । उससे महान् आरम्भ होता है । हिंसा आदिमें प्रवृत्ति करनेमें इसी भव तथा परभवमें दुःख देने वाले कर्मका उपार्जन करता है । और वह कर्म उसे ऐसे संसार समुद्रमें डुवाता है जिसका पार पाना अत्यन्त कठिन है । उस संसार समुद्रमें डूबकर यह जोब कौन दुःख नहीं भोगता ॥१२६५॥

आगे कहते हैं कि भोग सबसे बड़े शत्रु हैं—

भा०—इस जन्ममें अथवा परजन्ममें शत्रु शत्रुताको छोड़कर मित्र बन जाते हैं । अर्थात्

'दुष्कर्मिणी' पुनर्जीकन्ते । सनयः सनुतामपि बहूः । कार्यवशात्, उपकारातिशयसम्पादनाभिपत्त्या वा यान्ति च । याथा न स्फुटयत् । इहैव तथा परलोके वा 'सन्ध्या दुष्कर्मिणी भोगा' सर्वथा दुःखावहा भोगाः । ततः सनुतया इति भावनीयं ॥१२१६॥

एगमिन्नेव देहे करेज्ज दुक्खं च वा करेज्ज जरी ।

भोगा से पुण दुक्खं करति भवकोटिकोटीसु ॥१२१७॥

'एगमिन्नेव देहे' एकस्मिन्नेव देहे । 'करेज्ज दुक्खं' च वा करेज्ज जरी' कुयद्विदुःखं न वा सनुः । 'भोगा पुण' भोगा पुनः । 'से' तस्य । 'दुक्खं करति' दुःखं कुर्वन्ति । 'भवकोटिकोटीसु' अनन्तेषु भवेषु । एवं भोगवैषामवेत्याद्य निधानं त्वया न कार्यं इत्युपविष्टं सूत्रिणा ॥१२१७॥

मधुमेव पिच्छदि जहा तडिज्जोल्लो भ पिच्छदि पपार्द ।

तह सणिदाणो भोगे पिच्छदि च हु दीहसंसारं ॥१२१८॥

'मधुमेव पिच्छदि' मध्वेव पश्यति यथा तटेज्जलम्बमानः । 'च पिच्छदि' न प्रेक्षते । 'पपार्द' प्रपातमात्मनः । 'तह' तथा 'सणिदाणो' निदानसहितः । 'भोगे पिच्छदि' भोगान्प्रेक्षते । 'च हु दीहसंसारं' नैव प्रेक्षते । 'दीहसंसारं' दीर्घसंसारं ॥१२१८॥

जालस्त जहा अंते रमंति मच्छा भयं अयाणता ।

तह संगदिसु जीवा रमंति संसारमणता ॥१२१९॥

'जालस्त' जालस्य । 'अंते' मध्ये । 'जहा मच्छा रमंति' यथा मत्स्या रमन्ते । 'अयमयाणता' भयमनवबुध्यमानाः । 'सह संगदिसु' तथा परिग्रहादिवु । 'जीवा रमंति' जीवा रमन्ते । 'संसारमणता' संसारमणयन्तः ॥१२१९॥

दुक्खेण देवमाणुसभोगे लद्धेण चावि विविडिदो ।

भियदमदीदि कुजोणी जीवो सधरं पउत्थो वा ॥१२२०॥

उपकार आदि करनेसे प्रभावित होकर शत्रु मित्र बन जाते हैं वह भी केवल कहनेके लिए नहीं किन्तु खुले दिलसे मित्र बन जाते हैं । किन्तु भोग इस जन्ममें और परजन्ममें सदा ही दुःखदायी होते हैं । इसलिए वे शत्रुसे भी बड़े शत्रु हैं ॥१२२६॥

शा०—शत्रु एक ही भवमें दुःख दे या न भी दे । किन्तु भोग तो अनन्त भवोंमें दुःख देते हैं ॥१२२७॥

इस प्रकार भोगोंके दोष जानकर हे क्षपकः तुम्हें निदान नहीं करना चाहिए, ऐसा आचार्य उपदेश देते हैं—

शा०—इस प्रकार जैसे कुएँकी दीवारके एक ओर लटका हुआ मनुष्य टपकने वाले मधुकी बूँदोंको ही देखता है किन्तु अपने गिरनेको नहीं देखता । वैसे ही निदान करने वाला भोगोंको तो देखता है किन्तु अपने दीर्घ संसारको नहीं देखता ॥१२२६॥

शा०—वैसे मत्स्य भयको न जानते हुए जालके मध्यमें उछलते-कूदते हैं, वैसे ही जीव संसारको किन्ता न करके परिग्रह आदिमें आनन्द मानते हैं ॥१२२९॥

'दुष्कर्मणः कर्मणः' क्लेशेन लब्ध्वा । 'देवमायुतभोगे' देवान्मानुषांश्च भोभान् । 'परिवर्जितो' परिपतितः प्रभुत्वस्ततो भोगाञ्जीवः । 'कुञ्जोर्णी' विषयमदीर्घि' कुम्भिता योनिं नियतमुपैति । किमिव ? 'सधरं' स्वर्गं, 'वदन्तो वा' प्रवासीव ॥११७०॥

जीवस्स कुञ्जोणिगदस्स तस्स दुक्खाणि वेदयंतस्स ।

किं ते करंति भोगा मदीव वेज्जो मरंतस्स ॥१२७१॥

'जीवस्स कुञ्जोणिगदस्स' कुयोनिगतस्य जीवस्य । 'दुष्कर्मणि वेदयंतस्स' दुःखानि वेदयमानस्य । 'किं ते करंति भोगा' किं ते कुर्वन्ति भोगाः स्त्रीवस्त्रादयः । नैव किञ्चिदपि दुःखलवमपनेतुं क्षमाः । 'मदीव वेज्जो' वीचो मृतो यथा । 'मरंतस्स' त्रियमाणस्य न किञ्चित्तु' क्षमः ॥१२७१॥

जह सुत्तवद्धसउणो दूरं पि मदी पुणो व एदि तहिं ।

तह संसारमदीहि हु दूरं पि मदी णिदानगदी ॥१२७२॥

'जह सुत्तवद्धसउणो' यथा सूत्रेण दीर्घेण वदः पक्षी । 'दूरं पि मदी' दूरमपि गतः । 'पुणो एदि तहिं' पुनरप्येति तमेव देवं । 'तह संसारमदीहि सु' संसारशब्दात्परः सु शब्दो द्रष्टव्यः, ततोऽप्यमर्थ—संगार-मंवाधिगच्छतीति । 'दूरं पि मदी' महद्दिक स्वर्गादिस्थानमुपगत । 'णिदानगदी' निदान परभवसुखातिशये मन प्रणिधानं गतः ॥१२७२॥

कविचतुष्टयः कागमूहे इयता कालेन तव द्रविणं दास्यामि भवदीयमेव तावत्प्रयच्छेति गृहीत्वा ब्रह्म रोधकेभ्यः प्रदाय स्वगूहे सुकं वसन्नपि पुनर्यथा तैश्चतुर्भर्त्सयति तथैव निदानकारी स्वकृतेन पुष्येन परिप्राप्त-स्वर्गोऽपि पुनरधः पततीति निगदति—

इन्द्रिय सुख नियमसे कुयोनियोमें भ्रमण करनेका मूल कारण है क्योंकि अत्यधिक राग-द्वेषकी उत्पत्तिमे निमित्त है । उन कुयोनिओमें उत्पन्न होकर नाना प्रकारके दुःखोंका अनुभव करने वाले जीवके दुःखोंको, देवगति आदिके भोग वस्त्र अलंकार भोजन आदि दूर करनेमे समर्थ नहीं हैं, ऐसा आगे कहते हैं—

गा०—जैसे देशान्तरमें गया व्यक्ति सर्वत्र घूमकर अपने घरको ही जाता है वैसे ही बड़े कष्टसे प्राप्त देव और मनुष्य सम्बन्धी भोगोंको भोगकर उन भोगोंके नष्ट हो जाने पर नियमसे कुयोनिमें जाता है ॥१२७०॥

गा०—जैसे मरा हुआ बैद्य मरते हुएकी रक्षा नहीं कर सकता । वैसे ही कुयोनिमें जाकर उस दुःख भोगते हुए जीवका स्त्री वस्त्र आदि भोग क्या कर सकते हैं ? वे उसका किञ्चित् भी दुःख दूर नहीं कर सकते ॥१२७१॥

गा०—जैसे लम्बे धागेसे बंधा पक्षी सुदूर जाकर भी पुनः वही लौट आता है । वैसे ही परभव सम्बन्धी विषय सुखमें मन लगाने वाला निदानो महान् बुद्धिसे सम्पन्न स्वर्गादि स्थानोंमें जाकर भी संसारमें ही लौट आता है ॥१२७२॥

जैसे कोई जेलखानेमें पड़ा व्यक्ति, में इतना समय बीतने पर तुम्हारा धन तुम्हें लौटा देगा तुम मुझे धन दो, ऐसा बाधा करके धन लेता है और वह धन जेलके रक्षकोंको देकर अपने घरमें सुखपूर्वक निवास करता है किन्तु उसे पुनः कर्ज देने वाले पकड़ लेंते हैं उसी प्रकार निदान करने

दाऊन जाहा अर्थां रोचनसुखको सुहं बरे वसइ ।

पचो समए य पुणो इमइ तह वैव चारणेजो ॥१२७३॥

'दाऊन' दत्ता । 'अर्थां' अर्थ । 'इह' यथा । 'रोचनसुखको' रोचन मुक्तः । 'सुहं बरे वसइ वु' सुखेन गृहे वसति । 'पचो सचये व' प्राप्ते वाचनिकाले । 'पुणो व' मह' पश्चात्प संभ्रते । 'तथा वैव' पूर्ववदेव । 'चारणेजो' अथमर्थः ॥१२७३॥

वाष्टांशिके योजयति—

तह सामण्णं किच्चा किलेससुखकं सुहं वसइ सग्गे ।

संसारमेव गच्छइ तचो य जुदो जिदाणकदो ॥१२७४॥

संभूदो वि जिदाणेण देवसुखं च चक्रवर्तसुखं ।

पचो तचो य जुदो उववण्णो तिरियवासम्मि ॥१२७५॥

'संभूदो वि जिदाणेण' निदानेन संभूतः कश्चित् । 'देवसुखं' देवसुखं । 'चक्रवर्तसुखं' चक्रवर्तसुखं । 'पचो' प्रात् । 'ततो य जुदो' तस्मात्सुखात्संभ्रतः उत्पन्नः । 'उववण्णो' उपपन्नः । 'तिरियवासम्मि' तिरियवासासे ॥१२७४॥

णच्चा दुरंतमद्दयमत्तानमतप्पयं अविस्सायं ।

भोगसुहं तो तम्हा विरदो मोक्खे मदि कुज्जा ॥१२७६॥

'णच्चा' ज्ञात्वा । 'दुरंत' दुरवसानदुःखफलमिति यावत् । 'मद्दयं' अनित्यं । 'अविस्सायं' अभाग्यं । 'अत्तप्पयं' अतर्पकं । 'अविस्सायं' असकृद्वृत्तं । 'भोगसुखं' भोग्यन्ते, सेष्यन्ते इति भोगाः स्थापयः, तैर्चनितं सुखं । 'तो' पश्चात् । 'तम्हा' तस्मात् । भोगसुखात्, दुरन्तादिदुष्टदोषात् । 'विरदो' व्यावृत्तः । 'मोक्खे' मोक्षे

वाला अपने द्वारा किये गये पुण्यसे स्वर्ग प्राप्त करके भी पुनः गिरता है, यह कहते हैं—

शा०—जैसे धन देकर काराघारसे मुक्त हुआ कर्जदार सुखपूर्वक घरमे रहता है । किन्तु कर्ज चुकानेका समय आने पर पुनः पकड़कर बन्द कर दिया जाता है ॥१२७३॥

शा०—बैसे ही मुनिपद धारण करके निदान करने वाला स्वर्गमें क्लेश रहित सुखपूर्वक रहता है और वहाँसे च्युत होकर संसारमें ही भ्रमण करता है ॥१२७४॥

शा०—संभूत नामक व्यक्ति निदानके द्वारा देवगतिके सुख और चक्रवर्तिके सुखको प्राप्त हुआ अर्थात् मरकर सौधमें स्वर्गमें उत्पन्न हुआ और वहाँसे मरकर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती हुआ । उसने पश्चात् मरकर तिर्यङ्गतति (नरक गति) में उत्पन्न हुआ ॥१२७५॥

शा०—जो भोगे जाते हैं उन स्त्री आदिको भोग कहते हैं । उनसे होने वाला सुख ऐसा दुःख वैता है जिसका अन्त होना दुष्कर है, तथा वह भोग जन्य सुख अनित्य है, अरक्षक है, उससे तृप्ति नहीं होती, अर्थात् संसारमें उसे जीवने अनेक बार भोगा है । अतः उससे मनको हटाकर समस्त कर्मके अपायरूप मोक्षमें मन लगाना चाहिए । अर्थात् चारित्र्य और तपका पालन करनेसे

निरवशेषकर्मापाये । 'नविं कुण्डा' मतिं कुर्यात्, अनुष्ठीयमानेन चारित्रेण तपसा वा कर्मजनोऽतीति मतिं कुर्यात्, न निदानं कुर्यादित्यर्थः ॥१२७६॥

निदानदोषं विस्तरत उपबर्ष्य अनिदानत्वे गुणं व्याप्ये—

अग्निदानो य मुणिवरो दंसजगणचरणं विसोवेदि ।

तो शुद्धजगणचरणो तवसा कम्मवस्यं कुणइ ॥१२७७॥

'अग्निदानो य मुणिवरो' अनिदानो यतिवृषभः, 'दंसजगणचरणं' रत्नत्रय, 'विसोवेदि' विद्योक्तव्यति, निदानभावादानतिचार सम्यग्दर्शनं शुद्धं भवति, तस्मिन्निर्मले निर्मलं ज्ञान, निर्मलं विशुद्धज्ञानपुरीषो चारित्र्यं विशुद्धं भवति, 'तवसा कम्मवस्यं कुणवि' तपसा कर्माणि निरवशेषाणि वियोजयत्यात्मनः ॥१२७७॥

इच्छेवमेदमविचितयदो होज्ज हु जिदानकरणमदी ।

इच्छेवं पस्सतो ण हु होदि जिदानकरणमदी ॥१२७८॥

'इच्छेवमेदमविचितयदो' इत्येवमेतद्वस्तुजातं अविचिन्तयत । 'होज्ज हु' भवेदेव, 'जिदानकरणमदी' निदानकरणे बुद्धिः, 'इच्छेवं पस्सतो' इत्येवमेतत्पश्यन्, 'न हु होदि' नैव भवति 'जिदानकरणमदी' निदानकरणमतिः । विवाण ॥१२७८॥

मायासन्लस्सालोयणाघियारम्मि वण्णिदा दोसा ।

मिच्छत्तसन्लदोसा य पुब्बधुववण्णिजया सव्वे ॥१२७९॥

'मायासन्लस्सत्त' मायाशाल्यस्य, 'आलोयणाघियारम्मि' आलोचनाधिकारे 'वण्णिदा दोसा' वज्रिता दोषाः, 'मिच्छत्तसन्लदोसा' मिथ्यात्वशाल्यदोषाश्च । 'सव्वे' सर्वं, 'पुब्बधुववण्णिजया' पूर्वमेव व्यावर्णिता, शाल्यत्रयगतदोषा भवतो व्यावर्णिता इत्यनेन सूरिरेतत्कथयति आबुद्धदाश्लेषं शल्यत्रयं त्वया त्याज्यमिति ॥१२७९॥

मायाशाल्यापरित्यागात्प्रत्यक्षदोषमर्षास्थानेन दर्शयति—

कर्मक्षय होता है ऐसी मति करना चाहिए । निदान नहीं करना चाहिए ॥१२७६॥

विस्तरसे निदानके दोष बतलाकर निदान न करनेमें गुण कहते हैं—

गो०—निदान न करने वाले मुनिवर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य रूप रत्नत्रयको विशुद्ध करते हैं । अर्थात् निदान न करनेसे निरतिचार सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है । सम्यग्दर्शनके निर्मल होने पर ज्ञान निर्मल होता है । और निर्मल विशुद्ध ज्ञान पूर्वक चारित्र्य विशुद्ध होता है । तब विशुद्ध ज्ञान चारित्र्यसे सम्पन्न मुनि तपके द्वारा सब कर्मोंका क्षय करता है ॥१२७७॥

बा०—उक्त प्रकारसे जो वस्तुस्वरूपका विचार नहीं करता उसकी मति निदान करनेमें लगती है । और जो उसका विचार करता है उसकी मति निदान करनेमें नहीं लगती ॥१२७८॥

गो०—आलोचना अधिकारमें मायाशाल्यके दोष कह आये हैं । और मिथ्यात्व शाल्यके दोष पूर्वमें ही कहे हैं । इस प्रकार हे क्षपक ! तीनों शाल्योंके दोष आपसे हमने कहे हैं । अब इन दोषोंको जानकर तुम्हें तीनों शाल्योंका त्याग करना चाहिए । इससे आचार्य क्षपकके प्रति ऐसा कहते हैं ॥१२७९॥

मायाशाल्यका त्याग न करनेसे प्राप्त हुए दोषको दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

कम्बुद्वेषिकाया मायासम्बन्धेन आसि पृथिवी ।

दासी सागरदत्तस पुण्ड्रंता इ विरहा वि ॥१२८०॥

'कम्बुद्वेषिकाया' प्रकृत्यो विनष्टो दीक्षादिमुक्तबुद्धिकाभो यस्याः सा प्रकृत्यद्वेषिकाया । 'आसी' मासीत् । का ? 'पृथीपृथी' पृथिवीसंज्ञिता । 'सागरदत्तस्य दासी' सागरदत्तवैश्यस्य दासी । केन ? 'कम्बुद्वेषिकेण' मायाशक्त्येन । 'पुण्ड्रंता इ विरहा वि' मायासम्बन्धेन कम्बुद्वेषिकाया आसी' इति पदसम्बन्धाः पुष्प-दत्तास्या संयत्ता च मायया प्रकृत्यद्वेषिकाया आसीत् । मायाशक्त्यं ॥१२८०॥

निष्कृतसत्त्वलोसा पियधम्नो साधुवच्छलो संतो ।

बहुदुःखे संसारे सुषिरं वडिहिंजिओ भरीषी ॥१२८१॥

'निष्कृतसत्त्वलोसा' मिथ्यात्वशक्त्यदोषात् । 'पियधम्नो' प्रियधर्मः । 'साधुवच्छलो संतो' साधूनां वत्सलोऽपि सन् मरीचिः । 'संसारे सुषिरं वडिहिंजिओ' संसारे सुषिरं भ्रान्तः, कीदृशे ? 'बहुदुःखे' बहुदुःखे । मिथ्याशक्त्यं ॥१२८१॥

एवं निर्वापकेन सूरिणा संस्तुयमानः साधुवर्गो निर्वाणपुरं प्रविशतीति दर्शयति उत्तरप्रबन्धेन—

इय पञ्चजामिंठि समिदिबइल्लं तिगुत्तिदिद्वयककं ।

रादियमोयणउद्धं सम्मत्तकखं सणाणघुरं ॥१२८२॥

'इय सारमिञ्जलो साधुवत्सलस्यो साधुवचिष्यो संसारमहाद्वारं तरति' पदघटना । व्यावर्णितक्रमेण संस्क्रियमाणः साधुमुन्दसार्थः संसारमहाद्वारो तरति । 'पञ्चजामिंठिमालहिय पण्डो' प्रव्रज्याभण्डिमालहय प्रस्थितः, 'समिदिबइल्लं' समितिबलीवद्दृ, 'तिगुत्तिदिद्वयककं' तिगुत्तिद्वयकका, 'सम्मत्तकखं' सम्मत्त्वाकां, 'सणाणघुरं' समीचीनज्ञानध्वंसी ॥१२८२॥

श्री०—पुष्पदन्ता नामकी आर्यिका आर्यिका होनेपर भी मायाशक्त्यके कारण दीक्षाके अभिमुख होनेकी बुद्धिके लाभसे भ्रष्ट होकर सागरदत्त वैश्यके घरमें पूतिमुखी नामकी दासी हुई ॥१२८०॥

विज्ञेयार्थ—इसकी कथा बृहत्कथाकाशमें ११० नम्बरपर कही है ॥१२८०॥

मायाशक्त्यका वर्णन हुआ ।

श्री०—धर्मप्रेमी और साधुओंके प्रति वात्सल्यभाव रखनेवाला मरीचिकुमार मिथ्यात्व-शक्त्य दोषके कारण बहु दुःखपूर्ण संसारमें भ्रमता हुआ ॥१२८१॥

विज्ञेयार्थ—यह मरीचिकुमार भरतका पुत्र था जो महावीर तीर्थंकर हुआ । भगवान् आदिनाथके मुखसे अपना तीर्थंकर होना सुनकर यह भ्रष्ट हो गया था ॥१२८१॥

आगे कहते हैं कि इस प्रकार निर्वापकाचार्यके द्वारा संस्तुत साधुवर्गके साथ क्षपक मोक्ष-नगरमें प्रवेश करते हैं—

श्री०—इस प्रकार क्षपकसाधुरूपी व्यापारी दीक्षारूपी गाड़ीपर साधुओंके संघके साथ चढ़कर निर्वाणरूपी शौडके लिए सिद्धिपुरीकी ओर प्रस्थान करता है । उस दीक्षारूपी गाड़ीमें

१. 'इयसागरमिञ्जलो साधुमुन्दसार्थः संसारमहाद्वारो तरति'—आ० ।

बदमंडमरिदभाकश्चिदसाधुसत्त्वेण परिच्यो समयं ।

निष्काममंडहेतुं सिद्धपुत्रीं साधुवाणियजो ॥१२८३॥

'बदमंडमरिदं' व्रतमाह्यपूर्वम् । 'साधुसत्त्वेण परिच्यो समयं' साधुसत्त्वेण सह प्रत्येतः । किं प्रति ? तिष्ठिपुरं । 'निष्काममंडहेतुं' निर्वाणप्रव्यनिमित्तं । 'साधुवाणियजो' कथकसाधुवाणिक ॥१२८३॥

आयरियसत्थवाहेण णिच्चजुत्तेण सागविज्जंतो ।

तो साधुवग्गसत्थो संसारमहाडविं तरह् ॥१२८४॥

'आयरियसत्थवाहेण' आचार्यसार्धवाहेण । 'णिच्चजुत्तेण' सर्वधानपायिना । 'सारविज्जंतो' 'संख् य-
माणः ॥१२८४॥

तो भावणादियंतं रक्खदि तं साधुसत्थमाउषं ।

इदियचोरेहिंतो कसायवहुसावदेहिं च ॥१२८५॥

'तो' ततः । 'भावणादियंतं रक्खदि' भावनादिभिः प्रयत्नं रजति । 'तं साधुसत्त्वं' तं माधुसायं । 'आउषं' आयुक्तं आरमना । कृतो रक्षाति इत्याद्यङ्काया उत्तरं—'इदियचोरेहिंतो' इन्द्रियचोरेभ्यः । 'कसाम-
वहुसावदेहिं चा' कषायबहुदापदेभ्यश्च ॥१२८५॥

विसयाडवीए मज्जे ओहीणो जो पमाददोसेण ।

इदियचोरा तो से चरिसमंडं विलुंपति ॥१२८६॥

'विसयाडवीए मज्जे' स्वर्णरसकृष्णगन्धस्वादविषया अटवीव से दूरतिकाग्रमणीया । तस्या विषया-
टव्या मध्ये । 'ओ ओहीणो' य. साधुरसूतः । 'पमाददोसेण' प्रमादात्त्वेण दोषेण । 'इदियचोरा' इन्द्रियात्स्वा-
श्चोराः । 'से' तस्यापसूतस्य साधुवाणिक । 'चरिसमंडं' चरित्रभाण्डं । 'विलुंपति' अपहरन्ति । सप्तहित-
मनोज्ञामनोज्ञविषयजाः इन्द्रियमत्स्यनुयायिनो रागद्वेषाश्चारित्र्य विनाशयन्ति प्रमादिनः । आचार्यस्तु ध्याने
स्वाध्याये प्रवर्तयन् प्रमादमपसारयतीति नेन्द्रियचोरेर्बन्ध्यते इति भावः ॥१२८६॥

समितिरूपी बेल जुड़े हैं, तीन गुप्तिरूपी उसके मज्जबूत चक्के हैं । रात्रि भोजनसे निवृत्तिरूप दो दीर्घ दण्डे हैं । सम्यक्त्वरूपी अक्ष है समीचीनज्ञानरूपी घुरा है ॥१२८२-८३॥

शा०—आचार्य उस संघके नायक है जो निरन्तर सावधान है । उनके द्वारा बार-बार सन्मार्गमें लगाया गया वह आराधक साधु समुदाय संसाररूपी महावनको पार करता है ॥१२८४॥

शा०—वह संघर्षाति आचार्य अपने द्वारा भावना आदिमें नियुक्त उम साधु समुदायकी इन्द्रियरूपी चोरोसे और कषायरूपी अनेक जंगली हिंसक जानवरोंसे रक्षा करता है ॥१२८५॥

शा०—टी०—स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द आदि विषय अटवीके समान बड़े कष्टसे लांघे जाते हैं इसलिए उन्हें अटवी (घोर वन) की उपमा दी है । उस विषयरूपी अटवीके मध्यमे जो साधु प्रमाद दोषसे जाता है उसके चारित्ररूपी घनको इन्द्रियरूपी चौर घुरा लेते हैं । अर्थात् प्राप्त इष्ट अनिष्ट विषयोंको लेकर इन्द्रिय बुद्धिके अनुसार उत्पन्न हुए रागद्वेष उस प्रमादी मुनिके चारित्रको नष्ट कर देते हैं । किन्तु आचार्य ध्यान और स्वाध्यायमें लगाकर प्रमादोंको दूर करता

अहवा तन्मिलच्छाद् कुराद् कसायसावदेर्हि च ।
खज्जति असंयमसावदाहि संकिलेसावदेर्हि ॥१२८७॥

'अहवा' अथवा । 'तन्मिलच्छाद्' अपसृष्टकर्मनिष्ठावन्तः । 'कुराद्' कुराः । 'कसायसावदाद्' कषाय-
व्याकम्पाः । तं अपसृष्टं । 'खज्जति' बलयेयुः । 'असंयमसावदाहि' असंयमसंबन्धुभिः । 'संकिलेसावदेर्हि'
संकेसावदेर्वैश्व । इन्द्रियाणां कषायाणां वा बन्धे निपतत्यसति निर्वापके सूरामिति भावः ॥१२८७॥

तद्योरिन्द्रियकषाययोः प्रवृत्तिरनेकयोपमूकेति कथयति—

ओसण्णसेवणाओ पडित्सेवतो असंजदो होइ ।
सिद्धियहपच्छिदाओ ओहीणो साधुमत्त्वादो ॥१२८८॥
इंदियकसायगुक्कमचण्णेण सुहसीलभावियो समणो ।
करणाळसो भविचा सेवदि ओसण्णसेवाओ ॥१२८९॥

'इ' इन्द्रियकषायसम्बन्धेन' तीव्रेन्द्रियकषायपरिक्लमत्तवा । 'सुहसीलमार्तवयो समणो' सुसप्तमाधिभाषितः
श्रमणः । 'करणाळसो' प्रयोदशविधासु क्रियासु बलवतः । 'भविष्म' भ्रुत्वा । 'सेवदि' सेवते । 'ओसण्णसेवाओ'
अवसम्भवेवाः भ्रष्टचारिणाणां क्रियासु प्रवर्तते इति यावत् । ओसण्णो ॥१२८९॥

केई महिदा इंदियचोरेर्हि कसायसावदेर्हि वा ।
पंचं छंडिय जिज्जति साधुसत्त्वस्स पासम्मि ॥१२९०॥

'केई महिदा इ' स्विकचोरेर्हि' केचिद्ब्रूहिता इन्द्रियचोरेः । 'कसायसावदेर्हि' सहा' तथा कषायव्यापयवैश्व
ब्रूहिताः । 'साधुसत्त्वस्स पंचं छंडिय' साधुसार्धत्व पन्धानं त्यक्त्वा । 'पासम्मि जिज्जति' पासर्व
याम्ति ॥१२९०॥

है इसलिए इन्द्रिय चोर नहीं सताते, यह उक्त कथनका भाव है ॥१२८६॥

शा०—अथवा उस विषयरूपी अटवीमें फँसे हुए लोगोंको खानेके इच्छुक क्रूर कषायरूपी
सिंहादि उम आगत साधुको असंयमरूपी दाढोसि और रागद्वेष मोहरूपी दाँतसि खा जाते हैं ।
कहनेका भाव यह है कि निर्वापकाचार्यके अभावमें क्षपक इन्द्रियों और कषायोंके फन्देमें फँस
जाता है ॥१२८७॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय और कषायकी प्रवृत्ति अनेक दोषोंका मूल है—

शा०—जो साधु चारित्र्य भ्रष्ट साधुओंकी क्रिया करता है वह असंयमी होकर साधुओंके
संबन्धे बाहर हो जाता है और मोक्षमार्गसि दूर हो जाता है ॥१२८८॥

शा०—इन्द्रिय और कषायरूप तीव्र परिणाम होनेसे सुसपूर्वक समाधिमें लगा साधु तेरह
प्रकारकी क्रियाओंमें आलसी होकर चारित्र्य भ्रष्ट साधुओंकी क्रिया करने लगता है ऐसा साधु
अवसन्न कहलता है ॥१२८९॥

शा०—कौई साधु इन्द्रियरूपी चोरों और कषायरूपी हिंसक जीवोंके द्वारा पकड़े जाकर
साधु संघके मार्गको छोड़कर साधुओंके पार्श्ववर्ती हो जाते हैं । साधु संघके पार्श्ववर्ती होनेसे इन्हें
पार्श्व वा पार्श्वत्व कहते हैं ॥१२९०॥

सो साधुसत्त्वबंधं छंडिय पासमि भिज्जमाणा ते ।

मारवमहिज्जकुडिस्से पडिदा पार्वेति दुक्खाणि ॥१२९१॥

'सो साधुसत्त्वबंधं' साधुसार्वस्य पन्थानं । 'छंडिय' त्यक्त्वा । 'पासमि' पार्वेति । 'भिज्जमाणा ते' जीवन्मात्से । 'मारव महिज्ज कुडिस्से' चिरच्छदिरससातवीरवसम्भूत्ते गहने । 'पडिदा' पतिताः । 'पार्वेति' प्राप्नुवन्ति । 'दुक्खाणि' दुःखानि ॥१२९१॥

सत्त्वविसकंटएहिं विद्धा पडिदा पडंति दुक्खेसु ।

विसकंटयविद्धा वा पडिदा अहवीए एगामी ॥१२९२॥

'सत्त्वविसकंटएहिं विद्धा' मिथ्यात्वमायानिदानशस्यकष्टकैर्वा विद्धाः 'पडिदा' पतिताः । 'दुक्खेसु पडंति' दुःखेषु पतन्ति । 'विसकंटयविद्धा अहवीए एगामी पडिदा इव' विषकष्टकेन विद्धा अटव्यामेकाकिनः पतिता यथा दुःखेषु पतन्ति तथैवेति वाष्टान्तिके योजना ॥१२९२॥

बंधं छंडिय सो जादि साधुसत्त्वस्स येव 'पासाओ ।

जो पडिसेवदि पासत्त्वसेवजाओ हु जिद्धम्मो ॥१२९३॥

साधुसार्वस्य पन्थानं त्यक्त्वा कस्य पार्वेति याति यस्यामी दोषा व्यावृत्ताः—गौरवगहने पातः शस्य-विषकष्टकवैषादयश्चेत्याशङ्कायां वदति । 'बंधं छंडिय साधुसत्त्वस्स सो जादि' परित्यज्य साधुसार्वस्य पन्थान-मसी याति । 'पासमि' पार्वेति । 'जो पडिसेवदि' यः प्रसिसेवते, 'पासत्त्वसेवजाओ हु' पार्वस्यसेवनाः, 'जिद्धम्मो' धर्मचरितं तस्मात्पगतः, धर्मावपगतः सन्पार्वस्वाचरणीयानु क्रियानु प्रवर्तते ॥१२९३॥

सर्वं कर्म निर्धर्मता तस्येत्याशङ्क्य वदन्ति—

इ'दियकसायगरुक्खत्तेज चरुणं त्थणं व पस्संतो ।

जिद्धम्मो हु सविष्ठा सेवदि पासत्त्वसेवाओ ॥१२९४॥

'इ'दियकसायगरुक्खत्तेज' इन्द्रियकषादविषवैरीरवाण्य रागद्वेषपरिणामयोः क्रोधादिपरिणामानां च

शा०—साधु समूहके मार्गको छोड़कर पार्वस्व मुनिपनेको प्राप्त हुए वे श्रद्धिगौरव, रस-गौरव और सातगौरवसे भरे गहन वनमें पड़कर तीव्र दुःख पाते हैं ॥१२९१॥

शा०—अथवा जैसे बिचले काँटोंसे बिचे हुए मनुष्य अटवीमें अकेले पड़े हुए दुःख पाते हैं, वैसे ही मिथ्यात्व माया और निदानशस्यरूपी काँटोंसे बीचे हुए वे पार्वस्व मुनि दुःख पाते हैं ॥१२९२॥

शा०—वह पार्वस्व मुनि साधु संघका मार्ग त्यागकर ऐसे मुनिके पास जाता है जो चारित्रसे भ्रष्ट होकर पार्वस्व मुनियोंका आचरण करता है ॥१२९३॥

वह मुनि चारित्र भ्रष्ट क्यों है ? इसका उत्तर देते हैं—

शा०—टी०—इन्द्रिय, कषाय और विषयोंके कारण रागद्वेषरूप परिणामों द्वारा क्रोधादि

१. पासमि—व० ।

दीप्तत्वात् । 'चरत्' चारित्, 'त्वं व' तुषन्निच, 'कस्ततो' पञ्चन् रोगाद्योऽन्येषुनपरिणामास्तत्त्वज्ञानस्य
अधिकम्पकस्तेन सकृन्तुं ज्ञानचारितं निस्सारनिच पश्यति, तत एव तथाकृत्वायः चारिणावपैतीति सिद्धं-
तास्य । ततः पार्ष्वस्थेषासु पश्यते । 'पक्षयो' ॥१२९४॥

इं दियचोरपरद्धा कस्तयसावदमद्य वा केई ।

उम्मागेण पक्षयति साधुसत्त्वस्स दुरेण ॥१२९५॥

'इं दियचोरपरद्धा' इन्द्रियचोरकृतीपरद्धाः । 'कस्तयसावदमद्य वा केई' कषायम्यालमुगमयेन वा
केचित् । 'उम्मागेण' उन्मार्गेण 'पक्षयति' पक्षायनं कुर्वन्ति । 'साधुसत्त्वस्स दुरेण' साधुसार्त्थस्य दुरात् ॥१२९५॥

तो ते कुसीलपडिसेवनावने उप्पवेण चावंता ।

सण्णाणदीसु पडिदा किल्लसोदेण बुद्धति ॥१२९६॥

'तो' ततः साधुसार्थाद्दुरावपयुताः, 'कुसीलपडिसेवनावने' कुसीलप्रतिसेवनावने, 'उप्पवेण' उन्मार्गेण ।
'चावंता' चावन्तः । 'सण्णाणदीसु' संज्ञानदीसु । 'पडिदा' पडिताः । 'किल्लसोदेण' क्लेशस्रोतसा । 'बुद्धति'
ते बुद्धन्ति ॥१२९६॥

सण्णाणदीसु उट्ठा बुद्धा बाहं क्हंपि अलहंता ।

तो ते संसारोदधिमदंति बहुदुक्खमीसम्मि ॥१२९७॥

'सण्णाणदीसु उट्ठा' संज्ञानदीभिराकृष्टाः संतो निर्मन्नाः 'बाहं' अवस्थानं 'क्हंपि' क्वचिदपि 'अलहंता'
अलभमानाः । 'तो' पश्चात् । 'संसारोदधिमदंति' संसारसागरं प्रविशन्ति । 'बहुदुक्खमीसम्मि' बहुदु-
खमीष्वं ॥१२९७॥

आसागिरिदुग्गाणि य अदिगम्म तिदंडकक्खडसिलसु ।

उल्लोद्धिदपम्मद्दा सुप्पति अणंतयं कालं ॥१२९८॥

परिणामोके तीव्र होनेसे वह चारित्रको तुणके समान मानता है । क्योंकि रागादिरूप अशुभ
परिणाम तत्त्वज्ञानके प्रतिबन्धक होते हैं । अतः उसका ज्ञान दूषित होनेसे वह चारित्रको सार-
हीन मानता है । इसीसे वह उसमें आदरभाव न रखनेके कारण चारित्रसे च्युत होता है । इसीसे
उसे चारित्र भ्रष्ट कहा है । चारित्र भ्रष्ट होकर वह पार्ष्वस्थ मुनियोंकी सेवामें लग जाता है ।
यह पार्ष्वस्थ मुनिका कथन है ॥१२९४॥

श्री०—अथवा कोई मुनि इन्द्रियरूपी चोरोसे पीड़ित होकर कषायरूप हिंसक प्राणियोंके
भयसे साधु संघसे दूर होकर उन्मार्गमें चले जाते हैं ॥१२९५॥

श्री०—साधु संघसे दूर होकर वे मुनि कुशील प्रतिसेवनारूप वनमें उन्मार्गसे दौड़ते हुए
आहार भय मेषुन परिग्रहरूप संज्ञानदीमें गिरकर कष्टरूपी प्रवाहमें पड़कर डूब जाते हैं ॥१२९६॥

श्री०—संज्ञारूप नदीमें डूबनेपर उन्हें कहीं भी ठहरनेका स्थान नहीं मिलता अतः वे
बहुत दुःखीसे भयानक संसार समुद्रमें प्रवेश करते हैं ॥१२९७॥

श्री०—संसार समुद्रमें प्रवेश करनेपर आशारूपी पहाड़ोंको काँधते हुए मन-बचन-कायकी
८१

'आशाभिरिच्छन्ति य' आशाभिरिच्छन्ति य । 'अभियन्' अतिक्रम्य । 'सिद्धकर्मकडसितासु' विप्लवक-
कर्मकडसितासु । 'अभ्योधि' 'अभ्यन्' अथलुपिताः सन्तः प्रप्रष्टाः 'अभ्यो' भगवन्ति । 'अभ्यो' 'अभ्यो' 'अभ्यो' 'अभ्यो'
कां ॥१२९८॥

बहुधावकम्मकरजाडवीसु महदीसु विप्लवहा वा ।

अरिद्विभ्युदियथा भमति सुचिरं वि तत्त्वेव ॥१२९९॥

'बहुधावकम्मकरजाडवीसु' बहुविधान्यशुभकर्माभ्येवाटव्यं । तासु 'महदीसु' दीर्घासु । 'विप्लवहा' विप्र-
पत्ताः । 'अरिद्विभ्युदियथा' अद्विभ्युदियथाः । 'भमति' भ्रमति । 'सुचिरं' सुचिरमपि । 'तत्त्वेव'
तत्त्वेव ॥१२९९॥

दूरेण साधुसत्त्वं छन्दिय सो उप्येषेण सु पलादि ।

सेवदि कुशीलपडिसेवजाओ जो सुतदिद्वाओ ॥१३००॥

'दूरेण साधुसत्त्वं' दूरतसाधुसायं । 'छन्दिय' त्यक्त्वा । 'सो' सः । 'उप्येषेण सु' उन्मार्गेण । 'पलादि'
पलायते । 'सेवदि कुशीलपडिसेवजाओ' सेवते कुशीलपडिसेवजाः । 'जो' यः । 'सुतदिद्वाओ' सुत-
निदिष्टाः ॥१३००॥

इं दियकसायगुक्तात्तणेन चरणं तणं व पस्संतो ।

विण्णसो भविषा सेवदि हु कुशीलसेवाओ ॥१३०१॥

'इं दियकसायगुक्तात्तणेन' इन्द्रियकसायपरिणामानां गुक्त्वेन । 'चरणं तणं व पस्संतो' चरणं तुणमिन्
पश्यन् । 'विण्णसो भविषा' बह्वीको भूत्वा । 'सेवदि' सेवते कुशीलसेवाः ॥ कुशीला ॥१३०१॥

सिद्धिपुरसुचन्तीया वि केद्द इंदियकसायचोरेदि ।

पविलुचचरणमंडा उवइदमाणा विवट्टति ॥१३०२॥

पुष्पवृत्तिरूप सिलाजोपर सुदकते हुए गिरकर अनन्तकाल बिताते हैं ॥१२९८॥

विशेषार्थ—पहले वे उत्तरगुण छोड़ते हैं फिर मूलगुण और सम्यक्त्वसे भी प्रष्ट होकर
संसारमें भ्रमण करते हैं ॥१२९८॥

वा०—अनेक प्रकारके अनुभूकरूप सुदीर्घ अटवीमें सटकते हुए वे निर्वाणका मार्ग कभी
देखा न होनेसे चिरकालतक वहीं भ्रमण करते रहते हैं ॥१२९९॥

वा०—वे दूरसे ही साधुसंगको त्यागकर कुमार्गमें दीबते हैं । और आगममें कहे कुशील
मुनिके दोषोंको करते हैं ॥१३००॥

वा०—इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंकी तीव्रताके कारण चारित्रको तुणके समान
मानते हैं और निर्लज्ज होकर कुशीलका सेवन करते हैं ॥१३०१॥

इस प्रकार कुशील मुनिका कथन हुआ ।

वा०—कोई-कोई मुक्तिपुरीके निकट तक जाकर भी इन्द्रिय और कषायरूपी चोरेके
द्वारा चारित्ररूपी वन बुराये जानेपर संयमका अभिमान त्यागकर उससे लौट आते हैं ॥१३०२॥

'सिद्धिपुरमुक्तालीया वि' सिद्धिपुरमुक्तालीयां अपि । 'केई' केचित् । 'इदियकसायकोरेई' इन्द्रियकसाय-
कोरेः । 'अचिपुसचरणमंडा' अपहृतचारित्रमाण्डाः । 'उबहुवमाणा' उपहृताभिमाना । 'निबद्धति' निब-
ध्नुते ॥१३०२॥

तो ते सीलदरिद्रा दुक्खमणंतं सदा वि पावंति ।

बहुपरियणो दरिद्रो पावदि सिव्वं जवा दुक्खं ॥१३०३॥

'सी' पश्चात् । 'ते सीलदरिद्रा' ते सीलदरिद्राः । 'दुक्खं' दुःखं । 'अणंतं' अन्तातीतं । 'सदा वि
पावंति' सदा प्राप्नुवन्ति । 'बहुपरियणो' बहुपरिजनो । 'दरिद्रो' दरिद्रः । 'पावदि दुक्खं' सिव्वं प्राप्नोति
दुःखं तीव्रं यथा ॥१३०३॥

तो होदि साधुसत्थादु णिग्गदो जो भवे जथाछंदो ।

उत्सुत्तमणुवदिदुं च जधिच्छाए विकप्पंतो ॥१३०४॥

'तो होदि' स भवति । 'साधुसत्थादु णिग्गदो' साधुसार्थान्निवृत् । 'जो भवे जथाछंदो' यो भवति
स्वेच्छावृत्तिः । 'उत्सुत्तं' उत्सृज् । 'अणुवदिदुं' अनुपदिष्टं च स्वविरः । 'जधिच्छाए विकप्पंतो' यथेच्छया
विकल्पयन् ॥१३०४॥

जो होदि जथाछंदो तस्स षण्दिदपि संजमितस्स ।

णत्थि दु चरणं चरणं सु होदि सम्मत्तसहचारी ॥१३०५॥

'जो होदि जथाछंदो' यो भवति स्वेच्छावृत्तिः । 'तस्स षण्दिदपि संजमितस्स' तस्य नितरामपि संयमे
प्रवर्तमानस्य । 'णत्थि दु' नास्त्येव । 'चरणं' चारित्रं । 'चरणं सु होदि सम्मत्तसहचारी' सम्यक्त्वसहचार्येव
यथेचचारित्रं । स्वच्छन्दवृत्तेस्तु यत्किञ्चित्चारिकल्पयतः मूत्रमनैनुसरतः नैव सम्यग्दर्शनमस्ति । तदन्तरेण सम्य-
क्चारित्रं नैव भवति ॥१३०५॥

इदियकसायगुरुगच्छणेण सुचं पमाणमकंग्तो ।

परियाणेदि जिणुचे अत्थे सच्छंददो वेव ॥१३०६॥

भा०—पश्चात् वे शीलसे दरिद्र मुनि सदा अनन्त दुःख पाते हैं । जैसे बहुत परिवारवाला
दरिद्र मनुष्य तीव्र दुःख पाता है ॥१३०३॥

अथ यथाच्छन्द मुनिका स्वरूप कहते हैं—

भा०—साधुसंबन्धे निकलकर जो पूर्वाचार्योके द्वारा नहीं कहे आगम विरुद्ध मार्गकी अपनी
इच्छानुसार कल्पना करता है वह यथाच्छन्द मुनि होता है ॥१३०४॥

भा०—टी०—जो स्वच्छन्दचारी मुनि होता है वह संयममें अत्यन्त प्रवृत्ति भी करे तो भी
उसका चारित्र चारित्र नहीं है क्योंकि सम्यक्त्वके साथ जो चारित्र होता है वही चारित्र होता
है । जो स्वच्छन्दचारी होता है वह तो जो उसकी इच्छा होती है तदनुसार आचरण करता है ।
यादृक्का अनुसरण नहीं करता, अतः उसके सम्यग्दर्शन नहीं है । और सम्यग्दर्शनके विना
सम्यक्चारित्र नहीं होता ॥१३०५॥

'इदिकसायवसिया' कथायासगुरुकृतत्वेन सूत्रमप्रमाणयन् । 'परिभाषेभि' अन्यथा गृह्णाति ।
'जिणुत्तौ ज्ञाने' जिनोक्तानुवायान् । 'सच्छब्दो वेध' रवेच्छान्निप्रायेणैव ॥ १३०६ ॥

इ'दियकसायदोसेहि' अथवा सामण्यजोगपरिततो ।

जो उव्वायदि सो होदि णियचो साधुसत्थादो ॥ १३०७ ॥

'इ'दियकसायदोसेहि' इन्द्रियकथायधोर्व । 'अथवा सामण्यजोगपरिततो' अथवा सामान्ययोगेन दान्तः ।
'जो उव्वायदि' यथाचारिणाध्यवर्ते । 'सो होदि' स भवति । 'भवतो साधुसत्थादो' निवृत्तः साधु-
सार्थात् ॥ १३०७ ॥

इ'दियकसायवसिया केई' ठाणाणि ताणि सव्वाणि ।

पाविज्जंते दोसेहि तेहि सव्वेहि संसत्ता ॥ १३०८ ॥

'इ'दियकसायवसिया' इन्द्रियकथायवसया । 'केई' केचित् । 'ठाणाणि ताणि सव्वाणि' तान्यगृहभस्था-
नपरिणामानि । 'पाविज्जंति' प्राप्यन्ते । 'दोसेहि तेहि सव्वेहि संसत्ता' दोषस्त सर्वे संसत्ता ।
संसत्ता ॥ १३०८ ॥

इय एदे पंचविधा जिणेहि सवणा दुगुंच्छिदा सुचे ।

इ'दियकसायगुरुयत्तणेण णिच्चंपि पडिक्खुद्धा ॥ १३०९ ॥

पासत्थातिगवं ॥ १३०९ ॥

दुट्ठा चवला अदिदुज्जया य णिच्चं पि समणुबद्धा य ।

दुक्खावहा य भीमा जीवणं इ'दियकसाया ॥ १३१० ॥

'दुट्ठा' दुष्टा आत्मोपद्रवकारित्वात् । 'चवला' अनवस्थितत्वात् । 'अदिदुज्जया य' अतोव युज्याः अनु-
पलम्बचारिणमोहसायोपशमप्रकर्षेण जीवेन दुःखेन अभिभूयन्ते इति । 'णिच्चंपि' नित्यमपि । 'समणुबद्धा य'

शा०—इन्द्रिय और कषायोंकी प्रबलताके कारण वह आगमको प्रमाण नहीं मानता ।
और अपनी इच्छाके अनुसार जिनभगवान्के द्वारा कहे गये अर्थको विपरीतरूपसे ग्रहण करता
है ॥ १३०६ ॥

शा०—इन्द्रिय और कषायोंके दोषसे अथवा सामान्य योगसे विरक्त होकर जो चारित्रसे
गिर जाता है वह साधु संगसे अलग हो जाता है ॥ १३०७ ॥

अब संसक्त मुनिका स्वरूप कहते हैं—

शा०—इन्द्रिय और कषायोंके वशमे हुए कोई मुनि उन सब दोषोंमें संसक्त होकर उन सब
अधुम स्थान रूप परिणामोंको प्राप्त होते हैं ॥ १३०८ ॥

शा०—इस प्रकार ये पाँच प्रकारके मुनि जिन भगवान्के द्वारा आगममें निन्दनीय कहे
हैं । ये इन्द्रिय और कषायोंकी प्रबलता होनेसे नित्य ही जिनागमसे विमुख रहते हैं ॥ १३०९ ॥

शा०—टी०—इन्द्रिय और कषायरूप परिणाम बडे दुष्ट हैं क्योंकि ये आत्माने उपद्रव पैदा
करते हैं । अनवस्थित होनेसे चपल हैं । इनको जीतना अति कठिन है क्योंकि जिस जीवके चारित्र-

सम्बन्धनुद्धारकारिणभोहोवयस्य स्वकारणस्य सदा सञ्जावात् । नित्यावबेत्कथं चपलाः । नित्यशब्दो ध्रौव्ये न प्रयुक्तः कित्त्वनीत्ये मुहुर्मुहुर्नृमृदा इत्यर्थः । चपलता तु परिणामाना अनवस्थितत्वं अतो न विरोधः । 'दुःखा-
न्नाह' दुःखावहाय च । 'जीवाण' जीवानां । अस्मिन्तमोनाकारे प्राप्तस्य नाशाय महत् दुःखमित्यनुभवसिद्ध-
मेव सर्वप्रायभृता । कण्वास्तु क्रोधाद्यः कषायन्ति' हृदयं । अथवा दुःखकारणासङ्घातननिमित्तत्वात्
दुःखावहाः । इन्द्रियकषायवशमो जीवान् हिनस्ति । दुःखकारणेन वासवयसद्वेषे इति । यत एव दुःखावहा
अतएव शीमाः । 'इन्द्रियकषाया' इन्द्रियकषायपरिणामाः ॥१३१०॥

दुःखेणैवपि पियंशो वत्थो जह वादि पृथियं गंधं ।

तच्च दिक्खिदो वि इन्द्रियकषायगंधं बहदि कोइ ॥१३११॥

'दुःखेणैवपि' पियंशो पियन्, 'वत्थो' वस्तुः अवपीत । 'जह वादि पृथियं गंधं' पूतिगन्धं यथा
वाति । प्राकृतगन्धं यथा न जहाति संश्रियमाणोऽपि सुरभिणा इत्येव, 'तच्च दिक्खिदो वि' तथा दीक्षितो-
ऽपि परित्यक्तासंयमोऽपि । 'इन्द्रियकषायगंधं बहदि' इन्द्रियकषायदुर्गन्धमुद्रहति इति यावत् ॥१३११॥

इंजंतो वि सुभोयणमिच्छदि जघ खयरो समलमेव ।

तच्च दिक्खिदो वि इन्द्रियकषायमल्लिणो हवदि कोइ ॥१३१२॥

'इंजंतो वि सुभोयणं' मुञ्जानोऽपि शोभनमाहार । 'खयरो जघ समलमेव इच्छदि' सुकरो यथा
समलमेवाभिलषति चिरन्तमाभ्यासात् । 'जह' तथा । 'दिक्खिदो वि' दीक्षितोऽपि कृतव्रतपरिग्रहसंस्कारोऽपि ।
'कोइ' कथिचत् । 'इन्द्रियकषायमल्लिणो हवदि' इन्द्रियकषायाख्यासुभ्रपरिणामोपनतो भवति । भयोऽपि जन-

मोहके क्षयोपशमका प्रकर्षं नहीं है वह जीव बड़े कष्टसे इन्हे वशमें कर पाता है । तथा इनका
कारण चारित्र्यमोहका उदय सदा रहता है अतः ये नित्य बने रहते हैं ।

सञ्चार—यदि ये नित्य हैं तो चपल कैसे हैं ?

समाधान—नित्य शब्दका प्रयोग ध्रौव्यके अर्थमें नहीं है किन्तु बार-बारके अर्थमें है । और
परिणामोके स्थिर न होनेको चपलता कहते हैं अतः कोई विरोध नहीं है ।

तथा ये जीवोंको दुःखदायी हैं । इष्ट भोगकी प्राप्ति न होने पर अथवा प्राप्त भोगका
विनाश होने पर महान् दुःख होता है यह सभी प्राणियोंको अनुभवसिद्ध है । क्रोधादि कषाय
हृदयको संताप पहुंचाती है । अथवा दुःखका कारण जो असातावेदनीय कर्म है उसके बन्धमें
निमित्त है इसलिए दुःखदायी हैं । जो इन्द्रिय और कषायके वशमें होता है वह जीवोंका घात
करता है । जीवोंके दुःख देनेसे असातावेदनीय कर्मका आश्रय होता है । और यतः ये इन्द्रिय तथा
कषाय दुःखदायी हैं, अतएव भयंकर हैं ॥१३१०॥

श्रा०—जैसे बकर्रीका बच्चा सुगन्धित तेल भी पिये फिर भी अपनी पूर्व दुर्गन्धको नहीं
छोड़ता । उसी प्रकार बीजा लेकर भी अर्थात् असंयमको त्यागने पर भी कोई कोई इन्द्रिय और
कषाय रूप दुर्गन्धको नहीं छोड़ पाते ॥१३११॥

जैसे सुंदर सुन्दर स्वादिष्ट आहार खाते हुए भी चिरंतन अभ्यास वश विष्टा ही खाना
पसन्द करता है । उसी प्रकार अंतोंको ग्रहण करके भी कोई कोई इन्द्रिय और कषायरूप अनुभ

मुकुन्दकेन्द्रदक्षिणतटदुःखनिवृत्त्युपायतया परित्यक्तेन्द्रियकषायोऽपि गार्हस्थ्यपरित्यागकाले पुनरपि तत्राश्र-
सीति ॥१३१२॥

एतद् अनेकदृष्टान्तोपन्यासेन दर्शयति सुरित्तरप्रबन्धेन—

वाहमण्य फलादो जूहं ददृशुः वागुराषडिदं ।

सयमेव मज्जी वागुरमदीदि जह जहत्तण्हाए ॥१३१३॥

‘वाहमण्य’ व्याधभयेन । ‘फलादो मज्जी’ कृतपलायनो मृगः । ‘वागुराषडिदं जूहं ददृशुः’ वागुरापतितं स्वयम् दृष्टवान् । ‘सयमेव वागुरमदीदि जहो’ स्वयमेव वागुरां प्रविशति मृगः । ‘जहं’ यथा, कृतः । ‘जहत्तण्हाए’ मुक्ततृण्यया । ‘एवं के वि विह्वलासं मुक्खा’ इत्यनया गायया संबन्धः कार्यः ॥१३१३॥

पंजरमुक्को सउणो सुइरं आरामएसु विहरंतो ।

सयमेव पुणो पंजरमदीदि जव णीडतण्हाए ॥१३१४॥

‘पंजरमुक्को सउणो’ पञ्जराम्मुक्तः पक्षी । ‘सुइरं आरामएसु विहरंतो’ आरामेषु स्वेच्छया विहरन् । ‘सयमेव’ स्वयमेव । ‘पुणो’ पुनः । ‘पंजरमदीदि’ पञ्जरमुपैति । ‘जहं णीडतण्हाए’ यथा णीडतृण्यया ॥१३१४॥

कलभो गण्य पंकादुद्धरिदो दुत्तरादु बलिण्य ।

सयमेव पुणो पंके जलतण्हाए जह अदीदि ॥१३१५॥

‘कलभो’ गजपोतः महति कर्मसे पतितः । ‘गण्य पंकादुद्धरिदो’ गजेन परेण पङ्कादुद्धृतो । ‘दुत्तरादु’ दुस्तरात् पङ्कात् बलिष्वतिशयवता गजेन । ‘सयमेव पुणो पंके जह अदीदि’ स्वयमेव कलभो यथा पङ्क-
मुपैति । ‘जलतण्हाए’ जलतृण्यया ॥१३१५॥

अग्निपरिक्खिच्चदो सउणो रुक्खादु उप्पडिचाणं ।

सयमेव तं दुमं सो णीडणिमिचं जव अदीदि ॥१३१६॥

परिणाम वाले होते हैं । भव्य जीव भी गुरुके उपदेशसे गृहस्थाश्रमका परित्याग करते समय दुःख-
को निवृत्तिका उपाय जानकर इन्द्रिय और कषाय रूप परिणामोंका त्याग करता है किन्तु फिर
भी वह उन्हींके चक्रमें पड़ जाता है ॥१३१२॥

आगे आचार्य अनेक दृष्टान्तोंके द्वारा इसीको दर्शाते हैं—

गा०—जैसे व्याधके भयसे भागा हुआ हिरन अपने झुण्डको जालमें फँसा देखकर झुण्डके
मोहसे स्वयं भी जालमें फँस जाता है वैसे ही कोई मुनि गृह त्यागनेके बाद स्वयं ही उसमें फँस
जाता है ॥१३१३॥

गा०—जैसे पीजरेसे मुक्त हुआ पक्षी उद्यानोमें स्वेच्छापूर्वक विहार करते हुए स्वयं ही
अपने आवासके प्रेमवश पीजरेमें चला जाता है ॥१३१४॥

गा०—जैसे महती कीचड़में फँसा हाथीका बच्चा बलवान् हाथीके द्वारा निकाला गया ।
किन्तु पानीकी प्यासवश वह स्वयं ही कीचड़में फँस जाता है ॥१३१५॥

गा०—जैसे पक्षी आगसे घिरे वृक्षसे उड़कर स्वयं ही अपने घोंसलेके कारण उस वृक्षपर
जा पहुँचता है ॥१३१६॥

'कण्ठ्यादौ लज्जो उच्छ्रिताय' वृषादुत्पद्य सकुनः । कीदृशमृतात् ? 'अग्निपरिक्लिस्तावो' अग्निना
संपत्ताहोष्टितात् । 'सर्वेषु सं दुर्गं बहु जदीधि' स्वयमेवाती पती अग्निपरिक्लिप्तद्रुममविमच्छति । 'भीडवि-
मित' स्वावास्तमितं ॥१३१६॥

लविज्जतो अहिना पाशुतो कोइ जग्गामणेण ।

उड्ढुविदो तं वेसुं इच्छदि जघ कोदुगइलेष ॥१३१७॥

'लविज्जतो अहिना' लक्ष्यमानोऽहिना, 'कोइ पाशुतो' कश्चित्समुत्तः, 'जग्गामणेण उड्ढुविदो' जायता
उत्पापितः । 'उड्ढु तं वेसुं इच्छति' यथा सर्पं वहीतुमिच्छति, 'कोदुगइलेष' कौतूहलेन ॥१३१७॥

सयमेव वंतमसणं गिण्लज्जो गिणिवणो सयं वेव ।

लोलो किविणो मुंजदि सुणहो जघ असणतण्हाए ॥१३१८॥

'सयमेव वंतमसणं' स्वयमेव वान्तमशनं । 'सुणहो गिण्लज्जो गिणिवणो' एवा निर्लज्जः निर्गुणः ।
'लोलो' यथा । 'सयमेव मुंजदि' स्वयमेव मुञ्चते । 'लोलो' आसक्तः । 'किविणो' कृपणः । 'असणतण्हाए'
वचनतुल्या ॥१३१८॥

एवं केई गिहवासदोसमुक्का वि दिक्खिदा संता ।

इं दियकसायदोसेहि पुणो ते चेव गिण्हति ॥१३१९॥

'एवं केई' एवं केचित् । 'गिहवासदोसमुक्का वि' गृहवासंभ्यो ये दोषास्तंभ्यो मुक्ताः । 'दिक्खिदा वि
संता' दीक्षिता अपि सन्तः । 'इं दियकसायदोसे' इन्द्रियकषायदोषान् । 'ते चेव' तांश्चैव गृहवासगतान् ।
'गिण्हति' वृण्वन्ति । कीदृशगृहवासो येन दुष्ट इति प्रथ्यते । ममदं भावाधिष्ठान अनुपरतमायालोभोत्पादन-
प्रवीणवीचनोपायप्रवृत्तः कषायाणांकार परेषां पांडानुग्रहयोराबद्धपरिकर पृथिव्यतेजोवायुवनस्पतिध्वजारत्-
वृत्तव्यापारो, मनोवाक्कायैः सचिन्ताचित्तानेकाणुस्थूलद्रविणग्रहणवर्द्धनोपजातायासः, यत्र स्थितो जनोऽसारे
शरणां, अनित्ये नित्यतां, अशरण्ये शरणतां, अशुचीं शुचितां, दुःखं सुखितां, अहितं हिततां, असंश्रये संश्रयणीयतां,

वा०—जैसे किसी सोते हुए मनुष्यपरमे सर्प जा रहा है । उसे कोई जागता हुआ मनुष्य
उठता है और वह उठकर कौतूहलवश उस सर्पको पकड़ना चाहता है ॥१३१७॥

वा०—जैसे कोई निर्लज्ज घिनावना कुत्ता अपने ही वमन किये भोजनको भोजनकी
तुल्यावश लोलपतासे खाता है ॥१३१८॥

वा०—डी०—वैसे ही गृहवासके दोषोंसे मुक्त कोई दीक्षा स्वीकार करके भी गृहवासके उन्ही
इन्द्रिय और कषायरूप दोषोंको स्वीकार करता है । गृहवासको दुरा क्यों कहा यह बतलाते हैं—

गृहस्थाश्रम 'यह मेरा है' इस भावका अधिष्ठान है, निरन्तर माया और लोभको
उत्पन्न करनेमें दक्ष जीवनके उपायोंमें लगानेवाला है, कषायोंकी खान है, दूसरोंको पीड़ा
देने और अनुग्रह करनेमें तत्पर रहता है, पृथिवी जल आग वायु और वनस्पतिमें उसका
आधार खाता बला करता है, मन वचन कायसे सचित अचित अनेक सूक्ष्म और स्थूल द्रव्योंके
ग्रहण और बहानेके लिये उसमें प्रयास करना होता है । उसमें रहकर मनुष्य असारमें सारसा,
अनित्यमें नित्यता, अशरण्यमें शरणता, अशुचिमें शुचिता, दुःखमें सुखपना, अहितमें हितपना,

कवचमुद्धे मित्रतां च अन्धमानः परितः परिधावति । सधयससङ्कोऽपि पदमविगच्छति । दुस्तरकाकलोहपञ्जरो-
द्वन्द्वतो हृदिरेव, वानुरापतिसमुच्चुलमिव, अन्धायकर्ममोन्मत्तो बरत्कुञ्जर इव हतासः, पादाबद्धो विह्व इव,
वारकम्वद्वरस्कर इव, व्याघ्रमध्यमव्यासीनोऽप्यवलो भुग इव, तदन्तिकोपमानभासलकुट्टः कूटपासावच्छ्रुष्टो
जलधर इव, यन्त्रावस्थितो वनः कामबहुलतपःपटलेनाविधते । रागमहानागैरुपद्रुतः चिन्ताडाकिनीभिः कवची-
क्रियते, शोकवृकैरनुगम्यते, कोपपावकेन भस्मसात् क्रियते, दुराशाकृतिकाभिनिष्पन्न बध्मते, प्रियविप्रयोगास-
निजिरनिधं शकलीक्रियते, प्राथितालाभधारणैस्सुधीरतां नीयते, मायास्थविरिकया गडभासिगम्यते, परिभ-
कठिनकुठारैर्विदार्यते, अयसोमलेन लिप्यते, मोहमहावनवारणेन हृष्यते, पापघातकैरवबोधः पात्यते, अयाय-
सलाकामिस्तुषुधते, आयासवायसैः प्रतिवासर भ्रम्यते, ईर्ष्यामिध्या विरूपता परिप्राप्यते, परिग्रहग्रहीषु ह्यते ।
यन्त्रावस्थितोऽयमभिमुखो भवति । अक्षुयाजायायाः प्रियतां याति, मानवानवाधिपतितां अनुभवति, विशाल-
धवलचारिणातप्रभयकावातुसं न समते, संसारवारकादात्मानं नापनयति, कर्मनिर्मूलनाय न प्रभवति, मरण-
विषपापघ्नं न दहति, मोहवनमृच्छला न नोटयति, विचित्रयोनिसुखसंकरणं न निषेधति । तत इत्यंभूताद्रुहवास-
धोराप्यता सन्तोऽपि दीक्षिता 'इ विषकसाधयोः हि' इन्द्रियकवायदोषान् । हि शब्द ममुच्चवार्थ । तेनैव-
मभिसंबध्यते 'युष्मो हि' पुनरपि 'ते वैव' सन्निव । 'विष्मि' गृह्णन्ति ॥१३१९॥

अनाश्रयमें आश्रयपना, सामुमें मित्रता मानता हुआ सब ओर दौड़ता है । भय और शकासे युक्त
होते हुए भी आश्रय प्राप्त करता है । जिससे निकलना कठिन है ऐसे कालरूपी लोहेके पीजरेके
पेटमें गये सिंहकी तरह, जालमें फसे हिरणोंकी तरह, अन्यायरूपी कीचड़में फंसे बूढ़े हाथीकी
तरह, पाशसे बद्ध पक्षीकी तरह, जेलमें बन्द चीरकी तरह, व्याघ्रोंके मध्यमें बंटे हुए दुर्बल
हिरणकी तरह, जिसके पासमें जानेसे संकट आया है ऐसे जालमें फंसे मगरमच्छकी तरह, जिस
गूहस्थाश्रममें रहनेवाला मनुष्य कालरूपी अत्यन्त गाढ़े अन्धकारके पटलसे आच्छादित हो जाता
है । रागरूपी महानाग उसे सताते हैं । चिन्तारूपी डाकिनी उसे खा जाती है । शोकरूपी भेड़िये
उसके पीछे लगे रहते हैं । कोपरूप आग उसे जलाकर राख कर देती है । दुराशाकूपी लताओंसे
वह ऐसा बँध जाता है कि हाथ पैर भी नहीं हिला पाता । प्रियका वियोगरूपी वज्रपात उसके
टुकड़े कर डालता है । प्रार्थना करनेपर न मिलनेरूपी सैकड़ों बाणोंका वह तरकस वन जाना है
अर्थात् जैसे तरकसमें बाण रहते हैं वैसे ही गूहस्थाश्रममें बाँधित बस्तुका लाभ न होनेरूपी वाण
भरे हैं । मायारूपी बुद्धिया उसे जारसे चिपकाये रहती है । तिरस्काररूपी कठोर कुठार उसे
काटते रहते हैं । अपयशरूपी मलसे वह लिप्त होता है । महामोहरूपी जंगली हाथीके द्वारा वह
मारा जाता है । पापरूपी घातकोंके द्वारा वह ज्ञानशून्य कर दिया जाता है । भयरूपी लोहेकी
सुइयोंसे कोचा जाता है । प्रतिदिन श्रमरूपी कीओंके द्वारा खाया जाता है । ईर्ष्यारूपी काजलसे
विरूप किया जाता है । परिग्रहरूपी मगरमच्छोंके द्वारा पकड़ा जाता है । जिस गूहस्थाश्रममें
रहकर असंयमकी ओर जाता है । असूयारूपी पत्नीका प्यारा होता है । अर्थात् दूसरोंके गुणोंमें
भी दोष देखता है, अपनेको मानरूपी दानवका स्वामी मानने लगता है । विशाल धवल चारित्र-
रूपी तीन छत्रोंकी छायाका सुख उसे नहीं मिलता । वह अपनेको संसाररूपी जेलसे नहीं छुड़ा
पाता । कर्मोंका जड़मूलसे विनाश नहीं कर पाता । मृत्युरूपी विषवृक्षको नहीं जला पाता ।
मोहरूपी मजबूत साँकलको नहीं तोड़ता । विचित्र योनियोंमें जानेकी नहीं रोक पाता । दीक्षा

बंधनमुक्तको पुनरेव बंधनं सो अवेयणोदीदि ।

इन्द्रियकसायबंधनमुक्तेदि जो दिक्खिदो संतो ॥१३२०॥

'बंधनमुक्तको' बन्धनमुक्तः । 'पुनरेव बंधनं' पुनर्बंधनं । 'अवेयि' प्रतिपद्यते । 'सो अवेयणो' सोऽत्र ।
कः ? 'जो दिक्खिदो संतो इ'न्द्रियकसायबंधनमुक्तेदि' यो दीक्षितः सन्निरियकपायबन्धमुपैति । इन्द्रियकपायपरि-
शामाः कर्मबन्धनक्रियायां साधकतमयया इह बन्धनशब्देनोच्यन्ते ॥१३२०॥

मुक्तको वि जरो कलिणा पुणो वि तं चेव मग्गदि कलिं सो ।

जो दिक्खिदो वि इ'न्द्रियकसायमइयं कलिमुक्तेदि ॥१३२१॥

प्रसिद्धार्थां ॥१३२१॥

उत्तरवाचा—

सो णिच्छदि मोक्षुं जे हत्थगयं उम्भुयं सुपज्जलियं ।

सो अक्कमदि कण्हसप्यं छादं वग्घं च परिमसदि ॥१३२२॥

'सो णिच्छदि' स नेच्छति । 'मोक्षुं' मोक्षुं । कि ? 'हत्थगयं' हस्तस्थानं हस्तगतं वा । 'उम्भुयं
सुपज्जलियं' उत्तुङ्गं सुप्तं प्रज्वालितं । 'सो कण्हसप्यं अक्कमदि' स कृष्णमर्षमाक्रामति । 'छादं वग्घं च परिमसदि'
सुषोपद्रुतं व्याघ्रं च स्पृशति ॥१३२२॥

सो कंठोण्णगिदसिलो दहमत्थाहं अदीदि अण्णाणी ।

जो दिक्खिदो वि इ'न्द्रियकसायवसिगो हवे साधु ॥१३२३॥

'सो कंठोण्णगिदसिलो' स कण्ठावलम्बितशिलः । 'दहमत्थाहं' नृदमगात्रं । 'अदीदि' प्रविशति ।
'अण्णाणी' अन्नः । 'जो दिक्खिदो वि व' यो दीक्षितोऽपि 'इ'न्द्रियकसायवसिगो' इन्द्रियकसायवशवर्ता साधुयाद-
भेदव्यवहारः ॥१३२३॥

धारण करके इस प्रकारके गृहवास सम्बन्धी दोषोंसे मुक्त होकर भी पुनः उन्हीं दोषोंको स्वीकार करता है ॥१३१९॥

वा०—जो दीक्षित होकर इन्द्रिय और कषायोंके बन्धनमें पड़ता है वह अज्ञानी बन्धनसे मुक्त होकर पुनः बन्धनको प्राप्त होता है ॥१३२०॥

वा०—जो दीक्षित होकर भी इन्द्रिय कषायमयी कलिको स्वीकार करता है वह मनुष्य कलिकालसे मुक्त होकर भी पुनः उसी कलिको खोजता है ॥१३२१॥

वा०—जो साधु दीक्षित होकर भी इन्द्रिय और कषायोंके बन्धनमें पड़ता है वह हाथमें स्थिर बरूटे हुए बलात्करो छोड़ना नहीं चाहता, वह काले साँपको लाँचता है और भूखे व्याघ्र-
का स्पर्श करता है ॥१३२२॥

वा०—जो साधु दीक्षित होकर भी इन्द्रिय और कषायके अधीन होता है वह अज्ञानी अपने मनमें दखर बाँधकर अनाथ लालावमें प्रवेश करता है ॥१३२३॥

इन्द्रियगहोवसिद्धो उन्नसिद्धो ण दु गहेण उवसिद्धो ।

कुण्णदि गहो एयमवे दोसं इदरो भवसदेसु ॥१३२४॥

‘इन्द्रियगहोवसिद्धो’ इन्द्रियग्रहपृहीत । ‘उवसिद्धो’ गृहीतः । ‘ण दु गहेण उवसिद्धो’ नैव ग्रहेणोप-
सृष्टः । कुतः ? यस्मात् । ‘कुण्णदि गहो एयमवे दोसं’ एकस्मिन्नेव भवे ग्रहो बुद्धिव्यामोहलक्षणं दोषं करोति ।
‘इदरो भवसदेसु’ इन्द्रियकषायग्रहो भवसत्तेषु दोषं करोति ॥१३२४॥

होदि कसाउम्मत्तो उम्मत्तो तथ ण पित्तउम्मत्तो ।

ण कुण्णदि पित्तुम्मत्तो पावं इदरो जघुम्मत्तो ॥१३२५॥

‘होदि कसाउम्मत्तो’ अत्रैवं पदघटना । ‘उम्मत्तो होदि’ उम्मत्तो भवति यथा । कः ? ‘कसायउम्मत्तो’
कषायोन्मत्त । यथा ‘उम्मत्तो ष होदिपित्तं’ पदघटना तथा उम्मत्तो न भवति । क ? ‘पित्तउम्मत्तो’ पित्तो-
न्मत्त । एतेन पित्तकृतादुन्मादात् कषायकृतस्थान्मादस्य जघन्यता ख्याता । कथं ? ‘ण कुण्णदि पित्तुम्मत्तो’
पाप न करोति पित्तोन्मत्त । ‘पावं इदरो जघुम्मत्तो’ कषायोन्मत्तो यथा पापं करोति, तथाभूत न करोति ।
यतः एकैकोऽपि क्रोधादि हिंसादिषु प्रवर्तयति । कर्मणा स्थितिवन्ध दीर्घकरोति । विवेकज्ञानमेव तिरस्करोति
पित्तोन्माद । ततोऽन्योर्महदन्तर इति भावः ॥१३२५॥

इन्द्रियकसायमइओ णरं पिसायं करंति हु पिसाया ।

पावकरणवेलंबं पेच्छणयकरं सुयणमज्जे ॥१३२६॥

‘इन्द्रियकसायमइओ’ इन्द्रियकषायमयः पिशाचः । ‘णरं पिसायं करंति’ नर पिशाच करोति । कीदृ-
श्रूतं पिशाच करोति ? ‘सुयणमज्जे पेच्छणयकरं’ सुजनमध्ये प्रेक्षणिककारण । ‘पावकरणवेलंबं’ हिंसादिपाप-
क्रियाविलम्बना प्रसङ्गीयत्वेन सपादयन्तं पिशाचं करोतीति यावन् ॥१३२६॥

कुलजस्स जसमिच्छंत्तगस्स णिघणं वरं सु पुरिसस्स ।

ण य दिक्खिदेण इन्द्रियकसायवसिएण जेहुंजे ॥१३२७॥

गा०—जो इन्द्रियरूपा ग्रहमे पकड़ा हुआ है वही ग्रह पीड़ित है । जो ग्रहसे पकड़ा हुआ है
वह ग्रहपीडित नहीं है । क्योंकि ग्रह तो एक ही भवमे कष्ट देता है किन्तु इन्द्रियरूपा ग्रह सैकड़ों
भवोंमें कष्ट देता है ॥१३२४॥

गा०—टी०—जो कषायसे उन्मत्त (पागल) है वही उन्मत्त है । जो पित्तसे उन्मत्त है वह
उन्मत्त नहीं है । इससे पित्तके द्वारा हुए उन्मादसे कषायके द्वारा हुए उन्मादको निकृष्ट बतलाया
है । क्योंकि कषायसे उन्मत्त पुरुष जैसा पाप करता है पित्तसे उन्मत्त वैसा पाप नहीं करता ।
एक-एक भी क्रोधादि कषाय हिंसा आदिमें प्रवृत्त करता है । कर्मोंके स्थितिवन्धको बढ़ाता है ।
किन्तु पित्तसे हुआ उन्माद केवल विवेकमूलक ज्ञानका ही तिरस्कार करता है । इसलिए इन
दोनोंमें बहुत अन्तर है ॥१३२५॥

गा०—इन्द्रिय और कषायमय पिशाच मनुष्यको सुजनोके मध्यमें देखने योग्य पापक्रिया-
की विडम्बनाओंको करनेवाला पिशाच बना देता है ॥१३२६॥

'कुलप्रसूतस्य, कस्तमिच्छंतमस्तु' कुलप्रसूतस्य पुंसः बहोऽभिलाषिणः । 'मिषमं वरं' मृतिः शोभना । 'व इ मु जीविषु' जे' नैव वरं जीवनं । 'विषिकलैव इ विषकलायवसिगो' दीक्षितस्तेन्द्रियकषायकवर्तिनः जीवमं न शोभनमित्यर्थः ॥१३२७॥

अथ सण्णद्धो पम्बद्दिदवावकंदो रधी पलायंतो ।

विदिज्जदि तथ इ'दियकसायवसिगो वि पम्बज्जिदो ॥१३२८॥

'कथा रधी पलायंतो विदिज्जदि' यथा रधी पलायन्निच्छते । कीदृक् ? 'सण्णद्धो पम्बद्दिदवावकंदो' सण्णद्धः उपगृहीतवापकाण्डः । तथा 'इ'दियकसायवसिगो वि पम्बज्जिदो' तथा इन्द्रियकषायवशात्पर्यपि प्रव्रजितो निच्छते ॥१३२८॥

अथ मिषमं हिंदंतो मड्डादि अर्लकिदो गहिदसत्थो ।

विदिज्जइ तथ इ'दियकसायवसिगो वि पम्बज्जिदो ॥१३२९॥

'अथ मिषमं हिंदंतो' मुकुटादिभिरलंकृतो गृहीतवास्तो भिक्षां भ्रमन् निच्छते । तथा निच्छते इन्द्रियकषायवशावर्ती प्रव्रजितः ॥१३२९॥

इ'दियकसायवसिगो मुंडो जग्गो य जो मलिजगत्तो ।

सो चित्तकम्मसमणोप्व समणरूत्तो असमणो हु ॥१३३०॥

'इ'दियकसायवसिगो' इन्द्रियकषायवशीकृतः, मुण्डो नमनश्च यो मलिनगात्रः सन् । 'सो समणरूत्तो न समणो' स भ्रमणरूपो न भ्रमणः । 'स चित्तकम्मसमणो' ज्वं' स चित्तकर्मभ्रमण इव । परमार्थभ्रमणसदृशरूपोऽपि यथा चित्तभ्रमणो न भ्रमणस्तद्वदनुभरिणामभ्रमणः ॥१३३०॥

ज्ञानं नरस्य दोषानपहरति इन्द्रियकषायत्रयमूलेन यथा सत्त्ववतः प्रहरणमावरणं च शत्रुं नाशयती-

पा०—कुलीन और यशके अभिलाषी पुरुषका मरना श्रेष्ठ है किन्तु दीक्षित होकर इन्द्रिय और कषायके वशमें रहकर जीना श्रेष्ठ नहीं है ॥१३२७॥

पा०—जैसे धनुष बाण लेकर युद्धके लिए तैयार रधारोही यदि युद्धसे भागता है तो निन्दाका पात्र होता है । उसी प्रकार दीक्षित साधु यदि इन्द्रिय और कषायके वशमें होता है तो निन्दाका पात्र होता है ॥१३२८॥

पा०—जैसे मुकुट आदिसे सुशोभित और हाथमें शस्त्र लिये हुए कोई भिक्षाके लिए भ्रमता है तो निन्दाका पात्र होता है । वैसे ही दीक्षित होकर इन्द्रिय और कषायके वशमें होनेवाला भी निन्दाका पात्र होता है ॥१३२९॥

पा०—दो—जो मुण्डित नमन और मलिन शरीरवाला होकर भी इन्द्रिय और कषायके वशमें होता है वह चित्रमें अंकित भ्रमणके समान भ्रमणरूपका घागी होनेपर भी भ्रमण नहीं है । अर्थात् जैसे चित्रमें अंकित भ्रमण वास्तविक भ्रमणके समान रूपवाला होनेपर भी भ्रमण नहीं है उसी प्रकार भ्रमणका वेध धारण करके भी जिसके परिणाम अशुभ है वह भ्रमण नहीं है ॥१३३०॥

जाने कहते हैं कि इन्द्रिय और कषायको जीतनेके द्वारा ज्ञान मनुष्यके दोषोंको दूर करता

त्युत्तरवाचार्थः इन्द्रियकषायान्नये ज्ञानं दोषापहारित्वात्कथं अतिशयनं न कथते यथा सत्त्वहीनसत्त्वात्परवसन्ना-
हार्थं प्रहरणं च कश्चिच्चक्रादिकं कथुषवत्पमतिशयं नासाद्ययति—

आणं दोसे जासिदि ऋरस्स इ दियकसायविजयेण ।

आउहरणं पहरणं जह जासेदि अरिं ससत्त्वस्स ॥१३३१॥

'आणं' ज्ञानं 'दोसे' दोषान् । 'जासिदि' नाशयति । 'ऋरस्स' नरत्स्य । 'इ दियकसायविजयेण' ।
'जह' यथा । 'अउहरणं पहरणं' आयुषो हरणं प्रहरणं शस्त्रं । सह सत्त्वेन वरंते इति ससत्त्वस्तस्य । 'अरिं'
रिपुं । 'कस्सेदि' नाशयति ॥१३३१॥

आणां पि कुणदि दोसे ऋरस्स इ दियकसायदोसेण ।

आहारो वि हु पाणो ऋरस्स विससंजुदो हरदि ॥१३३२॥

'आणपि कुणदि दोसे ऋरस्स' ज्ञानं दोषानपि करोति नरत्स्य । 'इ दियकसायदोसेण' इन्द्रियकषायपरि-
णामदोषेण । उपकार्यपि अनुपकारितामुद्रहति परसंसर्गेण । यथा प्राणधारणनिमित्ताभ्याहारो विषमिश्रः प्राणा-
म्बिनाशयति ॥१३३२॥

आणं करेदि पुरिसस्स गुणे इ दियकसायविजयेण ।

बलरूढवण्णमाऊ करेदि जुत्तो जघाहारो ॥१३३३॥

'आणं करेदि' ज्ञानं करोति । 'पुरिसस्स गुणे' पुरुषस्य गुणान् । कथं ? 'इ दियकसायविजयेण' इन्द्रिय-
कषायविजयेन । 'बलरूढवण्णमाऊ करेदि' बल, रूप, तेजः, आयुश्च करोति । 'जुत्तो जघाहारो' युक्तः
शोभनो यथाहारः विवेणामिभित्त ॥१३३३॥

आणं पि गुणे जासेदि ऋरस्स इ दियकसायदोसेण ।

अप्पवघाए सत्थं होदि हु कापुरिसहत्थगयं ॥१३३४॥

है । जैसे सत्त्वसम्पन्न मनुष्यका शस्त्र और कवच शत्रुका नाश करता है । तथा इन्द्रिय और कषायको न जीतनेपर ज्ञान दोषोंको दूर करनेरूप अतिशयको प्राप्त नहीं करता । जैसे सत्त्वहीन पुरुषका कवच और तलवार चक्र आदि शस्त्र शत्रुको जीतनेरूप अतिशयको नहीं प्राप्त करता ॥१३३०॥

शा०—इन्द्रिय और कषायको जीतनेसे ज्ञान मनुष्यके दोषोंको नष्ट करता है । जैसे सत्त्व-
शालीका आयुको हरनेवाला शस्त्र शत्रुको नष्ट करता है ॥१३३१॥

शा० इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंके दोषसे ज्ञान भी मनुष्योंमें दोष उत्पन्न करता
है । दूसरेके संसर्गसे उपकारी भी अनुपकारी हो जाता है । जैसे आहार प्राण धारणमें निमित्त
है किन्तु विषसे मिला आहार प्राणोंका घातक होता है ॥१३३२॥

शा०—और इन्द्रिय तथा कषायोंको जीतनेसे ज्ञान पुरुषमें गुण उत्पन्न करता है । जैसे
विषसे रहित उत्तम आहार बल, रूप, तेज और आयुको बढ़ाता है ॥१३३३॥

शा०—इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंके दोषसे ज्ञान भी पुरुषके गुणोंको नष्ट करता
है । जैसे कायर पुरुषक हाथमें गया शस्त्र उसके ही बधमें निमित्त होता है ॥१३३४॥

ज्ञानमपि गुणात्तासवति नस्य इन्द्रियकषायपरिधानबोधेन । आत्मवशात् भवति तत्त्वं कानुभवहस्तगतं इति ॥१३३४॥

उत्तरभाषार्थः—

सबहुस्तुदो वि अवभाषिज्जदि इन्द्रियकषाय'दोसेन ।

अरमाउधइत्वंपि हु मद्यं गिद्धा परिवर्षति ॥१३३५॥

'सुप्तबहुशोधि' सुप्तबहुशुतोऽप्यवमन्यते इन्द्रियकषायबोधेन । नृहीतात्मनपि नरं मृतं वृद्धाः परिभवन्ति यथा ॥१३३५॥

इन्द्रियकषायवसगो बहुस्तुदो वि अरमे न उज्जमदि ।

पक्षीव छिन्नपक्षो न उप्यददि इच्छमानो वि ॥१३३६॥

'इन्द्रियकषायवसगो' इन्द्रियकषायवसगः बहुशुतोऽपि चारित्र्यं नोद्यमं करोति । यथा छिन्नपक्षः पक्षी मोक्षयति इच्छन्ति ॥१३३६॥

अस्सदि सगं बहुगं पि जाणमिदियकषायसम्मिस्सं ।

विशसम्मिसिददुद्धं अस्सदि जव सक्कराकठिदं ॥१३३७॥

'अस्सदि सगं बहुगं पि जाणं' नस्यति स्वयं बहुपि ज्ञानं इन्द्रियकषायसंशुभं । शर्कराकवित दुग्धं विषमिश्रमित् । माधुर्यात्सातिशयता दुग्धस्य शर्कराकवितसम्भवेन कल्पते ॥१३३७॥

इन्द्रियकषायदोसमलिंगं जाणं बहुदि हिदे से ।

बहुदि अण्णस्स हिदे खरेण जइ चंदणं ऊढं ॥१३३८॥

ज्ञानं यदीयं तस्मै उपकारितया प्रसिद्धमपि सन्तोषकारि भवति इन्द्रियकषायमलिनं, परोपकारि तु भवति खरेणोढं अण्डनाविक्रिमेति सूत्रार्थः ॥१३३८॥

शा०—इन्द्रिय और कषायोंके दोषसे अच्छे प्रकारसे बहुतसे शास्त्रोंका ज्ञान भी विद्वान् अपमानका पात्र होता है । जैसे हाथमें अस्त्रके होते हुए भी मरे मनुष्यको गूढ खा जाते हैं ॥१३३५॥

शा०—इन्द्रिय और कषायोंके वशमें हुआ बहुश्रुत भी विद्वान् चारित्र्यमें उद्योग नहीं करता । जैसे जिसका पर कट गया है ऐसा पक्षी इच्छा करते हुए भी नहीं उड़ सकता ॥१३३६॥

शा०—इन्द्रिय और कषायके योगसे बहुत भी ज्ञान स्वयं नष्ट हो जाता है । जैसे शक्करके साथ कड़ा हुआ दूध विषके मिलनेसे नष्ट हो जाता है अर्थात् अपने स्वभावको छोड़ देता है । यहाँ शक्करके साथ कड़ाया हुआ कहुनेसे मिठासके कारण दूधकी सातिशयता बतलाई है । ऐसा दूध भी विषके मेलसे हानिकर होता है ॥१३३७॥

शा०—जिसका ज्ञान होता है उसीका उपकारी होता है यह बात प्रसिद्ध है किन्तु इन्द्रिय और कषायसे मलिन ज्ञान जिसका होता है उसका उपकार नहीं करता, दूसरोंका उपकार

आत्मं प्रकाशकरवमपि त्वं अहति इन्द्रियकषायपरिणामवशाधिति निववति—

इन्द्रियकषायनिग्महृनिमीलितस्स हु पयासदि ञ जाणं ।

रतिं चक्खुणिमीलस्स जघा दीवो सुपज्जलितो ॥१३३९॥

‘इन्द्रियकषायनिग्महृनिमीलितस्स’ इन्द्रियकषाय निवहे निमीलितस्यात्मनो ज्ञानं च प्रकाशकं । ‘रतिव’ रात्राशिव । ‘चक्खुणिमीलितस्स’ निमीलितचक्षुः पुंसः । ‘अह दीवो सुपज्जलितो’ यथा सुपज्जलितः प्रदीपः ॥१३३९॥

इन्द्रियकषायमहलो बाहिरकरणिहुदेण वेसेण ।

आवहदि को वि विसय सउणो वादसणेण ॥१३४०॥

‘इन्द्रियकषायमहलो’ इन्द्रियकषायपरिणाममलिनः । ‘बाहिरकरणिहुदेण वेसेण’ बाह्याया ममनाममनादिकायाः क्रियाया निमृतेन वेसेण । ‘कोवि विसय आवहदि’ कविद्विषयानावहति आत्मनो भोगाय ॥१३४०॥

घोडगलिडसमाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुषिदस्स ।

बाहिरकरणं किं से काहिदि वगणिहुदकरणस्स ॥१३४१॥

‘घोडगलिडसमाणस्स’ भोटकलिडसमानस्य यथा बहिर्मसृणता न तद्वन्तमंसृणता । तद्वत्कस्यचिद्बाह्यं चरण समीचीन नाभ्यन्तरा परिणामा शुद्धा । स एवमुच्यते । ‘बाहिरकरणं किं काहिदि’ बाह्याक्रिया अनशननादिका किं करिष्यति । ‘अब्भंतरम्मि कुषिदस्स’ अन्तः कुषितस्स । इन्द्रियकषायसज्ञाऽशुभपरिणामेन नष्टाभ्यन्तरतपोवृत्तरिति यावत् । ‘वगणिहुदकरणस्स’ वक्वन्निभूतक्रियस्य ॥१३४१॥

करता है । जैसे गधेपर लदा चन्दन दूसरोका उपकार करता है ॥१३३८॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय कषायरूप परिणामोके दोषसे ज्ञान अपने प्रकाशकत्व धर्मको भी छोड देता है—

गा०—टी०—इन्द्रिय और कषायोका निग्रह करनेमे जो अपना उपयोग नहीं लगाता अर्थात् जो इन्द्रिय और कषायोसे प्रभावित है, उसका ज्ञान वस्तुस्वरूपका प्रकाशक नहीं होता । जैसे, जिसने आँखे मूँदी है उसके लिए तीव्रतासे जलता हुआ दीपक पदाथोका प्रकाश नहीं करता ॥१३३९॥

गा०—जिसका परिणाम इन्द्रिय और कषायसे मलिन हांता है ऐसा कोई साधु बाह्य गमन आगमन आदि क्रियाओंके द्वारा अपने वेशको छिपाकर अपने भोगके लिये विषयोंको ग्रहण करता है जैसे निश्चल बैठे पथी अपनी चोचसे अपने शिकारको ग्रहण करता है ॥१३४०॥

गा०—टी०—जैसे घोड़ेकी लीद ऊपरसे चिकनी और भीतरसे खुरदरी होती है वैसे ही किसीका बाह्य आचरण तो समीचीन होता है किन्तु अभ्यन्तर परिणाम शुद्ध नहीं होते । उसे घोड़ेकी लीदके समान कहा है । जिसके अभ्यन्तर परिणाम शुद्ध नहीं हैं उसकी बाह्यक्रिया अनशन आदि क्या करेगी ? अर्थात् इन्द्रिय और कषायरूप अशुभ परिणामके द्वारा अभ्यन्तर तपोवृत्ति जिसकी नष्ट हो चुकी है वह बाह्य अनशन आदि तप करे भी तो क्या लाभ है । वह तो नदीके तटपर निश्चल बैठे हुए बगुलेकी तरह है ॥१३४१॥

बाह्य' तपः करणीयतमीनविष्टं तत्त्वकर्म सम्पादयत्येवः किमुच्यते बाह्यक्रिया किं करोतीत्यन्वयश्च
पुरिराचष्टे—

बाहिरकरणविशुद्धी अभ्यन्तरकरणसोपानत्वात् ।

य इ कुण्डयस्स सोषी सक्क सत्तुस्स कर्तुं जे ॥१३४२॥

'बाहिरकरणविशुद्धी' बाह्यक्रियाविशुद्धिः । 'अभ्यन्तरकरणसोपानत्वात्' अभ्यन्तरक्रियाणां विनयादीनां
शुद्धये, अभ्यन्तरतपसां लभ्येव बहुतरकर्मनिर्जरात्मनां परिवृद्धये भूयन्ते बाह्याभ्यन्तरकामादित्यपत्ति । ततोऽ-
न्वयतया बाह्याभ्युपविष्टानि । यद्धि यदर्थं तत्प्रधानं इति प्रधानताभ्यन्तरतपसः तच्च शुभशुद्धपरिणामात्मकं ।
तेन विना न निर्जरायै बाह्यमर्थं । उक्तं च—बाह्यं तपः परमशुभरत्नमाचरंस्त्वयाऽप्यारिष्यस्य तपसः परिवृ-
त्तार्थं । इति । 'य इ कु' कुण्डयस्स सोषी सक्क कर्तुं जे' नैवान्तर्मलस्य शुद्धिः शक्या कर्तुं । कस्य ? 'सत्तुस्स'
सत्तुषस्य धान्यस्य ॥१३४२॥

अभ्यन्तरसोषीयं शुद्धं धियमेण बाहिरं करणं ।

अभ्यन्तरदोसेण इ कुण्णदि जरो बाहिरं दोसं ॥१३४३॥

'अभ्यन्तरसोषीयं' अभ्यन्तरशुद्धया । 'शुद्धं धियमेण बाहिरं करणं' शुद्धं निश्चयेन बाह्यं करणं ।
'अभ्यन्तरदोसेण इ' अन्तःपरिणामदोषेणैव इन्द्रियकवायपरिणामाविना । 'कुण्णदि जरो बाहिरं दोसं' करोति
नरो बाह्यान्दोषान्वात्कवायभयान् ॥१३४३॥

लिंमं च होदि अभ्यन्तरस्स सोषीयं बाहिरा सोषी ।

मिउडीकरणं लिंमं जह अंतोजादकीधस्स ॥१३४४॥

'लिंमं च होदि' चिद्धं च भवति । 'अभ्यन्तरस्स परिणामसोषीयं' अभ्यन्तरस्य परिणामस्य शुद्धे ।
'बाहिरा सोषी' बाह्या शुद्धिरगनादिवपोषिषया । 'मिउडीकरणं लिंमं' मृकुटीकरणं लिङ्गं । 'जह' यथा ।

यहाँ कोई शक्य करता है कि ऊपर बाह्यतप करनेका उपदेश किया है वह अपना फल
अवश्य देता है । तब आप कैसे कहते हैं कि बाह्यक्रिया क्या करेगी ? इसका उत्तर आचार्य
बेते हैं—

गा०—टी०—अभ्यन्तर क्रिया विनय आदिकी शुद्धिके लिये बाह्यक्रियाकी विशुद्धि कही
है । शीघ्र ही बहुतसे कर्मोंकी निर्जरामें समर्थ अभ्यन्तर तपकी वृद्धिके लिए बाह्य अनगन आदि
तप सुने जाते हैं । इसीलिए उनका बाह्य नाम सार्थक है । जो जिसके लिये होता है वह प्रधान
होता है । इसलिए अभ्यन्तर तपकी प्रधानता है । वह अभ्यन्तर तप शुभ और शुद्ध परिणामरूप
होता है । उसके विना बाह्यतप निर्जरामें समर्थ नहीं होता । कहा भी है—'भगवन् ! आपने
आध्यात्मिक तपकी वृद्धिके लिए अत्यन्त कठोर बाह्यतप किया ।' ठीक ही है, क्योंकि छिन्नेके
रहते हुए धान्यकी अन्तः शुद्धि सम्भव नहीं है ॥१३४२॥

गा०—नियमसे अभ्यन्तर शुद्धिके होनेसे ही बाह्यशुद्धि होती है । इन्द्रियकवाय परिणाम
आदि अन्तरंग परिणाम दोषसे ही मनुष्य वचन और कायसम्बन्धी बाह्य दोषोंको करता
है ॥१३४३॥

गा०—टी०—अनगन आदि तपविषयक बाह्यशुद्धि अभ्यन्तर परिणामोंकी विशुद्धिके

'अतीव्यावृत्त' अन्वयार्थस्य कोपस्य किञ्च किञ्चभाषः । बाह्यागाम्यन्तराणां चैवं अस्ति यत्र परस्पर-
विकानाभिरा स्यादभिव्यक्तोरिव । प्रथित्वस्य किञ्चकिञ्चभाषः कार्येण बाह्येण कारणत्वाभ्यन्तरत्वेति
भाषार्थः ॥१३४४॥

ते चैव इदिवानं दोसा सन्वे हवन्ति जादव्या ।

कामस्त य भोगाण य जे दोसा पुष्पणिदिह्वा ॥१३४५॥

'ते चैव इदिवानं दोसा' त एनेन्द्रियाणां सर्वेषां दोषा भवन्ति इति ज्ञातव्याः । के ? 'ये दोसा पुष्प
निदिह्वा' ये दोषाः पूर्वनिदिष्टाः । 'कामस्त य भोगाण य' कामस्य भोगानां च संबन्धितया निदिष्टा-
दोषाः ॥१३४५॥

मधुलिप्तं असिधारं तिक्त्वं लेहिज्ज जघ ञरो कोई ।

तघ विसयसुहं सेवदि दुहाबहं इहहि परलोगे ॥१३४६॥

'मधुलिप्तं' मधुना लिप्ता । 'असिधारं' अनेधारा । 'तिक्त्वं' तीक्ष्ण । 'जघ ञरो कोई लेहिज्ज' यथा
नरः कश्चिच्चात्स्नाययति जिह्वाया । 'तघ विसयसुहं सेवदि' तथा विषयसुखं सेवने । 'दुहाबहं इह य परलोगे'
दुःखावहमत्र जन्मनि परत्र च, स्वल्पसुखतया बहुदुःखतया च साम्यं कृष्टान्तदाष्टान्तिकयो ॥१३४६॥

एकैकेन्द्रियविषयवसवतिभिर्मृगादिभिरुपद्रवो ह्याप्तः, किं पुनरन्वेषेन्द्रियविषयलम्पटीर्जने प्राप्येज्जने
वाप्यमिति मत्वाप्ये—

सहेण मजो रूपेण पदंगो वण्णजो वि फरिसेण ।

मच्छो रसेण ममरो गणेण य पाविदो दोसं ॥१३४७॥

चिह्न है । जैसे क्रोध उत्पन्न होनेका चिह्न मृकुटी चढाना होता है । इस प्रकार बाह्य और
अभ्यन्तरको अग्नि और धूमकी तरह परस्परमें अविनाभाविता है । अर्थात् जैसे आगके होनेपर
ही धूम होता है अतः जहाँ धूम होता है वहाँ आग अवश्य होती है । इसीको अविनाभाविता
कहते हैं । धूम लीग है आग लगी है । इसी प्रकार बाह्य कार्यके साथ अभ्यन्तर कागणका लीग-
लीगी भाव सम्बन्ध जानना ॥१३४४॥

गा०—जो दोष पहले काम और भोगके सम्बन्धमें कहे हैं वे ही मय दोष इन्द्रियोंके
सम्बन्धमें जानना ॥१३४५॥

गा०—टी०—जैसे कोई मनुष्य जिह्वाके द्वारा मधुसे लिप्त नलवारकी तीक्ष्ण धारको
चाटता है वैसे ही मनुष्य विषय सुखका सेवन करता है जो इस जन्ममें और परजन्ममें दुःखदाया
है । जैसे मधुलिप्त तलवारकी धारको जिह्वासे चाटनेसे प्रारम्भमें मधुके कारण बोझ सुख
होता है किन्तु जीभ कट जानेपर बहुत दुःख होता है उसी प्रकार विषय भोगमें भी सुख अल्प है
दुःख बहुत है ॥१३४६॥

आगे कहते हैं कि एक एक इन्द्रियके विषयमें आसक हिरल आदि कष्ट भोगते हैं तब समस्त
इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक जननेके द्वारा प्राप्य अनर्थका क्या कहना है—

'सह्येन मन्वो' सन्नेन मूयः बाण्यच्छेदसरससुरनिपुणाप्रशस्तेन; मनुष्यवन्नीतसैत्स्फटिकसंकाशपाणीय-
 धामेन च पुष्टुतिरन्तःकरणमिव लघुतरज्रवाणो हरिको व्याकलवीतमवनेन सुखाभूषितलोचनः, दुष्टमयसंष्टा-
 क्षमाणमिधितविशिखायकीमिन्नतनुर्जाहति त्रियतमान्प्रापाम् । 'क्येन खर्वो ख' एककलिकाकारप्रबोधक्येन अनि-
 तानुरागः पतंगो दीपाविधि भस्मसाग्नायक्युपयाति । 'क्येन खर्वो ख' वनजवप्य विलासिनीहृदयमिव
 दुष्खबेक्षासु, संसृतिरिव महतीषु अरण्यानीषु, विषय इव दुरतिक्रमणीयसु सल्लकीतवणतदव्याजाहारः, रम्य-
 गिरिनदीविपुल-हृदेषु, स्वेच्छापानतरुणनिमज्जनोन्मज्जनैश्चपवतप्रीतिः, अनुकूलानि करिणीकवयम्बकेनानुसाम्यमानो
 वासिताविशालजवनस्पत्तानोपनीतप्रीतिर्मवकलो विषेतनो रामवहकतिमिरपटलावगुम्भितकोचनो महति गर्ते निप-
 तितः परं व्यसनमवनाहृते । 'मच्छो' मत्स्यः मुवजनमन. 'सरोमवामिखिलासिनो विलोचनविभ्रमविलम्बनोद्यतः
 स्वल्पाहाररसकोसुपो विषयमापनवशः प्रयाति । विषयसुरविभ्रसूयप्रकररजोऽङ्गरागो भ्रमरः विषपावपकुसुम-
 मन्वोनापहृतप्रियतमप्राणो वधति । एवमेते बोधाभ्यापिताः ॥१३४७॥

तिरस्कां दुःखं प्रतिपाद्य विषयरागजनितं मनुवधती र्धवति—

इदि पंचहि पंच इदा सहरसफरिसगंवरुवेहि ।

इक्को कई न इम्मदि जो सेवदि पंच पंचेहि ॥१३४८॥

शा०-टी०—वनमें हिरण मुझके बाणसे दूटनेवाले सरस सुगन्धित तुणोंके अभ्रभागोंको
 खाकर और कोमल वायुके द्वारा शीतल किये गये स्फटिकके समान स्वच्छ जलको पीकर पुष्ट
 होता है । उसकी गति मनसे भी तीव्र होती है । वह व्याधके मनोहर गीतको सुनकर सुखसे
 अपनी आँखें मूँद लेता है । और दुष्ट धमराजकी दाढ़के समान तीक्ष्ण विशाल बाणोंके द्वारा
 छेदा जाकर अत्यन्त प्रिय प्राणोंको त्याग देता है । एक कलिकाके आकार दीपकके रूपसे अनुराग
 करनेवाला पतंगा दीपकको लौमें जलकर भस्म हो जाता है । वनका हाथी स्त्रीके हृदयकी तरह
 जिसमें प्रवेश करना कठिन है, जो संसारकी तरह महान् है और विपत्तिकी तरह जिसे लांघना
 अवश्य है ऐसे महान् वनमें सल्लकीके तरुण वृक्षोंकी शाखा खाता है, रमणीक पहाड़ी नदी और
 बड़े-बड़े सालाबोंमें स्वेच्छापूर्वक जल पीता है, अवगाहन करता है, डुबकी लगाता है, अनेक
 अनुकूल हृदिनियोंका समूह उसके पीछे चलता है, हृदिनीके विशाल जघन भागके स्पर्शनमें
 अनुरक्त होकर मदमत्त हो, रागकी अधिकतारूपी अन्वकारके पटलसे आँखें बन्द कर लेता है और
 महान् गर्तमें गिरकर कष्ट भोगता है । युवा पुरुषोंके मनरूपी सरोवरमें विलास करनेवाली स्त्रियों-
 के लोचनके हावभावका अनुकरण करनेवाला मच्छ बोड़ेसे भोजनकी लोलुपतावश क्षीघ्र ही
 विपत्तिमें पड़ जाता है । अनेक प्रकारके सुगन्धित फूलोंके समूहको रजसे आवेष्टित भीरु विष-
 वृक्षके फूलकी गन्धसे प्राण खो देता है । इस प्रकार एक एक इन्द्रियके बंध होकर ये कष्ट उठते
 हैं ॥१३४७॥

तिर्यञ्जोका विषयरागसे उत्पन्न दुःख कहकर मनुष्य गतिमें कहते हैं—

शा०—इस प्रकार शब्द, रस, स्पर्श, गन्ध, रूप इन पाँच विषयोंके द्वारा पाँच जीव अपने
 प्राण गँबाते हैं । तब जो एक ही पुरुष पाँचों इन्द्रियोंके द्वारा पाँचों विषयोंका सेवन करता है वह
 प्राण क्यों न गँबावेगा ॥१३४८॥

१. मच्छारो-आ० । २. एतां दीकाकारो नेच्छति ।

सरयू गंधमितो वाग्निदिवसमदो विनीदात् ।

विसृपुष्कर्ममग्न्याय मदो गिरयं च संपत्तो ॥१३४९॥

'सरयू' सरय्यां नद्यां । 'गंधमितो' गंधमितो नाम भूपालः । 'ग्वो' मृतः । 'विनीदात्' विनीतापुरी-
पतिः । 'वाग्निदिवसमदो' धामेन्द्रियमद्यतः । 'विसर्गमुष्कन्मात्र' विषमूर्धवासितपुष्पनामाय । 'ग्वो'
मृतः । गिरयं च संपत्तो नरकं च समाप्तः तीक्ष्णवयराग्राज्जातेन कर्मभारेण ॥१३४९॥

पाटलिपुत्रे पंचालगोदसरेण मूर्च्छिता संती ।

पासादादो पडिदा अद्वा गंधर्वदत्ता वि ॥१३५०॥

पाटलिपुत्रे पंचालस्य पीतसम्बेन मूर्च्छिता सती प्रासादात्पतिता नष्टा गन्धर्वदत्ता नामधेया
गणिका ॥१३५०॥

मानुसमंसपसत्तो कं पिन्लवदी तत्रेव भीमो वि ।

रज्ज्वमद्भो अद्भो मदो य पच्छा गदो गिरयं ॥१३५१॥

'मानुसमंसपसत्तो' मानुसमांसप्रसक्तः काम्पित्यपुराणितो भीमो राज्यभ्रष्टो नष्टो मृत पद्मान्नरक-
मुपयातः ॥१३५१॥

चोरो वि तह सुवेगो महिलारूवम्मि रत्तदिट्ठीओ ।

विट्ठो सरेण अच्छिसु मदो गिरयं च संपत्तो ॥१३५२॥

'चोरो वि तह सुवेगो' सुवेगनामधेयवकीरोऽपि सुवतिरुपाकृष्टदृष्टिः शरविट्ठसणे मृतो नरकमुप-
यातः ॥१३५२॥

फासिदिण्ण गोवे सत्ता गिहवदिपिया वि आसक्के ।

मारैदण सपुच्चं धूयाए मारिदा पच्छा ॥१३५३॥

'फासिदिण्ण' स्पृशनेन्द्रियेण हेतुना । 'गोवे सत्ता' आत्सीयं गोपाले आसक्ता । 'गिहवदिपिया'

गा०—अयोध्यापुरीका राजा गन्धमित्र घाणेन्द्रियके वशमे होकर सरयू नदीमें विषले फूल-
की गन्धकी सूँघकर मरा और नरकमें गया ॥१३४९॥

विशेषार्थ—उसके बड़े भाईने भयकर विषसे फूलको सुवासित करके दिया था । इसकी
कथा बृहत्कथाकोशमें ११३ नम्बर पर है ।

गा०—पाटलीपुत्र नगरमें गंधर्वदत्ता नामक गणिका पंचालके गीतके शब्द सुनकर मूर्च्छित
हो महलसे नीचे गिरकर मर गई ॥१३५०॥

विशेषार्थ—इसकी कथा बृहत्कथाकोशमें ११४ नम्बर पर है ।

गा०—कंपिला नगरीका राजा भीम मनुष्यके मासका प्रेमी था । वह राज्यसे निकाला
जाकर मरकर नरकमें गया ॥१३५१॥

विशेषार्थ—बृहत्कथाकोशमें ११५ नम्बर पर इसकी कथा है ।

राष्ट्रकूटमन्त्री । 'नगसक्रे' नासिक्ये नगरे । 'नगरेषुच कुरुत' स्वपुत्रं हस्ता । 'मृगय' दुहिना । 'पञ्च' पञ्चात् । 'नरिसा' नृति नीता ॥१३५३॥ इधिया ।

एवमिन्द्रियबोधानुपपन्नं कोपबोधप्रकटनार्थं प्रकल्पते—

रोसाइहो भीलो हृदय्यो अरदिअग्गिसंसचो ।

सीदे वि णिवाइज्जदि वेवदि य महीवसिहो व ॥१३५४॥

'रोसाइहो' रोषामिष्टः । नोलवर्णो भवति 'हृदय्यो' चिन्तयतीतिः । 'अरदिअग्गिसंसचो' अरत्य-
न्निस्तप्तः । 'सीदे वि णिवाइज्जदि' क्षोतेऽपि सुविद्यो भवति । 'वेवदि' वेपते च । 'महीवसिहो' ब्रह्मेणोपसृष्ट
इव ॥१३५४॥

भिजडीतिवलिपवयणो उज्जादणिचलसुरसलुक्खणखो ।

कोवेण रक्खसो वा जराण भीयो जरो भवदि ॥१३५५॥

'भिजडीतिवलिपवयणो' भृकुटीगिबलितवयनो । 'उज्जादणिचलसुरसलुक्खणखो' उद्गतानिचलसुरस-
कसंक्षणः । 'रोसेव' रोषेण हेतुना । 'रक्खसो' राक्षस इव । 'जराण भीयो जरो होवि' नराणा भीमो भयावहो
भवति नरः ॥१३५५॥

जह कोइ तचलोहं महाय रुहो परं हणामिचि ।

पुण्यदरं सो जज्जदि उहिज्ज व ण वा परो पुरिसो ॥१३५६॥

'जह कोइ' यथा कश्चित् 'सकलमेहं गृह्ण' तत्तलोहं गृहीत्वा । किमर्थं ? 'रुहो परं हणामिचि'

गा०—सुवेग नामक चोर युवती स्त्रियोके रूपको देखनेका अनुरागी था । उसकी आँखमें
बाण लगा और वह मरकर नरक गया ॥१३५२॥

विशेषार्थ—बु० क० को० में इसकी कथा ११६ वीं है । उसमें सुवेगको म्लेच्छराज
कहा है ॥१३५२॥

गा०—नासिक नगरमें गृहपति सागरदत्तकी भार्या नागदत्ता स्पर्शन इन्द्रियके कारण अपने
श्वाले पर आसक्त थी । उसने अपने पुत्रको मारा तो उसकी लड़कीने अपनी माँको मार
दिया ॥१५५३॥

विशेषार्थ—इसकी कथा उसी कथाकोशमें ११७ नम्बर पर है ॥१३५३॥

इस प्रकार इन्द्रियके दोष बतलाकर क्रोधके दोष बतलाते हैं—

का०—टी०—जो क्रोधसे ग्रस्त होता है उसका रंग नीला पड़ जाता है, कान्ति नष्ट हो
जाती है, अरिस्तुभी आँखसे संतप्त होता है । ठंडमे भी उसे प्यास सताती है और पिशाचसे बूहीत
की तरह क्रोधसे काँपता है ॥१३५४॥ भृकुटी चढ़नेसे मस्तक पर तीन रेखाएँ पड़ जाती हैं, काल
काल निचकळ आँखें बाहर निकल आती हैं । इस तरह क्रोधसे अनुष्य दूसरे अनुष्योंके लिए राक्षस-
की तरह भयानक हो जाता है ॥१३५५॥

गा०—जैसे कोई पुख्ख रुष्ट होकर दूसरेका घात करनेके लिए तपा लोहा उठाता है ।
ऐसा करनेसे ब्रूसच उससे जले या न जले, पहले वह स्वयं जलता है ॥१३५६॥

कष्टः परं हृषीति । 'पुण्यवरं लो जगत्त्रि' पूर्वतरं स एव दहते तेन तप्येन लोहेन गृहीतेन । 'उभित्तया परी न वा दुरितो' दहते परः पुण्यो न वा दहते ॥१३५६॥

तद्य रोसेण सयं पुण्यमेव उज्ज्वदि हु कलकलेणेव ।

अपणस्त पुणो दुक्खं करिज्ज रुहो न य करिज्ज ॥१३५७॥

'तद्य रोसेण' तथा रोषेण स्वयं पूर्व दहते इवीकृतलोहसंस्थानीयेन । अन्वस्य पुनर्दुःखं कुर्यान् न वा कष्टः ॥१३५७॥

भासेदूण कसायं अग्गी णसदि सयं जथा वच्छा ।

भासेदूण तद्य णरं निरासवो णस्सदे कोधो ॥१३५८॥

कोधो सत्तुगुणकरो णीयाणं अप्पणो य मण्णुकरो ।

परिमवकरो सवासो रोसो भासेदि णरमवसं ॥१३५९॥

'रोसो सत्तुगुणकरो' रोषः शत्रुघ्नो गुणो धर्मोऽपकारित्व नाम त करोति । अथवा शत्रुणा गुणमुपकारं करोति रोषः । यतोऽयं हि रोषवद्दनेन दह्यमानं तं दुष्ट्वा ते तुभ्यन्ति । कवमस्य रोषमुत्पादयाम इत्येवमादृतास्ते सवापीति । 'णीयाणं अण्णो वा' शान्धवाना आत्मनश्च शोकं करोति । 'परिमवकरो सवासो' स्वनिवासस्थाने परिश्रवमानयति । 'रोसो भासेदि णरमवसं' रोषो नरमवसं नाशयति ॥१३५९॥

ण गुणे पेच्छदि अबवददि गुणे जंपदि अजंपिदव्वं च ।

रोसेण रुद्धिदजो णारगसीलो णरो होदि ॥१३६०॥

'ण गुणे पेच्छदि' गुणं न पश्यति, यस्मिं कुप्यति । 'अबवददि' निन्दति । 'गुणे' गुणानपि नदीयान् । 'जंपदि अजंपिदव्वं च' वदत्यवाच्यमपि । 'रोसेण रुद्धिदजो' रोषेण रीर्षयत्तः । 'णारगसीलो णरो हवदि' नारकसीलो भवति नरः ॥१३६०॥

शा०—उसी प्रकार पिघले हुए लोहेकी तरह क्रोधसे पहले वह स्वयं जलता है । दूसरेको वह दुःखी करे या न करे ॥१३५७॥

शा०—जैसे आग ईंधनको नष्ट करके पीछे स्वयं बुझ जाती है उसी प्रकार क्रोध पहले क्रोधी मनुष्यको नष्ट करके पीछे निराधार होनेसे स्वयं नष्ट हो जाता है ॥१३५८॥

शा०—टी०—क्रोध शत्रुका जो धर्म है अपकार करना, उसे करता है अथवा क्रोध शत्रुका उपकार करता है क्योंकि उसे क्रोधकी आगमें जलते हुए देखकर शत्रु प्रसन्न होते हैं । वे सदा इस प्रयत्नमें रहते हैं कि कैसे इसे क्रोध उत्पन्न करें । क्रोध अपने और बन्धु बान्धवोंको शोकमें डालता है । अपने ही धर्ममें अपना तिरस्कार कराता है । परबस मनुष्यका नाश करता है ॥१३५९॥

शा०—क्रोधी जिसपर क्रोध करता है उसके गुणोंको नहीं देखता । उसके गुणोंकी भी निन्दा करता है । जो कहने योग्य नहीं है वह भी कहता है इस प्रकार क्रोधसे रीढ़ हृदय मनुष्यका स्वभाव नारकी जैसा होता है ॥१३६०॥

अथ करिसवस्तु धर्षणं वरिसेण समज्जिदं खलं पथं ।

इहदि कुल्लिणो दिणो तथ कोहम्भी समणसारं ॥१३६१॥

'अथ करिसवस्तु' यथा कर्षकस्य धान्यं धर्षणं समाहितं खलप्रत्यंतं यद्वृत्तिं विस्कुलिज्जो दीप्तस्तथा क्रोधानिर्बहति धमणस्य सारं पुण्यपण्यं ॥१३६१॥

अथ उग्गविसो उरगो दम्मतराङ्गरहदो पकुप्यंतो ।

अचिरेण होदि अचिसो तथ होदि ज्जी वि निस्तारो ॥१३६२॥

'अथ उग्गविसो उरगो' यथोत्तमिच उरगो । धर्मतुणाकूरहतः सत्यकुष्टरोगकसमुपनयन् स्प्यत्तं तुणाधिकं नक्षयित्वा श्रुतिरिति निचिचो भवति । तथा यत्तिरपि निस्तारो भवत्यचिरेण रत्नत्रयविनाशात् ॥१३६२॥

पुरिसो मक्कडसरिसो होदि सरुवो वि रोसइरुवो ।

होदि य रोसणिमिचं जम्मसइस्सेसु य दुरुवो ॥१३६३॥

'पुरिसो मक्कडसरिसो' पुरुषो मर्कटसवुषो भवति मुरुषोऽपि सन् रोषोऽग्रहृतरूपः । इह जन्मनि दोषानुपपद्यते पारमविक्रमाचष्टे—'होवि' भवति । जम्मसइस्सेसु य दुरुप एकमवक्रताकोपात् ॥१३६३॥

सुट्ठु वि पिओ ह्हुणेण होदि वेसो जणस्स कोषेण ।

पचिदो वि जसो जस्सदि कुट्ठस्स अकज्जकरणेण ॥१३६४॥

'सुट्ठुवि' नितरामपि । जनस्य प्रियो भूतमात्रेणैव इंध्यो भवति रोषेण प्रथितमपि यसो नश्यति । कस्य ? 'कुट्ठस्य अकज्जकरणेण' कुट्ठस्य अकार्यकरणेन ॥१३६४॥

धीयन्ल्लगो वि रुट्ठो कुणदि अणीयन्ल एव सच्च वा ।

मारैदि तेहिं मारिज्जदि वा मारैदि अप्पाणं ॥१३६५॥

भा०—जैसे चिनगारी एक वर्षके धमसे प्राप्त खलिहानमें आये किसानके धान्यको जला देती है उसी प्रकार क्रोधरूपी आग धमणके जीवन धरमें उपाजित पुण्य धनको जला देती है ॥१३६१॥

भा०—जैसे उग्र विषवाले सर्पको घासके एक तिनकेसे मारने पर वह अत्यन्त रोषमें आकर उस तिनके पर अपना विष बमन करके तत्काल विष रहित हो जाता है उसी प्रकार यदि भी क्रोध करके अपने रत्नत्रयका विनाश करता है और क्षीघ्र ही निस्तार हो जाता है ॥१३६२॥

भा०—सुन्दर सुरूप पुरुष भी क्रोधसे रूपके नष्ट हो जाने पर बन्दरके समान लाल मुखाका विकृत हो जाता है । इस अन्ममें क्रोधके दोष दिखालाकर परलोकमें दिखालाते हैं एक भवमें क्रोध करनेसे हजारों जन्मोंमें कुरूप होता है ॥१३६३॥

भा०—क्रोध करनेसे अत्यन्त प्रिय व्यक्ति भी भूतर्त माधर्में ही इंधका पाव होता है । तथा क्रोधी अनुप्यके अनुचित काम करनेसे उसका फला हुवा यस भी नष्ट हो जाता है ॥१३६४॥

'कीर्त्यान्वो वि 'कृद्धो' बन्धुरपि बन्धुकरोति सन्नुवत् । हन्ति बन्धवान् । भावते वा स्वयं तैरात्मानं वा हन्वान् ॥१३६५॥

कुण्डो वि करो अचमानिज्जदि कोवेण तक्खणे वेव ।

जगविस्सुदं वि जस्सदि माहप्पं कोहवत्तियस्स ॥१३६६॥

'कुण्डो वि' पूज्योऽपि करो अचमन्वते रोषेण । तत्काम एव जगति विभ्रुतमपि माहात्म्य नश्यति रोषिणः ॥१३६६॥

हिंसं अल्लियं चोज्जं आचरदि जगस्स रोसदोसेण ।

तो ते सच्चवे हिंसाळियादि दोसा भवे तस्स ॥१३६७॥

'हिंसं अल्लियं चोज्जं' हिंसामसत्य चौर्यं वाचरति जगत्य रोंषदोषेण । अस्मात्सव्य हिंसादिप्रभवा दोग्धा भवे अविध्यन्ति ॥१३६७॥

वारवदीय असेसा दड्ढा दीवायणेण रोसेण ।

बद्धं च तेण पावं दुग्गादिभयबंधणं घोरं ॥१३६८॥

'वारवती' द्वारवती । निवधेया इत्या रुष्टेन द्वीपायनेन । घोरं च पाप बद्धं दुर्गतिभयप्रवृत्तिनिमित्तं । 'कीर्णुति बंधं' ॥१३६८॥

मानवोपप्रकटनार्थः प्रबन्ध उत्तरः—

कुलरूपाणावलसुदलाभस्सरयत्यमदितवादीहिं ।

अप्याजमुष्णमंतो नीचागोदं कुणदि कम्मं ॥१३६९॥

'कुलरूपाणां' कुलेन रूपेण आजया, बलेन, श्रुतेन, लाभेन, ऐश्वर्येण मर्या तपसाऽर्च्यैश्च आत्मानमुत्कर्षयन्तीषीर्षीं कर्म बन्धाति ॥१३६९॥

वा०—क्रोधी मनुष्य अपने निकट सम्बन्धियोंको भी असम्बन्धी अथवा शत्रु बना लेता है । उनको मारता है वा उनके द्वारा मारा जाता है अथवा स्वयं मर जाता है ॥१३६५॥

वा०—पूजनीय मनुष्य भी क्रोध करनेसे तत्काल अपमानित होता है । क्रोधीका जगत्में प्रसिद्ध भी माहात्म्य नष्ट हो जाता है ॥१३६६॥

वा०—क्रोधके कारण मनुष्य लोगोंकी हिंसा करता है, उनके सम्बन्धमें झूठ बोलता है, चोरी करता है । अतः उसमें हिंसा झूठ आदि सब दोष होते हैं ॥१३६७॥

वा०—द्वीपायन मुनिने क्रोधसे समस्त द्वारका नगरी भस्म कर दी । और दुर्गतिमें ले जाने वाले घोर पापका बन्ध किया ॥१३६८॥

क्रोध का कर्मन समाप्त हुआ ।

आगे मानके दोष कहते हैं—

वा०—कुल, रूप, आज्ञा, बल, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य, तप तथा अन्य बातोंमें अपनेको बढ़ा

१. विजुद्धो वा० । २. कियचोज्ज समुष्णवा दोसा-मु० ।

ददृक्षुः अप्यणादो हीने हुक्खाड विंति माणकलिं ।

ददृक्षुः अप्यणादो अचिण् माणं जयति बुधा ॥१३७०॥

'ददृक्षुः अप्यणादो' भारतनो हीमान् बुध्वा भूर्धा मानकलि उदहन्ति । बुधा' पुनरात्मनोऽभिकान्बुध्वा-
बलोक्य मानं निरस्वन्ति ॥१३७०॥

माणी विस्तो सम्बस्स होदि कलहभयवेरदुक्खाणि ।

पावदि माणी णियदं इहपरलोए य अबमाणं ॥१३७१॥

'माणी विस्तो सम्बस्स' मानी सर्वस्य द्वेष्यो भवति । कलहं, भय, वैरं, जन्मान्तरानुगं दुःखं च
प्राप्नोति । नियोजत इह परप चावमानं ॥१३७१॥

सब्बे वि कोइदोसा माणकसायस्स होदि णादब्बा ।

माणेण वेव मेघुणाहिंसालियचोञ्जमाचरदि ॥१३७२॥

'सब्बे वि कोइदोसा' क्रोधस्य वर्णिता दोषाः । 'म गुणे पिच्छवि' इत्येवमादियूनेण ते सर्वे मानकषाय-
स्यापि ज्ञातव्याः । मानेन मेघुने बीये हिंसायामसत्याभिधाने च प्रयतते ॥१३७२॥

सयणस्स जणस्स पिओ जरो अमाणी सदा हवदि लोए ।

णाणं जसं च अत्थं लभदि सकज्जं च साहेदि ॥१३७३॥

'सयणस्स' मानरहितः स्वजनस्य परजनस्य च सदा प्रियो जनो भवति । 'लोए' लोके । 'णाणं' ज्ञानं ।
'जसं' यथा, 'अत्थं' इति णं लभते स्वं कार्यमन्यदपि साधयति ॥१३७३॥

ण य परिहायदि कोई अत्थे मउमत्तणे पउत्तम्मि ।

इह य परच य लभदि विणएण हु सम्बकन्लाणं ॥१३७४॥

'ण य परिहायदि' मार्दवे प्रयुक्ते नैव कश्चिदर्थो हीयते येनायमर्थहानिमयात् मानं कुर्यात् । मार्दवे तु
प्रयुक्ते इह जन्मान्तरे च लभ्यते विनयेनैव सर्वकल्याणं ॥१३७४॥

मानने वाला, उनका अहंकार करनेवाला नीच गोत्र नामक कर्मका बन्ध करता है ॥१३६९॥

शा०—अपनेसे हीन व्यक्तियोंको देखकर मूर्ख लोग मान करते हैं । किन्तु विद्वान् अपनेसे
बड़ोंको देखकर मान दूर करते हैं ॥१३७०॥

शा०—मानीसे सब द्वेष करते हैं । वह कलह, भय, वैर और दुःखका पात्र होता है तथा
इस लोक और परलोकमें नियमसे अवमानका पात्र होता है ॥१३७१॥

शा०—पहले जो क्रोधके दोष कहे हैं वे सब दोष मानकषायके भी जानना । मानसे मनुष्य
हिंसा, असत्य बोलना, चोरी और मेघुनमें प्रवृत्ति करता है ॥१३७२॥

शा०—मान रहित व्यक्ति जगन्में स्वजन और परजन सदा सबका प्रिय होता है । वह
ज्ञान, भय और धन प्राप्त करता है तथा अन्य भी अपने कार्यको सिद्ध करता है ॥१३७३॥

शा०—मार्दव मुक्त व्यवहार करने पर कोई धनहानि नहीं होती जिससे धनहानिके भय-
से मनुष्य मान करे । विनयसे इस जन्ममें और जन्मान्तरमें सर्व कल्याण प्राप्त होते हैं ॥१३७४॥

सङ्घि साहस्तीञ्चो पुत्रा सगरस्स रायसीहस्स ।

अदिबल्लवेगा संता णट्ठा माणस्स दोसेण ॥१३७५॥

'सङ्घि साहस्तीञ्चो' सगरस्स राजसिंहस्य चक्रियः। वट्टिसहस्रसंख्याः पुत्रा महाबलाः विनष्टा मान-
दोषेण ॥१३७५॥ माणसिगर्द ।

मायादोषनिरूपणायोत्तरगाथा—

जघ कोडिसमिद्धो वि ससन्ल्लो ण लभदि सरीरणिच्चाणं ।

मायासन्ल्लेण तहा ण णिन्नुदि तवसमिद्धो वि ॥१३७६॥

'जघ कोडिसमिद्धो वि' यथा कोटिसमूहोऽपि शरीरानुप्रविष्टसत्वो न शरीरसुखं लभते । तथा श्रावा-
शल्येन न निर्बृतिं लभते तपःसमूहोऽपि ॥१३७६॥

होदि य वेस्सो अप्पच्चइदो तघ अवमदो य सुजणस्स ।

होदि अचिरेण सत्तू णीयाणवि णियडिदोसेण ॥१३७८॥

'होदि य वेस्सो' द्वेष्यो भवत्यप्रत्ययित तथा सुजनस्यावमतः । बाण्यवानामपि शत्रुरचिरेण भवति
मायादोषेण ॥१३७८॥

पावइ दोसं मायाए महन्ल्लं लहु सगावराघेवि ।

सच्चाण सहस्साणि वि माया एक्का वि णासेदि ॥१३७८॥

'पावइ दोसं' प्राप्नोति दोषं महान्तं अल्पापराधोऽपि मायया । एकापि माया सत्यसहस्राणि नाश-
यति । महादोषप्रापणं सत्यसहस्रविनाशनं च मायादोषो ॥१३७८॥

मायाए भिच्चभेदे कदम्भि इध्लोगिगच्छपरिहाणी ।

णासदि मायादोसा विसज्जुददुद्धवं सामण्णं ॥१३७९॥

गा०—सगर चक्रवर्तिके साठ हजार पुत्र महाबलशाली होते हुए भी मान दोषके कारण
मृत्युको प्राप्त हुए ॥१३७५॥

मानके दोषोंका वर्णन पूर्ण हुआ ।

आगे मायाके दोष कहते हैं—

गा०—जैसे एक कोटी धनका स्वामी होने पर भी यदि शरीरमें कीलकाँटा घुसा हो सो
शारीरिक सुख नहीं मिलता । उसी प्रकार तपसे समृद्ध होने पर भी यदि अन्तरमें मायारूपी
सत्य घुसा है तो मोक्ष लाभ नहीं हो सकता ॥१३७६॥

गा०—माया दोषसे मनुष्य सबके द्वेषका पात्र होता है, उसका कोईविश्वास नहीं करता ।
सुजन भी उसका अपमान करते हैं । वह शीघ्र ही अपने बन्धु-बान्धवोंका भी शत्रु बन जाता
है ॥१३७७॥

गा०—अपने द्वारा बोझ सा अपराध होने पर भी मायाचारी महान् दोषका भागी बनता
है । एक बारका भी मायाचार हज़ारों सत्त्वोंको नष्ट कर देता है इस प्रकार महादोषका भागी
होना और हज़ार सत्त्वोंका विनाश ये मायाके दोष हैं ॥१३७८॥

'मायाए' मायाया । 'वित्तभेदे' मीमा विनासे कृते । 'इह लोनिगच्छपरिहायी' ऐहलौकिककार्यविनाशः । 'मायावि सावक्यं' नश्यति आत्मन्य् । 'मायाबोला' मायाक्य बोधाद्वेत्तोः । 'वित्तबुधबुद्ध' विषयुतदुग्धमिव । मित्रकार्यविनाशः स्वामय्यहानिश्च मायाजनितदोषी ॥१३७९॥

माया करेदि षीचागोद इत्थी णवंसयं तिरियं ।

मायादोसेण य भवसएसु डमिज्जदे बहुसो ॥१३८०॥

'माया करेदि षीचागोद' माया करोति नीचैर्गोत्रं कर्म । नीचैर्वा गोत्रमस्य जन्मान्तरे । 'इत्थी णवुंसयं-तिरियं' स्त्रीवेदं, नपुंसकवेदं, तिर्यग्यति च नामकर्म करोति । अथवा स्त्रीत्व, नपुंसकत्व, तिर्यक्तवं वा । 'मायादोसेण' 'मायासहितेन दोषेण । 'भवसएसु' जन्मसंज्ञेयु । 'डमिज्जदि' वक्ष्यते । 'बहुसो' बहुधाः ॥१३८०॥

कोहो माणो लोहो य जत्थ माया वि तत्थ सण्णिहिदा ।

कोहमदलोहदोसा सव्वे मायाए ते होति ॥१३८१॥

'कोहो माणो' क्रोधमानलोभास्तत्र जोषे तन्निहिता यत्र स्थिता माया । क्रोधमानलोभजन्या दोषाः सर्वेऽपि मायावतो भवन्ति ॥१३८१॥

सत्तो य भरथगामस्य सत्तसंबच्छराणि जिस्सेसो ।

दट्टो डंभणदोसेण कुंभकारेण रुट्टेण ॥१३८२॥

'सत्तो' सत्यं । 'भरथगामस्य' भरतनामधेयग्रामस्य । 'सत्तसंबच्छराणि' वर्षसप्तकं । 'जिस्सेसो दट्टो' निरवशेषं दण्डं । 'डंभणदोसेण' मायादोषेण हेतुना । 'कुंभकारेण' रुष्टेन कुम्भकारेण ॥१३८२॥ मायासिन्धवा ।

लोभदोषानाचष्टे—

लोभेणासाधचो पावइ दोसे बहुं कुणदि पावं ।

णीए अप्पाणं वा लोभेण जरो ण विगणेदि ॥१३८३॥

शा०—मायाचारसे मित्रना नष्ट हो जाती है और उससे इस लोक सम्बन्धी कार्योका विनाश होता है । तथा मायादोषसे विष मिश्रित दूधकी तरह मुनि धर्म नष्ट हो जाता है । इस प्रकार मित्रता और कार्यका नाश तथा मुनि धर्मकी हानि ये मायाके दोष हैं ॥१३७९॥

शा०—टी०—मायासे नीच गोत्र नामक कर्मका बन्ध होता है, जिससे दूसरे जन्ममें नीच कुलमें जन्म होता है । तथा स्त्रीवेद, नपुंसकवेद और तिर्यञ्जगति नाम कर्मका बन्ध करती है । अथवा मायासे स्त्रीपना, नपुंसकपना और तिर्यञ्जपना प्राप्त होता है । मायासे उत्पन्न हुए दोषसे सेकड़ों जन्मोंमें बहुत बार ठगया जाता है अर्थात् किसीको एक बार ठगनेसे बार-बार ठगा जाता है ॥१३८०॥

शा०—जहाँ मायाचार है वहाँ क्रोध, मान लोभ भी रहते हैं । क्रोध मान और लोभसे उत्पन्न होने वाले सब दोष मायाचारीमें होते हैं ॥१३८१॥

शा०—मायाचारके दोषसे रुष्ट हुए कुम्भकारने भरत नामक गाँवका धान्य सात वर्ष तक पूर्ण रूपसे जलाया था ॥१३८२॥

१ मायासंज्ञितेन—यु० ।

‘लोभेण’ लोभेन हेतुना । ‘आसावत्तो’ ममेदभविष्यतीत्याशया वस्तः । ‘वाचसि दोसे’ प्राप्नोति दोषान् ।
 ‘कुटुम्बदि पावं’ पाप च बहु करोत्याशावान् । ‘लीए’ बान्धवान् । ‘अप्याणं वा’ आत्मानं वा । ‘लोभेण’
 लोभेन । ‘वरो च विगणेवि’ न विगणयति । बान्धवानपि वाधते स्वशरीरभ्रम च नापेक्षते इति वाच्यत् ॥१३८३॥

वस्तुन. मारासारतया न कश्चित् कर्मबन्धातिशय. येन केनचिद्द्रव्येण जनिता मूच्छा कर्मबन्धे निमित्त
 आत्मा शुभपरिणामनिमित्तत्वादिति मत्वा सूरिराचष्टे—

लोभो तणे वि जादो जणेदि पावमिदरस्थ किं वच्चं ।

‘लगिदमउडादिसंगस्स वि हु ण पावं अलोहस्स ॥१३८४॥

‘लोभो तणो वि जादो’ लोभस्तृणेऽपि जातो । ‘जणेवि पावं’ जनयति पापं । ‘इवरत्थ’ इतरत्र सारवति
 वस्तुनि । ‘किं वच्चं’ किं वाच्यं । ‘लगिदमउडादिसंगस्स वि’ स्वशरीरविलम्बनमुकुटादिपरिग्रहस्यापि न पाप
 भवति । ‘अलोहस्स’ लोभकषायवजित्तय्य मुकुटादे सारद्रव्यस्यापि प्रत्यासत्तिनं बन्धायति मन्यते ॥१३८४॥

साकेदपुरे सीमंघरस्स पुत्तो मियद्धजो नाम ।

मदयमहिसनिमित्तं जुवगय्या केवली जादो ॥१३८५॥

तृप्तिमापादयति द्रव्यमिति योऽनास्यानुरागः स नास्ति द्रव्यत इत्य.चष्टे—

विशेषार्थ—इसकी कथा वृ० क० को० में १२० नम्बर पर है उसमे गाँवका नाम भरण
 दिया है ॥१३८२॥

लोभके दोष कहते है—

गा०—लोभसे मनुष्य ‘यह वस्तु मेरी होगी’ इस आशामे प्रसन्न होकर बहुत दोष करना
 है; बहुत पाप करता है । लोभसे अपने कुटुम्बियोंकी और अपनी भी चिन्ता नहीं करता । उन्हें
 भी कष्ट देना है और अपने शरीरको भी कष्ट देता है ॥१३८३॥

वस्तुके मागवान या अमाग होनेमे कर्मबन्धमे कोई विशेषता नहीं होती । जिससे किसी
 द्रव्यमें उत्पन्न हुआ ममत्व भाव कर्मबंधमे निमित्त होता है क्योंकि वह ममत्व भाव आत्माके
 अक्षुभ परिणाममे निमित्त होता है, ऐसा मानकर आचार्य कहते है—

गा०—नृणमे भी हुआ लोभ पापको उत्पन्न करता है तब सारवान् वस्तुमें हुए लोभका
 तो कहना ही क्या है ? जो लोभकषायसे रहित है उसके शरीरपर मुकुट आदि परिग्रह होनेपर
 भी पाप नहीं होता । अर्थात् मागवान् द्रव्यका सम्बन्ध भी लोभके अभावमें बन्धना कारण नहीं
 है ॥१३८४॥

गा०—माकेत नगरीमें सीमन्धरका पुत्र मृगध्वज नामक था । वह भद्रक नामक भैंसके
 निमित्तसे केवली हुआ ॥१३८५॥

विशेषार्थ—वृ. क. को. में मृगध्वजकी कथा १२१ नम्बर पर है ।

‘द्रव्य तृप्ति देता है’ इस भावनासे मनुष्यका द्रव्यमे जो अनुराग है वह नहीं होनेसे बन्ध
 नहीं होता, यह कहते है—

तेलोककेण वि चित्तस्स जिम्बुदी णत्थि लोभयत्थस्स ।
संतुट्ठो हु अलोमो लमदि दरिरो वि णिज्जाणं ॥१३८६॥

'तेलोककेण वि' तेलोकयेनापि । 'चित्तस्स जिम्बुदी णत्थि' चित्तस्य जिम्बु'तिर्नास्ति । 'लोभयत्थस्स' कोभयत्थस्य । 'संतुट्ठो' सन्तुष्टः क्लेशेन केनचिद्दस्तुना शरीरस्थितिहेतुभूतेन । 'अलोमो' द्रव्यगतमूर्च्छारहितः । 'लमदि' लभते । 'दरिरो वि' दरिद्रोऽपि । 'णिज्जाणं' निर्वाणं । सन्तोषायता चित्तनिर्वृतिर्न द्रव्यायता, सत्यपि द्रव्ये महति असन्तुष्टस्य हृदये महति दुःखासिका ॥१३८६॥

सब्बे वि गंधदोसा लोभकसायस्स हुति णादब्बा ।
लोभेण वेव मेहुणहिंसालियचोञ्जमाधरदि ॥१३८७॥

'सब्बे वि गंधदोसा' सर्वेषु परिग्रहस्थ ये दोषा पूर्वमाख्यातास्तै सर्वेषु । 'लोभकसायस्स' कोभकषायवतः लोभः कषायोऽप्येति लोभकषाय इति गृहीतत्वात् । अथवा लोभसमितस्य कषायस्य दोषा इति सम्बन्धनीयं । 'लोभेण वेव' लोभेन यैव । मैथुनं, हिंसां, अलीकं, चौर्यं बाधरति । ततः सावद्यक्रियायाः सर्वस्या भाविमान् लोभः ॥१३८७॥

रामस्स जामदग्गिस्स वच्छं चित्तुण कत्तविरिओ वि ।
णिघणं पत्तो सक्कुलो ससाहणो लोभदोसेण ॥१३८८॥

'रामस्स' रामस्य । 'जामदग्गिस्स' जामदग्न्यस्य । 'वच्छं' व्रजं । 'चित्तुण' गृहीत्वा । 'कत्तविरिओ वि' कार्तवीर्योऽपि । 'णिघणं पत्तो' निघनं प्राप्तः 'सक्कुलो' सबन्धुवर्गः । 'ससाहणो' सबलः । 'लोभदोसेण' लोभदोषेण ॥१३८८॥ लोभः ।

ण हि तं कुणिज्ज सभ् अग्गी बग्घो व कण्हसप्पो वा ।
जं कुण्ह महादोसं णिब्बुदिविग्घं कसायत्थि ॥१३८९॥

स्पष्टा ॥१३८९॥

भा०—टी०—जो लोभसे प्रस्त हैं उसके चित्तको तीनों लोक प्राप्त करके भी सन्तोष नहीं होता । और जो शरीरकी स्थितिमें कारण किसी भी वस्तुको पाकर सन्तुष्ट रहता है, जिसे वस्तुमें ममत्वभाव नहीं है वह दरिद्र होते हुए भी सुख प्राप्त करता है । अतः चित्तकी शान्ति सन्तोषके अधीन है, द्रव्यके अधीन नहीं है । महान् द्रव्य होते हुए भी जो असन्तुष्ट है उसके हृदयमें महान् दुःख रहता है ॥१३८६॥

भा०—पूर्वमें परिग्रहके जो दोष कहे हैं वे सब दोष लोभकषायवालेके अथवा लोभ नामक कषायके जानना । लोभसे ही मनुष्य हिंसा, झूठ, चोरी और मैथुन करता है । अतः समस्त पाप-क्रियाओंका प्रथम कारण लोभ है ॥१३८७॥

भा०—जमदग्निने पुत्र परशुरामकी गायोंको ग्रहणकर लेनेके कारण राजा कार्तवीर्य लोभदोषसे समस्त परिवार और सेनाके साथ मृत्युको प्राप्त हुआ । परशुरामने सबको मार डाला ॥१३८८॥

विशेषार्थ—वृ. क. को. में कार्तवीर्यकी कथा १२२ नम्बर पर है ।

उत्तरगाथा—

इदियकसायदुर् तस्सा पाठेति दोसविसमेसु ।

दुःखावहेसु पुरिसे पसदिलिण्वेदखलिया इ ॥१३९०॥

'इदियकसायदुर् तस्सा' इन्द्रियकषायदुर्वान्तास्थाः । 'पाठेति' पातयन्ति । 'दोसविसमेसु' पापविषम-
स्थानेषु । 'दुःखावहेसु' दुःखावहेषु । 'पुरिसे' पुरुषान् । 'पसदिलिण्वेदखलिया' प्रतिपिठकनिर्वे-
कलिनाः ॥१३९०॥

इदियकसायदुर् तस्सा णिव्वेदखण्डिदा सता ।

ज्झाणकसाय भीदा ण दोसविसमेसु पाठेति ॥१३९१॥

'इदियकसायदुर् तस्सा' इन्द्रियकषायदुर्वान्तापुरज्जाः वैराग्यसखीननियमिताः सन्तः ध्यानकषायधीता
न दोषविषयेषु पातयन्ति ॥१३९१॥

इदियकसायपण्णगदट्टा बहुवेदणुहिदा पुरिसा ।

पम्मदुज्झाणसुक्खा संजमजीयं पविजइति ॥१३९२॥

इन्द्रियकषायपन्नगदष्टाः, बहुवेदनावष्टम्भाः पुमान् प्रधृष्टध्यानसुखाः सयमजीव परित्य-
जन्ति ॥१३९२॥

ज्झाणागदेहि इदियकसायभुजगा विरागमतेहि ।

णियमिज्जंता संजमजीयं साहुस्स ण हरंति ॥१३९३॥

ध्यानगदौरिन्द्रियकषायभुजगा वैराग्यमन्त्रैर्नियम्यमाणाः साधोः सयमर्जामित न हरन्ति ॥१३९३॥

सुमरणपुंखा चिंतावेगा विसयविसलित्तरइधारा ।

मणघणुसुक्का इ दियकंडा विघेति पुरिसमयं ॥१३९४॥

गा०—शत्रु, आग, व्याघ्र और कृष्ण सर्प भी वह बुराई नहीं करता जो बुराई कषाय-
रूपी शत्रु करता है । वह कषायरूप शत्रु मोक्षमें बाधारूप महादोषका कारण है ॥१३९४॥

गा०—इन्द्रिय कषायरूपी घोड़े दुर्दमनीय हैं इनको बशमें करना बहुत कठिन है । वैराग्य-
रूपी लगामसे ही ये बशमें होते हैं । किन्तु उस लगामके डोले होनेपर वे पुरुषको दुःखदायी पाप-
रूपी विषम स्थानोंमें गिरा देते हैं ॥१३९०॥

गा०—किन्तु इन्द्रिय कषायरूपी दुर्दमनीय घोड़े जब वैराग्यरूपी लगामसे नियमित होते
हैं और ध्यानरूपी कोड़ेसे भयभीत रहते हैं तो विषम पापस्थानमें नहीं गिराते ॥१३९१॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूपी सर्पोंसे डसे हुए मनुष्य बहुत कष्टसे पीड़ित होकर, उत्तम-
ध्यानरूपी सुखमें भ्रष्ट हो, संयमरूपी जीवनको त्याग देते हैं ॥१३९२॥

गा०—किन्तु इन्द्रिय और कषायरूपी सर्प सम्यग्ध्यानरूपी सिद्ध औषधि और वैराग्यरूपी
मन्त्रोंसे बशमें होनेपर साधुके संयमरूपी जीवनको नहीं हारते ॥१३९३॥

'सुवचनपुत्रा' स्मरणपुच्छः 'सिद्धयोगा' विषयविषयानिष्ठा रतिव्याप्रा येनां ते मनोचतुर्मुखाः इन्द्रिय-
बाधाः पुरुषमयं भावयन्ति ॥१३९५॥

ताम्बाभान्पुरुषमयहृन्लोहसाम्यतय धूम वारयन्तीति कथयति—

विदिल्लेखएहि इ'दियकंठे ज्जाणवरसत्तिम्जुत्ता ।

'वारंति समणजोहा मुणावदिद्वीहिं इददृण ॥१३९६॥

'विदिल्लेखएहि' धृत्तिकेटीः इन्द्रियधारान्मारयन्ति ध्यानसत्त्वसमन्विताः । 'समणजोहा' धमणयोधाः
सम्यग्ज्ञानवृत्त्या दृष्ट्या ॥१३९५॥

गंवाडवीचरंतं कसायविसकंटया पमायमुहा ।

विद्वंति विसयतिक्खा अधिदिदढोवाणहं पुरिसं ॥१३९६॥

'गंवाडवीचरंतं' परिग्रहवने चरन्तं कषायविषकंटका प्रमादमुखा विषयन्ति विषयैस्तीक्ष्णा धृतिदृढोपान-
द्रहितं पुरुषं ॥१३९६॥

संयतस्य पुनरेवंपरिकरस्य कषायविषकंटका किञ्चिदपि न कुर्वन्ति इत्याचष्टे मूरि—

आबडविदिदढोवाणहस्स उवओगदिद्विजुसस्स ।

न करंति किंचि दुक्खं कसायविसकंटया मुणिणो ॥१३९७॥

'आबडविषिदढोवाणहस्स' आबडधृतिदृढोपानत्वस्य ज्ञानोपयोगसहितदृष्टेर्मुने स्वल्पमपि दुःखं न
कुर्वन्ति कषायविषकंटकाः ॥१३९७॥

शा०—इन्द्रियां बाणके समान पुरुषरूपी हिरनको वीधती है । बाणमें पुंल होने हैं । भोगे हुए भोगोंका स्मरण इनका पुंल है । भोगोंकी चिन्ता इनका वेग है । रति इनकी धारा-गति है जो विषयरूपी विषये लिस है । ये इन्द्रियरूप बाण मनरूपी धनुषके द्वारा छोड़े जाते हैं ॥१३९५॥

आगे कहते हैं कि पुरुषरूप भूगोका घात करनेमें तत्पर उन बाणोंको संयमीजन ही निवारण करते हैं—

शा०—ध्यानरूपी श्रेष्ठ शक्तिसे युक्त श्रमण योद्धा सम्यग्ज्ञानरूप दृष्टिसं देखकर धैर्यरूप फलकके द्वारा इन्द्रियरूप बाणोंका वारण करते हैं ॥१३९५॥

शा०—परिग्रहरूपी घोर वनमें कषायरूपी विषैले कटि फंले हैं । प्रमाद उनका मुख है और विषयोंकी चाहसे वे तीक्ष्ण हैं । धैर्यरूपी दृढ़ जूतेको धारण किये बिना जो उस वनमें विचरण करता है, उसे वे कटि वीध देते हैं ॥१३९६॥

आगे कहते हैं इस प्रकारके धैर्यरूपी जूता धारण करनेवाले संयमीका वे कषायरूप विषेले कटि कुछ भी नहीं करते—

शा०—जिस मुनिने धैर्यरूपी दृढ़ जूता धारण किया है और जो सम्यग्ज्ञानोपयोग दृष्टिसे सम्पन्न है उसको वे कषायरूपी विषेले कटि कुछ भी दुःख नहीं देते ॥१३९७॥

उग्रहृत्वा अतिचपल अग्निमहिदकसायमकटा पावा ।

बंधफलोलोहदिया आसंति इ संजमारामं ॥१३९८॥

'उग्रहृत्वा' असंयता अतिचपला अग्निमहिताः कषायमर्कटाः, परिग्रहकलासकहृत्वा नासयन्ति संजमारामं ॥१३९८॥

चिचं पि अमज्जस्त्वे तिकालदोसानुसरणपरिहत्वे ।

संजमरज्ज्हिं अदी बंधंति कसायमकटए ॥१३९९॥

'चिचं पि' नित्यमपि अमाध्यस्थान्, त्रिकालविषयदोसानुसरणपट्टन, कषायमर्कटव्यतय. संजमरज्ज्-विबंधयन्ति ॥१३९९॥

चिदिबन्मिर्हि उबसमसरेहिं साधुहिं णाणसत्त्वेहिं ।

इदियकसायसच् सक्का जुचेहिं जेदुं जे ॥१४००॥

'चिदिबन्मिर्हि' धृत्सिन्नदं. उपशमसरे साधुभिर्ज्ञानशस्त्रैस्त्वयुर्त्तरिन्द्रियकषायघ्नो जेतुं शक्या ॥१४००॥

इदियकसायचोरा सुभावणासंकलाहिं वज्जंति ।

ता ते ण विक्कुब्बंति चोरा जह संकलावद्धा ॥१४०१॥

'इदियकसायचोरा' इन्द्रियकषायचोरा. शुभध्यानभावशुभलागिबंधयन्ते । बन्धस्थास्ते न विकारं कुर्वन्ति शुभलावद्धचोरा इव ॥१४०१॥

इदियकसायवग्धा संजमणरघादणे अदियसत्ता ।

वेरग्गालोहददपंजरेहिं सक्का इ गियमेदुं ॥१४०२॥

'इदियकसायवग्धा' इन्द्रियकषायव्याधा. संजमनरमक्षणे अत्यासका वैराग्यलोहदृढपञ्चरं नियन्तुं शक्या ॥१४०२॥

भा०—ये कषायरूपी बन्दर असंयत हैं अतिचपल हैं, पापी हैं, इनका हृदय परिग्रहरूपी फलमे आसक्त है । इनका यदि निग्रह नहीं किया तो ये संयमरूपी उद्यानका विनाश कर देते हैं ॥१३९८॥

भा०—ये कषायरूपी बन्दर, निरन्तर चपल हैं, त्रिकालवर्ती दोषोंका अनुसरण करनेमें चतुर हैं । इन्हे संयमी संयमरूपी रस्सीसे बंधता है ॥१३९९॥

भा०—सन्तोषरूपी कवच, उपशमरूपी बाण और ज्ञानरूपी शस्त्रोंसे सहित साधुओंके द्वारा वे इन्द्रिय और कषायरूप शत्रु जीते जा सकते हैं ॥१४००॥

भा०—इन्द्रिय और कषायरूपी चोर शुभध्यानरूप भावोंको साकलसे बंधे जाते हैं । बंधे जानेपर वे साकलसे बंधे चोरोंकी तरह विकार नहीं करते ॥१४०१॥

भा०—इन्द्रिय और कषायरूपी व्याघ्र संयमरूपी मनुष्यको खानेके बड़े प्रेमी होते हैं । इन्हें वैराग्यरूपी लोहके मजदूर पीजरेमें रोका जा सकता है ॥१४०२॥

इन्द्रियकसायहृत्वी कष्यायिभ हीगिदा उवाकेण ।

विणायवरत्तावदा सक्का अवसा वसे काहुं ॥१४०३॥

'इन्द्रियकसायहृत्वी' इन्द्रियकसायहृत्स्तिनः उपायेन वसवारीमुपनीताः विणयवरत्तावदा अवसा अपि वषया वसे नेतुं ॥१४०३॥

इन्द्रियकसायहृत्वी बोलेतुं सीलफलिभमिच्छता ।

धीरेहिं कंभिदग्धा विदिजमस्तान्प्यहारेहिं ॥१४०४॥

इन्द्रियकसायहृत्स्तिनः सीलपरिपालननिविनां रोद्धव्या धीरेषु तिकुर्वतोवप्रहरीः ॥१४०४॥

इन्द्रियकसायहृत्वी दुस्तीलवणं जदा अहिलसेज्ज ।

णान्कुसेण तह्या सक्का अवसा वसं काहुं ॥१४०५॥

'इन्द्रियकसायहृत्वी' इन्द्रियकसायहृत्स्तिनः दुःशीलवनं प्रवेदुं यदाभिलपन्ति तदा अवसा अपि वसे कर्तुं शक्यन्ते ज्ञानाकुसेन ॥१४०५॥

जदि विसयगंघहृत्वी अदिभिज्जदि गगदोसमयमत्ता ।

विण्णाणज्जाणजोहस्स वसे णान्कुसेण विणा ॥१४०६॥

'जदि विसयगंघहृत्वी' यद्यपि विषयगन्धहृत्स्तिन स्वयं वष्याटवी प्रविशन्ति रागद्वेषमत्ता न तिष्ठेयुषि-ज्ञानध्यानयोगस्य वशे ज्ञानाकुसेन विना ॥१४०६॥

विसयवणरमणलोला बाला इन्द्रियकसायहृत्वी ते ।

पसमे रामेदग्वा तो ते दोसं ण काहिति ॥१४०७॥

'विसयवणरमणलोला' विषयवनरमणलोला बाला इन्द्रियकसायहृत्स्तिनः ते रतिमुपनेयाः प्रणयेन ततस्ते दोषं न कुर्वन्ति ॥१४०७॥

गा०—इन्द्रिय कषायरूपी हाथी यद्यपि स्वच्छन्द है तथापि वृतरूपी बाड़ेमें लं जाकर विनयरूपी रस्सीसे उपायपूर्वक बंधे जानेपर वशमे लाये जा सकते हैं ॥१४०३॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप हाथी शीलरूपी अर्गलाको लांघना पसन्द करते हैं । अतः धीर पुरुषोंको उनके दोनों कानोंके पास धैर्यरूपी प्रहार करके रोकना चाहिए ॥१४०४॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप हाथी जब दुःशीलरूपी वनमें प्रवेश करना चाहे तो उसे ज्ञानरूपी अंकुशसे वशमें करना शक्य है ॥१४०५॥

गा०—यदि रागद्वेषरूपी मदसे मस्त विषयरूपी गन्धहृत्सी ज्ञानाकुशके विना विज्ञान ध्यानरूपी योधाके वशमें नहीं रहता और परिग्रहरूपी वनमें प्रवेश करता है ॥१४०६॥

गा०—तो इन्द्रिय और कषायरूप बालहृत्सी विषयरूपी वनमें क्रीड़ा करनेके प्रेमी होते हैं । उन्हें प्रसामरूपी वनमें अर्थात् आत्मा और शरीरके भेदज्ञानसे प्रकट हुए स्वाभाविक वैराग्यमें रमण कराना चाहिए तब वे दोष नहीं करेंगे ॥१४०७॥

सद्मे क्वे मंवे रसे च फासे सुमे च अमुमे य ।

तन्हा रागदोसं परिहर तं इदियजएण ॥१४०८॥

'सद्मे क्वे मंवे रसे च' शुभाशुभेषु शब्दाविवु रागदोषं च निराकुट त्वं इन्द्रियजनैत्युत्तरसूत्र-
स्वार्थः ॥१४०८॥

जह नीरसं पि कडुयं ओसहं जीविदस्थिजो पिबदि ।

कडुयं पि इदियजयं जिञ्जुइहेतुं तह पिबिज्ज ॥१४०९॥

'जह नीरसं पि' यथा स्वादुरहितं कटकमप्योषधं औषितार्थं पिबति । तथा इन्द्रियजनं भजते कटक-
मपि जिञ्जुतिहेतुम् ॥१४०९॥

इन्द्रियजन्ये क उपाय इत्याशाङ्क्याया इन्द्रियकषायविषयाणां शुभाशुभत्वं अनवस्थितं । ये शुभास्त एवे-
दानीं अशुभा, अशुभा ये ते एव शुभा । ये तु अशुभतया दोषा इदानीं हरि ? ते शुभा इति गृहीता न त्वशुभा
जातास्त एवानी इति कथं नानुरागस्तत्र ये वाऽशुभास्तेषु कथं देव शुभता प्रतिपत्स्यमानेषु इति निवेदयति—

जे आसि सुमा एण्ह असुमा ते चेव पुग्गला जादा ।

जे आसि तदा असुभा ते चेव सुभा इमा इण्हि ॥१४१०॥

'जे आसि सुमा एण्ह' ये पुद्गला. शुभा असन्निधानी त एवाशुभा जाता । ये चासन्तया अशुभा
ते चेव शुभा इदानी इति तौ न युक्तौ रागदोषौ इति शिक्षयति ॥१४१०॥

सब्बे वि य ते भुत्ता च्चा वि य तह अणंतखुत्तो मे ।

सब्बेसु एत्थ को मज्झ विंभजो भुत्तविज्जेसु ॥१४११॥

शा०—इसलिए हे क्षपक ! इन्द्रियको जीतकर तू शुभ और अशुभ शब्द, रूप, गन्ध, रस
और स्पर्शमें रागद्वेष मत कर ॥१४०८॥

शा०—जैसे जीवनका इच्छुक रोगी स्वादरहित कडुवी औषधी पीता है वैसे ही तू मोक्षके
लिए कटक भी इन्द्रियजन्यका सेवन कर ॥१४०९॥

इन्द्रिय जन्यका क्या उपाय है ऐसी शंका करनेपर कहते हैं—

शा०—टी०—इन्द्रिय और कषायके विषयोंमें अच्छा और बुरापना स्थिर नहीं है । जो
विषय आज अच्छे लगते हैं कल वे ही बुरे लगते हैं । जो आज बुरे लगते हैं कल वे ही अच्छे
लगते हैं । जिन्हे अच्छा मानकर स्वीकार किया वे ही बुरा लगनेपर द्वेषके पात्र होते हैं तो उनमें
अनुराग कैसा ? और जो बुरे लगते हैं कल वे ही अच्छे लगनेवाले हैं अतः उनमें द्वेष कैसा ?
जो पुद्गल इस समय अच्छे प्रतीत होते हैं वे ही बुरे लगने लगते हैं । जो पहले बुरे प्रतीत होते थे
वे ही अब अच्छे प्रतीत होते हैं इसलिए उनमें रागद्वेष करना उचित नहीं है ॥१४१०॥

शा०—वे अच्छे बुरे सभी पुद्गल मैंने अनन्तवार भोगे हैं और अनन्तवार त्यागे हैं । उन
भोगे और त्यागे हुए सब पुद्गलोंमें मुझे अचरज कैसा ? इस प्रकार हे क्षपक ! तुम्हें विचारना
चाहिए ॥१४११॥

'कर्मो वि ते नृणां' सर्वेऽपि च ते मुद्वन्मः शुभाशुभक्याः कर्तुमुत्तास्त्यक्ता जन्मवर्षात् मया । तेषु
द्वन्द्वेषु भुवःशक्त्याद्येषु को विस्मयो ममेति श्रुत्वा चिन्ता कार्या ॥१४११॥

सुखसाधनतया यदि तवानुरागो, दुःखसाधनतया च रोषः संव सुखदुःखसाधनता शुभाशुभादीनां
रूपाणां नैवास्ति सङ्कल्पमन्तरेकारतनः इति भवति—

रुवं सुखं च असुखं किंचि वि दुःखं सुखं च न च कुण्दि ।

संकल्पविसेसेण ह्य सुखं च दुःखं च द्वौश्च जय ॥१४१२॥

'कर्मं सुखं च असुखं' कर्मं तुभमगुणं वा किञ्चिद्दुःखं सुखं च नैव करोति । सङ्कल्पवसेनेव सुखं वा
दुःखं भवति जगति ॥१४१२॥

इह य परस्व य लोए दोसे बहुमे य आवहइ चक्खु ।

इदि अप्पणो गणिन्ना भिज्जेदब्बो इवदि चक्खु ॥१४१३॥

'इह य परस्व य' जन्मद्वयेऽपि बहुन्दोषानावहति चक्षुरित्यात्मनावगणय्य निर्जैतव्यं चक्षुः ॥१४१३॥

एवं सम्भं सहरसगंचफासे विचारयिच्चाणं ।

सेसाणि इंदियाणि वि भिज्जेदब्बाणि बुद्धिमदा ॥१४१४॥

'एवं सम्भं' उभयवगमगोचरानेकदोषावहत्वं विचार्य स्वबुद्ध्या वेदाध्यपीन्द्रियाणि शब्दरसगन्धस्पर्श-
विषयाणि निर्जैतव्यानि बुद्धिमता । 'सहरसगंचफासे' इति वैषयिकी सप्तमी ॥१४१४॥

क्रोधवयोपायमाचष्टे—

जदिदा सबदि असंतेण परो तं जत्वि मेचि खमिदब्बं ।

अणुकंपा वा कुज्जा पावइ पावं वरावोचि ॥१४१५॥

'जदिदा सबदि असंतेण' यदि तावदसता दोषेण क्षपति परः स दोषो न ममास्तीति क्षमा कार्या ।
असहोषक्यापनेनास्य मम किं नष्टं इति । अयवानुकम्पा आक्रोशके कुप्यद्विराकोऽसहमिधानेन समार्जयति पाप-

आगे कहते हैं यदि सुखका साधन होनेसे इनमें तेरा अनुराग है और दुःखका साधन होनेसे
द्वेष है तो अच्छे बुरे पुद्गलोंमें बही सुख-दुःख साधनता तेरे संकल्पके सिवाय यथार्थमें नहीं है—

शा०—कोई अच्छा या बुरा रूप सुख या दुःख नहीं करता । जगत्में संकल्पवशा ही सुख-
दुःख होता है ॥१४१२॥

शा०—इस लोक और परलोकमें ये भाँसें बहुत बुराई उत्पन्न करती हैं ऐसा जानकर चक्षु
इन्द्रियको भीतना चाहिए ॥१४१३॥

शा०—इस प्रकार दोनों लोकोंमें अनेक दोष उत्पन्न करने वाली जान अपनी बुद्धिसे
विचारकर शब्द, रस, गन्ध और स्पर्शको विषय करने वाली शेष इन्द्रियोंको भी बुद्धिमान् पुख्यको
भीतना चाहिए ॥१४१४॥

क्रोधको भीतनेका उपाय कहते हैं—

शा०—द्वी०—यदि दूसरा व्यक्ति मेरेमें अविद्यमान दोषको कहता है तो वह दोष मुझमें
नहीं है अतः उसे क्षमा करना चाहिए; क्योंकि असत् दोषको कहनेसे मेरी क्या हानि हुई ? अथवा

भारत कनेक दुःखायहं । मदीवैदोर्वरस्य किञ्चिन्मायाति दोषकारः । गुणैर्वा किमस्य किञ्चिन्भूयसि ? प्राणिनां प्रतिविमता मुखदोषास्ततमेव प्रति मुखदुःखमोज्ज्वलती पुरवृत्तो (?) मुचानेन कर्मबन्धः सम्पाद्यते इति ॥१४१५॥

विमता कल्यात्मिका रोधं पश्यन्पसारयति—

अदि वा सवेज्ज संतेण परो तह वि पुरिसेण खमिदण्णं ।

सो अत्थि मज्झ दोसो ण अलीयं तेण भणिदसि ॥१४१६॥

‘अदि वा सवेज्ज’ यदि वा उपेज्ज सत्ता दोषेण तयापि क्षमा कार्या । सोऽनेन कथ्यमानो दोषो भवति न व्यतीकं तेनोक्तमिति ‘सङ्कल्पतया न हि’ सन्तो दोषाः परे वेदं न बुभुक्षि इति विन्यस्तमिति ॥१४१६॥

यो यस्य समुपकारं महान्तं वेत्ति करोति स तस्यापराधं बल्यं सहते इति प्रसिद्धमेव लोके इति कथयति—

सद्यो वि ण वेव हदो हदो वि ण य मारिदो ति य खमेज्ज ।

मारिज्जंतो भवि सहेज्ज चेव धम्मो ण णट्ठोत्ति ॥१४१७॥

‘सद्यो वि वेव’ अष्ट एवास्मि न हतः इत्यहननं मुखं पुषुं वेत्ति संस्थाप्य किमनेन क्षमेनेन मे नष्टमिति अन्तर्भवः । एवमितरथापि योष्यं । हत एव न मूर्ख्यं प्रापितः । मार्यमाणोऽपि सहते विपन्नमूलन-क्षमोऽविलयितमुखसम्पादनोद्यतो धर्मो न विनाशित इति ॥१४१७॥

उपायान्तरमपि रोधविषये निरूपयति—

निन्दा करने वाले पर क्षमा करना चाहिए—बेचारा झूठ बोलकर अनेक दुःख देने वाला पाप भार एकत्र करता है । मेरे दोषोंसे उसमें दोष उत्पन्न नहीं होते और न मेरे गुणोंसे ही उसका कोई लाभ होता है । प्राणियोंके अपने-अपने गुण दोष नियत हैं । उनसे होने वाला मुख-दुःख भी उन्हें ही होता है । अतः यह व्यर्थ ही कर्मबन्ध करता है ॥१४१५॥

आगे कहते हैं दया रूप चिन्तनसे कठोर क्रोध दूर होता है—

भा०—यदि दूसरा मेरेमें विद्यमान दोषको कहता है तब भी क्षमा करना चाहिए क्योंकि वह जिस दोषको कहता है वह मेरेमें है । वह झूठ नहीं कहता । विद्यमान दोषोंको दूसरे यदि न कहें तो वे नष्ट हो जाते हैं, ऐसी बात भी नहीं है ऐसा विचार करना चाहिए ॥१४१६॥

आगे कहते हैं कि जो जिसका महान् उपकार करता है वह उसके छोटेसे अपराधको सहता है यह बात लोकमे प्रसिद्ध ही है—

भा०—इसने मुझे अपशब्द ही कहे हैं मारा तो नहीं है, इस प्रकार उसके न मारनेके गुण-को चिन्तमें स्थापित करके ‘अपशब्द कहनेसे मेरा क्या नष्ट हुआ’ अतः क्षमा करना चाहिए । मारे तो भी सहन करना चाहिए कि इसने विपत्तिको जड़से दूर करनेमें समर्थ और इष्ट सुखको देने वाले मेरे धर्मका नाश नहीं किया ॥१४१७॥

क्रोधको जीतनेका अन्य उपाय कहते हैं—

१. मा पर मृतो-अ० । ना पुर मृतो-आ० । ना परो मृतो-अ० । २. नकल्पतयता-मु० ।
३. सद्यो दोषान्-आ० । ४. वि खमेज्ज-अ० आ० ।

रोसेण महाबन्धो धार्मिज्ज तर्णं च अग्निणा सन्धो ।

पार्वं च करिज्ज महं बहुवपि णरेण खमिदब्बं ॥१४१८॥

'रोसेण महाबन्धो' दुरज्जो दुर्लभो दुस्वरो धर्मोऽनुयायी रोसेण 'मदीयो नवयति । अग्निना तुणमिव । तथा वाच्यवाचि—

अज्ञानमज्जमनितसत्त्ववदामवसतोः संवृजितः पक्ववाचमुच्यतेऽस्मिन्निवः ।

हिंसाशिलोऽपि भुजगुत्थितवैरवूनः क्षोभाग्निवद्भूति बर्नवर्नं मरत्तान् ॥ इति ॥ [] ॥१४१८॥

उपायान्तरमपि भवति—

पुष्पकदमज्जपावर्षं पत्तं परदुःखकरणजादं मे ।

रिणामोक्खो मे जादो अज्जत्ति य होदि खमिदब्बं ॥१४१९॥

'पुष्पकदमज्जपावर्षं' पापायमहारमज्जानता 'अनेनापि प्रमादिना पूर्वं कृतं यत्कर्म पापं परेषां दुःखकारणं तवच निवर्तितं । ऋणमोक्षांश्च मम जात इति चिन्तयताऽस्यसारयितव्यो रोषः ॥१४१९॥

पुष्पं मयमुवशुत्तं काले णाएण तेत्थियं दब्बं ।

को धारणीओ धणियस्स दित्तओ दुक्खिओ होज्ज ॥१३२०॥

'पुष्पं मयमुवशुत्तं' पूर्वं स्वयमेव भुक्तं, अवधिकाले प्राप्ते । 'वाच्येण' नीत्या । इत्थं अवयवं उत्तमर्णाय प्रयच्छन् को दुःख करोति ॥१४२०॥

भा०—टी०—आगसे तुणकां तरह क्रोधसे दुःखसे उपाज्जन किया गया दुर्लभ और दुस्वर मेरा धर्म नष्ट होता है । कहा भी है—यह क्रोधरूपी आग मनुष्योंके धर्मवनको जलाती है । यह क्रोधरूपी आग अज्ञानरूपी काष्ठसे उत्पन्न होती है, अपमानरूपी वायु उसे भड़काती है । क्रोधर वचनरूपी उसके बड़े स्फुलिंग है । हिंसा उसकी शिखा है और अत्यन्त उठा वैर उसका धूम है ।

तथा यह क्रोध मुझे पापका बन्ध कराता है जो अनेक भवोंमे दुःखका बीज है । इसलिये चित्तमें क्षमा धारण करना चाहिए ॥१४१८॥

अन्य उपाय कहते हैं—

भा०—पापके आश्रयके द्वारको न जानते हुए मैंने प्रमादवश जो पूर्वमें पापकर्म किया था, जो दूसरोंके दुःखका कारण था, वह आज चला गया । आज मे उस ऋणसे मुक्त हो गया । ऐसा विचारकर क्रोधको दूर करना चाहिए ॥१३१९॥

भा०—टी०—पूर्वं जन्ममें मैंने जिसका अपराध किया था उसके द्वारा इस जन्ममें उस अपराधसे उपाजित पापकर्मकी उदीरणा किये जाने पर उसको भोगते हुए मुझे दुःख कैसा ? साहूकार से पहले कर्ज लेकर जिस धनको मैंने स्वयं भोगा है, उतना ही धन उस ऋणका अवधिकाल जाने पर बैठे हुए कौन कर्जदार दुःखी होता है ॥१४२०॥

इह य परस्य लोए दोसे बहुए य आवहदि कोषो ।
इदि अप्यणो गणिता परिहरिदब्बो इवइ कोषो ॥१४२१॥

स्पष्टा उत्तरवाचा ॥१४२१॥

क्रोधबोधोपायभूताम्परिणामानुपबर्धं मानप्रतिपक्षपरिणामं निरूपयति—

को इत्थ मज्झ माणो बहुसो जीवत्तणं पि पत्तस्स ।

उच्चत्ते य अजिच्छे उवट्ठिदे चावि जीवत्ते ॥१४२२॥

'को इत्थ मज्झ माणो' कोऽज्ञासकृत्प्राप्ते 'मानादिकं क्लमत्त्वे यवो मम बहुसो ज्ञानकुलरूपतपोद्विग-
प्रभुत्वैक्यतां प्राप्स्य प्राप्तेऽयुक्तत्वे अनवस्थाविधि सति उपस्थिते चोत्तरकालनीचत्वे ॥१४२२॥

अधिगेसु बहुसु संतेसु ममादो एत्थ को महं माणो ।

को विम्मओ वि बहुसो पत्ते पुण्वम्मि उच्चत्ते ॥१४२३॥

स्पष्टा ॥१४२३॥

उत्तरवाचा—

जो अवमाणकरणं दोसं परिहरइ जिच्चमाउत्तो ।

सो गाम होदि माणी ण दु गुणाचत्तेण माणेण ॥१४२४॥

'जो अवमाणकरणं' योऽवमानकरणं दोषं परिहरति नित्यमुपयुक्तं स मानी भवति । न तु भवति
मानी गुणरिक्तेन मानेन ॥१४२४॥

इह य परस्य लोए दोसे बहुगे य आवहदि माणो ।

इदि अप्यणो गणिता माणस्स विणिग्गहं कुज्जा ॥१४२५॥

शा०—क्रोध इस लोक और परलोकमें बहुत दोषकारक है ऐसा जानकर क्रोधका त्याग
करना चाहिए ॥१४२१॥

क्रोधको जीतनेके उपायभूत परिणामोंको बतलाकर मानके प्रतिपक्षी परिणामोंको
कहते हैं—

शा०—टी०—ज्ञान, कुल, रूप, तप, धन, प्रभुत्व आदिमें मैं ऊंचा भी होऊँ, तो उसका गर्व
कैसा, क्योंकि अनेक बार मैं इनमें नीचा भी हो चुका हूँ । उच्चता और नीचता ये दोनों अनित्य
हैं ॥१४२२॥

शा०—इस लोकमें बहुतसे मुझसे भी ज्ञानादिमें अधिक हैं इनका मुझे अग्निमान कैसा ?
तथा पूर्व जन्मोंमें मैं यह उच्चता अनेक बार प्राप्त कर चुका हूँ तब इनके प्राप्त होने पर आश्चर्य
कैसा ? ॥१४२३॥

जो सदा मन समाकर अपमान करने रूप दोषका त्याग करता है अर्थात् किसीका अपमान
वहीं करता वह मानी होता है । गुण रहित मानसे मानी नहीं होता ॥१४२४॥

इह व परलय बन्धने दोषान् बहुमावहति मानमिति विषयस्य मानमिदं कुर्वास्तापुनः ॥१४२५॥

मायाप्रतिपक्षपरिणामस्वरूपं निगच्छति—

अदिगूहिदा वि दोसा जणेण कालंतरेण जज्जंति ।

मायाय पउचाय को इत्थ गुणो हवदि ल्हो ॥१४२६॥

'अदिगूहिदा वि दोसा' अतीव संयुता अपि दोषा जनेन ज्ञान्यते कालान्तरे मायया प्रयुक्तया को गुणो लभ्य इति चिन्तया निगृह्यति ॥१४२६॥

'परिमाणमि असंते भियदिसइस्सेहिं गूहमाणस्स ।

चंदग्गहोव्व दोसो ज्जणेण सो वायडो होइ ॥१४२७॥

जणपायडो वि दोसो दोसोचि ज वेप्यइ समागस्स ।

इह समल्लचि ज भियपदि समलं पि जए तलायजलं ॥१४२८॥

'जणपायडो वि दोसो' लोकप्रकटोऽपि दोषो दोष इति न गृह्यते मान्यतः । यथा समलमिति न गृह्यते लोके तटाकजलं समलमिति सर्व्वं । एतदुक्तं भवति पुण्यवतीऽपि मायया न कच्छित्साध्यं । प्रकटोऽपि दोषे यतोऽप्यो जगति मान्यः । दोषनिवृहणं हि मान्यताविनाशप्रयाचिति भावः ॥१४२८॥

अथ माया करोत्यर्थायं तथापि सार्व्विकेति वदति—

इंससएहिं बहुगोहिं सुपउत्तेहिं अपडिभोगस्स ।

इत्थं ज एदि अन्धो अण्णादो सपडिभोगादो ॥१४२९॥

शा०—इस लोक और परलोकमें मान बहुत दोषकारी है । ऐसा जानकर अपने मानका निग्रह करना चाहिए ॥१४२५॥

अब मायाके विरोधी परिणामोंका स्वरूप कहते हैं—

शा०—अत्यन्त छिपाकर भी की गई बुराई कालान्तरमें मनुष्योंको ज्ञात हो जाती है । तब मायाचार करनेसे क्या लाभ-है । इस प्रकारके चिन्तनसे मायाको दूर करना चाहिए ॥१४२६॥

शा०—मान्य प्रतिकूल हो तो हजार छलसे छिपाया हुआ भी काम बन्दरभाके ग्रहणकी तरह क्षणमात्रमें प्रकट हो जाता है ॥१४२७॥

शा०—टी०—और भाग्यशालीका लोकमें प्रकट भी दोष दोष नहीं माना जाता । जैसे तालाबका जल मेला हो तब भी लोग उसे मेला नहीं मानते । भाषाय यह है कि पुण्यशालीको मायासे कोई लाभ नहीं है क्योंकि दोष प्रकट होनेपर भी वह जगत्में मान्य रहता है । मान्यताके विनाशके भयसे ही मनुष्य दोषको छिपाता है ॥१४२८॥

आगे कहते हैं कि मनुष्य धनके लिए मायाचार करता है किन्तु वह व्यर्थ है—

शा०—अच्छी तरह सैकड़ों छलकपट करनेपर भी पुण्यहीनके हाथमें पुण्यशालीका धन नहीं आता ॥१४२९॥

'अंकारो हि बहुर्लोह' दम्भसतैर्बहुभिः सुप्रयुक्तैरपि अपुण्यस्य हस्तं नाभात्यर्थः । अन्वस्तास्त-
पुण्यात् ॥१४२९॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ माया ।

इदि अप्पणो गणिष्ठा परिहरिदब्बा हवइ माया ॥१४३०॥

'इह य परत्त य' इहपरलोकयोर्बहुन्वोचानावहति माया । इति आत्मनि निरूप्य परिहर्तव्या भवति
माया ॥१४३०॥

लोमे कए वि अत्थो ण होइ पुरिसस्स अपडिभोगस्स ।

अकएवि हवदि लोमे अत्थो पडिभोगवंतस्स ॥१४३१॥

'लोमे कडे' लोमे कृतेऽप्यर्थो न भवति पुरुषस्य अपुण्यस्य । अकृतेऽपि लोमेऽर्था भवति पुण्यवत् । ततः
अर्थासिकर्यकामे मम न निमित्तमपि तु पुण्यमित्यनया चिन्तया लोभो निराकार्यः ॥१४३१॥

अपि च 'अर्थप्राप्तये जनः प्रयतते अर्थाः पुनरसङ्कल्पात्प्राप्त्यक्ताश्च तेषु को विस्मय इति मनः प्रणि-
धानं कुरु लोभविजयायेति वदति—

सब्बे वि जए अत्था परिगहिदा ते अणंतसुत्तो मे ।

अत्थेसु इत्थ को मज्झ विमओ गहिदविजडेसु ॥१४३२॥

'सब्बे वि जडे अत्था' सर्वेऽपि जन्तवर्थाः परिगृहीता मयानन्तवार मनायेंधमेषु को विस्मयो गृहीत-
त्यर्केषु ॥१४३२॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ लोभो ।

इदि अप्पणो गणिष्ठा णिज्जेदब्बो हवदि लोभो ॥१४३३॥

इवियकसायत्तिगर्व ॥१४३३॥

गा०—माया इस लोक और परलोकमें बहुतसे दोष लाती है ऐसा जानकर भायाका त्याग
करना चाहिए ॥१४३०॥

गा०—लोभ करनेपर भी पुण्यहीन पुरुषके पास धन नहीं होता, और लोभ नहीं करनेपर
भी पुण्यशालीके पास धन होता है । अतः धनका लोभ धनलाभमें निमित्त नहीं है किन्तु पुण्य
निमित्त है ऐसा विचारकर लोभको त्यागना चाहिए ॥१४३१॥

अर्थकी प्राप्तिके लिए मनुष्य प्रयत्न करता है । किन्तु अर्थ अनेक बार प्राप्त हुआ और
छोड़ा है । उसमें आश्चर्य कैसा ? इस तरह लोभको जीतनेके लिए मनमें चिन्तन करो, यह
कहते हैं—

गा०—जन्तुमें जितने पदार्थ हैं वे सब मैंने अनन्तवार प्राप्त किये । उन ग्रहण किये और
त्यागे हुए पदार्थोंमें आश्चर्य कैसा ? ॥१४३२॥

गा०—लोभ इस भव और परभवमें बहुतसे दोष पैदा करता है ऐसा जानकर लोभको
त्यागना चाहिए ॥१४३३॥

इस प्रकार इन्द्रिय और कषायोंका कथन किया ।

एवमिन्द्रियकषायपरिणामनिरोधोपायमनुसन्परिणामानुपविश्य निद्राश्रयकर्म निरूपयति सूरिः—

षिद्दं जिज्ञाहि षिच्छं षिद्दा हु षरं अचेयणं कुण्ड ।

बद्धिज्ज हु पासुत्तो खबओ सण्णेषु दोसेसु ॥१४३४॥

'षिद्दं जिज्ञाहि' निद्रा जय नित्यं । अजिता सा किमपकारं करोति इत्याशङ्क्य आह 'षिद्दा हु षरं अचेयणं कुण्ड' निद्रा नरं अचेतनं करोति । चैतन्यरहितत्ववस्थाभावात्किञ्चिच्छुच्यते करोतीति । अशोच्यते—विवेकज्ञानरहितत्वमेवात्राचेतनशब्देनोच्यते । यत एव योष्यायोष्यविवेकज्ञानरहित अत एव । 'बद्धिज्ज हु' वर्तते एव । 'पासुत्तो' प्रकर्षेण सुप्तः । 'खबओ' क्षपकः । 'सण्णेषु दोसेसु' हिंसामैथुनपरिग्रहादिकेषु ॥१४३४॥

निद्रा कर्षोपयवसाद्भवति कथं मयापाकर्तव्या इत्यथाह—

जदि अविवाचिज्ज तुमं षिद्दा तो तं करेहि सज्जायं ।

सुहुमत्थे वा चित्तेहि सुणसु संवेगणिज्जेवं ॥१४३५॥

'जदि अविवाचिज्ज तुमं' यद्यपिवाचेत भवन्तं निद्रा । ततस्त्वं कुरु स्वाध्यायं । 'सुहुमत्थे वा चित्तेहि' सूक्ष्मान्वाङ्मार्गं चिन्तय । 'सुणसु संवेगणिज्जेवं' शृणुष्व संवेजनीं निर्वेजनीं वा कथां ॥१४३५॥

प्रकारान्तरं निद्राविजयहेतुं निगदति—

पीदी भए य सोगे य तथा षिद्दा ण होइ मणुयाणं ।

एदाणि तुमं तिण्णिवि जागरणत्थं षिसेवेहि ॥१४३६॥

'पीदी भए य सोगे' प्रीत्या भये शोके च सति निद्रा मनुष्याणां न भवति । तेन प्रीत्यादिवेषां कुश त्वं निद्राविजितये ॥१४३६॥

इस प्रकार इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंको रोकनेके उपायरूप परिणामोंको कहकर निद्राको जीतनेका क्रम कहते हैं—

शा०—टी०—सदा निद्रापर विजय प्राप्त करो । नहीं जीतनेपर वह क्या बुराई करती है यह कहते हैं—निद्रा मनुष्यको अचेतन करती है ।

शंका—चेतन मनुष्यकी चैतन्यरहित अवस्था नहीं होती । तब कैसे कहते हैं कि निद्रा अचेतन करती है ?

समाधान—यहाँ अचेतन शब्दसे विवेकज्ञानसे रहित होना ही कहा है ।

इसलिए जो गहरी नीदमें सोया है वह क्षपक योग्य अयोम्यके विवेकज्ञानसे रहित होनेसे हिंसा मैथुन परिग्रह आदि सब दोषोंमें प्रवृत्ति करता है ॥१४३५॥

निद्रा कर्मके उदयसे होती है । उसे मैं कैसे दूर करूँ ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं—

शा०—यदि तुम्हें निद्रा सताती है तो स्वाध्याय करो । या सूक्ष्म अर्थोंका विचार करो । अक्षय संवेग और निर्वेदको करनेवाली कथा सुनो ॥१४३५॥

निद्राको जीतनेका अन्य उपाय कहते हैं—

शा०—प्रीति, भव अथवा शोक होनेपर मनुष्योंको निद्रा नहीं आती । अतः तुम निद्राको जीतनेके लिए प्रीति आदिका सेवन करो ॥१४३६॥

प्रीतिव्यसोक्त्यां अशुभपरिणामत्वात्कर्मनिमित्तता । निद्राया वा अविशिष्टत्वात् कर्म संवराधिको निष्कर्मत्वे प्रीत्यादिकं इत्यात्मक्याया संवरहेतुमुत्तया तद्व्यपदेशं प्रति नियतविषयभूषणव्यति—

भयमागच्छसु संसारादो पीडिं च उत्तमदुष्मि ।

सोमं च पुरादुच्चरिदादो भिद्वाविजयहेतुं ॥१४३७॥

‘भयमागच्छसु’ भयं प्रतिपद्यते । ‘संसारादो’ संसारात् पञ्चविधपरावर्तनरूप्यात् । प्रीति रत्नत्रयााराधनायां । शोकं उच्येहि पूर्वकृताद्दुःखरिस्तात् निद्रां विजेषु । नरकादिगतिष्वसकृत्परिवर्तमानेन शारीरमागन्तुकं, मानसं, स्वाभाविकं च दुःखं विचित्रमनुभूतं तत्पुनरप्यायास्यति इति मनः प्राणिषेहि । सकलामापत्संहृति-मुत्समितुं, अभ्युदयनिश्चयसुखानि च प्रापयितुं, असारशरीभारमपनेतुं, अनन्तावबोधवर्जनसाप्राप्यभिय-माकृष्टं, कर्मविषयित्वापानुत्पाद्यितुं क्षमामिमां, अनन्तेषु भवेषु जनवाप्युपवौ रत्नत्रयााराधनां कर्तुं उद्यतोऽस्मीति प्रीतिर्भावेनीया । हिंसानूतस्तेयाब्रह्मपरिसहेषु मिथ्यात्वकषायेष्वशुभमनोवाक्काययोगेषु विचित्रकर्मजन्ममूलेषु षतुविधबन्धपर्यायनिमित्तेषु अनारतं मन्धभाग्यः प्रवृत्तोऽस्मि हित्ताहितविचारणाविमृशबुद्धितया सम्मार्ग-स्योपदेष्टृदूषामनुपलम्भात्प्रवज्जानां ‘वरणोदयात्तदुदीरितार्थतत्त्वानवबोधात् । अवगमे सत्यव्यश्रद्धायां, चारित्र-मोहोदयात्सम्मार्गैःप्रवृत्तेषु च. दुःखान्मोषो नियमोऽमोत्युद्दिग्मचित्ततया च निद्रा प्रयाति ॥१४३७॥

यहाँ शंका होती है कि प्रीति भय और शोक तो अशुभ परिणामरूप होनेसे कर्मोंके आस्रवमें निमित्त होते हैं । अतः उनमें और निद्रामें कोई अन्तर नहीं है । तब जो संवरका इच्छुक है उसके लिए प्रीति आदि करनेको क्यों कहते हैं ? इसके उत्तरमें संवरके हेतु जो प्रीति आदि हैं उनके प्रतिनियत विषयको बतलाते हैं—

शा०-टी०—निद्राको जीतनेके लिये पाँच प्रकारके परावर्तन रूप संसारसे भय करो । रत्न-त्रयकी आराधनामें प्रीति करो और पूर्वमें किये दुराचरणके लिये शोक करो । नरकादि गतिवर्गमें बार-बार आने जानेसे मैंने शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक अनेक प्रकारका दुःख भोगा । वही दुःख आगे भी भोगनेमें आवेंगे, ऐसा मनमें विचार करो । समस्त आपत्तियोंके समूहका विनाश करनेके लिये, स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको प्राप्त करनेके लिये, असार शरीरका भार उतारनेके लिये, अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन रूप साक्षात् लक्ष्मीको आकर्षित करने-के लिये, स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको प्राप्त करनेके लिये और कर्मरूपी विष वृक्षाको उखाड़नेमें समर्थ इस रत्नत्रय आराधनाको, जिसे पहले अनन्तभवोंमें कभी प्राप्त नहीं किया, करनेके लिये मैं तत्पर हूँ । इस प्रकार प्रीतिकी भावना करो । हिंसा झूठ चोरी अब्रह्म परिग्रह, मिथ्यात्व कषाया और अशुभ मनोयोग अशुभ वचन योग अशुभ काययोगमें, जो नाना प्रकारके कर्मोंके संघयके मूल है और चार प्रकारके बन्धमें निमित्त है, मैं अभागा निरन्तर लगा रहा, क्योंकि हित अहितके विचार में मूढ बुद्धि होनेसे तथा सम्मार्गका उपदेश देने वालोंकी प्राप्ति न होनेसे अथवा प्रबल ज्ञानावरण-का उदय होनेसे उनके द्वारा कहे गये अर्थ तत्त्वको न जान सकनेसे, या जान लेने पर भी श्रद्धा न करनेसे और चारित्र मोहके उदयसे सम्मार्गमें प्रवृत्ति न करनेसे मैं दुःखके समुद्रमें डूबा हूँ । इस प्रकार चित्तके उद्दिग्म होनेसे निद्रा चली जाती है ॥१४३७॥

जागरणत्वं इच्छेवमादिकं कृण्व कर्म सदा उच्यो ।

आग्नेय विणा बन्धो कालो हु तुमे ष कायञ्चो ॥१४३८॥

जागरणार्थं निद्रानिरासार्थं एवमादिकं कृण्व कर्म सदा उच्यते । ध्यानेन विना बन्धवः कालो न कर्तव्य-
स्त्वया ॥१४३८॥

संसारारविभित्तरणमिच्छदो अणपणीय दोसाहि ।

सोदुं ष खमो अहिमणपणीय सोदुं व सधरम्मि ॥१४३९॥

'संसारारविभित्तरणमिच्छदो' संसारारविभित्तरणमिच्छन्नपण्यारय दोषान् न हि स्वप्नुं क्षमः । अहि-
मणपणीय स्वप्नुमिव गृहे ॥१४३९॥

को नाम 'गिरुग्धेगो लोमे मरणादिअग्गिपज्जलिदे ।

पज्जलिदम्मि व भाणी धरम्मि सोदुं अभिलसिज्ज ॥१४४०॥

'को नाम गिरुग्धेगो लोमे मरणादि अग्गिपज्जलिदे' जातिजरामरणव्यापयः, शोका भयानि, प्राथिता-
'लामो, अभिमतवियोग इत्यादिनाम्निना प्रज्वलिते । 'भाणी सोदुमभिलसेज्ज' शान्ति स्वप्नुमभिलषेत् । 'पज्ज-
लिदम्मि धरम्मि व' प्रज्वलिते गृहे इव ॥१४४०॥

को नाम गिरुग्धेगो सुविज्ज दोसेसु अणुवसतेषु ।

गहिदाउहाण बहुयाण मज्झयारेव सत्थणं ॥१४४१॥

'को नाम गिरुग्धेगो' को नाम निस्त्रयः स्वपेद्रागादिषु संसारप्रबन्धनेषु दोषेषु अनुपसान्तेषु गृहीतानु-
धानां शत्रूणां बहूनां मध्ये इव ॥१४४१॥

विद्वा तमस्स सरिसो अण्णो णत्थि हु तमो मणुस्साणं ।

इदि णच्चा जिणसु तुमं णिद्वा ज्जाणस्स विग्घयरी ॥१४४२॥

वा०—निद्राको दूर करनेके लिये इस प्रकारके चिन्तनमें सदा लगे रहो । ध्यानके विना
तुम्हें एक क्षण भी नहीं गंवाना चाहिए ॥१४३८॥

वा०—जैसे धरमें यदि सर्प घुसा हो तो उसे निकाले बिना सोना शक्य नहीं है । उसी
प्रकार जो संसार रूपी महावनसे निकलना चाहता है वह दोषोंको दूर किये बिना सोनेमें समर्थ
नहीं होता ॥१४३९॥

वा०—जलते हुए धरकी तरह लोकके जन्म, जरा, मरण, व्याधि, शोक, भय, प्राथितकी
अप्राप्ति और इष्ट विषयों इत्यादि आगसे जलते रहने पर कौन ज्ञानी निर्भय होकर सोना
चाहेगा ॥१४४०॥

वा०—जैसे शस्त्रधारी बहुतसे शत्रुओंके मध्यमें कोई निर्भय होकर नहीं सो सकता, उसी
प्रकार संसारकी बढ़ानेवाले रागादि दोषोंके उपशान्त हुए बिना कौन निर्भय होकर सो सकता
है ॥१४४१॥

'विद्या तन्मस सरिसो' तन्मसवृत्तान्मन्वत्तनो नास्ति मनुष्यानां इति ज्ञात्वा निद्रां ध्यानस्य विघ्नकारिणी
बभूवेति ॥१४४२॥

कुण वा शिव्दामोक्षं शिव्दामोक्षस्तस्य भगिद्वेलाए ।

अह वा होइ समाही खवणकिल्लित्तस्य तह कुणह ॥१४४३॥

'कुण वा शिव्दामोक्षं' कुह वा निद्रामोक्षं । निद्रामोक्षस्य कथितायां वेलायां रामेस्तृतीये नामे इति
यामत् । यथा वा समाधिर्भवति भवत उपवासपरिधान्तस्य तथा वा निद्रामोक्षं कुह ॥१४४३॥ शिव्दामोक्षं ।

उक्तपूर्वोपसंहारं ब्रह्ममार्गं बाधिकारं वर्सायत्युत्तरगाथा—

एस उवाओ कम्मसबदारिणोइणो हवे सव्वो ।

पोराणयस्स कम्मस्स पुणो तवसा खओ होइ ॥१४४४॥

'एस उवाओ' कर्मणामासवहारनिरोधे उपायोऽयं सर्वोऽभिहितः । पीराणस्य कर्मणस्तपसा क्षयो
भवति । संवरपूर्विका निर्जरा मुक्तये भवति न संवरहीनेति पूर्वं संवरोपन्यासः ॥१४४४॥

अग्गंतरबाहिरणे तवम्मि सप्पि सगं अगूइतो ।

उज्जमसु सुहे देहे अप्पडिबद्धो अणलसो तं ॥१४४५॥

'अग्गंतरबाहिरणे' अभ्यन्तरे बाह्ये च तपस्सुद्योमं कुह त्वां शक्तिमनुहमानः । सुखे शरीरे धानासक्तिः
अनालयः । न हि शरीरे सुखे वा आदरवास्तव्यतिपन्नभूते तपसि प्रयत्ते । न सात्म्यं प्रवर्तते तपसि ।
तपसः प्रसूहमात्रेण त्वत्तं सुखे शरीरे च प्रतिबद्धत्वमलसत्वमावेदितमनेन ॥१४४५॥

भा०—निद्रा रूपी अन्धकारके समान मनुष्योंका कोई दूसरा अन्धकार नहीं है । ऐसा
जानकर हे क्षपक ! तुम ध्यानमें विघ्न करने वाली निद्राको जीतो ॥१४४२॥

भा०—अथवा यदि निद्राको नहीं जीत सकते हो तो आगममें निद्रा त्यागनेका जो समय
रात्रिका तीसरा पहर कहा है उस समय निद्रा त्यागो । अथवा उपवाससे थके हुए आपकी समाधि
जिस प्रकार हो उस प्रकार करो ॥१४४३॥

आगे उक्त कथनका उपसंहार और आगेका अधिकार कहते हैं—

भा०—नवीन कर्मके आनेके द्वारको रोकनेका यह सब उपाय कहा है । पूर्वं संचित कर्मोंका
क्षय तपसे होता है । संवर पूर्वक निर्जरा मोक्षका कारण होती है, संवरके बिना निर्जरा मोक्षका
कारण नहीं है । इसलिये पहले संवरका कथन किया है ॥१४४४॥

भा०—टी०—हे क्षपक ! अपनी शक्तिको न छिपाकर अभ्यन्तर और बाह्य तपमें उद्योग
करो । सुखमें और शरीरमें आसक्त मत होओ और न आलस्य करो । जो शरीर और सुखमें
आदरभाव रखता है वह उनके विरोधी तपमें प्रयत्न नहीं करता । तथा आलसी भी तपमें प्रवृत्ति
नहीं करता । इससे सुख और शरीरमें आसक्ति तथा आलस्यको तपके लिये विघ्नकारी कहा
है ॥१४४५॥

सुहृत्सीलदाए अलसतयेण देहपडिचददाए य ।

जो सची संतीय ण करिज्ज तवं स सचिसमं ॥१४४६॥

‘सुहृत्सीलदाए’ सुखासक्तया, अलसतया, वेहप्रतिबद्धतया वा यः शक्तिं सत्यामपि तपो न करोति शक्तिसमम् ॥१४४६॥

तस्स ण भावो सुद्धो तेण षडथा तदो ह्वदि माया ।

ण य होइ धम्मसद्धा तिन्वा सुहृदेहपिक्खाए ॥१४४७॥

‘तस्स ण भावो’ तस्य परिणामो न सुद्धस्तस्मात्तेन शक्तिसमे तपस्यवर्तमानेन माया प्रयुक्ता भवति । यस्ततो न भावः सुद्धः, धर्मो तीव्र वा भद्रा न भवति । केन ? ‘सुहृदेहपिक्खाए’ सुखे देहे च प्रेक्षया तत्र भासक्या बुद्धया हेतुयुतया ॥१४४७॥

अप्या य बंचिओ तेण होइ चिरियं च गूहियं भवदि ।

सुहृत्सीलदाए जीवो बंचदि हु असादवेदणियं ॥१४४८॥

‘अप्या य बंचिओ’ आत्मा बंचितस्तेन । शक्त्यनुरूपे तपस्यनभ्युद्यतेन जातस्य च प्रच्छादिता भवति । सुखासक्तया जीवो बध्नात्यसातवेदनीयं बानेकभवेषु दुःखावह ॥१४४८॥

आलस्यदोषमाचष्टे—

चिरियंतरायमलससत्तणेण बंचदि चरितमोहं च ।

देहपडिचददाए साधु सपरिग्रहो होइ ॥१४४९॥

चिरियंतरायं बीर्यान्तरायमलसतया बध्नाति चारित्रमोहनीयं च । शरीरासक्त्या साधुः सपरग्रहो भवति ॥१४४९॥

मायादोसा भावाए ङ्गुति सखे वि पुन्वणिविदुद्धा ।

धम्मम्मि णिप्पिवासस्स होइ सो दुन्लहो धम्मो ॥१४५०॥

शा०—सुखमे आसक्त होनेसे, आलस्यसे और शरीरमे प्रतिबद्ध होनेसे जो शक्ति होते हुए भी शक्तिके अनुसार तप नहीं करता ॥१४४६॥ उसका परिणाम सुद्ध नहीं है । अतः शक्तिके अनुसार तपमें प्रवृत्ति न करने वाला मायाचारी है । तथा सुख और शरीरमें आसक्ति होनेसे उसको धर्ममें तीव्र भद्रा नहीं है ॥१४४७॥

शा०—जो शक्तिके अनुसार तपमें तत्पर नहीं है वह आत्माको ठगता है और अपनी शक्तिको छिपाता है । तथा सुखमें आसक्त होनेसे असातवेदनीयको बांधता है जो अनेक भवोंमें दुःख-साथी है ॥१४४८॥

आलस्यके दोष कहते हैं—

शा०—आलसी होनेसे वह बीर्यान्तराय और चारित्र मोहनीय कर्मका बन्ध करता है । तथा शरीरमें आसक्ति रखनेसे वह साधु परिग्रही होता है ॥१४४९॥

‘मायाबोधा’ मायाबोधाः सर्वेऽपि पूर्वनिदिष्टाः । मायायां तपसि स्वशक्तिसिद्धिर्न कदापि भवति किं च अन्तर्निधेयं धर्मं तपोकथने । विन्विवासास्त अनादरस्य अन्तरे दुर्लभो भवति धर्मः ॥१४५०॥

बोधान्तरमपि निगदति—

पुण्यसततवगुणाणं चुको जं तेण बंचिओ होइ ।

विरियणिगूही बंधदि मायं विरियंतरायं च ॥१४५१॥

‘पुण्यसततवगुणाणं’ पूर्वोक्तसंवरनिर्जरा चेत्येवमादिभिस्तपःसाध्यैरुपकारैः । ‘चुको’ च्युतः । ‘जं’ यस्यात् । ‘तेण’ तेन तपःसाध्योपकारप्रच्युतत्वेन । ‘बंधिओ होइ’ बन्धितो भवति । ‘विरियणिगूही बंधदि अयं’ वीर्यसंवरणपरो बध्नाति मायाकर्म ‘विरियंतरायं च’ वीर्यंतरायं च ॥१४५१॥

तबमकरितस्सेदे दोसा अण्णे य होति संतस्स ।

होति य गुणा अणेया सचीए तवं कुणंतस्स ॥१४५२॥

‘तबमकरितस्सेदे’ तपस्यनुद्यतस्येव दोषा अन्ये च भवन्तीति ज्ञातव्याः । भवन्ति चानेकगुणाः शक्त्या तपसि वर्तमानस्य ॥१४५२॥

तपोगुणप्रख्यापनायोत्तरप्रबन्धः—

इह य परत्त य लोए अदिसयपूयाओ लइइ सुतवेण ।

आवज्जिज्जति तथा देवा वि सइदिया तवसा ॥१४५३॥

इह जन्मनि परत्त च तपसा सम्यक् कृतेन अतिशयपूजा लभ्यते । आवर्ज्यन्ते च तपसा देवाः सेन्द्रकाः ॥१४५३॥

अप्पो वि तवो बहुगं कन्लाणं फलइ सुप्पजोगकदो ।

जइ अप्पं वडवीअं फलइ वडमणेयपारोइं ॥१४५४॥

गा०—तपमें अपनी शक्तिको छिपाने रूप मायाचारमें वे सब दोष होते है जो पूर्वमें मायाके दोष कहे हैं । जो धर्ममें अनादर भाव रखता है उसको दूसरे जन्ममें धर्मकी प्राप्ति दुर्लभ होती है ॥१४५०॥

अन्य दोष भी कहते हैं—

गा०—पूर्वमें जो तपके द्वारा साध्य संवर निर्जरा इत्यादि उपकार कहे हैं उनसे च्युत होने से वह उनसे बन्धित होता है । और अपनी शक्तिको छिपानेसे मायाकर्म और वीर्यान्तराय कर्मका बन्ध करता है ॥१४५१॥

गा०—जो तपमें तत्पर नहीं होता उसको ये दोष तथा अन्य दोष होते हैं और जो शक्तिके अनुसार तप करता है उसमें अनेक गुण होते हैं ॥१४५२॥

आगे तपके गुण कहते हैं—

गा०—सम्यक् रूपसे तप करनेसे इस जन्ममें और परजन्ममें सातिशय पूजा प्राप्त होती है । तथा तपसे इन्द्रसहित सब देव भी विनय करते हैं ॥१४५३॥

'अन्वेषि तस्यो' अल्पमपि तपः महत्फलवान् फलति सुसंयमनिष्पन्नं । सुष्टु प्रयुज्यते प्रवरथंतेऽनेनेति च विशद्द्वै संयमः सुप्रयोगशब्देनोच्यते । यथा अल्पमपि बटबीजं फलति बटमन्नेकत्रोहं अल्पमपि पुष्पं फल-
यास्वितपः इत्येतवाख्यातमनया ॥१४५४॥

सुट्टु कदाण वि सस्तादीनं विग्वा इवति अदिबहुगा ।

सुट्टु कदस्स तपस्स पुण णत्थि कोइ वि अए विग्घो ॥१४५५॥

'सुट्टु कदाच वि' सम्यक् कृतानामपि क्षत्यादीनां जटीम विष्ठा भवन्ति । तपसः पुनः सम्यक् कृतस्य जगति न कश्चिद् विष्णः फलवान् । निविष्णफलवामित्वं तपसो माहात्म्यं कथितम् अनया ॥१४५५॥

जणणमरणादिरोगादुरस्स सुतपो वरोसथं होदि ।

रोगादुरस्स अदिबिरियमोसथं सुप्पउचं वा ॥१४५६॥

'जननमरणादिरोगादुरस्स' जन्ममरणाद्यापीडितस्य सुतपो वरीशथं भवति । रोगपीडितस्य सुप्रयुक्त-
मतिवीर्यमौषधमिव । जननमरणादीनां विनाशकत्वं तत्कारणकर्मविनाशाद्यनैनाख्यायते ॥१४५६॥

संसारमहाडाहेण उज्जमानस्स होइ सीयचरं ।

सुतवोदाहेण जहा सीयधरं उज्जमानस्स ॥१४५७॥

'संसारमहाडाहेण' संसारमहाबाधेन बह्वमानस्स तपो भवति जलमूहं । यथा बह्वमानस्य सूर्यावु-
निर्धारामूहम् । सांसारिकदुःखनिर्मूलकारिता तपसोज्जेन सूच्यते ॥१४५७॥

णीयन्लज्जो व सुतवेण होइ लोमस्स सुप्पिओ पुरिसो ।

मायाव होइ विस्ससणिज्जो सुतवेण लोमस्स ॥१४५८॥

पा०-डी०-सम्यक् संयमपूर्वक किया गया थोड़ा भी तप बहुत कल्याणकारी होता है ।
गोधामें सुप्रयोग शब्दसे 'जिसके द्वारा सुष्टुरूप प्रवर्तित होता है' इस विग्रहके अनुसार संयम
लिया गया है । जैसे छोटा-सा भी बटबीज अनेक शाखा प्रशाखासे पूर्ण बटवृक्षरूपसे फलता है
उसी प्रकार थोड़ा भी तप बहुत फल देता है । यह इस गाथाके द्वारा कहा है ॥१४५४॥

पा०-घान्य आदिकी श्रेती बहुत सावधानतासे परिश्रमपूर्वक करनेपर भी उसमें बहुत
विष्ण आते हैं । किन्तु सम्यक् रूपसे किये गये तपके फल देनेमें कोई विष्ण नहीं जाता । निविष्ण
फल देना तपका माहात्म्य है यह इस गाथाके द्वारा कहा है ॥१४५५॥

पा०-डी०-जैसे रोगसे पीड़ित पुरुषके लिए अल्पपूर्वक दी गई अति शक्तिशाली औषध
होती है । उसी प्रकार जन्ममरण आदि रोगसे पीड़ितकी श्रेष्ठ औषध तप है । तप करनेसे
जन्ममरणके कारण कर्मोंका विनाश होता है । इससे तपको जन्ममरण आदिका विनाशक कहा
है ॥१४५६॥

पा०-संसाररूपी महाबाहसे जलते हुए प्राणीके लिए तप जलघर है, जैसे सूर्यकी किरणोंसे
जलते हुए अनुष्णके लिए धाराघर होता है । तप सांसारिक दुःखोंको निर्मूल करता है, यह इससे
सूचित किया है ॥१४५७॥

‘बौधस्त्वो ब’ बन्धुरिच लोकस्य नितरां प्रियो भवति पुरुषः । शोभनेन तपसा सर्वजगत्प्रियतां करोति तप इत्यनेन आख्याताम् । ‘मात्राच होइ विस्सतण्णो’ मातेव विस्वसनीयो भवति लोकस्य । सर्वजगद्विश्वास्यत्वं तपःसम्प्राप्तनेन कथ्यते ॥१४५८॥

कल्हाणिद्विसुहाइं जाबदियाइं हवे सुरणराणं ।

जं परमणिब्बुदिसुहं व ताणि सुतवेण लम्भति ॥१४५९॥

‘कल्हाणिद्विसुहाइ’ कल्याणानि स्वर्गावतरणादीनि ऋद्धयो विभूतयश्चक्रलाञ्छनानां अर्धचक्रवर्तिना सुखानि च यानि देवाना मनुष्याणा च, यच्च परमनिर्भूतिसुखं तानि शोभनेन तपसा लभ्यन्ते ॥१४५९॥

कामदुहा वरवेणू णरस्स चिंतामणिब्ब होइ तओ ।

तिलओब्ब णरस्स तओ माणस्स विहूसणं सुतओ ॥१४६०॥

‘कामदुहा’ कामदुष्टा वरधेनु, चिन्तामणिश्च तपः यदभिलषितं तस्य दानात् । तिलकाख्यालङ्कारो नरस्य शोभनं तपः, मानस्य विभूषण च । तपसा हि सर्वेण जगता मान्यस्य मानः शोभते इति ॥१४६०॥

होइ सुतओ य दीओ अण्णाणतमंन्यारचारिस्स ।

सव्वावत्थासु तओ वड्ढि य पिदा व पुरिसस्स ॥१४६१॥

‘होइ सुतओ व दीओ’ सम्यक्तपः प्रदीपो भवति अज्ञानतमसि महसि संचरतः । एतेन जगतोज्ञानाख्य तमो विनाशयति तपः इति सूचित । सर्वावस्थासु हिते तपो वर्तते पितेव पुनः ॥१४६१॥

विसयमहापंकाउलगाइहाए संकमो तवो होइ ।

होइ य णावा तरिदुं तवो कसायातिच्चवलणदिं ॥१४६२॥

शा०—सम्यक् तप करनेसे पुरुष बन्धुकी तरह लोगोंको प्रिय होता है । इससे यह कहा है कि सम्यक् तपसे मनुष्य सब जगत्का प्रिय होता है । तथा सम्यक् तपसे मनुष्य माताकी तरह लोकका विश्वासभाजन होता है । इससे तपसे सर्वजगत्का विश्वासपात्र होना कहा है ॥१४५८॥

शा०—स्वर्गसे अवतरित होना आदि पाँच कल्याणक, चक्रवर्ती और अर्धचक्रियोंकी विभूतियाँ तथा देवों और मनुष्योंके जितने सुख है, तथा जो मोक्षका परम सुख है वह सब सम्यक् तपसे प्राप्त होते हैं ॥१४५९॥

शा०—टी०—जो चाहे वह तपसे मिलता है इसलिए सम्यक् तप मनुष्यके लिए कामधेनु और चिन्तामणि रत्नके समान है । तथा मनुष्यके मस्तकपर शोभित होनेवाले तिलक नामक अलंकारके समान है और मानका विशिष्ट भूषण है अर्थात् तपसे सर्वजगत्के द्वारा मान्य पुरुषका मान शोभित होता है ॥१४६०॥

शा०—अज्ञानरूपी घोर अन्धकारमें विचरण करनेवालेके लिए सम्यक् तप दीपकके समान है । इससे सूचित किया है कि तप जगत्के अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट करता है । तथा सम्यक् तप सब अवस्थाओंमें पिताकी तरह पुरुषको हितमें लगाता है ॥१४६१॥

शा०—यह विषय महान् कीचड़से भरे यतिके समान हैं क्योंकि उससे निकलना बहुत कठिन

'विषयमहापंकाठक्याद्वाह' विषयो महापंकाठक्याद्वाह इव दुस्तरत्वात् । तस्मिन् संकमो भवति । तदुत्तरणहेतुर्भवति तपः । तपो नीकल्पमित्युं कथायाश्चिन्तयन्तौ ॥१४६२॥

कलिहो व दुग्धादीर्णं अणैयदुक्खावहाण होइ तवो ।

आमिसतण्णच्छेदनसमत्वहुदकं व होइ तवो ॥१४६३॥

'कलिहो व दुग्धदीर्णं' दुग्धीनां परिप इव । कीदृशां दुग्धीनां ? अनेकदुःखावहाणां । किं च विषय-
तुल्याच्छेदनसमत्वं च तपः उच्यते त्वयाच्छेदने ॥१४६३॥

मण्णदेहदुक्खविचासिदाण सरणं गदी य होइ तवो ।

होइ य तवो सुतित्थं सव्वासुहदोसमलहरणं ॥१४६४॥

'मण्णदेहदुक्खविचासिदाण' मानसानां शरीराणां दुःखाणां ये विनस्तास्तेषां शरणं गतित्थ तपः । भवति च तपस्तीर्थं सर्वशुभदोषमलनिरासकारि ॥१४६४॥

संसारविसमदुग्गे तवो पण्णस्स देसजो होदि ।

होइ तवो पच्छय्यं भवकं तारम्मि दिग्घम्मि ॥१४६५॥

'संसारविसमदुग्गे' संसारो विषयदुर्ग इव दुस्तरणीयत्वात् । तस्मिन्प्रपञ्चस्य विद्मूढस्य । 'तवो वैल्लो होदि' तप उपदेष्टा भवति । संसारविषयदुर्गमुत्सारयतीति । 'होदि तवो पच्छय्यं' भवति तपः पच्यदनं 'भव-
कं तारम्मि' भवाटव्यां । 'दिग्घम्मि' दीर्घे ॥१४६५॥

रक्खा भएसु सुतवो अब्भुदयाणं च आगरो सुतवो ।

गिस्सेणी होइ तवो अक्खयसोकस्सस मोक्खस्स ॥१४६६॥

'रक्खा भएसु सुतवो' भयेपु रखा सुतपः । अभ्युदयानां वाकरः सुतपः मोक्षस्य अक्षयसुखस्य निभ-
यणी भवति तपः ॥१४६६॥

है । तप उससे निकलनेमें कारण है । तथा तप कषायरूप अति चपल नदीको पार करनेके लिए नौका है ॥१४६२॥

शा०—अनेक दुःखदायी दुर्गतियोके लिए तप अर्गलाके समान है । तथा विषयोंकी तुल्याको नष्ट करनेके लिए जलके समान है । जैसे जलसे प्यास बुझ जाती है वैसे ही तपसे विषयोंकी प्यास बुझ जाती है ॥१४६३॥

शा०—जो मानसिक और शारीरिक दुःखोंसे पीड़ित हैं उनके लिए तप शरण और गति है । तप सर्व अशुभ दोषरूप मलको दूर करनेवाला तीर्थ है ॥१४६४॥

शा०—यह संसार विषय दुर्गके समान है क्योंकि उससे निकलना कठिन है । उस संसार-
रूपी दुर्गमें जो दिशा भूल गये हैं उनके लिए तप उपदेशक है अर्थात् संसाररूपी विषय दुर्गसे निकलनेका मार्ग बतलाकर उससे निकालता है । तथा सुदीर्घ भवरूपी भयानक बवमें कलेवाके समान सहायक है ॥१४६५॥

शा०—सम्यक् तप भयमें रक्षा करता है, अभ्युदयोंकी खान है और अविनाशी सुख-
स्वरूप मोक्षमें जानेके लिए नौसेनी है ॥१४६६॥

तं अस्थि त्वं न लम्बद् तवसा सम्मं कएण पुरिसस्स ।
अग्गीव तणं जळिञ्जो कम्मतणं उद्दि य तवग्गी ॥१४६७॥

‘तन्नातिव’ तन्नास्ति यन्न लम्बते तपसा सम्यक्कृतेन । तपोऽग्निः कर्मतृणं वहति तुषमिवाग्निः
प्रज्वलितः ॥१४६७॥

सम्मं कदस्स अपरिस्सवस्स न फलं तवस्स वण्णेदुं ।
कोई अस्थि समत्थो जस्स वि जिम्भासयसहस्सं ॥१४६८॥

‘सम्मं कदस्स’ सम्मम् कृतस्य निराश्रयस्य तपसः फलं वर्गयितुं न कश्चित्समर्थोऽस्ति जिम्भाघातसहस्रं
यक्ष्म्यस्ति ॥१४६८॥

एवं जादूण तवं महागुणं संजमम्मि ठिच्चारणं ।
तवसा भावेदब्बा अप्पा भिच्चं पि वुत्तेण ॥१४६९॥

‘एवं जादूण’ एवं ज्ञात्वा तपो महोपकारि संयमे स्थित्वा तपसा भावयितव्य आत्मा नित्यमपि
उपयुक्तो न ॥१४६९॥

अह गहिदवेयणो वि य अदयाकज्जे णिउज्जदे भिच्चो ।
तह वैव दमेयब्बो देहो मुणिणा तवगुणोसु ॥१४७०॥

‘अह गहिदवेयणो वि व’ यथा गृहीतवेतनोऽपि न दयाकार्यं नियुज्यते मृतकः । तस्यैव दमित्तयो देहो
मुनिना तपोगुणेषु । उत्तरगुण ॥१४७०॥

इच्चेव समणधम्मो कहिदो मे दसविहो सगुणादोसो ।
एत्थ तुममप्यमत्तो होहि समण्णागदमन्दीओ ॥१४७१॥

शा०—संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो सम्यक् रूपसे किये गये तपके द्वारा न प्राप्त होता हो । जैसे प्रज्वलित आग तृणको जलाती है वैसे ही तपरूपी आग कर्मरूपी तृणोंको जलाती है ॥१४६७॥

शा०—सम्यक् रूपसे किये गये और कर्मश्रवसे रहित तपके फलका वर्णन करनेमें जिसके एक हजार जिह्वा हों वह भी समर्थ नहीं है ॥१४६८॥

शा०—इस प्रकार तपको महान् उपकारी जानकर संयममें स्थित संयमोजनोंको नित्य ही उपयोग लगाकर आत्मामें तपकी भावना करना चाहिए ॥१४६९॥

शा०—जैसे वेतन लेनेवाले सेवकको कार्यमें नियुक्त करते समय उसपर दया नहीं की जाती । उसी प्रकार मुनिको अपने शरीरको तपरूप गुणमें लगाना चाहिए । अर्थात् जब शरीर को भोजनरूपी वेतन दिया जाता है उसपर दया न करके उसको तपकी साधनामें लगाना चाहिए ॥१४७०॥

‘इष्येव सन्यसन्तो’ इत्येवं श्रवणधर्मः दक्षविद्यः सगुणयोधः कथितो भवति । ‘एष्व तुमन्मन्तो होहि’ अत्र दक्षविद्ये धर्मे त्वमग्रचरतो भवः, समाग्रतस्मृतिकः इति गणिना स्वकिसापरिसमाप्तिरावधिता ॥१४७१॥

तो खवगवयणकमलं गणिप्रविणो तेहि वयणवस्सीहि ।

विद्यप्यसायविमलं पङ्किसिद्धं पीदिमचरंदं ॥१४७२॥

‘तो खवगवयणकमलं’ ततः सिद्धानन्तरं तस्य क्षपकस्य वयनकमलं प्रफुल्लितं सूरियमरममेस्तीर्धनरविमभिः चित्तप्रसादविमलं प्रीतिमकरंदं ॥१४७२॥

वयणकमलेहि गणिजमिद्गुहेहि सा विभियच्छिष्यचेहि ।

सोमइ इहै ह्योदयमिद्गुणं व गलिगिबणं ॥१४७३॥

‘वयणकमलेहि’ वयनकमलं यतीनां गणिनोऽभिमुखे विस्मितागिपत्रं सा सभा शोभां बहति स्म । सूर्योदये पुण्डितनलिनवनमिक ॥१४७३॥

गणितवएसामयपाणएण पन्हादिदमि विद्यमि ।

आजो य गिब्वुदो सो पादणय पाणयं तिसिओ ॥१४७४॥

गणितवएसामयपाणएण’ गणिनः उपदेशामृतपानकेन प्रह्लादिते चित्ते जातोऽस्ती क्षपकः सुष्ठु निर्बुतः युवित. पानक पीत्येव ॥१४७४॥

तो सो खवओ तं अणुसहिं सोऊण जादसवेणो ॥

उद्धिता आयरियं वंदइ विजएण पणदंओ ॥१४७५॥

शा०—इस प्रकार हे क्षपक ! मैंने गुणदोषोंके विवेचनपूर्वक दस प्रकारके श्रमण धर्मका कथन किया । उसको स्मरण करने तुम दस प्रकारके धर्ममें अप्रमादी होओ । इस प्रकार निर्यापकाचार्यने अपनी शिक्षाकी समाप्ति सूचित की है ॥१४७१॥

शा०—इस शिक्षाके अनन्तर उस क्षपकका मुखरूपी कमल आचार्यरूपी सूर्यके वचनरूपी किरणोंसे प्रफुल्लित हो जाता है, चित्तके प्रसन्न होनेसे उस मुख कमलकी विरूपता चली जाती है और उसमेंसे प्रीतिरूपी पुष्परस झरने लगता है ॥१४७२॥

शा०—जैसे सूर्यके उदय होनेपर खिला हुआ कमलोंका वन शोभित होता है उसी प्रकार आचार्यके अभिमुख हुए यतियोंके मुख कमलोंसे, जो आश्चर्ययुक्त नेत्ररूपी पत्रोंसे समुबत होते हैं, वह मुनिसभा शोभित होती है ॥१४७३॥

शा०—आचार्यके उपदेशरूपी अमृतका पान करके चित्तके आह्लादयुक्त होनेपर क्षपक वैसा ही सुखी होता है वैसा व्यासा अमृतमय पानक पीकर होता है ॥१४७४॥

शा०—उसके पश्चात् वह क्षपक आचार्यका उपदेश सुनकर वैराग्यसे भर जाता है और उठकर अंगोंको नष्ट करके विलयपूर्वक आचार्यको वन्दना करता है ॥१४७५॥

१. हि विभि-आ० । साक्षात्पदत्वपत्तेहि-मु० । २. सोमवि मसभा मु-मु० । ३. विस्तृ-ताजि-मु० ।

‘ओं ओं क्लीं’ ततोऽपि जपकः तदनुशासनं युत्वा अतस्तमेव उत्पाद्य आचार्यं भवति विद्वान्
प्रणवाङ्गः ॥१४७५॥

भंते सन्नं ज्ञानं सिरसा य दृष्टिच्छिदं मय एदं ।

जं जह उचं सं तह^१ करेमि विजयो तदो भणह ॥१४७६॥

‘भंते सन्नं ज्ञानं’ भगवन् सन्मन्त्रानं एतच्छिरसा मया परिकृहीतं । यद्यथोक्तं भवन्निस्तया
करिष्यामि इति वदति ॥१४७६॥

अप्या जिच्छरदि जहा परमा तुष्टी य ह्वदि जह तुज्ज ।

जह तुज्ज य संघस्स य सफलो य परिस्समो होइ ॥१४७७॥

‘अप्या जिच्छरदि जहा’ अहं यथा निस्तीर्णो भवामि संसारात् । यथा युष्माकं परमा तुष्टिर्भवति ।
भवता सघस्य चास्मदनुग्रहे प्रवृत्तानां अघस्य फलं भवति ॥१४७७॥

जह अप्पणो गणस्य य संघस्स य विस्सुदा ह्वदि किप्ती ।

संघस्स पसायेण य तहइं आराइइस्सामि ॥१४७८॥

‘जह अप्पणो गणस्य य’ यथा मम गणस्य संघस्य च कीर्तिविश्रुता भवति तथाहमाराधयिष्यामि संघस्य
प्रसादेन ॥१४७८॥

वीरपुरिसेहिं जं आयरियं जं च ण तरंति कापुरिसा ।

मणसा वि विचिंतेदुं तमइं आराहणं काइं ॥१४७९॥

३वीरपुरिसेहिं ३वीरैः पुरुषैर्या आचरिता, या च न शक्नुवन्ति कापुरसा मनसापि चिन्तयितुं तादृ-
शीमाराधनामह करिष्यामि ॥१४७९॥

गा०—और कहता है—भगवन् ! मैंने आपके द्वारा दिया सम्यग्ज्ञान सिर नवाकर स्वीकार
किया । आपने जो-जो जिस प्रकार कहा है मैं वैसा ही करूँगा ॥१४७६॥

गा०—जिस प्रकारसे मैं संसारसे पार उतरूँ, जिस प्रकारसे आपको परम सन्तोष हो,
मेरे कल्याणमे संलग्न आपका और संघका परिश्रम जिस प्रकारसे सफल हो ॥१४७७॥

गा०—जिस प्रकार मेरी और संघकी कीर्ति फैले, मैं संघकी कृपासे उस प्रकार रत्नत्रयकी
आराधना करूँगा ॥१४७८॥

गा०—वीर पुरुषोंने जिसका आचरण किया है, कायर पुरुष जिसकी मनमे कल्पना भी
नहीं कर सकते, मैं ऐसी आराधना करूँगा ॥१४७९॥

एवं तुज्जं उक्त्वासाभिदमासाहदपु को नाम ।

बीहेज्जं छुहादीर्णं मरणस्स वि कायरो वि जरो ॥१४८०॥

'एवं तुज्जं' एवं भवतामनुपवैशामृतमास्वाद्य को नाम विवेति कातरोग्यि मरः क्षुधावीनां मृत्यो-
र्वा ॥१४८०॥

किं जंपिण्णं बहुणा देवा वि सइदिया महं विण्णं ।

तुमहं पादोवग्गहणुणेण कादुं ण अरिहंति ॥१४८१॥

'किं जंपिण्णं बहुणा' किं बहुणा जल्पितेन देवा अपि क्षतमक्षप्रयुक्ता मम विघ्नं कर्तुं असमर्थाः भव-
त्याद्योपग्रहणयुजेन ॥१४८१॥

किं पुणं छुहा व तण्हा परिस्समो वादियादि रोमो वा ।

काहंति ज्ञाणविण्णं इंदियविसया क्कसाया वा ॥१४८२॥

'किं पुणं' किं पुनः कुर्वन्ति ध्यानस्य विघ्नं क्षुधा, तृषा वा, परिश्रमो वा, धातिकादरोधा वा,
इन्द्रियाणां विषयाः, कषाया वा ॥१४८२॥

ठाणा च्छेज्ज मेरू भूमी ओमच्छिया भविस्सिहदि ।

ण य हं मच्छमि विगदिं तुज्जं पायप्पसाएण ॥१४८३॥

'ठाणा च्छेज्ज' स्वस्मात्स्थानान्चक्रियन्ति मेरुः । भूमिः परानृतमस्तका भविष्यति । नाह विक्रति
गमिष्यामि भवता पादप्रसादेन ॥१४८३॥

'एवं खवओ संभारगओ खवइ विरियं अगूहंतो ।

देदि गणी वि सदा से तह अणुसट्ठिं अपरिदंतो ॥१४८४॥

समासमनुशासनम् ॥१४८४॥

शा०—आपके इस प्रकारके उपदेणामृतको पीकर कौन कायर भी मनुष्य भूख प्यास और
मृत्युसे डरेगा ॥१४८०॥

शा०—अधिक मैं क्या कहूँ, आपके चरणोंके अनुग्रहसे इन्द्रादि प्रमुख देव भी मेरी
आराधनामें विघ्न नहीं कर सकते ॥१४८१॥

शा०—तब भूख, प्यास, परिश्रम, वातादि जन्य रोग, अथवा इन्द्रियोंके विषय और
कषाय ध्यानमें विघ्न कैसे कर सकते हैं ॥१४८२॥

शा०—सुमेरु अपने स्थानसे विचलित हो जाये और पृथ्वी उलट जाये किन्तु आपके
अनुग्रहसे मैं विकारसे विचलित नहीं होऊँगा ॥१४८३॥

शा०—इस प्रकार क्षपक संस्तर पर आरुढ़ होकर अपनी शक्तिको न छिपाकर पूर्वोपाजित
अधुन कर्म की निर्जरा करता है और आचार्य भी बिना विरक्त हुए उसे सदा सत् शिक्षा देता
है ॥१४८४॥

१. एतां टीकाकारो नेच्छति ।

बहुगुणसहस्रपरिवा यदि वाचा जम्भेसावरे शीमे ।
मिज्जदि हु रवणपरिवाणावा व सङ्खदमज्जम्भि ॥१४८९॥

'बहुगुणसहस्रपरिवा' बहुभिर्गुणसहस्रैः, समुर्णा प्रतिनौर्जम्भसावरे शीमे यदि श्वेत्पुत्रेणात् रत्नगुर्णा नीरिव समुद्रमध्ये ॥१४८९॥

गुणभरिदं जदिणावं ददूहण भवोदधिम्मि मिज्जंतं ।
कुणमाणो हु उवेक्खं को अण्णो हुज्ज णिद्धम्मो ॥१४९०॥

'गुणभरिदं इति वाग्' गुणैः पूर्णं यतिनाम् भवसमुद्रमध्ये मिषमालां दृष्ट्वा यः करोत्युपेक्षां तस्मात्कोऽप्यो भवेद्धर्मनिःक्रान्तः ॥१४९०॥

विज्जावचवस्त गुणा जे पुब्बं वित्थरेण अक्खादा ।
तेसि फिडिओ सो होइ जो उविकिखज्ज तं खवयं ॥१४९१॥

'वेकजावचवस्त गुणा' वैयावृतस्य गुणा ये पूर्व विस्तरेण व्याख्यातास्तेभ्यः श्रुत्यतो भवति य उपेक्षते क्षपकं ॥१४९१॥

तो तस्स तिगिछाजाणएण खवयस्स सव्वसचीए ।
विज्जादेसेण व से पडिक्कम्मं होइ कायव्वं ॥१४९२॥

'तो .तस्स' ततस्तस्य क्षपकस्य चिकित्सा जानता सर्वशक्त्या प्रतिकर्म कर्तव्य बंधस्य चोपदे-
शेन ॥१४९२॥

णाऊण विकारं वेदणाए तिससे करेज्ज पडियारं ।
फासुगदव्वेहिं करेज्ज वायकफपिचपडिघादं ॥१४९३॥

'णाऊण विकारं' क्वात्वा विकारं तस्या वेदनायाः ततः प्रतिकारं कुर्वति । योर्ध्वंर्ध्वैर्वातकफपित्त-
प्रतिघातं ॥१४९३॥

भा०—समुद्रके मध्यमें रत्नोत्पे भरी नावकी तरह हृषारों गुणोंसे भरी यतिरूपी नौका यदि भयंकर संसारसागरमें डूबने लगे ॥१४८९॥

भा०—गुणोंसे भरी नावकी संसार-समुद्रमें डूबते हुए देखकर यदि कोई उपेक्षा करता है तो उससे बड़ा अधार्मिक दूसरा कौन होगा ॥१४९०॥

भा०—जो क्षपककी उपेक्षा करता है वह पूर्वमें जो वैयावृत्यके गुण विस्तारसे कहे हैं उनसे च्युत होता है ॥१४९१॥

भा०—अतः उस क्षपकके रोगकी चिकित्सा जाननेवाले निर्यापकाचार्यको स्वयं अथवा वैद्यके परामर्शसे सर्वशक्तिके साथ इलाज करना चाहिये ॥१४९२॥

भा०—उस क्षपककी वेदनाके विकारको जानकर प्रासुक द्रव्योंसे वात, पित्त और कफको रोकनेवाला प्रतिकार करना चाहिये ॥१४९३॥

बन्धीहि अक्षय्यतामर्षोहि आलेखसीदकिरिवाहि ।

अभ्रमंजनपरिभ्रम आदीहि तिमिछदे खवयं ॥१४९४॥

'बन्धीहि' वस्तिकर्मनिः, अक्षय्यतामर्षोहि' अभ्रमंजनरापनैः, आलेपनेन, शीतक्रियया, अभ्रमंजन-परिभ्रमनादिभिश्च विकिरिते क्षयकं ॥१४९४॥

एवं पि कीरमाणो परियम्ये वेदना उवसभो सो ।

खवयस्स पावकम्पोदएण तिज्जेण हु ण होज्ज ॥१४९५॥

एवं पि कीरमाणो प्रतीकारे क्षयकस्य वेदनोपशमः तीव्रं पापकर्मोदयेन' नापि भवंदपि, नहि बहिर्द्रव्य-माहात्म्येनैव कर्माणि स्वफलं न प्रयच्छन्ति । तदेव हि बहिर्द्रव्यं एकस्य वेदानां प्रशमयति नापरस्येति प्रतीत-तरमेतत् ॥१४९५॥

अहवा तण्हादिपरीसहेहि खवओ हविज्ज अभिमूदो ।

उवसग्गेहि व खवओ अचेदणो होज्ज अभिमूदो ॥१४९६॥

'अहवा तण्हादिपरीसहेहि' अथवा तृद्यादिनि परीषहैरभिभूतो भवेत्क्षयक, उपसर्गोर्वाभिभूतो निश्चेतनः स्यात् ॥१४९६॥

तो वेदनावसद्धो वाउल्लिदो वा परीसहादीहि ।

खवओ अणप्पवसिओ सो विप्पलवेज्ज जं किं पि ॥१४९७॥

'सो वेदनावसद्धो' ततो वेदनावशातो व्याकुलित परीषहोपसर्गो क्षयकोऽनावनात्मवदो विप्रलयेद्यदि किञ्चित् ॥१४९७॥

शा०—वस्तिकर्म (एनिमा) गर्भ लोहेमे दागना, पमीना लाना, लेप लगाना, प्रासुक जलका सेवन कराना, मार्शल, अंगमर्दन आदिके द्वारा क्षयककी वेदना दूर करना चाहियं । १४९४।

शा०—इस प्रकार प्रतीकार करने पर भी तीव्र पाप कर्मके उदयसे यदि क्षयककी वेदना शान्त न हो । क्योंकि केवल 'बाह्य' द्रव्यके प्रभावसे ही कर्म अपना फल न दें, ऐसी बात नहीं है । वही बाह्य द्रव्य एककी वेदना शान्त करता है दूसरेकी नहीं करता । यह तो अनुभवसिद्ध है ॥१४९५॥

शा०—अथवा क्षयक व्यास आदिकी वेदनासे अभिभूत हो जाय या उपसर्गोंसे पीड़ित होकर मूर्च्छित हो जाये ॥१४९६॥

शा०—या वेदनासे पीड़ित और परीषह उपसर्गोंसे व्याकुल होकर क्षयक अपने वदमं न रहे और जो कुछ भी बकने लगे ॥१४९७॥

उन्मासेज्ज व कुणसेदीदो उदरमपुट्ठिओ खवमो ।

उहं दोणं चणं व क्खिणं कुट्टिमिदपदमिहंओ ॥१४९८॥

'उन्मासेज्ज' वेदाहारोमं, संयमनुरवेचियः कृपणवदकपुट्टिः 'उहं' रात्रिकोयनं, 'खवमो' पापं, दिवसे 'चणं व' कथनं वा १ 'क्खिणं' कथयित्त्तु । 'कुट्टिमिदपदमिहंओ' स्वप्नकथनं दण्डम् ॥१४९८॥

उहं कुणसेओ खवमो खारेद्वी व ओ खवो यणिया ।

उहं ओ विदुहलेस्सो एण्णमदपेद्वो होण्ण ॥१४९९॥

'उहं कुणसेओ खवमो' खीद्वुणमण्डम् कथयस्तथा सारमित्तव्योप्योत्ती तेन कथितम् । कथं ? यथा विदुह-
लेख्यो भवति प्रस्थानतन्वेतनवध ॥१४९९॥

सारणोपायं कथयति—

कोसि तुभं किं जामो कथं वससि को व संपही कालो ।

किं कुणसि तुमं कह वा अत्थसि किं जामगो वाहं ॥१५००॥

'कोसि तुमं' कस्मिं ? किनामधेयः ? 'कथं वससि' क्व वससि ? 'को व संपही कालो' को वेदानो
कालः ? किमयं दिवा रात्रिर्वा ? 'किं कुणसि तुमं' किं करीषि भवान् ? 'कथं वा अत्थसि' कथं वा तिष्ठसि ?
'किं जामो वाहं' अहं वा किनामधेयः ? ॥१५००॥

एवं आउण्हिसा परिपच्छेहुं गणी तयं खवयं ।

सारहं वच्छय्याए तस्स यं कवयं करिस्सति ॥१५०१॥

'एवं आउण्हिसा' एषमनुरतं धारयति गणो तं क्षपकं । किं सचेतनो निश्चेतन इति परीक्षितुकामः
वत्सलतया । यद्यस्ति चेतना कवयं करिष्यामीति ज्ञत्वा ॥१५०१॥

ना०—अयोग्य वचन कहे, या संयमगुणकी बीदीसे नीचे उतरना चाहे, या निचले स्थानको
चाहते हुए रात्रि भोजन वा रात्रिमें पानक लेना चाहे या दिनमें असमयमें भोजन करना
चाहे ॥१४९८॥

ना०—इस प्रकार जब क्षपक मोहमें पड़ जाये तो आचार्यको उसे सब पिछली बातोंका
स्मरण कराना चाहिये । जिससे उसके परिणाम विदुह हों और उसका यथार्थ ज्ञान लौट
जाये ॥१४९९॥

उसके उपाय कहते हैं—

ना०—तुम कीम ही ? तुम्हारा क्या नाम है ? कहाँ रहते हो ? इस समय दिन है वा रात
है ? तुम क्या करते हो ? कहाँ बैठे हो ? मेरा क्या नाम है ॥१५००॥

ना०—इस प्रकार आचार्य उसकी परीक्षाके लिये कि वह सचेत अवस्थामें है या अचेत
अवस्थामें है, बातसम्बन्ध नाबसे बार-बार उसे स्मरण कराते हैं । उनकी यह आज्ञा रहती है नि-
श्चि यह सचेत है तो उसके संयमकी रक्षा की जाये ॥१५०१॥

ओ पुण एवं ण करिज्ज सारणं तस्स विप्लवसमुत्सम् ।

ओ तेण होइ जिदंघसेण खवओ परिचत्तो ॥१५०२॥

'ओ पुण एवं ण करिज्ज' य. पुनरेवं न कुर्यात् सारणं । स्वल्पितचित्तवृत्ते स क्षपकस्तेन परिव्यक्तो भवति सूत्रिणा ॥१५०२॥

एवं सारिज्जंतो कोई कम्पुवसमेण लभदि सदिं ।

तह य ण लम्भिज्ज सदिं कोई कम्म उदिण्णम्मि ॥१५०३॥

'एवं सारिज्जंतो' एव सार्वमाण. कश्चित् चारित्रमोहोपशमनं अमद्वेषोपशमनं वा स्मृति योग्या-
योग्यविषयां लभते । अयुक्तेयं इच्छा मम अकालं भोक्तुं पातु वा प्रत्याख्यात कथं कालेऽपि प्राबंधाभीति
सार्वमाणोऽपि । लभते स्मृति कश्चित्कर्मण्युदीर्णं नो इन्द्रियमतिज्ञानावरणं । सारथा ॥१५०३॥

सदिमलभंतस्स वि काद्वच्चं पडिकम्ममड्डियं गणिणा ।

उवदेसो वि सया से अणुलोमो होदि कायच्चो ॥१५०४॥

'सदिमलभंतस्स वि' स्मृतिमलभमानस्यापि गणिनाऽस्मिन् कतव्य । प्रतिकार उपदेशोऽपि अनुकूल
सदा तस्य कर्तव्यः ॥१५०४॥

चेयंतो पि य कम्मोदयेण कोई परीमहपरद्धो ।

उब्भासेज्ज व उक्कावेज्ज व भिदेज्ज आउरो पदिण्णं ॥१५०५॥

'चेयंतो पि' चेतयमानोऽपि कर्मोदयेन कश्चित्परीयहपरजिता यान्कश्चिःसंभ्रं आऽपेत्तु भिन्दादा स्वा
प्रत्याख्यानप्रतिज्ञा ॥१५०५॥

गा०—यदि आचार्य उस चलायमान चित्तवाले क्षपकको इस प्रकारसे स्मरण नही करावे
तो समझना चाहिये उस निर्दयीने उस क्षपकको त्याग दिया है ॥१५०२॥

गा०—इस प्रकार स्मरण दिलाने पर कोई-कोई क्षपक चारित्र मोह अथवा असातावेदनीय
का उपशम होनेसे योग्य अयोग्यके विचारविषयक स्मृतिको प्राप्त होते हैं कि अकालमे खाने
पीनेकी इच्छा करना मेरे लिये योग्य नहीं है । जो मैं त्याग कर चुका उस कालमे भी कैसे ग्रहण
करूँ ? आदि । किन्तु कोई नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्मकी उदीरणा होनेपर स्मृति प्राप्त
नहीं करते ॥१५०३॥

गा०—स्मृतिको जो प्राप्त नहीं होता, उसके प्रति भी आचार्यको निरन्तर प्रतिकार
करते रहना चाहिये । तथा उसके अनुकूल उपदेश भी करते रहना चाहिये ॥१५०४॥

गा०—कोई क्षपक चेतनाको प्राप्त करके भी कर्मके उदयसे परीषद्गोसे हारकर यदि अयोग्य
बचन बोले, या रुदन करे या अपनी व्रत प्रतिज्ञाको भंग करे तो भी उसके प्रति कट्टक बचन

न ह्यु सौ कडुगं फलसं च भण्दिद्व्यो न स्त्रीसिद्ध्व्यो य ।

न य विचासेद्व्यो न य वहुदि हीलणं कादु ॥१५०६॥

'न ह्यु सौ कडुगं' स एव कुर्वन्नापकः न कर्तव्यं कटुकं पच्य वा, न भर्त्सनीयं, न च नामं नेतव्यः, न च युक्तः परिभवः कर्तुं तस्य ॥१५०६॥

पच्यवचनाविभिः को दोषो जायते इत्यत्रोच्यते—

फलसवयणादिगेहिं दु माणी विष्कुरिओ तओ संतो ।

उद्गाणमवककमणं कुज्जा असमाधिकरणं वा ॥१५०७॥

'पच्यवचनाविभेहिं' पच्यवचनाविभिर्मानी विराधितः सन् ॥१५०७॥

तस्स पदिणणामेणं भिणुं इच्छंतयस्स जिज्जवओ ।

सच्चायरेण कवयं परीसहणिवारणं कुज्जा ॥१५०८॥

'तस्स पदिण्णामेरे' तस्य स्वप्रतिज्ञाव्यवस्थां भेतुं वाञ्छतो निर्यापकः मूरिः कवचं कुर्यान् पगीवहन-
वारणसम ॥१५०८॥

णिद्धं मधुं पन्हादधिज्ज हिदयंगमं अतुरिदं वा ।

तो सीहावेद्व्यो सो खवओ पण्णवतेण ॥१५०९॥

'णिद्धं' स्नेहसहितं, 'मधुरं' श्रोत्रप्रियं, हृदयसुखाविधायि, हृदयप्रवेधि, अत्ररित्त असौ शिक्षायतव्य-
क्षपकः प्रज्ञापयता ॥१५०९॥

रोगादंके सुविहिद विउलं वा वेदणं धिदिबलेण ।

तमदीणमसंभूढो जिण पच्चूहे चरित्तस्स ॥१५१०॥

बोलना उचित नहीं है, न उसका तिरस्कार करना चाहिये, न उसका हास्य करना चाहिये, न उसे प्रास देना चाहिये और न उसका अन्यास करना चाहिये ॥१५०५-१५०६॥

उसके प्रति कठोर वचन बोलने आदिसे क्या हानि होती है यह कहते हैं—

शा०—कठोर-वचन आदिसे भडककर वह अभिमानी क्षपक ग्यमसे च्युत हो सकता है या दुष्प्रानमें लग सकता है अथवा सम्यक्त्वको त्याग सकता है ॥१५०७॥

शा०—यदि वह अपनी प्रतिज्ञारूपी मर्यादाको तोड़ना चाहे तो निर्यापकाचार्य उसकी रक्षाके लिये ऐसा कवच आदरपूर्वक करे जो पगीषहोका निवारण कर सके ॥१५०८॥

शा०—आचार्यको स्नेहसहित, कानोंको प्रिय, हृदयमें सुख देनेवाले तथा हृदयमें प्रवेश करने वाले वचनोंसे क्षपकको धीरे-धीरे सम्बोधना चाहिये ॥१५०९॥

शा०—हे सुन्दर आचार वाले! तुम दीनता और भूढताको त्यागकर चारित्र्यमे वाधा डालनेवाली छोटी या बड़ी व्याधियोंको, महीती वेदनाको धैर्यरूपो बलमे जीतो। राग और कोपका

१. विष्कुरिविधो-विराधितः -गुलारा० ।

रीमानुषे महतीम्प्राप्य व्याधीन् । विपुलं वा वेदना मृत्तिलेन च न त्वमदीनोऽभूदस्य प्रकृन्तुं चारिष्ये । भीतरानकोपताधि चारिष्यं । सत्त्व्याधिप्रतीकारार्थं तु मनुषु आदरवशो व्याधिं वेदनां च द्वेषवतो नश्यति । तत्परचारिष्यव्याप्त्यवा जेतव्या इति भाव ॥१५१०॥

सम्भवे वि व उद्यसम्भवे परिसहे व तिविहेण जिज्जिषहि तुमं ।
जिज्जिष्यिष्य सम्भवेदे होहिषु आराहजो मरणे ॥१५११॥

'सम्भवे वि व उद्यसम्भवे' सम्भारपोपसर्गान् परीषहास्य मनोवाचकावैर्जय । उपसर्गपरीषहजयसु का-भीक्ष्णता मनसा जय । भीतोऽस्मिमिति दयया न दुःखानि हरन्ति । सन्निहितद्रव्याधिसहकारिकारणमसहं क्षम्यवा-गत अनिवार्यवीर्यं बल प्रयच्छत्येवेति मृत्तिलेन भावना मनसा जय । श्रान्तोऽस्मि वेदनासु सहात्मता पश्यन मदीयामिमा अतिकष्टामयस्या । दशवोऽस्मि ताडितोऽस्मि इत्येवमादिदोतवचनानुच्चारण । असकृदनुभूतार्था परीषहा क्षुदाय, उपसर्गाव च पूर्व । प्रकृन्तुमन्तमपि नाभी मुञ्चन्ति । केवल धृतिरहितोऽप्य बराको रारटीति निन्दते । न सन्मार्गात्प्रव्यावयितु इमे क्षमा इति उदारवचनता वचनेन जय । अदीनेक्षणमुखरावयता अचलता च कायेन जय । 'जिज्जिष्यिष्य सम्भवेदे निजित्येव सम्भोगेतानुपसर्गपरीषहाम्मरण मृत्तिकाले । आराधजो होहिषि' रत्नत्रयपरिणतो मन्विष्यति । उपसर्गपरीषहम्याकुलितचेतसा नैवाराधकता ॥१५११॥

संमर सुविधिय जं ते मज्जाम्मि च्चदुव्विचस्स सचस्म ।
वृद्धा महाचदिष्णा अहयं आराहडस्सामि ॥१५१२॥

'संमर' स्मृति निवेदि । 'सुविधि' सुचारित्र । कि स्मरामि इति चेत त ता प्रतिज्ञा या कृतवानसि ।

त्वाम ही चरित्र है । व्याधिको दूर करनेके उपायोमे आदर करनेवाले तथा व्याधि और वेदनासे द्वेष करनेवालेका चारित्र नष्ट होता है । अत तुम्हे चारित्रके विघ्नको जीतना चाहिये ॥१५१०॥

भा०-टी०-—हे क्षपक ! तुम सब उपसर्गों और परीषहोंको मन वचन कायसे जीतो । उपसर्ग और परीषहोंके जीतनेमे जो दुःख होता है उससे न डरना मनसे जीतना है । यह डरपोक है अतः दया करके उपसर्ग परीषह उसे दुःख नहीं देंगे ऐसी बात नहीं है । इत्यादि सहकारी कारणोंमे रहने पर असातावेदनीय कर्म उदयमे आता है और उसकी शक्तिको रोकना शक्य नहीं होते तब वह कष्ट देता ही है । वैर्यरूपी बलपूर्वक ऐसी भावना होना मनसे जीतना है । मैं थक हूँ, मेरी इस अतिकष्टकर और दुःख वेदना रूप अवस्थाको देखो, मैं दुःखमे जल रहा हूँ, मैंने मुझे मार डाला इत्यादि दीन वचनोका उच्चारण न करना । मैंने पूर्वमे अनेक बार मूख भाग परीषहो और उपसर्गोंको सहा है । बिस्मलेन पर भी वे जीतने लगे हैं । केवल यह वेदना ही खोकर रोता है ऐसी निष्ठा करते हैं । वे मुझे सम्भवेसे जिज्जिष्ये समर्थ नहीं हैं । इस प्रकारके उदार वचन बोलना वचनसे जीतना है । आक्षेपों और मूखपर क्षीनताका भाव न होना, मूखपर प्रसन्नताका रहना, बिचलित न होना कायसे जीतना है । इस प्रकार इन परीषहो और उपसर्गोंके सम्भक् रूपसे जीतनेपर मग्ते संभव तुम रत्नत्रयरूपसे परिणत हो सकोगे । जिसका चित्त उपसर्ग और परीषहसे व्याकुल रहता है वह आराधक नहीं हो सकता ॥१५११॥

भा०-—हे सुचारित्रके सम्भवन क्षपक ! तुमने चतुर्विध सवके मध्यमे जो महती प्रतिज्ञा की थी कि मैं आराधना कर्त्तव्य ठहरे स्वरण करो ॥१५१२॥

'अस्मान्' अथे । कस्य ? 'अनुविद्यन्त' अनुविद्यन्त सप्तम्य । 'पूता' पूता । 'अनुविद्यन्त' मन्त्री प्रतिज्ञा ।
'अनु' अहं 'आराधयिष्यामि' आराधयिष्यामि इति ॥१५१२॥

को नाम भवो कुलजो माणो शोलाइदूष जन्मजज्ञे ।

जुज्जे पलाइ आवडिदमेचओ वेव अरिमीहो ॥१५१३॥

'को नाम भवो' क पलायते युद्धे भट शूर । 'कुलजो' मानी । 'शोलाइदूष' भुजास्फालन कृत्वा ।
जनमध्ये । एव युद्धे शत्रुपराजय करिष्यामीति उद्बुध्य 'अनुविद्यन्त' अविमुखावातशत्रुरेव अरिमीत ।
क पलायन करोति ॥१५१३॥

वाष्पान्तिके योजयति—

शोलाइदूष पुष्पं माणी संतो परीसहादीहिं ।

आवडिदमिचओ वेव को विसण्णो हवे साहू ॥१५१४॥

'शोलाइदूष पुष्पं' भुजास्फालन कृत्वा पूर्व । 'परीसहादीहिं आवडिदमेचओ वेव' परीसहायतिभिर-
मिमुखायान् एव । 'को विसण्णो हवे साहू माणी संतो' का विसण्णो भवेत्साधुवर्गो मानी सन् ॥१५१४॥

आवडिया पडिकूला पुरओ वेव कमंति रणभूमिं ।

अवि य अरिज्ज रणे ते ण य पसरमरीण बद्धन्ति ॥१५१५॥

'आवडिया पडिकूला' अविमुखायान्ता शत्रव । पुरओ वेव कमन्ति रणभूमिं पुरस्तादेवोपसर्पन्ति
रणभूमि । अवि य अरिज्ज रणे' यद्यपि रणे भ्रियन्ते । 'ण य पसरमरीण बद्धन्ति' नैव प्रसरमरीणा
वर्धयन्ति ॥१५१५॥

तह आवडिपडिकूलदाए साहवो माणिणो सुरा ।

अहतिव्ववेयणाओ सहंति ण य विगडिमुवयंति ॥१५१६॥

'तह आवडिपडिकूलदाए' तथा आपत्प्रतिकूलतया । 'साहवो' मानिन शूरा । 'अहतिव्ववेयणाओ'
अतीव तीव्रवेदना 'सहंति' सहन्ते । 'ण य विगडिमुवयंति' नैव विकृतिमुपयाति ॥१५१६॥

गा०—कौन कुलीन स्वामिमानी शूरवीर मनुष्योंके बीचमे अपनी भुजाओको ठोककर
'मे युद्धमे इस प्रकार शत्रुओको हराऊंगा' ऐसी घोषणा करके सामने आये शत्रुसे ही डरकर
भागना पसन्द करेगा ॥१५१३॥

गा०—उसी प्रकार पूर्वमे भुजाओको ठोककर कौन स्वामिमानी साधु परीसह औदिके
सन्मुख आते ही खेदखिन्न होगा ॥१५१४॥

गा०—जिन सुभटोंके शत्रु उनके सन्मुख आते हैं वे सुभट शत्रुओके आनेसे पूर्व ही युद्ध
भूमिमे पहुँच जाते हैं । वे युद्धमे मर जाये भले ही किन्तु शत्रुओका उत्साह नहीं बढने
देते ॥१५१५॥

गा०—उसी प्रकार स्वामिमानी शूरवीर साधु आपत्तियोंकी प्रतिकूलतामे अति तीव्र कष्ट
भोगते हैं किन्तु विकारको प्राप्त नहीं होते । अर्थात् दुर्भाग्यवश उपसर्ग परीसहोके उपस्थित
होनेपर रत्नत्रयकी विराधना नहीं करते ॥१५१६॥

‘धोलाइयस्स कुलजस्स माणिणो रणमुहे वरं मरणं ।

ण य लज्जणयं काहुं जावज्जीवं सुजणमज्जे ॥१५१७॥

‘धोलाइयस्स’ कृतमुजास्फालनस्य । ‘माणिणो’ मानिनः । ‘रणमुहे वरं मरणं’ युद्धमुखे मरणं शोभनं । ‘ण य वरं’ नैव शोभन । ‘लज्जणयं काहुं’ आचरणीयं च ‘सुजणमज्जे’ सुव्रतमण्ये मावज्जीवं विधाकरणं ॥१५१७॥

समणस्स माणिणो संजदस्स जिहणगमणं पि होइ वरं ।

ण य लज्जणयं काहुं कायरदादीणकिविणत्तं ॥१५१८॥

‘समणस्स’ समानस्य श्रवणस्य वा । ‘माणिणो’ मानिनः, ‘संजदस्स’ संयतस्य । ‘जिहणवणत्तं पि होइ वरं’ निधनगमनमपि भवति वरं । ‘ण य लज्जणयं काहुं’ नैव लज्जनीयकरणं शोभनं । कातरता न वरं । ‘दीणकिविणत्तं’ दीनत्वं कृपणत्वं च न वरं ॥१५१८॥

एयस्स अप्पणो को जीविदहेहुं करिज्ज जंपणयं ।

पुत्तपउत्तादीणं रणे पलादो सुजणलंछं ॥१५१९॥

‘एयस्स अप्पणो’ एकस्यात्मनः । ‘जीविदहेहुं’ जीवितनिमित्तं । ‘को करिज्ज जंपणयं’ कः कुर्यादपवादं । ‘पुत्तपउत्तादीणं’ पुत्रपौत्रादीनां । ‘रणे पलादो’ रणात्पलायमान । ‘सुजणलंछं’ स्वजनलाञ्छनं ॥१५१९॥

तह अप्पणो कुलस्स य संघस्स य मा हु जीवदत्थी तं ।

कुणसु जणे जंपणयं किविणं कुण्वं सुगणलंछं ॥१५२०॥

‘तह तथा । ‘अप्पणो जीविदत्तं’ भवतो जीवितार्थं । ‘कुलस्स संघस्स य मा कुणसु जणे वृत्तवत्’ कुलस्य संघस्य च वृषण जने मा कार्षीः । ‘किविणं कुण्वं’ कृपणात्त्व कुर्वन् । ‘सुगणलंछं’ स्वगणलाञ्छनं ॥१५२०॥

शा०—भुजा स्फालन करनेवाले कुलीन अभिमानीके लिये युद्धमे सन्मुख मरना श्रेष्ठ है किन्तु सुजनोके मध्यमे जीवतपर्यन्त लज्जा उठाना श्रेष्ठ नहीं है ॥१५१७॥

शा०—उसी प्रकार स्वाभिमानी संयमी श्रमणका मर जाना श्रेष्ठ है किन्तु लज्जाजनक कार्य करना श्रेष्ठ नहीं है, कातरता—विपत्तियोंसे घबराना, दीनता कृपणता—कि मैं कुछ भी नहीं कर सकता आदि श्रेष्ठ नहीं है ॥१५१८॥

शा०—एक अपने जीवनके लिये युद्धभूमिसं भागकर कौन अपने पुत्र पौत्र आदिके लिये अपवादका कारण बनेगा और अपने परिवारको लाञ्छन लगायेगा ॥१५१९॥

शा०—उसी प्रकार हे क्षपक ! अपने जीवनके लिये परीषह आदि मानेपर अपनी निर्बलता का परिचय देते हुए अपने कुल और संघको लोकापवादका पात्र मत बनाओ और अपने गणपर लाञ्छन मत लगाओ ॥१५२०॥

गाढोष्णहारसंतापिदा विं शूरा रणे अरिसमकक्षं ।

ण मुहं भंजति सयं भरति 'मिडकीमुहा चैव ॥१५२१॥

'गाढोष्णहारसंतापिदा विं' गाढप्रहारसंतापिता अपि शूरा 'रणे' युद्धे । 'सयं मुहं अरिसमकक्षं' न भंजति' स्वमुखमङ्गं' अरोगा पुरतो न कुर्वन्ति । 'भरति' भ्रियते । निगुडोए सह चैव' भ्रुकुटया सह चैव ॥१५२१॥

सुट्टु वि आवइपत्ता ण कायरचं करिति सप्पुरिसा ।

कत्तो पुण दीणसं किविणसं वा वि काहिति ॥१५२२॥

'सुट्टु वि आवइपत्ता' निरस्तरमापर्वं प्राप्ता अपि । 'सप्पुरिसा ण कायरचं करिति' मत्पुरुषा न कातरता कुर्वन्ति । 'कत्तो पुण काहिति' कुत' पुन. करिष्यन्ति । 'दीणसं किविणसं' चादि' दीनता कृपणता च ॥१५२२॥

केई अग्गिमदिग्गदा समंतओ अग्गिणा वि उज्झता ।

जलमज्झगदा व णरा अत्थंति अचेदणा चैव ॥१५२३॥

केई अत्थंति अचेदणा चैव' केचिदासते अचेतना इव । 'अग्गिमदिग्गदा' अग्नि प्रविष्टा 'समंतओ अग्गिणा वि उज्झता' समन्तात् अग्निना दह्यमाना अपि । 'जलमज्झगदा व णरा' जलमध्यगता नरा इव ॥१५२३॥

तत्थ वि साहुक्कारं मगअंगुलिचालणेण कुञ्चति ।

केई करंति धीरा उक्किट्ठि अग्गिमज्झम्मि ॥१५२४॥

'तत्थ वि' तत्राप्यग्निमध्ये । 'साहुक्कारं मगअंगुलिचालणेण कुञ्चति' माधुकारं स्वाङ्गुलिचालनया कुर्वते । 'केई अग्गिमज्झगदा धीरा' केचिदग्निमध्यगता धीरा । 'उक्किट्ठि करंति' उक्किट्ठि उन्कोमन कुर्वन्ति ॥१५२४॥

शा०—युद्धमें शूरीर पुल्व जोग्दार प्रहारमें पीडित होनेपर भी शत्रुके सामनेसे अपना मुख नहीं मोड़ते और मुखपर भी टेढ़ी किये हुए ही मरते हैं ॥१५२१॥

शा०—उसी प्रकार सत्पुरुष अत्यन्त आपत्ति आनेपर भी कातर नहीं होते । तब वे दीनता या कायरता क्यों दिखायेंगे ? ॥१५२२॥

शा०—कितने ही सत्पुरुष अग्निमें प्रवेश करके सब ओरसे आगसे जलनेपर भी जलके मध्यमें प्रविष्ट हुए मनुष्यकी तरह अथवा अचेतनकी तरह रहते हैं ॥१५२३॥

शा०—तथा आगके मध्यमें भी रहते हुए अपने अंगुलि संचालनके द्वारा साधुकार करते हैं कि कितना अच्छा हुआ कि मेरे अशुभ कर्म क्षय हुए । कितने ही धीर वीर पुरुष आगके मध्यमें रहकर अपना आनन्द प्रकट करते हैं ॥१५२४॥

अदिदा तद् अज्यापी संसारकवृणाय केस्ताए ।

तिब्बाए वेदनाए सुहसाउल्लया करिति विदि ॥१५२५॥

'अदिदा' यति ज्ञायत् । 'सुह' तथा । 'अज्यापी विदि करिति' तथा अज्ञानिनो वृत्ति 'कुर्वन्ति' 'संसार-
कवृणाय केस्ताए' संसारप्रवर्द्धनकारिण्या केस्यया । 'तिब्बाए वेदनाए' तीव्राया वेदनाया सत्या ।
'सुहसाउल्लया' सुखास्वादनकम्पटा ॥१५२५॥

किं पुण अदिणा संसारसम्बदुक्खसकख्यं करतेण ।

बहुतिव्वदुक्खरसजाणएण ण धिदी हवदि कुज्जा ॥१५२६॥

किं पुण अदिणा न करिण्या हवति 'विदि' किं पुनरं कार्या भवति वृत्ति यतिना । कीदृशा ?
संसारसम्बन्धजनकस्य संसारसर्वदुःखस्य कुर्वता । 'बहुतिव्वदुक्खरसजाणएण' बहूना वतुर्गतिगताना तीव्राणा
दुःखानां रस जानता ॥१५२६॥

असिबे दुक्खिक्खे वा कंतारे भएव आगाढे ।

रोगेहिं व अमिभूदा कुलजा माणं ण विजहति ॥१५२७॥

'असिबे माया' । 'दुक्खिक्खे वा' दुःखिणे वा । 'कंतारे' अटव्या वा । गाढे भये व । उपयुपरि निपतित-
नये वा । 'रोगेहिं व अमिभूदा' व्याधिनिर्वा अमिभूता । 'ण विजहति कुलजा माणं' न जहति कुलप्रसूता
बाल ॥१५२७॥

ण पियंसि सुरं ष य खंसि मोमयं ण य पसंदुमादीयं ।

ण य कुव्वंसि विकम्मं तद्देव अज्जंवि लज्जणयं ॥१५२८॥

'ण पियंसि सुरं' न पिबन्ति सुरा । 'ण खंसि' न च कलयन्ति मोमांसं । 'ण य पसंदुमादीयं' न पसन्दु
प्रवृत्तिकं भक्षयन्ति । 'ण य कुव्वंसि विकम्मं' नैव कुत्सित कर्म परोच्छिष्टभोजनाविक कुर्वन्ति । 'तद्देव अज्जंवि
लज्जणयं' तथैव नान्यदपि लज्जनीय कुर्वन्ति ॥१५२८॥

भा०—यदि संसारको बहानेवाली अशुभ क्षेत्र्यासे युक्त अज्ञानी पुरुष सासारिक सुखको
लाकसासे तीव्र वेदना होते हुए भी धैर्य धारण करते हैं ॥१५२५॥

बिच्छेदार्थ—आगमें अन्नकर मरनेका कथन उन धर्मवालोके लिये किया है जो आगमें
अन्नकर मरनेमें धर्म मानते हैं ।

भा०—तो जो क्षणक साधु संसारके सब दुःखोंका क्षय करना चाहता है और चारों गतियों-
के तीव्र दुःखोंका स्वाद जानता है वह धैर्य धारण क्यों न करेगा ॥१५२६॥

भा० भारी रोगमें, दुःखिममें, भयानक बनमें, अत्यन्त प्रगाढ़ भयमें तथा रोगोंसे ग्रस्त
भी कुलीन पुरुष स्वाभिमानको नहीं छोड़ते ॥१५२७॥

भा०—वे मद्यिरा पान नहीं करते । गोमांस नहीं खाते । लहसुन प्याज आदि नहीं खाते ।
सूखरेका जूठ खाना आदि बुरे काम नहीं करते । इसी प्रकार अन्य भी लज्जास्पद काम नहीं
करते ॥१५२८॥

किं पुन कुलमयसंभवस्त असमाधिजो लोचपूजिता साधू ।
मात्रं वि जहिय काहंति विकल्पं सुखमलज्जन्मवयं ॥१५२९॥

'किं पुन साधू वि कल्पं काहंति' किं पुनः साधवः कुतस्त्रितं कर्म करिष्यन्ति । 'कुलमयसंभवस्त असमाधिजो' 'कुलमय' गणपत्य संभवत्य च यतः संपादनाहंकारमन्तः । 'लोचपूजिता साधू' लोके कृतपूजाः । 'मात्रं विजहिय' मात्रं त्यक्त्वा 'सुखमलज्जन्मवयं' साधुजनैश्च विकल्पनीयं कर्म ॥१५२९॥

जो मच्छिञ्ज विसादं महन्लमप्यं च आवदि पयो ।
तं पुरिसकादरं विंति बीरपुरिसा हु संदुचि ॥१५३०॥

'जो मच्छिञ्ज विसादं' यो मच्छेदिवान् । 'महन्लं अप्यं च आवदि पयो' महतीं अर्थां वा आपत्तं प्राप्यः । 'तं पुरिसकादरं' पुरुषेषु कातरं । 'बीरपुरिसा संदुचि विंति' बीराः सुपुरुषाः पण्ड इति वृण्वन्ति ॥१५३०॥

मेरुव विप्यकंपा अकखोभा सागरुव गंभीरा ।
चिदिवंतो सप्पुरिसा हुंति महन्लावईय वि ॥१५३१॥

'मेरुव विप्यकंपा' मेहरिव निवपलाः । 'अकखोभा' अकम्पाः । 'सागरुव' सागर इव 'चिदिवंतो सप्पुरिसा' वृत्तिमन्तः संतोषवंतः सत्पुरुषाः । 'महन्लावईय वि' महत्यामाप्य ॥१५३१॥

केई चिद्वचसंभा आदरोविदभरा अपदिक्कम्मा ।
गिरिपन्मारमभियता बहुसावदसंकडं श्रीमं ॥१५३२॥

'केई उक्तवुं कावोति' इति वचनमानेन संकल्पः । केचिदुत्तमं वस्तु रत्नमयं साधयन्ति । कीदृशपूजाः ? 'चिद्वचसंभा' निम्नरिक्ताः । 'आदरोविदभरा' अतिपारोक्षितभराः । 'अपदिक्कम्मा' निष्प्रतीकाराः । 'गिरिपन्मारमभियता' गिरिप्रामारमभियताः । कीदृशं ? 'बहुसावदसंकडं' बहुव्यालमूवाकुलं । 'श्रीमं' भयावहं ॥१५३२॥

चिदिधभियवदकन्ळा अनुचरविहारिणो सुदसहाया ।
साहंति उचमहुं सावददाडंतरगदा वि ॥१५३३॥

शा०—तव कुल गण और संभके यस्त सम्पादनका अहंकार करनेवाले लोकपूजित साधु स्वाभिमान त्यागकर साधुजनके लिये लज्जाके योग्य बुरा कर्म करेगे क्या ? कभी नहीं करेंगे ॥१५२९॥

शा०—जो छोटी या बड़ी विपत्ति आने पर सिन्न होता है उस कायर पुरुषको धीर पुरुष नपुंसक कहते हैं ॥१५३०॥

शा०—सज्जन पुरुष महती विपत्तिमें भी सुमेरुकी तरह अकम्प, सागरकी तरह गम्भीर और वैयंसील रहते हैं ॥१५३१॥

शा०—कितने ही साधु समस्त परिग्रहको त्यागकर, अपने आत्मामें आत्माको आरोपित करके, प्रतीकार रहित होकर, बहुतसे ध्याप्त आदि हिस्र अन्तुओंसे भरे भयंकर पर्वतोंके शिखरोंपर

'विधिवन्धिव्यवहृत्कञ्ज' श्रुत्या नितरां बद्धकन्याः । 'अनुत्तरविहारिणो प्रकृष्टचारिणाः । 'सुखसहायाः' श्रुतज्ञानसहायाः । 'साधिति उत्तमदर्थ' साधयन्त्युत्तमार्थं रत्नमयं । 'साधयन्तर्त्तरयन्वा वि' रत्नापदबंधुमध्यगता अपि ॥१५३३॥

अल्लक्षिकए तिरसं खज्जंतो घोरवेदनाडो वि ।

आराधणं पवण्णो ज्जाणोणावंतिसुकुमालो ॥१५३४॥

'अल्लक्षिकए तिरसं खज्जंतो' श्रुत्यालेन तिसुषु रात्रिषु भव्यमाणः । 'घोरवेदनाडो वि' घोरवेदना-
वाधितोऽपि । 'आराधणं पवण्णो ज्जाणोणं' शुभध्यानेनाराधना प्रपन्न । क ? 'अवंतिसुकुमालो' अवति-
सुकुमारः ॥१५३४॥

'पोम्मिलगिरिम्मि य सुकोसलो वि सिद्धत्थदइय भयवंतो ।

वणीए वि खज्जंतो पडिवण्णो उत्तमं अट्टं ॥१५३५॥

'पुद्गलगिरौ सुकोसलोऽपि सिद्धार्थस्य पुत्रो भगवान् व्याख्या जननीचर्या भवित' सन् प्रतिपन्नः
उत्तमार्थम् ॥१५३५॥

भूमीए समं कीलाकोडिददेहो वि अल्लचम्मं व ।

भयवं पि गयकुमारो पडिवण्णो उत्तमं अट्टं ॥१५३६॥

'भूमीए समं भूमौ समं । 'कीलाकोडिददेहो' कीलोत्कृतदेहः । 'अल्लचम्मं व' आर्द्रचर्मवत् । 'भयवं
पि' भगवान् गजकुमारोऽपि । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५३६॥

कच्छुजरखाससोसो भसेच्छअच्छिक्खिदुक्खाणि ।

अधियासयाणि सम्मं सणक्कुमारेण वाससयं ॥१५३७॥

जाकर हृद् धैर्यको अपनाकर, उत्कृष्ट चारित्रपूर्वक श्रुतज्ञानकी सहायनाग्रे सिद्धादिके मुहमे जाकर
भी उत्तमार्थं रत्नत्रयकी साधना करते हैं ॥१५३२-३३॥

शा०—अवन्ती अर्थात् उज्जैनी नगरीमें सुकुमार मुनि तीन गत तक शृगालीके द्वारा
खाये जानेपर घोर वेदनासे पीड़ित होते हुए भी शुभध्यानके द्वारा रत्नत्रयकी आराधनाको प्राप्त
हुए ॥१५३४॥

शा०—पुद्गल या मुद्गल नामक पर्वतपर सिद्धार्थ राजाके प्रिय पुत्र भगवान् सुकौशल
मुनि अपनी पूर्ण जन्मकी माता व्याघ्रीके द्वारा खाये जानेपर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३५॥

शा०—पृथ्वीके साथ गीले चमड़ेकी तरह शरीरमें कीलें ठोककर एकमेक कर देनेपर भी
भगवान् गजकुमार मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३६॥

शा०—सप्तकुमार मुनि ने सौ वर्षों तक खाज, ज्वर, खांसी, सूक्ष्मापन, दीर्घ उदरगिन,
नेत्रपीड़ा, उदरपीड़ा आदिके दुःख बिना संकलेशके धैर्यपूर्वक सहन किये ॥१५३७॥

'कच्छरकासतोषो' कच्छरकासतोषाः । 'जलेच्छमिच्छकुच्छिच्छुश्चाणि' तीव्रो जठराग्निः अक्षि-
पुःक्षं । कुक्षिपुःक्षं च । 'अक्षियासवाणि' असंक्लेषेन घृतानि 'सत्सक्कुमारणे' सनत्कुमारेण । 'बाससर्ष'
वर्षसर्ष ॥१५३७॥

णावाए णिव्वुडाए गंगामज्जे अमुज्जमाणमदी ।
आराधणं पवण्णो काल्मज्जो एणियापुत्तो ॥१५३८॥

'णावाए णिव्वुडाए' नावि निमग्नायां च । 'गंगामज्जे' गंगया मध्ये । 'अमुज्जमाणमदी' अमुहा-
मानमतिः । 'आराधणं पवण्णो' आराधनां प्रतिपन्नः सन् । 'काल्मज्जो' कालं यतः । 'एणियापुत्तो' एणिकपुत्र-
नामनेयो यदिः ॥१५३८॥

ओमोदरिए घोराए भद्दवाहू असंकिण्डुमदी ।
घोराए विगिच्छाए पडिवण्णो उत्तमं ठाणं ॥१५३९॥

'ओमोदरिए घोराए' घोरेणावमोदयेण तपसा समन्वितः । 'भद्दवाहू असंकिण्डुमदी' भद्रवाहुरसं-
किल्बितः । 'घोराए विगिच्छाए' घोराया क्षुधा बाधितोऽपि । 'पडिवण्णो उत्तमं ठाणं' प्रतिपन्न
उत्तमार्थं ॥१५३९॥

कोसंबील्लियघडा वूढा णहूरएण जलमज्जे ।
आराधणं पवण्णा पावोवगदा अमूढमदी ॥१५४०॥
चंपाए मासखमणं करिसु गंगातडम्मि तण्हाए ।
घोराए धम्मघोसो पडिवण्णो उत्तमं ठाणं ॥१५४१॥

'चंपाए' चम्पानगर्या । 'मासखमणं करिसु' मासोपवासं कृत्वा । 'गंगातडम्मि' गंगायास्तटे । 'तण्हाए
घोराए' तुष्यया तीव्रया बाधितोऽपि । 'धम्मघोसो' धर्मघोषः । उत्तमार्थं प्रतिपन्नः ॥१५४०-१५४१॥

शा०—गंगाके मध्यमें नाव डूबनेपर एणिक पुत्र नामके मुनि मोहरहित होकर मरणको
प्राप्त हुए और आराधनाके धारक हुए ॥१५३८॥

शा०—घोर अवमोदयं तपके धारी भद्रवाहू मुनि घोर भूखसे पीड़ित होनेपर भी संक्लेश
रूप परिणाम न करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३९॥

शा०—कौशाम्बी नगरीमें सुखपूर्वक पाले गये इन्द्रदत्त आदि बत्तीस श्रेष्ठ पुत्र जलके
मध्यमें यमुना नदीके प्रवाहके द्वारा प्रायोपगमन संन्यास पूर्वक मरणको प्राप्त हुए । उन्होंने मोह
रहित होकर आराधनाको प्राप्त किया ॥१५४०॥

शा०—चम्पा नगरीमें एक मासका उपवास करते हुए धर्मघोष नामक मुनि गंगाके तटपर
तीव्र व्याससे पीड़ित होकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४१॥

१-२. विगिच्छाए मु० मुखारा० । ३. एतां टीकाकारो नेच्छति ।

सीदेव पुण्यवह्निरियदेवेण विदुम्बिएण घोरेण ।
संतपो सिरिदपो पडिवण्णो उत्तमं अहुं ॥१५४२॥

‘सीदेव’ शीतेन । ‘संतपो’ संतप्यः । ‘पुण्यवह्निरियदेवेण विदुम्बिएण’ पूर्वजन्मसमुपा देवेनोत्पादितेन
‘सिरिदपो’ शीदत्तः । उत्तमार्थमुपगतः ॥१५४२॥

उण्हं वादं उण्हं सिलादलं आदवं च अदिउण्हं ।
सहिदूण उसइसेणो पडिवण्णो उत्तमं अहुं ॥१५४३॥

‘उण्हं वादं’ उष्णं वातं, ‘उण्हं सिलादलं’ उष्णं शिलातलं । ‘आदवं च अदिउण्हं’ आतापं चात्पुष्णं
‘सहिदूण’ प्रसह्य वृषभसेन उत्तमार्थं प्रतिपन्नः ॥१५४३॥

रोहेडयम्मि सपीए हजो कौषेण अग्गिदइदो वि ।
तं वेयणमभियासिय पडिवण्णो उत्तमं अहुं ॥१५४४॥

‘रोहेडयम्मि’ रोहेडवे नगरे । ‘सपीए हजो’ शकत्या हतः । ‘कौषेण’ क्रोचनामधेयेन । ‘अग्गिदइदो वि’
‘गिनराजसुतोऽपि । तं वेयणमभियासिय’ ता वेदना प्रसह्य । उत्तमार्थं प्रतिपन्नः ॥१५४४॥

काइदि अमयघोसो वि चंडवेगेण छिण्णसळ्ळंगो ।
तं वेयणमभियासिय पडिवण्णो उत्तमं अहुं ॥१५४५॥

‘काइदि अमयघोसो वि’ काकन्धा नगरी अमयघोसोऽपि । ‘चंडवेगेण छिण्णसळ्ळंगो’ चंडवेगेन
छिण्णसर्वाणि ॥१५४५॥

दंसेहिं य मसएहिं य खज्जंतो वेदणं परं घोवं ।
विज्जुक्खरोऽभियासिय पडिवण्णो उत्तमं अहुं ॥१५४६॥

‘दंसेहिं य’ दंतीर्णलकंदव मध्यमाच. विज्जुक्खरस्तां वेदनां अवनचम्य बाराचनां प्रपन्नः ॥ १५४६॥

भा०—पूर्वभक्ते वैरो देवके द्वारा विक्रिया पूर्वक किये गये शीत से पीड़ित होकर श्रीदत्त
मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४२॥

भा०—गर्म वायु, गर्म शिलातल और अत्यन्त गर्म आतापको सहन करके वृषभसेन उत्त-
मार्थको प्राप्त हुए ॥१५४३॥

भा०—रोहतक नगरमें क्रौंच नामक राजाके द्वारा शक्ति नामक शस्त्र विशेषसे मारा
गया अग्नि राजाका पुत्र उसकी वेदनाकी सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुना ॥१५४४॥

भा०—काकन्दी नगरीमें चण्डवेगके द्वारा सब अंगोंके छेद शल्लनेपर अमयघोष मुनि
उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४५॥

भा०—डांस मच्छरोंके द्वारा क्षामे जानेपर विज्जुक्खर मुनि अत्यन्त घोर वेदनाको सहन
करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४६॥

हृदियन्पुरगुह्यो संबलिपाली व द्रोणिसंतमि

उज्ज्वतो अघियासिय पडिवण्णो उत्तमं अहुं ॥१५४७॥

‘हृदियन्पुरगुह्यो’ हृदियन्पुरवारण्यो बुधत्तः । ‘संबलिपालीव’ हृदियन्कोट निरामाव
पूर्ववामं अर्धपत्रविहितमिवं मुखं अयोमुखं संख्याय उपरिमावमस्य अग्निप्रक्षेपः संबलीत्युच्यते । तद्विष्णु
मिलिप्याग्निः । ‘द्रोणिसंतमि’ द्रोणीमत्सवंति दह्मनामः प्रपन्नाः उत्तमार्थ ॥१५४७॥

बाह्व्यहारविद्धो पूर्वगलियाहिं बालणीव कदो ।

तव वि व बिल्लतपुषो पडिवण्णो उत्तमं अहुं ॥१५४८॥

‘बाह्व्यहारविद्धो’ मितरामानुर्विद्धः । ‘पूर्वगलियाहिं’ कृष्णः स्फुलोत्तमाङ्गः पिपीलिकार्थि
‘बालणीव कदो’ बालनीव कृतविचलातपुत्रस्तथाप्युत्तमार्थमुपगतः ॥१५४८॥

द्वो उज्जवावकेण तिक्खकडेहिं पुरिदंगो वि ।

तं वेयमभाघियासिय पडिवण्णो उत्तमं अहुं ॥१५४९॥

‘द्वो’ दंढनामको यतिः । ‘अनुभावकेण’ यमुनावक्रतामितेन । ‘तिक्खकडेहिं’ तीक्ष्णं शरं । ‘पुरि
दंगो’ रत्नमयं समाराधयति त्म ॥१५४९॥

अभिण्दभादिया पंचसया जयरम्मि कुम्कारकडे ।

आराधणं पवण्णा पीलिज्ज्वता वि यंतेण ॥१५५०॥

‘अभिर्चन्नादिना’ अभिनन्दनप्रभृतयः पञ्चसतसंख्याः, कुम्भकारकटे नगरे यंत्रेण पीठ्यमाना अ-
राधना प्राप्ताः ॥१५५०॥

भा०—हृदिनापुर नगरके वासी गुह्यत मुनि द्रोणगिरि पर्वतपर संबलिपालीकी ह
अकले हुए उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४७॥

विशेषार्थ—एक पात्रमें उड़दकी फलिया भरकर उसे आकके पत्रोंसे ढांककर, उस पात्र
मुख नीचेको करके चारों ओर आगसे घेर देनेपर संबलिपाली कहते हैं । द्रोणगिरि पर्वत
गुह्यत मुनिके सिरपर आग जला दी गई थी । ४० क० कोषमें १३९ नम्बर पर इनकी क
विस्तारसे दी है ।

भा०—बिल्लतपुत्र नामक मुनिका शरीर काली पीटियोंके तीव्र डंक प्रहारसे चलन
तरह बीच दिया गया था । फिर भी उन्होंने उत्तमार्थको प्राप्त किया ॥१५४८॥

भा०—दण्ड नामक मुनिके शरीरको यमुनावक्र नामके राजाने तीक्ष्ण बाणोंसे छेद
भर दिया था । फिर भी वे उसकी वेदनाको सहन करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४९॥

विशेषार्थ—४० क० कोषमें मुनिका नाम धान्यकुमार दिया है उनकी कथ
क्रमांक १४१ है ।

भा०—कुम्भकारकट नामक नगरमें अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनि कोल्लूमें वेक
वागैपर जी आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५५०॥

‘मोहे पाथीवजयो ह्युपयुजा मोक्षये पञ्चिदग्नि ।
उज्ज्वलो ज्ञानको पश्चिपणो उत्तमं अहं ॥१५५१॥
वसदीप पत्न्यिदाय रिङ्गामन्वेन उसाहसेनो वि ।
आराधनं वृषणो सह परिसाद्य कुषालग्नि ॥१५५२॥

‘वसदीप पत्न्यिदाय’ वसती वप्यायां । रिट्ठानन्वनामन्वेन वृषमसेनः सह मुनिपरिषदा प्रतिपन्न
आराधनाम् ॥१५५१-१५५२॥

अदिदा एवं एदे अजगारा तिष्ववेदमहा वि ।
दद्यानी अपश्चियम्मा पश्चिपणो उत्तमं अहं ॥१५५३॥

‘अदिदा’ एवं यदि एदे तावदेवेते ‘अजगारा’ मतमस्तीहवेदनापीडिता अपि एकाकिनोऽस्तीकारा
उत्तमार्थं प्रतिपन्नाः ॥१५५३॥

किं पुन अजगारसहायणेन कीरवंत पश्चिग्मो ।
संघे ओलगाते आराधेदुं न सकवेज्ज ॥१५५४॥

‘किं पुन अजगारसहायणेन’ किं पुनर्न समये आराधयितुं अजगारसहायणेन मन्वता क्रियमाणे प्रतिकारे
संघे बोधालनां कुर्वन्ति सति ॥१५५४॥

जिणवयणममिदभूदं मधुरं कण्णाहुदिं सुणंतेण ।
सक्का हु संघमज्जे साहेदुं उत्तमं अहं ॥१५५५॥

‘जिणवयणं’ जिनानां वचनं । अमृतभूतं, मधुरं कर्णाहुतिं शृण्वता त्वया संघमध्ये शक्यमाराध-
यितुं ॥१५५५॥

शा०—वाणक्य मुनि गोकुलमें प्रायोपगमन संन्यासमें स्थित थे । सुबन्धु नामक मंत्रीने
कण्ठके डेरमें आग लगा दी । उसमें जलकर वाणक्य मुनि उत्तम अर्थको प्राप्त हुए ॥१५५१॥

शा०—कुषालपुरीमें रिट्ठ नामक मंत्रीके द्वारा वसतिकामे आग लगानेपर वृषमसेन मुनि
अपने शिष्य परिवारके साथ आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५५२॥

शा०—इस प्रकार यदि ये मुनि अकेले प्रतीकार किये बिना तीव्र वेदनासे पीडित होकर
उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५५३॥

शा०—तो तुम्हारी सहायताके लिये तो मुनि समुदाय है वह तुम्हारे कष्टका हल्लाज
करता है, तुम्हारे साथ उपासना करता है तब तुम आराधना क्यों नहीं कर सकते ॥१५५४॥

शा०—अमृतके समान मधुर जिन-वचन तुम्हारे कानोंमें जाता है । उसे सुनते हुए संघके
मध्यमें तुम्हारे लिये आराधना करना सरल है ॥१५५५॥

निरयतिरिपकण्ठदीप्तु व मानुषदेवत्वे व सतिष ।

जं पचं इह दुपखं तं अनुचितेहि तन्पिचो ॥१५५६॥

'निरयतिरिपकण्ठदीप्तु व' नरकतिर्यन्तिपु व । 'मानुषदेवत्वे व सतिष' मानुषत्वदेवत्वयोरेव सता यत्पार्थ इह दुपखान्तरं दुःखं 'तं अनुचितेहि' तत्पतचित्तस्तरपुकिन्तव ॥१५५६॥

निरयसु वेदनाजो जन्मोवमाजो असादबहुलाजो ।

कायगिमिचं पचो अर्णतस्तुचो व बहुविधाजो ॥१५५७॥

'निरयसु' नरकेषु । 'वेदनाजो' वेदनाः । 'जन्मोवमाजो' जन्मपथाः । तादृश्या वेदनाया जपत्यन्यस्या जन्मावाप् । 'असादबहुलाजो' असद्वैषकर्मबहुलाः । कारणबहुलत्वेन कायानुपरतिराख्याता । 'कायगिमिचं पचो' शरीरगिमित्तासंयमावितकर्मनिमित्तत्वान्मूलकारणं निदिष्टं कायगिमित्तमिति । 'अर्णतस्तो' अर्णतपारं । 'स' मवान् 'बहुविधाजो' बहुविधाः ॥१५५७॥

उष्णनरकेषु उष्णमहतासूचनार्षोत्तरा गाथा—

अदि कोइ मेरुमचं लो हुण्डं पक्खिविज्ज निरयम्मि ।

उण्हे भूमिमपचो गिमिसेण विलिज्ज सो तत्थ ॥१५५८॥

'निरयम्मि उण्हे' लोहण्डं मेरुमचं अदि कोइ पक्खिविज्ज' उष्णनरकं लोहपिण्डं मेरुसमानं यदि कश्चिदेवो दानवो वा प्रक्षिपेत् । 'लो तत्थ भूमिमपचो जेव विलिज्ज' लोहपिण्डां भूमिमप्राप्त एव इवतामुप-
याति । 'उण्हेण' उष्णेन नरकविकाना ॥१५५८॥

शा०—नरकगति, तिर्यङ्गगतिमें और मनुष्य पर्याय तथा देवपर्यायमें रहते हुए तुमने जो दुःख सुख भोगा, उसमें मन लगाकर उसका विचार करो ॥१५५६॥

शा०-टी०—इस शरीरके निमित्त किये गये असंयमसे उपाजित कर्मके निमित्तसे तुमने नरकमें अनन्तवार नाना प्रकारकी तीव्र वेदना असातावेदनीय कर्मके तीव्र उदयमें भोगी हैं । इस प्रकारकी वेदना जगतमें दूसरी नहीं है । उसका मूल कारण यह शरीर है । उसीके निमित्तसे होनेवाले असंयमके कारण असातावेदनीयका तीव्रबन्ध होकर वह नरकमें प्रचुरतासे उदयमें जाता रहता है । अतः कारणकी बहुलता होनेसे वेदना रूप कार्य निरन्तर हुआ करता है ॥१५५७॥

आगेकी गाथासे उष्ण नरकोंमें उष्णताको महत्ता बतलाते हैं—

शा०—यदि कोई देव वा दानव मेरुके समान लोहेके पिण्डको उष्ण नरकमें फेंके तो वह लोहपिण्ड वहाँकी भूमिको प्राप्त होनेसे ही पहले मार्गमें ही नरकावलोकी उष्णतासे पिघल जाये ॥१५५८॥

तद् देव च सर्वेऽपि सन्निहितो लोकभिरकलङ्कितः ।

तद्देव भूमिगतो विहितेन लक्षण्य लोहकं ॥१५५९॥

'तद् देव' तमेव । 'लक्ष्णे' वेदनायैः । 'लोकैर्' लोकैः । 'सन्निहितः' सन्निहितः । 'लोकभिर' लोकैः । 'कलङ्कितः' लोकात् । 'लोकभिरकलङ्कितः' लोकैः । 'लोकभिरकलङ्कितः' लोकैः । 'लोकभिरकलङ्कितः' लोकैः ॥१५५९॥

सोऽप्येवमिति वेदनायैः सन्निहितः सन्निहितः—

होदि च कल्पे सिन्धुः कल्पयो देव वेदना देहः ।

कुम्भीकस्त वा कुम्भीकस्त कारेण सिन्धुः ॥१५६०॥

'होदि च कल्पे सिन्धुः' कल्पे च कल्पे हीने वेदनाः । 'हो' कल्पे । 'कल्पयो देव' स्वभावत एव । 'कुम्भीकस्त' कुम्भीकस्त । 'कारेण सिन्धुः' कारेण सिन्धुः । 'कुम्भीकस्त' कुम्भीकस्त । वापुः वेदना तापवेन कल्पे वेदनेति वापुः ॥१५६०॥

निरयकडवमि पचो जं दुपसं लोहकं टर्हि दुपं ।

पेरर्हि च' तपो पचिवो जं पाचिवो दुपसं ॥१५६१॥

'निरयकडवमि' नरकविलसद्वृत्ते-नरकस्वभावादे इति केचिद्वदन्ति । अन्ये तु निरयवर्त इति । 'पचो जं दुपसं' यद्दुःखं प्राप्तः । 'लोहकं टर्हि' निकृष्टतरलोहककटकैः तुल्यमानस्त्वं ॥१५६१॥

जं कूटसामलीय दुपसं पचोसि जं च सुलमि ।

असिचत्तवमि य जं जं च क्यं गिदकंकेहि ॥१५६२॥

'जं कूटसामलीय' यद्दुःखं प्राप्तोऽसि चिकित्साजनितनिवातच्छाल्मकीभिः । ऊर्ध्वमुखैरधोमुखैश्च-शीघ्रकटकैः त्रीर्णाः कूटसामलीयारोहणं नारकमवात् । 'जं च सुलमि' यच्च दुःखमवाप्नोसि सुखमवाप्नोसि ।

वा०—उसी प्रकार उस पिचले हुए मेरु प्रमाण लोहपिण्डको यदि शीत नरकमें फेंका जाये तो भूमिको प्राप्त होनेसे पहले ही वह वहकि शीतसे जमकर खण्ड-खण्ड हो जाय ॥१५५९॥

शीत और उष्णसे होनेवाली वेदनाकी महत्ता बतलाकर शारीरिक वेदना कहते हैं—

वा०—जैसे किसी भूछाँरहित मनुष्यके शरीरको कुचलकर उसे खारे तप्त तैलसे सींचनेपर जैसी वेदना होती है वैसी ही शीत वेदना नरकमें नारकीके शरीरमें स्वभावसे ही होती है ॥१५६०॥

वा०—नरकस्त्री स्वन्यावारमें जबवा गढ़में नारकीकोके द्वारा लोहेके अत्यन्त नुकीले कांटोंपर बसीठे जानेसे तुमने जो दुःख भोगा उसका विचार करो ॥१५६१॥

वा०—ही०—विक्रियासे रचे गये तीक्ष्ण शास्त्रकी कुक्षोंपर, जो ऐसे कांटोंसे चिरे होते हैं जिनमेंसे कुछ कांटोंका मुँह ऊपरकी ओर और कुछका नीचेकी ओर होता है, नारकीकोके भयसे डरकर चक्रे हुए तुमने जो दुःख भोगा । सूलीके जब सागपर चढ़ाने जानेपर तुमने जो दुःख

१. यत्र लोहेऽपि पच-य-० । २. य संतो पचिवो सिन्धुर्हि दुपसं—इति अन्येषां वदः ।

'असिपन्नवनेति य एवं' अथ एव पत्राणि रक्षित्वान्ने उपश्रियन्वयम् । उन्मादितायां पूज्युतां नारकानां
असिपन्नवनेनेकादशविधिविधिविधिविधासुपन्नानि कर्तानि । 'यं य कर्म' इत्ये कृतं । 'विष्णुकीर्ति'
श्लोः कर्तव्यं वक्ष्यन्तीत्युच्यते । ते सुष्पन्नवस्तुवन्ति । शीघ्रशीघ्रकर्मवस्तुः पर्यः प्रहरन्ति^१ निरान्तरपर्यवस्य-
रणात्कूर्मस्तासुवन्ति ॥१५६२॥

सामसवलेहिं दोसं बहुरणीयं य वाचिभो जं सि ।

पयो कर्मबालुयमङ्गम्यमसायमविविधं ॥१५६३॥

'सामसवलेहिं' इयामसवलेहिंश्रितरसुटः । 'दोसं' दोषं इत्यानां । 'बहुरणीयं य वाचिभो जं सि'
वैतरण्यां नद्यां प्रापितो यवति । तुषानिभूतानां बलं युषयतां विष्णु विष्णुस्तदीमकोचयानां सुष्कतासुमकानां
वैतरणीनदीमुपवर्धयति । रङ्गतरङ्गाङ्गाः, अनाधनीकनीरभरितं-हारां, विषयसुखदेवेन दुरण्डयुष्मासुबन्धो-
क्यां, संकुशिरिव दुवतरां, आशेष विद्यानां, कर्मपुद्गलकर्मबलहृदिरिव विषयविपक्षिवाचिनीं, उर्ध्वनासुदुरवेयो-
पजातोत्कंठ कर्मवीरितात्मन्भूताः स्म इति मन्थमाना वृत्तरवतमस्तामववाहन्ते । तदववाहनामन्तरमेव कृतां-
बलयः पिबन्ति ताज्जवसनिभं तदम्यः । पश्यवचयमिव हृदयसाहृदिविधावि, ह्य विप्रकम्पाः स्वेति कर्मणं रणतां
शिरांसि पश्यतमसधीरचप्रेरयोविततरङ्गाशिरारा निष्कृतमिति करपरचानि य । तेनादिसारेभोष्पेन, कर्मकूट-
विषयमानेन जलेन, वनामन्तरवेदिना बह्यमाना जटिति षटितकरचरणास्तडेन रटन्तः समारोहन्ति । तेषां य

भोगा । जिस वनमें तलवारकी धारके समान पत्ते होते हैं उसे अक्षिपन्न वन कहते हैं । पर्वसि
पीडित नारकी असिपन्न वनमें जाते हैं जो अनेक असुर कुमार देवोंकी विक्रियाके द्वारा निर्मित
विषिप आयुध रूप पत्रोंसे युक्त होते हैं और उन आयुध रूप पत्रोंके गिरनेपर उनका सर्वांग छिन्न
जाता है । तथा मूढ और कम्बू पक्षि अपनी बख्शमय चोंचोंसे उन्हें मोचते हैं तीक्ष्ण आरके समान
पंखोंसे प्रहार करते हैं । अत्यन्त तीक्ष्ण कठोर चरणरूपी अंकुशोंसे मारते हैं । इन सबका जो
दुःख तुमने भोगा ॥१५६२॥

शा०-टी०-—इयाम शवल नामक असुर कुमारोंके द्वारा वैतरणी नदीमें तुमने जो दण्ड
भोगा । जब नारकी प्याससे व्याकुल होकर जलकी खोजमें होते हैं और उनकी आँखें दीन तथा
कम्ब और तालू सूख जाता है तो उन्हें वैतरणी नदी बिसलाई जाती है । वह रंगीन तरंगोंसे
व्याप्त और अगाध नीले जलसे भरी होती है, विषय सुख सेवनकी तरह तृष्णाकी परम्पराको
बढ़ाने वाली होती है, संसारकी तरह उसे पार करना कठिन होता है, आशाकी तरह विशाल
होती है, कर्मपुद्गलोंके स्पर्शोंके समूहकी तरह अनेक विपत्तियाँ कानेवाली होती है । उसको
देखकर दूरसे ही उनकी उत्कण्ठ बढ़ जाती है । जब हम जी गये, ऐसा मानते हुए दौड़कर नदीमें
प्रवेश करते हैं । प्रवेश करते ही हाथोंकी अंजलि बनाकर पिचले हुए तामेके समान उसके जलकी
पीते हैं । वह जल कठोर बचनकी तरह हृदयको बलानेवाला होता है । 'अरे हम उभावै श्वे' ऐसी
कथन शीघ्रकार करते हुए उनके सिर और हाथ पैरोंको अत्यन्त कठोर बायुसे प्रेरित लहरें, जो
तलवारकी धारके समान होती हैं, काट देती हैं । तब कर्मकूट विषके समान अत्यन्त खारा गर्म
जल उनके पाशोंमें जाता है । उससे जलते हुए वे तत्काल तटकी ओर जाते हैं । उनके कटे हुए

१. कुर्मः तरङ्गकोचनं -आ० मु० । ते हि वक्ष्यन्तीत्युच्यतेमात्रं तुचन्ति । २. रक्षित्वं नक्षर
-शा० मु० ।

सीमायुः क्वावकस्य कव्यतीः विकल्पकं मुञ्जकामोक्षं कल्पति दुःखिनोषाः । कल्प्या व तत्पानेन पश्यति ।
 पातिकास्तव कुतोमन्वयनिमग्ननामानुत्तमाङ्गानि असुरविश्वानिनिमित्तवाचकरकण्ठहारेण कर्षीशुभ्र
 निष्यति । पुनश्च तटमास्ताम्यच्छतस्तकमुद निरपकं कल्पति । तापपरित्यग्नमन्वितान्कलीकृतं
 विष्यन्तीति निष्ठातकारकतसहस्रैः । 'कती कर्मवशात्कल्पविषय' प्रायः कर्मवशात्प्राकारा'वालिका चित्तुः-
 प्रवेशाः, द्वाकलकृतविराङ्कारकप्रकरोपमनाः परिजाय्य ह्य वक्ष्यत्संघार्यमाचः वक्ष्यात्प्रागिति दुःखं तन्विते'
 वक्ष्यन्तु ॥१५६१॥

अं जीलमंघवे तत्तलोहपडिमाउले तुमे पचं ।

अं पाइजोसि खारं कडुयं तचं कल्लयलं व ॥१५६४॥

'अं कसं तं किंहेहि' यत्पानं दुःखं तन्वितय । क्व ? 'जीलमंघवे' काकलोहपटिरे तन्वते । 'तत्तलोह-
 पडिमाउले' तत्तलोहप्रतिमासुले । बलत्कारतंषाद्यमानस्तत्तलोहप्रतिमासुत्प्रागिति कमुदुःखं प्राक्कवामिति
 तन्मनासि निवेहि । 'अं पाइजोसि खारं' यत्पावितोसि खारं । 'कडुयं' कटुकं । 'तचं' तत्तं ॥१५६४॥

अं खाविजोसि अचसो लोहंगारे य पञ्चलंते तं ।

कंजसु अं सि रदो अं सि कवन्धीय तल्लिओ सि ॥१५६५॥

'अं खाविजोसि' यत्खावितोसि । 'अचसो'अचः । द्वाकलकृतविराटालनः । 'लोहंगारे व कवन्धीये'
 तं लोहाङ्गाराप्रवलयः त्वं । 'कंजसु अं सि रदो' कमुकायु यन्नचक्ष्य द्य कवन्ः ॥१५६५॥

पैर तत्काल बुझ जाते हैं । उनकी गर्दनमें भारी शिकारें वज्रमयी साँकसे बाँध देते हैं जिनको
 खोलना बसि कठिन होता है और उन्हें पुनः उसी वेंतरणीमें डाल देते हैं । उसमें गिराये जानेपर
 वे डूबते उतरते हैं । असुर कुमारोंकी विक्रियासे बनाये गये महामण्डोके प्रहारसे उनके भस्मक
 छिन्न-भिन्न होकर गिर जाते हैं । पुनः वे तट पर जाते हैं और उन्हे पुनः निषचल बाँध देते हैं ।
 तब उन निषचल स्थित नारकियोंको लक्ष करके लाखों तीक्ष्ण बाणोंसे बाँध देते हैं । पुनः कदम्बके
 फूलोंके आकार वाली बालूमें, जिसमें बालिकाके चित्तकी तरह प्रवेश करना कठिन है और जो
 वज्रमयदलसे शोभित है तथा खैरकी लकड़ीके अंगारोंके कण समूहकी तरह गर्म है, उसमें बल-
 पूर्वक चलाये जानेपर तुमने जो दुःख पाया है उसका विचार करो ॥१५६३॥

गा०—काललोहसे निमित्त मण्डपमें तपाये हुए लोहेसे बनी प्रतिमाकपी मुचसिचोति बल-
 पूर्वक आलिन कराये जानेपर तुमने जो दुःख पाया उसका विचार करो । तथा खारा कमुका
 तथा हुवा कलकल पिलाये जानेपर जो दुःख पाया उसका चिन्तन करो ॥१५६४॥

विशेषार्थ—ताम्बा, सीसा, सन्धी, गूल आदिको पकाकर जो काष्ठ तैयार होता है उसे
 कलकल कहते हैं ।

गा०—बलपूर्वक यंत्रके द्वारा तुम्हारा मुँह फाड़कर जो तुम्हें बसते हुए लोहेके अंगार
 िखलाये गये और भट्टीमें माँझकी तरह पकाया गया तथा कड़ाहीमें तला गया ॥१५६५॥

१. वानुमण्डलं तस्मिन् भय-अ० । द्वाकलकृतं नकुमुद-अ० । २. कारावलिमनाकिकवि-अ० । राः
 तेपा ताः शिलाः पुनर्नि-मूकारा० । ३. तन्वितय-मु० ।

इहाहं हि पुण्यपुत्रिण्य मुग्धरमुत्सृष्टिहस्वेहि ।
 जं वि सखंदासंति कञ्चो मुग्धं जनसमूहेन ॥१५६६॥

'मुग्धमुद्दि' बहुलो' मत्कुट्टितलवपुर्णितः मुग्धरमुत्सृष्टिहस्तेः, यच्च जनसमूहेन भवान् असह्यतचित्त-
 त्तवन्तःकरणे कुव ॥१५६६॥

अनुपुत्सिद्धिमा भाषा सखतिः सुखशीलता ।
 मया कृपा यन्मे हार्म प्रसन्नो मार्दवं कथा ॥१॥
 इत्येवभाषाः सुमुग्धः प्रसस्ता ये क्षरीरिण्यं ।
 तेषु ते दुर्लभा भित्तं कान्तारैरिण्यव भानुषाः ॥२॥
 तन्निमित्तमुदासीन इत्यन्वय विधा कथः ।
 क्षम्येव हि सर्वोऽय कथः सर्वत्र नारकः ॥३॥
 कल्पयैः कल्पयैश्चक्रेनारकैः कल्पयैर्नरैः ।
 मयानिर्मुक्तैः क्षुत्तैः प्राचीः पापान्यपदिहृद्यैः ॥४॥
 मुदिभिर्बोधितलोष्टैः शङ्कमुनिः क्षणिकिः क्षरैः ।
 अतिभिः क्षुरिकभिश्च कुन्तैर्बन्धैः सतोवरैः ॥५॥
 तथा प्रकारैरन्वेष्य निमित्तैर्नरकसंनिभैः ।
 भूत्सवाचात्सख्यं जातैर्बोधितैरपि चापुत्रैः ॥६॥
 नारकास्तत्र तेऽन्वेष्यं रोषवेगेन वृरिताः ।
 पूर्ववैराभ्यमुत्सृज्य वैश्वज्जालसंनयात् ॥७॥
 अंति निष्ठति निवन्ति क्षयन्ति च तुवंति च ।
 विध्वंसि चानैर्बन्धन्ति प्रहरन्ति हरन्ति च ॥८॥
 श्वभृन्नालकृकथाप्रगुग्धकथाणि चापरे ।
 विहृष्य विषयं पाषा बाधतेऽय परस्परं ॥९॥

ना०-टी०-—अनेक बार हाथमें मुद्गर लेकर तुम्हें कूटा गया, मूसलोंसे जनसमूहने तुम्हें
 चूर्ण कर डाला । उसका मनमें विचार करो ।

अनुकूल क्रिया, भाषा, सख्यनता, नम्रता, सुखशीलता, लज्जा, दया, इन्द्रिय दमन, दान,
 प्रसन्नता, मार्दव, क्षमा आदि जो प्रशस्त मुग्ध प्राणियोंमें होते हैं वे गुण नरकमें बैठे ही दुर्लभ
 हैं जैसे धीरे धनमें मनुष्यका मिलना दुर्लभ है । अन्यत्र शत्रु, मित्र और उदासीन तीन प्रकारके
 लोग होते हैं । किन्तु नारकी सब सबके शत्रु ही होते हैं । नरकमें नारकी अपने विभंगज्ञानसे
 पूर्व जन्मके वैदोंको स्मरण करके और क्रोधसे भरकर बक्र, बाण, करोंत, नख, गदा, मूसल,
 मूक, भाँक, पाषाणसे निमित्त अस्त्र विशेष, मुट्ठी, लकड़ी, लोष्ट, शङ्कु, शक्ति, तलवार, छुरी,
 भाँक, बण्डा, गुर्ज, तथा इसी प्रकारके अन्य तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्रोंसे जो बर्हाकी पृथिवीके स्वाभावसे
 स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं तथा विक्रियासे निमित्त आयुधसे परस्परमें मारते हैं, छेदते भेदते हैं,
 खाते हैं कींचते हैं, प्रहार करते हैं, बाँधते हैं । अन्य नारकी कुत्ता, सियार, मेड़िया, व्याघ्र, भूद

काष्ठमैत्रिलकार्थोनिवसति च केमुञ्चि ।
 पत्तास्तान्मत्तोच्छति ते च भूलाप्रसन्नियताः ॥१०॥
 मन्वसति असौपुत्र वायुपुत्र पुत्रति च ।
 बह्वति बह्वीपुत्र च बर्षति परस्परं ॥११॥
 शिख बालीय ह्यति त्वां त्वं कुतस्तवः पत्तावते ।
 निगृह्यते महाभोहाभ्यामुत्तरां सन्नुपस्थितः ॥१२॥
 छिद्रि छिद्रि सुहाकर्त्तं बह्वि इषि यवान् तं ।
 यवानेनं भूवालासु बह्व् यवान्य नारय ॥१३॥
 प्रबन्धे पातव्येभ्योऽनुप विरीं प्रवीच्य ।
 विकसति च संरज्य तं भुं चति गिरीश्रुभाः ॥१४॥

अनेनेदृशा नारकेण प्रापितवेवनां बुद्धिं निरूपयति—

जं 'अवद्वदो उप्पाद्विदाणि अन्धीणि गिरयवासम्मि ।

अवसस्त उक्खया जं सत्तल्लमूलाय ते जिष्वा ॥१५६७॥

'जं अवद्वदो उप्पाद्विदाणि' गिरःपृष्ठवेयादुत्पादिते । 'अन्धीणि' लोचने । 'गिरयवासे ब' नरकवासे च । 'अवसस्त' अवसस्त्य । 'उक्खाता' उत्पादिता । 'जं' यत् । 'सत्तल्लमूलाय ते जिष्वा' गिरयवेया ते जिह्वा ॥१५६७॥

कुंभीपायसु तुमं उक्कद्विजो जं चिरं पिं बं सोल्लं ।

जं सुद्धिउच्च गिरयम्मि पउल्लिदो पावकम्मोहिं ॥१५६८॥

'कुंभीपायसु तुमं' कुंभीपाकेषु त्वं । 'उक्कद्विजो' उत्कवचितः । 'जं सुद्धिउच्च' सुलप्रोतमांसयत् । 'गिरयम्मि' नरके । 'पौल्लो' अंगारप्रकरे पक्वः । 'पावकम्मोहिं' पापकर्मणिः ॥१५६८॥

आदिका रूप अपनी विक्रियासे बनाकर विस्तारपूर्वक परस्परमें कष्ट देते हैं । कुछ काष्ठ, पर्वत और शिलारूप बनकर उनपर बरसते हैं । उनको अपने ऊपर गिरते देखकर दूसरे नारकी जो सूलीके अग्र भागपर टंगे होते हैं उन्हें ग्रहण करते हैं । वे नारकी जल बनकर दूसरे नारकीयोंको डुबाते हैं, वायु बनकर उड़ते हैं । आग बनकर जलाते हैं । परस्परमें दया नहीं करते । अरे बासीपुत्र ! छहर, कहीं भागा जाता है । मैं तुझे मारूंगा । तेरी मृत्यु आ गई है । इसका छेदन करो, भेदन करो, पकड़ लो, खींच लो, मार डालो, जला डालो, चीर दो इत्यादि अजस्र बचन बोलते हैं ॥१५६६॥

नारकी जीवने इस प्रकार जो वेदना भोगी उसे कहते हैं—

शा०—नरकमें सिरके पिछले भागसे तेरी आँखें निकाली गईं । और पराधीनताका तेरी पूरी जिह्वा जड़मूलसे उखाड़ी गई ॥१५६७॥

शा०—पापी नारकीयोंके द्वारा नरकमें तुम चिरकाक एक कुम्भीपाकमें जीटाये गये । तथा सुलमें पिरोये मांसकी तरह अंगारोंपर पकाये गये ॥१५६८॥

१. आवद्वदो सु० । अवद्वदो सुलारा० । २. पि सोद्धी अ० ब० । सोल्लं पुत्रनिधित्तिं त्वं मन्वसति इत्यन्वः—सुलारा० ।

'अतीहि' शक्तिभिः । 'विमुक्तीहि व' अयोःकण्ठकाराईदंभीः । 'अथवाद्' दयामन्तरेण । 'कुम्बि' परा-
कृतिः ॥१५७३॥

यमलंतकधिरवारो पलंङ्गचम्बो यमिन्नपोहृसिरो ।

पडसिद्धिद्वजो जं कुडिदण्डो पडिचूरिचंभो य ॥१५७४॥

'यमलंतकधिरवारो' प्रयत्नकधिरवारः । 'पलंङ्गचम्बो' प्रलयत्वक् । 'यमिन्नपोहृसिरो' प्रमिन्नोवर
धिराः । 'पडसिद्धिद्वजो' प्रयत्नद्वयः । 'जं' यत् । 'कुडिदण्डो' स्फुटितलोचनः । 'पडिचूरिचंभो व' परिचूर्णि-
ताङ्गः ॥१५७४॥

जं 'चडवडिचकरचरणांभो पचो सि वेदणं तिष्णं ।

धिरए अणंतखुचो सं अनुचितेहि निस्सेसं ॥१५७५॥

'जं' यत् । 'चडवडिचकरचरणांभो' वेपमानकरचरणाङ्गः । 'पचो सि वेदणं तिष्णं' प्राप्तोऽसि वेदना
तीक्षा । 'धिरए' नरके । 'अणंतखुचो' अणंतवारं तत् 'अनुचितेहि' अनुक्रमेण चिन्तय । 'निस्सेसं' निरवशेष ॥
नरकगतिसुःखं वर्णितम् ॥१५७५॥

तिरियगदिं अनुपचो भीममहावेदनाउलमपारं ।

जन्ममरणरहट्टं अणंतखुचो परिगदो जं ॥१५७६॥

'तिरियगदिं अनुपचो' तिर्यग्गतियुगप्राप्तः । 'भीममहावेदनाउलमपारं' । भीममहावेदनाकुलमपारं
'जन्ममरणरहट्टं' जन्ममरणघटीयंत्रं । 'अणंतखुचो' अणंतवारं । 'परिगदो' परिप्राप्तोऽसि । यत् चितेहि तं
इति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । तिर्यगो हि नामाधिष्ठाः पृथिव्यन्तेजोवायुवनस्पतित्रयसभेदेन ॥१५७६॥

हवा की गई जिससे वेदना बढ़े । फिर शक्ति नामक अस्त्रसे और लोहेके दण्डसे जिसके आगे कांटे
लगे हैं, निर्दयतापूर्वक खोंचे गये ॥१५७३॥

वा०—धिरकी धार बह रही है, चमड़ा लटक रहा है, उदर और सिर फट गया है,
हृदय दुःखसे संतप्त है, आँखें फूट गई हैं । समस्त शरीर छिन्न-भिन्न है ॥१५७४॥

गा०—हाथ पैर कांपते हैं । ऐसी दशामें तुमने नरकमें जो अनन्त वार तीव्र कष्ट भोगा
उस सबका क्रमसे चिन्तन करो ॥१५७५॥

नरकगतिके दुःखका वर्णन समाप्त हुआ ।

गा०—टी०—नरकसे निकलकर तुम तिर्यग्गतियमें आये । यह जन्म मरणरूपी घटीयंत्र
(रहट्ट) भयानक महावेदनाजैसे भरा है, इसका धार नहीं है । इसे तुमने अनन्तवार प्राप्त किया है ।
तिर्यग्च पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रसके भेदसे अनेक प्रकारके हैं ॥१५७६॥

आत्मानुभूतात्पि न स्वकीय दुःखानि केचिद्विद मयाः प्रकटाः ।
 दूषणानुभवसमुद्भूतानि ते विस्मयमतीति न विदुःशोभ ॥१॥
 प्रमादलोपायं यतो नरेभ्यो ज्ञानोक्तिं शौचैः परिहृत्य दृवं ।
 संसाराद्विद्यया प्रमदोक्तिं परिहृत्युया न दोषात्तव समुद्भूतानि ॥२॥
 अति निवारणं कर्मिणादति शौचं शौचं भवे संवित्तुं तत्पर्यः ।
 वे संनभारती न तु साहित्यं कर्मिणोर्द्विप्रयानं वात शौचकार्यं ॥३॥
 सर्वोपसर्गाणि शौचकामा यथा विरामा मुग्धः सहते ।
 सर्वोपसर्गानिभवां वरका एकेन्द्रिया वे च स्या सहते ॥४॥
 ज्ञानकथनका विचारात्तव ज्ञान रज्यात्तु रक्षात्तवज्याहीनाः ।
 प्रमदंभानां मत्तवादिमानैर्दवा "प्रियैरु विद्यया वरकाः ॥५॥
 तथा प्रकारो विकलेन्द्रियाणां प्रकृतिं मारकदुःखतुल्यः ।
 मृत्युः समंतात् सततं सुखीरो ज्ञानेश्वरभ्ये न निःशरणाः ॥६॥
 गोऽजाविकारैः परिमदंभाना ज्ञानादिपदैः परिनिष्कामाः ।
 ज्ञानोपसर्गवैः परिनिष्कामाः दुःखं च मृत्युं च हि ते समन्ते ॥७॥
 किन्तुः शिरोभिन्धनरथैश्च जन्मैश्चादितैश्चान्यवैस्तनूनां ।
 विरं दुरताः प्रतिकारहीनाः कुक्ष्येन केचिद्व्यवृत्ति स्वयामुः ॥८॥
 नियन्त्रणाना उच्यन्तेऽपि निश्चास्यस्यैरपि शौचकामाः ।
 प्रयोच्यमाना समुद्भूतानि मयन्ति वे तेषु कथां कथेत् वा ॥९॥

कितने ही प्रमादी मनुष्य अपने द्वारा अनुभूत दुःखोंको भी भूल जाते हैं। तब देखे हुए, सुने हुए और दूसरोंके भोगे हुए दुःखोंको भूल जायें तो इसमें क्या आश्चर्य है। अतः मनुष्योंके द्वारा जाना हुआ भी यथार्थ प्रमाद दूर करनेके लिये कहा जाता है। जिसका स्मरण होनेपर गुण प्रकट होते हैं और दोष प्रकट नहीं होते। जो जगम प्राणी होते हैं वे शीतमें वायु रहित स्थानमें, गर्मीमें जलमयमें, भय उपस्थित होनेपर निरापद स्थानमें आश्रय ले सकते हैं। किन्तु वेद है कि एकेन्द्रिय जीवोंमें ऐसी शक्ति नहीं होती। जैसे मोक्षके इच्छुक विरागी मुनि सब उपसर्गोंको सहते हैं। पराधीन बेचारे एकेन्द्रिय भी सब उपसर्गोंको सदा सहते हैं। जैसे जन्मसे अग्ने गूँगे बहरे बालक रक्षा और शरणसे विहीन हुए बेचारे बिबस होकर भागोंमें हाथी छोड़े सघारी आदिसे कुचलकर मर जाते हैं। विकलेन्द्रिय जीवोंकी भी ऐसी ही दशा है। उनका दुःख भी मारकियोंके समान है। प्राणों और बनोंमें भी उनको शरण नहीं है। उनकी घोर मृत्यु सदा होखी रहती है। गाव बैल, बकरा मेढा आदिके द्वारा वे कुचले जाते हैं। साड़ी आदिके चक्रोंके नीचे पिस जाये हैं। परस्परमें एक दूसरेके मुँहोंके द्वारा पीड़ित होकर वे दुःख और मृत्युको प्राप्त होते हैं। शिरोंके अग्नि हो जानेपर, पैरोंके टूट जानेपर तथा शरीरके अवयवोंके रोगसे ग्रस्त होवेपर वे चिरकाल तक तपकड़ते रहते हैं, उनका कोई इलाज नहीं करता। बड़े कष्टसे वे भाव्य मृगी कथ्ये हैं। जो जलकी एक नूँकमें भी डूब जाते हैं, प्राणियोंके स्वासकी वायुसे भी पीड़ित होते हैं। बरा ही भी गर्मिसे पीड़ित होनेपर मर जाते हैं उनको क्या कथा कही जाये ?

सतः शिवोऽसौ कदा सतः समुत्पन्नानां वैश्व निरन्तरं च ।
 श्रीशारदाको मनुष्योऽपि पुनर्विनात्मनश्च स्वयको यवस्यः ॥१०॥
 शिवस्य सम्बोधनस्यैव शरीरपरस्ते षड् सम्बन्धवन्तः ।
 मन्तुर्मुहूर्तं सत्सामुच्चिता वैरीवशात्तः समुत्पन्नोऽपि ॥११॥
 सुखैः शरीरैरपि ते षड्गति दुःखानि मित्वा समुत्पन्नानि ।
 'स्वल्पेभ्यु वैहेभु समोदितेषु दुःखोपयो वैहिनैवैव दुष्टः ॥१२॥
 येषां न माता न पिता न बन्धुर्न मित्रं न पुत्रं न मायः ।
 न भेषजं नानिजनो न धनं न ह्यन्यत्सर्वेषु पुतः पुत्रं स्यात् ? ॥१३॥
 नामा किञ्चोऽपि सतीहृत्ताप्य दुःखान्मु सत्सु न कानो जनेत ।
 नामा किञ्चोऽपि प्रत्येक येषां स्वानं कथं ते न हि दुःखरतोः ॥१४॥
 ना श्रेष्ठ ना भूत्तव दुःखानां ना विष्ट ना वेति वराकफानां ।
 आश्वासको वाग्मनुष्मिता वा तेषां जनः कोऽस्ति कदा नराणां ॥१५॥
 तैस्तैः प्रकारैः सततं सन्तताच्छब्दवद्वाता अपि मृत्युवन्तः ।
 करोति वा को इहंमं निरीत्य विमुच्य संवन्धवितो मनुष्यान् ॥१६॥
 जन्मोन्मत्तो मर्त्यजनाञ्च पाप्यात् सुखावितानवापि महाभवाणि ।
 पञ्चेन्द्रिया याणि सत्सामुच्चिता दुःखानि तेषामिह कोपना स्यात् ॥१७॥
 सत्सामुच्चितायाणि भक्षकाल ३सुतास्तिरप्योऽपि न निष्कृपायाः ।
 निहृत्वा सास्तु वरात्परेषु तिर्यंशु किं क्लिप्तमोचमस्ति ॥१८॥

जैसे कोई स्वाधीन वयस्क पुरुष क्रीडासक्त हो, सरोवरमें प्रवेश करके बहुत बार जलमें डूबता और उतरता है। वैसे ही शरीरधारी प्राणी जन्मरूपी समुद्रके मध्यमें प्रवेश करके कटुक दुःखरूपी जलको पीते हुए एक अन्तर्मुहूर्तमें भी बहुत बार जन्म लेते और मरते हैं। यद्यपि उनके शरीर सूक्ष्म होते हैं फिर भी वे महान् दुःख भोगते हैं। स्पृष्ट शरीर मिलने पर उनका दुःख अन्य प्राणी भी देख सकते हैं। जिनका न पिता है, न माता है, न बन्धु है, न मित्र है, न गुरु है, न स्वामी है, न वीषध है, न बन्ध है, न भोजन है और न ज्ञान है उन्हें सुख कैसे हो सकता है। माताका वियोग भी होनेपर इतना दुःख होता है जिसे मनुष्य सह नहीं पाता। जिनके माता ही नहीं है उनकी दुःख राशिका तो कहना ही क्या है। पुत्र मत डरो, पुत्रों दुःख न हो, इस प्रकार उन बेचारोंको मनुष्योंकी तरह न कोई सान्त्वना देनेवाला है और न कोई उनपर दया करनेवाला है। विभिन्न प्रकारोंसे निरन्तर सदा चहुँ ओरसे उग्र मृत्युको प्राप्त उन प्राणियोंको देखकर उनके सम्बन्धमें जानने वाले मनुष्योंके सिवाय अन्य कौन उनकी सुख लेता है। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च परस्परमें एक दूसरेसे, पापी मनुष्योंसे भुख प्यास आदिसे जिन महाभयकारी दुःखोंको प्राप्त होते हैं उनकी कोई उपमा नहीं है। वे अपने बच्चोंको भी खा जाते हैं। तिर्यञ्च भी दयाहीन नहीं सुने गये हैं। किन्तु जो अपने ही बच्चोंको खाते हैं वे यदि दूसरोंको खा जायें तो इसमें आश्चर्य ही क्या। वे परस्परमें एक दूसरेका धात करनेके लिये प्रहार करते हैं। उनको मारनेके लिये

१. स्वल्पेभ्यु वैहेभु समोदितेषु पुषोपयो वैहिनैवैव दुष्टः ।—अ० । २. दुःख च स्वा वाविष्ट—अ० ।
 ३. पुता वा० ।

अन्वेषणकार्यसम्पन्नसिद्धिं ह्यनु-सन्धयः सुखोऽनुभवसिद्धिः ।
 तं कथितवन्तः कश्चन मिहंसा ही, 'किन्तुतो जीवसारं किमप्यम् ॥१९॥
 अन्वेषणपरमेष्ठिनपदविद्या अन्वेषणव्याख्यानं विधीयते ।
 एतन्नाम न वेदोऽन्वेषणव्याख्यानस्य ईदं तं भवेत्तुः सुखितः कथयति ॥२०॥
 एते नृपरातोऽनुभवसम्पन्नः पूर्वाभ्यासा रतिमानुभवसिद्धिः ।
 अन्वेषणविधिर्नृपरातोऽनुभवसिद्धिः निरूपणः स्वरूपकथनं कर्म ॥२१॥
 विधीयते अन्वेषणस्य कर्मसिद्धिः पूर्वाभ्यासात्मनोऽनुभवसिद्धिः ।
 किन्तु जीवसाधिविधीयमानाः सुखरूपं स्वरूपकथनसिद्धिः ॥२२॥
 एतन्नामनामः सुखोऽनुभवसिद्धिः जीवसाधिविद्या सुखोऽनुभवसिद्धिः सुखस्य ।
 कथितवन्तो सुखसिद्धिः कथयन्तं अन्वेषणव्याख्यानस्य विद्यासम्पन्नस्य ? ॥२३॥
 एते नृपेभ्यः विधितान्त्वयिभ्यो अन्वेषणं नृपस्य उपविषेभ्यः ।
 ते किन्तुते न कथयितव्यस्योऽनुभवसिद्धिः जीवसाधिविद्या ॥२४॥
 कथयन्तुऽनुभवसिद्धिः कथयितव्यस्योऽनुभवसिद्धिः कथयितव्यस्योऽनुभवसिद्धिः ।
 नान्यथा लोकादिभ्यः परेषां सुखसिद्धिः कथयितव्यस्योऽनुभवसिद्धिः ॥२५॥
 'अन्वेषणव्याख्यानस्योऽनुभवसिद्धिः विद्यासम्पन्नस्योऽनुभवसिद्धिः ।
 तानुभवसिद्धिः कथयन्तुऽनुभवसिद्धिः कथयितव्यस्योऽनुभवसिद्धिः ॥२६॥
 अन्वेषणव्याख्यानस्योऽनुभवसिद्धिः कथयितव्यस्योऽनुभवसिद्धिः कथयितव्यस्योऽनुभवसिद्धिः ।
 नृपः कथाः सर्वसिद्धिः सुखस्योऽनुभवसिद्धिः कथयितव्यस्योऽनुभवसिद्धिः ॥२७॥

दूसरा पक्ष उसके पीछे लय जाता है। उसको भी कोई तीसरा मार देता है। विषकार है इसे, इससे भयानक और क्या हो सकता है। परस्परमें एक दूसरेके छिद्रोंको देखनेसे चिनकी नींद भंग जाती है, जो एक दूसरेको मारकर जीना चाहते हैं, जो परस्परमें एक दूसरेके भयसे स्वस्थ होकर सो नहीं सकते वे कभी सुखी कैसे हो सकते हैं? वनमें मृग बल और तुण ब्राकर पुष्ट होते हैं। हिरनी उनकी सहचरी होती है। परस्परमें प्रेमसे रहते हैं। बिना किसी अपराधके भी ब्याध आविसे उन्हें भय रहता है। इसमें कारण उनका पूर्व कर्म है। उन्हें अपने बच्चोंसे वियोगका दुःख उठाना पड़ता है। अपने मनके अनुकूल मृगोंकी शोधमें दीन दृष्टिसे दिशाओंको देखा करते हैं और इस तरह भयंकर मृत्युको प्राप्त होते हैं। जो स्वभावसे ही पापी हैं, और कुकर्मोंके द्वारा कहीं गई न सुनने योग्य कथितानोंसे उत्साहित होकर, दुर्बलिते भी नहीं बरते वे उन पशुओंको यथेच्छ मारते हैं और इसे हित मानते हैं। वनमें मांसाहारी पशुओंसे, शामोंमें मांसाहारी वनस्पतिसिद्धि बरते हैं। वे कहीं भी अपनी इच्छानुसार निर्मय जीवन नहीं बिताते। हाथी अंकुश आविसे प्रह्वरते, जोड़े जोड़े आविषी मारसे और बेल पैनी आविसे बाटसे मरमपर्यन्त दूसरोंका काम करते हैं। जो बुद्धिमान्य हैं उनके वैराग्य उत्पन्न होनेमें यह सब ही निमित्त है। उनकी बहुलसी कोठियाँ हैं वे एक दूसरेको कष्ट कैसे दे सकते हैं। बंमलकी भागके बेगसे बछले हुए महापक्ष्यसमूहके प्रवाहसे बहाये जाते हुए मृग, पक्षी, सर्प, सरीसृप तथा अन्य भी बहुलसे जीव एक साथ मर जाते हैं ॥१५७६॥

१. ही विषक कोमग्रिनतरा किमप्यम् -जा० । २. नृपानुवागमक-जा० । ३. नृपसिद्धि मारस्य

दुष्कृत्यादिदुष्कृतं जगत्सुखो विरिण्डजोनीय ।

अं यथोति अदीदि काले विरिदि तं सर्वं ॥१५८२॥

'दुष्कृत्यादिदुष्कृतं' इत्येवमादिदुःखं । 'जगत्सुखी' जगत्सुखी । 'विरिण्डजोनीय' विरिण्डजोनी । 'अं य' । 'यथोति' इत्यर्थः । 'अदीदि' अदीदि । 'विरिदि' तं सर्वं । तत्सर्वं विण्डय । विरिण्डय ॥१५८२॥

देवयमानुसजे जं ते काएण सकवइम्भयत्ता ।

दुष्कृताणि किञ्चिद्वा वि व जगत्सुखो समनुसुर्द ॥१५८३॥

'देवयमानुसजे' देवयमानुसजयोः । 'काएण' कालेन । 'सकवइम्भयत्ता' स्पष्टतर्कवत्त्वात् । 'दुष्कृताणि किञ्चिद्वा वि व' दुःकृताणि येषां । 'जगत्सुखो' जगत्सुखी । ॥१५८३॥

विषयिण्यजोमदुष्कृतं जपियसंवाससाददुष्कृतं व ।

अं वेजससदुष्कृतं जं दुष्कृतं पण्डितात्तमे ॥१५८४॥

'विषयिण्यजोमदुष्कृतं' विषयिण्यजोमदुःखं । 'जपियसंवाससाददुष्कृतं व' जपियः उद्घातेन चार्त्तं व दुःखं । येषां मानसवशेऽपि शिरःशूलो वायते, येषां दर्शनादर्थेन भ्रमायते । 'अं वेजससदुष्कृतं' अर्थमन्वयदुःखं । 'पण्डितात्तमे' अं दुःखं । यदुःखं प्रावितात्तमे ॥१५८४॥

परमिण्यदाए अं तेअसग्गवयनेहिं कइयफरुहेदिं ।

विज्जसवजापमानजतज्जजदुष्कृताइं पत्ताइं ॥१५८५॥

'परमिण्यदाए' परमिण्यदायां । 'अं ते' अं । 'असग्गवयनेहिं' अविष्टवयनीः । 'कइयफरुहेदिं' कटुकैः परवत् । 'विज्जसवजापमानजतज्जजदुष्कृताइं पत्ताइं' निर्मलतनायमानतर्कननुःकृताणि प्राप्यानि ॥१५८५॥

रुग्गिण्यरोसवितासोगामरिसग्गिपठस्सिद्वज्जो जं ।

यथो चोरं दुष्कृतं मानुसजोनीए सतिण ॥१५८६॥

का०—तिर्यङ्गयोनिमें तुमने अतीतकालमें अनन्तवार जो इस प्रकारके दुःख बोधे हैं उन सबका विचार करो ॥१५८२॥

का०—बधने किमें हुए कर्मके बधीभूत होकर तुमने देवपर्याय और मनुष्य पर्यायमें जन्म किया और वहाँ भी अनन्तवार दुःख और श्लेशोंको भोगा ॥१५८३॥

का०—टी०—शिव बचके विषयका दुःख, अशिवजनोंके साधनमें रहनेका दुःख, जिनका नाम सुनकर भी शिरमें दर्द होता है, जिनके देखने मात्रसे जालों काज हो जाती हैं उन्हें अशिव कहते हैं । उनके साधनमें रहनेका दुःख, वेमनस्यका दुःख और इच्छित वस्तुके न मिलनेका दुःख, स्वप्न प्राणिकी शीकरी करनेपर अविष्ट और कटुक बचनोंका दुःख, विषकार, तिरस्कार, अन्वय और डाँटेका दुःख तुमने सहा है ॥१५८४-८५॥

१. अं ते मानसदुष्कृतं—दूकारा० ।

अग्निविद्ययाऽपुत्रं प्राप्नुयान्मृतमपि प्राणमिच्छति ॥

सोऽपुत्रोऽपुत्रं प्राप्नुयान्मृतमपि प्राणमिच्छति ॥१५९१॥

'अग्निविद्ययाऽपुत्रं प्राप्नुयान्मृतमपि प्राणमिच्छति' अग्निविद्यया, अपुत्रं, अपुत्रं प्राप्नुयान्मृतमपि प्राणमिच्छति, अग्निविद्ययाऽपुत्रं प्राप्नुयान्मृतमपि प्राणमिच्छति । 'सोऽपुत्रोऽपुत्रं प्राप्नुयान्मृतमपि प्राणमिच्छति' सोऽपुत्रोऽपुत्रं, प्राप्नुयान्मृतमपि प्राणमिच्छति । ॥१५९१॥

अं दुष्कृतं संपद्यो अर्जतलुप्ये मग्ने शरीरे व ।

मानुषमग्ने वि तं सम्भवेव चित्तेहि तं वीर ! ॥१५९२॥

'अं दुष्कृतं संपद्यो' अदुःखं संपद्यः । 'अर्जतलुप्यो' अर्जतवारं । 'मग्ने शरीरे व' मग्नि शरीरे व । मानसं शरीरं व दुःखं प्राप्यः । 'मानुषमग्ने वि' मनुष्यमग्नेऽपि । 'तं सम्भवेव चित्तेहि' उत्तरभवेन चित्तम् । 'तं वीर' त्वं वीर ! ॥१५९२॥

शरीरादो दुष्कृतो होइ देवेसु माणसं सिध्य ।

दुष्कृतं दुस्सहमवसस्त परेण अजिज्जुज्जमाणास्त ॥१५९३॥

'शरीरादो दुष्कृतो' शरीरात् दुःखम् । 'होइ' भवति । 'देवेसु' देवेषु । 'माणसं सिध्य' मानसं तीव्रं दुःखं । 'दुष्कृतं' सोऽपुत्रं प्राप्यः । 'अवसस्त' अवसस्तम् । 'परेण' अग्नेन 'अजिज्जुज्जमाणास्त' अजिज्जुज्जमानस्य बाह्यतां नीयमानस्य ॥१५९३॥

देवो माग्नी संजो पासिच देवे महद्दृष्टि एग्ने ।

अं दुष्कृतं संपद्यो वीरं मग्नेण माणेण ॥१५९४॥

'देवो माग्नी संजो' देवो माग्नी सन् । 'पासिच देवे' देवान् वृष्ट्वा । 'महद्दृष्टि' महद्दृष्टिकान् । 'एग्ने' अग्नाम् । 'अं दुष्कृतं संपद्यो वीरं' अदुःखं प्राप्यः । 'मग्नेण माणेण' मग्नेन मानेन ॥१५९४॥

दिष्ये मोमे अचरसाओ अवसस्त सम्भवासं व ।

पञ्चहंसगस्त अं ते दुष्कृतं जादं चयणकाले ॥१५९५॥

श्लो०—आय, विष, मनु, सर्प आदि तथा सिंह, हस्त्रके प्रहारे वात, क्षीत, उष्ण, हांस मच्छर, मूख प्यास, इनसे तुमने मनुष्यमवमें जो शारीरिक और मानसिक दुःख पाया है, हे वीर ! उस समका विचार करो ॥१५९१-१५९२॥

श्लो०—अव देवमग्निं अजिज्जुज्जमाणा देव होकर वह परवस होकर इन्द्रादिके द्वारा बाह्य कर्मात्मा आत्मा है तब उसे शारीरिक दुःखसे तीव्र मानसिक दुःख होता है जो असह्य होता है ॥१५९३॥

श्लो०—अग्निमाग्नी देव हुआ तो अग्ने महद्दृष्टिक देवोंको देखकर मानका अंग होनेसे जो शरीर दुःख हुआ उसका विचार करो ॥१५९४॥

श्लो०—परवस होकर विष्य भोग, देवागनाएँ और स्वर्गवास त्यागनेपर स्वर्गसे च्युत होते सम्य वी दुःख हुआ उसको स्मरण करो ॥१५९५॥

‘निन्दे शोभे’ शिवागोत्रम् । ‘अन्वयवचनम्’ वेदवचनम् । ‘अन्वयवचनम्’ च ‘अन्वयवचनम्’ च । ‘अन्वयवचनम्’ परित्यागः । ‘अन्वयवचनम्’ परित्यागः । ‘अन्वयवचनम्’ परित्यागः । ‘अन्वयवचनम्’ परित्यागः । ‘अन्वयवचनम्’ परित्यागः ॥१५९५॥

अं मन्वयवचनम् अन्वयवचनम् अन्वयवचनम् च ।

अन्वयवचनम् अन्वयवचनम् अन्वयवचनम् ॥१५९६॥

‘अं मन्वयवचनम्’ अन्वयवचनम् । ‘अन्वयवचनम्’ अन्वयवचनम् । ‘अन्वयवचनम्’ अन्वयवचनम् । ‘अन्वयवचनम्’ अन्वयवचनम् । ‘अन्वयवचनम्’ अन्वयवचनम् ॥१५९६॥

एवं एवं सन्वं दुस्वम् अदुस्वमिदं च नं पचो ।

तचो अन्वयवचनम् होञ्च न वा दुस्वमिदं ते ॥१५९७॥

‘एवं एवं सन्वं’ एवमेतत्सर्वं । ‘दुस्वम्’ अदुस्वमिदं । दुःसं अदुस्वमिदं । ‘नं पचो’ यत्प्राप्तवान् । ‘तचो’ ततः । ‘अन्वयवचनम्’ अन्वयवचनम् । ‘होञ्च न वा’ भवेद्वा न वा । ‘दुस्वमिदं ते’ दुःस्वमिदं तेन मनुष्यजन्मनि ॥१५९७॥

संख्येज्जमसंख्येज्जं कालं ताहं अविस्समंतेण ।

दुस्वमाहं सोढाहं किं पुण अदिअप्यकालमिदं ॥१५९८॥

‘संख्येज्जमसंख्येज्जं कालं’ संख्यातमसंख्यातं वा कालं । ‘ताहं’ दुस्वमाहं सोढाहं’ तानि दुःस्वानि सोढानि । ‘अविस्समंतेण’ विधायमहितेन । ‘किं पुणे’ किं पुनः सद्यते । ‘अदिअप्यकालमिदं’ अत्यल्पकालमिदं दुःसं ॥१५९८॥

जदि तारिसाओ तुम्हे सोढाओ वेदनाओ अबसेण ।

चम्भोचि इमा सबसेण कहं सोढुं न तीरेज्ज ॥१५९९॥

‘जदि तारिसाओ’ यदि तारिसः । ‘तुम्हे सोढाओ वेदनाओ’ त्वया सोढा वेदनाः । ‘अबसेण’

वा०—पवित्र और सुखी देव स्वर्गसे च्युत होते समय विचारता है कि मुझे अब दुर्गन्धयुक्त गर्भमें जाना होगा । वहाँ दुर्गन्धित भोजन होगा । भूख प्यासकी बाधा होगी । ऐसा विचार करते समय जो दुःख होता है उसका चिन्तन करो ॥१५९६॥

वा०—इस प्रकार चारों गतियोंमें तुमने जो यह सब दुःख भोगा है उसके अनन्तर्वं भाग दुःख इस मनुष्य जन्ममें ही न भी हो ॥१५९७॥

वा०—तुमने संख्यात वा असंख्यात काल पर्यन्त बिना विश्राम लिये ये दुःख सह्ये हैं । तब अति अल्पकालके लिये यह थोड़ासा दुःख क्यों नहीं सहते हो ॥१५९८॥

वा०—जी०—यदि तुमने परब्रह्म हीकर उक्त प्रकारकी वेदनाएँ सह्ये हैं तो इस समय इस वेदनाको धर्म मानकर स्वयं अपनी इच्छासे क्यों नहीं सहते ।

उत्तर—वेदना धर्म कैसे है ?

१. निम्न अर्थ मनु —वा० पु० ।

पुरितस्त वाक्यमोक्षाय न करति वेदगोवसमं ।

कुट्टु कृत्वापि वि ओसवापि अदिवीरिवापी वि ॥१६०५॥

'पुरितस्त वाक्यमोक्षाय' पुरस्कृत पापकर्मोच्ये 'न करति' न कुर्वन्ति । 'वेदगोवसमं' वेदनोपशमं । 'कुट्टु कृत्वापि वि' कुट्टु प्रयुक्तमपि । 'ओसवापि वि' ओषवापि 'अदिवीरिवापि' अतिवीर्यापि ॥१६०५॥

रायादिकुट्टुवीचं अद्याप अज्ञमं करताचं ।

घन्वन्तरी वि कादुं ण समत्तो वेदगोवसमं ॥१६०६॥

'रायादि' कुट्टु 'वीचं' राधादीनां कुट्टुमीनां अनेक इत्यसंपत्परिचारकसंपत्प्रख्यातानां । 'अद्याप अज्ञमं करताचं' दयानन्तरिभास्यमं कुर्वता । 'घन्वन्तरी वि कादुं' घन्वन्तरिपि कर्तुं असमर्थः । 'वेदगोवसमं' वेदनाया उपशमं । वेदसंपत्ता घन्वन्तरैरग्रहणेन सूचिता ॥१६०६॥

किं पुन जीविकाये दयंतया जादनेण रुद्धेहि ।

क्रासुगदब्धेहि करेति साहुणो वेदगोवसमं ॥१६०७॥

'किं पुन' किं पुनः । 'जीविकाए' जीवनिकायान् । 'दयंतया' दयमानाः । 'जादनेण रुद्धेहि' याचन्या रुद्धेः । 'क्रासुगदब्धेहि' प्राप्तुं कर्मन् । 'करेण' कुर्यात् । 'साहुणो वेदगोवसमं' साधोवेदगोवसमं । परिचारकसंपदभावो दस्यते 'जीविकाए' इत्यनेन । यथा व्याघ्रेणपशुमो भवति तथा कुर्वति परिचारकाः । अमी पुनर्गतयः बहुजीवनिकायवाधापरिहारोचता स्वसंयमविनाशावीरयोः । 'जादनेण रुद्धेहि' इत्यनेन इत्यसंपदभाव आख्यायते ॥१६०७॥

मोक्षामिलासिचो संजदस्त गिधजगमणं पि होदि वरं ।

ण य वेदनामिसं अप्पासुगसेवणं कादुं ॥१६०८॥

गा०—जब पुरुषके पापकर्मका उदय होता है तो अच्छी तरहसे प्रयुक्त और अतिशक्तिशाली भी औषधियाँ वेदनाको शान्त नहीं करती ॥१६०५॥

गा०—टी०—राजा आदि कुट्टुमी जिनके पास अनेक प्रकारकी धन-सम्पदा और सेवा करनेवाले दास-दासियोंकी प्रचुरता होती है, किन्तु जो दयाहीन होकर असंयमी जीवन बिताते हैं, उनकी वेदनाको शान्त करनेके लिये घन्वन्तरि भी समर्थ नहीं है। घन्वन्तरिपदसे वैशकपी सम्पदाको सूचित किया है। अर्थात् घन्वन्तरि जैसा वैश भी उनकी वेदनाको दूर नहीं कर सकता ॥१६०६॥

गा०—टी०—तब जीवमानपर दया करनेवाले याचनासे प्राप्त प्राप्तुक इच्छोति साधुकी वेदनाका उपशम कर्हा तक कर् सकते हैं ? अर्थात् परिचारक साधु जहाँ तक शक्य होता है व्याधिको शान्त करनेका प्रयत्न करते हैं क्योंकि उनके पास परिचारक रूप सम्पदा—दासदासी तो हैं नहीं और यतिगण छह कायके जीवोंको बाधा न पहुँचे इसके लिये सदा तत्पर रहते हैं तथा अपने संयमके विनाशसे भी भयभीत रहते हैं। साथ 'याचनासे प्राप्त' कहनेसे उनके पास धनसम्पदाका भी अभाव कहा है ॥१६०७॥

'भौव्यव्यसिवात्मिणी' निरवशेषकर्मापायाभिकाविधः । 'संश्रयस्व' प्राणसंयमवतः । 'निवृत्तमन्त्रं वि
होषि वरं' मरचमपि वरं । 'म व' नैव वरं युक्तं । 'वेद्यव्यवसि' वेदनोपचयार्थं । 'अन्यानुपलब्धं कर्तुं'
अयोव्यव्यसैवमं कर्तुं ॥१६०८॥

निवृत्तमन्त्रं ध्यमन्वे वासो पुणो पुनिरुज्जम्भेसु ।

आसं असंजमो पुण कुण्ड मवसएसु बहुयोसु ॥१६०९॥

'निवृत्तमन्त्रं ध्यमन्वे' निवृत्तमन्त्रमेकमन्त्रं । 'वासो' नासः । 'पुणो' न पुनर्नासः । 'पुनिरुज्जम्भेसु'
मार्गिषु जन्मसु । 'असंजमो पुण' असंयमः पुनः । 'मवसएसु' जन्मसतेषु । 'बहुयोसु' बहुषु । 'आसं कुण्ड'
नासं करोति । वेदना हि न संयतकनुवाति रत्नत्रयभावनीयत । सा हि असातं मन्दं करोति । असंयमः पुन
असंयमं प्रकृत्यानुभव- करोति । उक्तं च—
दुःखलोकात्पापकृत्यवचनपरिवेदनात्पातकपरिभयकृत्यात्तद्वै-
श्वेति' [त० सू० ६।११] ॥१६०९॥

ण करेति निवृद्धं इच्छया वि देवा सद्दिया सन्वे ।

पुरिसस्स पावकम्मो अणककम्मो उदिण्णम्मि ॥१६१०॥

'मं करोति निवृद्धं' न कुर्वन्ति निवृत्ति । 'पुरिसस्स' पुरुषस्य । 'सद्दिया देवा सन्वे इच्छया वि'
संनकाः सर्वे देवा इच्छन्तोर्जप । 'पावकम्मो' पावकर्मणि । 'अणककम्मो' अनुक्रमके । 'उदिण्णम्मि' उदय-
मुपगते ॥१६१०॥

किह पुण अण्णो काहिदि उदिण्णकम्मस्स निवृद्धिं पुरिसो ।

इत्थीहिं अतीरंतं भंतं भंजिहिदि किह ससओ ॥१६११॥

'किह पुण' कथं पुन । 'अण्णो काहिदि पुरिसो' अन्यः करिष्यति पुरुषः । 'उदिण्णकम्मस्स' उदया-

शा०—समस्त कर्मबन्धनके विनागरूप मोक्षके अभिलाषी संयमीका मरण होना भी श्रेष्ठ
है । किन्तु वेदनाकी शान्तिके लिये अप्राप्तुक अयोग्य द्रव्यका मेवन करना श्रेष्ठ नहीं है ॥१६०८॥

शा०—द्वी०—मरण होना, तो एक भवका ही विनाश है भावि जन्मोंका नाश नहीं है किन्तु
असंयम तो सैकड़ों जन्मोंको नष्ट कर देता है । जो संयमी रत्नत्रयकी भावनामें तत्पर रहते हैं
वेदना उनका पीछा नहीं करती । क्योंकि रत्नत्रयको भावना असाताके उदयको मन्द करती है ।
और असंयम असातावेदनीयके अनुभागको बढ़ाता है । कहा भी है दुःख, शोक, पश्चात्ताप, रुदन,
वध और हृदयको व्याकुल करनेवाला रुदन स्वयं करनेसे, दूसरोंमें करनेसे या दौनोंमें करनेसे
असातावेदनीयका आसव होता है ॥१६०९॥

शा०—पुरुषके पापकर्मके अनुक्रमसे उदय आनेपर इन्द्रसहित सब देव इच्छा करनेपर भी
सुखी नहीं कर सकते ॥१६१०॥

शा०—सब असातावेदनीय कर्मका उदय आनेपर अन्य साधारण पुरुष क्या कर सकते
हैं ? जिसे महाबलशाली हाथी भी तोड़नेमें असमर्थ है क्या उसे बेचारा कमजोर खरगोश तोड़
सकता है ॥१६११॥

मतासहस्रकर्मणः । 'शिवोक्ति' निर्दिष्ट । 'हृत्वीहि क्लीरंतं वंतु' हस्तितर्जित्हावलीः कर्तुस्तत्त्वयं यज्ञज्ञानं । 'शिव
सखी चंभीहि' कथं स्वस्वप्राप्तो मह्यमति शक्तः ॥१६११॥

ते अण्वणो वि देवा कम्मोदयपण्वयं मरणदुक्खं ।

वारोदुं ण समत्था षण्णिदं पि विजुण्णसाणा वि ॥१६१२॥

'ते देवा अण्वणो वि कम्मोदयपण्वयं मरणदुक्खं' ते देवाः तेषांकाः आत्मनोऽपि कर्मोदयहेतुकं मरणदुःखं
'वारोदुं ण-सख्यत्वा' निवारयितुं न समर्थाः । 'षण्णिदं वि-जुण्णसाणा' नितरां विक्रियां कुर्वन्तोऽपि ॥१६१२॥

'उज्झंति जत्थ हत्थी महाबलपरक्कमा महाकाया ।

सुत्ते तम्मि बहंते ससया 'ऊढेण्णया वेव ॥१६१३॥

'उज्झंति' यस्मिन् क्षीयति हस्तितः ऊहांते महाबलपराक्रमा महाकायाः । तस्मिन् क्षीयति बहसि
ससया मता एव ॥१६१३॥

किह पुण अण्णो मुञ्चहिदि सगेण उदयागदेण कम्मेण ।

तेलोक्केण वि कम्मं अवारणिज्जं खु सणुवेदं ॥१६१४॥

'किह पुण अण्णो मुञ्चहिदि' कथं पुनरप्यो मोक्ष्यते, स्वेन कर्मणा उदयागतन । श्रीलोक्येनापि कर्म-
निवार्यमेव समुपगतं ॥१६१४॥

कह ठाह सुक्कपत्तं वाएण पढंतयम्मि मेरुम्मि ।

देवे वि य विहेडयदो कम्मस्स तुमम्मि का मण्णा ॥१६१५॥

'कह ठाह सुक्कपत्तं' कथं तिष्ठेत् शुक्कपत्रं । यानेन पतति मेरी । अणिनाद्यत्पुणसंपन्नान्देवानपि
कुत्सीकुर्वतः कर्मणो सवस्वत्पबले का संज्ञा ॥१६१५॥

भा०—वे देव कर्मके उदयके कारण होनेवाले अपने भी मरणके दुःखको दूर करनेमें समर्थ
नहीं है यद्यपि वे दिव्यशक्तिसे सम्पन्न होनेसे अनेक प्रकारकी विक्रिया करनेमें समर्थ होते
हैं ॥१६१२॥

भा०—जिस प्रवाहमें महाबली, महापराक्रमी और विशाल शरीरवाले हाथी बह जाते हैं
उस प्रवाहमें बैचारे खरगोश स्वयं ही बह जाते हैं ॥१६१३॥

भा०—जब देव भी अपने उदयागत कर्मको ढालनेमें असमर्थ है तब अन्य साधारण प्राणी
अपने उदयागत कर्मसे कैसे छूट सकता है? उदयागत कर्मको तीनों लोक भी नहीं टाल
सकते ॥१६१४॥

भा०—जिस बायुसे मेरुपर्वतका पतन हो सकता है उसके सामने सूखा पत्ता कैसे ठहर
सकता है? इसी प्रकार जो कर्म अणिमा आदि आठ गुणोंसे सम्पन्न देवोंकी भी दुर्गति कर देता
है उसके सामने तुम्हारे जैसे मरणोन्मुख मनुष्यकी क्या गिनती है ॥१६१५॥

कम्माइं बलियाइं बलियो कम्माहु मत्थि कीचि जणे ।

सम्बबलाइं कम्मं भलेदि हत्थीय बलिविचणं ॥१६१६॥

'कम्माइं' कर्माणि बलवन्ति, कर्मणो बलवान्भावित् जनति । कम्माकम्मात्कर्मणि संघुविद्याद्वय-
शरीरपरिवारबलाणि कर्म नहुं वति हत्थीय मत्थिनवनं ॥१६१६॥

इच्छेवं कम्मदुदो अवमणिवज्जोचि सुट्ठु पाऊण ।

मा दुक्खायसु मज्जसा कम्ममि सगे उदिण्णमि ॥१६१७॥

'इच्छेवं कम्मदुदो' इतिशब्दः प्रकृतपरिग्रहार्थित सूचयति । एवं इत्युक्तपरामर्शः । 'कम्मदुदो'
कर्मादयः । 'अवमणिवज्जोचि' अनिवाद्य इति । 'सुट्ठु पाऊण' सम्यक्कार्या । 'मा दुक्खायसु मज्जसा' मा
कार्षीदुःखं मनसा । 'कम्ममि सगे उदिण्णमि' कर्मणि स्वके उदीर्षे ॥१६१७॥

पडिक्खिदे विसण्णे रद्धिदे दुक्खाइदे किलिहे वा ।

अ य वेदधोवसामदि जेव विसेसो हवदि तिस्से ॥१६१८॥

'पडिक्खिदे' परिवेचने कृते शोके । विषादे रटने, दुःखे, संकलेसे वा न वेदनेषाम्भ्यति । नापि
कश्चिदतिशयो भवति वेदनायाः ॥१६१८॥

अण्णो वि को वि अ गुणोत्थ संकिलेसेण होइ खवयस्स ।

अट्टं सुसंकिलेसो ज्झाणं तिरियाउगणिमिचं ॥१६१९॥

'अण्णो वि को वि अ गुणोत्थ' अन्योप्यन गुणो न कश्चिच्छोकादिना संकलेसेन । प्रेक्षापूर्वकारिणो हि
तत्कर्तुं प्रारभन्ते यस्य साध्यं फलं भवति । संकलेसेन न किञ्चित् अपि मुमुक्षोः फलं अपि तु संकलेशपरिणामो
ह्यार्थं ध्यानममनोज्ञविप्रयोगार्थं तच्च तिर्यगायुषो निमित्तं । ततोऽप्यदुःखमौर्ध्वं भवंतं त्वदीयः संकलेशो
दुस्तरे तिर्यगावर्ते निपातयतीति भयोपपद्यमानं कृतं ॥१६१९॥

शा०—कर्म बड़े बलवान है । जगत्में कर्मसे बलवान कोई नहीं है । जैसे हाथी कमलोकके
वनको रीब डालता है । वैसे ही कर्म बन्धु, ज्ञान, द्रव्य, शरीर और परिवार आदि सब बलोंको
नष्ट कर देता है । कर्मके सामने ये सब बल क्षीण हो जाते हैं ॥१६१६॥

शा०—इस प्रकार कर्मका उदय अनिवार्य है उसे रोका नहीं जा सकता इस बातको अच्छी
तरहसे जानकर अपने कर्मका उदय आनेपर मनमें दुःख मत करो ॥१६१७॥

शा०—रोनेपर, विषाद करनेपर, चिल्लानेपर अथवा दुःख और संकलेश करनेपर वेदना
शान्त नहीं होती और उसमें कोई विशेषता भी नहीं आती ॥१६१८॥

शा० टी०—शोक आदि संकलेश करनेसे क्षपकका कोई अन्य लाभ भी नहीं है । बुद्धिमान
पुरुष उसी कार्यको करना प्रारम्भ करते हैं जिससे कोई लाभ होता है । संकलेशसे मुमुक्षुका जरा
भी लाभ नहीं है । बल्कि इष्ट विधोग नामक आर्तध्यान संकलेश परिणामरूप होनेसे तिर्यगायुके
बन्धका कारण है अतः थोड़ेसे दुःखसे डरनेवाले आपको तुम्हारा संकलेश ऐसी तिर्यग्चगनिरूपी
बैधर्ममें डाल देगा जिससे निकलना बहुत कठिन है ॥१६१९॥

संक्लेशस्य नैरर्थाप्रकटनाद्योत्तरवाचा—

हृदमाकाशं हृद्गीर्णं होइ तद् कथिया तुसा होसि ।

सिगदाओ पीलिदाओ धुसिलिदहृदयं च होइ जहा ॥१६२०॥

'हृदमाकाशं' हृतं मृष्टिभिराकाशं तावितुं । तुषकंठनं तंदुलार्थं । सिकतापीडनं तिलयंत्रं तैलार्थं । जलमंथनं च घृतायं यथापार्थकं तथापर्यकः संक्लेशो वेदनाकुलस्य । वेदनायाः अनिराकरणत्वात्पर्यक-साम्यादभेदोपन्यासो वृष्टान्तवाष्टान्तिकयोः ॥१६२०॥

पुञ्जं सयमुषमुत्तं काले जाएण तेसियं दव्वं ।

को धारणिओ धणिदस्स देतओ दुक्खिओ होज्ज ॥१६२१॥

'पुञ्जं सयमुषमुत्तं' पूर्वं स्वयमुषमुत्तं । काले 'बाणेण' न्यायेन । 'तेसियं दव्वं' तावद्द्रव्यं । 'को दुक्खिओ होज्ज धारणिओ' को दुःखितो भवेदधमर्णः । 'धारणिदस्सि' उत्तमर्णः । 'हरते' एवं द्रव्यं हरति ॥१६२१॥

तद्देव सयं पुञ्जं कदस्स कम्मस्स पाककालम्मि ।

जायागयम्मि को णाम दुक्खिओ होज्ज जाणतो ॥१६२२॥

'तद्देव' तथा चैव । 'सयं पुञ्जं कदस्स कम्मस्स' आत्मना पूर्वं कृतस्य कर्मणः । 'पाककालम्मि' फलदानकाले न्यायेनागते । 'को णाम दुक्खिओ होज्ज जाणतो' को नाम दुःखितो भवेज्जानी ॥१६२२॥

इयं पुञ्जकदं इणमज्ज महं कम्मानुवात्ति णाऊण ।

रिणमुक्खणं च दुक्खं पेच्छसु मा दुक्खिओ होहि ॥१६२३॥

'इयं पुञ्जकदं' 'इयं' एवभूतं । 'दुक्खं पुञ्जकदं' पूर्वकर्मणा कृतं । 'इणं' इदं दुःखं । 'अऊण' अथ । 'महं कम्मानुवात्ति' मम कर्मणाभिति । 'आऊण' ज्ञात्वा । 'रिणमुक्खणं च' ऋणमोक्षण इव । 'दुक्खं पेच्छसु' दुःखं प्रेक्षस्व । 'मा दुक्खिओ होहि' दुःखितो मा भू ॥१६२३॥

आगे संक्लेशकी निरर्थकता बतलाते है—

गा०—जैसे मुद्रियोसे आकाशको मारना, चावलके लिये उसके छिलकोंको कूटना, तेलको लिये कोल्हूमें रेत पेलना, और घीके लिये जलको मथना निरर्थक है उसी प्रकार वेदनासे पीड़ित व्यक्तिका संक्लेश करना निरर्थक है । संक्लेश करनेसे वेदना दूर नहीं होती है अतः निरर्थक होनेसे वृष्टान्त और वाष्टान्तमें समानता है ॥१६२०॥

गा०—जैसे कोई ऋजदार साहूकारसे ऋण लेकर स्वयं उसका उपभोग करता है । और ऋण चुकानेका समय आनेपर उतना ही द्रव्य देते हुए उसे दुःख नहीं होता । उसी प्रकार पूर्वमें स्वयं बांधे हुए पापकर्मका फल भोगनेवाले ज्ञानीको दुःख कैसा ? अतः पूर्वमें बांधे गये कर्मका उदयकाल आनेपर कौन ज्ञानी दुःखी होता है ॥१६२१-२२॥

गा०—यह दुःख मेरे पूर्वमें किये गये कर्मोंका ही फल है ऐसा जानकर दुःखको ऋण मुक्तिके समान देखो । दुःखी मत होओ ॥१६२३॥

पुण्यकदमज्ज कम्मं फलिदं दोसो ण इत्थं अण्णस्स ।

इदि अप्पणो पजोगं णच्चा मा दुक्खिदो होहि ॥१६२४॥

'पुण्यकदमज्ज कम्मं' पूर्वकृत मदीयं कर्म, 'फलिदं' फलित । 'दोसो ण इत्थं अण्णस्स' दोषो नैवान्यस्य इति । 'अप्पणो पजोगं' अण्णा' ज्ञात्वा । 'मा दुक्खिदो होहि' मा कृष्या दुःखं ॥१६२४॥

जदिदा अमदपुच्चं अण्णेसिं दुक्खमप्पणो वेव ।

आदं हविज्ज तो णाय होज्ज दुक्खाइदुं जुत्तं ॥१६२५॥

'अण्णा' यदि तावत् । तु समन्येया अभूतपूर्वं । 'अण्णो वेव' आरमण एव 'आदं हविज्ज' 'आतं भवेत्' 'तो णाय होज्ज दुक्खाइदुं' जुत्तं । ततो नाम दुःखं कर्तुं युक्तं ॥१६२५॥

सञ्चेसिं सामण्णं अवस्सदायव्वयं करं काले ।

णाएण य को दाऊण णरो दुक्खादि विलवदि वा ॥१६२६॥

'सञ्चेसिं सामण्णं' संवेधा भग्नानां श्रामण्य । 'काले' कर्मविनाशनकाले । 'अवस्स दायव्वयं' अवश्य दातव्य । यस्मान्तरमात् । 'करं' करशब्दवाच्य 'दाऊण' दत्त्वा । 'णाएण य' न्यायेन च 'को णरो दुक्खदि विलवदि वा' को णरो दुःखं करोति विलपति वा ॥१६२६॥

सञ्चेसिं सामण्णं करभूदभवस्सभाविकम्मफलं ।

इण मज्ज मेत्ति णच्चा लभसु सिदिं तं घिदिं कुणसु ॥१६२७॥

'सञ्चेसिं' संवेधा विनियाना । 'सामण्ण करभूदं' श्रामण्य करभूत । 'अवस्सभाविकम्मफलं' अवश्य-भावि कर्मफल । 'इणमज्जमेत्ति' इदं श्रामण्य अव करभूत ममेति । 'णच्चा' ज्ञात्वा । 'लभसु सिदिं' स्मृति प्रतिपद्यस्व । 'तं' त्व 'घिदिं कुणसु' धृति कुरु ॥१६२७॥

अरहंतसिद्धकेवलि अविउत्ता सच्चसचसिखस्स ।

पच्चक्खाणस्स कदस्स भंजणादो वरं मरणं ॥१६२८॥

शा०—यह मेरे पूर्वकृत कर्मों का फल है । इसमें किसी दूसरेका दोष नहीं है । अतः इसे अपना ही प्रयोग जानकर दुःखा मत होनी ॥१६२४॥

शा०—हे क्षपक ! यदि यह दुःख दूसरोंको पहिलं कभी नहीं हुआ और तुमको ही हुआ होता तो दुःख करना युक्त था ॥१६२५॥

शा०—कर्मों के विनाशका समय आनेपर सभी भव्य जीवोंको मुनिपद अवश्य धारण करना होता है । इसलिये इसे 'कर' कहा है । इस करको न्यायपूर्वक देकर कौन मनुष्य दुःखी होता है या विलपन करता है ॥१६२६॥

शा०—सभी मोक्षमार्गीयोंके लिये यह श्रामण्य अवश्य भाविकर्मफल होनेसे करके समान वेद्य है अर्थात् सभीको मुनिपद धारण करना होता है । आज यह श्रामण्य मेरे लिये करके समान वेद्य है ऐसा धामकर अपने स्वरूपका स्मरण करो और धैर्य धारण करो ॥१६२७॥

'अर्हन्तं सिद्धकेचित् कथिकृता सत्त्वसंश्लेषितम्' । अर्हन्तः, सिद्धान्, केवलिनः, तन्वन्ता देवता सर्वं च सर्वं साक्षित्वेनोपाश्रयं कृतवन्त्यः । 'पञ्चमहाभक्त संज्ञयात्मी' प्रत्याख्यानस्य विनाशनात् । 'बरे' शोभनं 'अर्य' प्रामाण्यपरिचयः ॥१६२८॥

कर्म अर्यावशोकमता 'प्रत्याख्यानसंस्वेत्यार्वाकायामावष्टे प्रबंधमुत्तरं प्रत्याख्यानमंजने पुष्टतां निवेद्यमित्युम्—

आसादिदा तजो ह्येति तेन ते अप्यभाषकरणेन ।

राधा विष सखिषकदो विसंबदतेण कज्जग्मि ॥१६२९॥

'आसादिदा' परिभूताः । 'तजो' ततः पश्चात् । प्रत्याख्यानब्रह्मोत्तरकारणं । तेन प्रत्याख्यानमंग-
कारिणा । ते अर्हदादयः । 'अप्यभाषकरणेन' अप्रमाणकरणेन । तत्साक्षिकं कर्म प्रतिज्ञातं विनाशयता ते
अप्रमाणीकृता भवन्ति । अप्रमाणकरणेन च ते परिभूता भवन्ति । 'राधा विष सखिषकदो' राज्ञेव साक्षीकृतः ।
'कज्जग्मि विसंबदतेण' कार्ये विसंबदता । एतदुक्तं भवति राजसाक्षिकं प्रतिज्ञातं कर्म चाप्यथा कुर्वता राजा
यथा परिभूतो भवति एवमर्हदादय इति ॥१६२९॥

जइ दे कदा पमाणं अरहंतादी हवेज्ज खवएण ।

तस्सखिस्सदं कयं सो पच्चवस्साणं ण भंजित्ज ॥१६३०॥

'जइ दे कदा पमाणं' यदि ते कृताः प्रमाणं । 'अरहंतादी' अर्हदादयः । 'भवेज्ज' भवेयुः । 'खवएण'
क्षयकेन । 'तस्सखिस्सदं कयं पच्चवस्साणं' तत्साक्षिकं कृतं प्रत्याख्यानं । 'सो ण भंजित्ज' क्षयको न
नाशयेत् ॥१६३०॥

सखिषकदरायहीलणभावहइ णरस्स जइ महादोसं ।

तइ जिणवरादिआसादणा वि दोसं महं कुणदि ॥१६३१॥

गा०—अरहन्त, सिद्ध, केवली, उस स्थानके वासी देवता और सर्व संघको साक्षी बनाकर
ग्रहण किये त्यागको तोड़नेसे मरण श्रेष्ठ है ॥१६२८॥

त्यागका मंग करना मरनेसे भी बुरा कैसे है ऐसी शंका होनेपर त्यागके भंगकी बुराई
कहते हैं—

गा०—जैसे राजाको साक्षी बनाकर किये गये कार्यमें विसंवाद करनेवाला पुरुष राजाकी
अवज्ञा करनेका दोषी होता है । वैसे ही अरहन्त आदि पंचपरमेष्ठीकी साक्षीपूर्वक स्वीकार किये
गये त्यागको तोड़नेवाला मुनि अरहन्त आदिको भी प्रमाण न माननेसे उनकी अवज्ञा करनेका
दोषी होता है ॥१६२९॥

गा०—यदि हे क्षपक ! तुम अरहन्त आदिको प्रमाण मानते हो तो तुम्हें उनकी साक्षिपूर्वक
किये गये त्यागको भंग नहीं करना चाहिये ॥ ६३०॥

गा०—जैसे राजाको साक्षी बनाकर उनकी अवज्ञा करना मनुष्यको महादोषका भागी
बनाता है वैसे ही अर्हन्त आदिकी आसादना भी महादोषको करनेवाली है ॥१६३१॥

'सप्तविंशत्यवरायहीकर्म' साक्षीकृतराजपरिभव । 'आषट्कवि नरस्त षड् षड्वाद्योत्' आनयति यथा नरस्त
महान्तं दोषं । 'षड् विंशत्यवराय आसादना' तथा अर्हवासादादनापि । 'दोसं महं कुचधि' दोषं महान्तं
करोति ॥१६३१॥

तं महान्तं दोषं कथयति—

तित्थयरपवयणसुदे आहरिण गणहरे महद्वीए ।
एदे आसादंतो पावइ पारंथियं ठाणं ॥१६३२॥

'तित्थयरपवयणसुदे' तीर्थकरान्, रत्नत्रयं, आगमं । 'आहरिण' आचार्यान् । 'गणहरे' गणधरान् ।
'महद्वीए' महद्विकान् । 'एदे' एतान् । 'आसादंतो' असापयन् । 'पावइ' प्राप्नोति । 'पारंथियं ठाणं' पारंथिय-
नामधेयं प्रायश्चित्तस्थान ॥१६३२॥

सकखीकयरायासादणे हु दोसं करे हु एवभवे ।
भवकोडीस य दोसं जिणादि आसादणं कुणइ ॥१६३३॥

साक्षीकृतराजावमानजाताहोषाचर्हदाद्यवमानजनितदोषो महानिति दर्शयति । स्पष्टार्थां वाथा ॥१६३३॥

'मोक्खाभिलासिणो संजदस्स जिघणगमणं पि होइ वरं ।
पच्चक्खाणं भंजंतस्स ण वरमरहदादिसिक्खकदा ॥१६३४॥

जिघणगमणमेयभवे णासो ण पुणो पुरिन्लज्जम्भेसु ।
णासं वयमंगो पुण कुणइ भवसएसु बहुएसु ॥१६३५॥
ण तदा दोसं पावइ पच्चक्खाणमकरिस् काल्गदो ।
जह भंजणा हु पावदि पच्चक्खाणं महादोसं ॥१६३६॥

उस महान दोषको कहते हैं—

ण०—तीर्थङ्कर, रत्नत्रय, आगम, आचार्य और महान् ऋद्धिधारियोकी आसादना करने
वाला पारंथिक नामक प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥१६३२॥

ण०—साक्षी बनाये गये राजाकी आसादना करनेपर तो एक ही भवमे दोषका भागी
होता है । किन्तु अरहन्त आदिकी आसादना करनेपर करोड़ों भवोंमें दोषका भागी होता है ।
अतः साक्षी बनाये गये राजाकी अवज्ञाके दोषसे अर्हन्त आदिकी अवज्ञासे होनेवाला दोष महान
होता है ॥१६३३॥

मोक्षके अभिलाषी संयमीका मरना भी श्रेष्ठ होता है किन्तु अरहन्त आदिको साक्षी
करके किये गये त्यागका भंग करना श्रेष्ठ नहीं है । मरणको प्राप्त होनेपर तो एक भवका ही
विनाश होसा है, आगेके भवोंका विनाश नहीं होता । किन्तु अतका भंग बहुतसे भवोंमें विनाश-
कारी होता है ॥१६३४-३५॥

१. एते द्वे वाचे टीकाकारो नेच्छति ।

'यं सहा द्योसं पाश्वरि' न तथा द्योसं प्राप्नोति । 'पञ्चकस्याननकरित्' प्रत्यास्थाननकृत्वा । काल-
यदो मृतः । 'अहं भंजतो पाश्वरि' यथा प्रत्यास्थानभगान्महाद्योष प्राप्नोति ॥१६३४॥१६३५॥१६३६॥

प्रत्याख्याताहारसेवा हि प्रत्यास्थानभगः स चाहार प्रार्थ्यमानो हिसादिदोषानक्विलानानयतीति
निगदति—

आहारत्वं हिसइ भणइ असञ्चं करेइ तेजेककं ।

रूसइ लुम्भइ मायं करेइ परिगण्हदि य संगे ॥१६३७॥

'आहारत्वं हिसइ' आहारार्थं षड्जीवनिकायान्निहनस्ति । असत्य भणति, स्तैर्यं करोति । कथ्यस्य-
लाभे, लुम्बति लाभे, माया करोति, परिगण्हति संगान् ॥१६३७॥

होइ गरो णिल्लज्जो पयहइ तवणाणदंसणचरिंसं ।

आभिमकलिणा ठइओ छायां मइलेइ य कुलस्स ॥१६३८॥

'होइ गरो णिल्लज्जो' निर्लज्जो भवति नर आहारार्थं पर्याप्त्याकरणान् । प्रजहाति च तपो, ज्ञान
दर्शन चारित्रं च । आभिमकल्येन कलिनावष्टब्ध छाया कुलम्य मलिनयति परोच्छ्रटभोजभाविना ॥१६३८॥

णासदि बुद्धी जिम्भावसस्स मंदा वि होदि तिवस्सा वि ।

जो णिगमिल्लेसल्लग्गो व होइ पुरिसो अणप्पवसो ॥१६३९॥

'णासदि बुद्धी' बुद्धिर्नस्यात् आहारलम्पटतया युक्तयुक्तविवेकाकरणान् । कस्य ? जिह्वावशस्य
तीक्ष्णा पि सती पूर्वं बुद्धि कुटा भवति । रसराममलोपप्लुता अर्थयाथात्म्यं न पश्यतीति पारसीककलेशलम्नालग
इव भवति पुष्पोज्जात्मवश ॥१६३९॥

गा०—विना त्याग ग्रहण किये मरनेपर इतना दोष नहीं होता जितना महादोष त्याग
लेकर उसका भग करनेपर होता है ॥१६३६॥

त्यागे हुए आहारको ग्रहण करना व्रतभंग है । वह आहार हिंसा आदि सब दोषोको
लानेवाला है यह कहते हैं—

गा०—आहारके लिये मनुष्य छहकायके जीवोका घात करता है । असत्य बोलता है,
चोरी करता है । आहार न मिलनेपर क्रोध करता है । मिलनेपर उसका लोभ करता है । माया-
चार करता है । घर पत्नी आदि परिग्रह स्वीकार करता है ॥१६३७॥

गा०—आहारके लिये मनुष्य निर्लज्ज होता है क्योंकि दूसरोंसे माँगता है । अपना तप,
ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य तक त्याग देता है । आहाररूपी कलिके द्वारा प्रस्त होकर अपने कुल
की छायाको मलिन करता है दूसरोंका झूठा भोजन खाता है ॥१६३८॥

गा०—जो जिह्वाके वशीभूत है उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है क्योंकि भोजनका लम्पटो
होनेसे वह भक्ष्य अभक्ष्यका विचार नहीं करता । यदि उसकी बुद्धि तीक्ष्ण होती है तो वह भन्द
हो जाती है क्योंकि रसोंमें रागरूपी मलसं लिस होनेसे बुद्धि भक्ष्य वस्तुके यथार्थ स्वरूपको नहीं

धीरचणमाहृष्यं कदचणदं विणयधम्मसद्धाओ ।

पयइइ कुणइ अणत्थं गल्लग्नो मच्छओ वेव ॥१६४०॥

'धीरत्वं' धीरत्वं, माहात्म्यं, कृतज्ञता, विनयं, धर्मश्रद्धा च प्रवर्हाति । करोत्यनर्थधत्ता च । प्रवर्हाति करोत्यनर्थनाशनः । गलावल्ग्नमत्स्य इव ॥१६४०॥

आहारत्थं पुगिसो माणी कुलजादि पडियकिन्ती वि ।

मुंजति अमोज्जाए कुणइ कम्मं अकिच्चं खु ॥१६४१॥

'आहारत्थं'—आहारार्थं, भुंजते अभोज्यानि पुरुषो मानी कुलीनः, प्रपितकीतिरपि अकरणीयं करोति ॥१६४१॥

आहारत्थं मज्जारिसुंसुमारी अही मणुस्सी वि ।

दुम्भिकखादिसु खायंति पुत्तभंडाणि दइयाणि ॥१६४२॥

इइपरलोइयदुम्भखाणि आवइते णरस्स जे दोसा ।

ते दोसे कुणइ णरो सव्वे आहारगिद्धीए ॥१६४३॥

स्पष्टम् उत्तरगाथादयम् ॥१६४२॥१६४३॥

आहारलोलुपतया स्वयंभूरमणसमुद्रे तिमितिभिगिलादयो मत्स्या महाकाया योजनसहस्रायामाः वण्णासं विभूतवदनाः स्वपन्ति । निद्राविभोजानन्तरं पिहिताननाः स्वजठरप्रविष्टमत्स्यादीनाहारीकृत्य अबधिष्ठानानामर्षेयं नरकं प्रविशति । तत्कर्त्तव्यमलाहाराः शालिसिन्धुमात्रतनुत्वाच्च शालिसिन्धुसंज्ञकाः यदीदृशमस्माकं शरीरं भवेत् किं सिन्धु एकोऽपि जन्तुर्लभते ? सर्वनिष्कषायामीति कृतमनःप्रणिधानास्ते तमेवावधिस्थानं प्रविशति । इति कथयति गाथया—

देख पाती । तथा आहारका लम्पटी मनुष्य विषय सेवन करते हुए मनुष्यकी तरह अपने बशमें नहीं रहता ॥१६३९॥

भा०—महू धीरता, माहात्म्य, कृतज्ञता, विनय और धर्मश्रद्धाको भी आहारके पीछे छोड़ देता है और गलेमें फँसी मछलीकी तरह अनर्थ करता है ॥१६४०॥

भा०—मानी, कुलीन और प्रख्यातकीति वाला भी आहारके लिये अभक्ष्यका भक्षण करता है और न करने योग्य कर्म करता है ॥१६४१॥

भा०—भूखसे पीड़ित होनेपर बिल्ली, मच्छ, सर्पिणि और दुम्भिक आदिमें मनुष्य भी अपने प्रिय पुत्रोंको खा जाते हैं ॥१६४२॥

भा०—मनुष्यके जो दोष इस लोक और परलोकमें दुःखदायी हैं वे सब दोष मनुष्य आहारकी लम्पटताके कारण ही करता है ॥१६४३॥

आगे कहते हैं—स्वयंभूरमण समुद्रमें तिमितिभिगल आदि महाकाय वाले महामच्छ जो एक हजार योजन लम्बे होते हैं, छह मास तक मूंह खोले सोते रहते हैं । जागने पर अपने मुखमें घुसे मच्छों आदिको खाकर भरकर सातवें नरकमें जाते हैं । उसके कानमें एक शालिसिन्धु नामक मत्स्य रहता है जो उसके कानका मेल खाता है । उसका शरीर चाबलके बराबर होता

अवधिद्वान् भिरयं मच्छा आहारहेतु मच्छन्ति ।

तत्त्वेवाहारमित्यासेन यदो सालिसिच्छो वि ॥१६४४॥

अवधिद्वान्मित्यादिका गाथा ॥१६४४॥

चक्रवरो वि सुमूयो फलरसगिद्धीए वंचिओ संतो ।

ण्डो सद्गुहमज्जे सपरिजणो तो मज्जे भिरयं ॥१६४५॥

‘चक्रवरो वि सुमूयो’ नाम चक्रलाञ्छनः फलरसगुहया वंचितः समुद्रमग्ने विनष्टः सपरिजनः । पदवाच्यं नरकं गतः ॥१६४५॥

आहारत्थं काळण पावकम्माणि तं परिगओ सि ।

संसारमणादीयं दुक्खसहस्साणि पावंतो ॥१६४६॥

आहारार्थं पापानि कर्माणि कृत्वा संसारमणादिकं प्रविष्टो भवान्दुःखसहस्राणि वेदयमानः ॥१६४६॥

पुण्यद्विं तद्देव संसारं किं भमिदूणमिच्छसि अणंतं ।

जं णाम ण वोच्छिज्जइ अज्जवि आहारसण्णा ते ॥१६४७॥

‘पुण्यद्विं’ पुनरपि । तर्थात् संसारमर्तमटितुं किमिच्छसि ? यस्मादवाप्याहारे तृष्णा न नश्यति ॥१६४७॥

जीवस्स णत्थि तिची चिरंपि भुंजंतस्य आहारं ।

तिचीए विणा चिचं उच्चूरं उद्धुदं होइ ॥१६४८॥

‘जीवस्स णत्थि तिची’ जीवस्य नास्ति तृप्तिश्चिरमप्याहारं भुञ्जानस्य । तृप्त्या च विना चित्तनितरामुच्यते भवति ॥१६४८॥

है इसलिये उसे सालिसिक्ख कहते हैं । वह कानमे बैठा हुआ मनमे, सोचा करता है कि यदि मेरा शरीर ऐसा होता तो क्या एक भी जन्तु बचकर जा सकता मे सबको खा जाता । इसी संकल्पसे वह भी मरकर सातवें नरक जाता है—

गा०—महामत्स्य आहारके ही कारण सातवें नरकमें मरकर जाता है और उसी महामत्स्यके कानमें रहनेवाला सालिसिक्ख मत्स्य भी आहारके संकल्पसे मरकर सातवें नरक जाता है ॥१६४४॥

धा०—सुमौम नामक चक्रवर्ती भी एक देवके द्वारा लीये गये फलके रसकी लम्पटसाके कारण ठगा जाकर परिवारके साथ समुद्रमें डूब गया और मरकर नरकमें गया ॥१६४५॥

धा०—हे अपक ! पूर्वजन्मोंमें आहारके ही लिये पाप कर्म करके तुम हजारों दुःख भोगते हुए अनादि संसारमें प्रविष्ट हुए ॥१६४६॥

अब क्या पुनः अनन्त संसारमें भ्रमण करनेकी इच्छा है जो अभी भी तुम्हारी आहार संज्ञा नष्ट नहीं होती ॥१६४७॥

गा०—चिरकाल तक आहार खाकर भी जीवकी तृप्ति नहीं होती । और तृप्तिके बिना चित्त अत्यन्त व्याकुल रहता है ॥१६४८॥

अह इंचभेहि अन्नी अह य सङ्गरो जदीसहस्तेहि ।
आहारेण न सकको सह तिप्येयुं इयो जीवो ॥१६४९॥

'अह इंचभेहि अन्नी' यन्नेन्नरन्निर्बवीलहर्बस्वतिस्तपयितुमसक्यस्तबाहारेण जीवः ॥१६४९॥

देविदचकवङ्गी य बासुदेवा य भोगभूमा य ।
आहारेण न तिचा तिप्यदी कइ भोवण अण्णो ॥१६५०॥

'देविदचकवङ्गी य' देवेन्द्रा कामान्तरायकसोपसमप्रकर्षात् आत्मीयतनुतेभोनिमित्तेन आहारेण, चक्रवर्तिनोऽपि चष्टचक्रवर्तिनसत्सूपकारैर्बभानेवैकदिनाहारं संस्कारणोवर्तैः शौकितेन तथाचंचक्रवर्तिनोऽपि । भोगभूमिना भोगनाञ्जकल्पतन्त्रमयेन न तुताः । कथमण्यो जनस्तुप्यति ॥१६५०॥

उव्वुदमजस्त न रदी विणा रदीय कुदो हवदि पीदी ।
पीदीय विणा न सुहं उव्वुदविचस्त चणजस्त ॥१६५१॥

'उव्वुदमजस्त' इत्ये भद्रमठो भद्रमस्मान्भेदमिति परिष्कयमानचेतसो न रतिः, एव च तथा विना प्रीतिः । प्रीत्या च विना न सुखं चकचित्तस्य तत्तबाहारलम्पटस्य ॥१६५१॥

सन्वाहारविचाणेहिं तुमे ते सन्वपुग्गला बहुसो ।
आहारिदा अदीदे काले तिचि च सि न पचो ॥१६५२॥

'सन्वाहारविचाणेहिं' अक्षनपानवाचकेह्यविकल्पैस्त्वया सर्वं पुद्गला बहुस आहारिताः अतीते काले तृप्ति च न च प्राप्नो भवान् ॥१६५२॥

शा०—जैसे इंधनसे आगकी और हजाराँ नदियोंसे समुद्रकी तृप्ति नहीं होती वैसे ही यह जीव आहारसे तृप्त नहीं हो सकता ॥१६४९॥

शा०—टी०—देवेन्द्रोके कामान्तरायके क्षयोपसमका प्रकर्ष होनेसे अपने शरीरके तेजके निमित्तसे आहार प्राप्त होता है । भोजनकी इच्छा होते ही कष्टसे अमृत भरता है । चक्रवर्तिके भी तीन सौ साठ रसोद्दयाँ होते हैं और वे सब मिलकर एक वर्षका आहार एक दिनमें बनाते हैं । अर्धचक्रवर्तिकी भी ऐसी स्थिति है । भोगभूमिके जीवोंको भोजनांग जातिके कल्पवृक्षोंसे यथेच्छ आहार प्राप्त होता है । फिर भी इन सबकी तृप्ति नही होती । तब साधारण मनुष्य भोजन से कैसे तृप्त हो सकता है ॥१६५०॥

शा०—टी०—यह आहार उत्तम है । इससे भी यह आहार उत्तम है इस प्रकारसे जिसका चित्त चंचल रहता है उसके चित्तमें अनुराग नहीं होता । अनुरागके बिना प्रीति नहीं होती । और प्रीतिके बिना सुख नहीं होता । इस प्रकार विभिन्न आहारोंके लम्पटी चंचलचित्त मनुष्यको आहारसे सुख नहीं होता ॥१६५१॥

शा०—हे क्षणक ! अतीतकालमें तुमने अन्न, पान, खाद्य और लोहके भेदसे चार प्रकारका आहार करके सब पुद्गलोंको बहुत बार आया है फिर भी तुम्हारी तृप्ति नहीं हुई ॥१६५२॥

किं पुन कंठप्याणो आहारैरुण अञ्जमाहारं ।
लमिहिसि तिथिं पाठुमुदधिं हिमलेहणेणैव ॥१६५३॥

'किं पुन' किं पुनः कण्ठप्राणोऽप्याहारं गृहीत्वा प्रीतिं कल्पसे । पीतोदधिं न तुप्तो हि यथा
हिनकेहणेन ॥१६५३॥

को एत्व विमजो दे बहुसो आहारश्चपुष्वम्भि ।
कुञ्जेज्ज हु अभिलासो अशुचपुष्वम्भि आहारो ॥१६५४॥

'को एत्व विमजो' कोऽज्ज विमजः । आहारो बहुषो भक्तपुर्वे । युज्यते आहारार्थे अभिलाषो
अशुचपुर्वे ॥१६५४॥

आबादमेतसोक्खो आहारणो हु सुखमत्थ बहु अत्थि ।
दुःखं येवत्थ बहु आहट्ठंत्तस्स गिदीए ॥१६५५॥

'आबादमित्तसोक्खो' जिह्वाग्रपातमामसुखं आहारः । न सुखमन बह्वन्ति । दुःखमेवान् बहु 'अभि-
कषिताहारणुत्था ॥१६५५॥

सुखस्याल्पतायाः कारणमाचष्टे—

जिम्भामूलं बोलेइ वेमदो बरहजोव्व आहारो ।
तत्थेव रसं जाणइ ण य परदो ण वि य से परदो ॥१६५६॥

जिह्वाया भ्रूणं वेमेनासिकागत्याहारः वात्यस्व इव । जिह्वामान एव रसं वेत्ति जीवो न आहा-
रामुपरितः, न च पुरतोऽन्तः । अस्या च जिह्वा ॥१६५६॥

वा०—जब ता तुम्हारे प्राण कण्ठगत है अर्थात् तुम्हारी मृत्यु निकट है । जैसे समुद्रको
पीकर जो तृप्त नहीं हुआ वह ओसको चाटनेसे तृप्त नहीं हो सकता । उसी प्रकार जब तुम समस्त
पुष्पकोंको खाकर भी तृप्त नहीं हुए तब मरते समय आज भोजनसे कैसे तृप्त हो सकते
हो ॥१६५३॥

वा०—जो आहार तुमने पहले अनेक बार खाया है उसमें तुम्हारी उत्सुकता कैसे ? जो
आहार पहले कभी नहीं खाया है उसमें अभिलाषा होना तो उचित है । जिसे तुम अनेक बार
भोग चुके हो उसमें अभिलाषा होना ही आश्चर्यकारी है ॥१६५४॥

वा०—आहारमें बहुत सुख नहीं है केवल जिह्वाके अग्रभागमें रखनेमान ही सुख है ।
किन्तु इच्छितआहारकी लिप्तासे जो दुःख होता है वह दुःख ही बहुत है ॥१६५५॥

आहारमें स्वल्पसुख होनेका कारण कहते हैं—

वा०—टी०—जैसे उताव घोड़ा बड़ा तेज दौड़ता है वैसे ही आहार भी जिह्वाके मूलको
बड़े वेगसे पार करता है अर्थात् जिह्वापर प्राप्त आते ही वह क्षट पेटमें चला जाता है । बस
जिह्वापर रहते हुए ही जीवको आहारके स्वादकी प्रतीति होती है, न पहले होती है और न

अच्छिन्नमिषममेतो आहारसुहस्स सो इवइ कालो ।

गिद्धीए गिल्लइ वेगं गिद्धीए विणा ञ होइ सुइं ॥१६५७॥

'अच्छिन्नमिषममेतो' अक्षिन्निषममात्रः कालः । आहाररससेवाजनितसुखस्य । गृह्णथा वेनेन निगिरति । यतो गृह्णथा च विना नास्तीन्निग्रयसुखं ॥१६५७॥

दुक्खं गिद्धीयत्थस्साइट्टंतस्स होइ बहुगं च ।

चिरमाहङ्गियदुग्गायचेडस्स व अण्णगिद्धीए ॥१६५८॥

'दुक्खं गिद्धीयत्थस्स' दुःखं महद्भवति लम्पटतया प्रसत्यामिलयत । 'चिरमाहङ्गियदुग्गायचेडस्स व अण्णगिद्धीए' अन्नगृह्णथा चिरं व्याकुलस्य दरिद्रसंबन्धिनो दातेरस्येव ॥१६५८॥

को णाम अप्पसुक्खस्स कारणं बहुसुहस्स चुक्केज्ज ।

चुक्कइ हु संकिलिसेण म्मणी सग्गापवग्गाणं ॥१६५९॥

'को णाम अप्पसुक्खस्स कारणं' को नामात्मसुखनिमित्त महतो निर्भृतिमुखात्प्रच्यवते च मुनिः संकलेशेन स्वर्गापवर्गसुखान्भ्याम् ॥१६५९॥

महुल्लिचं असिघारं लेइइ भुंजइ य सो सविस्समण्णं ।

जो मरणदेसयाले पच्छेज्ज अकप्पियाहारं ॥१६६०॥

'महुल्लिचं' मधुना लिप्यामसिघारा आस्वाययति । सविषमयमं गृह्णते यो मरणदेशकाले अयोग्याहारप्रायना करोति ॥१६६०॥

बादमें । अर्थात् जब आहार जीभपर नहीं आया और जब आकर गलेमें उतरा तब स्वादकी अनुभूति नहीं होती ॥१६५६॥

शा०—इस प्रकार आहारसे होनेवाले सुखका काल एक बार पलकें बन्द करके खोलनेमें जितना समय लगता है उतना ही है अर्थात् क्षणमात्र है । आहारकी गूढ़ि होनेसे आहार वेगसे निगला जाता है और गूढ़िके बिना सुख नहीं होता ॥१६५७॥

शा०—जो आहारविषयक लम्पटताके साथ आहारकी आकांक्षा करता है उसे बहुत दुःख उठाना पड़ता है । जैसे अन्नकी गूढ़िसे चिरकालमें व्याकुल दरिद्र दासको कष्ट होता है वैसे ही कष्ट आहारकी लम्पटतावालेको होता है ॥१६५८॥

शा०—दो०—कौन बुद्धिमान पुरुष थोड़ेसे सुखके लिये बहुत सुखसे वंचित होना चाहेगा । अर्थात् इस अन्तिम अवस्थामें आहारमें आसक्त होनेसे तुम बहुत सुखसे वंचित हो जाओगे । मुनि संकलेश परिणाम करनेसे स्वर्ग और मोक्षके सुखसे वंचित हो जाता है—उसे स्वर्ग या मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ॥१६५९॥

शा०—दो०—जो क्षयक मरते समय अयोग्य आहारकी प्रायना करता है वह मधुसे लिप्त तलवारकी धारको चाटता है और विष सहित अन्नको खाता है । अर्थात् जैसे मधुसे लिप्त तलवारकी धारको चाटनेसे तत्काल सुख होता है किन्तु जीभ कट जाती है वैसे ही मरते समय

असिचारं च विसं वा दोसं पुरिसरस कुण्ड एवमवे ।

कुण्ड दु मुनिजो दोसं अकप्पसेवा भवसपसु ॥१६६१॥

'असिचारं च' असिचारा वा विषं वा पुरुषस्य दोषमेकस्मिन्नेव भवे करोति । अयोष्यसेवा भवद्यतेषु मुनेषोषं करोति ॥१६६१॥

जायंत किंचि दुक्ख सारीरं माणसं च संसारे ।

पत्तो अणतखुचं कायस्स ममत्तिदोसेण ॥१६६२॥

'जायंत किं चि दुक्खं' यावत्किंचिदुःखं शारीरं मानसं वा संसारे त्वमनंतचारं प्राप्यवान् । तत्सर्वं शरीरममतादोषेणैव ॥१६६२॥

इहिंह पि जदि ममत्ति कुणसि सरीरे तहेव ताणि तुमं ।

दुक्खाणि संसरंतो पाविहसि अणतरयं कालं ॥१६६३॥

'इहिंह' पि इवानीमपि यदि शरीरे करोषि ममतां तर्ह्येव तानि दुःखानि चतुर्गतिषु परावर्तमानोऽनंत-कालं प्राप्स्यसि ॥१६६३॥

णत्थि भयं मरणसमं जम्मणसमयं ण विज्जदे दुःख ।

जम्मणमरणादकं छिण्ण ममत्ति सरीरादो ॥१६६४॥

'णत्थि भयं मरणसमं' मरणसम्युक्तं भय नास्ति । कुयोनिषु जन्मसमानं दुःखं न विद्यते । जन्ममरणादकं छिन्नं शरीरममतां ॥१६६४॥

अण्णं इयं सरीरं अण्णो जीवोत्ति णिच्छिदमदीओ ।

दुक्खमयकिल्लेसयारी मा हु ममत्ति कुण सरीरे ॥१६६५॥

यदि अर्हन्त आदिकी साक्षीपूर्वक त्यागे हुए आहारकी अभिलाषा करता है और उसे खाता है तो तत्काल उसे अपनी इच्छामूर्ति होनेसे सुख प्रतीत होगा । किन्तु उसकी सब आरावना गल जायेगी ॥१६६०॥

भा०—सहस्रसे लिप्त तलवार और विषमिश्रित अन्न तो पुरुषका एक भयमें ही अवर्ष करते हैं । किन्तु मुनिका अयोष्य आहारका सेवन सैकड़ों भवोंमें अनर्थकारी होता है ॥१६६१॥

भा०—हे क्षपक ! इस संसारमें तुमने जो कुछ भी शारीरिक और मानसिक दुःख अनन्त बार भोगा है वह सब शरीरमें ममतारूप दोषके कारण ही भोगा है । ॥१६६२॥

भा०—इस समय भी यदि तुम शरीरमें ममता करते हो तो उसी प्रकार चारों वस्तिवोंमें भ्रमण करते हुए अनन्त कालतक दुःख भोगोगे ॥१६६३॥

भा०—मरणके समान भय नहीं है और जन्मके समान दुःख नहीं है । तथा जन्म मरण रोगका कारण शरीरसे ममत्व है उसको तुम दूर करो ॥१६६४॥

'अन्व इमं शरीरं' अन्वविधिं शरीरं । अन्वो जन्तुरिति निश्चितमतिदुःखसंक्लेशसंवालोचतां मा कृषाः शरीरे ममताम् ॥१६६५॥

सन्धं अक्षियासंतो उवसन्नाविधिं परीसहविधिं च ।

पिस्संगदाए सन्धिल्लह असंक्लेशेण तं मोहं ॥१६६६॥

'सन्धं उवसन्नाविधिं' सर्वं उपसर्गविकल्पं परीषहविकल्पं च सहमानो मोहं भवांस्तनुकुट्ट । 'पिस्संगदाए' असंक्लेशेण च ॥१६६६॥

ण वि कारणं तच्चादोसंधारो ण वि य संघसमवाजो ।

साधुस्स संक्लेशंतत्स य मरणावसाणम्मि ॥१६६७॥

'ण वि कारणं तच्चादी' नैव कारणं तुणादिसंस्तरः सल्लेखमायां, नापि संघसमुदायः मरणावसाने संक्लेशयतः साधोः ॥१६६७॥

अह वाणियगा सामरज्जलम्मि जावाहिं रयणपुण्णाहिं ।

पट्टणमासण्णा वि हु पमादमूढा वि वज्जंति ॥१६६८॥

'अह वाणियगा' यथा वणिको रत्नसंपूर्णाभिर्नौभिः सह विनश्यन्ति । समुद्रवलयमध्ये प्रमादेन मूढाः पतनान्तिकमागता अपि ॥१६६८॥

सल्लेखणा विसुद्धा केई तह चैव विविहसंगेहिं ।

संधारे विहरंता वि संक्लिद्धा विवज्जंति ॥१६६९॥

'सल्लेखणा विसुद्धा वि' शरीरसल्लेखनाभावान् । सल्लेखनया विसुद्धा अपि संत' । पूर्वं केचित् विविध

शा०—यह शरीर भिन्न है और जीव भिन्न है ऐसा निश्चय करके दुःख भय और क्लेशको करनेवाली ममता शरीरमें मत कर अर्थात् शरीरसे ममत्वको त्याग, वही सब दुःखोंका मूल है ॥१६६५॥

शा०—सब उपसर्गोंके प्रकारोंको और सब परीषहके प्रकारोंको सहन करते हुए तुम निःसंगत्वभावनासे संक्लेश परिणामोंके बिना मोहको कृष करो ॥१६६६॥

शा०—टी०—यदि मरते समय साधुके परिणाम संक्लेशरूप होते हैं तो तुण आदिका संघरा या वैयावृत्य करनेवाले साधुका जमघट सल्लेखनाका कारण नहीं हो सकता । अर्थात् तुणादिके संघरा और वैयावृत्य करनेवाले साधु तो सल्लेखनाके बाह्य कारण है अन्तरंग कारण तो क्षपकका आर्त रौद्र रहित परिणाम ही है । उसके अभावमें केवल बाह्य कारणोंसे सल्लेखना नहीं हो सकती ॥१६६७॥

शा०—जैसे वणिक् रत्नोंसे भरी नावोंके साथ नगरके समीप तक आकर भी प्रमादवश मूढ होकर सागरके जलमें डूब जाते हैं ॥१६६८॥

शा०—टी०—उसी प्रकार पहले विसुद्ध भावसे शरीरकी सल्लेखना करनेवाले भी कुछ क्षपक राशद्वेषादि भावरूप विविध परिग्रहोंके साथ संघरेपर आरुढ़ होते हुए भी संक्लेश परिणामों

संवेहि विधिर्न राघवेवादिमात्रपरिग्रहः सह । 'संचारे विहरता वि' संस्तरं प्रवर्तमाना अपि । 'संकिंकित्वा विचक्षणति' संकिंकितपरिणता विनयवन्ति ॥१६६९॥

सल्लेह्यापरिस्समिभं कयं दुक्करं च सामण्यं ।

मा अप्यसोकखहेडं तिलोमसारं वि जासेइ ॥१६७०॥

'सल्लेह्यापरिस्समिभं' शरीरसल्लेखनायां क्रियमाणायां अनशानावितपसा त्रिषिषाहारत्यागेन, मायज्जीवं वा पानपरिहारं वा आतं परिश्रममिदं । 'दुक्करं च कयं सामण्यं' दुक्करं कृतं च श्रामण्यं । चिरकालं त्रिकोकसारं अतिशयितस्वर्गापवर्गसुखदानात् । 'अप्यसुकखहेडुं' अल्पाहारसेवाजनितसुखनिमित्तं । 'मा विज्जेहि' नैव विनाशय ॥१६७०॥

धीरपुरिसपण्णसं सप्पुरिसण्णिसेवियं उवणमिता ।

घण्णा जिनावयक्खा संचारगया णिसज्जति ॥१६७१॥

'धीरपुरिसपण्णसं' उपसर्गाणां परिषह्याणां चोपनिपातः अविबलघृतयो ये धीरास्तैर्यावष्ट तत्सर्वं । 'सप्पुरिसण्णिसेवियं' सत्पुरुषनिवेदितं मार्गं 'उवणमिता' आवित्य । 'घण्णा' घण्टा पुण्यवतः । 'जिनावयक्खा' गिरापेक्षाः परित्यक्त्वादानाः । 'संचारगया' संस्तरारूढाः । 'णिसज्जति' धेरेते ॥१६७१॥

तम्हा कलेवरकुडी पब्बोढब्बत्ति णिम्ममो दुक्खं ।

कम्मफलमुवेक्खंतो विसहसु णिज्जेदणो चेव ॥१६७२॥

'तम्हा' तस्मात् । 'कलेवरकुडी' शरीरकुटी । 'पब्बोढब्बत्ति' परित्याज्येति मत्वा । 'णिम्ममो' शरीरे ममत्तारहितो । 'दुक्खं विसहसु' दुःखं विसहस्य । 'कम्मफलमुवेक्खंतो' कर्मफलमुपेक्षमाणो । 'णिज्जेदणो चेव' निर्बन्धनिव ॥१६७२॥

इय पण्णविज्जमाणो सो पुवं जायसंकिलेमादो ।

विणियसंतो दुक्खं पस्सइ परदेहदुक्खं वा ॥१६७३॥

के कारण विनाशको प्राप्त होते हैं । अर्थात् प्रथम तो उनकी सल्लेखना ठीक रहती है । पीछे संकलेश परिणाम होनेसे संशयपर रहते हुए भी सल्लेखनासे भ्रष्ट हो जाते हैं ॥१६६९॥

शा०—टी०—हे क्षपक ! अनशन आदि तपके द्वारा तथा तीन प्रकारके आहार और जीवन पर्यन्तके लिये पानका त्याग करके शरीरको कृश करनेमें तुमने जो परिश्रम किया है और यह अत्यन्त कठिन भूनिपद धारण किया है और इन सबसे तुम्हें जो स्वर्ग और मोक्षका सातिशय सुख मिलनेवाला है, इन सबको आहार सेवनसे होनेवाले धोड़ेसे सुखके लिये नष्ट मत करो ॥१६७०॥

शा०—उपसर्ग और परिषह्योके आनेपर भी जो विचलित नहीं होते उन धीर पुरुषोंके द्वारा कहे गये और श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा सेवित इस मार्गको अपनाकर पुण्यशाली क्षपक, त्याग और ग्रहणसे निरपेक्ष होकर संस्तरपर आरूढ़ होकर विद्युद्ध होते हैं ॥१६७१॥

शा०—अतः यह शरीररूपी कुटिया त्यागने योग्य है ऐसा मानकर शरीरसे ममत्त्व मत करो । तथा कर्मफलकी उपेक्षा करते हुए दुःखको इस प्रकार सह्य मानो दुःख है ही नहीं ॥१६७२॥

'इव' एवं । 'पञ्चविंशत्यनयो' प्रस्ताप्यमानः । 'तो पुण्यं कश्चिन्कोलासो' पूर्व वातसंभलेशात् । 'विभिन-
पसंतो' विभिनतर्यमानः । 'दुःखं वसति' दुःखं पश्यति । किमिव ? 'परशेष्टदुःखं वा' परसरीरजमितिव
दुःखं ॥१६७३॥

रायादिमहद्गीयागमनपञ्चोणेन वा वि माणित्स ।

माणजनेन कवयं कायव्यं तस्स खवयस्स ॥१६७४॥

'रायादिमहद्गीयागमनपञ्चोणेन' राजादिमहद्दिकायमनप्रयोगेण 'वावि माणित्स' मानिनोऽपि ।
'माणजनेन' मानजननेन । 'कवयं कायव्यं' कवचं कर्तव्यः । 'तस्स खवयस्स' तस्य क्षपकस्य । मम धीरतां
द्रष्टुं अभी महद्दिका समायाताः । अभीयां पुरस्तादद्यपि प्राणा यान्ति यान्तु कामं तथापि स्वां मनस्विता
माहं त्यजामीति मानवो दुःखं सहते न कुस्ते व्रतभङ्गम् ॥१६७४॥

इच्छेवमाइकवचं खणिदं उस्समिगयं जिणमदम्मि ।

अववादिं च कवयं आगाटे होइ काद्व्वं ॥१६७५॥

'इच्छेवमाइकवचं खणिदं' इच्छेवमादिकः कवचः कथितो जिनमते । 'उस्समिगयो' औत्सगिकः सामान्य-
भूत । 'अववादिं च कवयं कायव्यं' विशेषरूपाऽपि कवचः कर्तव्यो भवत्यववाटे मरणे ॥१६७५॥

अह कवचेण अभिज्जेण कवचिओ रणमुहम्मि सत्तूणं ।

जायइ अलंघणिज्जो कम्मसमत्थो य जिणदि य ते ॥१६७६॥

'अह कवचेण' यथा कवचं । 'अभिज्जेण' अभेद्येन । 'कवचिओ' सन्तद्धः । 'रणमुहे सत्तूणयलंघिणो

गा०—इस प्रकार उपदेश द्वारा समझानेपर वह क्षपक पूर्वमे हुए संकलेशरूप परिणामोसे
अपनेको हटाकर अपने दुःख इस प्रकार देखता है, मानो वह दुःख उसके शरीरमें नहीं है किन्तु
किसी दूसरेके शरीरमें है ॥१६७३॥

गा०—टी०—महान् ऐश्वर्यशाली राजा आदिको उस क्षपकके पास लाकर भी उस अभि-
मानीको मानदान देकर उसका कवच (रक्षाका उपाय) करना चाहिये । उन्हे देख वह विचारता
है कि मेरी सहनशीलताको देखनेके लिये ये बड़े-बड़े ऐश्वर्यशाली आये हुए हैं । इनके सामने भले
ही मेरे प्राण जाये तो चले जायें । तथापि मैं अपनी मनस्विताको नहीं छोडूँगा । इस प्रकार वह
मानप्रेमी दुःख सहता है किन्तु व्रतभंग नहीं करता ॥१६७४॥

गा०—इस प्रकार जिनमतमे कवचका औत्सगिक अर्थात् सामान्य स्वरूप कहा है । मृत्यु
निकट होनेपर आगवादि क अर्थात् विशेषरूप भी कवच करना चाहिये ॥१६७५॥

विशेषार्थ—जिसका मरण अभी दूर है उसके लिये सामान्यरूपसे ऊपर कवचका कथन
किया है । यहाँ निकट मरण वालेके लिये अपवादरूप विशेष कवचका कथन किया है । जिसका
अभिप्राय यह है कि तत्काल उत्पन्न हुए ध्यानमें विघ्न डालने वाले भूख आदिके दुःखको दूर
करनेके लिये यथायोग्य प्रयोग करना चाहिये ।

गा०—जैसे अमेध कवचके द्वारा सुरक्षित बौद्ध युद्धभूमिमें शत्रुओंके वशमें नहीं आता ।
तथा शत्रुपर प्रहार करनेमें समर्थ होता है और इस प्रकार शत्रुओंको जीत लेता है ॥१६७६॥

होति' रथमुखे मनुष्यात्मन्धो जयति । 'अन्वन्त्यन्धो व' प्रहरणादिक्रियासमर्थः । 'जिष्णुश्च व' जयति च तान्परीन् ॥१६७६॥

एवं खड्गो कवचेन कवचिजो तद् परीसहरिऊर्ण ।

जायद् अलंघयिञ्जो ज्ञानसमत्तो य जिष्णुश्च य ते ॥१६७७॥

'एवं खड्गो' एवं क्षपकः कवचेनोपमूहीतः परीसहारिनिर्णं श्रुत्ये, ध्यानसमर्थो जयति च तान्परीन्-हारीन् ॥कवचुति ॥१६७७॥

एवं अधियासंतो सम्मं खड्गो परीसहे एदे ।

सम्बन्ध अपडिबद्धो उवेदि सम्बन्ध समभावं ॥१६७८॥

'एवं अधियासंतो' एवं सहयानः सम्यक्परीसहानेतान् । सर्वत्राप्रतिबद्धः शरीरे, वसती, गणे, परिचारकेषु च सर्वत्रोपेति समचित्तताम् ॥१६७८॥

सन्धेसु दण्डपञ्जयविधीसु जिष्ण्वं ममसिदो विजडो ।

जिष्ण्णयदोसमोहो उवेदि सम्बन्ध समभावं ॥१६७९॥

'सन्धेसु' सर्वेषु इत्यपर्यायिकल्पेषु नित्यं परित्यक्तमतादोषः मयेवं सुखसाधनं मदीयं इति वा । 'जिष्ण्णयदोसमोहो' निस्नेहो, निर्दोषो, निर्मोहः सर्वत्र समतामुपेति ॥१६७९॥

संयोगविष्णुओगेसु जइदि इहेसु वा जणिहेसु ।

रदि अरदि उस्तुगणं हरिसं दीणत्तणं च तहा ॥१६८०॥

संयोगे रति, विप्रयोगे अरति, इष्टे वस्तुन्युक्त्यां, इष्टयोगे 'रति' रति, हर्षं, इष्टविप्रयोगे अरति दीनतां । 'उस्तुगणं' उस्तुकरतां च तथा 'जहति' अहाति क्षपकः कवचेनोपमूहीतः ॥१६८०॥

भा०—उसी प्रकार कवचसे सुरक्षित क्षपक परीसह आदिके वज्रमे नहीं आता । तथा ध्यान करनेमें समर्थ होता है और उन परीसहरूपी गनुओंको जीत लेता है ॥१६७७॥

भा०—इस प्रकार इन तत्काल उपस्थित हुई परीसहोंको सम्यक् रूपसे सहन करता हुआ क्षपक सर्वत्र शरीर, वसति, संघ और परिचर्या करनेवालोंमें अप्रतिबद्ध होता है—ये मेरे हैं मैं इनका हूँ ऐसा संकल्प नहीं करता । तथा सर्वत्र जीवन मरण आदिमें समभावको—रागद्वेषसे रहितताको प्राप्त होता है ॥१६७८॥

भा०—द्रव्य और पर्यायके समस्त भेदोंमें नित्य ममता दोषको त्याग स्नेह रहित, दोष रहित और मोहरहित होकर सर्वत्र समभावको प्राप्त होता है अर्थात् समस्त द्रव्यों और पर्यायोंमें 'ये मेरे सुखके साधन हैं' इस प्रकारका ममत्व भाव नहीं रखता । किन्तु सबमें समभाव रखता है । न किसीसे प्रीति करता है और न किसीसे द्वेष करता है ॥१६७९॥

भा०—कवचसे उपकृत हुआ क्षपक संयोगमें रति, वियोगमें अरति, इष्ट वस्तुमें उत्कण्ठ, इष्ट वस्तुके संयोगमें रति तथा हर्ष और इष्ट वस्तुके वियोगमें अरति तथा दीनता नहीं करता ॥१६८०॥

मिसे सुयनादीसु य सिस्से साधम्मिय इत्थे वानि ।

रागं वा दोसं वा पुब्बं अथपि सी जहइ ॥१६८१॥

'मिसे सुयनादीसु य' मिसेयु बन्धुयु वा । सिस्सेयु य सधम्मिय कुले वा पुर्वं जात रागद्वेष बाधौ जहाति ॥१६८१॥

भोगेसु देवमाणुस्समेसु न करेइ पत्तणं खवजो ।

मग्गो विराधणाए भग्गिओ विसयाभिलासोचि ॥१६८२॥

'भोगेसु देवमाणुस्समेसु' देवमानवयोश्चरभोगप्रार्थना न करोति क्षपको व्यावर्तिकवचोपगृहीत । विषयभिलाषो मुक्तिमार्गविराधनाया मूलमिति ज्ञात्वा ॥१६८२॥

इद्वेसु अणिद्वेसु य सहकरिससररुवगंवेसु ।

इहपरलोए जीविदमग्गे याणावमाणे य ॥१६८३॥

सव्वत्थ णिव्विसेसो होदि तदो रागरोसरहदप्पा ।

खवयस्स रागदोसा हु उत्तमद्दु विजासंति ॥१६८४॥

स्पष्ट उत्तरगाथाद्वयम् ॥१६८३॥१६८४॥

विज्ञेयार्थ—इष्ट वस्तुके मिलनेपर या अनिष्ट वस्तुके विच्छेदनेपर चित्तमे प्रसन्नता होना, अनिष्टका सयोग अथवा इष्टका वियोग होनेपर अरति अर्थात् चित्तका दुःखी होना, इष्ट वस्तुमे उत्कण्ठा होना—यदि मुख अमुक वस्तु मिल जाये तो अण्छा हो इस प्रकार हृदयमे उत्कण्ठा होना हर्ष अर्थात् इष्टका सयोग होनेपर रोमाच, मुखकी प्रसन्नता आदिसे जानन्द व्यक्त होना, तथा इष्टका वियोग होनेपर मुखकी विरूपतासे विषाद व्यक्त होना, ये सब कवचसे उपगृहीत क्षपक छोड़ देता है ।

गा०—अथवा कवचसे उपगृहीत वह क्षपक मित्रोमे, बन्धुबान्धवोमे शिष्योमे माधर्मो जनोमे और कुलमे, पूर्वमे उत्पन्न हुए रागद्वेषको छाड़ देता है अर्थात् ममाधि स्वीकार करनेसे पूर्वमे या दीक्षा ग्रहण करनेसे पूर्वमे जो रागद्वेष उत्पन्न हुआ है उसे दूर करता है साध ही आगे भी रागद्वेष नहीं करता ॥१६८१॥

पा०—तथा ऊपर कहे गये कवचसे उपग्रहीत क्षपक यह जानकर कि विषयाकी अभिलाषा मोक्षमार्गकी विराधनाका मूल है, देव और मनुष्य सम्बन्धी भोगोकी प्रार्थना नहीं करता ॥१६८२॥

पा०—टी०—कवचसे उपगृहीत होनेसे क्षपक इष्ट अनिष्ट शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धमे इस लोक और परलोकमे, जीबन और मरणमे, मान और अपमानमे सर्वत्र इष्ट अनिष्ट विकल्पसे मुक्त और रागद्वेषसे रहित होता है । क्योंकि क्षपकके रागद्वेष उत्तमार्थ अर्थात् ग्लानय, सम्यक् ध्यान और समाधिमरणको मष्ट कर देते हैं ॥१६८३-१६८४॥

१ विराधेति मु० ।

होति' रचयित्वा अनुकामार्थं भवति । 'कल्पतन्त्रयो व' ग्रहरणाधिक्रियासमर्थः । 'विषदि व ते' भवति च तानरीम् ॥१६७६॥

एवं स्ववज्रो कवचेन कवचिजो तद् परीषहरिऊर्णं ।

जायद् अलंघयिज्जो ज्ञानसमत्थो य जिणदि य ते ॥१६७७॥

'एवं स्ववज्रो' एवं क्षपकः कवचेनोपग्रहीतः परीषहारिभिर्न मुच्यते, ध्यानसमर्थो भवति च ताम्परीष-
हारीम् ॥कवचुति ॥१६७७॥

एवं अघियासंतो सम्मं स्ववज्रो परीसहे एदे ।

सम्बत्थ अपडिबद्धो उवेदि सम्बत्थ समभावं ॥१६७८॥

'एवं अघियासंतो' एवं सहयानः सम्यक्परीषहानेतान् । सर्वत्राप्रतिबद्धः शरीरे, वसती, गणे,
परिचारकेषु च सर्वत्रोपेति समचितताम् ॥१६७८॥

सम्बेसु द्रव्यपञ्चयविधीसु जिञ्चं ममत्तिदो विजडो ।

जिण्णयदोसमोहो उवेदि सम्बत्थ समभावं ॥१६७९॥

'सम्बेसु' सर्वेषु द्रव्यपर्यायविकल्पेषु नित्यं परित्यक्तममतादोषः भवेदं सुखसाधनं मदीयं इति वा ।
'जिण्णयदोसमोहो' निस्नेहो, निर्दोषो, निर्माहः सर्वत्र समतामुपैति ॥१६७९॥

संजोगविप्पयोगेसु जहदि इहेसु वा अणिहेसु ।

रदि अरदि उस्सुगत्तं हरिसं दीणत्तणं च तहा ॥१६८०॥

सयोगे रति, विप्रयोगे अरति, इष्टे वस्तुमुत्कण्ठा, इष्टयोगे 'रदि' रति, हर्ष, इष्टविप्रयोगे अरति
दीनता । 'उस्सुगत्तं' उत्सुकता च तथा 'अहति' जहाति क्षपकः कवचेनोपग्रहीतः ॥१६८०॥

गा०—उसी प्रकार कवचसे सुरक्षित क्षपक परीषह आदिके वशमें नहीं आता । तथा
ध्यान करनेमें समर्थ होता है और उन परीषहरूपी शत्रुओंको जीत लेता है ॥१६७७॥

गा०—इस प्रकार इन तत्काल उपस्थित हुई परीषहोंको सम्यक् रूपसे सहन करता हुआ
क्षपकः सर्वत्र शरीर, वसति, संघ और परिचर्या करनेवालोंमें अप्रतिबद्ध होता है—ये मेरे हैं मैं
इनका हूँ ऐसा संकल्प नहीं करता । तथा सर्वत्र जीवन मरण आदिमें समभावको—रागद्वेषसे
रहितताको प्राप्त होता है ॥१६७८॥

गा०—द्रव्य और पर्यायिके समस्त भेदोंमें नित्य ममता दोषको त्याग स्नेह रहित, दोष
रहित और मोहरहित होकर सर्वत्र समभावको प्राप्त होता है अर्थात् समस्त द्रव्यों और पर्यायोंमें
'ये मेरे सुखके साधन हैं' इस प्रकारका ममत्व भाव नहीं रखता । किन्तु सबमें समभाव रखता
है । न किसीसे प्रीति करता है और न किसीसे द्वेष करता है ॥१६७९॥

गा०—कवचसे उपकृत हुआ क्षपक संयोगमें रति, वियोगमें अरति, इष्ट वस्तुमें उत्कण्ठा,
इष्ट वस्तुके संयोगमें रति तथा हर्ष और इष्ट वस्तुके वियोगमें अरति तथा दीनता नहीं
करता ॥१६८०॥

मित्रे सुयजादीसु य सिस्से साचम्मिए कुले चापि ।

रागं वा दोसं वा पुष्वं जार्यपि सो जहइ ॥१६८१॥

'मित्रे सुयजादीसु य' मित्रेषु बन्धुषु वा । मित्रेषु च सचर्मणि कुले वा पूर्व जात रागद्वेषं वाही जहाति ॥१६८१॥

भोगेसु देवमाणुस्सगेसु ज करेइ पत्त्वणं खवओ ।

मग्गो विराघणाय अण्णो विसयाभिलासोत्ति ॥१६८२॥

'भोगेसु देवमाणुस्सगेसु' देवमानवयोचरभोगप्रार्थनां न करोति क्षपक व्यावधिकवचोपगृहीतः । विषयाभिलाषो मुक्तिमार्गविराघनाया मूलमिति ज्ञात्वा ॥१६८२॥

इत्थेसु अण्णित्थेसु च सद्धरिसरसरूवगंघेसु ।

इहपरलोए जीविदमरणे माणावमाणे च ॥१६८३॥

सव्वत्थ णिव्विसेसो होदि तदो रागरोसरहिदप्पा ।

खवयस्म रागदोसा हु उत्तमद्धं वि'णासंति ॥१६८४॥

स्पष्ट उत्तरमापादय। ११६८३॥१६८४॥

विशेषार्थ—इष्ट वस्तुके मिलनेपर या अनिष्ट वस्तुके विच्छेदनेपर चित्तमें प्रसन्नता होना, अनिष्टका संयोग अथवा इष्टका वियोग होनेपर अरति अर्थात् चिन्तका दुःखो होना, इष्ट वस्तुमें उत्कण्ठ होना—यदि मुझे अमुक वस्तु मिल जाये तो अच्छा ही इस प्रकार हृदयमें उत्कण्ठ होना, हर्ष अर्थात् इष्टका संयोग होनेपर रोमांच, मुखकी प्रसन्नता आदिसे आनन्द व्यक्त होना, तथा इष्टका वियोग होनेपर मुखकी विरूपतासे विषाद व्यक्त होना, ये सब कवचसे उपगृहीत क्षपक छोड़ देता है ।

गा०—अथवा कवचसे उपगृहीत वह क्षपक मित्रोंमें, बन्धुबान्धवोंमें, शिष्योंमें साधर्मि जनोमें और कुलमें, पूर्वमें उत्पन्न हुए रागद्वेषको छोड़ देता है अर्थात् समाधि स्वीकार करनेसे पूर्वमें या दोषा ग्रहण करनेसे पूर्वमें जो रागद्वेष उत्पन्न हुआ है उसे दूर करता है साथ ही आगे भी रागद्वेष नहीं करता ॥१६८१॥

बा०—तथा ऊपर कहे गये कवचसे उपगृहीत क्षपक यह जानकर कि विषयोकी अभिलाषा मोक्षमार्गकी विराघनाका मूल है, देव और मनुष्य सम्बन्धी भोगोंकी प्राथना नहीं करता ॥१६८२॥

गा०-टी०—कवचसे उपगृहीत होनेसे क्षपक इष्ट अनिष्ट शब्द, स्वर्ग, रस, रूप और गन्धमें, इस लोक और परलोकमें, जीवन और मरणमें, मान और अपमानमें सर्वत्र इष्ट अनिष्ट विकल्पसे मुक्त और रागद्वेषसे रहित होता है । क्योंकि क्षपकके रागद्वेष उत्तमार्थ अर्थात् रत्नत्रय, सम्यक् ध्यान और समाधिमरणको नष्ट कर देते हैं ॥१६८३-१६८४॥

जादि वि य से चरिमते सद्दीरदि मारणलियमसायं ।

सो तह वि असंमूढो उवेदि सब्बत्थ समभावं ॥१६८५॥

'जबि वि य से' यद्यपि तस्य क्षपकस्य चरमकालान्ते मारणात्मिकं दुःखं भवेत् सो कवचनोपगृहीत क्षपकः तथापि असंमूढ समभावं सर्वत्रोपैति ॥१६८५॥

एवं सुभाविदप्पा विहरइ सो जाबचीरियं काये ।

उ'ड्डाणे संवेसणे सयणे वा अपरिदंतो ॥१६८६॥

'एवं सुभाविदप्पा' नियमकेन सूरिणा गदितोर्थ एवमित्युच्यते । तेन सम्यग्भावितचित्तः सन्निहरदि प्रवर्तते अपरिधान्तः । 'जाबचीरियं काये' यावच्छरीरे बलमस्ति उत्थाने, शयने आसने वा ॥१६८६॥

जाहे शरीरचेड्डा विगदत्थामस्स से यदणुभूदा ।

देहादि वि ओसग्गं सच्चत्तो कुणइ णिरवेक्खो ॥१६८७॥

'जाहे शरीरचेड्डा' यदा शरीरचेष्टा विगतबलस्य तस्य स्वल्पा जाता, तदा शरीरादुत्पन्नं करोति सर्वतो मनोवाक्कार्यनिरपेक्षः ॥१६८७॥

तदेवं शरीरादिकं त्याज्यमुत्तरगाथया वर्णयति—

सेज्जा संधारं पाणयं च उवधिं तहा शरीरं च ।

विज्जावच्चकरा वि य बोसरइ समचमारूढो ॥१६८८॥

'सेज्जा' वसति । संस्तरं तुणादिकं, पानं पिच्छ, शरीरं च वैयाकृत्यकराश्च व्युत्सुजति । 'समसमारूढो' समाप्तं संपूर्णं रत्नत्रयमारूढः ॥१६८८॥

शा०—यद्यपि उस क्षपकको अन्तिम समयमें मरण प्राप्त होनेतक दुःख होता है तथापि वह कवचसे उपगृहीत क्षपक शरीरसे भी मोह न रखता हुआ सर्वत्र समभाव धारण करता है ॥१६८५॥

शा०—इस प्रकार नियमिकाचार्यके द्वारा कहे गये पदार्थ स्वरूपसे अपने चित्तको सम्यक् रूपसे भावित करके वह क्षपक जबतक शरीरमें शक्ति रहती है तबतक बिना थके उठने बैठने और सोनेमें स्वयं प्रवृत्ति करता है ॥१६८६॥

शा०—जब शक्तिहीन होनेपर उसकी शारीरिक चेष्टा मन्द पड़ जाती है तब वह मन वचन कायसे निरपेक्ष होकर शरीरका भी त्याग करता है ॥१६८७॥

आगेकी गाथासे शरीर आदिको त्याज्य बतलाते हैं—

शा०—सम्पूर्ण रत्नत्रयमें आरूढ हुआ वह क्षपक वसति, तुणादि रूप संस्तर, पानक, पिच्छी, शरीर तथा वैयाकृत्य करनेवालोंका भी त्याग कर देता है अर्थात् उन सबसे भी निरपेक्ष हो जाता है ॥१६८८॥

१. उद्वेगो सयणे वा णिसीयणे —आ० म० ।

अवहङ्ग कायजोगे व विष्यजोगे य तत्त्व सो सत्त्वे ।

सुद्धे मण्यजोगे होइ भिरुद्धज्जवसियप्पा ॥१६८९॥

'अवहङ्गकायजोगे' वाग्योगान्काययोगाश्च सर्वाभिरुद्धस्य जसावच मनोयोगे सुद्धे स्थितो भवति । विषयान्तरसंचारान्निवृद्धं अध्यक्षसितं च आत्मरूपं ज्ञानारूपं यस्य सः ॥१६८९॥

एवं सच्चत्त्वेषु वि समभावं उवगओ विमुद्धप्पा ।

मिची करुणं सुद्धिदुक्खवेक्ख खवओ पुण उवेदि ॥१६९०॥

'एवं सच्चत्त्वेषु वि' एवं सर्ववस्तुषु समतापरिणाममुपगतो विगुद्धचित्तः, मंत्री, करुणां, मुदितामुपेक्षा च पक्वचातुर्वैति क्षापकः ॥१६९०॥

मंत्रीप्रभृतीनां चिन्तानां विषयमुपदर्शयति—

जीवेषु मिचिचिन्ता मेची करुणा य होइ अणुकंपा ।

सुद्धिदा जदिगुणचिन्ता सुद्धदुक्खधियात्तणसुवेक्खा ॥१६९१॥

'जीवेषु मिचिचिन्ता' अनन्तकालं चतसृषु गतिषु परिभ्रमतो घटीयन्त्रत्वसर्वं प्राणभृतांर्जप बहुधा कृत-महोपकारा इति तेषु मित्रताचिन्ता मंत्री । 'करुणा य होइ अणुकंपा' शारीर, आगन्तुक मानस स्वाभाविक च दुःखमसह्यामानुषानो वृष्टवा हा वराका मिष्यादर्शनेनाविरत्या कषायेशाशुभेन योगेन च समुपाजिताशुभकर्म-पर्यायिपुद्गलस्कन्धतदुदयोद्भवा विषयो विवक्षा. प्राणुवन्ति इति करुणा अनुकम्पा । मुदिता नाम यतिगुणचिन्ता यतयो हि विनीता, विरागा, विभया, विमाना, विरोधा, विलोभा इत्यादिकाः । मुखे अरागा दुःखे वा अद्वेषा उपेक्षेत्युच्यते ॥१६९१॥ समता गता ।

शा०—वह सब काययोगों और वचनयोगोंको दूरकर सुद्ध मनोयोगमें स्थिर होता है । क्योंकि वह अपने ज्ञानरूप आत्माको युक्ति और तर्क वितर्कसे निश्चित करके उसे अन्य विषयोंमें जानेसे रोकता है ॥१६८९॥

शा०—इस प्रकार सब वस्तुओंमें समताभाव धारण करके वह क्षापक निर्मल चित्त हो जाता है । फिर मंत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा भावनाको अपनाता है ॥१६९०॥

मंत्री आदि भावनाओंको कहते हैं—

शा०—टी०—अनन्तकाल चारो गतियोंमें भ्रमण करते हुए घटीयत्रकी तरह सभी प्राणियोंमें मेरा बहुत उपकार किया है अतः उनमें मित्रताकी भावना होना मंत्री है । असह्य शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक दुःखको भोगते हुए प्राणियोंको देखकर, अरे बेचारे मिथ्या-दर्शन, अविरति, कषाय और अशुभ योगमें उपाजित अशुभ कर्मरूप पुद्गल स्कन्धोंके उदयसे उत्पन्न हुई विषदाओंको विवक्ष होकर भोगते हैं । इस प्रकारके भावको करुणा या अनुकंपा कहते हैं । यतियोंके गुणोंके चिन्तनको मुदिता कहते हैं । यतिगण विनयी, रागरहित, भयरहित, मान-रहित, रोषरहित और लोभरहित होते हैं इत्यादि चिन्तन मुदिता है । सुखमें राग और दुःखमें द्वेष न करना उपेक्षा है ॥१६९१॥

दंसज्जाणपरिचं तवं च विरियं समाधिजोगं च ।

तिथिहेतुवसंपज्जिय सञ्चुवरिण्ठं कम्मं कुणइ ॥१६९२॥

'दंसज्जाणपरिचं तवं विरियं समाधिजोगं च' तत्त्वश्रद्धानं तत्त्वावगमं, बीतरागतां, अमनस्याग-
क्रियां, स्वसक्त्याजनिग्रहणं चित्तकाप्रयोगं । 'तिथिहेतुवसंपज्जिय' मनोबाधकार्यैः प्रतिपद्य । 'सञ्चुवरिण्ठं'
सर्वभ्यः पूर्वप्रवृत्तवर्शनादिपरिणामेभ्योऽतिशयितं कर्म 'कुणवि' कर्मं वर्शनादिवपन्त्यासं करोति ॥१६९२॥

शुभध्यानमावस्थतः परिकरमापष्टे—

जिदरागो जिददोसो जिदिदिओ जिदमओ जिदकसाओ ।

अरदिरदिभोहमहणो ज्जाणोवगओ सदा होहि ॥१६९३॥

'जिदरागो' स्वतो व्यतिरिक्तेषु जीवाजीवद्रव्येषु तेषां पर्यायेषु रूपरसगन्धस्पर्शाशब्दाद्व्येषु विचित्रमेवेषु
तत्संस्थानादिषु च यो राग स जितो येन सोऽभिधीयते । तथा मनोनेषु याऽशीतिः स दोष उच्यते स च
जितो येन स जितदोषः ।

"नेहृत्तुपिबनसस्त रेणुयो लम्बे ज्जा भणे ।

तह रागधीसभेहोस्सिद्धस "कम्मासयो होवि ॥" [मूलाचार २३६] इति ।

जिनवचनाविगमाद्दू.क्षत्रीर्यति सर्वदुःखानां मूलकारणभूतो रागद्वेषाविति मनसा विनिश्चित्य

शा०—टी०—दर्शनं अर्थात् तत्त्वश्रद्धानं, तत्त्वज्ञानं और चारित्र्य अर्थात् बीतरागता, तप
अर्थात् भोजनका त्याग, वीर्यं अर्थात् अपनी शक्तिको न छिपाना, तथा समाधियोग अर्थात् चित्रकी
एकाग्रता, इन सबको मन बचन कायसे प्राप्त करके क्षणक पूर्वके दर्शन आदिसे विशिष्ट दर्शन
आदिमे पग धरता है ॥१६९२॥

विशेषार्थ—मैत्री आदि भावनाके बलसे व्यवहार मोक्षमार्गको प्राप्त करके क्षणक परमार्थ
मुक्तिमार्गपर चलनेका प्रयत्न करता है यह इस गाथाके द्वारा कहा है । यह शुभतम ध्यानके लिये
प्रयत्नका प्रारम्भ है ॥१६९२॥

आगे शुभध्यानको सामग्री कहते हैं—

शा०—जो जितराग, जितद्वेष, जितेन्द्रिय, जितभय, जितकषाय आर अरास रति तथा
मोहका मथन करता है वह सदा ध्यानमें लीन रहता है ।

टी०—अपनेसे भिन्न जीव अजीव द्रव्योंमें, रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द रूप उनकी
पर्यायोंमें तथा अनेक भेदवाले उनके आकारादिमें जो रागको जीतता है उसे जितराग कहते हैं ।
तथा अमनोक्ष वस्तुओंमें प्रीतिका अभाव दोष है । जिसने उसे जीत लिया वह जितदोष है ।
'जैसे जिसका शरीर तेलसे लिप्त होता है उसके शरीरमें धूल लगती है । उसी प्रकार जो राग
द्वेष और स्नेहसे लिप्त होता है उसके कर्मोंका आस्रव हो । है ।'

इस जिनागमको जानकर दुःखसे भीत यति 'सत्र दुःखोंका मूल कारण रागद्वेष है ऐसा

यस्तपोर्न विपरिणमते मोर्जिधीयते जितरागद्वेषः इति । तस्योपायो जितेन्द्रियतेन्याचष्टः--जह जिदित्विदो इति वाचनशेषे कृत्वा सम्बन्धः । 'जिदित्विदो' इन्द्रियशब्देन व्याघ्रात्मन्वनुपयोगः परिगृह्यते न जितो येन स उच्यते जितेन्द्रिय इति । कवमसौ मतिज्ञानोपयोगो जेतुं शक्यते इति चेत् श्रुतज्ञानोपयोगे एव वृत्तान्तन 'सत्यां, युगपदुपयोगद्रव्यस्यात्मन्येकदा विरोधाद्यप्रवृत्तेः । न च बाह्यद्रव्यात्मन्वनुपयोगेनन्तरेणास्ति संभवां रागद्वेषयोः । संकल्पपुरोगो हि ताविति । 'बिबकसामो' क्षमामार्दवाज्वसंतोषपरिणामनिरस्तकषायपरिणामप्रगरो जितकषाय इत्युच्यते । अरते रतेश्च कर्मण उदये उपजाती रत्यरतिपरिणामी, मोहां, मिथ्याज्ञानं च मन्मथज्ञानभावनाया मध्नाति यः स भण्यते 'अरतिरविभोहनचषो' । एवं निरस्तध्यानप्रतिपक्षपरिणाम । 'व्याघ्रात्मनयो होवि ध्यानाख्यं परिणाममाश्रितो भवति । न हि रागादिभिर्याकुलीकृतस्य अर्थाभावात्प्रत्याहि भवति विज्ञानं अविचलं च नावतिष्ठते । अविचलमेव वस्तुनिष्ठं ज्ञानं ध्यानमिष्यते ॥१६९३॥

धम्मं चतुप्पयारं सुक्कं च चतुष्विधं किल्लेसहरं ।

संसारदुक्खभीओ दुण्णि वि ज्जाणाणि सो ज्जादि ॥१६०४॥

'धम्मं चतुप्पयारं' धर्मध्यान चतुःकारं । धारयति वस्तुनो वस्तुतामिति धर्मं । स्वभावातिशयादेव चेतन्यारिदकाजीवादिक् वस्तु भवति । स्वभावातिशयभावादेव वस्तु भण्यते न स्वविषयादि, तेन धर्मशब्दो

मनसे निश्चित करके राग दोषरूप परिणामन नहीं करता । उस यतिको जितराग द्वेष कहते हैं । उसका उपाय है जितेन्द्रिय होना । यहाँ इन्द्रिय शब्दसे रूपादिका आलम्बन लेकर जो उपयोग होता है उसका ग्रहण किया है । उसे जो जीत लेता है वह जितेन्द्रिय है ।

यह जो मतिज्ञानरूप उपयोग है इसको कैसे जीता जा सकता है ? श्रुतज्ञानरूप उपयोगमें ही मनकी प्रवृत्ति होनेपर मतिज्ञानरूप उपयोग जीता जा सकता है । क्योंकि एक साथ एक आत्मानें दो उपयोगोंका विरोध होनेसे दो उपयोगोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती । और जबतक उपयोगका आलम्बन बाह्य द्रव्य न हो जबतक रागद्वेष नहीं हो सकते । क्योंकि रागद्वेष संकल्प-पूर्वक होते हैं । तथा जो क्षमा, मार्दव, आज्ञेव और सन्तोष परिणाममें कषायरूप परिणामोंक प्रसारको निरस्त कर देता है उसे जितन धाय कहते हैं । अरति और रति कर्मका उदय होनेपर उत्पन्न हुए रति और अरतिरूप परिणामोंको और मोह अर्थात् मिथ्याज्ञानको जो मन्मथज्ञानरूप भावनासे मथता है उसे 'अरतिरति मोहमथन' कहते हैं । इस प्रकार जो ध्यानके विरोधी परिणामों को दूर करता है वह ध्यान नामक परिणामको करता है । जो रागादिसे व्याकुल रहता है उसका ज्ञान न तो अर्थके यथार्थस्वरूपको ही ग्रहण करता है और न निश्चल ही रहता है । और वस्तुनिष्ठ निश्चल ज्ञानको ही ध्यान कहते हैं ॥१६९३॥

शा०—धर्मध्यान चार प्रकारका है और शुक्ल ध्यान भी चार प्रकारका है । ये ही ध्यान कहको हुरनेवाले हैं । चतुर्गति परावर्तनरूप संसारमें जो दुःख होते हैं उनसे भीत मुनि धर्म और शुक्लध्यानोंको ध्याता है ॥१६९४॥

टी०—जो वस्तुकी वस्तुताको धारण करता है उसे धर्म कहते हैं । चैतन्य आदिरूप स्वभावके अतिशयसे ही जीवादि वस्तु होती है । स्वभावरूप अतिशयके होनेसे ही वस्तु कहलाती

वस्तुस्वभाववाची। धर्माद्वस्तुस्वभावानपेतमिति धर्म्यमित्युच्यते। यद्येवमातद्विरपि धर्मादनपेतत्वमस्ति। सम्प्रयुक्तमनोऽवस्तुवियोगं, वियुक्तमनोऽवस्तुवियोगं, रोगात्क्वादिप्रखण्डनं, अभिमतप्राप्तिं च धर्ममाधित्य प्रवर्तमानत्वाद्धार्यनपेततेति। नैव दोषः विवक्षितधर्मविशेषवृत्तिर्धर्मशब्दः। अत एव आज्ञापायविपाकसंस्थानमित्यादिकैर्धर्मध्वैरनपेतत्वात्तद्विधानमाज्ञाविचयाविसंज्ञामिष्यते। ध्येयं ज्ञेयवस्तुस्वरूपं तदविनाभावि च ज्ञानं ध्यानमिति संगतार्थं व्याख्येयं। अन्ये तु व्याख्यते—क्षमामार्दवाचंवाविकाद्धार्यनपेतत्वाद्धार्यं इति। ननु च ध्यानं ध्येयाविनाभावि न च क्षमादयो धर्मा ध्येया येन तदनपेतत्वमुच्यते। अथ क्षमादिको यथाविधो धर्मो ध्येयस्तत्समादनपेतत्वात्प्रवृत्तः 'आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यमिति सूत्रं' न युज्यते। उत्तम-अमादिधर्मपरिणतादारमनोऽनपेतत्वात् धर्मादनपेततेति धर्म्यमित्युच्यत इति चेत् शुक्लस्यापि धर्मनपेतत्वाद्धार्यं ध्यानता स्यादत्रोच्यते—रुद्धिशब्देयु क्वचित्संभाविनी क्रियामाधित्य शब्दव्युत्पत्तिमात्रं क्रियते। न सा क्रिया तन्त्रं आशुगमनादभव इति व्युत्पाद्यमानः स्थिते स्यिते च प्रवर्तते न चाशुयान्पित्यं वैनतेयादौ प्रवर्तते। तद्विहापि शुक्ले न धर्मशब्दो वर्तते। धर्मादन्यत्राप्याज्ञादौ वर्तते। अथ किं ध्यानं, 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्ता-

है। इसीसे गधेके सीग नामकी कोई वस्तु नहीं है। अतः धर्म शब्द वस्तुस्वभावका वाचक है। धर्म अर्थात् वस्तु स्वभावसे जो सहित है उसे धर्म्य कहते हैं।

शंका—यदि ऐसा है तो आर्तध्यान आदि भी धर्मसे सहित है। क्योंकि प्राप्त अनिष्ट वस्तुके वियोग, वियुक्त इष्ट वस्तुके संयोग, रोग आदिकी शान्ति और इष्टकी प्राप्ति आदि धर्मको लेकर आर्तध्यान होता है अतः वह भी धर्मसे युक्त होनेसे धर्मध्यान कहा जाना चाहिये ?

समाधान—यह दोष ठीक नहीं है। यहाँ धर्म शब्द विवक्षित धर्मविशेषको कहता है। अतः आज्ञा, अपाय, विपाक, संस्थान आदि धर्म जिन्मे ध्येय होते है उस ध्यानको आज्ञाविचय आदि नामोंसे कहा जाता है। अन्य कुछ आचार्य क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि धर्मोंसे युक्त होनेसे धर्म्य कहते हैं।

शंका०—ध्यान ध्येयका अविनाभावी है। ध्येयके विना ध्यान नहीं होता। किन्तु क्षमा आदि धर्म ध्येय नहीं है अतः उनसे युक्त ध्यानको धर्म्य नहीं कह सकते। यदि क्षमा आदि दस प्रकारका धर्म ध्येय है और उससे सहित ध्यान धर्म्य है तो वह ध्यान अन्यत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता। तत्र तत्त्वार्थ सूत्रमें जो कहा है कि आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थानका चिन्तन धर्म्यध्यान है वह नहीं बनता; क्योंकि आत्मा तो उत्तम क्षमा आदि धर्मरूपसे परिणत होनेसे उनसे सहित ही है। वह उनसे हटकर अन्यमे प्रवृत्त होता नहीं। यदि कहोगे कि धर्मसे युक्तताका नाम धर्म्य है तो शुक्लध्यान भी धर्मसे युक्त होनेसे धर्म्यध्यान कहलायेगा।

समाधान—रुद्धिशब्दोंमें कहीपर होनेवाली क्रियाको लेकर शब्दकी मात्र व्युत्पत्ति की जाती है किन्तु वह क्रिया सिद्धान्तरूप नहीं होती। जैसे आशु-शीघ्र गमन करनेसे अश्व शब्द निष्पन्न होता है। किन्तु जब वह घोड़ा बँडा होता है या सीता है तब भी उसे अश्व (घोडा) ही कहते हैं। तथा गरुड बगैर तेज चलते हैं किन्तु उन्हें अश्व नहीं कहते। उसी तरह यहाँ भी धर्म शब्दसे शुक्लध्यान नहीं कहा जाता। तथा उत्तम क्षमा आदि धर्मोंसे भिन्न आज्ञाविचय आदिको धर्म्य कहा जाता है।

शंका—ध्यान किसे कहते हैं ?

समाधान—तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है उत्तम संहनन वालेके एकाग्रचिन्ता निरोधको ध्यान

निरोधो ध्यानम् [त० सू० १।२७] इति चेत् वदन्तु संहननेष्वाद्यं चित्तं संहननं च वञ्चयित्वाभनाराचसंहननं, वञ्चनाराचसंहननं, नाराचसंहननमिति । तेषु त्रिषु एकं संहननं यस्य स उत्तमसंहननस्तस्य एकग्रं मुखमस्येत्येकाग्रं यद्विचिन्तानिरोधः स ध्यानमित्युच्यते । ननु चिन्तानिरोधं चिन्ताया अभावस्तस्य का एकमुखता, कथं वा कर्मणा भावे अभावे च निमित्तता । आर्तरीद्रयोरक्षुभकर्मनिमित्ततया । इतरयोस्तु शुभकर्मणा निमित्तता निर्जरायाश्च हेतुतेष्टा । अत्रोच्यते—न निरोधशब्दोऽत्राभाववाची किंतु रोधवचनो यथा मूत्रनिरोध इति । ननु च परिस्पन्दवतो निरोधो भवति । चिन्तायास्तु को निरोध इत्यत्रोच्यते । 'कैवल्यवर्धनि' नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती तस्या एकस्मिन्मग्न नियमद्विचिन्तानिरोध इति त इदं प्रष्टव्या । नानार्थाश्रया चिन्ता सा कथमेकग्रैव प्रवर्तते ? एकग्रैव चेत् प्रवृत्ता नानार्थावलम्बनं परिस्पन्दं नासादयतीति निरोधवाचो युक्तिरसंगता, 'तस्माद्विषयव ध्यात्वानं चिन्ताशब्देन चैतन्यमुच्यते तच्च चैतन्यमन्यमन्यं वार्धनमवगच्छता ज्ञानपर्यायकमेव वर्तते' इति परिस्पन्दवत्तस्य निरोधो नाम एकग्रैव विषये प्रवृत्तस्तथा हि य एकग्रैव वर्तते स तत्र निरुद्ध इति भ्रम्यते । उत्तमसंहननप्रयोगाद्येवार्तरीद्रयोरनुत्तमसंहननेषु तिर्यङ्मानवेषु प्रवृत्तिर्न स्यात् । तेन तद्व्यपानावलम्बनो गतिविभागी न स्यात्तेषामनुभवविरोधश्चेदानीत्तमानामपि तयोर्बृते सुशान्तरविरोधश्च "तद्विचिन्तयेन्न-

कहते है । छह संहननोभसे आदिके तीन संहनन वञ्चर्षम नाराच संहनन, वञ्चनाराच संहनन और नाराच संहनन उत्तम है । इनमेंसे एक संहनन जिसके हो उसे उत्तम संहनन कहते हैं । उसके एक है अग्र अर्थात् मुख जिसका उस एकाग्रमें जो चिन्ताका निरोध है वह ध्यान है ।

शङ्का—चिन्ता निरोधका अर्थ होता है चिन्ताका अभाव । अभाव एक मुख कैसा ? तथा अभाव कर्मों के भाव या अभावमें निमित्त कैसे हो सकता है ? आगममें आर्तध्यान और रीद्रध्यानको अक्षुभ कर्मों के आश्रवबन्धमें निमित्त कहा है । तथा धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानको शुभ कार्यों में निमित्त कहा है तथा निर्जराका भी हेतु कहा है ।

समाधान—चिन्ता निरोधमें निरोध शब्दका अर्थ अभाव नहीं है किन्तु उसका अर्थ है रोकना । जैसे मूत्रनिरोध अर्थात् मूत्रको रोकना ।

शङ्का—जिसमें हलन चलन होता है उसका निरोध होता है चिन्ता का निरोध कैसा ?

समाधान—कुछ आचार्य कहते हैं, नाना अर्थों का अवलम्बन करनेसे चिन्ता हलन चलन रूप होती है । उसको एक विषयमें नियमित करना चिन्ता निरोध है । उनसे यह पूछना है कि जब चिन्ता नाना अर्थों का आश्रय लेनेवाली है तो वह एक ही स्थानमें कैसे रुक सकती है ? यदि वह एक ही स्थानमें रुक सकती है तो नाना अर्थों के अवलम्बन रूप परिस्पन्द वाली नहीं हो सकती । इसलिये उसका निरोध कहना असंगत है । इसलिये चिन्तानिरोधका अर्थ ऐसा करना चाहिये—चिति घातसे चिन्ता शब्द बना है उसीसे चैतन्य भी बना है । अतः चिन्ता शब्दसे यहाँ चैतन्य कहा है । वह चैतन्य अन्य-अन्य पदार्थों को जानते हुए ज्ञानपर्याय रूपसे वर्तन करता है अतः वह परिस्पन्द वाला है । उसका निरोध अर्थात् एक ही विषयमें प्रवृत्ति । क्योंकि जो एक ही विषयमें प्रवृत्ति करता है उसे वही निरुद्ध कहा जाता है ।

शङ्का—ध्यानके लक्षणमें 'उत्तम संहनन' विशेषणका प्रयोग करनेसे अनुत्तम संहननवाले तिर्यङ्चर्षों और मनुष्योंमें आर्तध्यान और रीद्रध्यान नहीं हो सकेंगे । ऐसा होनेसे उन ध्यानोंको लेकर जो गतिका विभाग किया है वह नहीं बनेगा । तथा ऐसा कहना अनुभवसे भी विरुद्ध है

विरक्तमन्त्रसंघतानां" "हितामृतस्तेजोसंश्लेषो रौद्रविरतदेशविरतयो" रिति [त ० सू० १।३५] गुणस्थान-
माभाष्यवेनेन स्वाभिनिर्देशकृतवत् ।

अत्र प्रतिविधायते—निर्जराहेतुतया विकल्पे ध्यानेषु तत्प्रस्तुते युक्तं साक्षात् मुख्यं ध्यानं निर्देष्टुमिति
मन्यमानेन उत्तमसंहननग्रहणं कृतं सूत्रकारेण । यद्येवं आर्तरीद्रधर्म्यशुक्लानीति सूत्रमुत्तरं नोपपद्यते न निर्जरा-
हेतुतास्त्वार्तरीद्रयोरिति । अत्रोच्यते 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रविरतानिरोधो ध्यानमित्येवं सूत्रं' मुख्यं ध्यानं
मुख्यं शुद्धिमुख्यं प्रवृत्तमुत्तरं तु सूत्रव्यार्तरीद्रधर्म्यशुक्लानीत्येतदेकाग्रचिन्तानिरोधसामान्यान्तर्भूतं अनभिमतमपि
ध्यानं निरूपयति । प्रस्तुतस्यैव ध्यानस्य अनभिमतध्यानविकल्परूपमधिगमयितुमर्तः प्रासंगिकयोः आर्त-
रीद्रयोश्चत्तरण्यास इति न दोषः । अथवोत्तमसंहननग्रहणं वीर्यातिशयवत् आत्मन उपलक्षणं, उत्तमसंहननस्य
वीर्यातिशयवदो आत्मनो यदेकवस्तुनिष्ठं ध्यानं तत् ध्यानमिति सूत्रार्थः ॥ 'शुक्लं च चतुर्विधं' शुक्लं च ध्यानं
चतुर्विधं ध्यानं क्लेशहरं संसादुःखभीषः चतुर्गतिपरावर्तनेन यानि दुःखानि तेभ्यो भीतः । 'बोधि वि'
इ 'ज्ञानाधि' ध्याने धर्म्यशुक्ले 'सो' क्षपकः 'ज्ञावि' ध्यायति ॥१६९४॥

अ परीसहेहिं संताविदो वि सो आइ अङ्कुराणि ।

मुद्दुषहाणे मुद्दं पि अङ्कुरा वि णासंति ॥१६९५॥

'अ परीसहेहिं' स क्षपकः 'परिस्तहेहिं' परीसहेः । 'संताविदो वि' वाचितोऽपि 'अङ्कुराणि' आर्तं

क्योंकि आजके मनुष्योंके भी आर्त और रौद्रध्यान होते हैं । तथा उक्त कथनको विरोध अन्य
सूत्रसे भी होता है । क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रमें ही गुणस्थान मात्रका आश्रय लेकर आर्त और
रौद्रध्यानके स्वाभियोंका कथन किया है । यथा—आर्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसयतो
के होता है । रौद्रध्यान अविरत और देशविरतके होता है ।

समाधान—तत्त्वार्थसूत्रकारने नौवें अध्यायमें निर्जराके कारणोंका विवेचन करते हुए
अब ध्यानका वर्णन किया तो 'साक्षात् मुक्तिकारण ध्यानका निर्देश करना उचित है' ऐसा
मानकर ध्यानके लक्षणमें उत्तम संहननपदका ग्रहण किया है ।

'ज्ञांका—यदि ऐसा है तो 'आर्त रौद्र धर्म और शुक्ल' ये चार ध्यान है ऐसा सूत्र नहीं कहना
चाहिये था क्योंकि आर्त रौद्र निर्जराके कारण नहीं है ।

समाधान—'उत्तम संहनन' इत्यादि सूत्र जो मुख्य ध्यान मुक्तिके कारण हैं उनको लक्ष्य
करके रचा गया है । आगेका सूत्र, जिसमें ध्यानके चार भेदोंके नाम गिनाये हैं, एकाग्र चिन्ता
निरोध सामान्यमें अन्तर्भूत सब ध्यानोंको बतलाता है । अर्थात् आर्त रौद्रमें भी ध्यान सामान्यका
लक्षण घटित होता है इसलिये ध्यानके भेदोंमें उनको गिनाया है । यद्यपि वे मोक्षके कारण नहीं
हैं । अतः अनिष्ट ध्यानेसे भिन्न प्रस्तुत धर्म्य शुक्लध्यानोंका ही स्वरूप बतलानेके लिये सूत्रकारने
आर्त और रौद्रध्यानोंका कथन किया है । अथवा उत्तम संहनन पद अतिशय वीर्यशाली आत्माका
उपलक्षण है । उत्तमसंहनन अर्थात् अतिसम वीर्यसे विशिष्ट आत्माके जो एक वस्तुनिष्ठ ध्यान
होता है वही ध्यान है, ऐसा उस सूत्रका अर्थ होता है । संसारसे भीत क्षपक धर्म्य और शुक्ल-
ध्यानोंको ध्याता है ॥१६९४॥

भा०—अह क्षपक परीसहेहिं पीडित होनेपर भी आर्त और रौद्रध्यान नहीं करता । क्योंकि

रीद्रं च 'म श्राद्ध' ना ध्याति । 'शुद्धश्राद्धे' सुष्ठु उपमाने । शुद्धमपि 'अदृष्टश्राद्धि नासति' आर्तरीद्रध्याने नाशयत ॥१६९५॥

अदृष्टे चतुष्पयारे रुहे य चतुर्विधे य जे भेदा ।

ते मध्ये परिजाणदि संचारगजो तजो खवजो ॥१६९६॥

'अदृष्टे चतुष्पयारे' आर्तं चतुःप्रकारे, 'जे भेदा रुहे य चतुर्विधे' ये भेदाः । 'ते मध्ये परिजाणदि' तान् सवन् विजानाति । 'संचारगजो' संस्तरगतः । 'तजो खवजो' अमी क्षपकः । यो यन् परिहरेच्छुस्म कथं तत्तत्त्वतोऽनवबुध्यमानोऽन्यो नियोगतः परिहरेदिच्छेद्' वार्ये आर्तरीद्रं परिहरन् तस्मान्नादभ्ये ते इति वक्ष्यति ॥१६९६॥

अमजुष्णसंपजोगे इष्टिविओए परिस्महणिदाणे ।

अट्टं कसायसहियं ज्ञाणं मणियं समासेण ॥१६९७॥

तेषिवकमोसहिंसारकखणेषु तह खेव छच्चिहारंभे ।

रुहं कमायसहियं ज्ञाणं मणियं समासेण ॥१६९८॥

अवहइ अट्टरुदे महामये सुग्गदीए पच्चूहे ।

धम्मं सुक्के य सदा होदि समण्णागदमदी सो ॥१६९९॥

'अवहइ' अपहृत्य । 'अट्टरुहे' आर्तरीद्रे । महतो भयस्य हेतुत्वान्महाभये । 'सुग्गदीए पच्चूहे' सुगतेविघ्नभूते । 'धम्मं सुक्के वा' धर्म्यं सुक्के वा ध्यानेऽसौ क्षपकः । 'समण्णागदमदी सो होवि' सम्यग्गुणपरत-मतिर्भवति ॥१६९७॥॥१६९८॥॥१६९९॥

आर्तं और रीद्र ध्यान सुष्ठु उपघान अर्थात् संकलेशरहित परिणामोसे, विशुद्ध अर्थात् कर्मोंको निर्जीर्ण करनेको शक्तिसहित भी समीचीन ध्यानको नष्ट कर देते हैं ॥१६९५॥

शा०—आर्तध्यानके जो चार भेद हैं और रीद्रध्यानके जो चार भेद हैं वे सब सस्तरपर आरूढ़ क्षपक जानता है । जो जिसको त्यागना चाहता है वह उसको यदि यथार्थरूपसे नहीं जानता तो कैसे उसका त्याग कर सकता है । अतः क्षपकको आर्तं और रीद्र ध्यानोंका स्वरूप जानना चाहिये । इसलिये उनको भी बतलाते हैं ॥१६९६॥

शा०—अनिष्ट संयोग, इष्टबियोग, परीषह (वेदना) और निदान ये संक्षेपमें कथायसहित आर्तध्यानके चार भेद हैं ॥१६९७॥

शा०—चोरी, झूठ, और हिंसाका रक्षण तथा छह प्रकारके आरम्भको लेकर संक्षेपसे कथाय सहित रीद्रध्यानके चार भेद हैं ॥१६९८॥

शा०—सुगतिसंयोग, डालनेवाले और महान् भयके कारण होनेसे महाभयरूप रीद्र और आर्तध्यानको त्यागकर वह सम्यक् बुद्धिसम्पन्न क्षपक धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है ॥१६९९॥

किमर्थस्यै ध्यानयोः शुभयोर्वर्तत इत्याशङ्क्यां ध्यानप्रवृत्ती कारणमाचष्टे—

इन्द्रियकसायजोगभिरौषं इच्छं च गिञ्जरं चिउलं ।

चित्तस्स य वसियसं भग्मादु अविप्पणासं च ॥१७००॥

‘इन्द्रियकसायजोगभिरौषं’ स्पर्शादिषूपजात उपयोग इन्द्रियशब्देनोच्यते । कथायाः क्रोधादयस्ती यौगः सम्बन्धस्तस्य निरोधं निवारणामिच्छन्निर्जरां च विपुलामिच्छन्, वस्तुयायात्म्यसमाहितचित्तस्य नेन्द्रियविषय-अन्योपयोगसंभवः, कथायाणां चोत्पत्तिः ‘चित्तस्स च वसियसं’ चित्तस्म स्वघात इच्छन् स्वैष्टे विषये चित्तमसङ्कत्स्थापयतीऽनिष्टाच्च व्यावर्तयतः स्वघात भवति चित्तं । ‘अप्याणो अविप्पणासं च’ भार्याद्वलनया-विप्रणाशं च बाछन्, अशुभध्यानप्रवृत्तो रत्नत्रयात्प्रभ्युतो भवाभीष्टि ध्याने प्रयतते ॥१७००॥

ध्यानपरिकरप्रतिपादनाद्योत्तरगाथा—

किंचिचि दिट्ठिमुपावत्तइत्तु ज्ञाणे गिरुद्धदिट्ठिजो ।

अप्याणहि सदि संघित्ता संसारमोक्खहं ॥१७०१॥

‘किंचिचि दिट्ठिमुपावत्तइत्तु’ बाह्यद्रव्यालोकात् किंचिच्चक्षुर्व्यावर्तयित्वा । ‘ज्ञाणे गिरुद्धदिट्ठिजो’ एकविषये परोक्षज्ञाने निरुद्धचैतन्यं । ‘दृष्टिनिमित्तं हि चैतन्ये दृष्टिशब्दोऽत्र युक्तः । ‘अप्याणहि’ आत्मनि । ‘संघित्ता’ स्मृति । ‘संघित्ता’ संघाय । स्मृतिशब्देनात्र श्रुतज्ञानेनावगतसत्यार्थस्य स्मरणमुच्यते, ‘संसारमोक्खहं’ संसारविमुक्तये ॥१७०१॥

वह क्षपक किसलिये शुभ ध्यान करता है ? इस शंकाके उत्तरमें उसके कारण कहते हैं—

गा०—इन्द्रिय और कथायोंसे सम्बन्धको रोकने, अत्यधिक निर्जराको चाहने, चित्तको वशमें करने और रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गको नष्ट न होने देनेके लिये क्षपक शुभ ध्यान ही करता है ॥१७००॥

टी०—यहाँ इन्द्रिय शब्दसे स्पर्श आदिसे उत्पन्न हुआ उपयोग कहा है । कथायसे क्रोधादि लिये हैं । जिसका चित्त वस्तुके यथार्थ स्वरूपसे समाधान युक्त होता है उसकी प्रवृत्ति इन्द्रियोंके विषयसे उत्पन्न हुए उपयोगकी ओर नहीं होती और न कथायोंको उत्पत्ति होती है । तथा जो अपने इष्ट विषयमें चित्तको बार-बार स्थापित करता है और अनिष्टसे चित्तको हटाता है उसका चित्त अपने वशमें रहता है । क्षपक जानता है कि यदि मैं अशुभ ध्यानमें लगा तो रत्नत्रयसे च्युत हो जाऊँगा । इन कारणोंसे वह शुभ ध्यान करता है ॥१७००॥

आगे ध्यानकी सामग्री कहते हैं—

गा०—टी०—बाह्य द्रव्यको देखनेकी ओरसे आँखोंको किञ्चित् हटाकर अर्थात् नाकके अग्र भागपर दृष्टिको स्थिर करके, एक विषयक परोक्षज्ञानमें चैतन्यको रोककर शुद्ध चिद्रूप अपनी आत्मामें स्मृतिका अनुसन्धान करे । गाथामें ‘निरुद्ध दृष्टि’ पद है । यहाँ दृष्टिमें निमित्त चैतन्यमें दृष्टि शब्दका प्रयोग किया है । और स्मृति शब्दसे श्रुतज्ञानके द्वारा जाने गये अर्थका स्मरण लिया है । अर्थात् दृष्टिको नाकके अग्रभागमें स्थापित करके किसी एक परोक्ष वस्तु विषयक

१. चैतन्यदृष्टि निमित्तं शब्दोऽत्र युक्तः—अ० गा० ।—चैतन्यः दृष्टिनिमित्तं चैतन्ये दृष्टिशब्दो मुक्ता० ।

ब्रह्माहरिसु विसयेहि इन्दियाइ मणं च तेहितो ।

अप्याणम्मि मणं तं जोगं पणिचाय धारेदि ॥१७०२॥

‘ब्रह्माहरिसु’ प्रत्याहृत्य । ‘विसयेहि’ विपयेभ्यः । ‘इन्दियाइ’ इन्द्रियाणि ‘मणं च’ मनश्च व्यावर्त्य । ‘तेहितो’ विपयेभ्यः । ‘मणं तं धारेदि’ तन्मनो धारयति । क्व ? ‘अप्याणम्मि’ आत्मनि । ‘जोगं’ योगं वीर्या-
न्तरायस्योपसमजवीर्यपरिणाम । ‘पणिचाय’ प्रणिचाय स्यात् । एतदुक्तं भवति वीर्यपरिणामेन नोद्ब्रियमति
धारयतीति ॥१७०२॥

कृतमनानिरोधं किं करोतीत्याद्यह्वयाह—

एयम्गेण मणं रुंभिरुण धम्मं चउब्बिहं झादि ।

अणापायविवागं विचयं सठाणविचयं च ॥१७०३॥

‘एयम्गेण’ एकध्वेयमुत्तया । ‘मणं रुंभिरुण’ मनो निरुध्य । ‘धम्मं’ धर्म्यं वस्तुस्वभाव । ‘चउब्बिहं’
चतुर्विधं चतुर्विकल्पं । ‘झादि’ ध्यायति । अभ्यन्तरपरिकरोऽयमुक्तः सूत्रकारेण । बाह्य-परिकर उच्यते ।
पर्वतगुहाया, गिरिकदरे, दद्या, तरकोटरे, नदीपुलने, पितृवने, जीर्णोद्याने, गुन्यागारे वा व्यालमृगाणां
पशूनां, पक्षिणा, मनुष्याणा वा ध्यानविघ्नकारिणा मन्निधानान्ये, तत्रस्थैरागन्तुभिश्च जीर्णोद्भिते, उष्णशीतत-
पवातादिवि रहिते, निरस्तेन्द्रियमनोविशेषरहितौ। शुचावनुकूलस्पर्शं भूभागं मन्द-मन्द प्राणापातप्रचारं नामस्पर्ध्वं
हृदि ललाटेऽप्यत्र वा मनोवृत्ति यथापरिचयं प्रणिदधानीनि बाह्यपरिकर । ‘अणापायविवागविचये’ आज्ञा-

ज्ञानमें मनको लगाकर श्रुतसे जाने हुए विषयोंका स्मरण करते हुए आत्मानें लीन हो। यह
ध्यान सप्तरसे छूटनेके लिये किया जाता है ॥१७०१॥

गा०—विषयोंसे इन्द्रियोंको और मनको हटाकर वीर्यान्तरायके क्षयोपगमसे उत्पन्न हुए
वीर्य परिणामको स्थापित करके आत्मामें मनको लगाता है। अर्थात् वीर्य परिणामसे अपनी
शुद्ध आत्मानें मनको धारण करता है ॥१७०२॥

मनको रोककर क्या करता है, यह कहते हैं—

गा०—एक विषयमें मनको रोककर आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकाविचय और
सस्थानविचय इन चार प्रकारके धर्मध्यानको ध्याता है ॥१७०३॥

टी०—ग्रंथकारने यह ध्यानकी अभ्यन्तर सामग्री कही है। टीकाकारने बाह्य सामग्री
इस प्रकार कही है—

पर्वतकी गुफामें, या पहाड़की कन्दरामें, या वृक्षके कोटरमें या नदीके किनारे या स्मशान
में या उजड़े हुए उद्यानमें या शून्य भूकानमें, जहाँ ध्यानमें विघ्न करनेवाले सर्प मृग आदि पशु
पक्षी और मनुष्योंका वास न हो। तथा वहाँ रहनेवाले और इधर-उधरमें आनेवाले जीव जन्तु न
हों, गर्म या सर्द, धाम और वायु आदिसे रहित हो, जहाँ इन्द्रिय और मनको चंचल करनेके
साधन न हो। ऐसे स्थानमें जो जमीनका भाग साफ सुथरा हो, उसका स्पर्श अनुकूल हो, उसपर
स्थित होकर धीरे-धीरे श्वास उच्छ्वास लेंते हुए नाभिसे ऊपर हृदयमें या मस्तकपर अथवा अन्य
स्थानमें अपने मनोवाधारको रोकता है। यह ध्यानकी बाह्य सामग्री है। ऐसा करके चार
प्रकारका धर्मध्यान करता है। उनमेंसे आज्ञाविचय नामक धर्मध्यानका स्वरूप कहते हैं—

विचयमपायविचयं, विपाकविचयं, 'संज्ञाविचयं च' संस्थानविचयं च । तत्राज्ञाविचयो निरूप्यते—कर्मणि समूलोत्तरप्रकृतीनि तेषां ऋतुविधौ बन्धपर्याय उदयफलविकल्पः जीवद्रव्यं मुख्यवस्त्वेष्वेवमादीनामतीन्द्रवत्वात् सुतज्ज्ञानावरणभावोपशमप्रकर्षमात्रात् बुद्धधत्तिसद्ये असति दुरवबोधं यदि नाम वस्तुतत्त्वं तथापि सर्वज्ञज्ञान-प्राप्ताभ्यात् आशयविचयतत्त्वं तत्रैव नान्वयेति निश्चयः सम्यग्दर्शनस्वभावत्वान्मोक्षहेतुगिरिस्वाज्ञाविचारनिश्चय-ज्ञानं आज्ञाविचयस्य धर्मध्यान । जन्मे तु कर्माति स्वयमपिगतपदार्थतत्त्वस्य परं प्रतिपादयितुं सिद्धान्तनिरूपितार्थप्रतिपत्तिहेतुमुत्तमुत्तियवेवभावहितचित्ता सर्वज्ञज्ञानप्रकाशनपरा अनया मुक्त्या इयं सर्वविद्यामाज्ञा-बोधयितुं सद्येति प्रवर्तमानत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यते इति । अमादी संसारे स्वैरमनोबाक्कायवृत्तेर्यम अशुभ-मनोबाक्कायेभ्योऽप्रायः कर्षं स्यादिति अपाये विचयो मीमासास्मिन्नस्तीत्यपायविचयं द्वितीयं धर्मध्यानं । चात्यन्धसंस्थानीया मिथ्यादृष्टयः क्षणीचीमभूमित्तमालपरिज्ञानात् दूरमेवापयन्ति मार्गादिति सम्भागापाये प्राणिनां विचयो विचारो यस्मिन्स्तत्त्वाविचयं इत्युच्यते इति । मिथ्यादर्शनज्ञानचारिण्यैः कथमिमे प्राणिनोऽप्येयुगिति स्मृतिसमन्वाहरोऽप्रायविचयः ॥ विपाकविचय उच्यते—समूलोत्तरप्रकृतीनां कर्मणामष्टप्रकाराणां ऋतुविध-बन्धपर्यायाणां मधुरकटुकविपाकानां तीक्ष्णमध्यमंश्परिणामप्रपञ्चकृतानुभवविशेषाणां द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षाया एतस्य गतिषु योनिसु धा इत्यंभूतं फलमिति विपाके कर्मफले विचयो विचारोऽस्मिन्निति विपाकविचयः । वैशासनसाल्करीमृगसंस्थानो लोक इति लोकत्रयसंस्थाने विचयो विचारोऽस्मिन्निति संस्थानविचयता ॥१७३॥

मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियों सहित कर्म, उनके चार प्रकारके बन्ध, उदय और फलके भेद, जीव द्रव्य, मुक्ति अवस्था ये सब और इसी प्रकारके अन्य पदार्थ अतीन्द्रिय हैं । तथा श्रुत-ज्ञानावरणके क्षयोपशमका प्रकर्ष न होनेसे विशेष बुद्धि भी नहीं है । ऐसी अवस्थामें यद्यपि वस्तु तत्त्व समझमें नहीं आता तथापि सर्वज्ञके ज्ञानके प्रमाण होनेसे आगममें तो तत्त्व जैसा कहा है, वह वैसा ही है, अन्य रूप नहीं है, इस प्रकारका निश्चय सम्यग्दर्शन रूप होनेसे मोक्षका कारण है । इस प्रकार सर्वज्ञको आज्ञाके विचारका निश्चयरूप ज्ञान आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है । अन्य कुछ आचार्य ऐसा कहते हैं—स्वयंको तो पदार्थों और तत्त्वोंका सम्यग्ज्ञान है । किन्तु दूसरोंको समझानेके लिये सिद्धान्तमें कहे गये अर्थोंका ज्ञान करानेमें हेतुभूत युक्तियोंकी श्रोजमें मनको लगाना कि इस युक्तिके द्वारा सर्वज्ञकी आज्ञाको समझाया जा सकता है, इसे भी सर्वज्ञकी आज्ञाके प्रकाशनमें संलग्न होनेसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं । इस अनादि संसारमें स्वच्छन्द मन बचन कायकी प्रवृत्तिमेंसे मेरा अशुभ मन बचन कायसे अपाय अर्थात् छुटकारा कैसे हो इस प्रकार अपायका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो वह अपायविचय नामक दूसरा धर्मध्यान है । जन्मसे जन्मे मनुष्योंके समान मिथ्यादृष्टि जीव समोक्षीय मोक्षमार्गको न जाननेसे मोक्षमार्गसे दूर ही रहते हैं । इस प्रकार सम्मार्गसे प्राणियोंके भटकनेका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो उसे अपायविचय कहते हैं । अबका संसारके ये प्राणी मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे कैसे बलग हों, कैसे उसे छोड़ें इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना अपायविचय है । विपाक-विचयका स्वरूप कहते हैं—मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति सहित आठ प्रकारके कर्मोंका और उनके चार प्रकारके बन्धोंका तथा द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे तीक्ष्ण मध्य और मन्द परिणामों के विस्तारसे होनेवाले विपाकका तथा उनके मधुर और कटुक फलोंका कि इन गतियोंमें अबका योनियोंमें इस प्रकारका फल होता है । इस तरह विपाक अर्थात् कर्मफलका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो वह विपाकविचय धर्मध्यान है । अधोलोकका आकार वैशासनके समान है, मध्यलोक-

धर्मध्यानस्य लक्षणं निदिशति—

धम्मस्स लक्षणं से अज्जबल्लहुगत्तमह्वुषदेसा ।

उपदेशणा व सुत्ते जित्तमजाओ लणीओ दे ॥१७०४॥

'धम्मस्स लक्षणं से' से उत्पत्त्य । 'धम्मस्स' धर्मस्य ध्यानस्य । 'लक्षणं' लक्षणं । लक्ष्यते धर्म्यं ध्यानं येन तत्लक्षणं । 'अज्जबल्लहुगत्तमह्वुषदेसा' आकृष्टान्पद्मवत्सुवत् कुटिलताविरहं आर्जवं । 'लघुवत्' लघुता निस्तम्बता आत्याघट्टविधाविमानाभावो मार्दवं । उपेत्य जिनमत्तं देयानं कथनमूपदेशः हितोपदेश इति यावत् । आर्जवादिभिः कार्यैर्लक्ष्यते धर्मध्यानमिति आर्जवाधिकः लक्षणं । न ह्यार्तरीत्रे आर्जवाधिकं संपादयतः । यदार्जवाधिकं परिणाममत्स्वनः करोति तद्ब्रह्मध्यानमिति लक्षणभावः । अथवा आर्जवादिपरिणामसङ्गाय एव धर्मध्यानं प्रवर्तते नासत्यार्जवादी । नहि मानमायालोभकपावाविष्टो धर्मं प्रवर्तते, तेनार्जवाधिककारणं तेन लक्ष्यते धर्म्यमिति लक्षणतार्जवादीनाम् ॥१७०४॥

आलंबनं च दायण पुच्छण परिवट्ठणानुपेहाओ ।

धम्मस्स तेण अविरुद्धाओ सम्भानुपेहाओ ॥१७०५॥

आलम्बनप्रतिपादनाद्योत्तरवाथा । 'आलम्बनं च' आश्रयश्च । कस्य ? 'धम्मस्स' धर्मध्यानस्य, 'दायण पुच्छण परिवट्ठणानुपेहाओ' वाचना प्रश्नः, परिवर्तनमनुप्रेक्षेति स्वाध्यायविकल्पाः । वाचनादित्वाध्यायाभावे

का आकार झल्लरी गोल झांझके समान और ऊर्ध्वलोकका आकार मुदंगके समान है । इस प्रकार तीनों लोकोके संस्थानका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो वह संस्थानविचय धर्मध्यान है ॥१७०३॥

धर्मध्यानका लक्षण कहते हैं—

शा०—आर्जवं, लघुता, मार्दवं, उपदेश और जिनागममे स्वाभाविक रुचि ये धर्मध्यानके लक्षण हैं ॥१७०४॥

टी०—जिससे धर्मध्यानकी पहचान होती है वह उसका लक्षण है । एक धागेको दोनों ओरसे ताननेपर जैसे उसमें कुटिलता नहीं रहती, सरलता रहती है उसी प्रकारकी सरलताको आर्जवं कहते हैं । लघुता अन्नासक्ति और निर्लोभताको कहते हैं । जाति आदि आठ बातोंका गबन करना मार्दवं है । 'उप' अर्थात् किसीके पास जाकर 'देय' अर्थात् जिनमतका कथन करना उपदेश है अर्थात् हितोपदेश है । आर्जवं आदि कार्योंसे धर्मध्यान पहचाना जाता है इसलिये आर्जवं आदि धर्मध्यानके लक्षण हैं । आर्त और रौद्रध्यान वालोंको आर्जवं आदि नहीं होते । जो आत्माके आर्जवं आदिरूप परिणाम करता है वह धर्मध्यान है । इस प्रकार आर्जवादि धर्मध्यानके लक्षण हैं । अथवा आर्जवं आदि परिणामके होनेपर ही धर्मध्यान होता है, आर्जवं आदिके अभावमें नहीं होता । जो मान, माया और लोभसे घिरा रहता है वह धर्ममें प्रवृत्ति नहीं करता । अतः आर्जवादिक धर्मध्यानके कारण हैं उनसे धर्मध्यानकी पहचान होती है । इसीलिये आर्जवं आदि धर्मध्यानके लक्षण हैं ॥१७०४॥

आगेकी गाथासे धर्मध्यानके आलम्बन कहते हैं—

शा०—वाचना, पुच्छना, परिवर्तन और अनुप्रेक्षा ये धर्मध्यानके आलम्बन हैं । तथा सब अनुप्रेक्षा धर्मध्यानके अविरुद्ध हैं ॥१७०५॥

वस्तुभाषास्वप्नज्ञानमेव नास्तीति ध्यानाभावः । स तु स्वाध्यायो भवति ज्ञाननिवृत्तं ध्यानसंज्ञितमित्यालम्ब-
नता स्वाध्यायस्य । 'सैव' तेन धर्मो ध्यानेनाविच्छिन्नः 'सम्बन्धवैहास्ये' सर्वानुप्रेक्षाः एकदैकप्राथम्ये वृत्तै-
रविरोधः । अनित्यतादिवस्तुस्वभावानुप्रेक्षणमनुप्रेक्षासावालम्बन ध्यानमिति । एतेनानुप्रेक्षाया ध्यानेऽन्त-
पातित्वमात्रजाणेनानुप्रेक्षोपन्यासे बीजाधानं कृतम् ॥१७०५॥

पूर्वोक्तान् धर्मस्य वस्तुो मेदान् व्याचष्टे चतसृभिर्वाचिभिः । तत्राज्ञाविचय निरूपयति—

पंचैव अत्थिकाया छज्जीवणिकाए दध्वमणो य ।

आज्ञानेज्जे भावे आणाविचएण विचिणादि ॥१७०६॥

'पंचैव अत्थिकाया' पञ्चास्तिकाया जीवाः पुद्गलधर्मास्तिकाया धर्मास्तिकाया अधर्मास्तिकाया
आकाशमिति । तान् 'छज्जीवणिकायो' षट्जीवणिकायान् 'दध्व' कालाख्यं द्रव्य 'मणो य' अन्यास्य कर्म-
बन्धमोहादीन् । 'आज्ञानेज्जे भावे' सर्वज्ञायामगम्यन्भावान् । 'आणाविचयेण' आज्ञाविचयारूपेण धर्मध्यानेन
'विचिणादि' विचारयति । सर्वविद्भ्रूरापास्तरागद्वेषं परमकारुणिकैः यथामी निरूपितान्तं तथैवेति चिन्ता-
प्रबन्ध आज्ञाविचय इति यावत् । 'आणावायविचयविचये' इत्यस्मिन्पाठे अपायविचयो नाम धर्मध्यानामिति
गाथापूर्वार्धेन व्याचष्टे ॥१७०६॥

कल्लणपावभाणउपाये विचिणादि जिणमदमुवेच्च ।

विचिणादि वा अवाए जीवाण सुमे य असुमे य ॥१७०७॥

'कल्लणपावभाण उपाये' तीर्थंकरपददायकानां दर्शानविशुद्ध्यादीनामुपायान् निःशङ्कादीन् विचिन्तति

टी०—वाचना, प्रश्न करना, पाठ करना, अर्थका चिन्तन करना ये सब स्वाध्यायके भेद
हैं। यदि वाचना आदि स्वाध्याय न किया जाये तो उसके अभावमें वस्तुके यथार्थस्वरूपका ज्ञान
ही न होनेसे ध्यानका अभाव प्राप्त होता है। वह स्वाध्याय ज्ञान रूप है और निवृत्त ज्ञानका
नाम ध्यान है। अतः स्वाध्याय ध्यानका आलम्बन है। तथा सब अनुप्रेक्षाएँ एक समयमें एक
आश्रयमें रह सकती हैं अतः वे भी धर्मध्यानके अनुकूल हैं। वस्तुके अनित्य आदि स्वभावका
चिन्तन अनुप्रेक्षा है अतः वे भी ध्यानकी आलम्बन हैं। इस प्रकार ग्रन्थकारने अनुप्रेक्षाओंको
ध्यानमें अन्तर्भूत कहकर आगे अनुप्रेक्षाओंके कथन करनेका बोज बो दिया है ॥१७०५॥

आगे चार गाथाओंसे धर्मध्यानके चार भेदोंको कहते हैं। सबसे प्रथम आज्ञाविचयको
कहते हैं—

गा०—टी०—पाँच अस्तिकाय हैं—जीव, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय
और आकाश। इन अस्तिकायोंको, तथा पाँच प्रकारके स्यावरकाय और त्रसकाय इन छह
जीवणिकायोंको, कालद्रव्यको तथा अन्य कर्मबन्ध मोक्ष आदिको जो सर्वज्ञकी आज्ञासे ही गम्य
है, आज्ञाविचय नामक धर्मध्यानके द्वारा विचार करता है। परम दयालु और राग-द्वेषसे रहित
सर्वज्ञ देवने जिस रूपमें इन्हें कहा है वे उसी रूप हैं। इस प्रकारके चिन्तनको आज्ञाविचय धर्म-
ध्यान कहते हैं ॥१७०६॥

गा०—तीर्थंकर पदको देनेवाले दर्शनविशुद्धि आदिके उपाय निःशक्ति आदिका विचार

१. यान् कालदध्वं कालाख्यं—ज० मु० । २. यथानीति—आ० ।

'चिन्मत्तं' जिनकवित्तं उपदेशं । 'विचिन्नादि वा अपाये क्लीबात् कुणे व अकुणे व' बीवानां शुभाशुभकर्म-विषयानपायान् तान्विचारयति । एतदुक्तं भवति शुभाशुभकर्मणः कथनपायो भवति बीवस्य इति चिन्ता-प्रवाहोऽयमविचयो नाम । स्पष्टार्थोत्तराद्या ॥१७०७॥

अद्यामेयभवगदं जीवाणं पुण्णपावकम्मफलं ।

उदओदीरणसंकमबंधे मोक्खं च विचिन्नादि ॥१७०८॥

अह तिरियउड्डलोए विचिन्नादि सपज्जए ससंठाणे ।

एत्थे व अणुगदाओ अणुपेहाओ वि विचिन्नादि ॥१७०९॥

'अह तिरिय उड्डलोए' उद्भवविस्तारम्लोकान् । 'विचिन्नादि' विचारयात् । कीदृग्गतान् । 'सपज्जए' सपर्ययान् संस्थानसहितान् सपर्यायनिभुवनसंस्थानविचारपरं संस्थानविचयास्थं धर्मध्यान । 'एत्थे' अत्रैव । 'अणुगदाओ' अनुगता । 'अणुपेहाओ वि' अनुप्रेक्षा अपि । 'विचिन्नादि' विचारयति । अनित्यत्वा-दिस्वभावविचारं करोति धर्मध्याने इति कथितं भवति ॥१७०८॥१७०९॥

हस्तः । अनुप्रेक्षा इत्यागकायाद्यधुवादीननुप्रेक्षान्नित्ययत्युत्तरप्रबन्धेन—

अधुवमसरणमेगचमण्णसंसारलोयमसुप्रं ।

आसवसंवरणिज्जर धम्मं बोधिं च चित्तिज्ज ॥१७१०॥

जिनभगवान्के द्वारा कथित उपदेशके अनुसार करता है । अथवा जीवोंके शुभ और अशुभ कर्मविषयक अपायोका विचार करता है । इसका अभिप्राय यह है कि जीव शुभ और अशुभ कर्मों से कैसे छूटे इस प्रकारका सतत चिन्तन अपायविचय है ॥१७०७॥

शा०—जीवोंके एक भव या अनेक भव सम्बन्धी पुण्यकर्म और पापकर्मके फलका तथा उदय, उदीरणा, मक्रम, बन्ध और मोक्षका विचार करता है ॥१७०८॥

टी०—कर्मोंके फल, उदय, उदीरणा, मक्रम, बन्ध तथा मोक्ष आदिका चिन्तन करना विपाकविचय धर्मध्यान है । क्रमसं कर्मोंका अनुभवन होना उदय है और अक्रमसे कर्मोंका फल देना उदीरणा है । अर्थात् जो कर्म उदयमे नहीं आ रहा है उसकी स्थितिको बलपूर्वक घटाकर कर्मका उदयमे लाना उदीरणा है । और एक कर्म प्रकृतिका अपनी सजातीय अन्य प्रकृतिरूप बदलना संक्रम है । इन सबका चिन्तन विपाकविचय धर्मध्यान है ॥१७०९॥

शा०—परमि अर्थात् भेद सहित तथा वेत्तासन, श्ल्लरी और मृदंगके समान आकार सहित ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोकका चिन्तन करना संस्थानविचय धर्मध्यान है । इसी संस्थानविचयमें सम्बद्ध अनुप्रेक्षाओंका भी विचार करता है अर्थात् धर्मध्यानमें संसारके अनित्य-त्वादि स्वभावका विचार करता है ॥१७०९॥

आये अधुव आदि अनुप्रेक्षाओंका कथन करते है—

शा०—अधुव, अक्षरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आसव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि इन बारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करना चाहिये ॥१७१०॥

१. व० प्रती शब्धे नान्ति । २. एतां श्रीविजयो नेच्छति ।

लोको विलीयदि इमो फेनोव्व सदेवमाणुसतिरिक्खो । रिद्धीओ सव्वाओ सुविणयसंदंसणसमाओ ॥१७११॥

'लोको विलीयदि इमो' लोको विलयमुपयाति । किमिव ? 'फेनोव्व' फेनवत् । 'सदेवमाणुसतिरिक्खो' देवैर्मानुषैस्तिर्यग्भिश्च समन्वित । इत्यनेन लोकत्रयस्यापि विनाशितामिहिता । 'रिद्धीओ सव्वाओ' ऋद्धयः सर्वा । 'सुविणयसंदंसणसमाओ' स्वप्नज्ञानसमा । ननु 'लोको विलीयदि इमो' इत्यनेन सर्वस्यानित्यता व्याख्याता, ऋद्धिपादयोर्गपि लोकान्तर्भूता इति किमर्थं भेदोपन्यास ? । अत्रोच्यते । समुदायस्यावयवात्मकस्यावयवानित्यतामन्तरेण तदनित्यता न सुखेनावगम्यत इति भिदोपन्यस्यते ॥१७१०॥१७११॥

द्रव्यगतो लोभो महान् प्राणभूता तन्मूलत्वाविन्द्रियसुखस्य । प्राणानन्वयं त्यजति द्रव्यनिमित्तमतस्तद-
नित्यतामेव प्राणुपदसंयति निस्सगतामात्मन मपादयितु—

विज्जूव चंचलाइं दिट्ठुपणट्ठाइं सव्वसोक्ख्खाइं ।

जलबुल्लुदोव्व अधुवाणि हुंति सव्वाणि ठाणाणि ॥१७१२॥

विज्जूव चंचलाइं विद्यादेव चञ्चलानि, 'दिट्ठुपणट्ठाइं' दृष्टप्रणष्टानि, 'सव्वसोक्ख्खाइं' सर्वाणि सुखानि अभिमतरूपांदविषयपञ्चकस्य प्रपञ्चस्य सन्निधानादुपजातानि यानि च न समुत्थानि मर्षा वा मानवाना तिर्यक्वा दिवजाना वा सुखानि सुखलम्पटतया जन. क्लेशाशानिशतनिपातमपि सहते, तानि च नीरभरविन'नसभाग्गम्भोरधाराराबनीलनो' रदोदरपांस्स्फुरत्तडिल्लतेव, एतेनानित्यतादोषोत्प्रकटनेन सासारिक-
सुखपगड्मुखतोपायो निगादत । 'जलबुल्लुदोव्व' जलबुल्लुदवत् । 'अधुवाणि' अधुवाणि । 'होति' भवन्ति ।

गा०—टी०—देव. मनुष्य और तिर्यञ्चोके साथ यह लोक जलके फेनके समान विनाशको प्राप्त होता है । इससे तीनो लोकोको विनाशशील कहा है । सब ऋद्धियां भी स्वप्नज्ञानके ममान विनाशोके हैं ।

शङ्का—लोक विनाशशील है इससे सबको अनित्य कह दिया है । ऋद्धि आदि भी लोकके अन्तर्भूत है । फिर अलगसे उनको विनाशो कहनेका क्या प्रयोजन है ?

समाधान—समुदाय अवयवात्मक है । अतः अवयवोकी अनित्यताके विना समुदायकी अनित्यताका ज्ञान सुखपूर्वक नहीं होता । इससे ऋद्धियोंको अलगसे अनित्य कहा है ॥१७११॥

प्राणियोंको द्रव्यका लोभ बहुत अधिक होता है. क्योंकि इन्द्रिय सुखका मूल द्रव्य है । इसीसे वह द्रव्यके लिये प्राणों तकको त्याग देता है । अतः आत्माको नि संग बनानेके लिये प्रथम द्रव्यको अनित्यता ही दर्शाते हैं—

गा०—टी०—इष्ट रूप आदि पांच विषयोंके समूहके मच्चन्द्रसे उत्पन्न तथा मनसे उत्पन्न सब मनुष्यो तिर्यञ्चों और देवोंका सब सुख विजलीके ममान चपल है और देखते-देखते नष्ट होनेवाला है । आशय यह है कि मनुष्य सुखका लम्पटी होनेसे सैकड़ों वज्रपातोंके गिरनेसे होनेवाले कष्टको भी सहता है । किन्तु वे सब सुख जलके भारसे नष्ट हुए गम्भीर धीर शब्द करने वाले नीले बादलोंके उदरमे चमकने वाले बिजुलीकी तरह हैं । इम अनित्यता दोषको प्रकट करनेसे सांसारिक सुखसे विमुख होनेका उपाय कहा है । तथा सब स्थान जलके बुलबुलेकी तरह अध्रुव हैं ।

'आवाधि सम्बाधि' सर्वाणि स्थानानि । तिष्ठन्त्येतेषु जीवा इति स्थानानि श्रवणपरपत्न्यादीनि । इव मदीयं स्थानं अत्राहं वशाभीति मा कृशाः संकल्पं । तानि अनित्यानि नित्यबुद्ध्या परिगृहीतानि विनाशे सङ्कले शानानयन्तीति कथितं । अथवा तिष्ठन्त्यस्मिन्स्वकृतविचित्रकर्मोदयात्प्रभृत इतीन्द्रत्वं, चक्रवर्त्तनत्वं, गवाधिपतित्वं वा एतानि स्थानान्यनित्यानि ॥१७१२॥

आवागदाव बहुगृहपथाविदा हुंति सञ्चसंबंधी ।

सञ्चेसिंआसया वि अणिच्चा जह अग्मसंघाया ॥१७१३॥

'आवागदाव' जलमानपात्रारूढा इव 'बहुगृहपथाविदा हुंति सञ्चसंबंधी' विचित्रशुभाशुभपरिणामोपासगतिकर्मवशात्तदुपनीयमानदेवमाननारकतिर्यथास्वगतिपर्यायग्रहणाय कृतप्रयागा बन्धवः सर्वेऽपि । एतेन बन्धुताया अनित्यतोक्ता । उपासगत्यपरित्यागे बन्धुता स्थिरा भवति, उपासा चेत् त्यक्ताभ्या च गृहीता पितृपुत्रादीनां गत्यन्तरमुपगतमपि बन्धुत्वे स्वजनपरजनविवेक एव न स्यादिति मन्यते । 'सञ्चेति आसया वि' सर्वेषामाश्रया अपि यानाभित्य प्राणिनो जीवितुमुत्सहन्ते तेषामथाः स्वामी भूत्य-पुत्रो भ्रातृत्वेवमादयोऽनित्या यथा अन्नसंघादा अन्नसघाता इव ॥१७१३॥

संघासो वि अणिच्चो पहियाणं पिण्डणं व छाहीए ।

पीदी वि अच्चिरागोव्व अणिच्चा सञ्चजीवाणं ॥१७१४॥

'संघासो वि' सहावस्थानमपि बन्धुनिर्मित्रीः परिजनैर्वा, 'अणिच्चो' अनित्यः । 'पहियाणं पिण्डणं व

जिनमें जीव ठहरते हैं उन्हें स्थान कहते हैं । वे स्थान हैं—गाँव, नगर आदि । यह भेरा स्थान है । मैं यहाँ रहता हूँ । ऐसा संकल्प तुम मत करो । वे स्थान अनित्य हैं । उन्हें नित्य समझकर ग्रहण करनेपर यदि वे नष्ट होते हैं तो मनमें बड़ा सकलेश होता है । अथवा अपने किये विचित्र कर्मके उदयसे प्राणी जिनमें रहते हैं वे स्थान हैं इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, गणधरपद । ये सब स्थान अनित्य हैं ॥१७१२॥

वा०-टी०—सब सम्बन्धी विचित्र शुभ या अशुभ परिणामोंमें बांधे गये गति नामकर्मके वशसे प्राप्त मनुष्यगति, देवगति, नारकगति और तिर्यङ्गगति रूप पर्यायको ग्रहण करनेके लिये जाने-वाले हैं अतः वे नावपर सवार यात्रियोंके समान हैं । जैसे नावपर सवार यात्री अपने-अपने स्थानपर चले जाते हैं उसी प्रकार हमारे सम्बन्धी अपने-अपने परिणामोंके अनुसार गति नामकर्मका बन्ध करके भरकर अपनी-अपनी गतिमें चले जाते हैं । इससे बन्धुताको अनित्य कहा है । जो जिस गतिमें है वह उसी गतिमें रहे, उसे छोड़े नहीं तो बन्धुपना स्थिर होता है । जिस गतिमें है उसे छोड़ अन्य गतिको ग्रहण करे तो नित्य कैसे हुई । जो पिता पुत्र आदि भरकर दूसरी गतिमें चले गये फिर भी यदि वे अपने बन्धु हैं तो अपने और परायेका भेद ही नहीं रहता । तथा जिन आश्रयोंसे प्राणी जीवित रहते हैं वे आश्रय भी, जैसे स्वामी और सेवक, पत्र, भ्राता आदि ये सब भेषपटलके समान अनित्य हैं ॥१७१३॥

वा०-टी०—जैसे नाना दिशाओं और नाना देशोंसे आये हुए और भिन्न-भिन्न स्थानोंको

‘कर्महीन’ नानाविधेशागताना पथिकाना भिन्नस्थानयायिना मार्गोपकण्ठस्थितनिबिडतैरपलायात्कार-
वितसशाब्दाकारशतनिवारितधर्मरक्षमप्रसरतरुवरक्षीतलाविग्लविग्लछायया गान्थाना समाज इव । ‘वीथी’
प्रीतिरपि । ‘अणिच्छ रत्नोष्ण’ प्रणयकलहपासुपातदूषितप्रियतमानुत्पाटीनोदग्धवल्लोचनान्नराग इव अनित्या
सर्वजीवाना । तथाहाप्रियाचर्यावपकणिकाप्रणयलोचनप्रलय सविवधातीर्त प्राणभूतामनुभवमिदमेव ॥१७१४॥

रत्तिं एगम्भि दुमे सउष्णाणं पिण्डणं व संजोगो ।

परिवेसोव अणिच्चो हस्सरियाणाधणारोगं ॥१७१५॥

‘रत्ति’ राज्ञी । ‘एगम्भि दुमे’ एकस्मिन् दुमे । ‘सगुणाणं’ पक्षाया । ‘पिण्डणं व’ पिण्डितमिव ‘सजोगो’
सयोगो ‘यस्यामस्तद्गुमाभिमुखं तत्र वय प्राप्सामोन्म्यान्यमित्यकृतसंकल्पाना यथाकथञ्चिदन्म्यप्रपित्तरत्यकाला
तथा प्राणभूतामपि समानकालकालमाहृतप्रैरितानामेकस्मिन् कुलावटपिनि कौतपयदिनभावीसप्रयोग ।
‘परिवेसो व’ परिवेष इव । ‘अणिच्छ’ अनित्य । कि ? ‘हस्सरियाणाधणारोगं’ ऐश्वर्यं प्रभुता आज्ञा धन आरोग्य
व ॥१७१५॥

इदियसामग्गी वि अणिच्चा संग्गाव होइ जीवाणं ।

मज्झण्हं व णराणं जोव्वणमणवट्टिद लोए ॥१७१६॥

‘इदियसामग्गीवि’ इन्द्रियाणा सामग्र्यपि । ‘अणिच्छा’ अनित्या । अद्यता विधरता च दृश्यत एव ।
‘मज्झण्ह व’ मध्याह्नवत्, ‘णराणं जोव्वणमणवट्टिद लोए’ नराणा यौवनमनवस्थित लोके यौवनोद्धमिति जन

जानेवाले पथिक मार्गके समीपमें स्थित अत्यन्त घने पलाश आदि वृक्षोंके फले हुए शाखाभारसे
सूर्यके तेजको दूर करनेवाले वृक्षोंकी शीतल और घनी छायामें अपना समाज बनाकर बैठते हैं
और घूप ढलनेपर अपने-अपने स्थानोंको चले जाते हैं । उन्हींकी तरह मित्र, बन्धु और परिजनोके
साथ सहवास भी अनित्य है । वे भी आयु पूरी होनेपर अपने-अपने स्थानोंको चले जाते हैं । तथा
सब जीवोकी प्रीति भी अनित्य है । जैसे प्रेमकलहके कारण या धूल पड़ जानेसे प्रिय स्त्रीकी
क्रोडा करती हुई मछलियोंके उदर भागके समान इवेत लोचनोंके कानोंमें ललामी अनित्य है ।
अप्रिय आचरणरूपी विषकी कनी प्रेमरूपी नेत्रोको नष्ट कर देती है यह बात सब प्राणियोंके
अनुभवसे सिद्ध है अतः प्रीति भी अनित्य है ॥१७१४॥

भा०—जैसे पक्षी सूर्यके अस्त होनेपर हम अमुक वृक्षपर मिलेंगे, ऐसा परस्परमें सकल्प
नहीं करते । फिर भी जिस किसी प्रकार कुछ समयके लिये परस्परमें मिल जाने हैं । उसी प्रकार
संसारके प्राणी भी समान कालरूप वायुसे प्रेरित होकर एक कुलरूपी वृक्षपर कुछ दिनोंके लिये
आ मिलते हैं । तथा ऐश्वर्य, प्रभुता, आज्ञा, धन और आरोग्य भी सूर्यकी परिधिकी तरह अनित्य
हैं ॥१७१५॥

भा०—टी०—सन्ध्याकालकी तरह इन्द्रियोंकी सामग्री भी अनित्य है । क्योंकि लोकमें अन्धे
और बहरे मनुष्य देखे जाते हैं । तथा मध्याह्न कालकी तरह लोकमें मनुष्योंका यौवन भा अनव-

१. तरुलदिरपलाशालकारविनतज्ञा—आ० मु० ।

२. योगं सूर्यस्य बस्ते हुवा—आ० ।

३. मेकक—आ० ।

स्वाभ्यते, योक्तावर्षविकारादेव बुधमनातोऽपि बभे न प्रवृत्ते तदवित्यं मध्याह्नवत् । सिद्धतरं व्यतिवर्तिनि योचने 'का यौवनकृतोत्तीर्णवदः स्वाभ्य मनस्विनाम् ॥१७१६॥

बंदो हीनो व पुणो बद्धिदि एदि य उद् अदीदो वि ।

बाहु जोष्वर्ण गियसद् नदीजलमदछिदं वेव ॥१७१७॥

'बंदो हीनो व पुणो बद्धिदि' नित्यराहुमुखकुहरप्रवेशाद्वाग्निमुपगतोऽपि निशानावः कृष्णपक्षे हीयते होमो भवति । 'पुणो बद्धिदि' पुनः शुक्लपक्षे बद्धंते । प्रतिदिनोपचीयमानकालः । 'एदि य उद् अदीदो वि' हिमशिखिरवसन्तादयोऽतीता अपि ऋतवः पुनरायान्ति 'न तु जोष्वर्ण गियसदि' नैव यौवनं निवर्ततेऽतिक्रान्तम् तस्मिन्नेव भवे 'नदीजलमदछिदं वेव' नदीजलमतिक्रान्तमिव न पुनरेति । तद्धिदं यौवनमित्यनेनानित्यतरता-सिषयो यौवनस्य दर्शितः ॥१७१७॥

घावदि गिरिणदिसोदं व आउमं सव्वजीवलोगम्मि ।

सुकुमालदा वि हायदि लोमे पुव्वण्हछाही व ॥१७१८॥

'घावदि गिरिणदिसोदं' घावति गिरिनदीप्रवाह इव । किं ? 'आउमं' आयुः । 'सव्वजीवलोगम्मि' सर्वस्मिन् जीवलोकैः । 'सुकुमालदा वि हीम्वि' सुकुमारतापि हीयते । 'पुव्वण्ह छाही व' पूर्वाह्णाय इव । यथा यथोद्गमच्छति तामरसबन्धुस्तथा तपोपसंहरति छाया शरीरादीनां ॥१७१८॥

अवरण्हरुक्कसछाही व अड्ठिदं बद्धदे जरा लोमे ।

रुवं पि चासद् लहुं जलेव छिदिदण्लयं रुवं ॥१७१९॥

'अवरण्हरुक्कसछाही व' अपराह्णमुपलक्षयैव । 'अड्ठिदं बद्धदे' अस्तित्व बद्धंते । क्रियाविशेषपत्नान्न-पु सकटा । 'जरा लोमे' लोके । सौम्यपल्लवदवानलसिखा, सीमाग्यप्रसूनकरकामुष्टिः, युवतिहरिणालीव्याघ्री,

स्थित है । मनुष्य 'मे युवा हूँ' इस प्रकारसे अपनी प्रशंसा करता है । यौवनके घमण्डसे ही जानते हुए भी धर्ममें प्रयत्नशील नहीं होता । किन्तु वह यौवन मध्याह्नकालको तरह अनवस्थित है । इस प्रकार शीघ्र ही जानेवाले यौवनका मनस्विनोंको मद कैसा ? अर्थात् यौवनका मद करना उचित नहीं है ॥१७१९॥

शा०—टी०—प्रतिदिन राहुके मुखरूपी बिलमें प्रवेश करनेसे चन्द्रमा कृष्णपक्षमें घटता है और पुनः शुक्लपक्षमें प्रतिदिन बढ़ता है । तथा हेमन्त, शिशिर, वसन्त आदि ऋतुएँ भी जाकर पुनः लौटती हैं । किन्तु बीता हुआ यौवन उसी भवनमें नहीं लौटता । जैसे नदीमें गया जल फिर वापिस नहीं आता । उसी प्रकार यौवन भी जाकर वापिस नहीं आता । इससे यौवनकी अत्यन्त अनित्यता दिखलाई है ॥१७१७॥

शा०—सर्व जीवलोकमें आयु पहाड़ी नदीके प्रवाहकी तरह दौड़ती है । सुकुमारता भी पूर्वाह्णकी छायाके समान दौड़ती है । जैसे-जैसे सूर्य ऊपर उठता है वैसे-वैसे शरीरादिकी छाया घटती जाती है । उसी तरह ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती है त्यों-त्यों सुकुमारता कम होती है ॥१७१८॥

शा०—टी०—जैसे अपराह्ण कालमें वृक्षांकी छाया बढ़ती है वैसे ही लोकमें एक बार

ज्ञानकोषनर्पाशुबृष्टस्तपस्तामरसवनस्य हिमानी, दीनताया जननी, परिभवस्य धात्री, मृतेर्दूती, भीतेः प्रियसखी या जरा सा वर्द्धति । 'कर्मणि वास्तवि लघु' रूपमपि विलासिणीकटासोऽनघाणशततूणीरायमाणं, शैतीवलकलसूक्ष्म-
वसनरञ्जने कौमुद्वारसोपमानं, प्रीतिरुत्तिकाया मूलं, सौभाग्यतरुफलं, कूलं पूज्यताया यद्गुणं तस्त्वयु विनययति ॥
किमिव ? 'कलेव लिहितैस्त्वयं क्व' जले लिखितरूपमिव ॥१७१९॥

तेजो वि इंदधनुतेजसणिहो होइ सखजीवाणं ।

दिष्टुपण्डा बुद्धी वि होइ उक्काव जीवाणं ॥१७२०॥

'तेजोवि इंदधनुतेजसणिहो' शरीरस्य तेजोपि पीलं.भीप्रियतमचापस्य तेज इव गज्ज्वजननयनचैत'-
प्रमोदावायि क्षणेन क्षयमुपव्रजति । 'दिष्टुपण्डा' दृष्टप्रणष्टा 'बुद्धि वि' सकलवस्तुयाथात्म्यावकुष्ठज्ञानानतम-
पटलपाटनपटीयसी, विचित्रदुःखाहाकदम्बकाकीर्णकुगतविशालनिम्नगाप्रवेशनिवारणोद्यता, चारित्रनिधिप्रकट-
नक्षमादीपवर्ति, सकलसम्पदाकर्षणविद्या शिवगतिनायिकासंफली एवंभूता बुद्धिरप्युक्तेवाशु नाशमुप-
याति ॥१७२०॥

अदिवडइ बलं खिप्यं रूवं धूलीकदंबरछाए ।

बीचीव अब्धुवं बीरियपि लोगम्मि जीवाणं ॥१७२१॥

'अदिवडइ बलं खिप्यं' सिप्रमतिपतति बल 'रूवं धूलीकदंबरछाए' रथ्याया पान्तरचितरूपमिव ।

आनेपर बुढापा वर्द्धता जाता है । यह बुढापा सुन्दरतारूपी कोमल पत्तोंके लिये बनकी आगकी लपटके समान है । सौभाग्यरूपी पुष्पोंके लिये ओलोककी वर्षाके समान है । तारुध्यरूपी द्वारणोककी पक्षिके लिये व्याघ्रके समान है । ज्ञानरूपी नेत्रके लिये धूलकी वर्षाके समान है । तपरूपी कमलोकके बनके लिये बर्फ गिरनेके समान है । अर्थात् वृद्धावस्थाके आनेपर सुन्दरता, सुभगता, तारुध्य, ज्ञान और तप सब क्षीण हो जाते हैं । यह वृद्धावस्था दीनताकी माता है, तिरस्कारकी धाय है, मृत्युकी दूती है और भयकी प्रिय सखी है । तथा जलमे लिखे हुए रूपके समान रूप भो शीघ्र नष्ट हो जाता है । यह रूप सुन्दर स्त्रियोंके कटाक्षरूपी सैकड़ों बाणोंके लिये नृणोरके समान है अर्थात् पुरुषके रूपको देखकर स्त्रियाँ उसपर कटाक्षबाण चलाती हैं । चित्तरूपी सूक्ष्मवस्त्रकी रगनेके लिये कुसुम्भके रगके समान है । प्रीतिरूपी लताका मूल है । सौभाग्यरूपी वृक्षका फल है । पूज्यताका किनारा है । ऐसा रूप भी शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥१७१९॥

गा०-टी०-शरीरका तेज भी इन्द्र धनुषके तेजके समान है । जैसे इन्द्रधनुषकी कान्ति मनुष्योंके नेत्रों और चित्तको आनन्दकारी होती है किन्तु क्षणभरमें नष्ट हो जाती है वही दशा शरीरकी कान्तिकी भी है । जो बुद्धि समस्त वस्तुओंके यथार्थस्वरूपको ढाकनेवाले अज्ञानरूपी अन्धकारके पटलको नष्ट करनेमें अतिशय दक्ष है, विचित्र दुःखरूपी मगरमच्छोंके समूहसे व्याप्त कुगतिसूक्ष्म विद्या नदीमें प्रवेश करनेसे रोकनेमें तत्पर है, चारित्ररूपी निधिको प्रकट करनेमें दीपककी बत्तीके समान है, समस्त सम्पदाओंको लानेवाली विद्यातुल्य है और मोक्षगतिसूक्ष्म नायिकाकी सखी है, ऐसी बुद्धि भी शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥१७२०॥

गा०-जैसे मार्गमें धूलीसे रचा गया आकार शीघ्र नष्ट हो जाता है वैसे ही जीवोंका

'जीवीव' चण्डप्रमंजनाभिघातोत्थापितसरत्सरंरंगमालेव, 'अध्वुध' अध्वुधं । 'वीरिवं' वीर्यमपि । जीवानां शरीरस्य दृढता बलं वीर्यमात्मपरिणामः ॥१७२१॥

हिमजिघ्रसो वि व गिहसयणासणमंदाणि ह्येति अध्वुवाणि ।

जसकिपी वि अजिघ्रसा लोए संज्ञकभरायोव्य ॥१७२२॥

स्पष्टोत्तराया—

किह दा ससा कम्मवससा सारदियमेहसरिसमिणं ।

ण मुणति जगमजिघ्रं मरणभयसमुत्थिया संता ॥१७२३॥

'किह' कथं तावत् । 'जिघ्रं' ज्ञानं च 'मुणति' जगदमित्यं न जानन्ति । के ? 'सतायो' तीवन्ति स्वकृतपापवशात्तासु तासु मोनिष्विति सत्त्वाः । 'सारदियमेहसरिसमिणं' शरद्दुसमुदगतनीकवर्णविचित्र-संस्थानजीमूतमाकाशसदृशं । 'मरणभयसमुत्थिया संता' मरणं विधं 'पुषुतमवीवितस्य सरित्कूलं प्रियविद्योपदार-कस्य, शोकाशनेर्जलदपटलं, अयस्कान्तोपलः दुःखलोहाकषणे, बन्धुहृदयोपलानां द्रावकमौषधमाद्यतापदामागतं एवभूतमरणभयसमुत्थिता' सन्तः । एवमित्येतामशेषवस्तुविधयां ध्येयीकृत्य प्रवर्तते धर्मं ध्यानं । अध्वुध ॥१७२३॥

अशरणाताकषनायोत्तरप्रबन्धः । कर्माभ्यात्मपरिणामोपाजितानि कषायपरिणामोपनीतचिरकालस्थितीनि सन्निहितक्षेत्रकालमावाक्यसहकारकारणानि यदा फलमशुभं प्रयच्छति तदा तानि न निवारयितुं कश्चित्स-मर्चोऽस्ति तेनाशरणोऽस्म्यहमिति चिन्ताप्रबन्धः । कार्यं इत्याचष्टे—

णासदि मदी उदिण्णे कम्मे ण य तस्स दीसदि उवाओ ।

अमदपि विसं मत्थं तणं पि णीया वि हुंति अरी ॥१७२४॥

बल शीघ्र नष्ट हो जाता है । तथा जीवोका वीर्य भी प्रचण्ड वायुके अभिघातसे उठी हुई चंचल तरंगमालाके समान अध्वुध है । जीवोके शरीरकी दृढताको बल और जीवोके आत्मपरिणामको वीर्य कहते हैं । ये दोनों ही शीघ्र नष्ट होनेवाले हैं ॥१७२१॥

शा०—घर, शय्या, आसन, भाण्ड ये सब भी बर्कके समूहको तरह अध्वुध हैं । तथा लोक-मे यशकी कीर्ति भी सन्ध्याके समय आकाशकी लालिमाकी तरह अनित्य है ॥१७२२॥

शा०—मरणके भयसे युक्त होनेपर भी अपने-अपने कामोंमें लीन प्राणी शरत् कालके मेषके समान इस जगत्को अनित्य क्यों नहीं जानते ॥१७२३॥

टी०—अपने किये हुए पापके वजसे उन-उन योनियोंमें जो कष्ट उठाते हैं उन्हें सत्त्व कहते हैं । यह जगत् शरद् ऋतुमें उठे हुए अनेक रंग और अनेक आकार वाले मेषमालाके समान अनित्य है । तथा जिन्हें अपना जीवन प्रिय है उनके लिये मरण विषके समान है । प्रियजनके विधोकरूपी पुत्रके लिये नदीका टट है । शोकरूपी वज्रपातके लिये मेषपटल है । दुःखरूपी लोहको लानेके लिये चुम्बक पत्थर है । बन्धुओंके हृदयरूपी पत्थरको पिघलानेके लिये औषध है । मरने पर कठोर हृदय कुटुम्बियोंका भी मन पिघल जाता है । लम्बी विपत्तियोंका घर है । ऐसा मरणके भयको जानते हुए भी लोग जगत्की अनित्यताको नहीं समझते यह आश्चर्य और खेदकी बात है ॥१७२३॥

‘आसवि भवो’ नस्यति मतिः । ‘उचिष्ये कर्मै’ उदीर्णं कर्मणि । बुद्धिद्विधा स्वाभाविकी ज्ञानमभवा
व । सा द्वयी यस्यासौ हितमर्हति नेतरः । उक्तं च—

शिवो ह बुद्धिं प्रचक्षति सन्तः स्वानाधिकीभावनसंभवात् ।
बुद्धिर्द्वयी यस्य शरीरिणः स्वाविष्टं हितं सो लभते न चाप्यः ॥१॥
स्वानाधिकी यस्य मतिविमुक्ता, तीर्थाविद्यात् न तु शास्त्रमस्ति ।
द्रव्यं हितं कर्ममत्सौ न ज्ञानो भावः विना कर्मविदात्मनः ॥२॥
तीर्थाविद्यात् धृतमस्ति यस्य स्वानाधिकी भास्ति मतिविमुक्ता ।
धृतस्य भास्तीति फल स तस्य दीपस्य हस्तेऽपि सतो वधानः ॥३॥
किं दर्पणेनावृत्तौचनस्य चिदात्मनो भोगस्य धनेन वा किम् ।
सन्तं न किं वा युधि भीष्मस्य तथैव किं मन्वसते. धृतेन ॥४॥

ईदृशी बुद्धिर्नश्यति ज्ञानावरणाख्ये कर्मव्युदयमुपागते । तच्च ज्ञानावरणं वध्नाति जन्तुर्ज्ञानिना ज्ञानम्य
ज्ञानोपकरणानां च द्वेषान्निह्ववादुपधातात् भास्तयाद् विघ्नकरणादासादनाद् दूषणान् । ज्ञानादेनिघ्नकरणाद-

इस प्रकार अध्रुवभावनाका कथन समाप्त हुआ । आगे अशरणभावनाका कथन करते हैं—
कर्मग्रन्थ आत्माके परिणामोंसे होता है । जीवके ही कर्पायरूप परिणामोका निमित्त पाकर
उन कर्मोंको दीर्घ स्थिति होती है । प्राप्त द्रव्य क्षेत्र काल और भाव उनके सहकारी कारण होते
हैं । जब वे कर्म अशुभ फल देते हैं तो उनको कोई रोक नहीं सकता । अतः मे अशरण हूँ ऐसा
विचारना चाहिये, यह कहते हैं—

गा०-टी०—कर्मका उदय होनेपर बुद्धि नष्ट हो जाती है । बुद्धि दो प्रकारकी होती है
एक स्वाभाविक और दूसरी आगमिक । जिसके दोनो प्रकारकी बुद्धि होती है वह अपने हितको
जानता है । जिसके वह बुद्धि नहीं होती वह नहीं जानता । कहा भी है—

सन्त पुरुष दो प्रकारकी बुद्धि कहते हैं—एक स्वाभाविक, दूसरी आगमसे उत्पन्न हुई ।
जिस शरीरधारीके ये दोनों बुद्धियाँ होती हैं वह अपने इष्ट हितको प्राप्त करता है । जिसके दोनो
बुद्धियां नहीं हैं वह हितको प्राप्त नहीं कर सकता । जिसके पास स्वाभाविक विशुद्ध बुद्धि तो है
किन्तु जिसने शास्त्राभ्यास करके आगमिक बुद्धि प्राप्त नहीं की है वह हितकारी धर्मको उसी
प्रकार नहीं देख सकता, जैसे दृष्टिसम्पन्न पुरुष रूपको देखते हुए भी भाषाके बिना उसको
कह नहीं सकता । जिसके पास गुरुसे प्राप्त शास्त्र तो है किन्तु उसे समझनेकी स्वाभाविक
विशुद्ध बुद्धि नहीं है वह भी श्रुतका फल नहीं प्राप्त कर सकता । जैसे अन्धा पुरुष हाथमें दीपक
होते हुए भी उसका फल नहीं पाता । जिसके लोचन मूढ़े हैं उसे दर्पणसे क्या लाभ ? जो न दान
देता है न भोगता है उसे धनसे क्या लाभ ? जो डरपोक है उसे युद्धमे शस्त्रसे क्या लाभ ? इसी
तरह मन्दबुद्धि पुरुषको शास्त्रसे क्या लाभ ? ॥

ज्ञानावरण नामक कर्मका उदय आनेपर इस प्रकारकी बुद्धि नष्ट हो जाती है । ज्ञानियोंसे,
ज्ञानसे और ज्ञानके उपकरणोंसे द्वेष करनेसे, ज्ञानको और ज्ञानके साधनोंको छिपानेसे, प्रशंसनीय
ज्ञानमें दूषण लगानेसे, ईर्ष्यावश किसीको ज्ञानदान न करनेसे, किमीके ज्ञानाराधनमें बाधा डालनेसे,

काके पठनात् परेन्द्रियोपघातकारणाच्चैदिकं अवग्रहेहावायवारणाधिकल्पं मतिज्ञानं श्रुतादिकं वा नाशयति । उक्तं च—

अवग्रहीतुं च तथेहितुं च लोभेहितुं धारयितुं च सम्बन्धम् ।
 नासं भक्त्यर्कितानाम्पुरा नः कर्मोपमं ज्ञानमूर्तोमिति तन् ॥१॥
 अन्वयव पक्षम् इविरवच भुञ्जन् विद्धुं विनाऽसौ रसनास्तवात्मन् ।
 रेषथो विनासो वरवीतकानि ज्ञानमन्तो कर्मविधापवद्धः ॥२॥
 प्राणं चिना गन्धमथं हि जीवो जानाति नित्यं निजितं अन्वयव ।
 परन्तु बोधानुसिद्धमनाम्ना शोचंस्वरां न विद्येयु वेति ॥३॥
 एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियतां भवेत् स त्रीन्द्रियत्वं क्षुदुरिन्द्रियत्वम् ।
 तेनासुतः कर्ममहात्म्येन प्राप्नोति जीवो विनामरकतां च ॥४॥
 इष्टं हितं श्रोतुम्येहितुं च कर्तुं च वातुं विधिना च भोग्युत्तुम् ।
 स्वकर्मणा तेन नरो वृत्तस्तन् न बुध्यमानः पशुनैति साम्बन्धम् ॥५॥
 स्वबुद्धिमात्रापि ज्ञानवसायुं श्रेयः समीक्ष्यमिहाप्यविद्वान् ।
 सुद्वरसंस्थं च श्रुतोऽभिगम्यं स केन विद्यात् परलोकपथम् ॥६॥

प्रशस्त ज्ञानकी प्रशंसा न करनेसे, जीव ज्ञानावरण कर्मका बन्ध करता है । तथा ज्ञानादिका निग्रह करनेसे, अकालमें स्वाध्याय करनेसे, दूसरेकी इन्द्रियोका घात करनेसे संचित मतिज्ञानका, जिसके अवग्रह ईहा अवाय और धारणा भेद हैं तथा श्रुतज्ञान आदिका नाश हो जाता है । कहा है—

जो पहले ज्ञानको रोकनेमें निर्मित नीच कर्म उपाजित कर चुका है, वह सम्यक् रूपसे पदार्थको अवग्रहण करनेमें, ईहित करनेमें, अवायरूपसे जाननेमें तथा जाने हुएको धारण करनेमें समर्थ नहीं होता । अर्थात् उसे पदार्थोंका अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप ज्ञान नहीं होते । यह जीव आँसोंके विना देखता है । कानोंके विना सुनता है । जिह्वाके विना रसोंका स्वाद लेता है । त्वचाके विना शीत आदिका अनुभव करता है । किन्तु कर्मोंसे बद्ध होनेमें ऐसा नहीं कर सकता । तथा यह जीव विना नाकके गन्धको जानता है किन्तु ज्ञानावरण नामक कर्मका उदय होनेसे इन्द्रियोंके विना विषयोंको नहीं जानता । उस ज्ञानावरण नामक कर्मरूपी महामेघसे ढका होनेसे यह जीव एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असेनी पञ्चेन्द्रिय होता है । अपने ज्ञानावरण कर्मके उदयसे मनुष्य न हितको देखता है, न सुनता है, न हितको जाननेकी इच्छा करता है, न विधिपूर्वक धन देता है, न उसमें भोगता है । इस प्रकार वह पशुके समान हो रहा है । जो अपने समीपवर्ती भी कल्याणको जो कि अपनी बुद्धिमात्रसे प्राप्त करने योग्य है, नहीं जानता, वह सुद्वरवर्ती और शास्त्रके द्वारा जानने योग्य परलोकमें जो हितकर है उसे कैसे जान सकता

१. शारदाजि -अ० । २. त्वगीतये सत्यपि विष्वगेव न यो विशेषान् विषयेषु वेति ॥२॥
 एकैन्द्रिय -अ०, सु० । ३. द्विसाध्यानापिथ -आ० । ४. हास्पति -अ० । ५. च ततोऽभिगम्य सेकेन विरोधा -अ० ।

महानुता भीमस्तवः प्रवेशात् स्वस्वभावाग्नाति मन्वन्नाथ ।
 जगत्किञ्चरं चारुकरोचनाथ स्वार्हेहिनः कण्ठतरोऽज्ञभावः ॥७॥
 तवःप्रवेशोऽग्निसि मन्वन्तं च श्वाद्बुःककुन्वारुकरोपनं च ।
 जगत्तापिहैकत्र भवत्सवनस्तामहात्सर्वं दुःखमनुप्रभवति ॥८॥
 नासं विशालं मयं तृतीयं अतं च मया रहितो गृहीतुम् ।
 अन्धोऽपि यस्मिन् सति याति मार्गं श्रेये शिवे मोक्षमहानुरस्य ॥९॥

एवंमतामज्ञतामापादयति ज्ञानावरण न किञ्चित्निवारणसम शरणमस्ति । 'न तस्स विस्सवि उवाणो' नैव तस्य कर्मणो निवारणे उपायो दृश्यते । असद्वेदस्य कर्मण उदयात् 'अमव वि विसं होवि' अमृतमपि विषं भवति । 'अममपि सत्त्वं तृणमपि शस्त्रं भवति । 'णीया वि ह्योति अरी' बन्धवोऽपि शत्रवो भवन्ति ॥१७२४॥

ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमे किं स्यादित्याह—

शुक्लस्स वि होदि मदी कम्मोवसमे य दीसदि उवाओ ।

णीया अरी वि सत्त्वं वि तृणं अमयं च होदि विसं ॥१७२५॥

'शुक्लस्स वि होदि मदी' मूर्खस्यापि भवति मतिः । 'कम्मोवसमे य दीसदि उवाओ' कर्मोपशमे ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमे सति उपायो दृश्यते सुभगत्वपुण्यकर्मोदयात् । 'णीया अरी वि' शत्रवोऽपि बन्धवो भवन्ति 'सत्त्वं वि तृणं' शस्त्रमपि तृणं भवति, 'अमव होवि विसं' विषमप्यमृतं भवति सद्वेदोदये ॥१७२५॥

पाओदएण अत्थो हत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्सम ।

दूरादो वि सपुण्णस्स एदि अत्थो अयत्तेण ॥१७२६॥

'पाओदएण' लाभान्तरायस्य कर्मण उदयेन, 'अत्थो हत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्सम' हस्तप्राप्तोऽन्यथा नश्यति वृष । 'दूरादो वि' दूरतोऽपि । 'सपुण्णस्स' पुण्यवत् । 'एदि अत्थो' आयान्त्यर्था । 'अयत्तेण' अयत्नेन ॥१७२६॥

है । इस प्राणीका अज्ञानभाव महान् गुफाके भीतर भयंकर अन्धकारमे प्रवेश करनेसे, सदा अगाध जलमें डूबे रहनेसे और चिरकाल तक जेलखानेमें पड़े रहनेसे भी अधिक कष्टदायी है । अन्धकारमे प्रवेश जलमें डूबना और जेलखानेमें पड़े रहना तो एक ही भवमे दुःखदायी है किन्तु अज्ञानजन्य दुःख अनन्त भवोंमें दुःखदायी है । श्रुतज्ञान तीसरा विशाल नेत्र है । किन्तु बुद्धिसे रहित प्राणी उसे ग्रहण नहीं कर सकता । उस श्रुतज्ञानके होनेपर अन्धा मनुष्य भी मोक्षरूपी महानगरकं करुणाणकारी मार्ग पर जाता है ।

ज्ञानावरण कर्म इस प्रकारकी अज्ञताको लाता है उसको निवारण करनेमे समर्थ कोई शरण नहीं है । उसके निवारण का कोई उपाय नहीं है । असातावेदनीय कर्मके उदयसे अमृत भी विष हो जाता है । तृण भी गन्ध हो जाता है और बन्धु-बान्धव भी शत्रु हो जाते हैं ॥१७२४॥

शा०—टी०—ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर क्या होता है, यह कहते हैं—ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर मूर्खको भी बुद्धि प्राप्त होती है । पुण्यकर्मका उदय होनेसे कर्मोंके उपशमका उपाय दृष्टिगोचर होता है तथा सातावेदनीयके उदयमे शत्रु भी बन्धु हो जाते हैं, गन्ध भी तृण हो जाता है और विष भी अमृत हो जाता है ॥१७२५॥

पा०—पाप अर्थात् लाभान्तराय कर्मके उदयसे मनुष्यके हाथमे आया भी पदार्थ नष्ट हो

पाञ्चोदयण सुदृढु वि वेहुंतो को वि पाउणदि दोसं ।

पुण्णोदयण दुदृढु वि वेहुंतो को वि लहदि गुणं ॥१७२७॥

'पाञ्चोदयण' अयसस्कीर्तयवेन । 'सुदृढु वि वेहुंतो' सम्यक् वेष्टमानः । 'कोवि पाउणदि दोसं' कपिचत्वाप्नोति दोषं । 'पुण्णोदयण' पुण्यकर्मण उदयेन । 'दुदृढु वि वेहुंतो' यत्किञ्चिदकार्यं कुर्वन्नापि । 'कोवि लहदि गुणं' कपिचत्तभते गुणम् ॥१७२७॥

पुण्णोदयण कस्सइ गुणे असंते वि होइ जसकिन्वी ।

पाञ्चोदयण कस्सइ सगुणस्स वि होइ जसचाजो ॥१७२८॥

'पुण्णोदयण' पुण्यस्योदयेन । 'कस्सइ होइ जसकिन्वी' कस्यचिद्भवति यथास्कीर्तिश्च । 'पाञ्चोदयण' पापस्योदयेन । 'कस्सइ सुगुणस्स वि' कस्यचित् सुगुणवतोऽपि । 'जसचाजो होवि' यशोभातो भवति ॥१७२८॥

णिरुवक्कमस्स कम्मस्स फले समुवड्ढिदंमि दुक्खंमि ।

जादिजरा मरणरुजाधिताभयवेदणादीए ॥१७२९॥

'णिरुवक्कमस्स' निःप्रतीकारस्य कर्मणः । 'फले समुवड्ढिदंमि दुक्खंमि' समुपस्थिते दुःखे, 'जादि-जरा मरणरुजाधिताभयवेदणादीए' जाति, जराया, मरणे, व्याधी, चिन्तायां, भये, वेदनायां च समुपस्थिते ॥१७२९॥

जीवाण पत्थि कोईं ताणं सरणं च जो हवेज्ज इषं ।

पायालमदिगदो वि य ण मुच्चदि सकम्मउदयम्मि ॥१७३०॥

'जीवाण' जीवस्य । नास्ति कपिचद्रक्षा शरणं वा । 'जो हवेज्ज' यो भवेत् । 'पायालमदिगदो वि' पातालं प्रविष्टोऽपि । 'ण मुच्चदि' । न मुच्यते दुःखात् । 'सकम्मउदयवेहि' स्वकर्माद्ये सति ॥१७३०॥

गिरिकंदरं च अहविं सेलं भूमिं च उदवि लोणंतं ।

अदिगंतुणं वि जीवो ण मुच्चदि उदिण्णकम्मणेण ॥१७३१॥

जाता है । और पुण्यवानको बिना प्रयत्न किये दूरसे भी पदार्थ प्राप्त होता है ॥१७२६॥

गा०—पाप अर्थात् अयशःकीर्ति नामक कर्मके उदयसे सम्यक् वेष्टा करनेवाला भी दोषका भागी होता है । और पुण्य कर्मके उदयसे न करने योग्य भी काम करनेवाला प्रशंसाका पात्र होता है ॥१७२७॥

गा०—पुण्यके उदयसे किसीमें गुण न होते भी उसका यश फैलता है । और पापके उदयसे गुणवानका भी अपयश होता है ॥१७२८॥

पा०—जिसका कोई प्रतीकार नहीं है ऐसे कर्मका उदय आनेपर जन्म, जरा, मरण, रोग, चिन्ता, भय, वेदना आदि दुःख भोगने होते हैं ॥१७२९॥

गा०—ऐसी अवस्थामें जीवका कोई रक्षक नहीं है जिसको वह शरणमें जाये । अपने कर्मके उदयमें पातालमें प्रवेश करनेपर भी कर्मसे छुटकारा नहीं होता ॥१७३०॥

'गिरिकम्बरं च' गिरिकम्बरं अटवीं शैलभूमिमुदधि । लोकान्तं प्रविश्यापि जीवो न मुच्यते । उच्यते न कर्मणा ॥१७३१॥

दुग्धदुग्धजनेययाया परिसप्यादी य जंति भूमीजो ।

मच्छा जलमि पक्षी णममि कम्मं तु सञ्चत्य ॥१७३२॥

'दुग्धदुग्धजनेयया' द्विचतुरश्रजाविका । 'परिसप्यादी य जंति भूमीजो' परिसपर्यादिवच वान्ति भूमावेव । मत्स्या जले पक्षिणो नमन्ति वान्ति । कर्म सर्वत्रयं ॥१७३२॥

रविचंद्रबादवेडुम्बियाणमगमा वि अत्थि हु पदेसा ।

ण पुणो अत्थि एएसो अगमो कम्मस्स होइ इह ॥१७३३॥

'रविचंद्रबादवेडुम्बियाण' सूर्येण, चंद्रेण, वातेन, देवैश्चागम्यास्सन्ति प्रवेशा । न कर्मणामगम्योऽप्रवेशोऽस्ति लोके ॥१७३३॥

विज्जोसहमंतबलं बलवीरिय अस्सहत्थिरहजोहा ।

सामादिउबाया वा ण होंति कम्मोदए सरणं ॥१७३४॥

'विज्जान्तोसचिकवोरियं' विद्या स्वाहाकारान्ता तद्रहितता मन्त्रस्य । वीर्यमात्मन शक्यत्यतिशय । बलमाहारव्यायामजं शरीरस्य दाहघ्नं, अनिकबन्धः । सामभेदेदण्डोपप्रदानाख्यास्य हेतवो न शरण ॥१७३४॥

जह आइच्चहुदितं कोई वारंतजो जगे णत्थि ।

तह कम्मसुदीरंतं कोई वारंतजो जगे णत्थि ॥१७३५॥

'जह आइच्चहुदितं' यथा दिनमणिमुदयाचलचूडार्णतामुपयान्त न निवारयति कश्चित् तथा समधिगत-सहकारिकारणं कर्म न निषेधुमस्ति समर्थः ॥१७३५॥

शा०—पहाड़की गुफा, अटवी, पर्वत, भूमि, समुद्र, यहाँ तक कि लोकके अन्त तक चले जानेपर भी जीव उदयप्राप्त कर्मते नहीं छूटता ॥१७३१॥

शा०—दोपाये, चौपाये और अनेक पैर वाले सर्प आदि तो भूमिपर ही जाते हैं। मच्छ जलमें जाते हैं। पक्षी आकाशमें जाते हैं किन्तु कर्म सर्वत्र पहुंचता है। उसकी गति सर्वत्र है ॥१७३२॥

शा०—लोकमें ऐसे प्रदेश हैं जो सूर्य, चन्द्र, वायु और देवोंके द्वारा अगम्य हैं अर्थात् जहाँ ये नहीं जा सकते। किन्तु ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ कर्मकी गति नहीं है ॥१७३३॥

शा०—कर्मका उदय होनेपर विद्या, मंत्र, औषध, बल, वीर्य, घोड़े, हाथी, रथ, घोड़ा, साम, दाम, दण्ड, भेद आदि उपाय शरण नहीं हैं ॥१७३४॥

टी०—जिसके अन्तमें स्वाहाकार होता है उसे विद्या कहते हैं। और जिसके अन्तमें स्वाहाकार नहीं होता उसे मंत्र कहते हैं। वीर्य आत्माकी शक्तिको कहते हैं और दण्ड आहार व्यायामसे उत्पन्न शरीरकी दृढ़ताको कहते हैं ॥१७३४॥

शा०—जैसे सूर्यको उदयाचलके मस्तकपर आनेको जगत्में कोई नहीं रोक सकता वही

रोगाणां पडिगारा विद्वा कम्मस्स णत्थि पडिगारो ।
कम्मं मलेदि हु जगं हत्थीव गिरंकुसो मत्तो ॥१७३६॥

'रोगाणां पडिगारा विद्वा' व्याधीनां प्रतीकारा वृष्टा औषधाद्यः । कर्मणां नास्ति प्रतीकारः ।
जगद्वशेषं महं वति कर्म मदगज इव गिरंकुसो नल्लिनीवनं ॥१७३६॥

रोगाणां पडिगारो णत्थि य कम्मे णरस्स सङ्गुदिण्णे ।
रोगाणां पडिगारो होदि हु कम्मे उवसमंते ॥१७३७॥

'रोगाणां पडिगारो' व्याधीनां प्रतीकारो नास्ति कर्मण्यसद्वेषे प्राप्तोवये सति, पथ्यौषधादिनिश्चयमात्रेण
रोगाधीना सोऽपि कर्मण्युपशमं गत एव नानुपशान्तेऽन ॥१७३७॥

विज्जाहरा य बलदेववासुदेवा य चक्कवड्डी वा ।
देविंदा व ण सरणं कस्सइ कम्मोदय होंति ॥१७३८॥

'विज्जाहरा य' विद्याधरादयो महाबलपराक्रमा अपि न शरणं भवन्ति कर्मोदय इति
शास्त्रार्थः ॥१७३८॥

बोलेज्ज च कमतो भूमि उदधि तरिज्ज पवमाणो ।
ण पुणो तीरदि कम्मस्स फलमुदिण्णस्स बोलेदुं ॥१७३९॥

'बोलेज्ज' उल्लङ्घयन्तु गच्छन् भूमि, समुद्रं तरेत् प्लवमानः । उदीर्यन्त्य कर्मणः फलमुल्लङ्घयितुं न
वेत्ति कोऽप्यो वा महाबलोऽपि ॥१७३९॥

सीहतिमिगिलगहिदस्स मगो मच्छो व णत्थि जइ सरणं ।
कम्मोदयम्मि जीवस्स णत्थि सरणं तथा कोई ॥१७४०॥

'सीहतिमिगिलगहिदस्स' सिंहने तिमिगिलाख्येन महामत्स्येन च गृहीतस्य नैव शरणं भवति अन्यो मृगो
मत्स्यो वा । तथा कर्मोदये जीवस्य नास्ति कश्चिच्छरणम् ॥१७४०॥

प्रकार सहकारी कारणोंके मिलनेपर उदयमें आये कर्मको जगत्में कोई रोक नहीं सकता ॥१७३५॥

भा०—रोगोंका प्रतीकार औषध आदि हैं किन्तु कर्मका कोई प्रतीकार नहीं है । जैसे गिरंकुश मत्त हाथी कमलनीके वनको उजाड़ देता है वैसे ही कर्म समस्त जगत्को मसल देता है ॥१७३६॥

भा०—असातावेदनीय कर्मका उदय होनेपर रोगोंका प्रतीकार नहीं है । पथ्य औषध आदिसे जो रोगोंका उपशम होता है वह भी कर्मका उपशम होनेपर ही होता है । कर्मका उपशम न होनेपर औषध आदि भी लाभकारी नहीं होती ॥१७३७॥

भा०—कर्मका उदय होनेपर विद्याधर, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती अथवा देवेन्द्र जैसे महाबली, महापराक्रमी भी किसीके शरण नहीं होते । वे भी रक्षा नहीं कर सकते ॥१७३८॥

भा०—बल्ला हुआ प्राणी भूमिको लांच सकता है । तैरता हुआ प्राणी समुद्रको तैर सकता है । किन्तु उदयागत कर्मके फलको उल्लंघन कोई महाबली भी नहीं कर सकता । उसे सबको भोगना पड़ता ही है ॥१७३९॥

भा०—जैसे कोई सिंह किसी मृगको पकड़ ले तो दूसरा मृग उसकी रक्षा नहीं कर सकता ।

व्याधिनामशरणात्वं मनसावधार्यं इदं शरणमिति चिन्तनीयमिति कथयति—

दंसज्जाणचरितं तवो य ताणं च होइ सरणं च ।

जीवस्स कम्मजासणहेदुं कम्म उदिण्णम्मि ॥१७४१॥

‘दंसज्जाणचरितं तवो च’ ज्ञान दर्शनं चारित्रं तपश्च रक्षा शरणं च भवति । जीवस्य कर्मणा ताणहेतुः कर्मव्युत्थैर्ज्यस्तद्वेदादी । एवमशरणानुप्रेक्षा गता ॥ अशरणा ॥१७४१॥

एकत्वानुप्रेक्षा उत्तरेण प्रबन्धेनोच्यते—

पावं करेदि जीवो बंधवहेदुं सररीरहेदुं च ।

शिरयादिसु तस्स फलं एक्को सो चेष वेदेदि ॥१७४२॥

पापं करोति जीवो बान्धवनिमित्तं शरीरनिमित्तं च । बान्धवशरीरपोषणार्थं कृतस्य कर्मणः फलं नरकादिष्वेक एवानुभवति ॥१७४२॥

नरकादिष्वितिषु प्राप्तं दुःखमपयमंतस्तत्रासंतो बान्धवाः किं कुर्वन्तीति आशांका निरम्यन्ति मन्निहिताः पश्यन्तोऽप्यकिंचित्करा इति कथनेन—

रोगादिवेदणाओ वेदयमाणस्स णिययकम्मफलं ।

पेच्छंता वि समक्खं किंचिवि ण करंति से णियया ॥१७४३॥

‘रोगादिवेदणाओ’ रोगादिदुःखानि । ‘णिययकम्मफलं’ निजकर्मफलं स्वयोगत्रयोपचितस्य कर्मणः फलं । ‘वेदयमाणस्स’ वेदयमानस्य । ‘समक्खं पेच्छंतावि’ प्रत्यक्षं पश्यन्तोऽपि । ‘णियया’ निजका बान्धवा, ‘से’ तस्स

या तिमिगल नामक महात्मस्य किसी मच्छको पकड़ लो तो दूसरा मच्छ उसको नहीं छुड़ा सकता । उसी प्रकार कर्मका उदय जानेपर जीवका कोई शरण नहीं होता ॥१७४०॥

आगे कहते हैं कि ठगर जनका वर्णन किया है, वे शरण नहीं हैं ऐसा मनमे दृढ़ निश्चय करके आगे कहे पदावं शरण हैं ऐसा विचारना चाहिये—

भा०—जीवके असातावेदनीय आदि कर्मका उदय होनेपर कर्मके नाशके कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप ही रक्षक हैं और शरण है ॥१७४१॥

इस प्रकार अशरणानुप्रेक्षाका कथन हुआ । आगे एकत्वानुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

भा०— जीव बन्धु-बान्धवोंके निमित्त और शरीरके निमित्त पाप करता है । और बान्धवोंके तथा अपने शरीरके पोषणके लिये जो पापकर्म करता है उसका फल नरकादिमें अकेला ही भोगता है ॥१७४२॥

यहाँ कोई कह सकता है कि नरकादि गतियोंमें वह जो दुःख भोगता है उसे उसके बन्धुबान्धव नहीं देखते क्योंकि वे वहाँ नहीं हैं इसीसे वे कुछ कर नहीं सकते । इसके उत्तरमें कहते हैं कि निकट रहकर देखते हुए भी वे कुछ नहीं कर सकते—

भा०-डी०—अपने मनोयोग, बचनयोग और काययोगसे संचित कर्मका फल जब मह जीव भोगता है तो प्रत्यक्ष देखते हुए भी उसके बन्धुगण कुछ भी उसका प्रतीकार नहीं करते । इस

'विचिन्वि च करति' किञ्चिदपि प्रतीकारवात् न कुर्वन्ति । परन्तु वा अन्यन्येक एवानुभवति जन्तुं तदीय-
कर्मफलविधानकरणे समर्थः कश्चिदिति भावः ॥१७४३॥

तद् तथा यथा दुःखं स्वकर्मफलमेक एवानुभवति—

तद् मरुद् एकज्जो येष तस्स ण विदिज्जमो हवइ कोई ।

भोगे भोत्तुं गियया विदिज्जया ण पुण कम्मफलं ॥१७४४॥

तथा स्वायुर्वर्गने । 'एकज्जो येष मरुदि' एक एव प्राणास्त्यजति । 'ण विदिज्जमो हवइ कोई' न
सहायो भवति कश्चिन् । तदीयं मरुतं संविमण्य गृहीत्वा सहायतां न कश्चित्करोतीत्यर्थः । अन्यथा एक एव
श्रितते इत्यवष्टमाने बहुमानन्येकदा मरणत्वात् । 'भोगे' भुज्यन्तेऽनुभूयन्ते इति भोगाः इत्यापि अथानवसनमुत्स-
वासादीनि । भोक्तुमनुभवितुं निजका बान्धवाः । 'विदिज्जया' सहायाः । 'ण पुण' न पुनः । 'कम्मफलं भोत्तुं
जीवना विदिज्जया' तदीयकर्मफलं भोक्तुं न बन्धवस्सहायाः ॥१७४५॥

प्रकारान्तरेणैकत्वभावनामाचष्टे—

णीया अत्वा देहादिया य संग्गा ण कस्स इह होति ।

परल्लोगं अण्णेत्ता जदि चि दइज्जंति ते सुट्ठु ॥१७४५॥

'णीया अत्वा' बन्धनो धनं शरीरादिकाश्च परिग्रहाः कस्यचिदपि सम्बन्धिनी न यान्ति परलोकं प्रति
प्रतिवर्तन् । यद्यपि सुष्ठु कान्मन्ते परिग्रहाः । गृहीत्वा तान्यपि नामास्य गन्तुमुत्कण्ठा तथापि ते नानुगच्छन्त्येक
एव यातीत्येकत्वभावना ॥१७४५॥

इहल्लोगबंधवा ते गियया परस्स होति ल्लोगस्स ।

तद् येष धणं देहो संग्गा सयणासणादी य ॥१७४६॥

लोक और परलोकमें जीव अकेला ही भोगता है । उसके कर्मफलका बटवारा करनेमें समर्थ कोई
भी नहीं है । यह इसका अभिप्राय है ॥१७४३॥

या०-टी०—जैसे यह जीव अपने कर्मफलको स्वयं ही भोगता है उसी प्रकार अपनी आयु
समाप्त होनेपर अकेला ही प्राणोंको त्यागता है । दूसरा कोई भी उसका सहायक नहीं है । अर्थात्
उसके मरणका भागीदार बनकर कोई भी उसको सहायता नहीं करता । यदि एक ही मरता है
ऐसा न हो तो एकके साथ बहुतोंको मरण प्राप्त होता है । जो भोगे जाते हैं उन्हें भोग कहते हैं ।
भोजन, बस्त्र, धूसरको सुवासित करनेवाले द्रव्य भोग हैं । भोगोंको भोगनेमें तो अपने बन्धु-बान्धव
सहायक होते हैं । किन्तु उसके कर्मों का फल भोगनेमें कोई सहायक नहीं होता ॥१७४५॥

प्रकारान्तरसे एकत्व भावनाको कहते हैं—

या०-टी०—बन्धु-बान्धव, धन और शरीर आदि परिग्रह किसीके नहीं होते । जब यह
जीव परलोक जाता है तो उसके साथ नहीं जाते । यद्यपि मनुष्य परिग्रहोसे बहुत अनुराग रखता
है । वह यदि उनको पकड़कर साथ ले जाना चाहे तो भी वे उसके साथ नहीं जाते । जीव अकेला
ही जाता है । यह एकत्व भावना है ॥१७४५॥

‘इहलोकबान्धवा’ अस्मिन्नेव जन्मनि बान्धवा । ‘वरस्त म्मोगस्त क षियया ह्येति’ अन्यस्य जन्मनो न बन्धवो भवन्ति । ‘तह बंध बांधवा इव क्व देहो संता सध्यासत्तादी ब’ धनं शरीरं शयनामनादयश्च परिग्रहा इह लोके एव न परजन्मनि उपकारका भवन्ति । एवं हि ते बान्धवा. परिग्रहाश्च सहाया इति ग्रहोर्नू शक्यन्ते यथानुपायितया उपकारिणः स्युः । इह जन्मन्येव ये प्रयासिन्ति ते परलोकं गच्छन्तमनुसरन्तीति क प्रत्याशा ॥१७४६॥

यद्येते बान्धवादयो न सहायाः कस्तर्हि सहाय इत्याशङ्कयामाचष्टे—

जो पुण धम्मो जीवेण कदो सम्मत्तचरणसुदमइओ ।

सो परलोए जीवस्स होइ गुणकारकसहाओ ॥१७४७॥

‘जो पुण’ य पुनः । ‘जीवेण कदो धम्मो’ जीवेन कृतो धर्म, ‘सम्मत्तचरणसुदमइओ’ रत्नत्रयरूपो दुर्गतिप्रसिधत्तं जीवं धारयति घटे वा शुभे स्थाने इति रत्नत्रय धर्म इत्युच्यते । ‘सो’ स व्यावर्णितो धर्मः । ‘जीवस्स’ जीवस्य । ‘वरलोणे’ परजन्मनि । गुणकारक सहायो भवति अभ्युदयनिर्धेयमनुभवप्रदानान् । तथा चोक्तं—

वत्वा छायापुष्पिष्योर्धरविषपरति वीतभीशुम्बिवावा

कृत्वा लोकत्रयैष्यं सुरनरपतिभिः प्राप्य पूजां विशिष्टाम् ।

मृत्युव्याधिप्रसृतिप्रियविगमवरारोगशोकग्रहीणे

मोक्षे नित्योदसौख्ये क्षिपति निरुच्ये यस्त मोक्ष्यतश्चुष्यते ॥ इति ॥१७४७॥

ननु च ‘असहायत्वभावनाधिकारे सहायनिरूपणा कथमुपयुज्यते । नैव दोषः यो २येन जन्तुना सहाय-

गा०—टी०—जो इस जन्ममें बान्धव हैं वे परलोकमें बान्धव नहीं होते । बान्धवोंकी ही तरह धन, शरीर, शयन, आसन आदि परिग्रह भी इसी लोकमें काम आते हैं परलोकमें नहीं । यदि वे बान्धव और परिग्रह सदा रहनेवाले हों तो उन्हें सहायक कहा जा सकता है । जब वे इसी जन्ममें नष्ट हो जाते हैं तो वे परलोकमें जानेपर साथमें जायेंगे, इसकी आशा कैसी ? ॥१७४६॥

यदि ये बन्धु आदि सहायक नहीं हैं तो कौन सहायक हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—टी०—जीवने सम्यक्त्वचारित्र ज्ञानरूप अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्म किया है जो दुर्गतिमें जानेवाले जीवका धारण करता है उसे शुभ स्थानमें धरता है वह धर्म है इस तरह रत्नत्रयको धर्म कहते हैं । वह धर्म परलोकमें जीवका गुणकारक सहायक होता है । क्योंकि उससे सांसारिक और पारमाधिक सुख मिलता है । कहा है—

वह धर्म हमारी रक्षा करे जो मर्त्यलोक और स्वर्गलोकके भय, शोक और विधादसे रहित विषय सुखको देकर देवेन्द्रों और राजेन्द्रोंसे विशिष्ट रूपसे पूजित तीन लोकोंका स्वामी तीर्थङ्कर पद प्रदान करता है तथा जन्ममें मृत्यु, रोग, जन्म, प्रियविभोग, जरा, व्याधि और शोक्से रहित नित्य उत्कृष्ट और अनुपम सुखबाले मोक्षमें ले जाता है ।

सङ्का—यह अधिकार असहाय भावनाका है कि जीवका कोई सहाय नहीं है । इसमें सहायका कथन करना कैसे उचित है ?

१. असहायव्रतनाधिकारे—आ० । २. योजने बन्धुता—आ० ।

स्वीकृत्यसिद्धौ वाग्भवादिस्तौ स्यादौ न भवतीति न उपाधरः कार्यः । सम्यक्त्वज्ञानचारिणामलक्ष्यु चर्कः । चर्कसिद्धौ चोपपरिणाम उपकारि सहाय इति । उपाधरो ज्ञानते सुपरिणाम । अतिव्यतिरिक्तव्यसिद्धौ चोपपरिणामेन साधिकादीनां उपाधुत्सहायताभावात् प्रत्युत्तैव सहायता समर्पिता भविष्यति । अतोच्यते । सम्यक्त्वाद्यवः शुभपरिणामाः प्रकृतपरिणामादित्योपपन्नत्वात्सर्वज्ञानानुःसङ्गोपाधिकयात्मनि निवास नस्यति तेन देवो मानवः चर्कसिद्धयः पर्याप्तकः कुलीनः शुभनीरोपचारीरतिपरजीवी सुधी भविष्यति । चर्कानुवर्तिनः पुण्यस्वोद्ययात् दीक्षाभिमुक्ता बुद्धिगिरिस्वाररत्नकमसंपत्तिव्य भविष्यतीति संभवत्युपकारसहायता चर्कस्य । ननु च ज्ञान-पूर्वकत्वात्पर्यवस्य 'सम्यक्त्वव्यक्त्युत्पत्तौ' इति कथमुत्पत्त्यर्थः ? अथर्वस्याभिप्रायः सत्यपि श्रुतज्ञाने अर्थात्-उत्पत्त्युत्पत्तिवारिणामावाप्त्य महत्त्वात् संवर्णितरे मुख्यमुने भवतः । तस्मान्पुण्याभिपचारिणं प्रथमं किंच उक्त्यानुमानपरिणामानुमेयं अतः परार्थत्वात्ज्ञानमप्रधानं ज्ञेयत्वात्पर्यवर्तं प्रथमानिति । 'ओ पुण्य चर्को ज्ञेयव्यक्त्यौ' इत्यनेन चर्कस्य सर्वथा नित्यत्वं प्रतिषिद्धं कलबीचिष्यमनुभवसिद्धं, सर्वद्वैकरूपत्वं चर्कस्य विकल्पते । सुखसाधनानां स्वीकृत्यन्यथावात्वादीनां वैचिष्यात् तत्कार्यसुखसाध्यापि वैश्वरूप्यं नित्यत्वेपि चर्कस्य चटवेधिति चेत् अतोच्यते । अतिव्यतिरिक्तव्यसिद्धौसुखसाधकता तस्य चर्कसिद्धता न वेत्यप विकल्पद्वये चर्कसिद्धत्वात्प्रत्यये

समाधान—यह दोष उचित नहीं है क्योंकि जिस जीवने यहाँ जिस बन्धु आदिको अपना सहायक रूपसे माना हुआ है वह सहायक नहीं है इसलिये उसमें आदरभाव नहीं करना चाहिये । सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र्यकर्म चर्क जीविका परिणाम होनेसे उसका उपकारी सहायक है । इसलिये आचार्य उसमें आदर कराते हैं ।

प्रश्न—सात्त्विक चर्कसे सहाय होनेका कथन न करके भी जाति बन्धु धन आदि उस प्रकारके सहायक नहीं होनेसे प्रस्तुत चर्माधिके ही सहायक होनेका समर्थन होता है ।

समाधान—सम्यक्त्व आदि शुभपरिणाम आत्मानमें उत्तम वृत्ति, उत्तम जाति, उत्तम मोक्ष, उत्तम संहृदन, आयु, साक्षात्वेदनीय आदि कर्मों को उत्पन्न करके नष्ट हो जाते हैं । उन कर्मोंके उदयसे जीव, देव अथवा पंचेन्द्रिय पर्याप्तक कुलीन, शुभ नीरोग शरीर वाला चिरजीवी और सुधी होता है तथा चर्कानुवर्तिन पुण्यके उदयसे बुद्धि मुनिदीक्षाके अभिमुखी होती है और निरति-चार रत्नत्रयकर्म सम्पत्ति होती है । अतः चर्क सहायक और उपकारी है ।

प्रश्न—चारित्र्य ज्ञानपूर्वक होता है अतः अन्यकारणसे 'सम्यक्त्वचारित्र्य श्रुतमतिक' कैसे कहा ? चर्क चारित्र्यके फलत्वात् ज्ञानका निर्देश किया है ?

समाधान—इसका अभिप्राय यह है कि असंयत सम्यग्दृष्टिके श्रुतज्ञान होनेपर भी चारित्र्यका अभाव होनेसे बहुत अधिक संवर और निर्बरा ये दोनों मुख्य गुण नहीं होते । इसलिये जो संवर और निर्बराके अर्थी हैं उनके लिये चारित्र्यकी प्रधानता है । तथा ज्ञान उपाय है और चारित्र्य उपाय है अतः परार्थ होनेसे ज्ञान अप्रधान है तथा उपाय—उपाय द्वारा प्राप्य होनेसे चारित्र्य प्रधान है । 'ओ चर्क जीवने किया' ऐसा कहनेसे चर्कसे सर्वथा नित्य होनेका निषेध किया है । चर्कके कलकी विचित्रता अनुभवसे सिद्ध है । अतः चर्ककी सर्वदा एकरूपता आगम बिच्छ है ।

प्रश्न—सुखके साधन स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला आदि अनेक हैं अतः उनका कार्य सुख की अनेकें रूप है । इस तरह चर्कको नित्य मानने पर भी फल की विचित्रता नन जाती है ।

समाधान—कुछ साधन सात्त्विक सुखदायक होते हैं और कुछ साधारण सुखदायक होते

कर्म न वैचित्र्यं धर्मस्य । अथ न धर्मो हेतुः स्वहेतुसामान्यावतता^१सुखसाधनानां सातिशयविरतिशयवश-
दायसः फलविभाग इति धर्मस्यानर्थक्यमापद्यते । ततो न धर्मस्य सर्वथा नित्यता ॥१७४७॥

शरीरद्रविषाधीनां असहायतामाननां तद्बोधरानुप्रापनिवर्तनमुक्तेन स्थिरवस्तुत्तरमाथा—

बद्धस्त बंधणेण च ण रागो देह्मि होइ जाणिससि ।

विससरिसेसु ण रागो अत्थेसु महाभयेसु तदा ॥१७४८॥

'बद्धस्त बंधणेण च ण रागो' रज्जुमुद्धृत्तादिभिर्बद्धस्य बन्धनक्रियासाधकत्वमे रज्ज्वादी दुःखहेतौ यथा न रागः । तथा 'देह्मि होइ जाणिससि' सुखदुःखसाधनविकल्पस्य दुःखहेतावसारेऽस्थिरेऽपुत्रिणि कार्ये न रागो भवति । गुणपसपातिनो हि प्राज्ञाः । 'विससरिसेसु' विषयदुष्टेष्वपि 'च रागो जाणिससि' ज्ञानिनो नैव रागः । केतु ? 'अत्थेसु सन्धेसु' । कथमर्थानां विषयदुष्टतेति चेत् । यथा विषं दुःखदायि प्राणान्बिषयोष्यति च तथाबोध्यंत्ररसार्द्रेषु व्यापृतं दुःखेन योजयति, प्राणानां च विनाशे निमित्तं भवति । तथाहि । प्राणिनोऽर्था एव परस्पर प्रघाते प्रयतन्ते अतएव महाभयहेतुत्वान्महाभयतापानां सूत्रकारणोक्तः । 'अत्थेसु महाभयेसु' इति । यद्धि यस्यानुपकारि तस्य तस्मिन् विवेकिनः सहायबुद्धिर्यथा विषकष्टकादी, अपकारि शरीरद्रविषाधिकमिति पुनः पुनरभ्यस्यतो नेतरः सहायोऽयमिति चिन्ताप्रबन्धः प्रवर्तते ॥ एकत ॥१७४८॥

हैं । इसमें धर्म भी कारण है या नहीं ? यदि धर्म भी कारण है तो धर्ममें वैचित्र्य क्यों नहीं हुआ । यदि कहोगे कि धर्म कारण नहीं है, सुखके साधन अपने सामान्य कारणोंके अधीन हैं और उनका जो सातिशय तथा निरतिशय फलभेद पाया जाता है वह भी उन्हींके अधीन है तो धर्म निरर्थक सिद्ध होता है । अतः धर्म सर्वथा नित्य नहीं है ॥१७४७॥

विशेषार्थ—यहाँ टीकाकारका धर्मसे अभिप्राय श्च भ परिणामोंसे है । श्च भ परिणामोंकी हीनाधिकतानके अनुसार पुण्यबन्धमें विचित्रता होती है और तदनुसार फलमें विचित्रता होती है ॥१७४७॥

शरीर घन आदिमें असहायताकी भावनाको उनके विषयमें जो अनुराग है उस अनुरागको हटानेके द्वाग स्थिर करते हैं—

गा०-टी०—जैसे पुरुष रस्सी सांकल आदिसे बंधा है उसे बन्धन क्रियामें साधकत्वम रस्सी आदिमें राग नहीं होना क्योंकि वे उसके दुःखमें हेतु हैं, उसी प्रकार जो अपने सुख और दुःखके साधनोंमें भेदको जानता है उसे दुःखके हेतु, असार, अस्थिर अशुचि शरीरमें 'राग नहीं होता । विद्वान्बन्ध गुणोके पक्षपाती होते हैं । अतः विषयके समान सब अर्थों में ज्ञानीका राग नहीं होता ।

शंका—सब अर्थ विषयके समान कैसे हैं ?

समाधान—जैसे विष दुःखदायीहै, प्राण हरण कर लेता है वैसे ही अर्थ भी जो उसके उपा-
र्जन और रक्षणमे लगता है उस दुःख देता है । तथा प्राणोंके विनाशमें निमित्त होता है । इसका बुलासा इस प्रकार है—प्राणीगण अर्थके लिये ही परस्परमें बात करनेमें लगते हैं । इसीलिये बंध-
कारने महाभयका कारण होनेसे अर्थोंको महाभयरूप कहा है । जो जिसका उपकार नहीं करता, वल्कि अनुपकार करना है विवेकी पुरुष उसे अपना सहायक नहीं मानते । जैसे विषकष्टक

अन्यत्वभावनामिच्छावर्तमानतः प्रकल्पः—

किंदा जीवो जग्नो जग्नं सोषदि दु दुषिष्यं गीयं ।

अ य बहुदुःखसुखसहकारकमप्यागं सोषदि अनुद्धी ॥१७४९॥

'किंदा जग्नो जीवो जग्नं जीवं किंदा सोषयिषि' परवटना । जग्नो जीवो जीवं स्वस्मद्गन्धं प्रातिवर्षं । 'दुषिष्यं' दुःखेनाभिभूतं, कथं तावच्छोषयति । 'अ य सोषयि' नैव सोषयते । कं ? 'जसत्तं' आत्मानं ? कीदृशमृतं 'सुखसुखसुखसहकारकं' शारीरैरानुभूतं, मानसीः, स्वाभाविकैश्च बहुभिर्दुःखैः पुरस्कृतं । 'अनुद्धि' मयाज्जीते काके चतसृषु गतिषु विचिन्वासरं वीरयत् इन्द्र्यक्षेत्राकामासहकारिकारणसामिन्ध्यानेकावनुपूरतनापचः प्राप्याः पुनरप्यावनिर्व्यति वां लकीकसु' । न हि कारणाभ्यासत्विषयसहकारिप्रत्यये उचि कर्मव्यानुद्धो नामारित, यो यद्व्यापेपि नासाद्येवुदयं स कथमपि सङ्कोचः ? यथा सत्यपि यवबीजेऽनुपचायमानवपूताङ्कुराः । तथा सत्य-सङ्कोचये यदि न स्युर्नमिति च । तस्मादात्मप्रवेक्षावत्त्वित्यस्य दुःखबीजस्य केनोपायेनापायो भविष्यतीत्य-कृतमुद्धितया अनुद्धिः । एतदुक्तं भवति परस्य दुःखं आत्मन एव दुःखमिति मत्वा शोकमयमूर्षति, तद्विनाशे च सततं प्रयत्नं करोति । तथा च प्रवर्तमानस्य स्वदुःखनिवृत्तये न प्रारम्भोऽस्ति । तद्योयं दुःखं भोजं भोजं पर्यटति । न च परो दुःखान्नातुं शक्यते । तेन हि सञ्चितानि कर्माणि कथं फलं न प्रयच्छन्ति । न हि परस्य शोकः फलदायिनां कर्मणा प्रविबन्धकः, तथा चाभ्यधायि—

आधिको कोई अपना सहायक नहीं मानता । उसी प्रकार शरीर बन वगैरह भी अपकार करनेवाले हैं । इस प्रकार बार-बार अभ्यास करनेसे 'मेरा कोई अन्य सहाय नहीं है । ऐसा सतत् चिन्तन चलता है ॥१७४८॥

आगे अन्यत्व भावनाका कथन करते हैं—

शा०-टी०—अन्य जीव अपनेसे अन्य सम्बन्धी जनोंको दुःखसे पीड़ित देखकर कैसे शोक करता है ? किन्तु यह अज्ञानी शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक अनेक दुःखोंसे घिरे हुए अपने आत्माको चिन्ता नहीं करता है कि अतीतकालमें मैंने चारों गतियोंमें अनेक प्रकारके असातावेदनीयके उदयसे तथा द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप सहकारी कारणोंके मिलनेसे निरन्तर आपदाएँ भोगीं और वे आपदाएँ पुनः भूसे परेशान करनेके लिये भविष्यमें आयेंगी । सहकारी कारणोंके साथ कारणके रहते हुए कार्य अवश्य उत्पन्न होता है । जो जिसके रहते हुए भी उत्पन्न नहीं होता वह उसका कारण कैसे हो सकता है ? जैसे जी बोनेपर आमका अंकुर पैदा नहीं होता अतः आमके अंकुरका कारण जीके बीज नहीं हैं । उसी प्रकार असातावेदनीयका उदय होते हुए भी यदि दुःख नहीं होता तो असातावेदनीय दुःखका कारण नहीं हो सकता । किन्तु असातावेदनीयके उदयमें दुःख अवश्य होता है । अतः आत्माके प्रदेसोंमें जो दुःखके कारण उपस्थित हैं उनका विनाश किस उपायसे होगा, ऐसा विचार न करनेसे उसे अनुद्धि कहा है । कहनेका अभिप्राय यह है कि यह अज्ञानी जीव दूसरेके दुःखको अपना ही दुःख मानकर शोक करता है और उसके विनाशका निरन्तर प्रयत्न करता है । और ऐसा करनेसे अपने दुःखको दूर करनेका प्रारम्भ भी यहीं कर पाता । इससे दुःख भोगते-भोगते भ्रमण करता है । दूसरेको दुःखसे बचाना शक्य नहीं है । उसने जो कर्मबन्ध किया है वह उसे फल क्यों नहीं देगा ? दूसरेके शोक करनेसे फल देनेवाले कर्म रुक नहीं जाते । कहा भी है—

श्रीति कूर्त्तं कूर्त्तं कर्म कर्त्तव्यमन्यवर्त्तव्यम् ।

न निवारयिष्ये कर्म 'संसारमिच्छेदरि ॥ इति ॥

तेनान्यदुःखापेक्षः शोकोऽप्य व्यर्थः । अन्यस्तन्मेव च स्वदुःखात्पुनर्यत् परदुःखस्योप्यते । अन्यं परदुःखात्तस्मानुप्रेक्षणमन्यवर्त्तव्यमनुप्रेक्षा एव परदुःखस्यान्यतावरं प्रेक्षामागः परदुःखस्योपह्वर्त्तनं कर्तुं न सक्नत इति न शोचति [परदुःखं], स्वदुःखोन्मूलने प्रयतत इति भाषोऽस्य सूत्रेः ॥१७४९॥

सर्वस्य जीवराशेरालम्बोऽन्यत्वस्वीवानुप्रेक्षणमन्यवर्त्तव्यमनुप्रेक्षेति कथयत्युत्तराद्या—

संसारमिच्छेदरि जन्ते सन्नेव कर्मणेव हीरवाणात् ।

को कस्त होइ सयणो सज्जइ मोहा जन्मि जणो ॥१७५०॥

'संसारमिच्छेदरि' अन्तातीते पञ्चविधे संसारे परिवर्तने । 'सन्नेव कर्मणेव' आत्मीयमिध्यादर्शनादि परिणामोत्पादितकर्मपर्यायेण पुद्गलस्करूपेण 'हीरवाणात्' आकृष्यमाणानां बहुविधां गतिं प्रति । 'को कस्त होइ सयणो' नैव कश्चित् कस्यचित्स्वजनो नाम प्रतिनियतोऽस्ति । युज्यतेऽयं विवेकस्वजनोऽयं परजनोऽयमिति यदि यो यस्य स्वजनत्वेनाभिमतस्त तस्यैव स्वजनः सर्वदा भवेत् । परजनो वा स्वजनता नोपेयात् । न चायमस्ति प्रतिनियमः स्वकर्म परलम्बाणामतो न कश्चित् स्वो जनः परो वा ममास्ति । सर्वो जीवराशि-मिध्यात्वादिगुणविकल्पोपनोतनानात्वोऽप्य एवेति कृतव्यवसायस्य स्वविधेव दया प्रीतिर्वा स्वविनिर्दयता द्वेषोऽसामानताक्यो न प्रादुर्भवति ततो विरागद्वेषस्य चारिद्रमधिकत्वं भवति । 'सज्जइ जन्मि जणो' आसक्ति-

'पूर्वमें मन, वचन, कायसे जो कर्म किये है । सब इन्द्र भी मिलकर उनका निवारण नहीं कर सकते' ।

इसलिये दूसरेके दुःखको देखकर इसका शोक करना व्यर्थ है । अन्य शब्दसे परके दुःखको अपने दुःखसे भिन्न कहा है । परके आगत दुःखको अपनेसे भिन्न चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है । इस प्रकार परके दुःखको अपनेसे भिन्न विचार करता हुआ जानता है कि परके दुःखका बिनाश करना शक्य नहीं है इसलिये वह उसका शोक नहीं करता । और अपने दुःखके बिनाशमें प्रयत्नशील रहता है । यह आचार्यका अभिप्राय है ॥१७४९॥

आगे कहते हैं कि समस्त जीवराशि अपनेसे अन्य है ऐसा चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है—

गा०—टी०—पंचपरावर्तन रूप संसारके अनन्त होते हुए अपने मिध्यादर्शन आदि परिणामोंसे उत्पन्न हुए पुद्गल स्करूप कर्म पर्यायके द्वारा अनेक गतियोंमें भ्रमण करते हुए जीवका कौन किसका स्वजन है ? यह स्वजन है और यह परजन है यह भेद हो सकता था यदि जो जिसका स्वजन है वह उसीका स्वजन सदा रहता और परजन कभी भी स्वजन न होता । किन्तु अपने-अपने कर्मोंके अजीब जोबोंका यह वियम नहीं हो सकता । अतः न कोई मेरा स्वजन है और न कोई परजन है । मिध्यात्त्व आदि गुणस्थानोंके भेदसे नाना भेदरूप हुई समस्त जीवराशि भ्रमसे भिन्न ही है ऐसा जिसने निश्चय किया है उसका किसीमें हो दया और प्रीति और किसीमें निर्दयता और द्वेष यह असामान्य रूप व्यवहार नहीं बनता । इसलिये जो राग-द्वेषसे रहित है

करेति जगं हि जगो मन्वां प्राता पिता पुत्रो आग्निनेनो प्राज्ञः स्वामीति^१, वा मोहोऽस्तु तत्त्वस्य अन्यतामात्र-
रूपस्य निरस्तस्वजनत्वस्य^२ परिज्ञानात् ॥१७५०॥

प्रकारांतरेण स्वजनपरजनविभेकात्मां रक्षयन्तु तत्रापा—

सज्यो वि जगो सज्यो सज्यस्त वि जाति रीदृक्काल्म्यि ।

एते य सहाकाले होहिदि सज्यो जगस्त जगो ॥१७५१॥

'जगो वि जगो सज्यो' निरवज्ञेनो जगदुरगन्तः स्वजनः । 'सज्यस्त वि' सर्वस्वापि प्राप्तभूतः । 'रीदृ-
क्काल्म्यि' अतीते काले 'जाति' जातीयं । 'होहि' य जगो जगो' भविष्यति तथा काले । 'होहिदि' भविष्यति ।
'सज्यो जगस्त जगो' स्वजनो जनस्य जनः । एतदनेनास्वायते अतीते भविष्यति य काले सर्वस्य सर्वः स्वजन
असीदुभविष्यति य । तत्तत्सर्वसाधारणत्वे स्वजनत्वस्य सति मन्वां स्वजन इति मिथ्यासंकल्पः । 'रीदृक्काले
मन्वाप्य' अस्तस्य इत्येतदेव तत्त्वमित्यन्यत्वस्य स्वपरविषयस्यानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षा ॥१७५१॥

रतिं रतिं क्वखे क्वखे जह सउणयाण संगमर्ण ।

जादीए जादीए जगस्त तह संगमो होई ॥१७५२॥

'रति रति' रात्री रात्री । 'क्वखे क्वखे' वृजे वृजे । 'जह सउणयाण संगमर्ण' यथा पक्षिणा संगमनं ।
'जादीए जादीए' जग्मनि जग्मनि । 'जगस्त' जनस्य । 'तह' तथा । 'संगमो होई' संगमो भवति । यथा
रात्रायाः श्रयमन्तरेण स्वापुंससमर्णां पक्षिणो योग्यं वृक्षमन्विष्य ढीकते । तदत्राग्निनोपि निरवज्ञेयवक्रितायुः
पुद्गलस्कन्धाः परित्यक्तप्राक्तनशरीराः शरीरांतरग्रहणाग्निनः शरीरग्रहणयोग्यवेषं योनिं संज्ञितमात्स्कन्दन्ति ।

उसका चारित्र सर्वत्र एकरूप होता है । यह मेरा भाई, पिता, पुत्र, भानेज, दास या स्वामी है
इस प्रकार आसक्ति मनुष्य मोहवश करता है । वस्तुतत्त्व तो अन्यतामात्र रूप है उसमें कोई
स्वजन नहीं है ॥१७५०॥

प्रकारान्तरसे स्वजन और परजनके भेदका अभाव कहते हैं—

गा०—अतीतकालमें सब प्राणियोंके समस्त अनन्त जीव स्वजन थे । तथा भविष्यत् कालमें
सब प्राणियोंके सब जीव स्वजन होंगे ॥१७५१॥

टी०—इस गाथासे यह कहा गया है कि अतीत कालमें सबके सब जीव स्वजन थे और
भविष्यमें सबके सब जीव स्वजन होंगे । इस प्रकार जब सभी जीव स्वजन हैं तो यह मेरा स्वजन
है इस प्रकारका संकल्प मिथ्या है । वे मुझसे अन्य हैं और मैं उनसे अन्य हूँ, इस स्वपरविषयक
अन्यत्व सत्त्वका चिन्तन अन्यत्वानुप्रेक्षा है ॥१७५१॥

जा०—जैसे प्रत्येक रात्रिमें प्रत्येक वृक्षपर पक्षियोंका संगम होता है उसी प्रकार जन्म-
कल्मसे मनुष्योंका संगम होता है ॥१७५२॥

टी०—जैसे रात्रिमें आश्रयके बिना रहनेमें असमर्थ पक्षी योग्य वृक्षको खोजकर उसपर
बसेरा लेते हैं । उन्हींकी तरह संसारके प्राणी भी जब उनके आयुर्कर्मके पुद्गल स्कन्ध पूर्वरूपसे

१. वि व्यामो—जा० । २. जनपरि—जा० । ३. अपरिज्ञानात् इति प्रतिभाति । ४. तेनान्धो
मन्वाप्यनस्त्वेष इत्यन्यवदेव—जा० । ५. न्यस्त्याय इ—ज० ।

उच ययोः शुक्रलोभितययनाम्बितोऽभुषितमं वी पितराभिति संकल्पयति । तवाभूतयोरेव शुक्रलोभितयोऽव्यास-
येहा भ्रातर इति । 'अन्ये त एवभूताएव स्वचनितोत्तुलनाः । कांतारे पक्षिणां निवासयुक्ता इवेति
भावः ॥१७५२॥

पक्षिणा उवासये जह तर्हि तर्हि अभिल्यंति ते व पुणो ।

उडिन्ना जंति चरा तह जीयसमागमा सन्धे ॥१७५३॥

'पक्षिणा' पक्षिकाः । 'उवासये' उपाश्रये कस्मिन्पितृ । 'जह' यथा । 'तर्हि तर्हि' तस्मिन्स्तस्मिन् ग्राम-
नगरादी । 'अभिल्यंति' अन्वेष्यंतीकण्ठे । 'ते व' ते व संनताः पक्षिकाः । 'पुणो' पत्न्यात् । 'उडिन्ना' स्वपत्न्या ।
'जंति' याति स्वाभिमतं देशं । 'तह जीयसमागमा सन्धे' तथा बन्धुसमागमाः सर्वेषु च । एतेन बन्धु-
समागमस्याभित्वत्ता व्याख्याता ॥१७५३॥

मिष्णपयडिन्मि लोए को कस्त सभावदो पिओ होज्ज ।

कज्जं पडि संबंधं बालुयमुद्वीव जगमिणमो ॥१७५४॥

'मिष्णपयडिन्मि लोये' गानास्वभावे लोके । 'को कस्त सभावदो पिओ होज्ज' कः कस्य स्वभावेन
मिमो भवेत् । समानशीलताया हि सख्यं भवति । न च सर्वबन्धव समानशीला कच तर्हि तेवा वा स
भावव । 'कज्जं पडि संबंधो' कार्यमेवोद्दिश्य सम्बन्धः नास्ति कार्यरहित सम्बन्धः । 'बालुयमुद्वीव' बालुका-
मुष्टिरिव । 'जगमिणमो' लोकोयं । यथा बालुकानां मिमप्रकृतीनां इवद्रव्यसंश्लेषेण न स्वाभाविकः सम्बन्धो येन
सगता मुष्टियुषु । उचकविद्वन्धोपनीतैव सवतिस्तासा, एव कार्योपनीतैव सगतिः स्वजनाना ॥१७५४॥

गल जाते हैं, और वे पूर्व शरीरको छोड़ नवीन शरीर ग्रहण करना चाहते हैं, तो वे शरीर ग्रहण
करनेके योग्य देशमें, जिसे योनि कहते हैं, जाते है। वहाँ उन्हें जिनके अत्यन्त अपवित्र रजवीर्य
रूपका आश्रय प्राप्त होता है उन दोनोंमे माता-पिताका सकल्प करते हैं। उसी प्रकारके रजवीर्यसे
जिनके शरीर बनते हैं वे भाई होते हैं। वनमें पक्षियोंके रहनेके वृक्षोंकी तरह इस प्रकारके
स्वजनवास सुलभ है। यह उक्त गाथाका अभिप्राय है ॥१७५२॥

शा०—जैसे किसी उपाश्रयमे पक्षि विभिन्न ग्राम नगर आदिमें परस्परमें मिलते हैं। पीछे
वे सब उस उपाश्रयको छोड़कर अपने-अपने देशको चले जाते हैं। उसी प्रकार सब बन्धु-बान्धवोंका
समागम है। इससे बन्धुसमागमको भी अनित्य कहा है ॥१७५३॥

शा०—द्वी०—लोगिके अलग-अलग स्वभाव होते है। ऐसे नाना स्वभाववाले लोकमें कौन
किसको स्वभावसे प्रिय हो सकता है। समानशील वालोंमें ही मित्रता होती है। किन्तु सब बन्धु-
बान्धव तो समान शीलवाले नहीं होते। तब कैसे वह उनका बन्धु हो सकता है। कार्यको लेकर
ही सम्बन्ध होता है। कार्यके न रहनेपर सम्बन्ध नहीं रहता। जैसे रेतका प्रत्येक कण अपना
मिन्न स्वभाव रखता है। किसी मिळानेवाले द्रव्यके बिना उनका परस्परमें कोई स्वाभाविक
सम्बन्ध नहीं है। पानी आदिके सम्बन्धसे ही वे परस्परमें मिलते हैं। अन्यथा मुद्गोंमें अलग-अलग
ही रहते हैं। इसी प्रकार स्वजन भी कार्यवश ही परस्परमें मिलते है ॥१७५४॥

तं च कार्यकृतं सम्बन्धं स्पष्टयत्युत्तरमाणा—

माया पोसेद्द सुयं आधारे ये भविस्सदि इतीषि ।

पोसेदि सुतो मादं गक्के चरिओ इमाएत्थि ॥१७५५॥

‘माया पोसेदि सुयं’ माता पोषयति सुतं । ‘आधारे ये भविस्सदि इतीषि’ अयं समाधारे भविष्यतीति । ‘पोसेदि सुतो मादं’ पोषयति सुतो मातरं । ‘गक्के चरिओ इमाएत्थि’ वर्यं चारितोऽजयेति ॥१७५५॥

उपकारापकारयोः प्रतिबन्धात् शत्रुता मित्रता वेति तत् कथयति—

होउण अरी वि पुणो मिचं उक्कारकारणा होइ ।

पुणो वि खणेण अरी जायदि अबयारकरणेण ॥१७५६॥

‘होउण अरी वि’ शत्रुरपि मूत्वा । ‘पुणो’ पुनः । ‘मित्तो होइ’ सुहृद्भूयति । स एवारिः । कुतः ? ‘उक्कारकारणा’ उपकारकरणेन । ‘सुतोवि खणेण अरी जायति’ पुत्रोपि क्षणेन शत्रुर्भवति, केन ? अपकारकरणेन, निर्मत्संज्ञावनाशपकरणक्रियायाः । यस्मादेवं ॥१७५६॥

तम्हा ण कोइ कस्सइ सयणो व जणो व अत्थि संसारे ।

कज्जं पडि हुंति जये णीया व अरी व जीवाणं ॥१७५७॥

‘तम्हा’ तस्मात् । ‘ण कोइ कस्सइ सयणो व जणो व अत्थि संसारे’ नैव कश्चित्कस्यचित्स्वजनः परजनो वा विद्यते । ‘कज्जं पडि हुंति णीया व अरी व जन.’ कार्यमेवोपकारापकारलक्षणं प्रति बन्धवः शत्रवश्च भवन्ति । न स्वाभाविकी बन्धुता शत्रुता वा जीवानामस्ति उपकारापकारक्रिययोरनवस्थितत्वात्तन्मूकोऽरिमित्रभावोऽप्यनवस्थित इति न राशद्वेषो स्वपिदपि कार्यो । मत्तोऽप्ये सर्व एव प्राचभूत इति कार्यान्वित्वानुप्रेषेति प्रस्तुताधिकारिणाभिसम्बन्धः ॥१७५७॥

आगे उस कार्यवश हुए सम्बन्धको टूट करते हैं—

भा०—यह मेरा बुझापेमें आधार होगा इस भावनासे माता पुत्रका पालन करती है और पुत्र माताका पालन करता है कि इसने मुझे गर्भमें धारण किया था ॥१७५५॥

आगे कहते हैं कि शत्रुता और मित्रता उपकार और अपकारसे बंधे हैं—

भा०—शत्रु होकर भी उपकार करनेसे मित्र हो जाता है । अपकार करनेसे पुत्र भी क्षत्रभरमें शत्रु हो जाता है । अर्थात् यदि पुत्र माता पिताका तिरस्कार करता है उन्हें भारता है तो वह शत्रु ही प्रतीत होता है ॥१७५६॥

भा०—इसलिये संसारमें कोई किसीका न स्वजन है और न परजन है । उपकार और अपकार रूप कार्यको लेकर ही जीवोंके मित्र या शत्रु बनते हैं ॥१७५७॥

टी०—जीवोंमें न तो स्वाभाविक शत्रुता है और न स्वाभाविक बन्धुता है । उपकार और अपकाररूप क्रिया भी स्थायी नहीं है इसलिये उपकार मूलन मित्रता और अपकारमूलक शत्रुता भी स्थायी नहीं है । अतः न किसीसे राग करना चाहिये और न किसीसे द्वेष करना चाहिये । सभी प्राणी मुझसे अन्य है इस प्रकार अन्यत्वानुप्रेक्षा करना चाहिये ॥१७५७॥

शत्रुमित्रबोधसमापद्यते—

जो जस्त बहुदि हिंदे पुरिसो सो जस्त बंधवो होदि ।

जो जस्त कुणदि अहिं सो जस्त रिपुचि जायज्यो ॥१७५८॥

'जो जस्त बहुदि हिंदे' जो जस्त उपकारे वरति । 'पुरिसो' पुत्रः । 'जो जस्त बंधवो होदि' स तस्य बन्धुर्भवति । 'जो जस्त कुणदि अहिं' जो जस्त करोत्यहितं । 'जो जस्त रिपुचि जायज्यो' स शत्रु रिपुचि जायज्यः ॥१७५८॥

शत्रुलक्षणं बन्धुपु दर्शयति—

जीया करंति विघ्नं मोक्षदुःखदयावहस्य धम्यस्स ।

कारंति य अतिबहुमं असंजमं तिब्बदुःखयरं ॥१७५९॥

'जीया करंति विघ्नं' बन्धवः कुर्वन्ति विघ्नं । कस्य ? 'कम्मत्त' धर्मस्य, 'कीयुत्त' ? मोक्षबन्धु-
यावहस्य' निरवशेषदुःखकारिकर्मापायं सांसारिकमतिघयवत् सुखं च संप्राप्तयती रत्नत्रयस्य । 'कारंति च'
कारयन्ति च । किं ? 'असंजमं' हिसानृतस्तेयाधिकं, 'अतिबहुमं' अतीव महान्त । 'तिब्बदुःखयरं' दुःसह-
नरकादिदुःखोत्थापनोद्यत । हितस्य विघ्नकरणावहिते च प्रवर्तनात् दर्शिता शत्रुता बन्धुनामैतेन । अन्येषां
बान्धवाद्यभिमतानां शत्रुत्वेनानुप्रेक्षणं अन्यत्त्वानुप्रेक्षेति कथितं भवति ॥१७५९॥

इवानीमन्यशाब्देन साधवो अभ्यंते तेषामुपकारकत्वकल्पेनानुप्रेक्षेति चेत्तसि कृत्वा व्याचष्टे—

जीया सचू पुरिसस्स हुंति जदिधम्मविग्घकरणेण ।

कारंति य अतिबहुमं असंजमं तिब्बदुःखयरं ॥१७६०॥

शत्रु और मित्रका लक्षण कहते हैं—

शा०—जो पुरुष जिसका उपकार करता है वह उसका बान्धव होता है । और जो जिसका अहित करता है वह उसका शत्रु होता है । यह मित्र और शत्रुका लक्षण जानना ॥१७५८॥

आगे बन्धुओंमें शत्रुका लक्षण दिखालाते हैं—

शा०—टी०—बन्धुगण दुःख देनेवाले सब कर्मोंका पूर्णरूपसे विनाश और संसारका सातिघय दुःख देनेवाले रत्नत्रयरूप धर्ममें विघ्न करते हैं । और दुःसह नरकादिके दुःखोंको लानेमें तत्पर हिंसा, भ्रूठ, चोरी आदि असंयम कराते हैं । अर्थात् यदि कोई जिनदीक्षा आदि लेकर आत्म-
कल्याणमें लगना चाहता है तो परिवारके लोग उसे रोकते हैं तथा अपने पौषणके लिये मनुष्यको नुरे कर्म करनेकी प्रेरणा करते हैं । तो हितसाधनमें विघ्न करनेसे और अहितमें लगानेसे बन्धु शत्रु हैं, यह इससे दिखालाया है । इसका अभिप्राय यह है कि जो अन्य बान्धव आदि रूपसे इष्ट हैं उन्हें भी शत्रु रूपसे विचारना कि ये मेरे मित्र नहीं हैं, शत्रु हैं, अन्यत्त्वानुप्रेक्षा है ॥१७५९॥

अब अन्य शाब्दसे साधुओंको लेते हैं । उन्हें उपकारी रूपसे विचारना अन्यत्त्वानुप्रेक्षा है, यह कहते हैं—

शा०—पुरुषके यदि धर्म स्वीकार करनेमें विघ्न करनेसे बन्धुगण शत्रु होते हैं तथा वे

'अन्ध्या यतीनां बन्धुत्वं कर्म' प्रस्तुतानां अन्धत्वात्प्रवेत्तव्यानुपपन्नम् ॥१७६०॥

पुरिसस्स पुणो साधु उज्जोवं संजन्ति अदिधम्मे ।

तथा तिम्बदुक्कखरणं अत्तज्जं परिहरवेति ॥१७६१॥

'पुरिसस्स' पुरुषस्य । 'पुणो साधु' साधवः पुनः 'उज्जोवं संजन्ति' उज्जोवं सम्पन्नमवसिति । 'अदिधम्मे' सर्वादिपरिग्रहत्यागकामने यदियमे, 'तथा अत्तज्जं परिहरवेति' तथा अत्तज्जं परिहारयति । कीदृशम् ? 'तिम्बदुक्कखरणं' तीक्ष्णाणां दुःखानामुत्पादकं ॥१७६१॥

उपसंहरति प्रस्तुतार्थं—

तन्हा जीवा पुरिसस्स होति साधु अण्येवसुहहेदु ।

संसारमदीमंता जीवा च जस्स होति जरी ॥१७६२॥

'तन्हा' तस्मात् । हिते प्रवर्तनात् अहिते निवर्तनात् । 'जीवा पुरिसस्स' कथयःपुरुषस्य । के ? 'साधु' साधवः । 'अण्येवसुहहेदु' इन्द्रियादीन्द्रियसकलसुखहेतवः । 'संसारमदीमंता' संसारसारमेकदुःखसकल-मवसारयन्तः । 'जीवा च जस्स होति जरी' साधवो भवन्ति अनुभवस्य कथयः । एतेन सूत्रेण अण्येषां यतीनां बन्धुनां मित्रत्वात्पुत्रानुप्रेक्षा अन्धत्वात्प्रवेत्ति कथ्यते । एवमनुप्रेक्षयाणस्य धर्मं उदुपवेक्षकः रिणि च यदियमे महाभादरो भवति । अदिमत्तं सकलं सुखमुपस्थापयतो धर्मस्य विष्णं सम्पादयत्यु चतुर्गतिचटीयन्मे' दुस्सारा-भारोहयत्यु नितरानभादरो भवति ॥१७६२॥ अन्वत् ।

संसारानुप्रेक्षा कथ्यते प्रकल्पितोत्तरेण—

विष्णुचमोहिदमदी संसारमहादधी तदोदीदि ।

विजययणविष्णुचट्टो महादधीविष्णुचट्टो वा ॥१७६३॥

अत्यन्त दुःखदुःखदायी असंयमं कराते है इसलिये जी वे साधु है ॥१७६०॥

भा०—किन्तु साधु सर्व आरम्भ और सर्व परिग्रहके त्यागरूप मुनिधर्ममें पुरुषको तत्पर करते है और तीव्र दुःखदायी असंयमका त्याग कराते है ॥१७६१॥

प्रस्तुत कथनका उपसंहार करते है—

भा०—टी०—अतः हितमें लगाने और अहितसे रोकनेके कारण साधुमन बन्धु है । वे इन्द्रियजन्य और अतीन्द्रिय सुखके कारण है तथा अनेक दुःखोंसे भरे अपार संसारसे पार उठारते है । इस नापाके द्वारा अपनेसे अन्य साधुमनोंका विषयसे और बन्धुमनोंका साधुरूपसे चिन्तन करनेको अन्धत्वात्पुत्रेक्षा कहा है । ऐसा चिन्तन करनेसे धर्ममें और धर्मका उपदेश करनेवाले साधुमनमें महान् आदर होता है । और सर्व दृष्ट सुखको देनेवाले धर्ममें विष्णु करनेवालोंमें और जिसपरसे उत्तरना दुष्कर है उस चार गतिरूपी चटीयमपर चढ़ाने वालोंमें अत्यन्त अनादर होता है ॥१७६२॥

१. अण्येषां—आ० मु० । २. कथयन्—आ० मु० । ३. अत्तज्जं परिहरवेति तिम्बदुक्कखरणं—आ० । ४. पानिभिः—आ० मु० । ५. यन्ने दुःखदारे जा—आ० मु० । ६. भारोहयत्यु—ज० मु० ।

'निष्कलसमोद्दिप्तमयी' वस्तुवाचात्प्राग्भट्टानं दर्शनमोहोदयजं मिथ्यात्वं तैव मिथ्यात्वेन हेतुना मोहमुपनता मयिर्नस्यासीत् । 'संसारमहाटवी' संसारो महाटवी 'दुस्तारत्वाकनेकदुःखावहत्वादिनामपितु-
 नुचसत्प्राग्भट्टानं तां संसारमहाटवी । 'तयो' तस्मात् मिथ्यात्वमुदमतित्वात् । 'अवीरि' प्रविशति । ननु च मिथ्या-
 त्वासंयमकषाययोगावत्कारोऽपि संसारस्य निमित्तभूताः तत्र किमुच्यते मिथ्यात्वमुदमतित्वात् संसारमहाटवी
 प्रविशतीति । अत्रोच्यते—उपलक्षणं मिथ्यात्वग्रहणं असंयमादीनां । 'द्विव्यवृत्तकल्पवृत्ते' द्रव्यभावकर्म-
 रातिज्वायात् जिनास्तेषां वचनं जीवाद्यर्थसाध्यात्म्यप्रकाशानपटु प्रत्यक्षाधिप्रमाणांतराविरोधि ततो विप्रनष्टस्तवर्था-
 परिज्ञानात् वसत्प्राग्भट्टानं तन्निरूपितेन मार्गणानाचरणान्च महत्त्वमिहो महतीमटवी प्रविशति । 'द्विव्यवृत्ते वा'
 मार्गादिप्रनष्ट इव । 'संसारमहाटवीनिर्दिष्टमम जीवयोस्तौ अर्वादि' संसारमहासमुद्रं प्रविश्य जीवयानपात्रं भ्रमति ।
 कीदृशमृतं संसारमहाटवी ॥१७१३॥

बहुतिव्यवृत्तसखिलं अर्वातकायप्यवेसपादात् ।

वदुपरिवृत्तावचं वदुगदिषदुपदुमर्जतं ॥१७६४॥

'बहुतिव्यवृत्तसखिलं' बहूनि तीव्रानि दुःखानि सखिलानि यस्मिन्संसारमहोदयो तं । 'अर्वातकायप्यवेस
 पादात्' अनंतानां जीवानां कायः क्षरीरमनंतकाय अनन्तकाय 'प्रवेशास्ते पातालसंस्थानीया यस्मि त । अथवा
 न विद्यते अन्तो निश्चयोऽस्वीव जीवत्वेन क्षरीरमिति बहूनां साधारणत्वात् यस्मिन् काये योज्यते । कायोऽस्य

आगे संसार अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

शा०-टी०—दर्शनमोहेके उदयसे जो वस्तुके यथार्थस्वरूपका न्यग्रहान है उसे मिथ्यात्व
 कहते हैं । उस मिथ्यात्वके कारण जिसको मति मोहित है वह मिथ्यात्वसे मोहितमति होनेसे
 संसाररूपी महा अटवीमें प्रवेश करता है । महाअटवीके समान ही संसारको पार करना कठिन है
 वह अनेक दुःखोंसे भरा है तथा प्राणीका विनाश करनेवाला है इसलिये संसारको महाअटवी
 कहा है ।

झंका—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये चारों भी संसारके हेतु हैं । तब यह क्यों
 कहा कि मिथ्यात्वसे जिसकी मति मूढ है वह संसार महाअटवीमें प्रवेश करता है ।

समाधान—मिथ्यात्वका ग्रहण असंयम आदिका उपलक्षण है अतः मिथ्यात्वके ग्रहणसे
 असंयम आदिका ग्रहण हो जाता है । द्रव्यकर्म और भावकर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेसे जो जिन
 कहे जाते हैं उनके वचन जीवादि पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशनमें दक्ष हैं तथा वे प्रत्यक्ष
 आदि अन्य प्रमाणोंसे अविचल्य हैं । उन वचनोंका अर्थ न जाननेसे जो तत्त्वोंका लब्धदान है उससे
 तथा उसमें कहे गये मार्गके अनुसार आचरण न करनेसे संसाररूपी महाअटवीमें प्रवेश करता है ।
 तथा मार्गसे भ्रष्ट होकर जीवरूपी अज्ञान संसाररूपी महासमुद्रमें प्रवेश करके भटकता है ॥१७६३॥

संसाररूपी महासमुद्र कैसे है, यह बतलाते हैं—

शा०-टी०—जिस संसाररूपी महासमुद्रमें तीव्र दुःखरूपी जल भरा है और अनन्त जीवोंके
 काय अर्वात् क्षरीरको अनन्तकाय कहते हैं । अनन्तकायमें प्रवेश ही जिस संसार समुद्रमें पाताक
 है । अथवा 'यह क्षरीर इसी जीवका है' ऐसा अन्त अर्वात् निश्चय जहाँ नहीं वह काय अनन्त है

बीजस्यैत्यनन्तकायः । अन्तरेणापि भावप्रधानो निर्देशः । तेनात्मवर्षः अनन्तकायस्य प्रवेशः अनन्तकाय-
प्रवेशः स पातालं यस्य तं । 'अनुपरिबद्धावसं' चत्वारः द्रव्यक्षेत्रकालबाधाभ्याः परिवर्तः अर्थात् यस्मिन्तं ।
'अनुपरिबद्धावसं' चतस्रो गतयो बहूनि महान्ति पत्तनानि यस्मिन्तं । 'अवसंतं' अनन्तं ॥१७६४॥

हिसादिदोसमगरादिसावदं दुषिहजीववहुमच्छं ।

जाइजराभरजोदयमणेयजादीमहुम्मीयं ॥१७६५॥

'हिसादिदोसमगरादिसावदं' हिसानृतस्तेयाग्रहपरिग्रहा हिसाविदोधास्ते मरुरादयः स्वापया यस्मिन्तं ।
'दुषिहजीववहुमच्छं' द्विविधाःस्वावरजंगमविकल्पा बीजा इति द्विविधा बीजास्ते बहवो मत्स्या यस्मिन्तं ।
'आधिजराभरजोवदं' आतिरमिनमगरीरग्रहं, जरा नाम भृहीत्सव शरीरस्य तेजोबलाधिविभक्त्या, मरुत्वं
शरीरावपयमः एतानि जातिजराभरजानि उदयं उच्चतियस्मिन्तं । 'अणेयजादीमहुम्मीयं' अनेकानि आधि-
शतानि ऊर्णयो यस्मिन्तं । एकद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियजातयः प्रत्येकमवाप्सरमेवापेक्षया पृथिवीकायिका, अप्कायिका-
स्तेजस्कायिकमत्स्यिकायिका इति । एकेन्द्रियजातिरेकप्रकारा । बह्विन्द्रियकल्पा पृथिवी । आपोऽपि बह्विन्द्रिय-
हिमानीकरकाधिवैभिमन्ता । अमिरपि प्रदीपोत्सुकर्माधित्यनेकभेदः । वायुरपि गुणाम्बुलिकाधिविकल्पः ।
वमत्स्यतोऽपि सप्तमम्बुलकीकतापुत्राधिवैभक्तयो जातिशतानीत्युक्तं ॥१७६५॥

क्योंकि एक शरीरमें बहुतसे जीव समानरूपसे रहते हैं। वह अनन्तकाय जिस जीवकी है वह
अनन्तकाय है। 'भाव प्रत्ययके बिना भी निर्देश भावप्रधान होता है' इस नियमके अनुसार अर्थ
होता है अनन्त कायत्वका प्रवेश अनन्तकाय प्रवेश। वही जिसमें पाताल है। तथा द्रव्य क्षेत्र काल
और भाव परिवर्तन रूप जिसमें चार अंबर हैं। और चारगतिरूप महान् द्वीप है तथा जो अनन्त
है ॥१७६४॥

बिषोषार्थ—संसारको महासमुद्रकी उपमा वी है। समुद्रमें जल होता है संसारमें दुःख ही
जल है। जैसे जलका आरपार नहीं है वैसे ही संसारके दुःखका भी आदि अन्त नहीं है। समुद्रमें
पाताल होते हैं जिनमें प्रवेश करके निकलना कठिन है। संसारमें जो अनन्तकाय निगोह है वही
पाताल है उसमें प्रवेश करके निकलना कठिन है। समुद्रमें अंबर होते हैं। संसारमें परिवर्तनरूप
अंबर है। समुद्रमें द्वीप होते हैं जहाँ कुछ समय ठहर सकते हैं। संसारमें चार गतियाँ ही द्वीप हैं।
इसी प्रकार समुद्र भी अनन्त है और संसार भी ॥१७६५॥

वा०—टी०—उस संसाररूपी समुद्रमें हिसा, मूठ, चोरी, अग्रह और परिग्रहरूपी मगर
आदि मूर जन्तु रहते हैं। स्वावर और जंगम जीवरूप बहुतसे मच्छ हैं। जाति अर्थात् नया
शरीर धारण करना, जरा अर्थात् वर्तमान शरीरके तेज बल आदियें कमी होना, मरण अर्थात्
शरीरका त्याग। ये जाति जरा और मरण उसके उठाव हैं तथा सैकड़ों जातियोरूपी उसमें तरंगें
हैं। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चोद्विन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये पाँच जातियाँ हैं। इसमेंसे प्रत्येकके
अनेक अवाप्सर भेद हैं। जैसे एकेन्द्रिय जातिके पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक,
वमत्स्यिकायिक आदि अनेक भेद हैं। उनमेंसे भी पृथिवीके छत्तीस भेद हैं। जलके भी वर्षा, हिम,
बोके आदि भेद हैं। आगके भी दीपक, अंगार, लपट आदि अनेक भेद हैं। वायुके भी गुंजा,
आम्बुलिका आदि भेद हैं। वमत्स्यतिके भी वृक्ष, झाड़ी, बेल, लता, तुण आदि भेद हैं। इसीसे
सैकड़ों जातियाँ कही हैं ॥१७६५॥

दुविहपरिणामपादं संसारसहोदधिं परवर्णीमं ।

अदिगम्य जीवयोदो भवद् चिरं कम्ममण्डभरो ॥१७६६॥

‘दुविहपरिणामपादं’ द्विविधाः शुभाशुभपरिणामा वाता यस्मिन्तं । ‘परवर्णीमं’ अतिभयंकरं । ‘अदिगम्यं’ प्रविश्य । ‘जीवयोदो’ जीवयोः । ‘भवद् चिरं’ चिरकालं भ्रमति । ‘कम्ममण्डभरो’ कर्मद्विविध-
धारः । विभिः सम्बन्धः ॥१७६६॥

भवसंसारं निरूपयति—

एगधिगतिसम्पत्पंचिदियाण आजो ह्वंति जोषीजो ।

सञ्चाजो राजो पचो अणंतसुचो इमो जीवो ॥१७६७॥

‘एगधितिसम्पत्पंचिदियाण’ नामकर्म गतिजात्यादिविचित्रभेदं । तत्र जातिकर्म पञ्चविकल्पं एकद्विवि-
धसुःपञ्चेन्द्रियजातिविकल्पेन तासां जातीनामुदवात् । एकेन्द्रियसाक्षिपर्यायमाजो जीवाः एकेन्द्रियादिशब्दे-
नोच्यन्ते । तेषामेकेन्द्रियादीनां योनय आश्रया वादरसूक्ष्मपर्यायिकापर्यायिकाभ्या जीवद्रव्याणामिहाश्रयत्वेन
विबधिताः । ‘सच्चित्तसोत्संयुता सेतारा जिधात्त्वैककस्तसोमवः’ [त० सू० २।३२] इति सूत्रे ये निदिष्टाश्च-
तुरगीतिसत्सहस्रविकल्पास्त इह न गृह्यन्ते । यतः सूत्रान्तरे देवत्वनाटकत्वमनुष्यत्वतिर्यक्त्वाभ्या भवपर्यायि-
परावृत्तिर्मवसंसार इत्युक्तः ।

चिरयाविहण्णवित्तु षाच दु उपरिस्सन्वातु वेवकञ्जा ।

निष्कलससत्तिवेण दु भवदिग्घो भविज्जा वहुतो ॥ इति वचनात् ॥

योनयो न भवशब्दवाच्याः । जीवपर्यायो हि भवस्तत्र भव-संसारस्त्रिषद्विधः—पृथिव्यन्तेजोबायुवन-

मम०—कर्मरूपी भाष्यसे भरा हुआ जीवरूपी जहाज शुभ अशुभ परिणामरूप वायुसे युक्त
अतिभयंकर संसार महासागरमें प्रवेश करके चिरकाल तक भ्रमण करता है ॥१७६६॥

अब भवसंसारका कथन करते हैं—

या०—टी०—नामकर्मके गतिनामकर्म जातिनामकर्म आदि अनेक भेद हैं । उनमेंसे जाति-
नामकर्मके पाँच भेद हैं—एकेन्द्रिय जातिनाम, दोइन्द्रिय जातिनाम, त्रीन्द्रिय जातिनाम, चतुरिन्द्रिय
जातिनाम और पञ्चेन्द्रिय जातिनाम । उन जातिनाम कर्मोंके उदयसे एकेन्द्रिय आदि पर्यायमें
जन्म लेनेवाले जीव एकेन्द्रिय आदि शब्दसे कहे जाते हैं । उन एकेन्द्रिय आदिकी वादर सूक्ष्म
पर्याय और अपर्यायित योनियोंको यहाँ जीवद्रव्यका आश्रय कहा है । तत्पर्याय सूत्रके ‘सच्चित्तसोत्-
संयुताः’ इत्यादि सूत्रमें जो चौरासी लाख योनियाँ कही हैं, यहाँ उनका ग्रहण नहीं किया है ।
क्योंकि उसी तत्पर्यायसूत्रके ‘संसारिणो मुकाश्च’ सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि टोकामें देव, नारकी, मनुष्य
और तिर्यञ्च नामक भवपर्यायके परावर्तनको भवसंसार कहा है । कहा है—‘इस जीवने नरकवृत्ति
आदिकी जघन्य स्थितिमें लेकर उपरिम ईश्वरके पर्यन्त अनेक भवस्थितियोंको मिथ्यात्वके संसर्गसे
मोगा है ।’

अतः भवशब्दसे योनियाँ नहीं कही जानीं । जीवकी पर्यायको भव कहते हैं । भवसंसार
तीस प्रकारका है—पृथिवीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय और मनस्सलिकायमेंसे प्रत्येकके

व्यधिकारः प्रत्येकं बाह्यसूक्ष्मपर्याप्तकायपर्याप्तकियत्परिचितविधाः । त्रिभिःपुत्रिभिश्चात्सर्वात्रिविकल्पाः
 कर्मोपिप्राप्य पर्याप्तान्पर्याप्तकिकल्पा वयाविधाः । अन्ये तु भवपरिवर्तनमेव 'भवन्ति । नरकमती सर्वव्यव-
 धानुर्बन्धवर्षसहस्राणि । सेवानुधा तमीत्यन्तः पुनः परिभ्रम्य तेनेवानुधा तत्र जायते । एवं दसवर्ष-
 सहस्राणां वाक्यतः सनवास्तावत्कल्पा तमेव जातो मृतः । पुनरेकसमयाधिकभावेन त्रयस्त्रिंशत्सत्साम्योपमाधि
 परिसमापितानि । ततः प्रभुस्य तिर्यग्गती अन्तर्मुहूर्तायुःसमुत्पन्नः । पूर्वोक्तेन क्रमेण जीवि पल्बोवमनि परि-
 स्रम्यपितानि । ततः प्रभुस्य एवं मनुष्यवती । देववती भारकवत् । अयं तु विशेषः, एकविंशत्साम्योपमाधि
 परिसमापितानि वाचतापुनपरिवर्तनाः सर्वास्ता भवन्ति इति । अन्तवारमयं प्राप्नो जीवः ॥१७६७॥

इत्यपरिवर्तनमुच्यते—

अज्जं विण्हदि देहं सं पुण्णं मुत्तूणं विण्हदे अज्जं ।

वद्विज्जंतं व य जीवो भवदि इमो दब्बसंसारे ॥१७६८॥

'अज्जं वेण्वदि देहं' अण्णच्छरीरं गृह्णाति । 'सं पुण्णं मुत्तूणं' तच्छरीरं मुक्त्वा पुनरन्यद् गृह्णाति ।
 'वद्विज्जंतं व य जीवो' षटीयन्मवन्धीवः । यथा षटीयन्मं अन्यज्जकं गृह्णाति तत् स्वकत्वा पुनरन्यथावत्
 एवमयं शरीराणि गृह्णन् मुचंयच भ्रमति । शरीराणि विविनाथि इव्यसाव्योऽन्यन्ते तत्स्वात्मनः परिवर्तनं

बाह्य, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त चार भेद होनेसे बीस भेद होते हैं । तथा दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय,
 चौइन्द्रिय, असंज्ञिपञ्चोन्द्रिय और संज्ञीपञ्चोन्द्रियके पर्याप्तक और अपर्याप्तक भेद होनेसे दसभेद
 होते हैं ।

अन्य आचार्य भवपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—

नरकमतिमें सबसे अल्प आयु दस हजार वर्षकी है । कोई जीव उस आयुको लेकर
 नरकमें उत्पन्न हुआ । पुनः परिभ्रमण करके उत्तमी ही आयुको लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ । इस
 प्रकार दस हजार वर्षों के जितने समय होते हैं उतनी बार दस हजार वर्षकी आयु लेकर नरकमें
 उत्पन्न हुआ और मरा । पुनः दस हजार वर्षकी आयुमें एक-एक समय बढ़ाकर नरकमें उत्पन्न
 होते हुए वहाँकी उत्कृष्ट आयु तैतीस सागर पूर्ण की । नरककी आयु पूर्ण करनेके पश्चात् तिर्यग्-
 गतिमें एक अन्तर्मुहूर्तकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ और मरा । नरकमतिमें कहे क्रमानुसार
 तिर्यग्गतिकी उत्कृष्ट आयु तीन पत्य पूर्ण की । तिर्यग्गतिके समान मनुष्यगतिकी आयु
 पूर्ण की और नरकगतिके समान देवगतिकी आयु पूर्ण की । किन्तु इतना विशेष है कि उपरि
 उक्तके उत्कृष्ट आयु इकतीस सागर पूर्ण होने पर समस्त भवपरिवर्तन हो जाते हैं । ऐसे
 भवपरिवर्तन इस बीबने अन्तवार किये हैं ॥१७६७॥

इत्यपरिवर्तनको कहते हैं—

षा०-टी०—षटीयन्मकी तरह जीव अन्य शरीरको छोड़कर अन्य शरीरको ग्रहण करता
 है । उसे भी छोड़कर अन्य शरीरको ग्रहण करता है । जैसे षटीयन्म नया अणु ग्रहण करता है
 उसे निकालकर फिर नया अणु ग्रहण करता है । उसी प्रकार यह जीव शरीरोंको ग्रहण करता
 और छोड़ता हुआ भ्रमण करता है । इत्यस्यसे विभिन्न शरीर कहे हैं । आत्माके शरीरोंका

ब्रह्मचर्यार इति ब्रह्मचर्यस्य व्याख्या स्मृत्यनुवृत्तिरिति । एवं तु ब्रह्मपरिवर्तनं प्राह । ब्रह्मपरिवर्तनं त्रिविधं—नोकर्मपरिवर्तनं कर्मपरिवर्तनं चेति । तत्र नोकर्मपरिवर्तनं नाम ब्रह्मार्ता शरीरार्थां ब्रह्मां पर्याप्तौर्थां ब्रह्मणो वे पुत्रका एकेन जीवेन एकस्मिन्समये मृहीताः स्निग्धकण्ठवर्णभाषिभिरतीक्ष्णमन्त्रमध्यमभावेन च शिवायतीक्ष्ण द्वितीयायिषु सवयेषु निर्वाणां अगृहीतानन्तवारानतीत्य, मिथकांश्च अनन्तवारानतीत्य मध्ये मृहीतामृहीतांश्च अनन्तवारानतीत्य च एव तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य नोकर्मभावमापन्नते यावत्तावत्स्त्वृत्तिर्न नोकर्मब्रह्मपरिवर्तनं । कर्मब्रह्मपरिवर्तनमुच्यते—एकस्मिन्समये एकेन जीवेन अष्टाधिककर्मभावेन वे च मृहीताः सन्नाधिकारिकायतीत्य द्वितीयायिषु सवयेषु निर्वाणाः पूर्वोक्तैरेव क्रमेण च एव तेनैव प्रकारेण ब्रह्म जीवस्य कर्मभावमापन्नते यावत्तावत्कर्मब्रह्मपरिवर्तनं ॥१७६८॥

रंभवदण्डो व इमो बहुविहसंठाणवणरूपाणि ।

गिण्हदि वृचवि य ठिदं जीवो संसारमावणो ॥१७६९॥

'रंभवदण्डो व' रंभवविष्टमट इव । 'इमो' अयं 'बहुविहसंठाणवणरूपाणि' बहुविधसंस्थानवर्णस्वभावान् । 'गिण्हदि व' 'वृचवि व अठिदं' गृह्णाति मुच्यति च 'अतिथत्' । क्रियाविशेषणमेतत् । 'जीवो संसार-कावणो' जीवो ब्रह्मसंसारमावणः ॥१७६९॥

सोमसंसारं निरूपयति—

अत्र न जादो न मदो हवेज्ज जीवो अणंततो वेव ।

काले तदग्नि इमो न सो पदेसो अय अत्यि ॥१७७०॥

परिवर्तनं ब्रह्मसंसारं है । प्रत्यकारने स्मृत्यनुवृत्ति बालोंको छल करके ब्रह्मसंसारका यह स्वरूप कहा है, किन्तु ब्रह्मपरिवर्तन इस प्रकार लेना ।

ब्रह्मपरिवर्तनके दो भेद हैं—नोकर्म परिवर्तन और कर्म परिवर्तन । उनमेंसे नोकर्म परिवर्तन इस प्रकार है—तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य जो पुत्रगल एक जीवने एक समयमें ग्रहण किये, उनमें अंसा स्पर्श, रस, मन्ध, वर्ण रूपां हो और तीव्र, मन्द या मध्यम भावसे वे ग्रहण किये जये हों, हुंसरे आदि समयोंमें उन्हें शीघ्रकर छोड़ दिया । उसके पश्चात् अनन्तवार अगृहीतको ग्रहण करके, अनन्तवार मिथको ग्रहण करके, मध्यमें मृहीत और अगृहीतको अनन्तवार गृहण करके वे ही पुत्रगल उसी जीवके उसी प्रकारसे अब नोकर्म रूपको प्राप्त होते हैं, उस सबको नोकर्म परिवर्तन कहते है । अब कर्मब्रह्म परिवर्तन कहते हैं—एक समयमें एक जीवने आठ कर्म-रूपसे जो पुत्रगल ग्रहण किये और एक समय अधिक एक आवली कारको पश्चात् द्वितीय आदि समयोंमें उन्हें भोगकर छोड़ दिया । नोकर्म परिवर्तनमें कहे क्रमके अनुसार वे ही कर्मपुत्रगल उसी जीवके उसी प्रकारसे अब कर्मरूपसे जाते हैं उस सबको कर्मब्रह्म परिवर्तन कहते हैं ॥१७६८॥

वा०—जीसे रंभवूमिमें प्रविष्ट हुआ नष्ट अनेक रूपोंको धारण करता है उसी प्रकार ब्रह्म-संसारमें भ्रमण करता हुआ जीव निरन्तर अनेक आकार, रूप, स्वभाव आदिको ग्रहण करता और छोड़ता है ॥१७६९॥

'अथ च आदौ च अन्ते हृत्वेण' यत्र क्षेत्रे वादौ मृती वा न भवेत्क्षीवः । 'अन्तस्तो वैव' अनन्त-
वारान् । 'अन्तेतीर्थेन इमे' अतीते कालेन । 'च एते क्वेते क्वे क्षीव' नासी प्रवेशो जगति विद्यते । अन्ते
पु क्षेत्रपरिवर्तनं—जगति सूक्ष्मनिर्वाणबीजो पर्याप्तकः सर्वजन्मप्रवेशसारी लोकास्वाष्टमन्त्रप्रवेशान् स्वसारी-
मन्त्रप्रवेशान् कुर्वोत्पन्नः, क्षुद्रमन्त्रहृणं जीवित्वा मृतः, स एव पुनस्तेनैवावगाह्येन द्विस्तपन्नस्तावा विपच्यतुरिति ।
एवं यावन्तोऽङ्गुलप्यासंक्षेपभागप्रतिष्ठाकाशप्रवेशास्तावत्क्षुर्या तर्षव जगित्वा पुनरेकैकप्रदेशाधिकभावेन
सर्वलोक आत्मनो जन्मलोभभावानुपनीतो भवति यावत्तावत् क्षेत्रपरिवर्तनं । उक्तं च—

तपन्निन लोचकितो कमलो रं क्षीव जन्म सुखम् ।

जीवाह्वना च क्षुद्रो वरिणिको विस्तसंसारे ॥ [वा० अणु० २६] ॥१७०॥

कालपरिवर्तनमुच्यते—

तत्रस्तदाकालसमयसु जीवो अन्तस्तो वैव ।

आदौ मदे च सम्बेसु इमो तीवन्नि कालन्नि ॥१७०१॥

'तत्रकालस्ताकालसम्बेसु' उत्सर्पिष्यवसर्पिणीसंज्ञितयोः कालयोर्मे समयस्तेषु । 'जीवो अन्तस्तो वैव'
जीवोऽनन्तवारान् । 'आदौ मदे च सम्बेसु' वादौ मृतवच सर्वेषु समेषु । 'इमो तीवन्नि कालन्नि' जयम-
तीते काले । इयमस्या यावायाः प्रथमव्याख्या—उत्सर्पिष्याः प्रथमसमये वातः कश्चिन्क्षीवः स्वायुषः परिस-
माप्तौ मृतः, स एव पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिष्या द्वितीयसमये वातः स्वायुषः क्षयान्मृतः । स एव पुनस्तृतीयाया-

अथ क्षेत्रसंसारको कहते हैं—

शा०—जगत्में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ यह जीव अतीत कालमें अनन्तवार जन्मा
और मरा न हो ॥१७०॥

टी०—अन्य आचार्य क्षेत्रपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—सूक्ष्म निगोदिया
लक्ष्म्यपर्याप्तक जीव सबसे जघन्य प्रदेशवाला शरीर लेकर लोकके आठ मध्यप्रदेशोंको अपने
शरीरके मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और क्षुद्रमन्त्र ग्रहण करके एक श्वासके अठारहवें भाग
समय तक जिया और मरा । वही जीव पुनः उसी अवगाहनाको लेकर उसी स्थानमें दुबारा
उत्पन्न हुआ, तिसरा उत्पन्न हुआ, चौथो बार उत्पन्न हुआ । इस तरह अंगुलके असंख्यातवें
भाग प्रमाण आकाशमें जितने प्रदेश होते हैं उतनी बार वही उत्पन्न हुआ । पुनः एक-एक प्रदेश
बढ़ाते-बढ़ाते सर्वलोकको अपना जन्मक्षेत्र बनाया । इस सबको क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं । कहा
भी है—

सर्वलोकक्षेत्रमें ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह क्रमसे उत्पन्न नहीं हुआ । अनेक अव-
गाहनाके साथ इस जीवने क्षेत्र संसारमें परिभ्रमण किया ॥१७०॥

कालपरिवर्तनको कहते हैं—

शा०—यह जीव अतीत कालमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोंमें अनन्त
बार उत्पन्न हुआ और अनन्तबार मरा ॥१७०१॥

टी०—इस यावाकी विस्तृत व्याख्या इस प्रकार है—उत्सर्पिणी कालके प्रथम समयमें
उत्पन्न हुआ कोई जीव अपनी आयुके समाप्त होनेपर मरा । वही जीव पुनः दूसरी उत्सर्पिणीके

अज्जवसाणठानंतराणि जीवो विक्कुब्बइ इमो हु ।

गिण्ठं पि जहा सरडो गिण्हदि गाणाविडे वण्णे ॥१७७५॥

'अज्जवसाणठानंतराणि जीवो विक्कुब्बइ इमो खु' अज्जवसायस्थानान्तराणि जीवः परिणमत्यर्थं । 'गिण्ठं' नित्यमपि, 'यथा सरडो वाचाविडे वण्णे' यथा गोधा नानाविधान्वानुपादत्ते । एवं संसारः ॥१७७५॥

तस्य भयमुपदर्शयति—

आगासम्मि वि पक्खी जले वि मच्छा थले वि थलचारी ।

हिंसति एक्कमेवकं सम्बत्थ भयं खु संसारे ॥१७७६॥

'आगासम्मि वि पक्खो' आकाशे संघरस्तं परकीयपरिणोऽपि बाधन्ते । 'जले वि मच्छा' जलेऽपि मत्स्याः । 'थले वि थलचारी' भूमावपि भूमिचारिणः । 'हिंसति' बाधन्ते । 'एक्कमेवकं' अन्वयान्तं । 'सम्बत्थ भयं खु संसारे' सर्वत्र भयं संसारे ॥१६७६॥

भा०—जैसे गिरगिट नित्य ही नाना प्रकारके रंग बदलता है वैसे ही यह जीव अज्जवसाय स्थानोंको धारण करता हुआ परिणमन करता है ॥१७७५॥

विशेषार्थ—भावपरिवर्तनका विस्तृत स्वरूप इस प्रकार है—पञ्चेन्द्रिय संज्ञो पर्याप्तक मिथ्या-दृष्टि कोई जीव सबसे जघन्य अपने योग्य ज्ञानावरण कर्मका अन्त कोटिकोटी सागर प्रमाण स्थितिबन्ध करता है । उस जावके उस स्थितिबन्धके योग्य असंख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थान होते हैं । उनमेंसे सबसे जघन्य कषायाध्यवसायस्थानमें निमित्त असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान होते हैं । इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति, सबसे जघन्य कषायाध्यवसाय स्थान, सबसे जघन्य ही अनुभागबन्ध स्थानको प्राप्त उस जीवके उसके योग्य सबसे जघन्य एक योगस्थान होता है । फिर उसी स्थिति, उसी कषाया स्थान और उसी अनुभागस्थानको प्राप्त उस जीवके दूसरा योगस्थान होता है जो पहलेसे असंख्यात भागवृद्धियुक्त होता है । इस प्रकार श्रेणिके असंख्यातवै भावप्रमाण योगस्थानोंके समाप्त होनेपर पुनः वही स्थिति और उसी कषायाध्यवसायस्थानको प्राप्त उसी जीवके दूसरा अनुभागाध्यवसायस्थान होता है । उसके भी योगस्थान पूर्ववत् जानना चाहिये । इस प्रकार तीसरे आदि असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थानोंके समाप्त होनेपर उसी स्थितिको प्राप्त उसी जीवके दूसरा कषायाध्यवसायस्थान होता है । उसके भी अनुभागाध्यवसायस्थान पूर्ववत् जानना । इस प्रकार तीसरे आदि कषायाध्यवसायस्थानोंके समाप्त होनेपर वही जीव एक समय अधिक जघन्यस्थितिको बांधता है । उसके भी कषायादि स्थान पूर्ववत् जानना । इसी प्रकार एक-एक समय अधिकके क्रमसे ज्ञानावरण कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर पूर्ववत् बांधता है । इसी प्रकार सब मूलकर्मों और उनकी उत्तर प्रकृतियोंकी सब स्थितियोंको उक्त प्रकारसे बाधता है । इस सबको भावपरिवर्तन कहते हैं ॥१७७५॥

संसारसे भय वशाति है—

भा०—आकाशमें विचरण करते हुए पक्षियोंको दूसरे पक्षी बाधा देते हैं । जलमें मच्छ बाधा करते हैं । थलमें थलचारी बाधा करते हैं । इस प्रकार सर्वत्र एक दूसरेकी हिंसा करते हैं । अतः संसारमें सर्वत्र भय है ॥१७७६॥

ससयो वाहपरद्धो विलसि षाऊण अजगरस्स मुहं ।
सरणसि मण्णमाणो मञ्जुस्स मुहं जह अदीदि ॥१७७७॥

'ससयो वाहपरद्धो' यद्यो व्याघ्रेणोपद्रुतः, 'विलसि षाऊण अजगरस्स मुहं' विलसिति ज्ञात्वा अजगरस्स मुहं । 'सरणसि मण्णमाणो' धरणमिति मन्थमानः । 'मञ्जुस्स मुहं जह अदीदि' मृत्योर्मुक्तं यथा प्रविशति ॥१७७७॥

तह अण्णणी जीवा परिद्धमाणञ्जुहादिवाहेहिं ।
अदिगच्छंति महादुहहेदु संसारसप्यमुहं ॥१७७८॥

'तह अण्णणी जीवा' तथा अमानिनो जीवाः । 'परिद्धमाणञ्जुहादिवाहेहिं' अनुवाच्यमानाः क्षुवादिभिः व्याधैः । 'अदिगच्छंति' प्रविशन्ति । 'महादुहहेदु' महतो दुःखस्य निमित्तं । 'संसारसप्यमुहं' संसार-सर्पमुक्तं ॥१७७८॥

जावदियाइं सुहाइं होंति लोगम्मि सव्वजोणीसु ।
ताहंपि बहुविचाइं अणंतसुतो इमो पत्तो ॥१७७९॥

'जावदियाइं' धारयन्ति । 'सुहाणि होंति लोगम्मि' सुखानि भवन्ति लोके । 'सव्वजोणीसु' सर्वाण्यु-
यानि । 'ताहंपि बहुविचाइं' तान्यपि बहुविधानि । 'अणंतसुतो इमो पत्तो' अनन्तवारप्रयं जीवः-
प्राप्तः ॥१७७९॥

दुक्खं अणंतसुतो पावेसु सुहंपि पावदि कहिं वि ।
तह वि य अणंतसुतो सव्वानि सुहाणि पत्ताणि ॥१७८०॥

'दुक्खं अणंतसुतो पावेसु सुहंपि पावदि कहिं वि' दुःखमपि अनन्तवारं प्राप्य सुखमपि प्राप्नोति कथं-
चित् । 'तह वि य अणंतसुतो' तथाप्यनन्तवारं 'सव्वानि सुहाणि पत्ताणि' सर्वाणि सुखानि प्राप्ताणि यद्यन्ता-
चक्रवर्तिना पञ्चानुत्तरविमानवासिनां लौकान्तिकानामहमिन्द्राणां च सुखानि मुक्त्वा ॥१७८०॥

शा०—जैसे खरगोश व्याघ्रसे सताया जानेपर बिल समझकर अजगरके मुखमें प्रवेश करता है । वह उसे अपना धरण मानकर मृत्युके मुखमें प्रवेश करता है ॥१७७७॥

भा०—उसी प्रकार अज्ञानी जीव भूख प्यास आदि व्याधियोंके द्वारा पीड़ित होनेपर महान् दुःखमें निमित्त संसाररूपी सर्पके मुखमें प्रवेश करते हैं ॥१७७८॥

शा०—लोकमें सब योनियोंमें जितने प्रकारके सुख होते हैं उन सब अनेक प्रकारके सुखोंको भी इस जीवने अनन्तवार भोगा है ॥१७७९॥

शा०—अनन्तवार दुःखोंको प्राप्त करके कदाचित् सुखको भी प्राप्त करता है । तथापि अनन्तवार हल जीवने सब सुखोंको प्राप्त किया है ॥१७८०॥

टी०—किन्तु गणधर, चक्रवर्ती, पांच अनुत्तर विमानवासी, लौकान्तिक और अनुदिश विमानवासी देवोंका सुख इस जीवने प्राप्त नहीं किया, क्योंकि ये चक्रवर्तीको छोड़कर शेष सब नियमसे सम्यग्दृष्टि होनेसे भोग्यगामी होते हैं । और चक्रवर्ती पद बार-बार प्राप्त नहीं होता है ॥१७८०॥

करणेहि होदि विगळो बहुसो विषयविषोदधिचेहि ।

बाणेण य जिम्माए विद्वाबलविरियजोगेहि ॥१७८१॥

'करणेहि होदि विगळो' विकलेन्द्रियः कवचिद्रूपति । 'बहुसो' बहुयः । 'विषयविषोदधिचेहि' ममसा बधसा शोभेय नेत्रेण करणेन हीनः । स्वर्गनेन्द्रियवैकल्यासंभवात् तदनुपपत्त्यासः । 'बाणेण व' घ्राणेन व । 'जिम्माए' जिह्वया । 'वेदटाबलविरियजोगेहि' वेष्टया बलेन वीर्येण व ॥१७८१॥

जन्मंभवहिरमूजो छादो तिसिजो वणे व एयाई ।

ममइ सुचिरंरिपि जीवो जन्मवणे णहुसिद्धिपहो ॥१७८२॥

'जन्मंभवहिरमूजो' आत्मन्वो, बचिरो, मूकः । 'छादो' क्षुपा पीडितः, 'तिसिजो' तुषानिमूतः । 'वणे व एयाजी वमवि' असहायो यथा वने भ्रमति । तथा 'सुचिरंरिपि' चिरकालमपि । जीवो 'जन्मवणे' जन्मवने भ्रमति । 'णहुसिद्धिपहो' नष्टसिद्धिमार्गः । उक्तं च—

कस्युचरितेनष्टज्ञानसुसंश्रितकर्मिणः, करणविकलः कर्मोत्पृप्तो कर्माणवपाततः ।

सुचिरमवसो दुःखार्तो 'निमीलितस्त्रीबन्धो, जगति कुम्बो नष्टप्रायः क्षुभेतरकर्मण्डलु ।

अवचविकलो बाण्डीगोडो बधानुत्सोचनः, सुचितमस्मिन् नष्टोऽष्टव्यां चरेद्वह्नुत्पः ।

अलहबलङ्गु मुह्यु नुम्वंभराचरयेहतां, भ्रमति सुचिरं जन्माष्टव्यां त्रयावन्नेककः ॥इति॥१७८२॥

एइदिचेसु पंचविचेसु वि उत्त्वाणवीरियविहूजो ।

ममदि अजंतं कालं दुक्खसइहस्ताणि पावेतो ॥१७८३॥

'एइदिचेसु पंचविचेसु वि' एकेन्द्रियेषु पन्च प्रकारेणपि । पृथ्व्यपृत्तेजोवायुवक्त्रस्पर्शरीरचारिषु ।

शा०—यह जीव बहुत बार मन, वचन, श्रोत्र, नेत्र, घ्राण और जिह्वा इन्द्रिय तथा चेष्टा बल और वीर्यसे हीन विकलेन्द्रिय होता है ।

टी०—किसी प्राणीका स्पर्शन इन्द्रियसे हीन होना तो असंभव है अतः उसका कथन नहीं किया है ॥१७८१॥

शा०—टी०—कमी यह जीव जन्मसे ही अन्धा, बहिरा, गूंगा होता है और भूल तथा प्यास से पीड़ित होकर जैसे कोई मार्ग भूलकर वनमें अकेला भटकता है उसी प्रकार मोक्षमार्गसे भ्रष्ट होकर जन्मरूपी वनमें अकेला भ्रमण करता है । कहा भी है—अपने बुरे आचरणसे संश्रित किये कर्मोंके द्वारा अपना ज्ञान खोकर यह जीव विकलेन्द्रिय होता है तथा कर्मसे प्रेरित हो संसाररूपी समुद्रमें गिरकर चिरकाल तक पराधीन हो, बांख बन्द करके भ्रमण करता है । उसका कोई रक्षक नहीं होता । जैसे कोई बहिरा, गूंगा अन्धा भूलं प्राणी प्याससे व्याकुल हो, मार्ग भूलकर अकेला वनमें भटकता है । उसी प्रकार यह संसारी प्राणी मार्गदर्शकके बिना बार-बार त्रसत्त्वावर पर्यायको ग्रहण करता और छोड़ता हुआ चिरकाल तक जन्मरूपी वनमें भ्रमण करता है ॥१७८२॥

शा०—पृथिवी, अल, तेज, वायु और वनस्पतिका शरीर धारण करनेवाले पाँच प्रकारके

१. कर्मोत्पृप्त -आ० । २. तौजं वि -बु० ।

'अज्ञानबीर्याबिहीनो' पृथिव्यादिकायान् परित्यज्य तसकायप्राप्तिनिमित्तोत्पानबीर्यरहितः । 'भ्रमवि जन्तुं कालं' भ्रमति अनन्तकालं । 'दुःखसहस्राणि पावैतो' दुःखसहस्राणि प्राप्नुवन् ॥१७८३॥

बहुदुःखावत्ताए संसारणदीए पावकलुसाए ।

भ्रमइ वरागो जीवो अण्णाणनिमीलितो सुच्चिरं ॥१७८४॥

'बहुदुःखावत्ताए' बहुदुःखावतायां । 'संसारणदीए' संसृतिनद्या । 'पावकलुसाए' पापकलंकसहितायां । 'वरागो जीवो भ्रमवि' दीनो जीवो भ्रमति । 'सुच्चिरं अण्णाणनिमीलितो' अज्ञानेन निमीलितः ॥१७८४॥

विसयामिसारगाढं कुजोणिणेमि सुहदुःखददल्लीलं ।

अण्णाणतुंबधरिदं कसायददपट्टियावबंधं ॥१७८५॥

'विसयामिसारगाढं' विषयामिलापारैगाढं स्तब्धं । 'कुजोणिणेमि सुहदुःखददल्लीलं' क्रुस्तितयोनि-
नेमिक सुखदुःखददकीलं । 'अण्णाणतुंबधरिदं' अज्ञानतुंबधारितं । 'कसायददपट्टियावबंधं' कषायदुः-
पट्टिकावन्धं ॥१७८५॥

बहुजन्मसहस्सविसालवत्तणि मोहवेगमहिचवलं ।

संसारचक्रमारुहिय भ्रमदि जीवो अण्णपवसो ॥१७८६॥

'बहुजन्मसहस्सविसालवत्तणि' अनेकजन्मसहस्रविशालमार्गं । 'मोहवेगं' मोहवेगं । 'संसारचक्रमारु-
हिय' एवमूतं संसारचक्रमारुह्य । 'अण्णपवसो जीवो भ्रमदि' अनात्मवशो जीवो भ्रमति ॥१७८६॥

भारं षरो बहंतो कर्हिचि विस्समदि ओरुहिय भारं ।

देहभरवाहिणो पुण ण लहंति खणं पि विस्समिदुं ॥१७८७॥

'भारं षरो बहंतो' भार वहन्तः । 'कर्हिचि भारमोर्हिय' कस्मिदिचिदेवो काले च भारमवतायं ।
'विस्समदि' विधाम्यति । 'देहभरवाहिणो पुण' देहभारोद्वाहिणो जीवाः पुनः । 'न लभंति खणं पि विस्समिदुं'
न लभन्ते क्षणमपि विश्राम कर्तुं । औदारिकवीक्रियकर्मोविनष्टयोरापि कार्माण्तजसयोरवस्थानात् ॥१७८७॥

एकेन्द्रियोंमें यह जीव हजारों कष्ट भोगता हुआ अनन्तकाल तक भ्रमण करता है । उसमें इतनी भी शक्ति नहीं होती कि पृथिवी भादि कायोका त्याग करके तसकायकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर सके ॥१७८३॥

गा०—अज्ञानमे पढा हुआ यह बेचारा जीव पापरूपी मेले पानीसे भरी और बहुत दुःख-
रूपी भँवरोंसे युक्त ससाररूपी नदीमें चिरकाल भ्रमण करता है ॥१७८४॥

गा०—यह ससाररूपी चक्र (पहिया) विषयोंकी अबिलाषारूपी आरोंसे अकड़ा हुआ है,
कुयोनिरूपी नेमि—हाल उसपर चढी हुई है । उसमें सुख दुःखरूपी मजबूत कीले लगी हैं ।
अज्ञानरूपी तुम्हपर वह स्थित है, कषायरूपी दृढ पहियोंसे कसा हुआ है । अनेक हजार जन्मरूपी
उसका विशाल मार्ग है । उसपर वह ससार चक्र चलता है । मोहरूपी वेगसे अतिशीघ्र चलता
है । ऐसे संसाररूपी चक्रपर सवार होकर यह पराधीन जीव भ्रमण करता है ॥१७८५-८६॥

गा०-डी०—भारवाही मनुष्य तो किसी देश और कालमें अपना भार उतारकर विश्राम कर
लेता है । किन्तु क्षरीरके भारको ढोनेवाले जीव एक क्षणके लिये भी विश्राम नहीं पाते । औदारिक

कम्मानुभावदुहिदो एवं मोहं च यारगहृत्स्मि ।

अंधो व दुग्गमन्मे ममदि हु संसारकंतारे ॥१७८८॥

'कम्मानुभावदुहिदो' असद्वेद्याविपापकर्ममाहात्म्यधनितदुःखः । 'एष' मूषतेन कमेव । 'संसारकंतारे ममदि' संसारकान्तारे भ्रमति । कीदृशे ? 'मोहं च यारगहृत्स्मि' मोहात्म्यकारणम् । 'अंधो व दुग्गमन्मे' अंध इव दुर्गमार्गे ॥१७८८॥

दुक्खस्स पडिगरंतो सुहमिच्छंतो य तह इमो जीवो ।

पाणवधादीदोसे करेइ मोहेण संछण्णो ॥१७८९॥

'दुक्खस्स पडिगरंतो' दुःखस्य प्रतीकारं कुर्वन् । 'सुहमिच्छंतो व' इन्द्रियसुखमविलम्बन् । 'इमो जीवो' अथ जीवः । 'पाणवधादीदोसे' हिंसादिविषयान् । 'करेइ मोहेण संछण्णो' करोति मोहेण संछन्नः । एतदुक्तं 'भवति—दुःखभीत्यनिरवशेषदुःखापायस्योपाय न वेति । दुःखनिराकरणार्थ्यपि दुःखहेतुनेव हिंसादीन् प्रवर्तयति । इन्द्रियसुखलम्पटोऽपि तेष्वेव हिंसादिषु दुःखहेतुषु प्रवर्तते । ततोऽप्य सकलो व्यापारो दुःखस्यैव मूलमिति ॥१७८९॥

दोसेहिं तेहिं बहुगं कम्मं बंधदि तदो णवं जीवो ।

अथ तेषं पच्चइ पुणो पविसित्तु व अग्गिमग्गीदो ॥१७९०॥

'दोसेहिं तेहिं' प्राणिवर्धादिकीर्दोषः । 'बहुगं कम्मं बंधदि' महत्कर्म बन्धाति । 'अथ' प्रत्ययः । 'तेषो' पश्चात् । 'अथ' कर्मबन्धानन्तरं । 'तेषं पच्चइ' तेन बन्धनेन कर्मणा पच्यते । 'पविसित्तु व' प्रविश्येव । किं ? 'अग्गि' अग्नि । 'अग्गीदो' अग्नेः । अग्नेरागत्य अग्निं प्रविश्य यथा बाध्यते एवं पूर्वं कर्मनिर्वाहितः पुनः प्रत्यग्रकर्मनिर्लेन दहते इति ॥१७९०॥

और वैक्रीयिक शरीरोंके छूट जानेपर भी कामंण और तेजस शरीर बराबर बने रहते हैं ॥१७८७॥

शा०—इस प्रकार असातावेदनीय आदि पापकर्मोंके प्रभावसे दुःखी जीव मोहरूपी अन्धकारसे गहन संसाररूपी वनमें उसी प्रकार भ्रमण करता है जैसे अन्धा व्यक्ति दुर्गम मार्गमें भटकता है ॥१७८८॥

शा०—टी०—मोहसे आच्छादित यह जीव दुःखसे बचनेका उपाय करता है और इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा रखता है और उसके लिये हिंसा आदि दोषोंको करता है । आशय यह है कि दुःखसे डरता है किन्तु समस्त दुःखोंके विनाशका उपाय नहीं जानता । यद्यपि दुःखोंको दूर करना चाहता है किन्तु हिंसा आदि पापोंमें प्रवृत्त होता है जो दुःखके हेतु हैं । इन्द्रिय सुखका लम्पटी होते हुए उन्हीं हिंसा आदि पापोंमें लगा रहता है जो दुःखके कारण हैं । इसलिये उसका सब काम दुःखका ही मूल होता है ॥१७८९॥

शा०—उन हिंसा आदि दोषोंको करनेसे जीव बहुत-सा नया कर्म बाँधता है । कर्मबन्धके पश्चात् उस कर्मका फल भोगता है । इस प्रकार जैसे कोई एक आगसे निकलकर दूसरी आगमें प्रवेश करके कष्ट उठाता है, वैसे ही पूर्वबद्ध कर्मोंको भोगकर पुनः नवीन कर्मरूपी आगमें जलता है ॥१७९०॥

१. भीषणरी विशेषदुःखापायस्यापायं—आ० मु० । निःशेषदुःखापायोपायं—मूलारा० ।

२. कर्मनिबन्धनेन—आ० ।

बंधतो मुच्यन्ते एवं कर्म पुण्यो पुण्यो जीवो ।

सुहृदामो बहुदुःखं संसारमणादियं भमइ ॥१७९१॥

'बंधतो मुच्यन्ते' बन्धन् मुञ्चन् । 'एव कर्मं पुण्यो पुण्यो जीवो' कर्म पुनः पुनर्जीवः दत्तफलानि मुञ्चति, कर्मफलानुभवकालोपजातरामद्वेषादिपरिणामरहितानि कर्माणि बध्नाति । 'सुहृदामो' सुखाभिलाषवान् । 'बहुदुःखं' विविधदुःखं । 'संसारमणादियं भमधि' अनादिक संसारं भ्रमति । संसारचिन्ता ॥१७९१॥

लोकानुप्रेषा निरूप्यते । नामस्थापनाद्रव्यादिविकल्पेन यद्यप्यनेकप्रकारो लोकस्तथापीह लोकशब्देन जीवद्रव्यलोक एवोच्यते । कथं ? सूत्रेण जीवधर्मप्रवृत्तिक्रमनिरूपणात्—

आर्हिद्वयपुरिसस्स व इमस्स णीया तर्हि तर्हि हौति ।

सच्चवे वि इमो पत्तो संबंधे सम्बजीवेहि ॥१७९२॥

'आर्हिद्वयपुरिसस्स व' देशान्तरं भ्रमतः पुरः इव । 'इमस्स णीया तर्हि तर्हि हौति' अस्य वधवस्तत्र तत्र भवति । 'सच्चवे इमो पत्तो' सर्वानयं प्राप्स्यति । 'संबंधे' मयन्धान् । 'सम्बजीवेहि' गर्वजीवः महः ॥१७९२॥

माया वि होइ भज्जा भज्जा मायलणं पुणमुवेदि ।

इय संसारे सच्चवे परियट्ठंते हु संबंधा ॥१७९३॥

'माया व होइ भज्जा' माता भार्या भवति । भार्या मातृता पुनरुपैति । एवं संसारे सर्वे सम्बन्धाः परिवर्तन्ते इति मायार्थः ॥१७९३॥

जणणी वसंततिलया भगिणी कमला य आसि भज्जाओ ।

व्रणदेवस्स य एककम्मि भवे संसारवासम्मि ॥१७९४॥

'जणणी वसंततिलया' धनदेवस्य जननी वसंततिलका । कमला भगिनी । ते उभे भार्ये जाते

शा०—इस प्रकार जीव जो कर्म फल दे लेता है उन्हें छोड़ देता है और कर्मोंका फल भोगते समय होनेवाले राग-द्वेष रूप परिणामोंसे नवीन कर्मोंका बन्ध करता है । सुखकी अभिलाषा रखकर बहुत दुःखोंसे भरे अनादि संसारमें भ्रमण करता है ॥१७९१॥ संसार अनुप्रेषाका कथन समाप्त हुआ ।

अब लोकानुप्रेषाका कथन करते हैं । यद्यपि नाम, स्थापना, द्रव्य आदिके भेदसे लोकके अनेक भेद हैं । तथापि यहाँ लोक शब्दसे जीव द्रव्यलोक ही कहा है क्योंकि मायाधर्म जीवके प्रवृत्ति क्रमका कथन किया है—

शा०—जैसे देशान्तरमें भ्रमण करनेवाले पुरुषको सर्वत्र इष्ट-मित्र मिलते हैं उसी प्रकार इस जीवके भी जहाँ-जहाँ यह जन्म लेता है वही-वही बन्धु-बान्धव होते हैं । इस तरह इसने सब जीवोंके साथ सब सम्बन्ध प्राप्त किये हैं ॥१७९२॥

शा०—जो इस जन्म माता है वही दूसरे जन्ममें पत्नी होती है और पत्नी होकर पुत्रः माता बन जाती है । इस प्रकार संसारमें सब सम्बन्ध परिवर्तनशील हैं ॥१७९३॥

शा०—दा०—दूसरे भवोंमें सम्बन्ध बदलनेकी तो बात ही क्या है । किन्तु धनदेवकी माता वसंततिलका और बहन कमला, ये दोनों उसी भवमें धनदेवकी पत्नी हुईं । कहा भी है—

अन्येभ्यस्तु तस्मिन्नेव भवे । अयान्तरेषु संख्यान्वयानामपि किमस्ति वाच्यं ? उक्तं च—

यत्सर्वेभ्यश्चैव समस्तैश्चार्थं पुनः कस्यैव च्यवनमुच्यते च वाच्यम् ।
नामाशरीरवद्भवेन कथं न पुनः प्राप्नोति 'कथे न विद्योदयान्तरात्कर्म ॥
पुनरपि तन्मन्वयोदयतत्तमेवः सन्वो विद्वद्व्यवसायिभिरुच्यते ।
पुनरपि दुःखनिर्घ्नं विद्यते तदात्मं, तदात्मकानि विद्यन्तु परिदुःखारणाः ॥

एवमयं कष्टो लोकधर्मः ॥१७९४॥

राया वि होइ दासो दासो रायचरणं पुनहुवेदि ।

इय संसारे परिवट्टंते ठाणाणि सख्याणि ॥१७९५॥

'राया वि होइ दासो' राजा दासो भवति, नीचगोत्रार्जनात्, दासो राजतां पुनरपि उच्यते-
कर्मण उच्यते । एवं संसारे परिवर्तन्ते सर्वाणि स्थानानि ॥१७९५॥

कुलरूपतेयभोगाधिगो वि राया विदेहदेसवदी ।

वच्छधरमि सुभोगो जाओ कीडो सकम्मेहि ॥१७९६॥

'कुलरूपतेयभोगाधिको वि' कुलेन रूपेण तेजसा भोगेनाधिकोऽपि । विदेहजनपदाधिपति राया सुभोग-
तमः सुवर्चोभूः कीटो जातः स्वैः कर्मभिः प्रेरितः । उक्तं च—

बुद्धाः स्वचित्तपुरमनुष्यगणप्रधानाः सर्वोद्विषीतवपुषः साधिकास्तस्याः ।
अहस्त एव पुनरन्वयत प्रयुग्मा दीना भवन्ति कुलरूपजनप्रतापैः ॥१७९६॥

यदि एक शरीर धारण करनेपर जीव अनेक अपवादों और दुःखोंको पाता है और उससे मनोवेदना और उग्र पापको बाधता है तब विषय सेवनके द्वारा पापकर्मका उपार्जन करनेवाला कौन पुरुष नाना शरीर धारण करनेपर कैसे दुःख नहीं पाता है अर्थात् अवश्य दुःख पाता है ।

मदसे मत्त हाथीके द्वारा बेगपूर्वक किया गया प्रहार तथा बलशाली हाथसे छोड़ी गयी तीक्ष्ण तलवार दुःख नहीं देते । उससे भी अधिक दुःख विषय देते हैं । इसलिये तत्त्वज्ञानी जन विषयोंको त्याग देते हैं । इस प्रकार यह लोकधर्म दुःखदायक है ॥१७९४॥

भा०—नीच गोत्रका बन्ध करनेसे राजा मरकर दास होता है और उच्च गोत्रका बन्ध करनेसे दास राजा हो जाता है । इस प्रकार संसारमें सब स्थान परिवर्तनशील है ॥१७९५॥

भा०—विदेह देशका राजा सुभोग कुल, रूप, तेज और भोगमें अधिक होते हुए भी अपने कर्मोंसे प्रेरित होकर विष्ठाधरमें कीट हुआ, कहा भी है—जो देव और मनुष्योंमें प्रधान थे, जिनका शरीर सब श्रेष्ठियोंसे दीप्तिमान था, जिनका रूप चन्द्रभाको तरह मनोहर था, वे भी अन्य गतिमें कुल, रूप, धन और प्रतापसे अष्ट होकर दीन होते हैं ॥१७९६॥

होउच महद्गीओ देवो सुमवण्णगंघरूपधरो ।

कुण्णिमम्मि वसदि गम्मे चिगत्यु संसारवासस्स ॥१७९७॥

'होउच महद्गीओ देवो' महद्गीओ देवो मूर्त्वा । 'सुमवण्णगंघरूपधरो' प्रशस्ततेजोगन्धरूपान्वित ।

इन्द्रचापतडित्वन्मुचरानां महद्वातु गगने सहस्रैव ।
जम्ब संभवति तच्छवकीचां जम्ब वेङ्गमसुधिप्रविभुक्तम् ॥
वातपितृकफनीः परिभुक्तं ध्यायिभिर्विषयत्वेदयमिहम् ।
अभ्युक्तं धरययीवमभुक्तं सर्वतोऽधिकम्भुक्तमकान्ति ॥
सर्वतश्च विमलान्धरवर्षस्वार्तगन्धवरवाह्मिस्तहासं ।
सद्विलास्यतिचेष्टित'लोकं ते क्षरीरजरज्ज्व लज्जसे ॥
गीतवाद्यतलिपुर्वमिनादेस्तास्तदाद्य समुपेत्य सहर्षाः ।
देवदेव'वनिताः प्रथिपत्य कुर्वतेऽत्र समुपासनयेषां ॥
कुलपङ्कजसमैरथ हस्तैर्दक्षिणैः प्रवरलक्षणकीर्णैः ।
चाचचन्द्रवदना नसिमेवा स्निग्धवृष्टिहसिताः प्रसिन्धुः ॥
सुमपासनमस्तकोपविष्टान् भुगपालप्रयताग्निवाचलानां ।
अथ तानिषेकनायथंति बुधितास्तत्र ३पुराः सुवर्णकुण्ठैः ॥
प्रविकाशय कर्मपङ्कजानि सुरमाधार्कगुणाङ्गुनिः सुरानां ।
'कुण्ठः सुधिरं' त्वनाधिपत्यमिति ताभ्यान्मरभिष्टुचमिति शैव ॥

शा०—टी०—शुभरूप, शुभगन्ध, और प्रशस्त तेजधारी महती ऋद्धिका धारक देव भी होकर गन्दे गर्भस्थानमें वास करता है ।

देवोंमें उत्पत्तिका वर्णन करते हुए कहा है—

जैसे आकाशमें सहसा ही शीघ्रतासे इन्द्रधनुष, विजली और मेघ प्रकट होते हैं उसी प्रकार देवोंका जन्म होता है । उनका शरीर अपवित्र वस्तुओंसे रहित होता है, वात, पित्त और कफसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंसे रहित होता है । खेद और नीदसे रहित होता है । उरुकृष्ट यौवनसे युक्त होता है, सब रूपसे परिपूर्ण होता है, उत्तम कान्तितसे युक्त होता है । उत्तम रूप, रस गन्धसे युक्त है । वचन-विलास, हास-विलास, गति चेष्टासे लीला सहित होता है । वे देव ऐसा शरीर तत्काल प्राप्त कर लेते हैं । उसके पश्चात् गीत वाद्योंको पंक्ति तथा भेरीके शब्दोंके साथ देव-देवांगना बड़े हर्षके साथ उनके पास जा, नमस्कार करके उनकी सेवा करते हैं । हास सहित स्निग्ध दृष्टिसे युक्त सुन्दर चन्द्रमुखी देवांगनाएँ खिले हुए कमलके समान तथा उत्तम लक्षणोंसे युक्त दक्षिण हाथोंसे उनका नमस्कार स्वीकार करती हैं ।

पर्वतोंके अन्नभाग पर बैठे हुए मिहके समान सिंहासनके मस्तक पर बैठे हुए उन देवोंका वे देव प्रसन्नतापूर्वक सुवर्ण कलशोंसे अभिषेक करते हैं । हे देवेन्द्ररूपी सूर्य ! अपने गुणरूपी किरणोंसे देवोंके मुखरूपी कमलोंको विकसित करो और चिरकाल तक हमारे स्वामी रहो, इस

१. शीलां जा० । २. विष्यव -जा० । ३. तत्र सुवर्णरत्नम् -जा० । ४. कुण्ठ -जा० ।

आवाय भेदाधारवि शिरऽनु न्यस्तैरिबेत्तं कुटामि भ्रूया ।
 विभूषितादधारभरैरत्नचैर्हारार्चहारंगवकुण्डलाद्यैः ॥
 ज्योतिषिभूषान् पद्मनग्नवेजान्, विद्युद्दिग्दान् खचिरान्भुवांश्च ।
 रत्नाभितान् हेममहागिरिश्च विज्ञेयवन्तोऽभ्यधिकं विभ्रामित् ॥
 दिव्यवीर्यं बलविक्रमायुधो दिव्यवीर्यवपुषो विज्ञो वज्र ।
 भातयति विनयार्थं राकं बहिष्यतीन्धवपुषः जज्ञाच्छुभत् ॥
 दूरन्यसिपतन्ति लाघवात् वीर्यात् विरिस्ता भवन्ति च ।
 आनवादागिषिषान्ति वैशिनो वाधिवाक्च महतोऽपि सन्वते ॥
 काष्ठमग्निमनिलं जलं महीं संप्रविश्व च तनुः शरीरिणां ।
 निबिषेचमुनकाः सहस्रसितुं ते भवन्ति शुचिंरं सुजगन्मः ॥
 पावकाचलमुरव् बनाम्बनीसाभरतिश्च सहसा निक्ष्वे ते ।
 स्वानमीप्सितसमं भ्रमाहिना धान्ति चाग्रसिहृताः समीरवत् ॥
 उत्क्षिपेयुरवर्षीं 'महाबलात् धस्तवेयुरपि मन्वरात्करैः ।
 मन्वराप्रसिद्धं वराचिन्तास्ते स्पृशेयुरपि यज्ञमीप्सितं ॥
 ईक्षितुं सुरनृभामयततः कर्तुं मन्वराणां नृणां वापि ।
 कृपमात्थमनसां समीप्सितं 'कष्टुन्मन्वराणां' सहसा च ॥

प्रकार वे देव अपने वचनोंसे उनकी स्तुति करते हैं ॥ उनके मस्तक पर मुकुट शोभित होते हैं जो मानों ग्रीष्म कालके सूर्यको ही पकड़ कर सिरों पर रख लिया है ऐसे प्रतीत होते हैं । उन मुकुटोंसे तथा हार, अर्द्धहार, बाजूबन्द, कुण्डल आदि बहुमूल्य आभरणोंसे भूषित होकर वे देव सूर्यचन्द्रम सुशोभित आकाशसे, विजलीसे सम्बद्ध सुन्दर मेघोंसे और रत्नोंसे खचित स्वर्णमयी पर्वतोंसे भी अधिक मुशोभित होते हैं । दिव्य वीर्य, बल, विक्रम और आयुवाले तथा दिव्य चमकदार शरीरवाले वे देव निर्मल आकाशमें स्थित सूर्य और दिव्य सौम्य शरीरवाले चन्द्रमाकी तरह दसो दिशाओंको प्रकाशित करते हैं । वे लाघवसे सुदूर तक ऊपर उठे हुए हैं और गौरवसे पर्वतके समान होते हैं । सूक्ष्म होनेसे पृथिवीमें प्रवेश करते हैं और महान् होनेसे बड़ों-बड़ोंको रोकते हैं । अर्थात् अणिमा, महिमा, लघिमा और गरिमा सिद्धिके घारी होते हैं । वे काष्ठ, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वीमें तथा प्राणियोंके शरीरमें प्रवेश करके उन्हींके समान हो जाते हैं । ऐसी उनमें शक्ति होती है ॥ वे आग, पर्वत, पृथ्वी और सागरमें, सहसा प्रवेश करके श्रमके बिना बेरोक-टोक वायुकी तरह इच्छित स्थानको चले जाते हैं । वे महान् बलसे पृथ्वीको ऊपर उठा सकते हैं । अपने हाथोंसे मन्वराचलको गिरा सकते हैं । वे पृथ्वी पर रहकर यदि चाहे तो सुमेरुकी चोटीके अग्रभागको छू सकते हैं अर्थात् प्राप्ति और प्राकाम्य सिद्धिसे सम्पन्न होते हैं ॥

वे बिना प्रयत्नके देवों और मनुष्योंका स्वामित्व कर सकते हैं । मृगोंको भी अपने वशमें कर सकते हैं और हजाराँ इच्छित रूप बना सकते हैं । अर्थात् ईशित्व और वांशत्व सिद्धिसे सम्पन्न होते हैं ॥ अपनी सुगन्धसे और मिष्ट वचनोंसे दिशाओंको पूरित करके सन्तान आदिके

१. तोऽप्यधि -आ० । २. वराः नवविदि -आ० । ३. ति विभवात् सु-आ० । ४. ता शरीर-अ० ।
 ५. महाबलात् -अ० मू० । ६. स्पष्टुम् -अ० । ७. सहःस्वभाः -आ० ।

संपूर्वासाः स्वपुराणिकस्वैर्वाग्नि^१भू^२ः सुखमुनेष्व ।
 संतालाशी^३बिरचितमग्नम भित्वाःकालाः परिचरुमाणाः ॥
 मास्यैर्भूषैः सुखमनुसिन्धा ^४सुखपूर्वस्वाभ्यतिबिरजति ।
 रंज्यते रतिगिणुनाभित्स्वाग्निः सार्द्धं वरबलिताभिः ॥
^५सुखेनैवं शोचन्ते यान्ति विद्योन्मुक्तं परिदार्यं ।
 तत्र महर्द्धियुता अपि देवाः स्त्रीपुण्या विद्यमानुव एव ॥
 प्राणमुताभिह्म मध्यमलोकीः तीक्ष्णतराधिकभावचतुष्कं ।
 स्वात्पुरतंततवः समकालाः, तन्न भवति हि कर्मबन्धेन ॥
 अन्वुपमानितबीवितदेवे, स्त्री विरबीवितवत्यपि तस्याः ।
 पत्यमितं क्त बीवितकारं तेन विद्योगमितः सुरलोकः ॥
 मृत्युक्तं च विचिन्त्य तदुक्तं याचि सुराः परिचितमनस्याः ।
 तत्र भवति मृगा इव बद्धा व्याघ्रसमीपमुनेव समीकाः ॥
 गर्भद्वयानपि ते पुरवस्थां संपरिचिन्त्य पुनः समवाप्य ।
 शोकत्रये विपुले परिवाप्ति चारकरोच इषाम्मुपवाते ॥
 मृगपथावसुधेरितु^६च^७ निर्धनं स्वरतां च क्षुभीनां ।
 अन्वयेति भवं विचिन्नां, स्वावधिकं तववाप्य सुखं तत् ॥
 तानपि वात् पतेत् क्षुभमिच्छा पश्यत सर्वधूरिव कण्ठा ।
 बर्षसहस्रान्तिह्म गतेऽपि कालवरो न अहृत्यह्मिन् ॥
 उच्छ्वसत्तं वनधं मृत्तेपि-प्लवितैर्हिबनैर्वयि यान्ति ।
 कान्यसुरेषु कथा क्त लोके ही तत्रवो जगन्नाथववास्तः ॥

सुन्दर फूलोंसे रचित माला धारण करते हैं जो कभी मुरझाती नहीं है ॥ सुखपूर्वक माला और गन्धसे विलिप्त वे देव अत्यन्त स्वच्छ वस्त्र धारण करते हैं और रतिमें निपुण अपनी देवांगनाओंके साथ रमण करते हैं ॥ इस प्रकार सुखपूर्वक जीवन यापन करते हुए वियोगजन्य सन्तापको सहते हैं । क्योंकि स्वर्गमें महर्द्धिक भी देव-देवांगना समान आयुवाले नहीं होते । आगे-पीछे मरते हैं ॥ मध्यलोकसे यहकि प्राणियोंकी कषाय तीव्रतर होती है । अतः कर्मबध देव-देवांगनाओंकी आयु समान नहीं होती ॥ देवकी आयु सागरप्रमाण होती है और देवांगना चिरकाल तक भी जीवित रहे तो उसकी आयु पत्यप्रमाण ही होती है इसलिये देवलोकमें वियोगजन्य सन्ताप होता है । भविष्यमें होनेवाले मृत्यु जन्य दुःखका विचार करके देव डर जाते हैं और वहाँ ऐसे भयभीत रहते हैं जैसे व्याघ्रके समीपमें बांधे गये मृग । स्वर्गलोकसे च्युत होनेपर गर्भमें होनेवाली दुरवस्थाका भी विचार करके वे महान् शोक और अमसे युक्त होते हैं जैसे कोई बैलखानेसे डरता है । पवित्र देवोंको देवलोकमें जितना सुख होता है उससे भी अधिक भय स्त्रीके अपवित्र भूत्रमार्गसे जन्म लेनेका स्मरण करके जन्मसे ही होता है । यहाँ स्वर्गमें तो हजार वर्ष बीतनेपर भी मूख नहीं सताती थी । किन्तु मनुष्य पर्यायमें जन्म लेनेपर सपिण्डीकी तरह भूख सताती है, यह भय अहमिन्द्रदेवकी भी नहीं छोड़ता । स्वर्गमें तो पन्द्रह दिनमें एक बार पवास लेनेका श्रम उठाना होता

रोमकरादिकसत्त्वविहीनस्तत्र पुनश्च भवन्मनुजानाम् ।
 तत्सहितं प्रसवीष्य पुरस्तात् प्राप्यव्यवस्थानतश्चक्रुवाम् ॥
 भवन्महावचसा विसरन्तो वैद्विनिवाप्यनुप्रायचक्रुवाम् ।
 संप्रतिपत्स्य उत्तमर्षं द्वे वीरकवचा यक्षुःश्रीर्षि भवन्ति ॥
 कस्तुरसीचमनवाप्य विमाने मृतकनो कस्तुरीरपि वन्ति ।
 तत्परिचिन्त्यतां कुशलार्तां केन सुरैषु भवेद्व्यहृत्मानं ॥
 तेऽप्यधिना विधिना बभूवुस्तर्षं दूरमताम्पि जानत एव ।
 तेन भवान्मनुभूय पुरस्ताद्वचमुक्ते 'भयङ्कवचपश्चात् ॥
 यः सहसा भयमन्नुपयाति पुर्वोत्तरं न भवं स उच्येति ।
 प्राग्निधितानवचस्तु मरः प्राक् प्राप्य भवं वचयेति हि पश्चात् ॥
 जलो म सीष्यं तद्विद्वान्ति किञ्चन किमुपयमानं जगता भवानेव ।
 सुखे प्रलको विपुले 'पुमानयं ज्ञयेत् दुःखेन विमानुनापि यत् ॥
 यथानुकेषोपहृतेऽपि नीचने न सं गरो रोचयते कुलोदितः ।
 तथात्पयो'वेऽप्यसुखे सुखे सति न तद्वृत्तो रोचयते कवाचन ॥
 'प्रवीचयानेऽप्युनि वारितो वया लघोऽपि मृतस्य तर्षवु द्रुवनेत् ।
 तथा कर्वाशोऽप्यसुखस्य सत्सुखे करोति तर्षेण सुखस्य दूषणं ॥

किन्तु मनुष्यगतिमें तो सतत ध्वास लेना होता है। हा, जन्मरूपी समुद्रका वास भयकारक है। यहाँ देवगतिमें तो रोग, बुढ़ापा आदि नहीं है। किन्तु मनुष्योंमें तो ये सब हैं। यहसि क्युत होने पर ये सब अवश्य प्राप्त होंगे। ऐसा देख वे देव दुःखी होते हैं। जैसे कोई परबन्ध होकर उपद्रवसे युक्त अन्य देशमें जानेपर विलाप करता है वैसे ही देव स्वाधीन होते हुए भी परबन्ध होकर देवगतिसे मनुष्यगतिमें जानेका बहुत शोक करते हैं। स्वर्गके विमानोंमें देवोंका सुख प्राप्त करके भी जीवोंको पुनः इसी मनुष्यलोकमें जन्म लेना होता है ऐसा विचार करनेवाले बुद्धिमानोंकी देवोंके प्रति बहुमान कैसे ही सकता है। वे देव अर्वाचिज्ञानके द्वारा दूरवर्ती तत्त्वोंको भी जानते ही हैं। इससे पहले ही भयका अनुभव करते हैं।

जो भय अचानक उपस्थित होता है उसका भय पहलेसे नहीं होता। किन्तु जिस मनुष्यको पहलेसे वह ज्ञात हो जाता है कि मेरा बंध होगा वह पहले भयभीत होता है, पीछे मारा जाता है। अर्थात् मनुष्यगतिमें तो मृत्युका बोध पहलेसे नहीं होता। किन्तु देवगतिमें तो मृत्युसे छह मास पूर्व माला मुरझा जाती है। अतः मृत्यु पीछे होती है और उसका भय पहले आ जाता है। अतः विचार करनेपर इस संसाररूपी समुद्रमें कुछ भी सुख नहीं है। बहुत सुखमें आसक्त मनुष्य भी एक परमाणु प्रमाण दुःखके बिना सुख नहीं भोग सकता। अर्थात् संसारके सुखमें दुःखका मिश्रण रहता ही है। जैसे कुलीन मनुष्यको यदि भोजनमें जरा सा भी बाल आदि गिर जाये तो भोजन नहीं रुचता उसी प्रकार ज्ञानीको बहुतसे सुखमें थोड़ा सा भी दुःख मिला हो तो वह सुख नहीं रुचता। जैसे पीनेके पानीमें मूत्रकी एक बूँद भी गिरनेपर वह पानी दूषित

१. भयमप्यव पश्चात् -आ० । २. पुमानयं -आ० मु० । ३. दोषोऽप्य-ब० मु० । ४. प्रवीचयामे

बुधैरनेकैरपि संयुतां विनाथं कृतापचारं लङ्घयन्मिर्जुवः ।

नरो अहात्येव यथा तथा बुधो न दुष्टिवोधायिव सोऽमिच्छति (?)

'कुम्भिमन्त्रि बसति नञ्जे' कुम्भितयमें बसति । 'विगत्यु संसारबासस्त' धियस्तु ससारबासस्य ।
उक्तं च—

त्यागाङ्गोपादेव 'समुत्सवं' मनुजेषु गर्भस्मृत्या गर्भनिपातं च समीक्य च ।

प्रस्तादेव 'देहात्मुषीमपि मिरीक्य गर्भाविष्टा दुःखनिवाप्तेऽनुभवति ॥१७९७॥

इध किं परलोके वा सच्च पुरिसस्स इति षीया वि ।

इहईं परत्त वा खाइ पुत्तमंसं जिययमादा ॥१७९८॥

'इध किं परलोके वा' इहलोके परलोके वा, 'पुरित्तस षीया वि सत्तु होंति' बधवोऽपि शत्रवो भवति पुरुषस्य । 'इहईं परत्त वा खाइ' इह वा परत्त वा अस्ति, 'पुत्तमंसं जिययमादा' पुत्रस्य मांसं आत्मोया जननी अस्ति किमत' पर कष्टं ॥१७९८॥

होऊण रिऊ बहुदुःखकारओ बंधवो पुणो होदि ।

इय परिवत्तइ षीयत्तणं च सत्तुत्तणं च जवे ॥१७९९॥

'होऊण रिऊ' रिपुभूत्वा पूर्व । 'बहुदुःखकारो' विचित्रदुःखकारी । स एव पुणो पश्चादपि । 'षिय बंधवो होवि' प्रियबंधवो भवति । 'इय परिवत्तइ' एवं परिवर्तते । 'षीयत्तणं च सत्तुत्तणं च' बन्धुत्व च शत्रुत्वं च । 'जवे' जीवलोके ॥१७९९॥

विमलाहेदुं बंकेण मारिओ जिययमारियागग्गे ।

जाओ जाओ जादिंमरो सुदिही सकम्मैहिं ॥१८००॥

'विमलाहेदुं' विमलानिमित्तं । 'बंकेण मारिओ' बलास्येन भूतकेन मारितः । कः ? 'सुदिही' सुवृष्टि-

हो जाता है उसी प्रकार दुःखका जरा सा भी अंश सब सुखको दूषित कर देता है । जैसे अनेक गुणोंसे युक्त स्त्री यदि एक बार भी व्यभिचार दोषसे दूषित हो जाये तो दयालु भी मनुष्य उसे त्याग देता है । उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य भी दुःखसे मिश्रित सुखको त्याग देता है ।

अतः कहा है—मनुष्योंमें गर्भका स्मरण करके तथा गर्भपातको देखकर और मनुष्योंके अपवित्र शरीरको देखकर देव दुःखी होते हैं और मरण होनेपर गर्भमें प्रवेश करके दुःख भोगते हैं ॥१७९७॥

गा०—इस लोक अथवा परलोकमें बन्धु भी मनुष्यके शत्रु हो जाते हैं । इस लोक तथा परलोकमें माता भी अपने पुत्रके मांसको खाती है इससे अधिक कष्टकी बात और क्या है ? ॥१७९८॥

गा०—बहुत दुःख देनेवाला शत्रु भी पुनः प्रिय बन्धु हो जाता है । इस प्रकार जन्तुमें बन्धुता और शत्रुता परिवर्तनशील है ॥१७९९॥

गा०—सुहृष्टि नामक रत्नपारखी मैथुन करते समय अपनी पत्नी विमलाके निमित्तसे

नामधेयः । 'सकम्बोहि' आत्मीयैः कर्मभिः । 'बायो' उत्पन्नः । यत्र 'नियमधारिभावकम्' नियमधारिणम् ।
'जातिभरो बायो' जातिस्मरणेन जातः ॥१८००॥

होऊण बंधणो सोचिओ खु पावं करिसु माणेण ।

सुणणो व सारो वा पाणो वा होइ परलोए ॥१८०१॥

'होऊण बंधणो सोचिओ' धीमियो ब्राह्मणो भूत्वा । 'माणेण' जातिमदेन । मुणिकननिन्दाधमनाभ्या
'पावं करिसु' पापं कृत्वा नीचयोग्यमुपचित्य । 'सुणणो व सारो वा पाणो वा होइ परलोए' इया
सूकरवचनच्छालो वा भवति परजन्मनि ॥१८०१॥

दारिदं अद्धिदं चिदं च भुदिं च वसणमब्भुदयं ।

पावदि बहुसो जीवो पुरिसित्थिणवुंसयसं च ॥१८०२॥

'दारिदं' वारिद्र्यं । 'बहुसो जीवो पावदि' बहुशः जीवः प्राप्नोति लाभान्तरायोदयात् । 'अद्धिदं'
आऽपतां पूर्ववदेन सम्बन्ध । 'पावदि बहुसो इमो' इत्यनेन । लाभान्तरायशयोपशमादीप्सितानि द्रव्याणि लभते,
लभ्यानि च नश्यन्ति ततः आढयता । 'निदा' इवपाकद्वन्द्वशालः कुणः काणो दुर्भगो मूर्खः । कुपण इत्यादिकां ।
'भुदिं च' स्तुति च कुलीनो रूपवान् वाग्मी आढयः प्राप्त इत्यादिका यशःकीर्तयद्यात् । 'एव वसणं' दुःखं
असद्वेषोदयात् । 'अब्भुदयं' देवमनुजभवनं सुखं सद्रोद्योदयात् । 'पुरिसित्थिणवुंसयसं च' पुरुषत्वं च स्त्रीत्वं च
नपुंसकत्वं च बहुशः प्राप्नोति ॥१८०२॥

कारी होइ अकारी अप्पडिमोगो जणो हु लोगम्मि ।

कारी वि जणसमवसं होइ अकारी सपडिमोगो ॥१८०३॥

'अकारी अपि' दोषमकुर्वन्पि कारी भवति, 'अपडिमोगो जणो' पुष्परहितो जनः । 'कारीवि' कुर्व-

अपने सेवक बकके द्वारा मारा गया और मरकर अपनी पत्नी विमलाके गर्भसे उत्पन्न हुआ ।
उत्पन्न होनेपर उसे पूर्वजन्मका स्मरण हो आया ॥१८००॥

विशेषार्थ—बृहत्कथाकोशमें १५३वें नम्बर पर इसकी कथा है ।

गा०—श्रोत्रिय ब्राह्मण होकर यह जीव अपनी जातिका अभिमान करके गुणी जनोंकी
निन्दा और अपमानके द्वारा नीच गोत्रका बन्ध करता है और मरकर परलोकमें कुत्ता, सूकर या
चण्डाल होता है ॥१८०१॥

गा०—टी०—यह जीव लाभान्तरायका उदय होनेसे अनेक बार दरिद्र अवस्था पाता है ।
लाभान्तरायका क्षयोपशम होनेसे अनेक बार इच्छित धन पाता है । इस प्रकार अनेक बार धनीसे
दरिद्र और दरिद्रसे धनी होता है । अयशःकीर्तिका उदय होनेसे चण्डाल, काना, अभागा, मूर्ख,
कंबुस आदि निन्दाका पात्र होता है । यशःकीर्तिका उदय होनेसे कुलीन, रूपवान्, धनी, पण्डित
इत्यादि स्तुतिका पात्र होता है । असातावंदनीयका उदय होनेसे दुःख उठता है और सातावेद-
नीयका उदय होनेसे देव और मनुष्य भवका सुख भोगता है । इसी प्रकार अनेक बार स्त्री, पुरुष
और नपुंसक होता है ॥१८०२॥

गा०—पुण्यहीन मनुष्य लोकमें दोष नहीं करनेपर भी दोषका भागी होता है । और
पुण्यवान् अवाचार करके भी लोगोंके सम्मुख दुराचारी सिद्ध नहीं होता ॥१८०३॥

अप्यभाचारं, 'अन्यसम्बन्ध' जनानां प्रत्यक्षं 'अकारी ह्रीषि' दुराचारो न भवति । 'सर्वादिभ्रम' पुण्यवान् ॥१८०३॥

सरिसीए चंदिगाए कालो वेस्सो पिओ जहा जोण्हो ।

सरिसे वि तहाचारे कोई वेस्सो पिओ कोई ॥१८०४॥

'सरिसीए चंदिगाए' चंदिगायां समानायामपि । 'कालो वेस्सो' कालपक्षो द्वेष्यः । 'पिओ जहा जोण्हो' शुक्लपक्षो यथा प्रियः । 'सरिसे वि तहाचारे' मनुष्याचारे इयो. पुसो. । 'कोई वेस्सो पिओ कोई' कश्चित् द्वेष्यः कश्चित् प्रियः ॥१८०४॥

इय एस लोमचम्मो चित्तिज्जंतो करेइ निव्वेदं ।

धण्णा ते भयवंता जे मुक्का लोमचम्मादो ॥१८०५॥

'इय एस लोमचम्मो' अयमेव प्राणिधर्मः । 'चित्तिज्जंतो' चिन्त्यमानो । 'करेइ निव्वेदं' निर्वेदं करोति । 'धण्णा ते भयवंता' पुण्यवन्तस्ते यतयः । 'जे मुक्का लोमचम्मादो' जे मुक्ता. प्राणिधर्माद् व्यावृत्तात् ॥१८०५॥

बिज्जू व चंचलं फेणदुब्बलं वाधिमहिइयमच्चुहदं ।

जाणी किह पेच्छंतो रमेज्ज दुक्खुदुधुदं लोणं ॥१८०६॥

'बिज्जू व चंचलं' बिजुदिव चंचल, 'फेणदुब्बलं' फेनमिव दुर्बल । 'वाधिमहिइयमच्चुहदं' व्याधि-मिममित् मृत्युना हृतं । 'लोणं पेच्छंतो' लोक पश्यन् । 'जाणी किह रमेज्ज' ज्ञानी कथं तत्र रतिं कुर्यात् । लोमचम्मचिन्ता ॥१८०६॥

अशुभत्वानुप्रेक्षा प्रक्रम्यते—

असुहा अत्था कामा य हुंति देहो य सव्वमणुयाणं ।

एओ चैव सुभो णवरि सव्वसोकस्सायरो भग्मां ॥१८०७॥

'असुहा अत्था कामा य हुंति' अशुभा अर्था. कामाश्च भवन्ति । 'देहो य सव्वमणुयाणं' देहश्च सर्वं

शा०—जैसे चाँदकी चाँदनीके समान होनेपर भी लोग कृष्णपक्षसे द्वेष करते हैं और शुक्लपक्षसे प्रेम करते हैं । वैसे ही समान आचार होते हुए भी कोई मनुष्य लोगोंको प्रिय होता है और कोई अप्रिय होता है ॥१८०४॥

शा०—इस प्रकार लोकदशाका चिन्तन करनेसे वैराग्य उत्पन्न होता है । वे पुण्यवान् यतिजन धन्य हैं जो इस ऊपर कही संसारकी दशासे मुक्त हो गये हैं ॥१८०५॥

शा०—बिजलीकी तरह चंचल, फेनकी तरह दुर्बल, रोगीसे प्रसन्न और मृत्युसे पीड़ित इस लोकका देखकर ज्ञानी इसमें कैसे अनुराग कर सकता है ॥१८०६॥

इस प्रकार लोकानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

अब अशुभत्व अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

शा०—अर्थ, काम और सब मनुष्योंकी देह अशुभ है । एक सब सुखोंकी खान धर्म ही शुभ है । शेष सब अशुभ है ॥१८०७॥

मनुष्यानाम् । 'एतन्ने केव बुधो' एक एव बुधः पुनः । 'अन्वयुक्तान्ते वन्ते' सर्वेषां दीक्षानामाकारो
वर्गः ॥१८०७॥

वर्षस्याशुभतां व्याचष्टे—

इहलोगियपरलोगियदोसे पुरिसस्त आवहइ विण्णं ।

अत्थो अणत्थमूलं महामयं वृत्तिवत्तिपंचो ॥१८०८॥

'इहलोगियपरलोगियदोसे' ऐहिकान् पारलौकिकायन दोषान् । 'पुरिसस्त आवहइ विण्णं' पुंसस्य
आवहति नित्यं । 'अत्थो अणत्थमूलं' अर्थोऽणवर्णानां मूलं, 'वृत्तिवत्तिपंचं' महती वयस्य मूलत्वात्पञ्चमहाभय । 'वृत्ति-
वत्तिपंचो' मुक्तोर्वकीभूतः ॥१८०८॥

कामस्याशुभतदतामाचष्टे—

कुणिमकुटिमवा लहुगसकारया अण्णकालिया कामा ।

उवचो लोए दुक्खावहा य ण य हुंति ते सुलहा ॥१८०९॥

'कुणिमकुटिमवा लहुगसकारया' अशुचिकुटिमवाः लघुत्वकारिणः । 'अण्णकालिया कामा' अल्प-
कालेभू भवाः कामाः । 'उवचो लोए' लोकद्वये दुःखावहाय । 'ण य हुंति ते सुलहाः' नैव ते सुलभा
मचन्ति ॥१८०९॥

कामाशुभताख्याति—

अट्ठदलिया छिरावक्कवद्विया मंसमद्धियालिता ।

बहुकुणिममण्डमरिदा विहिसणज्जा सु कुणिमकुडी ॥१८१०॥

'अट्ठदलिया' अस्तिवलनिष्पन्ना । 'छिरावक्कवद्विया' शिरावत्कलमद्धा । 'मंसमद्धियालिता' मांस

अर्षकी अशुभता बतलाते हैं—

शा०—डी०—घन सब अनर्थोंको बढ है । यह पुरुषमें इस लोक और परलोक सम्बन्धी
दोष लाता है अर्थात् घन पाकर मनुष्य व्यसनमें फँस जाता है और उससे वह इस लोकमें भी
निन्दाका पात्र होता है और परलोकमें भी कष्ट उठाता है । मृत्यु आदि महान् भयोंका-मूल
होनेसे घन महाभय रूप है । और मोक्षमार्गके लिये तो अर्गला है । घनमें मस्त मनुष्य मोक्षकी
बात भी सुनना नहीं चाहता ॥१८०८॥

अब कामकी अशुभता बतलाते हैं—

शा०—यह कामभोग अपवित्र अपने और परके शरीरके संयोगसे पैदा होता है । यह
मनुष्यको मिराता है, उसे लोगोंकी दृष्टिमें लज्जु करता है । यह अल्पकालके लिये होता है तथा
दोनों ही लोकोंमें दुःखावायी है । तथा सुलभ भी नहीं है ॥१८०९॥

अब शरीरकी अशुचिता कहते हैं—

शा०—यह शरीर रूपी कुटी हड्डी रूपी पत्तोलि बनी है । सिराएँ रूपी बल्कल (छाल) से

मृत्तिकाकल्पिता । 'बहुशुचिर्मन्त्रमरिवा' अनेकाशुचिद्रव्यपूर्णा । 'विहितानिष्ठा शु शुचिन्कुटी' जुपुष्पनीका
मशुचिकुटी ॥१८१०॥

इंगालो धुव्वंतो ण सुद्धिधुवयादि जह जलादीहिं ।

तह देहो धोव्वंतो ण जाह सुद्धिं जलादीहिं ॥१८११॥

'इंगालो धोव्वंतो' प्रकाल्यमाना मधो न शुद्धमुपयाति न शुक्लतामुपयाति । 'जह' यथा । 'जलादी-
हिं' जलादिभिः । 'तह देहो धोव्वंतो' तथा शरीर प्रकाल्यमान । 'ण जाहि सुद्धिं जलादीहिं' न याति सुद्धिं
जलादिभिः ॥१८११॥

सल्ललादीणि अमेज्झं कुणह् अमेज्झाणि ण दु जलादीणि ।

मेज्झममेज्झं कुव्वंति सयमवि मेज्झाणि संताणि ॥१८१२॥

'सल्ललादीणि' सल्ललादीनि द्रव्याणि शुचीनि । 'अमेज्झं कुणहि' अमेध्य करोति । 'अमेज्झाणि'
अशुचीनि । 'ण दु जलादीणि मेज्झं कुणहि' नैव जलादीनि शुचितामापादयन्तीति । 'अमेज्झाणि' अशुचीनि
'सयममेज्झाणि संताणि' अमेध्ययोगात् स्वयमशुचीनि सन्ति ॥१८१२॥

तारिसयममेज्झमयं सरीरयं किह् जलादिजोगेण ।

मेज्झं हवेज्ज मेज्झं ण हु होदि अमेज्झमयघडओ ॥१८१३॥

'तारिसयममेज्झमयं' शुचीनामशुचितकरणसमयाशुचिमयं शरीरक । 'किह्' कथ । 'जलादिजोगेण'
जलादिसम्बन्धेन । 'मेज्झं हवेज्ज' शुचिर्भवेत् । 'अमेज्झमय घडओ' अमेध्यमयो घट । 'ण हु वेज्जो होदि'
नैव शुचिर्भवति । यथा जलादियोगेन ॥१८१३॥

यदि शरीरमशुचि किं तहि शुचीत्यत्राह—

णवरि हु घम्मो मेज्झो धम्मत्थस्स वि णमंति देवा वि ।

घम्मणे वेव' जादि खु साह् जल्लोमघादीया ॥१८१४॥

बांधी हुई है । मांसरूपी मिट्टीमे लीपी गई है तथा अनेक अपवित्र वस्तुओंसे भरी हुई है । इस
तरह यह शरीररूपी कुटिया घुणासगद है ॥१८१०॥

गा०—जैसें कौयलोको जलादिसे धोनेपर भी वे सफेद नहीं होते । उसी प्रकार जलादिसे
धोनेपर भी शरीरकी शुद्धि नहीं होती ॥१८११॥

गा०—अपवित्र शरीर जलादिको भी अपवित्र कर देता है । अर्थात् शरीरके सम्बन्धसे
निर्मल जल मैला हो जाता है । जल स्वयं मैला नहीं है, स्वयं तो निर्मल ही है किन्तु जल
शरीरको पवित्र नहीं बनाता । बल्कि शरीरके संयोगसे जल ही अपवित्र हो जाता है ॥१८१२॥

गा०—निर्मलको मलीन करनेवाला अपवित्र-शरीर जलादिके सम्बन्धसे कैसे पवित्र हो
सकता है । क्या मलसे भरा घडा पानीसे घानेसे पवित्र हो सकता है ॥१८१३॥

यह शरीर अपवित्र है तो पवित्र कौन है, इसका उत्तर देते है—

ग०—किन्तु धर्म पवित्र है क्योंकि रत्नत्रयात्मक धर्ममें स्थितको देव भी नमस्कार करते

१. वेव हुंति हु साह्—अ० ।



‘अथरि दुःखं चैव’ धर्मः पुनः शुचिः । कस्मात् सुखं च यस्मादित्यर्थे वर्तते । ‘यस्मात्कस्मिन् चि चर्षति वैवा चि’ यस्माद्धर्मं रत्नत्रयात्मके स्थितस्य देवा अपि नमस्कारं कुर्वन्ति । धर्मेण शुचिना योगा-
वात्मापि शुचिरिति । ‘धर्मेण श्रेय आदि सु साधु’ धर्मेणैव प्राप्नुवन्ति साधवः । किं ? ‘अस्त्वोत्सवादीयो’
अस्त्वोत्सवादीयकमुद्राचलसम् ॥१८१५॥ अक्षुभ्रतं ।

आत्मवानुप्रेक्षा निरूप्यते—

जन्मसमुद्रे बहुदोसवीचिण् दुःखजलयरारुणे ।

जीवस्स दु परिभ्रमणम्मि कारणं आसवो होदि ॥१८१५॥

‘जन्मसमुद्रे’ जन्मसमुद्रे । ‘बहुदोसवीचिण्’ विचित्रदोषतरङ्गमे । ‘दुःखजलयरारुणे’ दुःखजलवरैरा-
कीर्णे । ‘जीवस्स परिभ्रमणम्मि’ जीवस्य परिभ्रमणे यत् कारणं तत् ‘आसवो’ आसवो भवति । ननु च
कर्माणि कारणानि नत्वात्सवः । अनोच्यते । कर्मणा परिभ्रमणकारणाना कारणत्वादात्सवः कारण-
मित्युक्तं ॥१८१५॥

संसारसागरे से कम्मजलमसंबुडस्स आसवदि ।

आसवणीए णावाए जह सलिलं उदधिमज्झम्मि ॥१८१६॥

‘संसारसागरे’ संसारसमुद्रे । ‘से’ तस्य । ‘असंबुडस्स’ संबररहितस्य मय्यत्सवसयमसामामादंबाजंब-
संतोषपरिणामरहितस्य । ‘कम्मजलमसंबुडस्स’ ज्ञानावरणादिकर्मजलमालवत्यामच्छति । ‘आसवणीए णावाए’
आसववणीयायां नावि यथा सलिलं प्रविशति । ‘उदधिमज्झम्मे’ समुद्रमध्ये ॥१८१६॥

धूली षेडुत्तुप्पिदगणे लग्गा मलो जहा होदि ।

भिच्छत्तादिसिणेहोन्निदस्स कम्मं तथा होदि ॥१७१७॥

है । पवित्र धर्मके सम्बन्धसे आत्मा भी पवित्र है । धर्मसे ही साधु भी जल्लोषधी आदि ऋद्धियों-
कां प्राप्त करते हैं । अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्मका साधन करनेसे साधुओंके शरीरका मल भी
औषधीरूप हो जाता है ॥१८१५॥

आगे आत्मवानुप्रेक्षाको कहते हैं—

भा०—टी०—यह जन्ममरणरूपी समुद्र विविध दोषरूपी लहरोंसे युक्त है तथा दुःखरूपां
जलधर भीषोसे भरा है । इस समुद्रमें परिभ्रमणका कारण आस्रव है ।

संक्षम—संसार समुद्रमें परिभ्रमणका कारण तो कर्म है, आस्रव नहीं है ।

समाधान—परिभ्रमणका कारण कर्म है यह ठीक है । किन्तु उन कर्मोंका कारण आस्रव
है । अतः आस्रवको परिभ्रमणका कारण कहा है ॥१८१५॥

भा०—जैसे समुद्रके मध्यमें छेदयुक्त नावमें जल प्रवेश करता है वैसे ही संसाररूपी समुद्रमें
जो जीव संघर्षसे रहित है अर्थात् सम्यक्त्व, संयम, क्षमा, मार्दव, आजंब, सन्तोष आदि रूप
परिणामोंसे रहित हैं उसके ज्ञानावरण आदि कर्मरूप जलका आस्रव होता है ॥१८१६॥

भा०—जैसे तेलसे लिप्त शरीरमें लगी हुई धूल मलरूप हो जाती है वैसे ही जो आत्मा

‘बुद्धी जेह्नुत्पिबगसे लब्धा’ बुद्धी स्नेहाम्यक्तवारीरलब्धा । ‘बहु भक्तो होवु’ यथा मलं भवति । ‘मिच्छताविसिजेहोल्लवस्त’ मिथ्यात्वासयमकषायपरिणामस्नेहाम्यक्तव्यात्मनः प्रदोषेज्ववस्थितं कर्मप्राप्त्यर्थं द्रव्यं । ‘तहा’ तथा । ‘कम्मं होवि’ कर्म भवति । एतदुक्तं भवति-आत्मपरिणामाम्मिथ्यात्वादिकात् विधिष्यत् पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणामयतीति कर्मत्वपर्यायहेतुरात्मनः परिणाम आस्रव इत्यर्थः ॥१८१७॥

ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलद्रव्वेहिं सव्वदो लोगो ।

सुहमेहिं बादरेहिं य दिस्सादिस्सेहिं य तहेव ॥१८१८॥

‘ओगाढगाढणिचिदो’ अनुप्रवेशगाढं निश्चितः । ‘पुग्गलद्रव्वेहिं’ पुद्गलद्रव्यं । ‘सव्वदो लोगो’ कास्वस्येन लोक । ‘सुहमेहिं बादरेहिं य’ सूक्ष्मं स्थूलैश्च । ‘दिस्सादिस्सेहिं’ चक्षुषा दृश्यैरदृश्यैश्च । ‘तहेव’ तथैव । एतया गायया कर्मत्वपर्याययोग्यानां पुद्गलद्रव्याणां सर्वत्र लोकाकाशे बहूनामस्तित्वमाख्यातम् ॥१८१८॥

के ते आस्रवा इत्यत्राह—

मिच्छत्तं अविमणं कसाय जोगा य आसवा होति ।

अरहंतवुत्तअत्थेसु विमोहो होइ मिच्छत्तं ॥१८१९॥

‘मिच्छत्तं अविमणं कसायजोगा य आसवा होति’ मिथ्यात्वमसयमं कषाययोगाश्च आस्रवा भवन्ति । आस्रवत्यागच्छन्ति कर्मत्वपर्याय पुद्गला एभिः कारणभूतैरिति मिथ्यात्वादेव आस्रवशब्दवाच्या तेष्वआस्रवेषु । मिथ्यात्वस्वरूपं कथयति । ‘अरहंतवुत्त अत्थेसु’ अर्हंतवुत्तेषु अनन्तद्रव्यपर्यायामकेषु अर्थेषु ‘विमोहो मिच्छत्तं होवि’ अश्रद्धान मिथ्यात्वं भवति ॥१८१९॥

असंयममाचष्टे—

अविमणं हिंसादी पच वि दोसा इवंति णायव्वा ।

कोधादीया चत्तारि कसाया रागदोसमया ॥१८२०॥

मिथ्यात्व, असंयम और कषायपरिणामरूप तैलसे लिप्त होता है उस आत्माके प्रदेशोमें स्थित कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गलस्कन्ध कर्मरूप हो जाते हैं । इसका आशय यह है, मिथ्यात्व आदि रूप आत्माके परिणामोसे विधिष्ठ पुद्गलद्रव्य कर्मरूपसे परिणामन करना है इसलिये कर्मरूप परिणामनमे कारण आत्माके परिणाम ही आस्रव है ॥१८१७॥

गा०—यह लोक सर्वत्र पुद्गल द्रव्योंसे ठसाठस भरा हुआ है । वे पुद्गल सूक्ष्म भी हैं और बादर भी हैं । चक्षुके द्वारा दिखाई देने योग्य भी हैं और न दिखाई देने योग्य भी हैं ।

टी०—इस गाथाके द्वारा कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गल द्रव्योंका सर्वत्र लोकाकाशमें अस्तित्व बतलाया है ॥१८१८॥

वे आस्रव कौन हैं यह बतलाते हैं—

गा०—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये आस्रव हैं । जिन कारणोंसे पुद्गल कर्मरूप होकर आते हैं उन मिथ्यात्व आदिको आस्रव कहते हैं । उनमेंसे मिथ्यात्वका स्वरूप कहते हैं—अर्हन्त भगवान्के द्वारा कहे गये अनन्त द्रव्य पर्यायमात्मक पदार्थोंमें अश्रद्धान करना मिथ्यात्व है ॥१९१९॥

'अविरमण' अविरमणं नाम । 'हिसादि षंभ वि बोसो' हिसानुत्स्वेयाग्रहपरिग्रहाख्या पञ्चापि दोषाः । 'हर्षति भावब्बा' अविरमणं भवन्तीति ज्ञातव्याः । प्रमत्तयोगत्प्राणव्यपरोपणं, असदभिधानं, अदत्ता-
वानं, मधुनकर्म विशेषः, मूर्छा चेति एते परिणामा अविरमणसम्बन्धेनोच्यन्ते । विरमणं हि निवृत्तिततोऽप्यत्वात् ।
प्रवृत्तिरूपा हिसादयः अविरमणं इत्युच्यते । 'क्रोधादीना' क्रोधमानमायालोभाः । 'बसति' बत्वारः । 'कसामा'
कषाया इत्युच्यन्ते । 'रागबोसमया' रागद्वेषात्मकाः ॥१८२०॥

रागद्वेषयोर्माहात्म्यं वर्णयति—

किहदा राजो रंजेदि णरं कुणिमे वि जाणुणं देहे ।

किहदा दोसो वेसं खणेण णीयंयि कुणइ णरं ॥१८२१॥

'किहदा राजो रंजेवि णरं' कथं तावद्रागो रञ्जयति नरं । 'कुणिवि वि देहे' अक्षुषावपि देहे, अनुराग-
स्यायोग्ये । 'जाणुणं' शरीराक्षुषित्वं जानन्तं अन्नं रंजयति । सारे वस्तुनि नरं रञ्जयतीति न तन्त्रिचं ज्ञातार-
मक्षुषिण्यसारे शरीरे रञ्जयतीत्येतदद्भुतमिति भावः । 'दोसो' दोषः, 'किहदा वेसं कुणवि' कथं ताव-
द्दोष्यं करोति । 'खणेण' अणमात्रेण । 'णीयंयि णरं' बान्धवमपि नरं । अनेनापि द्वेषमाहात्म्यमाख्यायते ।
रागाश्रयानपि बंधून् द्वेष्यान् करोतीति ॥१८२१॥

सम्मादिद्वी वि णरो जेसि दोसेण कुणइ पावाणि ।

धिचेसि मारविदियसण्णामयरागदोसाणं ॥१८२२॥

'सम्मादिद्वी वि णरो' तत्त्वज्ञानश्रद्धानसमन्वितोऽपि नरः । 'जेसि दोसेण कुणवि पावाणि' येषां
दोषेण करोति पापानि । 'धिचेसि मारविदियसण्णामयरागदोसाणं' चिकण्णारिषानिप्रियाणि संज्ञामवान्
रागद्वेषावच ॥१८२२॥

असंयमका स्वरूप कहते हैं—

या०—हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच दोषोंको असंयम कहते हैं ।
कषाययुक्त आत्मपरिणामके योगसे प्राणोके घातको हिंसा कहते हैं । प्राणि पीडाकारक अप्रशस्त
वचन बोलनेको असत्य कहते हैं । बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणको चोरी कहते हैं । मधुन कर्मको
अब्रह्म कहते हैं और ममत्व भावको परिग्रह कहते हैं । ये सब परिणाम असंयम कहे जाते हैं । इन
सबसे निवृत्तिको संयम कहते हैं । और प्रवृत्तिरूप हिंसादि परिणाम असंयम है । तथा राग-द्वेषमय
चार कषाय हैं । अर्थात् हिंसादिरूप परिणाम असंयम हैं और क्रोधादि कषाय हैं इनमेंसे क्रोध
और मान द्वेषरूप हैं और माया, लोभ रागरूप हैं ॥१८२०॥

राग और द्वेषका माहात्म्य बतलाते हैं—

या०-टी०—यह शरीर अक्षुषि है । रागके अयोग्य है । यह राग शरीरकी अक्षुचित्ताको
जाननेवाले अज्ञानीको उसमें अनुरक्त करता है सारवान् वस्तुमें मनुष्यको अनुरक्त नहीं करता ।
इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । आश्चर्य इसमें है कि यह जाननेवालेको भी असार शरीरमें अनुरक्त
करता है । तथा द्वेष क्षणमात्रमें बन्धु मनुष्यको भी द्वेषका पात्र बनाता है । इससे द्वेषका
माहात्म्य कहते हैं कि जो बन्धु राग करने योग्य हैं उन्हें भी वह द्वेषका पात्र बनाता है ॥१८२१॥

या०—तत्त्वोंके ज्ञान और श्रद्धानसे युक्त मनुष्य भी अर्थात् सम्यग्दृष्टी मनुष्य भी जिनके
१०२

जो अभिलाषो विसरसु तेण ण य पावए सुहं पुरिसो ।

पावदि य कम्मबंधं पुरिसो विसयाभिलासेण ॥१८२३॥

'जो अभिलाषो विसरसु' यो अभिलाषो विषयेषु स्पर्शाविषु । 'तेण विषयाभिलासेण च य पावदे सुहं पुरिसो' प्राप्नोति नैव सुखं पुरुषः । 'पावदि य कम्मबंधं' प्राप्नोति च कर्मबन्ध, 'पुरिसो विसयाभिलासेण' पुरुषो विषयाभिलाषेण निमित्तेन । एतेन विषयाभिलाषपरिणामस्य प्राणिनामसङ्घत् प्रवर्तमानस्याहितता निवेदिता, सुखं न प्रयच्छति कर्मबन्धकारणं तु भवतीति विषयाभिलाषस्यास्रवस्य स्वरूपं कथितं ॥१८२३॥

विषयाभिलाषस्य दुष्टतां प्रकारान्तरेणाचष्टे—

कोई इच्छिज्ज जह चंदणं जरो दारुगं च बहुमोन्लं ।

जासेह मणुस्सभवं पुरिसो तह विसयलोहेण ॥१८२४॥

'कोई इच्छिज्ज जह चंदणं' कश्चिद्यथा दहेच्छन्दनं । 'बहुमोन्लं' महामूल्यं । 'दारुगं च' अगुर्वादिदारु च, यथा दहति भस्मादिकं स्वल्पं समुद्दिष्य । 'तहा जासेहि मणुस्सभवं' तथा नाशयति भानुषभव अतीन्द्रियानन्त-सुखकारणं । 'पुरिसो तह विसयलोहेण' अतितुच्छविषयगार्ध्वेन ॥१८२४॥ उक्त च—

विषया अनितेन्द्रियोत्सवा बहुभिरचापि समन्विता रतेः ।

विषयार्मुसुसंस्कृतात्मनश्च परिशुक्लाः परिणामवाचनाः ॥

विषयसुखप्रतिबद्धलोकविषयो विषयनिमित्तमनिष्टकर्म क्लृप्ता ।

विषयसुखप्रविहीनजातिजातो विषयसुखं लभते न ना विपुष्यः ॥

दोषसे पाप करता है उन गारवोंको, इन्द्रियोंको, संज्ञामदोंको और राग द्वेषको धिक्कार हो ॥१८२२॥

शा०—विषयोंमें जो अभिलाषा है उसके कारण पुरुष सुख नहीं पाता विषयोंकी चाहके निमित्तसे पुरुष कर्मबन्ध करता है ॥१८२३॥

टी०—इससे प्राणियोंमें निरन्तर प्रवर्तमान विषयोंकी चाहरूप परिणामको अहितकारी बतलाया है । उससे सुख तो नहीं होता, किन्तु कर्मबन्ध होता है । अतः विषयोंकी अभिलाषाको आलवरूप कहा है ॥१८२३॥

शा०-टी०—अन्य प्रकारसे विषयोंकी अभिलाषाकी दुष्टता बतलाते हैं—जैसे कोई मनुष्य राख आदिके लिये बहुमूल्य चन्दनकी लकड़ीको जला देता है । वैसे ही मनुष्य अति तुच्छ विषयोंके लोभसे उस मनुष्य भवको नष्ट कर देता है जिसके द्वारा अतीन्द्रिय अनन्त सुख प्राप्त हो सकता है । कहा भी है—ये विषय इन्द्रियोंके लिये आनन्द उत्पन्न करते हैं तो बहुतसे २-३ उन विषयोंमें रहते हैं । किन्तु विषसे संस्कार किये गये अन्नकी तरह उनको भोगनेपर अत्यन्त भयंकर परिणाम होता है । जिसका चंचल चित्त विषय सुखमें अत्यासक्त होता है वह विषयोंकी प्राप्तिके लिये अनिष्ट कार्य करके ऐसी पर्यायमें जन्म लेता है जहाँ उसे विषयसुख मिलता ही नहीं । ठीक ही है, पुण्यहीन मनुष्य विषयसुखको नहीं पाता ॥१८२४॥

छट्टिय रयणाणि जहा रयणदीवा हरेज्ज कट्टाणि ।

मानुसमवे वि छट्टिय धम्मं भोगे मिलसदि तथा ॥१८२५॥

'छट्टिय रयणाणि जहा' रत्नाणि त्यक्त्वा यथा, 'रयणदीवा हरेज्ज कट्टाणि' रत्नद्वीपात्काष्ठान्याहरति । 'तथा मानुसमवे वि' मनुष्यभवेऽपि, 'छट्टिय धम्मं' धर्मं विद्विष्य । 'भोगे मिलसदि' भोगान्भाञ्छति । एतदुक्तं भवति—अनेकसाररत्नस्वरूपं रत्नद्वीपं सुदुर्लभं प्राप्य युष्वा लब्धान्यपि रत्नान्यनुपादाय असारमिच्छन् सुखं सारदुग्धया यथा कथिचदाहरति अरः । तथानेकगुणरत्नाकरं मनुष्यमवं दुरवापमवाप्य अतर्पकं पराधीनं अल्पकालिकं विषयमुत्तममिलयति ॥१८२५॥

संतूण षंदणवणं अमयं छट्टिय विसं जह पियइ ।

मानुसमवे वि छट्टिय धम्मं भोगे मिलसदि तथा ॥१८२६॥

'संतूण षंदणवणं' गत्वा नन्दनवनं । 'अमयं छट्टिय' अमृतं त्यक्त्वा । 'विसं जहा पियइ' विषं यथा पिबति कथितम् । 'मानुसमवे वि छट्टिय' मनुष्यभवेऽपि त्यक्त्वा । 'धम्मं' धर्मं । 'भोगेमिलसदि तथा' भोगानामिलयति तथा ॥१८२६॥

योगशब्दार्थमाचष्टे—

पावपजोगा मणवक्किाया कम्मासवं पकुञ्जति ।

हुज्जंतो दुम्मसं वणम्मि जह आसवं कुणइ ॥१८२७॥

'पावपजोगा' पाप प्रमुञ्च्यते, प्रवर्त्यते एभिरिति पापप्रयोगाः । 'मणवक्किाया' मनोवाक्कायाः, 'कम्मासवं पकुञ्जति' कर्मत्वपर्यायायमं पुद्गलाना कुञ्जति । 'हु'ज्जंतो दुम्मसं' मुञ्जमानो दुराहारं । 'वणम्मि जह आसवं कुणइ' द्रव्ये यथा आसवं ज्वति प्रतीना करोति ॥१८२७॥

शा०—टी०—जैसे कोई मनुष्य रत्नद्वीपमें जाकर रत्नोंको छोड़ लकड़ी बीनता है वैसे ही मनुष्यभ्रममें धर्मको छोड़ भोगोंकी अभिलाषा करता है । इसका अभिप्राय यह है कि जैसे कोई मूर्ख अनेक बहुमूल्य रत्नोंसे भरे तथा अतिदुर्लभ रत्नद्वीपमें जाकर बिना प्रयत्नके ही प्राप्त भी रत्नोंको ग्रहण न करके असार और सुलभ ईधनको ही सारभूत मानकर ग्रहण करता है, उसी प्रकार जो मनुष्यभ्रम अनेक गुणरूपी रत्नोंकी खान हैं, जिसका मिलना बहुत कठिन है उसे प्राप्त करके भी अज्ञानी ऐसे विषयसुखकी अभिलाषा करता है जो तृप्ति प्रदान नहीं करता तथा पराधीन है और अल्प काल ही रहता है ॥१८२५॥

शा०—जैसे कोई पुरुष नन्दन वनमें जाकर भी अमृतको छोड़ विष पीता है । वैसे ही मनुष्यभ्रमको पाकर भी मनुष्य धर्मको छोड़ भोगोंकी अभिलाषा करता है ॥१८२६॥

योगशब्दका अर्थ कहते हैं—

शा०—जिनके द्वारा पापमें प्रवृत्ति की जाती है वे मन, वचन, काय, पुद्गलोंको कर्मरूपसे परिणमाते हैं । जैसे अपच्य सेवन करनेवाला अपने घाबमें पीब पेदा करता है । अर्थात् जैसे अपच्य सेवन करनेसे घाबमें पीब आता है वैसे ही मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे कर्मोंका आस्रव होता है ॥१८२७॥

कर्माणि शुभाशुभरूपाणि द्विविधानि, तत्र कस्य कर्मणः क आश्रय इत्यत्राह—

अनुकंपासुवुचुकओगो वि य पुण्यस्त आसवदुवारं ।

तं विचरीदं आसवदारं पावस्त कम्मस्त ॥१८२८॥

'अनुकंपा' अनुकम्पा । 'सुवुचुकओगो' शुद्धवच प्रबोधः परिणामः, 'पुण्यस्त आसवदुवारं' पुद्गलानां शुभत्वपर्यायागमनमुक्तं सङ्घं सम्पत्त्वं रतिहास्यपुंवेदाः शुभे नामगोत्रे शुभं चानु. पुण्यं एतेभ्योऽप्यानि पापानि । अनुकम्पा त्रिप्रकाराः । धर्मानुकम्पा मिश्रानुकम्पा सर्वानुकम्पा चेति । तत्र धर्मानुकम्पा नाम परित्यक्तसंयमेषु मानावमानसुखदुःखलामालामनुणसुवर्णादिषु समानचित्तेषु हस्तेभिर्वास्तःकरजेषु 'जननीमिव मुक्तिमाश्रितेषु परिहृतोन्नकथायविषयेषु विष्येषु भोगेषु दोषान्निषिन्त्य विरागतामुपगतेषु संसारमहासमुद्राद्भयेन निशास्त्वल्पनिद्रेषु, अङ्गीकृतानिस्तज्जल्पेषु, क्षमादिदशविधधर्मपरिणतेषु यानुकम्पा सा धर्मानुकम्पा, यया प्रयुक्तो जनो विवेकी तद्योग्यान्नपानावसथैषणादिकं संयमसाधनं यतिम्य प्रयच्छति । स्वामिनिगुह्य शक्ति उपसर्ग-दोषानपसारयति आज्ञाप्यतामिति सेवा करोति भ्रष्टमार्गाणां पन्थानमुपदर्शयति । तैः प्रसंयोगमवाप्य अहो सपुण्या वयमिति हृष्यति, सभानु तेषां गुणानुत्कीर्त्तयति^१, तान् गुरुमिव पश्यति । तेषां गुणानामाभोधनं स्मरति, महात्मनि कदा नु मम समागम इति । तैः संयोगं समीप्यति, तदीयान् गुणान् परैरभिवर्ष्यमानान्निषाम्य तुष्यति । इत्यमनुकम्पापरः साधुगुणानुमननानुकारी भवति । त्रिधा च सन्तो बन्धमुपविशन्ति, स्वयं कृतेः, कारणायाः, परैः कृतस्यानुमतेष्वच । ततो महागुणराशिगतहर्षात् महान् पुण्यावव ।

कर्म शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारके हैं । किस्तसे किस कर्मका आश्रय होता है यह कहते हैं—

गा०—अनुकम्पा और शुद्ध उपयोग पुण्य कर्मके आश्रयके द्वार हैं । और अनुकम्पा तथा शुद्ध उपयोगसे विपरीत परिणाम पाप कर्मके आश्रयके द्वार हैं ॥१८२८॥

टी०—अनुकम्पाके^१ तीन भेद हैं—धर्मानुकम्पा, मिश्रानुकम्पा, सर्वानुकम्पा । जिन्होंने असयमका त्याग कर दिया है, मान, अपमान, सुख-दुख, लाभ-अलाभ तथा तृण-सुवर्ण आदिमें जिनका समभाव है, इन्द्रिय और मनका जिन्होंने दमन किया है, जो माताके समान मुक्तिके आश्रित है, जिन्होंने उग्र कथाय विषयोंका परित्याग किया है, दिव्य भोगोंमें दोषोंका विचार करके विरागताको अपनाया है, संसाररूपी महासमुद्रके भयसे रात्रिमें भी जो अल्प निद्रा लेते हैं, जिन्होंने निःसंगताको स्वीकार किया है और जो उत्तम क्षमा आदि दस प्रकारके धर्मोंमें लीन हैं उनमें जो अनुकम्पा है उसे धर्मानुकम्पा कहते हैं । उस धर्मानुकम्पासे प्रेरित होकर विवेकी जन उन मनुजियोंके योग्य अन्नपान, वसतिका आदि संयमके साधन प्रदान करते हैं । अपनी शक्तिको न छिपाकर उपसर्ग और दोषोंको दूर करते हैं । 'हमें आज्ञा कीजिये' इस प्रकार निवेदन करके सेवा करते हैं । जो मार्गसे भ्रष्ट हो जाते हैं उन्हें सन्मार्ग दिखलाते हैं । उन मनुजियोंका संयोग प्राप्त होनेपर 'अहो हम बड़े पुण्यशाली हैं ।' इस प्रकार विचार कर प्रसन्न होते हैं । समाजोंमें उनके गुणोंका बखान करते हैं । उनको गुरुके समान मानते हैं । उनके गुणोंका सदा स्मरण करते हैं कि कब उनका समागम हो । उनके संयोगकी अभिलाषा रखते हैं । दूसरे द्वारा उनके गुणोंकी प्रशंसा सुनकर सन्तुष्ट होते हैं । इस प्रकार अनुकम्पामें तत्पर साधु गुणोंकी अनुमोदना करनेवाला

१. मातरमिव—आ० मु० । २ ति स्वान्ते मु—आ० गु० ।

मिश्रानुकम्पोच्यते—पुनःपापकर्मनूकम्बो हिंसादिभ्यो व्याप्तुः। संतोषवीर्याभ्यवरता विनीताः विग्वरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति चोपमतास्तीव्रवीर्यात् जीवोपजीवाग्निबुध्त्वे च जीवै कृतप्रमाणाः पाशापरि-
भीताभिताः, विविष्टदेशे काले च विवर्जितसर्वसाधनाः पर्वस्वारम्भयोगं सकलं विपुष्व उपवासं ये कुर्वन्ति तेषु
संयतासंयतेषु क्रियमाणानुकम्पा मिश्रानुकम्पैरूप्यते । जीवामि जीवेषु दया च कृत्वा कृत्नामनुष्यमाणाः जिन-
सूत्राद्बाह्या येऽन्यपालकश्चरताविनीताः कष्टानि तपांसि कुर्वन्ति, तेषु क्रियमाणानुकम्पा तथा सर्वोऽपि कर्मवृष्णं
प्रचिनोति ।

देश प्रवृत्तिर्गृह्णामकृत्स्नात् मिथ्यात्ववोवोपहृत्स्नोऽवधकः ।

दृश्येषु मिथो भवतीति धर्मो मिश्रानुकम्पासक्यच्छे'प्यनुः ॥

सपुष्टयो वापि सुपुष्टयो वा स्वभावतो मार्गवसंज्ञकः ।

यां कुर्वते सर्वकारवर्गं सर्वानुकम्पैस्त्वभिधीयते सा ॥

छिन्नान् बढ़ान् रुद्धान् प्रहृतान् विलुप्यमानांश्च मत्यान्, सहैतसो निरैतसो वा परिदृश्य मृगानिह्वगान्
सरीसृपान् पशून् च मामादिनिमित्तं प्रहृन्त्यमानान् परलोकं परस्परं वा तान् हिंसतो भक्षयतश्च कृष्ट्वा
सूक्ष्माननेकान् कुन्धुपिपीलिकाप्रभृति प्राणभूतो मनुजकरभस्करश्चरभकरितुरगादिभि संमृद्यमानानिभिवीक्ष्य
असाध्यरोगोरगदशनात् परितप्यमानान् मृतोऽस्मि नष्टोऽस्म्यभिधावतेति रोगान्भूयमानान्, गुरुषुकलत्रादिभिर-

होता है । पूर्व ज्ञानियोंने बन्धको तीन प्रकारसे कहा है । स्वयं करनेसे, दूसरोसे करानेसे और
दूसरोके करने पर उसकी अनुमोदना करनेसे । अत महागुणशाली मुनियोंको देखकर हर्ष प्रकट
करनेसे महान् पुण्यासव होता है ।

अब मिश्रानुकम्पा कहते हैं । जो महान् पाप कर्मके मूल हिंसा आदिसे निवृत्त है, सन्तोष
और वैराग्यमे तत्पर है, विनीत है, दिग्वरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरतिको धारण किये
हुए हैं, तोत्र दोषवाले भोग उपभोगोका त्याग करके शेष भोगोंका जिन्होंने परिमाण कर लिया
है, जिनका चित्त पापसे भीत रहता है, जो विशिष्ट देश और कालमे सर्व सावधका त्याग करते हैं
अर्थात् त्रिकाल सामायिक करते हैं, पर्वके दिनोमे समस्त आरम्भको त्याग उपवास करते हैं उन
संयमासयमियोंमे जो अनुकम्पा की जाती है वह मिश्रानुकम्पा है । मे जिलाता हू ऐसा मान जो
जीवोपर दया तो करते हैं किन्तु पूर्णरूपसे दयाको नहीं जानते । ऐसे जो जिनागमसे बाह्य अन्य
धर्मोंको माननेवाले विनयी तपस्वी है कष्टदायक तपस्या करते हैं उनमें अनुकम्पा भी मिश्रानुकम्पा
है । उससे सब जीव पुण्य कर्मका संचय करते हैं । कहा भी है—

गृहस्थ एकदेशमे प्रवृत्तिशील होनेसे पूर्ण संयमका पालक नहीं होता । तथा मिथ्यात्वके
दोषसे सदोष अन्य धर्मबालोमे अनुकम्पा मिश्रानुकम्पा है । सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जो
स्वभावमे ही मार्दवं भावसे युक्त हैं वे जो समस्त प्राणियोंमें अनुकम्पा करते हैं उसे सर्वानुकम्पा
कहते हैं । जिनके अवयव कट गये हैं, जो बाधे गये हैं, रोके गये हैं, पीटे गये हैं, खोये गये हैं ऐसे
निरपराधी अथवा अपराधी मनुष्योंको देखकर तथा मृगो, पक्षियों, सरीसृपों और पशुओंको मांस
के लिये दूसरे लोगोंके द्राग माग जाता अथवा उन्हे परस्परमें ही एक दूसरेकी हिंसा करते और
एक दूसरेका भक्षण करते देखकर, तथा कुयु चीटी आदि अनेक छोटे जन्तुओंको मनुष्य, ऊँट,
गधा, शरभ, हाथी, घोड़े आदिके द्वारा कुचले जाने देखकर, तथा असाध्य रोगरूपी सर्पके द्वारा

प्रायःकालः सहसा विद्युत् कर्णमुवान् विभोद्यतः, स्वाङ्गानि ज्वलन्व चोकेन, उपाजितप्रविर्षिर्बिम्बुष्यमानान्
 छुपमान् प्रनष्टवन्तून् वैर्षिलिपिविस्तार्यवसायहीनान् यांन् प्रज्ञाप्रसक्त्या वराकान् निरीक्ष्य तद् दुःखमात्मस्वभियं
 विभिन्य स्वार्थ्यनुपसन्नमनुकम्पाः ।

सुदुर्लभं मानुषकम् सन्ध्या मा क्लेशपात्राणि वृषैव भूत ।

वर्षे सुभे भूतहिंसे क्लेशवित्शेवमाह्वैरपि चोपदेशैः ॥

कृतकरिष्यमाणोपकारानपेक्षैरनुकम्पा कृता भवति ।

पुण्यात्तर्षं ता भिचिदानुकम्पा सुतेषु पुत्रं जयती शुभेव ।

वचैतानुकम्पा प्रवधाक्षिपुष्यान्नाके गुता जन्मुपपत्तिमोयुः ॥

शुद्धप्रयोगो निरूप्यते स च द्विप्रकारः यतिगृहिनोचरभेदेन । यतः शुद्धोपयोग इत्यभ्युतः—

जीवात्म हृष्यां न वृथा वधेयं धीर्यं न क्रूरान्त्र भवेव मोमान् ।

वर्षं न क्षेपेय न च क्षपासु मुञ्जीय कृच्छ्रंरपि शरीरताये ॥१॥

रोषेण ज्ञानेन च माध्या च लोभेन चार्हं बहुदोषकेन ।

बुद्धयेव नारम्भपरिग्रहेष्व दीर्क्षां शुभामभ्युपगम्य भूय ॥२॥

वधा न भयवाच्यलनौलिनालो भिक्षां चरन्कामुं कदापिपाणिः ।

तथा न भाष्यां वधि दीक्षितः सन् वहेय दोषात्मवहाय सज्जाम् ॥३॥

इसे जानेसे पीडित मे मर गया, मे नष्ट हो गया इत्यादि चिल्लानेवाले रोगियोंको देख तथा जिनकी
 अवस्था अभी मरनेकी नहीं है ऐसे गुरु, पुत्र, स्त्री आदिका सहसा वियोग हो जानेसे चिल्लाते हुए,
 अपने अंगोंको शोकसे पीटते हुए, कमाये हुए धनके नष्ट हो जानेसे दीन हुए तथा धैर्य, शिल्प,
 विद्या और व्यवसायपे रहित गरीब प्राणियोंको देख उनके दुःखको अपना ही दुःख मानकर
 उसको शान्त करना अनुकम्पा है । 'अति दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर वृथा ही क्लेशके पात्र मत
 बनो । प्राणियोंके लिये कल्याणकारी धर्ममें मन लगाओ' इत्यादि उपदेशोंके द्वारा किये गये
 अथवा भविष्यमे किये जानेवाले उपकारकी अपेक्षाके बिना अनुकम्पा करना चाहिये ।

ये तीनों प्रकारकी अनुकम्पा पुण्य कर्मका आन्व करती है । वह जैसे माता पुत्रके
 लिये शुभ होती है उसी प्रकार शुभ है । उस अनुकम्पासे हुए पुण्यके विपाकसे मरक स्वर्गमें देव
 होते हैं ।

अब शुद्ध प्रयोगका स्वरूप कहते हैं—उसके दो भेद है—एक यति मन्वन्धी शुद्धसंप्रयोग और
 दूसरा गृहस्थ सम्बन्धी शुद्ध संप्रयोग । यतिका शुद्ध प्रयोग इस प्रकार है—मैं जीवोंका घात नहीं
 करूँगा । झूठ नहीं बोलूँगा । चोरी नहीं करूँगा । मोगोको नहीं भोगूँगा । धनका सेवन नहीं करूँगा ।
 शरीरमें अत्यन्त कष्ट होनेपर भी रात्रिमें भोजन नहीं करूँगा । शुभ दीक्षा लेकर बहुदोषपूर्ण
 क्रोध माना माया लोभसे आरम्भ और परिग्रहसे सम्बन्ध नहीं रखूँगा । जैसे कोई मनुष्य सिरपर
 मुकुटमाला धारण करके और हाथमें धनुष बाण लेकर भिक्षा मांगे तो शोभा नहीं देता । उसी
 प्रकार यदि मैं दीक्षा लेकर लज्जा त्याग दोषोंको वहन करूँ तो शोभा नहीं देता । महान्

निज्जं गृहीत्वा बहुताभूतीनां, अङ्गं च विचारपरिष्कारंहीनम् ।
 अङ्गं क्षतामायविविधैः कष्टं तद्वत् कथं काकानुनेषु कुर्वन् ॥४१॥
 धर्मावधार्याविरागवैद्यां वैशेष हीनः सुप्रसन्नचेष्टः ।
 कथं नृबानुच्छित्तराजवैद्यं निज्जीवधन्नाङ्गविकारयुक्तः ॥५॥
 इत्येवमादिः शुचकर्मक्षिता सिद्धार्हंशाचार्थं बहुच्युतेषु ।
 शैत्येषु संघे जिनशासने च भक्तिविरागेषु वरप्रतिष्ठा च ॥

विनीतता संयमो अप्रमत्तता, सुमुता, क्षमा, आर्जवः, संतोषः, संज्ञास्यव्यवहारविजयः, उपसर्ग-
 परीषहजयः, सम्यग्दर्शनं, तत्त्वज्ञानं, सरागसंयमं, दसविधधर्मध्यानं, जिनेन्द्रपूजा, जिनपदेशः निःशंकित्वा-
 विगुणाष्टकं, प्रसस्तरागसमेता तपोभावना, पञ्चसमिपयः, तिष्ठो गुप्त इत्येवमाद्याः शुद्धप्रयोगः । गृहीयां
 शुद्धोपयोग उच्यते—गृहीतव्रतानां धारणपालनयोरिच्छा क्षणमपि व्रतचङ्कोरिण्यः, धर्मीकथं यतिसंप्रयोगः
 अन्नादिदान श्रद्धादिविधिपुरस्सरं अमनोदनाय भोगान् भुक्त्वापि स्थगित शक्तिविगर्हणं, सदा गृहप्रभोक्षप्रार्थना,
 धर्मश्रवणोपलम्भात्मनसोऽसितुष्टि, भक्त्या पञ्चगुह्यस्तवनप्रणमने तत्पूजा, परेषां च स्थिरीकरणमुपबुहणं,
 वात्सल्यं, जिनेन्द्रभक्त्यामुपकारकरण, जिनेन्द्रशास्त्राभिगमः, जिनशासनप्रभावना इत्यादिकः । 'सत्त्विकशरीरं'
 अनुकम्पाशुद्धप्रयोगाभ्यां विपरीत परिणामः । 'आसन्नद्वारं' आसन्नद्वारं, 'वापस्स कम्मन्त' अशुभस्य
 कर्मणः । आसन्न ॥१८२८॥

श्रुषियोंका लिंग स्वीकार करके और स्नान आदिके बिना शरीर धारण करके ब्रतोंके भंगका
 विचार न करते हुए काम सेवन आदिका संसर्ग में कैसे कर सकता हूँ । मैं धैर्य हूँ, दीन बनकर
 अनार्योंके द्वारा आचरण करके योग्य चर्या कैसे कर सकता हूँ । शरीरमें विकार युक्त होकर धूमने
 पर साधु होकर सिर मुझाना व्यर्थ है । इत्यादि प्रकारसे शुभ कर्मकी चिन्ता करना, सिद्ध, अर्हन्त,
 आचार्य, उपाध्याय, प्रतिमा, संघ और जिनशासनमें भक्ति, वैराग्य, गुणोंमें अनुराग, विनययुक्त
 प्रवृत्ति, संयम, अप्रमादोपना, परिणामोंमें कोमलता, क्षमा, आर्जव, सन्तोष, आहारादि संज्ञा
 मिथ्यात्व आदि शल्य और श्रद्धा आदिके मदको जीतना, उपसर्ग और परीषहको जीतना, सम्य-
 गदर्शन, सम्यग्ज्ञान, सरागसंयम, दस प्रकारका धर्मध्यान, जिनपूजा, जिनपूजाका उपदेश,
 निःशंकिता आदि आठ गुण, प्रसस्तराग, तपोभावना, पाँच समिति, तीन मुक्ति इत्यादि शुद्ध
 प्रयोग हैं ।

अब गृहस्थोंका शुद्ध प्रयोग कहते हैं—ग्रहण किये हुए ब्रतोंके धारण और पालनकी इच्छा,
 एक क्षणके लिये भी व्रतभंगको इष्ट न मानना, निरन्तर यतियोंको दान देना, श्रद्धा आदि विधि-
 पूर्वक अन्न आदि देना, भोगोंको भोगकर भी थकान दूर करनेके लिये अपनी भोगासक्तिको निन्दा
 करना, सदा घर छोड़नेकी भावना करना, धर्मका श्रवण करनेको मिले तो मनका अतितुष्ट होना,
 भक्तिपूर्वक पंचपरमेष्ठीका स्तवन और प्रणाम करना, उनकी पूजा करना, दूसरोंको धर्ममें स्थिर
 करना, धर्मका बढ़ाना, साधर्म्यवात्सल्य, जिनेन्द्रदेवके भक्तोंका उपकार करना, जिन शास्त्रोंका
 अभ्यास करना, जिनशासनकी प्रभावना करना आदि श्रावकोंका शुद्ध प्रयोग है । अनुकम्पा और
 शुद्ध प्रयोगसे विपरीत परिणाम अनुभूत कर्मके आसन्नके द्वार हैं ॥१८२८॥

संवरानुप्रेक्षा कथ्यते । संश्रियन्ते निष्कथ्यन्तेऽभिनवाः कर्मपर्यायाः पुद्गलानां येन जीवपरिणामेन । मिथ्यात्वादिपरिणामो वा निष्कथ्यते स संवरः । तत्रापि सूरिमिथ्यात्वादिपरिणामसंवरान् सम्भक्त्वादीनां संवरतामाचष्टे—

मिच्छन्तासवद्वारं कंभं सम्मसदित्कवाडेण ।

हिंसादिदुवाराणि व दहवदफलहेहि कंभंति ॥१८२९॥

'मिच्छन्तासवद्वारं' तत्त्वाश्रद्धानमासवद्वार । 'कंभंति' कथ्यते, 'सम्मसदित्कवाडेण' तत्त्वश्रद्धान कवाटेन । 'हिंसादिदुवाराणि व' हिंसादिवाराण्यपि, 'दहवदफलहेहि कंभंति' दृढव्रतपरिचर्य स्वय-यन्ति ॥१८२९॥

उवसमदयादमाउहकरेण रक्खा कसायचोरेहि ।

सक्का काउं आउहकरेण रक्खाव चोराणं ॥१८३०॥

'उवसमदयादमाउहकरेण' उपसम कषायवेदनीयस्य कर्मणस्तिराभवन, दया सर्वप्राणिविषया, यम-कषायदोषभावमया चित्तनिग्रह । एते त्रय आमुषा करे यस्य तेन । 'कसायचोरेहि' कषायचोरेभ्य । 'रक्खा सक्का काउं' रक्षा शक्या कर्तुं, 'आमुषकरेण रक्खाव चोरेहि' आमुषहस्तन चोरेभ्यो रक्षं व, कषायदोषपरिज्ञाने-नासकृत् प्रवृत्तेन क्रोधादिनिमित्तवस्तुपरिहारेण तत्प्रतिपक्षमादिपरिणामेन च कषायनिवारण । उक्त च—

अयेत्सवा कोषशुपाभितः क्षमां जयेच्च मानं समुपेत्य मार्षवं ।

तथैव मायामपि वार्षालजयेत्, अयेच्च संतोषवशेन युज्यतां ॥

जिताः कषाया यदि किञ्च तैजितं कषायमूल सकल हि बन्धनमिति ॥१८३०॥

मिथ्यात्वसवर कषायसंवरं च निरूप्य इन्द्रियसवर व्याचष्टे—

इंदियदुइं तस्सा णिग्धिष्यंति दमणाणखलिणेहि ।

उप्पहगामी णिग्धिष्यंति दु खलिणेहि जह तुरया ॥१८३१॥

अब सवर अनुप्रेक्षा कहते है । जिस जीव परिणामसे पुद्गलको नवीन कर्म पर्याये अथवा मिथ्यात्वादि परिणाम रहते है उसे संवर कहते है । उनमेंसे प्रत्येकार मिथ्यात्व आदि परिणामोका सवर करनेसे सम्यक्त्व आदिको संवर कहते है—

गा०—मिथ्यात्व अर्थात् तत्त्वके अश्रद्धानरूप आस्रवका द्वार सम्यक्त्व अर्थात् तत्त्वके श्रद्धान रूप दृढ़ कपाटोके द्वारा रोका जाता है और हिंसा आदि आस्रव द्वारोंको दृढ़ व्रतरूपी अर्गलाओंसे रोका जाता है ॥१८२९॥

गा०—टी०—कषायवेदनीय कर्मके तिरोभाव अर्थात् उदय अवस्थाको प्राप्त न होनेको उपसम कहते हैं । सब प्राणियोंपर दयाभाव होना दया है । कषायोंके दोषोंका विचार करके चित्तका निग्रह करना दम है । ये तीन अस्त्र जिसके पास हैं वह कषायरूप चोरोसे अपनी रक्षा कर सकता है । जैसे जिसके हाथमें अस्त्र होता है वह चोरोसे अपनी रक्षा कर सकता है उसी प्रकार कषायके दोषोंको जाननेसे, क्रोध आदिमें निमित्त वस्तुसे बचनेसे और कषायोंके विरोधी क्षमा आदि परिणामोंसे कषायको दूर किया जा सकता है । कहा भी है—सवा क्षमाकी उपासना करके क्रोधको जीतना चाहिये । मारद्वको धारण करके मानको जीतना चाहिये । तथा आर्जवभाषसे मायाको जीतना चाहिये और सन्तोषसे लोभको जीतना चाहिये । जिसने कषायोंको जीत लिया उन्होंने क्या नहीं जीता । अर्थात् सबको जीत लिया । क्योंकि सब बन्धनका मूल कषाय है ॥१८३०॥

कषायनामक प्रमादके, कषायप्रणाकत्व प्रत्यनीकमुक्ताः । ज्ञानभावना, रागद्वेषेन्द्रियविषयविभक्तदेशा-
स्वार्थं ज्ञानेन मनःप्रतिषेधं, इन्द्रियविषयरागद्वेषजदोषाधामनुस्मरणं, विषयोपलब्धावनावरस्थिति एते इन्द्रिय-
प्रमादप्रतिपक्षाः । तथा शेषतः—

वराङ्गनाङ्गुलि च रागभोक्तो यदुच्छया वा न निरीष्य रज्यति ।
तथैव कषायानुभाषि योचितुं, न नेच्छति द्वेषवत्प्रभोवितः ॥१॥
निरीष्य न हृदि यदुच्छयापि च भवेत्स जेता पुण्यः स्वधनुषि ।
सुपीतवाचिप्रभवान्मनोहरान् स्वरान्मनोज्ञान्युत्तीरितामपि ॥२॥
न भाञ्छति शोभुमिहावरेण यो यदुच्छया वा न निजस्य रज्यति ।
स्वरान्मनोकावन्मनोहरामपि न नेच्छति द्वेषवत्सेन सेवितुं ॥३॥
निजस्य न हृदि यदुच्छयापि च भवेत्स जेता अवनेन्द्रियस्य च ।
सुच्छकालानुच्छुद्धकुम्भकुमान् तमालपत्रोत्पलचम्पकविकान् ॥४॥
सुभं न जिद्रासति गन्धमाहरात् यदुच्छयाद्वाद्यं न चापि रज्यति ।
तथैव गन्धानुभाषणोह यो न नेच्छति द्वापुनसूक्तद्विषान् ॥५॥
निवेद्य न हृदि यदुच्छयापि च भवेत्स नास्तेन्द्रियविन्नरोत्थः ।
न यो महामुष्टविशिष्टभोजनप्रियापलहापि मनोहरान् रसान् ॥६॥
निवेदितुं रागवसेन काङ्क्षति यदुच्छया वा न निवेद्य रज्यति ।
रसान्मनोकावन्मनोहरामपि न नेच्छति द्वेषवत्सेन सेवितुं ॥७॥
निवेद्य न हृदि यदुच्छयापि च भवेत्स जेता रसनेन्द्रियस्य च ।

कषायनामक प्रमादके विरोधी है । ज्ञानकी भावना, रागद्वेषके कारण इन्द्रिय विषयोंसे रहित
देशमें रहना, ज्ञानके द्वारा मनको एकाग्र करना, इन्द्रियोंके विषयोंमें रागद्वेषसे उत्पन्न हुए
दोषोंका स्मरण करना, और विषयोंकी उपलब्धिमें आदरभाव न होना, ये इन्द्रिय नामक प्रमादके
विरोधी है । कहा भी है—

रागसे प्रेरित होकर अथवा स्वेच्छासे सुन्दर स्त्रीके अंगोंको देखकर राग नहीं करता ।
तथा द्वेषसे प्रेरित होकर अशुभ रूपोंको देखनेकी इच्छा नहीं करता । जो यहच्छासे देखकर भी
द्वेष नहीं करता वह पुरुष अपनी आँखोंका विजेता है । अच्छे गीत, और वादित्तोंके मनोहर
स्वरोंको तथा युवती स्त्रियोंके द्वारा कहे गये शब्दोंको भी जो आदरपूर्वक सुनना नहीं चाहता
और अचानक सुनकर भी उनमें अनुराग नहीं करता । तथा द्वेषवश अनेक अमनोहर स्वरोंको
भी सुननेकी इच्छा नहीं करता । अचानक अमनोज्ञ स्वर सुनाई पड़ जाये तो उससे द्वेष नहीं
करता, वह श्रवणेन्द्रियका जेता है । लोबान, काला अंगूर, कुष्ठ, कुकुम, तमालपत्र, कमल, चम्पक
आदिकी सुगन्धको आदरभावसे जो नहीं सूँघता, और अचानक सूँघनेमें आ जाये तो उसमें राग
नहीं करता । उसी प्रकार जो अशुभ गन्धको भी सूँघनेसे द्वेष नहीं करता । और अचानक
दुर्गन्ध सूँघ ले तो उससे द्वेष नद्री करना वह श्रेष्ठ पुरुष नामा इन्द्रियको जीतनेवाला है । जो
अत्यन्त मीठे विशिष्ट भोजनको और मनोहर रंगोंकी रागवश सेवन करना नहीं चाहता, अचानक
सेवनमें आ जाये तो उसमें राग नहीं करता । तथा द्वेषवश अनेक अमनोहर रंगोंकी भी सेवन

१. प्रियः प्रलेहादिमनो मनोहरान् —आ० ।

मनोऽसन्मत्तान्कामतपोचितान्, सुमोक्षकः स्वर्गचिन्तितो मनोहरस्तु ॥६॥
 न लेखितुं रामयज्ञेन वाञ्छन्ति यदुच्छ्रया वा न विदेव्य रज्ज्वति ।
 प्रवर्द्धनाच्छासनमार्जनीनि वा विक्रियेनाभ्युत्थमभ्युत्थनानि च ॥९॥
 शरीरतीक्ष्णाय न शक्य लेखते विदुःशरीरान्यभूतो म्हात्मनिः ।
 हिमोष्णभूतैर्लक्षितानुवाचिवागमशोधनान् स्वर्गचिन्तितं सर्वथा ॥१०॥
 न लेखति द्वेष्टि न शान्धुवाक्यान् त्वानिद्रिफलेनैव भवेद्विचिन्तितं ।
 रथे रिपुनामिव निर्भयो जयेद् सचेन्द्रियान्तां जयभारिफतो वतिरिति ॥११॥

निद्रायाः प्रतिपन्नभूतोऽप्रमादः, अनश्ननमवमोदर्यं, रसपरित्यागः, संसाराद्भूतिसिद्धिद्रादोषचिन्ता रत्न-
 नयेऽनुरागः स्वदुःखचिरानां स्मरणेन शोक इत्येवमादिकः । स्नेहप्रमादप्रतिपन्नभावोऽप्यते—बन्धुताया अनवस्थि-
 तत्वभावना, तदधनिकारम्भपरिग्रहप्रभृतिचिन्ता, धर्मविघ्नता, दोषवैक्षणमित्यादिकः । एवंभूतेनाप्रमादफलकेन
 प्रवर्तता निरूप्यते । 'शौरिदि फलमेव जहा' क्रियते फलकेन यथा । 'बाबाए जलासावविरोधो' नाव जलालव-
 निरोधः ॥१८३३॥

गुप्तिपरिखाइ हि गुप्तं संजमणयरं ण कम्मरिउसेणा ।

बन्धेइ^३ मत्तसेणा पुरं व परिखादिहिं सुगुत्तं ॥१८३४॥

'गुप्तिपरिखाइगुप्तं' गुप्तिपरिखाभिर्गुप्तं, समयनगरं कर्मरिपुसेना न भक्तुं शक्नोति । परिखादि-
 भिर्गुप्तं शत्रुसेनेवेति । गुप्तः संवतराख्याता ॥१८३४॥

न करनेकी इच्छा नहीं करता । और अचानक सेवनमें आ जाय तो द्वेष नहीं करता, वह रसना
 इन्द्रियका जेता होता है । जो मनोज्ञ शय्या, मनोज्ञ आसन, सुन्दर स्त्री, तथा मनोहर क्षुभ
 स्पर्शवाली वस्तुओंको रागके वशीभूत हो सेवन करनेकी इच्छा नहीं करता । अचानक सेवनमें
 आनेपर उनसे राग नहीं करता । तथा जो बड़े हुए वैराग्यसे शोभित महायती शारीरिक सुखके
 लिये शरीरका दबाना, आच्छादन, मार्जन, लेपन, तेल, स्नान आदिका सेवन नहीं करता । तथा
 सर्वदा अतिशीतल या अतिउष्ण पृथ्वी, पहाड़, पत्थर, तृण आदि जन्य अप्रिय स्पर्शोंको सेवन न
 करनेकी इच्छा नहीं करता और ऐसे अप्रिय स्पर्श प्राप्त होनेपर उनसे द्वेष नहीं करता वह स्पर्शन
 इन्द्रियका जीतनेवाला होता है । जैसे युद्धमें निर्भय व्यक्ति शत्रुओंको जीतता है । उसी प्रकार
 वह यति इन्द्रियोंको जीतता है । निद्राका विरोधी है अप्रमाद, अनश्नन, अवमोदर्यं, रसपरित्याग,
 संसारसे भय, निद्राके दोषोका चिन्तन, रत्नत्रयमें अनुराग, अपने बुरे आचरणोका स्मरण करके
 शोक करना आदि । स्नेह नामक प्रमादकी विरोधी भावना कहते हैं—बन्धुता अस्थिर है ऐसा
 विचारना जिनके प्रति स्नेह होता है उनके लिये अनेक आरम्भ परिग्रह आदिकी चिन्ता करना
 होती है । धर्म साधनमें विघ्न होता है । इत्यादि दोषोका चिन्तन स्नेहका प्रतिपक्षी है । इस
 प्रकारके अप्रमादरूप पाटियेसे प्रमादजन्य आश्रवका संवर होता है ॥१८३३॥

शा०—जैसे शत्रुकी सेना परिखा आदिसे सुरक्षित नगरको नष्ट नहीं कर सकती ।
 वैसे ही कर्मरूपी शत्रुकी सेना गुप्तिरूपी परिखा आदिसे युक्त संयमरूपी नगरको नष्ट नहीं कर
 सकती ॥१८३४॥

मुत्तीनां संवरताम्बास्मृति—

समिदिदिट्ठणावमारुहिय अप्पमत्तो भवोदधि तरदि ।

छज्जीवणिकायवघादिपावमगरैहिं अञ्छित्तो ॥१८३५॥

‘समिदिदिट्ठणावमारुहिय’ समितिसंज्ञिता वृटनावमारुह । ‘अप्पमत्तो’ अप्रमत्तो भवोदधि तरदि षड्जीवनिकायवघादिपापमकरैरस्पृष्टः । एतेन समितेः संवरताम्बाता ॥१८३५॥

दारेव दारवालो ह्दये सुप्पणिहिदा सदी जस्स ।

दोसा षंसंति ण तं पुरं सुगुत्तं जहा सधू ॥१८३६॥

‘दारेव दारवालो’ द्वारे द्वारपाल इव । हृदये सम्पन्नमणिहिता वस्तुतत्त्वाना स्मृतिरस्य त दोषा नाऽ-
भिभवन्ति पुर सुगुप्त शत्रव इव ॥१८३६॥

जो हु सर्दिवाप्पहूणो सो दोसरिऊण गेज्जओ होइ ।

अधल्लगो व चरंतो अरीणमविदिज्जओ षेव ॥१८३७॥

जो लु सविक्किहूणो य स्मृतिहोन । ‘सो दोसरिऊण गेज्जओ होइ’ असौ दायागृभिमर्शात्ता
भवति । अरीणा मध्ये असहायोज्ज्व शत्रुषाह्यो यथा ॥१८३७॥

अमुयंतो सम्मत्तं परीसहच्चुक्करे उदीरंतो ।

षेव सदी मोत्तवा एत्थ दु आराधणा भणिया ॥१८३८॥

‘अमुयंतो’ अमुद्गत । सम्मत्त रत्नत्रय । ‘परीसहत्तमोगरे’ परीसहप्रकरे आभवत्याप नैव स्मृति-
मोक्तव्या । आराधना कथिता । सवर ॥१८३८॥

इससे गुप्तिको सवरका कारण कहा है—

शा०—प्रमादरहित साधु समितिरूपी दृढ नावपर आरूढ होकर बहू कायके जांवोके
घातमे होनेवाले पापरूपी मगरमच्छोसे अछूता रहकर ससार समुद्रको पार करता है ॥१८३५॥

इससे समितिको सवरका कारण कहा है—

शा०—जैसे सुरक्षित नगरका शत्रु ध्वंस नहीं कर सकत, उसी प्रकार द्वारपर खड़े द्वार-
पालकी तरह जिसके हृदयमे वस्तु तत्त्वोकी स्मृति बनी रहती है, दोष उसका अनिष्ट नहीं कर
सकते ॥१८३६॥

शा०—जैसे शत्रुओके मध्यमे असहाय अन्धा व्याक्त शत्रुओके द्वारा पकड़ा जाना है । वैसे
हो जिसे वस्तु तत्त्वोका सतत स्मरण नहीं रहता, वह दोषरूपी शत्रुओसे पकड़ा जाता है ॥१८३७॥

शा०—परीषहोके समूहसे पीड़ित होते हुए भी साधुको रत्नत्रयको न छोड़ते हुए तत्त्वोका
स्मरण नहीं छोड़ना चाहिये । सदा तत्त्वका स्मरण करते रहना चाहिये । इसीको यहाँ आराधना
कहा है ॥१८३८॥

सवर अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

निर्जरानुप्रे लोभ्यते—

इय सव्वत्थवि संवरसंबुद्धकम्मासवो भवित्तु पुण्णी ।

कुब्बन्ति तव विविहं सुत्तुचं णिज्जराहेदुं ॥१८३९॥

'इय' एवं । 'सव्वत्थवि' उर्त्तः संवरप्रकारैः । 'संबुद्धकम्मासवो भवित्तु पुण्णी' सव्वत्कर्मासवो भूत्वा मुनिः करोति विविचं तपः सूत्रोक्तं निर्जराहेतु ॥१८३९॥

तवसा विणा ण भोक्खो संवरमित्तेण ह्रीइ कम्मस्स ।

उवभोगादीहिं विणा घणं ण हु खीयदि सुत्तुचं ॥१८४०॥

'तवसा विणा' तपसोऽन्तरेण न कर्मभोको भवति संवरमात्रेण । सुरक्षितमपि घनं नैव हीयते उपयोग-मन्तरेण तथा । तस्मात् तपोमुद्रातम्यं निर्जरार्थं । का सा निर्जरा नाम ? पूर्वकृतकर्मक्षान्तनं पु निर्जरा ॥१८४०॥

पुब्बकदकम्मसद्धणं तु णिज्जरा सा पुणो ह्वे दुविहा ।

पढमा विवागजादा विदिया अविवागजाया य ॥१८४१॥

'पुब्बकदकम्मसद्धणं' पूर्वकृतकर्मपुद्गलस्कन्धावृत्तानामवयवानां जीवप्रदेशेभ्योऽप्रभमनं निर्जरा । तथा कोत्तं 'एकदेशकर्मसंक्षयः क्खाना निज्जेति' । निर्जरा द्विविधा द्रव्यनिर्जरा भावनिर्जरा चेति । द्रव्यनिर्जरा नाम गृहीतानामक्षान्तानादिद्रव्याणां एकदेशापगमनं वमनाविव । भावनिर्जरा नाम कर्मस्वपर्यायविषयं पुद्गलानां । सा पुनर्द्विविधा, आधा विपाकजाता दत्तफलानां कर्मणा गलनं विपाकजा निर्जरा । द्वितीयाप्रविपाक-जाता ॥१८४१॥

अब निर्जरा अनुप्रेक्षाको कहते हैं—

गा०—इस प्रकार संवरके उक्त भेदोंके द्वारा मुनि कर्मों का आसन्न रोककर आगममें कहे अनेक प्रकारके तपोंको करता है जो निर्जराके कारण हैं ॥१८३९॥

गा०—जैसे सुरक्षित भी घन उपभोग किये बिना नहीं घटता, उसी प्रकार तपके बिना कर्मों के संवरमात्रसे कर्मों का क्षय नहीं होता । अतः निर्जराके लिये तप करना चाहिये । पूर्वमें बद्ध कर्मों के क्रमसे क्षयको निर्जरा कहते हैं ॥१८४०॥

भा०—टी०—पूर्वमें बांधे हुए पौद्गलिक कर्मस्कन्धोंके अवयवोंका जीवके प्रदेशोंसे अलग होना निर्जरा है । कहा भी है—'कर्मों के एकदेशका क्षय निर्जराका लक्षण है । निर्जराके दो भेद हैं—द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा । खाये हुए भोजन पान आदि द्रव्योंके एकदेशका वमन आदिके द्वारा बाहर निकलना द्रव्यनिर्जरा है । और पुद्गलको कर्मरूप पर्यायको त्यागना भावनिर्जरा है । भावनिर्जराके भी दो भेद हैं—सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा । जो कर्म अपना फल दे चुके हैं उनकी निर्जरा सविपाक निर्जरा है और जिन कर्मों का विपाक काल नहीं आया है उन्हें तप आदिके द्वारा बलान्त उदयमें लाकर खेरना अविपाक निर्जरा है ॥१८४१॥

विशेषार्थ—द्रव्यसंग्रह आदिमें भी निर्जराके उक्त भेदोंका कथन है किन्तु उनमें फल दे चुके बाले कर्म पुद्गलोंका जीवसे पृथक् होना द्रव्यनिर्जरा है और जीवके जिस भावसे यह द्रव्यनिर्जरा होती है उस भावको भावनिर्जरा कहा है ॥१८४१॥

अत्र दृष्टान्तमाचष्टे द्विविधां निर्जरासवगमयितुं—

कालेण उवाचेण य पच्वन्ति जहा वणप्फदिफलाहं ।

तह कालेण तवेण य पच्वन्ति कदाणि कम्मणि ॥१८४२॥

'कालेण उवाचेण य' यथा कालेनोपायेन च वनस्पतीनां फलानि पच्यन्ते तथा कालेन तपसा पच्यन्ते कृतानि कर्माणि ॥१८४२॥

तयोर्निर्जरो. का कस्य भवतीत्याकाङ्क्षामाचष्टे—

सञ्चेत्ति उदयमा गदस्स कम्मस्स णिज्जरा होइ ।

कम्मस्स तवेण पुणो सञ्चस्स वि णिज्जरा होइ ॥१८४३॥

'सञ्चेत्तिमुच्यसमाचष्टस्स' सर्वेषां समयपूर्वके तपसि वृत्ताना अवृत्ताना च अथवा मिथ्यादृष्ट्यादीना मय्यदृष्ट्यादीनां वा उदयावलिकाप्रविष्टस्य दत्तस्य फलस्य कर्मणो निर्जरा भवति । एतेन विपाकनिर्जगं स्वल्पेन्यास्यात् भवति । कथं न सर्वाणि कर्माणि गलन्तीति चेदुच्यते—सर्वाणि कर्माणि भिन्नस्थितिकानि सहकारिकागणाना द्रव्यस्त्रादीना युगपदमान्निध्यादुदय सर्वस्य नोपवज्जन्ति, ततो यदुदयप्राप्तं तदेवागच्छति नेनद्रिति । 'सञ्चेण पुणो' तपसा पुनः । कम्मस्स सञ्चस्स वि' कर्मणं सर्वस्यापि निर्जरा भवति ॥१८४३॥

ण हु कम्मस्स अवेदिदफलस्स कस्सइ हवेज्ज परिमोक्खो ।

होज्ज व तस्स विणासो तवग्गिणा डज्जमाणस्स ॥१८४४॥

दोनों प्रकारकी निर्जराको समझानेके लिये दृष्टान्त कहते हैं—

गा०—जैसे वनस्पतियोंके फल अपने समयपर भी पकते हैं और उपाय करनेसे समयसे पहले भी पक जाते हैं, उसी प्रकार पूर्वबद्ध कर्म भी अपनी स्थिति पूरी होनेपर अपना फल देते हैं और तपके द्वारा स्थिति पूर्ण होनेसे पूर्व ही फल देकर चले जाते हैं ॥१८४२॥

उक्त दोनों निर्जराजोमसे किसके कौन निर्जरा होती है, यह कहते हैं—

गा०—टी०—सभी जीवोंके जो तप करते हैं या तप नहीं करते, अथवा सम्यग्दृष्टी हों या मिथ्यादृष्टी हो उन सब जीवोंके उदयावलीमें प्रवेश करके अपना फल देनेवाले कर्मोंकी निर्जरा होती है अर्थात् सविपाक निर्जरा तो सभी जीवोंके सदा हुआ करती है क्योंकि 'सभी जीव सदा कर्म करते हैं और सदा उनका फल भोगते हैं' । इससे सविपाक निर्जरा थोड़े ही कर्मकी होती है यह सूचन होता है ।

शंका—सब कर्मोंकी निर्जरा क्यों नहीं होती ?

समाधान—सब कर्मोंकी स्थिति भिन्न-भिन्न होती है । तथा सबके सहकारी कारण द्रव्य क्षेत्र आदि एक साथ नहीं मिलते अतः सब कर्म एक साथ उदयमे नहीं आते । अतः जिस कर्मका उदय होता है उसीकी निर्जरा होती है । शेषकी निर्जरा नहीं होती । किन्तु तप करनेसे सब कर्मोंकी निर्जरा होनी है ॥१८४३॥

'कम्मस्स व ह्नु ह्वेण परिणोपत्तो' अननुभूतफलस्य कर्मणो नैव कस्यचित् भोक्षो भवति इति । तत फलं प्रदायापयाति । एतेन विपाकनिर्जरोक्त 'होण्ण व तस्स कम्मस्स विनासो' भवेदा तस्य कर्मणो विनाशः । 'तवग्गिणा ढक्खमाणस्स' तपोऽग्निना दह्यमानस्य । एतेन कृतं कर्म तत्फलमदन्वा न निवर्तत इत्येतन्निर्गम्यत ॥१८४४॥

इहिरुण जहा अग्गी विद्धंसेदि सुवहुगंमि तणरासी ।

विद्धंसेदि तवग्गी तह कम्मतणं सुवहुगंमि ॥१८४५॥

'इहिरुण जहा अग्गी' यथाग्निर्दग्ध्वा नाशयति महातमपि तृणराशिं तथा तपोऽग्निं सुमहद्वापि कर्मतृणं विनाशयति ॥१८४५॥

तपसः कर्मविनाशनक्रममुपदर्शयत्युत्तरगाथा—

कम्मं पि परिणमिज्जइ सिणेहपरिसोसएण सुतवेण ।

तो तं सिणेहमुक्कं कम्मं परिसइदि धूलिण्व ॥१८४६॥

'कम्मं पि परिणमिज्जइ' कर्माभ्यपि अभावं नीयन्ते, केण ? 'सुतवेण' ज्ञानदर्शनवरणसहभाविना तपसा । 'सिणेहपरिसोसएण' कर्मपुद्गलगतस्नेहपरिणामविशोधकारिणा । 'तो' पश्चात् । स्नेहपरिणामविनाशोत्तरकालः । 'कम्मं परिसइदि' कर्मं परितोऽप्ययाति, 'सिणेहमुक्कं' स्नेहमुक्तं धूलीव । दृश्यते हि स्नेहाद्वन्ध-मुपागतानां तत्क्षते परस्परतो वियोगं यथा जलेनैव पिण्डतागतानां मिक्तानां क्षुप्के जले वियोगमापद्यमानता ॥१८४६॥

गा०-टी०—जिस कर्मका फल नहीं भोगा गया है उसका विनाश नहीं होता । अतः कर्म फल देकर जाता है । इससे सविपाक निर्जराका स्वरूप कहा । सविपाक निर्जरा उन्ही कर्मोंकी होनी है जो अपना फल दे चुकते हैं । किन्तु तपकी अग्निमें जलकर ऐसे कर्मोंका भी विनाश होता है जिन्होंने फल नहीं दिया है । इससे जो मत ऐसा म.नते है कि किया हुआ कर्म विना फल दिये नहीं जाता, उनका खण्डन होता है ॥१८४४॥

गा०—जैसे आग महान् भी तृणराशिको जलाकर खाक कर देती है । उसी प्रकार तपरूपी आग महान् भी कर्मरूपी तृणोके डेरको जलाकर नष्ट कर देती है ॥१८४५॥

आगे तपसे कर्मोंके विनाशका क्रम दिखलाते है—

गा०-टी०—ज्ञान, दर्शन और चारित्रके साथ होनेवाला तप कर्म-पुद्गलोंमें रहनेवाले स्नेह परिणामको सोख लेता है । अतः उससे कर्मोंका अभाव होता है । क्योंकि कर्मोंमें रहनेवाले स्नेहपरिणामका विनाश होनेके पश्चात् स्नेहरहित धूलकी तरह कर्म नष्ट हो जाते हैं । देखा जाता है जो वस्तुएँ चिक्कणता गुणके कारण परस्परमें बँधी होती है, उनकी चिक्कणता नष्ट होनेपर वे परस्परमें अलग हो जाती हैं जैसे जलके संयोगसे धूल बँध जाती है और जलके सूखने पर अलग-अलग हो जाती है । इसी प्रकार कषाय आदि रूप स्नेहके कारण जो कर्मपुद्गल जीवके साथ एकरूप होते हैं, तपके द्वारा कषायके चले जानेपर वे जीवसे पृथक् हो जाते हैं ॥१८४६॥

१. कर्मापि सुतवेण शोभनेन तपसाऽप्यभावात् नीयन्ते । केण ? ज्ञान आ० ।

धादुग्दं जह कणयं सुज्जइ चम्मंतमग्निणा महदा ।

सुज्जइ तवग्निं घंतो तह जीवो कम्मधादुग्दो ॥१८४७॥

‘धादुग्दं’ यथा सुवर्णपाषाणगतं कनकं महताग्निना दह्यमानं शुष्यति, मत्स्यं पृथग्भवति तथा जीवः कर्मधातुगतस्तपोऽग्निना दह्यमानः शुष्यति ॥१८४७॥

यद्येवं तप एवानुष्ठतव्यं किं नवरेणेति शक्या निराकरोति—

तवसा चेव ण मोक्खो संवरहीणस्स होइ जिणवयणे ।

ण हु सोत्ते पविसंते किमिणं पिसुस्सदि तलायं ॥१८४८॥

‘तवसा चेव ण मोक्खो’ तपमैव न सर्वकर्मपायो भवति, संवरहीणस्य जिनवचने । लोतसि प्रविशति न जलादिकं कृत्स्नं परिशुष्यति ॥१८४८॥

एवं पिणद्धसंवरवम्मो सम्मत्तवाहणारूढो ।

सुदणामहाधणुगो झाणादितवोभयसरेहिं ॥१८४९॥

‘एवं पिणद्धसंवरवम्मो’ एव पिणद्धसवरकवचं, सम्यक्ववाहणारूढः, श्रुतज्ञानचापधर, ध्यानवित्तपोभयशरः ॥१८४९॥

संजमरणभूमिण्ण कम्मरिचमू पगजिणिय सव्वं ।

पावदि संजमजोहो अणोवमं मोक्खरज्जसिहिं ॥१८५०॥

‘संजमरणभूमिण्ण’ संयमयुद्धाङ्गणे ‘कम्मरिचमू’ सर्वकर्माभूय प्राप्नोति मयतयोप’ अनुपमा बोधराज्य-श्रियं । निर्जरा ॥१८५०॥

शा०—जैसे सुवर्ण पाषाणको महान् अग्निमें फूँकने पर उसमेंसे मोटा अलग हो जाता है । उसी प्रकार तपरूपी आगसे तपानेपर कर्मरूपी धातुसे धरा हुआ जीव शुद्ध हो जाता है ॥१८४७॥

इस परसे कोई शंका करता है कि यदि तपमें जीव शुद्ध होता है तो तप ही करना चाहिए, संवरकी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर देने हैं—

शा०—जिनागममें संवरके बिना केवल तपमें ही सब कर्मों का विनाश नहीं कहा है । क्योंकि यदि तालाबमें जल आता रहता है तो तालाबको पूर्णरूपमें सुखाया नहीं जा सकता ॥१८४८॥

शा०—अतः जिसने संवररूप कवच धारण किया है, जो सम्यक्वरूपी रथपर सवार है, और श्रुतज्ञानरूपी धनुष लिये हुए है वह संयमरूपी योद्धा संयमरूपी रणभूमिमें ध्यान आदि तपोमय वाणोंके द्वारा ममत्त कर्मरूपी शत्रुओंकी सेनाको पगजित करके मोक्षरूपी अनुपम राज्य-लक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥१८५०॥

निर्जरानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

धर्मगुणानुभवं क्षणायोच्यते—

जीवो मोक्षपुरस्कडकम्लाणपरंपरस्त जो भागी ।

भावेणुववज्जदि सो धम्मं तं तारिसद्दुदारं ॥१८५१॥

'जीवो मोक्षपुरस्कडकम्लाणपरंपरस्त जो भागी' यो जीवः मोक्षावसानकल्याणपरंपराया भाजनभूतः । स धर्म भावेन प्रतिपद्यते, त तादृशमुदारं सकलसुखसंपादनधम महान्तं धर्मं ॥१८५१॥

धम्मणेण होदि पुज्जो विस्ससणिज्जो पिजो जसंसी य ।

सुहसज्जो य णराणं धम्मो मणणिव्वुदिको य ॥१८५२॥

'धम्मणेण होदि पुज्जो' धर्मेण पूज्यो भवति । विस्वसनीयः प्रियो यशस्वी च भवति, सुखेन च साध्यो नराणा धर्मः । उक्तं च—पूठे मृते च चिहिते मृते च धर्मं फलममो भवतीति, मनसो निर्वाति च करोति ॥१८५२॥

जावदियाइं कम्लाणाइं माणुस्स-देवलोणे य ।

आवहदि ताण सव्वाणि भोक्खं सोक्खं च वरधम्मो ॥१८५३॥

'जावदियाइं कम्लाणाइं' यावति कल्याणानि स्वयं मनुष्यलोके च तानि सर्वाणि कर्षति धर्मो मोक्षं सुखं च ॥१८५३॥

ते धण्णा जिणधम्मं जिणदिट्ठं सव्वदुक्खणासयरं ।

पडिदण्णा दिट्ठिदिया विसुद्धमणसा णिरावेक्खा ॥१८५४॥

'ते धण्णा' पुण्यवन्तः । जिनदृष्ट धर्मं सर्वदुःखनाशकरं प्रतिपन्ना शुद्धेन मनसा दृढवृत्तिका, निर्व्याकुलाः ॥१८५४॥

अब धर्मानुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

शा०—जो जीव सुदेवत्व सुमानुषत्व आदि कल्याण परम्पराके साथ अन्तमें मोक्षको प्राप्त करता है वही समस्त सुख सम्पादनमें समर्थ महान् धर्मको भावपूर्वक धारण करता है । अर्थात् भावपूर्वक धर्मका पालन करनेसे सांसारिक सुखके साथ मोक्षसुख प्राप्त होता है ॥१८५१॥

शा०—धर्मसे मनुष्य पूज्य होता है, सबका विश्वासपात्र होता है, सबका प्रिय और यशस्वी होता है । मनुष्य धर्मको सुखपूर्वक पालन कर सकते हैं । कहा भी है—धर्मकी श्रद्धा करनेपर, धर्मको सुननेपर, धर्मको जानने और धर्मका स्मरण करनेपर फलकी प्राप्ति होती है । तथा धर्मसे मनको शान्ति मिलती है ॥१८५२॥

शा०—मनुष्यलोक और देवलोकमें जितने कल्याण हैं उन सबको उत्तमधर्म लाता है और अन्तमें मोक्षसुखको भी लाता है ॥१८५३॥

शा०—जिनहोंने जिन भगवान्के द्वारा कहे गये और सब दुःखोंका नाश करनेवाले जिन धर्मको दृढ़ धैर्यके साथ निर्मल मनसे और बिना किसी प्रकारकी अपेक्षाके धारण किया वे पुण्य-शाली हैं ॥१८५४॥

१. ई सगो य मणुजलोणे य -मु० ।

बिसयाडवीए उम्मग्गविहरिदा सुचिरमिदियस्सेहिं ।
जिणदिह्वणिब्बदिपहं घण्णा ओदरिय गच्छंति ॥१८५५॥

'बिसयाडवीए' विषयाटव्यां उन्मार्गविहारिण सुचिरमिन्द्रियासर्वैर्बलान्नीता सन्त ये च जिनदृष्ट-
निवृत्तिमार्गं गच्छन्ति ते घण्णा इन्द्रियास्वेभ्योऽप्यरह्य ॥१८५५॥

रागेण य दोसेण य जगे रमंतम्मि वीदरागम्मि ।
धम्मम्मि गिरासादम्मि रदी अदिदुल्लहा होइ ॥१८५६॥

'रागेण य दोसेण य जगे रमंतम्मि' रागदोषाभ्यां सह जगति क्रीडति । कीतरागे धर्मे निरास्वादे रति-
रतीव दुर्लभा भवति । उक्तं च—

कुलं च रूपं च यशश्च कीर्तिर्बलं च विद्या च सुखं च लक्ष्मीः ।
आरोग्यमात्रं पितृसप्तप्रयोगो द्वेष्यैर्वियोगोऽपि च वीर्षमायुः ॥
स्वर्गश्च मोक्षश्च मनोपविष्टा भावा इत्येऽप्ये च जगत्प्रशस्ताः ।
धर्मेण शक्या जगतीह लब्धुः, हित्वाय तं कर्तुं मतोऽर्हसि त्वं ॥ [११८५६॥]

सहलं माणुसजम्भं तस्स हवदि जस्स चरणमणवज्जं ।
संसारदुक्खकारयकम्भागमदारसंरोधं ॥१८५७॥

'सहलं माणुसजम्भं' तस्य मनुष्यस्य जन्म सफलं भवति यस्य चरणमनवच । कीदृज ? समारदु ख-
सपादनेघातकर्मणिमद्वारनिरोधकारी । अनेन चारित्रमिह शब्दो धर्मत्वेनोच्यत इत्याख्यात भवति ॥१८५७॥

जह जह जिन्वेदसमं वेरग्गदयादमा पवड्ढति ।
तह तह अब्भासयरं णिन्वाणं होइ पुरिसस्स ॥१८५८॥

शा०—जो विषयरूपी वनमें इन्द्रियरूपी घोड़ोंके द्वारा बलपूर्वक ले जाये जाकर चिरकालसे
कुमार्गमें विहार करते हैं और एक दिन उन इन्द्रियरूपी घोड़ोंसे उतरकर जिन भगवान्के द्वारा
कहे मोक्षमार्गमें चलने लगते हैं वे धन्य है ॥१८५५॥

शा०—टी०—जो राग और द्वेषपूर्वक संसारके भोगोंमें फँसे हैं, स्वादरहित वीतराग धर्ममें
उनकी रुचि होना अतिदुर्लभ है । कहा भी है—जिनेन्द्रदेवने कुल, रूप, यश, कीर्ति, धन, विद्या,
सुख, लक्ष्मी, आरोग्य, इष्टसंयोग, अनिष्ट वियोग, दीर्घ आयु, स्वर्ग, मोक्ष तथा अन्य भी जगत्में
प्रशस्त भाव कहे हैं । इस जगत्में उन्हें धर्मके द्वारा प्राप्त करना शक्य है । अतः तुम अपने हितके
लिये धर्माचरण करो ॥१८५६॥

शा०—संसारके दुःखोंको करनेमें समर्थ कर्मोंके आनेके द्वारको रोकनेवाला चारित्र
जिसका निर्दोष है उसका मनुष्य जन्म सफल है । यहाँ धर्म शब्दसे चारित्र कहा है, इससे यह
प्रकट होता है ॥१८५७॥

शा०—जैसे-जैसे मनुष्यमें वैराग्य, निर्वेद, उपशम, दया और चित्तका निग्रह बढ़ता है
वैसे-वैसे मोक्ष निकट आता है ॥१८५८॥

यथा यथा निर्वेद उपशमो वैराग्यं दया चित्तनिग्रहश्च प्रवर्तते तथा तथा समीपतरं भवति निर्वाणं पुरुषस्य ॥१८५८॥

धर्मं स्तीति—

मम्मद्दृसणत्तुं दुवालसंगारयं जिणिदाणं ।

वयणेमियं जगे जयइ धम्मचक्कं तवोभारं ॥१८५९॥

‘सम्मद्दृसणत्तुं’ मम्यदर्शनतुम्ब द्वादशाङ्कारक व्रतनेमिक तपोभारं जिनेन्द्राणा धर्मचक्रं जगति जयति ॥१८५९॥ धम्मं ।

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा कथ्यते—

दंमणसुदतवचरणमइयम्मि धम्मम्मि दुल्लहा बोही ।

जीवस्स कम्मसत्तस्स संसगतस्स संसारे ॥१८६०॥

‘दंमणसुदतवचरणमइयम्मि’ दर्शनश्रुततपश्चरणमये धर्मे दुर्लभा बोधिर्जीवस्य कर्मसत्तस्य संसारे संसरत ॥१८६०॥

तस्या दुर्लभतां प्रकटयत्युत्तरप्रबन्धेन—

संसारम्मि अणंते जीवाणं दुल्लहं मणुस्सचं ।

जुगसमिलासं जोगो जह लवणजले समुद्दम्मि ॥१८६१॥

‘संसारम्मि अणंते’ अनन्तसंसारं जीवाना मनुष्यत्वं दुर्लभं पूर्वापरसमुद्रनिसितसमुगतत्संबधिकाष्ठ-संयोग इव ॥१८६१॥

शा०—जिनेन्द्रका धर्मचक्र जगत्में जयशील होता है। सम्यग्दर्शन उसकी नाभि है, द्वादशांग उसके अर हैं, व्रत नेमि है और तप धारा अर्थात् दूसरी नेमि है ॥१८५८॥

विशेषार्थ—जैसे गाड़ीके चक्केमें अर होते हैं, बीचमें उसकी नाभि होती है। उसी प्रकार जिनेन्द्रके धर्मचक्रकी नाभि सम्यग्दर्शन है। द्वादशांगवाणी या बारह तप उसके ढण्डे हैं। और व्रत नेमि है। इनके आधारपर वह धर्मचक्र गतिशील होता है ॥१८५९॥

धर्मानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

अब बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

शा०—संसारमें भटकते हुए कर्मलिप्त जीवके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् तपश्चरणमयी धर्ममें बोधि अर्थात् रत्नत्रयकी प्राप्ति दुर्लभ है ॥१८६०॥

आगे उसकी दुर्लभता बतलाते हैं—

शा०—जैसे लवणसमुद्रके पूर्व भागमें जुआ और पश्चिम भागमें उसकी लकड़ी डाल देनेपर दोनोंका संयोग दुर्लभ है। उसी प्रकार अनन्त संसारमें मनुष्य भवका पाना दुर्लभ है ॥१८६१॥

मनुजताया दुर्लभत्वे कारणमाह—

अशुभपरिणामबहुलक्षणं च लोगस्स अदिमहन्ल्लसं ।

जोगिवहुसं च कुण्दि सुदुन्ल्लहं माणुसं जोगी ॥१८६२॥

‘अशुभपरिणामबहुलक्षणं च’ अशुभपरिणामानां मिथ्यात्वासयमकषायप्रमादानां परिणामानां बहुत्व मनुजयोनिदुर्लभता करोति । मनुजरहितलोकस्यानिमहत्त्वं च तत् दुर्लभता करोति । असक्येया हि द्वीपसमुद्रका नारकावस्था, स्वर्गपटलानि, इतरश्च लोकाकाशमिमहत् । योनीनां बहुत्व चेतारासा निवन्धनं तद्दुर्लभतायाः ॥१८६२॥

अपरामपि दुर्लभतापरम्परा दशयत्युत्तरगाथा—

‘देसकुलरूपमारोगमाउगं बुद्धिसवणगहणाणि ।

लद्धे वि माणुसत्ते ण हुंति सुलभाणि जीवस्स ॥१८६३॥

‘देसकुलरूपमारोगं’ देशकुलरूपमारोग्यं । आयुग्मयायुक् । ‘बुद्धिसवणगहणाणि’ बुद्धिश्रवणग्रहणानि । लब्धेऽपि मनुष्यत्वे मनुष्यगतिनामकर्मावयात्, जिनप्रणीतधर्मप्रगल्भमानवबहुलो देशो दुर्लभ । अन्तर्द्वीपानां शक्यवनकिरातबर्बरपारसीकसिंहलादिदेशानां धर्मज्ञमानवरहितानामतिबहुलत्वात् । लब्धेऽपि देशे मुजनावामे

मनुष्य पर्यायकी दुर्लभताका कारण कहते है—

गा०—टी०—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और प्रमादरूप अशुभ परिणामोंकी बहुतायतक कारण मनुष्य योनि दुर्लभ है । तथा मनुष्य गृहित लोक अतिमहान् है इसमें भी मनुष्ययोनि दुर्लभ हो क्योंकि असंख्यात द्वीप समुद्रों तक तो नरकावास है, ऊपर स्वर्गपटल । शेष लोकाकाश भी महान् है । तथा जीवोंकी योनियां बहुत हैं । इससे भी मनुष्य योनि दुर्लभ है ॥१८६२॥

विशेषार्थ—लोकके मध्यमें पैतालीस लाख योजन प्रमाण क्षेत्र ही मनुष्य लोक है । अर्थाई द्वीपकेबाहर सब तिर्यञ्च ही रहते हैं । नारकी रहते हैं । ऊपर देव रहते हैं । तथा जंवाका योनियां भी बहुत हैं इसके साथ ही अशुभ परिणामोंकी भी बहुलता है । शुभ परिणाम ज्ञानमें ही मनुष्यगतिमें अच्छा क्षेत्र, जाति, कुल आदि उपलब्ध होते हैं तभी तो मनुष्य होकर धर्मलाभ हो सकता है । मनुष्य पर्याय भी पाई किन्तु देश, कुल, जाति ठीक नहीं मिले तो मनुष्य पर्याय पाकर भी क्या लाभ हुआ । अतः धर्मसाधनके योग्य मनुष्य पर्याय दुर्लभ है ॥१८६२॥

आगे और भी दुर्लभताके कारण कहते हैं

गा०—जीवके मनुष्य पर्याय प्राप्त करने पर भी देश, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, श्रवण, ग्रहण सुलभ नहीं हैं ॥१८६३॥

टी०—मनुष्यगति नाम कर्मके उदयसे मनुष्यपर्याय पानेपर भी जिन भगवान्के द्वारा कहे गये धर्ममें दक्ष मनुष्योंसे भरा हुआ देश प्राप्त होना दुर्लभ है । क्योंकि धर्मके ज्ञाता मनुष्योंसे रहित अन्तर्द्वीप तथा शक, यवन, किरात, बर्बर, पारसीक और सिंहल आदि देश अनेक हैं ।

१. ‘देसकुल जाइ रूपं, आरोग्यं आउगं च पुण्यं च ।

बुद्धिसवणगहणाणि लद्धे णरसोहि दुत्तहं होई ॥’—जा० ।

ब्राह्मणशास्त्रियवैष्यादिकं कुलं दुराधिगमनीयं सुकुला नामल्पत्वात् असकृन्नीचैर्भोग्नबन्धनात् । मिथ्यास्त्वोदयात् प्रायेण प्राणिनो गुणान् गुणिजनं च निवन्त्याक्रोशन्ति, निगुणोऽपि कुलाग्रियानमतिमहदुद्धृति, तेन नीचैर्गोत्रगुण-
विनोति, गुणे गुणिजने चानुरागः कुलाग्रियानतिरस्कारणं वा कदाचिदेव भवति इति बोधनं कुलं कदाचिदेव
कम्प्यते । चारित्रमोहोदयात् बद्धजीवनिकायाबाधाकरणे सततमुद्यतः शरीररूपशोभोन्मूलनसंपादनोपाजिनेनाशुभ-
रूपनामकर्मणा विरूपो बहुशो भवति । जीवदयां कदाचिदेव क्वचिदेव करोति । प्रशस्तरूपनामकर्मलम्बं सौक्यमपि
स्केधेन लम्प्यते । परजीवसंतापकरणे क्रुतोत्साहः सर्वदैवेति रोगो भवति बहुधा; परसंतापपरिहारं वैयावृत्यं च
कदाचिदेव करोति । इति नीरोगताः कादाचित्की दुर्लभा । परेषां प्रायेणानुनिहन्तीति स्वस्पायुरेवायं जनो
जायते । कदाचिदेवाहिंसाप्रतपरिपालनाच्चिरंजीविता सदा न लम्प्यते । समीचीनज्ञानिजनदूषणात् तन्मात्स्यार्थत्
तद्विष्णकरपातदासादनाप्यक्षुरादीन्द्रियोपघातकरणाच्च मतिश्रुतज्ञानावरणे वराको बध्नातीति दुर्मेधा
भवति । बहुषु जन्मशतसहस्रेषु मतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमात् शुभपरिणामोपनीतात् कदाचिदेव विवेक-
कारिणी बुद्धिर्भवति । सत्यामपि बुद्धौ हिताहितविचारणक्षम धर्मश्रवणमतिदुर्लभं, यतीना विरागद्वेषाणां,
समीचीनज्ञानप्रकाशानोन्मूलितदुर्मेधमोहान्धतानां, अवैषजीवनिकायदयाक्रियोद्यताना असीलम्यात्, तीत्रमिथ्या-
वर्शानोनीतगुणिजनद्वेषेण मिथ्याज्ञानलबलाभदुषिदग्धतया स्वगृहीततत्त्परवशतया आलस्येन वा यतीना

धर्मज्ञानोसे वसा ह्रुवा देश मिलनेपर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि कुल मिलना कठिन है क्योंकि अच्छे कुल बहुत कम है । और इसका कारण यह है कि जीवोंके निरन्तर नीच गोत्रका बन्ध हुआ करता है । मिथ्यात्वके उदयसे प्रायः प्राणी गुणां और गुणीजनोकी निन्दा करते हैं, उनके सम्बन्धमें बका करते हैं । गुणहीन भी अपने कुलका नव अभिमान रखते हैं । उससे वे नीच गोत्रका बन्ध करते हैं । गुणोंमें और गुणीजनोंमें अनुराग तथा कुलके अभिमानका तिरस्कार कम ही देखा जाता है । इसलिये जीवोंको अच्छा कुल कम ही मिलता है । चारित्रमोहके उदयसे जीव छह कायके जीवोंको बाधा देनेमें निरन्तर लगे रहते हैं वे उनके रूपकी गोभाको विनष्ट करते हैं । उससे उपाजित अशुभ नामकर्मसे जीव अधिकतर विरूप होते हैं । जीवोंपर दया कम ही लोग करते हैं । अतः प्रशस्त रूपनामकर्मके द्वारा प्राप्य सुन्दर रूप भी वड़े कष्टसे प्राप्त होता है । प्राणी सर्वदा दूसरे जीवोंको संताप देनेका उत्साह रखते हैं । इसलिये अधिकतर रोगी होते हैं । दूसरोंका कष्ट दूर करनेवाली वैयावृत्य कम ही करते हैं । इसलिये नीरोगता भी दुर्लभ है । प्राणी प्रायः दूसरोंकी आयुका घात करते हैं उन्हें मार देते हैं । इससे वे अल्प आयुवाले होते हैं । कदाचित् ही अहिंसाप्रतका पालन करनेसे चिरजीवि होते हैं, सदा चिरजीवी नहीं होते । सच्चे ज्ञानिजनोंको दूषण लगानेसे, उनसे डाह करनेसे, उनके ज्ञानाराधनमें विघ्न डालनेसे, उनकी आसादना करनेसे तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंका घात करनेसे प्राणी मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञाना-
वरण कर्मोंका बन्ध करनेसे बुद्धिहीन होते हैं । लाखों जन्मोंमेंसे कुछ ही जन्मोंमें शुभपरिणामवश मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेसे विवेकशील बुद्धि प्राप्त होती है । बुद्धि प्राप्त होनेपर भी हित अहितके विचारमें समर्थ धर्मका सुनना दुर्लभ है । क्योंकि रागद्वेषसे रहित, सच्चे ज्ञानके प्रकाशनसे दुर्मेध मोहान्धकारका उन्मूलन करनेवाले और समस्त जीवोंपर दया करनेवाले मुनिगण दुर्लभ हैं । तथा तीत्र मिथ्यादर्शनके कारण गुणीजनोंसे द्वेष करनेवाले या बोधा-सा मिथ्याज्ञान प्राप्त करके अपनेको बड़ा विद्वान् माननेवाले या अपने धाने हुए तत्त्वके

स्वपरोद्धरप्रवीणतापरिज्ञानाच्च न ङीकते यतिजनमिति धर्मश्रवणस्य दुर्लभता । व दान्धिवेव पातोपशमासति-
 ज्ञानानु ङीकनेऽपि नवपुरस्सरे संप्रप्ते प्रशस्तवागनुयायिनि गुरुजने चाभिमुखं सति श्रवण भवतीति दुर्लभता
 अथवस्य । किञ्च यतिजननिकेतनमुपगतोऽपि यदुच्छया निद्राति, स्वय परेषा यत्किञ्चिदसार वदति, मुग्धाना
 वा वचनं श्रु षोति न विनयेन ङीकते इति वा दुर्लभं श्रवण । श्रुतेऽपि धर्मे तत्परिज्ञानमसिदुर्लभं श्रुतज्ञाना-
 वरणोदयात् । दुःकरत्वं मनःप्रणिधानस्य कदाचिदप्यश्रुतपूर्वत्वात्, सुप्तत्वाच्च जीर्वादिदत्त्वस्य । श्रुतज्ञाना-
 धिकरणे क्षयोपशमः मनःप्रणिधानं वक्तुर्वचनसौष्ठव चेति सकलमिदममुलभमिति धर्मज्ञान दुर्लभं । ज्ञातेऽपि
 धर्मे अस्ति धर्मो जीवपरिणामसम्यक्त्वज्ञानचरणतपोदानपूजात्मकोऽभ्युदयनिश्चयसफलदायी जिनैर्ब्यवहितरूप-
 इति श्रद्धानं न सुखेन लभ्यते, दर्शनमोहोदयात् । उपदेशकालकरणलब्धयश्च कादाचित्का इति ॥१८६३॥

लद्रेसु वि तेसु पुणो बोधी जिणसासणम्मि ण हु सुलहा ।

कुपघाकुलो य लोणो जं बलिया रागदोसा य ॥१८६४॥

'लद्रेसु वि तेसु पुणो' लब्धेष्वपि तेषु मनुजभवादिषु बोधिदीक्षाभिमूला श्रद्धेन सुलभा प्रवृत्तत्वात्म-
 यमघातिकर्मण । कुमागिकुलत्वात् लोकस्य बहूनामाचरणमेव प्रमाणयन् याकचनान् चरति, बलवन्तश्च राग,या
 ज्ञानश्रद्धानोपेतमपि न सम्भारं ङीकितुं वदति ॥१८६४॥

परवश मनुष्योके कारण या यतिगणके आलस्यसे अथवा अगना और दूसरोका उद्धार करनेमें
 दक्ष न होनेसे यतिजन भी नहीं आते है इससे भी धर्मश्रवणको दुर्लभता है । कदाचित् पापका
 उपशम होनेसे यतिजनके पधारनेपर भी विनयपूर्वक प्रश्न करनेपर और प्रशस्त वचन बोलनेवालं
 गुल्के सन्मुख होनेपर धर्म सुननेको मिलता है इसलिये धर्मश्रवणकी दुर्लभता है । अथवा मुनिगणके
 वास स्थानपर जाकर भी सोता है स्वय जो कुछ असार वचन बोलता है या मूर्खों के वचन
 सुनता है, विनय पूर्वक बर्ताव नहीं करता । इससे भी धर्म श्रवण दुर्लभ है ।

धर्म सुननेपर भी श्रुतज्ञानावरणका उदय होनेसे उसको समझना अतिदुर्लभ है । तथा
 समझनेपर भी उसमें मन लगाना दुष्कर है क्योंकि पहले कभी नहीं मुना था । तथा जीर्वादि तत्त्व
 भी सूक्ष्म है । श्रुतज्ञानका क्षयोपशम, मनका लंगना, वक्ताका वचन सौष्ठव ये सब दुर्लभ होनेसे
 धर्मज्ञान दुर्लभ है, धर्मका ज्ञान होनेपर भी 'जिन भगवान्के द्वारा कष्ट हुआ स्वर्ग और मोक्षरूप
 फलको देनेवाला, जीवके सम्यक्त्व, ज्ञान चारित्र्य तप दान पूजा भावरूप धर्म है' ऐसा श्रद्धान
 दुर्लभ है क्योंकि जीवोंके दर्शनमोहका उदय रहता है । उपदेशलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि
 भी सदा नहीं होती, कदाचित् ही होती है ॥१८६३॥

शा०-टी०-मनुष्यभव आदिके प्राप्त होनेपर भी बोधि' अर्थान् जिन दीक्षाको ओर
 अभिमुख बुद्धिका होना सुलभ नहीं है क्योंकि जीवोंके मयमको धारनेवाला कर्म प्रबल होता है ।
 तथा यह लोक मिथ्यामतोंसे भरा है । अतः बहुत लोग जिम धर्मका आचरण करते है उसे ही
 प्रमाण मानकर जो कुछ मनमें आता है, करते है । रागद्वेषके बलवान होनेसे ज्ञान और श्रद्धानसे
 युक्त भी मनुष्य सम्भारणपर नहीं चलता ॥१८६४॥

इय दुल्लहाए बोहीए जो पमाइज्ज कह वि लद्धाए ।

सो उल्लहइ दुक्खेण रदणगिरिसिहरमाकहिय ॥१८६५॥

‘इय दुल्लहाए बोहीए’ उक्तेन क्लेण दुर्लभायां दीक्षाभिमुक्तायां बुद्धौ लब्धायामपि यः प्रमाद्यत्पत्नी
रत्नगिरिसिखरमाकह्य ततः पतति प्रमादी ॥१८६५॥

फिडिदा संती बोधी ण य सुल्लहा होइ संसरंतस्स ।

पडिदं समुहमज्झे रदणं व तमंचयारम्मि ॥१८६६॥

‘फिडिदा संती’ बोधिविनष्टा सती दीक्षाभिमुक्ता बुद्धिः पुनर्न सुलभा भवति संसरतः । अन्धकारे
समुद्रमध्ये पतितं रत्नमिव ॥१८६६॥

ते धण्णा जे जिणवरदिट्ठे चम्मम्मि होंति संबुद्धा ।

जे य एवण्णा चम्मं भावेण उवड्ढिदमदीया ॥१८६७॥

स्पष्टोत्तरा गाथा । बोधित ॥१८६७॥

प्रस्तुतमथंमुपसहरति—

इय आलंबणमणुपेहाओ चम्मस्स होंति ज्ञाणस्स ।

ज्ञाणंतो ण वि णस्सदि ज्ञाणे आलंबणेहिं सुणी ॥१८६८॥

‘इय आलंबणं’ एवमालम्बनं भवन्त्यनुप्रेक्षा धर्मध्यानस्य । ध्याने प्रवृत्तो न विप्रणयति ध्याननिमित्ता-
लम्बनेभ्यो यति । यो हि यदस्तुत्वरूपे प्रणिहितचित्तः सततं वस्तुयाथात्म्यानं प्रच्यवते तस्याविस्मर-
णात् ॥१८६८॥

गा०—इस प्रकार उक्त क्रमानुसार दीक्षाके अभिमुख दुर्लभ बुद्धि प्राप्त होनेपर भी जो
प्रमाद करना है वह प्रमादी सुमेरुके शिखरपर चढ़कर भी उससे गिरता है ॥१८६५॥

गा०—जैसे अन्धकारमे समुद्रके मध्यमें गिरा रत्न पाना दुर्लभ है वैसे ही एक बार प्राप्त
होकर नष्ट हुई दीक्षाभिमुख बुद्धिरूप बोधि संसारमे भ्रमण करनेवाले जीवको प्राप्त होना
दुर्लभ है ॥१८६६॥

गा०—जो जिन भगवान्के द्वारा उपदिष्ट धर्ममें प्रबद्ध होते हैं वे धन्य हैं । तथा जो
दीक्षाभिमुख बुद्धिको प्राप्त करके भावपूर्वक धर्मको अपनाते हैं वे तो महाधन्य हैं ॥१८६७॥

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

प्रस्तुत चर्चाका उपसंहार करते है—

गा०—इस प्रकार अनुप्रेक्षा धर्मध्यानका आलम्बन होती है । ध्यान करनेवाला साधु
ध्यानमें निमित्त आलम्बनोंका आश्रय लेनेसे ध्यानसे च्युत नहीं होता । जो जिस वस्तुके स्वरूपमे
अपने मनको लगाता है वह उस वस्तुके यथार्थस्वरूपसे च्युत नहीं होता, क्योंकि वह उसे भूलता
नहीं है ॥१८६८॥

ध्यातुरालम्बनबाहुल्यं दर्शित्युत्तरा गाथा—

आलंबनं च वायण पुच्छणपरिवृणानुपेहाओ ।

धम्मस्स तेण अविक्कहाओ सव्वाणुपेहाओ ॥१८६९॥

आलंबणेहिं भरिदो लोगो झाइहुमणस्त खवयस्स ।

जं जं मणसा पिच्छदि तं तं आलंबणं हवइ ॥१८७०॥

'धम्मस्स आलंबणेहिं भरिदो' ध्यानस्थालम्बनं पूर्णो लोको ध्यातुकामस्य क्षपकस्य यत्तममनसा पश्यति तत्तवालम्बनं भवति ॥१८६९॥१८७०॥

धर्मध्यानं व्याख्याय ध्यानान्तरं व्याख्यातुमुत्तरप्रबन्ध—

इच्छेवमदिककतो धम्मज्जाणं जदा हवइ खवओ ।

सुककज्जाणं झायदि तचो सुविमुद्लेस्साओ ॥१८७१॥

'इच्छेवमदिककतो' धर्मध्यानमेव व्यावृत्तिरूपमतिक्रान्तो यदा भवत् क्षपक शुक्लध्यानमती ध्याति सुविमुद्लेक्ष्यममन्वित । परिणामश्रेण्या हि उत्तरोत्तरानुगुणतया स्थित क्रमेणैव प्रवर्तते । न हि प्रथमे सोपानेऽस्थापितचरण द्वितीयादिक मोपानमारोह प्रभवति । एवमप्रमत्तो धर्मध्याने प्रवृत्त एव शुक्लध्यानमर्हतीति स्वर्णानेन ज्ञापित ॥१८७१॥

चतुर्विधशुक्लध्यान नामतो दर्शयति गाथाद्वयम्—

ज्जाणं पुधत्तमवितक्कसवीचार हवे पढमसुक्कं ।

सवितक्केक्कत्तावीचारं ज्जाणं विदियसुक्कं ॥१८७२॥

आगेकी गाथासे ध्यान करनेवालेके अनेक आलम्बन बतलाते हैं—

गा०—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना तथा अनुप्रेक्षाएँ नामक स्वाध्याय धर्मध्यानके आलम्बन है । अतः सब अनुप्रेक्षा धर्मध्यानके अनुकूल आलम्बन है अर्थात् उनको लेकर धर्मध्यान किया जाता है ॥१८६९॥

ध्यान करनेके इच्छुक क्षपणके लिये यह लोक आलम्बनोंमें भरा हुआ है । वह मनको जिस ओर लगाता है वही आलम्बन हो जाता है ॥१८७०॥

धर्मध्यानका कथन करके शुक्लध्यानका कथन करते हैं—

गा०—टी०—इस प्रकार ऊपर कहे धर्मध्यानको जब क्षपक पूर्ण कर लेता है तब वह अति विशुद्ध लेश्याके साथ शुक्लध्यानको ध्याता है । क्योंकि परिणामोंकी पंक्ति उत्तरोत्तर निमलताको लिये हुए स्थित है अतः वह क्रमसे ही होता है । जिसने पहली सीढ़ीपर पैर नहीं रखा वह दूसरी सीढ़ीपर नहीं चढ़ सकता । अतः धर्मध्यानमें परिपूर्ण हुआ अप्रमत्त संयमी ही शुक्लध्यान करनेमें समर्थ होता है, यह बात इस गाथाके द्वारा कही है ॥१८७१॥

आगे दो गाथाओंके द्वारा चार प्रकारके शुक्लध्यानोंके नाम कहते हैं—

गा०—पहला शुक्लध्यान पृथक्त्व सवितकं सविचार नामक है । दूसरा शुक्लध्यान सवितकं एकत्व अविचार नामक है ॥१८७२॥

'अज्ञानं बुभुक्षतस्वित्तर्कसवीचार्' ध्यानं पृथक्त्वसवित्तर्कसवीचार् प्रथममुक्तं भवति । 'सवित्तर्कसवीचार्' सवित्तर्कसवीचार् द्वितीयं मुक्तध्यानं ॥१८७२॥

सुषुप्तकिरियं तु तदियं सुषुप्तज्ञानं जिनेहि पृथक्च ।

वेति चउत्थं सुषुक्तं जिना समुच्छिन्नकिरियं तु ॥१८७३॥

'सुषुप्तकिरियं तु तदियं' तृतीयं मुक्तध्यानं जिनेः प्रज्ञानं सूक्ष्मकिमिति । 'वेति चउत्थं सुषुक्तं' बुभुक्षतं सुषुक्तं जिनाः समुच्छिन्नक्रिय ॥१८७३॥

पृथक्त्वसवित्तर्कसवीचार् व्याचष्टे गाथाप्रवेशे—

दग्धाद् अणेयाद् तीर्हि वि ओगेहिं ज्ञेज ज्ञायति ।

उवसंतमोहजिज्ञा तेज पुषच चि तं मणिया ॥१८७४॥

'दग्धाद् अणेयाद् तीर्हि वि ओगेहिं ज्ञेज ज्ञायति' द्रव्याप्यनेकानि विभिर्योः परावर्तमाना येन चित्तयन्त्युपशान्तमोहनीयास्तेन पृथक्त्वमिति प्रथमध्यानमुक्तम्, एतदर्थं कथयति—अप्यतम्यद्रव्यमवलम्ब्य प्रवृत्तानाम्येनाम्येन योगेन प्रवृत्तस्यात्मनो भवतीति पृथक्त्वव्यपदेशो ध्यानस्येति ॥१८७४॥

अग्हा सुदं वित्तर्कं अग्हा पुष्पगदजत्वकुसलो य ।

ज्ञायदि ज्ञानं एदं सवित्तर्कं तेज तं ज्ञानं ॥१८७५॥

'अग्हा सुदं वित्तर्कं' यस्मात् श्रुतं वित्तर्कं यस्मात् पूर्वगतायकुसलो ध्याननेतत्प्रवर्तयति । तेन तत् ध्यानं सवित्तर्कं । चतुर्वसपूर्वाणां श्रुतत्वात्तदुपविष्टोऽर्थः साहचर्यात् वित्तर्कसाधनेनोच्यते । तेन वित्तर्कगार्भश्रुतेन

शा०—जिन भगवान्नेन तीसरा शुक्लध्यान सूक्ष्मक्रिय कहा है और चतुर्थं शुक्ल समुच्छिन्न-क्रिय कहा है ॥१८७३॥

आगे तीन गाथाओंसे पृथक्त्व सवित्तर्क सविचारका कथन करते हैं—

शा०—उपशान्त मोहनीय गुणस्थानवाले यतः तीन योगिके द्वारा अनेक द्रव्योंको बदल बदलकर ध्यान करते हैं इससे इसे पृथक्त्व कहते हैं ॥१८७४॥

विशेषार्थ—प्रथम शुक्लध्यानका नाम पृथक्त्व है क्योंकि इसमें योगपरिवर्तनके साथ ध्येयका भी परिवर्तन होता रहता है इसलिये इसको पृथक्त्व कहते हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यानके स्वामियोंको लेकर मतभेद पाया जाता है। तत्त्वार्थसूत्रमें श्रेणीसे नीचे धर्मध्यान और श्रेणीमें शुक्लध्यान कहा है। श्रेणि आठवें गुणस्थानसे प्रारम्भ होती है। अतः आठवेंसे ही पृथक्त्व शुक्लध्यान कहा है। किन्तु यहाँ ग्यारहवें गुणस्थानमें पृथक्त्व शुक्लध्यान कहा है। स्वैताम्बर परम्परा-में भी ऐसा ही माना गया है। वीरसेन स्वामीने धवला टीका (१३, पृ० ७४) में भी ऐसा ही लिखा है। उनका कथन है कि कषायसहित जीवोंके धर्मध्यान होता है और कषायरहित जीवोंके शुक्लध्यान होता है। क्योंकि कषायका अभाव होनेसे ही उसका नाम शुक्लध्यान है। इस प्रथम शुक्लध्यानमें ध्यानका और ध्येयका परिवर्तन होते रहनेसे इसे पृथक्त्व नाम दिया है ॥१८७४॥

शा०—ही०—यतः श्रुतज्ञानको वित्तर्क कहते हैं और यतः चौदह पूर्वोंमें आये अर्थमें कुशल १०५

ध्येयेन सह वर्तत इति श्रुतज्ञानमेवावलम्ब्य सवितर्कमित्युच्यते । अथवा वितर्कशब्दः श्रुतं तद्वदेत्युक्त्वात् । श्रुतज्ञानं ध्यानसंज्ञितं सह कारणेन श्रुतेन वर्तत इति सवितर्कः ॥१८७५॥

**अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संक्रमो हु वीचारो ।
तस्स य भावेण तयं सुप्ते उच्चं सवीचारं ॥१८७६॥**

'अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संक्रमो हु वीचारो' अर्थानां ये व्यञ्जनाः शब्दास्तेवामिति, वैयर्थिकरूपेण सम्बन्धः, न पुनरर्थानां व्यञ्जनानां वेति समुच्चयः । अर्थपृथक्त्वस्य पृथक्त्वशब्देनोपादानात् । योगानां च संक्रमो वीचारः 'तस्स य भावेण' वीचारस्य सद्भावेन । 'तयं' तद्वि शुकलध्यान सूत्रे मवीचारमित्युक्तं । 'अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला' इत्येवमा "विपरिमितानेकद्रव्यप्रत्यय परमश्रुतशक्तयोः श्रुतं ध्यानमिति पृथग्भूतद्रव्यालम्बनत्वेन रूपेण एकद्रव्यालम्बनात् एकत्ववितर्काद्भिद्यते योगत्रयसहायत्वादेकयोगाद्विचारादद्वितीयध्यानाद्भिद्यते । उपशान्तमोहनीयस्वामिकत्वात् क्षीणकषायस्वामिकाऽध्यानाद्भिद्यते । सवितर्कत्वेन अवितर्कम्या तृतीयचतुर्थीम्या विलक्षण । अत एव नामनिर्देशेनैव ध्यानान्तरविलक्षण पृथक्त्वसवितर्कसवीचारमिति लक्षणमुक्तं ॥१८७६॥

अर्थात् चौदह पूर्वों का ज्ञाता साधु ही इस शुक्लध्यानको ध्याता है इससे इस प्रथम शुक्लध्यानको सवितर्क कहते हैं । अर्थात् चौदह पूर्व श्रुतरूप होनेसे उनमें जो वस्तुनिर्वेचन है उसको भी वितर्क शब्दसे कहते हैं । प्रथम शुक्लध्यानमें उस अर्थश्रुतरूप वितर्कका ध्यान किया जाता है इससे उसे सवितर्क कहते हैं । अथवा श्रुतका कारण होनेसे वितर्क शब्दका अर्थ श्रुत है । ध्यान श्रुतज्ञानकी संज्ञा है उसका कारण श्रुत है । तो अपने कारण श्रुतके साथ रहनेसे उसे सवितर्क कहते हैं ॥१८७५॥

गा०-टी०—तथा अर्थोंके वाचक जो शब्द हैं उनके संक्रम अर्थात् परावर्तन को और योगोंके परिवर्तनको विचार कहते हैं । 'अत्थाण वंजणाण य' का अर्थ अर्थोंके और व्यञ्जनोंके परिवर्तनको वीचार कहते हैं इस प्रकारसे समुच्चयरूप नहीं लेना चाहिये क्योंकि पृथक्त्व शब्दमें अर्थका पृथक्त्व ग्रहण किया है । इस वीचारके होनेसे इस शुक्लध्यानको आगममें सवीचार कहा है ।

'अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः' इत्यादि परिमित अनेक द्रव्योंका ज्ञान करानेमें समर्थ श्रुतके वचनोंसे उत्पन्न हुआ यह ध्यान भिन्न-भिन्न द्रव्योंका आलम्बन करना है अतः एक ही द्रव्यका आलम्बन करनेवाले एकत्व वितर्क शुक्लध्यानमें भिन्न होता है । तथा पृथक्त्व वितर्क शुक्लध्यान तीनों योगोंकी सहायतासे होता है और एकत्ववितर्क एक ही योगकी सहायतासे होता है । इससे भी वह इससे भिन्न पड़ता है । पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यानका स्वामी उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती होता है और एकत्ववितर्कका स्वामी क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती होता है । इससे भी वह इससे भिन्न है । पृथक्त्ववितर्क वितर्क सहित होता है और तीसरा तथा चतुर्थ शुक्लध्यान वितर्क रहित होते हैं । अतः वह तीसरे और चतुर्थ शुक्लध्यानमें विलक्षण है । अतः पृथक्त्ववितर्क सवीचार नामसे ही अन्य ध्यानोंसे इसकी विलक्षणता प्रकट होती है । इस प्रकार प्रथम शुक्लध्यानका लक्षण कहा है ॥१८७६॥

१ माघपरि -आ० । २ यमपरशु -अ० म० । -माविपरिमितानेकद्रव्य प्रत्यायनपरशुद्ध-शुद्धारा० ।

जेनेमेव द्रव्यं जोगेनेमेव अण्णदरगेण ।

क्षीणकषायो ज्ञायादि तेनेमं तयं मणियं ॥१८७७॥

'जेनेमेव द्रव्यं जोगेनेमेव अण्णदरगेण' येनेकेमेव द्रव्यं अण्णदरेण योगेनेकेन सह वृत्तः, क्षीणकषायो ध्याति तेनेकत्वं तद्वृत्तितं एकद्रव्यालम्बनत्वात् । अण्णदरगेणवृत्तेरेवात्मन उल्लसत्तेरेकत्वं ध्यानं क्षीणकषाय-स्वामिकं भवेत् ॥१८७७॥

अम्हा सुदं वितक्कं अम्हा पुब्बघदअत्थक्कुसलो य ।

ज्ञायादि ज्ञाणं एवं सवितक्कं तेण तं ज्ञाणं ॥१७७८॥

अत्थाण वंजणाय य जोगाणं संकमो हु बीचारो ।

तस्स अभावेण तयं ज्ञाणं अविचारमिति वुचं ॥१८७९॥

एकद्रव्यालम्बनत्वेन 'परिमितानेकसर्वपर्यायद्रव्यालम्बनात् प्रथमध्यानात्समस्तवस्तुविषयाम्या तृतीय-वस्तुपर्याय्या च विलक्षणता द्वितीयस्थानया भाषया निवेदिता । क्षीणकषायग्रहेण उपशान्तमोहस्वामिक-त्वात् । सद्योगयोगकेवलस्वामिकाभ्या च भेदः । सवितर्कता पूर्ववदेव । पूर्वव्यावर्णितबीचाराभावाद-बीचारत्वं ॥१८७८-७९॥

विशेषार्थ—महापुराणके इक्कीसवें पर्वमें ध्यानका वर्णन करते हुए कहा है—अनेकपनेको पृथक्त्व कहते हैं और श्रुतको वितर्क कहते हैं । तथा अर्थ, व्यंजन और योगिके परिवर्तनको बीचार कहते हैं । इन्द्रियोंको वशमें करनेवाला मुनि एक अर्थसे दूसरे अर्थको, एक वाक्यसे दूसरे वाक्यको और एक योगसे दूसरे योगको प्राप्त होता हुआ इस ध्यानको ध्याता है । यतः तीनों योगिके धारक और चौदह पूर्वों के ज्ञाता मुनिराज इस ध्यानको करते हैं अतः प्रथम शुक्लध्यान सवितर्क और सबीचार होता है । श्रुतस्कन्धरूपी समुद्रमें जितना वचन और अर्थका विस्तार है वह इस शुक्लध्यान में ध्येय होता है और इसका फल मोहनीय कर्मका उपशम या क्षय है । यह ध्यान उपशान्त मोह और क्षीणमोह गुणस्थानमें तथा उपशमश्रेणि और क्षयकश्रेणि शेष गुण-स्थानोंमें माना गया है ॥१८७६॥

शा०—टी०—दूसरे शुक्लध्यानका नाम एकत्ववितर्क है क्योंकि इसमें एक ही योगका अवलम्बन लेकर एक ही द्रव्यका ध्यान किया जाता है । अतः एक द्रव्यका अवलम्बन लेनेसे इसे एकत्व कहते हैं । यह ध्यान किसी एक योगमें स्थित आत्माके ही होता है । इसका स्वामी क्षीण कषाय गुणस्थानवर्ती मुनि होता है ॥१८७७॥

विशेषार्थ—यहाँ एक शब्दका अर्थ है 'प्रधान' और समस्त छह द्रव्योंमें प्रधान एक आत्मा ही है । सोमदेव उपासकाध्ययन (श्लोक ६२२) में कहा है—मनमें किसी विचारके न होते हुए जब आत्मा आत्मामें लीन होता है उसे निर्बीजध्यान कहते हैं । यह निर्बीजध्यान एकत्ववितर्क ही है । अतः एक द्रव्य और एक योगका अवलम्बन करनेसे प्रथम शुक्लध्यानसे भिन्न है ॥१८७७॥

शा०—यतः श्रुतको वितर्क कहते हैं और यतः चौदह पूर्वगत अर्थमें कुशल मुनि ही इस ध्यानका ध्याता है । इससे दूसरा शुक्लध्यान सवितर्क है । तथा अर्थ, व्यंजन और योगिके परि-

पुत्रीयध्यानमाषष्टे—

अवितर्कमवीचारं सुहृमकिरियत्तबंधनं तदियसुष्कं ।

सुहृमन्मि कायजोगे भणितं तं सख्यभावगर्दं ॥१८८०॥

‘अवितर्कमवीचारं’ श्रुतानालम्बनत्वादवितर्कं स्वयं श्रुतज्ञान भवतीति वा अवितर्कं । पूर्वमालम्बी-
कृतावर्थादयन्तिरालम्बनत्वं नाम वीचारो नास्तीत्यधिचार । ‘सुहृमकिरियत्तबंधनं’ सूक्ष्मक्रियास्येति सूक्ष्मक्रियः
आत्मसम्बन्धनमाश्रयोऽप्येति सूक्ष्मक्रियाबन्धनं तृतीयशुक्ल । ‘सुहृमन्मि कायजोगे’ सूक्ष्मकायजोगे सति प्रवृत्तेः
भणितं सूक्ष्मक्रियमिति । ‘तं सख्यभावगर्दं’ तृतीयं शुक्लध्यानं त्रिकालयोगचरानन्तसामान्यविक्षेपात्मकद्रव्यपट्टक-
युगपत्प्रकाशनस्वरूपं, द्रव्यपट्टकसमस्तस्वरूपयुगपत्प्रकाशनमेकमग्रं मुखमस्येति एकमुखतापि विद्यत इति
ध्यानशब्दस्यार्थोऽभिमुखं विद्यते । ‘एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमिष्य’ सूत्रे चिन्ताशब्दो ज्ञानसामान्यबन्धन । तेन
श्रुतज्ञानं क्वचिदध्यानमित्युच्यते, क्वचित्केवलज्ञानं क्वचिच्छ्रुतज्ञानं क्वचिन्मतिज्ञानं मत्प्रज्ञानं वा, यतोऽधिच-
लत्वमेव ध्यानं, ज्ञानस्य तस्याधिचलत्व साधारणं सर्वज्ञानोपयोगानां ॥१८८०॥

वर्तनको वीचार कहते है । उमके न होनेसे दूसरा शुक्लध्यान अवीचार कहा है ॥१८७८-७९॥

विशेषार्थ—प्रथम शुक्लध्यान परिमित अनेक द्रव्यो और पर्यायोंका अवलम्बन लेता है और दूसरा शुक्लध्यान एक ही द्रव्यका अवलम्बन लेता है । तथा तीसरे और चतुर्थ शुक्लध्यानोका विषय समस्त वस्तु है क्योंकि केवलज्ञानका विषय सब द्रव्य और सब पर्याय है । अतः दूसरा शुक्लध्यान शेष तीनोंमे विलक्षण है । प्रथम शुक्लध्यानका स्वामी उपधान्तमोह होता है और दूसरेका क्षीणकपाय होता है तथा तीसरेका स्वामी सयोग केवली और चतुर्थका स्वामी अयोग केवली होता है । अतः स्वामीका अपेक्षा भी दूसरा शुक्लध्यान शेष तीनोंम भिन्न है । किन्तु प्रथम शुक्लध्यानकी तरह दूसरा भी अवितर्क है । और पूर्व कथित वीचारका अभाव होनेसे अवीचार है ॥१८७८-७९॥

अब तीसरे शुक्लध्यानका स्वरूप कहते हैं—

शा०—टी०—तीसरे शुक्लध्यानका आलम्बन श्रुत नहीं है अथवा वह स्वयं श्रुतज्ञानरूप होता है इसलिये वितर्कसे रहित होता है । पूर्वमें आलम्बन क्रिये हुए अर्थका छाड़कर अर्थान्तरकं आलम्बन करनेको वीचार कहते हैं । वह भी इसमे नहीं होता । अतः यह अवीचार है । इसमें स्वासोच्छ्वासादिक्रिया सूक्ष्म हो जाती है । तथा यह सूक्ष्मकाययोगके होनेपर होता है इसलिये इसे सूक्ष्मक्रिय कहते हैं । यह तीसरा शुक्लध्यान त्रिकालवर्ती अन्तन्त सामान्यविक्षेपात्मक धर्मोंसे युक्त छह द्रव्योंको एक साथ प्रकाशन करना है अतः सर्वगत है । एक साथ समस्त छह द्रव्योंके समस्त स्वरूपको प्रकाशन करना ही इसका एकमात्र मुख होनेसे ध्यानका लक्षण ‘एकाग्रचिन्ता निरोधः’ इसमे रहता है । एकाग्रचिन्तानिरोधमें चिन्ता शब्द ज्ञान सामान्यका वाचक है । अतः कहीं श्रुतज्ञानको ध्यान कहते हैं, कहीं केवलज्ञानको ध्यान कहते हैं, कहीं श्रुतअज्ञानको ध्यान कहते हैं कहीं मतिज्ञान या मतिअज्ञानको ध्यान कहते हैं । क्योंकि निश्चलताका ही नाम ध्यान है । अतः ज्ञानकी निश्चलता सब ज्ञानोपयोगोंमें साधारण है । आशय यह है कि ज्ञानकी निश्चलताका ही नाम ध्यान है । अतः ध्यानका यह लक्षण सब निश्चल ज्ञानोपयोगोंमें घटित होता है । केवलीका ध्यान केवल ज्ञान मूलक होना है । अतः वह नो सर्वथा निश्चल ही होता है । इससे सूक्ष्मक्रिय नामक ध्यानमें भी ध्यानका लक्षण घटित होता है ॥१८८०॥

सुदुग्ममि कायजोगे बद्धंती केवली तदियसुक्कं ।

ज्जायदि निरुग्मिदुं जे सुदुग्मचं कायजोगंणि ॥१८८१॥

'सुदुग्ममि कायजोगे' सुग्मे कायजोगे प्रवर्तमानः केवली तृतीयं सुक्कं ध्याति निरोधुं तमपि सुक्कं वा कायजोगं ॥१८८१॥

अवियक्कमवीचारं अवियद्धिमकिरियं च सीलैसिं ।

ज्जाणं निरुद्धयोगं अपच्छिमं उत्तमं सुक्कं ॥१८८२॥

'अवियक्कमवीचारं' पूर्वोक्तवितर्कवीचाररहितत्वात् अवितर्कमवीचारं, 'अवियद्धि' सकलकर्मसातनमुद्धृत्वा न निवर्तत इत्यनिवर्ति। 'अकिरियं' समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकायबाहुमनोयोगपरिस्पन्दनक्रियाव्यापारत्वात् अक्रियं। 'सीलैसिं' शीलानामीशः शीलैः यथाख्यातचारित्रं। शीलैश्चस्य भावः अलेश्यं, तत्सहचारि ध्यानमपि शीलैर्यं। 'निरुद्धयोगं' अपश्चिमं न विद्यते पश्चाद्भाविध्यानमस्मादित्यपश्चिमं। 'उत्तमं सुक्कं' परमं सुक्कं ॥१८८२॥

तं पुण निरुद्धजोगो सरीरतियजामणं करेमाणो ।

सवणहु अपडिवादी ज्जायदि ज्जाणं चरियसुक्कं ॥१८८३॥

'तं पुण' तच्छतुर्थं सुक्कध्यानं। निरुद्धयोगः सर्वज्ञ अप्रतिपातिध्यानं ध्याति 'शरीरत्रिकणां कुर्वन्,

शा०—अतः सूक्ष्मकाययोगमे स्थित केवली उस मूदम भी काययोगको रोकनेके लिये तीसरा शुक्लध्यान ध्याता है ॥१८८१॥

शा०—टी०—यह तीसरा शुक्लध्यान पूर्वोक्त वितर्क और वीचारसे रहित होनेसे अवितर्क और अवीचार होता है। समस्त कर्मों को नष्ट किये बिना समाप्त नहीं होता इसलिये अनिर्वर्ति है। इसमें प्राण अपान ह्वास उच्छ्वासका प्रचार, समस्त काययोग मनोयोग वचन योगरूप हलन-चलन क्रियाका व्यापार नष्ट हो जाता है। इसलिये यह अक्रिय है। शीलोकें स्वामीको शीलेश कहते हैं। उसके भावको शैलेशीभाव कहते हैं वह है यथाख्यात चारित्र। उसके साथ होनेवाले ध्यानको भी शैलेशी कहा है। उससे सब कर्मों का आस्रव रुक जाता है अतः उसे निरुद्धयोग कहा है। इसके अनन्तर कोई ध्यान नहीं होता इससे इसे अपश्चिम कहा है। तथा यह परम शुक्लध्यान है ॥१८८२॥

विशेषार्थ—शीलेशीभाव से यथाख्यात चारित्र लिया है किन्तु यथाख्यात चारित्र तो ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानमें भी होता है किन्तु उसे शैलेशी नहीं कहा। क्योंकि शैलेशीपना तीसरे शुक्लध्यानकी अबस्थासे पहले नहीं होता, इसका कारण है कर्मोंका आस्रव होना। तथा तीसरेके पश्चात् भी चतुर्थं शुक्लध्यान होता है फिर भी तीसरेको विवक्षा भेदसे अपश्चिम कहा है ॥१८८२॥

शा०—काययोगका निरोध करके अयोग केवली औदारिक तेजस और कार्मण शरीरों

अधोगात्मपरिणामः केवलज्ञानं चतुर्थशुक्लं, तृतीयं तु सूक्ष्मकाययोगात्मपरिणामः केवलमिति भेदस्तृतीय-
चतुर्थयोः ॥१८८३॥

इयं सो खवओ ज्ञाणं एयग्गमणो स'मस्सिदो सम्मं ।
विउलाए णिज्जराए वहुदि गुणसेट्ठिमारूढो ॥१८८४॥

'इयं सो कवचो' एवमसौ शपकः, एकाग्रचित्तः सम्यग्ध्यानं समाहित्य विपुलाया कर्मनिर्जराया वर्तते.
'गुणसेट्ठिमारूढो' गुणश्रेणीमारूढः उपशान्तकवायाविका ॥१८८४॥

ध्यानमहात्म्यस्तवनार्थं उत्तरप्रबन्धः—

सुचिरं वि संकिल्हं विहरतं ज्ञाणसंवरविहूणं ।
ज्ञाणेण संबुडप्पा जिणदि अंतोमुहूत्तेण ॥१८८५॥

'सुचिरमवि संकिल्हं विहरतं' पूर्वकोटिकाल देशान् क्लेशसहितचारिबोधत 'ज्ञाणसंवरविहूणं'
ध्यानाख्येन सवरेण विहीन । 'जिणवि' जयति । क ? 'अहोरत्तमेत्तेण ज्ञाणेण संबुडप्पा' अहोरात्रमात्रेण
ध्यानेन सवृतात्मा ॥१८८५॥

एवं कसायजुद्धमि हवदि खवयस्स आउघं ज्ञाणं ।
ज्ञाणविहूणां खवओ 'रगेव अणाउहो मल्लो ॥१८८६॥

का नाश करता हुआ अन्तिम शुक्ल ध्यानको ध्याता है । सूक्ष्मकाय योग रूप आत्म परिणाम
वाला अयोगकेवली तीसरे शुक्ल ध्यानको ध्याता है और अयोगरूप आत्मपरिणाम वाला
अयोगकेवली चतुर्थ शुक्ल ध्यानको ध्याता है । यह तीसरे और चतुर्थ शुक्ल ध्यान में भेद
है ॥१८८३॥

विशेषार्थ—महापुराणमें कहा है—तीसरेके पश्चात् योगका निराध करके आश्रव में रहित
अयोगकेवली समुच्छिन्न क्रिय अनिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यानको ध्याता है । एक अन्तमुहूर्त
काल तक अतिनिर्मल उस ध्यानको करके शेष चार अधानिकर्मोंका विनाशकर मोक्षको प्राप्त
होता है । अयोगकेवलीके उपान्त्य समय में वासठ और अन्तिम समय में तेरह प्रकृतियाँ नष्ट हो
जाती हैं । उसके पश्चात् वह शुद्धात्मा ऊर्ध्वगमन स्वभावके कारण एक ही समयमें लोकके अन्त
पर्यन्त जाकर सिद्धालयमें विराजमान हो जाता है ॥१८८३॥

गा०—इस प्रकार वह शपक एकाग्रमन से सम्यक् ध्यान को ध्याकर उपशान्त कवाय
आदि गुण स्थानों की श्रेणि पर आरूढ़ होकर विपुल कर्म निर्जरा करता है ॥१८८४॥

आगे ध्यानके महात्म्यको कहते हैं—

गा०—एक अन्तमुहूर्त मात्र या एक दिन रात मात्र ध्यान रूप संवग्से युक्त मुनि, कुछ
कम एक पूर्व कोटि काल तक ध्यानरूप संवग्से रहित तथा मन्केगसहित चाग्रि का पालन करने
वाले साधुसे श्रेष्ठ है ॥१८८५॥

१. समणियो—अ० । २. अहोरत्तमित्तेण अन्तोमुहूर्तेन कर्म जयति । अहोरात्रमात्रेण ज्ञाणेण संबुडप्पा
ध्यानेन सवृतात्मा कर्मकाण्डकोर्षेण न जयति—आ० । ३. गणबोवअ—आ० । जुद्धेण निराधुषां होदि—अ० ।

'एवं कसायबुद्धिं' कषायसप्रहारे ध्यानमायुधं क्षपकस्य भवति । ध्यानहीनः क्षपकः युद्धे निरायुध इव न प्रतिपक्षं प्रहृन्मुमलं । कषायविनाशकारित्वं ध्यानस्यानया कथितं ॥१८८६॥

रणभूमौ कवचं व कसायरणे तयं हवे कवचं ।

युद्धे व निरावरणो ज्ञानेन विना हवे खवओ ॥१८८७॥

'रणभूमौ' युद्धभूमी कवचवत्कषाययुद्धे ध्यानं कवचो भवति । एतेन कषायपीडारक्षां करोति ध्यान-मित्याख्यातं । ध्यानाभावं दोषमावष्टे । 'बुद्धे व निरावरणो' युद्धे निरावरण इव भवति ध्यानेन विना क्षपकः ॥१८८७॥

ज्ज्ञानं करेद् खवयस्सोबहुमं सु हीणवेष्टस्स ।

थेरस्स जहा जंतस्स कुणदि जह्ठी उवहुमं ॥१८८८॥

'ज्ञानं करेदि' ध्यानं करोति क्षपकस्योपष्टम्न हीनवेष्टस्य स्वविरस्य गच्छतो यथा करोति यष्टि-रूपष्टम्नं ॥१८८८॥

मल्लस्स जेहपाणं व कुणद् खवयस्स दढवलं ज्ञानं ।

ज्ञानविहीणो खवओ रणे व अपोसिओ मल्लो ॥१८८९॥

'मल्लस्स जेहपाणं व' मल्लस्य स्नेहपानमिव क्षपकस्य ध्यानं करोति । ध्यानहीन क्षपको रङ्गे अपोचितो मल्ल इव न प्रतिपक्षं जयति ॥१८८९॥

वहरं रदण्णेषु जहा गोसीसं चंदणं व गन्धेषु ।

वेरुलियं व मणीणं तह ज्ज्ञानं होइ खवयस्स ॥१८९०॥

१०-टी०-इस प्रकार कषायोंके साथ युद्ध करनेमें अर्थात् कषायोंका संहार करनेमें ध्यान क्षपकके लिये आयुध होना है । अर्थात् ध्यानके द्वारा कषायोंका विनाश किया जाता है । जैसे विना अस्त्रके युद्धमें शत्रुका घात करना संभव नहीं है, उसी प्रकार ध्यान हीन क्षपक कषायों को नहीं जीत सकता । इसमें ध्यानको कषायोंका विनाश करने वाला कहा है ॥१८८६॥

१०-टी०-जैसे युद्ध भूमिमें कवच होता है वैसे ही कषायोंसे युद्ध करनेमें ध्यान कवचके समान है । इससे कहा है कि ध्यान कषायसे रक्षा करता है । ध्यानके अभावमें दोष कहते हैं । जैसे युद्ध में कवचके विना योद्धा होता है वैसे ही ध्यान के विना क्षपक होता है । अर्थात् युद्धमें विना कवचके योद्धाकी जो स्थिति है वही स्थिति ध्यानके विना क्षपक की होती है । वह भी उसी की तरह मारा जाता है ॥१८८७॥

१०-जैसे चलनेमें असमर्थ बृद्ध पुरुषको गमन करते समय लाठी सहायक होती है वैसे ही असमर्थ क्षपकका सहायक ध्यान होता है ॥१८८८॥

१०-जैसे दुर्बलपान मल्ल पुरुषके बलको हड़ करता है वैसे ही ध्यान क्षपककी शक्ति को हड़ करता है । जैसे अपुष्ट मल्ल अस्त्राङ्गमें हार जाता है वैसे ही ध्यानसे रहित क्षपक कषायोंसे हार जाता है ॥१८८९॥

'बैर' रक्तेषु बचा' यथा रत्नेषु वर्यं गन्धद्रव्येषु गोशीर्षं चन्दनम् । मणिषु वैडूर्यमिव क्षपकस्य ध्यानं सर्वेषु दर्शनचारित्रतपससु सारभूतम् ॥१८९०॥

झाणं किलेससायवरक्खा रक्खाव मावदभयम्मि ।

झाणं किलेमवमणे मिचं मिचेव वसणम्मि ॥१८९१॥

'झाणं किलेससायवरक्खा' ध्यानं दुःखव्यापदानां रक्षा, व्यापदभये रक्षेव ध्यानं क्लेशव्यसने मिचं, व्यसने मित्रमिव ॥१८९१॥

ज्झाणं कसायवादे गम्भधरं मारुदेव गम्भधरं ।

झाणं कसायउण्हे छाही छाहीव उण्हम्मि ॥१८९२॥

झाणं कसायडाहे होदि चरदहो दहोव डाहम्मि ।

झाणं कसायसीदे अग्गी अग्गीव सीदम्मि ॥१८९३॥

झाणं कसायपरचक्कमए बलवाहण्हओ राया ।

परचक्कमए बलवाहण्हओ होइ जह राया ॥१८९४॥

झाणं कसायरोगेषु होदि वेज्जो तिग्गिछदे कुसलो ।

गोगेषु जहा वेज्जो पुरिमस्स तिग्गिछओ कुसलो ॥१८९५॥

झाणं विसयछुहाए हाइ य छुहाए अण्णं वा ।

झाणं विसयतिसाए उदयं उदयं व तण्हाए ॥१८९६॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथा ॥१८९२॥१८९३॥१८९४॥१८९५॥१८९६॥

गा०—जैसे रत्नोमें हीरा, सुगन्धित द्रव्योंमें गोशीर्षं चन्दन और मणियोंमें वैडूर्यमणि सारभूत है । वैसे ही क्षपकके दर्शन चारित्र और तपमें ध्यान सारभूत है ॥१८९०॥

गा०—जैसे हिंसक जन्तुओंसे भय होन पर उनसे रक्षा बचाव करती है वैसे ही ध्यान दुःखरूपी हिंसक जन्तुओंसे रक्षा करता है । तथा जैसे सकट में मित्र महायक होता है वैसे ही दुःखरूपी सकटमें ध्यान सहायक होता है ॥१८९१॥

गा०—जैसे गर्भगृह वायुसे रक्षा करता है वैसे ही ध्यान कषायरूपी वायुके लिये गर्भगृह है । जैसे घामसे बचनेके लिये छाया है वैसे ही कषायरूपी घामसे बचावके लिये ध्यान छायाके समान है ॥१८९२॥

गा०—जैसे दाहके लिये उत्तम सरोवर है वैसे ही कषायरूप दाहके लिये ध्यान उत्तम सरोवर है । जैसे शीतसे बचावके लिये आग है वैसे कषायरूपी शीतसे बचावके लिये ध्यान आग के समान है ॥१८९३॥

गा०—जैसे सेना और वाहनसे समृद्ध राजा शत्रु सेनाके आक्रमणके भयसे रक्षा करता है वैसे ही कषायरूपी शत्रु सेनाका भय दूर करनेके लिये ध्यान बल वाहनमें समृद्ध राजाके समान है ॥१८९४॥

इय ज्ञायंतो ख्वजो अइया परिहीणवायिओ होइ ।

आराधणाए तइया इमाणि लिमाणि ढंसेई ॥१८९७॥

'इय ज्ञायंतो ख्वजो' एवं ध्यानेन प्रवर्तमानः क्षपकः । यदा वक्तुमसमर्थो भवति तदा 'आराधणाए' रत्नत्रयपरिणतेरात्मनो लिङ्गामीभानि दर्शयति ॥१८९७॥

हुंकारंजलिभङ्गुहंगुलीहिं अञ्छीहिं वीरसुट्टीहिं ।

सिरचालणेण य तथा सण्णं दावेदि सो ख्वजो ॥१८९८॥

'हुंकारंजलिभङ्गुहंगुलीहिं अञ्छीहिं' हुंकारेण वा अञ्जलिरेचनया, भ्रूक्षेपेण, अङ्गुलिपञ्चकदर्शनेन उप-
देष्टारं प्रति प्रमत्तया (भ्रया) वृष्ट्या किं समाहितचित्तोऽनीत्युक्ते सिरःकम्पनेन मञ्जां दर्शयति क्षपकः ॥१८९८॥

तो पडिचरया ख्वयस्स दिति आराधणाए उवओगं ।

जाणति सुदरइस्सा कदसण्णा कायख्वयण ॥१८९९॥

'तो पडिचरया' तत प्रतिचारकान्तस्य क्षपकम्याराधनायामुपयोर्धं जानन्ति श्रुतरहस्याः क्षपकेण
कृतसंकेताः । जाणति ॥१८९९॥

लेख्याया संबन्धं करोति—

इय समभावसुवगदो तह ज्ञायंतो पसचज्जाणं च ।

लेस्साहिं विसुज्जांतो गुणसेदिं सो समारुइदि ॥१९००॥

शा०—जैसे वैद्य पुरुषके रोगों की चिकित्साके कुशल होता है वैसे ही ध्यान कषायरूपी रोग
की चिकित्सा करनेमें कुशलवैद्य है ॥१८९५॥

शा०—जैसे अन्न भूखको दूर करता है वैसे ही विषयोंकी भूख दूर करनेके लिये ध्यान
अन्नके समान है । तथा जैसे प्यास लगने पर पानी उसे दूर करता है वैसे ही विषयरूपी प्यासके
लिये ध्यान पानीके समान है ॥१८९६॥

शा०—इस प्रकार ध्यानमें संलग्न क्षपक जब बोलनेमें असमर्थ होता है तब मैं रत्नत्रयमें
संलग्न हूँ यह बात आगे कहे चिन्होंसे प्रकट करता है ॥१८९७॥

शा०—निर्वापकाचार्यके पूछनेपर कि तुम्हारा चित्त सावधान है, वह क्षपक हुंकारसे, हाथों
की अञ्जुलि द्वारा, या भ्रू के संचालनसे अथवा पाँचों अंगुलियोंकी मुट्टी बनाकर या सिर हिलाकर
प्रसन्न हृष्टिसे संकेत करता है ॥१८९८॥

शा०—तब क्षपकके द्वारा पहलेसे ही संकेत ग्रहण करने वाले और आगमक रहस्यको
जानने वाले परिचारक मुनिगण यह जान लेंते हैं कि क्षपकका उपयोग आराधनामें है ॥१८९९॥

चिकित्साार्थ—क्षपक पहले ही कह रक्खता है या परिचारक पहले ही क्षपकसे कह देते हैं कि
बोलनेमें असमर्थ होनेपर मैं अपनी परिणतिको हुंकार आदि संकेतोंसे कह दूँगा ॥१८९९॥

आगे क्षपककी लेख्याविशुद्धिका कथन करते हैं—

शा०—इस प्रकार समताभावको प्राप्त वह क्षपक प्रशस्त ध्यान ध्याता है और विशुद्ध
१०६

'इयं सप्तमासमनुभवती' एवं समचित्तां गतं प्रसस्तध्यानं पवतमेत, लेख्यामिद्विद्युत्तगुणभेदी-
मारोहति ॥१९००॥

जह बाहिरलेस्ताओ किण्हादीओ हवंति पुरिसस्स ।

अम्भंतरलेस्ताओ तह किण्हादी य पुरिसस्स ॥१९०१॥

किण्हा नीला काओ लेस्ताओ विण्णि अप्पसत्थाओ ।

पज्जइ विरायकरणो संवेगमणुषरं पचो ॥१९०२॥

बह बाहिरलेस्ताओ' कृष्णनीलकापोताश्चेति तिस्रः अप्रसस्ताः प्रजहाति दंरायभावनायान् संसार-
बीजान् परामुपासतः ॥१९०१-१९०२॥

लेख्यापूर्वकं अर्थात् क्रमसे पीत, पद्म और शुक्ल लेख्यारूप परिणमन करता हुआ गुणश्रेणिपर
अर्थात् उपशम या क्षपक श्रेणिपर आरोहण करता है ॥१९००॥

वा०—जैसे पुरुषके शरीरमें कृष्ण आदि द्रव्य लेख्या—शरीरका रंग काला गौरा होता
है। वैसे ही अन्धन्तरमें कृष्ण आदि भावलेख्या होती है ॥१९०१॥

बिबोषार्थ—लेख्याके दो भेद हैं—द्रव्यलेख्या और भावलेख्या। मिथ्यात्व आदिके कारण
जीवके जो तीव्रतम आदि भाव होते हैं वह भावलेख्या है। आगममें कहा है कि मिथ्यात्व, अवि-
रति, कषाय और योगसे प्राणियोंके जो संस्कार होते हैं वह भावलेख्या है। लेख्या छह हैं—कृष्ण,
नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। इनमेंसे प्रारम्भकी तीन लेख्या अशुभ हैं और शेष तीन शुभ हैं।
अशुभ लेख्याओंमें तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम रूपसे तथा शुभलेख्याओंमें मन्द, मन्दतर और
मन्दतमरूपसे हानिवृद्धि होती रहती है। जैसे अशुभ लेख्याओंमें कापोत लेख्या तीव्र है, नीललेख्या
तीव्रतर है और कृष्णलेख्या तीव्रतम है। इसी तरह शुभलेख्याओंमें पीतलेख्या मन्द, पद्मा मन्दतर
और शुक्ला मन्दतम है। उदाहरणके रूपमें जो व्यक्ति फलसे भरे वृक्षको जड़से काटकर फल
खाना चाहता है उसके कृष्णलेख्या है। जो जड़को छोड़ केवल तना काटकर फल खाना चाहता
है उसके नीललेख्या है। जो एक शाखा काटकर फल खाना चाहता है उसके कापोत लेख्या है।
जो एक उपशाखा तोड़कर फल खाना चाहता है उसके पीतलेख्या है। जो केवल फल ही तोड़कर
खाना चाहता है उसके पद्मलेख्या है। और जो जमीनपर गिरे हुए फलोंको ही उठाकर खाना
चाहता है उसके शुक्ललेख्या होती है। जो रागी, द्वेषी, अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभसे
युक्त है, निर्दय है, कलहप्रिय है, मद्य मांसके सेवनमें आसक्त है वह कृष्णलेख्या वाला होता है।
जो घमण्डी, मायावी, विषयलम्पट, अनेक प्रकारकी परिग्रहमें आसक्त प्राणी है वह नीललेख्यावाला
होता है। जो परकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करता है, अपनी प्रशंसासे प्रसन्न होता है, फिर
हानिं कामको भी नहीं देखता, लडाईं होनेपर मरने मारनेको तैयार रहता है वह कापोतलेख्या
वाला है। जो सर्वथ समदृष्टि है कृत्य अकृत्य, हित अहितको जानता है दयादानका प्रेमी है वह
पीतलेख्यावाला होता है। जो त्यागशील, क्षमाशील, भद्र और साधुजनोंकी पूजामें तत्पर रहता
है वह पद्मलेख्यावाला होता है। जो माया और निदान नहीं करता, रागद्वेष नहीं करता वह
शुक्ल लेख्यावाला है ॥१९०१॥

तेजो बन्ना सुक्का लेस्सामो तिण्णि वि दु पसत्ताजो ।

पडिबज्जेइ य कमसो संवेगमज्जुवरं पत्तो ॥१९०३॥

‘तेजो बन्ना सुक्का’ तेजःपद्मसुक्कलेभ्याः प्रतिपद्यते परिपाटया ॥१९०३॥

एदेसि लेस्साणं विसोवणं पडि उवकमो इणमो ।

सब्बेसि संगामं विवज्जणं सम्बहा होइ ॥१९०४॥

‘एदेसि लेस्साणं’ एतासां सुप्तलेख्यानां बुद्धिं प्रत्ययमुपक्रमः बाह्याभ्यन्तस्त्वर्णपरिग्रहत्यागः ॥१९०४॥

लेस्सासोपी अज्जवसाणविसोपीए होइ जीवस्स ।

अज्जवसाणविसोपी मंदकसायस्स जादव्वा ॥१९०५॥

‘लेस्सासोपी’ लेख्यानां बुद्धिः । ‘अज्जवसाणविसोपीए होइ’ परिणामविशुद्धया भवति । ‘अज्जवसाणविसोपी’ परिणामविशुद्धिश्च । ‘मंदकसायस्स’ मन्दकसायस्य भवतीति ज्ञातव्या ॥१९०५॥

कथायाणां मन्दता कथमित्याहाह—

मंदा हुंति कसाया बाहिरसंगविजडस्स सम्बस्स ।

गिण्हइ कसायबहुलो वेव हु सम्बंप्पि गंधकलिं ॥१९०६॥

‘मंदा हुंति कसाया’ कथाया मन्दा भवन्ति, कृतबाह्यसंगपरित्यागस्य । कथायबहुल एवायं सर्वो जीवः सर्वं कथकं वृक्षसति ॥१९०६॥

अइ इंधणेहिं अग्गी बट्टइ विज्जाइ इंधणेहिं विणा ।

मंवेहिं तइ कसाओ बट्टइ विज्जाइं तेहिं विणा ॥१९०७॥

बही कहते हैं—

बा०—अपक कृष्ण, नील, कापोत, इन तीन अप्रशस्त लेख्याओंको त्यागकर बेराग्य भावनासे युक्त होता है और संसारसे अत्यन्त भयभीत रहता है ॥१९०२॥

बा०—सधा पीत, पद्म, शुक्ल, इन तीन प्रशस्त लेख्याओंको क्रमसे स्वीकार करके उत्कृष्ट संविनभावको धारण करता है ॥१९०३॥

बा०—इन लेख्याओंकी विशुद्धिका उपक्रम यह है कि समस्त परिग्रहोंका सर्वथा त्याग होता है अर्थात् परिग्रहके त्यागसे लेख्यामें विशुद्धि आती है ॥१९०४॥

बा०—परिणामोंकी विशुद्धि होनेसे लेख्याकी विशुद्धि होती है । और जिसकी कथाय मन्द है उसके परिणामोंमें विशुद्धि होती है ॥१९०५॥

बा०—कथायोंकी मन्दता कैसे होती है, यह बतलाते हैं—

बा० बाह्य परिग्रहका त्याग करता है उसकी कथाय मन्द होती है । जिसकी कथाय तीव्र होती है वही सब परिग्रहक्य पापको स्वीकार करता है ॥१९०६॥

'बहु ईंधनोद्दि मन्वी' इन्धनसंधान्निबद्धते तैविना प्रशाम्यति । मन्वीस्तथा कवायो वद्धते, तैविना मन्वी भवति ॥१९०७॥

जह पत्यगे पडती खोमेइ दहे पसणमवि पंकं ।

खोमेइ पसणमवि कसायं जीवस्स तह गंधो ॥१९०८॥

'जह पत्यरो पडती' यथा पावाण पतन् हृदे प्रशान्तमपि पञ्च क्षोभयति, तथा जीवस्य कवायं यन्धा-
क्षोभयन्ति ॥१९०८॥

अमंतरसोधीए गंधे णियमेण बाहिरे चयदि ।

अमंतरमइलो चैव बाहिरे गेण्हदि हु गंधे ॥१९०९॥

'अमंतरसोधीए' अभ्यन्तरशुद्धया नियमेन बाह्याम्परिग्रहास्त्यजति, अभ्यन्तरमलिन एव बाह्यान्
गृह्णाति परिग्रहान् ॥१९०९॥

अमंतरसोधीए बाहिरसोधी वि होदि णियमेण ।

अमंतरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरे दोसे ॥१९१०॥

'अमंतरसोधीए' अभ्यन्तरशुद्धया बाह्यगुडिनियमेन भवति । अभ्यन्तरदोषेणैव बाह्यान्कायगतान्
दोषान् करोति ॥१९१०॥

जध तंडुलस्स कोण्डयसोधी मतुसस्स तीरदि ण कादुं ।

तह जीवस्स ण मक्का लिस्सासोधी ससंगस्स ॥१९११॥

'जह तंडुलस्स' यथा तन्दुलस्य अभ्यन्तरमलगुडि कर्तुं न शक्यते बाह्यतुपसहितस्य । तथा जीवस्य
न शक्या लेश्याशुद्धि कर्तुं मपरिग्रहस्य ॥१९११॥

इत उत्तर लेश्याश्रयेणाराधनाविकल्पो निरूप्यते—

सुककाए लेस्साए उक्कस्सं अंसय परिणमिन्ता ।

जो मरदि सो हु णियमा उक्कस्साराघओ होई ॥१९१२॥

गा०—जंस ईंधनसे आग वद्धती हे और ईंधनके अभावमें बुझ जाती है वैसे ही परिग्रहसे
कषाय वद्धती है और परिग्रहके अभावमें मन्द हो जाती है ॥१९०७॥

गा०—जंमे जलमें पत्यर फंकनेसे नीचे बैठे हुई कीबड़ ऊपर आ जाती है । वैसे ही
परिग्रहमें जीवकी दबी हुई कषाय उदयमें आ जाती है ॥१९०८॥

गा०—अन्तरगमें कषायकी मन्दता होनेपर नियमसे बाह्य परिग्रहका त्याग होता है ।
अभ्यन्तरमें मलिनता होनेपर ही जीव बाह्य परिग्रहको ग्रहण करता है ॥१९०९॥

गा०—अभ्यन्तरमें विगुडि होनेपर बाह्य विशुद्धि नियमसे होती है । अभ्यन्तरमें दोष
होनेसे ही मनुष्य शाश्वतिक दोष करता है ॥१९१०॥

गा०—जस वाह्रमें तुष (छिलका) रहते हुए चावलकी अभ्यन्तर शुद्धि सम्भव नहीं है ।
वैसे ही परिग्रही जीवके लेश्याकी विशुद्धि सम्भव नहीं है ॥१९११॥

'सुककाय केसाए' सुकलेष्याया उत्कृष्टां परिणतो यो वृत्तिवृत्ति स नियमादुत्कृष्टाराधको भवति ॥१९१२॥

खाद्यदंतजपरणं खजोवसमियं च जाणमिदि मग्गो ।
तं होइ खीणमोहो आराहिचा य जो हु अरहंतो ॥१९१३॥
जे सेसा सुककाए दु अंसया जे य पम्मलेस्ताए ।
तन्लेस्तापरिणामो दु मज्झिमारारुण्णा मरणे ॥१९१४॥

'जे सेसा सुककाए दु अंसया' उत्कृष्टांशकल्पे वे सुकलेष्याया अंश वे चापि पचलेष्याया अंशः तत्र परिणामो मरणे मध्यमाराधना ॥१९१३॥१९१४॥

तेजाए लेस्ताए वे अंसा तेसु जो परिणमिचा ।
कालं करेइ तस्स हु जहण्णिवाराधणा मग्गिदा ॥१९१५॥

'तेजाए लेस्ताए' तेजोलेष्याया वे अंशास्तेषु परिणतो यदि कालं कुर्यात् तस्य जघन्याराधना भवति ॥१९१५॥

जो जाए परिणमिचा लेस्ताए संजुदो कुणइ कालं ।
तन्लेसो उववज्जइ तन्लेसे वेव सो मग्गे ॥१९१६॥

'जो जाए' जो यथा लेष्याया परिणतः कालं करोति, स तन्लेष्य एवोपायाते, तन्लेष्यासमन्विते स्वर्णे ॥१९१६॥

अथ तेउपउमसुककं अदिच्छिदो जाणदंसजसमग्गो ।
आउणखया दु सुदो गच्छदि सुद्धिं युयकिलेसो ॥१९१७॥

आगे लेष्या के आश्रयसे आराधनाके भेद कहते हैं—

शा०—जो क्षपक सुकलेष्याके उत्कृष्ट अंश रूपसे परिणत होकर मरण करता है वह नियमसे उत्कृष्ट आराधक होता है ॥१९१२॥

शा०—धार्मिक सम्यक्त्व, यथाख्यात चारित्र और धायोपशमिक ज्ञानकी आराधना करके खीणमोह होता है और वह बारहवें गुणस्थानवर्ती खीणमोह तदनन्तर अरहत होता है ॥१९१३॥

शा०—सुकलेष्याके शेष मध्यम और जघन्य अंश तथा पचलेष्याके उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य अंश रूपसे परिणत होकर मरण करने वाला क्षपक मध्यम आराधक होता है ॥१९१४॥

शा०—तेजोलेष्याके अंशरूपसे परिणत होकर यदि मरण करता है तो वह जघन्य आराधक होता है ॥१९१५॥

शा०—जो क्षपक जिस लेष्यारूपसे परिणत होकर मरण करता है वह उसी लेष्यावाले स्वर्णमें उसी लेष्यावाला ही देव होता है ॥१९१६॥

शा०—जो पीत पथ और सुकलेष्याको भी छोड़कर लेष्यारहित अयोग अवस्थाको प्राप्त होता है वह सम्पूर्ण केवलज्ञान और केवल दर्शनसे युक्त होकर आयुका क्षय होनेपर मोक्ष प्राप्ति

'अथ तेऽपठयन्तुष्व' अथ तेजःपदाद्युक्तलेख्या अतिक्रान्तः अलोक्यतामुपगतः ज्ञानदर्शनसमय आमुषः कथात् सिद्धि गच्छति कर्मलेपापयमाद्भिःशुद्धो निरस्ताशेषकलेशः । केसेति ॥१९१७॥

एवं सुभाविदप्या ज्ञानाणोवगजो पसत्बलेस्साजो ।

आराधनापढायं हरह् अविवेण सो खबजो ॥१९१८॥

'एवं सुभाविदप्या' एवं सुष्टु भावितात्मा ध्यानमुपगतः प्रशस्तोभ्यापरिणत आराधनापताकां हरत्यविघ्नेन ॥१९१८॥

तेलोककसम्बसारं चउगइसंसारदुक्खणासयरं ।

आराहणं पवण्णो सो भयवं मुक्खपडिमुत्तलं ॥१९१९॥

'तेलोककसम्बसारं' त्रैलोक्ये सर्वस्मिन्सारभूतां चतुर्गतिसंसारदुःखनाशकरणीमाराधना प्रपन्नोऽपि भगवान् मोक्षप्रतिमोक्ष्य ॥१९१९॥

एवं जघाक्खादविधिं संपत्ता सुद्धदंसणचरिणा ।

केई खवंति खबया मोहावरणंतरायाणि ॥१९२०॥

'एवं जघाक्खादविधिं' एवं यथाक्यातविधिं सप्रप्ततां शुद्धदर्शनचारिणा केचित्सापका धातित्कर्माणि क्षययन्ति ॥१९२०॥

केवलकप्पं लोमं संपुण्णं दब्बपज्जयविधीहिं ।

ज्जायंता एयमणा जहति आराहया देहं ॥१९२१॥

'केवलकप्पं' केवलज्ञानस्य परिच्छेद्यत्वेन योग्यं लोक संपूर्णं द्रव्यपर्यायविकल्पः परिच्छिन्दन्तः जहति ते स्वदेहं ॥१९२१॥

करता है । वह समस्त कर्मलेपके चले जानेसे विशुद्ध होता है तथा समस्त क्लेशोसे छूट जाता है ॥१९२०॥

शा०—इस प्रकार वह क्षपक अच्छी तरहसे आत्माकी भावना भाकर प्रशस्त लेश्यापूर्वक ध्यान करके, किसी विघ्न बाधाके बिना आराधना पताकाको धारण करता है ॥१९१८॥

शा०—वह भगवान् तीनों लोकोंमें सारभूत तथा चार गतिरूप संसारके दुःखोंका नाश करनेवाली आराधनाको प्राप्त करता है जो उस मोक्षका प्रतिमूल्य है अर्थात् आराधनारूपी मूल्य प्रदान करके ही मोक्षको खरीदा जा सकता है ॥१९१९॥

शा०—इस प्रकार कोई-कोई चरमशरीरी क्षपक यथाभ्यात चारित्रकी विधिके द्वारा शुद्ध सम्मगदर्शन और चारित्रको प्राप्त करके मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंका क्षय करते हैं ॥१९२०॥

शा०—केवलज्ञानके द्वारा जाननेके योग्य सम्पूर्ण लोकको द्रव्य पर्यायिके भेदोंके साथ एकप्रभन्से जानते हुए आराधक अपना शरीर छोड़ते हैं ॥१९२१॥

सम्बुक्कसं जोगं जुंजता इंसणे चरिचे य ।

कम्मरयविप्युक्कका हवंति आराधया सिद्धा ॥१९२२॥

'सम्बुक्कसं' सर्वोत्कृष्टं दर्शनचारित्रयोर्योगं प्रतिपद्यमानाः कर्मरजोभ्यो विप्रयुक्ता आराधकाः सिद्धा भवन्ति ॥१९२२॥

इयमुक्कस्सियमाराधनमजुपल्लिषु केवली भविया ।

लोगग्सिहरवासी हवंति सिद्धा धुयकिलेता ॥१९२३॥

'इय उक्कस्सिय' एवमुत्कृष्टामाराधनामनुपात्य केवलिनो भूत्वा निरस्तकलेशाः लोकाग्रशिखरभासिनः सिद्धा भवन्ति ॥१९२३॥

अह सावसेसकम्मा मल्लियकसाया पणहुमिच्छता ।

हासरइअरइअयसोगदुगुंछावेयणिम्महणा ॥१९२४॥

'अह सावसेसकम्मा' अथ सावसेचकर्माणो मथितकथायाः प्रणष्टमिष्यात्वा हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्सा-वेदधिकमथनाः ॥१९२४॥

पंचसमिदा तियुत्ता सुसंबुडा सव्वसंगउम्मुक्कका ।

धीरा अदीणमणसा समसुहदुक्खा असंबूढा ॥१९२५॥

'पंचसमिदा' समितिपंचकोपेता गुप्तिप्रयोपेताः सुसंबुता अपाङ्कतसर्वसंज्ञा धीरा अदीनमनसः समसुख-दुःखा असंबूढा ॥१९२५॥

सव्वसमाधानेण य चरित्तजोगो अचिहुदा सम्मं ।

धम्मं वा उवजुत्ता ज्ञाणे तह पढमसुक्के वा ॥१९२६॥

'सव्वसमाधानेण' सर्वेण समाधानेन चारित्रे सम्मनवस्थिता धर्मध्याने प्रथमशुक्के वा उपयुक्तः ॥१९२६॥

वा०—सर्वसे उत्कृष्ट अर्थात् क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यक् चारित्रको प्राप्त करके वे आराधक कर्मरूपी रजसे अर्थात् शेष चार अघाति कर्मोंसे छूटकर सिद्ध हो जाते हैं ॥१९२२॥

वा०—इस प्रकार उत्कृष्ट आराधनाका पालन करके केवलज्ञानी होकर सम्पूर्ण क्लेशोंसे छूट जाते हैं और लोकके शिखर पर विराजमान होते हैं ॥१९२३॥

वा०—किन्तु जिनके कर्मबन्धन शेष रहता है वे मिष्यात्वको नष्ट करके तथा कथायोंका और हास्य रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, तीनों वेदोंका मथन करके, पाँच समिति और तीन गुप्तिभक्ति द्वारा सम्बन्ध रूपसे संबर करके समस्त परिग्रहसे रहित होकर धीरतापूर्वक, मनमें बीजताका भाव नहीं करते । मोहुरहित होकर सुख और दुःखमें समभाव रखते हैं । मन, बन्धन, कावको समर्पित करके चारित्रमें सम्यक्निष्ठ रहते हैं तथा धर्मध्यान या प्रथम शुक्लध्यानमें उपयुक्त मनाते हैं ॥१९२४-२६॥

इय मञ्जिममाराधनमनुपालिता श्रीरपजहिता ।

हुंति अणुत्तरवासी देवा सुविमुद्धलेस्ता य ॥१९२७॥

'इय मञ्जिम' एवं मध्यमाराधनामनुपाल्य शरीरं त्यक्त्वा विमुद्धलेस्याधरा अनुत्तरवासिनो देवा भवन्ति ॥१९२७॥

दंसज्जणान्चरिचे उक्किट्टा उत्तमोपघाणा य ।

इरियावहपडिबण्णा हवंति लवसत्तमा देवा ॥१९२८॥

'दंसज्जणान्चरिसे' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्येषु उत्कृष्टा उत्तमाभिग्रहा ईर्यापथं प्रपन्ना लवसत्तमा देवा भवन्ति ॥१९२८॥

कप्पोवगा सुरा जं अच्छरसहिया सुहं अणुहवंति ।

तत्तो अणंतगुणिदं सुहं दु लवसत्तमसुराणं ॥१९२९॥

'कप्पोवगा सुरा जं' कल्पोपपन्ना सुरा अप्सरोभिस्तहिता यत्सुखमनुभवन्ति ततोऽप्यनन्तगुणित लवसत्तमदेवानां ॥१९२९॥

जाणम्मि दंसज्जम्मि य आउत्ता संजमे जहक्खादे ।

बड्ढिट्ठिततवोवघाणा अवहियलेस्ता सददमेव ॥१९३०॥

'जाणम्मि दंसज्जम्मि य' ज्ञानदर्शनयोर्घथाख्याते च संजमे आयुक्ता बड्ढिट्ठिततपोऽभिग्रहा सतत विमुद्धलेस्याः क्षपकाः ॥१९३०॥

पजहिय सम्मं देहं सददं सच्चगुणावड्ढिट्ठिदगुणड्ढा ।

देविंदच्चरमठाणं ल्हंति आराधया खवया ॥१९३१॥

'पजहिय बेहं' विहाय देहं सम्यक्सदा सर्वगुणवर्धितगुणादद्या देवेन्द्रचरमस्वानं लभन्ते ॥१९३१॥

शा०—इस प्रकार मध्यम आराधनाका पालन करके शरीर त्याग कर विमुद्ध लेयाके धारक अनुत्तरवासी देव होते हैं ॥१९२७॥

शा०—वे मध्यम आराधनाके पालक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यमें उत्कृष्ट होते हैं। अर्थात् कल्पोपपन्न देवोंमें उत्पन्न कराने वाले रत्नत्रयके आराधकोंसे उत्कृष्ट होते हैं। उनकी तपश्चर्या उत्तम होती है, वे ईर्यापथ आश्रयके धारी होते हैं अर्थात् कषायरहित कायकी क्रियासे होनेवाला शुभाश्रय ही उनके होता है। वे मरकर लवसत्तम अर्थात् ग्रंथेयक या अनुदिश विमानवासी देव होते हैं ॥१९२८॥

शा०—कल्पवासी देव अपनी देवांगनाओंके साथ जिस सुखको भोगते हैं उससे अनन्तगुणा सुख अहमिन्द्रदेव भोगते हैं ॥१९२९॥

शा०—जो क्षपक ज्ञान दर्शन और यथाख्यात चारित्र्यमें लीन रहते हैं, अपनी तपश्चर्याको निरन्तर बढ़ाते हैं, वे विमुद्ध लेयावाले होते हैं ॥१९३०॥

शा०—वे आराधक अपक सम्यक् भावना पूर्वक शरीर त्यागकर अनन्तगुणी अजिम्मा अदि ऋद्धियोसे सम्पन्न उपरिम स्वर्गमें स्थान प्राप्त करते हैं ॥१९३१॥

सुयमचीयं विसुद्धा उन्मत्तवन्धिमज्जोवसंसुद्धा ।
 लोमंतिया मुरवरा हवंति आराधया भीरा ॥१९३२॥
 जावदिया रिद्धिजो हवंति इंदियगदानि य सुहाणि ।
 ताइं लहति ते जावमेसिं मरा सया खवया ॥१९३३॥

‘जावदिया रिद्धिजो’ यावन्तः ऋद्धयो भवन्ति यावन्तोन्द्रियसुखानि य भवन्ति तानि सर्वाणि लप्स्यन्ते
 मद्राधयाः क्षपका ॥१९३२-१९३३॥

जे वि हु जहणियं तेउल्लेसमाराहणं उवणमंति ।
 ते वि हु सोधम्माम्हासु हवंति देवा ज हेद्धिज्जला ॥१९३४॥

‘जे वि हु जहणियं’ वेर्षिण्यं जघन्यामाराधनां तेकोलेष्याप्रवृत्तामुपनमन्ति तेर्षिण्यं सौधर्मादिषु देवा
 भवन्ति, नाधोभाविनो देवाः ॥१९३४॥

किं जंपिएण बहुणा जो सारो केवलस्स लोणस्स ।
 तं अचिरेण लहति फासिचाराहणं निहिलं ॥१९३५॥

‘किं जंपिएण बहुणा’ किं बहुनोक्तं परस्वस्वास्थ्यं लोकस्य सारभूतं तदचिरेण लभन्ते आराधनां
 प्रपन्नाः ॥१९३५॥

भोमे जनुत्तरे भुंजिऊण तपो जुदा सुमाणुस्से ।
 इद्धिदीमतुलं चइचा चरंति जिणदेसियं धम्मं ॥१९३६॥

‘भोमे जनुत्तरे’ भोगानुत्कृष्टान् भुक्त्वा स्वर्गच्युता मनुष्यभवेर्षिण्यं प्राप्य मकलामूर्द्धि ता य त्यक्त्वा
 जिनाभिहितं धर्मं चरन्ति ॥१९३६॥

गा०—श्रुतभक्तिमे विद्युद्ध, उन्नतप, नियम और आतापन आदि योगसे शुद्ध धीर आराधक
 लौकान्तिक देव होते हैं ॥१९३२॥

गा०—जितनी ऋद्धियाँ हैं और जितने भी इन्द्रिय सुख हैं उन सबको भद्रपरिणामी क्षपक
 जागामी कालमे प्राप्त करते हैं ॥१९३३॥

गा०—तेजोलक्ष्यासे युक्त जो क्षपक जघन्य आराधना करते हैं वे भी सौधर्म आदि स्वर्गोमें
 देव होते हैं, नीचेके देव नहीं होते । अर्थात् भवनत्रिकमें जन्म नहीं लेते ॥ १९३४॥

गा०—अधिक कहनेसे क्या ? जो समस्त लोकका सारभूत है उस सबको आराधना करने
 वाले शीघ्र ही प्राण कर लेते हैं ॥१९३५॥

गा०—स्वर्गके उत्कृष्ट भोगोंको भोगकर स्वर्गसे च्युत होनेपर मनुष्य भवमें जन्म लेते हैं
 और वहाँ भी समस्त ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं । फिर उसे त्यागकर जिन भगवान्के द्वारा कहे हुए
 धर्मका पालन करते हैं ॥१९३६॥

सदिमंतो विदिमंतो सद्भासवैगवीरियोवगवा ।

जेदा परीसहाणं उवसग्गाणं च अभिमविय ॥१९३७॥

‘सदिमंतो’ स्मृतिमन्तः स्मृतिसमन्विताः श्रद्धासंबेगवीर्यसहिताः परीषहाणां विजेतारः उपसर्गानामभि-
भवितारः ॥१९३७॥

इय चरणमधकखादं पडिवण्णा सुद्धदंसणमुवेदा ।

सोधिंति ज्जाणज्जा लेस्साओ संकिलिट्ठाओ ॥१९३८॥

‘इय चरणमधकखादं’ एवं यथाख्यातचारित्र्यं प्रतिपन्नाः सुद्धदर्शनमुपगता ध्यानयुक्ताः संकिलष्टलेषवा
विनाशयन्ति ॥१९३८॥

सुक्कं लेस्समुवगदा सुक्कज्जाणेण खविदसंसारा ।

उम्मुक्ककम्मकवया उविति सिद्धिं घुदकिलेसा ॥१९३९॥

‘सुक्कं लेस्समुवगदा’ शुक्ललेष्यामुपगताः शुक्लध्यानेन क्षपितसंसारा उम्मुक्ककर्मकवया दूरीकृत
कलेषां सिद्धिमुपयान्ति ॥१९३९॥

एवं संचारगदो विसोचइत्ता वि दसणचरिचं ।

परिवडदि पुणो कोईं ज्ञायंतो अट्ठरुहाणि ॥१९४०॥

‘एवं संचारगदो’ उत्पन्ने प्रकारेण संस्तरमुपगतोऽपि कृतवर्धनचारित्र्यशुद्धिरपि कश्चित्कर्मवीरबाधार्त-
रीक्षणपरितः पतति । तत्र दोषमाचष्टे ॥१९४०॥

ज्जायंतो अणगारो अट्ठं रुदं च चरिमक्कालम्भि ।

जो जइइ सयं देहं सो ण लइइ सुग्गदिं खवओ ॥१९४१॥

भा०—वे शास्त्रोंका अनुचिन्तन करते हैं, धैर्यशाली होते हैं, श्रद्धा, सवेग और क्षफिसे
युक्त होते हैं । परीषहोंको जीतते हैं और उपसर्गोंको निरस्त करते हैं, उनसे अभिमूत नहीं
होते ॥१९३७॥

भा०—इस प्रकार सुद्ध सम्यग्दर्शन पूर्वक यथाख्यात चारित्र्यको प्राप्त करके ध्यानमें मग्न
होकर संकलेशयुक्त अशुभ लेष्याओंका विनाश करते हैं ॥१९३८॥

भा०—शुक्ललेष्यासे सम्पन्न होकर शुक्लध्यानके द्वारा संसारका क्षय करते हैं और
कर्मोंके कवचसे मुक्त हो, सब दुःखोंको दूर करके मुक्तिको प्राप्त होते हैं ॥१९३९॥

भा०—इस प्रकार संस्तरपर आरुढ़ होकर और सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र्यको निर्मल
करके भी कोई-कोई क्षयक कर्मोंकी गुरुता होनेसे आर्तरीह्र ध्यानपूर्वक रत्नत्रय रूप आराधनासे
निर जाता है ॥१९४०॥

भा०—जो क्षयक सामु मरते समय आर्तरीह्र ध्यानपूर्वक अपने शरीरको छोड़ता है वह
सुपति प्राप्त नहीं करता ॥१९४१॥

'पञ्चाशती अन्वारी' नरककाके मार्तरीश्रयोः परिणतो भूत्वा यः स्वर्गं गच्छति तादी क्षयकः कुर्वति
कथते ॥१९४१॥

अदि हा सुनाविद्वन्ना वि चरितकालम्नि संकिञ्जेनेन ।
परिवसदि केदण्हो खण्णो संचारमास्सो ॥१९४२॥

'अदि हा सुनाविद्वन्ना वि' अदि तावत्सुनाविवात्तापि संस्तरमाकः वेवमार्तः क्षयकः संकिञ्जेनेन हेतुना
सन्नापारिपरितति ॥१९४२॥

किं पुन जे ओसण्णा भिक्खं जे वा वि भिक्खपासत्था ।
जे वा सदा कुसीला संसचा वा गहाळंदा ॥१९४३॥

'किं पुन' किं पुनर्न परिपत्तित्ति जे नित्यमवसन्ना मे च नित्यं पादवंस्था मे वा सदा कुसीलाः संसक
वा स्वच्छन्नाः ॥१९४३॥

तत्र अवसन्नाः निरूप्यन्ते—

गच्छहि केद्द पुरिसा पक्खी इव पञ्जरंतरभिकद्धा ।
सारणपञ्जरभिकद्धा ओसण्णान्ना वावेहरंति ॥१९४४॥

यथा कर्मिणो क्षुण्णः मार्गादीनोऽवसन्न इत्युच्यते स इत्यतोऽवसन्नः । आभावसन्नः बहुद्वारिणः सीदति
उपकरणे, वसति संस्तरप्रतिलेखने, स्वाध्याये, विहारभूमिषोभने, गोचारबुद्धी, ईर्यासमित्यादिषु, स्वाध्यायका-
लावलोकने, स्वाध्यायविसर्गे, गोचारे, च अनुचतः, आबन्धकेष्वलसः, अनातिरिक्तो वा अनाधिकं करोति
कुर्वन् च यथोक्तमावश्यकं वाक्यायाम्नां करोति न भावत एवमूत्पचारिणेऽप्यसीदतीत्यवसन्नः । पञ्चानं पञ्चदश

वा०—यदि अपनी आत्माकी सम्यक् भावना करने वाले भी संस्तरपर आरुढ़ ही, संकलेश-
के कारण मरते समय सम्मार्गसे विर जाते हैं ॥१९४२॥

वा०—तो जो नित्य अवसन्न, नित्य पादवंस्थ, सदा कुसील, संसक और स्वच्छन्न साधु
हैं उनका कहना ही क्या है ? ॥१९४३॥

वा०—टी०—अवसन्न आदिका स्वरूप कहते हैं—

जैसे कोई पुरुष कीचड़में फँस गया या मार्गमें बक गया तो उसको अवसन्न कहते हैं ।
वह इत्यरूपसे अवसन्न है । उसी प्रकार जिसका चारिण अशुद्ध होता है वह भाव अवसन्न होता
है । वह उपकरणमें, वसतिकाममें, संस्तरके शोधनेमें, स्वाध्यायमें, विहार करनेकी भूमिके शोधनेमें,
गोचरीकी बुद्धतामें, ईर्यासमिति आदिमें, स्वाध्यायके कालका ध्यान रखनेमें और स्वाध्यायकी
समाप्तिमें सत्पर नहीं रहता । छह आवश्यकोंमें आलस्य करता है । या दूसरोंसे करता सो अधिक
है किन्तु बचन और कामसे करता है, भावसे नहीं करता । इस प्रकार चारित्रिका पालन करते
हुए अक्षिण्य होता है इससे उसे अवसन्न कहते हैं ।

१. इस वाक्या पर किसी प्रति में कर्मक नहीं दिया है । न इस पर किसी की टीका ही है । सं०

सत्त्वभीषज्येन कषिपत् गच्छति, यथासौ मार्गपाश्वर्यः, एवं निरतिचारसंयममार्गं जाम्बुपि न लव वर्तते, किन्तु संयममार्गपाश्वर्यं तिष्ठति मैकान्तेनासंयतः, न च निरतिचारसंयमः^१ सोऽभिधीयते पाश्वर्यं इति । श्याधरपिण्डम्-भिहितं नित्यं च पिण्डं मुहुक्ते, पूर्वापरकालयोर्द्विसंस्तवं करोति, उत्पादनैवगाद्योयदुष्टं वा मुहुक्ते, नित्यमेकस्यां बसतोवसति, एकस्मिन्नेव संस्तरे शेते, एकस्मिन्नेव शोभे बसति । गृहिणां गृहाम्भन्तरे निवर्त्तानं करोति, गृहस्थोप-करणीयं बहुरति, दुःप्रतिलेखमप्रतिलेखं वा गृह्णाति, सूषीकर्त्तरिनखच्छेदसंबंधानपट्टिकाभुरकर्मशोधनाजिनयाही, सीबनप्रखालनाचपूननरञ्जनादिबहुपरिकर्मभ्यापुतुष च वा पाश्वर्यं । क्षारचूर्णं सौवीरलवणसर्पिरित्यादिकं जनामाहकारभोजपि गृहोत्वा स्थापयन् पाश्वर्यं । रात्री यषेष्ट शेते, संस्तरं च यथाकामं बहुतरं करोति । उपकरणबकुशो देहबकुशः—दिवसे वा शेते च यः पाश्वर्यः । पदप्रक्षालनं^२ प्रक्षरणं वा यत्कारण-मन्त्रेण करोति, यथैव गणोपजीवी^३ तुणपञ्चकसेवापरत्वं पाश्वर्यं । अयमत्र संक्षेप — व्योम्यं मुलशीलतया यो निषेधते कारणमन्त्रेण स सर्वथा पाश्वर्यः । कुत्सितशीलः कुशीलः । यद्येवं अबसन्नादीना कुशीलत्वं प्राप्नोति, नैवं लोकप्रकटकुत्सितशीलः कुशील इति विवेकोऽयं ब्राह्मणः । स च कुशीलांजेकप्रकारः कषिपत्कौ-तुकशीलः औषधवितेपनविद्याप्रयोगैर्गव, सौभाग्यकरणं राजद्वारिकीतुकमादर्थयति य स कौतुककुशीलः ।

जैसे कोई मार्गको देखते हुए भी उस मार्गसे न जाकर अन्य उसके समीपवर्ती मार्गसे जाता है, उसे मार्ग पाश्वर्य कहते हैं । इसी प्रकार जो निरतिचार संयमका मार्ग जानते हुए भी उसमें प्रवृत्ति नहीं करता किन्तु संयमके पाश्वर्यवर्ती मार्गमें चलता है, वह न तो एकान्तसे असयमी है और न निरतिचार संयमी है । उसे पाश्वर्य कहते हैं । श्याधरपिण्डका स्वरूप पहले कहा है उस भोजनको नित्य करता है । भोजन करनेसे पहले और भोजन करनेके पश्चात् दाताकी स्तुति करता है । अथवा उत्पादन और एषणा दोषसे दूषित भोजन करता है । नित्य एक ही वसतिकाममें रहता है । एक ही संस्तरपर सोता है । एक ही क्षेत्रमें रहता है । गृहस्थोंके घरके भीतर बैठता है । गृहस्थोंके उपकरणोंका उपयोग करता है । बिना प्रतिलेखनाके वस्तुको ग्रहण करता है या दुष्टता पूर्वक प्रतिलेखना करता है । सुई, कैंची, नख काटनेके लिये नहिनी, छुरा, कानका मेल निकालनेकी सीक, चर्म आदि पासमें रखता है । और सीना, घोना, रंगना आदि कार्योंमें लगा रहता है, वह पाश्वर्य है । क्षारचूर्ण, सुर्मा, नमक, घी इत्यादि बिना कारण ग्रहण करके पासमें जो रखता है वह पाश्वर्य है । जो रातमें मनमाना सोता है, संस्तर इच्छानुसार लम्बा चौड़ा बनाता है वह उपकरण बकुश है । जो दिनमें सोता है वह देहबकुश है । ये भी पाश्वर्य हैं । जो बिना कारण पैर धोता है और तेल लगाता है तथा जो गणोपजीवि है वह पाश्वर्य है । सारांश यह है कि सुखशील होनेके कारण जो बिना कारण अयोग्यका सेवन करता है वह सर्वथा पाश्वर्य है ।

जिसका शील कुत्सित है वह कुशील मुनि है

ब्रह्मण—यदि ऐसा है तो अबसन्न आदि भी कुशील कहलायेंगे ।

समाधान—नहीं, क्योंकि लोकमें जिसका कुत्सित शील प्रकट है वह कुशील है, यह में भेद ग्रहण करना चाहिये । वह कुशील अनेक प्रकारका होता है । कोई कौतुक कुशील होता है जो औषध लगानेकी विद्याके प्रयोग द्वारा सौभाग्यके कारण राजद्वारमें कौतुक दिखलाता है ।

कविचत् भूतिकर्मकुशीलः भूतिकर्महृत्कर्मकर्ता भूत्वा, भूत्वा, शिष्टार्थकः, भूम्नि, फलीस्वकारिनिर्वा पतिनै रक्षां कवीकरणं वा यः करोति स भूतिकुशीलः । उच्यते च—

भूतीन्व भूतीन् वा शिष्टस्वन् भूत्कर्मकृत्कवीर्हि ।

रक्षन् कविचरन् वा कवी च भूतिकुशीलः ॥

कविचत्प्रसेनिकाकुशीलः, अंगुष्ठप्रसेनिका, अक्षरप्रसेनी, प्रदीपप्रसेनी, शशिप्रसेनी, सूर्यप्रसेनी स्वप्नप्रसेनीस्वेषमादिभिर्जनं रञ्जयति यः सोऽभिधीयते प्रसेनिकाकुशील इति । कविचत्प्रसेनिकाकुशीलः विद्याभ्रमन्वैरीवच-प्रबोधिर्वा असद्यत चिकित्सां करोति शोऽप्रसेनिकाकुशीलः । कविचत्प्रसेनिकाकुशीलः अष्टाङ्गनिमित्तं ज्ञात्वा यो लोकस्यादेकं करोति स निमित्तकुशीलः । ज्ञात्मनो जातिं कुलं वा प्रकाश्य यो विद्याधिकमुत्पादयति स आजीव-कुशीलः । केनचिदुपद्रुतः पर क्षरन् प्रविष्टाति, अनाथशालां वा प्रविश्य आत्मनश्चिकित्सां करोति स वा आजीवकुशीलः । विद्यायोगादिभिः परदम्बापहरणदम्भप्रदर्शनपरः कवचकुशीलः । इन्द्रजालादिभिर्यो जनं विस्मापयति सोऽभिधीयते कुहनकुशील इति । वृक्षपुष्पादीनां पुष्पाणां, फलानां च संभवमुपदर्शयति, गर्भस्थाप-नादिकं च करोति यः स मंयुच्छंनकुशीलः । ऋषजातीनां, कीटादीनां, वृक्षादीनां, पुष्पफलादीनां, गर्भस्य परिशासनं आभिव्यारिकं च यः करोति शापं च प्रयच्छति स प्रपातनकुशीलः ॥ उच्यते च—

काञ्चित्कवचिकम्बे पतिना पतिन्वे चिन्तितवाजीने ।

कवचकुहनं सन्मुच्छन् वपाववाचीकुशोले तु ॥ इति ॥

कोई भूतिकर्मकुशील होता है । यहाँ भूति शब्दसे भस्म, धूल, सरसो, पुष्प, फल, अथवा जल आदिसे मंत्र पढ़कर रक्षा या वशोकरण जो करता है वह भूतिकर्म कुशील है । कहा है—

जो भस्म, धूल, सरसों, पुष्प, फल, जल आदिके द्वारा रक्षा या वशोकरण करता है वह भूतिकर्म कुशील है । कोई प्रसेनिकाकुशील होता है जो अंगुष्ठप्रसेनिका, अक्षरप्रसेनिका, शशिप्रसेनिका, सूर्यप्रसेनिका, स्वप्नप्रसेनिका आदि विद्याओंके द्वारा लोगोंका मनोरजन करता है । कोई अप्रसेनिका कुशील होता है जो विद्या, मंत्र और औषध प्रयोगके द्वारा असंयमी जनोका इलाज करता है । कोई निमित्तकुशील होता है जो अष्टाङ्ग निमित्तोंको जानकर लोगोंको इष्ट अनिष्ट बतलाना है । जो अपनी जाति, अथवा कुल बतलाकर भिक्षा आदि प्राप्त करता है वह आजीवकुशील है । जो किसीके द्वारा सताये जानेपर दूसरेको शरणमें जाता है अथवा अनाथशाला-में जाकर अपना इलाज कराता है वह भी आजीव कुशील होता है । जो विद्या प्रयोग आदिके द्वारा दूसरोंका द्रव्य हरने और दम्भप्रदर्शनमें तत्पर रहता है वह कवचकुशील होता है । जो इन्द्रजाल आदिके द्वारा लोगोंको आश्चर्य उत्पन्न करता है वह कुहनकुशील है । जो वृक्ष, झाड़ी, पुष्प और फलोंको उत्पन्न करके बताता है तथा गर्भस्थापना आदि करता है वह सम्मुच्छंनकुशील है । जो ऋषजातिके कीट आदिका, वृक्ष आदिका, पुष्प फल आदिका तथा गर्भका विनाश करता है, उनकी हिंसा करता है, शाप देता है वह प्रपातन कुशील है । कहा है—

कौतुक कुशील, भूतिकर्म कुशील, प्रसेनिका कुशील, अप्रसेनिका कुशील, निमित्तकुशील, आजीव कुशील, कवचकुशील, कुहनकुशील, सम्मुच्छंनकुशील, प्रपातन कुशील आदि कुशील होते

आविद्यान्वपरिवृहीताः कुशीला उच्यन्ते—अत्र हिरण्यं चतुर्ष्वथं च परिग्रहं ये गृह्णन्ति हरितकण्ठक-
भोजिनः कृतकारितानुभवतिष्ठोपविषसतिसेवापराः, स्त्रीधारणतय, मैथुनसेवापरावणाः, विवेकात्मिकावि-
अधिकरणोच्छताय कुशीलाः । धृष्टः प्रमत्तः विकृतवेषध कुशीलः । संसक्तो निरुच्यते—त्रिप्रचारित्रे त्रिप्र-
चारित्र अत्रिप्रचारित्रे वृष्टे अत्रिप्रचारित्रः, नटवदनेकरूपप्राही संसक्तः । पञ्चैन्द्रियेषु प्रसक्तः त्रिविधनौरव-
प्रतिबद्ध, स्त्रीविषये संकलेशसहितः, गृहस्थजनप्रियवध संसक्तः । 'अवसन्धो' अवसन्तः । पादर्वस्वसंसागत्यव-
मपि पादर्वस्वः, कुशीलसंसागत्यवमपि कुशीलः, यः स्वच्छन्दसंपर्कस्त्वयमपि स्वच्छन्दवृत्तिः । यथाच्छन्दो
निरुच्यते—उत्सूत्रमनुपविष्टं स्वेच्छाविकल्पितं यो निरुच्यति सोऽभिधीयते यथाच्छन्द इति । तथाचा बर्षं पठति
अलधारणमसंयम क्षुरकर्तारिकादिभिः केषामयनप्रशंसनं आत्मविराधनान्यथा भवतीति भूमिशय्या तुणपुञ्जे
वसत अवस्थितानामावासेति, उद्देशिकाधिके 'अनेशोऽथः क्षामं सकलं पठंतो महती जीवनिकायविराधनेति,
'गृह्यामत्रेषु भोजनमदोष इति कथन, पाणिपायिकस्व परिशातनदोषो भवतीति निरूपणा, सप्रति यथोक्तकारी न
विद्यत इति च भावन एवमादिनिरूपणापराः स्वच्छन्दा इत्युच्यन्ते ॥१९४४॥

हैं । माधामे आये आदि शब्दसे ग्रहण किये कुशीलोको कहते हैं—जो क्षेत्र, सुवर्ण, चोपाये आदि
परिग्रहको स्वीकार करते हैं, हरे कंद, फल खाते हैं, कृत कारित अनुभोदनासे युक्त भोजन, उपाधि
वसतिकाका सेवन करते हैं, स्त्रीकथामें लीन रहते हैं, मैथुन सेवन करते हैं, आसबके अधिकरणोमे
लगे रहते हैं वे सब कुशील हैं । जो धृष्ट, प्रमादी और विकारयुक्त वेष धारण करता है वह
कुशील है ।

अब संसक्तका स्वरूप कहते हैं । चारित्र प्रेमियोंमें चारित्रप्रेमी, और चारित्रसे प्रेम न
करनेवालोंमें चारित्रके अप्रेमी, इस तरह जो नटकी तरह अनेक रूप धारण करते हैं वे संसक्त मुनि
हैं । जो पञ्चैन्द्रियोंके विषयोमें आसक्त होते हैं, श्रद्धिगारव, सातगारव और रसगारवमें लीन होते
हैं, स्त्रियोंके विषयमें रागरूप परिणाम रखते हैं, और गृहस्थजनोंके प्रेमी होते हैं वे संसक्त मुनि
हैं । वे पादर्वस्वके संसर्गसे पादर्वस्व, कुशीलके संसर्गसे कुशील और स्वच्छन्दके सम्पर्कसे स्वयं भी
स्वच्छन्द होते हैं ।

अब यथाच्छन्दका स्वरूप कहते हैं—जो बात आगममें नहीं कही है, उसे अपनी इच्छानु-
सार जो कहता है वह यथाच्छन्द है । जेमे वर्षामें जलधारण करना अपात्त बुझाके नीचे बैठकर
ध्यान लगाना असंयम है । छुरे कैंची आदिके केश काटनेकी प्रशंसा करना और कहना कि केश-
लोष करनेसे आत्माकी विराधना होती है । पुष्पीपर सोनेसे तुणोंमें रहनेवाले जन्तुओंको बाधा
होती है । उद्दिष्ट भोजनमें कोई दोष नहीं है क्योंकि भिक्षाके लिये पूरे ग्राममें भ्रमण करनेसे
बोध निकायकी महती विराधना होती है । घरके पात्रोंमें भोजन करनेमें कोई दोष नहीं है ऐसा
कहना । जो हाथमें भोजन करता है उसे परिशातन दोष लगता है ऐसा कहना । आजकल
आगमानुसार वाचरण करनेवाले नहीं हैं ऐसा कहना । इत्यादि कहने वाले मुनि स्वच्छन्द कहे
जाते हैं ॥१९४४॥

१. च पुष्पं च-अ० । २. विवेकादि-आ० । ३. अकरणो-अ० । ४. के जीवने वृ० ।
५. गृह मायादु भो-अ० आ० ।

अविमुद्रमायवोसा कथायवसथा य मन्वसवेया ।

अज्यासाद्वलीला मायावदुल्ल निदायकदा ॥१९४५॥

'अविमुद्रमायवोसा' मायाः सम्म्यग्दर्शनसाधारित्रपरिणामाः, तेषां बोधाः शङ्कावयः ते अविमुद्रा अभिराकृता वैस्ते अविमुद्रमायवोधाः । 'कथायवसथा' कथायवसवतिनः । मन्वसवेयाः । 'अज्यासाद्वलीला' गुणानां गुणिनां आपमानकारित्रः । प्रचुरमायानिवानं यथाः ॥१९४५॥

सुहसादा किमज्या गुणसावी पावसुचपडिसेवी ।

विसयासापडिबद्धा गारवगलया पमाह्लसा ॥१९४६॥

'सुहसादा' सुखास्वादनपराः । 'किमज्या' किं मह्यं केनचिदिति सर्वेणु संभकार्येष्वनादृताः । 'गुणसावी' गुणेषु सम्म्यग्दर्शनादिषु घेरत इव निरस्ताहाः । 'पावसुचपडिसेवी' आत्मनः परेषां वा अणुप्रपरिणामस्य निष्पत्त्यात्संयमकथायायां प्रवर्तकं शास्त्रं पापसूत्रं निमित्तं, वैशकं, क्रीटिस्थं, स्त्रीपुरुषकलणं, चातुषादः, काव्यनाटकानि, चोरशास्त्रं, शस्त्रकलणं, प्रहरणविधाधिनकलागाल्भ्यर्वयम्यमुक्तयाधिकं दत्तस्मिन् पापसूत्रे कृतापराम्भ्यासाः 'विसयासापडिबद्धा' अभिमतविषयपरिप्राप्त्यर्थां वा भाषा तस्यां प्रतिबद्धाः, 'सिवाएवगुणका' गारववर्गगुणवः । 'पमाह्लसा' विकवादिपञ्चदशप्रमादतहिताः ॥१९४६॥

समिदीसु य गुचीसु य अमाविदा सीलसंजमगुसेसु ।

परतचीसु य तथा अजाहिदा भावसुडीए ॥१९४७॥

'समिदीसु' यं समितिषु गुतिषु य संयमगुणेषु भावनारहिताः परम्यापारेषु प्रवृत्ता भावसुद्धाः यनावृताः ॥१९४७॥

उक्त प्रकारके क्षपक मरते समय सन्ध्यावसि बसों ज्युत हो जाते हैं यह सात मायावसि कहते हैं—

या०-टी०—ये क्षपक सम्म्यग्दर्शन, सम्म्यग्ज्ञान, सम्म्यक् चारित्ररूप परिणामोंके जो क्षांका आदि बोध हैं उन्हें दूर नहीं करते हैं। कथायोंके बशवर्ती होते हैं, उनका संवेगभाव मन्द होता है, गुणोंका और गुणीजनोंका वे अपमान करते हैं, तथा माया और निदानशाल्यकी उनमें प्रचुरता होती है ॥१९४५॥

या०-टी०—ये सुखशील होते हैं, मुझे किसीसे क्या, ऐसा मानकर वे संघके सब कार्योंमें खनादरभाव रखते हैं, सम्म्यग्दर्शन आदि गुणोंमें उनका उत्साह नहीं होता। अपने और दूसरोंके अज्ञान परिणामको तथा मिथ्यात्व, असंयम और कथायको बढ़ानेवाला शास्त्र पापसूत्र है। निमित्त शास्त्र, वैशक, क्रीटिस्थशास्त्र (राजनीति), स्त्री पुरुषके कलण बतलानेवाला कामशास्त्र, चातुषाद (औसिकी), काव्य नाटक, चोरशास्त्र, शस्त्रोंका कला बतलानेवाला शास्त्र, प्रहार करनेकी विद्या, धिनकला, वांश्वर् (नाच गाना), मन्वशास्त्र, युक्तिशास्त्र आदि पापशास्त्रोंमें उनका आदर होता है, उसीका वे अध्ययन करते हैं। इष्ट विषयोंकी भाषामें रग्नो रहते हैं, सील गारवमें क्षासक होते हैं। विकवा आदि पन्द्रह प्रमायोंमें युक्त होते हैं ॥१९४६॥

या०—समिति, गुति और सील तथा संयमके गुणोंमें भावनासे रहित होते हैं। लौकिक कार्योंमें संलग्न रहते हैं भावोंकी शुद्धिकी ओर ध्यान नहीं देते ॥१९४७॥

मंथअभियत्तण्हा बहुमोहा सबलसेवणासेवी ।
सहरसरुबगंधे फासेसु य हुच्छिदा 'बन्दिदा ॥१९४८॥

'मंथान्धिततण्हा' अतुप्तपरिसहत्तुष्णा, 'बहुमोहा' अज्ञानबहुलाः । सबलसेवनापराः, सम्बन्धिषु विषयेषु मुञ्जिताः 'तवचटिताः ॥१९४८॥

परलोगनिष्पिवासा इहलोके षेव जे सुपडिबदा ।
सज्जायादीसु य जे अणुदिठदा संकिलिट्ठमदी ॥१९४९॥

'परलोगनिष्पिवासा' परलोकनिःस्पृहाः, ऐहिकेष्वेव कार्येषु प्रतिबद्धाः, स्वाध्यायादिष्वनुद्यताः, संकिलष्टमतयः ॥१९४९॥

सज्जेसु य मूलुसरगुणेषु तह ते सदा अहचरंता ।
ण लहति खवोवसमं चरिचमोइस्स कम्मस्स ॥१९५०॥

मूलोत्तरगुणेषु सदा सातिचारा न लभन्ते चारित्रमोहस्य क्षयोपशमं ॥१९५०॥

एवं मूढमदीया अवंतदोसा करेति जे कालं ।
ते देवदुग्धमगच्छं मायामोसेण पावति ॥१९५१॥

'एवं मूढमदीया' एवं मूढबुद्धयो अनपास्तदोषा ये कालं कुर्वन्ति ते देवदुर्गतां प्राप्नुवन्ति मायया ॥१९५१॥

किंमज्झ भिरुच्छाहा हवंति जे सज्जसंघकज्जेसु ।
ते देवसमिदिबज्जा कप्पते हुंति सुरमिच्छा ॥१९५२॥

'किं मज्झभिरुच्छाहा' किं मज्झमिति ये सर्वसंघकार्येष्वनादृतास्ते देवसमिदिवाह्याः कल्पानामन्ते सुरभ्लेच्छा भवन्ति ॥१९५२॥

शा०—उनकी परिग्रहकी तुष्णा कभी तुप्त नहीं होती । अज्ञानमें डूबे रहते हैं । गृहस्थोंके आरम्भमें फँसे होते हैं, शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्शमें मग्नत्वभाव रखते हैं ॥१९४८॥

शा०—परलोककी चिन्ता नहीं करते । इसी लोक सम्बन्धी कार्योंमें लगे रहते हैं । स्वाध्याय आदिमें उद्यम नहीं करते । उनकी मति संकलेशमय होती है ॥१९४९॥

शा०—सदा मूलगुणों और उत्तरगुणोंमें अतिचार लगाते हैं । इससे उनके चारित्रमोहका क्षयोपशम नहीं होता ॥१९५०॥

शा०—इस प्रकार दोषोंको दूर न करनेवाले वे मूढबुद्धि जब मरते हैं तो मायाचारके कारण अभागे देव होते हैं ॥१९५१॥

शा०—वे मुनि अवस्थामें 'शुद्धे इस्से क्या' ऐसा मानकर संघके सब कार्योंमें अनादर

कंदर्पभावनाय देवा कंदर्पिया मदा ह्येति ।
 खिन्मिसयभावनाय कालगदा ह्येति खिन्मिसया ॥१९५३॥
 अभिजोगभावनाय कालगदा अभिजोगिया हुति ।
 तह आसुरीय जुषा इवन्ति देवा असुरकाया ॥१९५४॥
 सम्मोहनाय कालं करिषु दुंदुगा सुरा हुति ।
 अण्यपि देवदुग्माइ उवयन्ति विराधया मरणे ॥१९५५॥

स्पष्टार्थमुत्तरगायानयं ॥१९५३॥१९५४॥१९५५॥

इय जे विराधयिचा मरणे असमाधिना मरेज्जणह ।
 तं तेसि बालमरणं होइ फलं तस्स पुण्णुचं ॥१९५६॥

'इय जे विराधयिचा' एवं जे रत्नत्रयं विनाश्य मरणकाले असमाधिना मृतिमुपयान्ति तत्तेषां बाल-
 मरणं भवति । तस्य बालमरणस्य फलं पूर्वमुक्तमेव ॥१९५६॥

जे सम्मचं खवया विराधयिचा पुणो मरेज्जणह ।
 ते भवणवासिजोदिसभोमेज्जा वा सुरा ह्येति ॥१९५७॥

'जे सम्मचं खवया' जे क्षपकाः सम्यक्त्वं विनाश्य भ्रियन्ते भवनवासिनो ज्योतिष्का व्यन्तरा वा
 भवन्ति ॥१९५७॥

दंसजणावधिहृषा तदो जुदा दुक्खवेदणुम्भीए ।
 संसारमण्डलगदा भयन्ति भवसागरे मूढा ॥१९५८॥

भाव रखनेके कारण देवोंकी समितितसे बहिष्कृत सीधर्मादि कल्पोंके अन्तमें बसनेवाले चाण्डाल
 जातिके देव होते हैं ॥१९५२॥

भा०—कन्दर्प भावनासे मरकर कन्दर्प जातिके देव होते हैं । किन्त्विवभावनासे मरकर
 किन्त्विक जातिके देव होते हैं ॥१९५३॥

भा०—आभियोग्य भावनासे मरकर आभियोग्य जातिके देव होते हैं । तथा आसुरी
 भावनासे मरकर असुर जातिके देव होते हैं ॥१९५४॥

भा०—सम्मोहन भावनासे मरकर दुंदुग जातिके देव होते हैं । अन्य भी विराधना
 करके मरनेवाले मुनि देवगतिमें हीन देव होते हैं ॥१९५५॥

भा०—इस प्रकार जो क्षपक मरते समय रत्नत्रयको नष्ट करके असमाधिपूर्वक मरते हैं
 उनका बह मरण बालमरण होता है और उस बालमरणका फल पूर्वमें कहा है ॥१९५६॥

भा०—जो क्षपक सम्यक्त्वको नष्ट करते मरते हैं वे मरकर भवनवासी, व्यन्तरा वा
 ज्योतिषीदेव होते हैं ॥१९५७॥

भा०—सम्पददर्शन और सम्यग्ज्ञानसे रहित जे मूढदेव स्वर्गसे प्युत होकर दुःखकी वेदना-
 रूपी कहरासे अरे संसारसमूहमें भ्रमण करते हैं ॥१९५८॥

‘संज्ञकवाचिणीया’ सम्यक्दर्शनज्ञानाहीनास्ततः स्वर्णाञ्जुता दुःखवेदनांशिकी भयघाते नूना प्रकल्पित,
संसारमण्डलं यताः ॥१९५८॥

जो मिच्छन्तं गंतुं किञ्चिन्नेसादिपरिणदो भवति ।

तच्छेस्सो सो जायइ जन्नेस्सो कुणदि सो कालं ॥१९५९॥

‘जो मिच्छन्तं गंतुं’ यः कृष्णलेखादिपरिणतो मिथ्यात्वं गत्वा त्रियते तस्मैभ्यो जायते । परम च
यस्मैभ्यः कालं कृतवान् । फलति ॥१९५९॥

विजह्णा निरूप्यते—

एवं कालगतस्स दु सरीरमंतोव्व होज्ज वाहिं वा ।

विज्जावच्चकरा तं सयं विकिंचति जदणाए ॥१९६०॥

‘एवं कालगतस्स’ एवं कालगतस्य शरीरमन्तर्बहिर्वास्तितं वैयावृत्यकराः स्वयमेवापनयन्ति
यत्नेन ॥१९६०॥

समभाणं ठिदिक्कप्पो वासावासे तद्देव उडुबंघे ।

पडिलिद्धिदव्वा भियमा जिसीहिया सव्वसाधुहिं ॥१९६१॥

‘समभाणं ठिदिक्कप्पो’ धमणाना स्थितिकल्पो वर्षावासे ऋतुप्रारम्भे च नियमेन सर्वं साधुनिर्वाचिका
नियमेन प्रतिलेखनीया ॥१९६१॥

तस्या लक्षणमाचष्टे—

एगंता सालोगा णादिबिक्किट्ठा ण चावि आसण्णा ।

विस्थिण्णा विद्धत्ता जिसीहिया दूरमागाढा ॥१९६२॥

भा०—जो क्षपक मिथ्यादृष्टि होकर कृष्ण आदि लेख्याके साथ मरता है वह जिस लेख्याके
साथ मरता है उसी लेख्यावाला होकर जन्म लेता है ॥१९५९॥

भा०—इस प्रकार नगर आदिके मध्यमे या नगरसे बाहर मरणको प्राप्त उस क्षपकके
शरीरको वैयावृत्य करनेवाले परिचारक मुनि स्वयं ही सावधानतापूर्वक हटा देते हैं ॥१९६०॥

भा०—वर्षा ऋतुके चार मासोंमें एक स्थानपर वास प्रारम्भ करते समय और ऋतुके
प्रारम्भमें सब साधुओंको नियममें निर्वाचिकाकी प्रतिलेखना करना चाहिये, यह साधुओंका
स्थितिकल्प है ॥१९६१॥

विक्षेपार्थ—मुमुक्षु साधुगण तो अपने शरीरमें भी निरीह होते हैं वे मृत क्षपकके शरीरको
हटानेका प्रयत्न क्यों करते हैं ? ऐसी शंका हानेपर आचार्य उत्तर देते हैं कि पूर्वमें साधुओंके जो
दस स्थितिकल्पोंका कथन किया है, उसमें एक मास और पञ्चोसवण कल्प भी हैं । उसके अनुसार
जब साधु वर्षा योग धारण करते हैं या ऋतुका प्रारम्भ होता है तब उन्हें निर्वाचिका दर्शन करना
आवश्यक होता है । जहाँ क्षपकके शरीरको स्थापित किया जाता है उस स्थानको निर्वाचिका
कहते हैं । इसलिये निवद्याका दर्शन साधुओंका आवश्यक कर्तव्य होनेसे मुमुक्षु साधु निवद्याके
निर्माणके लिये स्वयं प्रयत्न करते हैं ॥१९६१॥

‘स्यंता सास्तेया’ एकांता परैः प्रायेणावृष्या नातिदूरा मात्यासन्ना विस्तीर्णा विष्वस्ता दूरमव-
पन्ना ॥१९६२॥

‘अविमुय अमुसिर अषसा सा उज्जोवा बहुसमा असिण्दिदा ।

विज्जंतुमा अरहिदा अबिळा य तद्दा अणावाणा ॥१९६३॥

जा अवरदक्खिणाए न दक्खिणाए व अहव अवराए ।

वसधीदो विरहज्जइ विसीधिवा सा पसत्थचि ॥१९६४॥

‘जा अवरदक्खिणाए’ अपरदक्षिणाद्यायां, दक्षिणस्या, अपरस्या वा दिशि वसतितः निषीधिका
ब्रह्मस्ता ॥१९६३॥१९६४॥

सव्वसमाधी पढमाए दक्खिणाए दु मसमो सुलमं ।

अवराए सुविहारो होदि य से उवाचलाभो य ॥१९६५॥

‘सव्वसमाधी पढमाए’ सर्वेषां समाधिभवति ‘पढमाए’ अपरदक्षिणादिगवस्थिताया निषीधिकाया,
दक्षिणविष्वक्स्थितायाभाहारः सुलमः । पवित्रमार्गां सुखविहारः उपकरणलाभश्च ॥१९६५॥

अदि तेमिं वाचादो दहुव्वा पुज्वदक्खिणा होइ ।

अवरुत्तरा य पुव्वा उदीचिपुज्वत्तरा कमसो ॥१९६६॥

‘अदि त्तेमिं वाचादो’ यदि ता निषीधिका न लभ्यन्ते, पूर्वदक्षिणनिषीधिका ब्रह्मव्या, अपरोत्तरा वा
पूर्वा वा उदीची वा पूर्वोत्तरा वा क्रमेण ॥१९६६॥

निषयाका लक्षण कहते हैं—

वा०—निषीधिका एकान्त स्थानमें होना चाहिये जहाँ दूसरे लोग उसे न देख सकते हों ।
नगर आदिसे न अति दूर और न अति निकट होनी चाहिये । विस्तीर्ण होनी चाहिये । प्रासुक
होनी चाहिये तथा अतिदृढ़ होनी चाहिये ॥१९६२॥

वा०—बहु भीटियोंसे रहित होनी चाहिये । अन्तर प्रवेश कराने वाले छिद्रोंसे रहित होनी
चाहिये । प्रकाशवालो होनी चाहिये । समभूमि होनी चाहिये । गीलो नहीं होनी चाहिये, जन्तु
रहित होनी चाहिये । छिद्रछे छिद्रबाला नहीं होनी चाहिये तथा बाघारहित होनी चाहिये ॥१९६३॥

वा०—एषा बहु निषीधिका क्षपकके स्थानसे पश्चिम-दक्षिण दिशामें या दक्षिण दिशामें
या पश्चिम दिशामें हो तो उत्तम होती है ॥१९६४॥

वा०—यदि निषीधिका पश्चिम-दक्षिण दिशामें हो तो सर्व संघको समाधिलाभ होता
है । यदि दक्षिण दिशामें हो तो संघको आहार लाभ सुलभ होता है । यदि पश्चिम दिशामें हो
तो संघका विहार सुखपूर्वक होता है तथा उपकरणोंका लाभ होता है ॥१९६५॥

वा०—यदि उक्त दिशाओंमें निषीधिका निर्माणमें बाधा हो तो क्रमशः पूर्व दक्षिणमें,
पश्चिम-उत्तरमें, पूर्वमें या उत्तरमें या पूर्वोत्तरमें होना चाहिये ॥१९६६॥

१. एतां टीकाकारो वेत्तति । अतिदूर-वा०, अतिपुत्रा-मु० । २. अहरिदा मु० । ३. अषसा वा० ।
४. अविमुय वा०; अविमुयि-मु० ।

एदासु फलं कमसो जाणेज्ज तुमंतुमा य कलहो य ।

भेदो य गिलाणं पि य चरिमा पुण कद्ददे अण्णं ॥१९६७॥

'एदासु' एदासु निषीधिकसु फलं क्रमसो निवानीयात् । 'तुमंतुमा य' पूर्व-दक्षिणस्यां स्पष्टा अपः तरस्यां कलहः, पूर्वस्यां भेदः उदीच्या व्याधिः, पूर्वोत्तरस्यां अन्वयोभेदापकृष्यते ॥१९६७॥

जं वेलं कालगदो भिक्खु तं वेलमेव णीहरणं ।

जग्गणबंधणछेदणविधी अवेलाए कादव्वा ॥१९६८॥

'जं वेलं कालगदो भिक्खु तं वेलमेव णीहरणं' मस्यां वेलाया मृतो भिक्षुः तस्या वेलायामेवापनयनम कर्तव्यं, अवेलायां मृतश्चेत् जागरणं बन्धनं छेदनं वा कर्तव्यं ॥१९६८॥

के जागरणं कुर्वन्तीत्याचष्टे—

बाले बुद्धे सीसे तवस्सिभीरुगिलाणए दुहिदे ।

आयरिए य बिकिंचय चीरा जगंति बिदणिहा ॥१९६९॥

'बाले बुद्धे' बालबुद्धान्, शिक्षकान्, तपस्विनः, भीरुन्, - व्याधितान्, दुःखितानाचार्यान् अपाकृत्य धीरा जितनिद्रा जागरणं कुर्वन्ति ॥१९६९॥

के बन्धनीत्याचष्टे—

गीदत्था कदकरणा महाबलपरक्कमा महासत्था ।

बंधंति य छिदंति य करचरणंगुड्डयपदेसे ॥१९७०॥

शा०—किन्तु पूर्व-दक्षिण दिशामें होनेसे 'मै ऐसा हूँ, तुम ऐसे हो', इत्यादि रूप संघर्ष होता है। पश्चिमोत्तर दिशामें होनेसे कलह होता है। पूर्व दिशामें होनेसे संघर्ष भेद पड़ता है। उत्तर दिशामें होनेसे व्याधि होती है। पूर्वोत्तर दिशामें होनेसे परस्परमें खींचातानी होती है। यह क्रमसे उक्त दिशाओंमें निबद्धा बनानेका फल है ॥१९६७॥

विशेषार्थ—पं० आशाधर जीने अपनी टीकामें लिखा है कि पूर्वोत्तर दिशामें निबद्धा करनेसे दूसरे मुनिकी मृत्यु होती है ॥१९६७॥

शा०—जिस समय साधु मरे उसी समय उसे बहसि हटा देना चाहिये। यदि असमयमें मरा हो तो जागरण, बन्धन या छेदन करना चाहिये ॥१९६८॥

जागरण कौन करते हैं यह कहते हैं—

शा०—बालमुनि, बुद्ध मुनि, शिक्षक मुनि, तपस्वी मुनि, डरपोक मुनि, रोयी मुनि और दुःखित हृदय आचार्यों के सिवाय निन्द्रा की पीतनेवाले धीर मुनि जागरण करते हैं ॥१९६९॥

बांधते कौन हैं, यह कहते हैं—

शा० जो मुनि गृहीतार्थ होते हैं, जिन्होंने अनेक बार क्षयकोंका कर्म किया है, महाबल-

'कीर्त्या' गृहीतार्थाः, कृतकरणा महाबलपराक्रमा महासत्त्वा बन्धन्ति किञ्चिन्ति च करवरणं अकुप्य-
प्रथेकं वा ॥१९७०॥

एवमकरणे को दोष इत्याशङ्क्यां दोषनाशये—

अदि वा एस न कीरेज्ज विधि तो तत्थ देवदा कोई ।

आदाय तं कलेमरुद्धिज्ज रमिज्ज बावेज्ज ॥१९७१॥

'अदि वा एस' यथेय विधिर्न क्रियते कदाचिद्देवता श्रीबन्धोका मृतकमायाय उत्तिष्ठेत् प्रधावेन्नयेत वा
बाधमेवा तर्हन्नात् बालादीनां चित्तसंशोभः पकामर्णं मरणं वा भवेत् ॥१९७१॥

'उयसयपडिदावण्णं उवण्णमहिदं तु तत्थ उवकरणं ।

सागारियं च दुबिहं परिहारियमपरिहरियं वा ॥१९७२॥

अदि विक्खादा भसपइण्णा अज्जा व होज्ज कालमादो ।

देउलसागारिप्पि व सिवियाकरणं पि तो होज्ज ॥१९७३॥

'अइ विक्खादा भसपविण्णा' यदि सर्वजपप्रकटा सत्केसना आर्यिका वा भवेत् कालमता स्थानरक्षका
गृहस्था वा तत्र सिविका कर्तव्या ॥१९७२॥१९७३॥

तेन परं संठाविय संचारमदं च तत्थ वंचिप्पा ।

उद्धंतरक्खणहुं गामं तपो सिरं किञ्चा ॥१९७४॥

तेन परं संस्थाप्य तेन मृतकेन संस्तरबन्धात्ततो मृतकबन्धनं कृत्वा ब्रामाविमुक्तं शिरः कृत्वा उत्थान-
रक्षणार्थं ॥१९७४॥

शाली, महापराक्रमी, महासत्त्वशाली वे भुनि मृतकके हाथ, पैर या अगुठेको बांधते या छेदते
हैं ॥१९७०॥

ऐसा नहीं करनेमें दोष कहते हैं—

वा०—यदि यह विधि न की जाये तो कोई मनो-विनोदी देवता मृतकको उठाकर बीड़
सकता है, शींषा कर सकता है, बाधा पहुँचा सकता है और उसे देखकर बालक आदि का चित्त
चंचल हो सकता है, वे डरकर भाग सकते हैं और उनका मरण भी हो सकता है ॥१९७१॥

अनकके उपचारके लिये उपकरणोंके प्रकार बतलाते हैं—

वा०—कुछ उपकरण तो बसतिकासे सम्बद्ध होते हैं। कुछ उपकरण गृहस्थ सम्बन्धी
होते हैं। उनमेंसे कुछ त्याग्य होते हैं और कुछ त्यागने योग्य नहीं हैं ॥१९७२॥

अब आधिकारियोंकी संख्यास विधि कहते हैं—

वा०—यदि अक्ष प्रतिज्ञा मरण करने वाली विख्यात आर्यिका हो या कोई गृहस्था हो या
स्थान की रक्षिका हो तो उसके लिये सिविका बनाना चाहिये ॥१९७३॥

वा०—शिविका बनानेके पश्चात् उसके शब्दको सिविकामें रखकर संस्तरके साथ उसे

१. एतां दोषकारो वेच्छति ।

शुक्लामोषिय मग्नेष आसु गच्छन्ति तं समादाय ।
अद्भिदमणियत्तं ता य पिड्ढदो अजिम्भंता ॥१९७५॥

२ 'शुक्लामोषियमग्नेष' पूर्वालोकितेन मार्गेण आसु गच्छन्ति तस्मादाय अस्थितं अनिवर्तमानाः पृच्छत
बालोकनं मुक्त्वा ॥१९७५॥

कुसमुद्भि वेत्सुं य पुरदो एगेण होइ गंतव्वं ।
अद्भिदअणियत्तंतेण पिड्ढदो लोयणं मुक्त्वा ॥१९७६॥

'कुसमुद्भि वेत्सुं' कुसमुद्भि गृहीत्वा पुरस्तादेकेन गन्तव्यं, अस्थितं अनिवर्तमानेन अपृच्छाबलो-
किना ॥१९७६॥

तेण कुसमुद्भिधारणाय अब्बोच्छिण्णाय समणिपादाय ।
सथागे कादच्छेः सव्वत्थ समो सग्धि तत्थ ॥१९७७॥

'तेण कुसमुद्भिधारणाय' तेन पुरस्ताद्गतेन पूर्वनिरूपितनिर्घोषिकास्थानं कुसमुद्भिधारणाय अब्बुच्छिण्णया
समनिपातया सर्वत्र समः सस्तरः कार्यः सकृत्तत्र ॥१९७७॥

अत्थ ण होज्ज तणाइं चुण्णेहिं वि तत्थ केसरहेहिं वा ॥
संघरिदव्वा लेहा सव्वत्थ समा अब्बुच्छिण्णा ॥१९७८॥

'अत्थ ण होज्ज तणाइं' यत्र न लभ्यन्ते कुत्तूगानि तत्र चूर्णैर्वा केसरैर्वा सस्तरः कार्यः सर्वत्र
समोऽब्युच्छिण्णः ॥१९७८॥

बौध देना चाहिये जिससे वह उठ न सके । उसका सिर गाँवकी ओर रहना चाहिये ॥१९७४॥

भा०—उस शिविकाको लेकर पहले देखे हुए मार्गसे शीघ्र जाते है । न तो मार्गमें रुकते है
और न पीछेकी ओर देखते हैं ॥१९७५॥

भा०—उसके आगे एक मुट्टीमें कुस लेकर कोई मनुष्य जाना चाहिये । उसको भी न तो
मार्ग मे रुकना चाहिये और न पीछे देखना चाहिये ॥१९७६॥

भा०—उस आगे गये पुरुषको पहलेंसे देखे गये निर्घोषिकाके स्थानमें जाकर लगातार
मुट्टीसे एक समान कुस बालवे हुए एक संस्तर बनाना चाहिये जो सर्वत्र सम हो ॥१९७७॥

भा०—जहाँ कुस न मिलते हों वहाँ प्रासुक चाबल आदिके चूर्णसे अथवा प्रासुक केसरसे
संस्तर बनाना चाहिये जो सर्वत्र सम हो ॥१९७८॥

बिम्बेघावर्ष—गाथामें 'लेहा' पाठ है उसका अर्थ रेखा होता है । अतः आधाघर बीने
उसका यह अर्थ किया है कि चूर्ण या केसरसे मस्तकसे लेकर पैर तक समान रेखा बनाना चाहिये ।
हमारी समझके अनुसार यह वह क्रिया है जिसे चौक पूरना कहते हैं । जो सर्वत्र शुभ क्रियामें
किया जाता है ॥१९७८॥

वसन्तमे दोषमाचष्टे—

अदि विसृजो संघारो उदरिं मज्जे व होज्ज हेत्वा वा ।

मरणं गिल्लभ्यं वा गणिवसमज्जदीण जायन्वा ॥१९७९॥

'अदि विसृजो संघारो' यदि विषमः संस्तर उपरिष्ठात् मध्ये अवस्ताह्य । उपरिवैषम्ये गणिनो मरणं व्याधिर्वा, मध्ये विषमवसेत् कृपमस्य मरणं व्याधिर्वा, अवस्ताद्विषमत्वे वतीनां मरणं व्याधिर्वा ॥१९७९॥

अचो दिसाए गामो तचो सीसं करिषु सोवधियं ।

उट्ठं तरक्खणट्ठं बोसरिदम्भं सरीरं तं ॥१९८०॥

'अतो विसाए गामो' यस्यां विधिं प्रायः ततः सिरः कृत्वा सपिच्छकं शरीरं व्युत्प्लष्टम्, उत्पानस्र-
गार्थं श्रमादिगमभिमुक्तया शिरोरचना ॥१९८०॥

उपकरणस्थापनायां तत्र गुणमाचष्टे—

जो वि चिराधिय दंसणमत्ते कालं करिषु होज्ज सुतो ।

सो वि विबुज्जादि दट्ठण सदेहं सोवधि सज्जो ॥१९८१॥

'जो वि चिराधिय' योऽपि दर्शनं विनास्यान्ते कालगतस्फुरो भवेत् सोऽपि जानाति सोपकरणं स्वधेः
दृष्ट्वा प्राणहं नयत इति ॥१९८१॥

अथा माए रिक्खे अदि कालमदो सिवं तु 'सम्भोसि ।

'एक्को दु समे खेचे दिवद्धखेचे मरति दुवे ॥१९८२॥

संस्तरेके विषम होनेपर दोष कहते हैं—

शा०—यदि संस्तर ऊपर मध्यमें या नीचे विषम होता है तो ऊपरमें विषम होनेपर आचार्य का मरण या उन्हें रोग होता है । मध्यमें विषम होनेपर एलाचार्यका मरण या उन्हें रोग होता है । और नीचे पैरके पास विषम होनेपर अन्य साधुओंका मरण या उन्हें रोग होता है ॥१९७९॥

ब्रह्मोचार्य—आशाघर जी ने लिखा है कि उक्त व्याख्यान टीकाकारोंका है । किन्तु टिप्पणकमें कहा है—ऊपरमें विषम होनेपर गणिका मरण होता है । मध्यमें विषम होनेपर एलाचार्यको रोग होता है और नीचेमें विषम होने पर साधुओंको रोग होता है ॥१९७९॥

शा०—जिस दिशामें भ्राम हो, उस ओर सिर करके पीछीके साथ उस शब्दको रख देना चाहिये । शब्दके उठनेके भयसे उसका सिर गाँवकी ओर किया जाता है ॥१९८०॥

उपकरण (पीछी) स्थापित करनेके गुण कहते हैं—

शा०—जो सम्बन्धकी विराचना करके भरकर देव होता है वह भी पीछीके साथ अपनी शरीर (शब्द) देखकर ही यह जान लेता है कि मैं भी पूर्वभवमें संयमी था ॥१९८१॥

धर०—अल्पनाश्रममें यदि क्षणकका मरण होता है तो सबका कल्याण होता है । यदि

१. सम्भोसि—अ० जा० । २. एक्को दु सो तरिज्ज वत्ते विहवु विस्से मरति दुवो—आ० ।

‘सदमिसमरणा जहा सादा असलेस्त जिह्म अवरवरा ।

रोहिणिविसाहपुण्यसु चिउचरा मन्जिमा सेसा ॥१९८३॥

‘मत्ता माने रिक्ते’ अल्पनक्षत्रे यदि जपकः कालं नतः सर्वेभ्यः शिवं भवति, मध्यमनक्षत्रे यदि मृतः कल्पेभ्यो मृतिमुपैति, महानक्षत्रे यदि मृतो द्वयोर्भवति मरणं ॥१९८२-१९८३॥

गणरक्षणात्वं तन्मा तन्मयपदिर्विषयं सु कादृण ।

एषकं तु समे श्लेषे दिवद्दश्लेषे दुवे देज्ज ॥१९८४॥

‘गणरक्षणात्वं’ गणरक्षणात्वं तस्मात्पुण्यमयं प्रतिबिम्बकं कृत्वा मध्यमनक्षत्रे एकं बधात् । उत्तमनक्षत्रे प्रतिबिम्बद्वयं ॥१९८४॥

प्रतिबिम्बवानमाचष्टे—

तट्टाणसावणं चिय तिक्खुचो ठविय मडयपासम्मि ।

विदियवियप्पिय भिक्खु कुज्जा तह विदियतदियाणं ॥१९८५॥

‘सदृग्णसावणं’ मृतकपाएवं तत्प्रतिबिम्बं स्वाप्य त्रिकमुन्वैर्घोषयेत्, तस्मिन्स्थाने द्वितीयोर्जित इति एकार्यभेदं क्रमः । द्वयोः प्रतिबिम्बयोरुपने द्वितीयत्वी वस्ताविति त्रिः श्रावयेत् ॥१९८५॥

मध्यम नक्षत्रमें मरण होता है तो शेष साधुओंमेंसे एकका मरण होता है । यदि महानक्षत्रमें मरण होता है तो दो का मरण होता है ॥१९८२॥

भा०—शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा ये जघन्य नक्षत्र हैं । रोहिणी, विशाखा, पुनर्वसु, उत्तरा फाल्गुनी, उत्तरा भाद्रपद, उत्तराषाढा ये उत्कृष्ट नक्षत्र हैं । शेष नक्षत्र मध्यम है ॥१९८३॥

विशेषार्थ—पं० आशाधर जी ने कहा है, अल्प नक्षत्रसे मतलब है जो पन्द्रह मुहूर्त तक रहते हैं । ऐसे शतभिषक्, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा इन छहमेंसे एक नक्षत्र या उसके अंशमें मरण होनेपर सबका कल्याण होता है । जो नक्षत्र तीस मुहूर्त तक रहते हैं ऐसे अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्वफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वभाद्रपद, रेवती, इनमेंसे किसी एक नक्षत्र या उसके अंशमें मरण होनेपर एक अन्य मुनिकी भी मृत्यु होती है । जो नक्षत्र पैंतालीस मुहूर्त तक रहते हैं ऐसे उत्तर फाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तरा भाद्रपद, पुनर्वसु, रोहिणी, विशाखामेंसे किसी एक नक्षत्र या उसके अंशमें मरण होनेपर दो अन्य मुनियोंकी भी मृत्यु होती है ॥१९८३॥

भा०—इस किये संभकी रक्षाके अभिप्रायसे तुणोंका पुतला बनाकर यदि मध्यम नक्षत्रमें मरण हुआ है तो उसके साथ एक पुतला देवे । यदि उत्तम नक्षत्रमें मरण हुआ तो उसके साथ दो पुतले देवे ॥१९८४॥

भा०—डी०—मृतकके पासमें उस पुतलेको स्थापित करके तीन बार उच्च स्वरसे बोलना करे कि मैंने उस दूसरेके स्थानमें यह दूसरा स्थापित किया है । जिसके स्थानमें यह पुतला स्थापित

१. एषा भाषा मस्ति ‘भा०’ प्रती ।

असदि तणे बुणेहिं च केसरच्छारिष्ट्यादिबुणेहिं ।

कादण्णोव ककारो उवरिं हिट्ठा 'तकारो' से ॥१९८६॥

'असदि तणे' प्रतिबिम्बकरपार्यगतसि तणे पूर्वैः पुण्यकेसरैर्वा मत्सना इष्टकापूर्वैर्वा उपरि ककारं लिखित्वा तस्यापस्ताद् 'तकारं' कुर्याद् 'व' इति लिखेवित्त्वर्थः ॥१९८६॥

उवगहिदं उवकरणं हवेज्ज जं तस्व पाडिहरियं तु ।

पाडिबोधिवा सम्मं अप्पेइत्थं तयं तेसिं ॥१९८७॥

'उवगहिदं उवकरणं' मृतकस्यने यद्गृहीतमुपकरणं वस्त्रकाष्ठारिकं गृहस्थयाज्ञां कृत्वा तत्रोपकरणं यत्प्रतिनिवर्तनीयं वस्त्राधिकं तत्पाडिहारिकमित्युच्यते । तदर्थमित्थं तेषां गृहस्थानां सम्पत्प्रति-
बोध्य ॥१९८७॥

आराधणपत्तीयं काउसम्मं करेदि तो संबो ।

अधिउत्ताए इच्छामारं सुवयस्स वसवीए ॥१९८८॥

'आराधणपत्तीयं' आराधनास्वामित्वेयं यथा स्वाधिति संघः कायोत्सर्गं करोति, सपकस्य वसतो अधिबुक्केवतां प्रति इच्छाकारः कार्यः पुष्पाकमित्थया संबोधासितुमित्थोच्यते ॥१९८८॥

सगणत्त्वे कालगदे सुमणन्नसज्जाइयं च तदिवासं ।

अज्जाइ परगणत्त्वे भयणित्तं सुमणकरंथि ॥१९८९॥

'सगणत्त्वे कालगदे' आत्मीयमणत्त्वे यतो कालं गते उपवासः कार्यः स्वाध्यायश्च न कर्तव्यस्तस्मिन्

किया है वह चिरकाल तक जीवित रहकर तपस्या करे । यह एक पुतला देनेका विधान है । दो पुतले स्थापित करने पर तीन बार घोषणा करे कि मैंने दूसरा और तीसरा पुतला स्थापित किया है । ये दोनों जिनके बदलेमें स्थापित किये हैं वे दोनों साधु चिरकाल तक जीवित रहकर तप करें ॥१९८५॥

वा०—यदि पुतला बनानेके लिये तृण न हो तो ईंट पत्थर आदिके चूर्णसे अथवा, केशर, क्षार बगैरहसे ऊपर ककार लिखकर उसके नीचे तकार लिखे । इस प्रकार 'क' अक्षर लिखे ॥१९८६॥

वा०—टी०—मृतककी शय्याके निर्माणके लिये गृहस्थोंसे जो वस्त्र काष्ठ आदि लिया गया हो, उनमेंसे जो कौटा देने योग्य हो उसे पाडिहारिक कहते हैं । उस पाडिहारिकको गृहस्थोंको सम्पत् रीतिसे समझा बुझाकर कौटा देना चाहिये ॥१९८७॥

वा०—हमें श्री इसी प्रकार आराधनाकी प्राप्ति हो इस भावनासे संघ एक कायोत्सर्ग करे । तथा सपककी वसतिककी जो अधिष्ठात्री देवता हो उसके प्रति इच्छाकार करे कि आपकी इच्छासे संघ इस स्थानपर बैठना चाहता है ॥१९८८॥

वा०—टी०—अपने संघके साधुका स्वर्गवास होनेपर उस दिन उपवास करना चाहिये और

१-३. व कारो वा० मु० । ३. त काय इति -वा० मु० । ४. सज्जाइ -मु० ।

दिने । परमपत्न्ये कासं मते पठन्ति उपवासकरमपि जायं । अन्ये तु पठन्ति, 'य उवाच परमपत्न्ये' च
स्वाध्यायः कर्तव्यः परमपत्न्ये मृते उपवासकरणीयं भाष्यमिति तेषां व्याख्या ॥१९८९॥

एवं पश्चिद्भुविद्या पुणो वि तदियदिवसे उषेकसंति ।

संघस्य सुहविहारं तस्य गदी येव जातुं जे ॥१९९०॥

'एवं पश्चिद्भुविद्या' उपतेन क्रमेण क्षयकक्षरीरं प्रतिष्ठाप्य पुनस्तृतीये दिवसे गत्वा पश्यन्ति, संघस्य
सुहविहारं तस्य च वतिं ज्ञातुं ॥१९९०॥

अदि दिवसे संघिद्भुदि तमणालुद्धं च अकसुद्धं मद्यं ।

तदिवासाणि सुभिक्षं खेमसिचं तमिह रज्जम्मि ॥१९९१॥

'अदि दिवसे' यावन्तो दिवसाः न वृकादिभिरस्पृष्टमक्षतं च तन्मृतकं 'सविचासाणि' तावन्ति वर्षाणि
सुभिक्षं खेमं सिचं च तस्मिन् राज्ये ॥१९९१॥

जं वा दिससुवणीदं सरीरयं खगचहुप्यदमणेहिं ।

खेमं सिचं सुभिक्षं विहरिज्जो तवूदिसं संघो ॥१९९२॥

'जं वा दिससुवणीदं' वां वा विद्यमपनीतं शरीरं पश्चिमिचतुल्यदेवां तां विद्यं संघो विहरेत् कोमाधिक
तत्र ज्ञात्वा ॥१९९२॥

अदि तस्य उत्तमंगं दिस्सदि दंता च उवरिगिरिसिहरे ।

कम्ममलविप्यसुक्को सिद्धिं पचोपि जादुज्जो ॥१९९३॥

'अदि तस्य उत्तमंगं' यदि तस्य शिरो दृश्यते दन्ता वा गिरिशिखरस्योपरि कर्ममलविप्रमुक्तः सिद्धिमसौ
प्राप्य इतिं ज्ञातव्यः ॥१९९३॥

स्वाध्याय नहीं करना चाहिये । दूसरे संघके साधुका मरण होनेपर स्वाध्याय तो नहीं ही करना
चाहिये । उपवास कर भी सकते हैं, नहीं भी करते । अन्य ऐसा पढ़ते हैं कि दूसरे संघके साधुका
मरण होनेपर स्वाध्याय करना चाहिये । उपवास कर भी सकते हैं नहीं भी करते ॥१९८९॥

वा०—उक्त प्रकारसे क्षयकका शरीर स्थापित करके तीसरे दिन जाकर देखते हैं कि
संघका बिहार सुखपूर्वक होगा या नहीं । तथा मृतककी गति अच्छी हुई या बुरी ॥१९९०॥

वा०—जितने दिनों तक वह शव गीदड़ आदिसे सुरक्षित रहता है उतने वर्षों तक उस
राज्यमें सुभिक्ष और शान्ति रहती है ॥१९९१॥

वा०—अथवा पत्नी और पशुओंके द्वारा वह शरीर जिस दिशामें ले जाया गया हो क्षेम-
सुभिक्ष आदि जानकर उसी दिशामें संघको बिहार करना चाहिये ॥१९९२॥

वा०—यदि उसका सिर और दांत पर्वतके शिखरके ऊपर दिखाई दे तो वह मुक्तिको
प्राप्त हुआ है, ऐसा जानना चाहिये ॥१९९३॥

वेद्याभियो बलमदो सवन्नि जो दिशि व वायवितरयो ।

यद्वायु अचमवासी ह्यस मदी से समालेभ ॥१९९४॥

'वेद्याभियो बलमदो' वेद्याभियो देवो आद्य उत्तमभूमित्वे उत्तमाङ्गे, समभूमित्वे च विष्णुवते ज्योतिष्को व्यन्तरो जातः, अतो यमि बुधवते अचमवासी देवो जातः, एवा यदित्यस्य संक्षेपेन निरूपिता । विष्णुवति ब्रह्मवत् वत् । विग्रहणा ॥१९९४॥

आराधकस्तवनमुत्तरं ते ब्रूया भवन्ती—

ते ब्रूया भवन्ती आह्वयवृत्त संवमज्जग्नि ।

आराधनापठाना चउप्यवारा चिदा जेहि ॥१९९५॥

'ते ब्रूया भवन्ती' आह्वयवृत्त' प्रतिज्ञा कृत्वा संवमन्वे चतुष्पकापठना पठका वीराकृष्टीता ॥१९९५॥

ते धरणा ते जाणी लद्धो लामो व तेहि सन्वेहि ।

आराधना भववदी पडिवरणा जेहि संपुष्णा ॥१९९६॥

'ते धरणा' पुष्यवन्तः । ते ज्ञानिनः, ते मन्त्रलाभाः, सर्वेभ्यो वीराराधना भववती संपूर्णा प्रतिष्णा ॥१९९६॥

किं ज्ञान तेहि लोमे महानुभावोहि हुज्ज ज य पचं ।

आराधना भववदी सयला आराधिदा जेहि ॥१९९७॥

'किं ज्ञान तेहि लोमे' किंजान तैर्लोकं महानुभावरप्राप्त वीराराधिता सकला आराधना भववती ॥१९९७॥

विशेषार्थ—आराधरजो ने 'कर्ममल विप्रमुक्त' का अर्थ मिथ्यात्व आदि स्तोक कर्मों से मुक्त किया है । तथा लिखा है कि जयनन्दिके टिप्पणमें 'सिद्धि' का अर्थ सवार्थसिद्धि किया है । किन्तु प्राकृतटीकामें सिद्धिका अर्थ निर्वाण किया है ॥१९९३॥

वा०—टी०—यदि मृतकका मस्तक उन्नत भूमिभागमें दिखाई दे तो वह मरकर वैमानिक देव हुआ जानना । यदि सम भूमिभागमें दिखाई दे तो वह ज्योतिष्क देव या व्यन्तर हुआ जानना । यदि गड्डेमें दिखाई दे तो वह भवनवासी देव हुआ जानना । इस प्रकार यह उसकी गति संक्षेपमें कही है ॥१९९४॥

आगे आराधक क्षपकका स्तवन करते हैं—

वा०—जिन्होंने संभके मध्यमें प्रतिज्ञा करके चार प्रकारकी आराधना रूप पताकाको ग्रहण किया वे क्षुरवीर और पूष्य हैं ॥१९९५॥

वा०—जिन्होंने भगवती आराधनाको सम्पूर्ण किया वे पुष्यशाली और ज्ञानी हैं और उन्होंने जो प्राप्त करने योग्य वा उसे प्राप्त कर लिया ॥१९९६॥

वा०—जिन्होंने सम्पूर्ण भगवती आराधनाका आराधन किया उन महानुभावोंने लोकमें क्या प्राप्त मही किया ॥१९९७॥

निर्वापकस्तवनमुत्तरं—

ते वि य महानुभावा घण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स ।

सम्भादरसचीए उवविहिदाराघणा सवळा ॥१९९८॥

'ते वि य महानुभावा' तेऽपि च महाभागा घण्या रीतस्ता तस्य क्षपकस्य सर्वादरेण घण्टया च क्षप-
काराधना उपनिहिता ॥१९९८॥

निर्यापकानां फलमाचष्टे—

जो उवविचेदि सम्भादरेण आराधनं सु अण्णस्स ।

संपज्जदि णिविग्घा सवळा आराधणा तस्स ॥१९९९॥

'जो उवविचेदि' यो ङोकयति सर्वादरेण अन्यस्याराधना तस्य आराधना सकला निर्विघ्ना
संपद्यते ॥१९९९॥

ये क्षपकप्रेक्षणाय यान्ति तानपि स्तोति—

ते वि कदत्था घण्णा य हुंति जे पावकम्ममलहरणे ।

पहायंति खवयित्थे सम्भादरमचिसंजुत्ता ॥२०००॥

'ते वि कदत्था' तेऽपि कृतार्था घण्याश्च भवन्ति ये क्षपकतीर्थं पापकर्ममलापहरणे सर्वादराभिमुक्ताः
स्नान्ति ॥२०००॥

क्षपकस्य तीर्थता व्याचष्टे—

गिरिणदियादिपदेसा तित्थाणि तवोचजेहिं जदि उमिदा ।

तित्थं क्कं ण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवउ ॥२००१॥

आगे निर्यापककी प्रशंसा करते हैं—

शा०—वे महानुभाव भी धन्य हैं जिन्होंने सम्पूर्ण आदर और शक्तिसे उस क्षपककी
आराधना सम्पन्न की ॥१९९८॥

निर्यापकोंको प्राप्त होनेवाले फलको कहते हैं—

शा०—जो निर्यापक सम्पूर्ण आदरके साथ अन्यकी आराधना कराता है—उसकी समस्त
आराधना निर्विघ्न पूर्ण होती है ॥१९९९॥

जो क्षपकको देखने जाते हैं उनकी भी प्रशंसा करते हैं—

शा०—टी०—क्षपक एक तीर्थ हैं क्योंकि ससारसे पार उत्तारनेमें निमित्त है । उसमें स्नान
करनेसे पापकर्म रूनी मल दूर होता है । अतः जो वहाँ समस्त आदर भक्तिके साथ उस महा-
तीर्थमें स्नान करते हैं वे भी कृतकृत्य होते हैं तथा वे भी सौभाग्यशाली हैं ॥२०००॥

क्षपकके तीर्थ होनेका समर्थन करते हैं—

शा०—यदि तपस्विनोंके द्वारा सेवित पहाड़ नदी आदि प्रदेश तीर्थ होते हैं तो तपस्वीरूप
गुणोंकी राशि क्षपक स्वयं तीर्थ क्यों नहीं है ॥२००१॥

'विरिचयिष्यादिविषेता' विरिचयिष्यादिविषेता यदि क्षपोकमवितानि तीर्णानि तीर्णं स्वयं कर्म न कर्मन्
अपकस्तपोमुपराधिः ॥२००१॥

पुष्परितीर्णं पद्धिमात्रो बंदमानस्त होइ जदि पुष्पं ।

सुवयस्त बंदजो किइ पुष्पं विडलं न पाविज्ज ॥२००२॥

'पुष्परितीर्णं पद्धिमात्र' पूर्वोक्तं ऋषीणां प्रतिष्ठा बंदमानस्य यदि पुष्पं भवति क्षपके बन्धनोक्तः कर्म
विपुलं पुष्पं न प्राप्नुयात् ॥२००२॥

जो ओलगादि आराधयं सदा सिध्दमसिंजुषो ।

संपज्जदि भिन्निग्धा तस्स वि आराहणा सुखला ॥२००३॥

'जो ओलगादि आराधयं' यस्तेषु आराधकं सदा तीव्रमक्तिंयुक्तः, संपद्यते निविन्ना तस्याप्याराधना
सकला ॥२००३॥

सविचारमचवोसरणमेवमुपबणिन्दं सवित्थारं ।

अविचारमचपच्चस्राणं एत्तो परं बुच्छं ॥२००४॥

'सविचारमचवोसरणं' सविचारभक्तप्रत्याख्यानमेवमुपबणितं सविस्तरं अविचारभक्तप्रत्याख्यानं अतः
परं प्रवक्ष्यामि ॥२००४॥

तत्त्व अविचारमचपइण्णा मरणाग्नि होइ आगाढो ।

अपरककम्मस्स मुणिजो कालग्नि असंपुहुत्तग्नि ॥२००५॥

'तत्त्व अविचारमचपइण्णा' अविचारभक्तप्रत्याख्यानं सहस्रोपस्थिते मरणे भवति । अपराक्रमस्य यतेः
सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य काले भवति ॥२००५॥

तत्त्व पढमं निरुद्धं निरुद्धतरयं तथा हवे विदियं ।

तदियं परमनिरुद्धं एवं त्रिविधं अवीचारं ॥२००६॥

'तत्त्व पढमं निरुद्धं' तत्र अवीचारभक्तप्रत्याख्याने प्रथमं निरुद्धं, द्वितीयं निरुद्धमरकं, तृतीयं परम-
निरुद्ध एवं त्रिविधमवीचारभक्तप्रत्याख्यानं ॥२००६॥

शा०—यदि प्राचीन ऋषियोंकी प्रतिमाओंकी बन्दना करनेवालेको पुष्य होता है तो क्षपक
की बन्दना करने वालोंको विपुल पुष्य क्यों नहीं प्राप्त होगा ॥२००२॥

शा०—जो तीव्र भक्तिपूर्वक क्षपककी सेवा करता है उसकी भी सम्पूर्ण आराधना सफल
होती है ॥२००३॥

शा०—इस प्रकार विस्तारसे विचारपूर्वक किसे गये भक्तप्रत्याख्यानका कथन किया । आगे
अविचार भक्तप्रत्याख्यानका कथन करते हैं ॥२००४॥

शा०—जब विचार पूर्वक भक्तप्रत्याख्यान करनेका समय न रहे, और सहसा मरण उपस्थित
हो जाये तो कुछ करनेमें असमर्थ मुनि अविचार भक्त प्रत्याख्यान स्वीकार करता है ॥२००५॥

शा०—अविचार भक्तप्रत्याख्यानके तीन भेद हैं—प्रथम निरुद्ध, दूसरा निरुद्धतर और
तीसरा परमनिरुद्ध ॥२००६॥

निरुद्धकेन्द्रमुक्तस्य त्रयतीत्याद्यन्त्रे—

तस्स निरुद्धं भण्डं रोगादंकेर्हि ओ समभिभूदो ।

जंघावलपरिहीणो परगणममणम्मि ज सभत्थो ॥२००७॥

'तस्स निरुद्धं भण्डं' तस्य निरुद्धमुक्तं रोगेन ज्ञातकृतेन वा यस्तमभिभूतः अज्ञानवलपरिहीणो वा परगणममणम्मि यः ॥२००७॥

आवय बलविरियं से सो विहरदि ताव जिण्णवीथारो ।

पच्छा विहरदि पण्डिजग्गिज्जंतो तेण सभणेण ॥२००८॥

'आवय बलविरियं' यावद्वलवीर्यं वास्ति । 'से' तस्य । 'सो विहरति' स तावद्वृत्ते प्रवर्तते निष्पत्तीकारः । यथा सन्निवृत्तीव्यवृत्त्या तथा पश्चाद्विहरति तेन स्वगणेन क्रियमाणोपकारः ॥२००८॥

इय सण्णिरुद्धमरणं भणियं अजिहारिमं अवीचरं ।

सो येव जंघाजोग्गं पुण्णुपविधो हवदि तस्स ॥२००९॥

'इय सण्णिरुद्धमरणं भणियं' एवं सण्णिरुद्धमरणं भणितं, अज्ञानवलपरिहीनतया व्याप्यनिमग्नेन वा स्वस्तिमग्नेन निरुद्धो यस्तस्य मरणं निरुद्धमरणं । 'अजिहारिमं' सविचारभक्तप्रत्याख्यानोक्तपरित्यागाभावात्, परित्यागहीनं अनियतविहारविधिविचारामाभावाद्बीचारं । आत्मीय एव गणे आचार्यस्य समीपे प्रवृत्त्यातीचारं उक्त्वा निन्दागर्हात्परः कृतप्रतिक्रमः कृतप्रायश्चित्तो यावदीर्यमस्ति तावन्निष्पत्तीकारो विहरति, यथा हीनसंबन्धेऽस्तथा परैरनुगृह्यमाणो विहरति ॥२००९॥

निरुद्ध किसके होता है, यह कहते हैं—

शा०—जो रोगसे ग्रस्त है, वैरोंमें चलनेकी शक्ति न होनेसे दूसरे संघमें जानेमें असमर्थ है उसके निरुद्ध नामक अविचार प्रत्याख्यान होता है ॥२००७॥

शा०—जबतक उसमें शक्ति रहती है तबतक वह अपने संघमें रहते हुए किसीपरिचर्या नहीं करता। पीछे शक्तिहीन होनेपर अपने संघके द्वारा परिचर्या कराता हुआ विहरता है ॥२००८॥

शा०—टी०—वैरोंमें चलनेकी शक्ति न होनेसे तथा रोगसे ग्रस्त होनेके कारण जो अपने ही संघमें निरुद्ध है—रुका है उसके मरणको निरुद्धमरण कहते हैं। इस प्रकार निरुद्धमरणका स्वरूप कहा है। सविचार भक्तप्रत्याख्यानमें जिस प्रकार संघ आदिका त्याग किया जाता है वह इसमें संभव न होनेसे वह मरण परित्यागसे रहित है। और इसमें अनियत विहार आदि विधिका विचार न होनेसे यह अवीचार है। अर्थात् अपने ही संघमें आचार्यके समीपमें दीक्षा लेकर उनसे अपने दोष कहकर अपनी निन्दा और गर्हा करता है, प्रतिक्रमण करता है, प्रायश्चित्त लेता है। और जब तक शक्ति रहती है तब तक दूसरेकी सहायताके बिना अपनी आराधना करता है। जब शक्ति अत्यन्त हीन हो जाती है तब दूसरोसे सहायता लेकर अपनी आराधनाओंका पालन करता है ॥२००९॥

दुषिचं तं पि अजीहारिमं पगासं च अप्यमासं च ।

अज्जणार्दं च पगासं इदं च जणेण अज्जणार्दं ॥२०१०॥

‘दुषिचं तं पि अजीहारिमं’ द्विविधं तद्यपि अजीहारसंज्ञितं भक्तप्रत्याख्यानं प्रकाशरूपमप्रकाशरूपमिति ।
ज्ञातं प्रकाशरूपमितरवप्रकाशात्मकं ॥२०१०॥

सुखयस्तं चित्तसारं खिचं कालं पदुच्च सज्जणं वा ।

अज्जणम्मिं य तारिसयम्मिं कारणे अप्यमासं तु ॥२०११॥

‘सुखयस्तं चित्तसारं’ क्षपकस्य वृद्धि, बलं, क्षेत्रं, कालं, स्वजनं वा प्रतिपद्य अन्वयस्मिन्वा तावत्सु
कारणे जाते अप्रकाशनप्रत्याख्यानं, यदि क्षपकः क्षुदादिपरीषद्सहः, वसतिर्वा अविषिकटा, कालो वा
अतिक्रमो, बन्धवो वा यदि परित्यागविष्णुं कुर्वन्ति न प्रकाशः कार्यः । विच्छेदं नर्तं ॥२०११॥

निरुद्धतरणं व्याचष्टे—

बालगिबग्वग्महिसगयरिछपडिणीय तेज म्च्छेहिं ।

मुच्छाविच्छचियादीहिं होज्ज सज्जो हु वावची ॥२०१२॥

‘बालगिबग्वग्महिस’ व्यालेनाग्निना, व्याघ्रेण, महिषेण, गजेन, शूलजेन, शत्रुणा, स्तेनेन, म्लेच्छेन,
मुच्छया, विसूचिकाविभिर्वा सद्यो व्यापत्तिर्नवेत् ॥२०१२॥

जाव च वाया विस्वयदि बलं च विरियं च जाव कायम्मि ।

तिव्वाए वेदणाए जाव य चित्तं ण विक्खित्तं ॥२०१३॥

‘जाव च वाया विस्वयदि’ यावद्वात्म विनश्यति बलं वीर्यं च यावदस्ति काये तीव्रया वेदनया यावच्चित्तं
न व्यासिद्धं भवति तावत् ॥२०१३॥

शा०—टी०—वह अनिहार नामक भक्तप्रत्याख्यान, जिसमें अपना संघ नहीं छोड़ा जाता
है, और इसीलिये जिसे स्वगणस्थ भी कहा जाता है, दो प्रकार है—एक प्रकाशरूप और दूसरा
अप्रकाशरूप । जो लोगोंके द्वारा ज्ञात होता है वह प्रकाशरूप है और जिसकी लोगोंको खबर नहीं
होती, वह अप्रकाशरूप है ॥२०१०॥

शा०—टी०—क्षपकके मनोबल, क्षेत्र, काल अथवा स्वजन तथा इस प्रकारके अन्य कारणके
होनेपर उसे दृष्टिमें रखकर अप्रकट भक्तप्रत्याख्यान होता है । अर्थात् यदि क्षपक भूल प्यास
आदिकी परीषद् सहनेमें असमर्थ होता है, या, वसति एकात्ममें नहीं होती, या शीघ्र आदि शत्रु
होती हैं, या परिवारके लोग विघ्न कर सकते हैं तो समाधिकी प्रकट नहीं किया जाता ॥२०११॥

अब निरुद्ध समाधिकी विधि कहते हैं—

शा०—सर्प, आग, व्याघ्र, भैंसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर, म्लेच्छ, मूर्छा या विसूचिका
आदि रोमसे तत्काल यदि मरण उपस्थित हो ॥२०१२॥

शा०—तो जब तक बोली बन्द न हो, जब तक शरीरमें बल और शक्ति रहे, और जब
तक तीव्र वेदनाके कारण चित्त व्याकुल न हो ॥२०१३॥

नञ्चा संबद्धिज्जंतमाउमं सिग्घमेव तो भिक्खु ।

मणिचादीणं सग्गिहिदाणं आलोचय सग्गं ॥२०१४॥

'नञ्चा संबद्धिज्जंतं माउमं' श्लाघा संबद्धियमाणमायुः क्षीयमेव ततो भिक्षुराचार्यादीनां सग्गिहितानामा-
लोचनां सम्पक्कं कुयात् रत्नमवाराधनायां परिणतः । भ्युत्पजेत् वसति, संस्तरमाहारमुपधि शरीरं परिचारकान्,
वक्कधीयं हान्तेः परवणमनारासमर्थाः निरुद्धाः प्रवेशाः प्रकषेण निरुद्धतरक इत्युच्यते ॥२०१४॥

एवं भिरुद्धदरयं विदियं अग्गिहारिमं अवीचारं ।

तो वेव जघाजोगं पुब्बुत्तविधी हवदि तस्स ॥२०१५॥

स्पष्टार्थगाथा । निरुद्धं ॥२०१५॥

वालादिएहिं जइया अक्खिचा होज्ज भिक्खुणो वाया ।

तइया परमभिरुद्धं भणिदं भरणं अवीचारं ॥२०१६॥

'वालादिएहिं' व्यालादिभिः पूर्वोक्तैः यद्योषहृतस्य वाग्निनष्टा तदा परिमनिरुद्धमरण । वाग्निरो-
धोऽत्र परमसम्बन्धोच्यते ॥२०१६॥

नञ्चा संबद्धिज्जंतमाउमं सिग्घमेव तो भिक्खु ।

अरहंतसिद्धसाहूण अंतिगं सिग्घमालोचे ॥२०१७॥

'नञ्चा संबद्धिज्जंतं माउमं' श्लाघोपसंहियमाणमायुः अर्हतां सिद्धानां साधूना चान्तिके शीघ्रं
मालोचनाः कुयात् ॥२०१७॥

शा०—साधु, अपनी आयुको शीघ्र ही समाप्त होती हुई जानकर जो निकटवर्ती आचार्य
आदि हों, उनके सम्मुख अपने दोषोंकी सम्पक्करूपमे आलोचना करे । तथा रत्नत्रयकी आराधनामें
तत्पर होता हुआ वसति, संस्तर, आहार, उपधि, शरीर और परिचारकोंसे भक्तत्वका त्याग कर दे ।
बल और वीर्यके क्षीण होनेसे जिनके प्रदेश अन्य संघमें जानेमें अत्यन्त असमर्थ होते हैं उन्हें
निरुद्धतरक कहते हैं ॥२०१४॥

शा०—इस प्रकार बिहार रहित अत्यन्त निरोध रूप अविचार भक्तप्रत्याख्यानके दूसरे
भेद निरुद्धतरका कथन किया । पूर्वमें भक्त प्रत्याख्यानकी जो विधि कही है वही विधि यथायोग्य
यहाँ भी जानना ॥२०१५॥

शा०—जब पूर्वोक्त सर्प आदिसे डसे जानेके का ण क्षपककी बाणी नष्ट हो जाती है, वह
बोल नहीं सकता तब उसके परम निरुद्ध नामक अविचार भक्तप्रत्याख्यान होता है । यहाँ परम
शब्दसे बाणीका रुकना कहा है ॥२०१६॥

शा०—तब वह साधु शीघ्र ही अपनी आयुको समाप्त होती हुई जान अर्हन्तों, सिद्धों और
साधुजनोंके पासमें तत्काल आलोचना करे ॥२०१७॥

आराधनाविधी जो पुष्पं उपवाञ्छितो तदित्यारो ।

सो येव जुञ्जयानो एत्थ विद्दी होदि भादम्भो ॥२०१८॥

'आराधनाविधी' आराधनाया विधेः पूर्वं विस्तारो व्यावर्तितः स एवाभापि पुष्पमालो
मासभ्यः ॥२०१८॥

एवं आमुक्कारमरणे वि सिञ्जति केद्दं पुदकम्मा ।

आराधयित्तु केद्दं देवा वेमाणिया हँति ॥२०१९॥

'एवं आमुक्कारमरणे वि' एवं सहसा मरणेऽपि तिष्ठन्ति विमुक्तकर्मबंधहतयः । केचिदाराम्य वैमानिका
देवा भवन्ति ॥२०१९॥

आराधनाय एत्थ दु कालस्स बहुत्तणं ण हु वमाणं ।

बह्वो मुहुत्तमया संसारमहत्तणं तिष्णा ॥२०२०॥

कथमल्पेन कालेन निवृत्तिर्नाम्येत्याद्यङ्गा न कार्येति वदति—'आराधनाय एत्थ दु' तस्यानाराधनाया
कालस्य बहुत्वं न प्रमाणं । बह्वो मुहूर्तमात्रेणाराम्य संसारमहार्त्तबंधं तीर्णाः ॥२०२०॥

खणमेत्तेण अणादियमिच्छादिद्धी वि बद्धो राया ।

उसहस्स पादमूले संबुज्झिता गदो सिद्धिं ॥२०२१॥

'खणमेत्तेण' क्षणमात्रेणानादिमिच्छादृष्टिरपि बर्द्धननामधेवो राजा ऋषभस्य पादमूले संबुद्धो गतः
सिद्धिं ॥२०२१॥

'सोलसतित्थयराणं तित्थुप्पण्णास्स पढमदिबसम्मि ।

सामण्णभार्जासिद्धी मिच्छामुहुत्तेण संपण्णा ॥२०२२॥

परमचिच्छं ॥२०२२॥

शा०—पूर्वमें जो आराधनाकी विधि विस्तार पूर्वक कही है वही यहाँ भी यथायोग्य
जानना ॥२०१८॥

शा०—इस प्रकार सहसा मरण होनेपर भी कोई-कोई मुनि कर्मोंको नाश करके मुक्त होते
हैं और कोई आराधना करके वैमानिक देव होते हैं ॥२०१९॥

शा०—थोड़े ही समयमें मोक्ष कैसे हो सकता है ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि
आराधनामें कालका बहुतपना प्रमाण नहीं है । बहुतसे मुनि एक मुहूर्त मात्रमें आराधना करके
संसारसमुद्रको पार कर गये हैं ॥२०२०॥

शा०—अनादि मिच्छादृष्टि भी बर्द्धन नामका राजा भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमें बोध
को प्राप्त होकर मोक्षको गया ॥२०२१॥

शा०—भगवान् ऋषभदेवसे शान्तिनाथ तीर्थंकर पर्यन्त सोलह तीर्थंकरोंके तीर्थकी उत्पत्ति
होनेके प्रथम दिन ही बहुतसे साधु दीक्षा लेकर एक अन्तमुहूर्तमें केवलज्ञानको प्राप्तकर मुक्त
हए ॥२०२२॥

१. एतां टीकाकारो नेच्छति ।

०० -

एसा भक्तपदिष्णा वाससमासेण वणिजदा विधिणा ।
इतो इंगिणीमरणं वाससमासेण वण्णोसि ॥२०२३॥

‘एसा भक्तपदिष्णा’ एतद्भूतप्रत्याख्यानं भ्यासेन संक्षेपेण च वर्णितं । अत ऊर्ध्वं सांन्यासि-
कमिगिणीमरणं व्याससमासाभ्यां वर्णयिष्यामि ॥२०२३॥

जो भक्तपदिष्णाए उवक्कमो वणिजदो सवित्थारो ।
सो वेव ज्जाजोमं उवक्कमो इंगिणीए वि ॥२०२४॥

‘जो भक्तपदिष्णाए’ यो भक्तप्रत्याख्यानस्य उपक्रमो व्यावर्णितः सवित्स्तारः स एव यथासंभवमुपक्रमो
इंगिणीमरणोऽपि ॥२०२४॥

पव्वज्जाए सुद्धो उवसंपज्जित्तु लिगकप्पं च ।
पवयणमोमाहिता विणयसमाधीए विहरिता ॥२०२५॥

‘पव्वज्जाए सुद्धो’ प्रव्रज्यायां शुद्धो दीक्षाग्रहणयोग्य इत्यर्थः । एतेन अर्हता निरूपिता । ‘उव-
संपज्जित्तु’ प्रतिपद्य । ‘लिगकप्पं च’ योग्यं लिङ्गं ‘लिगं’ इत्यनेन सूचितम् । ‘पवयणमोमाहिता’ श्रुतमवनाह
एतेन शिक्षा उपन्यन्ता । ‘विणयसमाधीए विहरिता’ विनयसमाधी विहृत्य ॥२०२५॥

णिप्पादिता सगणं इंगिणिविधिसाधणाए परिणमिया ।
सिदिमारुहित्तु भाविय अप्पाणं सन्निहिताणं ॥२०२६॥

‘णिप्पादिता सगणं’ योग्यं कृत्वा स्वगणं । इंगिणिविधिसाधनाय परिणतो भूत्वा, ‘सिदिमारुहित्तु’
परिणामधे निमारुह्य । ‘भाविय’ भावना प्रतिपद्य । ‘अप्पाणं सन्निहिताणं’ आत्मानं संनिक्ष्य ॥२०२६॥

शा०—इस भक्तप्रत्याख्यानका विस्तार और संक्षेपसे विधिपूर्वक कवन किया । आगे
इंगिनीमरण का विस्तार और संक्षेपसे वर्णन करेंगे ॥२०२३॥

शा०—जो भक्त प्रत्याख्यानकी विधि विस्तारसे कही है वही विधि इंगिनीमरणकी यथा-
योग्य जाननी चाहिये ॥२०२४॥

वही विधि कहते हैं—

शा०—जो दीक्षा ग्रहणके योग्य है वह निर्गन्ध लिग धारण करके श्रुतका अभ्यास करे
तथा विनय और समाधिमें बिहार करे ॥२०२५॥

विशेषार्थ—दीक्षा ग्रहण योग्यसे अर्हताका कथन किया है, लिगसे लिगकी सूचना की है ।
और श्रुताभ्याससे शिक्षाका ग्रहण किया है । इस प्रकार भक्तप्रत्याख्यानमें जो कहा था उसीको
यहाँ कहा है ॥२०२५॥

शा०—अपने संघको इंगिणीमरणकी विधिकी साधनामें योग्य करके अपने चित्तमें वह
निश्चय करे कि मैं इंगिणीमरणकी साधना करूँगा । फिर श्रुम परिणामोंकी श्रेणि पर आरोहण
करके तप आदिकी भावना करे और अपने शरीर और कषायोंको कुश करे ॥२०२६॥

परियाहममालोचिव अणुजायिता दिसं महजजस्त ।

सिधिवेण खमायिता सवाल्लुङ्गाउलं गच्छं ॥२०२७॥

'परियाहममालोचिव' क्रमेण 'रत्नत्रयाचारमालोच्य' । 'अणुजायिता' अणुजाय । 'दिसं' गणपदं । 'महजजस्त' महाजनस्य चतुर्विधसंभवेत्यर्थः । 'सिधिवेण खमायिता' त्रिविधेन क्षमां प्राहुर्मित्वा । सवाल्लुङ्गाकुलं गच्छं ॥२०२७॥

अणुसङ्घिं दाद्य व जावज्जीवाय विप्यजोगच्छी ।

अम्मदिग्जादहासो षीदि गणादो गुणसमगो ॥२०२८॥

'अणुसङ्घिं दाद्य व' शिखां दत्त्वा गणपतेर्गणस्य च । 'जावज्जीवाय विप्यजोगच्छी' यावज्जीव विप्र-
योगार्थं । 'अम्मदिग्जादहासो' कृतार्थोऽस्मीति वातहर्षः । 'षीदि गणादो' निवर्तित यतिवचसात् । 'गुणसमगो'
संपूर्णगुणः ॥२०२८॥

एवं च निष्कमिता अंतो बाहिं व थंडिले जोमे ।

पुढवीसिलामए वा अप्पाणं जिज्जवे एक्को ॥२०२९॥

'एवं च निष्कमिता' एवं विनिष्कम्य । 'थंडिले जोमे' समे सम्पन्नते कठिने जीवरहिततया योग्ये ।
'अंतो बाहिं व' अंतर्बाहिं । 'पुढवीसिलामए वा' पृथ्वीसंस्तरं शिलामये वा । 'अप्पाणं जिज्जवे एक्को'
आत्मानं निर्वादे देहसहायः ॥२०२९॥

पुण्डुत्ताणि तणाणि य जाचित्ता थंडिलम्मि पुण्डुचे ।

जदणाय संधरिता उत्तरसिरमधव पुण्डुसिरं ॥२०३०॥

'पुण्डुत्ताणि तणाणि व' पूर्वोक्तानि तृणानि निस्संधि निःछिद्रजंतुरहितानि शरीरस्थितिसाधनमा-
याणि मूत्रनि प्रतिलेखनायोग्यानि ग्रामं नगरं वा प्रविश्य याञ्जया गृहीतानि पूर्वोक्ते स्थण्डिले कोऽपि सालांकः

वा०—रत्नत्रयमें लगे दोषोंकी क्रमसे आलोचना करे और अपने स्थान पर अन्य आचार्यों-
की स्थापना करके उन्हें सब बतला दे । तथा चतुर्विध बृद्ध मुनियोंसे भरे अपने गच्छको शिक्षा
देकर जीवमपर्यन्तके लिये संघसे अलग होनेकी इच्छा करता हुआ प्रसन्न होता है कि मैं कृतार्थ
हुआ और इस प्रकार वह सम्पूर्ण गुणोंसे विशिष्ट होकर मुनिसंघसे चला जाता है ॥२०२७-२८॥

वा०—इस प्रकार संघसे निकलकर गुफा आदिके अन्दर या बाहर जीवरहित तथा समान
रूपसे ऊँचे कठिन भूमिप्रदेशमें पृथ्वीरूप संस्तर पर या शिलामय संस्तर पर एकाकी आश्रय
लेता है । अपने शरीरके सिवाय उसका अन्य कोई सहायक नहीं होता ॥२०२९॥

वा०—डी०—वह गाँव या नगरमें जाकर तृणोंकी याचना करता है जो तुण छिद्ररहित,
अणुपुरहित, कोमल तथा शरीरकी स्थितिके लिये साधन मात्र और प्रतिलेखनाके योग्य होने
वाहिये उन तृणोंको वह उक्त भूमि प्रदेश पर प्रतिलेखनापूर्वक सावधानतासे पृथक्-पृथक् करके

विस्तीर्णो विध्वस्तः अनुविरोधिलः निर्बन्धुकस्तस्मिन्स्थण्डिले । 'ब्रह्माणं संवरिता' यत्नेन संस्तरं कृत्वा
 मत्नः ? तुभानां पुनश्चकरणं संस्तरभूमिप्रतिश्लेषनं, 'उत्तरसिरमन्वय पुण्डसिरं संभारं संवरिता ब' पूर्वात्-
 माङ्गमुत्तरोत्तमाङ्गं वा संस्तरं संस्तीर्य सिरःप्रभृति कार्यं पादौ च यत्नेन प्रमाज्यं ॥२०३०॥

पाचीणामिष्टुहो वा उदीचिहुचो ब तत्त्व सो ठिच्चा ।
 सीसे कदंजलिपुडो भावेण विसुद्धलेस्सेण ॥२०३१॥

'पाचीणामिष्टुहो वा उदीचिहुचो ब तत्त्व सो ठिच्चा' प्राङ्मुखो उवङ्मुखो वा भूत्वा तत्र संस्तरं
 सत्त्वित्प्र । 'सीसे कदंजलिपुडो' मस्तके न्यस्तकृताञ्जलिः । 'भावेण विसुद्धलेस्सेण' विशुद्धलेख्यासमन्वितेन
 भावेन ॥२०३१॥

अरहादिअंतिमं तो किच्चा आलोचनं सुपरिसुद्धं ।
 दंसणणाणचरिचं परिसारेदूण णिस्सेसं ॥२०३२॥

'अरहादिअंतिमं' अर्वाद्यन्तिकं । 'तो' पश्चात् आलोचना कृत्वा सुपरिसुद्धं 'दंसणणाणचरिचं' परि-
 सारेदूण' वर्धनज्ञानचारिणाणि संस्कृत्य निरवशेषं ॥२०३२॥

सखं आहारविधिं जावज्जीवाय बोसरिचानं ।
 बोसरिदूण असेसं अन्मंतरवाहिरे गंधे ॥२०३३॥

सर्वं आहारविधिं सर्वं आहारविकल्प । यावज्जीवं परित्यज्य बाह्याभ्यन्तरानवेषान् परिग्रहान्च
 त्यक्तवा ॥२०३३॥

सखे विणिज्जिअंतो परीषहे विदिबलेण संजुचो ।
 लेस्साणं विरुज्जंतो धम्मं ज्ञाणं उवणमित्ता ॥२०३४॥

'सखे विणिज्जिअंतो' सर्वाद्य जयन् परित्यहान् घृतिवत्समन्वित' लेख्याभिविशुद्धः सन् धर्मध्यानं
 प्रतिपद्य ॥२०३४॥

फेला देता है । वह भूमिप्रदेश भी प्रकाश सहित, विस्तीर्ण, छिद्ररहित तथा जन्तुरहित होना
 चाहिये । उसपर संस्तर ऐसा होना चाहिये जिसमें सिर पूर्वदिशा या उत्तर दिशाको ओर रहे ।
 तब सिरसे लेकर पैर तक शरीरका सावधानीसे परिमार्जन करके पूरब या उत्तरकी ओर मुक्त
 करके उस संस्तर पर बैठता है और हाथोंकी अंजली बनाकर मस्तकसे लगाता है तथा विशुद्ध
 लेख्या पूर्वक अर्हन्त आदिके सामने अपने दोषोंकी आलोचना करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और
 सम्यक्चारित्र को पूर्ण रूपसे निर्मूल करता है ॥२०३०-२०३२॥

गा०—समस्त प्रकारके आहारके विकल्पको जीवनपर्यन्तके लिये त्याग देता है तथा
 समस्त अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रहको त्याग देता है ॥२०३३॥

गा०—वैयंके बलसे युक्त वह सपक सब परीषहोंको जीतता है और लेख्या विशुद्धिसे
 सम्पन्न हो, धर्मध्यान करता है ॥२०३४॥

ठिण्णा गिसिदिधा वा तुवङ्गिण्ण व सक्कयवडिचररं ।
 सयमेव णिक्खसग्गे कुण्णदि विहारग्गि सो भयवं ॥२०३६॥
 सयमेव अप्पणो सो करेदि आउंठणादि किरियाओ ।
 उप्पारादीणि तथा सयमेव विक्किपिदे विधिणा ॥२०३६॥
 जावे पुण उवसग्गा देवा माणुस्सिया व तेरिच्छा ।
 तावे णिप्पडियग्गो ते अघियासेदि विवदग्गो ॥२०३७॥
 आदितियसुसंघटणो सुमसंठाणो अभिज्जविदिकवणो ।
 जिदकणो जिदणियो जोववलो ओववुरो य ॥२०३८॥

'ठिण्णा' स्थित्वा आसित्वा क्षयनं वा कृत्वा स्वकायपरिकरं स्वयमेव निरपसर्गं विहारे करोति । स्वमेवात्मनः करोत्याकूचनाविकाः क्रियाः उच्चारकादिकं च निराकारोऽसि प्रतिष्ठापनासमितिसमन्वितः । 'अधि पुच उवसग्गा' यथा पुनरपसर्गा देवमनुष्यादिर्यंकृता भवन्ति तथा तिष्ठतीकारस्तान् सहते विमतमयः । 'आदितियसुसंघटणो' आद्येषु त्रिषु संहननेषु अन्यतमसंहननः शुभसंस्थानोऽभेसप्ततिकवचो जितकरणो जितनिद्रो महाबलो मितरां धूरः ॥२०३५-२०३८॥

धीमत्स्वमीमदरिसणविगुण्विदा भूदरक्खसपिसाया ।
 खोभिज्जो जादि वि तयं तचवि ष सो संममं कुण्णइ ॥२०३९॥

'धीमत्स्वमीमदरिसणविगुण्विदा' धीमत्स्वमीमदरसनविक्रिया भूतराससपिशाचा यद्यपि क्षीमं कुर्वन्ति तथा पृथो न संग्रम्य करोति ॥२०३९॥

इद्धिमत्तुलं विउण्विय किण्णरक्किपुरिसदेवकण्णाओ ।
 खोलोवि जदिवि तयं तचवि ष सो विग्गयं जाई ॥२०४०॥

भा०—वह कायोत्सर्गसे स्थित होकर अथवा पर्यङ्कासन आदिसे बैठकर अथवा एक पाद्वर-से शयन करते हुए धर्मध्यान करता है । तथा उपसर्गरहित दशामं स्वयं ही अपने शरीरकी परिषर्या—हाथ-पैरोंका संकोचन, फैलाना आदि करता है । स्वयं ही प्रतिष्ठापना समितिपूर्वक शीघ्र आदि करता है ॥ यदि देवकृत, मनुष्यकृत या तिर्यञ्चकृत उपसर्ग होता है तो उसका प्रतिकार नहीं करता है और निर्भय होकर उसे सहन करता है ॥ क्योंकि उसके आदिके ब्रह्मभुवभनाराच, बज्रनाराच और नाराच नामक तीन शुभ संहननोंमेंसे कोई एक संहनन होता है, समन्वयुरक्ष संस्थान होता है । न भेदने योग्य धैर्यरूपो कवच होता है । वह इन्द्रियों और मित्रा पर विजय प्राप्त करता है । महाबली और धूरवीर होता है ॥२०३५-३८॥

भा०—अधि अत्यन्त भयंकर विक्रियाके द्वारा भूत, राक्षस और पिशाच आदिके व्यन्तरदेव उसे डरावें तो भी वह विचलित नहीं होता ॥२०३९॥

‘इद्विद्वन्तुलं विभुविभवं’ ऋद्धिमनुलां विकृत्य किम्भरारिकपुष्पाविदेवकन्या यद्यप्युपलालं कुर्वन्ति तदाप्यसौ न विस्मयं याति ॥२०४०॥

सन्धो पोगलकाओ दुक्खेचाए जदित्रि तमुवणमेज्ज ।

तद्य वि य तस्स ण जायदि ज्झाणस्स विसोत्थिया को वि ॥२०४१॥

‘सन्धो पोगलकाओ’ सर्वं पुद्गलद्रव्यं दुःखतया यदि तमनिहन्ति तथापि तस्य न जायते ध्यान-
स्यान्यथावृत्तिः ॥२०४१॥

सन्धो पोगलकाओ सोक्खेचाए जदि वि तमुवणमेज्ज ।

तद्य वि हु तस्स ण जायदि ज्झाणस्स विसोत्थिया को वि ॥२०४२॥

स्पष्टःतरणाया ॥२०४२॥

सच्चित्ते साहरिदो तस्य उवेक्खदि वियत्तसम्बंगो ।

उवसग्गे य पसंते जदणाए थंडिलमुवेदि ॥२०४३॥

‘सच्चित्ते साहरिदो’ व्याघ्रादिभिः साचत्से निक्षिप्तं स तत्रैवोपेक्षते त्यक्तसर्वाङ्गः । उपसर्गं प्रशाते
यत्नेन स्वच्छिन्नमुपैति ॥२०४३॥

एवं उवसग्गविधिं परीसहविधिं च सोधिया संतो ।

मणवयणकायगुत्तो सुणिच्छिदो णिज्जिदकसाओ ॥२०४४॥

‘एवं उवसग्गविधिं’ एवमुपसर्गान् परिषहाय च सहमानस्त्रिगुप्तं सुनिश्चतो निश्चितकषाय ॥२०४४॥

इहलोए परलोए जीविदमरणे सुहे य दुक्खे य ।

णिप्पडिच्चदो विरहदि जिददुक्खपरिस्समो धिदिमं ॥२०४५॥

शा०—त्रिन्तर किपुरुष जातिके व्यन्तर देवोकी देवागनाए अतुल ऋद्धिरूप विक्रियाके
द्वारा यदि उसे लुभानी है तो भी वह उनके लाभमें नहीं आता ॥२०४०॥

शा०—यदि तीन लोकवर्ती समस्त पुद्गल द्रव्य दुःखरूप परिणत होकर उसे दुःखी करे
तब भी वह ध्यानसे विचलित नहीं होता ॥२०४१॥

शा०—तथा तीन लोकवर्ती समस्त पुद्गलद्रव्य सुखरूप परिणत होकर उसे सुखी करे तब
भी वह ध्यानसे विचलित नहीं होता ॥२०४२॥

शा०—यदि व्याघ्र आदिके द्वारा वह हरित तृणसे भरे हुए प्रदेशमें डाल दिया जाता है
तो अपने शरीरका मोहत्याग शान्तभावसे वहीं स्थिर रहता है और उपसर्ग दूर होनेपर सावधानता
पूर्वक तृणरहित भूमिप्रवेशमें चला जाता है ॥२०४३॥

शा०—इस प्रकार उपसर्गों और परीषर्होंको सहन करते हुए वह मनोभुक्ति वचनगुप्ति
और कामगुप्तिका पालन करता है । तथा स्थिरतापूर्वक कषायोंको भीतरता है ॥२०४४॥

शा०—दुःख और परिश्रमपर विजय प्राप्त करने वाला वह भीरु भीरु क्षपक इस लोक.

'इहृकोवे वरलोने' इह वरुण च जीविते मरणे दुःखे न अप्रतिबन्धो विहरति जितदुःखपरिभ्रमः
वृत्तिमाप् ॥२०४५॥

वायणपरियदुष्पयुच्छनाओ मोक्षं तथय चम्मयुदिं ।
सुखत्थपोरिसीसु वि सरेदि सुखत्थमेवमणो ॥२०४६॥

'वायणपरियदुष्पयुच्छनाओ' वाचनां, परिवर्तनं, प्रश्नं च मुक्त्वा च तथा धर्मोपदेशं सूत्रस्वार्थस्य वा
स्वरत्येकचित्तः ॥२०४६॥

एवं अहुवि जामे अनुवदुो तच्छ ज्ञादि एयमणो ।
अदि आधच्छा णिहा हविज्ज सो तत्थ अपदिसिणो ॥२०४७॥

'एवं अहुवि जामे' एवमेवाष्टदु यामेषु निरस्तस्यनक्रियो ध्यात्येकचित्तः, यथाहृत्य निद्रा भवेत् तत्र
अप्रतिज्ञोऽसौ ॥२०४७॥

सज्जायकालपडिलेहणादिकाओ ण संति किरियाओ ।
जम्हा मसाणमज्जे तस्स य ज्ञाणं अपदिसिद्धं ॥२०४८॥

'सज्जायका . पडिलेहणादिकाओ' स्वाध्यायकालप्रतिलेखनादिका क्रिया न सन्ति यस्मात् समसालम्ब्येऽपि
तस्य ध्यान न प्रतिषिद्धं ॥२०४८॥

आवासगं च कुणदे उवचोकालम्मि जं जहिं कमदि ।
उवकरणं पि पडिलिहइ उवचोकालम्मि जदणाय ॥२०४९॥

'आवासगं च कुणदे' आवश्यकं च करोति कालद्वयेऽपि यस्मिन्काले प्रवर्तते, उपकरणप्रतिलेखनमपि
यत्नेन कालद्वये करोति ॥२०४९॥

परलोक, जीवन, मरण, सुख और दुःखमें रागद्वेष रहित होकर विहरता है अर्थात् न जीवन
आदिसे राग करता है और मरण आदिसे द्वेष करता है ॥२०४५॥

शा०—स्वाध्यायके पूर्व भेदोभेदे वाचना, आम्नाय, पुच्छना और धर्मोपदेशको त्यागकर
वह अस्वाध्यायकालमें भी एकाग्रमनसे सूत्रके अर्थका ही अनुचिन्तन करता है । अर्थात् सतत
अनुप्रेक्षारूप स्वाध्यायमें ही लीन रहता है ॥२०४६॥

शा०—इस प्रकार वह दिन रातके आठों पहरोमें निद्राको त्यागकर एकाग्र मनसे ध्यान
करता है । यदि कभी बलात् निद्रा आ जाती है तो मो लेता है ॥२०४७॥

शा०—अन्य मुनियोंकी तरह न तो उनका स्वाध्यायकाल ही नियत होता है और न उन्हें
प्रतिलेखना आदि क्रिया करना ही आवश्यक होता है । उनके लिये स्मसानमें भी ध्यान करना
निषिद्ध नहीं है ॥२०४८॥

शा०—किन्तु दिन रातमें जब जो आवश्यक करनेका विधान है वह अवश्य करते हैं और
सावधानता पूर्वक दोनों कालोंमें अपने उपकरणोंकी प्रतिलेखना भी करते हैं ॥२०४९॥

सहसा चुनकरकलिदे निसीधियादीसु मिच्छकारे सो ।

आसिअनिसीधियाओ गिग्गमजपवेसथे कुण्ह ॥२०५०॥

‘सहसा चुनकरकलिदे’ सहसा स्वरुने जाते निव्या मया इतमिति इधीति, मिच्छमजपवेसथोः नासि-
कानिधीधिकासम्प्रयोगं करोति ॥२०५०॥

पादे कंटयमादि अच्छिम्मि रजादियं जदावेज्ज ।

गच्छदि अघाविधिं सो परणीहरणे य तुण्हिहक्को ॥२०५१॥

‘पादे कंटयमादि’ पादयोः कंटकप्रवेसे नेत्रयोः रजःप्रवृत्तिप्रवेसेऽपि तुष्णीमास्ते, परनिराकरणेऽपि स
तुष्णीमास्ते ॥२०५१॥

वेउब्बजमाहारयचारणखीरासवादिलद्धीसु ।

तवसा उप्पण्णामु वि विरागमावेण सेवदि सो ॥२०५२॥

‘वेउब्बजमाहारय’ विक्रियाश्रद्धी आहारकश्रद्धी चारणश्रद्धी खीरासवाविकल्पिषु वा तपसोत्पन्ना-
स्वपि विरागतया न किंचित्सेवते सः ॥२०५२॥

मोणाभिम्माहणिरदो रोगादंकादिवेदणाहेदुं ।

ण कुणदि पडिकारं सो तद्देव तण्हाछुहादीणं ॥२०५३॥

‘मोणाभिम्माहणिरदो’ मोनव्रतोपपन्नः रोगात्कृदिवेदनानिमित्तं प्रतीकारं न करोति तथैव तुहा-
दीनामपि ॥२०५३॥

उवएसो पुण आहरियाणं हंगिणिगदो वि छिण्णकथो ।

देवेहिं माणुसेहिं व पुट्टो घम्मं कषेदिचि ॥२०५४॥

शा०—यदि उसमें नवचित् चुक जाते हैं तो ‘मेरा दोष मिथ्युहो’ ‘मैंने गलत किया’ ऐसा
बोलते हैं । तथा बाहर जाने और भीतर प्रवेश करनेपर ‘आसही, निसही’ शब्दोंका उच्चारण भी
करते हैं ॥२०५०॥

शा०—यदि पेरमें कौटा चुस जाता है या आँसुमें धूल आदि चली जाती है तो चुप रहते
हैं स्वयं उसे दूर नहीं करते । यदि दूसरा दूर करता है तब भी चुप ही रहते हैं ॥२०५१॥

शा०—यदि तपके प्रभावसे उन्हें विक्रिया श्रद्धि, आहारक श्रद्धि वा चारण श्रद्धि अथवा
खीरासव आदि श्रद्धियाँ प्रकट होती हैं तो विरागी होनेसे उनका किञ्चित् भी सेवन नहीं
करते ॥२०५२॥

शा०—बहु मोनका पालन करनेमें लीन रहते हैं, रोग आदिसे होनेवाले कष्टको दूर करनेका
प्रयत्न नहीं करते । इसी प्रकार भूख प्यास आदिका भी प्रतीकार नहीं करते ॥२०५३॥

'उपदेशो पुनः आहरिवान्' उपदेशः पुनः आचार्याणां इङ्गिणीकृतोऽपि वनं कथयति देवैर्मनुष्यैर्वा पुष्टः ।
कथं कथयति छिन्नकथं प्रवर्ततेन महता ॥२०५४॥

एवमथक्त्वाद्बिधिं साधिता इङ्गिणीं बुद्धिक्लेशा ।

सिद्धिं प्रति केद् केद् हवति देवा विमानेषु ॥२०५५॥

'एवमथक्त्वाद्बिधिं' एवं क्त्वात्कृतकमेव इङ्गिणीं प्रसाध्य निरस्तकलेशाः केचित्सिध्यन्ति, केचिद्वैमानिक-
देवा भवन्ति ॥२०५५॥

एद् इङ्गिणीमरणं वाससमासेण बणिगाद् बिधिना ।

पाजोगमरणमिषो समासदो षेव वञ्चेति ॥२०५६॥

स्पष्टार्था गणा । इङ्गिणी ॥२०५६॥

पाजोवगमणमरणस्स होदि तो षेव उवक्कमो सव्वो ।

बुत्तो इङ्गिणीमरणस्सुक्कमो जो सवित्थारो ॥२०५७॥

स्पष्टार्थः ॥२०५७॥

णवर्णिं तणासंचारो पाजोवगदस्स होदि पडिसिद्धो ।

आदपरपजोमेण य पडिसिद्धं सव्वपरियम्मं ॥२०५८॥

'णवर्णिं तणासंचारो' नवरं तुणवंस्तरः प्रायोपनयनगतस्य प्रतिषेधः, आत्मपरप्रयोगेन यस्मात्प्रतिषिद्धः
सर्वः प्रतीकारः । स्वपरसंपाद्यप्रतीकारापेक्षः भूक.प्रत्याख्यानविधिः, परनिरपेक्षमात्मसंपाद्यप्रतीकारमिच्छिणी-
मरणं, सर्वप्रतीकाररहितं प्रायोपनयनमित्यन्वीषां श्लेषः ॥२०५८॥

शा०—अन्य आचार्यों का मत है कि इङ्गिणीमरण करते हुए भी क्षपक देवों या मनुष्योंके
द्वारा पूछे जानेपर थोड़ासा धर्मोपदेश भी करता है किन्तु अधिक नहीं करता ॥२०५४॥

शा०—इस तरह ऊपर कहे अनुसार इङ्गिणीमरणकी साधना करके कोई तो समस्त
कलेशोंसे छूटकर मुक्त हो जाते हैं और कोई भरकर वैमानिकदेव होते हैं ॥२०५५॥

शा०—इस इङ्गिणीमरणका विस्तार और संक्षेपसे विधिपूर्वक कथन किया । आगे प्रायोप-
नयनका संक्षेपसे कथन करेंगे ॥२०५६॥

शा०—ऊपर इङ्गिणीमरणकी जो विस्तारसे विधि कही है वही सब विधि प्रायोपनयन
मरणकी होती है ॥२०५७॥

शा०—किन्तु इसना विशेष है कि प्रायोपनयनमें तुणोंके संभरेका-तुणसम्म्याका निषेध
है । क्योंकि उसमें स्वयं अपनेसे और दूसरोंसे भी सब प्रकारका प्रतीकार करना कराना निषिद्ध
है ॥२०५८॥

टी० - भूक.प्रत्याख्यानमें तो अपनी सेवा स्वयं भी कर सकता है और दूसरोंसे भी
करा सकता है । इङ्गिणीमें अपनी सेवा स्वयं कर सकता है, दूसरोंसे नहीं करा सकता । किन्तु

सो सन्नेहिवेहो जम्हा पाओवगमणह्वजादि ।

उच्चारदिविकिचणमवि णत्थि पओगदो तम्हा ॥२०५९॥

'सो सन्नेहिवेहो' स सम्यक्कृतशरीरो यस्मात्प्रायोपगमनमुपयाति तस्मादुच्चारदिविनिराकरणमवि नास्ति प्रयोगतः ॥२०५९॥

पुडवी आऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदो ।

वोसहु चत्तदेहो अघाउमं पालए तत्थ ॥२०६०॥

'पुडवी आऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदो' पुण्ड्र्यादिषु जीवनिकायेषु यद्यपि केनचिदाकृष्ट-
स्तथापि व्युत्सृष्टशरीरसंस्कारस्त्यक्तवेहः स्वमायुः पालयेत् ॥२०६०॥

मज्जणयगंधपुप्फोवयारपडिचारणे वि कीरंते ।

वोसहुचत्तदेहो अघाउमं पालए तत्थवि ॥२०६१॥

'मज्जणयगंधपुप्फोवयारपडिचारणे वि कीरंते' यद्यपि कश्चिदभिवेचयेत् गन्धपुष्पादिभिर्वा संस्तुयात्
तथापि व्युत्सृष्टत्यक्तशरीरो न क्वप्यति न तुष्यति न निवारयति ॥२०६१॥

वोसहुचत्तदेहो दु णिप्पिस्ववेज्जो जहिं अघा अंगं ।

जावज्जीवं तु सयं तहिं तमंगं ण चालेदि ॥२०६२॥

'वोसहुचत्तदेहो' व्युत्सृष्टत्यक्तशरीरो निक्षिपेत् कश्चिदव्यस्तिमन्यथाङ्गं यावज्जीवं स्वयं तस्मिन्स्वयङ्गं न
चालयति ॥२०६२॥

एवं णिप्पडियम्मं भणति पाओवगमणमरहंता ।

णियमा अणिहारं तं सिया य णीहारह्वसग्गे ॥२०६३॥

प्रायोपगमनमें अपनी सेवा न स्वयं करता है और न दूसरोंसे कराता है । यही इन तीनोंमें
मेव है ॥२०५८॥

ग०—यत जो अपने शरीरको सम्यक् रूपसे कृपा करता है अर्थात् अस्थि चर्ममात्र शेष
रहता है वही प्रायोपगमन मरण करता है । अतः मल मूत्रके स्वयं या दूसरेके द्वारा त्याग
करानेका प्रश्न ही नहीं रहता ॥२०५९॥

ग०—यदि कोई उन्हे पृथ्वी, जल, तेज, वनस्पति और त्रस आदि जीवनिकायोंमें फेंक
देता है तो शरीरसे ममत्व त्यागकर अपनी आयुके समाप्त होने तक वहीं पड़े रहते हैं ॥२०६०॥

ग०—यदि कोई उनका अभिवेक करे या गन्ध पुष्प आदिसे पूजा करे तब भी शरीरसे
ममत्व त्यागकर न रोष करते हैं, न प्रसन्न होते हैं और न उसे ऐसा करनेसे रोकते हैं ॥२०६१॥

ग०—शरीरसे ममत्वका त्याग करने वाला वह प्रायोपगमनका घारी क्षपक जिस क्षेत्रमें
जिस प्रकारसे शरीरका कोई अंग रखा गया हो, उसको वैसा ही पड़ा रहने देता है, स्वयं अपने
अंगको हिलाता डुलाता नहीं है ॥२०६२॥

ग०—इस प्रकार अरहंतदेव प्रायोपगमनको स्व और परकृत प्रतीकारसे रहित कहते हैं ।

'एवं विष्णुविद्यार' एवं स्वपरकृतप्रतीकाररहितं प्रायोपवसनं विना बध्मि, निश्चयेन तत्प्रायोपवसन-
मनीहारमफलं स्याच्छकनपि उपसर्गं परकृतं बलमभवेत्य ॥२०६३॥

एतदेवोत्तरमाशया स्पष्टयति—

उवसग्नेष वि साहरिदो सो अष्णात्स कुण्णदि जं कालं ।

तम्हा बुत्तं णीहारसदो अष्णं अणीहारं ॥२०६४॥

एतदेव स्पष्टयति ॥२०६४॥

पट्टिमापट्टिवष्णा वि हु करंति पाओवगमणमप्येमे ।

दोहद्धं विहरंता इंगिणिमरणं च अप्येमे ॥२०६५॥

'पट्टिमापट्टिवष्णा वि हु' प्रतिमाप्रतिपन्ना अपि एके प्रायोपवसनं कुर्वन्ति, एके इच्छिणिमरणं ।
पाठनं ॥२०६५॥

आगाढे उवसग्ने दुब्भिकस्से सम्बदो वि दुत्तारे ॥

कदजोवि ममधियासिय कारणजादेहिं वि मरंति ॥२०६६॥

'आगाढे उवसग्ने' उपसर्गं महति दुर्भिक्षे वा दुस्सरे जाते कृतयोगिन परीषहसहा. कारणजातमा-
श्रित्य मरणे कृतोत्साहा भवन्ति । तस्यैव वस्तुन उदाहरणानि उतरमाशाभिस्तुभ्यन्ते ॥२०६६॥

निश्चयसे प्रायोपवसनं अवचल होता है । किन्तु उपसर्ग अवस्थामें मनुष्यादिके द्वारा चलायमान
क्रिये जानेपर चल भी होता है अर्थात् स्वयं शरीरको न हिलानेसे तो अवचल हो है किन्तु दूसरेके
द्वारा हिलाने पर चल होता है ॥२०६३॥

आगेकी माथासे इसीको स्पष्ट करते हैं—

शा०—उपसर्ग अवस्थामें एक स्थानसे उठाकर दूसरे स्थानमें डाल दिये जाने पर यदि वह
वहीं मरण करता है तो उसे नीहार कहते हैं, और ऐसा नहीं होनेपर पूर्व स्थानमें ही मरण हो
तो वह अनीहार कहाता है ॥२०६४॥

शा०—जिनकी आयुका काल अल्पशेष रहता है वे प्रतिमा योग धारण करके प्रायोपवसन
करते हैं । और कुछ दीर्घकाल तक बिहार करते हुए इंगिनीमरण करते हैं ॥२०६५॥

विशेषार्थ—आज्ञाधर जी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—कुछ तो सल्लेखनां न
करके ही कायोत्सर्ग पूर्वक प्रायोपवसन करते हैं और कोई चिरकाल तक उपवास करके प्रायोप-
वसन करते हैं । इसी प्रकार इंगिणी भी जानना । अर्थात् उन्होंने दोनों मरणोंके दो-दो प्रकार
कहे हैं । ऊपरके अर्थके अनुसार अल्प आयु वाले प्रायोपवसन करते हैं इसीसे वे अपने शरीरकी
सेवा न स्वयं करते हैं न दूसरेसे कराते हैं । दीर्घ आयु शेष रहने वाले इंगिनीमरण करते हैं अतः
वे अपने शरीरकी सेवा स्वयं तो करते हैं दूसरेसे नहीं कराते । उन्हें स्वयं मलमूत्रादि का त्याग तो
करना होता ही है ॥२०६५॥

षष्ठ०—महान् उपसर्गं बध्मवा भयानक दुर्भिक्ष होनेपर परीषहोंको सहन करनेमें समर्थ
हुनि अल्प भी मरणके कारण उपस्थित होनेपर उत्साहपूर्वक मृत्युका आश्रय करते हैं ॥२०६६॥

कोसल्य धम्मसीहो अहुं साधेदि गिद्धपुणेण ।
 नयरम्मि य कोल्लगिरे चंदसिरीं विप्पजहिदूण ॥२०६७॥
 पाडल्लिपुषे धूदाहेदुं मामयकदम्मि उवसग्गे ।
 साधेदि उसमसेणो अहुं विक्खाणसं किच्चा ॥२०६८॥
 अहिमारएण णिवदिम्मि मारिदे गहिदसमणल्लिगेण ।
 उट्टाहपसमणत्थं सत्थग्गाहणं अकासि गणी ॥२०६९॥
 सगडालएण वि तथा सचग्गहणेण साधिदो अत्थो ।
 वररुद्धपजोगहेदुं रुट्ठे नंदे महापउमे ॥२०७०॥
 एवं पण्डियमरणं सवियप्यं वणिणदं सवित्थारं ।
 बुच्छामि बालपंडियमरणं एत्थो समासेण ॥२०७१॥

आगेकी गाथाओंसे इसीके समर्थक उदाहरण देते हैं--

शा०—अयोध्या नगरीमें धर्मसिंह नामक राजाने अपनी चन्द्रभ्रा नामक पत्नीको त्यागकर दीक्षा धारण की। और अपने श्वसुरके भयसे कोल्लगिरि नगरमें हाथीके कलेवरमें प्रवेश करके आराधनाकी साधना की ॥२०६७॥

विशेषार्थ—बु० क० कोसले इसकी कथाका नम्बर १५४ है।

शा०—पाटलीपुत्र नगरमें ऋषभसेन नामक श्रेष्ठीने अपनी पत्नीको त्यागकर दीक्षा ली। अपनी पुत्रीके स्नेहवश श्वसुरके द्वारा उपसर्ग किये जानेपर ऋषभसेनने श्वास रोककर साधना की ॥२०६८॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका क्रमांक १५५ है।

शा०—श्रावस्ती नगरीके राजा जयसेनने बौद्धधर्म त्यागकर जैनधर्म धारण किया था। इससे कुपित होकर अहिमारक नामक वीरने उसे उम समय मार डाला जब वह आचार्य यस्ति-वृषभको नमस्कार कर रहा था। तब मुनिने अपना अपवाद दूर करनेके लिये शस्त्रसे अपना घात करते हुए साधना की ॥२०६९॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका क्रमांक १५६ है।

शा०—पाटलीपुत्रमें नन्दराजाका मंत्री शकटाल था। उसने महापद्म सूरिसे जिन दीक्षा ग्रहण की। उसके विरोधी वरसचिने राजा महापद्मको रूट करके शकटालको मारनेका प्रयत्न किया तो शकटाल मुनिने पद्म नमस्कार मंत्रका ध्यान करते हुए सूरिसे अपना घेठ फाड़ डाला और इस प्रकार आराधनाकी साधना की ॥२०७०॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका नम्बर १५७ है।

शा०—इस प्रकार भेद सहित पण्डितमरणका विस्तारसे कथन किया। आगे संक्षेपसे बाल-

पण्डितमरण । एवं पण्डितमरणं क्वचिद्वर्षं क्वचित्तरं प्रत्यागमितं, यदापि बालपण्डितमरणमित् कर्त्तव्यं संशयेन ॥२०६७-२०७१॥

देशेकदेशविरतो सम्भाविष्टी मरिच्य ओ बीनो ।

तं होदि बालपण्डितमरणं जिणसासणे विहुं ॥२०७२॥

'देशेकदेशविरतो' सम्भासंयमप्रत्यागमानत्यासमर्थः हिंसाशेकदेशाद्विरतः स्फुल्लभूतप्राणाधिपातादिपञ्चकाम्हेवविरत इत्युच्यते । एकदेशविरतो नाम देशविरतमर्जेय एकदेशाद्भवान्मृतः सम्बन्धितयोः शिष्यो उच्यते इत्यात्मपण्डितमरणं ॥२०७२॥

एतदेव स्पष्टवति—

पंच य अनुच्यदाहं सप्तपक्षिच्छाउ देशवदिवम्भो ।

सम्भेय य देशेन य तेन जुदो होदि देशवदी ॥२०७३॥

'पंच य अनुच्यदाहं' पञ्चानुव्रतानि शिष्याव्रतानि वा सप्त प्रकाराणि देशवदोःशर्मः । तेन समस्तेन धर्मो न्युतः स्वशासना वा तदेकदेशेन मुतोऽपि देशयतिरेव । इत्यवधिच्युद्धिर्मप्रत्यागमनपराणि सूत्रान्मुतराणि प्रसिद्धाणि ॥२०७३॥

पानवच्युसावादादपादानपरदारगमणेहि ।

अपरिनिदिच्छादो वि ज अनुच्ययाहं विरमगाहं ॥२०७४॥

अं च दिसावेरमणं अणत्वददेहिं जं च वेरमणं ।

देशावगासियं पि य गुणच्ययाहं मवे ताहं ॥२०७५॥

पण्डितमरणका कथन करेगे ॥२०७१॥

भा०-टी०-—जो समस्त असंयमका त्याग करनेमें असमर्थ है स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल कुशील और स्थूल परिग्रह आदि पाँच पापोंका त्याग करता है उसे देशविरत कहते हैं । और जो देशविरतके भी एक देशसे विरत होता है अर्थात् अपनी शक्तिके अनुसार हिंसादिका त्याग करता है ऐसा सम्यग्दृष्टि एक देशविरत कहा जाता है । इस प्रकार जो समस्त या एकदेश गृहस्थ धर्मका पालक आवश्यक होता है उसके मरणको जिनागममें बालपण्डितमरण कहा है ॥२०७२॥

उसीको स्पष्ट करते हैं—

भा०-—पाँच अनुव्रत और सात शिष्याव्रत ये देशसंयमी आवश्यक धर्म हैं । जो उस सम्पूर्ण आवश्यक धर्मका पालक है अथवा अपनी शक्तिके अनुसार उसके एक देशका पालक है वह भी देशसंयमी ही है ॥२०७३॥

जाने बारह प्रकारके गृहीधर्मको कहते हैं जो प्रसिद्ध हैं—

भा०-—हिंसा, असत्य, जिना वी हुई वस्तुका ग्रहण, पर स्त्री गमन और इच्छाका अपरिग्रह—इनके विरतिरूप पाँच अनुव्रत हैं ॥२०७४॥

भा०-—दिव्यविरति, अनर्थव्यवहिरति, देशावकाशिक ये तीन गुणव्रत हैं ॥२०७५॥

भोगार्थं परिसंखा साम्राज्यमतिहिसंविभागे य ।
 पोसहविधि य सन्वो चतुरो सिक्खाउ बुचाओ ॥२०७६॥
 आमुक्कारे मरणे अब्बोच्छिन्नाए जीविदासाए ।
 णादीहि वा अमुक्को पच्छिममन्लेहणमकासी ॥२०७७॥

‘आमुक्कारे मरणे’ सहसा मरणे अच्छिन्नायां जीविताशायां इत्युभिरां न मुक्त. पश्चिमसल्लेखनाम-
 कृत्वा कृतालोचनो निष्कल्यः स्वगृह एव संस्तरमावह्य देशविरतस्य मृतिर्बालपण्डितमित्युच्यते ॥२०७६-७७॥

आलोचिदमिस्सन्लो सधरे वेवारहितु संघारं ।
 जदि मरदि देसविरदो तं बुचं बालपंडिदयं ॥२०७८॥
 जो भत्तपदिण्णाए उक्ककमो वित्थरेण णिदिट्ठो ।
 सो वेव बालपंडिदमरणे जेजो जहाजोग्गो ॥२०७९॥
 वेयाणिएसु कप्पोवगेसु णियमेण तस्स उववादो ।
 णियमा सिज्जादि उक्कस्सएण वा सत्तमम्मि भवे ॥२०८०॥
 इय बालपंडियं होदि मरणमरहंतसासणे दिट्ठं ।
 एत्तो पंडिदपंडिदमरणं वोच्छं समासेण ॥२०८१॥

स्पष्टार्थां त्रयो गाथा । बालपण्डिद ॥२०७८-२०८१॥

गा०—भोगपरिमाण, सामायिक, अतिथिसंविभाग और प्रोषधोपवास ये चार सिखावत कहे हे ॥२०७६॥

गा०—सहसा मरण उपस्थित होनेपर, जीवनकी आशा रहनेपर, अथवा परिवर्तनके द्वारा मुक्त न किये जानेपर अन्तिम सल्लेखना धारण न करके, अपने दोषोको आलोचना पूर्वक शल्य रहित होकर अपने घरमें ही संस्तरपर स्थित होकर देशविरत श्रावकके मरणको बालपण्डित मरण कहते हैं ॥२०७७॥

गा०—विधिपूर्वक आलोचना करके, माया मिथ्यात्व और निदान शक्यसे मुक्त होकर अपने घरमें संस्तरपर आरूढ़ होकर यदि श्रावक देशविरत भरता है तो उसे बालपण्डित मरण कहा है ॥२०७८॥

गा०—भक्तप्रत्याख्यानमें जो विधि विस्तारसे कही है वही सब विधि बालपण्डितमरणमें यथायोग्य जानना ॥२०७९॥

गा०—बहु श्रावक मरकर नियमसे सौधमार्गि कल्पोपपन्न वैमानिक देवोंमें उत्पन्न होता है और नियमसे अधिक से अधिक सात भवोंमें मुक्त होता है ॥२०८०॥

गा०—इस प्रकारके मरणको अरहन्त भगवान्के धर्ममें बालपण्डित कहा है । आगे संक्षेपसे पण्डित पण्डितमरणको कहते हैं ॥२०८१॥

साह जहुचकारी बहू तो अप्पमचकालम्मि ।

ज्जाणं उवेदि धम्मं पविट्ठुकामो खवणसेदि ॥२०८२॥

'साहू जहुचकारी' शास्त्रोक्तेन मार्गेण प्रवर्तमानस्तापुप्रयत्नगुणस्थानकाले धर्म्यं ध्यानमुपैति क्षपकश्रेणि प्रवेष्टुकामः ॥२०८२॥

ध्यानपरिकरं बाह्यं प्रतिपाद्यति—

मुच्चिं सभे विविचे देसे णिज्जंतुए अणुण्णाए ।

उज्जुअआयददेहो अचलं बंधेसु पल्लिअंकं ॥२०८३॥

'मुच्चिं सभे' बुद्धी सभे एकान्तदेशे निर्बन्धुके अनुज्ञाते तत्स्वामिनिः श्चज्वायतदेह. पत्यकुमचल वद्ध्वा ॥२०८३॥

वीरासणमादीयं आसणसमपादमादियं ठाणं ।

सम्मं अधिद्धिदो वा सिज्जमुत्ताणसयणादि ॥२०८४॥

'वीरासणविमं' वीरासननादिकमासनं वद्ध्वा समपादादिना स्थिता वा अथवा उत्तानशयनादिना वा वृत् ॥२०८४॥

पुण्वभणिदेण विधिणा ज्जादि ज्जाणं विसुद्धलेस्साओ ।

पवणसमिण्णमदी मोहस्स खयं करेमाणो ॥२०८५॥

'पुण्वभणिदेण विधिणा' पूर्वोक्तेन क्रमेण ध्याने प्रवर्तते विसुद्धलेश्यः । प्रवचनार्थमनुप्रविष्टमतिः मोहनोय क्षय नेतुमुद्यतः ॥२०८५॥

संजोयणाकमाए खवेदि ज्ञाणेण तेण सो पढमं ।

मिच्छत्तं सम्मिस्सं कमेण सम्मत्तमवि य तदो ॥२०८६॥

'संजोयणाकसाए' अनन्तानुबन्धिन क्रोधमानमायालोभान् क्षपयति ध्यानेन, तैनामी प्रथमं मिथ्यात्वं,

मा०—शास्त्रोक्त मार्गसे प्रवृत्ति करता हुआ साधु क्षपक श्रेणिपर आकाङ्क्ष होनेकी इच्छासे अप्रमत्त गुणस्थानमे धर्मध्यान करता है ॥२०८२॥

ध्यानकी बाह्य सामग्री कहते हैं—

बा०—पवित्र और जन्तुरहित एकान्त प्रदेशमें, उस स्थानके स्वामीकी आज्ञा प्राप्त करके, समभूमिभागमें गरीरको सीधा रखते हुए पल्यंकासन बांधकर अथवा वीरासन आदि लगाकर, अथवा दोनो पैरोंको समरूपसे रखते हुए खड़े होकर अथवा ऊपरको मुलकर शयन करते हुए वा एक करबटसे लेटकर पूर्वमें कही विधिके अनुसार विसुद्ध लेश्यापूर्वक मोहनीय कर्मका क्षय करनेमें तत्पर होता हुआ ध्यान करता है तथा चतुर्दश पूर्वों का अर्थ श्रवण करनेसे उसकी बुद्धि निर्मल होती है अर्थात् उसके श्रुतज्ञानावरणका प्रबल क्षयोपशम होता है ॥२०८३-२०८५॥

ख०—प्रथम ही वह उस ध्यानके द्वारा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभका क्षय

सम्यक्मिथ्यात्वं, सम्यक्त्वं च क्रमेण एवं प्रकृतितत्पदकं विनाप्य क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा क्षपकत्वं व्यभिरोहणा-
मियुक्तोऽथःप्रवृत्तकरणं अप्रमत्तत्वानि प्रतिपद्य ॥२०८१॥

अथ क्षपकत्वं क्षयिगम्यं कृणुह साधु अपुञ्जकरणं सो ।

होह तमपुञ्जकरणं कयाह अप्यत्तपुञ्जति ॥२०८७॥

'अथ क्षपकत्वं क्षयिगम्यं' अथ क्षपकत्वं क्षयिगम्यं करोति साधुरपूर्वकरणमसौ । किं तत्पूर्व-
करणमित्याशङ्क्यामुच्यते । 'होहि तमपुञ्जकरणं' भवति तत्पूर्वकरणं, 'कदाह अप्यत्तपुञ्जति' कदाचित्प्राप्त-
पूर्वमिति ॥२०८७॥

अणिवित्तिकरणणामं नवमं गुणठाणयं च अधिगम्य ।

णिहाणिहा पयलापयला तथ शीणगिद्धि च ॥२०८८॥

'अणिवित्तिकरणणामं नवमं गुणठाणयं' अणिवित्तिगुणस्थानमुपगम्य 'णिहाणिहा पयलापयला
निदानिद्रा प्रचलाप्रचला स्थानगृद्धि च ॥२०८८॥

णिरयगदियाणुपुञ्जि णिरयगदिं धावरं च सुहुमं च ।

साधारणादबुज्जोवतिरयगदिं आणुपुञ्जीए ॥२०८९॥

'णिरयगदियाणुपुञ्जि' नरकगत्यानुपूर्वि, नरकगति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारणं, आतपं, उद्योत
तिर्यग्गत्यानुपूर्वि ॥२०८९॥

करता है फिर मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतियोंका क्षय करके क्षायिक
सम्यग्दृष्टि होकर क्षपक श्रेणिके अभिमुख होनेके लिये अप्रमत्त गुणस्थानमें अधः प्रवृत्तकरण करता
है ॥२०८६॥

टा०—अनन्त संसारका कारण होनेसे मिथ्यात्वको अनन्त कहते हैं । उसके साथ बन्धनेसे
अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि चार यहाँ संयोजना शब्दसे लिये गये हैं । मिथ्या पदार्थों के अभिनिवेश-
में जो निमित्त होता है वह मिथ्यात्व नामक दर्शन मोहनीय है । जिस मिथ्यात्वका स्वरस अर्ध-
शुद्ध हो जाता है उसे सम्यक् मिथ्यात्व कहते हैं । और जिस मिथ्यात्वका शुभ परिणामके द्वारा
स्वरस क्षीण हो जाता है उसे सम्यक्त्व दर्शन मोहनीय कहते हैं । इसके उदय रहते हुए भी
तत्त्वार्थका श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन होता है । किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन इन सातोंके अभावमें ही
होता है । और क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही क्षपक श्रेणिपर आरोहण करता है ॥२०८६॥

शा०—क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर वह क्षपक श्रेणिपर आरोहण करके प्रथम अपूर्वकरण
करता है । उसे अपूर्वकरण इमलिये कहते हैं कि उसने इस प्रकारके परिणाम कभी भी नीचेके
गुणस्थानोंमें प्राप्त नहीं किये थे ॥२०८७॥

शा०—उसके पश्चात् वह साधु अनिवृत्ति करण नामक नवम गुणस्थानको प्राप्त करके
निदानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्थानगृद्धि, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकगति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण,

इगविगसिगचदुरिदिवनामाई तथ विरिक्खमदिणामं ।

खवयिथा मज्झिम्मे खवेदि सो अहुवि कसाद् ॥२०९०॥

'इगविग' एकद्विविधचतुरिध्रियजातीः, तिर्यग्गतिः, अप्रत्याख्यानचतुष्कं, प्रत्याख्यानचतुष्कं च अपवति ॥२०९०॥

ततो णपुंसगित्थीवेदं हासादिछक्कपुवेदं ।

कोषं माणं मायं लोमं च खवेदि सो कमसो ॥२०९१॥

'तत णपुंसं' ततो नपुंसकं वेदं, स्त्रीवेदं, हास्यादिषट्कं, पुवेदं, संज्वलनक्रोधमानमायाक्षययति । पञ्चात्सोभमंज्वलनं ॥२०९१॥

अथ लोभसुहृमकिट्टिं वेदंतो सुहुमसंपरायचं ।

पावदि पावदि य तथा तण्णामं संजमं सुद्धं ॥२०९२॥

'अथ लोभसुहृमकिट्टिं' अथ पञ्चाङ्गादरकृष्टिस्तरकाल लोभसूक्ष्मकृष्टि वेदवमानः । 'सुहुमसंपरायचं' पावदि सूक्ष्मसांप्रदायना प्राप्नोति । 'पावदि य तथा' प्राप्नोति च तथा तन्नामकं संजमं सुद्धं सूक्ष्मसांप्रदायना अधियच्छति ॥२०९२॥

तो सो खीणकसाओ जायदि खीणासु लोभकिट्टीसु ।

एय चवितक्कावीचारं तो ज्जादि सो ज्जाणं ॥२०९३॥

आतप, उद्योत, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति, दो इन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुर्न्द्रिय जाति, तिर्यग्गति, इन मोलहू कर्मप्रकृतियोंका क्षय करके मध्यकी आठ कषाय अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभका क्षय करता है ॥२०८८-२०९०॥

शा०—फिर क्रमसे उसी नवम गुणस्थानमें नपुंसक वेद, स्त्रीवेद हास्य, रति, अग्नि, शोक, भय जुगुप्सा, पुरुषवेद और संज्वलन, क्रोध मान मायाका क्षय करना है । अन्तमें संज्वलन लोभका क्षय करता है ॥२०९१॥

विशेषार्थ—क्षयका क्रम इस प्रकार है—हास्यादि छह नोकपायोंको पुरुषवेदमें क्षेपण करके नष्ट करता है । पुरुषवेदको क्रोध संज्वलनमें क्षेपण करके क्षय करता है । इसी प्रकार क्रोध संज्वलनको मान संज्वलनमें मानसंज्वलनको माया संज्वलनमें और माया संज्वलनको लोभसंज्वलनमें क्षेपण करके क्षय करता है । अन्तमें बादर कृष्टिके द्वारा लोभसंज्वलन को कृष्ट करके सूक्ष्म लोभ संज्वलन कषाय शेष रहती है ॥२०९१॥

शा०—बादर कृष्टिके पञ्चान् सूक्ष्मकृष्टिरूप लोभका वेदना करना हुआ इसमें सूक्ष्म-सांप्रदाय नामक गुणस्थानको प्राप्त करना है और वही उसी सूक्ष्मसांप्रदाय नामक समयको प्राप्त करता है ॥२०९२॥

१. एयमं सविषकः अविचारं मां कृष्टिं प्रादि-३० शा० ।

११२

'तो तो क्षीणकालो भवति' ततः सूक्ष्मसंप्रदायत्वावयंतं 'क्षीणकालो भवति' क्षीणकालो भवति । 'क्षीणानु क्षीणानु' संभवकालो भूयस्त्विति चोपायु । 'तो' ततः 'एकत्ववितर्कविचारज्ञानं तो क्षति' एकत्ववितर्कविचारं ध्यानं ध्याति ॥२०९३॥

ज्ञानेन य तेन अवकाशादेन य संजमेन धादेदि ।

सेसा धादिकम्माणि 'समं अवर्जनाणि तदो ॥२०९४॥

'ज्ञानेन य तेन' तेन ध्यानेन । 'तो' तेनेकत्ववितर्कविचारेण यथाध्यातेन चारिमेव शेषधातिकर्माणि समकाकमेव क्षयति । 'अवर्जनाणि' जीवत्यान्वयाभावकारणानि ॥२०९४॥

मत्स्ययस्युचीए जघा हृदाए कसिणो हदो भवदि तालो ।

कम्माणि तथा गच्छंति खयं मोहे हदे कसिणे ॥२०९५॥

'मत्स्ययस्युचीए जघा हृदाए' मत्सकसूच्यां यथा हृतायां । 'कसिणो तालो हदो भवति' कृत्स्नस्तालहृदो हदो भवति । 'कम्माणि तथा' कर्माणि तर्थाव 'खयं गच्छंति' क्षयगुण्याति । 'मोहे हदे कसिणे' मोहे हृदे कृत्स्ने ॥२०९५॥

जिहापचलाय दुबे दुषरिमसमयम्मि तस्स खीर्यंत ।

सेसाणि धादिकम्माणि चरिमसमयम्मि खीर्यति ॥२०९६॥

'जिहा पचला य दुबे' निद्राप्रचला च इ तस्य क्षीणकालस्य उपात्तसमये मत्स्ये । 'सेसाणि धादिकम्माणि' अवशिष्टाणि धातिकर्माणि त्रीणि तस्य चरिमसमये नश्यंति, पंच ज्ञानावरणानि, चत्वारि दर्शनावरणानि, पंचांतरायाश्च ॥२०९६॥

ततो षंतरसमए उप्पज्जदि सब्बपज्जयणिबंधं ।

केवलणामं मुद्धं तघ केवलदंसणं वेव ॥२०९७॥

शा०—सूक्ष्म लोभकृष्टिका क्षय होनेपर सूक्ष्म साम्प्रदायके पदचान् क्षीण कथाय नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती होता है । वहाँ वह एकत्व वितर्क विचार नामक ध्यानको ध्याता है ॥२०९३॥

शा०—उस ध्यान तथा यथाख्यात चारित्रके द्वारा वह जीवके अन्यथाभावमें कारण शेष धातिकर्मांका एक साथ क्षय करता है ॥२०९४॥

शा०—जैसे ताड़के वृक्षकी मस् क सूची, ऊपरका शाखाभार टूट जानेपर समस्त ताड़वृक्ष ही नष्ट हो जाता है वैसे ही समस्त मोहनोय कर्मके नष्ट होनेपर कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥२०९५॥

शा०—उस क्षीणकथाय गुणस्थानके उपात्तव समयमें निद्रा प्रचला नष्ट होती है । और शेष धातिकर्म—पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पांच अन्तराय अन्तिम समयमें नष्ट होते हैं ॥२०९६॥

सतो ज्ञानवर्धनावरणांतरात्मकवत् अनंतरसमये उत्पद्यते केवलज्ञानं सर्वपर्यायनिबद्धं, सर्वेषां द्रव्याणां विकालगोचरा ये पर्याया विशेषरूपाणि सत्र प्रतिबद्धं परिच्छेद्यकत्वेन ज्ञानस्वातिसद्यो वस्तुपदविशेषरूप परिच्छेदो नाम सामान्यरूपस्य युगपत्प्रवृत्त्याख्यातं भवति । केवलं इन्द्रियसहायतापेक्षात्वात् केवलमसहायं ज्ञानं रागादिमलाभावात् शुद्धं तथा केवलवर्धनं च ॥२०१७॥

अव्याघादमत्तदिदृक्पदमं सञ्चदो असंकुचिदं ।

इयं सयलमनंतं अविचयं केवलं ध्यानं ॥२०१८॥

‘अव्याघादं’ न विद्यते प्रत्ययावरेण व्याघातो बाधात्वेत्यव्याघातं । निश्चयात्कत्वात्संविद्धं । सर्वेभ्यो ज्ञानेभ्य उत्तमं प्रधानं भूतादिभिरिदं केवलं साध्यत इति । ‘असंकुचिदं’ न मत्प्राविण्यत्परमिष्यमिति । ‘दृक्’ एकस्मिन्नात्मनि स्वयमेव प्रवर्तत इति । ‘कवलं’ संपूर्णमात्मनःस्वरूपमिति । मत्प्रायोनि यथाशंसंपूर्णाणि न तथेव । ‘अनंतं’ अनंतप्रयोजनाच्छेदं । ‘अविचयं’ न विद्यते निवृत्तिविनाशोऽप्येत्यनिवृत्तं केवल-ज्ञानं ॥२०१८॥]

विचयपदं च विचिचं तिकालमहिदं तदो अगमिषं सो ।

सच्चं जुगवं पस्सदि सच्चयलोमं च सच्चो ॥२०१९॥

‘विचयपदं च विचिचं’ विचयपदविचिचं विचिचद्रव्यपदाविकल्पेण प्रत्ययमासमात् । ‘तिकाल महिदं’ कालवयसहितं ‘कचिदं’, ततः तेन केवलज्ञानेन सर्वं युगपत्प्रवृत्त्यलोकं कृत्स्नं ‘अनंतः’ समंतात् ॥२०१९॥

वीरियमनंतरायं होइ अनंतं तथेव तस्स तदा ।

क्यातीदस्स महाहमिस्स विग्गमिि खीणमिि ॥२१०॥

शा०—टी०—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका क्षय होनेके अनन्तर समयमें शुद्ध केवलज्ञान और शुद्ध केवल दर्शन उत्पन्न होता है । वह केवल ज्ञान सब द्रव्योंकी त्रिकालगोचर सब पर्यायोंको जानता है । वस्तुगत विशेषरूपको जानना ही ज्ञानका अतिशय है सामान्यरूपको जानना तो सुगम है । इसीसे केवल ज्ञानको सर्वपर्यायनिबद्ध कहा है । केवलका अर्थ है असहाय । केवल ज्ञान इन्द्रियोंकी सहायतासे रहित है इसीसे उसका नाम केवल है । तथा रागादिमलसे रहित होनेसे शुद्ध है । व्याघातसे रहित है क्योंकि कोई अन्य ज्ञान उसमें बाधा नहीं डाल सकता । निश्चयात्मक होनेसे सन्देह रहित है । ध्रुव आदि अन्य सब ज्ञानोंमें प्रधान होनेसे उत्तम है । सब द्रव्य और पर्यायोंमें प्रवर्तमान होनेसे मतिज्ञान आदिकी तरह उसका विषय अल्प नहीं है । तथा एक जात्थामें स्वयं ही होनेसे एक है । सम्पूर्ण आत्मस्वरूप होनेसे सकल है । जैसे मति आदि ज्ञान असम्पूर्ण है उस तरह वह सम्पूर्ण नहीं है । अनन्त प्रमाण बाला होनेसे अनन्त है । अविनाशी है, उसका कभी विनाश नहीं होता । विचित्र द्रव्य पर्यायरूपसे प्रतिभासमान होनेसे बिचयपदकी तरह विचिच-नानारूप है । उस केवलज्ञानसे वह तीन काल सहित इस समस्त जगतको और सर्व अलोकको एक साथ जानता है ॥२०१७-२०१९॥

शा०—उद्यमस्य अवस्थासे रहित उस महामुनिके अन्तराय कर्मका विनाश होनेपर अन्तराय

'ब.रियमन्तरत्वं होषि' निविघ्नं वीर्यं भवति । क्षायोपशमिकस्य हि वीर्यस्य पुनः वीर्यांतरायोदये सति विघ्नो भवति, न तथा तस्य निरवशेषस्ये । 'अमन्त' । 'क्षयातीवस्त' छत्रस्थकल्पना अनीलस्य महाभू-
नेविघ्ने विनष्टे ॥२१००॥

तो सो वेदयमाणो विहरइ सेसाणि ताव कम्माणि ।

जावस मत्ती वेदिज्जमा णस्साउगस्स भवे ॥२१०१॥

'तो सो वेदयमाणो' केवलज्ञानादिपरिप्राप्त्यनंतरकालं वेदयमानो विहरति, 'सेसाणि ताव कम्माणि' अवशिष्टानि तावत्कर्माणि । 'जावस मत्ती' यावत्परिसमाप्तिः । 'वेदिज्जमानस्स आउगस्स भवे' अनुभूयमानस्य मनुष्यायुषो भवेत् ॥२१०१॥

दंसणणाणसमग्गो विरहदि उच्चावयं तु परियायं ।

जोगणिरोधं पारमदि कम्मणिन्लेवण्डुए ॥२१०२॥

'दंसणणाणसमग्गो' क्षायिकेन ज्ञानेन दर्शनेन च समग्रं, विद्वृत्य 'उच्चावयं परियायं' उच्चावच पर्याय, चारित्र्यभिवृद्धयन् योगनिरोधं प्रारभते, कर्मणामवातिनामपहरणार्थं ॥२१०२॥

उक्कस्सएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा ।

वच्चंति समुग्घादं सेसा मज्जा समुग्घादे ॥२१०३॥

'उक्कस्सएण' उत्कर्षेण षष्मालावशेषे आयुषि जाते केवलिनो जातान्ते समुद्धानुपयाति । शेया-
समुद्धान्ते भाष्या ॥२१०३॥

रहित अनन्तवीर्यं होता है । अर्थात् क्षयोपशमिक वीर्यमें तो वीर्यन्तिरायका उदय होनेपर विघ्न आ जाता है । किन्तु समस्त वीर्यन्तिरायका क्षय होनेपर प्रकट हुए अनन्त वीर्यमें कोई विघ्न नहीं आता ॥२१००॥

गा०—केवल ज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर जबतक शेष कर्मों की तथा अनुभूयमान मनुष्यायु-
की समाप्ति नहीं होती तब तक वह केवल ज्ञानी विहार करता है ॥२१०१॥

गा०—क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शनसे परिपूर्ण वह केवल ज्ञानी चारित्र्यका बढाता हुआ उत्कृष्ट कुछ कम एक पूर्वकोटि तक और जघन्य अन्तर्मुहूर्त मात्र काल तक विहार करता है । फिर अघातिकर्मों को नष्ट करनेके लिये सत्यवचन योग, अनुभयवचन योग, सत्यमनोयोग अनुभय मनोयोग, औदारिक काययोग, औदारिक मिश्र काययोग तथा कामर्ण काययोगका निग्रह प्रारम्भ करता है ॥२१०२॥

गा०—उत्कर्षसे छह मास आयु शेष रहनेपर जो केवल ज्ञानी होते हैं वे अवश्य समुद्धान्त-
जीवके प्रदेशोंका शरीरसे बाहर दण्ड आदिके आकार रूपसे निकलना-करते हैं । शेष समुद्धान्त करते भी हैं और नहीं भी करते, उनके लिये कोई नियम नहीं है ॥२१०३॥

जेसिं आउसमाइं ञामगोदाइं वेदणीयं च ।
ते अकदससुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥२१०४॥

'जेसिं आउसमाइं' येषामपि आयुःसमानं शेषाभ्युपगतिकर्मणि तेषु कृतममुद्धाता एव संलेख्यं प्रतिपद्यते ॥२१०४॥

जेसिं हवन्ति विसमाणि ञामगोदाउवेदणीयाणि ।
ते दु कदससुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥२१०५॥
ठिदिसंतकम्मसमकरणत्थं सव्वेसिं तेमिं कम्ममाणं ।
अंतोसुहुण सेसे जंतिं ससुग्घादमाउम्मि ॥२१०६॥

'ठिदिसलकम्म' मत्कर्मणां स्थिति ममीकनुं चतुणां अतमुद्धतविशेषे आयुषि समुद्धातं याति ॥२१०५-२१०६॥

ओल्लं संतं वत्थं विरुल्लदं जह लहु विणिच्चादि ।
संबेदियं तु ण तथा तघेव कम्मं पि णादव्वं ॥२१०७॥

'ओल्लं संतं' आद्यं मद्यथा वस्त्र विप्रकीर्णं लघु शून्यानि न तथा सर्वाप्यन्त एवमेव कमापि ज्ञातव्यम् ॥२१०७॥

ठिदिबंधस्म मिणेहो हेद् खीयदि य मां मयुहदस्स ।
सडदि य खीणमिणेहं सेसं अप्पड्ढिदी होदि ॥२१०८॥

'ठिदिबन्धस्स' स्थितिवन्धस्य स्नेहा हेतुविनप्यति । नमुद्धानं गते सदति' च श्रौणस्तेऽ शेष कर्मान्पस्थितिक भवति ॥२१०८॥

गा०—जिनके नामकर्म, गात्रकर्म वेदनीयकर्मकी स्थिति आयुर्कर्मके समान होती है वे सयोगकेवली जिन समुद्धात किये बिना शल्यों अवस्थाको प्राप्त होतें हैं ॥२१०४॥

गा०—किन्तु जिनकी आयुको स्थिति कम होती है और नामशत्र और वेदनीय कर्मों की स्थिति अधिक होती है वे सयोगकेवली जिन समुद्धान करके ही शैलेयी अवस्थाका प्राप्त होते हैं अर्थात् अयोगकेवली होते हैं ॥२१०५॥

गा०—अन्तमुद्धत आयु शेष रहनेपर चागे कर्मों की स्थिति समान करनेके लिये समुद्धात करते हैं ॥२१०६॥

गा०—जैसे गोला वस्त्र फंला देनेपर वह शीघ्र सूख जाता है उतनी शीघ्र इकट्ठा रखा हुआ नहीं सूखता । कर्मों की भी वैसी ही दशा जानना । आत्म प्रदेशोंके फलावसे सम्बद्ध कर्मरज-की स्थिति बिना भोगे घट जाती है ॥२१०७॥

गा०—समुद्धात करनेपर स्थितिवन्धका कारण जो स्नेहगुण है वह नष्ट हा जाता है । और स्नेहगुणके श्रौण होनेपर शेष कर्मों की स्थिति घट जाती है ॥२१०८॥

१. एतां टीकाकारो नेच्छति ।

चतुर्हि समयर्हि दंड-कषाड-बादरजगत्प्रस्थाणि तदा ।

कमसो करेदि तद् वैव भिषचीदि चतुर्हि समयर्हि ॥२१०९॥

'चतुर्हि' चतुर्भिस्समयैर्विषाधिकं कृत्वा कृत्वा निवर्तते चतुर्भिरेव समयैः ॥२१०९॥

काउणाउसमाहं नामागोदाणि वेदणीयं च ।

सेलेसिमन्धुर्वेतो जोगनिरोधं तदो कृणदि ॥२११०॥

'काऊण' नामगोत्रवेदनीयानां आयुषा साम्यं कृत्वा मुक्तिमभ्युपनयन् योगनिरोधं करोति ॥२११०॥

योगनिरोधक्रममाचष्टे—

बादरवाधिगजोर्गं बादरकायेण बादरमर्णं च ।

बादरकायंपि तथा रुंमदि सुहुमेण काएण ॥२१११॥

बादरी बाहुमनोयोगी बादरकायेन रुणदि । बादरकाययोगं सूक्ष्मेण काययोगेण ॥२१११॥

तच्च वैव सुहुममणवचिजोगं सुहुमेण कायजोगेण ।

रुंमिचु जिणो चिहुदि' सो सुहुमकायजोगेण ॥२११२॥

'तच्च वैव' तथैव सूक्ष्मबाहुमनोयोगी सूक्ष्मकाययोगेन रुणदि ॥२११२॥

सुहुमाए लेस्साए सुहुमकिरियचंरुंगो तगो ताचे ।

काइयजोगे सुहुमन्मि सुहुमकिरियं जिणो झादि ॥२११३॥

गा०-टी०—सयोगकेवली जिन चार समयोमे दण्ड, कषाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्रात करके क्रमसे चार ही समयोंमें उसका मकोच करता है अर्थात् प्रथम समयमें दण्डाकार, दूसरे समयमें कषाटके आकार, तीसरे समयमें प्रतर रूप और चतुर्थ समयमें समस्त लोकमें व्याप्त हो जाते हैं। पांचवें समयमें पुनः प्रतररूप, छठे समयमें कषाटरूप, सातवें समयमें दण्डाकार आठवें समयमें मूल शरीरकार आत्म प्रदेश हो जाते हैं ॥२१०९॥

गा०—इस प्रकार नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की स्थिति आयुके समान करके मुक्तिकी ओर बढ़नेवाले सयोगकेवली जिन योगोंका निरोध करते हैं ॥२११०॥

योगनिरोधका क्रम कहते हैं—

गा०—स्थूल काययोगमें स्थित होकर बादर वचनयोग और बादर मनोयोगको रोकते हैं और सूक्ष्म काययोगमें स्थित होकर स्थूल काययोगको रोकते हैं ॥२१११॥

गा०—उसी प्रकार सूक्ष्मकाययोगके द्वारा सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोगका रोककर सयोगकेवली जिन सूक्ष्म काययोगमें स्थित होते हैं ॥२११२॥

१. वि सुहुमेण कायजोगेण —आ० । वि सो सुहुमे काइए जोगे —मु० ।

सूक्ष्मया लेपयया सूक्ष्मक्रियया बन्धकत्तयासी सूक्ष्मक्रियं ध्यायं ध्याति ॥२११३॥

सुदुर्भक्तिरिण ज्ञानेण गिरुद्धे सुदुर्भक्त्यायोगे वि ।

सेलेसी होदि तदो अबंधगो गिरुद्धेयदेसो ॥२११४॥

'सुदुर्भक्तिरिण' तेन ध्यानेन गिरुद्धे सूक्ष्मकाययोगे निष्कलप्रदेशोऽव्ययको भवति । बंधनिमित्तानाम-
भावात् ॥२११४॥

माणुसगदितज्जादिं पज्जसादिज्जसुभगजसकिंशि ।

अण्णदरवेदणीयं तसवादरसुच्छवोदं च ॥२११५॥

'माणुससि' मनुष्यगति पञ्चोन्नयवाति, पर्याप्तमादेयसुखं, यशस्वीतिमव्यतरबंदनोय, तसवादरं,
उच्चगोत्रं च वेदयते ॥२११५॥

मणुसाउगं च वेदेदि अजोयी होदूण चैव तक्कालं ।

तित्थयरणामसहिदो ताओ वेदेदि तित्थयरो ॥२११६॥

मनुष्यायुष्यं वेदयते अजोयी भूत्वा तीर्थकरनाममहितास्तीर्थं करो वेदयते ॥२११६॥

देहतियबंधपरिमोक्खन्धं तो केवली अजोयी सो ।

उवयादि समुच्छिण्णकिरियं तु ज्ञाणं अपडिवादी ॥२११७॥

देहतिय देहत्रिवन्धपरिमोक्षार्थं समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिध्यानं ध्याति ॥२११७॥

सो तेण पंचमत्ताकालेण खवेदि चरिमज्ज्ञानेण ।

अणुदिण्णाओ दुचरिमसमये सव्वाओ पयडीओ ॥२११८॥

भा०—सूक्ष्म लक्ष्याके द्वाग सूक्ष्मकाययोगमे बहु मातावेदनीय कर्मका बन्ध करता है तथा
सूक्ष्मक्रिय नामक नीमरे शुक्लध्यानको ध्याता है ॥२११३॥

भा०—उम सूक्ष्मक्रिय नामक शुक्लध्यानके द्वाग सूक्ष्म काययोगक निगोध करके वह
शीलोक स्वामी होना है तथा आत्माके प्रदेशोंके निष्कल हो जानेसे उन्हे कर्मबन्धन नहीं होता,
क्योंकि कर्मबन्धके निमित्तोंका अभाव है ॥२११६॥

भा०—उस समय अयोगकेवली होकर वह मनुष्यगति, पञ्चोन्नय जगति, पर्याप्त, आदेय,
सुभग, यशःकीर्ति, साता या असातावेदनीय, तस, वादर, उच्चगोत्र और मनुष्यायु इन ग्यारह
कर्म प्रकृतियोंके उदयका भोग करते हैं । और यदि तीर्थकर होते हैं तो तीर्थकर सहित बारह
प्रकृतियोंका अनुभवन करते हैं ॥२११५-१६॥

भा०—उसके पश्चात् अयोगकेवली परम औदारिक, तेजस और कार्मण इन तीन शरीरिके
बन्धनसे छूटनेके लिये समुच्छिन्नक्रिय अप्रतिपातो नामक चतुर्थ शुक्लध्यानको ध्याते हैं इसका
दूसरा नाम व्युपगतक्रिया निवर्ती है ॥२११७॥

'सो तेन' स तेन पञ्चमात्राकालेनानेन ध्यानेन क्षपयति द्विचरमसमये अनुशीर्षाः सर्वा
प्रकृतीः ॥२११८॥

परिमसमयमि तो सो खवेदि वेदिज्जमाणपयडीओ ।

बारस तित्थयरजिणो एक्कारम सेस सव्वण्हू ॥२११९॥

'परिमसमयमि' अंत्ये समये क्षपयति वेद्यमाना प्रकृतीर्द्वादश तीर्थचरजिन । शेषसर्वत्रः एकावस ।
'नामकखएण' नाम्ना विनाशेन तैजसशरीरबन्धो नश्यति । आयुः क्षयेण ओदारिकबन्धनाशः ॥२११९॥

णामकखएण तेजोसरीरबंधो वि हीयदे तस्स ।

आउकखएण ओरालियस्स बंधो वि हीयदि से ॥२१२०॥

तं सो बंधणमुक्को उद्धं जीवो पओगदो जादि ।

जह एण्हयबीयं बंधणमुक्कं सहुप्पददि ॥२१२१॥

स्पष्टोत्तरगाथाद्वयं ॥२१२०-२१२१॥

संगं विजहणेण य लहुदयाए उद्धं पयादि सो जीवो ।

जघ आलाउ अलेओ उप्पददि जले णिबुद्धो वि ॥२१२२॥

'संगजहणेण' संगत्यागाल्लघुतयोर्दं प्रयाति जलनिमग्निलेपालाबुवत् ॥२१२२॥

झाणेण य तह अप्पा पओगदो जेण जादि सो उद्धं ।

वेगेण परिदो जह ठाह्दुकामो वि य ण ठादि ॥२१२३॥

'झाणेण य' ध्यानेनात्मा प्रयुक्तो यत्पूर्व वेगेन परितो यथा न तिष्ठति स्वातुकामोपि ॥२१२३॥

शा०-टी०-इस ध्यानका काल 'अ इ उ ऋ लृ' इन पाच मात्राओके उच्चारणमें जितना काल लगता है उतना है । इतने कालवाले उस अन्तिम ध्यानके द्वारा अयोगकेवली मुणस्थानके उपान्त्य समयमें बिना उदीरणाके सब ७२ कर्म प्रकृतियोंको खपाते है, उनका क्षयकर देते हैं, और अन्तिम समयमें तीर्थकर केवली बारह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं तथा सामान्य केवली ग्यारह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं ॥२११८-१९॥

शा०-उनके नामकर्मका क्षय होनेसे तैजस शरीर बन्धका भी क्षय हो जाता है । और आयुकर्मका क्षय होनेसे औदारिक शरीर बन्धका क्षय हो जाता है ॥२१२०॥

शा०-इस प्रकार बन्धनसे मुक्त हुआ वह जीव वेगसे ऊपरको जाता है जैसे बन्धनसे मुक्त हुआ एरषका बीज ऊपरको जाता है ॥२१२१॥

शा०-समस्त कर्म नोकर्मरूप भारसे मुक्त होनेके कारण हल्का हो जानेसे वह जीव ऊपर को जाता है । जैसे मिट्टीके लेपसे रहित लूम्बी जलमें डूबनेपर भी ऊपर ही भाट्टी है ॥२१२२॥

शा०-जैसे वेगसे पूर्ण व्याक ठहरना चाहते हुए भी नहीं ठहर पाता है वैसे ही ध्यानके

१. बीयदे मु० । २. बीयदि -मु० । ३. संगस्स विजहणेण -आ० ।

जह वा अग्निस्स सिद्धा सहावदो चैव होदि उद्धमदी ।
जीवस्स तह समादो उद्धममपमपवसियस्स ॥२१२४॥

स्पष्टोत्तराया ॥२१२४॥

तो सो अविग्गाहाए गदीए समए अणंतरे चैव ।
पावदि जयस्स सिहरं खिचं कालेण य कुसंतो ॥२१२५॥

‘तो सो अविग्गाहाए’ ततोऽज्ञानविग्रहवा गत्या अनंतरसमय एव जगतस्मिन्नरं प्राप्नोति ॥२१२५॥

एवं इहं पवहिय देहतिगं सिद्धल्लेषहवगम्भ ।
सम्बपरियायल्लुक्को सिज्जदि जीवो समावत्थो ॥२१२६॥

‘एवं इहं’ एवमिह देहतिकं विहाय सिद्धल्लेषवृत्तस्य सर्वप्रचारविमुक्तः सिध्यति जीवः
स्वभावस्यः ॥२१२६॥

तस्याचःस्थानमाचष्टे—

ईसिप्यम्भाराए उवरिं अत्थदि सो जोयणम्मि सीदाए ।
धुवमचलमजरठाणं लोगसिहरमस्सिदो सिद्धो ॥२१२७॥

‘ईसिप्यम्भाराए’ ईषत्प्राग्भाताया उपरि न्यूनयोजने स्वमचलं स्थानं लोकसिहरमास्थितः
सिद्धः ॥२१२७॥

प्रयोगसे आत्मा ऊपरको जाता है ॥२१२३॥

भा०—अथवा जैसे आगकी लपट स्वभावसे ही ऊपरको जाती है वैसे ही कर्मरहित स्वाधीन
जात्माका स्वभाव ऊर्ध्वगमन है ॥२१२४॥

भा०—कर्मों का क्षय होते ही वह मुक्त जीव एक समयवाली मोड़े रहित गतिसे सात
राजुप्रमाण आकाशके प्रदेशोंका स्पर्श न करते हुए अर्थात् अत्यन्त तीव्रवेगसे लोकके शिखरपर
विराजमान हो जाता है ॥२१२५॥

भा०—इस प्रकार इसी लोकमें तैजस, कामण और औदारिक शरीरोंको त्यागकर सब
प्रकारके प्रचारसे मुक्त हुआ जीव, सिद्धिक्षेत्रमें जाकर अपने टंकोत्कीर्ण ज्ञापक भाव स्वभावमें
स्थित होकर मुक्त हो जाता है ॥२१२६॥

भा०—उस सिद्धिक्षेत्रके नीचे स्थित आठवीं पृथिवीको कहते हैं—ईषत्प्राग्भार नामकी
आठवीं पृथ्वीके कुछ ऊपर एक योजन पर लोकका शिखर स्थित है जो ध्रुव, अचल और अजर
है । उसपर सिद्ध जीव तिष्ठता है ॥२१२७॥

विक्षेत्रार्थ—आठवीं पृथिवीका नाम ईषत्प्राग्भार है । मध्यमे उसका ब्राह्मण्य आठ योजन
है । दोनों ओर क्रमसे हीन होता गया है । अन्तमें अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण अत्यन्त सूक्ष्म
ब्राह्मण्य रह जाता है । इस तरह ऊपरको उठे हुए विशाल गोल श्वेत छत्रके समान उसका आकार
है । उसका विस्तार पैंतालीस लाख योजन है । उसके ऊपर तीन वातबलय हैं । उनमेंसे तीन

धम्माभावेण दु लोमन्वे षडिहम्मदे अलोमेण ।
यदिह्ववकुण्णदि दु धम्मो जीवाणं पोम्मल्लणं च्वा ॥२१२८॥

‘धम्माभावेण दु’ धर्मास्तिकायस्याभावे लोकाग्रं प्रणिहन्त्यते अलोकेन, यतो जीवपुत्रकामां वतेरूप-
कारको धर्मः स बोपरि नास्ति ॥२१२८॥

जं जस्स दु संठाणं चरिमसरिरस्स जोगजहम्मि ।
तं संठाणं तस्स दु जीवणो होइ सिद्धस्स ॥२१२९॥
दसविधपाणाभावो कम्माभावेण होइ अच्चंतं ।
अच्चंतमो य सुहदुक्खाभावो विगददेहस्स ॥२१३०॥

दसविधानां प्राणानामत्यंताभावेन भवति आत्यंतिकरूपं सुखदुःखाभावः ॥२१२९-२१३०॥

जं णत्थि बंधहेदुं देहग्गहणं ण तस्स तेण पुणो ।
कम्मकलुसो हु जीवो कम्मकदं देहमादियदि ॥२१३१॥

‘जं णत्थि बंधहेदुं’ यन्नास्ति बंधकारणं तेन न मुक्तस्य देहग्रहणं, कर्मकलुषोक्तो हि जीवः कर्म-
कृतदेहमादत्ते ॥२१३१॥

कज्जामावेण पुणो अच्चंतं णत्थि फंदणं तस्स ।
ण पजोगदो वि फंदणमदेहिणो अत्थि सिद्धस्स ॥२१३२॥

ज्ञेय विस्तार वाले दो वातवलयोंके ऊपर एक हजार पांच सौ पिचहत्तर धनुष विस्तार बाला
रीसरा तनुवातवलय है। उसके पांच सौ पच्चीस धनुष मोटे अन्तिम भाग में सिद्ध भगवान
बेराजते हैं ॥२१२७॥

गा०—धर्मद्रव्य लोकके अग्रभाग तक ही है। अतः मुक्तजीव लोकाग्रसे आगे अलोकमें नहीं
जाता, क्योंकि धर्मद्रव्य गति करते हुए जीवों और पुद्गलोंकी गतिमें उपकार करता है ॥२१२८॥

गा०—मन वचन काययोगोंका त्याग करते समय अयोगी गुणस्थानमें जैसा अन्तिम
शरीरका आकार रहता है; उस आकाररूप जीवके प्रवेशोंका, धनरूप सिद्धोंका आकार होता
है ॥२१२९॥

गा०—सिद्ध भगवानके कर्मोंका अभाव होनेसे इस प्रकारके प्राणोंका सर्वथा अभाव है।
ज्या शरीरका अभाव होनेसे इन्द्रिय अनित सुखदुःखका अभाव है ॥२१३०॥

गा०—मुक्तजीवके कर्मबन्धका कारण नहीं है। अतः वह पुनः शरीर धारण नहीं करता।
क्योंकि कर्मोंसे बद्ध जीव ही कर्मकृत शरीरको धारण करता है ॥२१३१॥

गा०—सिद्ध जीवोंको कुछ करना शेष न होनेसे उनमें हलन चलनका अत्यन्त अभाव है।

१. एतां टीकाकारो नेच्छति । २. स होवि पुणो -ब०, भा० ।

'कालमात्रमेव सुखो' कार्याभावेन तत्सर्वत्र नास्ति तस्य न च परप्रयोगव्ययमपि स्वयमस्त्यवेहृत्य सिद्धस्य ॥२१३२॥

कालमर्णतमव्यभोक्महिदो ऋदि भयभभोगाहो ।

सो' उपकारो इहो ठिदिसमावे न जीवार्ण ॥२१३३॥

'कालमर्णतं' अनन्तकालं ध्वन्यस्ति कावोपमूहीतः वयनमनुप्रविष्टः तिष्ठति । 'उपकारो इहो' अघर्मा-
स्तिकावेन संपाद्यउपकारः अवस्थानकक्षण इष्टो यस्मान्न जीवस्य स्थितिस्वभावश्चैतन्व्याविकत् ॥२१३३॥

तेलोक्कमत्स्यत्सो तो सो सिद्धो जगं गिरवसेसं ।

सम्बोहिं पञ्जयहिं य संपुण्णं सम्बद्धोहिं ॥२१३४॥

'तेलोक्कमत्स्यत्सो' तैलोक्कमत्स्यत्स्य । ततोऽज्ञो वगन्निरवघेवं सर्वैः पर्यायैस्त्वर्ब्रह्मैस्तपूर्णं ॥२१३४॥

पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपञ्जय सम्बे ।

तह वा लोममसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहो ॥२१३५॥

'पस्सदि जाणदि' परयति जानाति च कालत्रये पर्यायसहितानुशेषांस्तथा बालोकमवोय परयति भगवान्
विगतमोहः ॥२१३५॥

भावे समविसयत्सवे सुतो जुगवं जहा पयासेइ ।

सम्बं वि तथा जुगवं केवलणानं पयासेदि ॥२१३६॥

'भावे समविसयत्सवे' भावयोचरस्थान् भावान् सुतो जुगपक्षया प्रकाशयति तथा सर्वमपि ज्ञेयं
मुनपत्केवञ्जानं प्रकाशयति ॥२१३६॥

गदरागदोसमोहो विमजो विमभो गिरुस्सजो विरजो ।

बुवज्जपपरिगीद्गुणो जमंसजिज्जो तिलोगस्स ॥२१३७॥

जीर वे शरीर रहित हैं । अतः वायु आदिके प्रयोगसे भी उनमें हलन चलन नहीं होता ॥२१३७॥

वा०—सिद्ध जीव जो अनन्तकाल तक आकाशके प्रदेणोंको अवगाहिन कर्के ठहरा रहता है सो यह अवस्थान रूप उपकार अघर्मास्तिकायका माना गया है; क्योंकि जैसे जीवका स्वभाव चैतन्य आदि है उस प्रकार जीवका स्वभाव स्थिति नहीं है ॥२१३३॥

वा०—तीनों लोकोंके अस्तकपर बिराजमान बहु सिद्ध परमेष्ठी समस्त द्रव्यों जीर समस्त पर्यायोंसे सम्पूर्ण जगत्को जानते देखते हैं । तथा वे मोहरहित भगवान् पर्यायोंसे सहित तीनों काश्योंको जीर समस्त अलोकको जानते हैं ॥२१३४-३५॥

जैसे सूर्य अपने विषयवगोचर सब पदार्थोंको एक साथ प्रकाशित करता है वैसे ही केवल ज्ञान सब पदार्थोंको एक साथ प्रकाशित करता है ॥२१३६॥

'महरत्नबोलकोही' दूरीकृत रागद्वेषभीहः, 'विमलो' विगतभयः 'विमलो' विगतभयः, क्वाचित्कल्पमुत्सुका गिरस्तकर्मरजःपटलः, बुधजनपरिणीतगुणः विष्टपत्रयेण नमस्करणीयः ॥२१३७॥

निष्वावश्चु संसारमहर्गि परमनिष्पुद्विजलेण ।

निष्वादि सभावत्थो गदजाइजराभरणरोगो ॥२१३८॥

'निष्वावश्चु' क्षयमुपनीय संसारमहर्गि परमनिष्पुद्विजलेन तृप्यति स्वरूपस्थो विनष्टजाति-
भरामरणरोगः ॥२१३८॥

जावं तु किंचि लोए सारीं माणसं च सुहदुर्खं ।

तं सव्वं निज्जिण्णं असेसदो तस्स सिद्धस्स ॥२१३९॥

'जावं तु किंचि लोए' यामत् किंचिल्लोके शारीरं मानसं वा यत्सुखं दुःखं च तत्सर्वं निर्जीवं निरव-
शेषं । प्रकारकात्स्वर्निरासार्यमशेषग्रहणं ॥२१३९॥

जं णत्थि सव्वबाधाओ तस्स सव्वं च जाणइ जदो से ।

जं च गदज्जवसाणो परमसुही तेण सो सिद्धो ॥२१४०॥

'जं णत्थि सव्वबाधाओ' यन्न सन्ति सर्वबाधाः, सर्वं च यतो जानाति, यच्चापगतोऽभ्यवसानः, तेनासी
सिद्धः परमसुखी भवति ॥२१४०॥

परमिद्धिपत्ताणं मणुगाणं णत्थि तं सुहं लोए ।

अव्वावाधमणोवमपरमसुहं तस्स सिद्धस्स ॥२१४१॥

'परमिद्धिपत्ताणं' परमादि चक्रलाक्षणतादिका प्राप्यानामपि मनुजाना नास्ति तत्सुखं लोके यदनु-
पमं तस्य सिद्धस्य सुखमव्यावाच्यम् ॥२१४१॥

भा०—जिन्होंने रागद्वेष मोहको दूरकर दिया है, जो भय रहित, महरहित, उत्कण्ठ रहित और कर्मरूप धूलिपटलसे रहित हैं तथा ज्ञानीजन जिनका गुणगान करते हैं वे सिद्ध भगवान तीनों लोकोंके द्वारा बन्दनीय हैं ॥२१३७॥

भा०—परम निर्वृतिरूप जलसे संसाररूपी महान् अग्निको बुझाकर तथा जन्म-जर-भरण रोगोंको नष्ट करके अपने स्वरूपमें स्थित मुक्तात्मा निर्वाणको प्राप्त करते हैं ॥२१३८॥

भा०—संसारमे जितना भी शारीरिक और मानसिक सुखदुःख है वह सब पूर्णरूपसे उस सिद्ध परमेष्ठीके नष्ट हो चुका है ॥२१३९॥

भा०—क्योंकि सिद्ध परमेष्ठीके समस्त बाधाएँ नहीं हैं, और वह समस्त वस्तुओंको जानते हैं तथा अभ्यवसान-विकल्पवासनासे रहित हैं । अतः वे परमसुखी हैं ॥२१४०॥

भा०—उन सिद्धोंके जो बाधा रहित अनुपम परम सुख है वह सुख इस लोकमें परमशुद्धि चक्रवर्तित्व आदिको प्राप्त मनुष्योंके भी नहीं है ॥२१४१॥

देविदचचकनही इंदियसोक्खं च जं अणुहवंति ।
सहरसरुवगंधप्परिसप्पयञ्जत्तमं लोए ॥२१४२॥

'देविदचचकनही' देवेंद्रास्वक्रवतिनरच यदिन्द्रियसुखमनुभवति शब्दरसरूपगन्धस्पर्शात्मकं लोके प्रधानं ॥२१४२॥

अच्चाबाहं च सुहं सिद्धा जं अणुहवंति लोगग्गे ।
तस्स हु अणंतभागो इंदियसोक्खं तयं होज्ज ॥२१४३॥

'अच्चाबाहं सुहं' अग्याबाधात्मकं सुखं यत्सिद्धा लोकाग्गेऽनुभवति तस्यान्तभागो भवति तदिन्द्रियसुखं प्रव्यापयितुम् ॥२१४३॥

जं सन्ने देवगणा अच्चरसद्धिया सुहं अणुहवंति ।
तत्तो वि अणंतगुणं अच्चाबाहं सुहं तस्स ॥२१४४॥

'जं सन्ने देवगणा' यत्सुखमनुभवति साप्तरोगणाः सर्वे देवान्ततोऽन्यन्तगुणं तस्य सिद्धस्या-
याबाधसुखम् ॥२१४४॥

तीसु वि कालेषु सुहाणि जाणि माणुसतिरिक्खदेवाणं ।
सच्चाणि ताणि ण समाणि तस्स खणमित्तसोक्खेण ॥२१४५॥

'तीसु वि कालेषु' त्रिष्वपि कालेषु यानि मानवानां, तिरुक्वा, देवानां च सुखानि सर्वाणि तानि न
समानि सिद्धस्य क्षणमात्रेण सुखेन ॥२१४५॥

ताणि हु रागविवागाणि दुक्खपुब्बाणि चैव सोक्खाणि ।
ण हु अत्थि रागम'वहत्थिदूण किं चि वि सुहं णाम ॥२१४६॥

'ताणि रागविवागाणि' तानि रागविपाकानि रागस्य दुःखहेतोर्जनकानि, एतेन दुःखानुबंधित्वं

गा०—इस लोकमें देवेन्द्र और चक्रवर्ती शब्द रस रूप गन्ध और स्पर्श जन्म जिस उत्तम
इन्द्रिय सुखको भोगते हैं, तथा लोकके अन्नभागमें स्थित सिद्ध जिस बाधा रहित सुखको भोगते
हैं उसके सामने वह इन्द्रिय सुख उसका अनन्तवां भाग भी नहीं है ॥२१४२-४३॥

गा०—अप्सराओंके साथ सब देवगण जिस सुखको भोगते हैं उससे भी अनन्तगुण बाधा
रहित सुख सिद्धोंको होता है ॥२१४४॥

गा०—सब मनुष्यों तिर्यकों और देवोंको तोनो कालोंमें जितना सुख होता है वह सब
सुख सिद्धोंके एक क्षणमात्रमें होनेवाले सुखके भी बराबर नहीं है ॥२१४५॥

गा०—मनुष्याधिके होनेवाला सुख रागका जनक है और राग दुःखका कारण है अतः

१. मवहुत्थिदूण -व० धा० । मवहत्थिदूण -मूलार० ।

नामैन्द्रियसुखार्थां दोषोऽभिहितः । दुःखपूर्वाणि न हि क्षुधाविदुःखमंतरेण अलग्निकं प्रीतिं जनयति । न चास्ति रागमनपाङ्क्त्य सुखं नाय किञ्चित् ॥२१४६॥

इन्द्रियसुखस्वरूपमिच्छात् अतिन्द्रियसुखं व्यावर्णयति—

अनुभवमभेयमक्षयममलमजरमरुजमभयमभवं च ।

एयंतियमर्चंतियमब्बावाचं सुहमजेयं ॥२१४७॥

‘अनुभवमभेयं’ तत्समानस्य तदधिकस्याभावात् सुखस्य तदनुपमं, छद्मस्वज्ञानमतिुमक्षयत्वाभेयं, प्रतिपक्षानुत्पत्त्य दुःखस्याभावात्क्षयं, रागादिमलामावावमलं, अरारहितत्वावजरं, रोगाभावादर्जनं, भयाभावादर्जनं, भवाभावादर्जनं, ऐकान्तिकं दुःखस्य सहायस्याभावादीकान्तिकमसहायं अब्बावाचक्यं तत्सुखं ॥२१४७॥

विसर्द्धिं से ण कज्जं अं णत्विं छुदादियाजो बाधाजो ।

रागादिया य उवभोगहेदुगा णत्विं जं तस्स ॥२१४८॥

‘विसर्द्धिं से ण कज्जं’ शब्दादिभिषियैः न कार्यं यतः सिद्धस्य न संति क्षुधादिका बाधाः, रागाद्यस्य विषयोपभोगहेतवो न संति यस्मात्तस्य ॥२१४८॥

एदेण केव भणितो भासणचंक्रमणचित्तणादीणं ।

चेद्दुणं सिद्धमि अभावो हदसम्बकरणम्मि ॥२१४९॥

‘एदेण केव भणितो’ एतेनैवोक्तः भाषण-चंक्रमण-चित्तनादीनां शेषानामभावः सिद्धे हृतसर्व-क्रिये ॥२१४९॥

इन्द्रियसुखं दुःखको लानेवाला है तथा दुःखपूर्वक होता है । अर्थात् पहले दुःख होता है तब वह सुख होता है क्योंकि भूख प्यास आदिका दुःख हूए बिना भोजनादि प्रिय नहीं लगते । रागभावके बिना संसारमें किञ्चित् भी सुख नहीं है ॥२१४६॥

इन्द्रिय सुखका स्वरूप कहकर अतीन्द्रिय सुखको कहते हैं—

वा०—टी०—उसके समान या उससे अधिक सुखका अभाव होनेसे अतीन्द्रिय सुख अनुपम है । छद्मस्व जीवोंके ज्ञानके द्वारा उसका माप करना अशक्य होनेसे अभेय है । उसके विरोधी दुःखका अभाव होनेसे वह अक्षय है—उसका कभी नाश नहीं होता । उसमें रागादिमलका अभाव होनेसे वह अमल है । उसमें जरा रोगका भय न होनेसे वह अजर है । रोगका अभाव होनेसे अरुण है । भयका अभाव होनेसे अभय है । पुनर्भव न होनेसे अभव है । उसके साथमें दुःख न होनेसे ऐकान्तिक है । अनन्तकाल तक रहनेसे आत्यन्तिक है—ऐसा वह अब्बावाचक्य सुख होता है ॥२१४७॥

वा०—सिद्धोंमें शब्दादि विषयोंसे कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि सिद्धोंको भूख प्यास आदि की बाधा नहीं होती तथा विषयोंके उपभोगके कारण राग आदि भी नहीं है ॥२१४८॥

वा०—इसीसे सब प्रकारकी क्रियाओंसे रहित सिद्धोंमें बोलना, चलना-फिरना तथा विचारना आदि भी नहीं है ॥२१४९॥

इय सो आइयसम्भससिद्धाविरियदिदिठणापेहिं ।

अच्यतिगेहिं जुचो अब्बावाहेण य सुहेण ॥२१५०॥

‘इय सो आइय’ एवमसौ आधिकेण सम्यक्त्वेन सिद्धतया वीर्येण अनन्तज्ञानाद्यनंतवर्तनेन आत्यन्तिकेन मुक्तोऽव्यावायेन मुक्तेन ॥२१५०॥

अकसायसमवेदसमकारकदा विदेहदा चेष ।

अचलसमलेष्यं च हुंति अच्यतियाइं से ॥२१५१॥

‘अकसायसमवेद’ अकषायत्वं, अवेदत्वेनकारकता विदेहता अचलसमलेपत्व च आत्यन्तिकं तस्य यथाचि । क्रोधादिनिमित्तानां कर्मणां प्राक्तनानां विनाशादविनशानां वाऽभावात्कषायत्वमात्यन्तिकं एवमेवावेदत्वं । साम्यस्यापत्त्याभावात्कारकत्वं । प्राक्तनस्य शरीरस्य विधीनत्वाद्वाह्यत्कारिणःकर्मणोऽभावाद्बिदेहतया अवस्थान्तरप्राप्तिनिमित्तांतराभावाच्चकत्वं । कर्मनिमित्तपरिभावाभावात् प्राक्तनानां च कर्मणां विनाशादलेपत्वमप्यात्यन्तिकम् ॥२१५१॥

जम्भमरणजलोचं दुक्खपरकिलेससोगवीचीयं ।

इय संसारसद्धं तरंति चदुरंगणावाए ॥२१५२॥

‘जम्भमरणजलोचं’ जम्भमरणजलोचं दुःखसंकलेशोक्तवीचिकं संसारसमुद्रं सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्र-तपसंसंश्लिषतुरज्जुनावा तरन्ति ॥२१५२॥

एवं पण्डिदपण्डिदमरणेण करंति सव्वदुक्खाणं ।

अंतं भिरंतराया णिव्वाणमजुत्तरं पचा ॥२१५३॥

शा०—इस प्रकार बहु सिद्ध परमेष्ठी क्षायिक सम्यक्त्व, सिद्धत्व, अनन्तवीर्य, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अब्बावाध सुखसे युक्त होते हैं । ये सब आत्यन्तिक होते हैं, इनका कभी विनाश नहीं होता ॥२१५०॥

शा०—टी०—क्रोध आदिमें निमित्त पूर्व कर्मोंका विनाश होनेसे और नवीन कर्मोंका अभाव होनेसे सिद्धोंमें आत्यन्तिक अकषायत्व है । इसी प्रकार आत्यन्तिक अवेदत्व है । उनके लिये कोई करने योग्य कार्य शेष न रहनेसे अकारकत्व भी सदा रहता है । पूर्व शरीरका विनाश होनेसे और नवीन शरीरको उत्पन्न करनेवाले कर्मका अभाव होनेसे सिद्धोंमें सदा विदेहता है । अग्न्य अवस्थाको प्राप्त होनेमें निमित्तका अभाव होनेसे सदा अचल है । उनके कर्मके निमित्तसे होनेवाले परिणामोंका अभाव होनेसे तथा पूर्वके कर्मोंका विनाश होनेसे वे सदा लेपरहित होते हैं ॥२१५१॥

शा०—जिसमें जम्भ मरणरूपी जलका समूह भरा है, दुःख संकलेश और शोकरूपी लहरें उठ करती हैं; उस संसाररूपी समुद्रको सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तपस्वी नावसे पार करते हैं ॥२१५२॥

‘एवं पण्डितपण्डितवरणेन’ एवमुक्तेन ऋषेण पण्डितपण्डितवरणेन सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्ति । विरल-
राधा निविधना निर्वाणमनुसरेत् प्राप्तावच । एतेन पण्डित-पण्डितमरणं व्याख्यातं । ‘पण्डितपण्डितवरणं
भव’ ॥२१५३॥

एवं आराधिता उक्कत्साराहणं चतुर्वक्ष्यं ।

कम्मरयविष्यसुक्का तेणेव भवेण सिज्झति ॥२०५४॥

‘एवं आराधिता’ एवमाराध्य । ‘उक्कत्साराहणं’ उत्कृष्टाराधना । ‘चतुर्वक्ष्यं’ समीचीनवर्धनज्ञान
वरणतपोनिधानं चतुष्कत्वं । ‘कम्मरजविष्यसुक्का’ कर्मरजोविषयप्रवृत्तास्तेनैव भवेन सिध्यन्ति ॥२१५४॥

आराधयित्त्तु धीरा मज्झिममाराहणं चतुर्वक्ष्यं ।

कम्मरयविष्यसुक्का तदिएण भवेण सिज्झति ॥२१५५॥

आराधयित्त्तु धीरा जहणमाराहणं चतुर्वक्ष्यं ।

कम्मरयविष्यसुक्का सत्तमज्जमेण सिज्झति ॥२१५६॥

‘आराधयित्त्तु धीरा’ आराध्य धीरा जघन्यामाराधनां चतुष्कथां कर्मरजोविषयप्रवृत्ताः सप्तमेन जघन्या
सिध्यन्ति ॥२१५५—२१५६॥

एवं एसा आराधणा समेदा समासदो वुचा ।

आराधणाभिबद्धं सम्बन्धि दु होदि सुदणान् ॥२१५७॥

‘एवं एसा’ एवमेवा आराधना सप्रमेदा समासतो निरूपिता । आराधनायामस्यां निबद्धं सर्वमपि
श्रुतज्ञानं भवति ॥२१५७॥

आराधणं असेसं वण्णेदुं होज्ज को पुण समत्थो ।

सुदकेवली वि आराधणं असेसं ण वण्णिज्ज ॥२१५८॥

वा०—इस प्रकार वे क्षपक पण्डितपण्डितमरणसे सब दुःखोंका अन्त करते हैं और बिना
बाधाके उत्कृष्ट निर्वाणको प्राप्त करते हैं ॥२१५३॥

वा०—इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य और सम्यक् तपस्वरूप चार प्रकारकी
उत्कृष्ट आराधनाकी आराधना करके कर्मरूपी धूलिसे छूटकर उसी भवसे मुक्ति प्राप्त करते
हैं ॥२१५४॥

वा०—उक्त चार भेदरूप मध्यम आराधनाकी आराधना करके धीर पुरुष कर्मरूपी धूलिसे
छूटकर तीसरे भवमें मुक्ति प्राप्त करते हैं ॥२१५५॥

वा०—उक्त चार भेदरूप ब्रह्म्य आराधनाकी आराधना करके धीर पुरुष कर्मरूपी धूलिसे
छूटकर सातवें भवमें मुक्ति प्राप्त करते हैं ॥२१५६॥

वा०—इस प्रकार इस भेदसहित आराधनाका संक्षेपसे कथन किया । इस आराधनामें जो
श्रुत कहा गया है वह सब श्रुतज्ञान है ॥२१५७॥

आराधनं वसेत् निरवशेषानाराधनां वर्णयितुं कस्तन्नर्था भवेत्, श्रुतकेवलमपि निरवशेषं न वर्णयेत् ॥२१५८॥

अञ्जलिर्गन्दिमणि-सर्वगुणगणि-अञ्जलिचर्चदीपं ।

अवगमिय पादमूले समं श्रुचं च अत्तं च ॥२१५९॥

'अञ्जलिचर्चि' आचार्यजिनगन्दिमणि., सर्वगुणगणि., आचार्यजिनगन्दिमणश्च पादमूले संम्यगर्थं श्रुतं वाचयन् ॥२१५९॥

पुष्पायरियजिबद्धा उवजीविषा इमा ससर्चीए ।

आराधना सिवज्जेण पाणिदलभोइया रइदा ॥२१६०॥

'पुष्पायरिब' पूर्वाचार्यकृतामिव उपजीव्य इयं आराधना स्वसक्त्या शिवाचार्येण रचिता पाणि-दलभोजिना ॥२१६०॥

छदुमत्त्वदाए एत्थ दु जं बद्ध होज्ज पवयणविरुद्धं ।

सोर्षेतु सुगीदत्त्वा पवयणवच्छलदाए दु ॥२१६१॥

'छदुमत्त्वदाए' छदस्थतया यदन प्रवचननिवर्तनबद्धं (विरुद्धं) भवेत् तत्सुगृहीतार्था शोधयंतु प्रवचन-वत्सलतया ॥२१६१॥

आराधणा भगवदी एवं भर्चीए वणिणदा संती ।

संघस्स शिवजस्स य समाधिवरमुत्तमं देउ ॥२१६२॥

'आराधणा भगवदी' आराधना भगवती एवं भक्त्या कीर्तिता सर्वगुणगणिनः संघस्य शिवाचार्यस्य च विपुलां सकलजनप्रार्थनीयां अव्याबाधसुखा सिद्धिं प्रयच्छतु ॥२१६२॥

भा०—मेरे समान कौन अल्पभुतज्ञानी सम्पूर्ण आराधनाका वर्णन करनेमें समर्थ हो सकता है। श्रुतकेवली भी सम्पूर्ण आराधनाको नहीं कह सकते। अर्थात् भगवान सर्वज्ञ ही आराधनाका सर्वस्व वर्णन कर सकते हैं ॥२१५८॥

भा०—आर्य जिननन्दिगुणि, सर्वगुण गणि, और आर्य मित्रनन्दीके पादमूलमें सम्यकरूपसे श्रुत और उसके अर्थको जानकर पूर्वाचार्यके द्वारा रची गई आराधनाको आधार बनाकर हस्त-पुटमें आहार करनेवाले मुझ शिवाचार्यने अपनी शक्तिसे इस आराधना ग्रन्थको रचा ॥२१५९-६०॥

भा०—छदास्व अर्थात् अल्पज्ञानी होनेसे इसमें जो कुछ आगमके विरुद्ध लिखा गया हो; उसे आगमके अर्थको सम्यकरूपसे ग्रहण किये हुए ज्ञानोजन सुधारनेकी कृपा करें ॥२१६१॥

भा०—इस प्रकार भक्तिपूर्वक वर्णनकी हुई भगवती आराधना सर्वगुण गणीके संघको तथा रचयिता शिवाचार्यको समस्त जनोंसे प्रार्थनीय अव्याबाध सुखरूप सिद्धिको प्रदान करें अर्थात् उसके प्रसाधसे हम सबको शुक्लध्यानकी प्राप्ति हो ॥२१६२॥

असुरसुरमण्युक्किष्णररविससिर्किपुरिसमहियवरचरणो ।

दिसड मम बोहिलाहं जिणवरवीरो तिहुवणिदो ॥२१६३॥

खमदमणियमधराणं बुदरयसुहदुक्खविप्यजुत्ताणं ।

णाणुज्जोदियसल्लेहणम्मि सुणामो जिणवराणं ॥२१६४॥

मा०—जिनके पूजनीय चरणीका असुर, सुर, मनुष्य, किन्नर, सूर्य, चन्द्र, और किम्पुल्लव जातिके ब्यन्तर पूजते हैं वे तीनों लोकोके स्वामी वीर जिनेन्द्र मुझे बोधिलाभ प्रदान करें ॥२१६३॥

मा०—जिन्होंने स्वयं क्षमा, इन्द्रियदमन और नियमोको धारण करके कर्मसलको तप्ट किया, तथा सांसारिक सुख दुःखसे रहित हुए और अपने ज्ञानके द्वारा सल्लेखनाको प्रकाशित किया उन जिन देवोंको नमस्कार हो ॥२१६४॥

भगवती आराधना समाप्त हुई ।

श्रीमदपराजितसूरेष्टीकाकृतः प्रशस्तिः

नमः सकलतत्त्वार्थप्रकाशनमहौजसे ।

भव्यचक्रमहाचूडारत्नाय सुखदायिने ॥१॥

श्रुतायाज्ञानतमसः प्रोषद्धर्मशिखे तथा ।

केवलज्ञानसाम्राज्यभाजे भव्यैकबंधवे ॥२॥

चन्द्रनन्दिमहाकर्मप्रकृत्याचार्यप्रशिष्येण आरातीयसूरिचूलाभणिना नागनन्दिगणिपादपमोपमेवाजातमति-
लभेन बलदेवसूरिशिष्येण जिनशासनोद्धरणधारेण लब्धयशःप्रमरेण अपराजितसूरिणा श्रीनन्दिगणिनावचोदिनेन
रचिता आराधनाटीका श्रीविजयोदयानाम्ना समाप्ता ।

टीकाकार अपराजित सूरिकी प्रशस्ति

जो समस्त तत्त्वार्थको प्रकाशित करनेके लिये महान् प्रकाशरूप है, भव्य समुदायके लिये महान् शिरोमणि है, जिसे वे सिरपर धारण करते हैं, सुखको देनेवाला है, अज्ञानरूपी अन्धकारके लिये उगती हुई प्रकाश किरण है, जिसके द्वारा केवल ज्ञानरूपी साम्राज्य प्राप्त होता है तथा जो भव्य जीवोंका एकमात्र बन्धु है उस श्रुतको नमस्कार हो ।

जो चन्द्रनन्दि नामक महाकर्म प्रकृति आचार्यके प्रशिष्य हैं, आरातीय आचार्योंके चूडामणि हैं, नागनन्दि गणिके चरण कमलोंकी सेवाके प्रसादसे जिन्हे ज्ञानका लेश प्राप्त हुआ, जो बलदेव सूरिके शिष्य हैं और जिन शासनका उद्धार करनेमें धीरवीर हैं, जिनका यश सर्वत्र फैला है; उन अपराजित सूरिने श्रीनन्दिगणिको प्रेरणासे श्री विजयोदया नामक आराधना टीका रची ।

गाथानुक्रमशिका

ब	पृ० गा०		पृ० गा०
अकङ्कमसितसयमणं	६९४ १४८५	अणुकापा सुदुवजोगो	८१४ १८२८
अकदम्भि वि अशराधे	५३० ९४१	अणुपालिदा य आणा	२८९ ३२८
अकसायसामवेवस	९०५ २१५१	अणुपालिदो य दीहो	१९७ १५६
अकालिदममिच्छिदंमव्या	४३९ ६५१	अणुपुञ्जेण य ठविदो	४५३ ६९८
अग्निपरिक्खितादो	६४८ १३१६	अणुपुञ्जेणाहारं	२५७ २४९
अग्निविसकिण्हसप्या	४६३ ७२८	अणुबद्धरोसविग्गह	२२३ १८५
अग्निविसकिण्हसप्या	४६३ ७२९	अणुभाणेदूण गुदं	४०७ ५७४
अग्निविससत्तुसप्या	७२५ १५९१	अणुलोमा वा सत्तु	११० ७१
अग्नी वि य इहियं जे	५३९ ९८२	अणुवत्तणाए गुणवयणोहि	५३६ ९६२
अक्षसे समे अससिरे	४३४ ६४०	अणुवमममेयमक्खय	९०४ २१४७
अच्चेलक्क लोचो	११४ ७९	अणुसज्जमाणाए पुषा	४५३ ६९७
अच्छाहि ताव सुविहिद	३८३ ५१६	अणुसट्ठि दादूण	८७७ २०२८
अच्छिणिमेसणमित्तो	७४१ १६५७	अणुसुरी पडिसूरि	२४२ २२४
अच्छेणि संघसिरिणो	४६३ ७३१	अण्णम्मि चावि एदा	११३ ७३
अज्ज विणनंदिनाणि	९०७ २१५९	अण्णस्स अण्णो वा	५०३ ८३०
अज्जवसाणट्टाणंत	७९३ १७७५	अण्णस्स अण्णो वा	५४७ १०१७
अज्जवसाणविसुद्धीए	२६१ २५९	अण्णं अवरज्जतस्स	५१० ८५८
अज्जवसाणविसुद्धी	२६१ २६१	अण्णं इमं सरोरं	७४२ १६६५
अट्टे चउप्पयारे	७५१ १६९६	अण्णं गिण्हदि देहं	७८९ १७६८
अट्ठपदेसे मुत्तुण	७९२ १७७३	अण्णं च एवमादी य	४०१ ५६१
अट्ठिदकिया छिरावक्क	८०७ १८१०	अण्णं पि तथा वत्तुं	२९३ ३४०
अट्ठीणि ह्योति तिण्णि हु	५४८ १०२१	अण्णं च एवमादी	४०० ५५९
अड्ढं गिरि वरि सागर	५१० ८५४	अण्णाणी वि य गोवो	४७४ ७५८
अच्चणुष्पादरगहणं	६१० १२०२	अण्णो वि को वि ण गुणो	७३१ १६१९
अचसण अचमोअरियं	२३६ २१०	अत्थणिमित्तमदिभयं	५७६ ११२३
अभिगूहिह बलविरिया	२८१ ३०९	अत्थम्मि हिदे पुरिसो	५०९ ८५३
अभिदाणो य मुणिवरो	६३८ १२७७	अत्थाण वंजणाण य	८३७ १८७९
अभिवित्तिकरणणामं	८९० २०८८	अत्थाण वंजणाण	८३६ १८७६
अभिदुवपरगादहिदया	५३४ ९५४	अत्ये संतमिह सुहं	५१० ८५५
अभिदुवमणसा इविय	८१९ १८३२	अविगूहिदा वि दोसा	६७९ १४२६

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
अदिल्लुहणे वि दोसे	५२९	१३९	अम्भुजदचरियाए	३५९	४५८
अदिवड्डइ बलं सिल्पं	७६६	१७२१	अम्भुजदम्मि मरणे	४४२	६५९
अदिसयदाणं दत्तं	२९०	३२९	अम्भुद्राणं च रादो	२४४	२२९
अदिसंजदो वि दुष्जण	२९६	३५०	अम्भुद्राणं किदियम्मं	१६५	१२१
अद्धा णतेण-सावय	२८०	३०८	अभिजोगभावणाए	८५९	१९५४
अद्धाणरोहणे जण	४२१	६१३	अभिणंदणादिया पंच	७०९	१५५०
अद्धाणसणं सन्वा	२३६	२११	अभिभूददुज्विगंधं	५५२	१०४१
अदधुवमसरणमेगत	७६१	१७१०	अमणुण संपओगे	७५५	१६९७
अध खवसेदि	८९०	२०८७	अमुगम्मि इदो काले	३९१	५३४
अध तेउ-पम्म-सुक्कं	८४७	१९१७	अमुयंतो सम्मत्तं	८२२	१८३८
अध-लोह सुहुमकिट्टि	८९१	२०९२	अम्मापिदुसरिसो मे	४५७	७१२
अधिगेषु बहुसु संतेसु	६७८	१४२३	अम्हे वि लमा वेमो	३०५	३८०
अपरिग्गहस्स मुणिणो	६११	१२०५	अयसमणत्थं दु खं	५००	९०१
अपरिस्साइ णिग्वावओ	३१९	४२०	अरस च अणवेला	२४०	२१८
अपरिस्साइ सम्मं	२७३	२९६	अरहट्टघडो सरिसी	४१३	५९४
अप्पच्चओ अकिन्ती	५०६	८४०	अरहंतणमोक्कागे	४७२	७५४
अप्पपरियम्म उवाधि	२११	१६५	अरहंतसिद्ध आर्हरय	५२०	९००
अप्पपमस परिहरह	२९९	३६१	अरहंतसिद्धकेवलि	७३३	१६२८
अप्पाउगगेगिदया	४८८	७९७	अरहंतसिद्धचेइय	८३	४५
अप्पा णिच्छरदि जहा	६९२	१४७७	अरहंतसिद्धचेदिय	४६८	७४३
अप्पा दमिदो लोएण	१२४	९०	अरहंतसिद्धभत्ती	२८५	३१९
अप्पायत्ता अज्जप्प	३३३	१२६३	अरहंतसिद्धसागर	४०१	५६०
अप्पा य वचिओ तेण	६८५	१४४८	अरिहादि अंनिगती	८७८	२०३२
अपो वि तवा बहुग	६८६	१८५४	अरिहे लिंगे सिक्खा	१०५	६६
अपो वि परस्स गुणो	००४	३७५	अलिएहि हसियवयणेहि	५३६	९६३
अवल्लिन्नि हांदि जं मे	५३८	९७४	अलियं म किपि भणियं	५०६	८४१
अवभहियजादहासो	४५७	७१०	अवधिदुण णिरय	७३८	१६४४
अवभगादीहि विणा	५५३	१०४२	अवरण्ण रुक्खछाही	७६५	१७१९
अवभनरवाहिग	५३०	११११	अववादियालिगकदो	१२१	८६
अवभंतर बाहिरगे	६८४	१४४५	अवत्रट्ट अट्टरुहे	७५५	१६९९
अवभंतरसोधोग	६५०	१३४३	अवहुट्ट कायजोगे	७४९	१६८९
अवभतरसोधीए	८४६	१९०९	अविकत्थन्तो अगुणो	३०१	३६६
अवभंतर सोधोए	८४६	१९१०	अविगट्टं वि तवं जो	२६१	२६०
अवभावगाससयण	२४६	२२८	अवितक्कमवीचारं	८३८	१८८०

	पु०	मा०		पु०	मा०
अधिवक्त्रमधीवारं	८३९	१८८२			
अधि य बहो जीवाणं	५२४	११५	बा		
अधिरथ सम्मादिट्टी	६५	२९	बाइरिय पादमूले	४१३	५९५
अधिरमणं हिसादी	८१०	१८२०	बाउषवासस्स उरं	५७८	१३३०
अधिसुद्ध भावदोसा	८५७	१९४५	बाउष्मेदसमती	४३०	६२६
अधिसुय असुसिर	८६१	१९६३	बाएसस्स तिरत्तं	३१७	४१५
अब्बापादमसंदिद्ध	८९३	२०९८	बाएसं एज्जत्तं	३१४	४१२
अब्बानाधं य सुहं	९०३	२१४३	बाकंपिय अणुमानिय	४०३	५६५
अब्बोच्छित्तिणिमित्तं	२६७	२७७	बाकस्सेवणी क्कहा सा	४४०	६५४
असदि एणे चुण्णेहिं	८६७	१९८६	बाकस्सेवणी य संवे	४४०	६५४
असमाधिणा व कालं	४४८	६७८	बागमदो जो बाळो	४१५	६००
असिधारं व विसं वा	७४२	१६६१	बागम माहूप्पगवो	४४२	६५८
असिधे दुक्किक्खे वा	७०४	१५३७	बागम सुदवाणाया	३५५	४५१
असुधि अपेच्छणिज्जं	५४६	१०१४	बागंतुगवच्छब्बा	३१५	४१३
असुरसुरअणुसकिम्भर	६०८	२१६३	बागंतुघरादीसु वि	४३४	६३८
असुरपरिणामबहुलत्त	८३०	१८६२	बागाढे उवसम्मे	८८५	२०६६
असुहा अत्था कामा	८०६	१८०७	बागासभूमिजदधी	५३४	९५७
अह तिरियउदडलोए	७६१	१७०९	बागासम्मि वि पक्खी	७९३	१७७६
अहवा सुदिपाणयं से	३४१	४४७	बाचेलक्कुट्टं सिय	३२०	४२३
अहवा अप्पं आसा	६३०	१२५४	बाणक्खिदाय कोणेण	१२५	९१
अहवा चारित्तारा	२४,	८	बाणाभिकसिणावज्ज	२३९	२१६
अहवा अं उम्मावेदि	५०१	८२१	बाणा संजम साखिल्लदा	२८२	३१२
अहवा तप्पहादिपरी	६९६	१४२६	बाणा हवत्तियादीहिं	४५४	७०२
अहवा तल्लिच्छाह	६४१	१२८७	बावट्टमेव चित्ते	३६९	४८५
अहवा दसणाणव	२१३	१६९	बावपरसमुद्दारो	१४२	११०
अहवा समाधिहेतुं	४५६	७०७	बावहिदपइणा भाव	१३२	९९
अहवा सयबुद्धीए	५००	८१९	बावहिदमयाणंतो	१३५	१०१
अहवा सरीरसेज्जा	२१५	१७१	बादा कुलं गणो	२५५	२४४
अहवा होइ विणासो	५८१	११४८	बादाणे णिक्खेवे	४९७	८१२
अह सावसेसकम्मा	८४९	१९२४	बादाणे णिक्खेवे	५८२	११५३
अहिमारएण णिवदिम्मि	८८६	२०६९	बादित्तिय सुसंघट्ठो	८७९	२०३८
अंधसुधे य बहुविधे	३७७	५०१	बादुर सल्ले मोसे	४२६	६१८
अंधो बहि व मज्जे	५५३	१०४४	बापुच्छा य पच्छिज्ज	१०७	६८
अंधक्यवहिरमूर्तो	१७५	१३७	बाबद्धधधिदिदो वा	६७१	१३९७
			बाभासण परिभासण	४३८	६४८
			बाभंतणि बाणवची	६०२	११८९

	पृ०	पा०		पृ०	पा०
आमतेक्षण गणि	२६७	२७८	आलंबणेहि भरिदो	८३४	१८७०
आमासयमि पक्का	५४४	१००६	आलोहदं असेसं	४०४	५६६
आचरिय उबज्जाए	५२०	८९७	आलोचण गुणदोसे	३६५	४७६
आचरियतादिणिदाने	६२३	१२३४	आलोयणाए सेज्जा	२१२	१६८
आचरियधारणाए	२८८	३२५	आलोयणापरिणदो	३१३	४०७
आचरियपादमूले	४१३	५९५	आलोयणापरिणदो	३१३	४०८
आचरियसत्त्वबाहेण	६४०	१२८४	आलोयणापरिणदो	३१३	४०९
आचरियाणं वीसत्त्वदाए	३७३	४९०	आलोयणा हु दुबिहा	३९२,	५३५
आयविलणिज्जियणी	२६०	२५६	आलोचिदाणिस्सल्लो	८०८	२०७८
आयविलेण सिम	४५४	७००	आलोचिदं असेस	४१५	६०१
आयापायविदग्धु	१३८	१०५	आलोचिदं असेसं	४१६	६०५
आयार-जौद-कप्पगु	३१४	४११	आलोचेमि य सत्त्वं	४०७	५७३
आयार-जौद-कप्पगु	१७१	१३०	आलोयणं सुणिता	४२५	६१७
आयारत्थो पुण से	३३६	४२९	आलोयणादिया पुण	३९८	५५६
आयारवमादोया	३८८	५२८	आलोयणापरिणदो	३१३	४०६
आयारवं च आघा-	३१८	४१९	आलोयणेण हिदयं	५६३	१०७९
आयार पचविहं	३१९	४२१	आवडणत्थं जहो ओ-	६२४	१२३७
आयासवेरभयदुत्त	३०३	३७०	आवाडिया पडिकूला	७०१	१५१५
आरण्णओ वि मत्तो	४७६	७६२	आवसधे वा अप्पा	११४	७८
आरमे जीववहो	८९७	८१४	आवादमेत सोक्खो	७४०	१६५५
आराधणपत्तोय	१५५	७०१	आवासयठाणादिसु	३१५	४१४
आराधणपत्तोयं	८६७	१९८८	आवामयं च कुणदे	८८१	२०४९
आराधणं असेसं	९०६	२१५८	आसयवसेण एव	२९८	३५८
आराधणाए तत्त्व दु	८७५	२०२०	आसव सबर णिज्जर	७४	३७
आराधणापडाय	४७४	७५७	आसागिरिदुग्गाणि य	६४३	१२९८
आराधणापुरस्सर	४७०	७५२	आसादिता कोई	४५१	६९१
आराधणाविधी जो	८७५	२०१८	आसादिदा तवो होंति	७३४	१६२९
आराधयित्तु धीरा	९०६	२१५५	आसी अणंतमुत्तो	७२७	१६०१
आराधयित्तु धीरा	९०६	२१५६	आसांय महाजुदघाई	५२९	९३६
आराहणाए कज्जे	४१	१९	आसीविसेण अवरुद्धस्स	५१७	८८६
आराहणा भगवदी	९०७	२१६२	आसीविसोम्ब कुविदा	५१०	९४०
आलं जणेदि पुरुस्स	५३८	९७५	आसुक्कारे मरणे	८८८	२०७७
आलंबणं च वायण	७५९	१७०५	आहृदिद्रुण चिरमवि	५२५	९१९
आलंबणं च वायण	८३४	१८६९	आहारत्थं काळम	७३८	१६४६

आहारत्वं पुरितो
आहारत्वं मञ्जा
आहारत्वं हिंस्र
आहारमयो कोबो
आहिंस्य पुरिस्स य

पृ० गा०

७३७ १६४१
७३७ १६४२
७३६ १६३७
३३८ ४३७
७९८ १७९२

इय चरममधकसादं
इय जइ दोसे य गुणे
इय जो दोसं लहुगं
इय जे बिरावयिता
इय झार्यतो खवजो
इय जिञ्जवजो खवयस्स
इय दइ गुणपरिणामो

पृ० गा०

८५२ १९३८
३६४ ४७४
४१० ५८३
८५९ १९५६
१४३ १८९७

इ

इगबिगतिगचउररिदिय
इञ्जेवमधिककंतो
इञ्जेवमाइ कवचं
इञ्जेवमादि अविचित्तयदो
इञ्जेवमादि दुक्खं
इञ्जेवमादि दोसा
इञ्जेवमादि विणजो
इञ्जेवमादि विविहो
इञ्जेवमेदमविचिं
इञ्जेव समणघम्मो
इञ्जेव कम्मूदजो
इट्ठेसु अणिट्ठेसु य
इट्ठिमतुलं विउञ्जिय
इण्हि पि जदि ममति
इत्तिरियं सव्वगणं
इत्थि विषयाभिलासो
इत्थी वि य जं किमं
इदि पंचहि पंचहदा
इध किं पर लोगे वा
इय अट्ठगुणो वेदो
इय अप्प परिस्सममग
इय अज्जत्तं जइ सा
इय आल्लंजन मणुपेहा
इय उज्जुभावमुवगदो
इय एवे पंचविधा
इय एस लोमघम्मो
इय एसो पञ्चकखो
इय आग्नि य वेरगं

८९१ २०९०
८३४ १८७१
७४५ १६७५
६२३ १२३२
७२३ १५८२
३७५ ४९७
१६७ १२४
२४० २१९
६३८ १२७८
६९० १४७१
७३१ १६१७
७४७ १६८३
८७९ २०४०
७४२ १६६३
२२० १७९
५१४ ८७३
११५ ८०
६५९ १३४८
३०४ १७९८
८०४ ५०९
३५९ ४५९
४१३ ५९३
८३३ १८६८
३९९ ५५५
६४६ १३०९
८०६ १८०५
१६९ १२८
४५८ ७१४

इय दुट्ठय मयं जो
इय दुल्लहाए बोहीए
इय पच्छण्णं पुच्छिय
इय पण्णविज्जमानो
इय पयविभागयाए
इय पव्वज्जा भंदि
इय पुव्वकदं इणमज्ज
इय बालपंडियं होदि
इय मज्झिममाराधण
इय मुक्खित्तयमारा
इय समभावमुवगदो
इय सव्वसमिदकरणो
इय सणिरुद्धमरणं
इय सामण्यं साहु
इय सो खवजो ज्ञाणं
इय सो आइयसम्मत्त
इय सव्वत्थवि संवर
इय सल्लीण मुवगदो
इरियादानणिल्लेवे
इइइ परलोगे वा
इइ परलोइय दुक्खाणि
इइ परलोए जदि दे
इइ य परत्त य लोए
इइ य परत्त य लोए
इइ य परत्त य लोए
इइ य परत्त य लोए
इइ य परत्त य लोए
इइ य परत्त य लोए

३७९ ५०८
२८३ ३१६
१७७ १४१
८३३ १८६५
४११ ५८८
७४४ १६७३
४२४ ६१४
६३९ १९८२
७३२ १६२३
८८८ २०८१
८५० १९३७
६४९ १९२३
८४३ १९००
१२१ ८५
८७२ २००९
४२ २१
८४० १८८४
९०५ २१५०
८२३ १८३९
२४९ २३५
१२९ ९५
६३४ १२६६
७३७ १६६३
५६७ ११०१
६७५ १४१३
६७८ १४२१
६७८ १४२५
६८० १४३०
६८० १४३३
६८६ १४५३

	पृ० पा०		पृ० पा०
इह लोके परलोहय	५०७ ८४५	इदिव सामन्वीवि	७६४ १७१६
इह लोए परलो ए	८८० २०४५	इदिवसुह साउलको	२२७ १९१
इह लोए वि महल्क	५२७ १२९		
इहलोग बंधवा ते	७७५ १७४६		
इहलोगिय परलोगिय	८०७ १८०८	ईसप्यन्माराए	८९९ २१२७
इंगालो धोव्वति	५५२ १०३८	ईसालुयाए गोवव	५३१ ९४४
इंगालो धुव्वति	८०८ १८११		
इदियकसायउवधीण	२१४ १७०		
इदियकसायगुरुगत	८४१ १२८९	उककूवेज्ज व सहसा	३३९ ४४१
इदियकसायगुरुगत	६४२ १२९४	उककस्सएण छम्मासाउग	८९४ २१०३
इदियकसायगुरुगत	६४४ १३०१	उककस्सएण भतप	२५१ २५४
इदियकसायगुरुगत	६४५ १३०६	उककस्सा केवल्लिणो	९५ ५०
इदियकसायचोरा	६७२ १४०१	उगम उप्पादन एसणा	२४५ २३२
इदियकसायजोगणि	७५६ १७००	उगम उप्पादनसणा	३१८ ४१७
इदियकसायणिग्गह	६५६ १३३९	उगम उप्पादनएसण	४३२ ६३५
इदियकसायदुह तस्सा	६७० १३९१	उगम उप्पायणए	६०४ ११९१
इदियकसायदोसेहि	६४६ १३०७	उग्गाहितस्सुद्धि	५६८ ११०३
इदियकसायदोस	६५५ १३३८	उच्चत्तणम्मि पीढी	६२० १२२६
इदियकसायदुह तस्सा	६७० १३९०	उच्चत्तणं व जो णीच	६२० १२२७
इदियकसायपणिघा	१४६ ११४	उच्चासु व जोचासु व	६१८ १२२३
इदियकसायपण्णग	६७० १३९२	उज्जत्ती तेजत्ती	३६८ ४८०
इदियकसायमइला	६५६ १३४०	उज्जुय भावम्मि असत्त	५३६ ९६७
इदियकसायमइओ	६५२ १३२६	उज्जोवणमुज्जवर्ण	७ २
इदियकसायवसगो	६१३ १३३०	उज्जंति जत्य हत्थी	७३० १६१३
इदियकसायवसगो	६५५ १३३६	उड्डहूणा अदिचवला	६७२ १३९८
इदियकसायवसिया	६६६ १३०८	उड्डाहकरा येरा	३०७ ३८८
इदियकसायसण्णा	५६५ १०८८	उड्डे सअंकाविड्डय	३०९ ३९५
इदियकसायहत्थो	६७३ १४०३	उहं वादं उहं	७०८ १५४३
इदियकसायहत्थो	६७३ १४०४	उत्तरगुण उज्जमणे	१५० ११८
इदियकसायहत्थो	६७३ १४०५	उदए पवेज्जहि सिला	५३६ ९६६
इदियकसायवग्घा	६७२ १४०२	उदयम्मि जायवहिड्डय	५६८ ११०२
इदियगहोवसिट्ठो	६५२ १३२४	उद्धमणस्स ण रदी	७३९ १६५१
इदियचोरपरद्धा	६४३ १२९५	उद्धमणस्स ण सुहं	६३२ १२६१
इदियदुह तस्सा	८१८ १८३१	उप्पाडिता भीरा	३६४ ४७३
इदियमवंसरीरं	५८३ ११५७	उन्मातेज्ज व गुणसे	६९७ १४९८

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
उम्मगवेसणो भग्ना	२२४	१८६	एदाओ पंच वि वञ्जिय	२२५	१८८
उम्मतो ह्रीइ णरो	५८२	११५१	एदारिसम्मि वेरे	४३०	६२८
उयसय पबिदावण्णं	८६३	१९७२	एदासु कळं कमसो	८६२	१९६७
उल्लाब समुवल्लावर्हि	५६३	१०८२	एदाहि भावणाहि य	२१५	१८७
उल्लीणोल्लीणेहि	२५६	२४८	एदाहि भावणाहि हु	६१२	१२७७
उवएसो पुण भायरि	८८२	२०५४	एदाहि सदा जुत्तो	६०५	११९४
उवमहिबं उवकरणं	८६७	१९८७	एदे अत्थे सम्मं	५५८	१०६३
उवगूहण ठिविकरणं	८१	४४	एदे गुणा महल्ला	२९०	३३१
उवगूहणाविया पुब्बुसा	१४६	११३	एदेण चैव गणिदो	९०४	२१४९
उवसम्मोण वि साहरिदो	८८५	२०६४	एदेण चैव पदिट्ठा	६०५	११९३
उवसमइ किण्ह सप्पा	४७५	७६१	एदे दोसा गणिणो	३१०	३९८
उवसम दयादमाउह	८१८	१८३०	एदे सब्बे दोसा	३१०	३९९
उवससवयणमगिहत्य	१६७	१२६	एदे सब्बे दोसा	५१३	८६९
उव्वादो तद्दिवसं	३१८	४१८	एदे सब्बे दोसा	५२७	९३०
उत्सग्गियल्लिगकदस्स	११३	७६	एदेसि दोसाणं	५०७	८६६
उत्सरइ अस्स चिरमवि	१११	७४	एदेसि दोसाणं	५८५	११६१
उंदुरकदं पि सहं	५११	८६३	एदेसि लेस्साणं	८४५	१९०४
			एदेसु दससु णिच्चं	३३५	४२४
			एदं इगिणि मरणं	८८३	२०५६
			एयग्गेण मणं	७५७	१७०३
			एयत्ता भावणाए	२३३	२०२
			एयसमएण विघुणदि	४५८	७१७
			एयस्स अप्पणो को	७०२	१५१९
			एयाए भावणाए	२३५	२०६
			एयाणेयमवगदं	७६१	१७०८
			एया वि सा समत्था	४६८	७४५
			एवमणुद्धवदोसो	३९३	५३९
			एवं अचाक्खादविधिं	८४८	१९२०
			एवमधक्खादविधिं	८८३	२०५५
			एवमवलायमाणो	२५०	२३७
			एवमवि दुल्लहपरं	३३८	४३४
			एवं अट्ठवि जामे	८८१	२०४७
			एवं अधियासेत्तो	७४६	१६७८
			एवं आउच्छित्ता	३०६	३८६
			एवं आउच्छित्ता	६९७	१५०१

ए

एहं वियेसु पंच वि	७९५	१७८३
एए अण्णे य बहु	५४०	९८५
एक पविब्बइ कण्णा	५४१	९९१
एकम्मि वि अम्मि पदे	४७९	७७४
एककं पि अक्खरं जो	१०२	६१
एककं व दो व तिण्णि य	३११	४०४
एगमवि भावसल्लं	३९४	५४२
एकम्मि चैव देहे	६३५	१२६७
एगविगतिसक्ख	७८८	१७६७
एयम्मि भवग्गहणे	४४९	६८१
एगतां सालोगा	८६०	१९६२
एगुत्तरसेडीए	२३८	२१४
एणो अह णिण्णवओ	४४६	६७३
एणो संभारगवो	३८५	५२१
एदम्मि भवरि भ्रुणिणो	२८२	३१४
एदाउ अट्ठ पवग्ग	६०७	११९९

	पु० गा०		पु० का०
एवं आराधिता	१०६ २१५४	एवं पंडियमरण	८८६ २०७१
एवं आसुक्कार्मरणे	८७५ २०१९	एवं पि कीरमाषो	६९६ १४९५
एवं इहहं पर्यहिय	८९९ २१२६	एवं पिषडसंवर	८२६ १८४९
एवं उग्रम उपाव	२५६ २४७	एवं भावभाषो	२३५ २०७
एवं उवसगविधि	८८० २०४४	एवं महाणुभावा	४४५ ६६९
एवं एवं सम्बं	७२६ १५९७	एवं मूढमदीया	८५८ १९५१
एवं एदे अत्ये	५५८ १०६२	एवं वासारते	४३१ ६३०
एवं एसा आराधना	१०६ २१५७	एवं विचारयिता	२०६ १५८
एवं कदकरगिऊओ	५९० ११७५	एवं विसग्गिभूदं	५१५ ८७५
एवं कदपरियम्मो	२६५ २७२	एवं सदि परिणामो	२१० १६३
एवं कदे गिमन्ने	३८२ ५१४	एवं सम्मं सहूरस	६७५ १४१४
एवं कसायजुद्धम्मि	८४० १८८६	एवं सरीरसल्ले	२६० २५८
एवं कालयादस्स दु	८६० १९६०	एवं सम्बन्धेसु वि	७४९ १:९०
एवं केई गिहिवा	६४९ १३१९	एवं सम्बे देहम्मि	५५० १०३१
एवं खवओ कवचेषेण	७४६ १६७७	एवं संथारगदस्स	६९४ १४८८
एवं खवओ संथारगओ	६९३ १४८४	एवं संथारगदो	८५२ १९४०
एवं खु बोसरिता	३९८ ५५३	एवं सारिऊजंतो	६९८ १५०३
एवं च गिक्कमित्ता	८७७ २०२९	एवं सुभाविदप्पा	८४८ १९१८
एवं चदुरो चदुरो	४४६ ६७१	एवं सुभाविदप्पा	७४८ १६८६
एवं चेदुठंस्सवि	६७९ ११३५	एस असांडियसीलो	३०४ ३७७
एवं जं जं पस्सदि	५०८ ८४९	एस उवाओ कम्मा	६८४ १४४४
एवं ज्ञानतेण वि	३९० ५३१	एसणगिक्खेवादा	६०७ १२००
एवं जो मह्जिहाए	५६७ ११००	एसा गणघरयेरा	२७२ २९२
एवं पादूण तव	६९० १४६९	एसा भत्तपइष्णा	८७६ २०२३
एवं गिप्पिडियम्मं	८८४ २०६३	एसो सम्बसमासो	३०४ ३७६
एवं गिरुद्धदरयं	८७४ २०१५		
एवं तुऊअं उवएसेण	६९३ १४८०		
एवं तु भावसल्लं	३६२ ४६८		
एवं दंसणमारहंसो	९३ ४७		
एवं पडिकमणाए	४५९ ७१८		
एवं पडिट्ठवित्ता	८६८ १९९०		
एवं परणणकुवस्से	५२६ ९२४		
एवं परिमग्गिता	३८० ५१०		
एवं पवयणसारसु-	४३० ६२७		
एवं पडिबपडिद	१०५ २१५३		
		ओ	
		ओगाढगाङ्गिणचिदो	८१० १८१८
		ओग्घेण ण बुद्धाओ	५४१ ९९३
		ओग्घेणालोचैदि हु	३६२ ५३६
		ओमोदरिए घोराए	७०७ १५३९
		ओल्लं संतं वत्थं	८९५ २१०७
		ओसण्ण सेवणाओ	६:१ १२८८
		क	
		कक्कसवयणं गिट्ठुर	५०२ ८२४

	पृ०	माथा		पृ०	माथा
कच्छुञ्जर-साम-सोसो	७०६	१५३७	काळण य किरियम्मं	४०२	५६३
कच्छुकुंडुयमाणो	६२८	१२५६	काळणउ समाहं	८९६	२११०
कञ्जाभावो ण पुणो	९००	२१३२	काएसु गिरारंसे	४९७	८१३
कडुगम्मि अणिव्वलिदम्मि		४६४ ७३२	कामकदा इत्थीकदा	५१५	८७६
कण्णसु कण्णगूधो	५५१	१०३४	कामग्गिणा षगघंतेण	५२८	९३१
कण्णोट्ठसोसणासा	७२४	१५९०	कामग्गत्थो पुरिसो	५२०	८९८
कदवोणवाददमण	२५३	२४२	कामदुहा वरघेणू	६८८	१४६०
कद्वपावो वि मणुत्सो	४२५	६१५	कामोपसामग्गहिदो	५१९	८९४
कप्पाकप्पे कुसला	४३८	६४७	कामभुज्जेण दट्ठा	५१७	८८५
कप्पोवगा सुरा जं	८५०	१९२९	कामादुरस्स गच्छदि	५१६	८८०
कमं वि परिणमिज्जड	८२५	१८४६	कामादुरो णरो पुण	५१७	८८३
कम्माहं बलियाहं	७३१	१६१६	कामी सुसंजदाण वि	५१९	८९६
कम्माणुभावदुहिदो	७९७	१७८८	कामुम्मत्तो महिल	५२४	९१७
करणेहि होवि विगलो	७९५	१७८१	कामुम्मत्तो संतो	५१६	८८२
कलभो गएण पंका	६४८	१३१५	कायकिरियाणियत्ती	५९७	११८२
कललगदं दसरत्तं	५४३	१००१	कायव्वमिणमकायव्व	३७	९
कलहं परिदावणादी	३०८	३९२	कारी होहं अकारी	८०५	१८०३
कलहो बोलो संखा	२४९	२३४	कालमणंतमघम्मो	९०१	२१३३
कल्लुसी कदपि उदगं	५६०	१०६७	कालमणंतं णीचा	६१९	१२२४
कल्लाणपरंपरयं	४६७	७४०	कालं संभाविता	२६६	२७५
कल्लाणपावगाण	७६०	१७०७	कालेण उवाएण य	८२४	१८४२
कल्लाणिडिडसुहाहं	६८८	१४५९	काले विणए उवघाणे	१४३	११२
कल्ले परे व परदो		३९४ ५४३	किच्चा परस्स णिदं	३०३	३७३
कसिणा परीसहचमू	२३५	३०४	किण्णु अघालंद विघी	१९७	१५७
कहं ठाह सुवकपत्तं	७३०	१६१५	किण्हा णीला कावो	८४४	१९०२
कहमवि तमंघयारे	५२५	९२०	कित्ती भेत्ती माणस्स	१७२	१३३
कंठकसल्लेण जहा	३६२	४६७	किमिणो व वणो भरिद	९५०	२०३०
कंठगधैहि वि पाणेहि	१९५	१५३	किमिरायकंबलस्स व	४०६	५६९
कंदप्पकुक्कुआइय	२२२	१८२	किहं वा जीवो अण्णो	७७९	१७४९
कंदप्पेविल्लिम्मिस	२२१	१८१	किहं वा राजो रंवेदि	८११	१८२१
कंदप्पे भावणाए	८५९	१९५३	किहं वा सत्ता कम्म-	७६७	१७२३
काइववादी सब्बं	४४४	६६४	किहं पुण अण्णो काहिदि	७२९	१९११
काइववाइय माणसिओ	१६४	१२०	किहं पुण अण्णो मुच्चहि	७३०	१९१४
काइव वाइय माणसिय	३९१	५३३	किहं पुण णवदसमासे	५४६	१०१३
काइं दि अन्नघोत्तो	७०८	१५४५			

	पृ०	गाथा		पृ०	गाथा
किह् पुण भवदसमासे	५४५	१००८	कृब हिरण्यं जह् पिच्छएण	४१५	६०२
किंवि व दिट्ठिमुपावस	७५६	१७०१	केई गहिवा इद्विय चोरेहि	६४१	१२९०
किं वंफिएण बहुणा	६९३	१४८१	केई अग्गीमविगदा	७०३	१५२३
किं वंफिएण बहुणा	८५१	१९३५	केई विमुत्संगा	७०५	१५३२
किं णाम तेहि लोमे	८६९	१९९७	केदूण विसं पुरिसो	४०४	५६७
किं पुण अणयार सहा	७१०	१५५४	केवलकप्पं लोणं	८४८	१९२०
किं पुण अवसेसारं	२७८	३०५	केसा संसज्जंति हु	१२२	८७
किं पुण कठमाणो	७४०	१६५३	कोई डहिज्जं जह् चंदनं	८१२	१८२४
किं पुण कुलगण संघस्स	७०५	१५२९	कोई तमादयित्ता	४५२	१९४
किं पुण गुणसहिदाओ	५४०	९८९	कोई रहस्समेदे	३७४	४९३
किं पुण छूहा व तण्हा	६९३	१४८२	को इत्थ मज्झ माणो	६७८	१४२२
किं पुण जदिणा संसा-	७०८	१५२६	को एत्थ विभओ दे	७४०	१६५४
किं पुण जीवणिकाये	७२८	१६०७	कोढी संतो लद्ध ण	६१५	१२१७
किं पुण जे ओसण्णा	८५३	१९४३	को णाम अप्पसुखस्स	७४१	१६५९
किं पुण तरुणो अवहुस्सु	५६६	१०९३	को णाम गिरुव्वंगो	६८३	१४४०
किं पुण तरुणो अवहुस्सु	२९१	३३४	को णाम गिरुव्वेगो	६८३	१४४१
किं मज्झ गिरुच्छाहा	८५८	१९५२	को णाम भडो कुलजो	७०१	१५१३
किं मे जपदि किं मे	५६७	१०९८	को तस्स दिज्जइ तवो	४११	५८७
कुट्टाकुट्टिं बुष्णाचुण्णि	७१५	१५६६	कोध भय लोभ हस्स	६१०	१२०१
कुणदि य माणो णीचा	६२१	१२३०	कोध खमाए माण	२६२	२६२
कुण वा णिद्दामोक्खं	६८१	१४४३	काधो माणो माया	५७५	११२१
कुणह् अपमादमावासएसु	२७४	३०८	काधो सत्तुगुणकरो	६६२	१३५९
कुणिमकूडिभवा लहुगत्त	८०७	१८०९	कोसंवी ललिय घड्डा	७०७	१५४०
कुणिमकूडो कुणिमेहिं य	५८८	१०००	कोसलय धम्मसोहो	८८६	२०६७
कुणिमरस कुणिमगंधं	५५८	१०६१	कोमि तुमं किं णामो	६९७	१५००
कुड्डो वि अप्पसत्थं	६१५	१२१०	कोहस्स य माणस्स य	२६२	२६३
कुलगामणयररज्जं	२७३	२९५	कोहो माणो लोभो	६६७	१३८१
कुलजस्स जसमिच्छनं	६५२	१३३०			
कुलरुव्वेयभोगा	७९९	१७९६	खणणुत्तावणवालण	२३१	२००
कुलरुव्वणावलमुद	६६४	१३६९	खणमत्तेण अणादिय	८७५	२०२१
कुविदो व किण्हसप्पो	५३५	९६०	खमदमणियमधराणं	९०८	२१६४
कुब्बंतस्स वि जत्तं	४८५	७८६	खवओ गिलाभिदंनो	३६०	४६०
कुसमुट्ठिं घेतू ण य	८६४	१९०६	खवग पडिज्जगणाए	४४६	६७४
कुसुममगंधमवि जहा	२९७	३५३	खवगस्स घरदुवारं	४४४	६६५
कुंभीपाएसु तुमं	७१६	१५६८	खवयस्स अप्पणो वा	४४७	६७५

	पृ०	पा०		पृ०	पा०
अक्षरि जना रक्षति	४४३	६६२	छेदणबंधनवेक्षण	५८२	११५४
अक्षरि महाविषयीवो	२३८	२१५	छेदणभेदणकृहण	७२२	१५७८
अक्षरि सिपाजालाणि	५४८	१०२३			
अक्षुरंयाए सेणाए	४७३	७५६	अइ कह्वि कसायगी	२६२	२६५
अदुहि समएहि	८९६	२१०५	अइदा उच्चतादो णिदाणं	६२३	१२३३
अमरीवालं सगिगवि	५५३	१०४५	अइदा संबसिलोणेण	४७८	७७१
अरजम्मि तम्मि जो उज्जमो	२९,	१०	अइ वे कदा पमाणं	७३४	१६३०
अरमसमयम्मि तो सो	८९८	२११९	अइ भाविज्जइ मंघेण	२९४	३४४
अरिगहि कल्पमाणो	३०२	३७०	अच्चबंधहिरमूढो	७९५	१७८२
अरिया छुहाव तण्हा	१९१	१४९	अणण मरणादि रोगा	६८७	१४५६
अकमणे य ट्ठाणे	४०५	५८२	अणणी वसंतिलया	७९८	१७९४
अंदो हविज्ज उण्हो	५८०	९८४	अणपायडो वि दोसो	६७९	१४२८
अंदो हीणो य पुणो	७६५	१७१७	अणवदसम्मदि ठवणा	६३०	११८७
अंपाए माससमणं	७०७	१५४१	अत्तो विसाए गाभो	८६५	१९८०
आयम्मि कीरमाणे	४४७	६७६	अत्तासाधणचिह्नकरण	११६	८१
आरणकोट्टमकल्लाल	४३२	६३३	अत्तो पाणवधादी	५०२	८२५
आलणियं व उदयं	१७४	१३५	अत्य ण जादो ण मदो	७९०	१७७०
अिट्ठंति जहा ण चिरं	५३५	९५८	अत्य ण विसोत्तिग अत्थि दु	२४४	२३०
अित्तपणं व विचित्तं	८९३	२०९९	अत्य ण होज्ज तणाइ	८६४	१९७८
अित्तं समाहिदं जस्स	१७३	१३४	अत्थेव चरइ बालो	६०६	११९७
अेयंतो वि य कम्मोदएण	६९८	१५०५	अदणाए जोग्गपरिभाविदस्स	२२९	१९७
अेलादि सब्वसंगच्चाओ	५७२	१११६	अदि अचिवाधिज्ज तुमं	६८१	१४३५
अेलादीया संग्गा	५८२	११५२	अदि कोइ मेरुमसं	७११	१५५८
अेहसदणवपुब्बी	३३६	४३०	अदि तस्स उत्तमं	८६८	१९९३
अेरस्स गत्थि हियए	५१०	८५६	अदि तारिसिया तण्हा	७२७	१६०२
अेरो वि तह सुवेगो	६६०	१३१२	अदि तारिसाभो तुम्हे	७२६	१५९९
			अदि तेसिं भाधावो	८६१	१९६६
			अदि दा अभूतपुब्बं	७३३	६६२५
			अदि दा एवं एदे	७१०	१५५३
			अदि दा जणेइ मेहुण	५२६	९२२
			अदि दा तह अण्णाणी	७०४	१५२५
			अदि दा रोगा एकम्मि	५५४	१०४८
			अदि दाव विहिंसज्जइ	५४६	१०१५
			अदि दा विहिंसदि णरो	५५३	१०४३
			अदि दा सबदि असंतिण	६७५	१४१५
अट्ठमदसमदुवा	१४१	१०८			
अट्ठमदसमदुवा	२५९	१५३			
अहिय रयणाणि जहा	८१३,	१८२५			
अत्तीसपुणसमण्णा	३८८	५२७			
अदुमत्थदाए एत्थ दु	९०७	२१६१			
अमलं मुत्तं दुदं	५५४	१०४६			
अेतस्स वदी णवरस्स	५९८	११८३			

	पृ०	पा०		पृ०	पा०
अदि वा सुभाविदप्या	८५३	१९४२	अलिदो हु कसावमयी	२६४	२६८
अदि विक्ते संघिट्ठदि	८६८	१९९१	अस्सविल्लितो वेहो	१२८	९४
अदि अरिसणभेरिसयं	३७५	४९६	अस्स पुण उतमट्टम	४४९	६८१
अदि पबबवस्स सारो	४०	१८	अस्स पुण मिच्छदिट्ठिस्स	१०२	६०
अदि भूकमुणे उत्तर	४११	५८६	अस्स व कदेव जीवा	१७७	१३९
अदि वा एत्तम कीरेज्ज	८६३	१९७१	अस्स वि अम्बमिचारी	११३	७७
अदि वा सवेज्ज संतेण	६७६	१४१६	अह मप्पणो गणस्स व	६९२	१४७८
अदि वि कर्हपि वि गंथा	५७९	११३६	अह आइच्चमुदितं	७७२	१७३५
अदि विपक्षावा भत्तप	८६३	१९७३	अह इंघणेहि अग्गी	६३१	१२५८
अदि वि व से अरिमंते	७४८	१९८५	अह इंघणेहि अग्गी	७३९	१६४९
अदि वि विकिचदि बंत्	५८३	११५५	अह इंघणेहि अग्गी	६४५	१९०७
अदि विस्समो संघारो	८६५	१९७९	अह कववेण जमिज्जेण	७४५	१६७६
अदि विसयगंघहृत्थी	६७३	१४०६	अह कट्टएण विट्ठो	३९३	५३८
अदि वि सयं थिरबुद्धी	२९२	३३५	अह कंसिय मिगारो	४०९	५८१
अदि सो तत्थ अरिज्जो	५७८	११३१	अह कुंडळो ण सक्को	५७१	१११४
अदि होज्ज मच्छियापत्त	५५०	१०३३	अह कोइ तत्तलोहं	६६१	१३५६
अथ इंघणेहि अग्गी	५७९	११३७	अह कोइ लोहिदकयं	४१६	६०६
अथ उग्गविसा उरणो	६६३	१३६२	अह कोडिल्लो अग्गि	६२८	१२४५
अथ करिसयस्स घण्णं	६९३	१३६१	अह महिदवेयणो विय	६९०	१४७०
अथ कोडिसमिदधो वि	६६६	१३७६	अह अह गुणपरिणामो	२८४	३१७
अथ तंहुलस्स को-	८४६	१९११	अह अह णिव्वेदसमं	८१८	१८५८
अथ भिन्नं हिउंतो	६५३	१३२९	अह अह मुंजइ णोणे	६३१	१२५६
अथ सण्णदधो पण्हिद	६५३	१३२८	अह अह मण्णेइ णरो	५३३	९५२
अममिच्छती महिलं	५२६	९२५	अह अह वयपरिणामो	५५९	१०६५
अम्मज अमिपिक्खवणं	१८२	१४५	अह अह सुदमोग्गाहदि	१३७	१०४
अम्मजभरणजलोचं	९०५	२१५२	अह ण करेवि तिमिंछं	३५८	४५५
अम्मसमुहे बहुदोसवीक्ख	८०९	१८१५	अह णाम दब्बसल्लो	३६२	४६६
अग्ग्हा असण्णवयणाधिएहि	४८६	७९०	अह गीरसं पि कडुयं	६७४	१४०९
अग्ग्हा अरिससारो	३५	१४	अह ते ण पियं दुक्खं	४८०	७७६
अग्ग्हा विग्गंघो सो	५८७	११६६	अहदि व णिययं दोसं	२९६	३५२
अग्ग्हा सुदं वित्तकं	८३५	१८७५	अह अरिसियो इमो तह	३७४	४९४
अग्ग्हा सुदं वित्तकं	८३७	१८७८	अह पक्खुभिन्नुग्गीए	३७८	५०५
अग्ग्हि व आरिदनेतो	१७७	१४०	अह पत्थरो पडंतो	८४६	१९०८
अग्ग्घंअग्घसिमुत्ता	५०३	८२९	अह परमज्जस्स विसं	५०५	८३९

	पृ०	पा०		पृ०	पा०
अह पम्बवेसु मेरु	४८५	७८४	अं पणपरिभवणियडिप-	५२४	२१५
अह बालो जंप्यतो	३९६	५४९	अं पाणयपरिम्मम्मि	४५६	७०८
अह बाहिरलेस्साओ	८४४	१९०१	अं बद्धमसंखेज्जाहि	४५८	७१६
अह मेयजं पि दोसं	१००	५७	अं भञ्जिज्जदोसि भञ्जिज्जदग्गपि	९१७	१५६९
अह मक्कडओ खणमवि	४७६	७६३	अं वा गरहिदवयणं	५०१	८२३
अह मक्कडओ घादो	५०८	८४८	अं वा दिसमुवणीदं	८६८	१९९२
अह मारुओ पवड्डइ	५०८	८५०	अं बेलं कालमदो	८६२	१९६८
अह रायकुलपसूओ	४१	२०	अं सव्वे देवगणा	९०३	२१४४
अह वा अग्गिस्स सिहा	८९९	२१२४	अं होदि अण्णदिट्ठं	४०८	५७६
अह वाणियग्ग सागर	७४३	१६६८	जा अवरदक्खिणाए	८६१	१९६४
अह वाणिया र पग्ग,	६२४	१२३८	जा उवरि उवरि गुणपडिबत्ती	२१७	१७३
अह बालुयाए अवडो	४०८	५७८	जागरणत्वं इच्छेवमादिक्कं	६८३	१४३८
अह सीलरक्खयाणं	५४०	९८८	जाणदि फासुयदव्वं	३४०	४४६
अह सुकुसुलो वि वेज्जो	३८९	५३०	जाणह य मज्झ धामं	४०७	५७२
अह सुत्तबद्ध सउणो	६३६	१२७२	जाणं तस्माद्वहिदं	१३५	१०२
अं अण्णाणी कम्मं	१४१	१०७	जाणह्य मज्झ एसो	४१६	६०४
अं असभूदुग्गभावण	५०९	८२०	जादिकुलं संवासं	५१९	८९३
अं अत्ताणो णिप्पडियम्मो	७२२	१५७९	जादो म्हु चारदतो	५६२	१०७६
अं अबद्धदो उप्पाडिदाणि	७१६	१५६७	जाये पुण उवसग्गो	८७९	२०३७
अं एव तैल्लोकं	४८४	७८२	जा रायादिणियत्ती	५९५	११८१
अं किंचि खादि जं किं	५४७	१०१८	जालस्स जहा अंते	६३५	१२६९
अं कूडसामलीए दुक्खं	७१०	१५६२	जावइयाइं तणाइं	५३४	९५६
अं स्वाविओ सि अवसो	७१४	१५६५	जावइयाइं दुक्खाइं	४८८	७९९
अं गव्मवासकुणिम	७२६	१५९६	जावइया किर दोसा	५१५	८७७
अं चडवडित्ठकरचरणंगो	७१८	१५७५	जावज्जीवं सव्वाहारं	४५५	७०३
अं च दिसावेरमणं	८८७	२०७५	जाव ण वाया सियदि	८७३	२०१३
अं छोडिओ सि जं मोडिओसि	७१७	१५७२	जावदियाइं कल्लाणाइं	८२७	१८५३
अं जस्स दु संठाणं		२१२९	जावदियाइं सुहाइं	७९४	१७७९
अं बीवणिकायवहेण	४९६	८१०	जावदिया रिट्ठीओ	८५१	१९३३
अं णत्थि सव्वबाधा	९०२	२१४०	जाव य खेमसुभिव्वं	२०८	१६१
अं णिज्जरेदि कम्मं	२४९	२३६	जाव य सदी ण जस्सदि	२०७	१६०
अं णीलमडवतत्तलोह	७१४	१५६४	जावय बलविरियं से	८७२	२००८
अं दुक्खं संपत्तो	७२५	१५९२	जावति किंचि बुक्खं	७४२	१६६२
अं दीहकालसंवासरुए	२६४	२७९	जावति केइ मीया	६३०	१२५५

	पृ० मा०		पृ० मा०
आवृत्ति केन्द्र संभा	५९० ११७४	जे वि बहिःसावित्रुणा	९९ ५६
आवृत्तु किंचि कोए	९०२ २१३९	जे वि हु बहुग्नियं तैल-	८५१ १९३४
आवृत्ति केन्द्र संभा	२६३ २६६	जेसि नाससमाह	८९५ २१०४
आवृत्तु केन्द्र संभा	२२१ १८०	जेसि हवृत्ति विसमाणि	८९५ २१०५
आ सञ्चसुंदरनी	५५५ १०५०	जे तेसा सुपकाए	८४७ १९१४
आहे सरीरचेट्टा	१४८ १६८७	ओ अप्प सुवच्छेदुं	६१५ १२१५
जिज्जपडिक्कं विरियातो	११९ ८४	ओ अभिलासो वसएसु	८१२ १८२३
जिज्जवयणममिदभूदं	७१० १५५५	ओ अवमानणव.रणं दोसं	६७८ १४२४
जिज्ज-सिद्ध-साहु-धम्मा	२८७ ३२४	ओ उवविषेदि सञ्जा	८७० १९९९
जिदधिहा तस्सिल्लच्छा	४४४ ६६६	ओ ओल्लग्गदि मारा	८७१ २००३
जिदरामो जिददोसो	७५० १६९३	ओ हु सदिविप्यहूणो	८२२ १८३७
जिज्जाए वि लिहूंतो	३६८ ४८३	ओ मच्छिज्ज विसादं	७०५ १५३०
जिज्जामूलं बोलेइ	७४० १६५६	ओमामाविदकरणो	४५ २२
जीवगदमबीवगदं	४२२ ८०४	ओमेहि विचित्तोहि दु	२५९ २५५
जीववहो अप्पवहो	४८७ ७९३	ओग्गमकारिज्जवंतो	२९७ १९२
जीवस्स कुजोणिगदस्स	६३६ १२७१	ओग्गं कारिज्जवंतो	२२८ १९४
जीवस्स गत्थि तिसी	६३१ १२५७	ओ जस्स बहुदि हिंदे	७८४ १७५८
जीवस्स गत्थि तिसी	७३८ १६४८	ओ चाए परिणमित्ता	८४७ १९१६
जीवाण गत्थि कोई	७७१ १७३०	ओ जारिसओ कालो	४४५ ६७०
जीव सु मित्त चित्ता	७४९ १६९१	ओ जारिसीय मेत्ती	२५५ ३४५
जीवो अणादिकालं	४६२ ७२७	ओ णिक्खवणपवेसे	३५९ ४५७
जीवो कसामवहुलो संतो	४९७ ८११	ओ पुण इच्छवि रमिदुं	६३३ १२६२
जीवो बंभा जीवम्मि	५१३ ८७२	ओ पुण एवं ण करिज्ज	६९८ १५०२
जीवो मोक्खपुरक्कड	८२७ १८५१	ओ पुण धम्मो जीवेण	७७६ १७४७
जुज्जं पोच्चल मइलं	५६५ १०९०	ओ पुण मिच्छादिद्वी	९७ ५४
जुज्जो व हरिहो वा	५३२ ९५०	ओ भत्तपदिज्जाए	८७६ २०२४
जुत्तस्स तवधुराए	४४२ ६६०	ओ भत्तपदिज्जाए	८८८ २०७९
जुत्तो पमाणरइओ	४३६ ६४४	ओ भावणमोक्कारेण	४७३ ७५५
जूगाहिं य लिक्खवाहिं	१२३ ८८	ओ महिलासंसग्गी विसंव	५६६ १०९६
जे आत्ति सुभा एण्हिं	६७४ १४१०	ओ मिच्छलं गंतूण	८६० १९५९
जे गारव्हं हि रइिदा	३९६ ५४६	ओ वि य विणिप्पडंतं	१७९ १४२
जेट्टामूलं ओण्हे	५१८ ८९०	ओ वि य विराधिपवंसण	८६५ १९८१
जेजेगमेव दब्बं	८३७ १८७७	ओ सव्वं पि पलितं	२७० २८६
जे पुण सम्मानाओ	०७ ५३	ओ सम्मतं खवया	८५९ १९५७
		ओ होदि जघाच्छंदो	६४५ १३०५

	पृ०	गाथा	पृ०	गा०
श्राण करेद् कथयस्वो	८४१	१८८८	४२७	६०९
श्राणं कसायवाहे	८४२	१८९३	५०४	८३२
श्राणं कसायपरचक्क	८४२	१८९४	७३५	१६३६
श्राणं कसायरोगेसु	८४२	१८९५	८६५	१९८२
श्राणं कसायवादे	८४२	१८९२	४८५	७८३
श्राणं किलेससावद	८४२	१८९१	७४२	१६६४
श्राणं पुषत्तसवितक्क	८३४	१८७२	१९२	१५०
श्राणं विसयसुहाए	८४२	१८९६	७५४	१६९५
शाणापदेहि इदिय	६७०	१३९३	७०४	१५२८
शाणेण य तह् अप्पा	८९८	२१२३	३०१	३६४
शाणेण य तेण अघक्खा	८९२	२०९४	४७९	७७३
श्रायंतो अणगारो	८५२	१९४१	६६५	१३७४
			५७४	१११८
			६२९	१२४९
			४१४	५९७
			५१८	८८९
			८०८	१८१४
			८८३	२०५८
			७४२	१६६७
			६५५	१३३७
			६६५	१३८९
			८२४	१८४४
			६९९	१५०१
			६९५	१४५३
			७	७.६
			२७१	२
			२७१	२८९
			८५०	१९३०
			२२२	१८३
			३१	११
			४७८	७६९
			६५४	१३३३
			६५४	१३३१
			४७८	७६८
			६५४	१३३२

	पृ०	पा०		पृ०	पा०
नाथं पि पुणे नासेदि	६५४	१३३४	निळ मधुरं हिवर्यं	३६६	४७८
नाथासेसे कुसलो	१९२	१५०	निघजगमनयेयन्ने	७३५	१६३५
नामुज्जोएय विणा	४७८	७७०	निळं मधुरं हिवर्यंनमं	४३९	६५२
नामस्य केवलीनं	२२२	१८३	निष्णं पि विसयहेतुं	५२१	९०२
नामुज्जोओ जोओ	४७७	७६७	निघजगमनं एवमने	७२९	१६०९
नाने बंसनसववीरिये	४२०	६१२	निप्पस कंटइस्सं	४००	५५७
नाणेण इब्बभावा	१३३	१००	निप्पादिता सगणं	८७६	२०२६
नाणोयओगरहिवेण	४७४	७५९	निरएसु जेदणामो	७११	१५५७
नामनसयेण तेवो	८९८	२१२०	निरयकडियम्मि पत्तो	७१२	१५६१
नावाए निब्बुडाए	७०७	१५३८	निरमगदियानुपुब्बं	८९०	२०८९
नावामदाब बहुमइ	७६३	१७१३	निरयतिरकसगदीसु य	७११	१५५६
नासादि बुद्धी जिम्भावसस्स	७३६	१६३९	निस्सकमस्स कम्मस्स	७७१	१७२९
नासादि मयी उविष्णे	७६७	१७२४	निलमी कलीए अलियस्स	५३८	९७६
नासेज्ज अगीदत्थो	३३७	४३१	निवदि विहूणं खेतं	२७३	२९७
नासेहुण कसामं	६६२	१३५८	निब्बवएण तवो से	३७६	५०७
नासो अरथस्स खओ	५३९	९७८	निब्बावस्स य सारो	३५	१३
निउणं विउलं सुद्धं	१३०	९८	निब्बावइणु संसार	९०२	२१३८
निघज्जणपवेसाविद्यु	१९३	१५२	निसिदिता अप्पाणं	४३६	६४५
निक्खेवो निब्बती	४९५	८०७	निस्सल्लस्सेव पुणो	६१२	१२०८
निग्गहिदिवियवारा	२८३	३१५	निस्सल्लो कदसुद्धी	४५९	७२०
निग्गंघं पब्बयणं	७८	४२	निस्संगो चंवे सवा	५८८	११६९
निष्णं दिया य रत्ति	५११	८६२	निस्संघो य अपोस्सो	४३६	६४३
निष्णं पि अमज्जत्त्वे	६७२	१३९९	णीचत्तणं ब जो उज्जत्तं	६२१	१२२८
निष्णवया भावरिया	४५९	७१९	णीचं ठाणं णीचं	१६५	१२२
निष्णावया य दोष्णिवि	४४६	६७२	णीचो ब णरो बहुगं	५१९	८९५
निष्णुद्धं पि य पासिय	३४०	४४५	णीचं पि कुणदि कम्मं	५२१	९०३
निहं जिणाहि निष्णं	६८१	१४३४	णीचो वि होइ उच्चो	६१८	१२२२
निहूचओ व इड्ढाणदा	२५४	२४३	णीयल्लवो व सुएवेण	६८७	१७५८
निहा तजस्स सरिसो	६८३	१४४२	णीयल्लगोवि रुट्ठो	६६३	१३६५
निहा पचका य हुवे	८९२	२०९६	णीमा अत्था देहादिया	७७५	१७४५
निळं मधुरं ममीरं	३७८	५०४	णीमा करंति विणं	७८४	१७५९
निळं मधुरं पस्सावनिज्ज	६९९	१५०९	णीमा सत्तु पुरिसस्स	७८४	१७६०
निळं मधुरं ममीरं	२६९	२८२	णीहदिय पणिघाणं	१५०	११७
निळं मधुरं हिवर्यं	३६५	४७७	णीरुण णवसवाइं	५४८	१०२२

	पृ०	मा०		पृ०	मा०
तत्काल तदाकाल	७९१	१७७१	तम्हा तिबिहूँ वोसरि	४५१	६८९
तद्भवसावर्णं चिय	८६६	१९८५	तम्हा तिबिहेवि तुयं	५९८	११८४
तत्त्व-पत्त-कट्टळारिय	४००	५५८	तम्हा पडिचरियाणं	३८५	५२३
तम्हा अर्णतसुतो	७२७	१६००	तम्हा पव्वज्जादी	३९०	५३२
तम्हा-सुहादि-परिदाविदो	४८१	७७७	तम्हा सत्तलमूलं	३९६	५४८
तम्हादिएसु सहणिव्वेसु	३०९	३९४	तम्हा सब्बे सगे	५८९	११७३
ततो णुंसमित्थीवेदं	८९१	२०९१	तम्हा सा पव्वज्जा	५४१	९९६
ततो णंतरसमए	८९२	२०९७	तम्हा सो उद्धहणो	४७६	७७४
ततो दुक्खे पंथे	१७६	१३८	तक्खणस्स वि बरगं	५६२	१०७७
ततो मासं बब्बुदभूदं	५४३	१००२	तक्खणेहि सह वसंतो	५६१	१०७३
तत्त्व अवाओवायं	४५२	६९५	तक्खणो वि बुद्धसीलो	५६०	१०७०
तत्त्व अविचारभत्तप	८७१	२००५	तवभावणाए पंचेदियाणि	२२६	१९०
तत्त्व जिदाणं तिबिहूँ	६१३	१२०९	तव भावणा य सुदसत्त	२२५	१८९
तत्त्व पढमं गिरुद्धं	८७१	२००६	तवमकरितस्सेवे दोसा	६८६	१४५२
तत्त्व य कालमणंतं	३६३	४७०	तवसंजमम्मि अण्णेण	४१२	५९०
तत्त्व वि साहुक्कारं	७०३	१५२४	तवसा चेव ण मोक्खो	८२६	१८४८
तत्त्वोवसमियसम्मत्तं	६६	३०	तवसा विणा ण मोक्खो	८२३	१८४०
तद्विओ णाणुष्णादो	३८६	५२२	तव्विबरीदं मोसं	६०२	११८८
तदियं असतवययं	५०१	८२२	तव्विबरीदं सब्ब	५०३	८२८
तथ चेव सुद्धममणवच्चि	१	२११२	तस्स अवाओपायाविदंसी	३६१	४६४
तथ रोसेण सयं पुव्वमेव	१	१३५७	तस्स ण कप्पादि भत्त	११२	७५
तम्हा इह-परलोए	४९७	८१५	तस्स गिरुद्धं भणिदं	८७२	२००७
तम्हा कलेवरकुडो	७४४	१६७२	तस्स ण भावो सुद्धो	६८५	१४४७
तम्हा सवएणाओपाय	३६४	४७५	तस्स पडिष्णाभेर	६९९	१५०८
तम्हा गणिणा उप्पीलणेण	३७०	४८७	तह अष्णाणी जीवा	७९४	१७७८
तम्हा चेदिळ् क	३०६	११९८	तह अप्पणो कुलस्स य	७०२	१५२०
तम्हा जिणवयणरुइ	३६४	४७२	तह अप्पं भोगसुहं	६३०	१२५३
तम्हा ण उच्चणोवत्तणाई	६२१	१२२९	तह आयरिओ वि	३६८	४८२
तम्हा ण कोइ कस्सइ	७८३	१७५७	तह आवइपडिक्कलदाए	७०१	१५१६
तम्हा णाणुबओगो	४७७	७६५	तह चेव णोकसाया	२६४	२७०
तम्हा णिव्विसिदब्बं	३५९	४५६	तह चेव देसकुलजाइ	३३७	४३३
तम्हा णीया पुरिसस्स	७८५	१७६२	तह चेव पवयणं सब्बमेव	३७५	४९५
तम्हा इ कसायग्गी	२६४	२६९	तह चेव मच्चुवग्घपरद्धो	५५७	१०५८
			तह चेव य तहं हो	७१२	१५५९

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
तद् वैव सयं पुत्रं	७३२	१६२२	तिविहा सम्मत्ताराहणा	९४	४८
तद् बाण बहिषाए	४८५	७८७	तिहि ब्रह्मि पंचहि वा	४२१	८०२
तद् भाविष सामञ्जो	४५	२३	तीसु वि कालेसु सुहाणि	१०३	२१४५
तद् मरद् एककवो वैव	७७५	१७४४	तुष्सेत्वा बारसंगमुद	३८१	५१२
तद् मिच्छत कद्रुणिगे	४६४	७३३	तुस्तेल्लपि पियतो	६४७	१३११
तद्-भुज्जंतो कववो	६९७	१४९९	ते अदिसूरा जे ते	५६९	११०६
तद् वि य चोरा चारभडा	५८१	११४६	ते अप्पणो वि देवा	७३०	१६१२
तद् विसयामिसवत्थो	५२०	८९९	तेवो वि इंदवणु तेज	७६६	१७२०
तद् सबमगुणभरिदं	३७९	५०६	तेवो पम्मा सुक्का	८४५	१९०३
तद् सामण्ण किच्चा	६३७	१२७४	ते चैव इवियाणं	६५८	१३४५
तद् सिद्ध चैविए पवयणे	४६८	७४६	तेजाए लेस्साए	८४७	१९१५
सं एवं जाणंतो	३९६	५४७	तेण कुसमुट्टिवाराए	८६४	१९७७
सं गत्थि जं ण लब्भइ	६९०	१४६७	तेण परं अवियाणिय	३१७	४१६
सं न क्षमं सु पमादा	३६३	४७१	तेण परं संठाविय	८६३	१९७४
सं पुण पिच्छ जोगो	८३९	१८८३	तेण भयेणारोहइ	५८१	११४५
सं मिच्छतं जमसइहणं	९८	५५	तेण रहस्सं भिवत्तएण	३७३	४९१
सं बत्तुं भोत्तव्वं	२६२	२६४	तेणिककमोसहिंसारक्ख	७५५	१६९८
सं सो बंधणभुक्को	८९८	२१२१	ते तारिसया माणा	५२९	९३५
ताडण तासण बंधण	७२२	१५७७	ते घण्णा जे जिणवर	८३३	१८६७
ताणि हु रागविवागाणि	९०३	२१४६	ते घण्णा जिणघम्मं	८५७	१८५४
तारिसप्रो गत्थि अरी	५३८	९७२	ते घण्णा ते णाणी	८६९	१९९६
तारिसयमभेममयं	८०८	१८१३	तेल्लोक्केण वि चित्तस्स	६६९	१३८६
ताव क्षमं में कायुं	२०९	१६२	तेल्लोक्कजोविदादो	४८४	७८१
तिणिण य बसंजलीजो	५४९	१०२८	तेल्लोक्कमत्थयत्थो	९०१	२१३४
तितीए असंतोए	५७९	११३९	तेल्लोक्क सब्बसारं	८४८	१९१९
तित्थयरचक्कधरवासुदेव	५४०	९९०	तेल्लकसायादीहिं य	४२०	६८७
तित्थयर पवयणमुदे	७३५	१६३२	तेल्लोक्काडविडहणो	५६९	११०९
तित्थयराणां कोवो	२८१	३१०	ते वि कदत्था घण्णा	८७०	२०००
तित्थयरो चहुणाणी	२७८	३०४	ते वि य महाणुभावा	८७०	१९९८
तिबरण सव्वावासयु	३८०	५११	तेसि असइहंतो	४१४	५९८
तिरिययदि अणुपत्तो	७१८	१५७६	तेसि आराधणणायगाण	४६९	७४८
तिरिययदीए वि तहा	५१२	८६६	तेहिं चं वदानं	५९२	११७९
तिविहं तु भावसल्लं	३९४	५४१	तेसि पंचण्हं पि य	५९३	११८०
तिविहं पि भावसल्लं	३९५	५४५	ते सूरा भयवंता	८६९	१९९५

	पृ०	वा०		पृ०	वा०
ते भावविम उषस्य	४५६	७०९			
सो सप्रीलेदन्वा	११६	४७९	वदद्दु वि अनेकामिव	५४२	१९९
सो एतत्तुभवयो	३९९	५५४	वदद्दुन अण्णदोसं	३०३	१७४
सो खवपययण कमलं	६९१	१४७२	वदद्दुन अण्णवापो	६६५	१३७०
सो चाचिळम रसं	५३६	९६५	वदद्दुन परकलसं	५२५	९६८
सो मण्णा सुत्तविदू	४२९	६२५	वदद्दुण्यो सुकवहो	४७९	७७२
सो तस्स उत्तमट्ठे	३८३	५१७	दमणं च हरिषपावत्स	७२४	१५८९
सो तस्स तिगिण्ळा जाणएण	६९५	१४९२	दब्बपयासमकिण्णा	४५१	३८८
सो ते कुसीलपडिसेवणा	१४३	१२९६	दब्बसिधि भावसिधि	२१८	१७५
सो ते सीलदरिहा	६४५	१३०३	दब्बं सेतं कालं	३५६	४५२
सो दंसणचरणाधारएहि	४१३	५९६	दब्बाहं अणेवाहं	८३५	१८७४
सो पण्ळिममि काले	२२०	१७८	दसविष पाणाभावो	९००	२१३०
सो पडिचरिया सबमत्स	८४३	१८९९	दसविहृत्तिविकप्ये वा	३१९	४२२
सो पाणएण परिमाविदत्स	४५४	७०१	दंडकसारुदित्तसादाणि	७२४	१५८८
सो भट्टोविकलाभो	३६३	४६९	दंडण-मुंडण-ताडण	७२४	१५८७
सो भावणादियंतं	६४०	१२८५	दंडो जलणावकणे	७०९	१५४९
सो वेदजावसट्टो	६९६	१४९७	दंताणि इ विद्याणि य	२५१	२४०
सो सत्तमम्मि मासे	५४५	१०११	दंतेहि चम्मिदं वीकणं	५४५	१००९
सो साधु सत्थ पंचं	६४२	१२९१	दंसणणाणवरितं	७७४	१७४१
सो सो अविग्गहाए	८९९	२१२५	दंसणणाणवरितं	७५०	१६९२
सो सो एवं भणिओ	३९७	५५१	दंसणणाण चरिते	८५०	१९२८
सो सो खवओ तं अणुसट्ठि	६९१	१४७५	दसणणाणवरिते	३९७	५५०
सो सो लीणकसाओ	८९१	२०९३	दंसणाणादिचारे	३७०	४८९
सो सो वेदयमाणो	८९४	२१०१	दंसणणाणविहूणा	८५९	१९५८
सो सो हीलणमीरू	३६७	४६३	दंसणणाणसमगो	८९४	२१०२
धामापहृर पासत्थदाए	४०७	५७१	दंसणणाने तवसंबने	२८७	३२२
धूणओ तिण्णि वेहम्मि	५४९	१०२६	दंसणमट्टो भट्टो	४६६	७३७
वेरत्स वि तवसिस्सवि	२९१	३३३	दंसणमट्टो भट्टो	४६६	७३८
वेरा वा लक्ष्णा वा	५५९	१०६४	दंसणमाणहृतिण	१२	४
वेरो बहुसुदो वा पण्णई	५६५	१०९२	दंसणसुवत्तवचरण	८२९	१८६०
वोलाइदुण पुब्बं	३६०	४६२	दंसण सोषी तिक्किरण	१८१	१४४
वोलाइदुण पुब्बं मानी	७०१	१५१४	दंतेहि य मसएहि य	७०८	१५४६
वोवाइमत्स कुलवत्स	७०२	१५१७	दाळण जहा अत्थं	६३७	१२७३
			दारिइं अट्ठितं	८०५	१८०९

	पृ०	पा०		पृ०	पा०
सारथ्य सारवाको	८२२	१८१६	वेदिव चक्रकण्ठी	६३२	१५५९
सार्थं च वर्णं भवसं	१८०	१४३	वेदिव चक्रकण्ठी	१०३	२४४२
विट्ठं पि च स्रग्भवं	५३७	९७०	वेदिव रामयतुवह	५१३	८७०
विट्ठं च अविट्ठं वा	४०८	५७७	वेवेहिं श्रीविद्यो वि हु	२३०	१९८
विट्ठञ्ज अनादिनिष्ठाविट्ठो	३९	१७	वेवो भाभो संतो	७२५	१५१४
विट्ठञ्जमुत्तमुत्तविसयानं	५६५	१०९१	वेसकुलकवमारोग्य	८३०	१८६३
विचक्षेण बोधनस्यं	१०१	५८	वेसं भोष्वा हा हा	४५२	६९२
विष्णे भोमे अञ्छरसाभो	७२५	१५९५	वेसानासिच्य सुतं	५७२	१११७
वीरता रोसाचिता	७२३	१५८९	वेलेक वेसविरवो	८८७	२०२२
वीरहं कलं च ममताग्निद्या	६२९	१२५१	वेहृत्तियवंधपरिमोक्षकत्वं	८९७	२११७
वृणक्षयस्य कम्मवक्षय	६१६	१२१९	वेहृन्मि मञ्जुलिने	५४९	१०२७
वृणक्षस्य पञ्चिनरंती	७९७	१७८९	वेहृस्स वीयणिप्पत्ति	५४१	९९७
वृणसं उप्पायिता	६३४	१२६५	वेहृस्स काववं नेहृसंविनो	२५५	२४६
वृणसं निद्वीधत्त्वस्सा	७४१	१३५८	वेहृस्स सुक्कसोणिय	५४२	९९८
वृणसं च भावितं होदि	२५२	२४१	वेहे कुहादिमहिदे	६२६	१२२३
वृणसं अनंतकुतो	७९४	१७८०	वेसेहिं तेहिं बहुयं	७९७	१७९०
वृणक्षेण वेणवापुसभोमे	६३५	१२७०			
वृणक्षेण कभदि मापुस्स	४८२	७८०	वचिदं पि संजमंठो	१०१	५९
वृणक्षेण कहुहं बीवो	३६१	४६५	वज्जा हु ते मपुस्ता	२७५	३०१
वृणचपुमनेयपावा	७७२	१७३२	वज्जो सि तुमं सुविहिं	३८२	५१५
वृणचपसंसग्गीए	२९५	३४६	वत्ति पि संजमंतो	५१२	८६४
वृणचपसंसग्गीए	२९५	३४८	वम्मस्स क्वत्तणं से	७५९	१७०४
वृणचपसंसग्गीएवि	२९६	३५१	वम्मं चटुप्पयारं	७५१	१६९४
वृट्ठञ्ज चवला अदि	६४६	१३१०	वम्माधम्मागासाणि	७१	३५
वृविचं तं पि अणीहा	८७३	२०१०	वम्माभावेण हु लोमग्गे	९००	२१२८
वृविहं-परिणामवायं	७८८	१७६६	वम्मेण होदि पुज्जो	८२७	१८५२
वृविहं तु भरतपञ्चवसाण	१०६	६४	वाहुमदं बहु कजय	८२६	१८४७
वृविहा पुण विजवयणे	१०	३	वादो ह्वेज्ज अण्णो	४१२	५८९
दुस्सहपरीसहेहिं च	२७७	३०३	वावदि विरिणदिसोदं	७६५	१७१८
द्वोवो वंभणिक्कणो	५७७	११२५	विदिखेवएहिं इं विकंठे	६७१	१३२५
द्वरेण सापुसत्वं	६४४	१३००	विदिचणिदवट्टकण्ठो	२३५	२०५
द्वैवतं मापुसतोवं ते	७२३	१५८३	विदिचणिय बट्टकण्ठो	७०५	१५३३
द्वैविममापुसभोमे	६१५	१२१३	विदिवलकरमायदिहं	३७९	५०७
द्वैविद चक्रकण्ठी	७३९	१६५०	विदिचम्मिण्हि उवसम	६७२	१४००

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
कीरत्तनमाहृष्यं	७३७	१६४०	पदमकक्षरं च एकं	७६	३८
कीरपुरिस विष्ण्वाहं	४०६	५७०	पद्भट्ट बोधिलाभा	६३९	१२८०
कीरपुरिसपञ्चत्तं	७४४	१६७१	परगणवासी य पुणो	३०७	३८९
कूक्षी केकुपुष्पिमाते	८०९	१८१७	परदम्बहरणमुद्धी	५१२	८६८
			परदम्बहरणमेदं	५११	८५९
			परदोसगहनलिच्छो	२९६	३४९
पञ्चमिपत्तं व जहा	६०६	११९५	परमिच्छदाए जं ते	७२३	१५८५
पञ्चकामयासयत्वा	५४९	१०२५	परमिद्धि पतार्णं	९०२	२१४१
पक्षिवाय चाउम्मासिय	४१२	५९२	परमहिलं सेवंतो	५२५	९२१
पगदे गिस्सेसं गाहुए	३७८	५०३	परलोगणिप्पिवासा	८५८	१९४९
पगलंत रुधिरधारो	७१८	१५७४	परलोगम्मि य चोरो	५१२	८६५
पगुणो बणो ससल्लं	४१४	५९९	परलोगम्मि वि दोसा	५०६	८४४
पञ्चकक्षाणपडिक्कमणु	४५७	६८६	परिददुद्धसञ्चच्चम्मं	५५०	१०३२
पञ्चकक्षाणं क्षामणं	१०७	६९	परिभागम्मि नसति	६७९	१४२७
पञ्चाहरितु विसयेहिं	७५७	१७०२	परमाणू वि कहुंविचि	५३५	९५९
पञ्चिय सम्मं देहं	८५०	१९३१	परियाद्दगमा लोच्चिय	८७७	२०२७
पडहृत्पत्त न तित्थो	५७९	११३१	परिचिद्धिदोवधानो	२६५	२७१
पडिक्कविदे विसज्जे	७३१	१६१८	परिहर असंतवयणं	४९८	८१७
पडिचरए आपुष्णिय	३८५	५२०	परिहरइ तरुणगोट्ठी	५६२	१०७८
पडिचोदना सहणदाए	३०८	३९१	परिहर छञ्जीवणिकायवज्जं	४८०	७७५
पडिचोदना सहणवाय	२६४	२६७	परिहर सं मिच्छत्तं	४६२	७२५
पडिमापडिचण्णा वि हु	८८५	२०६५	परुसवयणादिगोिं	६९९	१५०७
पडिक्कवायसंफासणदा	१६६	१२३	परुसं कडुयं वयणं	५०२	८२६
पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ	१२९	९६	पवयणणिष्कवयाणं	४१७	६०७
पडिसेवणादिचारे	४२६	६१९	पव्वञ्जाए सुद्धो	८७६	२०२५
पडिसेवणादिचारे	४२७	६२०	पव्वञ्जादी सम्बं	३९३	५३७
पडिसेवादो हाणी	४२८	६२२	पव्वञ्जादी सम्बं	३८२	५१३
पडिसेविस्ता कोई	४२९	६२४	पव्वदमिता माणा	५२८	९३४
पडमं नसंतवयणं	४९९	८१८	पस्सदि जाणवि य तथा	९०१	२१३५
पडमेण व दोवेण व	३३८	४३९	पट्टिया उवासये जह	७८२	१७५३
पडमे सोयदि वेणे	५१८	८८७	पंचच्छ सतसदाणि जौयणाणं	३११	४०३
पणिधानं पि य दुविहं	१५०	११५	पंचमहृत्त्वयजुस्ता	२८६	३२१
पत्तस दावगत्तस य	२४२	२२३	पंचमहृत्त्वयजुस्ता	४६०	७३२
पत्थं हिदवाणिट्ठं	२९९	३५९	पंच य अनुत्त्वदाहं	८८७	२०७३
पत्थं हिदवाणिट्ठं	२९९	३६०	पंचविधे आयारे	३३५	४२५
			पंचविहं वे सुद्धि	२११	१६६

	पु०	गा०		पु०	गा०
पंचविहं के सुद्धि	२१२	१६७	पासत्यादीपत्रयं	२९३	३४१
पंचविहं बकहारं	३५५	४५०	पासत्यादी पासत्यास्त	४१६	६०३
पंचसमिदा सिगुला	८४९	१९२५	पासित्यु कोइतादी	४५१	६९०
पंचवै अतिथकावा	७६०	१७०६	पासिध सुष्वा व सुरं	५६२	१०७५
पंचेद्विमप्यकारो	४३२	६३४	पासेहि अं व गाढं	७१७	१५७१
पंचरमुक्को सउणो	६४८	१३१४	पासो व बंविहुं के	९३९	९८०
पंडितपंडितदमरं	६०	२६	पाहाडवायु अंजन	५५२	१०४०
पंडितपंडितदमरने	६१	२७	पियधम्मवज्ज मीह	१९०	१४७
पंच छंडिय सो जाधि	६४२	१२९३	पियधम्मा बद्धवम्मा	४३७	६४६
पाउसकाल्मदीवोम्ब	५३२	९४८	पियविप्ययोग दुक्कं	७२३	१५८४
पाओवएण अत्थो	७७०	१७२६	पित्थेदूण रठंतं	३६८	४८१
पाओवएण सुट्ठुधि	७७१	१७२७	पिण्डं उवहिं सेज्जं	२७१	२९०
पाओवगमममरणस्स	८८३	२०५७	पिड उवाधिं सेज्जं	२७२	२९१
पाओवाभिमुहो वा	८७८	२०३१	पिड उवाधिं सेज्जा	२७३	२९२
पाओपोदीधिमुहो	४०१	५६२	पिडोवाधिं सेज्जाए	४१८	६११
पाओपोदीचीमुहो	३९७	५५२	पीजात्थधिदुबधना	५५४	१०४९
पाडयणियंसणमिक्खा	२४१	२२१	पीदी भए य सोणे	६८१	१४३६
पाडलिपुत्ते धूदाहेदुं	८८६	२०६८	पुज्जो वि जरो	६६४	१३६६
पाडलिपुत्ते पंचालमीद-	६६०	१३५०	पुढविदगागामिपवणे	४१८	६१०
पाडेदुं परसू वा	५३९	९८३	पुढवी आळ तेळ	८८४	२०६०
पाणयमसिन्नं परिपूर्यं	६९४	१४८६	पुढवी सिलामओ वा	४३४	६३९
पाणिदळघरिदगंडो	५१६	८८१	पुणरवि तहेव तं संसारं	७३८	१६४७
पाणवधयुसाबादा	८८७	२०७४	पुण्णोदएण कस्सइ	७७१	१७२८
पाणो वि पाडिहेरं	४९८	८१६	पुरिसत्तादिणिदाणं	६१६	१२१८
पादे कंठयमादिं	८८२	२०५१	पुरिसत्तादीणि पुणो	६१७	१२२०
पादोसिय अविकरणिय	४७०	८०१	पुरिसत्स अण्यसत्थो	५६१	१०७४
पापविसोत्तिग परिणाम	१६८	१२७	पुरिसत्स दु वीसंभं	५२९	९३८
पापस्सासवदारं	५०६	८४३	पुरिसत्स पावकम्मोदएण	७२८	१६०५
पायोपगमममरणं	६४	२८	पुरिसत्स पुणो साधू	७८५	१७६१
पावह बोसं मायाए	६६६	१३७८	पुरिसं बधमुवणेदि ति	५३७	९७१
पावपवीणा मणवधिकवा	८१३	१८२७	पुरिसो मक्कडिसरिसो	६६३	१३६३
पावपवीणासवदार	८१९	१८३३	पुब्बकदकम्म सडणं	८२३	१८४१
पावं करेधि बीणो	७७४	१७४२	पुब्बकदमज्जाकम्मं	७३३	१२२४
पासत्यास्तवसहस्सादो	२९८	३५६	पुब्बकदमज्जापावं	६७७	१४१९
			पुब्बभणियेण विधिणा	८८९	२०८५

क	पृ०	पा०		पृ०	पा०
कर्म तयो विहंसं	२९४	३४२	बहुलतयो विहारो	२६९	२८३
कर्म तयो विहंसं	५६३	१०८०	बन्गरनडको विज्यो	५७७	११२६
कर्मणाए वारयेज व	३७३	४९२	बन्गरसर्गवपुलं	४०५	५६८
कद्रुज व सम्मत्तं	९७	५२	बत्ता कता व मुणी	३७७	५०२
कद्रुज वि तेलोक्कं	४६७	७४२	बदमंबभरिदमासिद्वि	६४०	१२८३
कद्रु सु वि तैसु पुनो	८३२	१८६४	बधमन्धरोधधमहरण	४८७	७९५
कधिष्णंतो अहिना	६४९	१३१७	बमिगं अनेष्णसरितं	५४५	१०१०
किं व होवि अम्भंतरस्त	६५७	१३४४	बमिदा अनेष्णमण्णे	५४४	१००७
कीनो वि मट्टियाए	५६०	१०६८	बमियं व अनेष्णं वा	५४६	१०१२
केस्तापोथी अण्णवसाण	८४५	१९०५	बयणकमलेहि गणिजनि	६९१	१४७३
केगन्नि अरिप पक्खो	५१०	८५७	बयणपाडवति कुसलताणं	५२२	९०६
केगणासपएसा	७९२	१७७४	बबहारमयाणंतो	३५८	४५४
कोनो विलीयवि इनो	७६२	१७११	बसदीए पकिविदाए	७१०	१५५२
कोचकदे मुंडलं	१२३	८९	बसवीसु व उववीसु य	१९६	१५५
कोने कए वि अत्तो	९८०	१४३१	बंदणभत्तीमितेण	४७०	७५१
कोनेनासावत्तो पावइ दोसे	६६७	१३८१	बाइय-पित्तिय-सिम्मिय	५५४	१०४७
कोनो तणे वि बादो	६६८	१३८४	वादी चत्तारि जणा	४४५	६६८
कोहेण पीवमुदयं व	३७०	४८८	वाडुब्भामो व मणो	१७५	१३६
कोने पवडिठे पुज	५०८	८५१	वायणपरियट्ठण पुण्णमाओ	८८१	२०४६
			वायाए अकहंता	३०२	३६८
			वायाए जं कहणं	३०१	३६७
			वारवदी य असेसा	६६४	१३९८
वइरंरदणेसु अहा	८४१	१८९०	वाहभयेण पलादो	६४८	१३१३
वणपपरत्तो लमो	५५७	१०५७	वाहिज्ज दुप्पसज्जा	१०८	७०
वणविसिखोरअणिग	५३१	९४६	विक्खेवणी अणुरदस्स	४४१	६५७
वणवादीणं दोसे	५४०	९८६	विच्छिण्णोबंभो	७१७	१५७३
वणवादीया एदे	५३१	९४३	विज्जा अहा पिसायं	४७५	७६०
वणो सुखेण मययं	६३०	१२५२	विज्जा वि वत्तिवत्तस्स	४६८	७४७
वण्णीहि अवदवणता	६९६	१४९४	विज्जावचणत्तस्स गुणा	६९५	१४९१
वण्णममणुब्भाचमिह	६११	१२०३	विज्जाहारा व बल्लेव	७७३	१७३८
वण्णेवि वंमचारी	१२७	९३	विज्जू व वंमले केण	८०६	१८०६
वण्णेह अण्णमता	२९१	३३२	विज्जू व वंमलाइ	७६२	१७१२
वण्णेहि वयणकप्यं	२७०	२८७	विज्जो सहमंतवळं	७७२	१७३४
वण्णो व णिण्णमाओ	५५६	१०५६	विज्जावदि सुरग्गी	५१९	८९२
वट्ठेसि अपरिदंता	४५८	७१५			

	पृ०	पा०		पृ०	पा०
विद्युत्पुष्पो विष्णो	५५१	१०३७	बोहुं विलासि देहं	२६५	२७३
विष्णव्यं विष्णुमस्त	१७०	१३०	बोलंज्यं चंकरंतो	७७३	१७३९
विष्णो पृथ पंचविहो	१४२	१११	बोसट्टुचतसहो	८८४	२०६२
विष्णो मोक्षहारं	१७०	१३१	बधिय णिसुडिय पडियो	२६८	२८०
विज्ञासो य अफुडियो	४३५	६४१			
विधिना कवस्त सस्तस्त	४६९	७५०			
विमलाहेतुं बकिण	८०४	१८००	सकं हविज्य ददुदु	५३५	१६१
विषडाए अविमडाए	२४५	२३१	सकफारं उवकारं	५३०	१४२
विरियंतरायमलसतणेण	६८५	१४४९	सकफारो संकारो	५१४	८७४
विषहाहिं एसणाहिं य	२५७	२४९	सकफा बंसी छेतुं	३३८	४३६
विबिहाओ जायणामो	५८४	११६०	सक्लीकवराय हीलण	७३४	१६३१
विष्णोवतिससदंतो	५६९	१०८	सक्लीकदरायासादणे	७३५	१६३३
विसएहिं से ण कज्जं	९०४	२१४८	सगडालएण वि तथा	८८६	२०७०
विसयमहापंकाउल	६८८	१४६२	सगडो हु अइणिगाए	५६६	१०९४
विसयवणरयणलोला	६७३	१४०७	सगणत्थे कालगदे	८६७	१९८९
विसमसमुहं बोव्वण	५७०	१११०	सगणे आणाकोवो	३०७	३८७
विसयाडवीए उम्मग	८२८	१८५५	सगणे व परगणे वा	३०३	३७१
विसयाडवीए मज्जे	६४०	१२८६	सगुणम्मि जणे सगुणो	३०२	३६९
विसयाभिसारगाढं	७९६	१७८५	सच्चम्मि त्तो सच्चम्मि	५०५	८३६
विस्साकरं रुवं	११८	८३	सच्चवं अवगददोसं	५०८	८३५
वीरपुरिसेहिं अं	६९२	१४७९	सच्चवं असच्चमोसं	६००	११८६
वीरमदीए सुल्लगद	५३१	९४५	सच्चवं वदंति रिसओ	५०४	८३१
वीरासणमादीयं	८८९	२०८४	सच्चिस्ता पुण मंथा	५८३	११९६
वीरासणं च वड्ढाय	२४३	२२७	सच्चित्तं साहरिदो	८८०	२०४३
वीरियमणंतराय	८९३	२१००	सच्चवेण अगे होदि पमाणं	५०५	८३७
वीसक्खवाए पुरिसो	५६३	१०८१	सच्चवेण देवदाओ	५०४	८३३
वीरं पळिया पंचेत्थ	४९२	८०३	सज्जायकाल पडिलेहणादि	८८१	२०४८
वीसपरुत्तिष्णिमोदय	४९२	८०३	सज्जायभावणाए	१४१	१०९
वुड्ढो वि तरुणसीलो	५६१	१०७१	सज्जायं कुम्भंतो	१३६	१०३
वेत्थवणमाहारव	८८२	२०५२	सट्ठि साहस्सीमो	६६६	१३७५
वेत्थवाचक्करो पुण	२८७	३२३	सड्ढाए बडिडवाए	२८४	३१८
वेत्थेइ विसमहेतुं	५२३	९१३	सज्जाउ कसाए वि	२७४	३००
वेमाणिएसु कप्पोवगेसु	८८८	२०८०	सज्जा-मारव-येसुज्ज	५७५	११२०
वेमाणियो वल्लगदो	८६९	१९९४	सज्जापदीसु उज्जा	६४३	१२९७
			सत तयाओ कालंज्य	५४९	३०२४

	पृ०	भाषा		पृ०	भाषा
सरसीए भरतीए	२८०	३०६	सद्यणे जण्ये य समयना	५१६	८७९
सती बि ण वेव ह्वो	६७६	१४१७	सयमेव अप्पणो सो	८७९	२०३६
सत्थं बहुलं लेखइ	४५४	६९९	सयमेव वंतमसणं	६४९	१३१८
सर्वांसि भरणी अद्दा	८६६	१९८३	सरजूए गंधमित्तो	६६०	१३४९
सदिआउणे सदिवले	२५७	२५१	सरवासे वि पड्ढते	६०६	११९६
सदिमलंभत्तस्स वि कादब्बं	६९८	१५०४	सरसीए चंदिगाए	८०६	१८०४
सदिमंतो विदीमंतो	८५२	१९३७	सलिलादोणि अमेज्जं	८०८	१८१२
सहरसकूबग्गे	१५०	११६	सलिलणिवुढोव्व	५२२	९०८
सह्वदीणं पासं	४४९	६८४	सल्लविसकट्टाहि	६४२	१२९२
सह्वेण मज्जो क्वेण	६५८	१३४७	सल्लं उद्धरिदुमणो	३११	४१०
सह्वे क्वे गंघे	३८७	५२५	सल्लेह्णं करंतो	२६६	२७४
सह्वे क्वे गंघे	६७४	१४०८	सल्लेह्णं करंतो	२१७	१७४
सपरित्ताहस्स अब्बंभ	६२५	१०३९	सल्लेह्णं पयासेज्ज	३३५	४२७
सप्यं बहुलम्मि रण्णे	५८५	११६३	सल्लेह्णं सुणिना	४४८	६७९
समणार्णं ठिडिकप्पो	८६०	१५६१	सल्लेह्णाए मूलं	४४८	६८०
समणस्स भाणिणो	७०२	१५१८	सल्लेह्णा दिसा क्षामणा	१०६	६७
समिदकदो घटपुण्णो	५४२	१०००	सल्लेह्णा परिस्सममिं	७४४	१६७०
समिदा पंचसु समिदीसु	७७४	२९९	सल्लेह्णा य दुबिहा	२३६	२०८
समिदि विठणावमारुहिय	८२२	१८३५	सल्लेह्णा विसुद्धा	७४३	१६६९
समपणियं कजिसेज्जा	२४३	२२६	सल्लेह्णा सरीरे	२५८	२५२
समिदीसु य गुत्तीसु य	३७	१६	सविचारभत्त पञ्चवस्साण	१०४	३५
समिदीसु य गुत्तीसु य	८५७	१९४७	सविचारभत्तवोसरण	८७१	२००४
सम्मत्तास्स य लंभे	४६७	७४१	सव्वगुणं समग्गार्णं	५४१	९९४
सम्मत्तादीचारा	७९	४३	सव्वग्गंयविमुक्को	५०१	११७६
सम्महंसणत्तुम्भं	८२९	१८५९	सव्वजगजीवहिदए	३०६	३८३
सम्भं कदस्स अपरिस्सवस्स	६९०	१४६८	सव्वजयजीवहिदए	३०५	३८२
सम्भं सवएणाकोविदम्मि	४२७	६२१	सव्वत्तो वि विमुत्तो	२९२	३३७
सम्भं सुदिमलहंतो	३३८	४३५	सव्वत्त्व अप्पवसिज्जो	५८९	११७१
सम्भाविद्धिस्स वि	२२	७	सव्वत्त्व इरिक्कम्मग्गि	२९२	३३६
सम्भाविट्ठी वि ञरो	८११	१८२२	सव्वत्त्व निग्गिसेसो	२१६	१७२
सम्भाविट्ठी वीवो	६८	३१	सव्वत्त्व निग्गिसेसो	७४७	१६८४
सम्भोह्णाए काल	८५९	१९५५	सव्वत्त्व दम्पपक्कव	२१६	१७२
समणस्स कक्कस्स पिज्जो	६६५	१३७३	सव्वत्त्व होइ कहुणो	५८८	११७०
समणं मितां आसथ	५११	८५०	सव्वपरिवाइवस्स य	४३१	६३१

	पृ०	पा०		पृ०	पा०
संख्यमि इत्यवगम्यमि	५६७	१०१७	सहस्रं माणुसजन्मं	८१८	१८५७
संख्यसमाधायेण य	८४९	१२२६	सहस्राणाभोगिय दुष्प	४९५	८०८
संख्यसमाधि पठमाए	८९१	१९५५	सहसा चुक्कर कलिष	८८२	२०५०
संख्यस्स वायगार्ण	३०९	३८५	सहस्राणाभोगिद दुष्प	९०४	११९२
संख्यं अधियासंतो	७४३	१६६६	सहिदय सकण्णयाओ	३०५	३८१
संख्यं आहारविधि	८७८	२०३३	संकप्पंडय जादेण	५१७	८८४
संख्यं पि संकमाणो	५८०	११४२	संखिता वि य पवहे	२६९	२८४
संख्यं भोञ्जा धिद्धी	४५२	६९३	संखेज्जमसंखेज्जगुणं	९६	५१
संख्यासु अवत्थासु वि	५४४	१००५	संखेज्जमसंखेज्जं	७२६	१५९८
संख्याहारविधाणेहि	७३९	१६५२	संखेज्जा संखेज्जाणंता	१०२	६२
संखुक्कस्स जोगं	८४९	१९२२	संगावि जहणेण व लहुदयाए	८९८	२१२२
संख्यं रसे पणीदे	२३६	२७९	संगणमित्तं कुद्धी	५८१	११४७
संख्ये वि कोहुदोसा	६६५	१३७२	संगणमित्तं मारेइ	५७४	१११९
संख्ये वि गंधदोसा	६६९	१३८७	संग परिमग्गणादो	५८७	११६७
संख्ये वि जये अत्था	६८०	१४३२	संगो महाभयं जं	५७६	११२४
संख्ये विणिज्जणंतो	८७८	२०३४	संधो गुणसंधाओ	४५७	७१३
संख्ये वि तिण्णसंगा	३८९	५२९	संजदकमेण खवयस्स	४३८	६४९
संख्ये वि य उवसग्गे	७००	१५११	संजदजणस्स य जग्धि	१९६	१५४
संख्ये वि य ते भुत्ता	६७४	१४११	संजदजणावमाणं	२९८	३५७
संख्ये वि य संबंधा	४८७	७९२	संजमरण भूमीए	८२६	१८५०
संख्येसिमासमाणं	४८६	७८९	संजमसाधणमेत्तं	२१०	१६८
संख्येसि उदय समागदस्स	८२४	१८४४	संजमसिहाराकूढो	६१५	१२१४
संख्येसि सामणं	७३३	१६२६	संजममाराहत्तेण	१९	६
संख्येसि सामणं	७३३	१६२७	संजमहेतुं पुरिसत्त	६१४	१२१०
संख्येसु दुब्ब पज्जय	७४६	१६७९	संजोगविप्पजोगेसु	७४६	१६८०
संख्येसु य मुलुत्तर गुणेषु	८५८	१९५०	संजोयणमुक्कग्गणं	४९६	८०९
संख्यो उवहिदबुद्धी	५०९	९५२	संजोयणा कसाये	८८९	२०८६
संख्यो पोगलकाओ	८८०	२०४१	संभाव णरेसु सदा	५३४	९५५
संख्यो पोगलकाओ	८८०	२०४२	संतं सग्गुणं कित्तिज्जंतं	३०१	३६५
संख्यो वि जग्गे सयणो	७८१	१७५१	संते सग्गे अग्धं	३१०	४००
संख्यो वि जहायासे	४८५	७८५	संता वि गुणा अकहितयस्स	३००	३६३
ससग्गे बाह परदो	७९४	१७७७	संता वि गुणा कत्थंतयस्स	३००	३६२
सस्सो य भरघनामस्स	६६७	१३८३	संतो वि मद्दिवाए	५६०	१०९९
			संभारपदोसं वा	३३९	४४५

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
संसारभूततापणे	३७६	४९८	साकेवपुरे सीमंघरस्स	६६८	१३८५
संपत्ति विवत्तीसु व	६३२	१२६०	साचारणं सवीचारं	२४३	२२५
सपत्तिकं चित्सेवजा	२४३	२२६	साधुस्स चारणाए वि	२८८	३२६
संभर सुविहिय जं ते	७००	१५१२	साधुं पडिला हेहुं	५५६	१०५५
संभूदो वि णिवाणेण	६३७	१२७५	साधुस्स णत्थि लोए	२९३	३३९
संरत्तसमारंभारंभं	४९३	८०५	साधेति जं महत्त्वं	५९१	११७८
संरंभो संकप्पो	४९४	८०६	साम सबलेहि दोसं	७१३	१५६३
संवासो वि अणिच्चो	७६३	१७१४	सारीरावो दुक्खादो	७२५	१५९३
संविग्गदरं पासिय	१९०	१४८	सावज्ज संकिलिट्ठो	४२८	६२३
संविग्गवज्जमीरस्स	३११	४०२	सा वा ह्वे विरत्ता	५५५	१०५२
संविग्गस्सवि संसग्गीए	२९४	३४३	साहू जघुत्तचारी	८८९	२०८२
संविग्गं संविग्गाणं	१८९	१४६	सिष्हाणब्भंगुब्बट्ठ	१२६	९२
संविग्गाणं भज्जे	२९७	३५५	सिष्हाणब्भंगुब्बट्ठेर्णेहि	५५२	१०३९
संविग्गो वि य संविग्गदरो	२९७	३५५	सिदिमासहितु कारण	२१९	१७७
संवेगजणिय करणा	२८६	३२०	सिद्धपुरमुक्खलीणा	६४४	१३०२
संवेगजणिदकरणा	४६८	७४४	सिद्धे अयप्पसिद्धे	?	१
संवेगजणिय हासो	२६८	२८१	सिगार तरंगाए	५६८	११०५
संवेयणी पुण क्हा	४४१	६५६	सीदं उण्हं तण्हं	५२३	९१०
संसग्गीए पुरिसस्स	५६४	१०८६	सीदावेइ विहारं	२७२	२९३
संसग्गी संभूदो	५६४	१०८७	सीदुण्हं छुद्धा तण्हा	३७६	४९९
संसयवयणीय तहा	६०४	११९०	सीदुण्हं दंसमसयादि	५८६	११६५
संसारत्त्थो क्षवओ	६९४	१४८७	सीदुण्हादववादं	५७७	११२७
संसार महात्ताहेण	६८७	१४५७	सीदेण पुब्ब इरियदेवेण	७०८	१५४२
संसारमूलहेहुं	४६१	७२३	सीलदडगुणद्वेहेहि दु	३०६	३८४
संसारम्मि अणत्ते	७८०	१७५०	सीलवदीओ सुच्चत्ति	५४१	९९२
संसारम्मि अणत्ते	८२९	१८९१	सीलं बदं गुणो वा	४८६	७८८
संसार विसमदुग्गे	६८९	१४६५	सीह तिम्मिगिल गिलिदस्स	७७३	१७४०
संसार समावज्जा	७२	३६	सुइपाणएण अणुसट्ठि	७२७	१६०३
संसारसागरम्मि व	३३७	४३२	सुक्कं लेस्समुवगदा	८५२	१९३९
संसारसागरम्मि व	३४१	४४८	सुक्काए लेस्साए	८४६	१९१२
संसारसानरे ते	८०९	१८१६	सुचिए सभे विचिते	८८९	२०८३
संसारद्ववि नित्थर	६८३	१४३९	सुचिरत्तवि णरदिचारं	३६	१५
संसिद्ध फल्लि परिक्खा	२४१	२२२	सुचिरत्तविकिळिट्ठं	८४०	१८८५
साकेवपुराचिबवी	७३०	९४३	सुजणी वि होइ लहुवो	२९५	३४७

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
मुट्टुकुवाणवि सस्सावीणं	६८७	१४५५	सूरो तिक्लो मुक्खो	५७८	११३३
मुट्टुवि आबहपत्ता	७०३	१५२२	सूलो इव भेतु जे	५३९	९८१
मुट्टु वि पिमो मुहुत्तेण	६६३	१३६४	सेज्जा संभारयं पाणयं च	७४८	१६८८
मुट्टु वि अग्निज्जतो	६२९	१२४८	सेज्जागासापिसेज्जा	२८०	३०७
सुब्बय संसग्गीए	५६१	१०७२	सेज्जोवधिसथारं	३३५	४२६
सुब्बयवर गिरिगुहा रक्ख	२४८	२३३	सेदो जायदि सिल्लेसो	५५१	१०३६
मुत्तबधिरीकरणं	११२	१५१	सेवइ णियादि रक्खइ	५७७	११२९
सुत्तं गणहरमधिवं	६९	३३	सेवदि णिवादि रक्खदि	५२३	९१२
मुत्तादो तं सम्म	६९	३२	सेवेज्ज वा अकप्पं	४४८	६७७
सुदभावणाए जाणं	२२८	९६	सेसा य द्दुति भवा सत्त	९४	४९
सुदिपाणएण अणुसट्ठि	३३८	४३८	सो कदसामाचारी	४३०	६२९
सुद्धयया पुण जाणं	१७	५	सो कंठोल्लगिदसिल्लो	६५१	१३२३
सुद्धे सम्मत्ते अवरिदो	४६६	७३९	सोक्खं अणपेक्खना	६२७	१२४४
सुबहुस्सुदा वि मंता	४२५	६१६	सोगस्स सरो वेरस्स	५३८	९७७
सुबहुस्सुदो वि अवमा	६५५	१३३५	सोच्चा सल्लमणत्थ	४५३	६९६
सुमरणपुंखा चिन्तावेगा	६७०	१३९४	सो णाम बाहिरत्तथो	२५०	२३८
सुयमत्तीए विसुद्धा	८५१	१९३२	सो णिच्छदि मोत्तु जे	६५१	१३२२
सुल्ला लोए वादट्ठ	३६९	४८४	सो तेण पंचमत्ताकालेण	८९७	२११८
सुविहिय अदीदकाले	७२२	१५८१	सो तेण विड्ढंत्तो	३३९	४४०
सुविहियमिमं पवयण	७७	४१	सो दस वि तदो दोसे	४१७	६०८
सुत्सुसया गुरुण	२७५	३०२	सोदूण उत्तमट्ठस्स	४४९	६८२
सुहणिकखवणपवेसण	४३३	६३६	सोदूण किंचि सद्दं	५८०	११४४
सुहसीलदाए	६८	१४४६	सो भिदइ लोहत्थं	६१६	१२१६
सुहुमं व वादरं वा	४०९	५८०	सोयइ विलपइ कंदइ	५८१	११४९
सुहुमं व वादरं वा	४१०	५८४	सोयदि विलपदी परितप्पदि	५१६	८७८
सुहुसादा कि मज्जा	८५७	१९४६	सोलस तित्थयराणं	८७५	२०२२
सुहुसीलदाए अलगत्त	६८५	१४४६	सो सल्लेहिद वेहो	८८४	२०५९
सुहुम किरिएण ज्ञाणेण	८९७	२११४	सो होदि साधु सत्त्वाहु	६४५	१३०४
सुहुम किरियं खु तदियं	८३५	१८७३			
सुहुमम्मि कायजोगे	८३९	१८८१	ह		
सुहुमाए लेस्ताए	८९६	२११३	हत्थिणापुर गुक्वत्तो	७०९	१५४७
सुब्बय संसग्गीए	५६१	१०७२	हंतूण कसाए इंदियाणि	३८७	५२६
सुहग्गी इहदि दिवा	१५८	८९	हब्भाकासं मुट्ठीहिं	७३२	१६२७
सूरो तिक्लो मुक्खो	५२१	९०४	हम्भदि मारिण्णदि	५८०	११४७
			हास-भय-कोह-कोहप्प	५०२	८५७

भाषानुक्रमिका

९४१

	पृ०	मा०		पृ०	मा०
हास्योपहासकीडा	५६४	१०८४	होळम अरी वि पुणो	७८३	१७५६
हिमनिचव्यो वि व निहसय	७६७	१७२२	होळम बंगणो सोत्तियो	८०१	१८०१
हिंस नसियं चोचनं	६६४	१३६७	होळम महद्वीवो	८००	१७९७
हिंसादि दोस मकरादि	७८७	१७६५	होळम रिळ बहुवचनकारवो	८०४	१७९९
हिंसादो अचिरमर्ण	४८१	८००	होदि कसात्तम्मतो	६५२	१३२५
हुंकारवलि भमुहुंगुलीहि	८४३	१८९८	होदि य णरये तिष्वा	७१२	१५६०
होद चत्तर्ष छट्टट्टमाद्	२३७	२१२	होदि सचक्खू वि अचक्खू व	५२२	९०७
होद णरो पिल्लण्णो	७३६	१६३८	होदु सिह्वी व णवी	५०५	८३८
होद सयं पि विसीळो	५२७	९२८	होदि य वेत्सो	६६६	१३७८
होद सुणवो य वीवो	६८८	१४६१			

विजयोदया में आगत पथों और वाक्यों की अनुक्रमणी

	ब		
अचेलकस्स लूहस्त	३२७	अचेलकको धम्मो	
अचेलमाण लूहस्त	३२७	[बु० कल्पभा० गा० ६३६९]	३२६
अजीवकाया धर्माधर्म [त० सू० ५११]	३६	अचेलकको य जो धम्मो [उत्तरा० २३१२९]	३२७
अज्जसवसिषेण बंधो [समय० २६२]	४९०	आज्ञापायविपाकविचयाय धर्म्यस्	
अज्ञानकाष्ठजनितस्तव-	६७७	[त० सू० ९१३६]	७५२
अण्णाणगेहगारव	४२१	आत्मानुभूतान्यपि न स्मरन्ति	७१९
अतो न सौख्यं तदिहास्ति	८०३	आदाय नैदाधरारिं शिरःसु	८०१
अत्ता चेव अहिंसा	४८९	आदावणादिजोग	१०९
अत्यल्पमप्यस्य तदस्तु	३५१	आसंरीद्रधर्म्यशुक्लानि [त० सू० ९१२८]	७५४
अत्थं कर्हति अरुहा	७०	आलोयणा हु दिवसिग	३३२
अनुवृत्ति क्रिया भाषा	७१५	इ	
अन्धश्च पश्यन् अचिरश्च	७६९	इदं सद वंदियाणं [पञ्चास्ति० १]	३
अन्यावज्ञादरातिक्रमाणं	३४५	इति सततमपोह्यमान	३४८
अन्येषां यो दुःखमज्ञो	३४१	इत्येवमादि शुभकर्मचिन्ता	८१७
अन्योन्यघातार्थमनुप्रयाति	७२१	इत्येवमाद्या सुगुणा	७१५
अन्योन्यतो मर्त्यजनाच्च	७२०	इन्द्रचापतडिदम्बघराणा	८००
अन्योन्यरन्ध्रेक्षणनष्टनिद्रा	७२१	इरिय गोयर सुमिणादि	३३३
अपुट्टो ण दु भासेज्ज	३८	ईशितुं सुरनृणाभयत्नत	८०१
अप्यहियं कादब्बं	१९७, ३८५, ३९०	उ	
अच्छुपमानितजीवितदेवे	८०२	उच्छ्वसनं श्रमजं नृपतेऽपि	८०२
अभाषका एकोस्का	४८३	उत्तिपेयुरवनी महाबलात्	८०१
अरसमरुवमगन्धं [समय० ४९ गा०]	१४	उत्तमसंहननस्यैकाग्र [त० सू० ९१४५]	७५२
अलाम्बुपत्तं वा दास्यपत्तं	३२४	उपपत्तिबलादर्थपरिच्छेदो नयः	१७
अवग्रहीतुं च तथैहितुं च	७६९	उप्यण्णाणुप्यण्णा [मूलाचार ७११२५]	३९५
असदभिधानमनूतम् [त० सू० ७१४]	४९८	उवसप्पिणी अवसप्पिणी [सर्वार्थ० में उच्यते]	७९२
असिर्मिषिः कृषिः शिल्पं	४८२	ए	
अह पुण एवं जाणिञ्जा		एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्	
[आचारा० ७१४१२०९]	३२५	[त० सू० ९१५]	४३९
बा		एकेन्द्रियद्वीन्द्रियतां भवेवु	७६९
आउगवसेण जीवो	५०	एकान्तदुःखं निरयप्रतिष्ठा	३५१
आचेलकके य ठिदो	३३०	एकेन जन्मस्वटता प्रमेयं	३५१

स	
स्रस्वार्थशब्दानं [त०सू० ११२]	१९, १८१
स्रस्व एसे हिरिमणे	३२४
स्रस्व कभीबः सुसभागनेकं	३५१
स्रस्वैवार्थ भाषना [त०सू० ७३]	१४९
स्रस्वेवा यदि न स्यान्म	३४८
स्रथा प्रकारो विकलेन्द्रियाणां	७१९
स्रथा प्रकारैरन्येष्व	७१५
स्रथेह सर्व परिचिन्त्यमानं	३५२
स्रथविरतदेशविरत [त०सू० १३३]	७५४
स्रथावः परिवामः [त०सू० ५४२]	१०६
स्रथप्रवेशोऽन्वसि मञ्जनं	७७०
स्रस्मिन् स्वधेहे परिबाध्यमाने	३४६
स्रथमपि चासु एतेत् क्षुदनिष्ठ	८०२
स्रथलेदि हलेदिदिति व सलेब [कल्प०]	५७३
स्रथिष्ठ दासेव हन्ति त्वां	७१६
स्रथीर्वादापत्तं क्षुतमस्ति यस्य	७६८
स्रथिधिना विधिना बहु	८०३
स्रथैतैः प्रकारैः सततं समन्ता	७२०
स्रथायाद्भोगादेव समुत्थं	८०४
स्रथिलोकमस्काः	२७१

ब

बट्टूज व सोदूज	२०४
बत्था छायापृथिव्यो	७७६
बत्थ पयाद अणामोग	४२१
बर्धनभाभमपि सतां	३४८
बानेन तिष्ठन्ति	१३४
बिष्यबीर्यबलविक्रमायुषो	८०१
बुत्तनदं अहाजादं [भूला० ७१०४]	१५४
बुत्तैवो भवति नरेण	३५०
बुत्तिषं पुत्र तिथिहेन	१६०
बुरमन्वतिपतमि काचवात्	८०१
बेसप्रभृतिगृहिषामङ्गस्नात्	८१५
बेहो भवोति बुत्तयि	४९
दंष्ट्रामानाश्च द्याग्निदेवीः	७२१

दृष्टः क्वचित्प्रवररत्नविभूषणो	६२२
दृष्टाः क्वचित्सुरमनुष्यमन्त्रप्रधानाः	७९९
दृष्टान्तासिद्धावुभयोर्बिवाये [स्व० स्तो० ५४]	४१
दृष्टुं हितं श्रोतुमयेहितं च	७६९
द्विधेह बुद्धि प्रवदन्ति	७६८

न

न केवलं ते परलोक	२७१
न क्षु तिबिषं तिबिषेण	१६०
नग्न. प्रेत इवाविष्टः	६२८
न नेच्छति द्वेष्टि न	८२१
न वाञ्छति श्रोतुमिहादरेण	८२०
न सेवितुं रामवशेन वाञ्छति	८२१
नान्तर्गतेऽप्य न बहि	३५४
नारकास्तत्र तेऽप्योष्यं	७१५
नालं विशालं नयनं तृतीयं	७७०
निमज्जमाना उदविन्दुनापि	७१९
निरीष्य न द्वेष्टि	८२०
निषाम्य न द्वेष्टि यहच्छयापि	८२०
निषेव्य न द्वेष्टि यहच्छयापि	८२०
निषेव्य न द्वेष्टि यहच्छयापि	८२०
निषेवितुं रामवशेन काञ्चिति	८२०
नृपस्य दासः स्वपस्य विप्रो	६१९

प

पङ्ककमर्गं गदिय	३३२
पङ्किलेर्षं पावकंबलं	३२३
पङ्किलेहण पावपुंछन [भाषा० २१५]	३२३
पठमग्नि सन्ध्यावीवा [आब० सू०गा० ९१]	३३०
परमन्विय विगर्हादिय	३२
परिचत्तेसु बत्थेसु	३२६
पावकाचकमुरत्सु बग्यानी	८०१
पासत्थो सच्छं दो	५५
पित्तप्रकोपेन विबद्धमाने	३५२
पीठिका संवपस्यके	४१९
पुष्पास्यं सा विविद्यानुकम्पा	८१६
पुरघाणाश्चो वच	४८९

पारिभाषिक शब्दानुक्रमसूची

अ			
अच्छेदक (दोष)	२४६	आगमभाव सामायिक	१५२
अचालन्द विधि	१९७	आगमभाव सिद्ध	५, ८५८
अद्वालसन	२३७	आगमभाव अर्हन्	८४
अद्वायु	५०	आगमभाव नमस्कार	४७१
अनसन	१९	आचार्य	८६
अनसन के नेद	२३६	आजीव (दोष)	२४७
अनभिगृहीत मिथ्यात्व	९९	आजीव कुशील (मुनि)	८५५
अनायसन	८१	आज्ञाविचय	७५८
अनिसुष्ट (दोष)	२४६	आदान निक्षेप समिति	
अनुभवावीचिकामरण	५३	आद्यन्तमरण	५३
अपायविचय (ध्यान)	७५८	आषा कर्म	२४५
अपवादिक लिंग	११३	आलोचना	२०
अप्रशस्त राग	९६	आवीचिमरण	५१
अशोचक्य (दोष)	२४५	आसुरी भावना	२२३
अभिगृहीत मिथ्यात्व	९९		
अभिन्न दसपूर्वी	७०	इ	
अभियोग्य भावना	२२३	इंगाल (दोष)	२४८
अभ्याहृष्ट (दोष)	२४६	इंगिनी मरण	८७६
अर्षशुद्धि	१४५	इन्द्रिय	१४७
अर्हन्त अवर्णवाद	९१		
अर्षिमरण	५३	ई	
अर्षमोक्ष	१९, २३७	ईर्यसामिति	५९९
अवसन्न (मुनि)	८५३		
आ			
आलोपणी कथा	४४०	उत्तर गुणप्रत्याख्यान	१५८
आशमद्रव्य नमस्कार	४७०	उत्थित निषण्ण (कायोत्सर्ग)	१६२
आशमद्रव्य प्रतिस्नान	१४६	उत्थितोत्थित (कायोत्सर्ग)	१६२
आशमद्रव्य सिद्ध	५, ८४	उद्गम दोष	२४५
आशमद्रव्य अर्हन्	८४	उद्देसिग	२४५
आशमद्रव्य नमस्कार	४७१	उत्पादन दोष	२४६
आशमद्रव्य प्रतिस्नान	१५६	उद्दिमन्न (दोष)	२४६
		उद्यवन	८
		उद्योतन	९
		उन्मिष दोष	२४८
		उपकरणवकुस	८५४
		उपाध्याय	८६

	पृ०		पृ०
उभय मुक्ति	१४५	व	
उपना संघ	१०२	गच्छ प्रतिबद्ध ज्ञानात्मक	२०१
उपसंथा अन्वेषण	१८०	गिद्धपुष्ट मरण	५७
		गुप्ति	३७, १४७
ए			
एकत्व विसर्ग अचीकार	८३७	ब	
एकत्व भावना	८३४	चारिण	१९
एकान्त मिथ्यात्व	४६	चारिणाचार	८६, १७९
एषथा समिति	६०४	चिकित्सा दोष	२४७
		चैत्य अवर्णवाद	९१
ओ		चैत्य वर्ण जनन	८८
ओसण्ण मरण	५५	ध्यावित	४७१
		ध्युत (शरीर)	४७०
ओस्तनिक लिंग	११३		
ओपशानिक सम्यक्त्व	६७	छ	
		छेद (प्रायश्चित्त)	२०
क			
कनक कुशील	८५५	ब	
कन्वर्ष भावना	२२२	जनपद संत्य	६०१
कषाय	१४७	जिन कल्प	२०५
कायकलेस	१९, २४२	जिन बचन	१०
कायगुप्ति	५९७	जीवाधिकरण	४९४
कायोत्सर्ग	१६१	ज्ञायक शरीर अहर्नाम	८४
काल प्रतिक्रमण	१५५	ज्ञानाचार	८६, ३१९
काल प्रतिसेवना	३५७		
काल प्रत्याख्यान	१५८	ठ	
काल संसार	३४२, ७९१	ठविद	१४१
किल्बिष भावना	२२२	त	
कुशील मुनि	८५४	तद्भव मरण	५३
कुहन कुशील	८५५	तद्व्यतिरिक्त ब्रह्माहृन्	८४
कीतुक कुशील (मुनि)	८५४	तपाचार	८६, ३१९
क्षायिक सम्यक्त्व	६७	त्यक्त (शरीर)	४७१
		ब	
क्षायोपशानिक सम्यक्त्व	६७	दर्शनाचार	८६, ३१९
क्षेत्र प्रतिक्रमण	१५५	दायक दोष	२४८
क्षेत्र प्रतिसेवना	१५६	दूत कर्म दोष	२४७
क्षेत्र प्रत्याख्यान	१५८	देह बकुल	८४४
क्षेत्र संसार	३४२, ७९०	द्रव्य क्रीत	२४६

	५०		५०
द्रव्य पूषा	८७	निस्तरज	८
द्रव्य प्रतिक्रमण	१५५	नो आगम द्रव्य नमस्कार	४७०
द्रव्य प्रतिवेचना	१५६	नो आगम द्रव्य व्यतिरिक्त कर्म प्रतिक्रमण	१५६
द्रव्य प्रत्याख्यान		नो आगम द्रव्य प्रतिक्रमण	१५६
द्रव्य प्राण	४९	नो आगम द्रव्य तद्व्यतिरिक्त कर्मसामायिक	१५३
द्रव्य सत्य	३९४	नो आगम द्रव्य सामायिक	१५३
द्रव्य स्थिति	२१७	नो आगम द्रव्य सिद्ध	५,८५
द्रव्य संसार	३४१,७८५	नो आगम भाव चतुर्विधसिद्धिस्तव	१५४
		नो आगम भाव नमस्कार	४७१
धर्म	८५	नो आगम भाव प्रतिक्रमण	१५६
धर्म-अवर्ण वाद	९२	नो आगम भाव सामायिक	१५३
धर्म वर्ण अनन	८९	नो आगम भाव सिद्ध	५
धर्मानुक्रम्या	८१४		
धर्मध्यान	७६९		
धातोदोष	२४७	पण्डित मरण	५४
धूम दोष	२४८	परियष्ट	२,२४६
धृतिवक भावना	२३४	परिहार संयम विधि	२०१
		पादुकार	२४६
		पादोपगमन मरण	६४
नाम अहंत्	८३	पार्श्वस्थमुनि	८५४
नाम नमस्कार	४७०	पाहुडिन	२४६
नाम प्रतिक्रमण	१५५	पामिच्छ (दोष)	२४६
नाम प्रत्याख्यान	१५७	प्रायोग्यगमन मरण	६४
नाम सत्य	६०१	पिहित (दोष)	२४८
नाम सामायिक	१५३	पूतिक (दोष)	२४५
नाम सिद्ध	४,८४	पूषकत्व वितर्कबीचार	८३५
निकृष्टिपटा (वसति)	२४८	प्रतिक्रमण	२०, ३०, १५५, १५७
निदान	६१३	प्रतिच्छापना समिति	६०५
निमित्त दोष	२४७	प्रतीत्यसत्य	६०१
निमित्त कुसील	८५९	प्रत्याख्यान	१५७
निर्बहुत्व	८	प्रवेश वीचिकामरण	५३
निर्वाण	३३	प्रपातन कुसील	८५९
निर्वैजयी कथा	४४०	प्रयोग विनय	१५५
विज्ञान्य	१५९	प्रमाणातिरेक दोष	२४८
विषय-निषय (कायोत्सर्ग)	१६३	प्रबचन भासा	६०७

	पृ०		पृ०
प्रकृतराग	९५	ब	
प्रसेनिका कुसील	८५५	यथाच्छन्द मुनि योग	८५६ ४४
बलाममरण	५७	र	
बाल पण्डितमरण	५७	रस परित्याग	१९, २३८
बाल मरण	५३	रूपसत्य	६०१
		ब	
भक्त प्रत्याख्यान	१५८	वचन मुक्ति	५९५
भक्ति	८७	वणिगदा दोष	२४७
भव संसार	३४२	वन्दना	१५४
भवामु	४९	वर्ण जनन	८७
भाव क्रीत	२४६	वसट्टमरण	५७
भाव पुजा	८७	विक्षेपणी कथा	४४०
भाव प्रत्याख्यान	१५८	विनय	२०, ३०
भाव प्राण	४९	विपरीत मिथ्यात्व	४७
भाव क्षल्प	३९४	विपाक विचय	७५८
भाव भ्रिति	२१७	विप्लावस मरण	५९
भाव सत्य	६०१	विविक्त हाय्यासम्भ	२०, २४४
भाव संसार	३४१, ७९२	विवेक	२७
भावि प्रतिक्रमण	१५६	विवेक (के मेद)	२१४
भावि सामायिक	१५३	वीतरागसम्यग्दर्शन	९६
भावि सिद्ध	५, ८५	वीर्याचार	८६, ३१९
भाषा समिति	६००	वृत्तिपरिसंख्यान	१९, २४०
भूति कुसील (मुनि)	८५५	वैयानृत्य	
		व्यञ्जनशुद्धि	१४४
		व्यवहार सत्य	६०१
मनोमुक्ति	५९५	ब	
मालारोह	२४६		
मिथ (दोष)	२४५	शङ्कित दोष	२४७
मिथ्यानुकम्पा	८१५	शुद्धनय	१७
मूक (प्रापचित्त)	२७	श्रुत	८५
मूक कर्म दोष	२४७	श्रुत अवर्णबाध	९३
मूक गुण प्रत्याख्यान	१५८	श्रुत भावना	२२८
भ्रक्षित दोष	२४७	श्रुत वर्णजनन	८८

पारिभाषिकशब्दाभ्युक्तमणी

१५१

	पृ०	सर्वाधिकारण	पृ०
संभावनासत्य	६०१	सत्त्वबन्धन	५१
संमूर्च्छनाशुक्तीक	८५५	सामाचार्य	१६
संमोह भाषना	२२४	साह्यारण दोष	१९३
संयोजना	४९५	साधु अर्णववाद	२४८
सविजनी कथा	४४१	साधु वर्णजनन	९२
संशय निष्पत्त्य	४७	सामायिक	१५०, १५५
संसृष्ट (मुनि)	८५६	सिद्ध अर्णववाद	९१
संस्तव दोष	२४७	सिद्ध वर्णजनन	८८
संस्थान विषय	७५८	सूक्ष्मक्रिय ध्यान	८३८
सत्त्वभाषना	२३१	स्थापना प्रतिक्रमण	१५५
समिति	३७, १४८	स्थापना प्रत्याख्यान	१५८
सम्मति सत्य	६०१	स्थापना सत्य	६०१
सराग सम्यक्तत्व	९६	स्थापना सिद्ध	५, ८४
सर्वनिदान	२३७	स्थापना सामायिक	१५३
सर्वानुक्त्या	६१४	स्थाप्याय	१७८



